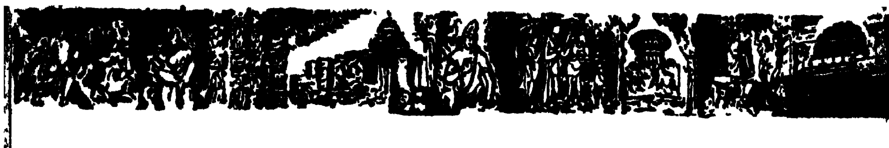
भारतीय दर्शन



भारतीय दर्शन

भारतीय दर्शन का पांडित्यपूर्ण अध्ययन
हिन्दूधर्म-पुनर्जागरण काल से वर्तमान तक

2

डॉ० राधाकृष्णन्



राजपाल एण्ड सन्ज़, कश्मीरी गेट, दिल्ली-६

INDIAN PHILOSOPHY (Vol. 2) by Dr. S. Radhakrishnan
का हिन्दी अनुवाद

अनुवादक
(स्व०) श्री नन्दकिशोर गोभिल, विद्यालंकार
भूतपूर्व प्रोफेसर : रामजस कालेज, दिल्ली;
गुजरात विद्यापीठ, अहमदाबाद;
कलिकाता विद्यापीठ, कलकत्ता

केन्द्रीय हिन्दी निदेशालय, शिक्षा मंत्रालय,
भारत सरकार के सहयोग से प्रकाशित

रायसीना प्रिंटरी, दिल्ली, में मुद्रित

प्रस्तावना

इस खण्ड मे भी, जिसका प्रतिपाद्य विषय वैदिक षड्दर्शन का विवेचन है, मैने पहले खण्ड जैसी ही योजना तथा विधि अपनाई है । इसके अतिरिक्त, मैने उस भावना को भी अपनाने का प्रयत्न किया है जो दार्शनिक व्याख्या के लिए उचित मानी गई है, अर्थात् प्राचीन लेखको तथा उनके विचारो की सुचारु रूप से व्याख्या करके उन्हे दर्शन तथा धर्म-सम्बन्धी आज के विचारणीय विषयो के सन्दर्भ मे रखना । वाचस्पति मिश्र ने, जो हिन्दू विचारधारा के लगभग सभी दर्शनो के टीकाकार है, प्रत्येक पर अपनी लेखनी का जिस प्रकार प्रयोग किया है उससे प्रतीत होता है मानो वे उनके सिद्धान्तो मे भी विश्वास रखते है । विचारधारा की उन प्रवृत्तियो को जो प्राचीनकाल मे परिपक्वता को पहुची थी और जो अनेक दुर्बोध ग्रथो मे लिपिबद्ध है, बुद्धिपूर्वक प्रस्तुत करने मे यह आवश्यक हो गया कि विशेष दृष्टिकोणो को चुना जाए, उनपर बल दिया जाए और उनकी आलोचना तक की जाए। यह कार्य, स्वभावत यह प्रकट कर देता है कि मेरी अपनी विचारधारा किस दिशा मे चल रही है । इस प्रकार के कार्य मे क्योकि विवरण सम्बन्धी अनेक प्रकार के निर्णयो का समावेश रहता है, अत: यह आशा नही की जा सकती कि यह पुस्तक निर्णय-सम्बन्धी भूलो से मुक्त होगी । किन्तु मैने, प्रमाणो मे किसी प्रकार की उलट-फेर करने से बचते हुए, केवल विषय-परक प्रतिपादन का ही प्रयत्न किया है ।

मै यहा इस बात को दोहरा देना आवश्यक समझता हू कि मेरे विषय-प्रतिपादन को सर्वथा पूर्ण न मान लेना चाहिए । क्योकि, लगभग प्रत्येक अध्याय मे जितने विषय का प्रतिपादन है, उसके अध्ययन के लिए एक पूर्णतया सन्नद्ध विशेषज्ञ अपना पूरा जीवन लगा देता है । विशिष्ट दर्शनो के ब्यौरेवार विवेचन के लिए पृथक् निबन्धो की आवश्यकता है । मेरे कार्य का क्षेत्र सीमित है, अर्थात् विविध विचारधाराओ के आन्दोलनो की उनकी प्रेरक भावनाओ और उनके परिणामो की एक मोटी रूपरेखा तैयार करना । भिन्न-भिन्न सम्प्रदायो के अल्प-महत्त्व के लेखको मे परस्पर जो गौण मतभेद पाए जाते है, उनको दर्शाने की मैने वस्तुतः कोई चेष्टा नही की है। शैव, शाक्त और परवर्ती वैष्णव दर्शनो के सम्बन्ध मे, जो भारत के दार्शनिक विकास की अपेक्षा धार्मिक इतिहास से अधिक सम्बन्ध रखते है, मेरा विवेचन बहुत सक्षिप्त तथा सार-मात्र है। यदि मै प्रकल्पनात्मक भारतीय विचारधारा के नाना रूपो की वास्तविक भावना का एक चित्र, जो भले ही अपर्याप्त हो, अपने पाठकों के सम्मुख रख सका तो मुझे पूर्ण सन्तोष हो जाएगा।

• यदि यह खण्ड पहले की अपेक्षा कुछ कठिन है तो मै आशा करता हू कि पाठक अनुभव करेंगे कि कठिनाई का निर्माता मै नही हू, बल्कि कुछ सीमा तक यह कठिनाई विषयगत है और गम्भीर विवेचन के कारण है जो विषय के अध्ययन के लिए आवश्यक है। मैंने अनुभव किया कि तथ्यो के पुञ्ज को एक ऐसे विशद आख्यान मे समोकर रखना जिसे पाठक सम्भ्रम मे पड़े बिना और बिना उकताए समझ सके, एक ऐसा कार्य है जिसे पहले से मापना मेरे लिए सम्भव नही था। शैथिल्य तथा पाण्डित्याभिमान के बीच मे से मध्यममार्ग का अवलम्बन करके चलने मे मै कहा तक सफल हो सका हू, इसका निर्णय पाठक करेंगे। साधारण पाठक के सुभीते के विचार से अधिक पारिभाषिक अथवा सन्दर्भ-सम्बधी वाद-विवाद ऊपर और नीचे कुछ स्थान छोड़कर पृथक् रूप से दिए गए है।

इस खण्ड के सकलन मे मुझे विविध सम्प्रदायो के सस्कृत के सन्दर्भों से ही नही, बल्कि ड्यूसन और कीथ, थिबौत और गार्ब, गगानाथ झा और विद्याभूषण प्रभृति विद्वानो के लेखो से भी बहुत सहायता मिली है। मैं अपने मित्रो, श्रीयुत बी० सुब्रह्मण्य ऐयर तथा प्रोफेसर जे० एम० मैकेजी का अत्यन्त कृतज्ञ हू क्योकि इन्होने पुस्तक की पाण्डुलिपि और प्रूफ के अनेक भागो को देखने का कष्ट किया तथा अनेको मूल्यवान् सुझाव दिए। प्रोफेसर ए० बेरीडेल कीथ ने प्रूफ देखने की कृपा की और इनकी समालोचनाओ से पुस्तक को बहुत लाभ हुआ। मुझे पुस्तक के प्रधान सम्पादक प्रोफेसर जे० एच० म्यूरहेड को भी हार्दिक धन्यवाद देना है, जिन्होने प्रथम खण्ड के समान ही, इस खण्ड के लिए भी अपना बहुत-सा समय और चिन्तन प्रदान किया। यदि इनकी उदार सहायता प्राप्त न होती तो इस पुस्तक मे जो भी त्रुटिया अब रह गई है उनसे कही अधिक रह जाती।

दिसम्बर, १६२६

द्वितीय अंग्रेज़ी संस्करण की प्रस्तावना

दूसरे सस्करण को प्रकाशित करते समय जो अवसर मुझे मिला उसका उपयोग मैंने छोटी-छोटी अशुद्धियो तथा छापे की भूलो को शुद्ध करने मे किया है। इसके अतिरिक्त, कुछेक सशयात्मक तथा कठिन स्थलो पर मूल सस्कृत के उद्धरण भी दे दिए है, जिससे पाठक व्याख्याओ की सस्कृत सन्दर्भों के साथ तुलना कर सके। ये सन्दर्भ पुस्तक के अन्तिम भाग मे दी गई टिप्पणियो मे मिलेंगे और इनमे कठिनाइयो को दूर करने के लिए उपयुक्त सामग्री भी मिलेगी। इस प्रकार अब इस पुस्तक का रूप अपने-आपमे पूर्ण हो गया है।

संस्कृत के सन्दर्भों के अंग्रेजी अनुवाद साधारणतः उपलब्ध और प्रामाणिक अनुवादों पर आश्रित हैं और इनका वर्णन ग्रंथ सूची-सम्बन्धी उद्धरणों में किया गया है। इन सन्दर्भों का अभिप्राय मुख्यतया अंग्रेजी भाषा में प्राप्त साहित्य का निर्देश करना है। यद्यपि अप्रत्यक्ष रूप में ये उक्त विषय पर उपलब्ध कुल साहित्य का निर्देश करते हैं।

मुझे अपने अनेक मित्रों तथा समालोचकों को उनके अमूल्य सुझावों के लिए धन्यवाद देना है। मैसूर निवासी प्रोफेसर एम० हिरियन्ना का मैं विशेष रूप से ऋणी हूं। ऐसे ही अन्यान्य व्यक्तियों में, जिनसे मुझे सहायता मिली, मद्रास के महामहोपाध्याय एस० कुप्पूस्वामी शास्त्री और कलकत्ता के महामहोपाध्याय एन० एस० अनन्तकृष्ण शास्त्री की गणना है। मेरे मित्र एवं सहयोगी श्रीयुत के० सी० चैटर्जी ने उद्धरणों की जांच का कार्य किया, और इसके लिए मैं उन्हें धन्यवाद देता हूं।

दो शब्द

हिन्दी के विकास और प्रसार के लिए शिक्षा-मन्त्रालय के तत्त्वावधान मे पुस्तको के प्रकाशन की विभिन्न योजनाए कार्यान्वित की जा रही है। हिन्दी मे अभी तक ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र मे पर्याप्त साहित्य उपलब्ध नही है, इसलिए ऐसे साहित्य के प्रकाशन को विशेष प्रोत्साहन दिया जा रहा है। यह आवश्यक है कि ऐसी पुस्तके उच्च कोटि की हो। भारत सरकार द्वारा पुस्तको के प्रकाशन की जो विविध योजनाए इस समय कार्यान्वित की जा रही है, उनमे से एक योजना प्रकाशको के सहयोग से पुस्तके प्रकाशित करने की है। इस योजना के अधीन भारत सरकार निश्चित सख्या मे प्रकाशित पुस्तको की प्रतिया खरीदकर उन्हे मदद पहुचाती है।

प्रस्तुत पुस्तक इन्ही योजनाओ के अन्तर्गत प्रकाशित की जा रही है। इसके अनुवाद-अधिकार, अनुवाद और पुनरीक्षण की व्यवस्था प्रकाशक ने स्वय की है और पुस्तक मे शिक्षा मन्त्रालय द्वारा निर्मित शब्दावली का उपयोग किया है।

डा० सर्वेपल्ली राधाकृष्णन् हमारे युग के एक महान् दार्शनिक और विचारक है। भारतीय विचार-परम्परा के मूर्धन्य व्याख्याता और एक क्रान्तदर्शी तत्त्व-चिन्तक के रूप मे उन्हे संसार के बौद्धिक क्षेत्र मे अप्रतिम सम्मान प्राप्त है। उनकी रचनाओ ने आधुनिक चिन्तन को गहराई से प्रभावित किया है।

प्रस्तुत ग्रथ डा० राधाकृष्णन् की विश्वविख्यात रचना 'इडियन फिलासफी' का प्रामाणिक अनुवाद है और हिन्दी मे पहली बार प्रकाशित किया जा रहा है। ससार के दार्शनिको ने इस ग्रथ की प्रशसा मुक्तकठ से की है। देश और विदेश के अनेक विश्व-विद्यालयो मे यह ग्रथ भारतीय दर्शन की पाठ्य पुस्तक के रूप मे ससम्मान स्वीकृत है।

हमे विश्वास है कि प्रशासन और प्रकाशको के सहयोग से प्रकाशित साहित्य हिन्दी को समृद्ध बनाने मे सहायक होगा और ज्ञान-विज्ञान से सम्बन्धित अधिकाधिक पुस्तके हिन्दी के पाठको को सुलभ होगी।

आशा है, हिन्दी के पाठक इस ग्रथ का स्वागत करेगे और यह योजना उत्तरोत्तर लोकप्रिय होगी।

केन्द्रीय हिन्दी निदेशालय
(शिक्षा-मंत्रालय)

ए. चंद्रहासन
निदेशक

विषय-सूची

तृतीय भाग

वैदिक षड्दर्शन

पहला अध्याय

दूसरा अध्याय

तीसरा अध्याय

चौथा अध्याय

पांचवां अध्याय

छठा अध्याय

सातवां अध्याय

आठवां अध्याय

तीसरा भाग

वैदिक षड्दर्शन

पहला अध्याय

विषय-प्रवेश

दर्शनशास्त्रों का प्रादुर्भाव—वेदों के साथ सम्बन्ध—सूत्र-साहित्य—सामान्य विचारधाराएं।

१

दर्शनशास्त्रों का प्रादुर्भाव

भारत में हम बौद्धकाल में दार्शनिक चिन्तन की एक महती लहर उमड़ती हुई पाते हैं। दर्शनशास्त्र की प्रगति, साधारणतः, किसी ऐतिहासिक परम्परा पर होनेवाले किसी प्रबल आक्रमण के कारण ही सम्भव होती है, जब कि मनुष्य-समाज पीछे लौटने को और उन मूलभूत प्रश्नों को एक बार फिर उठाने के लिए बाध्य हो जाता है जिनका समाधान उसके पूर्वपुरुषों ने प्राचीनतर योजनाओं के द्वारा किया था। बौद्ध तथा जैन धर्मों के विप्लव ने, वह विप्लव अपने-आप में चाहे जैसा भी था, भारतीय विचारधारा के क्षेत्र में एक विशेष ऐतिहासिक युग का निर्माण किया, क्योंकि उसने कट्टरता की पद्धति को अन्त में उड़ाकर ही दम लिया तथा एक समालोचनात्मक दृष्टिकोण को उत्पन्न करने में सहायता दी। महान् बौद्ध विचारकों के लिए तर्क ही एक ऐसा मुख्य शस्त्रागार था जहां सार्वभौम खंडनात्मक समालोचना के शस्त्र गढकर तैयार किए गए थे। बौद्ध धर्म ने मस्तिष्क को पुराने अवरोधों के कष्टदायक प्रभावों से मुक्त करने में विरेचन का काम किया। वास्तविक तथा जिज्ञासा-भाव से निकला हुआ संशयवाद विश्वास को उसकी स्वाभाविक नींवों पर जमाने में सहायक होता है। नींव को अधिक गहराई में डालने की आवश्यकता का ही परिणाम महान् दार्शनिक हलचल के रूप में प्रकट हुआ, जिसने छः दर्शनों को जन्म दिया जिनमें काव्य तथा धर्म का स्थान विश्लेपण और शुष्क समीक्षा ने ले लिया। रूढ़िवादी सम्प्रदाय अपने विचारों को संहिताबद्ध करने तथा उनकी रक्षा के लिए तार्किक प्रमाणों का आश्रय लेने को बाध्य हो गए। दर्शनशास्त्र का समीक्षात्मक पक्ष उतना ही महत्त्वपूर्ण हो गया जितना कि अभी तक प्रकल्पनात्मक पक्ष था। दर्शनकाल से पूर्व के दार्शनिक मतों द्वारा अखण्ड विश्व के स्वरूप के सम्बन्ध में कुछ सामान्य विचार तो अवश्य प्राप्त हुए थे, किन्तु यह अनुभव नहीं हो पाया था कि किसी भी सफल कल्पना का आधार

ज्ञान का एक समीक्षात्मक सिद्धान्त ही होना चाहिए। समालोचकों ने विरोधियों को इस बात के लिए विवश कर दिया कि वे अपनी प्रकल्पनाओं की प्रामाणिकता किसी दिव्य ज्ञान के सहारे सिद्ध न करें, बल्कि ऐसी स्वाभाविक पद्धतियों द्वारा सिद्ध करें जो जीवन और अनुभव पर आधारित हों। कुछ ऐसे विश्वासों के लिए, जिनकी हम रक्षा करना चाहते हैं, हमारा मापदण्ड शिथिल नहीं होना चाहिए। इस प्रकार आत्मविद्या अर्थात् दर्शन को अब आन्वीक्षिकी[1] अर्थात् अनुसंधानरूपी विज्ञान का सहारा मिल गया। दार्शनिक विचारों का तर्क की कसौटी पर इस प्रकार कसा जाना स्वभावतः कट्टरतावादियों को रुचिकर नहीं हुआ।[2] श्रद्धालुओं को यह निश्चय ही निर्जीव लगा होगा, क्योंकि अन्तःप्रेरणा के स्थान पर अब आलोचनात्मक तर्क आ गया था। चिन्तन की उस शक्ति का स्थान जो सीधी जीवन और अनुभव से फूटती है, जैसी कि उपनिषदों में है, और आत्मा की उस अलौकिक महानता का स्थान जो परब्रह्म का दर्शन और गान करती है, जैसी कि भगवद्गीता में है, कठोर दर्शन ले लेता है। इसके अतिरिक्त, तर्क की कसौटी पर पुरानी मान्यताएं निश्चय ही खरी उतर सकेंगी यह भी निश्चितरूप से नहीं कहा जा सकता था। इतने पर भी उस युग की सर्वमान्य भावना का आग्रह था कि प्रत्येक ऐसी विचारधारा को, जो तर्क की कसौटी पर खरी उतर सके 'दर्शन' के नाम से ग्रहण करना चाहिए। इसी कारण उन सभी तर्कसम्मत प्रयासों को जो विश्व के सम्बन्ध में फैली विभिन्न बिखरी हुई धारणाओं को कुछ महान् व्यापक विचारों में समेटने के लिए किए गए, दर्शन की संज्ञा दी गई।[3] ये समस्त प्रयास हमें सत्य के किसी न किसी अंश को अनुभव कराने में सहायक सिद्ध होते हैं। इससे यह विचार बना कि प्रकट रूप में पृथक् व स्वतन्त्र प्रतीत होते हुए भी, ये सब दर्शन वस्तुतः एक ही बृहत् ऐतिहासिक योजना के अंग हैं। और जब तक हम इन्हें स्वतन्त्र समझते रहेंगे, तथा ऐतिहासिक समन्वय में उनकी स्थिति पर ध्यान नहीं देंगे, तब तक हम उनकी वास्तविकता को पूर्णरूप से हृदयंगम नहीं कर सकेंगे।

१. न्यायभाष्य, १ : १, १; मनु, ७ : ४३। कौटिल्य (लगभग ३०० ई० पू०) का कहना है कि आन्वीक्षिकी विद्याध्ययन की एक अलग ही शाखा है और अन्य तीन शाखाओं, त्रयी अर्थात् वेदों, वार्ता अर्थात् वाणिज्य और दण्डनीति और राजनीति या कूटनीति के अतिरिक्त है (१ : १)। ई० पू० छठी शताब्दी, जब कि इसके विशेष अध्ययन की आवश्यकता अनुभव की गई, भारत में एक क्रमबद्ध दर्शन-पद्धति के प्रारम्भ के लिए प्रसिद्ध है और ई० पू० पहली शताब्दी तक आन्वीक्षिकी नाम के स्थान पर 'दर्शन' शब्द प्रयुक्त होने लगा (देखिए, महाभारत, शान्तिपर्व, १० : ४५; 'भागवत पुराण', ८ : १४, १०)। प्रत्येक जिज्ञासा संशय को लेकर ही प्रारम्भ होती है और एक आवश्यकता की पूर्ति करती है। तुलना कीजिए—जिज्ञासया सन्देहप्रयोजने सूच्येते ('भामती' १ : १, १)।

२. रामायण में आन्वीक्षिकी को निन्दित माना गया है, क्योंकि यह मनुष्यों को धर्मशास्त्रों की आज्ञाओं से विमुख करती है (२ : १००; ३६)। (महाभारत, शान्तिपर्व, १८० : ४७-४९; २४६-८)। मनु के अनुसार ऐसे व्यक्तियों का, जो तर्क (हेतुशास्त्र) द्वारा पथभ्रष्ट होकर वेदों तथा धर्मसूत्रों का अनादर करते हैं, बहिष्कार करना चाहिए (२ : ११); फिर भी गौतम अपने धर्मसूत्र (११) में और मनु (७ : ४३) राजाओं के लिए आन्वीक्षिकी के एक पाठ्यक्रम का विधान करते हैं। तार्किकों को विधान सभाओं में सम्मिलित किया जाता था। तर्क जब धर्मशास्त्र का समर्थन करता है तो उसकी प्रशंसा होती है। व्यास का दावा है कि उन्होंने आन्वीक्षिकी द्वारा वेदों की व्यवस्था की ('न्यायसूत्रवृत्ति' १ : १)।

३. माधव : सर्वदर्शनसंग्रह।

२

वेदों के साथ सम्बन्ध

तर्क की कसौटी को स्वीकार कर लेने पर काल्पनिक मान्यताओं के प्रचारकों का विरोध नरम पड़ गया और उससे यह स्पष्ट हो गया कि उनका आधार उतना सशक्त व सुदृढ़ नहीं था और उन विचारधाराओ को दर्शन का नाम देना भी ठीक नही था। किन्तु भौतिकवादियों, संशयवादियों और कतिपय बौद्ध धर्मानुयायियो के विध्वंसात्मक जोश ने निश्चयात्मक ज्ञान के आधार को ही नष्ट कर दिया। हिन्दू मानस इस निषेधात्मक परिणाम को कभी भी शाति से ग्रहण नही कर पाया। मनुष्य सशयवादी रहकर जीवन-निर्वाह नहीं कर सकता। निरे बौद्धिक द्वन्द्व से ही काम नही चल सकता। वाद-विवाद का स्वाद मानव की आत्मिक भूख को शान्त नही कर सकता। ऐसे शुष्क तर्क से कुछ लाभ नही जो हमें किसी सत्य तक न पहुचा सके। यह असम्भव था कि उपनिषदो के ऋषियो जैसे आत्मनिष्ठ महात्माओं की आशाए और महत्त्वाकाक्षाए, तार्किक समर्थन के अभाव में, यों ही नष्ट हो जातीं। और यह भी असंभव था कि शताब्दियो के संघर्ष और चिन्तन से भी मानव-समस्या के समाधान की दिशा में कुछ आगे न जाता। एकमात्र निराशा में ही उसका अन्त नही होने दिया जा सकता था। तर्क को भी अन्ततोगत्वा श्रद्धा का ही आश्रय ढूढना पड़ता है। उपनिषदो के ऋषि पवित्र ज्ञान के शिक्षणालय के महान शिक्षक है। वे हमारे आगे ब्रह्मज्ञान व आध्यात्मिक जीवन की सुन्दर व्याख्या रखते हैं। यदि निरे तर्क से मानव यथार्थ सत्य की प्राप्ति नही कर सकता तो निश्चय ही उसे उन ऋषियो के महान लेखों की सहायता प्राप्त करनी चाहिए, जिन्होने आध्यात्मिक ध्रुव सत्य को प्राप्त करने का दावा किया है। इस प्रकार, जो कुछ श्रद्धा के द्वारा स्वीकार किया गया था उसकी वास्तविकता को तर्क द्वारा सिद्ध करने के प्रबल प्रयास किए गए। यह ढग बुद्धिसगत न हो, ऐसी बात नहीं है, क्योकि दर्शन उस प्रयास का ही दूसरा नाम है जो मानव-समाज के बढ़ते हुए अनुभव की व्याख्या के लिए किया जाता है। किन्तु जिस खतरे से हमें सावधान रहना होगा वह यह है कि कही श्रद्धा को ही दार्शनिक विज्ञान का परिणाम स्वीकार न कर लिया जाए।

सब दर्शनो में छ. दर्शन अधिक प्रसिद्ध हुए—महर्षि गौतम का 'न्याय', कणाद का 'वैशेषिक', कपिल का 'साख्य', पतञ्जलि का 'योग', जैमिनि का 'पूर्व मीमांसा', और बादरायण का 'उत्तर मीमासा' अथवा 'वेदान्त'।[1] ये सब वैदिक दर्शन के नाम से जाने जाते हैं क्योकि ये वेदों की प्रामाणिकता को स्वीकार करते है। जो दर्शन वेदों की प्रामाणिकता को स्वीकार करते हैं वे आस्तिक कहलाते है, और जो उसे स्वीकार नही करते उन्हें नास्तिक की संज्ञा दी गई है। किसी भी दर्शन का आस्तिक या नास्तिक होना परमात्मा के अस्तित्व को स्वीकार अथवा अस्वीकार करने पर निर्भर न होकर वेदों की

१. हरिभद्र अपने 'षड्दर्शनसमुच्चय' में बौद्ध, नैयायिक, सांख्य, जैन, वैशेषिक और जैमिनीय दर्शनों का विवेचन करता है (१ : ३)। जिनदत्त और राजशेखर इस मत से सहमत हैं।

प्रामाणिकता को स्वीकार अथवा अस्वीकार करने पर निर्भर है।[1] यहां तक कि बौद्ध धर्म के विभिन्न सम्प्रदायों का भी उद्गम उपनिषदों में है; यद्यपि उन्हें सनातन धर्म नहीं माना जाता है, क्योंकि वे वेदों की प्रामाणिकता को स्वीकार नहीं करते। कुमारिल भट्ट, जिनकी सम्मति इन विषयों में प्रामाणिक समझी जाती है, स्वीकार करते हैं कि बौद्ध दर्शनों ने उपनिषदों से प्रेरणा ली है, और वे यह युक्ति देते हैं कि इनका उद्देश्य अत्यन्त विषय-भोग पर रोक-थाम लगाना था। वे यह भी घोषणा करते हैं कि ये सब प्रामाणिक दर्शन हैं।[2]

वेद को स्वीकार करने का अर्थ यह है कि आध्यात्मिक अनुभव से इन सब विषयों में शुष्क तर्क की अपेक्षा अधिक प्रकाश मिलता है। इसका अर्थ यह नहीं है कि वे वेद-प्रतिपादित सब सिद्धान्तों को भी स्वीकार करते हैं, या परमात्मा के अस्तित्व में भी विश्वास रखते हैं। इसका अर्थ केवल जीवन के मूल रहस्य के उद्घाटन के लिए गम्भीर प्रयास करना है, क्योंकि इन सम्प्रदायों ने वेदों की निर्दोषता तक को समान रूप में स्वीकार नहीं किया है। हम देखते हैं कि वैशेषिक और न्याय परमात्मा की सत्ता को अनुमान-प्रमाण द्वारा ही स्वीकार करते हैं। सांख्य ईश्वरवादी नहीं है। योग वेद से वस्तुतः स्वतन्त्र ही है। दोनों मीमांसा शास्त्र अवश्य ही वेद पर स्पष्ट रूप से निर्भर करते हैं। पूर्व मीमांसा में वर्णित देवता का सामान्य विचार वेदमूलक अवश्य है, किन्तु उसे परब्रह्म के रूप की चिन्ता नहीं है। उत्तर मीमांसा ब्रह्म के अस्तित्व को श्रुति के आधार पर स्वीकार करता है, किन्तु उसकी सिद्धि में अनुमान-प्रमाण का भी उपयोग करता है, और उसकी सम्मति में उसका साक्षात्कार ज्ञान व ध्यान द्वारा हो सकता है। परवर्ती काल के आस्तिक विचारक सांख्य को सनातन दर्शनशास्त्रों के अन्तर्गत मानने को तैयार नहीं थे।[3]

इस प्रकार वेद की प्रामाणिकता मानने से इन छः दर्शनों की दार्शनिकता में कोई विशेष अन्तर नहीं आता।[4] श्रुति और स्मृति का भेद सर्वविदित है, और जहां दोनों में परस्पर मतभेद हो वहां श्रुति की ही प्रधानता मानी जाती है। श्रुति भी अपने-आपमें दो भागों में विभक्त है, कर्मकाण्ड (संहिता भाग और ब्राह्मण ग्रन्थ) और ज्ञानकाण्ड (उप-

१. प्रामाण्यबुद्धिर्वेदेषु। मनु का कहना है कि नास्तिक वह है जो वेदों की निन्दा करता है। नास्तिको वेदनिन्दकः (२ : ११)। देखिए, महाभारत, १२ : २७०, ६७।

२. 'तन्त्रवार्तिक', १ : ३, ८: पृष्ठ ८१।

३. भामाचार्य के 'न्यायकोष' के अनुसार, आस्तिक वह है जो परलोकाद्यस्तित्ववादी है और नास्तिक वेदमार्गम् अननुरुन्धानः है। वे सांख्य और अद्वैत वेदान्त को दूसरी कोटि में रखते हैं। "मायावादिवेदान्त्यपि नास्तिक एव पर्यवसाने सम्पद्यते।" कुमारिल की दृष्टि में सांख्य, योग, पञ्चरात्र और पाशुपत दर्शन भी ऐसे ही वेद-विरोधी हैं जैसे कि बौद्धदर्शन ('तन्त्रवार्तिक', १ : ३, ४)।

४. कीथ ने जो कुछ न्याय और वैशेषिक के विषय में कहा है वह अन्य दर्शनों के विषय में भी सत्य है। "ये दर्शन निःसन्देह सनातनधर्मी हैं और धर्मशास्त्रों के प्रामाण्य को स्वीकार करते हैं, किन्तु ये जीवन की समस्याओं के समाधान के लिए मानवीय साधनों का आश्रय लेते हैं और धर्मशास्त्र केवल समस्याओं के उक्त समाधानों को धार्मिकता का रूप देने के लिए ही प्रयुक्त होते हैं। उक्त समाधान न केवल धर्मशास्त्रों की सहायता के बिना भी निकलते हैं, बल्कि वे धार्मिक आज्ञाओं के साथ सामंजस्य रखते हों प्रायः इसमें भी सन्देह रहता है।"

—'इण्डियन लाजिक एण्ड ऐटोमिज़्म', पृष्ठ ३।

निषद्) । ज्ञानकाण्ड का महत्त्व अधिक है, यद्यपि इसके अधिकांश भाग को केवल अर्थवाद अर्थात् अनावश्यक या गौण कथन कहकर एक ओर रख दिया गया है। इन सबके कारण वेद की प्रामाणिकता को बहुत उदार भाव से ही ग्रहण किया जा सकता है। वेदों की व्याख्या भी व्याख्याकारों की दार्शनिक रुचियों पर निर्भर करती है। तार्किक विधियों का प्रयोग करते हुए और युक्तिसंगत सत्यों पर पहुंचते हुए भी, वे प्राचीन मंत्रों से उनकी संगति बनाए रखने के लिए बराबर उत्सुक रहे। उनकी इच्छा बराबर यही रही कि उन्हें किसी बिलकुल नवीन विषय का प्रतिपादक न समझा जाए। यद्यपि इसमें उनकी स्पष्टवादिता का कुछ अभाव ही टपकता है, तो भी इसमें उन सिद्धान्तों के प्रचार में सहायता मिली जिन्हें वे सत्य मानते थे।[1] भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों के समालोचक और टीकाकार अपने-अपने मत की पुष्टि में वेद की सम्मति का दावा करते हैं, और जहां यह सम्मति स्वतः दृष्टि में नहीं आती वहां बलपूर्वक संगति बैठाने में अपनी पटुता दिखाते हैं। परवर्ती काल के वाद-विवादों के प्रकाश में, ये लोग वेदों की भाषा में उन विषयों पर भी सम्मति ढूंढते हैं जिनका ज्ञान इन्हें बहुत ही कम या बिलकुल नहीं होता। वेदों के साधारण विचार न तो निश्चित ही हैं और न विस्तृत रूप में स्पष्ट ही हैं। इसीलिए भिन्न-भिन्न सम्प्रदाय वालों को उनके अर्थों में खींचातानी करने का सुयोग मिल जाता है। इसके अतिरिक्त, वेदों की विशालता के कारण भी, ग्रन्थकारों को अपने विश्वास के अनुसार कोई-सा भाग चुन लेने से एक नवीन विचार का प्रचार करने के लिए सामग्री मिल जाती है।

इन दर्शनों में विषयों की विविधता इसलिए है कि दार्शनिक कल्पनाओं के पीछे धार्मिक उद्देश्य छिपा है। शब्द की नित्यता का सिद्धान्त दार्शनिक समस्या से अधिक आस्तिकवाद की समस्या है, क्योंकि इसका सम्बन्ध वेद की निर्दोषता के सिद्धान्त से है। हरएक वैदिक दर्शन में तर्क, मनोविज्ञान, तत्त्वज्ञान और धर्म का सम्मिश्रण पाया जाता है।

३

सूत्र-साहित्य

जब वैदिक साहित्य बहुत अधिक बढ़ गया और वैदिक विषय के विचारकों को अपने विचारों को क्रमबद्ध करने की आवश्यकता अनुभव होने लगी तब सूत्र-साहित्य की उत्पत्ति

१. गेटे से तुलना कीजिए : "कुछ ऐसे अत्यन्त मेधावी एवं प्रतिभाशाली व्यक्ति प्रकट हुए जिन्होंने इस विषय में तितलियों की भांति, अपनी शैशवावस्था को भुलाकर, उस आवरण को उतार फेंका जिसके अन्दर रहकर वे परिपक्व हुए थे। अन्य कुछ ऐसे थे जो अधिक ईमानदार और नम्र थे। उनकी तुलना उन फूलों के साथ की जा सकती है जो सौन्दर्य के पूर्ण विकास को प्राप्त करते हैं, पर अपने मूल को नहीं छोड़ते और न अपने पौधे के तने से ही पृथक् होते हैं, बल्कि इसी सम्बन्ध को निभाते हुए प्रत्याशित फल को परिपक्व अवस्था तक पहुंचाते हैं।"
—मर्ज़ में उद्धृत, 'योरोपियन थॉट् इन द नाइंटींथ सेन्चुरी', खण्ड ४, पृष्ठ १६४, पादटिप्पणी १।

हुई। दर्शनों के मुख्य-मुख्य सिद्धान्त संक्षेप में सूत्रों के रूप में रखे गए हैं। इन्हें, जहां तक सम्भव हो सका, छोटे से छोटे कलेवर में, शंकारहित, किन्तु वास्तविक तत्त्व को प्रकट करनेवाले रूप मे रखा गया है, जिसमें अनावश्यक व अशुद्ध अंश के लिए कोई स्थान नहीं है।[1] सब प्रकार के अनावश्यक पुनरुक्तिदोष से रहित और चुने हुए कम से कम शब्दों में इनका निर्माण किया गया है।[2] प्राचीन काल के लेखकों को विस्तार से लिखने का कोई प्रलोभन नही था, क्योंकि वे छपे हुए ग्रन्थों की अपेक्षा स्मृति पर अधिक निर्भर करते थे। अत्यन्त सक्षिप्त रूप में होने के कारण सूत्रो के पूरे आशय को बिना टीका की सहायता के समझना एक कठिन कार्य है।

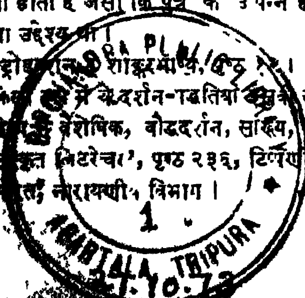
दार्शनिक विचारों के विभिन्न क्षेत्रों मे विभिन्न पद्धतियों का विकास हुआ। कितनी ही पीढ़ियों में विचार एकत्र होते गए और अन्त में सूत्रों के रूप में उनका संग्रह किया गया। सूत्र किसी एक विचारक के परिश्रम का परिणाम नही है, न किसी एक युग में इनका निर्माण हुआ है। ये कितने ही और कई पीढ़ियों में बटे हुए विचारकों के सतत परिश्रम का परिणाम हैं। सूत्रों का रूप लेने से पूर्व उन विचारों की कितने ही समय तक गर्भरूप मे बढ़ते रहने की कल्पना की जा सकती है, इसलिए उनके उद्गम को खोज निकालना एक कठिन कार्य है। आध्यात्मिक ज्ञान के प्रारम्भ के विषय मे निश्चित रूप से कुछ भी धारणा बनाना कठिन है। सूत्र ग्रन्थ प्राचीन काल के शृङ्खलाबद्ध प्रयासों का परिणाम हैं और इन्हें "एक बिलकुल केन्द्रीय स्थान प्राप्त है, क्योंकि जहा एक ओर ये पुराने साहित्यिक निबन्धों का, जो कितनी ही पीढ़ियों में लिखे गए होगे, सार प्रस्तुत करते हैं, वहा दूसरी ओर ये टीकाकारो तथा स्वतन्त्र लेखकों के उस उत्तरोत्तर बढ़ते कार्य-कलाप का मुख्य स्रोत भी है जिसकी परम्परा हमारे काल तक पहुचती है और शायद कुछ आगे भी जा सकती है।"[3] दर्शनो का विकास सूत्रों के निर्माण से बहुत समय पूर्व हो गया होगा। दार्शनिक सूत्रों की समस्त शैली और भाव से यह प्रतीत होता है कि ये लगभग एक ही काल में बने है।[4] सूत्रों के निर्माण दर्शनशास्त्रों के संस्थापक अथवा उत्पादक न होकर केवलमात्र उनके संग्राहक ही हैं। यही कारण है कि दार्शनिक सूत्रों में यत्र-तत्र परस्पर-विरोधी प्रकरण पाए जाते है। और यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि विविध दर्शनशास्त्रों का निर्माण साथ-साथ एक ही समय मे हो रहा था और वह समय सूत्रों के

१. अल्पाक्षरम् असन्दिग्धम् सारवद् विश्वतोमुखम् ।
अस्तोभम् अनवद्यं च सूत्रं सूत्रविदो विदुः ॥ (ब्रह्मसूत्र पर मध्व, १ : १, १)।
जयतीर्थकृत न्यायसुधा को देखिए, १ : १, १; भामती, १ : १, १।

२. इस कथन से कि "एक वैयाकरण यदि आधी मात्रा भी बचा सकने में सफल हो सके तो उसे वैसी ही प्रसन्नता होती है जैसी कि पुत्र के उत्पन्न होने मे होती है" यह निर्दिष्ट होता है कि शब्दों की बचत करना उद्देश्य था।

३. थिबौट : ब्रह्मसूत्रों के शांकरभाष्य, पृष्ठ १२।

४. किसी न किसी रूप में ये दर्शन-पद्धतियां ईसा के सन् मे पूर्व अवश्य रही होंगी। जैनियों के प्राचीन धार्मिक साहित्य में वैशेषिक, बौद्धदर्शन, सांख्य, लोकायत और शष्टितन्त्र का उल्लेख पाया जाता है। (वेबरकृत 'संस्कृत लिटरेचर', पृष्ठ २३६, टिप्पणी २४६)। और देखिए, 'ललितविस्तर', १२; 'चरकसंहिता', शारीरस्थान, नारायणीय विभाग।



निर्माण-काल के पूर्व का समय है। मिले-जुले दार्शनिक समाधानों मे से दर्शनो के पृथक्करण का समय बुद्ध के पश्चात् की प्रारम्भिक शताब्दियो मे और ईसा के समय से पूर्व आका जा सकता है। उस समय दार्शनिक विचारो का आदान-प्रदान पुस्तकों के द्वारा न होकर मौखिक रूप मे होता था। यह सम्भव है कि मौखिक शिक्षा की परम्परा टूट जाने के बाद कई प्रमुख ग्रन्थ नष्ट हो गए हों और जो आज हमे उपलब्ध है उनके अन्दर बहुत-सी मिलावट हो गई हो। कुछ अति प्राचीन प्रमुख सूत्रग्रन्थ, यथा बृहस्पतिसूत्र, वैखानससूत्र, और भिक्षुसूत्र, और कितना ही दार्शनिक साहित्य आज हमे प्राप्त नही है, और उसके साथ ही बहुत-सी उपयोगी सामग्री भी, जो विभिन्न दर्शनो के कालानुक्रम पर प्रकाश डाल सकती थी, आज लुप्त हो गई है। मैक्समूलर के अनुसार सूत्रग्रन्थो का निर्माण-काल बुद्ध से लेकर अशोक के समय तक है, यद्यपि वे यह स्वीकार करते है कि वेदान्त, सांख्य और योग के लिए उससे बहुत पूर्व का समय दिया जा सकता है। इस मत की पुष्टि कौटिल्य के अर्थशास्त्र की साक्षी से होती है। उस समय तक परम्परागत आन्वीक्षिकी अथवा तार्किक पद्धतियां मुख्यत दो सम्प्रदायों, पूर्व मीमांसा और सांख्य मे बटी हुई थी। यद्यपि बौद्ध-ग्रन्थो मे बहुत ही स्पष्ट उल्लेख है, तो भी यह कहा जा सकता है कि बौद्धसूत्रो मे षड्दर्शन से उपलब्ध ज्ञान का समावेश पाया जाता है। बुद्ध के पीछे की प्रारम्भिक शताब्दियो का विशद बौद्धिक जीवन अनेक समानान्तर धाराओं मे प्रवाहित हुआ, यद्यपि उन्हे सूत्रों का रूप देने का कारण विरोधी दर्शनो की प्रतिक्रिया ही थी। इन दर्शनो मे अनेक परिवर्तन यद्यपि पीछे के भाष्यकारो के हाथो हुए, तो भी इनका श्रेय इनके आदि निर्माताओं को ही दिया जाता है। वेदान्त दर्शन व्यास का कहलाता है, यद्यपि शकर रामानुज और अन्य अनेक भाष्यकारो ने इसमे सिद्धान्त सम्बन्धी मौलिक परिवर्तन किए है। बड़े से बड़े भारतीय विचारक अपने को प्राचीन परिपाटी का अनुयायी ही मानते रहे है: यद्यपि मूल-सूत्रो का भाष्य करते समय उन्होने उनको अधिक उन्नत बना दिया है। प्रत्येक दर्शन ने अन्य दर्शनो को सामने रखकर उन्नति की है। वर्तमान समय तक भी षड्दर्शनो के विकास मे उन्नति होती रही है। उत्तरोत्तर भाष्यकार विरोधियों के आक्षेपो के सामने अपने परम्परागत सिद्धान्त की बराबर रक्षा करते आए है।

प्रत्येक दर्शन के निर्माण की प्रारम्भिक अवस्था में दार्शनिक विचार का एक प्रकार का उबाल-सा आता है जो आगे चलकर एक विशेष स्थल पर सूत्ररूप में संक्षिप्त आकार धारण करता है। इसके पश्चात् सूत्रो के भाष्यो का समय आता है। फिर उनपर टिप्पणियां, टीकाएं एवं सारभूत व्याख्याएं आती है, जिनके कारण मौलिक सिद्धान्त में बहुत-सा परिवर्तन, सुधार व विस्तार भी हो जाता है। भाष्य प्रश्नोत्तर के रूप में होते हैं, क्योंकि उपनिषदो के समय से ही इस पद्धति को जटिल विषय को विशद रूप में समझाने का एक-मात्र उपयुक्त साधन समझा जाता रहा है। इस प्रकार भाष्यकार को विरोधी विचारो का उत्तर देते हुए मौलिक सिद्धान्त के समर्थन का उत्तम अवसर प्राप्त हो जाता है। और इस विधि से उन्ही विचारो की पुनः स्थापना करते हुए अन्यान्य विचारों की तुलना मे उसकी उत्कृष्टता सिद्ध हो जाती है।

सामान्य विचारधाराएं

छ: के छ: दर्शन कुछ मौलिक सिद्धान्तो मे परस्पर एकमत है।[1] वेद की प्रामाणिकता मान्य होने से ध्वनित होता है कि इन सभी दर्शनो का विकास विचारधारा के एक ही आदिम स्रोत से हुआ है। हिन्दू शिक्षको ने भूतकाल के अपने पूर्वपुरुषो से प्राप्त ज्ञान का उपयोग इसलिए भी किया क्योकि इस आधार पर व्यक्त किए गए विचार सरलता से समझ मे आ सकते थे। यद्यपि अविद्या, माया, पुरुष और जीव आदि पारिभाषिक शब्दो का प्रयोग यह प्रकट करता है कि विभिन्न दर्शनो की भाषा एक समान है, तो भी इस बात को ध्यान में रखना चाहिए कि उक्त पारिभाषिक शब्दो का प्रयोग भिन्न-भिन्न दर्शनो मे भिन्न-भिन्न अर्थो मे हुआ है। विचारशास्त्र के इतिहास मे प्राय ऐसा होता है कि उन्ही शब्दो और परिभाषाओ का भिन्न-भिन्न सम्प्रदाय वाले अपने भिन्न-भिन्न अर्थों मे प्रयोग करते हैं। प्रत्येक दर्शन अपने विशेष सिद्धान्त के प्रतिपादन मे सर्वोच्च धार्मिक विवेचन की उसी प्रचलित भाषा का प्रयोग आवश्यक परिवर्तनो के साथ करता है। इन दर्शन-शास्त्रो मे दार्शनिक विज्ञान आत्मचेतन रूप मे विद्यमान है। वेदो मे उल्लिखित अध्यात्म अनुभवो की तार्किक आलोचना इन ग्रन्थो का विषय है। ज्ञान की यथार्थता और उसको प्राप्त करने के साधन प्रत्येक दर्शन का एक मुख्य अध्याय है। प्रत्येक दार्शनिक योजना ज्ञान के सम्बन्ध मे अपना स्वतन्त्र सिद्धान्त प्रतिपादित करती है, जो उस दर्शन के प्रतिपाद्य विषय—अध्यात्मविद्या—का मुख्य भाग है। अन्तर्दृष्टि, अनुमान और वेद सब दर्शनो को एक समान मान्य हैं। युक्ति और तर्क को अन्तर्दृष्टि के अधीन ही स्थान दिया गया है। जीवन की पूर्णता का अनुभव केवल तर्क द्वारा सम्भव नही है। आत्मचेतना का स्थान विश्व मे सर्वोपरि नही है। कोई वस्तु आत्मचेतना से भी ऊपर है जिसे अन्तर्दृष्टि, दिव्य ज्ञान, विश्वचेतना, और ईश्वरदर्शन आदि नाना सज्ञाए दी गई हैं। क्योकि हम ठीक-ठीक इसकी व्याख्या नही कर सकते, इसलिए हम इसे उच्चतर चेतना के नाम से पुकारते हैं। जब कभी इस उच्च सत्ता की झलक हमारे सामने आती है तो हम अनुभव करते हैं कि यह एक पवित्र ज्योति की सत्ता है जिसका क्षेत्र अधिक विस्तृत है। जिस प्रकार 'चेतना' और आत्मचेतना का भेद पशु और मनुष्य के भेद को प्रदर्शित करता है, उसी प्रकार आत्मचेतना और उच्चतर चेतना का भेद मनुष्य को, जैसा कि वह है, उस मनुष्य से भिन्न प्रदर्शित करता है जैसा कि उसे बनना चाहिए। भारतीय दर्शन

१. मैने प्राचीन दर्शनों का जितना ही अधिक अध्ययन किया उतना ही मैं विज्ञानभिक्षु आदि के इस मत का अनुयायी होता गया, कि षड्दर्शन की परस्पर भिन्नता की पृष्ठभूमि में एक ऐसे दार्शनिक ज्ञान का भण्डार है जिसे हम राष्ट्रीय अथवा सर्वमान्य दर्शन कह सकते हैं, जिसकी तुलना हम उस विशाल मानसरोवर से कर सकते हैं जो यद्यपि सुदूर प्राचीन काल रूपी दिशा में अवस्थित था तो भी जिसमें से प्रत्येक विचारक को अपने उपयोग के लिए सामग्री प्राप्त करने की अनुज्ञा मिली हुई थी।"

—मैक्समूलर : 'सिक्स सिस्टम्स आफ इण्डियन फिलासफी', पृष्ठ १७।

का आधार एक ऐसी भावना है जो केवल तर्क से ऊपर है, और उसका यह मत है कि जिस संस्कृति की नींव केवल तर्क और विज्ञान पर हो, उसमें कार्यक्षमता भले ही हो किन्तु उससे प्रेरणा नहीं मिल सकती।

सभी वैदिक दर्शन, बौद्धों के संशयवाद के विरुद्ध हैं और एक शाश्वत, अस्थिर परिवर्तन-क्रम के विपरीत, एक उद्देश्यपूर्ण वास्तविकता और सत्य के पक्ष में अपना झंडा ऊंचा करते हैं। यह सृष्टि-प्रवाह अनादि है और यह केवल मन की कल्पनामात्र न होकर वास्तविक है और एक उद्देश्य को लिए हुए है। इसीको अनादि प्रकृति, माया अथवा परमाणु कहा है। उस सत्ता को जिसमें नाम और रूप से रहित विश्व स्थित है, कोई प्रकृति, कोई माया और कोई परमाणु नाम से पुकारते हैं।[1] यह मान लिया गया है कि जिसका प्रारम्भ है उसका अन्त भी है। अनेक हिस्सों से मिलकर जिस वस्तु का निर्माण हुआ है, वह न तो नित्य हो सकती है और न अपना अस्तित्व सदा स्थिर रख सकती है। यथार्थ अस्तित्व अविभाज्य है। देश और काल की सीमा में बंधा हुआ यह जगत् वास्तविक नहीं है, क्योंकि बनना व बिगड़ना इसका प्रकृत स्वभाव है। इससे अधिक गहराई में कुछ है—परमाणु और जीवात्माएं, अथवा पुरुष और प्रकृति, अथवा ब्रह्म।

सभी दर्शन इस महान विश्वरूपी प्रवाह के दृष्टिकोण को स्वीकार करते हैं। उत्पत्ति, स्थिति और विनाश का क्रम अनन्त काल से चल रहा है और अनन्त काल तक चलता रहेगा। इस सिद्धान्त का प्रगति-सम्बन्धी विश्वास के साथ कोई विरोध नहीं है; क्योंकि इसमें सृष्टि की गति के अपने अन्तिम लक्ष्य तक अनेक बार पहुंचने और फिर नये सिरे से प्रारम्भ करने का प्रश्न नहीं उठता। उत्पत्ति और विनाश का तात्पर्य यहां विश्व के नये सिरे से उत्पन्न होने और सर्वथा विनष्ट हो जाने से नहीं है। नवीन सृष्टि विश्व-इतिहास का अगला पड़ाव होता है, जबकि बची हुई सद् और असद् क्षमताओं को अपनी पूर्णता तक पहुचने का अवसर प्राप्त होता है। इसका तात्पर्य यह है कि मानव-जाति को नये सिरे से आत्मदर्शन के अपने मार्ग पर आरूढ़ होने का अवसर प्राप्त होता है। यह संसार के युगों का कभी समाप्त न होनेवाला विधान है जिसका कोई आरम्भकाल नहीं है।

पूर्व मीमांसा को छोड़, अन्य सभी वैदिक दर्शनों का लक्ष्य मोक्षप्राप्ति के क्रियात्मक उपायों को ढूढ निकालना है। मोक्ष का अर्थ इन शास्त्रों के अनुसार है, जीवात्मा का पाप अथवा भूलों से छूटकर अपने शुद्ध स्वरूप को पहचानना व उसे प्राप्त करना। इस अंश में सभी दर्शनों का एक ही उद्देश्य है, अर्थात् पूर्ण मानसिक संतुलन, जीवन की विषमताओं और अनिश्चितताओं, दुःखों और कष्टों से छुटकारा पाना, 'एक ऐसी शान्ति जो शाश्वत बनी रहे' जिसमें कोई संशय विघ्न न डाल सके और पुनर्जन्म जिसे भंग न कर सके। जीवनमुक्ति के विचार को, अर्थात् इसी जन्म में मुक्त होने के भाव को अनेक सम्प्रदायों ने स्वीकार किया है।

१. विज्ञानभिक्षु अपने योगवार्तिक में बृहद्वाशिष्ठ से उद्धृत करते हैं :

"नामरूपविनिर्मुक्तं यस्मिन् सन्तिष्ठते जगत्।
तमाहुः प्रकृतिं केचिन्मायामन्ये परे त्वणुम्॥"

'हिन्दुओं का यह एक मूल विश्वास है कि इस विश्व का संचालन पूर्णरूप से किसी नियम के अनुसार हो रहा है, और तो भी मानव को अपने भाग्य का निर्णय करने में पूर्णतया स्वतन्त्र रखा गया है।

हमारे कार्य दूर से अभी भी हमारा पीछा करते हैं, जो कुछ हम पहले रहे हैं उसीके अनुसार हमारा वर्तमान रूप है।

सारे दर्शन पुनर्जन्म एवं पूर्वजन्म में आस्था रखते हैं। हमारा जीवन एक ऐसे मार्ग पर एक डग है जिसकी दिशा व लक्ष्य अनन्त में निहित है। इस मार्ग में मृत्यु अन्त नही है और न ही वह बाधा है। अधिक से अधिक वह नये डगों का प्रारम्भ है। आत्मा का विकास एक निरन्तर चलनेवाली प्रक्रिया है, यद्यपि भिन्न-भिन्न पड़ावों पर मृत्युरूपी संस्कार द्वारा बार-बार इसकी लडो टूटती रहती है।

दर्शन हमें गन्तव्य स्थान के द्वार तक ले जाता है, किन्तु उसके अन्दर प्रवेश नही करा सकता। उसके लिए अन्तर्दृष्टि या आत्मज्ञान आवश्यक है। हम संसाररूपी अन्धकार में भटक गए बच्चों के समान है, जिन्हें अपने असली रूप का ज्ञान नही है। इसीलिए हम भयभीत होते हैं, और अपने चारों ओर व्याप्त दुःख मे आशा को लेकर चिपके हुए हैं। इसीलिए प्रकाश की आवश्यकता है जो हमें वासनाओं से मुक्त करके अपने शुद्ध एवं वास्तविक स्वरूप का दर्शन कराए और उस अवास्तविक स्थिति का भी परिचय दे सके जिसमें हम अज्ञानवश रह रहे है। इस प्रकार के अन्तर्निरीक्षण को मोक्ष की प्राप्ति का एकमात्र साधन स्वीकार किया गया है, यद्यपि अन्तर्निरीक्षण के उद्देश्य के विषय मे मतभेद अवश्य है।[1] अज्ञान ही बंधन का कारण है और इसलिए सत्य का ज्ञान प्राप्त होने पर ही उससे मुक्ति मिल सकती है। दर्शनशास्त्रों का आदर्श नीतिशास्त्र की सतह से ऊपर उठने का है। पवित्रात्मा पुरुष की तुलना कमल के उस सुन्दर पुष्प से की गई है जो उस पंक से भी अलिप्त रहता है जिससे कि वह उत्पन्न होता है। उसके लिए अच्छाई ऐसा लक्ष्य नहीं है जिसे कि प्रयत्नपूर्वक प्राप्त करना होता है, बल्कि वह अपने-आपमे एक निश्चित सत्य है। जबकि पाप व पुण्य इस संसारचक्र मे अच्छे व बुरे जीवन की ओर ले जाते हैं, हम अपने सदाचारमय जीवन से ऊपर उठकर इस ससार से भी छुटकारा पा सकते हैं। सभी दर्शन हमें निःस्वार्थ प्रेम और निष्काम कर्म की शिक्षा देते है और सदाचार के लिए चित्तशुद्धि पर बल देते हैं। भिन्न-भिन्न अनुपातो में वे वर्णव्यवस्था तथा आश्रम-व्यवस्था के नियमों का पालन करने का आदेश देते हैं।

भारतीय दर्शन का इतिहास, जैसा कि हमने विषय-प्रवेश[2] में बताया है, अनेक प्रकार की कठिनाइयों से पूर्ण है। प्रमुख शास्त्रकारो और उनके ग्रन्थों के समय के विषय में संशयरहित कुछ भी कहा नहीं जा सकता और कितने ही सुप्रसिद्ध ग्रन्थकारों की ऐति-

१. बौद्ध विचारक धर्मकीर्ति भी अपने 'न्यायबिंदु' नामक ग्रन्थ का प्रारम्भ इसी कथन से करते हैं कि मनुष्य को समस्त इच्छाओं की पूर्ति से पूर्व सम्यक् ज्ञान होना आवश्यक है। सम्यग्ज्ञानपूर्विका सर्वपुरुषार्थसिद्धिः (१)।

२. भारतीय दर्शन, प्रथम खण्ड।

हासिकता के विषय में भी बहुत मतभेद है। कितने ही प्रासंगिक ग्रन्थ तो उपलब्ध नहीं हैं और कतिपय जो प्रकाशित हुए हैं उनमें से सबका अभी आलोचनात्मक अध्ययन नहीं हुआ है। महान भारतीय विचारकों ने भी भारतीय दर्शन की ऐतिहासिक दृष्टि से छान-बीन नहीं की है। माधवाचार्य ने अपने सर्वदर्शनसंग्रह में सोलह विभिन्न दर्शनों का विवेचन किया है। प्रथम खण्ड मे हमने भौतिकवादी, बौद्ध और जैन विचारों की चर्चा की है। इस खण्ड में हम न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, पूर्व मीमांसा, और वेदान्त दर्शनों का विवेचन करेंगे। शैवसिद्धान्त के चारों सम्प्रदायों और रामानुज व पूर्णप्रज्ञ के सम्प्रदायों का आधार वेदान्त सूत्र है, और वे भिन्न-भिन्न प्रकार मे उनको व्याख्या करने का प्रयत्न करते है। पाणिनि के मत का महत्त्व दार्शनिक दृष्टि से बहुत कम है। वे शब्द की नित्यता के सम्बन्ध मे मीमांसा के मत से सहमत होकर स्फोट अर्थात् प्रत्येक शब्द के अन्तर्गत अर्थ की अभिव्यक्ति के अविभाज्य रूप को स्वीकार करते हैं। वैदिक षड्दर्शनो में वैशेषिक दर्शन की अधिक प्रतिष्ठा नही है, जबकि न्यायदर्शन का तर्कपक्ष अधिक प्रचलित है और इसके भक्त व अनुयायी विशेष रूप से बगाल में बहुत अधिक है। योगदर्शन का क्रियात्मक प्रयोग बहुत कम मिलता है, जबकि पूर्व मीमांसा का हिन्दू कानून के साथ निकट सम्बन्ध है। सांख्य का प्रचार नही के बराबर है, जबकि वेदान्त अपने भिन्न-भिन्न रूपों मे प्रायः सर्वत्र छाया हुआ है। हिन्दू-विचारधारा के प्रतीक इन छ. दर्शनो के विषय मे लिखते हुए हम अधिकतर अपना ध्यान प्राचीन शास्त्रों, सूत्रों तथा उनके प्रमुख भाष्यकारों पर ही केन्द्रित करेंगे। अर्वाचीन काल के प्राय. सभी विचारकों के आध्यात्मिक ग्रन्थ, कुछेक अप-वादों को छोड़कर, पर्याप्त मात्रा में प्रभावोत्पादक नही है। उनका अध्ययन तो विस्तृत है; किन्तु अवनति के युग मे निर्मित होने के कारण उनके कृतित्व में टीका-टिप्पणियों व पुरानी बातों को दोहराने के अतिरिक्त किसी नवीन सृजन की शक्ति नही पाई जाती। उनमें मताग्रह को अत्यधिक मात्रा मे सुविधाए दी गई है। प्रत्यक्ष को भी रहस्यमय करके वर्णन करने की प्रवृत्ति, आस्तिकवाद के प्रति पक्षपात और तात्त्विक अनुर्वरता के कारण उसपर विशेष ध्यान देना आवश्यक नही है।

प्रचलित प्रथा के अनुसार ही, जिसके प्रतिकूल व्यवहार करना व्यर्थ होगा, हम पहले न्याय और वैशेषिक सिद्धान्त को ही लेंगे, जो हमे अनुभव के ससार का विश्लेषण प्रदान करते हैं। फिर हम सांख्य और योग को लेंगे, जिनमें अनुभव का साहसपूर्ण कल्पना-त्मक वर्णन किया गया है। इसके बाद अन्त मे हम दोनों मीमासा दर्शनों का विवेचन करेंगे, जिनमें यह दर्शाने का प्रयत्न किया गया है कि श्रुति के दिव्य ज्ञान और दर्शन के अन्तिम निर्णयो में परस्पर सामंजस्य है। विवेचन का इस प्रकार का क्रम ऐतिहासिक कार्यकाल की दृष्टि से भले ही संगत न हो, किन्तु तार्किक दृष्टि से पूर्णतया संगत होगा।

दूसरा अध्याय

न्यायशास्त्र का तर्कसम्मत यथार्थवाद

न्याय और वैशेषिक—न्याय की प्रारम्भिक अवस्था—साहित्य और इतिहास—न्याय का क्षेत्र—परिभाषा का स्वरूप—प्रत्यक्ष अथवा अन्तर्दृष्टि—अनुमान प्रमाण—परार्थानुमान—आगमन-अनुमान—कारण—उपमान अथवा तुलना—आप्त प्रमाण—ज्ञान के अन्य रूप—तर्क और वाद—स्मृति—संशय—हेत्वाभास—सत्य अथवा प्रमा—भ्रान्ति—न्याय के प्रमाणवाद का सामान्य मूल्यांकन—भौतिक जगत् जीवात्मा और उसकी नियति—जीवात्मा तथा चेतना के सम्बन्ध के विषय में न्याय के सिद्धान्त पर कुछ आलोचनात्मक विचार—नीतिशास्त्र—ब्रह्मविद्या—उपसंहार।

१

न्याय और वैशेषिक

भारतीय विचारधारा के अन्य दर्शन जहां मुख्यतया कल्पनापरक है, इन अर्थों मे कि वे ससार की अखण्ड रूप मे विवेचना करते हैं, वहा न्याय और वैशेषिक विश्लेषणात्मक दर्शन का प्रतिनिधित्व करते है, और साधारण ज्ञान व विज्ञान का आश्रय लेकर चलते है तथा उनकी उपेक्षा नही करते। इन दोनो सम्प्रदायो मे विशेषत्व यह है कि ये एक ऐसी विधि का प्रयोग करते है जिसे इनके अनुयायी वैज्ञानिक मानते है। तार्किक जाच तथा आलोचनात्मक विधि का प्रयोग करके, ये यह दर्शाने का प्रयत्न करते है कि बौद्ध विचारक जिन परिणामो पर पहुचे वे परिणाम आवश्यक रूप से अभिमत नही थे। ये इस बात को भी दर्शाने का प्रयत्न करते है कि तर्क हमे जीवन को सदा के लिए नश्वर एव क्षण-क्षण मे परिवर्तनशील मानने के लिए भी बाध्य नही करता। इन दर्शनो का मुख्य उद्देश्य उन सशयवादी परिणामो का निराकरण करना है जो बौद्धो के प्रत्यक्ष ज्ञानवाद से निकलते हैं, क्योकि वह बाह्य यथार्थ को मन के विचारो मे मिला देता है। इनका प्रयास परम्परागत निष्कर्षों के प्रति, अर्थात् अन्तर्जगत् मे जीवात्मा और बाह्य जगत् मे प्रकृति के प्रति विश्वास को पुन दृढ करने की ओर है। और ये ऐसा केवल प्रामाण्य के आधार पर नही, बल्कि तर्क के आधार पर करते हैं। सशयवाद का जो प्रवाह बाढ की तरह आया उसकी रोक-थाम केवल आस्था द्वारा नहीं की जा सकती थी, विशेषत जबकि नास्तिको ने उसके दुर्ग पर ही आक्रमण करने के लिए इन्द्रियजन्य ज्ञान व तर्क का आधार ले रखा हो। ऐसे

समय में जीवन व धर्म के लक्ष्यों की प्राप्ति विशुद्ध ज्ञान के साधनों व उसकी विधियों की गम्भीर जांच से ही हो सकती है। धर्मशास्त्र एवं इन्द्रियों द्वारा प्राप्त किए जानेवाले ज्ञान की जो सामग्री हमारे सम्मुख आती है उसकी तार्किक छानबीन ही का प्राचीन नाम आन्वीक्षिकी विद्या है।[1] नैयायिक उस सबको सत्य मानता है जो तर्क की कसौटी पर ठीक उतर सकता है।[2] वात्स्यायन और उद्योतकर इस विषय पर बल देते हैं कि यदि न्यायदर्शन केवल जीवात्मा और उसकी मुक्त अवस्था के विषय का ही प्रतिपादन करता तो उपनिषदों से उक्त दर्शन में कोई विशेष भेद न होता, क्योंकि वे भी इन समस्याओं का विवेचन करते हैं। न्यायदर्शन की विशेषता यही है कि यह आध्यात्मिक समस्याओं का आलोचनात्मक दृष्टि से विवेचन करता है। वाचस्पति के अनुसार, न्यायशास्त्र का उद्देश्य ज्ञान के विषयों की तर्कबुद्धि द्वारा आलोचना और छानबीन करना है।[3]

न्याय और वैशेषिक दोनों ही परम्परागत सामान्य दार्शनिक पदार्थों, यथा देश, काल, कारण, भौतिक प्रकृति, मन, जीवात्मा और ज्ञान, को लेकर उनके विषय में उचित अनुसन्धान करके विश्व की रचना का समाधान करते हैं। तर्कसम्मत तत्त्व-विभाग इस परम्परा की मुख्य विशेषता रही है। न्याय और वैशेषिक दोनों क्रमशः आन्तरिक तथा बाह्य जगत् की व्याख्या करते हैं। न्याय अत्यन्त विस्तार के साथ ज्ञानप्राप्ति की पद्धति की व्याख्या करता है और बलपूर्वक उस संशयवाद का युक्तियुक्त विरोध करता है जो कि प्रत्येक पदार्थ की अनिश्चितता की घोषणा करता है। वैशेषिक का मुख्य विषय इन्द्रिय-जन्य ज्ञान अथवा अनुभव का विश्लेषण करना है। यह उन पदार्थों के विषय में सामान्य धारणाएं देता है जो या तो प्रत्यक्ष या अनुमान अथवा श्रुति के प्रमाण द्वारा जाने जाते हैं। इस प्रकार का रुख अपनाते हुए यदि न्याय और वैशेषिक जीवात्माओं को वास्तविक मानने के विश्वास का समर्थन करें तो कुछ आश्चर्य नहीं। यह जीवात्माएं अपने चारों ओर व्याप्त वस्तुओं के विधान में परस्पर क्रिया-प्रतिक्रिया में संलग्न हैं।

दोनों दर्शन बहुत समय से एक-दूसरे के पूरक माने जाते रहे हैं। कभी-कभी यह सुझाया जाता है कि उक्त दोनों दर्शन एक ऐसे उद्गम से निकली दो स्वतन्त्र विचारधाराएं हैं जिसमें ज्ञात पदार्थों तथा ज्ञान के साधनों का विवेचन किया गया था। परन्तु, इस विषय पर निश्चितरूप से कुछ कहना कठिन है। बाद के ग्रन्थकारों ने दोनों दर्शनों को एक ही सामान्य विचारधारा का अंग स्वीकार किया है।[4] यहां तक कि वात्स्यायन के न्यायभाष्य

१. प्रत्यक्षागमाभ्याम् ईक्षितस्य अन्वीक्षा तया वर्तत इत्यान्वीक्षिकी (न्यायभाष्य, १ : १, १)। आगे चलकर : "इसे अन्वीक्षा, अर्थात् अनुसन्धान कहा जाता है, क्योंकि इसका कार्य प्रत्यक्ष तथा शब्द-प्रमाण के आधार पर पहले देखी हुई (ईक्षित) वस्तु का फिर से ईक्षण (अनु-ईक्षण) करना है" (न्याय-भाष्य, १ : १, १)। तर्कशास्त्र दूसरी धारणा का विज्ञान है, जैसा कि अरस्तू का कहना है, यह अनिवार्यरूप से ज्ञान का अपने सम्बन्ध में चिन्तन करना है।

२. बुद्धया यद् उपपन्नं तत् सर्वं न्यायमतम्।

३. तुलना कीजिए : प्रमाणैरर्थ परीक्षणम् (न्यायभाष्य तथा न्यायवार्तिक तात्पर्य टीका, १ : १, १)।

४. देखिए, वरदराजकृत तार्किकरक्षा, केशवमिश्रकृत तर्कभाषा, शिवादित्यकृत सप्तपदार्थी, विश्वनाथकृत भाषापरिच्छेद और सिद्धान्तमुक्तावली, अन्नंभट्टकृत तर्कसंग्रह और दीपिका, जगदीश-

में दोनों के अन्दर भेद नहीं किया गया है। वैशेषिक का उपयोग न्याय के परिशिष्ट के रूप में हुआ है।[1] उद्योतकर के न्यायवार्तिक में वैशेषिक सिद्धान्तों का उपयोग किया गया है। जैकोबी का कहना है कि "उक्त दोनों सम्प्रदायों का सम्मिश्रण बहुत पहले आरम्भ हो गया था और इसकी पूर्ति उस समय हुई लगती है जबकि न्यायवार्तिक लिखा गया।"[2] कितने ही न्यायसूत्रों में वैशेषिक के सिद्धान्तों की पूर्वकल्पना की गई है। इन्हें समान-तन्त्र अथवा संयुक्त दर्शन नाम से भी पुकारा जाता है, क्योंकि दोनों ही जीवात्माओं के अनेक होने, एक पृथक् ईश्वर की सत्ता, परमाणुरूप जगत् की सत्ता मे विश्वास करते हैं, और बहुत-सी एक-जैसी युक्तियों का उपयोग करते है। यद्यपि इसमें सन्देह नहीं कि उक्त दोनों दर्शन-पद्धतियां बहुत प्राचीन काल में ही एक साथ मिल गई थी, फिर भी जहां एक ने तर्क के विषय का प्रतिपादन किया वहां दूसरे ने भौतिक जगत् की व्याख्या की। इस प्रकार दोनो में भेद प्रकट होता है।[3] जबकि न्याय तर्क द्वारा पदार्थों के ज्ञान की प्रक्रियाओ और प्रणालियो का वर्णन करता है, वैशेषिक पदार्थों की परमाणु द्वारा रचना की व्याख्या करता है जिसे न्याय ने बिना किसी तर्क के स्वयसिद्ध स्वीकार कर लिया है।[4]

न्यायदर्शन को अत्यन्त प्राचीन काल से ही बहुत प्रतिष्ठा के साथ देखा जाता

कृत तर्कामृत, और लौगाक्षि भास्करकृत तर्ककौमुदी। बौद्ध विचारक आर्यदेव और हरिवर्मन न्याय को वैशेषिक दर्शन से स्वतन्त्र नहीं मानते। (उई कृत : वैशेषिक फिलासफी, पृष्ठ ५४ और ५६)।

१. न्यायभाष्य, १ : १, ४। वात्स्यायन ने उद्धृत किया है। न्यायभाष्य, २ : २, ३४ मे वैशेषिक सूत्र, ३ : १, १८; न्यायभाष्य, ३ : १, ३३ और ३ : १, ६७ में वैशेषिक सूत्र, ४ : १, ६।

२. इन्साइक्लोपीडिया आफ रिलिजन एण्ड एथिक्स, खण्ड ७, पृष्ठ २०१।

३. उद्योतकर का कहना है कि "अन्य विज्ञानों का कार्य प्रमाणों के विषय का प्रतिपादन करना नहीं है, यद्यपि वे उन पदार्थों का प्रतिपादन करते हैं जो उनके द्वारा जाने गए हैं।" (न्यायवार्तिक, १ : १, १)।

४. गार्बे वैशेषिक को न्याय का पूर्ववर्ती मानता है (इन्साइक्लोपीडिया आफ रिलिजन एण्ड एथिक्स, खण्ड १२, पृष्ठ ५६८); और देखिए, फिलासफी आफ एंशियण्ट इण्डिया, पृष्ठ २०; जैकोबी : (जर्नल आफ द अमेरिकन ओरियण्टल सोसाइटी, ३१), जबकि गोल्डस्टकर वैशेषिक को न्याय की एक शाखामात्र मानता है। कीथ का झुकाव पूर्वतर मत की ओर है। (इण्डियन लाजिक एण्ड एटो-मिज्म, पृष्ठ २१-२२)। यह अधिक तर्कसम्मत है क्योंकि रूढ़िपरक तत्त्व मीमांसा के पश्चात् ही सामा-न्यतः समालोचनात्मक अनुसन्धान उत्पन्न होते है। न्यायसूत्रों का अधिक क्रमबद्ध स्वरूप है तथा उनमें शब्द की नित्यता, आत्मा के स्वरूप और अनुमान की प्रक्रिया की समस्याओं पर अधिक ध्यान दिया गया है, जिससे कीथ का विचार पुष्ट होता है। न्यायसूत्रों में ईश्वर का स्पष्ट रूप में उल्लेख (४ : १, १९) उससे कहीं अधिक है जो कुछ वैशेषिक ने इस प्रश्न पर कहा है। शारीरिक क्रियाओं से आत्मा के अस्तित्व को सिद्ध करने के लिए जो युक्ति दी गई है वह न्याय के मत की तुलना में असंस्कृत है। न्याय ने मानसिक प्रतीति को आत्मा का आधार माना है। न्यायसूत्रों में, जो वैशेषिक सिद्धान्त की समीक्षा करते हैं, (२ : २, १२-१७), न्याय का कोई स्पष्ट उल्लेख न होने से वैशेषिक की प्राचीनता के मत की पुष्टि होती है। न्याय में जो 'प्रतितन्त्रसिद्धान्त' का उल्लेख है यदि उसे वैशेषिक का संकेत समझा जाए तो इस मत की और भी पुष्टि हो जाएगी। वैशेषिक सूत्रों में अनुमान के आधारों का जो अधिक विस्तृत रूप में प्रतिपादन है और हेत्वाभासों की अधिक सरल योजना है, उनका महत्त्व निर्माण-काल की दृष्टि से कुछ अधिक नहीं है। हमें न्यायसूत्रों तथा वैशेषिक सूत्रों में बहुत-सी समानताएं मिलती हैं। न्यायसूत्र ३ : १, ३६; २ : १, ५४; १ : १, १०; ३ : १, २८; ३ : १,

रहा है। मनु ने इसका समावेश श्रुति के अन्दर किया है, याज्ञवल्क्य ने भी इसे वेद के चार अंगों मे से एक माना है।[1] हिन्दुओं के पांच प्राचीन पाठ्यविषयों, काव्य (साहित्य), नाटक, अलंकार, तर्क (न्यायदर्शन) और व्याकरण में न्याय की भी गणना की गई है। आगे चलकर विद्यार्थी किसी भी विषय के विशेष अध्ययन को भले ही स्वीकार करे, किन्तु प्रारम्भिक विषयों में तर्कशास्त्र अवश्य सम्मिलित था, जो समस्त पाठ्यविषयों का आधार समझा जाता था। प्रत्येक हिन्दू दर्शन न्याय द्वारा प्रतिपादित मौलिक सिद्धान्तों को स्वीकार करता है। यहां तक कि न्यायदर्शन की आलोचना के लिए भी न्याय की तार्किक परिभाषाओं का आश्रय लेता है। इस दृष्टिकोण से न्याय एक प्रकार से समस्त व्यवस्थित दर्शनविज्ञान की भूमिका है।[2]

२

न्याय की प्रारम्भिक अवस्था

आन्वीक्षिकी विद्या का प्रयोग, जैसा कि हम ऊपर देख आए हैं, अध्यात्मविषयक समस्याओं की तार्किक समीक्षा के लिए हुआ है। साथ ही इसका प्रयोग व्यापक अर्थ में भी हुआ है, जिससे इसमें सांख्य, योग और लोकायत्त आदि उन समस्त व्यवस्थित प्रयासों का समावेश हो जाता है जो दार्शनिक समस्याओं को सुलझाने के लिए किए गए थे। इन विभिन्न दर्शनों में समान रूप से प्रयुक्त होनेवाली तार्किक पद्धति व आलोचना के स्वरूप की ओर शीघ्र ही ध्यान गया है। प्रत्येक विज्ञान न्याय के नाम से पुकारा जा सकता है, क्योंकि न्याय का शाब्दिक अर्थ है किसी विषय के भीतर जाना अर्थात् उसकी विश्लेषणात्मक समीक्षा करना। इसलिए हम न्यायदर्शन को, जिसमें आलोचनात्मक छानबीन की सामान्य योजना और पद्धति का अध्ययन किया जाता है, विज्ञानों का विज्ञान कह सकते हैं। मीमांसकों ने, जो केवल श्रुतियों के भाष्यकार ही नहीं थे किन्तु तार्किक भी थे, इस प्रकार के तार्किक अध्ययन को प्रोत्साहन दिया। हो सकता है कि कर्मकाण्ड की आवश्यकताओं के कारण ही तर्कबुद्धि का उदय हुआ हो, खासकर तब जब कि कर्मकाण्ड की नाना विधियों, नियमों तथा उसके फलों की ठीक-ठीक व्याख्या करने की आवश्यकता हुई। इसीलिए जिन विचारकों ने मीमांसाशास्त्र की नींव रक्खी और उसे उन्नत किया उन्होंने तर्कशास्त्र की उन्नति में भी सहायता की।[3] जब गौतम ने अन्य विचारकों की अपेक्षा तार्किक पक्ष की

३५; ३ : १, ६३; ३ : १, ७१; ३ : २, ६३ को क्रमशः वैशेषिक सूत्र, ४ : १, ८; ७ : २, २०; ३ : २, ४; ४ : २, ३; ४ : १, ६–१३; ७ : २, ४–५; ८ : २, ५; ७ : १, २३ से तुलना कीजिए)। यदि कुछ वैशेषिक सूत्र न्याय के विचारों के ही परिष्कृत रूप लगते हैं तो इससे केवल इतना ही परिणाम निकल सकता है कि वे सूत्र न्यायसूत्रों के बाद बने। इससे अधिकांश वैशेषिक सूत्रों की पूर्ववर्तिता पर कुछ असर नहीं पड़ता।

१. याज्ञवल्क्य स्मृति, १ : ३। तुलना कीजिए, आत्मोपनिषद्, २. और विष्णुपुराण ३ : ६।

२. तुलना कीजिए : कौटिल्य (१ : २), जिसे न्यायभाष्य, १ : १, १ में उद्धृत किया गया है।

३. मीमांसा ग्रन्थों के नामों यथा माधवकृत न्यायमालाविस्तार, पार्थसारथि मिश्रकृत न्यायरत्नाकर

व्याख्या की ओर विशेष ध्यान दिया तो उसके दृष्टिकोण का आन्वीक्षिकी के साथ तादात्म्य हो गया। इस प्रकार एक पारिभाषिक शब्द, जो बहुत प्राचीन काल से सामान्य अर्थों मे प्रत्येक व्यवस्थित दर्शन के लिए प्रयुक्त होता था, सकुचित अर्थों मे प्रयुक्त होने लगा।[1]

पूर्व की जिन शृङ्खलाबद्ध अवस्थाओ मे से गुजरकर न्यायशास्त्र विकसित हुआ उनमे तार्किक वाद-विवाद का विशेष स्थान है।[2] न्याय को कभी-कभी तर्कविद्या और वादविद्या, अर्थात् वादविवाद-सम्बन्धी विज्ञान का नाम भी दिया गया है। बहस अथवा वाद बौद्धिक जीवन का प्राण है। सत्य के अन्वेषण के लिए इस विधि का आश्रय लेना आवश्यक हो जाता है। सत्य स्वय मे एक अत्यन्त जटिल विषय है और इसीलिए बिना विभिन्न मस्तिष्कों के सम्मिलित सहयोग के सत्य के अन्वेषण मे सफलता नही मिलती।[3] उपनिषदों मे ऐसी विद्वत्परिषदो का उल्लेख मिलता है जिनमे दार्शनिक विषयों पर वाद-विवाद होते थे।[4] यूनानी तर्कशास्त्र भी बहुत हद तक सोफिस्ट आन्दोलन मे विकसित हुआ जिसमे प्रश्नोत्तर के रूप में वाद-विवाद होता था। वाद-विवाद की कला के अभ्यास में ही सोफिस्टों ने न केवल तर्क के यथार्थ सिद्धान्तों वल्कि कुतर्क और वाक्छल का भी आविष्कार किया। प्लेटो के 'डायलौग्स्' मे पता चलता है कि सुकरात वाद-विवाद की कला का उपयोग सत्य के अन्वेषण के लिए करता था। अरस्तू ने अपनी दो पुस्तकों, टापिक्स तथा सोफिस्टिकल रेफयूटेशन्स् का प्रयोग विवाद-प्रतियोगिता के मार्गप्रदर्शन के लिए किया है, यद्यपि वह विशुद्ध तर्क को भाषणकला मे पृथक् रखता था और तर्क के सिद्धान्तों को वाद-विवाद के नियमो से अलग रखता था। इसी प्रकार इसमे सन्देह नही कि गौतम के

और आपदेवकृत न्यायप्रकाश से यह स्पष्ट है कि न्याय शब्द का प्रयोग मीमांसा के पर्यायवाची शब्द के रूप में होता था। और भी देखिए आपस्तम्बकृत धर्मसूत्र, २ : ४, ८, १३, २ : ६, १४, ३।

१. और देखिए, मनु, ७ : ४३; गौतमकृत धर्मसूत्र, ११; रामायण, अयोध्याकाण्ड, १००, ३९; महाभारत, शान्तिपर्व, १८०, ४५।

२. पहले सूत्र में उन विषयों की सूची गिनाई गई है जिनका प्रतिपादन इस दर्शन में किया गया है और वे हैं : (१) प्रमाण, ज्ञान के साधन; (२) प्रमेय, ज्ञान के विषय; (३) संशय; (४) प्रयोजन; (५) दृष्टान्त; (६) सिद्धान्त, मान्य सत्य; (७) अवयव, परार्थानुमान के घटक; (८) तर्क, अप्रत्यक्ष प्रमाण; (९) निर्णय, सत्य का निश्चय; (१०) वाद, बहस; (११) जल्प, निरर्थक कथन; (१२) वितण्डा, खण्डनात्मक समालोचना; (१३) हेत्वाभास, दोषपूर्ण युक्तियां; (१४) छल; (१५) जाति, निरर्थक आपत्तियां और (१६) निग्रहस्थान, दोषारोपण के अवसर। पिछले सात की अपेक्षा पहले नौ अधिक सही अर्थों में तर्कसम्मत हैं, क्योंकि पिछले सातों का कार्य अधिकतर भ्रमात्मक ज्ञान का निषेध है। ये भूल को मिटाने के लिए हथियार का काम करते हैं, किन्तु सत्य की प्रस्थापना का कार्य उतना नही करते।

३. सुकरात ने इसका प्रयोग किया। प्लेटो के ग्रन्थ इसके महत्त्व को सत्य की प्राप्ति के साधनरूप में दर्शाते हैं। अरस्तू का कहना है कि "कुछ व्यक्ति विषय के एक पहलू को देखते हैं तथा अन्य दूसरे पहलू को देखते हैं, किन्तु सब मिलकर सब पहलुओं को देख सकते हैं" (पालिटिक्स)। मिल्टन के 'एरियोपैगिटिका' तथा मिल के 'एसे आन लिबर्टी' में निर्मुक्त विवाद की प्रशंसा की गई है।

४. देखिए, छान्दोग्य उपनिषद्, ५ : ३, १; बृहदारण्यक उपनिषद् ६ : २, १; प्रश्नोपनिषद् १ : ६। और देखिए, मनु, ६ : ५०; ८ : २६९; १२ : १०६; महाभारत शान्तिपर्व, १८०, ४७; २४६, १८। मनु, १२ : ११०-११; पराशर, ८ : १९ और याज्ञवल्क्य, १ : ९ तथा विनयपिटक के परिवार में इन परिषदों का वर्णन किया गया है।

न्यायशास्त्र का जन्म भी ऐसी ही वादविवाद प्रतियोगिताओं अथवा शास्त्रार्थों से हुआ, जिनका प्रचार राजदरबारों तथा दार्शनिकों में बराबर था। ऐसे शास्त्रार्थों को नियमबद्ध करने के प्रयत्नों से ही तर्कशास्त्र का विकास हुआ। अरस्तू के समान गौतम ने भी तर्क के सिद्धान्तों को एक व्यवस्थित रूप दिया, सत्य से असत्य का भेद किया, और अनेक प्रकार के वितण्डा व वाक्छल का विस्तृत विवरण दिया। पहले सूत्र में गिनाए गए सोलह विषय शास्त्रार्थ द्वारा ज्ञानप्राप्ति के साधन हैं।[1] तर्कशास्त्र पर लिखे गए परवर्तीकाल के कितने ही ग्रन्थों में वादविवाद के नियमों पर बहस की गई है।[2] जबकि वे सब ग्रन्थ विवाद-सम्बन्धी समस्याओं की ओर निर्देश करते हैं।[3]

जयन्त अधिकारपूर्वक कहता है कि यद्यपि गौतम का न्यायदर्शन तर्कशास्त्र के विषय को एक सन्तोषजनक रूप में उपस्थित करता है फिर भी गौतम से पूर्व भी तर्कशास्त्र विद्यमान था, जैसे कि जैमिनि से पूर्व मीमांसा और पाणिनि से पूर्व व्याकरण विद्यमान था[4]। छान्दोग्य उपनिषद् में वाकोवाक्य[5] का वर्णन मिलता है जिसे शंकर ने तर्कशास्त्र[6] ही बतलाया है। महाभारत में भी तर्कशास्त्र और आन्वीक्षिकी का उल्लेख है।[7] वहां कहा गया है कि नारद न्यायशास्त्र के परार्थानुमान एवं वैशेषिक के युक्ति और न्याय से परिचित थे। विश्वनाथ कुछेक पुराणों

१. और देखिए, न्यायभाष्य, १ : १, १।

२. तार्किकरक्षा

३. कौटिल्य ने बत्तीस पारिभाषिक शब्दों का वर्णन किया है जिन्हें तन्त्रयुक्ति संज्ञा दी गई है। यह सूची चरकसंहिता, सिद्धिस्थान १२ और सुश्रुत संहिता, उत्तरतन्त्र ६५ में भी मिलती है। चरकसंहिता के आन्वीक्षिकी भाग में वाद-विवाद के नियमों का विस्तार के साथ प्रतिपादन किया गया है (विमानस्थान, ८)।

४. डाक्टर विद्याभूषण का मत है कि न्यायसूत्र के रचयिता से पूर्व भी अनेक लेखकों का भारतीय न्यायशास्त्र में योगदान रहा है। उन लेखकों में दत्तात्रेय, पुनर्वसु आत्रेय, सुलभा वैरागिनी, और अष्टावक्र का नाम लेते हैं। ('हिस्ट्री आफ इंडियन लाजिक', पृष्ठ ९-१७)।

५. ७ : १, २।

६. और देखिए, 'सुबाल' उपनिषद्, २। कुछ परवर्ती उपनिषद् प्रमाण शब्द का प्रयोग पारिभाषिक अर्थ में करते हैं। देखिए, मैत्री उपनिषद्, ६, ६, २४; नृसिंहोत्तरतापनी, ८; सर्वोपनिषद्सार, ४; कालाग्निरुद्रोपनिषद्, ७; मुक्तिकोपनिषद्, २। तैत्तिरीय आरण्यक में स्मृति अर्थात् धर्मशास्त्र, प्रत्यक्ष, ऐतिह्य अर्थात् परम्परा और अनुमान ज्ञान के चार स्रोत बताए गए हैं। और देखिए रामायण, ५ : ८७-२३; मनु, १२ : १०५। प्राचीन ग्रन्थों में न्याय का अनेक परिभाषाएं मिलती हैं, यथा तर्क (कठोपनिषद्, २ : ९; मनु, १२ : १०६; महाभारत, २ : १५३), वाद (मनु, ६ : ५०; रामायण, १ : १३-२३; ७ : ५३-६०), युक्ति (ऐतरेय ब्राह्मण, ६ : २३; रामायण, २ : १, १३), जल्प (महाभारत, १३ : ४३२२), वितण्डा (महाभारत, २ : १३१८; ७ : ३०२२; और पाणिनि, ४ : ४, १०२), छल (मनु, ८ : ४९; रामायण, ४ : ५७, १०), निर्णय (महाभारत, १३ : ७५५३, ७५३५), प्रयोजन (मनु, ७ : १००; महाभारत, १ : ५८०५), प्रमाण (मनु, २ : १३; रामायण, २ : ३७, २१; महाभारत, १३ : ५५७२), प्रमेय (रामायण, १ : ५२, १३; महाभारत; १ : १५७; ७ : १४१९)। देखिए, विद्याभूषण की 'हिस्ट्री आफ इण्डियन लाजिक', पृष्ठ २३।

७. महाभारत, १ : ७०, ४२; १२ : २१०, २२।

से एक वाक्य उद्धृत करता है जिसके अनुसार न्याय की गणना वेदों के उपांगों में की गई है।[1] यद्यपि बौद्धदर्शन मुख्यतः बुद्धि पर आश्रित था तो भी उसके प्राचीन ग्रन्थो मे कोई व्यवस्थित तार्किक पद्धति नही मिलती। केवल तर्कविद्या में निपुण व्यक्तियों का वर्णन मिलता है। ब्रह्मजालसुत्त मे तक्की (वितण्डावादी) और वीमासी[2] का उल्लेख है। मज्झिमनिकाय मे आए अनुमान सुत्त इस नाम से यह प्रकट होता है कि अनुमान शब्द का प्रयोग शायद अनुमान-प्रमाण के लिए हुआ है। कथावस्तु मे पतिन्ना (प्रतिज्ञा), उपनय, निग्गाह आदि शब्दो का व्यवहार उनके पारिभाषिक अर्थो मे ही हुआ है।[3] यमक परिभाषाओ के विभाग और रूपान्तर के नियमों से परिचित है। पतिसम्भिदामग्ग शब्दो और पदार्थो के विश्लेषण का वर्णन करता है। नेत्तिपकरण तार्किक सिद्धान्त के प्रति अपनी निष्ठा प्रकट करता है। मिलिन्द के प्रश्नो मे न्यायदर्शन का वर्णन शायद नीति के नाम से आया है।[4] ललितविस्तर ने न्यायशास्त्र का वर्णन हेतुविद्या के नाम से किया है। जैन आगमों ने भी भारतीय न्यायशास्त्र की प्राचीनता को प्रमाणित किया है। आर्यरक्षित ने जो ईसा की प्रथम शताब्दी मे विद्यमान था, अपने अणुयोगद्वार मे अनुमान के तीन विभाग, पूर्ववत्, शेषवत् और सामान्यतोदृष्ट गौतम के सूत्र के अनुसार ही किए है। आर्यरक्षित केवल एक प्राचीन ग्रन्थ का सकलनकर्ता प्रतीत होता है जिसका वर्णन भगवती सूत्र मे, ई० पू० तीसरी शताब्दी मे पाटलिपुत्र मे सघटित जैन सिद्धान्तो मे, पाया जाता है। सम्भवत. अनुमान-प्रमाण के तीन प्रकारो का सिद्धान्त ई० पू० तीसरी शताब्दी से भी पुराना है।

न्यायशास्त्र का आरम्भ बौद्धकाल से पूर्व हो गया था, यद्यपि उसकी वैज्ञानिक विवेचना बौद्धकाल के आरम्भ मे और मुख्य सिद्धान्तो की स्थापना ई० पू० तीसरी शताब्दी से पहले हुई। किन्तु सूत्र-निर्माण से पूर्व के न्याय के ऐतिहासिक विकास के सम्बन्ध मे बहुत कम सामग्री उपलब्ध है।

३

साहित्य और इतिहास

न्यायशास्त्र का इतिहास बीस शताब्दियो मे फैला हुआ है। गौतम का न्यायसूत्र, जो पाच अध्यायो मे बटा है जिनमें से प्रत्येक के दो-दो परिच्छेद है, न्यायशास्त्र की प्रथम पाठ्य पुस्तक है। वात्स्यायन के अनुसार ग्रन्थ उद्देश्य, लक्षण, और परीक्षा की विधि का अनुसरण करता है। प्रथम अध्याय मे सामान्यतः सोलह विषयो का वर्णन है जिनपर अगले चार अध्यायो में विचार किया गया

1. न्यायसूत्रवृत्ति, १ : १, १।
2. और देखिए, उदान, ६ : १०।
3. और देखिए, विमंग पृष्ठ २९३ से लेकर बराबर।
4. 'सेक्रेड् बुक्स आफ द ईस्ट', पृष्ठ ६-७।

है। दूसरे अध्याय मे संशय के रूप का प्रतिपादन है, और हेतु प्रामाण्य का वर्णन किया गया है। तीसरे अध्याय मे आत्मा के स्वरूप, भौतिक देह, इन्द्रिया और उनके विषयो, अभिज्ञान व मन के विषय मे विचार किया गया है। चौथे अध्याय मे संकल्पशक्ति, शोक, दुःख और उससे छुटकारे के विषय पर विचार किया गया है। प्रकरणवश इस अध्याय मे त्रुटि और पूर्ण व उसके अशों के परस्पर सम्बन्ध का भी वर्णन किया गया है। अन्तिम अध्याय मे जाति, अर्थात् निराधार आक्षेपो और निग्रहस्थान, अर्थात् दोषारोपण के अवसरों का विवेचन किया गया है। न्यायसूत्र वैदिक विचारधारा के निष्कर्षो को, तर्कसम्मत सिद्धान्तो के आधार पर, उसके धार्मिक एव दार्शनिक मतो के साथ जोडता है; और इस प्रकार आस्तिक यथार्थवाद का तर्क द्वारा समर्थन करता है। गोतम के सूत्र, कम से कम उनमे से प्राचीनतम, ई० पू० तीसरी शताब्दी की रचनाए है। वह युग आह्निको अर्थात् दैनिक पाठो, यथा पतञ्जलिकृत व्याकरण महाभाष्य के नवाह्निक, का युग था। परन्तु कुछ न्यायसूत्र निश्चित रूप से ईसा की मृत्यु के पीछे बने है।[1]

१. जैकोबी का मत है कि न्यायसूत्र और न्यायभाष्य लगभग एक ही समय के है, हो सकता है कि उनके बीच एक पीढ़ी का व्यवधान हो। वह इन्हें दूसरी शताब्दी (ईस्वी), जबकि शून्यवाद का विकास हुआ, और पाचवीं शताब्दी (ईस्वी) के मध्य में रखता है जबकि विज्ञानवाद व्यवस्थित रूप में आया (देखिए जरनल आफ दि अमेरिकन ओरियण्टल सोसाइटी ३१ : १९११, पृष्ठ २, १३)। उसका विचार है कि न्यायसूत्र में जिन बौद्ध विचारो की आलोचना की गई है, वे नागार्जुन द्वारा समर्थित शून्यवाद के विचार है जिनका समय तीसरी शताब्दी (ईस्वी) रखा गया है। वे असंग और वसुबन्धु के विज्ञानवाद के विचार नहीं है जिनका समय चौथी शताब्दी (ईस्वी) का मध्य माना गया है। किन्तु इस मत को मानना कठिन है। वात्स्यायन और वाचस्पति दोनो ही का मत है कि न्यायसूत्र ४ : २, २६ में विज्ञानवाद का खण्डन किया गया है। हमें यह स्वीकार करना पड़ेगा कि न्यायसूत्र में शून्यवाद का खण्डन किया गया है (न्यायसूत्र ४ : १, ४० ; ४ : १, ४८ की क्रमशः माध्यमिक कारिका १५ : ६ और ७ : २० के साथ तथा न्यायसूत्र ४ : १, ३९ ; ३५ की चन्द्रकीर्तिकृत 'वृत्ति' पृष्ठ ६४–७१ के साथ तुलना कीजिए)। किन्तु शून्यवाद नागार्जुन से पहले का है और वे न्यायशास्त्र की परिभाषाओं से परिचित है तथा परमाणुवाद का अस्वीकार करते है (न्यायसूत्र ४ : २, १८–२४, ३१–३२ की माध्यमिक कारिका, ७ : ८ से तथा न्यायसूत्र ३ : २, ११ और ४ : १, ६४ की तुलना कीजिए)। हम केवल यही कह सकते है कि न्यायसूत्र नागार्जुन से पहले का है, यद्यपि माध्यमिक परम्परा के पश्चात् का है (और देखिए 'भारतीय दर्शन' खण्ड १, पृष्ठ ५९१ टिप्पणी ; यूई : 'वैशेषिक फिलासफी' पृष्ठ ८५)। लङ्कावतार सूत्र मे तार्किको और नैयायिको का उल्लेख है। और यदि हम यह स्मरण रखे कि विश्वविज्ञान-सम्बन्धी विचार, जिनका न्यायसूत्र में खण्डन किया गया है, उतने ही पुराने है जितना कि प्रारम्भिक बौद्धदर्शन है, तो जैकोबी द्वारा मान्य काल, जिसका सुआली ने भी समर्थन किया है, क्योंकि वह न्यायसूत्र को ३०० या ४५० ईस्वी का बताता है, बहुत पीछे का प्रतीत होता है (और देखिए यूई : 'वैशेषिक फिलासफी' पृष्ठ १६)। गार्बे का झुकाव इस ओर है कि न्यायसूत्र पहली शताब्दी (ईस्वी) के है क्योंकि पञ्चशिख उनसे परिचित था, जिसे वह शबर का समकालीन मानता है, जो १०० और ३०० ईस्वी के मध्य कभी हुआ था। गोतम ब्रह्मसूत्रो की परिभाषाओं से (तुलना कीजिए न्यायसूत्र ३ : २, १४–१६ और ब्रह्मसूत्र २ : १, २४) और जैमिनि के पूर्वमीमांसा से (देखिए न्यायसूत्र २ : १, ६१, ६७ ; बोडासकृत इण्ट्रोडक्शन टु तर्कसंग्रह) परिचित है। बोडास का मत

वात्स्यायन का न्यायभाष्य न्यायसूत्र पर शास्त्रीय टीका है। यह प्रकट है कि वात्स्यायन गौतम के तुरन्त बाद नहीं हुआ था, क्योंकि उसके ग्रन्थ मे

है कि वैशेषिक सूत्र ४ : १, ४-५ बादरायणकृत परमाणुवाद की समालोचना को आगे रखते है और वैशेषिक सूत्र ३ : २, ६ (तुलना कीजिए न्यायसूत्र, ३ : १, २९-३०) का लक्ष्य वेदान्त का यह मत है कि आत्मा को केवल श्रुति के द्वारा ही जाना जाता है। इसी प्रकार वैशेषिक सूत्र ४ : २, २-३ ब्रह्मसूत्र २ : २, २१-२२ के इस विचार का विरोध करता है कि शरीर पाच या तीन तत्त्वों के संयोग का परिणाम है। गौतम अनेक स्थलों पर बादरायण के ही विचारों का प्रतिपादन करते है। देखिए न्यायसूत्र ४ : १, ६४ और ३ : २, १४-१६। ब्रह्मसूत्रों और मीमांसासूत्रों मे न्याय के सम्बन्ध में सीधा कोई उल्लेख नही है, उसपर कभी-कभी बल दिया जाता है। यह सभव है कि व्यास ने, जिसे गौतम का शिष्य समझा जाता है, न्याय के मत की आलोचना करना ठीक न समझा हो, विशेषकर इसलिए कि वह ईश्वर को मानने में सहमत था। फिर कभी-कभी यह भी कहा जाता है कि ब्रह्मसूत्र २ : १, ११-१३ न्याय के इस मत को ठीक नहा मानता कि तर्क द्वारा ईश्वर की सिद्धि होनी चाहिए। परमाणुवाद तथा असत्कार्यवाद के सिद्धातों की समीक्षा ब्रह्मसूत्र २ : २, १०-१६ और २ : १, १५-२० में की गई है। प्राचीन बौद्ध ग्रथो में ऐसी कोई सामग्री नहा पाई जाती जिससे न्यायसूत्र के निर्माणकाल का पता चल सके। कात्यायन (चौथी शताब्दी ई० पू०) और पतञ्जलि (जिसका महान ग्रंथ लगभग १४० ई० पू० लिखा गया था) न्यायदर्शन से परिचित थे। देखिए गोल्डस्टकरकृत 'पाणिनि'। भगवान् उपवर्ष से, जिनके विषय में कहा जाता है कि उन्होने दोनों मीमांसाओं पर टीका लिखी थी, शबर के उद्धरण यह निर्देश करते है कि उपवर्ष न्याय के विचारों से अभिज्ञ थे। हरिवर्मन (२६० ईस्वी) न्याय के सोलह विषयों से परिचित है। अश्वघोष पञ्चावयव वाले परार्थानुमान का प्रयोग करता है। देखिए यूइ : 'वैशेषिक फिलासफी' पृष्ठ ५६ और ८१। इसलिए हम यह निष्कर्ष निकाल सकते है कि न्यायसूत्र चौथी शताब्दी ई० पू० मे थे अवश्य, भले ही वे अपने वर्तमान रूप मे न रहे हो। महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री का कहना है, "मै यह निश्चय से नहीं कह सकता कि न्यायसूत्र वर्तमान रूप धारण करने से पूर्व अनेक संशोधनो मे से न गुजरे हो।" (जर्नल ऑफ एशियाटिक सोसाइटी आफ बंगाल, १९०५, पृष्ठ १७८, और देखिए पृष्ठ २४५ से लेकर)। वाचस्पति ने 'न्यायसूची' तथा 'न्यायसूत्रोद्धार' में सूत्रों का सग्रह करने के दो प्रयत्न किए, और इस प्रकार न्यायसूत्र की प्रामाण्यता के विषय में सन्देह प्रकट किया। डा० विद्याभूषण का मत है कि गौतम ने ग्रथ का केवल पहला ही अध्याय लिखा और वह धर्मसूत्र के रचयिता बुद्ध का समकालीन था, जो मिथिला में छठी शताब्दी ई० पू० में निवास करता था (देखिए सेक्रेड बुक्स आफ हिन्दूज : न्यायसूत्र, पृष्ठ ५-८ और भण्डारकर कामेमोरेशन वाल्यूम, पृष्ठ १६१-१६२)। उनका मत है कि गौतम के असली विचार वे है जो 'चरकसंहिता' में है (विमानस्थान, ८)। न्यायसूत्र और 'चरकसंहिता' मे बहुत-सी बाते एक समान है। किन्तु यह कहा गया है : "न्याय सिद्धान्तो तथा वैशेषिक के पदार्थों के सम्बन्ध में चरक का उल्लेख न्यायसूत्रो का समय निर्धारित करने में अधिक महत्त्व नहा रखता, क्योंकि उक्त ग्रंथ में बहुत परिवर्तन हुए और उसका रचनाकाल भी अनिश्चित है।" ('इण्डियन लॉजिक एण्ड एटोमिज़्म' पृष्ठ १३)।

न्यायसूत्र का रचयिता गौतम था, इस विषय में भी सन्देह प्रकट किए गए है। वात्स्यायन, उद्योतकर और माधव अक्षपाद को न्यायसूत्रों की रचना का श्रेय देते है। इस मत का समर्थन वाचस्पति और जयन्त ने भी किया है। 'पद्मपुराण' (उत्तरखण्ड, २६३) और 'स्कन्दपुराण' (कालिका खण्ड, १७) के अनुसार, न्यायसूत्र का रचयिता गौतम है और विश्वनाथ की भी सम्मति यही है। हिन्दू परम्परा के अनुसार गौतम और अक्षपाद दोनों एक है और कहा जाता है कि गौतम का ही नाम अक्षपाद था अर्थात् जिसके पावों में आंखें हों। कथा इस प्रकार कही जाती है कि गौतम ध्यान में मग्न था और एक कुएं में गिर पड़ा। ईश्वर ने दया करके उसके पावों में देखने की शक्ति दे दी जिससे कि

वार्तिक के सन्दर्भ पाए जाते है जो कि गौतम के सप्रदाय मे हुए वाद-विवादों के निष्कर्षों को सार रूप मे रखते हैं। वात्स्यायन ने कुछ सूत्रों की प्रकारान्तर से व्याख्या की है, जिससे प्रकट होता है कि उससे पूर्व भी टीकाकार हो गए है जो उक्त सब सूत्रों की व्याख्या के विषय मे एकमत नहीं थे।[1] इसके अतिरिक्त, वात्स्यायन गौतम को अत्यन्त प्राचीन काल का एक ऋषि मानता है और अपनी मान्यता के समर्थन मे पतञ्जलि के महाभाष्य, कौटिल्य के अर्थशास्त्र[2] और वैशेषिक सूत्र[3] से भी उद्धरण देता है। 'उपायकौशल्य' और 'विग्रहव्यावर्तनी' ग्रन्थों का रचयिता नागार्जुन निश्चित रूप मे वात्स्यायन से पहले हुआ, क्योंकि वात्स्यायन ने नागार्जुन के विचारो का कही-कही खण्डन भी किया है। दिग्नाग ने बौद्ध दृष्टिकोण मे वात्स्यायन के भाष्य की आलोचना की है। इस सबसे हम यह अनुमान करते है कि वात्स्यायन ४०० ईस्वी से कुछ पहले विद्यमान था।[4]

वह आगे ऐसी विपत्ति में न पड़े। डा० विद्याभूषण एक मान्य परम्परा के विरुद्ध जाकर कहते हैं कि "गौतम और अक्षपाद दोनों ने ही उक्त ग्रंथ की रचना में भाग लिया है। न्यायसूत्र मुख्य रूप से पांच विषयों का प्रतिपादन करता है : यथा (१) प्रमाण अर्थात् सत्यज्ञान का साधन; (२) प्रमेय, सत्यज्ञान का विषय; (३) वाद अर्थात् विवेचन : (४) अवयव अर्थात् परार्थानुमान के घटक; और (५) अन्यमतपरीक्षा अर्थात् समकालीन दूसरे दार्शनिक सिद्धान्तों की समीक्षा। दूसरा और तीसरा विषय और सम्भवतः अपने आदिम रूप में पहला विषय भी, जिनके अनेक उल्लेख पुरातन वैदिक, बौद्ध तथा जैन ग्रंथों में पाए जाते है, बहुत सम्भव है गौतम ने ही प्रतिपादित किए थे जिसकी आन्वीक्षिकी विद्या उन्हींसे बनी है। चौथा और पांचवा विषय और सम्भवतः अपने व्यवस्थित रूप में पहला विषय भी अक्षपाद द्वारा आन्वीक्षिकी विद्या मे प्रस्तुत किया गया, और ये ही अपने अंतिम रूप में न्यायसूत्र कहलाए। इसलिए न्यायसूत्र का असली रचयिता अक्षपाद था जिसने गौतम की आन्वीक्षिकी विद्या से बहुत कुछ सामग्री ग्रहण की।" ('हिस्ट्री आफ इण्डियन लाजिक' पृष्ठ ४९–५०)। यह मत केवल एक कल्पना है जिसका न तो खण्डन ही किया जा सकता है और न जिसे स्वीकार ही किया जा सकता है। गौतम को न केवल 'धर्मसूत्र' का भी रचयिता माना जाता है, बल्कि वाल्मीकि रामायण में वर्णित गौतम ऋषि भी कहा जाता है जिसका सम्बन्ध अहल्या के उपाख्यान से है। महाभारत (शान्तिपर्व २६५, ४५) के अनुसार मेधातिथि भी गौतम का ही एक दूसरा नाम है। भास कवि ने अपने 'प्रतिमा नाटक' मे मेधातिथि का उल्लेख न्यायदर्शन के व्याख्यापक के रूप मे किया है : "मानवीयं धर्मशास्त्रं, माहेश्वरं योगशास्त्रं, बार्हस्पत्यं अर्थशास्त्रं, मेधातिथेर्न्यायशास्त्रम्।" (अङ्क ५)। और देखिए 'हिस्ट्री ऑफ इण्डियन लाजिक' पृष्ठ ७६६।

१. देखिए न्यायभाष्य १ : १, ५ : १ : २, ६। वात्स्यायन अपनी शैली में अन्य व्याख्याकारों का १ : १, ३२ मे इस प्रकार उल्लेख करता है : एके (कुछ), केचित् (कोई-कोई), अन्ये (अन्य)। देखिए महाभारत, आदिपर्व ४२–४४।

२. न्यायभाष्य १ : १, १, और अर्थशास्त्र २; न्यायभाष्य ५ : १, १० और महाभाष्य १ : १, ३।

३. तुलना कीजिए, वैशेषिक सूत्र ४ : १, ६ और न्यायभाष्य ३ : १, ३३; ३ : १, ६७; वैशेषिक सूत्र ३ : १, १६ और न्यायभाष्य २ : २, ३४।

४. डाक्टर विद्याभूषण का मत है कि वात्स्यायन दक्षिण भारत का निवासी था और चौथी शताब्दी (ईस्वी) के मध्य में हुआ ('हिस्ट्री आफ इण्डियन लाजिक', पृष्ठ ४२, ११६–११७; ए०, १९१५,

दिग्नाग के ग्रन्थ, जो तिब्बती अनुवादों में सुरक्षित हैं, ये हैं : 'प्रमाण-समुच्चय' जिसपर ग्रन्थकार का अपना निजी भाष्य है, 'न्यायप्रवेश', 'हेतु-चक्रहमरु', 'आलम्बनपरीक्षा' और 'प्रमाणशास्त्रप्रवेश'। कहा जाता है कि जापान में ये ग्रन्थ लोकप्रिय है।[1] दिग्नाग पांचवीं शताब्दी (ईस्वी) में हुआ।[2] न्याय-दर्शन के सिद्धान्तों में कितने ही आवश्यक परिवर्तन जो प्रशस्तपाद ने किए थे, दिग्नाग के कारण ही किए गए। यदि प्रशस्तपाद को दिग्नाग का पूर्ववर्ती माना जाए तो दिग्नाग की मौलिकता में बाधा आएगी।

उद्योतकर के 'न्यायवार्तिक' (छठी शताब्दी ईस्वी)[3] में दिग्नाग द्वारा वात्स्यायन पर किए गए आक्षेपों का उत्तर दिया गया है। धर्मकीर्ति का 'न्यायबिन्दु' उद्योतकर द्वारा दिग्नाग की आलोचना के उत्तर मे लिखा गया था। यदि हम यह मान लें कि 'वादविधि', जिसका उद्योतकर ने उल्लेख किया है[4], धर्मकीर्ति के 'वादन्याय' का ही दूसरा नाम है, और धर्मकीर्ति ने अपने न्याय-बिन्दु[5] में जिस शास्त्र का उल्लेख किया है वह उद्योतकर का वार्तिक ही है, तो उस अवस्था में इन दोनों लेखकों के एक ही काल में विद्यमान होने की

वात्स्यायन पर लेख)। कीथ (इण्डियन लाजिक एण्ड एटोमिज्म, पृष्ठ २८) और बोडास (इण्ट्रोडक्शन टू 'तर्कसंग्रह') इस मत को स्वीकार करते हैं। जैकोबी और सुआली का झुकाव उसे छठी शताब्दी (ईस्वी) में अथवा उससे कुछ पूर्व रखने की ओर है। हरप्रसाद शास्त्री वात्स्यायन को नागार्जुन तथा आर्यदेव के पीछे आनेवाला मानते हैं, क्योंकि वह महायान सम्प्रदाय के क्षणिकवाद, शून्यवाद, व्यक्तित्व आदि सिद्धान्तों से परिचित है (देखिए जरनल आफ दि एशियाटिक सोसाइटी आफ़ बंगाल, १९०५, पृष्ठ १७८–१७९)।

१. उनके विषयों के सम्बन्ध में कुछ विचार डा० विद्याभूषण की 'हिस्ट्री आफ इण्डियन लाजिक', पृष्ठ २७६–२९९ से और उद्योतकर के दिग्नाग के विचारों के उल्लेखों मे, जो न्यायवार्तिक में दिए गए हैं, प्राप्त हो सकते हैं।

२. तारानाथरचित 'हिस्ट्री आफ बुद्धिज्म' मे कहा गया है कि दिग्नाग कांजीवरम् के एक ब्राह्मण का पुत्र था जो शीघ्र ही हीनयान की शिक्षाओं में पारंगत हो गया, यद्यपि उसने बाद में वसुबन्धु से महायान की शिक्षाएं भी प्राप्त कीं। युवान च्वांग की साक्षी के अनुसार वसुबन्धु बौद्ध होने से पूर्व न केवल बौद्धधर्म के अट्ठारह सम्प्रदायों का ही अपितु हिन्दुओं के षड्दर्शन का भी पूरा पण्डित था। वसुबन्धु को अब चौथी शताब्दी (ईस्वी) के पूर्वार्ध मे हुआ बताया जाता है और दिग्नाग ४०० (ईस्वी) के लगभग रहा होगा। कालिदास द्वारा उसके मेघदूत काव्य में जो दिग्नाग का उल्लेख आया है उससे भी इस मत की पुष्टि होती है, क्योंकि कालिदास का भी वही समय है (देखिए कीथ : 'क्लासिकल संस्कृत लिटरेचर', पृष्ठ ३१–३२ और 'भारतीय दर्शन', खण्ड १, पृष्ठ ५७३, टिप्पणी २)।

३. सुबन्धु की 'वासवदत्ता' में उद्योतकर का उल्लेख न्याय के रक्षक के रूप में आया है (देखिए हाल का संस्करण, पृष्ठ २३५)। बाण के 'हर्षचरित' मे, जो राजा हर्ष के काल में लिखा गया था, 'वासवदत्ता' (१) का उल्लेख मिलता है जो कि उद्योतकर का उल्लेख करती है। हर्ष की राजधानी थानेश्वर में थी और वह हर हालत में ६२९–६४४ (ईस्वी) में राज्य करता था, जबकि चीनी यात्री युआन च्वांग ने भारत की यात्रा की थी। इसलिए यह धारणा बनाना सर्वथा निर्दोष होगा कि वह छठी शताब्दी (ईस्वी) में था। उद्योतकर का गोत्र भारद्वाज था और वह पाशुपत सम्प्रदाय का था।

४. न्यायवार्तिक १ : ३३।

५. 'न्यायबिन्दु' ३, पीटर्सन का संस्करण, पृष्ठ ११०–१११।

कल्पना हो सकती है। धर्मकीर्ति का समय अधिक से अधिक सातवीं शताब्दी का प्रारम्भिक काल माना जा सकता है।[1] नवीं शताब्दी में धर्मोत्तर ने अपनी न्यायबिन्दु टीका में दिग्नाग एवं धर्मकीर्ति का अनुसरण किया।

नवीं शताब्दी के पूर्वार्ध मे वाचस्पति ने अपनी 'न्यायवार्तिकतात्पर्य-टीका' में न्याय के प्राचीन सिद्धान्तों की फिर से स्थापना की। उसने न्याय-शास्त्र पर 'न्यायशुचिनिबन्ध' एवं 'न्यायसूत्रोद्धार'[2] जैसे छोटे-छोटे ग्रन्थ भी लिखे। वाचस्पति एक प्रतिभाशाली विद्वान था जिसने अन्य दर्शनों पर भी प्रामाणिक टीकाएं लिखीं, जैसे अद्वैत वेदान्त पर 'भामती' टीका और सांख्य-दर्शन पर 'सांख्यतत्त्वकौमुदी' नामक टीका। इसलिए उसे सर्वतन्त्रस्वतन्त्र एवं षड्दर्शनीवल्लभ की संज्ञा दी गई है। उदयन (९८४ ईस्वी) की 'तात्पर्य-परिशुद्धि' नामक एक बहुमूल्य टीका वाचस्पति के ग्रन्थ पर मिलती है। उसका 'आत्मतत्त्वविवेक' नामक ग्रन्थ आत्मा के नित्यत्व के सिद्धान्त के समर्थन में तथा आर्यकीर्ति आदि बौद्ध विचारकों की आलोचना मे लिखा गया था। उसका 'कुसुमाञ्जलि' ग्रन्थ न्यायशास्त्र के परमात्मसिद्धि विषय का प्रथम व्यवस्थित ग्रन्थ है।[3] उसके अन्य ग्रन्थ है 'किरणावलि' और 'न्यायपरिशिष्ट'। जयन्त की 'न्यायमञ्जरी' 'न्यायसूत्र' पर एक स्वतन्त्र टीका है। जयन्त, जिसने वाचस्पति का अपने ग्रन्थों में उल्लेख किया है और जिसका उल्लेख रत्नप्रभा एव देवसूरी द्वारा किया गया है, दसवीं शताब्दी में हुआ।[4] भासर्वज्ञ का 'न्यायसार', जैसाकि नाम से प्रकट होता है, न्यायदर्शन का सर्वेक्षण है। वह प्रत्यक्ष, अनुमान और आप्त वाक्य इन तीनों प्रमाणों को स्वीकार करता है तथा तुलना को वस्तुसिद्धि का स्वतन्त्र साधन नहीं मानता। वह शैवमताव-लम्बी है, सम्भवत. काश्मीरी शैव सम्प्रदाय का है, और उसका समय दसवीं शताब्दी (ईस्वी) है। वर्धमान का 'न्यायनिबन्धप्रकाश' (१२२५ ईस्वी) उदयन के 'न्यायतात्पर्यपरिशुद्धि' नामक ग्रन्थ पर टीका है, यद्यपि इसमें नव्यन्याय

१. ईत्सिंग उसका उल्लेख करता है। देखिए ताकाकुसु: 'ईत्सिंग', पृष्ठ ५८।

२. 'न्यायसूत्रोद्धार' का रचयिता इस ग्रंथकार से भिन्न है और वह पन्द्रहवी शताब्दी में हुआ था। वाचस्पति ने लिखा है कि उसका 'न्यायसूची' ग्रंथ ८९८ में बना। यह विक्रम संवत् प्रतीत होता है और ईस्वी सन् इसके अनुसार ८४१ ही बैठता है। इसमें संदेह नहीं कि वह बौद्ध तार्किक रत्नकीर्ति (१००० ईस्वी) से पूर्व विद्यमान था।

३. जब उसने यह अनुभव किया कि उसकी ईश्वरभक्ति के उत्तर में ईश्वर कोई अनुकम्पा उसके ऊपर नहीं दिखाता, तो उसने सर्वोच्च सत्ता को इन शब्दों में संबोधित किया: "अपनी शक्ति के गर्व से तुम मेरा तिरस्कार करते हो, जबकि बौद्ध नास्तिकों का जोर होने पर तुम्हारा अस्तित्व मुझपर ही निर्भर करता था।"

ऐश्वर्यमदमत्तोऽसि मामवज्ञाय वर्तसे
पराक्रान्तेषु बौद्धेषु मदधीना तव स्थितिः ॥

४. देखिए 'हिस्ट्री ऑफ इण्डियन लॉजिक', पृष्ठ १४७ और 'इण्डियन लॉजिक एण्ड एटोमिज़्म', पृष्ठ ३३।

संप्रदाय के संस्थापक व वर्धमान के पिता गंगेश के विचारों का समावेश किया गया है। रुचिदत्त के 'मकरन्द' (१२७५ ईस्वी) में वर्धमान के विचारों का विकास हुआ है।[१]

न्यायशास्त्र पर लिखे गए परवर्ती ग्रन्थ वैशेषिक के पदार्थों को स्पष्ट रूप में स्वीकार करते है, जिन्हें वे प्रमेय अर्थात् ज्ञान के विषयों के अन्तर्गत या अर्थ के अन्तर्गत रखते है, जो बारह प्रकार के प्रमेयों मे से एक है। वरदराज का 'तार्किकरक्षा' (बारहवीं शताब्दी ईस्वी) नामक ग्रन्थ समन्वयवादी सम्प्रदाय का एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। वह प्रमेय के अन्तर्गत न्याय के बारह पदार्थों तथा वैशेषिक के छ पदार्थों का भी समावेश करता है। केशव मिश्र की 'तर्कभाषा' (तेरहवीं शताब्दी के अन्त मे निर्मित) में न्याय और वैशेषिक के विचारों का सम्मिश्रण किया गया है।[२]

जैन दर्शन के प्रमुख तर्क-ग्रन्थ हे : भद्रबाहुकृत 'दशवैकालिकनिर्युक्ति' (लगभग ३५७ ई० पू०), सिद्धसेन दिवाकर का 'न्यायावतार' (छठी शताब्दी ईस्वी), माणिक्यनन्दी का 'परीक्षामुखसूत्र' (८०० ईस्वी), देवसूरी का 'प्रमाणनयतत्त्वालोकालङ्कार' (बारहवी शताब्दी ईस्वी) और प्रभाचन्द्र का 'प्रमेयकमलमार्तण्ड'। जैन विचारकों और बौद्ध तार्किकों ने तर्कशास्त्र के क्षेत्र को धर्म और अध्यात्म विषय से पृथक् रखा, जबकि हिन्दू विचारधारा मे तर्कशास्त्र उक्त दोनों विषयों से मिश्रित था। हिन्दू लेखकों द्वारा लिखे गए न्यायशास्त्र के ग्रन्थों मे परमाणु व उनके गुणो, जीवात्मा और पुनर्जन्म, परमात्मा और जगत् तथा प्रकृति व ज्ञान की सीमा-सम्बन्धी तार्किक समस्याओं का वर्णन है। बौद्ध व जैन विचारकों ने प्राचीन न्याय के अध्यात्म विषय में रुचि न लेकर केवल तार्किक विषय पर ही बल दिया, और इस प्रकार नव्यन्याय के लिए मार्ग तैयार किया, जो विशुद्ध तर्क और वाद-विवाद से सम्बन्ध रखता है।

गंगेश का 'तत्त्वचिन्तामणि' नव्यन्याय का एक मान्य ग्रन्थ है।[३] गंगेश के पुत्र वर्धमान ने अपने ग्रन्थों म इसी परम्परा को जारी रखा है। जयदेव ने 'तत्त्वचिन्तामणि' पर एक टीका लिखी है जिसका नाम 'आलोक' (तेरहवीं शताब्दी) है। वासुदेव सार्वभौम की 'तत्त्वचिन्तामणिव्याख्या'[४] को नवद्वीप सम्प्रदाय का पहला बड़ा ग्रन्थ माना जा सकता है, और यह पन्द्रहवीं शताब्दी

१. यह वर्धमान के प्रकाश अथवा उदयन की कुसुमांजलि पर टीका है।

२. डाक्टर भा ने अपने ग्रंथ 'इण्डियन थौट', खण्ड २ में इसका अनुवाद किया है।

३. विद्याभूषण के 'हिस्ट्री आफ इण्डियन लाजिक', पृष्ठ ४०७–४५३ में इस ग्रंथ का सार दिया गया है। गंगेश बारहवीं शताब्दी के अंतिम चतुर्थांश में मिथिला में रहता था। यह इससे स्पष्ट है कि वह उदयन के ग्रन्थों व शिवादित्य तथा हर्ष के उद्धरणों से परिचित है। 'तत्त्वचिन्तामणि' (२ : पृष्ठ २३३) में हर्ष के विचारों की आलोचना की गई है।

४. इसका नाम 'सारावलि' है और मुझे बतलाया गया है कि इसकी पाण्डुलिपि वाराणसी के सरकारी संस्कृत कालेज के पुस्तकालय में है।

के अन्त में या सोलहवीं शताब्दी के आरम्भ में लिखा गया था। सौभाग्यवश उन्हें बहुत प्रसिद्ध शिष्य भी प्राप्त हुए, जिनमें मुख्य है : प्रसिद्ध वैष्णव सुधारक चैतन्य महाप्रभु, प्रसिद्ध नैय्यायिक रघुनाथ जो 'दीधिति' और 'पदार्थ-खण्डन'[1] ग्रन्थों के रचयिता हैं, प्रसिद्ध स्मृतिकार रघुनन्दन, और कृष्णनन्द जो तान्त्रिक विधियों के अधिकारी विद्वान माने जाते है। यद्यपि गंगेश ने केवल चार प्रमाणों पर ही लिखा है और अध्यात्म विषय को स्पष्ट रूप से नहीं लिया है, परन्तु रघुनाथ ने इस सम्प्रदाय के कुछ अन्य लेखकों की भांति अध्यात्म विषयों पर भी बहुत लिखा है। जगदीश (सोलहवीं शताब्दी के अन्त में) और गदाधर (सत्रहवीं शताब्दी) इस सम्प्रदाय के प्रसिद्ध तार्किक हुए हैं। अन्नं भट्ट[2] (सत्रहवीं शताब्दी) ने, जो आन्ध्र देश का एक ब्राह्मण था, प्राचीन तथा नव्यन्याय और वैशेषिक को लेकर एक व्यवस्थित दर्शनपद्धति विकसित करने का प्रयत्न किया, यद्यपि उसके विचारों का झुकाव अधिकतर प्राचीन न्याय की ही ओर था। उसके द्वारा रचित 'तर्कसंग्रह' और 'दीपिका' न्याय वैशेषिक सम्प्रदाय की दो प्रसिद्ध पुस्तकें है। वल्लभ का 'न्याय-लीलावती', विश्वनाथ का 'न्यायसूत्रवृत्ति' (सत्रहवी शताब्दी) आदि अन्य ग्रन्थ भी प्रमुख है।[3]

भारतवर्ष में तर्कशास्त्र के अध्ययन के विकास के भिन्न-भिन्न पहलुओं को जानना असम्भव नहीं है। सबसे पहले आन्वीक्षिकी है, जिसे महाभारत मे न्यायशास्त्र के साथ पृथक् स्थान दिया गया है। शीघ्र ही यह न्याय के साथ मिल जाती है और प्राचीन सम्प्रदाय के सूत्रों मे हमे अखण्ड विश्व का आध्यात्मिक दृष्टिकोण भी उसके तार्किक सिद्धान्त के साथ-साथ मिलता है। जैसाकि वात्स्यायन ने लिखा है, "सर्वोच्च लाभ की तभी प्राप्ति होती है जबकि मनुष्य निम्नलिखित की यथार्थ प्रकृति को ठीक-ठीक समझ लेता है : (१) जिसे छोड़ देना ही उत्तम है (अर्थात् कारणोंसहित दुःख को जो अविद्या या अज्ञान और उसके परिणामों के रूप में होता है); (२) जिससे दुःख का नाश होता है, दूसरे शब्दों मे ज्ञान या विद्या; (३) वे साधन जिनके द्वारा दुःख का नाश होता है, अर्थात् दार्शनिक ग्रन्थ; और (४) प्राप्तव्य लक्ष्य, या सर्वोच्च लाभ।"[4] प्राचीन न्यायशास्त्र तार्किक प्रश्नों पर बहस करता है, किन्तु केवल बहस के विचार से ही नहीं। जैन व बौद्ध दार्शनिकों ने इस विषय मे एक सर्वथा भिन्न दृष्टिकोण सम्मुख रखा। नव्यन्याय ने केवल ज्ञानमात्र मे ही अपनी रुचि प्रकट करते

१. वैशेषिक की यह आलोचना 'पण्डित' (२४ और २५) में 'पदार्थतत्त्वनिरूपण' शीर्षक के अन्तर्गत छपी है।

२. 'हिस्ट्री ऑफ़ इण्डियन लॉजिक', पृष्ठ ३८८।

३. चीन और जापान मे हिन्दू तर्कशास्त्र के इतिहास के लिए देखिए सुगुरा : 'हिन्दू लॉजिक ऐज़ प्रिज़र्व्ड इन चाइना एण्ड जापान'।

४. न्यायभाष्य, १ : १, १।

हुए तर्क और जीवन के बीच जो घनिष्ठ सम्बन्ध है उसे सर्वथा भुला दिया। तर्क व अध्यात्म विद्या के बीच जो सम्बन्ध है, उसका विचार प्राचीन नैय्यायिक के सामने अधिक स्पष्ट रूप में था। विचारगत विषय का विचार के प्रामाणिक रूपों के साथ क्या सम्बन्ध है, तर्क के द्वारा केवल इसीका हमे निश्चय हो सकता है। नव्य नैय्यायिक अधिकतर ध्यान केवल प्रमाण अर्थात् ज्ञानप्राप्ति के साधनों और परिभाषा के सिद्धान्त पर ही देता है,[1] और प्रमेय अर्थात् ज्ञातव्य पदार्थों के प्रश्न को बिल्कुल ही छोड देता है। साम्प्रदायिक बारीकियों, तार्किक वाक्-छल और बाल की खाल निकालने-वाले ग्रन्थ, जिनकी रचना में गंगेश के उत्तराधिकारियों ने अधिक रुचि दिखाई, बहुतों को भयभीत कर देते है, यहां तक कि जिन्होंने इनमें गहराई तक प्रवेश किया है वे भी यह निश्चय नहीं कर सकते कि उन्होंने इन ग्रन्थों के विचारों को पूरी तौर पर समझा है। ऐसे भी अनेक व्यक्ति हैं जिन्होंने इन ग्रन्थों की गहराई में उतरकर छान-बीन की है। वे इनकी उज्ज्वल एवं आकर्षक वाक्चातुरी से तो प्रभावित अवश्य हुए, किन्तु उन्हें मतिविभ्रम ही हुआ और ज्ञान की उपलब्धि नहीं हो सकी। विशद विषय जटिलता के कारण धुधले प्रतीत होने लगे। वैशिष्ट्य के ज्ञान के लिए लालायित एक तार्किक मस्तिष्क प्रायः सूत्रों के प्रेम में फंस जाता है और औपचारिक विषयों मे ही उलझे रहने से वास्तविक तत्त्व की प्राप्ति उसे नहीं होती। वास्तविक ज्ञान का स्थान पारिभाषिक शब्दों की खोज ले लेती है। परिभाषाए, जिनका प्रयोग वैशिष्ट्य के ज्ञान के लिए होना चाहिए था, कभी-कभी कठिनाइयो से बच निकलने के लिए काम में लाई जाती हैं। इन ग्रन्थों में से कुछ के विषय मे तो यह कहा जा सकता है कि उनसे केवल यही प्रकट होता है कि जिस विषय का ग्रन्थकार को कुछ भी ज्ञान न हो उसमे भी पाण्डित्य का प्रदर्शन किस प्रकार किया जा सकता है। ऐसे व्यक्तियों को भी, जो यह मानते है कि उनकी बुद्धिरूपी चक्की बहुत ही बारीक पीसती है, यह स्वीकार करना पड़ता है कि उनके पास पीसने लायक अनाज की कमी रहती है।[2] यह कहना कि नव्यन्याय बुद्धि के लिए एक शिक्षणभूमि है, अतिशयोक्तिपूर्ण न होगा।

४

न्याय का क्षेत्र

न्याय शब्द का अर्थ है वह प्रक्रिया जिसके द्वारा मस्तिष्क एक निष्कर्ष तक पहुंच

१. लक्षणप्रमाणाभ्यां वस्तुसिद्धिः।

२. तुलना कीजिए, बोडास: 'तर्कसंग्रह', पृष्ठ १३; कीथ: 'इण्डियन लॉजिक एण्ड एटोमिज़्म', पृष्ठ ३५। डाक्टर विद्याभूषण न्यायदर्शन के इतिहास को तीन कालों में विभक्त करते हैं: प्राचीन (६५० ई० पू० से १०० ईस्वी तक), मध्य (१२०० ईस्वी तक) और नव्य (९०० ईस्वी से आगे)। देखिए, उनका ग्रन्थ, 'हिस्ट्री ऑफ इण्डियन लाजिक', पृष्ठ १३। नव्यन्याय के स्वरूप का विचार प्राप्त करने के लिए देखिए डाक्टर शैलेश्वर सेन कृत 'ए स्टडी ऑफ मथुरानाथास तत्त्वचिन्तामणिरहस्य', १९२४।

सके।[1] इस प्रकार 'न्याय' तर्क का पर्यायवाची शब्द है और वह दर्शन, जो अन्य दर्शनों की अपेक्षा अधिक पूर्णता के साथ तर्क विषय का प्रतिपादन करता है, न्याय-दर्शन के नाम से जाना जाने लगता है। तर्क दो प्रकार का है: मान्य और अमान्य। 'न्याय' शब्द का प्रयोग साधारण व्यवहार की भाषा में ठीक या उचित के अर्थ में होता है, और इसलिए ठीक या उचित तर्क के विज्ञान का नाम ही न्याय हो गया। संकुचित अर्थों मे 'न्याय' से तात्पर्य परार्थानुमान तर्क से है,[2] जबकि व्यापक अर्थों में प्रमाणों के द्वारा किसी विषय की समीक्षा करने का नाम न्याय है। इस दृष्टिकोण से यह प्रमाणित करने का अथवा विशुद्ध ज्ञान का विज्ञान है जिसे प्रमाणशास्त्र भी कहा जाता है। प्रत्येक ज्ञान के लिए चार प्रकार की सामग्री की आवश्यकता है: (१) प्रमाता अर्थात् ज्ञान प्राप्त करने की सामर्थ्य रखनेवाला, (२) पदार्थ अथवा प्रमेय जिसके ज्ञान के लिए साधनों का प्रयोग किया जाता है; (३) ज्ञान अथवा प्रमिति; और (४) प्रमाण अथवा ज्ञान प्राप्त करने के साधन[3]। ज्ञान-प्राप्ति की प्रत्येक क्रिया में, चाहे वह मान्य हो या अमान्य, तीन अवयवो का होना आवश्यक है: एक, ज्ञान प्राप्त करनेवाला कर्ता; दूसरा, पदार्थ जिसके अस्तित्व का पता ज्ञानकर्ता को है; और तीसरा, इन दोनों के बीच, जो अलग अलग नहीं है किन्तु पृथक्-पृथक् करके समझे जा सकते है, ज्ञान का सम्बन्ध। वह ज्ञान मान्य है अथवा अमान्य, यह चौथे अवयव अर्थात् प्रमाण पर निर्भर करता है। साधारण परिस्थितियों मे प्रमाण मान्य ज्ञान का क्रियात्मक कारण होता है।[4]

> जहां वात्स्यायन प्रमाण की परिभाषा करते हुए उसे ज्ञान-प्राप्ति का साधन बताता है, अर्थात् "जिसके द्वारा ज्ञान प्राप्त करनेवाला अपने प्रमेय पदार्थ का ज्ञान प्राप्त करता है,"[5] वहा उद्योतकर इसे ज्ञान के कारण (उपलब्धिहेतु) के रूप में मानता है।[6] वह यह स्वीकार करता है कि प्रमाण की यह परिभाषा अधिक व्यापक है, क्योंकि ज्ञान प्राप्त करनेवाला और ज्ञेय पदार्थ भी ज्ञान के कारण है। किन्तु वह इसे इस आधार पर उचित ठहराता है कि "ज्ञाता और ज्ञेय प्रमाण को क्रियाशील करते है, इसलिए उन दोनों की

१. नीयते अनेन इति न्यायः।

२. न्यायभाष्य, १ : १, १। वात्स्यायन ने परार्थानुमान के लिए परमन्याय शब्द का प्रयोग किया है जिसके अपने-आपमें पांच भाग हैं। दिग्नाग परार्थानुमान के अवयवो को न्यायावयव नाम से पुकारता है। और देखिए, न्यायवार्तिक, ४ : १, १४। वाचस्पति की 'न्यायसूची' में परार्थानुमान विषयक अध्याय (१ : १, ३२–३९) को न्यायप्रकरण नाम दिया गया है। विश्वनाथ का तात्पर्य न्यायस्वरूप से परार्थानुमान का आवश्यक ढांचा है। देखिए, उसकी 'न्यायसूत्रवृत्ति', १ : १, २५; १ : १, ३१; १ : १, ३८; १ : १, ४०। माधव (सर्वदर्शनसंग्रह, ११) ने न्याय शब्द का प्रयोग परार्थानुमान के अर्थ में किया है।

३. प्रमाकरणं प्रमाणम्। 'वेदान्तपरिभाषा', १ भी देखिए।

४. न्यायवार्तिक, १ : १, १।

५. न्यायभाष्य, १ : १, १।

६. और देखिए, 'न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका', १ : १, १।

उपयोगिता अन्य प्रकार की है। किन्तु प्रमाण की उपयोगिता केवल ज्ञान सम्पादन के कारण होने में ही है। इसलिए ज्ञान का वास्तविक कारण प्रमाण ही है।" जहां भी प्रमाण उपस्थित है वहां ज्ञान उत्पन्न होता है। प्रमाण की उपस्थिति के बिना ज्ञान उत्पन्न नहीं हो सकता, चाहे अन्य अवयव क्यों न उपस्थित हों। इसलिए प्रमाण ही ज्ञान का मुख्य कारण है और ज्ञान की उपलब्धि से पहले प्रकट होनेवाला आखिरी अवयव है।[1] शिवादित्य तार्किक भावार्थ उपस्थित करते हुए प्रमाण की परिभाषा यों करता है, कि प्रमाण वह है जो वास्तविकता के अनुरूप प्रमा अर्थात् ज्ञान को उत्पन्न करता है।[2] जयन्त के अनुसार, प्रमाण उस कारण का नाम है जो प्रमेय पदार्थों के विषय में भ्रम-रहित एवं निश्चित ज्ञान की प्राप्ति कराता है।[3]

प्रमाता और प्रमेय ये अवयव प्रत्यक्ष अथवा अनुमान ज्ञानोपलब्धि मे एक समान हो सकते है, परन्तु ज्ञान का विशिष्ट रूप प्रमाण ही पर निर्भर करता है। इसी प्रकार मन का आत्मा के साथ सयोग भी प्रत्येक प्रकार के ज्ञान मे सामान्य मध्यवर्ती कारण है। भिन्न-भिन्न प्रकार के ज्ञान मे केवल सयोग का प्रकार भिन्न-भिन्न होता है। ज्ञान के विषय का प्रतिपादन तो न्याय करता ही है, किन्तु उससे भी अधिक यह ज्ञान की सबसे बडी शर्त, अर्थात् प्रमाण का प्रतिपादन करता है, और इसी कारण इसे प्रमाण-शास्त्र कहते है।[4] इससे पूर्व कि हम पदार्थों के स्वरूप का अनुसन्धान करे, हमे ज्ञानोपलब्धि के साधनों की शक्ति का ज्ञान होना चाहिए, क्योंकि 'जिसे मापना है उसका ज्ञान माप के ज्ञान पर निर्भर करता है।"[5] प्रमाणशास्त्र न केवल पदार्थों का यथार्थ ज्ञान प्राप्त करने मे सहायक होता है, बल्कि यह ज्ञान की यथार्थता के जाचने मे भी सहायक होता है।[6] यह दोनो प्रकार का है अर्थात् औपचारिक और वास्तविक, और

१. न्यायवार्तिक १ : १, १। एक अन्य आपत्ति पर विचार करता है, अर्थात् यदि प्रमाण की उत्पत्ति ज्ञान प्राप्त करनेवाले प्रमाता तथा ज्ञेय पदार्थ के द्वारा ही होती है तो इन दोनों को प्रमाण से पूर्व विद्यमान होना चाहिए, यद्यपि वस्तुतः जब तक प्रमाण न हो हम न प्रमाता और न प्रमेय का ही बोध प्राप्त कर सकते हैं, जिनकी सार्थकता प्रमाण के ही कारण है। उद्योतकर इस सबको स्वीकार करता है, लेकिन कहता है कि "ये शब्द केवल अपने वर्तमान कर्म के साथ सम्बन्ध पर ही निर्भर नहीं करते।" रसोइया रसोइया ही है, भले वह रसोई न भी बना रहा हो। "इस प्रकार के प्रयोग का कारण शब्द की अपनी अन्तर्निहित (अभिव्यक्ति की) क्षमता है। यह क्षमता हर समय विद्यमान रहती है। इसी प्रकार, इस कथन में भी कि प्रमाण की उत्पत्ति प्रमाता तथा प्रमेय पदार्थ के द्वारा ही होती है, कोई असंगति नहीं मानी जा सकती।"

२. सप्तपदार्थी, विभाग १४४ और देखिए 'सर्वदर्शनसंग्रह', ११।

३. अव्यभिचारिणीम्, असंदिग्धाम् अर्थोपलब्धिम्। 'न्यायमंजरी', पृष्ठ १२।

४. विश्वनाथ ने प्रमाण को विष्णु के नाना नामों में से एक माना है। इससे यह प्रतीत होता है कि हिन्दू विचारकों ने प्रमाणों के अनुसंधान को कितना महत्त्व दिया था।

५. मानाधीना मेयसिद्धिः—चित्सुखी, २ : १८।

६. तुलना कीजिए डब्ल्यू० ई० जानसन की परिभाषा के अनुसार 'विचार के विश्लेषण और समीक्षा' का नाम न्याय है।

संगति तथा सत्य दोनों में ही रुचि रखता है। न्यायशास्त्र इस धारणा को लेकर चलता है कि हमारे मस्तिष्क को यह जगत् जिस रूप में प्रकट होता है वह बहुत हद तक इसका विश्वसनीय रूप है। सभी प्रकार का ज्ञान यथार्थ को दर्शाता है (अर्थप्रकाश)। प्रकृति ने हमारी रचना इस प्रकार की की है कि हम पदार्थों का इन्द्रियों द्वारा बोध करते है, उनकी समानता को ध्यान से देखते है और उसमे अनुमान द्वारा एक विशेष परिणाम पर पहुंचते है। प्रत्येक मनुष्य, जो सोच सकता है, इस क्रिया को सम्पन्न करता है, यद्यपि प्रत्येक के कार्य मे सावधानी तथा यथार्थता की दृष्टि मे परस्पर भेद होता है। जब कभी हमारे मस्तिष्क मे किसी पदार्थ की यथार्थता का ज्ञान प्राप्त करने के लिए चेष्टा उत्पन्न होती है तो हमे तार्किक आलोचना के लिए एक विषय मिलता है। सत्य के अन्वेषण का कार्य मानव के कार्यकलाप मे पहले से ही विद्यमान है। तर्कशास्त्र उसे उत्पन्न नहीं करता। वह केवल उसके स्वरूप को अभिव्यक्त करके सामान्य सिद्धान्तो के रूप में उसकी व्याख्या मात्र करता है। तर्कशास्त्र की समस्या अन्य भौतिक विज्ञानो की समस्या से अधिक भिन्न नही है। ठीक जिस प्रकार एक भौतिकविज्ञानशास्त्री उस विशेष प्रक्रिया के विषय मे अनुसन्धान करता है जिसके द्वारा प्रत्येक प्राणी जीवन धारण करता है, उसी प्रकार न्यायशास्त्री उन नियमों की व्याख्या करता है जो ज्ञानप्राप्ति की प्रक्रिया का नियमन करते है। उसका उत्तरदायित्व भी उसी प्रकार का है जिस प्रकार का कि एक भौतिकविज्ञानशास्त्री का है।

न्यायशास्त्र यह नही मानता कि मूल्य और तथ्य एक-दूसरे से बिलकुल पृथक् पदार्थ है और इनके विवेचन के लिए भी भिन्न-भिन्न विधियो का प्रयोग आवश्यक है। मूल्य तथ्यो के साथ जुड़े हुए है और उनका अध्ययन उन्हीके साथ हो सकता है। हम कभी भी खाली मस्तिष्क से प्रारम्भ नही करते। अपने निजी अनुभवो और परम्पराओं के आधार पर संसार के विषय मे ज्ञान हमारे कोष मे पहले से विद्यमान रहता है। श्रुति, स्मृति एवं धर्मशास्त्रों द्वारा हमे ज्ञान का एक गहन सिलसिला मिला है। विज्ञान की अनुमानात्मक प्रणाली का उपयोग करके न्याय उन भिन्न-भिन्न उपायों का वर्गीकरण करता है जिनके द्वारा हमे ज्ञान प्राप्त होता है। वे चार प्रकार के प्रमाण, जिनके द्वारा हमें यथार्थ ज्ञान प्राप्त होता है, ये है (१) प्रत्यक्ष[1] अथवा अन्तर्दृष्टि, (२) अनुमान,[2] (३) उपमान अथवा तुलना, और (४) शब्द अर्थात् आप्त प्रमाण[3]। तर्कशास्त्र पर लिखे गए पाश्चात्य ग्रन्थों मे सामान्यत. प्रत्यक्ष का प्रतिपादन नहीं किया गया[4]। किन्तु न्यायशास्त्र उसे ज्ञान के एक महत्त्वपूर्ण साधन के रूप मे स्वीकार करता है।

१. इन्द्रियजन्य बोध अन्तर्दृष्टि अथवा साक्षात् बोध का ही एक भेद मात्र है।

२. अनुमान का धात्वर्थ है दूसरे के द्वारा अथवा पीछे किसी वस्तु का ज्ञान होना।

३. न्यायसूत्र १ : १, ३। चरक मे मिलता है आप्तोपदेश अर्थात् विश्वसनीय कथन, प्रत्यक्ष, अनुमान और युक्ति अर्थात् निरन्तर तर्क। और देखिए 'स्थानांगसूत्र'।

४. तुलना कीजिए परन्तु जे० एस० मिल से जो कहता है : "सत्य का ज्ञान हमें अन्तर्दृष्टि और अनुमान दो मार्गो से होता है।" ('सिस्टम ऑफ़ लॉजिक', इण्ट्रोडक्शन, पृष्ठ ४)।

अनुमान न्यायदर्शन का एक मुख्य विषय है और न्याय को कभी-कभी हेतुविद्या भी कहते हैं, अर्थात् हेतु का विज्ञान जिसपर अनुमान रूपी तर्क निर्भर करता है।[1] इस दृष्टि से न्यायदर्शन अनुमान का सिद्धान्त है अर्थात् अनुमानवाद है। इस प्रकार ऐसा समझा जा सकता है कि अन्तर्दृष्टि से उत्पन्न या प्रत्यक्ष ज्ञान न्यायशास्त्र के क्षेत्र से बाहर का विषय है। किन्तु न्यायशास्त्र इस संकीर्ण विचार को ठीक नहीं मानता। आप्त प्रमाण का समावेश, जिसमें कि ईश्वरप्रदत्त आस्तिकवाद भी आ गया, यह प्रदर्शित करता है कि यह दर्शन धार्मिक विषय में भी रुचि रखता है। न्याय हमारे सामने ज्ञानप्राप्ति के इन चार साधनों की मनोवैज्ञानिक व्याख्या प्रस्तुत करता है। इसके अनुसार तार्किक अनुसन्धान मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया पर ध्यान दिए बिना, जिससे ज्ञानरूप मानसिक तत्त्व की प्राप्ति होती है, आगे नहीं चल सकता। यह शास्त्र उन उपायों का विस्तार से प्रतिपादन करता है जिनके द्वारा मस्तिष्क आगे बढ़ता है और नये-नये परिणामों को हमारे आगे प्रस्तुत करता है और इस प्रतिपादन में यह उन विघ्नों की ओर भी निर्देश करता है जो उक्त उपायों के प्रयोग में आ सकते हैं। तर्कशास्त्र का काम केवलमात्र अनुमानात्मक ही नहीं है। इस सामान्य कथन से ही कि इन चार साधनों में से ही किसीके द्वारा हमें सारा ज्ञान प्राप्त होता है, ज्ञान की समस्या का समाधान नहीं हो जाता। सामान्य कथन समाधान नहीं हो सकता।

न्यायशास्त्र उन साधनों व उपायों का ही केवल अनुसन्धान नहीं करता जिनके द्वारा मानव-मस्तिष्क ज्ञान को आत्मसात् और विकसित करता है। यह तार्किक तथ्यों की भी व्याख्या करता है तथा उन्हें तार्किक सूत्रों में प्रकट करता है, जो सत्य के अन्वेषण में विविध सिद्धान्तों की स्थापना करते हैं। इस प्रकार प्रमाण ज्ञान के माप या मानदण्ड बनते है जिनके द्वारा हम अपने अन्दर पहले से विद्यमान ज्ञान की परीक्षा कर सकते हैं। इस प्रकार तर्कशास्त्र प्रमाण का विज्ञान है, अर्थात् साक्षी का मूल्य निर्धारण करता है। यह उपलब्ध आधारों पर ज्ञान की निर्भरता को दर्शाकर अथवा यथार्थ के साथ उसकी अनुकूलता दिखाकर ज्ञान की प्रामाणिकता का विवेचन करता है। सत्य की समस्या तत्त्वज्ञान-सम्बन्धी सिद्धान्त के लिए बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। न्यायशास्त्र यथार्थता का तत्त्वशास्त्र है और ज्ञान का सिद्धान्त है।[2] इस प्रकार यह केवल तर्कशास्त्र मात्र नहीं, बल्कि ज्ञानप्राप्ति की सम्पूर्ण प्रक्रिया की व्याख्या करनेवाला शास्त्र है, जिसमें मनोविज्ञान, तर्क, तत्त्वज्ञान और आस्तिकवाद सभीका समन्वय है।

१. 'हेतुविद्या' शब्द मिलिन्द (सेक्रेड बुक्स ऑफ दि ईस्ट, खण्ड ३५ : पृष्ठ ६–७) में आता है, और 'ललितविस्तर' (१२) में भी है। यद्यपि 'हेतु' का अर्थ है कारण अथवा आधार, किन्तु जैन विचारक इसका प्रयोग व्यापक अर्थों में करते हैं। और देखिए, 'मनु', २ : ११; महाभारत, आदिपर्व, १–६७ ; शान्तिपर्व, २१०, २२; अश्वमेधपर्व, ८५, २७। प्राचीन वैय्याकरण यथा पाणिनि, कात्यायन और पतञ्जलि भी इस मत को स्वीकार करते हैं। और देखिए, 'न्यायवार्तिक', ४ : १, १४; 'इण्डियन लॉजिक एण्ड एटॉमिज़्म', पृष्ठ ११।

२. 'न्यायभाष्य' १ : १, १।

५

परिभाषा का स्वरूप

न्यायसूत्रों में विवेचना किए जानेवाले विषयों की पहले उपस्थापना की जाती है, फिर उनकी परिभाषा की जाती है और अन्त में उनकी परीक्षा होती है।[1] परिभाषा के द्वारा वस्तु का तात्त्विक स्वरूप बतलाया जाता है जिससे कि उसे अन्य पदार्थों से भिन्न करके पहचाना जा सके। परिभाषा का कार्य किसी पदार्थ को उन सभी पदार्थों से भिन्न दिखाना है जिनके साथ उसके सादृश्य का भ्रम हो सकता है।[2] पदार्थों में उनकी विशेषताओं की व्याख्या किए बिना भी परस्पर भेद किया जा सकता है। पदार्थ का असाधारण धर्म अर्थात् विशेष गुण भी भेद करने मे सहायक होता है। परिभाषा में हो सकनेवाले दोष तीन प्रकार के होते है। उदाहरण के लिए गाय की परिभाषा करने में यदि कहा जाए कि गाय एक ऐसा जन्तु है जिसके सींग होते हैं तो यह 'अतिव्याप्ति' दोष होगा, क्योंकि ऐसी परिभाषा गाय के अतिरिक्त उस परिधि के बाहर वाले और जन्तुओं पर भी लागू हो जाएगी। इसी प्रकार गाय की परिभाषा करते हुए यदि कहा जाए कि गाय एक भूरे रंग का जन्तु है तो यह 'अव्याप्ति' दोष होगा, क्योंकि भूरे रंग के अतिरिक्त रंग की गाए भी अनेक होने से यह परिभाषा सारी गोजाति पर ठीक नहीं घटती। इसी प्रकार यदि गाय की परिभाषा करते हुए कहा जाए कि गाय एक बिना फटे खुरों वाला जन्तु है तो यह 'असम्भव' दोष है, क्योंकि ऐसी गाय जिसका खुर फटा हुआ न हो, नहीं मिलेगी। निर्दोष परिभाषा "एक ऐसी विशेषता दर्शाती है जो परिभाषित शब्द से अभिप्रेत सभी चीजों पर लागू होती है, वह न अधिक पर लागू होती है, न कम पर।"[3] उसकी प्राप्ति के लिए हम एक जाति से प्रारम्भ करके पीछे से उसके क्षेत्र को संकुचित करते-करते अमुक से इतर, अमुक से भिन्न आदि शब्दों का प्रयोग करते हुए[4] अनावश्यक पदार्थों को उसमें से निकालते जाते है।

६

प्रत्यक्ष अथवा अन्तर्दृष्टि

ज्ञान के विविध साधनों में प्रत्यक्ष या अन्तर्दृष्टि का महत्त्व सबसे अधिक है। वात्स्यायन का कहना है कि "जब मनुष्य किसी पदार्थ-विशेष का ज्ञान प्राप्त करने की अभिलाषा करता है, और कोई विश्वसनीय पुरुष उसे उस पदार्थ के विषय में बतला भी देता है, तो भी उसके अन्दर एक अभिलाषा उसकी यथार्थता को अनुमान द्वारा

१. उद्देश, लक्षण और परीक्षा, 'न्यायभाष्य', १ : १, ३।
२. 'न्यायभाष्य', १ : १, ३।
३. लक्ष्यतावच्छेदकसमनीयतत्त्वम्।
४. तुलना कीजिए, पृथ्वी की परिभाषा—जलादिअष्टद्रव्यभिन्नं द्रव्यं पृथिवी।

विशेष-विशेष लक्षण जानकर परखने की होती है। किन्तु इतने पर भी उसकी जिज्ञासा शान्त नहीं होती जब तक कि वह स्वयं उसे अपनी आखों से न देख ले। अपनी आंखों से देख लेने पर ही उसकी इच्छा पूर्ण होती है और तब वह फिर ज्ञान-प्राप्ति के लिए और किसी साधन की खोज नहीं करता।[1] प्रत्यक्ष शब्द द्वयर्थक है, क्योंकि इसका प्रयोग परिणाम अर्थात् सत्य के ग्रहण के लिए और उस समस्त प्रक्रिया के लिए भी होता है जो सत्य का ग्रहण कराती है। यद्यपि 'प्रत्यक्ष' शब्द का व्यवहार प्रारम्भ मे केवल इन्द्रियों द्वारा साक्षात्कार के लिए ही होता था, किन्तु शीघ्र ही इसके अन्तर्गत वह समस्त ज्ञान भी आ गया जिसका ग्रहण तुरन्त हो जाता है, भले ही उसमे इन्द्रियो की सहायता की आवश्यकता न भी हुई हो।[2] गगेश ने प्रत्यक्ष का लक्षण इस प्रकार दिया है, वह ज्ञान जिसका ग्रहण सीधे रूप मे अर्थात् साक्षात् हो।[3] यह ऐसा ज्ञान है जिसकी प्राप्ति मे अन्य ज्ञान की आवश्यकता साधन के रूप मे नही है।[4] अन्य तीनों, अर्थात् अनुमान, उपमान और आप्त प्रमाणो मे हमारी ज्ञानप्राप्ति का आधार, क्रमश, प्रस्तुत विषय का ज्ञान अथवा समानता अथवा परम्परा आदि पहले से उपस्थित रहते हैं। वह ज्ञान जिसे हमने पहले ग्रहण किया है, हमारी स्मृति मे रहता है। प्रत्यक्ष में, ज्ञान की पहले आवश्यकता नही पड़ती। परमात्मा के अस्तित्व का ज्ञान साक्षात्, तुरन्त और पूर्ण रूप मे होनेवाला ज्ञान है और इसके लिए किसी अन्य प्रकार के पूर्वबोध की आवश्यकता नही।

गौतम ने इन्द्रिय-जन्य ज्ञान की परिभाषा इस प्रकार की है वह ज्ञान जो किसी इन्द्रिय के साथ पदार्थ का सयोग होने से प्रादुर्भूत होता है, जिसे शब्दो द्वारा प्रकट न किया जा सके, जो भ्रमरहित हो और पूर्ण रूप से प्रकट हो रहा हो।[5] इस

१. 'न्यायभाष्य', १ : १, ३। यह स्पष्ट है कि एक ही पदार्थ कई प्रमाणों द्वारा जाना जा सकता है। जीवात्मा के अस्तित्व का ज्ञान धर्मशास्त्रों, अनुमान तथा अन्तर्ज्ञान से भी हो सकता है। अग्नि की विद्यमानता का ज्ञान अन्य पुरुष द्वारा प्राप्त सूचना के आधार पर भी होता है तथा प्रत्यक्ष या अनुमान प्रमाण द्वारा भी होता है। ऐसी अवस्थाएं भी हैं जहां ज्ञान की प्राप्ति मे केवल एक ही प्रमाण व्यवहार में आ सकता है। अग्निहोत्र करने से स्वर्ग की प्राप्ति होती है, इसका ज्ञान केवल धर्मशास्त्र द्वारा ही होता है। उद्योतकर की सम्मति मे "जब एक ही पदार्थ विभिन्न प्रमाणों द्वारा जाना जाता है तो वह अपने विभिन्न रूपों में जाना जाता है" ('न्यायवार्तिक', भूमिका)।

२. 'न्यायबिन्दुटीका', पृष्ठ ७; 'इंडियन फिलासफी', प्रथम खण्ड, पृष्ठ २९५–२९६।

३. प्रत्यक्षस्य साक्षात्कारित्वं लक्षणम्। 'तत्त्वचिन्तामणि', पृष्ठ ५५२।

४. ज्ञानाकरणकं ज्ञानं प्रत्यक्षम्। तुलना कीजिए मैक्टेगार्ट : "एक ऐसा विश्वास जिसका आधार इन्द्रिय-साक्षात्कार है......यथार्थ में परमज्ञान कहलाता है, क्योंकि यद्यपि इसका कोई आधार तो होता है, अर्थात् साक्षात्कार, पर यह अन्य किसी विश्वास पर आश्रित नहीं होता" ('दि नेचर आफ एग्जिस्टैंस', पृष्ठ ४२–४३)।

५. १ : १, ४। तुलना कीजिए, चरक ने प्रत्यक्ष ज्ञान की परिभाषा इस प्रकार की है : ऐसा ज्ञान जो आत्मा, मन तथा इन्द्रियों के अपने विषयों के सम्पर्क में आने से उत्पन्न होता है। गंगेश गौतम की परिभाषा की आलोचना कई आधारों पर करता है : यह अतिव्याप्ति दोष से युक्त है क्योंकि प्रत्येक प्रकार का बोध विषय (पदार्थ) और मन के सम्पर्क से ही उत्पन्न होता है और मन भी एक इन्द्रिय है। फिर इसमें अव्याप्ति दोष भी है क्योंकि यह सब बोध जो ईश्वर को इन्द्रियों के बिना केवल

परिभाषा में उन विभिन्न अवयवों का, जो ज्ञान की क्रिया में विद्यमान रहते हैं, समावेश हो जाता है, अर्थात् (१) इन्द्रियां, (२) उनके द्वारा ज्ञेय पदार्थ, (३) इन्द्रियों का पदार्थ के साथ संयोग, और (४) वह ज्ञान जो इस संयोग से उत्पन्न होता है। इन्द्रियों का अस्तित्व अनुमान प्रमाण का विषय है। यदि देखनेवाली चक्षु इन्द्रिय विद्यमान न हो तो रंग का ज्ञान सम्भव नहीं होगा।[1] ज्ञानेन्द्रियां पांच बतलाई जाती हैं क्योंकि इन्द्रियजन्य ज्ञान भी पांच प्रकार का है : दर्शनात्मक, श्रवणात्मक, घ्राणात्मक, स्वादात्मक और स्पर्शात्मक।[2] इन इन्द्रियों के अधिष्ठान भी भिन्न-भिन्न हैं : आंखों के गोलक, कानों के गह्वर, नासिका, जिह्वा और त्वचा। गति, आकृति और जाति-भेद से भी यह स्पष्ट है कि इन्द्रियां पांच हैं। आंख, कान, नाक, जिह्वा और त्वचा, इन पांचों इन्द्रियों की भी प्रकृति वही है जैसीकि तेजस्, आकाश, पृथ्वी, जल और वायु आदि पांचों तत्त्वों की है, जिनके विशेष गुणों, रंग, शब्द, गन्ध, स्वाद और स्पर्श आदि का आविर्भाव उक्त पांचों ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा होता है।[3]

डेमोक्रीटस के मत से मिलता-जुलता यह मत कि सभी इन्द्रियां त्वचा के ही परिवर्तित भेद है, इस आधार पर खण्डित हो जाता है कि एक अंधा[4] पुरुष रंग का ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकता।[5] यदि त्वचा के विशेष भाग ही इन्द्रियां समझी जाएं तो इन्द्रियों की संख्या अनगिनत ठहरेगी ; और यदि ऐसा नहीं है तो रंग और शब्द इत्यादि का ज्ञान इन्द्रियों के द्वारा नहीं हो सकता।[6] यदि एक ही इन्द्रिय का अस्तित्व माना जाए तो देखना, सुनना व सूंघना आदि सबका ज्ञान एकसाथ ही हो जाना चाहिए। इसके अतिरिक्त त्वचा केवल उन्हीं पदार्थों का ज्ञान करा सकती है जो समीप में हैं, जबकि देखने और सुनने से दूर-दूर के पदार्थों का भी ज्ञान होता है। जहां न्यायदर्शन समस्त इन्द्रियों की एकता को अस्वीकार करता है, वहां वह त्वचा के विशेष गुण को भी स्वीकार करता है। सापेक्ष चेतना का उत्पन्न होना उसी अवस्था में सम्भव है जबकि मन का सम्पर्क त्वचा के साथ हो। और जब मन, त्वचा के क्षेत्र से बाहर पुरीतत् में होता है, जैसाकि सुषुप्ति अवस्था में होता है, तो उस समय

अन्तर्दृष्टि से ही होता है उक्त परिभाषा के अन्दर नहीं आता। इन्द्रिय क्या है, इसका निर्णय भी केवल प्रत्यक्ष ज्ञान से ही होता है। और उक्त परिभाषा में इन्द्रिय शब्द का प्रयोग भी चक्रक दोष से युक्त है।

१. क्योंकि इन्द्रियां ऐसे अवयवों से मिलकर बनी हैं जिनमें नैसर्गिक रूप से विशेष गुण विद्यमान हैं, वे अपने विषयों (पदार्थों) का तो प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त कर सकती हैं किन्तु अपने-आपको प्रत्यक्ष नहीं कर सकती। इसका केवल एक ही अपवाद है और वह शब्द है ('न्यायसूत्र', ३ : १, ६८–६९, ७१)।

२. 'न्यायसूत्र', ३ : १, ५४।

३. एक अभौतिक सर्वव्यापी पदार्थ को कोई बाधा नहीं दे सकता। क्योंकि आंख को भौतिक वस्तुओं यथा दीवार से बाधा मिलती है, इसलिए वह स्वयं भौतिक है।

४. 'रत्नप्रभा' और 'भामती' ने (२ : २, १०) इसे सांख्य का मत बताया है।

५. 'न्यायसूत्र' ३ : १, ५१–५२।

६. देखिए, 'न्यायसूत्र', ३ : १, ५३।

चेतना बिलकुल स्थगित अवस्था में रहती है।[1]

मन भी प्रत्यक्ष ज्ञान के लिए आवश्यक है। जिस समय हम अध्ययन मे खूब मग्न होते है तो हमे वायु के शब्द की प्रतीति नही होती, यद्यपि शब्द श्रवणेन्द्रिय से टकराता है और देह-भर मे व्याप्त आत्मा का भी उसके साथ सम्बन्ध रहता ही है। इसके अतिरिक्त, "एक मे अधिक इन्द्रियो का सम्बन्ध अपने-अपने विषयो के साथ रहने पर भी सब विषयो का एकसाथ प्रत्यक्ष ज्ञान नही हो पाता। इसका कारण यह है कि मन का सम्पर्क एक समय मे एक ही इन्द्रिय के साथ हो सकता है और बिना मन के साथ सम्पर्क हुए इन्द्रिय ज्ञान नही ग्रहण कर सकती है। इसका अर्थ यह हुआ कि प्रत्येक प्रत्यक्ष ज्ञान मे मन का सम्पर्क आवश्यक है।"[2] जीवात्मा और इन्द्रियो के बीच मे मन मध्यस्थ रहता है। यही कारण है कि एक ही समय मे भिन्न-भिन्न इन्द्रिय-ज्ञान एकसाथ नही हो सकता।[3] यद्यपि कभी-कभी शीघ्रता के साथ हो रहे क्रमिक प्रभावो के कारण केवलमात्र आभास होने लगता है कि अनेक प्रत्यक्ष ज्ञान साथ-साथ हो रहे है। जब हम पिन को कागजो के अनेक पन्नो मे घुसाते है तो ऐसा प्रतीत होता है कि पिन एक-साथ ही अनेक पन्नो मे छेद कर रहा है। किन्तु, वस्तुत वह एक के बाद दूसरे पन्ने मे छेद करता है।[4] इसमे परिणाम यह निकलता है कि जब मन का सम्पर्क एक इन्द्रिय से होता है तो उसी समय मे दूसरी इन्द्रिय से उसका सम्पर्क नही हो सकता। इसीलिए आयाम के विचार से मन को अणु कहा गया है। इसके विपरीत यदि मन विभु अर्थात् देह-भर मे व्याप्त होता तो हम प्रत्यक्ष ज्ञान की क्रमिकता की व्याख्या करने मे अपने को असमर्थ पाते। ज्योही इन्द्रिय किसी पदार्थ के सम्पर्क मे आती है, मन विद्युत्-गति से तुरन्त वहा पहुच जाता है। इसके अतिरिक्त, दो व्यापक पदार्थों के सम्पर्क की कल्पना भी असम्भव है। "स्मरण, अनुमान, आप्त ज्ञान, सशय, प्रतिभा, स्वप्न, ऊहा (कल्पना) और आनन्द आदि का प्रत्यक्ष करना भी उसी अवस्था मे सम्भव है जबकि मन उपस्थित हो।"[5] आत्मा को जो बोध होते है वे भी अनुव्यवसाय को छोड़कर, स्वय प्रकाशमय नही होते।[6] हमे उनका ज्ञान मन के द्वारा उसी प्रकार होता है, जैसाकि अनुभवों और इच्छाओ का होता है।

वात्स्यायन मन की गणना इन्द्रियो के अन्दर करता है। वह इसे अन्तरिन्द्रिय मानता है जिसके द्वारा हम आन्तरिक मनोभावो, इच्छाओं और ज्ञानो का बोध प्राप्त करते हैं। जिस प्रकार आकाश मे विद्यमान सूर्य और टेबल पर रखी हुई दवात के बारे मे तुरन्त यह अनुभूति हो जाती है कि ये हमसे भिन्न

१. देखिए, बृहदारण्यक उपनिषद्, ४ : १, १६; 'तर्कसग्रहदीपिका', १८।
२. न्यायभाष्य १ : १, ४।
३. १ : १, १६; २ : १, २४; ३ : २, ६-७ ; न्यायवार्तिक, १ : १, १६।
४. न्यायभाष्य, ३ : २, ५८।
५. न्यायभाष्य १ : १, १६।
६. यहां तक कि नैय्यायिक भी अनुव्यवसाय को स्वयं प्रकाशमय मानते हैं।

बाह्य जगत् के पदार्थ हैं, उसी प्रकार सुख और दुःख की भावनाओं, प्रसन्नता व खिन्नता के मनोवेगों और इच्छा व अभिलाषा आदि की क्रियाओं के बारे में भी तुरन्त यह अनुभूति होती है कि ये जीवात्मा की विशेषताएं है। जीवात्मा मन ही के साधन से आन्तरिक अवस्थाओं का ज्ञान प्राप्त करता है, जबकि बाह्य जगत् के पदार्थों के ज्ञान के लिए मन को इन्द्रियों के सहयोग की आवश्यकता होती है।[1] आन्तरिक तथा बाह्य में भेद ठीक वैसा ही नहीं है जैसाकि आत्मनिष्ठ और विषयनिष्ठ में है, क्योंकि कागज पर लिखने की इच्छा भी प्रत्यक्ष ज्ञान का उतना ही विषय है जितना कि स्वयं कागज है। ज्ञान का सम्बन्ध ठीक उसी प्रकार का है, विषय चाहे कागज के समान बाह्य हो या इच्छा के समान आन्तरिक हो। विषय का प्रत्यक्ष और तुरन्त ज्ञान दोनों में एकसमान है।[2]

वात्स्यायन के मत में मन भी एक इन्द्रिय है जिस प्रकार कि चक्षु आदि इन्द्रिया है, यद्यपि दोनों में अनेक स्पष्ट भेद है। बाह्य इन्द्रियां भौतिक तत्त्वों से बनी है, कुछ विशेष पदार्थों का ज्ञान कराने की ही क्षमता रखती है, और कुछ विशेष गुण रखती हुई ही इन्द्रिय के रूप में कार्य कर सकती हैं। परन्तु मन अभौतिक है, सभी प्रकार के पदार्थों का ज्ञान कराने मे एकसमान क्षमता रखता है और कोई विशेष गुण न रखता हुआ भी इन्द्रिय के रूप में कार्य कर सकता है।[3] किन्तु उद्योतकर पूर्णरूपेण इस मत का समर्थन नहीं करता। भौतिक अथवा अभौतिक होना केवल उत्पन्न हुए पदार्थों पर ही लागू होता है, जबकि मन कोई उत्पन्न हुआ पदार्थ नहीं है। वह यह स्वीकार करता है कि मन सब पदार्थों पर कार्य करता है, जबकि इन्द्रियां परिमित क्षेत्रों में ही कार्य करती हैं। इस लेखक के अनुसार, मन की जीवात्मा के साथ समानता इस

१. तुलना कीजिए लौक द्वारा किए गए संवेदना और चिन्तन के इस भेद के साथ कि बाह्य इन्द्रिय हमें बाह्य जगत् का ज्ञान कराती है और अन्तरिन्द्रिय हमें अपनी मानसिक क्रियाओं का ज्ञान कराती है ('ऐसे ऑन दि ह्यूमन अण्डरस्टैण्डिंग', २ : १, ४)। उद्योतकर ने सुख तथा सुखानुभव के बीच भेद किया है। सुख वह विषय है जिसका प्रत्यक्ष अनुभव होता है, और सुख का बोध तब उत्पन्न होता है जब मन संवेदना के सम्पर्क में आता है। शैत्य की अनुकूलता का अनुभव त्वचा के ठण्डी वायु के साथ सम्पर्क में आने से होता है, और जब मन उसके सम्पर्क में आता है तब अनुकूलता का बोध उत्पन्न होता है।

२. मन को अपने निजी बोध का साधन नहीं माना जा सकता। पृथक् सामयिकता का बोध जो मन के अस्तित्व का संकेत करता है मन के द्वारा उत्पन्न होता है, और इस प्रकार प्राप्त किया गया मन का बोध मन की उपस्थिति के कारण होता है। यह वह अवस्था नहीं है जबकि मन अपने ऊपर कार्य करता है, क्योंकि मन अपने अस्तित्व अथवा अपने बोध का साधन नहीं है। मन के बोध में मन अपने अभिसूचक बोध के साथ मिलकर साधन बनता है। इस प्रकार की उपाधि से युक्त मन स्वयं मन नहीं है। देखिए न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका, ३ : १, १७। उद्योतकर का मत है कि यौगिक क्रियाओं द्वारा मन का साक्षात् ज्ञान हो सकता है (न्यायवार्तिक, ३ : १, १७)।

३. न्यायभाष्य १ : १, ४।

ग्रश मे है कि स्मृति के लिए जिस सम्पर्क की ग्रावश्यकता होती है उसके दोनों ही ग्राधार है ग्रौर दोनो उस सम्पर्क के भी ग्राधार है जो सुख का ज्ञान कराता है। प्रत्येक जीवात्मा के पास ग्रपना-ग्रपना मन है जो नित्य है, यद्यपि वह दुर्बोध तथा सूक्ष्म है।[1] प्रत्येक जीवात्मा के साथ केवल एक ही मन है ग्रनेक नहीं, क्योंकि प्रत्येक जीवात्मा के साथ यदि ग्रनेक मनों का सम्बन्ध होता तो प्रत्येक ग्रवस्था मे भिन्न-भिन्न ज्ञान एकसाथ हो जाते ग्रौर ग्रनेक प्रकार की इच्छाए भी एकसाथ ही हो जाया करती, जबकि ऐसा होता नही है।[2]

क्योंकि प्रत्यक्ष एक प्रकार का ज्ञान है, इसका सम्बन्ध जीवात्मा से है। यद्यपि जीवात्मा ग्रौर मन का सम्पर्क एक विशेष ग्रर्थ म नित्य है तो भी प्रत्येक मानसिक क्रिया मे उसकी पुनरावृत्ति होनी रहती है। न्यायशास्त्र जीवात्मा के भौतिक पदार्थो के साथ स्वाभाविक सम्बन्ध को स्वत सिद्ध मानकर चलता है। उसके मत से बाह्य पदार्थों की जीवात्मा के ऊपर उसी प्रकार की छाप पडने की कल्पना की जाती है जिस प्रकार की लाख के ऊपर मोहर की छाप पडती है। न्यायशास्त्र का प्रत्यक्ष-विषयक सिद्धान्त शरीरक्रिया सम्बन्धी मनोविज्ञान की मुख्य समस्या को ग्रर्थात् एक बाह्य पदार्थ से उत्पन्न उद्दीपना, जो इन्द्रिय पर होती है ग्रौर एक यान्त्रिक सम्पर्क के रूप में परिणत हो जाती है, किस प्रकार एक मनोवैज्ञानिक ग्रवस्था का रूप धारण कर लेती है, हल नही करता। यह समस्या ग्राज भी, जबकि विज्ञान ने इतनी ग्रधिक उन्नति कर ली है, एक रहस्य ही है।

प्रत्यक्ष ज्ञान के उदय होने के लिए कर्ता के ग्रतिरिक्त बाह्य पदार्थ का होना भी ग्रावश्यक है। इस यथार्थ धारणा को स्वीकार कर लेने मे न्यायशास्त्र ग्रपनी रक्षा ज्ञानसापेक्षतावाद मे करने मे समर्थ हो गया, जिसके ग्रनुसार हमें केवल क्षणिक ग्रनुभव ही होते है ग्रौर बाह्य पदार्थ का यथार्थ ग्रस्तित्व मानना मूढ पुरुषो की केवल भ्रमात्मक कल्पना मात्र है। इन्द्रिय का ग्रपने उपयुक्त विषय के साथ सम्पर्क उस पदार्थ का चेतना के साथ सीधा सम्बन्ध स्थापित करा देता है। विषय जो उद्दीपक है, तथा चेतनामय परिणाम जो प्रत्यक्ष है, दोनो के ग्रापसी सम्बन्ध का ग्रध्ययन किया गया है ग्रौर न्यूनतम संवेदनता ग्रादि के संकेतो की कमी नही है, यद्यपि सूक्ष्म यन्त्र के ग्रभाव मे इन प्रश्नों का समाधान ठीक-ठीक मिलना सम्भव नही है।

प्रत्यक्ष की परिभाषा ग्रात्मा तथा मन के सम्पर्क को तथा मन ग्रौर इन्द्रियों के सम्पर्क को स्वत.सिद्ध मान लेती है जो सब बोधो मे विद्यमान रहता है, ग्रौर 'इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष' को उक्त ज्ञान का विशेष लक्षण बताती है।[3] इन्द्रियों का पदार्थों के साथ सन्निकर्ष होने से जीवात्मा के ग्रन्दर जो परिवर्तन होता है, उसीसे प्रत्यक्ष ज्ञान उत्पन्न होता है। "यदि इन्द्रियां पदार्थ के साथ सम्पर्क में ग्राए बिना भी ज्ञान

१. न्यायवार्तिक १ : १, ४।
२. न्यायवार्तिक ३ : २, ५६।
३. २ : १, २६।

उत्पन्न कर सकतीं तो वे दीवार के पीछे से भी ज्ञान-सम्पादन करने में समर्थ हो सकतीं।"[1] किन्तु साधारणतः यह सम्भव नहीं है। 'सन्निकर्ष' का अर्थ, उद्योतकर के अनुसार, निकट सम्पर्क मात्र नहीं है, बल्कि केवलमात्र इन्द्रिय का विषय 'बन जाना' अथवा इन्द्रिय के साथ एक निश्चित सम्बन्ध स्थापित हो जाना है।

पदार्थ (विषय) कई प्रकार के हैं। घास का पत्ता एक द्रव्य है, हरापन इसका एक गुण है, और चूंकि गुण द्रव्य के अन्दर रहते हैं, उनका प्रत्यक्ष ज्ञान द्रव्य से अलग नहीं हो सकता।[2] द्रव्य और उनके गुण एक ही जाति के होने से उनका पृथक्-पृथक् अस्तित्व नहीं है और इसलिए उनका ज्ञान केवल उनके आधार के ज्ञान द्वारा ही होता है। इन्द्रिय और द्रव्य के मध्य जो सम्पर्क है वह संयोग है, किन्तु द्रव्य और उसके गुण अथवा जाति और अकेले के मध्य जो सम्बन्ध है यह उसमें समाविष्ट रहने से 'समवाय' सम्बन्ध है। उदाहरण के रूप में, आंख द्रव्य के साथ सीधे सम्पर्क में आती है, किन्तु उसमें समाविष्ट रंग के साथ उसका सम्पर्क केवल परोक्ष रूप में ही होता है; और उससे भी अधिक परोक्ष रूप में उस रंग की विशेष जाति के साथ होता है जो उस रंग में समाविष्ट होती है, जो उस पदार्थ में रहता है, जिसके साथ आंख का सम्पर्क हुआ है।

> इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष छः भिन्न-भिन्न प्रकार का बताया गया है। पहला केवल संयोग मात्र है, जैसेकि हम एक घड़े को देखते हैं। दूसरा द्रव्य के गुण अथवा उसकी जाति के साथ सम्पर्क जिसे संयुक्त समवाय कहते हैं, जैसेकि घड़े के रंग आदि का ज्ञान हमें होता है। तीसरा संयुक्त समवेत-समवाय, जैसे-कि घड़े के रंग की विशेष जाति का, जो उसके भी अन्तर्गत है, ज्ञान होता है। चौथा समवाय है, जैसेकि हम शब्दरूपी गुण का ज्ञान प्राप्त करते हैं,[3] जहां कि कान और शब्द के बीच समवाय सम्बन्ध होता है। पांचवां समवेत-समवाय है जबकि हम किसी ऐसे गुण की जाति-विशेष का ज्ञान प्राप्त करते हैं जो द्रव्य से स्वतन्त्र है, जैसेकि शब्दरूपी गुण की जाति विशेष का ज्ञान। छठा अर्थात् अन्तिम है विशेषणता अथवा विशेषण का विशेष्य के साथ सम्बन्ध। इसका एक दृष्टान्त घड़े के अभाव को देखने पर हमारे आगे आता है। यहां पर हमारी आंख का सम्पर्क भूमितल के साथ होता है जिसमें घड़े के अभाव रूपी विशेषण की विद्यमानता है। इस सम्पर्क को हम दो भिन्न-भिन्न प्रकार से वर्णन कर सकते हैं। प्रथम यह कि घड़े का अभाव रूपी विशेषत्व भूमि में है (घटाभाववद् भूतलम्)। इसमें भूमि प्रतिपाद्य पदार्थ है और उसमें घड़े का अभाव होना उसका विशेषण है। दूसरे रूप में यह कि भूमि पर घड़े का

१. 'न्यायकन्दली', पृष्ठ २३; न्यायभाष्य, २ : १, १९।
२. सिवाय शब्द के, जो गुण होते हुए भी अपना प्रत्यक्ष ज्ञान अपने-आप कराता है।
३. श्रवणेन्द्रिय कान के गढ़े के अन्दर आबद्ध आकाश का नाम है और शब्द आकाश का गुण (धर्म) है।

अभाव है (भूतले घटाभावोऽस्ति)। दूसरे प्रकार में विशेषण और विशेष्य के पारस्परिक सम्बन्ध उलट गए। पहली अवस्था में अभाव, उसका विशेषण हुआ जिसके साथ इन्द्रिय का सम्पर्क है (संयुक्त विशेषणता) अर्थात् भूमि का आंख के साथ। दूसरी अवस्था में अभाव का विशेष गुण उसके द्वारा बताया गया है जिसके साथ इन्द्रिय का सम्पर्क है (संयुक्त-विशेष्यता)।[१] उक्त विशेषताएं यथार्थ के स्वरूप के सम्बन्ध मे न्यायशास्त्र की इन तात्त्विक धारणाओं पर आधारित हैं कि वस्तुएं, गुण तथा सम्बन्ध सब विषय रूप जगत् के ही हैं। वैशेषिक के समान न्याय की भी यह धारणा है कि द्रव्यों, गुणों, क्रियाओं, सामान्यता, विशेषता, समवाय और अभाव का स्वतन्त्र अस्तित्व है। एक द्रव्य जिसका विस्तार है दृष्टि द्वारा देखा जाता है बशर्ते कि उसका रंग प्रकट हो।[२] इस सम्पर्क का स्वरूप संयोग है, आंख तथा पदार्थ को परस्पर वास्तविक सम्पर्क में आया हुआ कहा जाता है। नव्य-न्याय के मत मे, यदि पदार्थ मूर्त रूप मे है, तो स्पर्श भी पदार्थ का ज्ञान कराता है। गुणों और गति का ज्ञान सम्पर्क के दूसरे प्रकार द्वारा होता है। सामान्यता का ज्ञान दूसरे या तीसरे प्रकार मे होता है, अर्थात् द्रव्य, उसके गुण या गति सम्बन्धी जैसी भी सामान्यता हो, उसके अनुसार होता है। न्यायशास्त्र के मत में समवाय अथवा अन्तर्गत गुण स्वयं ज्ञान का विषय है, जबकि वैशेषिक के मत में यह अन्तर्गत प्रमेय पदार्थ है। अभाव छठे प्रकार मे आता है।

कुमारिलभट्ट तथा वेदान्त के अनुयायियो के मत में ज्ञान न होना (अनुपलब्धि) ज्ञान का एक स्वतन्त्र साधन है। कुमारिल के अनुसार जब हम घड़े के अभाव को देखते है तो हमें दो भिन्न-भिन्न प्रकार के ज्ञान होते है--एक तो निश्चित ज्ञान अर्थात् भूमि का और दूसरा निषेधात्मक ज्ञान अर्थात् घड़े के अभाव का। नैय्यायिक के मत मे घड़े का अभाव रिक्तभूमि का एक विशेषण है और हमें इस प्रकार की अभाव-विशिष्ट भूमि का ज्ञान होता है। यदि यह कहा जाए कि हमें उन्हीं पदार्थों का ज्ञान होता है जो इन्द्रियों के सम्पर्क में आते हैं और पदार्थों के अभाव का इन्द्रियो के साथ सम्पर्क नहीं हो सकता, तो नैय्यायिक का उत्तर यह है कि आलोचक भूल मे यह धारणा बना लेते है कि केवल संयोग और समवाय दो प्रकार के ही सम्बन्ध हैं। अभाव के सम्बन्ध में इनमें से एक भी सम्भव नही, क्योंकि संयोग केवल दो द्रव्यों में ही सम्भव हो सकता है और अभाव द्रव्य नहीं है, तथा समवाय भी सम्भव नहीं, क्योंकि अभाव अविभाज्य रूप में किसी वस्तु के साथ सम्बद्ध नहीं हो सकता।[३]

१. कीथ : इंडियन लॉजिक एण्ड एटोमिज्म, पृष्ठ ७७।

२. वैशेषिक सूत्र ४ : १, ६।

३. विशेषण और विशेष्य के सम्बन्ध के बारे में न्याय का जो मत है, उसकी आलोचना इस आधार पर की जाती है कि वस्तुतः यह कोई सम्बन्ध नहीं है, क्योंकि यह ऐसी दो चीजों में विद्यमान नहीं

बौद्ध दर्शन के अनुसार, अभाव के ज्ञान का अर्थ अभाव का अस्तित्व नहीं है, बल्कि उसका तात्पर्य केवल ऐसी किसी वस्तु का अस्तित्व है जो अभाव का आधार है। घड़े से रहित भूमि के निश्चित ज्ञान को, भ्रम में पड़कर, घड़े के अभाव के ज्ञान के साथ मिला दिया गया है। किन्तु न्यायशास्त्र का मत है कि निश्चित सत्तात्मक पदार्थों का ज्ञान भी अपने-आपमें वैसा ही एक सत्य है जैसाकि अभावात्मक पदार्थों का ज्ञान है। यदि यह कहा जाए कि भूमि पर घड़े के प्रत्यक्ष ज्ञान का न होना घड़े से रहित भूमि का प्रत्यक्ष ज्ञान ही है, तो प्रश्न उठता है कि भूमि का घड़े से रहित होना भूमि के साथ तादात्म्य रखता है या उससे भिन्न है? दोनो एकसमान नही हो सकते। यदि घड़े-सहित भूमि और घड़े-रहित भूमि में परस्पर भेद है तो जैसे एक का ज्ञान प्रत्यक्ष से होता है, दूसरी का ज्ञान भी प्रत्यक्ष से हो सकता है।[1]

बौद्ध तार्किक सिद्ध करते हैं कि चक्षु और श्रवणेन्द्रिय अपने विषयों के साथ सीधे सम्पर्क में नहीं आती, बल्कि दूर से भी पदार्थों का ज्ञान प्राप्त करती है। ये दोनों इन्द्रियां, उनके मत में, अप्राप्यकारी अर्थात् पदार्थों का ज्ञान दूर से प्राप्त करने में भी समर्थ है। नैय्यायिक का तर्क है कि चक्षु इन्द्रिय आंखों के गोलक या पुतलियों का नाम नहीं है, जो इन्द्रियों के अधिष्ठान मात्र हैं। चक्षु इन्द्रिय तेजस् प्रकृति की है और प्रकाश की किरण पुतली से बाहर दूरस्थित पदार्थ तक जाती है और उसके साथ सीधे सम्पर्क में आती है। यही कारण है कि हमें दिशा, दूरी व स्थिति का सीधा प्रत्यक्ष इन्द्रियजन्य ज्ञान होता है।[2]

है जो उससे (सम्बन्ध से) भिन्न हों। सम्बन्ध वह है जो दोनों सम्बद्ध चीजों में विद्यमान रहते हुए भी दोनों से भिन्न हो। संयोग, ढोल तथा छड़ी दोनों से भिन्न है यद्यपि विद्यमान दोनों में है। विशेषण और विशेष्य का सम्बन्ध इस प्रकार का नहीं है। छड़ी हाथ में लिए हुए व्यक्ति के विषय में छड़ी के गुण का स्वरूप छड़ी से भिन्न नहीं है और न ही व्यक्ति की विशिष्टता व्यक्ति से भिन्न है। विशेषण और विशेष्य का स्वयं उन चीजों के साथ तादात्म्य है। अभाव के विषय में, विशेषण और विशेष्य दोनों ही होने चाहिए, क्योंकि किसी भी द्रव्य, गुण व क्रिया के लिए अभाव में विद्यमान रहना सम्भव नहीं है। इस प्रकार अभाव में सम्बद्ध विशेषण का स्वरूप अपने ही में इस प्रकार का होना चाहिए कि अपना ज्ञान करा सके। इसीलिए कहा जाता है कि अभाव का संपर्क न होने से इन्द्रियों द्वारा उसका ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता। गंगेश का यह मत है कि एक ही साधन हमें पदार्थ और उसके अभाव का भी ज्ञान प्राप्त कराने में सहायक होता है। अभाव, ज्ञान के अभाव से होनेवाले अनुमान का परिणाम नहीं है, बल्कि स्वयं प्रत्यक्ष ज्ञान का एक विषय है।

१. 'न्यायबिन्दु', पृष्ठ ११, और 'न्यायमञ्जरी', पृष्ठ ५३–५७।

२. न्यायवार्तिक, १ : १, ४। चक्षु इन्द्रिय के विषय में एक रोचक प्रश्न पर विचार किया गया है अर्थात् यह एक है या दो हैं। वात्स्यायन का कहना है कि इन्द्रियां दो हैं और जब हम किसी पदार्थ को पहले एक आंख से और उसके बाद दूसरी आंख से देखते हैं तब हमें ज्ञात होता है कि यह वही पदार्थ है जिसे पहले अवसर पर देखा था। इसका अर्थ यह हुआ कि द्रष्टा एक ही व्यक्ति है। किन्तु उद्योतकर इस मत को स्वीकार नही करता (देखिए न्यायभाष्य और न्यायवार्तिक ३ : १, ७, ११)। डेकार्ट के सामने यह एक बड़ी समस्या थी कि किस प्रकार और क्यों दो अलग-अलग ज्ञान जो दो

बौद्ध तार्किक निम्नलिखित युक्तियों के आधार पर न्याय के मत पर आपत्ति करता है : (१) चक्षु इन्द्रिय आंख की वह पुतली है जिसके द्वारा हम पदार्थों को देखते हैं और पुतली स्वयं बाहर जा नहीं सकती कि दूरस्थित पदार्थों के साथ सम्पर्क स्थापित करे। (२) चक्षु इन्द्रिय आकार में अपने से कितने ही बड़े पदार्थों, यथा पर्वत आदि, का ज्ञान प्राप्त करती है, किन्तु इतने बड़े पदार्थों के निकट सम्पर्क में वह आ नहीं सकती। (३) चक्षु इन्द्रिय को एक वृक्ष के ऊपर के हिस्से अथवा चन्द्रमा को देखने में एकसमान ही समय लगता है जिससे यह प्रमाणित होता है कि इन्द्रिय को पदार्थ के निकट पहुंचने की आवश्यकता नहीं है। (४) आंख पदार्थ तक नहीं जा सकती, अन्यथा शीशे व अभ्रक आदि पारदर्शी पदार्थों के पीछे की वस्तुओं का ज्ञान कैसे प्राप्त कर सकती। दूरी व दिशा का ज्ञान प्रत्यक्ष नहीं है किन्तु प्राप्त किया गया है।[1] उदयन ने अपने 'किरणावलि'[2] नामक ग्रन्थ में उक्त आपत्तियों का समाधान करने का प्रयत्न इस प्रकार किया है : (१) जो कोई पदार्थ का ज्ञान प्राप्त कराता है या उसे प्रकट करता है उसका उस पदार्थ के साथ सम्पर्क में आना आवश्यक है। दीपक उस पदार्थ को प्रकाशित करता है जिसके सम्पर्क में वह आता है। इसी प्रकार चक्षु इन्द्रिय, जो तेजोमय है, पुतली से निकलकर पदार्थ के सम्पर्क में आती है। (२) पुतली से बाहर आकर प्रकाश फैलता है और पदार्थ को आच्छादित कर लेता है तथा समूचे क्षेत्र में समा जाता है। (३) समीप और दूर के पदार्थों की ज्ञान-प्राप्ति में समय की अवधि में अन्तर अवश्य होता है यद्यपि हमें इसका स्पष्ट भान नहीं होता। दूरस्थित चन्द्रमा आंख के खोलने पर इसलिए दिखलाई देता है कि प्रकाश की गति इतनी वेगवती है कि उसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती। यह सुझाव कि हमारी चक्षु इन्द्रिय से निकला हुआ प्रकाश बाहर के प्रकाश के साथ मिलकर तुरन्त एकाकार हो जाता है जिसके कारण समीप और दूर के पदार्थ एकसाथ दिखाई दे सकते हैं, युक्तिसंगत नहीं ठहरता, क्योंकि इस सिद्धान्त के आधार पर हमें उन पदार्थों का भी, जो हमारी दृष्टि से छिपे हुए हैं और जो हमारी पीठ के पीछे हैं, ज्ञान होना चाहिए। (४) शीशा एवं अभ्रक आदि कुछ वस्तुए स्वभाव से पारदर्शक है और इसीलिए ये प्रकाश को आर-

---

आंखों तथा दो कानों के द्वारा प्राप्त होते हैं, परस्पर मिलकर मन के ऊपर समान प्रभाव डालते हैं। उसके विचार से, शीर्षग्रन्थि में, जो एकमात्र तंग मार्ग है, जिसके द्वारा प्राणियों के अन्दर सब क्रियाएं मस्तिष्क में पहुंचती हैं, वही इसका कारण है। किरणों के अन्दर स्वयं प्रकट होने का गुण नहीं है, क्योंकि उस अवस्था में वे आंखों व पदार्थ के मध्य में पर्दे के रूप में प्रकट होकर हमारी दृष्टि में बाधा उत्पन्न कर सकती थीं। आंखों की किरणें यद्यपि दिखलाई नहीं देतीं तो भी बाह्य प्रकाश की सहायता से पदार्थ तक पहुंच जाती हैं (देखिए न्यायभाष्य ३ : १, ३८–४१)।

१. न्यायवार्तिक, १ : १, ४; और देखिए विवरणप्रमेयसंग्रह, पृष्ठ १८७ से आगे।

२. बाखल, इण्डियन एडीशन, पृष्ठ २८६ से आगे।

पार जाने देने में बाधा नहीं देती। पूर्वमीमांसा न्याय के इस मत का समर्थन करता है कि सभी इन्द्रियां प्राप्यकारी हैं, अर्थात् जिनका वे ज्ञान प्राप्त कराती हैं उन पदार्थों के सम्पर्क में आती हैं। श्रवण ज्ञान के विषय में, शब्द एक निश्चित स्थान से चलकर ध्वनि की लहरों द्वारा वायु के अन्दर गति करता है और इस प्रकार श्रवणेन्द्रिय का अन्तिम शब्द के साथ सम्पर्क होता है। शब्द अपने निकास-स्थान से चलकर क्रमशः लहरों के द्वारा वायु के माध्यम से सर्वत्र फैलता है, ठीक उसी प्रकार जैसे कि पौधे का पराग वायु की लहरों द्वारा सब दिशाओं में दूर दूर पहुंच जाता है।[1] किस दिशा से शब्द आ रहा है इसका परिज्ञान इस प्रकार होता है कि शब्द के निकास-स्थानों की विविधता शब्द में विशेषता पैदा कर देती है और श्रवणेन्द्रिय के विशेष भाग क्रियाशील हो जाते हैं। इसी प्रकार गन्ध के विषय में, पदार्थ के छोटे-छोटे कण वायु के माध्यम से नासिका तक पहुंचते हैं। पदार्थ का इन्द्रिय के साथ केवल सम्पर्क ही प्रत्यक्ष ज्ञान की उत्पत्ति के लिए पर्याप्त है, जैसे कि सोता हुआ मनुष्य भी बिजली की कड़क सुन लेता है।[2]

गौतम के अनुसार, इन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष ज्ञान का सबसे प्रथम स्वरूप यह है कि वह अवर्णनीय (अव्यपदेश्य) है। पदार्थ के प्रत्यक्ष ज्ञान के लिए उसके नाम का होना आवश्यक नहीं है। नाम की आवश्यकता सामाजिक व्यवहार के लिए है। किन्तु पदार्थ के प्रत्यक्ष ज्ञान के साथ ही साथ उसके नाम का ज्ञान आवश्यक नहीं है। जयन्त ने एक प्रसिद्ध आचार्य की सम्मति उद्धृत करते हुए कहा है कि उन सब पदार्थों का ज्ञान जिनमें नाम पदार्थ का अंगभूत अवयव है, प्रत्यक्ष ज्ञान के क्षेत्र से बाहर है। यदि एक मनुष्य किसी फल को देखकर उसके स्वरूप का अनुभव करता है तो यह प्रत्यक्ष ज्ञान है। किन्तु यदि वही मनुष्य किसी दूसरे पुरुष से उस फल का नाम 'बिल्व' सुनता है तो यह प्रत्यक्ष ज्ञान न होकर आप्त ज्ञान कहलाएगा।[3] वात्स्यायन का मत है कि पदार्थ का

१. देखिए जयनारायण की 'विवृति' २ : २, ३७। कुमारिल इस विचार के सम्बन्ध में इस आधार पर आपत्ति उठाता है कि चूंकि आकाश एक तथा अविभाज्य है इसलिए सभी कानों पर शब्द का एकसमान प्रभाव पड़ना चाहिए और प्रत्येक शब्द सभी कानों द्वारा सुना जाना चाहिए; अथवा यदि एक कान बहरा है तो सभी कानों को सुनाई न पड़ना चाहिए। फिर वायु के साथ भ्रमण करते हुए शब्द उन शब्दों की अपेक्षा अधिक दूर तक सुनाई देते हैं जो वायु की गति के प्रतिकूल आते हैं। इसका कोई युक्तिसंगत समाधान नहीं मिलता, क्योंकि [illegible] आकाश में उत्पन्न होती है जिसपर शब्द का कोई प्रभाव नहीं पड़ता।

२. न्यायभाष्य २ : १, २६। यह स्वेच्छा-विरहित है, क्योंकि यह आत्मा के प्रयत्न के द्वारा नहीं होता, और इस प्रकार अदृष्ट अथवा अदृश्य निमित्त इसका कारण समझा जाता है (न्यायभाष्य २ : १, २९)।

३. शाब्दिकों का मत है कि सभी प्रकार के प्रत्यक्ष ज्ञान का विषय, विषय (ज्ञेय पदार्थ) का द्योतक शब्द है (वाग्रूपं तत्त्वम्)। जयन्त इसकी आलोचना करता है ('न्यायमञ्जरी', पृष्ठ ९९), और वाचस्पति प्रश्न करते हैं कि यदि पदार्थ तथा नामों का परस्पर तादात्म्य है तो वे नित्य शब्दों के साथ भी तादात्म्य

प्रत्यक्ष ज्ञान उसके नाम के साथ और उसके बिना भी हो सकता है। पहली अवस्था में उसे निश्चयात्मक और दूसरी अवस्था मे अनिश्चयात्मक प्रत्यक्ष ज्ञान कहेगे।[1] अवर्णनीय (अव्यपदेश्य) और सुपरिभाषित (व्यवसायात्मक) मे जो भेद है वही भेद निर्विकल्प तथा सविकल्प मे है।

> वात्स्यायन और उद्योतकर इस भेद का उल्लेख नही करते और वाचस्पति, जो इसका उल्लेख करते है, इसे अपने गुरु त्रिलोचन का मत बताते है। परवर्ती सभी दार्शनिक जैसे भासर्वज्ञ, केशवमिश्र, अन्नभट्ट और सांख्य तथा वैशेषिक के अनुयायी तथा कुमारिल भी इस विचार से सहमत है। गौतम अपनी परिभाषा मे सभी प्रकार के प्रत्यक्ष ज्ञान को निश्चयात्मक मानते है। यदि हमे इस विषय मे सन्देह है कि दूरस्थित पदार्थ मनुष्य है अथवा एक खभा है, धूल है या धुआ है, तो यह प्रत्यक्ष ज्ञान नही है। जैन, जिनका मत है कि हम प्रत्येक प्रकार के प्रत्यक्ष ज्ञान मे प्रत्यक्ष के कर्ता तथा ज्ञेय पदार्थ दोनों से अभिज्ञ रहते है, प्रत्यक्ष ज्ञान के अनिश्चयात्मक होने की सम्भावना का निषेध करते है।

सविकल्प प्रत्यक्ष ज्ञान के अन्दर ज्ञात पदार्थ किस जाति का है यह ज्ञान, उन विशेष गुणों का ज्ञान जो उसे उस जाति के अन्य पदार्थों से विशिष्ट करते है तथा दोनों के परस्पर सम्पर्क का ज्ञान, ये सब उपलक्षित रहते हैं। पदार्थ की जाति, विशिष्ट गुणो और दोनो के सम्पर्क का स्पष्ट ज्ञान निर्विकल्प प्रत्यक्ष मे उपस्थित नहीं रहता।[3]

रखते हैं या परम्परागत शब्दों के साथ ? प्रत्यक्षानुभूत पदार्थ अप्रत्यक्षानुभूत शब्दों के साथ तादात्म्य नहीं रख सकते ; न वे नामों के साथ ही तादात्म्य रख सकते हैं, क्योंकि बच्चे पदार्थों का साक्षात् करते हैं यद्यपि उनके नाम से परिचित नहीं होते। इस प्रकार जो शब्दों का अर्थ नहीं जानते उन्हें निर्विकल्प प्रत्यक्ष होता है, और जो उन्हें जानते हैं उन्हें भी प्रथम तो निर्विकल्प ही ज्ञान होता है, जो अवचेतना में पड़े हुए भूतकाल के प्रत्यक्ष के नाम के संस्कार का पुनर्जीवन कर देता है। इस प्रकार वही निर्विकल्प सविकल्प प्रत्यक्ष बन जाता है (न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका, १ : १, ४)।

१. न्यायभाष्य, १ : १, ४। और देखिए 'न्यायमञ्जरी', पृष्ठ ९९। जयन्त का कहना है कि निर्विकल्प प्रत्यक्ष पदार्थ को प्रकट करनेवाले शब्द अथवा नाम का बोध नहीं करा सकता। शब्द चक्षु इन्द्रिय के प्रत्यक्ष का विषय नहीं है, और यदि लक्षण तथा लक्षित पदार्थ के परस्पर सम्बन्ध का बोध तथा अवशिष्ट चिह्न का पुनरुज्जीवन न हो तो शब्द का भी बोध नहीं हो सकता। सविकल्प प्रत्यक्ष शाब्दिक प्रतिबिम्बों के साथ जुड़ा हुआ है, किन्तु निर्विकल्प प्रत्यक्ष ऐसा नहीं है, और सामान्यता तथा गुणादि के बोध के विषय में दोनों में कोई भेद नहीं है। भर्तृहरि के मत मे भाषा के बिना कोई विचार नहीं रह सकता, और इस प्रकार निर्विकल्प प्रत्यक्ष, जो सब प्रकार की भाषा से स्वतन्त्र समझा जाता है, उसके विचार से असम्भव है (न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका, १ : १, ४)।

२. रत्नकीर्ति अपने 'अपोहसिद्धि' और 'क्षणभङ्गसिद्धि' नामक ग्रन्थों में इस लेखक का उल्लेख करता है। देखिए 'सिक्स बुद्धिस्ट न्याय ट्रैक्ट्स', जिसका सम्पादन महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री ने किया है। विश्वनाथ निर्विकल्प तथा सविकल्प के भेद का वैकल्पिक व्याख्या के रूप में उल्लेख करता है। देखिए उनकी 'न्यायसूत्रवृत्ति', १ : १, ४।

३. 'तर्कभाषा' के मत में निर्विकल्प प्रत्यक्ष में यद्यपि आत्मा का मन के साथ, मन का इन्द्रियों के साथ और इन्द्रियों का पदार्थ के साथ सम्पर्क होता है तो भी पदार्थरूपी अन्तिम अवयव गौण होता

निर्विकल्प और सविकल्प ज्ञान का भेद लगभग वैसा ही है जैसाकि पदार्थ के साधारण परिचय और उसके ज्ञान में, अर्थात् साधारण बोध तथा निर्णयात्मक प्रत्यक्ष ज्ञान में है।

प्राचीन वैशेषिक मतानुयायियों के अनुसार, निर्विकल्प प्रत्यक्ष ज्ञान वह है जो पदार्थ के सामान्य (जातिगत) एवं विशिष्ट स्वरूप के सम्बन्ध में प्रथम साक्षात्कार के समय उत्पन्न होता है, जिसमें उक्त दोनों के अन्तर का ज्ञान सम्मिलित नहीं है। सविकल्प प्रत्यक्ष ज्ञान में पदार्थ और उसके विशिष्ट गुणों का भेद स्पष्ट होकर पदार्थ का ज्ञान निश्चयात्मक हो जाता है।[1] वाचस्पति का विचार है कि निर्विकल्प प्रत्यक्ष ज्ञान में हम पदार्थ के गुणों का ज्ञान तो होता है, किन्तु हम पदार्थ और उनमें विशेषण-विशेष्य भाव का सम्बन्ध स्थापित नहीं कर पाते। और जब ऐसा कर पाते हैं तो उसकी सविकल्प प्रत्यक्ष ज्ञान संज्ञा हो जाती है। श्रीधर का यही मत है। प्रभाकर प्राचीन वैशेषिक के अनुयायियों के साथ सहमत होकर कहता है कि निर्विकल्प प्रत्यक्ष ज्ञान में हमें केवल पदार्थ के स्वरूप-मात्र का ज्ञान होता है। यद्यपि हम जातिगत सामान्य और उक्त पदार्थगत विशेष गुणों को भी देखते हैं, किन्तु उनमें भेद न कर सकने से, जैसाकि सविकल्प ज्ञान में करते हैं, उक्त ज्ञान को निर्विकल्प संज्ञा देते हैं। गंगेश की सम्मति में निर्विकल्प प्रत्यक्ष ज्ञान वह है जिसमें पदार्थ और उसके जातिगत गुणों का पृथक्-पृथक् ज्ञान तो हो किन्तु दोनों के पारस्परिक सम्बन्ध का ज्ञान न हो। पदार्थ का इन्द्रिय के साथ, जैसेकि घड़े का आंख के साथ, सम्पर्क होते ही घड़े के विषय में तुरन्त यह ज्ञान नहीं होता कि यह घड़ा घड़ों की जाति का है।[2] किन्तु जब पदार्थ और जिस जाति का वह पदार्थ है उसके पारस्परिक सम्बन्ध का भी ज्ञान हो जाता है तो उसे हम सविकल्प अथवा निश्चयात्मक प्रत्यक्ष ज्ञान कहते हैं। अन्नंभट्ट के अनुसार, निर्विकल्प प्रत्यक्ष ज्ञान पदार्थ के विशेष गुणों के ज्ञान से रहित केवलमात्र पदार्थ के ज्ञान का नाम है, जबकि सविकल्प प्रत्यक्ष ज्ञान के अन्दर पदार्थ (विशेष्य) और उसके गुणों (विशेषणों) जैसेकि पदार्थ की संज्ञा और जाति के सम्बन्ध का ज्ञान आ जाता है।[3]

सविकल्प प्रत्यक्ष का उक्त विश्लेषण प्रत्यक्ष की क्रिया के अन्तर्गत दो अवयवों, अर्थात् सामान्य प्रत्यय तथा अन्तिम निर्णय को हमारे सामने उपस्थित करता है।

है। किन्तु सविकल्प प्रत्यक्ष में वह मुख्य हो जाता है।

१. 'न्यायकन्दली', पृष्ठ १९०। प्रभाकर तथा पार्थसारथि मिश्र, जिनके मत में सविकल्प प्रत्यक्ष इन्द्रिय द्वारा गृहीत तथा स्मृतिगत प्रतिबिम्ब दोनों का सम्मिश्रण है, उक्त दृष्टिकोण का समर्थन करते हैं।

२. प्रथमतो घटघटत्वयोर्वैशिष्ट्यानवगाह्य एव ज्ञानं जायते, तदेव निर्विकल्पम्। देखिए 'सिद्धांत-मुक्तावलि', पृष्ठ ५८।

३. वह निर्विकल्प प्रत्यक्ष को निष्प्रकारक और सविकल्प प्रत्यक्ष को सप्रकारक भी कहता है। यहां प्रकारता का अर्थ है विशिष्ट बोध का गुण। इस प्रकार सप्रकारक ज्ञान पदार्थ-विशेष का बोध है, जो अन्य प्रकार के बोधों से पृथक् है।

मनोवैज्ञानिक श्रेणीबद्ध प्रकल्पना के हेत्वाभास का कि पहले हमें प्रत्यक्ष होता है, फिर सामान्य प्रत्यय बनता है और उसके बाद अन्तिम निर्णय होता है, इस प्रकार निराकरण हो जाता है।

निर्विकल्प प्रत्यक्ष के सम्बन्ध में एक भिन्न प्रकार का विचार, जोकि वस्तुतः असन्तोषजनक है, हमें नव्यन्याय में देखने को मिलता है। वहां ऐसा कहा गया है कि चेतना में जो ज्ञान प्रस्तुत होता है वह सविकल्प प्रत्यक्ष है, और उससे हम निर्विकल्प प्रत्यक्ष के अस्तित्व का अनुमान करते हैं। किसी पदार्थ का सविकल्प प्रत्यक्ष ज्ञान, अर्थात् पदार्थ के विशेष गुणों से युक्त होने का ज्ञान, उन गुणों के निर्विकल्प प्रत्यक्ष ज्ञान की पूर्वावस्था का संकेत करता है, जिसके बिना सविकल्प प्रत्यक्ष ज्ञान सम्भव नहीं हो सकता। यदि गुणों का प्रत्यक्ष ज्ञान भी सविकल्प होता तो उसका तात्पर्य होता गुणों के गुणों का प्रत्यक्ष ज्ञान और इस प्रकार उसका कहीं भी अन्त न होता। अतएव उक्त उलझन से दूर रहने के लिए हम निर्विकल्प प्रत्यक्ष ज्ञान के अस्तित्व को ही स्वीकार कर लेते हैं।[1]

> कुछ नैय्यायिक निर्विकल्प प्रत्यक्ष ज्ञान को अनुमान का विषय नहीं मानते, बल्कि इसे केवल चेतना की एक अवस्था-मात्र स्वीकार करते हैं जो हमें केवल अस्तित्व का बोध कराती है।[2] जो इसे चेतना का एक तथ्य मानते हैं उनका तात्पर्य इससे एक अस्पष्ट बोध से है। किन्तु जो इसे सविकल्प चेतना से निष्कासित अमूर्तभावरूप मानते हैं वे इसे भाववाचक गुणों की अभिज्ञता के समान समझते हैं और इसे वे निर्विकल्प इसलिए कहते हैं क्योंकि इसमें अनुव्यवसाय को स्थान नहीं है।

न्यायशास्त्र का झुकाव प्रधानतः निर्विकल्प प्रत्यक्ष को सब प्रकार के ज्ञान का प्रारम्भिक बिन्दु समझने की ओर है यद्यपि उसकी सम्मति में यह अपने-आपमें ज्ञान नहीं है। यह पदार्थ का तात्कालिक बोध है जो सही अर्थों में ज्ञान नहीं कहला सकता।

१. इण्डियन लॉजिक एण्ड ऐटोमिज़्म, पृष्ठ ७२-७३। अन्नंभट्ट अपनी 'दीपिका' (४२) में कहते हैं: "विशिष्टज्ञानं विशेषणज्ञानजन्यं विशिष्टज्ञानत्वात् ... इत्यनुमीतिः ... । विशेषणज्ञानस्यापि सविकल्पकत्वे अनवस्थाप्रसङ्गान्निर्विकल्पकसिद्धिः।" और देखिए 'सिद्धान्तमुक्तावली', ५८। विशिष्ट ज्ञान पदार्थ-विशेष (विशेष्य) का निर्णय अथवा ज्ञान है जो पदार्थ का गुण (विशेषण) बतलाता है। न्याय का मत है कि इस प्रकार के ज्ञान के लिए, कि यह घड़ा है, हमें केवल इन्द्रिय के विशेष्य पदार्थ (घड़े) के साथ सम्पर्क की ही आवश्यकता नहीं होती, बल्कि विशेषण (घटत्व) के पूर्वज्ञान की भी आवश्यकता है। इस पूर्वज्ञान को ही निर्विकल्प कहते हैं और इसका साक्षात् ज्ञान न होकर अनुमान किया जाता है। पूर्वमीमांसा तथा वेदान्त गुण के पूर्वज्ञान की आवश्यकता का निषेध करते हैं, और उनकी सम्मति में इन्द्रियां गुण और उसके विषय (पदार्थ) दोनों के सम्पर्क में आती हैं। इस मत की कि हमें पहले केवल घटत्व का निर्विकल्प ज्ञान होता है, मनोविज्ञान से पुष्टि नहीं होती। व्यापक विचार पहले चेतना में प्रकट नहीं होते। ज्ञान अनिश्चित से निश्चित की ओर बढ़ता है। घड़े का भाव तार्किक दृष्टि से, न कि कालक्रम की दृष्टि से, अनुभूत ज्ञान सम्बन्धी निर्णय से पहले होता है।

२. वस्तुस्वरूपमात्र : 'न्यायसार', पृष्ठ ३, ४, ८४-८६।

यह एक प्रकार की भेद-रहित, असम्बद्ध चेतनामात्र है, जो आत्मसात्करण, विभेदीकरण, विश्लेषण और समन्वय के कार्य से मुक्त है। इसे मूक, अव्यक्त तथा शाब्दिक प्रतिबिम्बों से मुक्त समझना चाहिए। सविकल्प प्रत्यक्ष ज्ञान चेतना की एक व्यवहित, भेद-प्रदर्शक एवं सम्बन्ध-निर्देशक अवस्था है जिसमें आत्मसात्करण और विभेदीकरण के परिणाम भी समाविष्ट हैं। यह व्यक्त, मूर्तरूप और निश्चित ज्ञान है। निर्विकल्प प्रत्यक्ष ज्ञान में जातिगत वैशिष्ट्य और सम्बन्ध अन्तर्निहित तो अवश्य हैं, किन्तु वे प्रकट होते हैं सविकल्प प्रत्यक्ष ज्ञान में ही। इस मत का समर्थन पार्थसारथि मिश्र ने किया है। निर्विकल्प प्रत्यक्ष अर्थात् इन्द्रिय-सम्पर्क से उत्पन्न अनुभव और सविकल्प प्रत्यक्ष जो प्रत्यक्ष ज्ञान का निर्णयात्मक रूप है दोनों एक ही प्रक्रिया के, जो प्रकृति से एक ही है, प्रारम्भिक और समुन्नत रूप हैं। निर्विकल्प प्रत्यक्ष क्योंकि तत्काल आगे नहीं बढ़ता, वह मूक और विश्लेषण-रहित है, जेम्स के शब्दों में "अपरिपक्व और अवाचिक अनुभव" है, इसलिए सत्य-असत्य का भेद इसके विषय में लागू नहीं होता।[1] 'पहले-पहल जब हम प्रकाश को देखते हैं तो, कण्डिलैक के शब्दों में, हम उसे देखने की अपेक्षा हम वही होते हैं।"[2] इसलिए साधारण बोध में भूल होने की सम्भावना नहीं है। प्रत्यक्ष ज्ञान सम्बन्धी निर्णय में, जहां कर्ता के विषय में कुछ विधान किया जाता है, तार्किक विवेचन की उत्पत्ति होती है, क्योंकि हमारा अपना निर्णय पदार्थ-सम्बन्धी व्यवस्था के अनुकूल हो भी सकता है और नहीं भी हो सकता। जब हम कहते हैं कि 'वह मनुष्य है', तो हमारा ज्ञान, जहां तक 'वह' शब्द का सम्बन्ध है, सत्य है, किन्तु जहां तक 'मनुष्य' शब्द का सम्बन्ध है, वह सत्य हो भी सकता है और नहीं भी हो सकता।[3]

विरोध में बौद्ध तार्किकों का कहना है कि सविकल्प प्रत्यक्ष ज्ञान व्यवहित होने के कारण पूर्वधारणा से स्वतन्त्र नहीं है। किन्तु निर्विकल्प प्रत्यक्ष ज्ञान पूर्वधारणा से स्वतन्त्र, अर्थात् कल्पनापोढ[4] है। निर्विकल्प प्रत्यक्ष ज्ञान में पदार्थ के गुणों, अर्थात्

१. देखिए नीलकण्ठकृत 'तर्कसंग्रहदीपिकाप्रकाश'।

२. जेम्स : 'प्रिंसिपल्स ऑफ साइकॉलॉजी', खण्ड २, पृष्ठ ४। और देखिए न्यायभाष्य ४ : २, ३७।

३. न्यायभाष्य ३ : २, ४५।

४. धर्मकीर्ति के अनुसार कल्पना विचार की वह क्रिया है जिसके द्वारा पदार्थ (विषय) को विशेष संज्ञा दी जाती है। "अभिलापसंसर्गयोग्यप्रतिभासप्रतीतिः कल्पना।" यह वह ज्ञान है जिसका सम्बन्ध शब्दों के साथ हो सकता है। जयन्त का मत है कि कल्पना से तात्पर्य उस सम्बन्ध से है जो एक पदार्थ का अपने सहायकों, अर्थात् जाति, गुण, क्रिया, नाम और द्रव्य के साथ रहता है ('न्यायमञ्जरी', पृष्ठ ९७)। बौद्धमत के अनुसार, व्यक्ति तथा जाति में, विशेष तथा सामान्य में, द्रव्य और गुण में कोई भेद नहीं है। हमारा सविकल्प प्रत्यक्ष जहां भेद नहीं है, वहां भेदों का आरोप करता है। हम गाय के अतिरिक्त गोजाति का प्रत्यक्ष नहीं करते, न गोरूपी द्रव्य का उसके गुणों से रहित प्रत्यक्ष करते हैं; और न गति ही उससे भिन्न है जो गति करता है। हम जब पदार्थ का नाम देते हैं तो हम उन वस्तुओं को, जो भिन्न-भिन्न हैं, एकसमान मान लेते हैं। जब हम कहते हैं कि 'यह चैत्र है' तो 'यह' एक पदार्थ का निर्देश करता है और 'चैत्र' एक शब्द का, और हमारा निष्कर्ष उन दोनों को एकसमान मान लेता है। इसी प्रकार द्रव्य का वर्ग उन पदार्थों में, जो तात्त्विक रूप से भिन्न-भिन्न हैं, एकात्मता अथवा सह-

सामान्यता, द्रव्यत्व, गुण, क्रिया, नाम आदि का ज्ञान नही होता, बल्कि यह केवल पदार्थ के स्वलक्षण[1], अर्थात् निजी अस्तित्व का ही ग्रहण कराता है। यथार्थ, जिसके हम सम्पर्क मे आते है, अवर्णनीय है और जिसका हम वर्णन करते है उसका क्षेत्र सामान्य प्रत्यय है। धर्मकीर्ति का कहना है कि प्रत्यक्ष ज्ञान का विषय स्वलक्षण है, जबकि व्यवहित ज्ञान का विषय सामान्य लक्षण है। उपस्थित पदार्थ अपूर्व, विशेष और क्षणिक है और जाना हुआ पदार्थ आदर्श सामान्य और स्थायी है।[2] जैसे ही हम किसी अनुभूत यथार्थ के विषय मे कुछ कहते है, हम उसका सम्बन्ध किसी अन्य वस्तु के साथ स्थापित कर देते है, और इस प्रकार यथार्थ अपनी प्रकृति को खो देता है तथा बुद्धि के द्वारा आविष्कृत भावो से आरोपित हो जाता है। हम श्रवणेन्द्रिय द्वारा भन-भन की सी आवाज सुनते हैं और यह आवाज यथार्थ है, किन्तु यह आवाज मक्खी की है या दूरस्थित वाष्प-सीटी की है यह हमारी अपनी कल्पना है। धर्मोत्तर का तर्क है कि मा के स्तन-तक का ज्ञान जो बच्चे को दूसरी बार होता है अपने पूर्वअनुभव के आधार पर ही होता है, और इसलिए यह ज्ञान भी विशुद्ध या अनिश्चित नही है। जैसाकि काण्ट ने कहा है, सभी संपर्क ऐसे रूप है जो हमारे मन द्वारा उपस्थित तत्त्वो पर आरोपित किए गए है और तभी वे ज्ञान के विषय बन सके है। सविकल्प ज्ञान मे हम यथार्थ को मरोडकर उसका रूप बदल देते हैं और इसीलिए वह अप्रामाणिक कहलाता है।[3] दिग्नाग की सम्मति मे द्रव्यो, गुणो तथा क्रियाओ का ज्ञान मिथ्या है।[4] बाह्य पदार्थ क्षणिक है और इसलिए वे जाने नही जा सकते।[5] रचनात्मक कल्पना क्षणिक अवस्था की एक ऐसी शृङ्खला मे परिणत कर देती है, जिसमे भूतकाल प्रविष्ट होता है और जो आगे की ओर भविष्य मे बढी होती है। विचार-जगत् अयथार्थ (अनर्थ) है। परमार्थसत् अनुभूत सवेदना है।[6] यह समस्त मत इन विचारकों की अध्यात्म-विषयक पूर्वकल्पनाओ द्वारा निर्धारित है। दिग्नाग एक विपर्ययविज्ञानवादी है जो समस्त ज्ञान को विशुद्ध मानसिक मानता है। यथार्थ के स्वरूप के प्रश्न को उसने अनिर्णीत ही छोड दिया है, यद्यपि प्रत्यक्ष-विषयक तथ्य उसे

समवाय का आरोप करना है। 'वह मनुष्य छडी लिए हुए है' इस वाक्य में 'मनुष्य' और 'छडी', जो एक-दूसरे से भिन्न हैं, एक ही अधिष्ठान में निहित कहे जाते है। इस प्रकार यह तर्क दिया जाता है कि ये वर्ग विचार की रचनाएं हैं (उसी स्थान पर)।

१. सजातीयविजातीयपरावृत्त स्वलक्षणम् ('न्यायमञ्जरी', पृष्ठ ६७)।

२. 'शास्त्रदीपिका' में ऐसा विचार प्रकट किया गया है कि सामान्य स्थापना कल्पना से उत्पन्न अयथार्थ वस्तुएं है : "विकल्पाकारमात्रं सामान्यम्, अलीकं वा" (पृष्ठ २७८)।

३. किन्तु काण्ट निर्विकल्प प्रत्यक्ष ज्ञान की सम्भावना का निषेध करता है जिसके द्वारा, बौद्ध की कल्पना में, केवलमात्र भेद का ही अन्तर्दृष्टि से ज्ञान होता है। तुलना कीजिए उसके इस प्रसिद्ध वक्तव्य के साथ कि "प्रत्यक्ष ज्ञान भावों के बिना अन्धा है और भाव बिना प्रत्यक्ष ज्ञान के खोखले हैं।" यद्यपि पूर्वतर मत के साथ इसका विरोध होता है जो 'प्रोलेगोमेना' (१८) में व्यक्त किया गया है और जिसमें प्रत्यक्ष ज्ञान के निर्णयों तथा अनुभवों के निर्णयों में भेद किया गया है।

४. देखिए यूई : 'वैशेषिक फिलासफी', पृष्ठ ६७।

५. ग्रहीतुम् (ज्ञानेन) प्रापयितुम् अशक्यत्वात् ('न्यायबिन्दुटीका', पृष्ठ १६)।

६. 'न्यायबिन्दु', पृष्ठ १०३।

यह स्वीकार करने को बाध्य कर देते हैं कि हम किसी यथार्थ सत्ता के सम्पर्क में आते हैं, चाहे वह क्षणिक ही क्यों न हो। धर्मकीर्ति अपने सौत्रान्तिक झुकावों के कारण अतिमानसिक यथार्थ सत्ताओं को स्वीकार करता है, जिससे कि प्रत्यक्ष ज्ञान की विविधता का समाधान हो सके, यद्यपि उनका क्षणिक रूप उनके ज्ञान को असम्भव बना देता है। वह संवेदनाओं को वैयक्तिक तथा उनके पदार्थ-सम्बन्धी संकेत को अनुमानगम्य मानता है।

नैय्यायिक बौद्धमत की कड़ी आलोचना करते हैं। उद्योतकर का तर्क है कि विशुद्ध इन्द्रिय-ज्ञान जो अपने-आपमे विशिष्ट और स्वत प्रज्ञात है और जो नाम या जाति के सम्मिश्रण से रहित है, एक असम्भव धारणा है। हमारा पदार्थ-विषयक ज्ञान अनिवार्य रूप से व्यापक (जातिमात्र मे सामान्य) रूप धारण कर लेता है।[1] बौद्धो का यह मत कि सभी सामान्य स्थापनाए काल्पनिक है क्योंकि केवल विशिष्ट पदार्थों का ही अस्तित्व है, नैय्यायिको को अमान्य है। उनका मत है कि सामान्य स्थापनाए उतनी ही यथार्थ है जितने कि वे पदार्थ-विशेष है जिनमे वे समवाय सम्बन्ध मे विद्यमान है। इस सम्बन्ध का ज्ञान या तो हमे सीधा प्रत्यक्ष ज्ञान द्वारा होता है या इस तथ्य से अनुमान द्वारा होता है कि हमे विशिष्ट पदार्थों के बारे मे यह अभिज्ञता होती है कि वे यथार्थ प्रकार के हैं। पदार्थों का स्वरूप ही अन्तिम साक्षी है जो स्वय प्रकट रूप मे हमारी चेतना को निर्धारित करता है। सम्बन्ध उपस्थित पदार्थों पर आरोपित नही किए जाते है बल्कि यथार्थ के स्वरूप मे ही भासित होते है। हमारी बोधशक्ति का कार्य यथार्थ की पूर्णता मे उस सम्बन्ध को केवल खोज निकालना है। यदि 'यथार्थ' में सम्बन्ध निहित नही है और ज्ञान का विषय सम्बन्धयुक्त है, तो हमे बुद्धिगत विषय और दृष्टिगत विषय के मिथ्या विरोध को स्वीकार करना पड़ेगा। ज्ञात विषय वैसा नहीं है जैसाकि विषय वस्तुत स्वय है। वह ज्ञाता और उद्दीपक पदार्थ के मध्य स्थित एक तृतीय दल है। किन्तु जैसाकि हमने देखा, न्यायदर्शन के अनुसार निर्विकल्प और सविकल्प प्रत्यक्ष ज्ञान तात्त्विक रूप मे एक ही है। सम्बन्ध शून्य से हठात् प्रकट नहीं हो जाते। वे निर्विकल्प ज्ञान मे विद्यमान है, यद्यपि हम सविकल्प ज्ञान मे ही उनके अस्तित्व से अभिज्ञ होते हैं। जयन्त का तर्क है कि सविकल्प ज्ञान का विषय अयथार्थ नहीं है, क्योंकि निर्विकल्प ज्ञान के द्वारा भी उसका बोध होता है। विचार-सम्बन्धी अवयवों अथवा स्मृति के विषयभूत तत्त्वों की उपस्थितिमात्र इन्द्रियों की सक्रियता में हस्तक्षेप नहीं करती। सविकल्प प्रत्यक्ष ज्ञान की जटिलता एक तार्किक दोष नहीं है। उसमें अन्तर्निहित विचार का प्रयोग उसकी प्रामाणिकता का समर्थन करता है। यदि सविकल्प प्रत्यक्ष उसीका ज्ञान कराता है जिसका ज्ञान पहले ही निर्विकल्प प्रत्यक्ष द्वारा हुआ है, तो यह कोई इस बात की दलील नही है कि वह सत्य नहीं हो सकता। नवीनता सत्य की कसौटी नहीं है। विचार-विषयक तत्त्व विकल्पमात्र नहीं हैं। सामान्य, जो प्रत्यक्ष ज्ञान का विषय है, केवलमात्र नाम ही नही है, क्योंकि नाम

१. न्यायवार्तिक १ : १, ४।

के अभाव में भी उसका ज्ञान होता है। दक्षिण भारत का निवासी जब उत्तर भारत में ऊँटों को देखता है तो वह उनकी सामान्यता को लक्ष्य करता है, चाहे उसे उक्त पशु के नाम का ज्ञान न हो। हम जब अपनी चारो उंगलियों को देखते है तो हम उनमें एक सामान्य भाव भी लक्ष्य करते है तथा उनके विशेष गुणों को भी लक्ष्य करते है। यदि हम पदार्थ के केवल विशेष रूप को ही ग्रहण करे तो हम दूसरी घटना का प्रथम के साथ सम्बन्ध स्थापित न कर सकेंगे। यदि यह तर्क दिया जाय कि जब हम दूसरी बार देखते है तो पहली बार का स्मरण हो आता है, तो जयन्त का कहना है कि पहले के स्मरणमात्र से कोई लाभ नही होगा, क्योंकि वह दूसरे के साथ सम्बद्ध नहीं है। यदि इसका तात्पर्य यह है कि दूसरे का ज्ञान पहले का संकेत देता है, क्योंकि दोनों एक ही वर्ग के है, तो यह स्पष्ट है कि पहले प्रत्यक्ष ज्ञान मे भी उसकी सामान्यता और विशेषता का भी ज्ञान हुआ था। निर्विकल्प प्रत्यक्ष ज्ञान मे सामान्य तथा विशिष्ट का ज्ञान अस्पष्ट रूप मे और सविकल्प प्रत्यक्ष ज्ञान मे स्पष्ट रूप मे होता है। बौद्ध विचारक भी यह अस्वीकार नही करते कि जब हमे किसी विशिष्ट पदार्थ का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है तो हमे सामान्यता (अनुवृत्ति ज्ञान) का भी बोध होता है। अब प्रश्न उत्पन्न होता है कि इस बोध (अनुवृत्तिज्ञानोत्पादिका शक्ति) का आधार क्या है, अर्थात् क्या यह विशिष्ट है अथवा उससे कुछ भिन्न है, नित्य है अथवा अनित्य है, प्रत्यक्ष होने योग्य है अथवा नही, क्योंकि यदि बोध मे कोई वैशिष्ट्य है तो बोध के विषय मे भी वैशिष्ट्य अवश्य होगा।[1] इसलिए सामान्य विशिष्ट से भिन्न है वह व्याप्त होने से नित्य है, जबकि विशिष्ट पदार्थ उत्पन्न होते तथा नष्ट होते है। और सामान्य यथार्थ है, चाहे वह प्रत्यक्ष ज्ञान का विषय हो या अनुमानगम्य हो। इस तर्क की कि सविकल्प प्रत्यक्ष ज्ञान पदार्थ के निर्देशक शब्द के स्मरण पर निर्भर करता है और पदार्थ के इन्द्रिय के साथ सीधे सम्पर्क पर निर्भर नही करता, इस आधार पर आलोचना की गई है कि यद्यपि सविकल्प प्रत्यक्ष इन्द्रियगृहीत ज्ञान तथा स्मृतिगत प्रतिबिम्ब का सम्मिश्रण है, तो भी प्रमुख अवयव इन्द्रिय सम्पर्क ही है, नाम की स्मृति सहायक अवयव है। कोई भी बोध प्रत्यक्ष जनित है अथवा नही, यह परिधिस्थ उत्तेजना की विद्यमानता अथवा उसके

१. विषयातिशयव्यतिरेकेण प्रत्ययातिशयानुपपत्तेः ('न्यायमञ्जरी', पृष्ठ ३१४)।

२. देखिए 'न्यायमञ्जरी' पृष्ठ ३०८–३११, ३१३–३१६। तुलना कीजिए न्याय के मत की सेण्ट टामस के इस मत के साथ कि मनुष्य के ज्ञान का मुख्य उद्देश्य एक ऐसी संश्लेषणात्मक एकता है जिसमें इन्द्रियां और बुद्धि दोनों का अनिवार्य भाग रहता है। व्यक्तित्व अथवा परिमाणात्मक वैशिष्ट्य तो इन्द्रियों द्वारा प्राप्त होता है और गुणात्मक एकत्व बुद्धि से। ज्ञान के उद्दिष्ट विषय के अन्दर सारतत्त्व का अन्तर्ज्ञान और विशेषों का ऐन्द्रिक ज्ञान ये सम्मिलित रहते है। यह न तो अकेला सारतत्त्व है जैसाकि डेकार्ट का विचार था और न अकेली इन्द्रियप्रदत्त सामग्री है जैसाकि अनुभववादियों (इम्पीरिसिस्ट्स) का विश्वास है। हम वस्तुओं का ज्ञान प्राप्त करते है, और वस्तुएं न तो अमूर्त सारतत्त्व हैं और न विषयनिष्ठ प्रतिबिम्ब हैं। सामान्यों को विशेषों से पृथक् करने का अर्थ होगा वस्तुओं में उक्त दोनों के एकत्व को न देखना।

अभाव पर निर्भर करता है।[1]

यहां हम, बौद्ध तथा नैय्यायिकों द्वारा समर्थित यथार्थता-सम्बन्धी विचारों में जो मौलिक विभिन्नता है, उसपर पहुंचते हैं। बौद्धों की धारणा है कि यथार्थ सत्ता साधारण 'यह' है, अर्थात् एक क्षणिक विशिष्ट जो अपने गुण के अन्दर बन्द है, जो काल के अन्दर, बराबर रहने अथवा देश के अन्दर विस्तार से सर्वथा स्वतन्त्र 'सर्वं पृथक्' है। समस्त सम्बन्ध स्वेच्छा से बाहर से कल्पना द्वारा फैलाया गया जाल है। इसके विपरीत, नैय्यायिक का तर्क यह है कि जिसका अस्तित्व है वह क्षणिक गुण नहीं है, बल्कि विशिष्ट पदार्थ है जिसके अन्दर विषयवस्तु की विविधता है। अनेकत्व के होते हुए भी वह एक रहता है। वह अनेकों में एक है। जहां तक वह दूसरों से पृथक् है वह अपने-आपमें विशिष्ट है; और जहां तक वह अपनी विविधता में एकसमान है वह सामान्य है, और अपनी इस समानता के कारण वह एक वर्ग का अंग भी है। प्रत्येक विशिष्ट पदार्थ के ये दो पहलू हैं। अणु-रूप विशिष्ट पदार्थ, जो सब प्रकार के विभेदों से रहित है और केवलमात्र सम्बन्ध जिसका कोई अन्तिम बिन्दु नहीं है, एक ऐसा मिथ्या विश्वास है जिसका समर्थन अनुभव से नहीं होता। तादात्म्य तथा विभेद एक पूर्ण इकाई के अन्दर ही पृथक्-पृथक् जाने जा सकते हैं, और ये ही जब स्वतन्त्र इकाइयों में बंटकर कठोर हो जाते हैं तो मिथ्या हो जाते हैं। आधुनिक मनोविज्ञान न्याय के इस मत का समर्थन करता है कि प्रस्तुत पदार्थ-गत विषय के दो पहलू हैं—इन्द्रियगम्य गुण और सम्बन्ध।

ऊपरी तौर पर विचार करने से हमें यह प्रतीत होता है कि अपरिपक्व इन्द्रिय संवेदनाएं, जो ज्ञान की उत्पादक सामग्री है, उच्चतम यथार्थ सत्ता हैं। किन्तु इस स्थिति को स्वीकार करना कठिन है कि मनुष्य की खण्ड-खण्ड संवेदनाएं ही वस्तुओं का यथार्थ तत्त्व है। अस्तव्यस्त पड़े असरूप पत्थर, ईंटें तथा लकड़ी मकान नहीं हैं। अनुभूत संवेदनाएं ज्ञान नहीं है। वर्तमान क्षण की परिधि मे आबद्ध सीमित ज्ञानवाद तो हमें सीधा बौद्धिक आत्मघात की ओर अग्रसर करेगा, क्योंकि उससे विचार-

१. 'न्यायकन्दली', पृष्ठ १९३। पार्थसारथि मिश्र का कथन है कि "सविकल्पम् अपि अनुपरतेन्द्रियव्यापारस्य, जायमानम् अपरोक्षावभासत्वान् प्रत्यक्षमेव" ('शास्त्रदीपिका', पृष्ठ १०३-४)। बौद्ध मतावलम्बी तर्क करते हैं कि सविकल्प प्रत्यक्ष साक्षात् नहीं है और न स्पष्ट ही है, यद्यपि इसके ठीक पूर्ववर्ती निर्विकल्प ज्ञान के साथ सम्बद्ध होने से यह ऐसा प्रतीत होता है। किन्तु यह एक कल्पना है। प्रभाचन्द्र ने भी बौद्धमत की आलोचना की है। अस्पष्टता केवल सविकल्प प्रत्यक्षों की ही विशेषता नहीं है। शीशे अथवा अभ्रक से छिपे दूरस्थित पदार्थों के प्रत्यक्ष ज्ञान अस्पष्ट होते हैं, चाहे वे निर्विकल्प हों चाहे सविकल्प। यदि सविकल्प प्रत्यक्ष इसलिए अप्रामाणिक है कि यह उसीको प्रत्यक्ष करता है जिसका बोध पहले हो चुका है, तो अनुमान भी अप्रामाणिक है, क्योंकि वह भी उसीका बोध कराता है जिसका बोध पहले सामान्य व्याप्ति के साहचार्य द्वारा हो चुका है। बौद्धमत के आधार पर सब पदार्थ क्षणिक हैं और इस प्रकार कोई प्रत्यक्ष ज्ञान सम्भव नहीं है। अनुमान में भी हम विषय के विशिष्ट व्यक्तित्व को ग्रहण नहीं करते हैं। किन्तु उससे आनुमानिक ज्ञान अप्रामाणिक नहीं हो जाता। शब्द और विचार विषयक सम्बन्धों की विद्यमानता का प्रामाणिकता के साथ कोई वास्ता नहीं है। भूल हो जाने की संभावना और क्रियात्मक कार्यक्षमता सविकल्प तथा निर्विकल्प दोनों प्रत्यक्षों में रहती है।

सम्बन्धी जीवन एक कल्पित कहानी-मात्र रह जाएगा। बौद्ध दार्शनिक निष्क्रिय अभिज्ञता का वास्तविकता के अनुभव के साथ तादात्म्य बतलाते हैं। वे हमें मानसिक आलोचना के शाप से मुक्त होने का आदेश देते हैं। परन्तु व्यवधानशून्यता के लिए उनका जोश एक पूर्वग्रहमात्र है। तथ्य के प्रति निष्ठा का अर्थ मानसिक आलोचना से मुक्ति तो नहीं है। मैं जब यह कहता हूं कि यह वस्तु, जिसे मैं अपने सम्मुख देखता हूं, नारंगी है, तो निश्चय ही मैं इस सम्बन्ध में जानबूझकर कोई आलोचनात्मक मूर्खता नहीं करता हूं। मानसिक आत्मबोध मानव-मस्तिष्क का स्वाभाविक कार्य है। मानव का मस्तिष्क कोई खाली कमरा तो है नहीं जिसमें इन्द्रियजन्य बोध तुरन्त घुस जाते हों। प्रत्येक इन्द्रियजन्य ज्ञान प्रेरणात्मक पदार्थ के सम्पर्क की क्रियात्मक प्रतिक्रिया है। हम जन्मजात विचारक हैं और इसलिए जो ज्ञान हमे उपलब्ध होता है उसकी व्याख्या किए बिना हम नहीं रह सकते। सवेदनाएं हमे एकदम सम्बन्ध-रहित प्राप्त नहीं होतीं। वे हमें विषयनिष्टता के भाव के साथ प्राप्त होती हैं। वे अन्य तत्त्वों के सम्मिश्रित पुञ्ज से घिरी हुई हमारे आगे प्रस्तुत होती है। आणविक 'अब' (वर्तमान) का कोई अस्तित्व नहीं है। आकाश-स्थित प्रत्येक बिन्दु के चारों ओर अन्य बिन्दु भी हैं, जैसेकि समय का प्रत्येक क्षण निरन्तर दूसरे क्षण में परिवर्तित होता रहता है। बौद्ध दर्शन के मत से इन्द्रिय और अवबोध (प्रतिपत्ति) भिन्न-भिन्न है और दोनों के कार्य भी एक-दूसरे से बिलकुल पृथक् है। इन्द्रियों द्वारा गृहीत सामग्री भिन्न-भिन्न विधियों से परस्पर एकत्र होकर ज्ञान के जगत् का निर्माण करती है। उक्त सामग्री में ऐसे सम्बन्ध जुड़े रहते है जिन्हे हमारा ज्ञान ही पृथक करके सुलझाता है। ज्ञान में यथार्थता का न तो हम निर्माण कर सकते है और न उसमें कोई परिवर्तन ही कर सकते हैं। इन्द्रियों द्वारा जो अस्पष्ट रूप मे ज्ञात होता है उसका स्पष्ट ज्ञान तब होता है जब हम अवबोध के क्षेत्र में पहुचते है। जो सम्बद्ध व तर्कसंगत है वही यथार्थ है। यथार्थता का स्वरूप न तो इन्द्रियों को प्राप्त होता है और न ही अवबोध को। वह केवल पूर्ण आत्मा को ही प्राप्त होता है।

धर्मकीर्ति प्रत्यक्ष ज्ञान के चार प्रकार स्वीकार करता है 'इन्द्रियजन्य ज्ञान, मानसिक ज्ञान (मनोविज्ञान), आत्मचेतना तथा यौगिक अन्तर्दृष्टि। इन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष ज्ञान में इन्द्रियां माध्यम का काम करती है। मानसिक ज्ञान को भी इन्द्रियजन्य ज्ञान के ही समान कहा गया है, क्योंकि दोनों एक ही श्रेणी के (एक सन्तान) हैं। यह ज्ञान इन्द्रियजन्य ज्ञान के अगले ही क्षण मे उत्पन्न होता है। एक प्रकार से यह कुछ-कुछ पश्चात्-बिम्ब है, क्योंकि धर्मोत्तर का कहना है कि "मानसिक ज्ञान तब तक उत्पन्न नहीं हो सकता जब तक कि आंख अपना काम कुछ समय के लिए बन्द न कर दे। यदि आंख क्रियाशील रहे तो हमे आकृति तथा दृष्टिशक्ति सम्बन्धी इन्द्रिय ज्ञान बराबर होते ही रहेगे।"[१] सुख और दुःख का आन्तरिक प्रत्यक्ष ज्ञान

१. एतच्च मनोविज्ञानम् उपरतव्यापारे चक्षुषि प्रत्यक्षमिष्यते। व्यापारवति तु चक्षुषि यद् रूपज्ञानं तत् सर्वं चक्षुराश्रितम् एव ('न्यायबिन्दुटीका', पृष्ठ १३)। तुलना कीजिए रिचर्ड सेमन के इस विचार के साथ कि हम संवेदनाओं का अनुभव दो रूपों में करते हैं, अर्थात् या तो मौलिक रूप में या स्मृति रूप

तीसरे वर्ग के अन्तर्गत आता है जिसे स्वसंवेदना या आत्मचेतना कहा गया है। हमें आत्मा के अस्तित्व का ज्ञान उसकी सुख या दु:ख जैसी भिन्न-भिन्न स्थितियों के ज्ञान के द्वारा होता है। यह सीधा अन्तर्ज्ञान है जिसके द्वारा जीवात्मा का आविर्भाव हमें होता है (आत्मम साक्षात्कारी)। यह बुद्धि के हस्तक्षेप से स्वतन्त्र है और इसीलिए इसमें भ्रम की संभावना भी नहीं हो सकती। प्रत्येक मानसिक व्यापार में इसका सहयोग विद्यमान रहता है। धर्मोत्तर ने इस स्वसंवेदना को और उस आत्मीयता तथा भावुकतापूर्ण आवेश को, जो प्रत्येक प्रत्यक्ष ज्ञान में उपस्थित रहता है, एकसमान बताया है। नव्यन्याय ने इसे परवर्ती उपज कहा है जो चेतना के ऊपर आच्छादित हो जाती है। गंगेश के मत से इसकी उत्पत्ति तब होती है जब हम कहते हैं कि "मैं जानता हूं कि यह एक बरतन है।" व्यवसाय अथवा सविकल्पज्ञान हमें किसी पदार्थ का ज्ञान कराता है, किन्तु इस ज्ञान को कि "मुझे पदार्थ का ज्ञान है" अनु अर्थात् पीछे से उत्पन्न होनेवाला व्यवसाय अथवा पश्चाद्ज्ञान कहा जाएगा। "यह एक घड़ा है" एक अवबोध है; "मैं जानता हूं कि यह घड़ा है," अनुव्यवसाय है, अर्थात् पदार्थ के अवबोध के पीछे होनेवाला ज्ञान है। सांख्य और वेदान्त का मत है कि चेतना की प्रत्येक वृत्ति पदार्थ को प्रकट करती है तथा अपने-आपको भी प्रकट करती है, जिसमें आत्मा सम्मिलित है। धर्मकीर्ति के मतानुसार, हम बौद्धधर्म के चार सत्यों को, जो

में। मौलिक संवेदना उत्तेजना के साथ-साथ एक ही समय में होती है और इस रूप में उत्तेजना के बन्द होने पर संवेदना भी नष्ट हो जाती है। किन्तु, समुद्र में आए हुए तूफान की भांति, जिसके समाप्त हो जाने पर जैसे उठी हुई लहरों को शनैः-शनैः शान्त होने में समय लगता है, उसी प्रकार उत्तेजना के शान्त होने पर भी संवेदना को समाप्त होने में समय लगता है। इन पश्चात्-बिम्ब प्रभाव को सेमन मौलिक संवेदना (akoluthic) की स्थिति की संज्ञा देता है। सेमन का कहना है कि मौलिक संवेदना अपने पीछे एक गहरा प्रभाव छोड़ जाती है जो अवसर पाकर तथा उचित अवस्था में एक ऐसी संवेदना को उत्पन्न करता है जिसे स्मृतिजन्य कहा जाता है और जो मौलिक नहीं होती। देखिए सेमन की 'नेमिक साइकोलॉजी'।

१. दीपिका, ३४।

२. न्याय वैशेषिक का मत कुमारिल के मत से भिन्न है। कुमारिल का मत है कि बोध का अनुमान पदार्थ की ज्ञातता से होता है। जैन दार्शनिकों, वेदान्तियों, तथा कुछेक बौद्धों का ऐसा विश्वास है कि बोध का बोध अपने से होता है। न्याय-वैशेषिक के अनुसार, बोध अपने ही ऊपर मुड़कर स्वयं बोध का विषय नहीं बन सकता। यह बोध परप्रकाशक है, स्वप्रकाशक नहीं है। यह एक अन्य बोध के द्वारा अभिव्यक्त होता है, क्योंकि यह एक कपड़े की भांति ज्ञान का विषय है (ज्ञानं ज्ञानान्तरवेद्यं प्रमेयत्वात् पटादिवत्)। उक्त मत की जो आलोचना जैन दार्शनिकों ने की है वह संक्षेप में इस प्रकार रखी जा सकती है : (१) जिस प्रकार सुख का बोध अपने-आपसे होता है दूसरे से नहीं, ईश्वरीय ज्ञान भी अपने-आपमें होता है दूसरे से नहीं, उसी प्रकार प्रत्येक आत्मबोध को भी स्वतः ज्ञान मानना चाहिए; अन्यथा, एक बोध को जानने के लिए दूसरे बोध की और उसके बोध के लिए एक अन्य बोध की आवश्यकता होगी और इस प्रकार इस शृंखला का कहीं अन्त न होगा। (२) इस थोथी युक्ति की आलोचना कि ईश्वर के अन्दर दो बोध हैं, एक तो वह जो समस्त विश्व का बोध ग्रहण करता है और दूसरा वह जो इस बोध का बोध ग्रहण करता है, सरलता के साथ हो सकती है। दूसरे बोध का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है या नहीं? यदि होता है तो अपने-आपसे होता है या किसी अन्य से? यदि अपने-आपसे

ज्ञान के साधारण साधनों की पहुंच से परे है, यौगिक अन्तर्दृष्टि से प्रत्यक्ष देखते हैं जो समस्त भ्रम से उन्मुक्त है और बौद्धिक दोष से भी रहित है,[1] यद्यपि स्वरूप में वह निर्विकल्प प्रत्यक्ष ही है। प्रत्यक्ष ज्ञान की नानाविध श्रेणियां है। बिल्लियां अंधेरे में भी पदार्थों को देख सकती हैं और गिद्ध अपने शिकार को बहुत दूर से ताक लेते हैं। निरन्तर ध्यान का अभ्यास करने से मनुष्य इन्द्रियातीत अर्थात् दिव्यदृष्टि प्राप्त कर सकता है, और समीप व दूर के, भूत और भविष्य के तथा सुदूर और दृष्टि से ओझल सभी पदार्थों का प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त कर सकता है।[2] इस अत्यन्त उच्च श्रेणी के अन्तर्ज्ञान में अन्तर्दृष्टि की व्यवधानशून्यता होती है। हमारी दृष्टि में जो चमत्कार प्रतीत होता है, ऋषियों के लिए वही एक प्राकृतिक देन है। हमारी विमूढ़ दृष्टि को जो अत्यन्त जटिल और रहस्यपूर्ण प्रतीत होता है, ऋषियों को वही हस्तामलकवत्

होता है तो क्यों न हम वही क्षमता पहले में भी मान लें? यदि दूसरे में होता है तो इस शृंखला का कहीं अन्त न होगा। यदि हम कहें कि दूसरे का ज्ञान पहले से होता है तो हम एक चक्रक दोष में आ जाते हैं। यदि दूसरे का प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं होता और यदि यह बिना अपना प्रत्यक्ष ज्ञान हुए पहले का प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त कर सकता है, तो क्या पहला अपना प्रत्यक्ष ज्ञान हुए बिना भी समस्त विश्व का प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकता? हमें स्वीकार करना ही होगा कि ईश्वरीय ज्ञान स्वतः ज्ञात है। समस्त विश्व का बोध ग्रहण करने में यह अपना बोध भी ग्रहण करता है। इस प्रश्न पर ईश्वरीय तथा मानवीय ज्ञान में कोई भेद नहीं है? अपने-आपको तथा अन्य को अभिव्यक्त करने का लक्षण (स्वपरप्रकाशक) चैतन्य के अन्दर है, वह चाहे मानवीय हो अथवा ईश्वरीय हो। किन्तु सर्वज्ञता सामान्य लक्षण नहीं है, क्योंकि इसका सम्बन्ध केवल ईश्वरीय चैतन्य के साथ है। (३) प्रत्यक्ष अथवा अनुमान द्वारा पश्चात्-बोध (अनुव्यवसाय) का कोई प्रमाण नहीं मिलता। न्याय के इस मत को कि अनुव्यवसाय में आत्मा का मन के साथ सम्पर्क रहता है, स्वीकार नहीं किया गया, क्योंकि मन का अस्तित्व असिद्ध है। (४) यदि एक बोध दूसरे से जाना जाता है तो जब तक पहला बना रहता है दूसरा उत्पन्न नहीं हो सकता, क्योंकि बोध पूर्वानुपर होते हैं। और जब पहला नष्ट हो गया तो यह उत्पन्न नहीं हो सकता, क्योंकि तब बोध करने को कुछ विषय नहीं रहा। यदि यह पहले ज्ञान का, जिसका अब अस्तित्व नहीं है, बोध ग्रहण करता है तो यह द्विगुण चन्द्रमा के बोध के समान एक भ्रान्ति है। (५) यदि दूसरे बोध का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है तो इसे अवश्य अन्य बोध के द्वारा होना चाहिए और इस प्रकार इस शृंखला का कहीं अन्त न होगा। यदि दूसरे बोध का प्रत्यक्ष नहीं होता तो स्वयं अज्ञात बोध पहले बोध का ज्ञान किस प्रकार करा सकता है? इसका अर्थ होगा कि मेरे बोध का ज्ञान किसी अन्य के बोध को हो सकता है जिसे मैं नहीं जानता। (६) इस प्रकार के तर्क पर कि जिस प्रकार ज्ञानेन्द्रियां नहीं जानी जातीं, यद्यपि वे पदार्थ के ज्ञान को उत्पन्न करती हैं, उसी प्रकार अज्ञात दूसरा बोध पहले बोध को उत्पन्न कर सकता है, गम्भीरतापूर्वक बल नहीं दिया जा सकता। क्योंकि, उस अवस्था में यह मानना होगा कि बाह्य विषय का पहला बोध अपने विषय का बोध ग्रहण करता है, यद्यपि वह अपने-आप अज्ञात है, और यह एक ऐसी स्थिति है जिसे न्याय-वैशेषिक अस्वीकार करता है ('प्रमेयकमलमार्तण्ड', पृष्ठ ३४ से आगे)।

१. और देखिए 'न्यायबिन्दुटीका', पृष्ठ १४–१५। देखिए वैशेषिक सूत्र, ६ : १, १३; इण्डियन लॉजिक एण्ड ऐटोमिज़्म, पृष्ठ ८१ से आगे।

२. 'न्यायमञ्जरी', पृष्ठ १०३। भासर्वज्ञ का मत है कि ईश्वर की कृपा से भी यौगिक शक्तियां प्राप्त की जा सकती हैं।

प्रत्यक्ष हो जाता है। यहां हरएक वस्तु रूपान्तरित है। सबसे निचले धरातल में पिण्डीभूत पदार्थों का सीधा-सादा इन्द्रियजन्य ज्ञान है और सर्वोच्च धरातल पर यौगिक अन्तर्दृष्टि है। प्रथम प्रकार का ज्ञान प्रकृत एकजन्मा मनुष्य का है, जबकि दूसरे प्रकार का ज्ञान आध्यात्मिक द्विजन्मा पुरुष का है। पहले प्रकार का ज्ञान आत्मान्वेषण का महान संघर्ष प्रारम्भ होने से पहले आता है, और दूसरे प्रकार का उस संघर्ष के अन्त में आता है। दूसरा ज्ञान एक सिद्धि है जो ज्ञान की परिपक्व अवस्था एवं आन्तरिक वेदना का परिणाम है। यौगिक अन्तर्दृष्टि यथार्थ का ज्ञान, जैसाकि वह है, उसकी पूर्णता और एकलयता में प्राप्त करती है।[1] यौगिक अन्तर्दृष्टि तथा ईश्वरीय सर्वज्ञता में इतना अन्तर है कि पहली उत्पन्न होती है और दूसरी नित्य है।[2]

गंगेश लौकिक तथा अलौकिक प्रत्यक्ष में भेद करता है। अलौकिक प्रत्यक्ष के तीन भेद है जो तीन प्रकार के अलौकिक सन्निकर्षों, अर्थात् सामान्य लक्षण, ज्ञानलक्षण और योगज धर्म द्वारा उत्पन्न होते हैं।[3] अन्तिम यौगिक अंतर्दृष्टि है। जब हम पदार्थों का जातिगत ज्ञान प्राप्त करते हैं तो यह सामान्य लक्षण है। प्राचीन न्याय सामान्यता के प्रत्यक्ष ज्ञान को स्वीकार करता है। गंगेश के अनुसार, सामान्यों के ज्ञान में बुद्धि के कार्य की विशेष महत्ता रहती है। किसी एक पदार्थ के जातिगत सामान्य धर्म के ज्ञान के द्वारा हम उस जाति के अन्य सभी पदार्थों को हर समय और हर स्थान में जानने में समर्थ होते है। यदि इस प्रकार का ज्ञान हरएक अवस्था में हो सके तब तो हम सर्वज्ञ होते प्रतीत होंगे। इस आपत्ति का उत्तर देते हुए विश्वनाथ कहते है कि हम इस प्रकार से उन सब पदार्थों का केवल सामान्य ज्ञान ही प्राप्त करते हैं किन्तु उनके पारस्परिक भेद को जान नही पाते। सामान्य धर्म का ज्ञान विना इद्रिय-सम्पर्क के होता है ऐसा कहा जाता है, क्योंकि ऐसी अवस्था मे भी, जहा हमे धुआ नहीं दिखाई देता, सामान्य धर्म का ज्ञान हो सकता है। वहा पर पदार्थ-विशेप और सामान्य धर्म दोनों ही प्रकट हैं, वास्तविक रूप मे विद्यमान है और उनका साक्षात् प्रत्यक्ष ज्ञान भी होता है। सामान्य धर्म मानसिक रचना नही है, बल्कि एक यथार्थ सारतत्त्व है जो पदार्थों के अन्दर निहित रहता है। यह सारतत्त्व हमें उन सब पदार्थों का स्मरण कराता है जिनमें इसकी प्रतीति होती है। सामान्य धर्म और पदार्थ-विशेष के सम्बन्ध का स्वरूप अभिन्न है और ये अवयवावयवी-भाव

१. समाधि के बल से प्राप्त जो अन्तर्दृष्टिजन्य ज्ञान ऋषियों का है उसे कभी-कभी प्रतिभा भी कहा जाता है, यद्यपि 'प्रतिभा' शब्द का प्रयोग प्रायः अन्तःप्रेरणाजन्य उस चमक के लिए होता है जो साधारण मनुष्यों में भी कभी-कभी दिखलाई पड़ती है (प्रशस्तपादकृत पदार्थधर्मसंग्रह, पृष्ठ २५८)।

२. प्रशस्तपाद योगियों की अन्तर्दृष्टि के दो भेद बताता है (प्रशस्तपादकृत पदार्थधर्मसंग्रह, पृष्ठ १८७)। 'न्यायकन्दली', पृष्ठ १९५ से आगे। और देखिए 'उपस्कार', ९ : १, ११।

३. और देखिए लौगाक्षि भास्करकृत 'तर्ककौमुदी', पृष्ठ ९ ; और विश्वनाथकृत 'भाषापरिच्छेद', विभाग ३।

से अर्थात् समवाय-सम्बन्ध से विद्यमान रहते हैं। सामान्य धर्म का ज्ञान ही अनुमान की प्रक्रियाओं द्वारा सामान्य सम्बन्धों की पूर्वानुभूति को सम्भव होने देता है।[1] जब हम चन्दन की लकड़ी को देखते हैं तो ज्ञान लक्षण हो जाता है, किन्तु सुगन्ध का ज्ञान घ्राणेन्द्रिय द्वारा ही होता है। चक्षु-इन्द्रिय के सन्निकर्ष के साथ-साथ सुगन्ध की स्मृति भी हो जाती है और उससे मन का सम्पर्क होता है। यह परोक्ष ज्ञान है। इसीका दूसरा नाम स्मृतिज्ञान भी है।

जैन दार्शनिकों का विचार है कि यह चेतना की एक मिश्रित स्थिति (समूहालम्बनज्ञानम्) है जिसमे चन्दन का दृष्टिगत होना तथा सुगन्ध का विचार एकसाथ मिश्रित है। 'वेदान्तपरिभाषा' का मत है कि ज्ञान के एक विषयवस्तु मे दो तत्त्व है, एक तात्कालिक ज्ञान और दूसरा व्यवहित ज्ञान[2], जबकि जैन तथा अद्वैतवादी अलौकिक सन्निकर्ष को नहीं मानते, नैय्यायिक इसे मानते हैं। वे चेतना की मिश्रित स्थितियों को स्वीकार नही करते। प्रत्येक मनोविकार अपने-आपमें एक इकाई है और भिन्न है तथा मन का सूक्ष्म-स्वरूप एकसाथ ही दो मनोविकारों की सम्भावना को असम्भव बनाता है इसलिए वे सुगन्धित चन्दन के चाक्षुष ज्ञान को एक साधारण मनोविकार मानते हैं, यद्यपि इससे पूर्व चन्दन का प्रत्यक्ष ज्ञान और सुगन्ध की स्मृति विद्यमान थी। श्रीधर और जयन्त का विचार है कि चाक्षुष ज्ञान सुगन्ध के पूर्वज्ञान की पुनरावृत्ति मे सम्बद्ध है, और सुगन्धित चन्दन का वर्तमान ज्ञान चक्षु इन्द्रिय की अपेक्षा मन के कारण अधिक है।[3] आधुनिक मनोविज्ञान इस घटना की व्याख्या प्रत्यय-साहचर्य (association of ideas) के सिद्धांत के आधार पर करता है। योगज धर्मलक्षण वह है जो समाधिस्थ ध्यान से उत्पन्न होता है।

प्रत्यभिज्ञा (पहचान) की घटना के स्वरूप का विवेचन जैसेकि "यह वही घडा है जिसे मैंने देखा था," यह ज्ञान साधारण है या मिश्रित, इसका विवेचन नैय्यायिकों ने किया है। क्या प्रत्यभिज्ञा की अवस्था दो ज्ञानों का सम्मिश्रण है--एक वह जो सीधा प्रत्यक्ष हुआ है, अर्थात् वह घडा जो दिखाई दिया और दूसरा जो स्मृति में है, अर्थात् वह घड़ा जिसके साथ वर्तमान घड़े का तादात्म्य है? क्या यह ऐसा ज्ञान है जो अंशत. प्रत्यक्ष है तथा अंशत स्मृति है जैसाकि प्रभाकर मानता है, या विशुद्ध स्मृति या विशुद्ध अनुभूति है? बौद्ध इसको अनुभवात्मक तथा स्मरणात्मक मानसिक अवस्थाओं का यांत्रिक सम्मिश्रण मानते है।[4] यह अकेला अनुभवात्मक या स्मरणात्मक मनोविकार नहीं है, क्योंकि इसका कारण केवल इन्द्रिय-सन्निकर्ष नहीं है क्योंकि भूतकाल के पदार्थ के साथ

१. 'वेदान्तपरिभाषा' (१) का मत है कि अलौकिकप्रत्यक्ष को स्वीकार कर लेने पर अनुमान तथा अन्य प्रमाण अनावश्यक ठहरते हैं

२. सुरभिचन्दनमित्यादिज्ञानमपि चन्दनखण्डांशे अपरोक्षं सौरभांशे तु परोक्षम् (१)।

३. देखिए 'न्यायमञ्जरी', पृष्ठ ४६१, और श्रीधरकृत 'न्यायकन्दली', पृष्ठ ११७।

४. और देखिए 'खण्डन', १ : १४।

इन्द्रिय-सन्निकर्ष हो नहीं सकता; और इसका कारण केवल संस्कार भी नहीं है, क्योंकि इस पहचान में 'यह' की चेतना विद्यमान है और यह इन दोनों का सम्मिश्रण भी नहीं है, क्योंकि दोनों पृथक्-पृथक् क्रिया करते हैं और दोनों के प्रभाव भी भिन्न हैं। यदि हम यह मान भी लें कि प्रत्यभिज्ञारूपी घटना अपने-आपमे एक पृथक् प्रभाव है तो प्रश्न उठता है कि इसका उद्दिष्ट पदार्थ क्या है ? भूतकाल की घटना उद्दिष्ट पदार्थ नहीं हो सकती, क्योंकि उस अवस्था मे प्रत्यभिज्ञा स्मृति से भिन्न नही ठहरती। भविष्य की घटना भी नहीं, क्योंकि उस अवस्था मे प्रत्यभिज्ञा तथा रचनात्मक कल्पना में कोई भेद न रहेगा। केवल वर्तमान पदार्थ भी नही हो सकती, क्योकि प्रत्यभिज्ञा का कार्य वर्तमान पदार्थ की भूतकाल के पदार्थ के साथ समता दिखाना है। इस प्रकार का मत प्रकट करना कि प्रत्यभिज्ञा के द्वारा ऐसे पदार्थ का ज्ञान होता है जो भूत, भविष्यत और वर्तमान में भी विद्यमान है, परस्पर-विरोधी कथन होगा। इसलिए नैय्यायिक का कहना है कि प्रत्यभिज्ञा एक प्रकार का विशिष्ट प्रत्यक्ष ज्ञान है जो हमे वर्तमान में अवस्थित पदार्थों का ज्ञान भूतकाल के गुणों के साथ विशिष्ट रूप मे कराता है। हम एक पदार्थ को देखते है और पहचानते है कि इसे पहले भी देखा था।[1] मीमांसक और वेदान्ती इस मत का समर्थन करते है, जबकि जैन दार्शनिको का तर्क है कि पहचानने की अवस्था यद्यपि साधारण है तो भी प्रत्यक्ष ज्ञान अथवा स्मृति से स्वरूप मे भिन्न है।[2] उनके अनुसार प्रत्येक प्रत्यक्ष ज्ञान मे अनुमान का अंश समाविष्ट रहता है। हम जिस समय एक वृक्ष को देखते हैं तो वस्तुत केवल उसके एक भाग को ही देखते हैं, अर्थात् ऊपर के भाग के एक पार्श्व को देखते हैं। हम इन्द्रियानुभव को पदार्थ के मूर्तरूप अथवा अर्थ के साथ संश्लिष्ट करते हैं और इस प्रकार हमे पदार्थ का प्रत्यक्ष होता है।[3] सम्पूर्ण पदार्थ का पूर्वज्ञान, और वर्तमान मे प्राप्त किए गए उसके आंशिक ज्ञान से सम्पूर्ण पदार्थ का अनुमान, ये प्रत्यक्ष ज्ञान के प्रत्येक कर्म मे समाविष्ट रहते है। स्मृति तथा अनुमान के तत्त्व सहायक है, किन्तु इन्द्रियजन्य ज्ञान मुख्य तत्त्व है। इन्द्रिय-सन्निकर्ष से जो भी मानसिक स्थिति उत्पन्न होती है वह प्रत्यक्ष ज्ञान है, भले ही उसमें अन्य तत्त्व भी जैसे स्मृति और अनुमान, क्यों न समाविष्ट हो।

गौतम की परिभाषा के अनुसार, भ्रान्तिरहित होना प्रत्यक्ष ज्ञान की विशिष्टता है। प्रत्येक इन्द्रियजन्य ज्ञान प्रामाणिक नही होता। साधारण प्रत्यक्ष मे निम्नलिखित विषय विद्यमान रहते है . (१) पदार्थ, जिसका प्रत्यक्ष ज्ञान होता है, (२) बाह्य माध्यम, जैसे चाक्षुष ज्ञान में प्रकाश, (३) इन्द्रिय, जिसके द्वारा पदार्थ का ज्ञान होता है, (४) मन अथवा मुख्य इन्द्रिय, जिसकी सहायता के बिना ज्ञानेन्द्रिया अपने पदार्थों पर कार्य नहीं कर सकतीं, और (५) जीवात्मा। यदि इन पाचो में से कोई एक भी ठीक-ठीक कार्य न करे तो भ्रमात्मक ज्ञान उत्पन्न होता है। बाह्य पदार्थों में या तो गति के

१. देखिए 'न्यायमञ्जरी', पृष्ठ ४४८ ४५९। 'मितभाषिणी' (विजयानगरम् संस्कृत सीरीज, पृष्ठ २५) में कहा है : "सोऽयं देवदत्त इत्यतीतवर्तमानकालविशिष्टविषयकं ज्ञानं प्रत्यभिज्ञा।"

२. 'प्रमेयकमलमार्तण्ड', पृष्ठ ६७–६८।

३. न्यायभाष्य, २ : १, ३०। और देखिए न्यायभाष्य, २ : १, ३१–३२।

कारण अथवा सादृश्य के कारण दोष हो सकते हैं। सादृश्य के कारण सीप चांदी दिखती है। यदि प्रकाश मन्द है तो हमें पदार्थ स्पष्ट रूप मे दिखाई नहीं पड़ेगा। यदि हमारी आंखों में कोई रोग है या वे अंशतः अन्धी है तो हमारे प्रत्यक्ष ज्ञान में भी दोष रहेगा। यदि मन किसी और जगह लगा है, या यदि जीवात्मा के अन्दर भावनावश उत्तेजना है, तो भ्रम उत्पन्न होगा।[1] भ्रमों के कारणों को तीन वर्गों मे बांटा गया है (१) दोष, अथवा इन्द्रिय में त्रुटि, जैसे आंख में पीलिया रोग होना, (२) सम्प्रयोग, अर्थात् पदार्थ का सम्पूर्णरूप में प्रकट न होना बल्कि उसके एक भाग या पहलू का ही गोचर होना, (३) संस्कार, अर्थात् स्वभाव अथवा मानसिक पक्षपात के विघ्नकारक प्रभाव के कारण असम्बद्ध स्मृतियों का उदय होना। रस्सी को देखकर उसमे सांप का भ्रम होता है, क्योंकि सांप की स्मृति जाग जाती है।[2]

स्वप्नों का स्वरूप अनुभवात्मक है और उसके उद्दीपक तत्त्व बाह्य तथा आभ्यन्तर दोनों ही प्रकार के होते है। उनकी उत्पत्ति अवचेतन संस्कारो के पुनर्जीवन से होती है जिसका कारण इन्द्रिय-सम्बन्धी हलचलें तथा पिछले पुण्य व पाप होते है। भविष्यवाणीपूर्ण स्वप्न, जिनका अस्तित्व अरस्तू तक ने स्वीकार किया है,[3] प्रेतात्माओं के प्रभाव से उत्पन्न होते हैं, ऐसा कहा जाता है।

कणाद स्वप्नों का कारण मुख्य इन्द्रिय, मन, के साथ आत्मा का संयुक्त हो जाना बताता है, जिसमें पिछले अनुभवो के अवचेतना मे पड़े हुए सस्कार सहायक होते हैं।[4] प्रशस्तपाद की दृष्टि मे स्वप्न मन के द्वारा किए गए आभ्यन्तर प्रत्यक्ष के कारण होते हैं, जबकि इन्द्रियां निद्रा मे दबी होती हैं और कार्य करना बन्द कर देती है।[5] पूर्वानुभूत ज्ञान के अवशिष्ट प्रभावों के आधार पर, शारीरिक वात, पित्त कफ (त्रिदोष) के वैषम्य के कारण और अदृष्ट शक्तियों के कारण स्वप्नों की उत्पत्ति होती है। श्रीधर का कहना है कि स्वप्न केवल पूर्वानुभवों की पुनरुत्पत्ति ही नहीं है। उसका मत है कि वे केन्द्र की आभ्यन्तर उत्तेजनाओं से उत्पन्न होते है।[6] उदयन अपनी भिन्न सम्मति रखता है। उसके अनुसार, परिधिस्थ अंग स्वप्न की अवस्थाओं में कार्य करना बन्द नहीं करते। वह यह भी स्वीकार करता है कि स्वप्न कभी-कभी सच्चे निकलते हैं।[7] प्रभाकर, अपने सामान्य दृष्टिकोण के अनुरूप पूर्वानुभवों की पुनरुत्पत्ति को ही स्वप्न बताता है, जो स्मृति के धुंधलेपन (स्मृतिप्रमोष) के कारण चेतना को तुरन्त प्रस्तुत हुए प्रतीत होते हैं। पार्थसारथि स्वप्नावस्था को स्मृति के समान

१. 'न्यायमञ्जरी', पृष्ठ ८८–८९, १७३। २. 'न्यायबिन्दुटीका', पृष्ठ १२।
३. गौम्पर्ज : 'ग्रीक थिंकर्स', खण्ड ४, पृष्ठ १८५।
४. वैशेषिक सूत्र, ९ : २, ६–७।
५. प्रशस्तपादकृत पदार्थधर्मसंग्रह, पृष्ठ १८३; 'उपस्कार', ९ : २, ७।
६. मनोमात्रप्रभवं स्वप्नज्ञानम्।
७. स्वप्नानुभवस्यापि कस्यचित्सत्यत्वम्। 'कुसुमाञ्जलि', पृष्ठ १४७।

बतलाता है ।[1] प्रशस्तपाद स्वप्न ज्ञान और उस ज्ञान के मध्य जो निद्रा अथवा 'स्वप्न के समीप (स्वप्नान्तिक) होता है, भेद करता है । स्वप्नान्तिक में स्वय स्वप्नगत अनुभवों की स्मृति होती है । भ्रान्ति, जिसका आधार (अधिष्ठान) कोई न कोई भौतिक तत्त्व होता है, उस माया व इन्द्रजाल से भिन्न है जिसका कुछ भी अधिष्टान नहीं है, अर्थात् जो निरधिष्ठान है । श्रीधर उदाहरणरूप में एक ऐसे व्यक्ति को रखते है जो किसी स्त्री के प्रेम मे अन्धा हुआ-हुआ हर जगह अपनी प्रेयसी ही का रूप देखता है ।[2]

७
अनुमान-प्रमाण

अनुमान का यौगिक अर्थ है 'किसी वस्तु के पश्चात् मापना' । यह वह ज्ञान है जो अन्य ज्ञान के पश्चात् आता है । चिह्न (लिंग) के ज्ञान मे हम उस पदार्थ का ज्ञान प्राप्त करते हैं जिसमे वह चिह्न विद्यमान हो । अनुमान शब्द का प्रयोग बहुत व्यापक अर्थों में होता है जिनमें निगमन (deduction) और आगमन (induction) दोनों प्रकार की प्रक्रिया आ जाती है । अनुमान की परिभाषा कभी-कभी इस प्रकार की जाती है : ऐसा ज्ञान जिससे पूर्व प्रत्यक्ष ज्ञान आवश्यक है । वात्स्यायन की सम्मति में, "प्रत्यक्ष ज्ञान के अभाव में अनुमान हो ही नहीं सकता ।" केवल उसी अवस्था मे जबकि देखनेवाला आग और धुएं को एक-दूसरे के साथ सम्बद्ध देख चुका है, तो वह दूसरी बार धुएं को देखकर वहां पर आग की उपस्थिति का भी अनुमान कर सकता है ।[3] उद्योतकर ने प्रत्यक्ष ज्ञान और आनुमानिक ज्ञान मे भेदजनक कुछ चिह्नों का निर्देश किया है । यथा : (१) योगजन्य अन्तर्दृष्टि को छोडकर अन्य समस्त प्रत्यक्ष ज्ञान एक ही प्रकार का है, किन्तु अनुमान में विविधता है; (२) प्रत्यक्ष ज्ञान केवल वर्तमान में विद्यमान ऐसे पदार्थों तक ही सीमित है जो इन्द्रियों की पहुंच के अन्दर आते हैं जबकि अनुमान भूतकाल, वर्तमान और भविष्य के पदार्थों से भी सम्बन्ध रखता है; (३) अनुमान में सामान्य सम्बन्ध या व्याप्ति के स्मरण की आवश्यकता है, जबकि प्रत्यक्ष ज्ञान में नहीं है ।[4] जहां प्रत्यक्ष ज्ञान हो सकता है वहां अनुमान के लिए कोई स्थान नहीं है ।[5] हमारी इन्द्रियों की पहुंच के अन्दर जो पदार्थ हैं उनके ज्ञान के लिए हमें विशेष विचार करने की आवश्यकता नहीं होती ।[6] अनुमान का विषय "न तो वह पदार्थ है जो अज्ञात है और न वह पदार्थ है जिसका ज्ञान निश्चित रूप से है । केवल वही पदार्थ अनुमान के

१. स्मृतिरेव तावत् स्वप्नज्ञानमिति निश्चीयते । श्लोकवार्तिक पर न्यायरत्नाकर, पृष्ठ २४३ ।

२. 'न्यायकन्दली', पृष्ठ १७६ ।

३. न्यायभाष्य, २ : १, ३१ ।

४. न्यायवार्तिक, २ : १, ३१ ।

५. प्रत्यक्षत्वादनुमानाप्रवृत्तेः (शाङ्कर : ड्यूसन्स सिस्टम ऑफ दि वेदान्त, आंग्लभाषानुवाद, पृष्ठ ८८ टिप्पणी) ।

६. घटोऽयमिति विज्ञातुं नियमः कोऽन्वपेक्षते ।

क्षेत्र के अन्तर्गत आते है जिनके अस्तित्व मे सन्देह है।"[1] इसका उपयोग यथार्थ के ऐसे भाग के ज्ञान के लिए किया जाता है जिसका प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं होता। प्रत्यक्ष पदार्थ ऐसी वस्तु की ओर निर्देश करता है जो प्रत्यक्ष तो नहीं है किन्तु जिसका सम्बन्ध उसके साथ अवश्य है। भासर्वज्ञ ने अपने 'न्यायसार' मे अनुमान की परिभाषा करते हुए कहा है कि यह इन्द्रियगोचर क्षेत्र से परे उस पदार्थ को जानने का साधन है जो इन्द्रियों के विषय के साथ अभिन्न सम्बन्ध रखता है। गगेश[2] शिवादित्य[3] का अनुसरण करते हुए अनुमानजन्य ज्ञान की परिभाषा करता है कि ऐसा ज्ञान जिसकी उत्पत्ति अन्य ज्ञान के द्वारा हो।

गौतम अनुमान के तीन भेद बताते है : पूर्ववत्, शेषवत् और सामान्यतोदृष्ट[4]। और वात्स्यायन इस विभाग की थोडी भिन्न व्याख्या करता है, जिससे पता लगता है कि वात्स्यायन के पूर्व भी न्यायसूत्रों की परस्पर-विरोधी व्याख्याए विद्यमान थीं। अनुमान में हम प्रत्यक्ष से अप्रत्यक्ष की ओर जाते है जिससे वह सम्बद्ध है। और यह सम्बन्ध तीन प्रकार का हो सकता है—अनुमेय तत्त्व या तो प्रत्यक्ष तत्त्व का कारण हो सकता है, या उसका परिणाम हो सकता है, अथवा दोनों ही किसी अन्य तत्त्व के संयुक्त परिणाम हो सकते हैं। जब हम बादलो को देखते है और उनसे वर्षा का अनुमान करते हैं तो यह 'पूर्ववत्' अनुमान है, जिसमे हम पूर्ववस्तु को देखकर परिणाम रूपी परवर्ती वस्तु के अस्तित्व का अनुमान करते हैं। परन्तु इस अवस्था मे अनुमान केवल कारण ही को देखकर नहीं किया गया, बल्कि पूर्व-अनुभव के आधार पर भी किया गया है। जब हम नदी मे आई हुई बाढ को देखते है और अनुमान करते हैं कि वर्षा हुई होगी, तो यह शेषवत् अनुमान है, क्योंकि इसमे हम परवर्ती परिणाम को देखकर उसके पूर्ववर्ती कारण का अनुमान करते है। इसका प्रयोग ऐसे स्थान पर भी होता है जहा हम दो परस्पर सम्बद्ध पदार्थों मे से एक को देखकर दूसरे का अनुमान करते हैं, अथवा एक भाग मे या निरसन (elimination) विधि से दूसरे का अनुमान करते है। निरसन अथवा बहिष्कार (exclusion) विधि के सिद्धान्त का एक दृष्टान्त वह है जिससे शब्द के गुण होने का अनुमान किया गया है। हम सिद्ध करते हैं कि शब्द सामान्य नहीं है, न विशेष ही है, समवाय भी नही है, न द्रव्य है, और न क्रिया है। इस प्रकार हम इस परिणाम पर पहुचते हैं कि इसे गुण होना चाहिए। जब हम

१. न्यायभाष्य, १ : १, १।

२. 'तत्त्वचिन्तामणि', २ ; पृष्ठ २। तुलना कीजिए माणिक्यनन्दी की अनुमान की इस परिभाषा मे कि "साधनात् साध्यविज्ञानम्' ('परीक्षामुख सूत्र')।

३. 'सप्तपदार्थी', १४६।

४. तुलना कीजिए, पूर्वमीमांसा सूत्र, १ : २, १६, २२, २३, २६; ३ : १, ३-२ ; ३, २-१, जहां 'पूर्व' और 'शेष' ये शब्द तार्किक दृष्टि मे वाक्य अथवा पैराग्राफ के प्रारम्भिक और अन्तिम भागों के लिए आते हैं, और कभी-कभी विधि तथा अर्थवाद का उल्लेख करने में प्रयुक्त होते हैं। पूर्व प्रधान अथवा प्राथमिक तथा शेष गौण है। यह प्रकट है कि पूर्वमीमांसा में शेष द्वारा किया गया तर्क गौण से प्रधान की ओर होगा। सम्भवतः न्याय ने प्रधान तथा गौण के सम्बन्ध को कारण-कार्य सम्बन्ध मानकर व्याख्या की है। देखिए प्रोफेसर ध्रुव का लेख 'त्रिविधम् अनुमानम्' पर, जो 'प्रोसीडिंग्स ऑफ दि ओरियण्टल कांफ्रेंस,' पूना में पृष्ठ २६५ पर दिया गया है।

किसी सींगों वाले पशु को देखते हैं और अनुमान करते हैं कि इस पशु के पूंछ भी है, तो यह सामान्यतोऽदृष्ट अनुमान का विषय है। इस अनुमान का आधार कार्य-कारण-भाव उतना नहीं है जितना कि अनुभव की समानता है। उद्योतकर इससे सहमत है और वह एक दृष्टान्त यह देता है कि जैसे किसी स्थान पर यदि सारस पक्षी दिखाई दें तो वहां पानी भी विद्यमान होगा, ऐसा अनुमान होता है। इसका (सामान्यतोऽदृष्ट का) उपयोग इन्द्रियातीत तथ्यों के अनुमान का निर्देश करने के लिए भी किया गया है।[1] हम धूप वाले भिन्न-भिन्न स्थानों को देखते है, और यद्यपि सूर्य को न भी देख सकें तो भी अनुमान कर लेते है कि सूर्य अवश्य गतिमान है। विरक्ति तथा स्नेह आदि भावों को देखकर हम जीवात्मा के अस्तित्व का अनुमान करते है, जिसका हमे प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं होता।[2]

उक्त सब दृष्टान्त यह प्रतिपादित करने के लिए पर्याप्त हैं कि एक व्यापक सम्बन्ध की, जिसे व्याप्ति कहा जाता है, विद्यमानता को स्वीकार करना आवश्यक है। प्रत्येक व्याप्ति दो तत्त्वों को जोडती है --एक व्यापक, अर्थात् जो फैला हुआ है; और दूसरा व्याप्य, अर्थात् जिसमें वह (व्यापक) फैला है। अनुमान इस निश्चित तथ्य से कि इस पदार्थ में एक ऐसा गुण है जो एक अन्य गुण के साथ सहचारी रूप से व्याप्त पाया जाता है, एक निष्कर्ष पर पहुंचता है। हम इस विषय का निश्चय, कि पहाड़ में आग लगी है, इस तथ्य से करते है कि पहाड में धुआ है, और धुए के साथ आग सर्वत्र रहती है। चिह्न के विचार से अर्थात् धुएं से हम अनुमान करते है कि वह पदार्थ जिसमे धुआं है उसमें आग भी है। उद्योतकर के अनुसार अनुमान, चिह्न तथा स्मृति के एकसाथ मिलने से बने तर्क से उत्पन्न होता है[3] अथवा उस ज्ञान से जिसके पूर्व हेतु का प्रत्यक्ष ज्ञान हुआ

१. कीथ का विचार है कि यह व्युत्पत्ति (अर्थ) असम्भव है (इण्डियन लॉजिक एण्ड ऐटोमिज्म, पृष्ठ ८८ टिप्पणी)।

२. उद्योतकर वात्स्यायन, द्वारा दिए गए अनुमान-विषयक इस दृष्टान्त की आलोचना करता है कि भिन्न-भिन्न स्थानों मे और भिन्न-भिन्न समयो मे सूर्य के प्रकट होने से यह अनुमान होता है कि सूर्य गतिमान है। उसका कहना है कि हम सूर्य के गोले के भिन्न-भिन्न भागों ही को देखते हैं, सूर्य की गति को नहीं देखते। यह ध्यान में रखना चाहिए कि उद्योतकर, पूर्ववत्, शेषवत् तथा सामान्यतोऽदृष्ट को अनुमान के तीन प्रकार नहीं मानता, बल्कि प्रामाणिक अनुमान की तीन शर्तें मानता है: (१) पूर्ववत् का अभिप्राय है कि मध्यम पद (हेतु) पूर्व, अर्थात् साध्य के साथ अनिवार्य साहचर्य में होना चाहिए; (२) शेषवत् का अभिप्राय है कि मध्यम पद (हेतु) अन्य (शेष) स्थानों पर साध्य के साथ अनिवार्य साहचर्य में दिखाई देना चाहिए; (३) सामान्यतोऽदृष्ट शब्द सामान्यतः और अदृष्ट इन दो शब्दों से मिलकर बना है और इसका अभिप्राय है कि मध्यम पद (हेतु) विधेय (साध्य) तथा विधेय के अभाव (साध्याभाव) दोनों में एकसमान नहीं होना चाहिए अर्थात् यह अतिव्याप्ति दोष से युक्त नहीं होना चाहिए, जो साधारण का हेत्वाभास है। इसके साथ दो अन्य शर्तों को भी, जो 'च' से उपलक्षित होती है, सूत्र के अन्त में जोड़ दिया गया है, अर्थात् अनुमान को प्रत्यक्ष ज्ञान तथा श्रौत (श्रुति-विषयक) प्रमाण का विरोधी नहीं होना चाहिए। एक अन्वयव्यतिरेकी अनुमान में इन पांचों शर्तों की पूर्ति होनी चाहिए और केवलान्वयी अथवा केवलव्यतिरेकी अनुमान में चार शर्तों की पूर्ति होनी चाहिए।

३. स्मृत्यनुगृहीतो लिङ्गपरामर्शोऽनुमानम् (न्यायवार्तिक, १ : १, ५)।

है और इस स्मृति से कि उसका साध्य के साथ निरन्तर साहचर्य है, उत्पन्न होता है। अनुमान-विषयक तर्क के भिन्न-भिन्न अवयव परार्थानुमान में प्रकट होते हैं।

८
परार्थानुमान

परार्थानुमान के पांच अवयव है : (१) प्रतिज्ञा, अर्थात् वह विषय जिसे सिद्ध करना है : पहाड़ में आग लगी है ; (२) हेतु, अथवा कारण : क्योंकि इसमें धुआं है; (३) उदाहरण, अथवा सादृश्यनिदर्शक दृष्टान्त : जहां-जहां धुआ दिखाई देता है वहा-वहां आग भी रहती है, उदाहरण के रूप में रसोईघर ; (४) उपनय, अथवा प्रयोग : इसी प्रकार का यह पहाड़ भी है ; (५) निगमन, अथवा निष्कर्ष : इसलिए पहाड़ पर आग लगी हुई है।[1]

प्रतिज्ञा एकदम प्रारम्भ मे ही उस विषय को प्रस्तुत करती है जिसे सिद्ध करना है। यह समस्या प्रस्तुत करती है और जांच की सीमा का भी निर्धारण कर देती है। सुझाव अथवा प्रस्तावित विषय, जिसे सिद्ध करना है, प्रारम्भ से ही प्रक्रिया पर नियन्त्रण रखता है और अनुमान उसे सुदृढ़ करने मे शक्ति देता है। प्रतिज्ञा केवल एक 'प्रस्ताव या सम्भावनामात्र' है।[2] तर्क आगे बढ़ ही नहीं सकता जब तक कि हम प्रतिज्ञा में उपस्थित विषय के सम्बन्ध में अधिकाधिक ज्ञान प्राप्त करने की आकांक्षा प्रकट न करे। प्रतिज्ञा के दो भाग होते है, अर्थात् एक उद्देश्य जिसका ज्ञान होता है और जो आम तौर पर या तो एक व्यक्तिरूप पदार्थ होना है या कोई वर्ग-विशेष होता है जिसे एक इकाई के रूप में स्वीकार किया जा सकता है,[3] और दूसरा भाग विधेय है जिसको सिद्ध करना होता है। 'पहाड़ पर आग लगी हुई है', इस वाक्य में 'पहाड़' उद्देश्य पक्ष अथवा धर्मी है, और 'आग लगी' यह विधेय अर्थात् साध्य, धर्म अथवा अनुमेय है, अर्थात् जिसका अनुमान किया जाना है। उद्देश्य हमारे ध्यान को यथार्थ के एक भाग की ओर आकृष्ट करता है, और विधेय उद्देश्य को विशिष्ट बना देता है, यह बताकर कि इसमें अमुक गुण विद्यमान है या यह उन पदार्थो के वर्ग में शामिल है जो अमुक गुण रखते हैं। परार्थानुमान का कार्य यह सिद्ध करना है कि प्रत्यक्ष ज्ञान के विषयरूपी उद्देश्य में वह विशेषता है जिसका विधेय मे निर्देश किया गया है। संयोजक अथवा विधेय

१. न्यायसूत्र, १ : १, ३२। तुलना कीजिए प्रशस्तपाद द्वारा दी गई संज्ञाओं से (प्रशस्तपाद-कृत पदार्थधर्मसंग्रह, पृष्ठ २३३) : प्रतिज्ञा, अपदेश, निदर्शन, अनुसंधान और प्रत्याम्नाय। पारिभाषिक शब्दों का यह भेद प्रदर्शित करता है कि वैशेषिक के तार्किक विचारों का स्वतन्त्र रूप में विकास हुआ। वात्स्यायन निर्देश करता है कि परार्थानुमान में ऐसे अंश हैं जो भिन्न-भिन्न प्रमाणों से आए हैं। पहला शाब्दिक है, दूसरा आनुमानिक है, तीसरा प्रत्यक्ष-सम्बन्धी है, चौथा उपमान-सम्बन्धी है, और निष्कर्ष प्रदर्शित करता है कि ये सब उसी समस्या पर आधारित हैं (न्यायभाष्य, १ : १, १)।

२. न्यायभाष्य, १ : १, ३१।

३. न्यायसूत्र, २ : २, ६६।

वाचक•क्रियापद भाषा का एक आकस्मिक पद है, यह प्रतिज्ञा का आवश्यक भाग नही है।[1] प्रतिज्ञा को प्रत्यक्ष ज्ञान के अथवा आम्नाय (श्रुति) के विरुद्ध न होना चाहिए। विङ्नाग के• अनुसार ऐसी प्रतिज्ञाए जो बुद्धिगम्य नहीं हैं, स्वय मे विरोधी हैं, अथवा स्वत प्रकाश्य हैं, प्रतिपाद्य विषय नही बन सकती।[2] उनमे अपरिचित पद नहीं रहने चाहिए तथा वे स्वीकृत सत्यधारणाओ के विपरीत नहीं होनी चाहिए और अपने सुनिश्चित विश्वासों के विपरीत नही होनी चाहिए।[3] यह पता लगाने के लिए कि 'क' 'ख' है, यह प्रतिज्ञा सत्य है अथवा नही, हम पक्ष को लेते है, उसके पृथक्-पृथक् तत्त्वों का विश्लेषण करते है, उसके अन्दर हेतु की विद्यमानता को खोजते है। प्रत्येक तर्क मे प्रतिज्ञा के बाद पक्ष का विश्लेषण आता है। परार्थानुमान का दूसरा अवयव पक्ष मे हेतु, या आधार, साधन, या सिद्ध करने के उपाय, लिग या चिह्न की विद्यमानता को बताता है। इससे उसमे ऐसा विशिष्ट लक्षण (पक्षधर्मता) प्राप्त होता है कि यह निष्कर्ष का विषय बन जाता है। पहाड मे धुआ दिखाई देता है। पक्षता अनुमान की एक आवश्यक शर्त है। कोई भी पहाड पक्ष नही है। यद्यपि जैसे ही हमे उसमे धुआ दिखाई देता है और हम अनुमान से यह सिद्ध करना चाहते है कि उसमे आग भी है, वह पक्ष बन जा सकता है। किन्तु यदि हमें उसमे आग भी दिखाई देती है, तो पहाड पक्ष नही रहता। अन्न भट्ट ने पक्ष की परिभाषा इस प्रकार की है कि पक्ष वह कर्ता है जिसमे विधेय या साध्य का होना संदिग्ध है।[4] पक्ष पद से अधिक प्रस्तुत विषय है। परार्थानुमान के लिए आवश्यक तीन पद अब हमारे पास हो गए है, एक पक्ष, जिसके विषय मे किसी बात का अनुमान किया गया है, दूसरा साध्य, जिसका अनुमान पक्ष के विषय मे किया गया है, और तीसरा हेतु, जिसके द्वारा पक्ष के विषय मे साध्य की सत्यता का अनुमान किया गया है।

हेतु के पक्ष मे विद्यमान होने मात्र से ही, जिसे पक्षधर्मता कहते है, अनुमान तब तक प्रामाणिक नही हो सकता जब तक कि एक व्यापक सम्बन्ध हेतु और साध्य के बीच मे स्थापित न हो। तीसरा अवयव, उदाहरण, 'जहा-जहा धुआ है वहा-वहा आग रहती है। जैसे रसोईघर मे,' हमे अनुमान के आधार, साध्यपद की ओर ले जाता है। गौतम के अनुसार, उदाहरण से तात्पर्य एक ऐसे समान दृष्टान्त से है जहा साध्य का आवश्यक गुण विद्यमान हो। वात्स्यायन का भी यही मत प्रतीत होता है। यहां हमे यह जताने की आवश्यकता नही है कि ये दोनो विचारक 'उदाहरण' को एक सामान्य नियम के दृष्टान्तरूप मे स्वीकार करते है। सम्भवतः उनका विचार यह था कि समस्त तर्क विशिष्ट से विशिष्ट की ओर है। कुछेक विशिष्ट पदार्थों में एक विशेष गुण रहता है। एक या अनेक विशिष्ट पदार्थ उनके साथ कुछ अन्य गुणों मे सादृश्य रखते है। इसलिए वे उस विशेष गुण मे भी उनके साथ सादृश्य रखते है। यह हो सकता है कि न्यायशास्त्र का परार्थानुमान उदाहरण द्वारा प्रस्तुत तर्क से

१-२. देखिए 'हिस्टरी ऑफ इण्डियन लॉजिक', पृष्ठ २९० । और देखिए प्रशस्तपादकृत पदार्थधर्मसंग्रह, पृष्ठ २३४, और वैशेषिक सूत्र, ३ : १, १५ ।

३. और देखिए प्रशस्तपादकृत पदार्थधर्मसंग्रह, पृष्ठ २३४; वैशेषिक सूत्र, ३ : १, १५ ।

४. 'तर्कसंग्रह', ४८ और ५१ । सन्दिग्धसाध्यवान् पक्षः ।

विकसित हुआ हो। उदाहरण को अरस्तू ने भी स्वीकार किया है।[1] किन्तु शीघ्र ही यह जाना गया कि यद्यपि यह ऐसी विधि है जिसके अनुसार हम प्रायः तर्क करते हैं, फिर भी यह तार्किक अनुमान नहीं है कि जहां निष्कर्ष पदों द्वारा समर्थित होता है। तर्क अप्रामाणिक ठहरता है, यदि उदाहरण सामान्य नियम का निर्देश न करता हो। साधर्म्य जातिगत स्वरूप (सामान्य) का सङ्केत करता है। प्रशस्तपाद साहचर्य की धारणा से अवगत है और इसे कणाद का मत घोषित करता है।[2] परवर्ती तर्कशास्त्र तीसरे अवयव (उदाहरण) की सामान्य सम्बन्ध के साथ तुल्यता दिखाता है।[3] जब तक कि चिह्न और अनुमानित लक्षण में सतत व्याप्ति विद्यमान न हो तब तक अनुमान हो ही नहीं सकता। 'वेदान्तपरिभाषा' का कहना है कि "व्याप्ति का ज्ञान ही अनुमान का साधन है।"[4] उदाहरण के वर्णन करने का तात्पर्य है कि अनुमान दोनों प्रकार का होता है, अर्थात् आगमन और निगमन। सामान्यीकरण का आधार उदाहरण होते है और इससे हमें नये तथ्यो को तर्क के द्वारा जानने में सहायता मिलती है। दिङ्नाग ने उदाहरण के सहायक और नाति महत्त्वपूर्ण स्वरूप पर बल दिया है। धर्मकीर्ति का मत है कि उदाहरण अनावश्यक है और इसका उपयोग केवल मनुष्य को समझाने में सहायक के रूप मे किया जाता है। उदाहरण विषय को स्पष्ट भले ही कर सकता है किन्तु यह नियम की व्यापकता को स्थापित नहीं कर सकता। डा० सील के अनुसार, "साध्य पद (major premise) सम्बन्धी मिल के इस मत का कि वह पहले देखे गए तत्सदृश दृष्टान्तो का एक संक्षिप्त स्मरणपत्र है जिसमे उसे अनदेखी स्थितियों में लागू करने की सिफारिश भी रहती है, और अरस्तू के इस मत का कि वह एक व्यापक प्रस्थापना है जो अनुमान का आधार है, उदाहरण मे मिश्रण और पूर्ण सामंजस्य हो जाता है।"[5] उदाहरण भिन्न-भिन्न प्रकार के हो सकते हैं—सजातीय अर्थात् स्वीकारात्मक (साधर्म्य) जहां कि साध्य गुण और हेतु उपस्थित है जैसेकि रसोईघर, और विजातीय अथवा निषेधात्मक (वैधर्म्य) जहां कि साध्य गुण और हेतु दोनों ही अनुपस्थित हैं जैसेकि झील।[6] दिङ्नाग इन दोनों में सादृश्यबोधक उदाहरण और जोड़ देता है। वह दस प्रकार के हेत्वाभासों का भी वर्णन करता है जिनका सम्बन्ध उदाहरणों के साथ है, जबकि सिद्धसेन दिवाकर छ प्रकार के हेत्वाभास सजातीय उदाहरणों के बारे में और छ प्रकार के विजातीय उदाहरणों के बारे में बताता है।

हेतु अर्थात् मध्यपद की व्याप्ति के विषय में यह कहा जाता है कि (१) हेतु के लिए पक्ष के कुल क्षेत्र को व्याप्त करना आवश्यक है, जैसाकि

१. तुलना कीजिए, थीब्स के विरुद्ध एथेंस का युद्ध दुष्टतापूर्ण था, क्योंकि वह युद्ध पड़ोसियों के मध्य था जैसेकि फोकिस के विरुद्ध थीब्स का युद्ध था।

२. प्रशस्तपादकृत पदार्थधर्मसंग्रह, पृष्ठ २०५।

३. व्याप्तिप्रतिपादकमुदाहरणम् ('तर्कसंग्रहदीपिका', ४६)।

४. अनुमितिकरणञ्च व्याप्तिज्ञानम्, २।

५. 'दि पौज़िटिव साइंसेज़ ऑफ़ दि ऐंशियण्ट हिन्दूज़', पृष्ठ २५२।

६. न्यायभाष्य, १ : १, ३६–३७।

इस दृष्टान्त में है: "शब्द अनित्य है क्योंकि यह उत्पन्न पदार्थ है।" यहां हेतु अर्थात् उत्पन्न पदार्थ अपने अन्दर शब्द की प्रत्येक अवस्था को रखता है; (२) हेतु द्वारा निर्दिष्ट सब पदार्थ उन पदार्थों के सजातीय होने चाहिए जिनका निर्देश साध्य द्वारा होता है, जैसाकि इस दृष्टान्त मे है: "सब उत्पन्न पदार्थ अनित्य हैं; और (३) साध्य के विजातीय किसी भी पदार्थ का हेतु में समावेश नहीं होना चाहिए: "कोई भी नित्य उत्पन्न पदार्थ नहीं है।" दिङ्नाग इसपर बल देता है कि हेतु को व्यापक रूप से और सतत रूप से साध्य के साथ सम्बद्ध रहना चाहिए। उद्योतकर का तर्क है कि हेतु और साध्य में व्यापक सम्बन्ध रहना चाहिए, यथा जहां-जहां साध्य है वहां-वहां हेतु भी होना चाहिए और जहां-जहा साध्य नहीं है वहां-वहां हेतु भी नहीं होना चाहिए। प्रशस्तपाद भी इसी मत का समर्थन करता है जब वह यह कहता है कि लिंग अथवा हेतु वह है जो अनुमेय पदार्थ के साथ सम्बद्ध रहता है, और जिसके बारे में हम यह जानते है कि जहा-जहां वह पदार्थ उपस्थित है वहां-वहां वह है और जहां-जहां वह पदार्थ अनुपस्थित है वहां-वहां वह भी नहीं है।[1] वरदराज हेतु की पाच विशेषताओं का वर्णन करता है, वे ये हैं—(१) पक्षधर्मता, अर्थात् हेतु का पक्ष में विद्यमान रहना, जैसे पहाड़ में धुएं का होना; (२) सपक्षसत्त्व अर्थात् हेतु का साध्य के सजातीय निश्चयात्मक उदाहरणों मे विद्यमान रहना, जैसे कि धुएं का रसोईघर में होना; (३) विपक्षसत्त्व, अर्थात् साध्य के विजातीय निषेधात्मक उदाहरणों में हेतु का अनुपस्थित रहना, जैसे झील में धुआं नहीं है; (४) अबाधितविषयत्व, अथवा पक्ष के साथ सदानुकूलता; और (५) असत्प्रतिपक्षत्व, अर्थात् विरोधी शक्तियों का अभाव।[2] नितान्त स्वीकारात्मक एवं नितान्त निषेधात्मक अनुमानों में विशुद्ध हेतु केवल चार प्रकार की आवश्यकताओं की ही पूर्ति करता है, क्योंकि यह निश्चयात्मक और निषेधात्मक दोनों में समान रूप से विद्यमान नही रह सकता। अन्नं भट्ट के मत से अनुमान तीन प्रकार का होने के कारण हेतु भी तीन प्रकार का है: (१) निश्चयात्मक और निषेधात्मक (अन्वयव्यतिरेकी), जहां कि हेतु सतत रूप से साध्य के साथ रहता है, जैसे

१. प्रशस्तपादकृत पदार्थधर्मसंग्रह, पृष्ठ २०० ।

यदनुमेयेन सम्बद्धं प्रसिद्धं च तदन्विते ।
तदभावे च नास्त्येव तल्लिङ्गमनुमापकम् ॥

धर्मकीर्ति का विचार है कि जब तक उन पदार्थों में, जिनमें अनुमेय विद्यमान है, हेतु उपस्थित नहीं है, तथा उन सब पदार्थों में जिनमें अनुमेय नही पाया जाता, हेतु अनुपस्थित नहीं है, तब तक अनुमान की प्रामाणिकता सन्दिग्ध है। सिद्धसेन दिवाकर हेतु की परिभाषा इस प्रकार करता है कि हेतु वह है "जो साध्य के अतिरिक्त अन्य किसीके सम्बन्ध में उपस्थित नहीं रहता।" धुआं आग के अतिरिक्त अन्य किसी पदार्थ से उत्पन्न नहीं हो सकता।

२. पहले तीन का वर्णन धर्मकीर्ति तथा धर्मोत्तर ने किया है। देखिए 'न्यायबिन्दु', पृष्ठ १०४, तथा लौगाक्षि भास्करकृत 'तर्ककौमुदी', पृष्ठ १२, बौम्बे एडीशन।

आग के साथ धुआं। जहां-जहां धुआं है वहां-वहां आग है, जैसे रसोईघर में, और जहां आग नहीं है वहां धुआं भी नहीं है, जैसेकि झील में[1]; (२) केवल निश्चयात्मक (केवलान्वयी), जहां हमें केवल स्वीकारात्मक और सतत साहचर्य मिलता है, जैसे "जो जाना जा सकता है उसका नाम भी रखा जा सकता है," जहां हमे इस स्थिति को स्पष्ट करने के लिए निषेधात्मक दृष्टान्त नहीं मिल सकता कि "जिसे नाम नहीं दे सकते उसे जान भी नहीं सकते।" और (३) केवल निषेधात्मक (केवलव्यतिरेकी), जहां एक निश्चयात्मक दृष्टान्त सम्भव नहीं है। उन सभी सत्ताओं मे जिनमें पशु-क्रियाएं हैं जीवात्मा विद्यमान है, यहां हम केवल यही सिद्ध कर सकते है कि कुरसियों तथा मेजों में पशु-क्रियाएं नहीं हैं और इसीलिए उनमें जीवात्मा का निवास नहीं है। किन्तु हम कोई निश्चयात्मक दृष्टान्त नहीं दे सकते क्योंकि जीवात्माएं तथा वे सत्ताएं जिनमें पशु-क्रियाए होती हैं अपनी प्रकृति मे सह-विस्तारी है।[2] वेदान्त परिभाषा के अनुसार, निश्चयात्मक व्याप्ति के द्वारा जो परिणाम निकलता है उसे ही हम अनुमान कहते है। किन्तु निषेधात्मक व्याप्ति से जिस परिणाम पर पहुंचते हैं उसे 'अर्थापत्ति' कहते हैं, इस आधार पर कि इसमे किसी सामान्य सिद्धान्त का प्रयोग अवस्था-विशेष मे नहीं होता।[3] तो भी न्याय का विचार है कि प्रत्येक निषेधात्मक का विरोधी एक निश्चयात्मक होता है, और इसलिए निश्चयात्मक परिणाम निषेधात्मक व्याप्तियों से निकाले जा सकते है।[4] हेतु की मुख्य विशेषता यह है कि यह सब प्रकार की उपाधियों से मुक्त होना चाहिए। हम इस प्रकार का तर्क नही कर सकते कि 'क' केवल इसलिए काला है क्योंकि वह 'ख' का लड़का है, 'ख' के अन्य बच्चों के समान और अन्य मनुष्यों के बच्चों से भिन्न। यह निष्कर्ष सच हो भी सकता है और नहीं भी हो सकता, किन्तु यह तर्क की दृष्टि से दोषपूर्ण अवश्य है, क्योंकि 'ख' का लड़का होने और काले रंग मे कोई अनुपाधिक (उपाधिरहित) सम्बन्ध नहीं है।

१. यह ध्यान देने के योग्य है कि व्याप्य का निषेध निषेधात्मक व्याप्ति में व्यापक बन जाता है और व्यापक का निषेध व्याप्त बन जाता है। देखिए श्लोकवार्तिक, अनुमान, पृष्ठ १२१।

२. 'तर्कसंग्रह', ४८। इस भेद को उद्योतकर और गंगेश ने स्वीकार किया है। तुलना कीजिए इसकी जैन मत के आप्त ग्रन्थों में विहित अनुमान के वर्गीकरण के साथ जो इस प्रकार है : (१) यह है, क्योंकि वह है। वहां आग है क्योंकि वहां धुआं है। (२) यह नहीं है, क्योंकि वह है। यह ठण्डा नहीं है, क्योंकि अग्नि उपस्थित है, (३) यह है, क्योंकि वह नहीं है। यह ठण्डा है, क्योंकि अग्नि अनुपस्थित है। (४) यह नहीं है, क्योंकि वह नहीं है। यहां कोई आम का पेड़ नहीं है, क्योंकि यहां पेड़ ही नहीं है।

३. २।

४. व्याप्ति को या तो स्वीकारात्मक (अन्वय) अथवा निषेधात्मक (व्यतिरेक) होना चाहिए और पहली दो प्रकार की है : समव्याप्ति जहां हेतु तथा साध्य सहकारी रूप से विस्तृत हैं, जैसेकि इस दृष्टान्त में "समस्त उत्पन्न पदार्थ अनित्य हैं" और विषमव्याप्ति जहां वे दो सहकारी रूप से विस्तृत नहीं हैं। जहां-जहां धुआं होता है वहां-वहां आग अवश्य होती है, किन्तु इसका विपरीत तर्क ठीक न होगा।

उपनय (प्रयोग) परार्थानुमान का चौथा अवयव है। पक्ष में प्रस्तुत हेतु की उपस्थिति एवं अनुपस्थिति की यह स्थापना करता है। हेतु की उपस्थिति की अवस्था में यह स्थापना निश्चयात्मक होती है, जैसेकि इस दृष्टान्त में, "इसी तरह का यह पर्वत है," अर्थात् धुएंवाला है, और दूसरी अवस्था में निषेधात्मक होती है, जैसेकि इस दृष्टान्त में, "यह पर्वत ऐसा नहीं है, अर्थात् धुएंवाला नहीं है।"[1]

निष्कर्ष प्रतिष्ठापित प्रतिज्ञा को इस प्रकार दोहराता है, "इसलिए पहाड़ में आग लगी है।"[2] पहले अवयव में जो बात अस्थायी रूप से रखी गई थी, निष्कर्ष में उसकी स्थापना की जाती है।

वात्स्यायन का कहना है कि कुछ तार्किकों की सम्मति में परार्थानुमान के दस अवयव हैं। ऊपर दिए गए पांच अवयवों के अतिरिक्त निम्नलिखित और उनमें सम्मिलित किए गए हैं : (१) जिज्ञासा, अथवा प्रतिज्ञा के सम्बन्ध में सत्यज्ञान को खोज निकालने की अभिलाषा, अर्थात् सम्पूर्ण पहाड़ में आग लगी है या उसके कुछ हिस्सों में ही है ; (२) संशय, कारण के विषय में सन्देह कि जिसे हम धुआं समझ रहे हैं वह केवलमात्र भाप ही तो नहीं है; (३) शक्यप्राप्ति, अर्थात् दृष्टान्त की निष्कर्ष को समर्थित करने की योग्यता कि क्या धुआं सर्वदा ही आग के साथ रहता है क्योंकि तपे हुए लाल लोहे के अन्दर धुआं नहीं भी पाया जाता ; (४) प्रयोजन, अर्थात् निष्कर्ष निकालने का प्रयोजन; और (५) संशय-व्युदास, अर्थात् हेतु के साध्य के साथ सम्बन्ध और पक्ष में उसकी विद्यमानता के बारे में सब प्रकार के संशयों का निवारण।[3] परार्थानुमान के ये पांच अतिरिक्त अवयव वात्स्यायन के अनुसार सिद्धि के लिए अनावश्यक हैं, यद्यपि ये हमारे ज्ञान को विशद करने में सहायक होते हैं। ये मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया को दृष्टि में रखते हैं। जिज्ञासा, अर्थात् जानने

१. न्यायसूत्र, १ : १, ३८।

२. न्यायसूत्र, १ : १, ३९।

३. न्यायभाष्य, १ : १, ३२। यह इस विषय का एक संकेत है कि परार्थानुमान का स्वरूप वाद-विवाद-कला के अभ्यासों तथा परम्पराओं में से विकसित हुआ है। जैन तार्किक भद्रबाहु परार्थानुमान के दस अवयवों की एक पृथक् सूची देता है, अर्थात् : (१) प्रतिज्ञा, (२) प्रतिज्ञा-विभक्ति, अर्थात प्रतिज्ञा की सीमा ; (३) हेतु अथवा कारण ; (४) हेतु-विभक्ति, अर्थात् हेतु की सीमा ; (५) विपक्ष ; (६) विपक्ष-प्रतिषेध ; (७) दृष्टान्त ; (८) आकांक्षा, अर्थात् दृष्टान्त के प्रामाण्य में सन्देह ; (९) आकांक्षा-प्रतिषेध ; (१०) निगमन, अर्थात् निष्कर्ष ('दशवैकालिकनिर्युक्ति', पृष्ठ ७४, निर्णयसागर संस्करण)। भद्रबाहु यहां सिद्ध करने की द्विगुण विधि का आश्रय लेता है। जब शब्द की अनित्यता को सिद्ध करने के लिए एक तर्क दिया जाता है तो एक विपरीत प्रतिज्ञा का कथन होता है और एक कथन द्वारा उसका निषेध किया जाता है। यदि शब्द नित्य होता तो यह उत्पन्न पदार्थ न होता। इस प्रकार का काल्पनिक तर्क पूर्व-अनुमान का समर्थन करता है यद्यपि अपने-आपमें इसका अधिक महत्त्व नहीं है। सिद्धसेन दिवाकर ने अपने 'न्यायावतार' ग्रन्थ में परार्थानुमान को केवल पांच अवयवोंवाला ही बताया है। अनन्तवीर्य उसपर (१३) टीका करते हुए कहता है कि परार्थानुमान के सर्वोत्तम रूप में दस अवयव रहते हैं, मध्यम में पांच और निकृष्टतम में दो अवयव रहते हैं।

की इच्छा निश्चय ही समस्त ज्ञान का प्रारम्भिक बिन्दु है; किन्तु, जैसाकि उद्योतकर का कहना है, यह विषयसिद्धि अथवा तर्क का अनिवार्य अवयव नहीं है।[1]

शीघ्र ही यह पता लगा कि निष्कर्ष मे प्रारम्भिक प्रतिज्ञा को फिर से दोहराया जाता है, जबकि चौथा अवयव दूसरे की आवृत्तिमात्र है। वस्तुतः प्रत्येक परार्थानुमान के केवल तीन ही अवयव है। कहा जाता है कि नागार्जुन ने ही तीन अवयवयुक्त परार्थानुमान का प्रचलन अपने 'उपायकौशल्यसूत्र' मे किया है, जहां वे बलपूर्वक यह प्रतिपादन करते है कि निष्कर्ष की स्थापना तर्क और दृष्टान्त द्वारा ही हो सकती है, दृष्टान्त निश्चयात्मक हो या निषेधात्मक हो।[2] इसका श्रेय कभी-कभी दिङ्नाग को दिया जाता है।[3] अपने 'न्यायप्रवेश' मे उन्होंने परार्थानुमान के तीन अवयवों का ही वर्णन किया है, यद्यपि तीसरे अवयव मे वह निश्चयात्मक एव निषेधात्मक दोनो ही प्रकार के उदाहरणों की व्याख्या करते है; इस पहाड़ मे आग लगी है, क्योकि इसमे धुआं है; जहां-जहा धुआ होता है, आग भी होती है, जैसे रसोईघर मे, और जहा आग नही है वहां धुआ भी नही है, जैसे झील मे। दिङ्नाग के अनुसार, तीसरा अवयव एक सामान्य नियम है जो साकेतिक दृष्टान्तो के सहित है। धर्मकीर्ति का विचार है कि तीसरा अवयव भी अनावश्यक है, क्योकि सामान्य प्रतिज्ञा तर्क के अन्दर स्वतः ध्वनित है। इतना कहना ही पर्याप्त है कि पहाड़ पर आग है क्योंकि उसमे से धुआ निकल रहा है। इस प्रकार के अनुमान का उपयोग जो लुप्तावयव हेतुमद् अनुमान मे मिलता-जुलता है, हिन्दू दार्शनिक ग्रन्थों मे भी बहुत मिलता है। जैन तार्किक माणिक्य नन्दी और देवसूरी[4] का भी यही मत है। मीमासक और वेदान्ती केवल तीन अवयव वाले परार्थानुमान को ही स्वीकार करते है। वेदान्तपरिभाषा नामक ग्रन्थ पहले तीन अथवा अन्तिम तीन अवयवो के उपयोग की आज्ञा देता है।[5]

वात्स्यायन और उद्योतकर दोनो ही परार्थानुमान के अन्तिम दो अवयवों को छोड़ देने के विरुद्ध है।[6] वे स्वीकार करते है कि प्रथम अवयव को निष्कर्ष मे दोहराया जाता है, जबकि चौथा दूसरे और तीसरे अवयव का मिश्रण है। यद्यपि तर्क की दृष्टि से वे अनावश्यक है, तो भी

१. न्यायवार्तिक, १ : १, ३२।

२. 'हिस्टरी ऑफ़ इण्डियन लॉजिक', पृष्ठ ५११।

३. सुगुरा : 'हिन्दू लाजिक ऐज़ प्रिज़र्व्ड इन चाइना एण्ड जापान'; यूई 'वैशेषिक फिलासफी', पृष्ठ ८२, टिप्पणी २।

४. 'प्रमाणनयतत्त्वालोकालङ्कार', पृष्ठ ३।

५. २ : वरदराज ने अपने तार्किक रक्षा (पृष्ठ ८२ से आगे) नामक ग्रंथ मीमासा के मत के तीन अवयव वाले परार्थानुमान का और बौद्ध मत के दो अवयव वाले परार्थानुमान का उल्लेख किया है। माठरवृत्ति पक्ष, हेतु तथा दृष्टान्त इन तीन अवयव वाले परार्थानुमान से परिचित है।

६. न्यायभाष्य, १ : १, ३९; न्यायवार्तिक, १ : १, ३९।

विवाद के लिए वे उपयोगी हैं क्योंकि वे तर्क की पुष्टि करते हैं, तथा उस प्रतिज्ञा की निश्चयपूर्वक स्थापना करने में सहायक होते हैं जो प्रारम्भिक अवयव में अस्थायी रूप से प्रस्तुत की गई थी। पञ्चावयवी परार्थानुमान दूसरों को निश्चय कराने के लिए उपयोगी है; इसको परार्थानुमान संज्ञा इसी लिए दी गई है। तीन अवयवों वाला अपने निश्चय के लिए, पर्याप्त है; इसे स्वार्थानुमान की संज्ञा दी जा सकती है। पिछला अनुमान को विचार-सम्बन्धी गति की प्रक्रिया मानता है और इसलिए अन्वेषणात्मक विज्ञान की श्रेणी में आता है, जबकि पहला प्रमाण से सम्बन्ध रखता है। गौतम और कणाद इसका उल्लेख स्पष्टरूप से नहीं करते, यद्यपि परवर्ती तार्किक इसे स्वीकार करते है।[1] प्रशस्तपाद अपने निश्चय के लिए उपयुक्त अनुमान (स्वनिश्चितार्थ) और दूसरों को निश्चय कराने के लिए उपयुक्त अनुमान (पदार्थ) मे भेद करता है।[2] दूसरों को निश्चय कराने के लिए उपयुक्त परार्थानुमान अधिकतर एक औपचारिक व्याख्या है। हम एक पहाड़ को देखते हैं और हमें सन्देह उत्पन्न होता है कि इसमें आग है या नहीं। धुएं को देखकर हमें आग और धुएं के सम्बन्ध का स्मरण होता है और हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते है कि पहाड़ पर आग अवश्य होगी। इस सूचना को जब हम दूसरों तक पहुंचाने का प्रयत्न करते हैं तो हम पञ्चावयवी अनुमान की पद्धति का प्रयोग करते हैं।[3]

परार्थानुमान के अवयवों की संख्या के विषय में मतभेद होते हुए भी, इस विषय मे सभी तार्किक सहमत हैं कि एक दोषविहीन अनुमान के लिए दो अवयव अनिवार्यरूप से आवश्यक हैं, अर्थात् व्याप्ति (व्यापक सम्बन्ध) अथवा साध्यपद और पक्षधर्मता अथवा पक्षपद। पहला गुणों के व्यापक सम्बन्ध को बतलाता है और पिछला बतलाता है कि कर्ता मे व्यापक सम्बन्ध का एक अवयव उपस्थित है।[4] ये जे. एस. मिल की उन दो विधियों के अनुकूल है जिनके द्वारा निश्चय होता है कि (१) कौन-से गुण और किनके चिह्न हैं, और (२) क्या किन्हीं प्रस्तुत पदार्थों में ये चिह्न पाये जाते हैं।

न तो साध्य और न पक्ष केवल अपने-आपसे किसी निष्कर्ष का निश्चय करा सकते हैं। दोनों का परस्पर संश्लेषण आवश्यक है। लिंगपरामर्श अथवा चिह्न का विचार अनुमान की प्रक्रिया का एक अनिवार्य तत्त्व है। गङ्गेश के अनुसार, व्याप्ति

१. दिङ्नाग, प्रशस्तपाद, धर्मकीर्ति, सिद्धसेन दिवाकर, माणिक्यनन्दी, देवसूरी, भासर्वज्ञ और गङ्गेश आदि इस भेद को स्वीकार करते हैं।

२. प्रशस्तपादकृत पदार्थधर्मसंग्रह, पृष्ठ २३१। तुलना कीजिए इसकी धर्मोत्तर के भेद ज्ञानात्मक और शब्दात्मक के साथ (न्यायबिन्दुटीका, पृष्ठ २१) तथा शिवादित्य के भेद अर्थरूपत्व और शब्दरूपत्व के साथ (सप्तपदार्थी, १५४)।

३. तर्कसंग्रह, पृष्ठ ४५।

४. तत्त्वचिन्तामणि, २, पृष्ठ २; भाषापरिच्छेद, और सिद्धान्तमुक्तावली, पृष्ठ ६६ और ६८।

अपने-आपमें अनुमान-जन्य ज्ञान का परोक्ष कारण है और लिङ्गपरामर्श अथवा चिह्न का विचार अन्तिम कारण (चरम कारण) अथवा मुख्य कारण (करण) है।[1] तथ्य सारूप में यह है कि साध्य के साथ सम्बद्ध हेतु पक्ष रहता है[2] और वही हमें निष्कर्ष पर ले आता है। परन्तु अनुमान की प्रक्रिया एक अखण्ड प्रक्रिया है।

> अद्वैतवादियों का तर्क है कि हेतु के विचार का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। व्याप्ति-सम्बन्ध का ज्ञान साधनरूप कारण है। हमे इसका स्मरण होता है और हम निष्कर्ष पर पहुंच जाते है।[3] यह आपत्ति इस मत के विरुद्ध की गई प्रतीत होती है कि हमे पहले प्रत्यक्ष ज्ञान होता है, उसके बाद स्मृति होती है और उसके बाद अनुमान होता है। अद्वैतवादी यह सिद्ध करने का प्रयत्न करता है कि अनुमानक्रिया दो निर्णयो को एकसाथ रख देना नही है, बल्कि यह एक अकेली प्रक्रिया (व्यापार) है जिसमे दृश्यतत्त्व (पक्ष) स्मृति द्वारा आविर्भूत सामान्य सिद्धान्त अर्थात् साध्य के कार्य करता है। ये दोनों तत्त्व स्वतन्त्र मानसिक अवस्थाए नहीं है, और अनुमान की प्रक्रिया मे निश्चित स्थितियों के रूप में भाग नहीं लेते है। नैय्यायिक, जो मनोवैज्ञानिक की अपेक्षा तार्किक अधिक है, बलपूर्वक यह कहता है कि अनुमान के लिए संश्लेषण की क्रिया आवश्यक है।

दिङ्नाग अनुमेय के स्वरूप के सम्बन्ध में एक रोचक प्रश्न उठाता है। हम धुए से आग का अनुमान नही करते है, क्योंकि यह कोई नया ज्ञान नही है। हम पहले से जानते हैं कि धुए का आग के साथ सम्बन्ध है। इसी प्रकार आग और पहाड के परस्पर सम्बन्ध का अनुमान हमने किया, यह भी नही कहा जा सकता, क्योंकि सम्बन्ध के लिए दो वस्तुओं का होना आवश्यक है, जबकि अनुमान मे हमारे पास केवल एक ही वस्तु अर्थात् पहाड़ है, क्योंकि आग तो दिखाई नही देती। जिसका हम अनुमान करते हैं वह न तो आग है और न ही पहाड है, बल्कि ऐसा पहाड है जिसमे आग लगी हुई है।[4] निष्कर्ष एक अन्तिम निर्णय है।

नैय्यायिक ने उन भिन्न-भिन्न स्थितियो को जिनमे हेतु रह सकता है, कोई महत्त्व नहीं दिया है। उसने बारबरा को समस्त परार्थानुमान-सम्बन्धी तर्क के उदाहरण के रूप में माना है। निश्चयात्मक तथा निषेधात्मक उदाहरणो के उपयोग ने उसका झुकाव स्वीकारात्मक तथा निषेधात्मक सामान्य प्रतिज्ञाओ को परस्पर सम्बद्ध मानने की ओर किया। वस्तुतः समस्त अनुमान को दोनो ओर से पुष्टि प्राप्त होती

१. तत्त्वचिन्तामणि, २, पृष्ठ २।

२. व्याप्तिविशिष्टपक्षधर्मताज्ञानम् (तर्कसंग्रह, पृष्ठ ४४)। देखिए भाषा परिच्छेद, पृष्ठ ६६; तत्त्वचिन्तामणि, २ : २; जानकीनाथकृत न्यायसिद्धान्तमञ्जरी, पृष्ठ ८६–८७, पंडित संस्करण।

३. वेदान्तपरिभाषा।

४. न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका, न्यायसूत्र, १ : १, ५ में उद्धृत दिङ्नाग। वेदान्तपरिभाषा (२) अनुसार, पहाड़ का तो प्रत्यक्ष होता है और आग का अनुमान होता है।

है।[1] वस्तुत. हिन्दू तर्कशास्त्र में एक ही सम्बन्ध-प्रकार (फ़िगर) और एक ही तत्त्व (मूड) है। जब हम यह जान लेते हैं कि प्रतिज्ञा के कर्ता में एक ऐसी विशेषता है जिसका साहचर्य निरन्तर एक ऐसे गुण के साथ है जिसकी विद्यमानता को हम सिद्ध करना चाहते हैं, हम अनुमान करते है कि कर्ता में उक्त गुण विद्यमान है। इस सिद्धान्त को गुण-निर्देश (कन्नोटेशन) की परिभाषा मे व्यक्त किया जाता है। इसे यदि वर्गों की परिभाषा मे परिवर्तित किया जाए तो हमें सामान्य से विशेष के अनुमान के सिद्धात की उपलब्धि होती है। एक वर्ग-विशेष के प्रत्येक व्यक्ति के विषय मे जो कुछ कहा जा सकता है, वह उस वर्ग के किसी व्यक्ति-विशेष के विषय मे भी कहा जा सकता है। सही-सही विचार के लिए सवाक्य-प्रकारो तथा तत्त्वो के ब्यौरेवार भेदो की इतनी आवश्यकता नहीं है, यद्यपि वे सूक्ष्म विचार के लिए प्रशिक्षणभूमि प्रस्तुत करते है।[2] अरस्तू ने स्वीकार किया कि अन्तिम तीन सवाक्य-प्रकारो का पहले में समावेश किया जा सकता है। न्याय पहले सवाक्य-प्रकार मे भी केवल बारबरा को स्वीकार करता है। न्याय में दराई (Darii) और फेरियो (Ferio) का प्रयोग नही हुआ है, क्योंकि निष्कर्ष सर्वदा एक परिमित पदार्थ से सम्बन्ध रखता है और व्यापक तथा विशिष्ट के मध्य भेद नहीं उत्पन्न होता। यह भेद केवल अपेक्षाकृत है, क्योंकि एक परिमित वर्ग के लिए जो व्यापक है वह विस्तृत विषय मे विशिष्ट हो जाता है। न्याय के परार्थानुमान मे पक्ष सदा एक व्यक्तिरूप पदार्थ होता है अथवा वर्ग होता है और इसलिए वह व्यापक है, विशिष्ट नहीं। 'कुछ' दृष्टान्तो के विषय मे प्राप्त निष्कर्ष हमे प्रस्तुत दृष्टान्त-विशेष के विषय में कोई निश्चित सूचना नही दे सकता। बारबरा से सेलेरेण्ट बड़ी सुगमता

१. यदि क है, तो ख है। यदि ख नहीं है, तो क नहीं है। धर्मकीर्ति जहां इससे सहमत है कि समस्त युक्तियों को स्वीकारात्मक अथवा निषेधात्मक रूप में व्यक्त किया जा सकता है, यदि वे साधर्म्य और वैधर्म्य पर आधारित हों, वहा उसका यह भी विचार है कि कुछ युक्तियां स्वभावतः पिछले ही रूप के अन्तर्गत है।

सब पदार्थ, जो यहां और अब विद्यमान है, प्रत्यक्ष देखे जाते है,
घड़ा प्रत्यक्ष नहीं दिखाई देता,
इसलिए घड़ा यहां और अब विद्यमान नहीं है।
यह शेर्बात्स्की का मत है।

२. गौम्पर्ज का कहना है कि "अत्यधिक मौलिक विचार के आधार पर अरस्तू ने अनुमान के रूपों का अन्वेषण किया, उनमें परस्पर भेद किया तथा उनकी शाखाओं का विश्लेषण किया। और देखिए तथा विचार कीजिए कि अपने अनेकानेक ग्रंथों में उन दिनों उपलब्ध सम्पूर्ण ज्ञान के क्षेत्र को व्याप्त करते हुए भी उसने वस्तुतः परार्थानुमान के तत्त्वों एवं संवाक्य-प्रकारों का बिलकुल भी प्रयोग नहीं किया। वह यह बात स्वीकार करने में भी संकोच नहीं करता कि रूपों के इस समस्त समूह को घटाकर केवल कुछ मौलिक रूपों में रखा जा सकता है और इससे प्रयोग में कोई हानि न होगी। हम यह और कह सकते हैं कि उसके वाद का अनुसन्धान, जिसमें महान विकास तथा परिष्कार हुआ है, इस विषय में उसकी पुष्टि करता है कि संवाक्य-प्रकार तथा तत्त्व केवल प्राचीन आश्चर्यजनक विषयों के संग्रहमात्र रह गए है, जिन्हें विज्ञान के इतिहास ने सुरक्षित रखा है, किन्तु स्वयं विज्ञान ने भी उनका प्रयोग कभी नहीं किया।" (ग्रीक थिंकर्स, खण्ड ४, पृष्ठ ४४–४५) और देखिए एम० एस० रैंडल : 'ए नोट ऑन दि इण्डियन सिलोजिज्म', अक्तूबर, माइण्ड, १६२४।

से जाना जा सकता है। अरस्तू ने स्वीकार किया कि उसके सब तत्त्व पहले संवाक्य-प्रकार के पहले दो तत्त्वो मे समाविष्ट किए जा सकते है। और यदि हम यह जान लें कि सब निर्णय उभयपार्श्ववान होते है तो ये दोनों परस्पर परिवर्तनीय है।

तर्क की प्रक्रिया का विश्लेषण अरस्तू के परार्थानुमान-सम्बन्धी विश्लेषण के साथ बिलकुल निकट सादृश्य रखता है। पञ्चावयवीरूप मे भी केवल तीन पद रहते हैं, और त्रि-अवयवी अनुमान मे तीन विषय होते है जो अरस्तू के निष्कर्ष, पक्षपद तथा साध्यपद से अनुकूलता रखते है। इस प्रकार की अद्भुत समानता का कारण यह बताया जाता है कि दोनों का एक-दूसरे पर प्रभाव पडा है। डाक्टर विद्याभूषण का कहना है: "ऐसा विचार असगत न होगा कि अरस्तू के तर्कविज्ञान ने अलेक्जैण्ड्रिया, सीरिया तथा अन्य देशों के मार्ग से तक्षशिला मे प्रवेश किया हो। मेरा विचार ऐसा है कि भारतीय तर्कशास्त्र मे वस्तुत परार्थानुमान की विधि अनुमान मे स्वत उदित नही हुई है और यह विचार हिन्दू तार्किको मे अरस्तू से ही आया है।"[1] विद्वान प्रोफेसर का विश्वास है कि परार्थानुमान की कला उधार ली गई है, यद्यपि अनुमान का सिद्धान्त हमारा अपना है। प्रोफेसर कीथ लिखते है 'प्राचीनकाल मे तर्क-विषयक सिद्धान्तो का उद्गम ग्रीस देश को मानने का कोई कारण प्रतीत नही होता। गौतम और कणाद द्वारा प्रतिपादित 'परार्थानुमान' भी नि सन्देह यही उत्पन्न हुआ, भले ही यह रुद्ध विकास रहा हो। उपमान-प्रमाण के द्वारा तर्क करने के स्थान पर, निरन्तर साहचर्य को अनुमान का आधार बनाने का अपने-आपमे पूर्ण सिद्धात, यह ठीक है कि, दिङ्नाग के द्वारा ही प्रकट हुआ। और यह कहना अयुक्तियुक्त न होगा कि सम्भवत यहा पर ग्रीक प्रभाव ने भाग लिया हो।"[2] अपने इस सुझाव के समर्थन मे वे इस बात का उल्लेख करते है कि दिङ्नाग के पूर्ववर्ती आर्यदेव को (जो उससे लगभग दो शताब्दी पूर्व हुआ था) ग्रीक ज्योतिष का ज्ञान था। भरतशास्त्र मे पाई जानेवाली हिन्दू नाट्यकला की प्रकल्पना पर अरस्तू का जो प्रभाव बताया जाता है, उसके साथ यदि इस विचार को मिलाया जाए तो यह सम्भव प्रतीत होता है कि भारत और ग्रीस के मध्य परस्पर कुछ सास्कृतिक आदान-प्रदान रहा हो। कभी कभी यह प्रतिपादित किया गया है कि अरस्तू हिन्दू प्रकल्पना से बहुत अधिक प्रभावित हुआ था जो उसके पास सिकन्दर के द्वारा पहुची थी, क्योकि सिकन्दर के विषय मे यह कहा जाता है कि उसने भारत मे हिन्दू तार्किको के साथ वार्तालाप किया था। सीधे प्रभाव के सम्बन्ध मे कोई निश्चित प्रमाण प्राप्त नही है, और जब हम यह स्मरण करते हैं कि परार्थानुमान के नमूने की तर्कप्रणाली अरस्तू के समय से पूर्व हिन्दू तथा बौद्ध विचारको के ग्रन्थो मे भी पाई जाती है[3] तो ग्रीस से 'उधार लेने' की प्रकल्पना को स्वीकार करना कठिन हो जाता है। मैक्समूलर के शब्दों को यहां दोहराया जा सकता है कि "हमे यहा पर भी यह अवश्य स्वीकार करना चाहिए कि हमारे पूर्वज जहां तक चाहते थे उससे भी कही अधिक विचारों मे ऐसा साम्य

१. हिस्टरी आफ इण्डियन लौजिक, पृष्ठ १५।
२. इण्डियन लौजिक एण्ड ऐटोमिज्म, पृष्ठ १८।
३. हिस्टरी आफ इण्डियन लौजिक, पृष्ठ ५००, टिप्पणी १, तथा परिशिष्ट बी।

मिलता है, जिसके विषय मे निश्चय ही कोई पूर्वयोजना नही रही होगी। हमें यह कदापि न भूलना चाहिए कि जो कुछ एक देश मे सम्भव हुआ वह अन्य देश मे भी सम्भव हो सकता है।"[1] इस मत की और भी अधिक पुष्टि हो जाती है जब हमे यह विदित होता है कि भारतीय और ग्रीक परार्थानुमान विधियों में कितने ही मौलिक भेद भी है। ग्रीक तर्कशास्त्र मे तर्क के विश्लेषण मे 'उपमान' का स्थान नहीं है, जिसे कि हिन्दू विचारक व्यापक सम्बन्ध के कथन के लिए अनिवार्य समझते हैं। यह बिलकुल स्पष्ट है कि अनुमान का आधार व्यापक सम्बन्ध है, क्योंकि दृष्टान्त उस सम्बन्ध का उपयुक्त मूर्तरूप है।

९
आगमन अनुमान

अनुमान यथार्थता के प्रति सत्य होने का दावा करता है और यह दावा स्थिर नहीं रह सकता जब तक कि दोनों पद सत्य न हो। पक्षपद प्रत्यक्षज्ञान का परिणाम है और साध्यपद हमें आगमन अनुमान की समस्या तक ले जाता है।

व्यापक प्रतिज्ञाओ की सिद्धि कैसे होती है? नैय्यायिक इसके भिन्न-भिन्न उत्तर देता है। यह गणना, अन्तर्दृष्टि तथा परोक्ष प्रमाण को प्रस्तुत करता है। परार्थानुमान नियम के साथ-साथ एक उदाहरण का उल्लेख करता है। किसी नियम को दर्शाने के लिए उदाहरण पर्याप्त तो हो सकता है, किन्तु यह अपने-आपमे किसी व्यापक सम्बन्ध की स्थापना नही कर सकता। रसोईघर मे धुएं का आग के साथ सतत साहचर्य हो सकता है, अथवा होम करने के स्थान मे भी धुए का सतत साहचर्य आग के साथ हो सकता है, किन्तु इसमे हम पहाड़ पर आग के होने का अनुमान केवल इसलिए नहीं कर सकते कि हम उसमे धुए को देखते है, जब तक कि हम इस सिद्धान्त की स्थापना न कर लें कि सभी अवस्थाओ मे आग के साथ धुए का साहचर्य पाया जाता है। यदि हम धुएं तथा आग को अनेक दृष्टान्तो मे साथ-साथ देखते है तो हमारे अनुमान की भित्ति अधिक दृढ़ हो जाती है। बिना किसी अपवाद के (अव्यभिचरित साहचर्य) बार-बार अनुभव (भूयोदर्शन) हमें एक सामान्य नियम तक पहुचाने में सहायक होता है। जहां-जहां आग है वहां-वहां धुएं का दिखाई देना ही पर्याप्त नही है। हमारे लिए इस बात को लक्ष्य करना भी आवश्यक है कि जहा आग न हो वहां धुआं भी न हो। उपस्थिति में समानता और अनुपस्थिति मे समानता, दोनों आवश्यक है।[2] यदि नियत साहचर्य के साथ-साथ अपवाद भी कही न मिले, अर्थात् अविनाभावरूप-सम्बन्ध हो तो व्याप्तिविषयक अनुमान को पुष्टि मिलती है और केवल उसी अवस्था में हमें उपाधियों, अर्थात् आकस्मिक अवस्थाओं से रहित साहचर्य मिलता है।[3] यह आवश्यक नहीं

१. सिद्धान्तसमुच्चय, पृष्ठ ३८५-८६।

२. साहचर्यज्ञान और व्यभिचारज्ञानविरह (तर्कसंग्रहदीपिका, ४५)।

३. उदयन उपाधि की परिभाषा यों करता है कि वह वस्तु जो अपना गुण समीपस्थ अन्य पदार्थ

है कि जहां-जहां आग है वहां-वहां धुआं भी पाया जाए। एक लाल गरम लोहे के टुकड़े में आग तो है किन्तु धुआं नहीं है। केवल गीले ईंधन की आग के साथ ही धुएं का साहचर्य है। इस प्रकार हम देखते हैं कि आग के साथ धुएं का साहचर्य सोपाधिक है, जबकि धुएं के साथ आग का साहचर्य निरुपाधिक अवश्यम्भावी है। इस प्रकार 'सब स्थानों पर आग के साथ धुआं होना' स्वीकार्य नहीं है, जबकि प्रत्येक ऐसी अवस्था में जहां आग गीले ईंधन में लगी हो, धुएं का होना स्वीकार्य है। उपाधि को निश्चित रूप से दोष नहीं कहा जा सकता, क्योंकि उपाधि से भ्रम केवल उसी अवस्था में होता है जबकि उसका पृथक् ज्ञान न हो सके। जब कभी उपाधि का सन्देह हो तो हमारे लिए उन परिस्थितियों की विवेचना करना और यह दिखाना आवश्यक हो जाता है कि उक्त उपाधि की अनुपस्थिति में साहचर्य बना रहता है। निश्चयात्मक दृष्टान्त उपाधिदोष का निराकरण करते है, क्योंकि वे यह सिद्ध करते है कि हेतु तथा साध्य तो उपस्थित हैं, जबकि और कोई निरन्तर उपस्थित नही है। निषेधात्मक दृष्टान्त यह दिखाकर समर्थन करते हैं कि हेतु और साध्य अनुपस्थित है, जबकि और कोई भौतिक परिस्थिति निरन्तर अनुपस्थित नहीं है। परवर्ती तर्कशास्त्र ने निषेधात्मक दृष्टान्तो पर विशेष बल दिया है। और व्याप्ति की परिभाषा इस प्रकार की है जिससे कि अनुमेय के लिए हेतु की ऐकान्तिक पर्याप्तता प्रकट की जा सके।[1] नैय्यायिक बलपूर्वक कहता है कि व्यवस्थित मस्तिष्क के लिए उचित है कि वह अपनी स्वच्छन्द कल्पनाओ को वश में करके यथार्थ तथ्य के आगे झुक जाए। परीक्षणात्मक विधियो का सही ब्यौरा परीक्षणात्मक विज्ञानों के विकास के साथ ही सम्भव है, और उसके अभाव मे, वैज्ञानिक विधि के बारे में भारतीय तार्किक के विचार कोई खास दिलचस्पी पैदा नहीं करते। नैय्यायिक आगमन की सामान्य समस्या से अभिज्ञ था और प्रकृतिनिष्ठ तथ्यों का सावधानी से निरीक्षण करने की पद्धति से भी अभिज्ञ था, जिसके द्वारा व्यापक प्रतिज्ञाओं पर पहुंचा जाता है।

को दे दे (उपसमीपवर्तिनि आदधाति संक्रामयति स्वीयं धर्मम् इति उपाधिः)। लाल रंग का फूल जो अपने ऊपर रखे हुए स्फटिक को अपनी लाली देकर एक पद्मराग माणिक्य का सा बना देता है, एक उपाधि है। तुलना कीजिए वरदराजकृत इस परिभाषा के साथ—साधनाव्यापकाः साध्यसमव्याप्ता उपाधयः (तार्किक रक्षा, पृष्ठ ६६)। एक निर्दोष व्याप्ति को उन सभी उपाधियों से रहित होना चाहिए जिनका स्वयं अपने को सन्देह हो सकता है, या जो विरोधी द्वारा आरोपित की जा सकती है। और देखिए वाचस्पतिकृत न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका, १ : १, ५। उदयन के अनुसार, तर्कशास्त्र में उपाधि वह है जो (१) मध्यपद के साथ बराबर रहती है, (२) जिसके साथ यह मध्यपद रहता है, (३) और जो मध्यपद के साथ निरन्तर नहीं रहती। तर्कदीपिका में चार प्रकार की उपाधियां मानी गई हैं। देखिए आथल्येकृत तर्कसंग्रह, पृष्ठ ३१७।

१. व्याप्ति की अनेक परिभाषाओं पर विचार करने के पश्चात् गङ्गेश यह निष्कर्ष निकालते हैं कि निरन्तर साहचर्य साध्य के साथ हेतु की सह-उपस्थिति है, जो उस निरपेक्ष अभाव की प्रतिकृति के स्वरूप में उपाधिवान् नहीं है, जो हेतु के साथ उसी स्थिति में रहती है किन्तु उस प्रतिकृति के सम्बन्ध में भिन्न स्थिति में रहती है (तत्त्वचिन्तामणि, २), देखिए हिस्ट्री आफ इण्डियन लॉजिक, पृष्ठ ४२४।

प्रकृति सदा हमें ठीक ढंग के निश्चयात्मक तथा निषेधात्मक दृष्टान्त प्रदान नहीं करती कि जिनकी सहायता से हम किन्हीं सिद्धान्तों का प्रतिपादन या निराकरण कर सकें। नैय्यायिक का कहना[1] है कि हम निषेधात्मक साक्ष्य की प्राप्ति के लिए तर्क अथवा अप्रत्यक्ष प्रमाण का प्रयोग कर सकते हैं। यदि यह सामान्य प्रतिज्ञा कि 'जहां-जहां धुआं है वहां-वहां आग है', ठीक नहीं है तो इससे विपरीत, अर्थात् कभी-कभी 'धुएं के साथ आग नहीं रहती', अवश्य ठीक होगी। दूसरे शब्दों में यह कि आग अनिवार्य रूप से धुएं की पूर्ववर्ती नहीं है। किन्तु हम यह अस्वीकार नहीं कर सकते कि आग धुएं का कारण है। इस प्रकार एक व्यापक प्रतिज्ञा को पुष्ट करने के लिए, जो अबाधित मेल के निश्चयात्मक दृष्टान्तों पर आधारित है, तर्क का प्रयोग किया जाता है। यह किसी परिकल्पना को सिद्ध करने का भी एक उपाय है।[1] यह दिखाकर कि यदि हम सुझाई गई परिकल्पना को अस्वीकार करेंगे तो किन-किन असगतियों में फंस जाएंगे, अप्रत्यक्ष प्रमाण उस प्रकल्पना की पुष्टि करने में प्रवृत्त होता है। इससे यह सिद्ध होता है कि अन्य कोई प्रकल्पना तथ्यों का समाधान नहीं कर सकती।[2]

तर्क आगमन की उस अनुभवाश्रित प्रणाली के लिए, जिससे हमें व्यापक प्रतिज्ञाओं की उपलब्धि नहीं हो सकती, केवल एक सहायक का काम करता है। जहां हम सभी सम्भव अवस्थाओं का निरीक्षण करके अपने निष्कर्ष की परिपुष्टि अप्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा करते है, वहां भी हमे व्यापक प्रतिज्ञाओं के विषय मे एकान्त निश्चितता उपलब्ध नहीं होती। जब तक वे परिमित निरीक्षण पर आश्रित है उनमें कोई आवश्यकता नहीं रहती। गणनात्मक व्याप्तिया केवल मात्र सम्भव है, निश्चित नहीं है। जहां पर यह सत्य है कि इन्द्रिय-ग्राह्य विशिष्टो का अनुभव व्यापकों के ज्ञान को उत्पन्न करता है, वहां यह नहीं कहा जा सकता कि व्यापकों का ज्ञान पूर्णतया इन्द्रिय-ग्राह्य विशिष्टों के द्वारा होता है, क्योंकि व्यापक किसी भी अथवा समस्त विशिष्टों से परे जाता है।

समष्टिवाची निर्णयो मे भी व्यापक के ज्ञान की पूर्व धारणा रहती है। हम सब दृष्टान्तों की गणना नहीं करते किन्तु केवल उन्हीकी गणना करते हैं जिनके अन्दर वर्गीय गुण विद्यमान है, जिसके कारण ही उक्त दृष्टान्तो का स्थान उस वर्ग के अन्दर

१. न्यायसूत्र, १ : १, ३१।

२. एक न्याय्य परिकल्पना के लिए निम्नलिखित शर्तों को पूरा करना आवश्यक है :—(१) परिकल्पना तथ्यों का समाधान करने मे अवश्य समर्थ हो। (२) किसी भी ज्ञात तथ्य से अथवा स्थापित सामान्य सिद्धान्तों से उसका विरोध न हो। (३) जहां अनुभूत साधनों के द्वारा तथ्यों की सन्तोषजनक व्याख्या सम्भव हो सकती हो वहां अननुभूत साधनों की कल्पना कभी न करनी चाहिए। (४) जब दो प्रतिद्वन्द्वी प्रकल्पनाएं उपस्थित हों तो एक महत्त्वपूर्ण तथ्य अथवा कसौटी आवश्यक है। इस प्रकार की कसौटी की अनुपस्थिति किसी भी प्रकल्पना की सिद्धि के लिए घातक होगी। (५) अन्य बातें यदि एकसमान हों तो दो प्रतिद्वन्द्वी प्रकल्पनाओं में से सरलतर को, अर्थात् जो न्यून कल्पना करती हो उसे चुनना चाहिए। (६) दो प्रतिद्वन्द्वी प्रकल्पनाओं में से जो तात्कालिक हो अथवा उपस्थित विषय के साथ अनुकूलता रखती हो, उसे विजातीय अथवा दूरस्थ की अपेक्षा मान्यता देनी चाहिए। ऐसी प्रकल्पना को जो उक्त शर्तों को पूरा करती है, सिद्धान्तरूप में स्थापित होने से पहले, यथार्थता की जांच में भी खरा उतरना चाहिए। (सीलकृत 'दि पौजिटिव साइंसेज आफ ऐंशियण्ट हिन्दूज़', पृष्ठ २८८)।

होता है। इसलिए व्यापक के ज्ञान के बिना गणना-पद्धति भी कार्य नहीं कर सकती। प्राचीन न्याय का दावा है कि हम व्यापकों को प्रत्यक्ष ज्ञान के द्वारा पहचान सकते हैं। गंगेश व्यापकों (सामान्य लक्षण) के ज्ञान मे इन्द्रियातीत क्रिया को स्वीकार करता है, जब वह इसे अलौकिक प्रत्यक्ष अथवा इन्द्रियातीत अन्तर्दृष्टि को एक प्रकार बताता है।[1] उक्त विचारो मे से किसी से भी दृष्टान्तों का सर्वांग सर्वेक्षण हमारे लिए आवश्यक नहीं है। व्यापक धूम्रमयता के प्रत्यक्ष द्वारा हम धूम्र-सम्बन्धी सब अवस्थाओं का ज्ञान प्राप्त करते है। आग और धुए की व्यापकताओ का ज्ञान हमे सामान्यलक्षण-प्रत्यासत्ति द्वारा होता है और हम उनके अनिवार्य सम्बन्ध को अनुभव करते है। इस प्रकार एक दृष्टान्त के विश्लेषण द्वारा हम व्यापक सम्बन्ध को पहचान सकते है; और जो कुछ एक दृष्टान्त के विषय मे सत्य है उसे उक्त वर्ग के सब सदस्यों तक उचित रूप में विस्तृत किया जा सकता है, क्योंकि समानरूपता नाम की एक वस्तु अवश्य है। जो एक बार सत्य है, वह सर्वदा सत्य है। हम जब कहते है 'धूम्र', तो हमारे मन में उस समय धुए की सब अवस्थाए नहीं होती, किन्तु तो भी धुए का गुणनिर्देश हमारे मस्तिष्क में उपस्थित रहता है। धुए तथा आग के गुणनिर्देश व्याप्ति के अन्दर व्याप्य-व्यापक-भाव से परस्पर सम्बद्ध है। हमारे सामने अनेको दृष्टान्तो का रहना आवश्यक है, इसलिए नही कि हमे इन विशिष्टो से व्यापक सम्बन्ध की प्राप्ति होती है, बल्कि इसलिए कि वह सम्बन्ध केवल एक उदाहरण मे स्पष्ट रूप मे पहचाना नही जा सकता। यद्यपि विभेदक शक्ति मे प्रवीण पुरुष थोड़े-से उदाहरणो मे भी सम्बन्धो मे भेद कर ही सकते है, व्यापक सम्बन्ध केवल खोजमात्र है उसका सृजन नही होता। केवल एक दृष्टान्त से भी विशेष विचार द्वारा हम व्यापक सम्बन्ध तक पहुच सकते है। यदि स्वय अन्तिम निर्णय मे व्यापक सम्बन्ध हमारे सम्मुख स्पष्ट नहीं होता तो एकसमान घटनाओं की पुनरावृत्ति भी इस विषय मे हमारी सहायता नही कर सकती। यह विषय के अन्दर निहित है जिसे हमारी विचारशक्ति ने बनाया नही है। जो कुछ इन्द्रियातीत है वह अनुभवातीत भी हो, यह आवश्यक नही है। विधियुक्त प्रेक्षण तथा परीक्षण ऐसे अनुभव का केवल समर्थन करते है या केवल एक घटना से कभी-कभी अन्तर्दृष्टि द्वारा प्राप्त हो जाता है। प्रकृति की प्रत्येक घटना अपने अन्दर एक विशेष सम्बन्ध अथवा नियम को छिपाये हुए है, जिसके अनुसार वह घटना मर्यादित हुई है। किसी घटना की मौलिक विशेषताओं को उसके आकस्मिक सहचारी विषयो से पृथक् करके समझने में केवल अन्तर्दृष्टि ही हमारी सहायक हो सकती है। व्यापक प्रतिज्ञाएं विषय-वस्तु के सम्बन्ध हैं। यदि सभी लघुपित्त वाले प्राणी दीर्घायु होते है तो यह इसलिए नहीं कि मनुष्य, घोड़ा तथा खच्चर, जो लघुपित्त वाले हैं, दीर्घायु है, बल्कि इसलिए कि लघुपित्तता और दीर्घ जीवन की विषय-वस्तुओं में एक आवश्यक सम्बन्ध है। न्याय के

१. तुलना कीजिए अरस्तू के इस मत से कि व्यापक का ज्ञान, सम्बन्धित विशिष्टों के प्रत्यक्ष ज्ञान के पश्चात्, मन (nous) द्वारा होता है। दृष्टान्तों की गणना, भले ही कितनी भी पूर्ण क्यों न हो, नितान्त निश्चितता प्रदान नहीं कर सकती, जब तक कि हम प्रकृति की अनिश्चितता को अतिक्रमण न कर लें (अरस्तू : एन० पोस्ट०, १ : ५.।

परार्थानुमान का महत्त्व उसे इस परिकल्पित निरुपाधिक रूप में रखने से अच्छी तरह स्पष्ट हो जाता है। यदि 'क' तो 'ख', 'क' इसलिए 'ख'।

निगमनात्मक तर्क अपने निष्कर्ष मे हमे किस प्रकार आधारवाक्य (प्रेमिस) में दी गई सामग्री से अधिक प्रदान कर सकता है, यह समस्या इस दृष्टिकोण से एक नये रूप में प्रकट होती है। सामान्य सिद्धान्त, गणनात्मक निष्कर्ष नही हैं और वे सम्बन्ध जो विशिष्टों को शासित करते है, उतने ही यथार्थ है जितने कि स्वय विशिष्ट। जब हम व्यापक निष्कर्ष से एक विशिष्ट सत्य को निकालते है तो एक विशेष अर्थ में निष्कर्ष आधारवाक्य से भी परे पहुच जाता है यद्यपि दूसरे अर्थ मे यह उसके अन्दर निविष्ट है।

किन्तु यदि व्यापक सम्बन्ध यथार्थ है और उनके लिए केवल अन्तर्दृष्टि ही की आवश्यकता है तो यह कैसे होता है कि प्रेमी तथा पागल उन सामान्य सिद्धान्तों के महत्त्व को ग्रहण नही कर सकते जो वैज्ञानिकों तथा दार्शनिकों की आखो मे गड़ जाते है? और न इसका समाधान ही सरल है कि हमारे सामान्यानुमान कभी-कभी सत्य सिद्ध नही होते। त्रुटिपूर्ण आगमनात्मक अनुमानो मे सम्बन्धो का सही-सही बोध नहीं होता। विशिष्टो की असीम पूर्णता से उनका ठीक-ठीक भेद नही किया जाता है। यथार्थता की जटिलता के कारण सम्बन्धो मे भेद करना कठिन होता है। राग, मानसिक पक्षपात और जडता तथा विचारहीनता के कारण हम प्रस्थापनाओ को सत्य मान लेते है, यद्यपि ये सत्य होती नही। इस अर्थ मे विशिष्ट प्रत्यक्ष भी अशुद्ध हो सकते है। अन्तर्दृष्टि द्वारा पुष्ट आगमनात्मक सिद्धान्त अधिक विश्वास-योग्य हो जाते है जब उनका प्रयोग नये विशिष्टो के लिए होता है, अर्थात् जब हम आगमन से निगमन अवस्था की ओर आते है। जैसाकि हम आगे चलकर देखेंगे, व्याप्ति-सम्बन्धों की प्रामाणिकता को भी, अन्य सब ज्ञानो के समान, ज्ञान की अन्य विधियो से सिद्ध करने की आवश्यकता होती है। ऐसा अन्तर्ज्ञान जिसकी पुष्टि अनुभूति के आधार पर न हुई हो, परिकल्पनामात्र ही है। केवल अन्तर्ज्ञान कुछ अधिक उपयोगी नही है। आनुभविक सामग्री की पूर्ण निःशेषता एक ऐसा आदर्श है जिसको प्राप्त नही किया जा सकता। दोनों एक-दूसरे के परस्पर सहायक हैं। सामान्य सिद्धान्त मे कुछ आवश्यकता निहित रहती है यद्यपि हम इसे केवल एक आनुभविक तथ्य के अवसर पर ही ठीक-ठीक समझ सकते हैं।

व्याप्ति के सम्बन्ध मे न्याय की यह धारणा है कि सामान्य स्थापनाएं यथार्थसत्ता की अवयवभूत है,[1] और व्याप्ति-सम्बन्ध यथार्थ है।[2] चार्वाक सम्प्रदाय वाले, जो भौतिकवादी है, व्याप्ति-सम्बन्धो की सम्भावना को स्वीकार नही करते और इसीलिए वे अनुमान की यथार्थता के भी विरोधी है। बौद्ध दार्शनिको के मत में सामान्य प्रस्थापनाए आदर्श कृतियां है, यथार्थ सम्बन्ध नही है। सामान्य प्रस्थापनाएं केवल नाममात्र है और उनकी पहचान केवल

१. सामान्यस्य वस्तुभूतत्वात् (तर्कभाषा, पृष्ठ ३१, पूना संस्करण)।
२. स्वाभाविकस्तु सम्बन्धो व्याप्तिः (पृष्ठ ३५)।

कल्पना है। बौद्ध ग्रन्थ, 'सामान्यदूषणदिकप्रसारिता' में इस मत की कि हम सामान्य प्रस्थापनाओं का, यथार्थ की तरह प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त करते है, आलोचना की गई है। हम हाथ की पांच अगुलियो को देखते है और इसके अतिरिक्त छठी सामान्य वस्तु को नही देखते, जो उतनी ही अवास्तविक है जितना कि सिर पर सीग।[1] यद्यपि इस मत की ठीक-ठीक व्याख्या के अनुसार, प्रत्येक प्रकार का अनुमान असम्भव ठहरता है, तो भी बौद्ध दार्शनिक क्रियात्मक रूप मे इसकी यथार्थता को स्वीकार करते है और भिन्न भिन्न प्रकार के सामान्य सम्बन्धों में भेद करते है। हेतु का साध्यपद के साथ स्वभाव (तादात्म्य), कारण-कार्यभाव अथवा अभाव (अनुपलब्धि) रूप से सम्बन्ध हो सकता है। इसका तात्पर्य यह है कि हमारे अनुमान विध्यात्मक या निषेधात्मक हो सकते है और पहले प्रकार के भी विश्लेषणात्मक अथवा सश्लेषणात्मक हो सकते है। जब हम इस प्रकार का कथन करते है कि "यह एक वृक्ष है क्योकि यह देवदारु की श्रेणी का है" तो यह अनुमान या तो तादात्म्य, या विश्लेषण, स्वभाव, अथवा सह-अस्तित्व के नमूने का है। इसी प्रकार जब हम यह कथन करते है कि "चूकि वहा धुआ है इसलिए वहा आग है" तो यह अनुमान तदुत्पत्ति (अर्थात् आग से धुआ उत्पन्न होता है), सश्लेषण, कार्यकारणभाव अथवा पूर्वानुपरक्रम के नमूने का है। अनुपलब्धिजन्य अनुमान वह है जहा हम घड़े के अभाव का अनुमान घडा दिखाई न देने के कारण करते है। सामान्य सम्बन्धो का ज्ञान तथ्यो के निरीक्षण द्वारा नही होता, बल्कि तात्त्विक तादात्म्य की पूर्वधारणाओ अथवा कार्यकारण रूपी आवश्यकता के आधार पर किए गए अनुमान से होता है। बौद्ध दार्शनिक इन कार्यकारणभाव तथा तादात्म्य सम्बन्धी सिद्धान्तो की सामान्य सत्ता को स्वीकार करते है, क्योकि बिना इनकी स्वीकृति के और कोई निस्तार नही है। दिङ्नाग के अनुसार, ज्ञान के द्वारा वस्तुनिष्ठ सत्ता के यथार्थ सम्बन्धो का स्पष्टीकरण नही होता है। अन्तर्निहितता, तत्त्व, गुण और उद्देश्य वस्तु के सम्बन्ध, जिनके द्वारा हम किसी निष्कर्ष पर पहुचते है, ये सब विचार के द्वारा आरोपित किए जाते है।[3] सम्बन्ध केवल तर्कजन्य है।

वाचस्पति उक्त बौद्धमत की कड़ी छानबीन करता है। बौद्ध दार्शनिको की दृष्टि मे कार्यकारणभाव के नियम की सन्तुष्टि हो जाती है यदि हम आग लगने की अवस्था मे धुए की उपस्थिति को किसी अदृश्य पिशाच के द्वारा

१. कीथ : 'बुद्धिस्ट फिलासफी', पृष्ठ २३३। तुलना कीजिए बर्कले के अमूर्त विचारों के मत से, 'प्रिंसिपल्स आफ ह्यूमन नौलेज', भूमिका, पृष्ठ १३।

२. न्यायबिन्दु, ३।

३. देखिए न्यायकंदली, पृष्ठ २०७। वाचस्पति दिङ्नाग से उद्धृत करता है—"सर्वोऽयम् अनुमानानुमेयभावो बुद्ध्यारूढेन धर्मधर्मिभावेन न बहिस्सदसत्त्वम् अपेक्षते।" (न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका, १ : १, ५)।

उत्पन्न हुआ बता सकें। और उनके मत मे यह भी आवश्यक नहीं है कि कार्य-विशेष का कारण भी वही एक हो। यदि कारण वह है जो कार्य से पहले आता है तो दोनों का एक ही समय मे विद्यमान रहना नहीं बनता। धुएं को देखने से हम वर्तमान में नहीं किन्तु भूतकाल में आग के अस्तित्व का अनुमान कर सकते हैं। और यदि दोनो का तादात्म्य है तो एक के प्रत्यक्ष ज्ञान का अर्थ दूसरे का भी प्रत्यक्ष ज्ञान है, और उस अवस्था में अनुमान की आवश्यकता नहीं रहती। वाचस्पति और जयन्त बलपूर्वक कहते है कि देवदारु और वृक्ष के मध्य सम्बन्ध तादात्म्य सम्बन्ध नहीं है, क्योकि सभी वृक्ष देवदारु नहीं हैं।[1] बौद्धमतानुयायी हमे यह नहीं बतलाता कि कार्यकारणभाव तथा तात्त्विक तादात्म्य सम्बन्धी सिद्धान्त स्वय कहां से आए। साहचर्य की अनेक ऐसी अवस्थाएं है जिनका कार्यकारणभाव अथवा तादात्म्य से कोई सम्बन्ध नही है। नैय्यायिक के अनुसार, सभी प्रकार के पारस्परिक सम्बन्ध व्याप्ति के अन्दर आते है। केवल वही सम्बन्ध नही जो कार्यकारणरूप से पूर्वापरभाव रखते हैं अथवा जाति एवं उपजाति के मध्य है, बल्कि इस प्रकार के अन्य सम्बन्ध भी जैसेकि सभी "सींगोंवाले पशुओं के खुर फटे हुए होते है", व्याप्ति के अन्दर आते है।[2]

१०

कारण

अन्य सब सामान्य सिद्धान्तों की भांति, कार्यकारणभाव का नियम भी नैय्यायिक के लिए एक अन्तर्दृष्टि द्वारा ज्ञात स्वतःसिद्ध सिद्धान्त है, जिसकी पुष्टि अनुभव द्वारा होती है। देखे गए कार्यकारण-सम्बन्धो से उस सिद्धान्त का समर्थन होता है जिससे समस्त अनुसन्धान आरम्भ होता है। कारण वह है जो, बिना अपवाद के, कार्य से पूर्व विद्यमान रहता है और जिसकी आवश्यकता केवल मात्र सहायक के रूप में ही नहीं, बल्कि कार्य की उत्पत्ति के लिए भी है। यह एक घटनाक्रम का पूर्ववर्ती अवयव है, जो सतत रूप से अनेक अवस्थाओ मे पूर्ववर्ती रहा है। किन्तु केवल पूर्ववर्ती होना ही पर्याप्त नही है।[3] इसे एक आवश्यक पूर्ववर्ती होना चाहिए।

१. न्यायमञ्जरी, पृष्ठ ११४, और न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका, १ : १, ५।

२. प्रशस्तपाद उल्लेख करता है कि कार्यकारणभाव के विपरीत सह-अस्तित्व, जैसे कि चन्द्रमा के उदय से समुद्र के ज्वार तथा कुमुदिनी के खिलने का संकेत मिलता है, व्याप्ति के अन्दर आ जाते हैं (प्रशस्तपादकृत पदार्थधर्मसंग्रह, पृष्ठ २०५)।

३. ग्लैंडाकर :—मेरे जन्म दिन में

अन्तरिक्ष का पूर्ण भाग आग्नेय आकृतियों से
तथा जलती हुई मशालो से भरा आया; और मेरे जन्म के समय
पृथ्वी का यह महान ढांचा अपनी नींव समेत
एक भीरु मनुष्य की भांति कांप उठा था।

अन्यथासिद्ध उस पूर्ववर्ती को कहते है जिसका सम्बन्ध कार्य के साथ कार्यकारण रूप में न हो, यद्यपि उसके साथ विद्यमान भले ही रहा हो। विश्वनाथ[1] इस प्रकार के विभिन्न अन्यथासिद्ध कारणों का उल्लेख करता है। हम अपनी उंगली द्वारा किसी पदार्थ की आकाशीय स्थिति का संकेत कर सकते हैं। इस प्रकार उंगली द्वारा किया गया संकेत भले ही सतत उपस्थित रहता हो किन्तु आकाशीय स्थिति के प्रत्यक्ष के साथ यह कार्यकारणभाव से सम्बद्ध नहीं है। कुम्हार का डडा एक निरुपाधिक पूर्ववर्ती है, जबकि उस डडे के रंग से कोई प्रयोजन नही है। डडे की गति से जो शब्द होता है वह भी एक सहजात कार्य है। नित्य और सर्वव्यापी द्रव्य, जिन्हे स्वेच्छा से न तो उपस्थित ही किया जा सकता है और न हटाया ही जा सकता है, निरुपाधिक पूर्ववर्ती नही है। उपाधि की उपाधि का भी, जैसे कि कुम्हार के बाप का घड़े के निर्माण से कोई सम्बन्ध नही है, हमे केवल तात्कालिक पूर्ववर्तियों से प्रयोजन है। एक ही कारण के सहजात कार्यो मे भी कभी-कभी परस्पर कार्य-कारण-सम्बन्ध की भ्राति हो जाती है। गुरुत्वाकर्षण के सामान्य कारण से तराजू के पलड़ो का ऊपर उठना एव नीचे गिरना होता है। जब ये दोनों सहजात कार्य एक-दूसरे के पश्चात् होते है, तब इस विषय की बहुत आशंका रहती है कि कही पूर्ववर्ती सहजात कार्य को पश्चाद्वर्ती सहजात कार्य का कारण न समझ लिया जाए। कार्य की उत्पत्ति के लिए जो अनावश्यक है, वह उसका अनुपाधिक पूर्ववर्ती नही है। कारण को आनुषङ्गिक परोक्ष एव नैमित्तिक या आकस्मिक उपकरणो के साथ मिश्रित नही करना चाहिए।[2] यह मानी हुई बात है कि यदि बाधक शक्तिया उपस्थित है तो कारण से कार्य नहीं निकलेगा। इसलिए कभी-कभी 'प्रतिबधकाभाव' को भी कारण की परिभाषा में जोड़ दिया जाता है। केशव मिश्र ने कारण की परिभाषा इस प्रकार की है कि ऐसा आवश्यक पूर्ववर्ती जिससे कोई अन्य कार्य सम्पन्न न हो सके, कारण है। धागे कपड़े के कारण बनते हैं किन्तु उनका रग कारण नही है, क्योंकि रंग कपड़े के विशेष रग का कारण भले ही हो, कपड़े का कारण नही है।

ऐसे दो पदार्थों का परस्पर कार्यकारण-सम्बन्ध नही हो सकता जब तक कि उनके बीच अन्वय-व्यतिरेकी सम्बन्ध न हो अर्थात् कारण की विद्यमानता का अर्थ कार्य की विद्यमानता और कारण के अभाव का अर्थ कार्य का अभाव हो। कार्यकारण-सम्बन्ध पारस्परिक तथा प्रतिलोमी होते है। वे रहस्यमय शक्तियां नही है। उनका निश्चय इन्द्रियानुभव द्वारा पूर्वापरक्रम को देखकर किया गया है जो एकसमान तथा

हाट्स्पर :—क्यों, यदि तुम्हारी मां की बिल्ली ने भी उसी मौसम में बच्चे दिए होते तो भी ऐसा ही होता, तुम्हारा जन्म भले ही उस समय न भी होता (१ : हेनरी ४; ३ : १, १३)।

१. 'सिद्धान्तमुक्तावलि', पृष्ठ १९–२२।

२. अन्यथासिद्धनियमपूर्ववृत्तिकारणम्। देखिए तर्कसंग्रह, पृष्ठ ३८; तर्कभाषा, पृष्ठ ११।

अपवादरहित है"।[1] तथ्यों के सावधानी से निरीक्षण पर बल दिया गया है। उदयन कहता है—हमको परिश्रम के साथ प्रयास करके ऊहापोह के द्वारा अनेकों परिमितताओं तथा पृथक्करणों का निर्णय करना चाहिए।[2] प्रकृति हमारे समक्ष अन्तर्निहित सामग्री को जटिलरूप मे प्रस्तुत करती है। हमें अपनी विवेकबुद्धि द्वारा पूर्वापरक्रम की विवेचना करके असम्बद्ध अंशों को कार्य-कारण से अलग करना होगा। हमें यह भी खोज करनी होगी कि क्या कार्य का तिरोभाव संदिग्ध कारण के तिरोभाव की वजह से है ? इस सब अनुसन्धान में इस बात का पूरा-पूरा ध्यान रखना आवश्यक है कि अन्य किसी परिस्थिति में तो परिवर्तन नहीं हुआ है। पूर्ववर्ती की अनुपाधिकता का निश्चय करने में भेदपरक उभयविधि के प्रयोग का बड़ा महत्त्व है, जैसी कि पञ्चकारणी नामक बौद्ध सिद्धान्त में पाई जाती है।[3]

कार्यकारण-सम्बन्ध न तो हेतुमुख और न ही फलमुख से प्राप्त किए जाते हैं। वे प्रस्तुत तथ्य नहीं है, बल्कि प्रस्तुत सामग्री के आधार पर की गई बौद्धिक रचनाएं हैं। यह कहना कि 'क' 'ख' का कारण है, इन्द्रियज्ञानगम्य विशिष्टों से ऊपर जाना और पूर्वापरक्रम के नियम का ज्ञान प्राप्त करना है। कार्यकारण का नियम केवल घटनाओं का क्रम न होकर तत्त्वों का पारस्परिक सम्बन्ध है। जबकि तत्त्व प्रस्तुत किए जाते है, सम्बन्ध प्रस्तुत नहीं किया जाता।

यदि हम कारणों के अनेकत्व को स्वीकार करें तो कार्यकारणभाव के नियम की प्रयत्नपूर्वक की गई व्याख्या बिलकुल ही निरर्थक हो जाती है। और यदि कारणों के अनेकत्व में कोई वैज्ञानिक सचाई है तो अनुमान प्रमाण ज्ञान-प्राप्ति का प्रामाणिक साधन न रहेगा।[4] यदि हम किसी नदी का पानी बढ़ा हुआ देखें तो हम केवल यही अनुमान नहीं कर सकते कि यह पिछली वर्षा का परिणाम है। ऐसा आंशिक रूप में नदी के तट पर बांध बांधने से भी सम्भव हो सकता है। यदि हम चींटियों को अण्डे ले जाते हुए देखें तो यह कार्य उनके आश्रय स्थानों के बिगड़ जाने से भी हो सकता है, और यह आवश्यक नहीं है कि यह आनेवाली वर्षा के ही कारण हो। मोर की केकाध्वनि सुनाई पड़े तो यह निश्चित रूप से बादलों के घिरने के कारण ही नहीं हो सकती है। यह भी संभव हो सकता है कि कोई विशेष व्यक्ति मोर की आवाज़ की नकल कर रहा हो। न्याय का मत है कि कारणों में अनेकत्व नहीं है और एक कार्य के लिए एक ही कारण है। कारणों के अनेकत्व की प्रतीति त्रुटिपूर्ण विश्लेषण के कारण है। यदि कार्य को पर्याप्त रूप से परिमित तथा विशिष्ट बना दिया जाए तो अनेकत्व गायब हो जाता है। वर्षा के कारण नदी का बढ़ना और प्रकार का होता है और तट पर बांध बन जाने से नदी का बढ़ना और प्रकार का होता है। वर्षा के कारण आई हुई बाढ़ में पानी की धारा बहुत वेगवती होती है, पानी में झाग भी बहुत रहता है और फूल-पत्ती व फल आदि भी अधिक राशि में बहते हुए पाए जाते है। इसी प्रकार आश्रयस्थान के बिगड़ने से जो चींटियां अण्डे लेकर भागती हैं उनकी गति में और वर्षा के

१. भाषा-परिच्छेद, पृष्ठ १६। २. कुसुमाञ्जलि, १ : ६।
३. भारतीय दर्शन, प्रथम खण्ड, पृष्ठ ४२७। ४. न्यायभाष्य, २ : १, ३७–३८।

आगमन की सूचना से जो चलती हैं उनकी गति में भी काफी अन्तर है। मोरों की स्वाभाविक ध्वनि तथा मनुष्य के द्वारा की गई उसकी नकल में तो स्पष्ट ही भेद किया जा सकता है। यदि हम कार्य के विशेषत्व की ओर ध्यान दें तो यह स्पष्ट हो जाएगा कि उसका एक ही विशेष कारण है। यदि हम कार्य का भावात्मक अमूर्तरूप से विचार करते हैं तो कारण का भी विचार उसी रूप से करना चाहिए। वाचस्पति और जयन्त हमें बताते हैं कि कारणों पर यदि हम पूरा-पूरा ध्यान देकर उनके वैशिष्ट्य की जांच करें तो उनका अनेकत्व मिट जाएगा। परन्तु कई तार्किक यह मान लेते हैं कि एक ही कार्य के विभिन्न संभावित कारण एक सामान्य शक्ति अथवा क्षमता (अतिरिक्त शक्ति) रखते हैं। कारणों के अनेकत्व को हम केवल उसी अवस्था में स्वीकार कर सकते है जबकि हम विज्ञान से विमुख होना पसन्द करें। उस अवस्था में, जैसाकि परवर्ती न्याय हमें बतलाता है, चूंकि किसी भी कार्य के लिए एक से अधिक कारण-कलाप की कल्पना हम कर सकते है, अत: कार्य उनमे से कारणसमूह का नहीं, किसी एक विशेष बल्कि प्रत्येक का चिह्न है। यदि कार्य के अभाव का हमें निश्चय हो तो उक्त कारणों में से भी किसी एक के अभाव का नही, बल्कि प्रत्येक के अभाव का निश्चय होना चाहिए। इन अर्थो में, सम्भावित और वैकल्पिक कारण-कलापों मे से कोई एक ही ऐसा होगा कि जिसकी विद्यमानता मे कार्य की भी सतत रूप से और बिना किसी उपाधि के विद्यमानता अवश्यम्भावी है। कारण को लक्षित करानेवाला (कारणतावच्छेदक) चिह्न सम्भावित कारण-कलापों मे से किसी एक की उपस्थिति को ही बतलाता है, इससे अधिक कुछ नहीं।

तीन प्रकार के कारण माने गए हैं[1] -(१) उपादान (भौतिक) कारण वह सामग्री है जिससे कार्य का निर्माण होता है। उदाहरण के लिए धागे कपड़े का उपादान कारण हैं और मिट्टी घड़े का उपादान कारण है।[2] (२) अभौतिक अथवा असमवायी कारण वह है जो भौतिक कारण मे रहता है और जिसकी क्षमता अच्छी तरह जानी हुई है। धागों का परस्पर सयोग कपड़े का अभौतिक कारण है। यदि धागों को जोड़ा न जाएगा तो वे केवल एक बण्डलमात्र ही रह जाएंगे और कपडे का निर्माण न कर सकेंगे। धागों का रग भी अभौतिक कारण है क्योंकि उसकी क्षमता कपड़े के अन्दर रंग लाने के सम्बन्ध में जानी हुई है। उपादान कारण द्रव्य है, किन्तु अभौतिक कारण

१. वैशेषिकसूत्र, १० : २, १-७ : तर्कभाषा, पृष्ठ १५-२५ ; भाषा परिच्छेद, १७-१८ ; तर्कसंग्रह, ४० ।

२ न्याय के अनुसार, कार्य का नाश उपादान कारण के विनाश से होता है। जब एक धागे को नष्ट करते हैं तो असली कपड़ा भी नष्ट हुआ माना जाता है। इस तथ्य का समाधान कि कपड़ा उस अवस्था में भी बना रहता है और जुलाहे व उसकी भरनी आदि की आवश्यकता उसके नये सिरे से निर्माण के लिए नहीं पड़ती, इस धारणा से होता है कि मौलिक उपादान कारण का सर्वथा नाश नहीं हुआ था, बल्कि वह बचे हुए धागों में एक अन्तर्निहित स्वतः उत्पादक संस्कार अथवा स्वभाव (स्थितिस्थापक संस्कार) के रूप में बना रहा था जिससे कि वे तुरन्त एक नये कपड़े को उत्पन्न कर सकें।

गुण अथवा क्रिया है।[1] न्यायशास्त्र द्वारा प्रतिपादित परमाणुवाद के सिद्धान्त के अनुसार भौतिक जगत् में समस्त परिवर्तन अंशो के परस्पर जुडने व अलग होने के कारण होता है। मूल घटक वही परमाणु है, यद्यपि उनका योजनाक्रम प्रत्येक क्षण परिवर्तित होता रहता है। निमित्त कारण पूर्वोक्त दोनो कारणो मे भिन्न है। यह वह कारण है जिसकी प्रेरणा से कार्य की उत्पत्ति होती है, अर्थात् कार्य का प्रयोजन या साधन जिससे कार्य की उत्पत्ति होती है। कुम्हार घडे का निमित्त कारण है, जबकि कुम्हार का डडा व चाक आदि सहकारी कारण है। ये तीनो कारण अरस्तू द्वारा प्रतिपादित भौतिक, औपचारिक तथा निमित्त कारणो से अनुकूलता रखते है। स्वय कार्य को अरस्तू का अन्तिम कारण माना जा सकता है।

कभी-कभी ऐसे कारण को जो तुरत कार्य को उत्पन्न करता है करण कहा जाता है और उसकी परिभाषा है कारणविशेष।[3] केशव मिश्र के अनुसार यह उच्चकोटि का कारण है।[4] कारणो के सग्रह मे कारण वह है जो तुरत कार्य को उत्पन्न करे। प्रत्यक्ष ज्ञान की क्रिया मे ज्ञाता तथा ज्ञेय पदार्थ दोनो का उपस्थित रहना आवश्यक है, यद्यपि प्रधान कारण इन्द्रिय-सम्पर्क है। नीलकण्ठ ने करण की परिभाषा मे कहा है कि ऐसा कारण जिसके बिना अभिलषित कार्य किसी भी अवस्था मे उत्पन्न न हो सके।[5] घडे की उत्पत्ति मे कुम्हार का डडा साधनरूप कारण है। जगल का डडा कारण नही है। यह तभी कारण बनता है जबकि घडे की उत्पत्ति मे उसका प्रयोग वस्तुत किया जाता है। इसलिए 'व्यापारवद्' विशेषण जोड दिया जाता है। आधुनिक न्याय एक पग और आगे बढता है और कहता है कि करण वह नही है जिसके अन्दर व्यापार अथवा क्रिया रहती है, बल्कि स्वय क्रिया ही करण है जो उपयुक्त कार्य का निकटतम कारण है।[7]

परवर्ती न्याय मे कार्य की परिभाषा इस प्रकार की गई है कि कार्य

१. सांख्य और वेदान्त ने इस दूसरे प्रकार के कारण को स्वीकार नहीं किया है। वे कार्य तथा कारण को तादात्म्य-नियम मे आबद्ध मानते है। दोनों को परस्पर बांधने के लिए किसी कड़ी की आवश्यकता नहीं है। समवायी तथा असमवायी कारणों में भेद करना ठीक नहीं रहता। वस्तुतः निमित्त कारण ही असमवायी कारण है। सांख्य और वेदान्त तो उपादान तथा निमित्त कारणों को स्वीकार भी करते है, किन्तु बौद्ध इस भेद को भी स्वीकार नहीं करते। प्रत्येक घटना क्षणिक है जो अन्य को उत्पन्न करती रहती है। दूध में अदृश्य प्रकार का क्षण परिवर्तन होता रहता है; केवल हम इसे एक स्थिति मे दूध और दूसरी में दही कहते है।

२. निमित्त कारणों मे सामान्य और विशिष्ट दो भेद किए गए है। सामान्य कारण आठ हैं: ईश्वर, उसका ज्ञान, इच्छा और कर्म, पूर्ववर्ती अभाव, देश, काल, धर्म (पुण्य) और अधर्म (पाप), इनमें कभी-कभी बाधक प्रभावों के अभाव को भी जोड दिया जाता है (तर्कसंग्रह, २०७–२०८)।

३. असाधारणं कारणं करणम् (तर्कसंग्रह, ३७)।

४. प्रकृष्टं कारणम्।

५. अविलम्ब न कार्योत्पत्ति।

६. 'तर्कसंग्रह', १८६।

७. फलायोगव्यवच्छिन्नं कारणम्।

"अपने पूर्ववर्ती निषेध का प्रतिपक्षी अस्तित्व है।"[1] यह पूर्ववर्ती निषेध का निश्चित सह-सम्बन्धी है। यह कहना कि कार्य का पहले अभाव होता है, यह स्वीकार करना है कि कार्य का आरम्भ होता है। यह असत्कार्यवाद का सिद्धान्त है। इसे, दूसरे शब्दो मे, आरम्भवाद भी कहते है। किन्तु भ्रूणविकासवाद का सिद्धान्त यह है कि कार्य का अस्तित्व कारण मे पहले से नही रहता किन्तु कार्य की उत्पत्ति नये सिरे से होती है, जिसे यो भी कह सकते है कि वस्तुसत्ता मे रचनात्मक क्रम है जिसके अनुसार उसमे नित्य नूतन स्वरूप की वृद्धि होती रहती है। कई बौद्ध दार्शनिको का मत है कि कार्य की उत्पत्ति के पूर्व न तो उसके अस्तित्व को ही स्वीकार किया जा सकता है और न अभाव को ही, और दोनो को एकसाथ भी नही माना जा सकता। न्याय का कहना है कि कारण से उत्पन्न होने के पूर्व कार्य का अभाव रहता है और इस विचार की समता न्याय के इस सिद्धान्त मे भी ठीक बैठती है कि पूर्णरूप उन अशो से जिनसे मिलकर वह बनता है, बिलकुल भिन्न है। साख्य तथा वेदान्त का आग्रह है कि कार्य मे पहले मे विद्यमान क्षमताओ का वास्तविकीकरण होता है। साख्य के मतानुसार निमित्त कारण केवल प्रकट होने की प्रक्रिया मे सहायक मात्र है। नैय्यायिक इस मत की आलोचना इस प्रकार करता है कि यदि कपडा पहले से ही धागो मे विद्यमान है तो हमे वह दिखाई क्यो नही देता? धागे ही कपडा नही है कपडे की तरह हम धागो को पहन नही सकते। कपडा प्रकट नही होता यह कोई तर्क नही है, क्योकि प्रकट न होना ही तो वास्तविक समस्या है। यदि प्रकट होने से तात्पर्य 'ऐसी आकृति के रूप मे विद्यमान न रहना है जिसका प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है और जो कार्य करने मे सक्षम है" तो यह कारण की क्रिया मे पूर्व कार्य का स्पष्ट ही अभाव है। कोई पदार्थ जो कारण की क्रिया से पूर्व एक आकृति-विशेष मे विद्यमान नही था, अब कारण की क्रिया से अस्तित्व मे आया है।[2] कार्य कारण से आकृति, क्षमता और स्थिति मे भिन्न है। इसके अतिरिक्त, यदि साख्य के अनुसार कार्य की कारण से अभिन्नता के सिद्धान्त को स्वीकार कर लिया जाए तो यह समस्त भौतिक जगत् ही जो आद्य प्रकृति से बना है, प्रकृति के समान ही अदृश्य होना चाहिए। यदि कार्य का विस्तार शून्य आकाश मे कारण ही के समान है तो इसका कारण यह है कि कार्य का आधार कारण मे है। इसलिए प्राकृतिक

१. प्रागभावप्रतियोगी (तर्कसंग्रह, ३८)।

२. कणाद ने यह दर्शाने के लिए कि कारण और कार्य सर्वथा भिन्न है, अनेक युक्तियों का आश्रय लिया है : (१) वे भिन्न-भिन्न विचारों के पदार्थ है; (२) और भिन्न-भिन्न शब्दों के भी; (३) वे भिन्न-भिन्न कार्यों को उत्पन्न करते है; और (४) समय के भिन्न भिन्न क्षणों में होते हैं; (५) आकृति में भी अन्तर है (६) संख्या में भी, क्योंकि धागे अनेक है और कपड़ा एक है; (७) यदि कारण और कार्य एक समान होते तो कारण से कार्य को उत्पन्न करने के लिए किसी प्रयत्न की आवश्यकता न होती। और देखिए न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका, ३ : २, १७।

३. न्यायसूत्र, ४ : १, ४८–५४। ४. न्यायवार्तिक, ४ : १, ४६।

तथ्यों द्वारा निर्दिष्ट इस मत को कि पदार्थ नये सिरे से उत्पन्न और नष्ट होते हैं अस्वीकार करने का कोई कारण प्रतीत नहीं होता।[1] यह मत भी, कि जब दूध दही के रूप में परिवर्तित होता है तो केवलमात्र रूप में परिवर्तन होता है, विनाश की कोई क्रिया नहीं होती, तर्क-संगत नही है। जब हम किसी नये पदार्थ को पुनर्निर्माण की नई विधि द्वारा बनते हुए देखते हैं तो उससे हम अनुमान करते है कि पहला पदार्थ नष्ट हो गया।[2] दूध के संघटित अवयव पहले फट जाते है और फिर वे पुनः संघटित होकर दही को उत्पन्न करते हैं। नैय्यायिक स्वीकार करता है कि पूर्व पदार्थ का पूर्णरूपेण विनाश होने से नये पदार्थ का निर्माण होना असम्भव होगा। तात्पर्य यह निकला कि पदार्थ केवलमात्र अपनी पूर्वस्थिति को छोड़ता है, यद्यपि नैय्यायिक इसे प्रकट रूप में स्वीकार करने को प्रवृत्त नही होता।

सांख्य तथा वेदान्त के ग्रन्थों में, जिनका सिद्धान्त कार्य-कारण भाव के सम्बन्ध में भिन्न है, न्याय के विचार की आलोचना की गई है। यहां सांख्य-कारिका से एक दृष्टान्त दिया जा सकता है।[3] जिसका अस्तित्व नहीं है उसे कभी भी उत्पन्न नहीं किया जा सकता। हम चाहे कितना ही प्रयत्न क्यों न करें, नीले को पीले में परिवर्तित नहीं कर सकते। और फिर उपादान कारण सदा ही कार्य के साथ जुड़ा हुआ मिलेगा, जैसे कि तेल के साथ तिल। क्योंकि अभावात्मक पदार्थ के साथ सम्बन्ध सम्भव नही है, इसलिए कार्य को कारण में विद्यमान मानना पड़ेगा। ऐसा कहना, कि कारण से कार्य की उत्पत्ति हो सकती है बिना उसके साथ सम्बन्ध रहते हुए भी, असंगत होगा। क्योंकि उस अवस्था में, कोई भी पदार्थ किसी भी कारण से उत्पन्न हो सकता है और कार्यविशेष की उत्पत्ति के लिए कारणविशेष का भी प्रश्न नही उठता।[4] यदि कहा जाए कि असम्बद्ध कारण अपने अन्दर छिपी हुई क्षमता के कारण कार्य को उत्पन्न कर सकता है,[5] तो यदि उस शक्ति का कार्य से सम्बन्ध है तो यह कहना भी सर्वथा उचित ही होगा कि कार्य कारण के अन्दर पहले से विद्यमान है: और यदि सम्बन्ध नही है तो इस कठिनाई का कि एक कार्यविशेष एक शक्तिविशेष से क्यों उत्पन्न होता है, कोई हल नही मिलता। इसके अतिरिक्त, क्योंकि कारण और कार्य दोनों की एक ही प्रकृति है, अतः यदि एक विद्यमान है तो दूसरे को भी

१. न्यायभाष्य, ४ : १, ४९। २. न्यायभाष्य, ३ : २, १६। ३. ९।

४. इस मत के अनुसार, कहा जाता है कि असम्भव पदार्थ जैसे शशक का सींग भी उत्पन्न किया जा सकता है। न्याय इसका उत्तर इस प्रकार देता है कि हमारे मन में जो कुछ उत्पन्न होता है वह पहले विद्यमान नहीं था, किन्तु हरएक पदार्थ जिसका पहले अस्तित्व न रहा हो उत्पन्न हो सकता है ऐसी बात नहीं है (न्यायमञ्जरी, पृष्ठ ४९४)।

५. यदि उत्पत्ति से पूर्व कार्य की सत्ता नहीं है तो उत्पादक की कार्यशीलता का क्षेत्र कार्य से अलग कहीं और कल्पना करना पड़ेगा। दूसरे शब्दों में, धागों के प्रति उत्पादक का प्रयत्न घड़े को उत्पन्न कर सकता है। वैशेषिक इस कठिनाई का समाधान इस प्रकार करता है कि एक कारण-विशेष में जो क्रिया लगाई जाती है वह उन्हीं कार्यों को उत्पन्न कर सकती है जिनकी क्षमता उस कारण में निहित हो।

अवश्य विद्यमान होना चाहिए। सांख्य और वेदान्त का आग्रह है कि यदि कार्य कारण से सर्वथा भिन्न है तो दोनो को जोडनेवाला कोई निर्णायक सिद्धान्त नही हो सकता। नैय्यायिक का कहना है कि यदि कार्य कारण से भिन्न नही है तो हम उनके अन्दर कारण और कार्य का भेद नही कर सकते। दोनों विचार तर्कसगत है, यद्यपि भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणो के आधार पर।

इस विषय से आगे बढने से पूर्व हम न्यायशास्त्र के कार्यकारणभाव के विषय मे कुछ समीक्षात्मक विचार प्रस्तुत करेगे। नैय्यायिक पूर्ववर्तित्व पर बल देता है। पूर्ववर्तित्व वस्तुत तार्किक दृष्टि से ठीक है, किन्तु कालक्रम से नही। सूर्य प्रकाश का कारण है, और दोनो एक ही समय में विद्यमान रहते है। वास्तविक कारण तब तक रहता है, जब तक कि कार्य रहता है, और कार्य के पूर्व या पश्चात् कारण का अस्तित्व अनावश्यक है। सत्य की निष्ठा से नही किन्तु क्रियात्मक दृष्टि से नैय्यायिक कार्य-कारण भाव के लिए पूर्ववर्तित्व के महत्त्व को बढा-चढाकर पेश करता है।[1] पूर्ववर्ती अवस्थाओ के विषय मे, और उस परिवर्तन के विषय मे जो अवस्थाओ को एकत्र कर उन्हे कारण बना देता है जिससे कि वे कार्य को उत्पन्न करते है, न्याय का विश्लेषण कृत्रिम है। अवस्थाओ के एकत्र हो जाने से कार्य तुरत उत्पन्न हो जाना है। और यदि वे एकत्र नही होती तो कारण विद्यमान रहते हुए भी कार्य को उत्पन्न करने का काम प्रारम्भ नही करता। कार्य की उत्पत्ति के बिना कारण विद्यमान नही रह सकता। परिवर्तन की प्रक्रिया स्वय कार्य है, उसके अतिरिक्त और किसीको कार्य नही कह सकते। तत्त्वो, उनके एकत्रीकरण और कार्य की उत्पत्ति मे भेद करना काल्पनिक है।[2] शकराचार्य ने ठीक ही कहा है कि हम पूर्ववर्तिता और अनुपाधिकता अथवा अविभाज्यता दोनों पर ज़ोर नही दे सकते। यदि कारण और कार्य परस्पर अविभाज्य सम्बन्ध मे है अर्थात् अयुतसिद्ध हैं, तो कारण का सदा कार्य से पूर्व होना आवश्यक नही है। यह कहना अधिक यथार्थ होगा कि कारण और कार्य एक ही वस्तु की दो भिन्न भिन्न अवस्थाए है, अपेक्षा इसके कि वे दो भिन्न भिन्न पदार्थ है और अविभाज्य रूप से जुडे हुए हैं।[3] इस निष्कर्ष की पुष्टि न्याय के समवाय-सम्बन्ध अथवा अन्तर्निहितता पर बल देने से होती है। यदि कार्य तथा कारण परस्पर समवाय-सम्बन्ध से सम्बद्ध है तो उन्हे

१. कुसुमाञ्जलि, १ : १६।

२. कार्यकारणभाव वस्तुतः समय के अन्दर हो रही परिवर्तन-सम्बन्धी निरन्तर प्रक्रिया की पुनर्रचना है। पृथक् अवस्थाओं का परस्पर मिलना और प्रक्रिया का आरम्भ, इनके बीच कहीं कोई विराम या अन्तरवकाश नहीं है। कारण और कार्य में काल को लेकर भेद नहीं किया जाता। उनमें काल-सम्बन्धी भेद केवल कल्पनात्मक है, क्योंकि यदि कारण सैकेंड के एक अंश-भर भी रहा तो अनन्त काल तक भी रह सकता है। (ब्रैडलो : लाजिक, २ ; पृष्ठ ५३६ टिप्पणी)। कार्यकारणभाव का सूत्र एक कल्पनात्मक एकता है जिसकी खोज और जिसका निर्माण हम परिवर्तनों के निरन्तर क्रम में करते हैं। किन्तु उस क्रम के प्रवाह में इसकी कोई वास्तविक सत्ता नहीं है, पर यह पहले व्याप्तियों के जगत में रहता है (वही, पृष्ठ ५४०)।

३. शाङ्करभाष्य, २ : २, १७।

तादात्म्यरूप से सम्बद्ध मानना अधिक सरल होगा।

यह नही कहा जा सकता कि प्रकृति के तथ्य अपने मे कार्यकारण-सम्बन्धों को इतने स्पष्ट रूप मे धारण किए हुए है कि केवल आख खोलकर देखने मात्र से ही उनका प्रत्यक्ष ज्ञान हो जाएगा। हम कहते है कि 'क' 'ख' का कारण है, अथवा यह कि 'क' आवश्यक है या 'ख' आनुषङ्गिक है, और इस प्रकार हम अपने अनुभव मे क्रम का निर्माण करते है। कार्यकारणभाव हमारे विचार का एक रूप है अथवा बुद्धि की एक वृत्ति है। यह विश्व-नियमो के अधीन शासित होता है, यह एक स्वीकृत पक्ष है जिसे हम तर्कशास्त्र मे स्वीकार कर लेन है और तब आगे चलते है, यद्यपि अध्यात्म-शास्त्र में इसे सिद्ध करना होता है। जीवन मे हम असली कारण को नही पूछते, अथवा किसी भी घटना की व्याख्या नही चाहते। बल्कि एक विशेष कार्य को करने के लिए जिन वस्तुओ की आवश्यकता है उनके ज्ञानमात्र मे ही सन्तोष कर लेते है। मिट्टी घडे का कारण है, जहा प्रकृति तो मिट्टी प्रदान करती है और कुम्हार उसका उपयोग अपने प्रयोजन के लिए करता है। अवस्थाओ या परिस्थितियो का कही अन्त नही है और इसलिए हमारी सब स्थापनाए सापेक्ष होती है। हम कहते है कि यदि ऐसी ऐसी अवस्थाएं हो और यदि इसके विरोधी कारण न हो तो अमुक कार्य अवश्य होगा। कारणों के भी कारण के विषय मे जो कठिनाइया है और उनकी वजह से जो विपरीत परिणाम हो सकता है, उन्हे नैय्यायिक केवल विवादास्पद कहकर त्याज्य समझता है। कारण और कार्य दोनों ही अस्थायी घटनाए है। ये नित्यमत्य नही है, यद्यपि हम इनको अपना अस्तित्व रखने वाले पदार्थ समझकर इनकी व्याख्या करने मे प्रवृत्त होते है। परमाणु यदि कारणरूप है तो वे यथार्थ नही हो सकते। कारण का परिवर्तन के अतिरिक्त कुछ अर्थ नही है और जो भी परिवर्तनशील है वह केवल अस्थायी घटनामात्र है। विश्लेषण करने पर कार्यकारणभाव केवल एक क्रम प्रतीत होता है ऐसी घटनाओ का, जो सदा एक-दूसरे पर निर्भर करती है, फिर भी हम उसे एक वास्तविक प्रत्यय की तरह प्रयुक्त करने को बाध्य हो जाते है। अनुभव के क्षेत्र मे यह निश्चित रूप से उपयोगी है किन्तु हम इसकी नितान्त प्रामाणिकता को स्वीकार नही कर सकते। कार्य-कारणभाव अनुभव का एक रूपमात्र है।[1]

कारण मे कार्य का अभाव है यह विचार जो न्याय ने स्वीकार किया है, इसका उद्गम इस प्राकृतिक पक्षपात मे है कि यथार्थ वह है जो प्रत्यक्ष हुआ हो।[2] हम वस्तुतः उच्चतर और अधिक जटिल स्तरो को निम्न तथा सरल स्तरो से उदय होते देखते है, जिनमे वे पहले नही पाए गए थे। वर्तमान समय के अनेक वैज्ञानिक विचारक यथार्थ-सत्ता-सम्बन्धी इस विचार को एकदैशिक शृङ्खला के रूप मे स्वीकार करते है, अर्थात् सरल से जटिल की ओर बढ़ना, तथा नीचे से ऊपर की ओर बढना। वे यथार्थ-वादी नैय्यायिक से इस विषय मे मतभेद रख सकते है कि अन्तिम सरल इकाई का स्वरूप क्या है। किन्तु उनकी व्याख्या का आदर्श तत्त्वरूप से वही है। हम चाहे भौतिक

१. आरोपित अथवा अध्यस्त धर्म। २. न्यायभाष्य, २ : २, १८।

परमाणुओं से आरम्भ करें, जैसा कि नैय्यायिक करता है, या इलेक्ट्रानों से आरम्भ करें, जैसा कि आधुनिक वैज्ञानिक करता है, अथवा निरपेक्ष सामग्री या इन्द्रिय-सामग्री अथवा देशकाल से आरम्भ करें और उत्तरोत्तर बढ़ती विविध जटिलताओं में से गुजरें, जैसा कि कुछेक समकालीन यथार्थवादी करते है, हमें एक अपर्याप्त आदर्श व्याख्या को स्वीकार करने के लिए बाध्य होना होता है। दार्शनिक बोधगम्यता की पहली शर्त यह है कि अधिक में से न्यून निकल सकता है, किन्तु न्यून मेसे अधिक नहीं निकल सकता। विचारधारा की स्वाभाविक प्रवृत्ति हमें इसी सिद्धान्त को स्वीकार करने की प्रेरणा करती है। नदी की धारा अपने निकासस्थान की ऊंचाई से ऊपर नही उठ सकती। यदि किसी मत में बोधगम्यता की पूर्व-सिद्ध शर्तें भंग होती हों तो, हमें बताया जाता है कि, उन शर्तों को छोड़ देना चाहिए। किन्तु हम अपनी मानसिक रचना में यथार्थवाद के आदेशानुसार परिवर्तन नहीं कर सकते। विचार उपलक्षित,* किन्तु अव्यक्त अथवा सम्भावित को भी ग्रहण करने के लिए बाध्य होता है और स्वीकार करता है कि कार्य अव्यक्त रूप से अथवा सम्भावित रूप से कारण में पहले से अन्तर्निहित था। एक विशुद्ध यथार्थवादी की दृष्टि से विकास केवल आविर्भाव मात्र है। और यदि यह विकास को, आविर्भाव से कुछ अधिक मानता है तो अपना ही विरोध करता है। अलेक्जैण्डर सरीखे यथार्थवादी जब संघर्ष और उच्चतम गुणो अथवा जीवधारियो के विकास की चर्चा करते हैं तो वे देशकाल के अतिरिक्त, अन्य किसी सिद्धान्त की भी कल्पना कर लेते है। यदि यथार्थवादी केवल उसीको जो वास्तविक है, यथार्थ मानता है और सम्भावित को निरर्थक अभिव्यक्ति कहकर छोड देता है तो कार्यकारणवाद समझ मे नही आ सकता। नैय्यायिक अपने मत का स्वयं उल्लंघन करता है जब वह परमाणुओ तथा आत्माओं की यथार्थता को स्वीकार करता है जोकि देखे नहो जाते। वे यथार्थ जिन्हें हम देखते हैं, उत्पन्न होने तथा नष्ट होते है और इसलिए वे अनित्य है। नित्य पदार्थ हमें दृष्टिगोचर नही होते, इसके बावजूद भी हम उनके अस्तित्व की धारणा करते है। यथार्थवादी काल के महत्त्व को अतिशयोक्ति के साथ मानने के लिए बाध्य होता है। गुयाऊ 'काल' पर लिखी अपनी छोटी-सी पुस्तक में कहता है कि "काल को हम आधुनिकों ने एक प्रकार की रहस्यपूर्ण यथार्थसत्ता बना दिया है और उसे दैव-सम्बन्धी पुराने विचार के स्थान में रखकर सर्वशक्तिमान बना दिया है।"[1] काल की परिपूर्णता-विषयक प्रकल्पना के आधार पर हमें कभी भी इस विश्व के, जो न तो निश्चित है न स्थायी है, उद्देश्य का निश्चय नही हो सकता। हम ऐसे जगत् मे निवास करते है जो परिवर्तित होता रहता है और जहा किसी भी पदार्थ से कोई भी पदार्थ प्रकट हो सकता है। इस प्रकार की योजना में परमात्मा का कोई स्थान नही बनता, जब तक कि हम यह पवित्र धारणा न कर लें कि पदार्थों का प्रवाह ऊपर की दिशा में है और स्वयं परमात्मा भी निर्माण की प्रक्रिया के अन्दर है। प्रोफेसर अलेक्जैण्डर हमें विश्वास दिलाते हैं कि दैव मन से आगे का उच्चतर गुण है। हमें अवश्य यह प्रश्न करना चाहिए कि फिर परमात्मा के आगे उससे ऊंचा क्या है?

१. फ़िलॉसॉफ़िकल रिव्यू, सितम्बर १९२३, पृष्ठ ४६६ में उद्धृत।

नैय्यायिक आग्रहपूर्वक कहता है कि कार्य तथा कारण के मध्य मे बराबर तारतम्य है। यदि हम न्याय के मत को आधुनिक विज्ञान की परिभाषा मे सिद्धान्त के रूप मे रखना चाहे तो कह सकते है कि यह समस्त कार्यकारणभाव को शक्ति के व्यय के रूप में मानता है। यह प्रकृति की कार्यप्रणाली मे किसी भी अतीन्द्रिय शक्ति की सत्ता को मानने से निषेध करता है, यदि हम क्षण-भर के लिए इसके अदृष्ट पुण्य-पाप-विषयक विचार को दृष्टि से ओझल कर दे। कार्यकारणभाव केवल शक्ति का पुनर्विभाजन है। कारण परिस्थितियो का सग्रहमात्र है (कारण-सामग्री) और कार्य वह है जो उससे उत्पन्न होता है।[1] साधारण बुद्धि के इस विचार की मान्यता को ठीक बताने के लिए कि पदार्थ उत्पन्न होते तथा नष्ट होते है, नैय्यायिक प्रकृति के तारतम्य को दृष्टि से ओझल कर, खतरा मोल लेता है। वह इस सर्वमान्य विचार के साथ कि असत् से कुछ उत्पन्न नही होता, इस भाव को समन्वित करने की चेष्टा करता है कि वस्तुए बननी प्रारम्भ होती है। पौधे मे से फूल निकलता है, वृक्ष मे से फल निकलता है, तो भी वह अनुभव करता है कि पौधा, फल, फूल और वृक्ष सब अयथार्थ हैं। न्याय, कारण के तात्त्विक तादात्म्य को स्वीकार करता है और उसके मत मे क्रमो मे भेद होता है, जिससे नये गुणो का उदय होता है। अध्यात्मविद्या के समक्ष प्रश्न है कि क्या ये उत्पन्न हुए नये गुण यथार्थ है ? यह बिलकुल सत्य है कि हमने उन्हे कार्य-अवस्था मे ही देखा है, कारणावस्था मे नही देखा। किन्तु क्या इसी आधार पर हम अनुमान कर सकते है कि वे यथार्थ है ? नैय्यायिक जब यह स्वीकार करता है कि ससार की परिवर्तनशील अवस्थाए नश्वर है, तो वह यह भी स्वीकार करता है कि वे नितान्त यथार्थ नही है। यथार्थ अपरिवर्तित है, जबकि एकत्रीकृत पदार्थों के रूप मे परिवर्तन होता है। प्रचलित रूप मे हम कहते है कि पदार्थ अस्तित्व मे आते तथा विनष्ट होते है। वस्तुतः स्पष्टरूप तत्त्वो का परस्पर सम्मिलन तथा पृथक्करण होता है, जो न तो उत्पन्न हो सकते है, न नष्ट हो सकते हैं, न न्यून होते है और न बढाए जा सकते है। यथार्थ विद्यमान रहता है किन्तु उसकी अवस्थाओं मे परिवर्तन होता है। प्रकृति के राज्य मे भी निरन्तरता के प्रथम सिद्धान्त को स्वीकार किया गया है। परमाणु विद्यमान रहते है जबकि उनके आकस्मिक मिश्रण अस्तित्व मे आते है तथा नष्ट होते है। असत् से सत् की उत्पत्ति होती है, इस कथन का विरोधाभास नष्ट हो जाता है जब हम यह स्मरण करते है कि जो अकुर मे है वह वास्तविक रूप धारण कर लेता है। किसी एक स्थिति को भावात्मक रूप देकर उसकी पूर्वस्थिति को अभावात्मक रूप देना भाषा का दुरुपयोग करना है।

१. जैसा कि हम देखेंगे, वैशेषिक स्वीकार करता है। कारण के गुण कार्य के गुणों के कारण होते हैं। मिट्टी का काला रंग घड़े के काले रंग का कारण है, जब तक कि ताप की विरोधी शक्ति उसका रंग न बदल दे। वैशेषिक में इसका अपवाद अणुओं मे द्वयणुकों और द्वयणुकों से त्र्यणुकों की उत्पत्ति में पाया जाता है, जहां कि उत्पादक अवयवों की संख्या परिमाण या आयाम निश्चित करती है। मिश्रित पदार्थों के गुणों में परिवर्तन को न्याय स्वीकार करता है।

११

उपमान अथवा तुलना

उपमान अथवा तुलना वह साधन है जिससे हम किसी पूर्णतया ज्ञात पदार्थ के सादृश्य से किसी अन्य पदार्थ का ज्ञान प्राप्त करते है। यह सुनकर कि जंगली बैल (गवय) गाय के समान होता है, हम अनुमान करते है कि वह पशु जो गाय के सदृश दिखाई देता है, गवय है।[1] उपमान के तर्क मे दो अवयव रहते है— (१) ज्ञेय पदार्थ का ज्ञान, (२) सादृश्य का प्रत्यक्ष ज्ञान। जहा प्राचीन नैय्यायिक पहले को नये ज्ञान का मूल कारण मानते थे, वहा अर्वाचीन नैय्यायिक सादृश्य ज्ञान को अधिक महत्त्व देते है।[2] केवल मात्र सादृश्य ही, चाहे वह पूर्ण हो, चाहे पर्याप्त मात्रा में हो अथवा आंशिक हो, उपमान प्रमाण को युक्तियुक्त सिद्ध करने के लिए पर्याप्त नही है। सादृश्य अथवा तादात्म्य की पहली अवस्था मे कोई नया ज्ञान उपलब्ध नही होता। गाय एक गाय के सदृश है, यह नही कहा जाता है। दूसरी, अर्थात् पर्याप्त सादृश्य की अवस्था मे अनुमान प्रामाणिक ही हो यह नही कहा जा सकता, क्योंकि भैस गाय नही है, यद्यपि दोनो में बहुत-सी बाते सादृश्य की पाई जाती है। और यदि आंशिक सादृश्य है, तब तो मामला और अधिक खराब है। एक तिल मेरु पर्वत नही हो सकता, यद्यपि अस्तित्व का गुण दोनो मे समान है। उपमान के प्रामाणिक तर्क मे हम सादृश्य के अंशों की उतनी गणना नही करते जितना कि उनके महत्त्व पर ध्यान देते है।[3] सादृश्य को महत्त्वपूर्ण या आवश्यक होना चाहिए[4] और कार्यकारण भाव के साथ उसका सम्बन्ध होना चाहिए।[5] उपमान तर्क, पदार्थ और उसके नाम मे जो सम्बन्ध है उसका ज्ञान कराता है।[6] इसका सम्बन्ध अभिज्ञान की समस्या के साथ है। हमें बताया जाता है कि गवय संज्ञा उस जानवर (नील गाय) की है जो गाय के साथ सादृश्य रखता है, और जहा हम ऐसे जानवर को देखते है उसे गवय कह देते है। परवर्ती तार्किकों का मत है कि यह माध्यमरूप अभिज्ञान केवल सादृश्य के ही कारण नही होता, अपितु असादृश्य (वैधर्म्य) के भी कारण होता है, जैसे कि हम एक घोड़े को पहचानते हैं जो कि गाय से भिन्न जानवर है, क्योंकि उसके खुर फटे हुए नही होते जो कि गाय का विशेष धर्म है; अथवा जैसे हम ऊट को पहचानते है, ऊची गरदन आदि उसके विशेष लक्षणों द्वारा।[7] इस अर्थ में उपमान-प्रमाण आधुनिक काल के सादृश्य-तर्क के अनुकूल नही बैठता।

जैसा कि हम देखेंगे, न्यायशास्त्र सत्य के विषय मे उपयोगितावादी के मत को

१. प्रसिद्धवस्तुसाधर्म्यादप्रसिद्धस्य साधनम्।
उपमानं समाख्यातं यथा गौर्गवयस्तथा॥ (हरिभद्रषड्दर्शनसमुच्चय, २३)।
और देखिए न्यायसूत्र, १ : १, ६।

२. सादृश्यज्ञानम् (तर्कसंग्रह, ५८)।
३. न्यायभाष्य, २ : १, ४४।

४. प्रसिद्धसाधर्म्यात्, २ : १, ४५।
५. साध्यसाधनभाव (न्यायभाष्य, २ : १, ४५)।

६. संज्ञासंज्ञिभाव।
७. तार्किक रक्षा, २२।

स्वीकार करता है, जो हमे सफल प्रेरणा देता है। अनुभूत पदार्थों के सम्बन्ध मे तो यह कसौटी उपयुक्त हो सकती है, किन्तु इन्द्रियातीत सत्य इसके क्षेत्र से परे है। नैय्यायिक इस कठिनाई का समाधान उपमान के द्वारा करने की कोशिश करता है। यदि प्राचीन ऋषियों द्वारा प्रतिपादित आयुर्वेद के सिद्धान्त परीक्षा करने पर सत्य सिद्ध हुए तो आध्यात्मिक विज्ञान भी, जो उन्ही ऋषियो द्वारा प्रतिपादित है, अवश्य सत्य होना चाहिए।

क्योंकि उपमान मे सादृश्य के प्रत्यक्ष का विशेष भाग है, अत. दिङ्नाग इसे प्रत्यक्ष ज्ञान की कोटि मे ही रखता है। वैशेषिक इसकी गणना अनुमान मे करता है, क्योंकि तर्क को इस रूप मे रखा जा सकता है: "यह पदार्थ गवय है, क्योंकि यह एक गाय के समान है, और जो गाय के समान होता है वह गवय होता है।"[1] सांख्य तर्क करता है कि उपमान ज्ञानप्राप्ति का स्वतन्त्र साधन नही है, क्योकि अरण्यरक्षक का निर्देश एक आप्त (शाब्दिक) ज्ञान है और सादृश्य का प्रत्यक्ष ज्ञान का एक दृष्टान्त है।[2] भासर्वज्ञ भी इसे शाब्दिक ज्ञान के ही अन्दर रखता है। उपमान का तर्क एक प्रकार से जटिल है, क्योंकि इसमें अरण्यरक्षक द्वारा प्राप्त शाब्दिक ज्ञान कि गवय गौ के समान है यह अवयव सम्मिलित है, प्रत्यक्ष ज्ञान का भी अवयव है क्योकि हम गवय को जगल मे देखते है, एक अवयव स्मृति का है क्योकि जब हम गवय को देखते है तो हमे (अरण्यरक्षक का) कथन स्मरण हो आता है, एक अवयव अनुमान का है क्योकि हम धारणा करते है इस सामान्य प्रतिज्ञा की कि जो गाय के समान है वह गवय है, और अन्ततोगत्वा वह ज्ञान जो इस प्रकार के तर्क का विशेष लक्षण है अर्थात् इस प्रकार के जानवर की सज्ञा गवय है। अन्तिम ही विशेष रूप से उपमान प्रमाण की देन है और इसे ज्ञान के अन्य भेदो के साथ मिला न देना चाहिए, यद्यपि इसमे कुछ रूप अन्य के समान हो सकते है।[3]

१२

आप्त प्रमाण

ज्ञान के मुख्य स्रोतों मे 'आप्त प्रमाण' आता है। हम ऐसी अनेक वस्तुओ के अस्तित्व को, जिन्हें हमने स्वयं नही देखा, न जिनके विषय मे विचार ही किया, अन्य पुरुषो के

१. उपस्कार, ९ : २, ५।

२ तत्त्वकौमुदी, ५।

३. सिद्धान्तमुक्तावलि ७९ और ८०। पूर्वमीमासा और वेदान्त उपमान तर्क की स्वाधीनता को स्वीकार करते है, यद्यपि वे इसकी परिभाषा भिन्न प्रकार मे करते है। जब जंगल में गवय हमें मिलता है तो हमे केवल गाय के साथ इसके सादृश्य का ही बोध नहीं होता किन्तु गवय के साथ गाय के सादृश्य का भी बोध होता है। दूसरा ज्ञान उपमान से ही होता है क्योंकि गाय का तो उस समय प्रत्यक्ष नहीं होता।

प्रामाणिक कथन के आधार पर स्वीकार कर लेते है। हमें प्रचलित साक्ष्य, ऐतिहासिक परम्परा तथा धर्मशास्त्रो की दिव्य वाणी के आधार पर बहुत कुछ ज्ञान प्राप्त होता है। इस प्रकार की ज्ञानप्राप्ति की विधि में तार्किक दृष्टि से जो विवेचनीय विषय सन्निविष्ट है उनके विषय मे शाब्द अथवा आप्त प्रमाण के अन्तर्गत हम विचार करेंगे।

शब्दो के उद्गम तथा स्वरूप, तथा आशय और वाक्यो के विन्यास के विषय मे न्याय का क्या विचार है, इसका उल्लेख सक्षेप मे कर सकते हैं। आकाश जो समस्त देश को व्याप्त किए हुए है, किन्तु वायु नही, शब्द का अधिष्ठान है।[1] शब्द को एक निर्वात (शून्य) स्थान मे भी उत्पन्न किया जा सकता है, भले ही हम उसे न सुन सके क्योकि उसे हमारे कान तक पहुचाने के लिए वायु का वहा अभाव है। शब्द किस कोटि का है यह वायु पर निर्भर नही है, किन्तु उसका उच्चारण आदि वायु पर निर्भर है।[2] शब्द दो कठोर पदार्थों के परस्पर सयोग से उत्पन्न होता है। एक शब्द दूसरे शब्द को, दूसरा एक अन्य शब्द को उत्पन्न करता है, और यह क्रम तब तक चलता है जब तक कि आगे कोई बाधक पदार्थ प्रकट नही हो जाता जहा पहुचकर यह क्रम रुक जाता है।[3] केवल इसलिए कि इसका अधिष्ठान दुर्बोध (इन्द्रियातीत) है, हम यह तर्क नही कर सकते कि शब्द नित्य है।[4]

१. शब्दलहरी का ज्ञान ऐसे समय में भी होता है जब कि रंग अथवा अन्य गुणों वाली किसी वस्तु का प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं होता। इसका तात्पर्य यह हुआ कि शब्द का अधिष्ठान ऐसा है जिसे हम छू नहीं सकते तथा जो सर्वत्र छाया हुआ है और जिस आधार में कम्पन होता है उसमें यह नहीं रहता। (न्यायभाष्य, २ : २, ३८)।

२. वैशेषिक सूत्र, १ : १, ६। 3. न्यायभाष्य, २ : २, ३५-३६।

४. शब्द की अनित्यता को सिद्ध करने के लिए अनेकों युक्तियां दी जाती है (न्यायसूत्र, २ : २, १३-३८)। (१) शब्द का आदि होता है, क्योंकि इसकी उत्पत्ति दो कठोर पदार्थों जैसे एक कुल्हाड़ी और वृक्ष के परस्पर संघर्ष से होती है। यह नहीं कहा जा सकता कि उक्त संघर्ष केवल शब्द की अभिव्यक्ति में सहायक होता है किन्तु उसे उत्पन्न नहीं करता, क्योंकि संघर्ष और शब्द दोनों एक साथ नहीं होते। हम शब्द को, जिस संघर्ष से वह निकला है उसके रुक जाने पर भी, बहुत दूरी पर सुन सकते है। (२) शब्द नित्य नहीं है क्योंकि इसका आदि भी है और अन्त भी है। यदि यह नित्य होता तो बराबर सुनाई देता रहता, क्योंकि यह श्रवणेन्द्रिय के समीप है; किन्तु यह स्थिति नहीं है। हम यह भी जानते हैं कि शब्द कुछेक जाने हुए कारणों से बन्द हो जाता है। घण्टी के साथ अपने हाथ के सम्पर्क से हम घण्टी के शब्द को रोक देते है। (२ : २, ३२-३६; वैशेषिकसूत्र, २ : २, २६-३७)। वात्स्यायन का कहना है कि प्रत्येक शब्द के विषय में शब्दों की एक शृंखला रहती है और इस शृंखला में आगे आनेवाला शब्द पिछले को नष्ट कर देता है। उक्त शृंखला के अन्तिम शब्द को जो नष्ट करता है वह एक बाधक पदार्थ के साथ संयोग होता है (न्यायभाष्य, २ : २, ३६)। परवर्ती नैय्यायिक इस वर्णन में परिवर्तन करते हैं जिससे कि वैशेषिक की इस प्रकल्पना के साथ अनुकूलता हो जाए कि एक गुण दूसरे गुण के अन्दर नहीं रहता और न अन्य गुण के साथ उसका संयोग ही हो सकता है। वाचस्पति का कहना है कि शब्द को जो नष्ट करता है वह बाधक पदार्थ का शब्द के साथ नहीं बल्कि आकाश के साथ सम्पर्क है, जोकि शब्द का उपादान कारण है। आकाश का एक अधिक घने

शब्द अक्षरों से मिलकर बनता है जिससे अभिधा अथवा लक्षणा के द्वारा किसी पदार्थ का संकेत होता है। प्रत्येक शब्द कुछ अर्थ रखता है और इसीको सामान्यतः शब्द तथा उस पदार्थ के मध्य जिसे यह द्योतन करता है, एक प्रकार का सम्बन्ध समझा जाता है।[1]

शब्दार्थ के तथ्य की व्याख्या वैय्याकरणों ने 'स्फोट' के सिद्धान्त पर की है।[2] इसके अनुसार कोई भी अक्षर अकेला जैसे, 'गा' अथवा 'य' या कुल अक्षर 'गाय' शब्द के अनुरूप पदार्थ का ज्ञान उत्पन्न नहीं करा सकते, क्योंकि प्रत्येक अक्षर उत्पन्न होते ही नष्ट हो जाता है। यदि हम यह भी मानें कि पूर्व के अक्षरों ने जो भाव छोड़ा है वह सबसे अन्तिम अक्षर की सहायता करता है, तो भी कई अक्षर मिलकर भी पदार्थ के ज्ञान की व्याख्या नहीं कर सकते। अक्षरों के अतिरिक्त और उनसे ऊपर कोई वस्तु है जिसके द्वारा ज्ञान प्राप्त होता है, और वह स्फोट है, अर्थात् शब्द का सारभूत तत्त्व जिसका आविर्भाव शब्द, अक्षर अथवा वाक्य द्वारा होता है।[3] शब्द का यह सारतत्त्व पदार्थ का बोध कराता है। केवल अकेला अक्षर, जब तक कि वह पूरा शब्द न बन जाए, किसी पदार्थ का संकेत नहीं कर सकता। पदस्फोट के समर्थकों का तर्क है कि

पदार्थ के साथ सम्पर्क होने से आकाश और आगे शब्द को उत्पन्न करने के योग्य नहीं रहता और जब आदिम शब्द का अभौतिक कारण, अर्थात् छड़ी का ढोल के साथ सम्पर्क, बन्द हो जाता है तो उस शृङ्खला को नये सिरे से चालू करने के लिए कुछ नहीं रहता और इस प्रकार अन्तिम शब्द नष्ट हो जाता है। (३) शब्द का बोध उसके शृङ्खलाबद्ध रूप में आगे बढ़ते हुए हमारी एक इन्द्रिय द्वारा होता है। इसका सम्बन्ध शब्दता के वर्ग से है और इसलिए यह अनित्य है (न्यायसूत्र, २ : २, १६)। (४) शब्द की चर्चा इस प्रकार की जाती है कि जैसे इनमें उत्पन्न पदार्थों के गुण विद्यमान हों। गम्भीर व तीखा आदि, इस प्रकार इसका वर्णन किया जाता है। (५) इस तथ्य के आधार पर कि हम शिक्षकों से प्राप्त शब्दों को दोहराते हैं, हम यह नहीं कह सकते कि शब्द नित्य है। जब वे नहीं सुने जाते थे तो उनका अस्तित्व नहीं था और अब हम उन्हें केवल फिर से उत्पन्न करते हैं। विभिन्न शब्द भी दोहराए गए कहला सकते हैं, जैसे हम दो बार त्याग करनेवाले या नृत्य करनेवाले कहला सकते हैं। (न्यायसूत्र, २ : २, २६)। (६) क्योंकि हम इसे छू नहीं सकते इसलिए यह नित्य है, यह तर्क ठीक नहीं है। गति को हम छू नहीं सकते, फिर भी वह अनित्य है (न्यायसूत्र, २ : २, २२–२४)।

१. तुलना कीजिए विज्ञानभिक्षुसांख्यसूत्र, ५ : ३७। वैय्याकरण भट्टोजीदीक्षित (वैय्याकरणभूषण, पृष्ठ २४३) और नागेश भट्ट (मंजूषा, पृष्ठ २३–२६) इस द्योतक शक्ति को केवल मात्र शब्दों में ही रहनेवाली मानते हैं, यद्यपि सांख्य और वेदान्त का मत है कि यह प्रमेयविषयों में भी रहती है। 'पञ्चदशी', ८ : ४–१५ ; न्यायबिन्दुटीका, पृष्ठ १०–११।

२. पाणिनि का उल्लेख स्फोटायन के विषय में ६ : १, १२३ में संकेत करता है कि उनके समय में यह सिद्धान्त प्रचलित था। देखिए सर्वदर्शनसंग्रह, पाणिनिदर्शन।

३. ड्यूसन स्फोट और भाव को एक ही मानता है। थिबौत इसे व्याकरण की एक कल्पना समझता है और वह यह निश्चयपूर्वक कहता है कि यह 'भाव' नहीं हो सकता क्योंकि इसे स्पष्ट रूप में वाचक अथवा अभिधायक कहा गया है। इसमें शब्द के भाव के विचार का कारण भी कहा गया है। (थिबौतकृत शाङ्करभाष्य, पृष्ठ २०४, टिप्पणी—इंगलिश अनुवाद) और देखिए शाङ्करभाष्य, १ : ३, २८।)

केवल एक पद अथवा एक शब्द अर्थ का बोध करा सकता है। इसी प्रकार वाक्यस्फोट के समर्थकों का कहना है कि केवल एक वाक्य पूरे अर्थ का संकेत कर सकता है। वाक्यस्फोट के समर्थकों के अनुसार, वाक्य वाणी का केवल प्रारम्भ है, जबकि शब्द वाक्यों के भाग हैं और अक्षर शब्दों के भाग हैं। स्फोट अथवा शब्द के सारतत्त्व को नित्य कहा गया है और वह स्वयम्भू है जिसका संकेतित पदार्थ के साथ स्थायी सम्बन्ध है। अक्षर, शब्द और वाक्य नित्य-अर्थों का केवल आविर्भाव करते हैं, उन्हें उत्पन्न नहीं करते। नैय्यायिक का मत है कि जो कुछ सार्थक है वह शब्द है[1] और ज्योंही हम शब्द के अन्तिम अक्षर को सुनते हैं, हमें उसके अर्थ का ज्ञान हो जाता है। अन्तिम अक्षर 'य' को सुनने के साथ ही हमें पहले अक्षर 'गा' की स्मृति हो जाती है और पूरा शब्द 'गाय' हमारे मस्तिष्क में आ जाता है। इस प्रकार हम शब्द और पदार्थ का जो रूढ़िगत सम्बन्ध है उसके द्वारा पदार्थ का ज्ञान कर लेते हैं।[2]

शब्द और अर्थ के मध्य जो सम्बन्ध है वह प्रकृति के कारण नहीं, अपितु लोकाचार से है, और इस मत का समर्थन हमारे उस अनुभव से भी होता है कि हम किस विधि से शब्दों के अर्थों का ज्ञान प्राप्त करते हैं। हमें प्रचलित प्रयोग, व्याकरण तथा शब्दकोष के द्वारा शब्दों के अर्थों का ज्ञान प्राप्त होता है। वेदान्त इसके साथ भावभंगी को भी जोड़ देता है।[3] यह रूढ़ि कि अमुक-अमुक शब्द अमुक-अमुक अर्थ का वाचक होगा ईश्वर-सम्थापित (ईश्वरसंकेत) है।[4] परवर्ती न्याय स्वीकार करता है कि मनुष्य भी रूढ़ि की स्थापना करते हैं (इच्छामात्र शक्ति),[5] यद्यपि मानुषिक रूढ़ि को पारिभाषिक संज्ञा दी गई है, क्योंकि वह भिन्न-भिन्न मनुष्यों के साथ बदलती रहती है।

शब्दों का द्योतित अर्थ क्या है, व्यक्ति, अथवा आकृति, अथवा जाति, या उक्त सब कुछ?[6] व्यक्ति वह है जिसकी एक निश्चित आकृति (मूर्ति) हो और जो विशेष गुणों का वासस्थान हो।[7] यह व्यक्त है और उसे प्रत्यक्ष देखा जा सकता है।[8] आकृति विशिष्ट गुण है, गलकंबल का व्यवस्थापन गाय की आकृति है। जाति एक नमूना अथवा वर्ग है और जाति के पदार्थ में पाया जानेवाला सामान्य विचार है। यह हमें प्रस्तुत व्यक्ति के सदृश पदार्थों का सम्पूर्ण ज्ञान प्राप्त करने में सहायता करता है।[9]

१. शक्त पदम (तर्कसंग्रह, ५९)। २. न्यायवार्तिक, २ : २, ५५।

३. सिद्धान्तमुक्तावली, ८१; न्यायमञ्जरी, पृष्ठ ६।

४. न्यायभाष्य, २ : १, ५५ और देखिए न्यायमञ्जरी, पृष्ठ २४३।

५. तर्कसंग्रह, ५९; सिद्धान्तमुक्तावली, ८१।

६. न्यायसूत्र, २ : २, ५६। ७. २ : २, ६८। ८. २ : २, ६५।

९. समानप्रसवात्मिका जातिः (न्यायभाष्य, २ : २, ६६)। क्योंकि हम विशिष्ट गायों के विचार में पृथक गोत्व की एक निश्चित धारणा रखते हैं इसलिए गोत्व का एक वस्तुपरक आधार अवश्य होना चाहिए (न्यायभाष्य, २ : २, ६१ और ६६)। उद्योतकर का मत है कि जातिगत स्वभाव प्रत्येक व्यक्ति के अन्दर समवाय-सम्बन्ध से रहता है। यह प्रश्न कि जाति प्रत्येक व्यक्ति के अन्दर अपनी सम्पूर्णता में

न्याय का मत है कि शब्द व्यक्ति, उसकी आकृति तथा उसकी जाति, तीनों को बताता है, यद्यपि भिन्न-भिन्न परिमाण मे।[1] व्यवहार मे हम आकृति का उल्लेख करते हैं। अधिक रुचि बढने से शब्द व्यक्ति का निर्देश करता है, और जब हम सामान्य विचार को सूचित करने की कोशिश करते है तो जाति का उल्लेख करते है। शब्द आकृति का संकेत करता है, व्यक्ति को बतलाता है तथा जाति का गुण-निर्देश करता है। विशुद्ध अनिर्दिष्ट लक्षण नाम की कोई चीज नही है। यह किसी न किसी रूप मे निर्दिष्ट (अवच्छिन्न) है। फिर आकृति भी अपने-आपमे पर्याप्त नही है। मिट्टी से बनी गाय की मूर्ति को हम गाय नही कह सकते यद्यपि आकृति गाय की ही है, किन्तु उसमे जातिगत अन्य गुणो का अभाव है। व्यावहारिक प्रयोग से इस मत की पुष्टि होती है कि शब्द व्यक्तियो का संकेत करते है।[2]

बौद्ध विचारकों के अनुसार, शब्द निश्चित पदार्थों के वाचक नहीं है, बल्कि ऐसे अन्य पदार्थों का निराकरण करते है जिनका ध्यान भूल से मन मे आ जाता है। 'गाय' शब्द मे घोडे आदि अन्य पदार्थों का निराकरण (अपोह) हो जाता है। इस निराकरण के कारण हम अनुमान करते है कि 'गाय' शब्द गाय रूपी पदार्थ का निर्देश करता है।[3] उद्योतकर अपोह के सिद्धान्त की आलोचना निम्नलिखित युक्तियो के आधार पर करता है[4] - जब तक पहले से विध्यात्मक संकेत का ग्रहण न हुआ हो, निषेधात्मक संकेत का विचार मन मे उठ ही नहीं सकता। प्रत्येक निषेध का एक विध्यात्मक आधार होता है। केवलमात्र निषेध का कुछ अर्थ ही नहीं, जबकि प्रत्येक निषेधात्मक कथन के साथ विध्यात्मक कथन अर्थापत्ति द्वारा जुडा हुआ है। यद्यपि परस्पर-विरोधी दो शब्दो मे एक का संकेत दूसरे का निराकरण कर देना है, परन्तु 'सब' जैसे शब्द मे इस प्रकार का निराकरण सम्भव नही है। प्रत्येक शब्द किसी विध्या-

रहती है या अंशों मे, कुछ अर्थ नही रखती, क्योंकि जाति मिश्रण नही है और इसलिए पूर्ण इकाई और अंशों का भेद इसपर लागू नही होता। जाति अथवा नित्य सारतत्त्व के लिए कहा जाता है कि उसका उन व्यक्तियो के साथ जिनका वह सारतत्त्व है, समवाय-सम्बन्ध मे रहना आवश्यक है, और अन्य व्यक्तियो के साथ कालिक सम्बन्ध मे।

१. २ : २, ६३। जातिविशिष्टव्यक्ति। २. २ : २, ५७।

३. देखिए न्यायमञ्जरी, पृष्ठ ३०३, ३०६–८, और पार्थसारथि मिश्र कृत 'न्यायरत्नाकर'। प्रारम्भिक बौद्ध ग्रन्थों में इस विचार के विषय मे कोई निश्चित सूचना नही है, यद्यपि रत्नकीर्तिकृत अपोहसिद्धि ग्रन्थ मे यह एक परिवर्तित रूप मे मिलता है। उसके अनुसार शब्द न तो विध्यात्मक और न ही निषेधात्मक पदार्थों का प्रकट करते ... निश्चयात्मक अर्थ अन्य पदार्थो के निषेध का परिणाम नही है, और न ही निषेधात्मक अर्थ निश्चयात्मक संकेत का परिणाम है। अर्थ का सारतत्त्व निश्चयात्मक एवं निषेधात्मक दोनों पक्षों के एकसाथ बोध मे है। सभी निर्दिष्ट पदार्थ अपना एक विध्यात्मक स्वभाव रखते है जिसमे अन्य सब का निराकरण हो जाता है। यह मत निश्चय ही अधिक सन्तोषप्रद है, यद्यपि बौद्धों के सामान्य आध्यात्मिक शास्त्र के साथ यह आसानी से मेल नही खाता, और न ही हिन्दू तार्किक इसे बौद्धमत के रूप मे स्वीकार करते है।

४. न्यायवार्तिक, २ : २, ६५। ५. देखिए उदयनकृत 'आत्मतत्त्वविवेक'।

त्मक वस्तु का संकेत करता है, जो अन्य पदार्थों से उसका केवलमात्र भेद ही नहीं होती है।[1]

यह आपत्ति की जाती है कि शब्द पदार्थों का संकेत नहीं कर सकते, क्योंकि वे पदार्थों के साथ नहीं रहते, और पदार्थों के उपस्थित न रहने पर भी विद्यमान रहते है, जैसेकि इस निषेधात्मक निर्णय मे कि "यहा कोई घड़ा नही है।"[2] इस आपत्ति के उत्तर मे वाचस्पति का कहना है कि शब्द व्यापक का संकेत करता है जिसमे देश व काल मे बटे हुए सभी व्यक्ति सम्मिलित रहते है, और इसलिए वह वर्तमान तथा भूतकाल के भी व्यक्तियो का संकेत करता है।[3] और न यही कहा जा सकता है कि शब्द केवल एक अमूर्त विचार है, क्योंकि यह भिन्न-भिन्न व्यक्तियो के भिन्न-भिन्न रूपो को लक्षित नही कर सकता है। शब्द विशिष्ट रूपो का ही उल्लेख करता है और ये पदार्थ के ही अन्दर रहते है। हम अपने अनुभव मे शब्दो का प्रयोग करते है और ये जीवन मे सफलता की ओर ले जाते है। यदि शब्द केवल मानसिक बिम्बो से ही सम्बन्ध रखता, बाह्य पदार्थो मे न रखता तो यह सब असम्भव होता।[4]

कभी-कभी यह कहा जाता है कि शब्द तथा पदार्थ के मध्य क्या सम्बन्ध है, हम इसकी कल्पना नही कर सकते। शब्द एक गुण है, और इसके द्वारा प्रकट किया गया पदार्थ द्रव्य है, और इन दो के मध्य संयोग-सम्बन्ध नहीं हो सकता। यदि शब्द के द्वारा प्रकट किया गया पदार्थ भी गुण होता, तो भी दो गुणो के मध्य यह सम्बन्ध असम्भव है।[5] शब्द निष्क्रिय है और संयोग निर्भर करता है दोनो मे से किसी एक की गति पर। शब्द आकाश और पदार्थ आकाश दोनो निष्क्रिय है और उनमे कोई संयोग नही हो सकता। शब्द तथा उसके अर्थ के बीच समवाय-सम्बन्ध भी नही हो सकता है। वात्स्यायन स्वीकार करता है कि शब्द और उसके अर्थ के बीच सम्बन्ध उत्पादक रूप (प्राप्तिलक्षण) नही है। 'अग्नि' शब्द अग्नि पदार्थ को उत्पन्न नहीं करता।[6] यही कारण है कि शाब्दिक बोध इन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष ज्ञान से कम स्पष्ट होता है।[7] तो भी बोध के रूप मे वह किसी भी तरह न्यून नही होता।

वाक्य सार्थक (भावपूर्ण) शब्दो का संग्रह है। हम वाक्य को बनानेवाले शब्दो का बोध होता है और उसके बाद उनके अर्थो का। शब्दो के बोध अपने पीछे संस्कार

१. न्यायमञ्जरी, पृष्ठ ३११; और देखिए न्यायकन्दली, पृष्ठ २१७-२१।
२. प्रमेयकमलमार्तण्ड, पृष्ठ १२४; वैशेषिक सूत्र, ७ : २, १७।
३. न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका, २ : २, ६३।
४. प्रमेयकमलमार्तण्ड, पृष्ठ १३६; विद्यानन्दकृत अष्टसहस्री, पृष्ठ २४१।
५. वैशेषिक सूत्र, ७ : २, १४।
६. न्यायभाष्य और न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका, २ : १, ५०-५१।
७. प्रमेयकमलमार्तण्ड, पृष्ठ १२८-३०; कुमारिलकृत श्लोकवार्तिक, ४ : ११, ६-८, और १०।

छोड़ जाते है जिनको वाक्य के अन्त मे स्मरण किया जाता है, और तब विभिन्न अर्थ एक प्रकरण में एकसाथ सम्बद्ध हो जाते है। जहां प्राचीन नैय्यायिकों का कहना है कि शाब्दिक ज्ञान का मुख्य कारण मौखिक स्मृति से प्राप्त पदार्थों का स्मरण है, वहां आधुनिक नैय्यायिक तर्क करते है कि मौखिक स्मृति मुख्य कारण है। वाक्य का अर्थ निर्भर करता है—(१) आकाक्षा, पारस्परिक आवश्यकता अथवा परस्पराश्रय, अथवा अन्य शब्द के अभाव मे किसी शब्द की अभिलषित अर्थ को सकेत करने की असमर्थता पर, (२) योग्यता अथवा वाक्य के भाव के अनुरूप होने की क्षमता तथा उसे निरर्थक किंवा असफल न होने देने की क्षमता पर, (३) सन्निधि, निकटता, सामीप्य, अथवा बीच मे लम्बा व्यवधान दिये बिना शब्दो के शीघ्रता के साथ एक के बाद एक उच्चारण पर। ये शब्दो के पदयोजना-सम्बन्धी, तार्किक तथा ध्वन्यात्मक सम्बन्धों पर विशेष बल देते है। ऐसे शब्दों के सकलन से जो परस्पर एक-दूसरे पर आश्रित न हो, यथा मनुष्य, घोडा और बस्ती, कोई भाव नही निकलता। एक ऐसे वाक्य का, जैसे "आग से सीचे," कुछ भी अर्थ नही है, क्योकि यह बुद्धि मे नही आता। इसी प्रकार देर-देर से उच्चारण किए गए शब्द कुछ अर्थ नही रख सकते। वाक्य ऐसे शब्दों से बनता है जो एक-दूसरे पर आश्रित, और जिन्हे एक-दूसरे के अगल-बगल रखकर कोई रचना की जा सके। गङ्गेश इसमे एक चौथी शर्त भी जोडता है, अर्थात् वक्ता के आशय का ज्ञान। एक ऐसे वाक्य, जैसे "सैन्धवम् आनय" का अर्थ यह हो सकता है कि "घोड़ा लाओ" और यह भी हो सकता है कि "नमक लाओ!" इसका निश्चित अर्थ हमे तभी मालूम हो सकता है जबकि हमे वक्ता के मन मे क्या है, इसका ज्ञान हो। निश्चित अर्थ को प्रकट करने की योग्यता मे इस आवश्यकता को भी सम्मिलित कर लेना चाहिए।[1] जहां योग्यता के लिए औपचारिक सगति की आवश्यकता है, वहा तात्पर्यज्ञान, अथवा वक्ता के अभिप्राय के ज्ञान से आशय वास्तविक सगति कहा जा सकता है।[2]

प्रतिज्ञाओ को तीन वर्गों मे बाटा गया है. विधि, निषेध और व्याख्या (अर्थवाद)। शब्द का उपयोग जब ज्ञान के उद्गम के रूप मे किया जाता है तो उसका तात्पर्य होता है, 'आप्तोपदेश' अर्थात् एक विश्वस्त व्यक्ति का कथन।[4] आप्त से तात्पर्य उस व्यक्ति से है जो किसी क्षेत्र-विशेष मे विशेषज्ञ हो, "वह जो किसी विषय का प्रत्यक्ष प्रमाण रखता है और उसे दूसरो को पहुचाना चाहता है जिससे कि वे इसे समझ लें।" ऐसे व्यक्ति किसी भी जाति अथवा वर्ण के क्यो न हों, "ऋषि हों, आर्य हों अथवा म्लेच्छ हो।"[5] जब किसी युवक के मन मे यह सन्देह हो कि अमुक नदी

१. भाषापरिच्छेद। और देखिए वेदान्तपरिभाषा, ४।

२. जहां मीमांसक तथा वैय्याकरणों का मत है कि वाक्य के अन्तर्गत शब्द क्रिया पर ही केन्द्रित रहते है, जिसके बिना उनका कुछ अर्थ नही बनता, वहा नैयायिक का मत है कि प्रतिज्ञा केवल कुछ सार्थक शब्दों (पदसमूह) से बनती है जिनके सामूहिक अर्थ का बोध होता है, वाक्य के अन्दर क्रियापद हो या न हो। (तर्कसंग्रह, पृष्ठ ५९ ; झा : 'प्रभाकर स्कूल', पृष्ठ ६३)।

३. न्यायसूत्र, २ : १, ६३, और तर्ककौमुदी, पृष्ठ १७।

४. १ : १, ७।

५. न्यायभाष्य, १ : १, ७।

पार की जा सकती है या नही, तो बस्ती के किसी पुराने अनुभवी पुरुष से इस प्रकार की सूचना मिलने पर कि वह पार की जा सकती है, उसपर विश्वास करना चाहिए।

ये विश्वसनीय कथन दृश्यजगत् से अथवा अदृश्य जगत् से सम्बन्ध रखते हैं। यह कथन कि "कुनैन नामक दवा ज्वर का इलाज करती है" पहले प्रकार का है, और "धार्मिक जीवन से स्वर्ग मिलता है" यह दूसरे प्रकार का है। ऋषियों के शब्द दूसरे अर्थात् अदृश्य-जगत् से सम्बन्ध रखते है।[1] उनके कथनों पर विश्वास करना चाहिए, क्योंकि इस विश्व के सम्बन्ध मे उनके कथन, जिनकी सचाई जांची जा सकती थी, सत्य सिद्ध हुए है। वेदों के निर्माता आप्तपुरुष अर्थात् विश्वसनीय पुरुष हैं, क्योंकि उन्होंने सत्य का अन्तर्दृष्टि से प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त किया था, उन्हे मनुष्य-मात्र मे प्रेम था तथा उनमे अपने ज्ञान को दूसरों को देने की इच्छा थी।[2]

उदयन तथा अन्नभट्ट जैसे परवर्ती नैय्यायिक और वैशेषिक विचारक परमेश्वर को वेदों का नित्य निर्माता मानते है। उदयन इस मत का निराकरण करता है कि वेदो की प्रामाणिकता उनके नित्य, दोषहीन तथा महान सन्तों द्वारा स्वीकृत होने से अनुमान की जाती है। सृष्टि के नवीन आरम्भ के समय सन्तों की स्वीकृति नही हो सकती। वेदो की नित्यता के विषय मे मीमांसक का जो मत है उसका उदयन विरोध करता है, और युक्ति देता है कि नित्यता की सूचक कोई निरन्तर परम्परा नही है, क्योकि इस तरह की परम्परा वर्तमान सृष्टि से पूर्व, प्रलय के समय, नष्ट हो गई होगी। परन्तु वात्स्यायन परम्परा की निरन्तरता को स्वीकार करता है तथा कहता है कि ईश्वर प्रत्येक सृष्टि के आरम्भ मे वेदों का पुनर्निर्माण करता है, तभी उक्त परम्परा को स्थिर रखता है।[3] यदि मीमांसक अपने इस मत के समर्थन मे वेदमन्त्र प्रस्तुत करते हैं कि वेद नित्य है और ऋषि उनके निर्माता नहीं अपितु केवल मन्त्रद्रष्टा है, तो वेदों के उद्गम के विषय में न्याय-मत के समर्थन मे अन्य मन्त्र उद्धृत किए जाते हैं।[4] इसके अतिरिक्त, वेदों मे ऐसे वाक्य है जो निर्माता को उपलक्षित करते है।

वेदों की प्रामाणिकता के विरोध मे असत्य, पूर्वापर विरोध, पुनरुक्ति आदि जो आपत्तियां उठाई जाती है उन सबका यह कहकर निषेध किया गया है कि वे टिकनेवाली नही हैं।[5] उनकी प्रामाणिकता की रक्षा इस आधार पर

१. न्यायभाष्य, १ : १, ८। २. २ : १, ६७।
३. न्यायभाष्य और न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका, २ : १, ६८।
४. अतं सर्वम् ... जन ऋचो यजूंषि सामानि, इत्यादि।
५. यदि हम पुत्रप्राप्ति के लिए यज्ञ करते हैं और पुत्रप्राप्ति नहीं होती, तो कर्म में कहीं दोष रहा होगा, विधान में दोष नहीं है। इस प्रकार के आदेशों को कि "सूर्योदय के पश्चात् होम करो" अथवा 'पहले' होम करो, परस्पर-विरोधी नहीं समझना चाहिए, क्योंकि वे आचार के वैकल्पिक विधानों का कथन करते हैं। कोई भी पुनरुक्ति निरर्थक नहीं है (न्यायभाष्य, २ : १, ५८–५९)।

की जाती है कि उनके विषय एक संगत और पूर्ण इकाई का निर्माण करते हैं। वेदों को स्वीकार करने का अर्थ मिथ्याविश्वास अथवा ईश्वरीय वाणी का आश्रय लेना नहीं है।

दिङ्नाग विरोध में कहता है कि शब्द, ज्ञान का स्वतन्त्र साधन नहीं है। जब हम विश्वसनीय कथन की बात करते हैं तो उससे हमारा तात्पर्य या तो यह होता है कि जो व्यक्ति बोल रहा है वह विश्वसनीय है, या यह होता है कि यह तथ्य जिसे वह कह रहा है, विश्वसनीय है। पहली अवस्था में यह अनुमान है, और दूसरी अवस्था में प्रत्यक्ष ज्ञान है।[1] यद्यपि शब्द अनुमान के समान है, क्योंकि वह पदार्थ के ज्ञान को उसके चिह्न द्वारा दूसरे को पहुंचाता है। किन्तु इसका चिह्न अनुमान के चिह्न से भिन्न है, यहां यह संकेत करता है कि शब्दों का प्रयोग करनेवाला व्यक्ति विश्वास के योग्य है या नहीं।[2] अनुमान में चिह्न (लक्षण) तथा लक्षित पदार्थ का सम्बन्ध प्राकृतिक है, किन्तु शब्द प्रमाण में यह सम्बन्ध रूढ़िगत है।[3] यदि हम यह तर्क उपस्थित करें कि शाब्दिक बोध शब्दों के अर्थों की स्मृति के पीछे आता है और इसलिए यह आनुमानिक ज्ञान है, तो संदिग्ध बोध तथा उपमानजनित ज्ञान को भी आनुमानिक मानना होगा। यदि समय के तीन भागों से सम्बद्ध होने के कारण शाब्दिक बोध अनुमान की कोटि में आता है तो तर्क की अन्यान्य विधियां भी अनुमान की कोटि में आ जाएंगी। यदि इस बात पर बल दिया जाय कि शाब्दिक बोध निश्चित तथा निषेधात्मक के साहचर्य पर निर्भर करता है और यह कहा जाए कि 'घड़ा' शब्द का तात्पर्य है पदार्थ का बोध, और जहां इसे वाणी से उच्चारण नहीं किया जाता वहां बोध नहीं होता, तो प्रत्यक्ष ज्ञान भी अनुमान की कोटि में आ जाएगा, क्योंकि यह वहां विद्यमान है जहां घड़ा विद्यमान है और जहां घड़ा विद्यमान नहीं वहां प्रत्यक्ष ज्ञान भी नहीं।[4] इस प्रकार शब्दों द्वारा प्राप्त ज्ञान प्रत्यक्ष, अनुमान तथा उपमान प्रमाण द्वारा प्राप्त ज्ञान से भिन्न है।[5]

१३

ज्ञान के अन्य रूप

न्याय के अभिमत ज्ञान के चार साधनों में मीमांसक अर्थापत्ति तथा भाट्ट मत के अनुयायी और वेदान्ती अभाव को भी जोड़ते हैं। पौराणिक लोग परम्परा तथा सम्भावना

१. दिङ्नाग, फिर भी, बुद्ध के वचनों को प्रामाणिक मानता है। (देखिए कुमारिलकृत तत्त्ववार्तिक, पृष्ठ १६९ से आगे)।

२. न्यायभाष्य, २ : १, ५२।

३. न्यायभाष्य, २ : १, ५५।

४. न्यायवार्तिक, २ : १, ४९–५१।

५. न्यायभाष्य, २ : १, ५२ ; न्यायवार्तिक, १ : १, ७।

को भी ज्ञान के प्रामाणिक साधनो मे सम्मिलित करते हैं। नैयायिक का मत है कि ज्ञान के सभी प्रकार चार प्रमाणो के अन्दर समा जाते है।[1]

ऐतिह्य अथवा परम्परा शब्द प्रमाण के अन्दर आ जाता है।[2] यदि प्रवाद किसी ऐसे व्यक्ति द्वारा प्रचारित किया गया हो जो विश्वस्त है तो यह वैसा ही प्रामाणिक है जैसा कि शब्दप्रमाण। अर्थापत्ति अथवा उपलक्षण एक अन्य तथ्य के आधार पर (अर्थात्) एक नये तथ्य को प्राप्त करना, अथवा किसी चीज के विषय मे धारणा बनाना (आपत्ति) है। यह एक ऐसे पदार्थ के विषय मे धारणा बनाना है जो अपने-आप प्रत्यक्ष नही हुआ है, बल्कि प्रत्यक्ष या अनुमान द्वारा जाने गए अन्य पदार्थ से उपलक्षित हुआ है। मोटे शरीर वाला देवदत्त दिन मे नही खाता। इससे यह उपलक्षित हुआ कि वह रात मे खाता है, क्योकि बिना खाना खाए कोई मोटा नही हो सकता। मीमांसक, जो इसे ज्ञान का स्वतन्त्र साधन मानते है, इसे एक विकल्पात्मक काल्पनिक परार्थानुमान मानते है।[3] गङ्गेश के अनुसार यह एक निषेधात्मक अनुमान का उदाहरण है जो साध्य पद के अभाव द्वारा हेतु के अभाव की स्थापना करता है। भाषा-परिच्छेद के अनुसार, हेतु तथा साध्यपद के मध्य निषेधात्मक सम्बन्ध (व्यतिरेक-व्याप्ति) को पहचान लेने से अर्थापत्ति सम्पन्न हो जाती है।[4] सम्भव अथवा अन्तर्गमन वह है जहा कि हमे पूर्ण के एक अश का, जोकि उसका अवयव है, बोध होता है। यह निगमनात्मक अनुमान की अवस्था है। वस्तुत यह सांख्यिक अभिव्याप्ति है।

अभाव अथवा अनस्तित्व को कभी-कभी एक स्वतन्त्र प्रमाण माना गया है। यद्यपि न्यायवैशेषिक दर्शन अभाव को एक प्रमेय पदार्थ करके स्वीकार करता है, पर वह यह नही मानता कि उसके जानने के लिए किसी विशिष्ट प्रमाण की आवश्यकता है। हम पहले देख आए है कि किस प्रकार अस्तित्व एक प्रमेय पदार्थ है जो अपने अधिकरण के साथ विशेषणता (अर्थात् गुण और गुणी) सम्बन्ध मे सम्बद्ध है। अभावात्मक प्रमेय पदार्थ उसी श्रेणी का है जिस श्रेणी का उसका अधिकरण है जो प्रत्यक्ष दिखाई देता है, अन्यथा उसके अभाव का ज्ञान उसके अधिकरण से संकेतित नही हो सकता। नितान्त अभाव कल्पनातीत है। अभाव, जो ज्ञान का विषय है, सापेक्ष है।[5]

१. न्यायभाष्य, २ : १, ५८। २. २ : २, २।

३. और देखिए भाषापरिच्छेद, पृष्ठ १४३।

४. इसे दो भिन्न-भिन्न स्थितियों में प्रकट कर सकते है :—

वह जो बिलकुल नहीं खाता मोटा नहीं होता।

यह मनुष्य मोटा है।

इसलिए यह मनुष्य वह नहीं है जो बिलकुल नहीं खाता, अर्थात् यह वह है जो खाता है।

यह मीज़र है। अगला चरण है :—

वह व्यक्ति जो खाता है उसे दिन में या रात में अवश्य खाना चाहिए।

यह दिन में नहीं खाता।

इसलिए यह रात में खाता है।

५. एक भिन्न मत के लिए देखिए शास्त्रदीपिका, पृष्ठ २३४ से आगे; वेदान्तपरिभाषा, ६।

अनुमान द्वारा हम पदार्थों के अभाव का ज्ञान प्राप्त कर सकते है। अभाव से तात्पर्य केवल निषेध ही से नही है, बल्कि वैषम्य से भी है। एक पदार्थ जो विद्यमान है और दूसरा जो विद्यमान नही है, उनमे परस्पर वैषम्य है। जैसेकि वर्षा का अभाव तीव्र वायु के साथ बादलो के सम्बन्ध का ज्ञान कराता है, क्योकि यदि तीव्र वायुरूपी बाधा मार्ग मे न आ जाती तो गुरुत्वाकर्षण के नियमो के अनुसार बादलो का नीचे पृथ्वी पर बरस जाना आवश्यक था।[1] दो परस्पर-विरोधी पदार्थों मे से एक के अभाव से दूसरे के अस्तित्व की स्थापना होती है। न्यायदर्शन का तर्क युग्मशाखीय विभाग के सिद्धान्त को लेकर आगे बढता है। सजातीय तथा विजातीय उदाहरणो का भेद इसी कल्पना के आधार पर टिका हुआ है। दो परस्पर-विरोधी निर्णयो की अवस्था मे ऐसा नही हो सकता कि दोनो ही सत्य हो अथवा दोनो ही असत्य हो। 'क' या तो 'ख' है और या 'ख' नही है। परस्पर-विरोधी दो मे से एक अवश्य सत्य होगा, क्योकि कोई और मार्ग सम्भव नही है।[2] यदि हम किसी वस्तु के अभाव का अनुमान दूसरी वस्तु के अस्तित्व मे करते है तो यह केवल अनुमान का विषय है।[3] वात्स्यायन का कहना है कि "जिस समय विद्यमान वस्तु का बोध होता है उस समय अभावात्मक वस्तु का बोध नही होता, अर्थात् अभावात्मक वस्तु का अज्ञान उसी समय होता है जबकि विद्यमान वस्तु का बोध होता है। जब दीपक जलता है और जो देखा जाने योग्य पदार्थ है उसे दृश्य बना देता है, तो वह जो उसी प्रकार मे दिखाई नही देता जिस प्रकार उक्त देखने योग्य पदार्थ दिखाई देता है, वह अभावात्मक माना जाता है। उस समय मानसिक प्रक्रिया निम्नलिखित प्रकार की होती है: 'यदि पदार्थ का अस्तित्व होता तो वह दिखाई देता और क्योकि वह दिखाई नही देता इसलिए निष्कर्ष अवश्य यही निकलता है कि वह विद्यमान नही है।'"[4] प्रशस्तपाद इस विचार का समर्थन करता है। "जिस प्रकार कार्य का रूप कारण के अस्तित्व का सकेत करनेवाला होता है, उसी प्रकार कार्य का अभाव कारण के अभाव का सकेत करता है।"[5] शब्द के द्वारा भी अभाव का बोध हो सकता है।[6]

१४

तर्क और वाद

तर्क अथवा परोक्ष प्रमाण मे हम एक भ्रमात्मक धारणा को लेकर चलते है और प्रदर्शित करते है कि किस प्रकार यह हमे असगतियो की ओर प्रेरित करती है। यदि जीवात्मा

१. न्यायभाष्य, २ : २, १।

२. परस्परविरोधे हि न प्रकारान्तरस्थितिः (कुसुमाञ्जलि, ३ : ८)।

३. न्यायभाष्य, २ : २, २।

४. न्यायभाष्य, प्रस्तावना।

५. प्रशस्तपादकृत पदार्थधर्मसग्रह, पृष्ठ २२५। और देखिए वैशेषिक सूत्र, ६ : २, ५ ; न्यायकन्दली, पृष्ठ २२५–२६ ; और कुसुमाञ्जलि, ३ : २०, २२ और २६।

६. जयन्त ग्यारह प्रकार की अनुपलब्धि का उल्लेख करता है। देखिए न्यायमञ्जरी, पृष्ठ ५६–५७।

नित्य न होती तो यह अपने कर्मों के फलों का उपभोग न कर सकती, न पुनर्जन्म में आती और न मोक्ष ही प्राप्त कर सकती। इसलिए जीवात्मा नित्य है। एक असत्य आधार-वाक्य को मान लेने से हम असत्य साध्यपद को मानने के लिए बाध्य होते हैं।[1] तर्क एक प्रकार का ऐसा अनुमान है जो अन्य सबसे भिन्न है, क्योंकि यह किसी प्रत्यक्ष ज्ञान के आधार पर नहीं है। यह हमें परोक्षरूप से ठीक ज्ञान की ओर ले जाता है।[2] वात्स्यायन के अनुसार, यह हमें निश्चयात्मक ज्ञान नहीं करा सकता, यद्यपि यह हमें इतना बतला देता है कि एक प्रस्तुत पक्ष का विपरीत असम्भव है।[3] उद्योतकर का तर्क है कि आत्मा के विषय में तर्क हमें ऐसा कहने के योग्य नहीं बनाता कि आत्मा अनादि है बल्कि केवल इतना कहने के योग्य बनाता है कि इसे ऐसा होना चाहिए।[4] तर्क अपने-आपमें प्रामाणिक ज्ञान का साधन नहीं है, यद्यपि प्रकल्पनाओं के प्रस्तुत करने में यह मूल्यवान सिद्ध होता है।

प्राचीन न्याय ग्यारह प्रकार के तर्क को स्वीकार करता है जिसे आधुनिक न्याय ने घटाकर पांच ही रखा है। इनमें मुख्य वह है जिसका हमने वर्णन प्रमाण-बाधितार्थप्रसंग नाम से किया है। अन्य चार हैं, आत्माश्रय, अन्योन्याश्रय, चक्रिक अथवा चक्ररूपी तर्क, और अनवस्था, अर्थात् अन्तविहीन पश्चाद्गति। प्रमाण-बाधितार्थप्रसंग को भी हेत्वाभास माना गया है, क्योंकि यह ऐसा निष्कर्ष निकालता है जो असंगत है। किन्तु जब हम भूल को अतिक्रमण कर जाते हैं तब हम एक निश्चित निर्णय पर पहुंच जाते हैं।[5]

वाद परार्थानुमान की विधि का स्वतन्त्ररूप से प्रयोग करके सत्य के निश्चय करने का लक्ष्य रखता है। किन्तु यह प्रायः बिगड़कर जल्प के रूप में परिणत हो जाता है, जिसका लक्ष्य विजय प्राप्त करना हो जाता है और यह वितण्डा कहलाता है, जो समालोचना के लिए समालोचना करने में ही प्रसन्न होता है।[6] इस प्रकार के निष्फल वाद-विवाद का अन्त प्रतिपक्षी को उसकी भूल मनवाकर तथा उसे अपनी हार मानने के लिए बाध्य करने में ही हो सकता है।[7]

१. सर्वदर्शनसंग्रह, ११।

२. प्रमानुग्राहकस्तर्कः (सर्वसिद्धान्तसारसंग्रह, ६ : २५)। तर्कभाषा।

३. न्यायभाष्य, १ : १, ४०।

४. न्यायवार्तिक, १ : १, ४०।

५. १ : १, ४१।

६. १ : २, १-३।

७. पराजय के स्थान (अर्थात् निग्रहस्थान) २२ प्रकार के हैं : (१) प्रतिज्ञाहानि, अथवा साध्य-पक्ष को त्याग देना ; (२) प्रतिज्ञान्तर, अथवा नये विवेचन को बीच में लाकर तर्क के विषय को बदल देना ; (३) प्रतिज्ञाविरोध, अथवा आत्मविरोध ; (४) प्रतिज्ञासंन्यास, अथवा साध्यपक्ष से हट जाना ; (५) हेत्वन्तर, अथवा अपनी दी हुई युक्ति को बदल देना ; (६) अर्थान्तर, अर्थात् विषय बदल देना ; (७) निरर्थक, अथवा बिना किसी अर्थ की, बात करना ; (८) अविज्ञातार्थ, अथवा ऐसी भाषा का प्रयोग जिसका अर्थ समझ में न आ सके ; (९) अपार्थक, अर्थात् असंगत भाषण ; (१०) अप्राप्तकाल, अथवा तर्क के क्रम की उपेक्षा ; (११) न्यून, अथवा तर्क के आवश्यक अंशों को छोड़ देना ; (१२) अधिक,

१५

स्मृति

समस्त ज्ञान दो श्रेणियों में विभक्त किया गया है - अनुभव जो पूर्ण चेतना की पुनरावृत्ति न होकर वर्तमानकाल का ज्ञान है, और स्मृति, जो पूर्व-अनुभवों के आधार पर स्मरणात्मक चेतना के रूप मे प्रकट होती है।[1] यदि हम स्मृतिजन्य ज्ञान को निकाल दे तो समस्त भूतकाल निश्चितता के क्षेत्र से निकल जाएगा। स्मृतिज्ञान संस्कारों के आधार पर स्थित है। स्मृति की परिभाषा करते हुए कहा जाता है कि आत्मा का मन के साथ एक विशेष प्रकार का सम्बन्ध होने से तथा पूर्व-अनुभव के जो संस्कार शेष रहते है उनके कारण हमे स्मृति होती है।[2] कभी कभी यह कहा जाता है कि यह केवल संस्कार मात्र से उत्पन्न होती है। और इस प्रकार यह पहचान (प्रत्यभिज्ञा) से भिन्न है। जहा संस्कार स्मृति का तात्कालिक कारण है, वहा पहचान किसी अन्य पदार्थ के साथ प्रस्तुत पदार्थ के तादात्म्य के प्रत्यक्ष ज्ञान के कारण होती है। न्याय, स्मृति को ज्ञान का एक पृथक साधन नही मानता, क्योकि हमे इससे पदार्थो का कोई बोधात्मक ज्ञान प्राप्त नही होता। बल्कि केवल पिछले अनुभव की पुनरावृत्ति उसी रूप तथा क्रम मे होती है जिसमे कि वह भूतकाल मे कभी रहा था और अब विलुप्त हो चुका था।[3] स्मृतिविषयक ज्ञान की प्रामाणिकता उस पूर्व-अनुभव की प्रामाणिकता पर निर्भर करती है जिसकी कि यह पुनरावृत्ति है। कुछ तार्किक स्मृतिजन्य ज्ञान को प्रामाणिक बोध के अन्दर सम्मिलित करते है, जबकि प्रामाणिक बोध का कभी विरोध नही होता।[4] स्मृतिया एकसाथ नही होती क्योकि ध्यान (प्रणिधान), चिह्न का प्रत्यक्ष तथा अन्य (लिंगादिज्ञान) एक ही समय मे उपस्थित नही रहते।[5]

अर्थात् जो स्पष्ट हो उसे आवश्यकता से अधिक तूल देना; (१३) पुनरुक्त, अर्थात् कहे हुए को बार-बार दोहराना; (१४) अननुभाषण, अर्थात् चुप रहना; (१५) अज्ञान, अर्थात् साध्यपक्ष को न समझना; (१६) अप्रतिभा, अर्थात् उत्तर को न समझना; (१७) विक्षेप, अर्थात् रोगादि का बहाना करके वादविवाद से बचना; (१८) मतानुज्ञा, अर्थात् यह कहकर कि विरोधी पक्ष मे भी यह पाया जाता है, अपनी हार को स्वीकार कर लेना; (१९) पर्यनुयोज्योपेक्षण, अर्थात् जहा दोष देखना चाहिए उसे दृष्टि से ओझल कर देना; (२०) निरनुयोज्यानुयोग, अर्थात् जहा दोष न लगाना चाहिए वहा दोष लगाना; (२१) अपसिद्धान्त, अर्थात् स्वीकृत सिद्धान्त से भी परे हटना; और (२२) हेत्वाभास, अर्थात् जो हेतु नही है उसे हेतु की भांति दिखाना।

१. तर्कसंग्रह, ६४। २. वैशेषिकसूत्र, ९ : २, ६।

३. न्यायसूत्रवृत्ति, १ : १, ३। ४. तर्ककौमुदी, पृष्ठ ७।

५. न्यायसूत्र, ३ : २, ३३; न्यायभाष्य, ३ : २, २९–३०; न्यायवार्तिक, ३ : २, २५–२६। स्मृति के कारणों में निम्नलिखित का उल्लेख किया गया है। (१) प्रणिधान, अथवा ध्यान; (२) निबन्ध, अथवा साहचर्य; (३) अभ्यास, अर्थात् बार-बार दोहराना; (४) लिंग, अथवा चिह्न; (५) लक्षण, अथवा वर्णनात्मक चिह्न; (६) सादृश्य, अर्थात् समानता; (७) परिग्रह, अथवा स्वामित्व; (८) आश्रयाश्रितसम्बन्ध, अथवा आश्रय तथा आश्रित का सम्बन्ध; (९) आनन्तर्य, अर्थात् क्रम में ठीक पीछे आना; (१०) वियोग, अर्थात् पृथक् हो जाना; (११) एक-कार्य, अर्थात् व्यापार में एकता; (१२) विरोध; (१३) अतिशय, अथवा श्रेष्ठता; (१४) प्राप्ति; (१५) व्यवधान; (१६) सुख-दुःख;

१६

संशय

संशय कई अवस्थाओं में उत्पन्न होता है, यथा (१) कई पदार्थों के गुणसाम्य से, जैसेकि हम सायंकाल के झुटपुटे में एक लम्बी आकृति को देखें और निश्चय न कर सकें कि वह मनुष्य है अथवा खंभा है, क्योंकि लंबाई दोनों में सामान्य है, (२) ऐसे गुणों के ज्ञान से जोकि किसी भी पदार्थ में समान रूप से न पाए जाएं, जैसेकि यह निश्चय करने में हमें कठिनाई हो कि शब्द नित्य है या नहीं, क्योंकि यह मनुष्य में अथवा पशु में नहीं पाया जाता जो अनित्य है और न परमाणु में ही पाया जाता है जो नित्य है; (३) परस्पर-विरोधी साक्ष्य से जैसेकि दो प्रामाणिक पुरुषों में जीवात्मा के स्वरूप के विषय में मतभेद हो जाता है, (४) प्रत्यक्ष ज्ञान की अनियमितता से, जैसेकि जल दिखाई पड़ने पर हम यह निश्चय न कर सकें कि यह वास्तविक जल है जैसाकि तालाब में होता है, अथवा कृत्रिम है जैसाकि मृगमरीचिका में दिखाई देता है, क्योंकि ज्ञान दोनों जगह ही समान है, (५) न दिखाई देने की अनियमितता से, जोकि पूर्वावस्था से विपरीत है।[1] उद्योतकर के अनुसार, पिछली दोनों अवस्थाएं, जब तक कि सामान्य अनिश्चयात्मक लक्षणों का ज्ञान न हो, अपने-आप संशय को जन्म नहीं देतीं। क्योंकि देखा गया अवयव एक से अधिक पदार्थों से सम्बद्ध होता है, अतः वह एकसाथ ही दो प्रकार के विचारों की शृङ्खला की स्मृति को ताजा कर देता है, जिनके बीच मन दोलायमान रहता है और इससे संशय उत्पन्न होता है।[2] दोनों में से एक भी विचार दृश्य ज्ञान के साथ सम्बद्ध नहीं रहता, यद्यपि क्रमशः दोनों का संकेत मिलता है।[3] संशयात्मक वृत्ति अवांछित रूप में व्यवहार किया को रोक देती है।[4]

यदि दोनों विकल्पों में से एक को दबा दिया जाए और मन का झुकाव दूसरे की ओर हो जाए तो उसे, 'ऊहा', अर्थात् अटकल के नाम से जाना जाता है, और कुछ समय के लिए हम एक विकल्प को मान लेते हैं। एक विकल्प को दबाने का कारण दूसरे का सशक्त होना होता है। यदि हम धान के खेत में किसी लम्बे पदार्थ को देखें तो हम अटकल लगाएंगे कि यह कोई मनुष्य है लम्बा खंभा नहीं है, क्योंकि धान के

(१७) इच्छाद्वेष; (१८) भय; (१९) अर्थ, अथवा प्रयोजन; (२०) क्रिया; (२१) राग, अर्थात् स्नेह या प्रेम; (२२) धर्म अथवा पुण्य; (२३) अधर्म अथवा पाप। वात्स्यायन के अनुसार, ये इंगितमात्र हैं, यही सब कुछ नहीं है। 'निदर्शनं चेदं स्मृतिहेतूनां न परिसंख्यानम्' इति (न्यायभाष्य, ३ : २, ४१)। साहचर्य के समस्त कारण और विचारों का पुनः स्मरण उक्त शीर्षकों के अन्तर्गत लाए जा सकते हैं।

१. तर्कसंग्रह, ६४; वैशेषिकसूत्र, २ : २, १७।

२. दोलायमाना प्रतीतिः संशयः (गुणरत्नकृत षड्दर्शनसमुच्चयवृत्ति)।

३. लौगाक्षि भास्कर संशयावस्था की परिभाषा करता हुआ कहता है कि यह ऐसा ज्ञान है जिसमें नानाविध परस्पर-विरोधी गुणों का विकल्प रहता है। तर्ककौमुदी : एकस्मिन् धर्मिणि विरुद्धनानाकोटिकं ज्ञानम्। पृष्ठ ७। और तुलना कीजिए तर्कसंग्रह, ६४; भाषापरिच्छेद, १२९-३०।

४. प्रशस्तपाद संशय के दो प्रकार बताता है, आभ्यन्तर और बाह्य (प्रशस्तपादकृत पदार्थधर्मसंग्रह, पृष्ठ १७४)।

५. सप्तपदार्थी, ६८।

खेत में खम्भे प्रायः नही पाए जाते। जहां संशयावस्था मे दोनो विकल्पों की एक समान सम्भावना रहती है, वहां ऊहा में एक की सभावना दूसरे की अपेक्षा अधिक होती है।

एक अन्य संशयात्मक अवस्था भी है जिसे अनध्यवसाय कहते हे। यह स्मृति के अभाव मे उत्पन्न होती है। हम वृक्ष का देखते ह किन्तु उसका नाम भूल जाते है और पूछते है कि "इसका क्या नाम हो सकता है?"[1] शिवादित्य के अनुसार, यहा भी हमारे सामने दो वैकल्पिक सुझाव रहते है, यद्यपि ये चेतना मे विद्यमान नही रहते। यदि हमे उनका ज्ञान हो तो एक संशयात्मक अवस्था उपस्थित हो जाती हे। प्रशस्तपाद, श्रीधर तथा उदयन एक अन्य ही समाधान प्रस्तुत करते ह। व इसे अन्यमनस्कता अथवा अधिक ज्ञान की अभिलाषा के कारण परिचित अथवा अपरिचित पदार्थ का सन्दिग्ध (अनिश्चित) ज्ञान मानते हे। जब कोई परिचित पदार्थ समीप से गुजरता ह, और हम उसे उधर ध्यान न होने, अर्थात् अन्यमनस्क होने के कारण नही देखते तो इसे हम अनध्यवसाय के नाम से पुकारते हे, क्योंकि हमे यह तो पता है कि कुछ हमारे समीप से गुजर गया किन्तु वह कौन-सा पदार्थ था, सो हम नही जानते। किन्तु जब पदार्थ अपरिचित है और हमें उसका नाम नही मालूम तो हमारे सम्मुख अपूर्ण ज्ञान की अवस्था उपस्थित होती है, जोकि साधारण संशय की अवस्था से भिन्न है।[2]

सशय से हमे अनुसन्धान की प्रेरणा मिलती है, क्योंकि यह हमारे अन्दर इस अभिलाषा को उत्पन्न कर देता है कि जिसका पता नही मिल सका हे उसे जाने। यह अनुमान के पूर्व आता है, यद्यपि प्रत्यक्ष ज्ञान अथवा आप्त ज्ञान मे इसका कोई स्थान नहीं है। हमारा ज्ञान सुनिश्चित हो जाने पर सशय लुप्त हो जाता हे। सशय तथा भूल (भ्रांति) मे अन्तर है। इन्हे एकसाथ न मिलाना चाहिए, क्योकि ऐसा ज्ञान होना कि हम पदार्थ के स्वरूप से अनभिज्ञ हैं, यथार्थ ज्ञान अथवा प्रत्यय है। सशय अपूर्ण ज्ञान है, जबकि भूल मिथ्या ज्ञान है।

१७

हेत्वाभास

न्यायदर्शन का तर्क विस्तार के साथ उन सिद्धान्तों का प्रतिपादन करना है जिनके द्वारा ज्ञान प्राप्त होता है। यह प्राकृतिक विज्ञान के दृष्टिकोण को स्वीकार करता है, और इसके नियम उपदेशरूप न होकर सामान्य उक्तियां ह जिनका आधार उन साधनो का सूक्ष्म निरीक्षण हे जिनके द्वारा मानव अपनी बौद्धिक आवश्यकताओं की सन्तुष्टि करता है। साधारणतः ज्ञान यथार्थ होता है; भूल सयोगवश होती है और तभी होती है जबकि वे अवस्थाएं नही होती जिनमे यथार्थ ज्ञान उत्पन्न होता है। हेत्वाभास तब होते है जबकि ज्ञानोत्पादक शक्तियों के मार्ग मे हस्तक्षेप होता है। न्याय हेत्वाभासों के

१. देखिए सप्तपदार्थी, पृष्ठ ६६। तुलना कीजिए मितभाषिणी विजयानगरम् संस्कृत ग्रन्थमाला, पृष्ठ २६ : किं संज्ञकोऽयमित्यत्रापि चूतःपनसो वेति विकल्पस्फुरणादनध्यवसायोऽपि संशय एव।

२. प्रशस्तपादकृत पदार्थधर्मसंग्रह, पृष्ठ १८२-८३।

विषय का विस्तृत विवेचन करता है और इसमें आश्चर्य भी क्या है, क्योंकि हमें स्मरण रखना चाहिए कि विचार में भूल होने की सम्भावना के कारण ही न्यायशास्त्र के निर्माण की आवश्यकता हुई।

शब्द-जाल की ओर भी पर्याप्त ध्यान दिया गया है, क्योंकि न्यायशास्त्र का उद्देश्य वितण्डावादियों की कला अर्थात् वाक्छल से हमारी रक्षा करना है। शाब्दिक छल के तीन प्रकार बतलाए गए हैं (१) वाक्छल -एक ऐसे शब्द का प्रयोग किया जाता है जो सन्दिग्धार्थ है और श्रोता उसका वक्ता के आशय से भिन्न अर्थ लगाता है। जब कोई यह कहता है कि 'अमुक लड़का नवकम्बल है," अर्थात् जिसके पास नया कम्बल है (अथवा नौ कम्बल हैं), तो वाक्छली उत्तर देता है कि "नहीं, इसके पास नौ नहीं अपितु एक ही कम्बल है।" (२) सामान्यछल एक व्यक्ति-विशेष के विषय में किए गए कथन को जब सारी जाति पर लागू कर दिया जाए, जैसे किसी के यह कहने पर कि 'यह ब्राह्मण विद्वान और आचारवान है", वक्रोक्ति-पटु-पुरुष आक्षेप करे कि नहीं सभी ब्राह्मण विद्वान और आचारवान नहीं होते। (३) उपचारछल अर्थात् जहां आलंकारिक भाषा में किए गए कथन को शाब्दिक अर्थ में लिया जाता है। जैसे कि कोई कहे कि 'फांसी के तख्ते चिल्ला उठते हैं', तो उसपर वक्रोक्ति-पटु-पुरुष प्रतिवाद करे कि फांसी के तख्ते जैसे निर्जीव पदार्थ से यह आशा नहीं की जा सकती कि वह चिल्ला सके।

जाति एवं निग्रहस्थान जैसे हेत्वाभास आभ्यन्तर भाषा सम्बन्धी दोष हैं, तर्क-सम्बन्धी नहीं। तार्किक हेत्वाभास परार्थानुमानात्मक युक्ति के विभिन्न अवयवों के सम्बन्ध में होते हैं। पक्षपद-सम्बन्धी दोष अर्थात् पक्षाभास, और दृष्टान्त-सम्बन्धी दोष अर्थात् दृष्टान्ताभास उतने महत्त्व के नहीं हैं, जितने कि हेत्वाभास अर्थात् मध्यपद (हेतु) सम्बन्धी दोष हैं। गौतम[1] इस प्रकार के दोषों के पांच भेद बतलाते हैं (१) सव्यभिचार, अर्थात् जिसके द्वारा एक से अधिक प्रकार के परिणाम निकल सकें। दुर्बोध इन्द्रियातीत होने के कारण शब्द को चाहे तो हम नित्य समझ लें चाहे अनित्य, क्योंकि नित्य परमाणु और अनित्य पदार्थों के ज्ञान भी दुर्बोध अर्थात् इन्द्रियातीत हैं। हेतु से माध्यपद व्याप्त नहीं है। क्योंकि हेतु बराबर किसी एक विकल्प का सहचारी नहीं है, इसलिए परवर्ती तर्कशास्त्र में इसे अनैकान्तिक कहा गया है। इसके तीन उपविभाग माने गए हैं, अर्थात् (क) साधारण, जहां कि हेतु अत्यन्त व्यापक है; (ख) असाधारण, जहां कि हेतु बहुत संकुचित है; और (ग) अनुपसंहारी अर्थात् अनिश्च-

१. १ : २, ४, और देखिए वैशेषिकसूत्र, ३ : १, १५। प्रशस्तपाद ने असिद्ध, विरुद्ध, सन्दिग्ध, और अनध्यवसित इस प्रकार के हेत्वाभास बताए हैं (प्रशस्तपादकृत पदार्थधर्मसंग्रह, पृष्ठ २३८–४०)। दिङ्नाग ने चौदह प्रकार के और भासर्वज्ञ ने छः प्रकार के हेत्वाभासों का वर्णन किया है। और देखिए तर्कसंग्रह, ५२।

ग्रात्मक, जहा हेतु की यथार्थता नही जाची जा सकती।[1] (२) विरुद्ध, अर्थात् वह तर्क जिससे स्वय प्रतिज्ञा का ही खण्डन हो जाए।[2] (३) प्रकरणसम, अर्थात् जो प्रतिज्ञा के ही समान हो, जिससे कोई परिणाम नही निकल सकता, क्योंकि यह उसी प्रश्न को उठाता है जिसका कि इसे उत्तर देना होता है। यह दो परस्पर-विरोधी विशेषताओ मे से एक को रखता है, जबकि दोनो ही अप्रत्यक्ष है।[3] परवर्ती न्याय इसे 'सत्प्रतिपक्ष' के अन्तर्गत लाता है। जब यह सव्यभिचार के साथ तादात्म्यरूप धारण करता है तो यह एक ऐसा तर्क हो जाता है जिससे दोनो पक्ष अपना तात्पर्य निकाल सकते है।[4] (४) साध्यसम वह तर्क है जो साध्य से भिन्न नही है, अर्थात् जिसे सिद्ध करने को स्वय एक प्रमाण की आवश्यकता है। यह असिद्ध विषय है जिसके विभिन्न प्रकार माने गए है, जैसे (क) स्वरूपासिद्धि, जहा हेतु का स्वरूप बिलकुल ही अज्ञात है, जैसे हम कहे कि शब्द नित्य है क्योंकि यह दिखाई देता है। यहा शब्द का दिखाई दे सकना बिलकुल ही अज्ञात है; (ख) आश्रयासिद्धि : जहा हेतु का कोई आधार ही नही, जैसेकि इस उदाहरण मे कि 'परमात्मा का अस्तित्व नही है, क्योंकि वह शरीरधारी नही है', यदि परमात्मा नही है तो अशरीरिता का कोई अधिष्ठान ही नही है; (ग) अन्यथासिद्धि, अर्थात् जो अन्य प्रकार से ज्ञात हो।[5] (५) कालातीत, अर्थात् ऐसा तर्क जिसका समय बीत चुका हो। यह तर्क कि 'शब्द स्थायी है क्योंकि इसकी अभिव्यक्ति दो पदार्थो के सयोग से होती है जैसेकि रग की', इस प्रकार के हेत्वाभास का उदाहरण है। घडे का रग तब प्रकट होता है जबकि दीपक के साथ घडे का सयोग होता है, यद्यपि इस सयोग से पहले भी रग विद्यमान था और सयोग के विच्छेद होने पर भी बराबर रहेगा। किन्तु उक्त उदाहरण के आधार पर यह तर्क करना कि ढोल के साथ डडे का सयोग होने से पहले भी शब्द विद्यमान था और सयोग के विच्छेद हो जाने पर भी विद्यमान रहेगा, हेत्वाभास है। यह तर्क कालातीत है क्योंकि दीपक और घडे के सयोग के साथ ही रग की अभिव्यक्ति होती है, जबकि डडे और ढोल का सयोग होने के बाद शब्द की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार के हेत्वाभास को 'बाधित' भी कहते है जहाकि हेतु एक पक्ष की स्थापना करता है पर उसमे विपरीत की सिद्धि अन्य प्रमाण द्वारा होती है। परवर्ती तर्कशास्त्र मे हेत्वाभासो की सूची बहुत अधिक विकसित है।

१. तर्कसग्रह, ५३। और देखिए विश्वनाथकृत न्यायसूत्रवृत्ति, १ : २, ४६।

२. न्यायवार्तिक, १ : २, ६। वात्स्यायन (१ : २, ६) योगभाष्य (३ : १३) मे दृष्टान्तरूप मे दो कथन उद्धृत करते हैं : (१) इस ससार का व्यक्त होना इसलिए समाप्त हो जाता है क्योंकि यह नित्य नही है और (२) यह विद्यमान इसलिए रहता है क्योंकि इसका नाश नही हो सकता। और देखिए तर्कसंग्रह, ५४।

३. न्यायभाष्य और न्यायवार्तिक, १ : २, ७। ४. तर्कसंग्रह, ५५।

५. वाचस्पति एकदेशासिद्धि को जोड़ता है और उदयन व्याप्यत्वासिद्धि को जोड़ता है, जहां कि साहचर्य निरन्तर रहनेवाला नहीं है।

१८

सत्य अथवा प्रमा

ज्ञान के सिद्धान्त का प्रारम्भ जिस तथ्य से होता है वह यह नही है कि हमे ज्ञान है, बल्कि यह है कि हम उसका दावा करते है। यह प्रमाणवादी का कार्य है कि वह अनुसंधान करे कि उस दावे को कहा तक निभाया जा सकता है। प्रमा अथवा सत्य के सिद्धान्त में नैय्यायिक जिज्ञासा करना आरम्भ करता है कि कहा तक हमारा दावा तर्क की कसौटी पर न्यायोचित ठहर सकता है। वह यह जताने का प्रयत्न करता है कि चार प्रमाणो के द्वारा जो ज्ञान हमे प्राप्त होता है वह प्रामाणिक है अथवा उसकी प्राकृतिक आवश्यकता है।

न्यायशास्त्र द्वारा प्रतिपादित ज्ञान के सिद्धान्त का माध्यमिक मत के संशयवाद के साथ विरोध है। संशयवादी का कहना है कि हमे पदार्थो के तत्त्व का ज्ञान नही होता और हमारा विचार परस्पर इतना विरोधी है कि उसे यथार्थ नही समझ सकते। इस मत के विरोध मे वात्स्यायन का कहना यह है कि यदि माध्यमिक को इतना निश्चय है कि किसी भी पदार्थ की सत्ता नही है, तो उसे अपने ही मत के अनुसार कम से कम इतनी निश्चितता तो स्वीकार है ही, और इस प्रकार उसके मत का अपने से ही खण्डन हो जाता है। और यदि 'किसी पदार्थ की सत्ता नहीं' इसे सिद्ध करने के लिए उसके पास कोई प्रमाण नहीं है और यह उसकी केवल अयुक्तियुक्त कल्पना है तो इसके विपरीत मत को स्वीकार किया जा सकता है और फिर जो प्रमाणो की मान्यता को अस्वीकार करता है, वह या तो किसी प्रमाण के आधार पर ऐसा कर सकता है या बिना किसी आधार के ऐसा कर सकता है। यदि पिछली बात है तो तर्क करना निरर्थक है। और यदि पहली बात है तो वह प्रमाणो की मान्यता को स्वीकार कर ही लेता है। मौलिक संशयवाद क्रियात्मक नही है। प्रत्येक व्यक्ति को विचार प्रारम्भ करने ही ज्ञान के सिद्धान्तो को स्वीकार करना ही पड़ता है। और जो विचार की क्रिया को स्वीकार करता है उसे यथार्थ के जगत् को भी स्वीकार करना ही होता है, क्योंकि विचार तथा यथार्थसत्ता एक-दूसरे पर आश्रित है। वात्स्यायन का कहना है कि यदि विचार द्वारा पदार्थों का विश्लेषण सम्भव है तो यह कहना अयुक्तियुक्त होगा कि पदार्थों की वास्तविक प्रकृति का ज्ञान नही हो सकता। और यदि, दूसरे पक्ष मे, पदार्थो की वास्तविक सत्ता का ज्ञान नही होता तो विचार द्वारा पदार्थो का विश्लेषण सम्भव नही है। इस प्रकार यह कहना कि विचार द्वारा पदार्थों का विश्लेषण होता है किन्तु पदार्थों की वास्तविक प्रकृति का ज्ञान नही होता, इन दोनो वक्तव्यों मे परस्पर-विरोध है।[1] उद्योतकर इसे इस प्रकार रखता है कि "यदि विचार द्वारा पदार्थों का विश्लेषण हो सकता है तो पदार्थ असत् नही हो सकते; और यदि पदार्थों की सत्ता नही है तो विचार द्वारा पदार्थों का विश्लेषण सम्भव नही है।"[2] न्यायशास्त्र का विश्वास है कि ज्ञान यथार्थसत्ता

१. न्यायभाष्य, ४ : २, २७।	२. न्यायवार्तिक, ४ : २, २७।

का सूचक है ।[1]

वात्स्यायन, विज्ञानवाद के इस मत पर आक्षेप करता है कि अनुभूत पदार्थ साक्षात्कार के सूत्रमात्र है । स्वप्न में देखे गए पदार्थ यथार्थ नही होते क्योंकि जागरितावस्था में हमें उनका अनुभव नही होता । यदि इन्द्रियग्राह्य अनुभूत जगत् का अस्तित्व न होता तो स्वप्न की अवस्थाएं सम्भव ही न हो सकती । स्वप्नो की विविधता उनके कारणों की विविधता पर आश्रित है ।[2] यदि यथार्थसत्ता का अस्तित्व न होता तो सत्य तथा भ्रांति में भेद न के बराबर होता और इस तथ्य का कोई स्पष्टीकरण सम्भव न होता कि प्रत्यक्ष ज्ञान मे हमे स्वेच्छाचार प्राप्त नहीं है ।[3] और न्याय उस मत से भी सन्तुष्ट नही है जो पदार्थों को स्वयंसिद्ध, यद्यपि क्षणिक स्वभाव वाले, मानता है । यदि पदार्थ हमारे ज्ञान के कारण है तो उनका अस्तित्व कार्य अर्थात् ज्ञान से पूर्व होना आवश्यक है । किन्तु, पदार्थों की क्षणिकता के मत मे, जिस पदार्थ ने ज्ञान उत्पन्न किया उसका दूसरे ही क्षण मे, जबकि उसका प्रत्यक्ष होता है, अस्तित्व नही रहता । ऐसे मत को किस प्रकार स्वीकार किया जा सकता है, क्योंकि प्रत्यक्ष ज्ञान तो केवल उस पदार्थ का होता है जोकि उसी क्षण मे विद्यमान हो । ऐसा तर्क उपस्थित करना कि पदार्थ का तिरोधान प्रत्यक्ष ज्ञान का समकालीन है, निःसार है, क्योंकि हम वर्तमानकाल के पदार्थ का प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त करते है न कि भूतकाल के पदार्थ का । इस प्रकार अनुमान तक भी असम्भव हो जाएगा ।[4] फिर, कार्य और कारण के आधान और आधेय के रूप मे परस्पर सम्बद्ध होने के कारण, दोनो का एक ही काल मे विद्यमान रहना आवश्यक है । जो पदार्थ वास्तविक रूप मे है उसका मौलिक स्वरूप उस पदार्थ से जिसकी केवल

१. निश्चित ज्ञान की असम्भवता, माध्यमिकों के अनुसार, अन्य युक्तियों के साथ-साथ इस आधार पर है कि प्रत्यक्ष ज्ञान इन्द्रिय विषयों से न तो प्रारम्भ में, न पीछे और न ही साथ-साथ कभी हो सकता है । यदि यह पहले होता है तो यह पदार्थ के साथ इन्द्रिय के सन्निकर्ष का परिणाम नहीं हो सकता ; यदि पीछे होता है तो यह नहीं कहा जा सकता कि इन्द्रिय के विषय की स्थापना प्रत्यक्ष ज्ञान के द्वारा हुई है । और यदि प्रत्यक्ष ज्ञान पदार्थ के साथ-साथ होता है तो हमारे बोधों में किसी क्रम की आवश्यकता नहीं, क्योंकि उनसे सम्बद्ध पदार्थों मे कोई ऐसा क्रम नही है । रंग और गन्ध का प्रत्यक्ष ज्ञान एक ही समय में हो सकता है, जिसे न्याय नहीं स्वीकार करता । जो कुछ प्रत्यक्ष के विषय मे सत्य है वही अन्य प्रमाणों तथा प्रमेयविषयों के साथ उनके सम्बन्ध के विषय मे भी लागू होता है । इस प्रकार ज्ञान के ये साधन अप्रामाणिक भी है और असम्भव भी है । प्रत्यक्ष ज्ञान के विरुद्ध उक्त आपत्ति का निराकरण इस तर्क के आधार पर किया जाता है कि ज्ञान का साधन अपने प्रमेय पदार्थ से पूर्व भी रह सकता है जैसे कि ढोल शब्द से पहले रहता है, पीछे भी आ सकता है जैसे प्रकाश सूर्य के पश्चात् आता है, और एकसाथ भी रह सकता है जैसे कि धुएं का ज्ञान आग के साथ-साथ होता है (न्यायभाष्य, २ : १, ८–१६) ।

२. न्यायभाष्य, ४ : २, ३३–३४ और ३७ । ३. न्यायभाष्य, ४ : २, २६–३७ ।

४. देखिए न्यायवार्तिक, १ : १, ३७ ; ३ : २, १४ । उद्योतकर कहता है : "परार्थानुमान मे, शब्द अनित्य है क्योंकि घड़े की भांति यह एक उत्पन्न पदार्थ है । घड़ा एक दृष्टान्त है जिसके अन्दर अनित्यता और उत्पन्न होने की योग्यता अवश्य निहित होनी चाहिए । इनमें पहला पश्चाद्वर्ती अभाव है जबकि पिछला पूर्ववर्ती अभाव है । यदि घड़ा केवल क्षणिक है तो ये दोनों ही एकसाथ घड़े में कैसे रह सकते है ?"

कल्पना की जाती है, इस बात मे भिन्न है कि उसकी सत्ता अनुभव के हर सम्बन्ध से स्वतन्त्र है। जिस पदार्थ की सत्ता है, वह उस काल में भी है जबकि हमे उसका अनुभव नही होता। अनुभव एकपक्षीय निर्भरता का सम्बन्ध है। अनुभव की विद्यमानता के लिए पदार्थों का रहना आवश्यक है, किन्तु पदार्थों की सत्ता के लिए किसी अनुभव का होना आवश्यक नही है। इस प्रकार नैय्यायिक इस परिणाम पर पहुचता है कि हमारे विचार, द्रष्टा की इच्छा एव प्रयोजन से स्वतन्त्र, तथ्यों के वस्तुपरक स्तर (मानदण्ड) के अनुसारी होते है।[1] पदार्थो की सत्ता प्रमाणो पर निर्भर नही करती, यद्यपि बोध के विषय के रूप मे उनका अस्तित्व बिलकुल प्रमाणो की क्रिया पर निर्भर करता है।

प्रमाणो की प्रमाण सज्ञा इसलिए है कि व हमे प्रमा (सत्य) प्राप्त कराते है।[2] उदयन अपने 'तात्पर्यपरिशुद्धि' नामक ग्रन्थ मे कहते है कि "पदार्थो के वास्तविक स्वरूप का ज्ञान 'प्रमा' है, और इस प्रकार के ज्ञान के साधन को प्रमाण कहते है।"[3] पदार्थों का वास्तविक स्वरूप अर्थात् तत्त्व क्या है? यह, जो पदार्थ है उसकी विद्यमानता और जो पदार्थ नही है उसका अभाव के अतिरिक्त और कुछ नही है।[4] इसका तात्पर्य यह है कि जब किसी पदार्थ का, जो है, एक विद्यमान पदार्थ के रूप मे ज्ञान प्राप्त किया जाता है—अर्थात् उसे उसके यथार्थ रूप मे जाना जाता है (यथाभूतम्), और उससे विरोधी रूप मे नही जाना जाता (अविपरीतम्) तो इस प्रकार जो ज्ञान प्राप्त किया जाता है वह उस पदार्थ का यथार्थस्वरूप है। इसी प्रकार दूसरी ओर जब एक असत् (अभावरूप) का अभावात्मक अनुभव किया जाता है अर्थात् जो पदार्थ नही है और भावात्मक पदार्थ के विरोधीस्वरूप का है, तो वही उसका यथार्थस्वरूप है।[5] अप्रमा, भ्रम अथवा मिथ्याज्ञान पदार्थ का उस रूप मे ज्ञान है जैसाकि वह नही है। जब हम सीप को चादी समझ लेते है तो यह पदार्थ का वैसा बोध है जैसाकि वह नही है।[6] यह केवल ज्ञान का अभाव नही है, बल्कि निश्चित भ्रान्ति है।[7]

परिप्रश्न, सशय आदि का भी मनुष्य के मानसिक इतिहास मे एक स्थान है, यद्यपि उनकी यथार्थता अथवा अयथार्थता का प्रश्न नही उठता। व्यक्ति का विचार किए बिना किसी विषय-वस्तु के विषय मे स्वतन्त्र रूप मे निर्णय देना या किसी प्रकार का कथन करना तार्किक मूल्याकन का उद्देश्य है। प्रत्येक ज्ञान एक प्रकार का ऐसा निर्णय है जिसमे वह पदार्थ जिसके विषय मे निर्णय दिया जाए, विशेष्य है और उसके सम्बन्ध मे जो कुछ कहा जाए वह विशेषण है। न्यायशास्त्र मे निर्णय का विश्लेषण उद्देश्य और विधेय के रूप में उतना नही किया जाता जितना कि विशेष्य और विशेषण

१. न्यायभाष्य; विश्वनाथ : न्यायसूत्रवृत्ति, ४ : २, २६ और आगे।
२. प्र अर्थात् यथार्थ, मा अर्थात् ज्ञान (४ : २, २१)।
३. यथार्थानुभवः प्रमा तत्साधनं च प्रमाणम्।
४. सतश्च सद्भावोऽसतश्चासद्भावः। न्यायभाष्य, १ : १, १।
५. न्यायभाष्य और न्यायवार्तिक, १ : १, १। ६. न्यायभाष्य, १ : १, ४
७. न्यायभाष्य, ४ : २, १; ४ : २, ३५।

के रूप मे होता है।[1] समस्त ज्ञान पदार्थो के स्वरूप तथा गुणो के विषय मे होता है। उद्देश्य हमे यह बताता है कि एक वस्तु का अस्तित्व है और विधेय उसके विशेष गुणो का वर्णन करके उसके स्वरूप का निश्चय कराता है। जहा निर्णय पदार्थ के स्वरूप से मेल खाता है उसे हम यथार्थ ज्ञान कहते है। प्रत्येक विषय का अपना वास्तविक स्वरूप होता है और विचार विशेष्य तथा विशेषण म भेद करता है और प्रमाणित करता है कि दोनो वास्तविक जगत् मे परस्पर सयुक्त पाए जाते है। यह कहा जाता है कि प्रमाण हमे वस्तुओ के वास्तविक स्वरूप का ज्ञान कराते है।

घटरूपी पदार्थ तथा उसके ज्ञान का जो सम्बन्ध है वह समवाय-सम्बन्ध नही है, क्योकि घटविषयक ज्ञान आत्मा का एक गुण है, घडे का गुण नही है। और न ही यह सम्बन्ध सयोग सम्बन्ध है, क्योकि सयोग-सम्बन्ध केवल द्रव्यो म ही सम्भव है, जबकि ज्ञान द्रव्य नही बल्कि गुण है। तो भी पदार्थ और पदार्थ के ज्ञान के मध्य एक सम्बन्ध होना अवश्य चाहिए जिससे निश्चित और यथार्थ परिणाम तक पहुचाया जा सके। इस प्रकार हमारे निर्णय का एकमात्र सभव नियामक कारण घट का स्वरूप ही हो सकता है। इस प्रकार के सम्बन्ध को 'स्वरूप सम्बन्ध' कहते है। जिसकी परिभाषा भीमाचार्य के न्यायकोष मे इस प्रकार की गई है कि 'ऐसी अवस्था मे जबकि निश्चित ज्ञान अन्य किसी सम्बन्ध, अर्थात् समवाय अथवा सयोग के द्वारा प्राप्त न हो और इसकी सत्ता स्वीकार करने के लिए हम बाध्य हो।' यह प्रमेय पदार्थ तथा बोध के मध्य अपने ही ढग का एक निराला सम्बन्ध है। ज्ञानरूप कार्य, जो ज्ञान की क्रिया अथवा प्रक्रिया से

१. तुलना कीजिए : "हम कहते है कि इन्द्रिय-प्रत्यक्ष में हम पदार्थ का स्वरूप क्या है यही निर्णय करते है। पुनः सर्वाधिक आधारभूत अर्थ में हम निर्धारित तथा निर्धारक की बात कह सकते है। 'निर्धारित' की परिभाषा करते हुए कहा जाता है कि यह वह है जिसका विचार या बोध द्वारा निर्णीत करने के लिए या स्वरूप-ज्ञान के लिए प्रयत्न किया जाता है। और निर्धारक वह है जो उसे (प्रयत्न को) निर्धारित करता तथा उसके स्वरूप का ज्ञान कराता है।" (ब्रैडले : लॉजिक, १। पृष्ठ ६)।

२. तद्वति तत्प्रकारकोऽनुभवो यथार्थः। तदभाववति तत्प्रकारकोऽनुभवोऽयथार्थः (तर्कसंग्रह, ३५)। 'प्रकार' विषय का नाम है, जो यथार्थ वस्तु का विशेष गुण होता है, 'विशेषण' कहलाता है। प्रभाकर बोध को उल्लेख करता है और विशेषण पदार्थ का। [illegible] यह कठिनाई उपस्थित करता है कि क्या हम निर्णय में कि 'यह घट है', 'यह' का विशेष्य और घट का विशेषण समझा जा सकता है। वह इस कठिनाई का निराकरण यह कहकर करता है कि यह आवश्यक नहीं है कि विशेष्य स्वयं गुण होता, वह केवल विषय के साथ सम्बद्ध होना चाहिए। 'तद्वान्' का अर्थ है तत्सम्बन्धवान्। न्यायसिद्धान्तमुक्तावलि, ३ : २, ४२।

३. प्रमाणत्वं सकलपदार्थयथार्थपकत्वम् (विश्वनाथकृत न्यायसूत्रवृत्ति, १ : १, १)।

४. स्वरूपसम्बन्धो विशेषणविशेष्यभावापरपर्यायः। स्वरूप को सम्बन्ध बनाने में जो स्पष्ट आपत्ति है, अर्थात् सम्बन्ध तथा सम्बद्ध पदार्थों के मध्य जो भेद है वह लुप्त हो जाता है। उसका समाधान इस प्रकार दिया गया कि सम्बन्ध के रूप में सम्बन्ध नहीं है, बल्कि केवल ज्ञान के विषय के रूप में है।

५. अवच्छेदकत्व स्वरूपसम्बन्ध की एक अवस्था है। कुछेक अवस्थाओं में यह व्यक्ति का, जिसका अस्तित्व नहीं है, आनिवार्य रचनात्मक गुण होता है। घटाभाव की अवस्था में घटत्व अवच्छेदक है। जहा सरल तथा मिश्रित दोनो प्रकार के गुण होते है, वहा सरलतर गुण अवच्छेदक है। जहा गुण

स्पष्टतः भिन्न है, स्वयं में न तो भौतिक पदार्थ है और न केवल एक मानसिक अवस्था है। यह सारतत्त्व अथवा उस पदार्थ का स्वरूप है जो जाना जाता है।[1] यदि बाह्य ज्ञान में ज्ञान का विषय स्वयं भौतिक सत्तावान है तो उस अवस्था में भ्रांति हो ही नहीं सकती। उसके विषय में हरएक व्यक्ति का विवरण अवश्य सत्य होना चाहिए। यह समझना कि जब हम उत्तरी ध्रुव के विषय में सोचते हैं तो वह वस्तुतः हमारी चेतना में आ जाता है, तथ्य के साथ मेल नहीं खाता। यदि यह केवल एक मानसिक अवस्था है तो हम ज्ञानसापेक्षतावाद (विषयीविज्ञानवाद) के भंवर में आ फंसते हैं। ज्ञान का विषय न तो भौतिक सत्तावान है और न मनोवैज्ञानिक सत्तावान है, बल्कि पदार्थ का स्वरूप है। समस्त ज्ञान में यह 'क्या' ही सारतत्त्व अथवा स्वरूप है जो यथार्थता का दावा रखता है। स्वप्नों में भी हमारे सामने 'क्या' आता है, किन्तु हमें यह पता चल जाता है कि स्वप्नगत पदार्थों की कोई यथार्थसत्ता नहीं है। उनका अस्तित्व-सम्बन्धी उपलक्षित अनुमोदन उचित नहीं है। समस्त ज्ञान स्वरूपों का ही है। जिसमें सत्ता उपलक्षित रूप से आरोपित होती है। इस उपलक्षित विश्वास में कभी-कभी भ्रांति भी होती है। स्वयं ज्ञान की अपनी क्रिया द्वारा वस्तुविषय पदार्थ से सम्बन्ध रखता है या नहीं यह नहीं जाना जाता, क्योंकि ज्ञान का स्वतःप्रामाण्य नहीं है।[2] न्याय का मत है कि ज्ञान की यथार्थता अपने-आपमें सिद्ध नहीं है, बल्कि वह अन्य साधनों द्वारा (परतः प्रमाण) प्रमाणित की जाती है। सांख्य का विचार है कि यथार्थता और अयथार्थता बोध के अन्दर निहित है। किन्तु मीमांसकों का विचार है कि यथार्थता तो बोध के अपने ही कारण है,[3] पर अयथार्थता बाह्य कारणों से होती है। इसलिए जब तक अन्यथा सिद्ध न हो, बोध को यथार्थ ही समझना चाहिए। बौद्ध विचारकों का मत है कि अयथार्थता तो सब बोधों के साथ सम्बद्ध है, किन्तु यथार्थता को सिद्ध करने के लिए अन्य साधनों की आवश्यकता होती है। इन सब मतों के विरोध में, नैय्यायिक का कहना है कि यथार्थता और अयथार्थता की स्थापना बोध से स्वतन्त्र अन्य किसी वस्तु में होती है। यदि प्रत्येक बोध स्वयं स्पष्ट होता तो संशय की सम्भावना ही न होती।[4] इसलिए यथार्थता का

ध्यान के साथ सहविद्यमान है उसे हम अनागत... की अवस्था कहते हैं। ज्ञान और पदार्थ के मध्य जो सम्बन्ध है, वह विषयता कहलाता है।

१. तुलना कीजिए, "हमारे पास उपलब्ध सामग्री केवल स्वरूप के सम्मिश्रण, सारतत्त्व, तार्किक पदार्थ हैं जिन्हें प्रत्यक्ष देखे गए, अथवा अन्य प्रकार से जाने गए विद्यमान पदार्थों का स्वरूप मानना ही होता है" (एसेज इन क्रिटिकल रियलिज्म, पृष्ठ ५)।

२. तुलना कीजिए, ड्रेक : "समस्त तात्कालिक अनुभव बाह्य सत्तावान का ज्ञान है (यदि वह सत्तावान है) उसपर अधिकार नहीं है। उसकी प्रामाणिकता की जांच अन्य साधनों से होनी चाहिए, जो क्षणिक अन्तर्दृष्टि से अतिरिक्त हों" (क्रिटिकल रियलिज्म, पृष्ठ ३०)।

३. उनके लिए वेदों का सत्य स्वतः प्रकट है और उसके पालन के लिए किसी बाह्य स्वीकृति की आवश्यकता नहीं है। किन्तु नैय्यायिकों के अनुसार, वेदों का प्रामाण्य इसलिए है कि उनका निर्माता ईश्वर है।

४. सिद्धान्तमुक्तावलि, १३६। "यदि बोध की यथार्थता स्वयं प्रतीत हो तो ऐसे बोध के विषय में जो अभ्यास द्वारा उत्पन्न हुआ है, कोई संशय न रहेगा। क्योंकि यदि, इस अवस्था में, बोध तथा

निश्चय तो सत्य घटनाओं को देखकर ही किया जाता है। कल्पना कीजिए कि हम एक पदार्थ को प्रत्यक्ष देखते है। हमें तुरत यह निश्चय नहीं हो सकता कि जिस पदार्थ को हम देख रहे है वह ठीक उसी परिमाण और आकृति का है जैसाकि हमे दिखाई देता है। हम देखते है कि सूर्य घूम रहा है। किन्तु वस्तुत वह घूमता नहीं है। इसलिए पदार्थ के प्रत्यक्ष अथवा तात्कालिक ज्ञान के साथ उसकी यथार्थता का विश्वास स्वत संलग्न नहीं है। हमे ज्ञान की यथार्थता केवल पुनर्मनन की मध्यस्थ प्रक्रिया द्वारा ही प्राप्त हो सकती है।[1] जो बात प्रत्यक्ष ज्ञान के विषय में सत्य है वही उन सब ज्ञानो के विषय मे भी सत्य है जो हमे अन्य साधनों से प्राप्त होते है।

उक्त सिद्धान्त पर [illegible] [illegible] के [illegible] पर न्याय विचार करता है। एक प्रमाण जो हमे किसी पदार्थ का ज्ञान कराता है स्वयं किसी अन्य प्रमाण का प्रमेय कैसे बन सकता है? जैसाकि [illegible] तराजू [illegible] उससे कोई चीज तोली जाती है, तो वह साधन है किन्तु जब स्वयं तराजू का वजन जानना हो तो वह पदार्थ बन जाएगी जिसके वजन के लिए अन्य तराजू की आवश्यकता होगी। ठीक इसी तरह, ज्ञान का साधन जब किसी प्रमेय पदार्थ की स्थापना करता है तो वह साधन है परन्तु जब उसकी अपनी स्थापना की जाती है तो वह प्रमेय बन जाता है। वात्स्यायन कहता है कि "बुद्धि अथवा ज्ञान वस्तुओं के परिज्ञान के कार्य मे स्वयं साधन अथवा प्रमाण है। किन्तु जब उसका स्वयं का परिज्ञान अपेक्षित हो तो वही प्रमेय पदार्थ है।" यदि यह कहा जाए कि ज्ञान के इस साधन को अपनी

उसकी यथार्थता का ज्ञान [illegible] [illegible] कैसे हो सकता है? [illegible] यदि बोध का ज्ञान नहीं हो तो [illegible] [illegible] [illegible] ज्ञान के अभाव में [illegible] [illegible] [illegible] सकता है? इसलिए बोध की यथार्थता अनुमान का विषय (अनुमेय) [illegible]।

१ [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] किन्तु उसकी यथार्थता का ज्ञान अनुमान द्वारा होता है। [illegible] करने वाले [illegible] [illegible] का प्रयत्न होता है। इसके लिए वह [illegible] [illegible] [illegible] है अथवा असफल होता है। बोध की सफलता मे ही उसकी यथार्थता [illegible] [illegible], क्योंकि जो यथार्थ नहीं है वह प्रयोग की सफलता का कारण नहीं बन सकता।

२ न्यायभाष्य, [illegible]। [illegible] दीपक के प्रकाश का [illegible] [illegible] जो अन्य पदार्थों को प्रकाशित करने [illegible] [illegible] अपने आपको भी प्रकाशित करता है। दीपक के प्रकाश की अवस्था में यह पाया जाता है कि जहां वह [illegible] [illegible] का विषय है, वहां [illegible] साधन भी है जिसके द्वारा हम अन्य देखे जाने योग्य पदार्थों का ज्ञान प्राप्त करते है। इस प्रकार, परिस्थिति के अनुसार, वह बोध का विषय भी है और साधन भी है। (न्यायभाष्य, [illegible]) इसपर नागार्जुन आपत्ति करता है कि दीपक अपने को प्रकाशित नहीं कर सकता, क्योंकि उसके अन्दर अन्धकार नहीं है। वह अन्य पदार्थों को प्रकाशित करता है उस अन्धकार को दूर करके जो उन्हें आच्छादित किए हुए है। (माध्यमिक कारिका, ७)। वात्स्यायन के मत को प्रमाणों के स्वतःप्रकाश सम्बन्धी वेदान्त की स्थिति के साथ न मिलाना चाहिए। एक ही प्रमाण पदार्थ को भी प्रकाशित करे तथा अपनी यथार्थता को भी सिद्ध करे ऐसी बात नहीं है। उद्योतकर इसका स्पष्टीकरण यों करता है कि प्रमेय पदार्थों के सम्बन्ध में दीपक का प्रकाश प्रमाण है किन्तु इसकी अपनी सिद्धि एक अन्य प्रत्यक्षज्ञान से होती है जोकि चक्षु इन्द्रिय

प्रामाणिकता सिद्ध करने के लिए ज्ञान के अन्य साधन की आवश्यकता न होनी चाहिए, अर्थात् यह स्वत सिद्ध है, तो इस प्रकार प्रमेय को भी स्वय सिद्ध माना जा सकता है और तब प्रमाणो की कोई आवश्यकता ही नही रहती। यह आपत्ति की जाती है कि यदि ज्ञान की यथार्थता का ज्ञान किसी अन्य ज्ञान द्वारा प्राप्त किया जाता है, और फिर दूसरे ज्ञान की यथार्थता अन्य ज्ञान के द्वारा जानी जाती है, तो एक प्रकार की ऐसी अव्यवस्था हो जाएगी जिसका कही अन्त नही होगा।[1] यदि हम कही बीच मे ठहर जाते है तो प्रमाण की सिद्धि नही होती। नैय्यायिक की दृष्टि मे यह कोई गभीर आपत्ति नही, बल्कि केवल एक काल्पनिक आपत्ति है। सब प्रकार के कार्य-सम्पादन के लिए हम प्रमाणो की यथार्थता को स्वय सिद्ध मान लेते है। और एक प्रमाण से दूसरे प्रमाण की यथार्थता को निरतर सिद्ध करते रहने की कोई आवश्यकता नही होती।[2] स्पष्ट ज्ञान की अवस्था मे, जैसेकि जब हम किसी फल को अपने हाथ मे देखते है, हमे बोध की यथार्थता के विषय मे कोई सशय नही होता। हमे पदार्थ का निश्चित ज्ञान एक ही बोध मे हो जाता है। किन्तु सशयात्मक ज्ञानो मे हमे उस ज्ञान की यथार्थता निश्चित करने के लिए अन्य ज्ञान की सहायता की आवश्यकता होती है और जब हमे पूर्णरूप मे यथार्थ ज्ञान की प्राप्ति हो जाती है तो हम आगे खोज करना बन्द कर देते है। कुछ प्रमाण ऐसे है जिन्हे पदार्थो की सिद्धि और व्यावहारिक कार्यवाही के लिए अपने ज्ञान की आवश्यकता होती है। और कुछ प्रमाण ऐसे है जिन्हे पदार्थो की सिद्धि के लिए अपने ज्ञान की आवश्यकता नही होती। स्वय धुए का ज्ञान, इससे पूर्व कि वह आग का ज्ञान कराए, आवश्यक है। इन्द्रिया हमे पदार्थो का ज्ञान देती है, किन्तु इन्द्रियो के अपने ज्ञान का प्रश्न नही उठता। हम इन्द्रियो का ज्ञान अन्य साधनो द्वारा प्राप्त कर सकते है; किन्तु वह ज्ञान अनावश्यक है।

नैय्यायिक के मत मे, हम सीधे यह नही जान सकते कि हमारे बोध यथार्थ से मेल खाते है या नही। हमे इसके लिए अनुमान का आश्रय लेना होता है कि यह कहां तक हमे सफल प्रयत्न की ओर अग्रसर करने मे सक्षम है। सब प्रकार का ज्ञान हमे कर्म करने के लिए प्रोत्साहित करता है। यह हमे बतलाता है कि अमुक पदार्थ वाछनीय

की तरह के साथ इसका सम्पर्क होने से होता है। इस प्रकार एक प्रमाण दूसरे प्रमाण से सिद्ध किया जाता है (न्यायवार्त्तिक, २ : १, १९)। और देखिए न्यायवार्त्तिकतात्पर्यटीका, २ : १, १९।

१. यह आपत्ति नागार्जुन द्वारा उसके 'विग्रहव्यावर्तनीकारिका' नामक ग्रन्थ में उठाई गई आपत्ति के सदृश है। देखिए 'हिस्टरी आफ इण्डियन लॉजिक', पृष्ठ २५७ और देखिए न्यायभाष्य, २ : १, १७-१८। श्री हर्ष ने बौद्ध तार्किक धर्मकीर्ति के कथन का इस प्रकार उद्धरण दिया है : "जो यह स्वीकार नहीं करता कि बोध का ज्ञान स्वतः और सीधा होता है, उसके मत मे वस्तु का ज्ञान सिद्ध नहीं हो सकता।" देखिए खण्डन, १ : ३।

२. न्यायवार्त्तिकतात्पर्यटीका, २ : १, १९।

है, अथवा अवांछनीय है, अथवा दोनों में से किसी कोटि का भी नहीं है। जीवात्मा केवल निश्चेष्ट दर्शक के रूप में वस्तुओं की मात्र कल्पना ही नहीं करती है। वह ग्राह्य पदार्थों को ग्रहण करने तथा अग्राह्य पदार्थों को त्यागने के लिए सदा ही उत्सुक रहती है। विचार जीवन-यात्रा में केवलमात्र एक प्रक्षिप्त कथा-प्रसंग है। "ज्ञान ऐसा बोध है जो अभिलाषा को उत्तेजना देता है और कर्म की ओर अग्रसर करता है।"[1] नैय्यायिक उपयोगितावादियों के इस विचार के साथ सहमति प्रकट करता है कि ज्ञान का आधार है मानव-प्रकृति की महत्त्वपूर्ण आवश्यकताएं और वह एक ऐच्छिक प्रतिक्रिया को जन्म देता है। हमारे विचारों का पदार्थों से मेल है या नहीं, इसका निश्चय हमें सफल कर्म के प्रति अग्रसर करने की उनकी योग्यता से ही हो सकता है, जिसे प्रवृत्ति-सामर्थ्य कहा गया है।[2] इसलिए यह स्पष्ट है कि पदार्थों के साथ विचारों का सम्बन्ध अनुकूलता का है, सादृश्य का नहीं है। नैय्यायिक के मत में हमारे विचारों की यथार्थता तथ्यों के साथ उनके सम्बन्ध पर निर्भर करती है, और उनके मत में वह सम्बन्ध अनुकूलता का है जिसका अनुमान हम विचारों की कार्यपद्धति से करते हैं।[3]

वस्तुतः उसी विचार को सत्य कहा जाता है कि जो हम विचार द्वारा अभिलषित ज्ञान को प्राप्त करा सके और हमें परिस्थितियों के अनुसार सफलतापूर्वक कार्य करने के योग्य बना सके। तत्त्वचिन्तामणि के प्रामाण्यवाद के अनुसार, बोधों की प्रामाणिकता अनुमान द्वारा स्थापित की जाती है। जब हम एक घोड़े को देखते हैं तो हमें सबसे पहले आकृति का बोध होता है, 'यह एक घोड़ा है', जिसके बाद एक अस्पष्ट-सा विचार मन में आता है कि 'मैंने एक घोड़े को देखा है।' और जब कोई घोड़े के समीप जाकर और वस्तुतः उसे छूकर देखता है, तभी उसे अनुमान होता है कि उसका बोध यथार्थ था और यदि आशा के अनुरूप प्रत्यक्ष ज्ञान उदय नहीं होता तो वह अनुमान करता है कि उसके बोध में भ्रान्ति हुई। हम जल को देखते हैं और उसके पास जाने

१. न्यायभाष्य, १ : १, २ ।

२. न्यायसूत्र, १ : १, १७ और इसपर न्यायभाष्य तथा न्यायवार्तिक, १ : १, १ । और कुसुमाञ्जलि, ३ : १८ ।

३. तुलना कीजिए, मैक्टागर्ट कृत 'नेचर आफ एक्जिस्टेन्स,' में प्रतिपादित सादृश्य और अनुकूलता के भेद के साथ तथा [illegible] और [illegible] संबंधी प्रकल्पनाओं के साथ। इसपर ध्यान देना रुचिकर होगा कि समीक्षक यथार्थवादी, जिनका ज्ञानविषयक विश्लेषण न्याय के विश्लेषण के समान है, इस कठिनाई पर विजय पाने के लिए उसी उपाय का आश्रय लेते हैं। इस प्रश्न का कि क्या हमें भौतिक पदार्थों के अस्तित्व में विश्वास रखने का कोई अधिकार है, उत्तर इस प्रकार दिया जाता है : अपने चारों ओर स्थित भौतिक जगत् के अस्तित्व में हमारा सहज (और लगभग अनिवार्य) विश्वास उपयोगिता की दृष्टि से युक्तियुक्त है। प्रतीति का यह साम्राज्य (अर्थात् जो कुछ प्रतीत होता है, और प्रस्तुत है) रिक्त जगत् में रहनेवाले मन का स्वप्नमात्र है, ऐसा सोचा जा सकता है। किन्तु हम अपने अन्तःकरण में सहज प्रवृत्ति द्वारा यह अनुभव करते हैं कि ये प्रतीतियां यथार्थ पदार्थों के विशिष्ट लक्षण हैं। हमारी प्रतिक्रिया उनके प्रति ऐसी होती है कि मानो उनका अपना अस्तित्व है, भले ही हम सुप्तावस्था में या उन्हें भूले हुए ही क्यों न हों। वे प्रतिक्रियाएं इसी विश्वास पर कार्य करती हैं ('एसेज़ इन क्रिटिकल रियलिज़्म, पृष्ठ ६)।

हैं। यदि वह हमारी आवश्यकताओं की पूर्ति करता है तो हम अपने जल-सम्बन्धी ज्ञान को यथार्थ कहने लगते है, क्योंकि जो यथार्थ नहीं है वह सफल क्रियाशीलता के लिए प्रोत्साहित नहीं कर सकता।[1] जब हमारी आकांक्षाएं पूरी हो जाती हे तो हम अपने ज्ञान की यथार्थता को जान जाते है। इस प्रकार हम परिमाणों मे कारणों का अनुमान करते हैं। सत्य का यह सिद्धान्त अर्थात् विध्यात्मक दृष्टान्तो से यथार्थ ज्ञान की सफल उपलब्धि तथा अभावात्मक दृष्टान्तों से अयथार्थ ज्ञान की असफल उपलब्धि, आगमन कहलाता है।

यह व्यवहार्यता सत्य की केवल कसौटी मात्र है, विषय-वस्तु नही है। उपयोगितावाद के कुछ पक्षपोषकों की यह भी सम्मति है कि क्रियात्मक परिणाम ही सम्पूर्ण सत्य है, और बौद्ध तार्किक इसका समर्थन करते है। बौद्ध तार्किकों का मत है कि "यथार्थ ज्ञान वह है जिसका विरोध न हो सके। ऐसे ज्ञान को हम अविरोधी कह सकते हैं जो हमें दृष्ट पदार्थ की प्राप्ति करा सके।"[2] पदार्थ की प्राप्ति से तात्पर्य उसके सम्बन्ध में सफलतापूर्वक कार्य करना तथा उसके स्वरूप को समझना है।[3] नैयायिक के मत में सत्य व्यवहार्यतामात्र नही है, यद्यपि सत्य इससे जाना जाता है। प्रमाणित होने से पूर्व सत्य विद्यमान रहता है। निर्णय सत्य है, इसलिए नहीं कि वह प्रमाणित हो जाता है; बल्कि वह सत्य है इसीलिए प्रमाणित हो जाता है। उक्त सिद्धान्त के सम्बन्ध में की गई अनेकों आपत्तियो की समीक्षा नैयायिक ने की है। हमारी आकांक्षाएं पूर्ण हो गईं, इसका हमे निश्चय नही हो सकता। भ्रमात्मक सन्तोष के भी अनेकों उदाहरण सुने गए है। स्वप्नों मे हमे भासमान सन्तोष होता है, किन्तु इसका तात्पर्य यह नही है कि स्वप्न की अवस्थाएं यथार्थ है। इसका उत्तर न्यायशास्त्र यों देता है कि केवल सफल क्रियाशीलता की अनुभूति ही पर्याप्त नहीं है, बल्कि एक सामान्य स्वस्थ मस्तिष्क की अनुभूति चाहिए जो सफल क्रियाशीलता के पिछले अनुभवों का समर्थन करे। केवल मानसिक अवस्था की विशदता या सन्तोष की अनुभूति नहीं, बल्कि सम्पूर्ण अनुभव के साथ अनुकूलता अभीष्ट है। स्वप्नगत पदार्थ अनुभव के देश-काल रूपी साचे मे ठीक नहीं बैठ सकते, और इसलिए वे काल्पनिक है।

जब तक फल की प्राप्ति नही होती तब तक हम अपने ज्ञान को निश्चित रूप मे यथार्थ नहीं कह सकते। इस प्रकार हमे वह आत्मविश्वास नही मिल

१. पूर्वोत्पन्नं जलज्ञानं प्रमा, सफलप्रवृत्तिजनकत्वात्; यन्नैवं तन्नैवं यथा अप्रमा (अन्नंभट्टकृत दीपिका, ६३।)

२. धर्मोत्तर : न्यायबिन्दु-टीका, १ : "अविसंवादकं ज्ञानं सम्यग्ज्ञानम्...प्रदर्शितम् अर्थं प्रापयन् संवादक उच्यते।"

३. प्रवर्तकत्वम् एव प्रापकत्वम् "प्रवर्तकत्वमपि प्रवृत्तिविषयप्रदर्शकत्वमेव। धर्मोत्तर के विचार से प्राप्त पदार्थ और ज्ञात पदार्थ एक नहीं है, तथापि वे उसी शृङ्खला के है। यद्यपि बौद्ध तथ्यों और विचारों के सम्बन्ध के न्याय के मत से सहमत नहीं हो सकते, तो भी वे अर्थसिद्धि अर्थात् प्रमेय पदार्थ की प्राप्ति, अथवा क्रियात्मक क्षमता (अर्थक्रियासामर्थ्य) को सत्य की कसौटी स्वीकार करते हैं और प्रमेय पदार्थों के साथ विचारों के सादृश्य जैसे संदिग्ध वाक्यों का प्रयोग करते हैं, जैसे अर्थसारूप्यम् अस्य प्रमाणम् (न्यायबिन्दु, १ : १)।

सकता जिसके बिना कोई प्रयत्न संभव नही है। पदार्थों का यथार्थ ज्ञान सफल क्रियाशीलता की पूर्व शर्त है और सफल क्रियाशीलता से पूर्व हमें पदार्थों का यथार्थ ज्ञान नही हो सकता।[1] उद्योतकर बलपूर्वक कहता है कि क्रियाशीलता और ज्ञान की सापेक्षिक पूर्ववर्तिता के प्रश्न मे कोई सार नही है, क्योकि सृष्टि अनादि है। इसके अतिरिक्त, कर्म के लिए ज्ञान की यथार्थता नही, बल्कि पदार्थ का ज्ञान ही आवश्यक है। जहा तक परिचित पदार्थों का सम्बन्ध है, कोई कठिनाई उत्पन्न नही होती। ऐसी स्थितियो मे जहा हमारे समक्ष अद्भुत रूप-रेखा उपस्थित होती है और केवल पूर्ववर्ती घटनाओ को लागू करना अपर्याप्त है, वहा भी अपर्याप्त ज्ञान के आधार पर हम परीक्षण करते है। कभी-कभी हम प्रसिद्ध प्राक्कल्पनाओ का यथार्थ रूप जाचने के लिए कर्म मे प्रवृत्त होते है। जीवन सामान्यत धारणाओ के आधार पर चलता है और प्रत्येक प्रस्तुत क्रियाप्रणाली को उसके आधार पर कर्म करने से पूर्व तर्क की सूक्ष्म तुला पर तोलना सर्वदा सम्भव नही हो सकता। व्यावहारिक आवश्यकताओ का दबाव हमे विचारो के अनुसार कार्य करने को बाध्य कर देता है भले ही उनका साक्ष्य अपूर्ण हो। धार्मिक विश्वास के विषय हमारे कर्म का निर्णय करते है, चाहे वे तर्क के क्षेत्र से परे ही क्यो न हो। नैय्यायिक स्वीकार करता है कि ऐसी अवस्थाए है जहा पूर्ण जाच सम्भव नही है। अग्निहोत्र के अनुष्ठान से हमे स्वर्ग-प्राप्ति होती है या नही, इसका निश्चय हमारी मृत्यु से पूर्व नही हो सकता। ऐसा व्यक्ति जो पूर्ण ज्ञान प्राप्त किए बिना कर्म ही नही करेगा, या तो अति बृहद् मस्तिष्क वाला होगा, या अत्यन्त अल्पायु होगा।

वाचस्पति और उदयन जैसे परवर्ती नैय्यायिक प्रामाणिक ज्ञान के कुछ रूपो का स्वतःप्रमाण होना स्वीकार करते है। सब प्रकार की भ्रान्ति तथा असगति से रहित अनुमान और तात्त्विक समानता पर आश्रित उपमान वाचस्पति के अनुसार स्वत प्रामाण्य रखते है, क्योकि बुद्धिसगत आवश्यकता बोध तथा पदार्थों को परस्पर बाधनेवाली है। इन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष ज्ञान और शाब्दिक प्रमाण के विषय मे हम समान रूप मे निश्चित नही हो सकते।[2] उदयन वाचस्पति के मत को स्वीकार करता है और युक्ति देता है कि अनुमान और उपमान के अतिरिक्त आत्मचेतना (अनुव्यवसाय) और केवल-मात्र सत् का आभ्यन्तर तथा बाह्य प्रत्यक्ष (धर्मीज्ञान) स्वत प्रामाण्यरूप प्रामाणिकता रखते है।[3]

१. इस कठिनाई का विचार करते हुए, धर्मोत्तर न्यायबिन्दु मे, जो प्राप्ति का ठीक पूर्ववर्ती है (अर्थक्रिया निर्भासम्), और उसमे जो कुछ क्रमवर्ती घटनाओ में से गुजरते हुए प्राप्ति की ओर ले जाता है (अर्थक्रियासमर्थे च प्रवर्तकम्), भेद करता है। पहला सीधा कर्म मे प्रवृत्त करता है और जांच का विषय नहीं हो सकता। देखिए, १ : १, १ पर उद्योतकर और वाचस्पति।

२. न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका, १ : १, १।

३. न्याय के सत्यविषयक सिद्धान्त की गहरी समीक्षा के लिए देखिए खण्डन, १ : १३–१४।

१९

भ्रान्ति

प्रमा अथवा प्रामाणिक ज्ञान संशय तथा भ्रान्त ज्ञान (विपर्यय) से भिन्न है जहां कि विचार सफल क्रिया तक नहीं पहुंचाते। भ्रांतियां और मतिविभ्रम उद्देश्य की पूर्ति कराने मे असफल होते है अथवा यों कहना उचित होगा कि उनके द्वारा उकसाई गई आशाएं पूर्ण नहीं होती। हमे भूल अथवा भ्रम का ज्ञान तब होता है जबकि हमारे उद्दिष्ट भूतकाल की आकाक्षाए वर्तमानकाल से पूर्ण नहीं होती। हम एक श्वेत पदार्थ को देखते है और उसे चांदी समझ लेते है। जब उसे उठाते है तो ज्ञान होता है कि यह तो केवल सीप का एक टुकडा है। सीप-सम्बन्धी नये अनुभव ने चादी की आकाक्षा को काट दिया। न्यायशास्त्र के अनुसार, सब प्रकार की भ्रान्ति व्यक्तिपरक है। वात्स्यायन कहते है : "यथार्थ ज्ञान के द्वारा जिसका निराकरण किया जाता है, वह भ्रान्त ज्ञान है, पदार्थ नहीं है।"[1] उद्योतकर मृगतृष्णिका के दृष्टान्त को लेकर कहते हैं कि पदार्थ जैसा असल मे है सदा वैसा ही रहता है। सूर्य की चञ्चल किरणों के कारण जब जल का बोध उत्पन्न होता है तो स्वयं पदार्थ मे कोई भ्रान्ति उत्पन्न नहीं होती, किरणें भी किरणें ही रहती है और उनकी चञ्चलता भी चञ्चलता ही है। भ्रान्ति तो बोध मे है, क्योंकि यह बोध ही है जो किरणों की चञ्चलता के रूप मे प्रकट न होकर जल के रूप मे प्रकट होता है। तात्पर्य यह हुआ कि किसी वस्तु का ज्ञान यथार्थ रूप मे प्रकट न होकर उस रूप मे प्रकट होने का नाम भ्रान्ति है जैसीकि वह वस्तु नहीं है।[2] आकाशपुष्प की भांति जल का सर्वथा अभाव तो नहीं है, किन्तु यह यहां और इस काल मे उपस्थित नहीं है, यद्यपि उसकी उपस्थिति की कल्पना की गई है। सूर्य की किरणें इस भ्रान्ति का कारण है, यद्यपि वे जल के भ्रमात्मक ज्ञान का विषय नहीं है। न्यायशास्त्र के यथार्थवाद मे यहां थोड़ा-सा परिवर्तन किया गया है, क्योंकि वह भ्रांतियुक्त ज्ञान की इस मत से उचित व्याख्या नहीं कर सकता कि अनुभव करनेवाले कर्ता मे स्वतन्त्र अनुभूत पदार्थों की उनके विशेष गुणों सहित अपनी सत्ता है। समस्त भ्रान्त ज्ञान का कुछ न कुछ आधार वस्तुस्थिति में है। वात्स्यायन कहते है कि "कोई भी भ्रान्त ज्ञान बिलकुल निराधार नहीं है।"[3] पदार्थ-विशेष को उसके वास्तविक रूप मे भिन्न रूप मे जानने का नाम भ्रान्ति है। इस 'अन्यथाख्याति' मत का केवल न्याय ने ही नहीं, अपितु जैन तार्किकों तथा कुमारिल ने भी समर्थन किया है।

भ्रान्तिविषयक अन्य मतों को नैयायिक स्वीकार नहीं करते,[4] जो उनके अनुसार, तार्किक न होकर अधिकतर अध्यात्मविद्या-सम्बन्धी है। सौत्रान्तिकों के अनुसार, बाह्य पदार्थ पर एक अशुद्ध ज्ञानाकार का आरोप करना 'भ्रांति' है। योगाचार के माननेवाले असांसारिक सत्ताओं को अंगीकार न करते हुए भी

१. न्यायभाष्य, ४ : २, ३५।
२. न्यायवार्तिक, १ : १, ४।
३. न्यायभाष्य, ४ : २, ३५।
४. न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका, १ : १, २।

व्यावहारिक रूप में पदार्थों की सत्ता को मान लेते है। अनादि अविद्या की प्रवृत्तिया इसका कारण है। इस प्रकार के पदार्थों पर ज्ञानाकार का आरोप ही भ्रांति है।[1] हमे भ्राति का ज्ञान हो जाता है, क्योकि एक अन्य ज्ञान से वह दूर हो जाती है[2] और स्वय क्रियात्मक क्षमता (अर्थक्रियाकारित्व) से रहित होती है। 'यह चादी है' इस ज्ञान में जिस अश का निराकरण होता है वह चांदी नही, बल्कि 'इदन्ता' अर्थात् 'यह' है, क्योकि निष्कर्ष मे 'चादीविषयक ज्ञान' इसके विषय मे बताया गया है। निराकरणात्मक निष्कर्ष, अर्थात् 'यह चादी नही है' इस कथन में हम 'यह' को रद्द करते है, 'चादी' को नही, क्योंकि पिछले, अर्थात् 'चादी' को निराकरण करने का तात्पर्य होगा कि हम ज्ञान के एक रूप मे इसके अस्तित्व का ही निराकरण कर रहे है। यह 'ज्ञानाकार-ख्याति' का सिद्धान्त है, जिसके अनुसार एक बाह्य पदार्थ के विषय मे एक ज्ञानाकार का गलती से उल्लेख किया जाता है। जब भ्रम दूर हो गया तो चादी के बाह्य उल्लेख का भी निराकरण हो गया। यह मत योगाचारो की इस सामान्य आध्यात्मिक मान्यता का सहज परिणाम है कि जीवात्मा, प्रमेय पदार्थ और ज्ञान मे वस्तुत कोई भेद नही है। इसपर आपत्ति उपस्थित करते हुए नैय्यायिक कहता है कि योगाचार के मत से हमारे ज्ञान का स्वरूप 'यह चादी है' ऐसा न होकर 'मै चादी हू' ऐसा होना चाहिए, किन्तु बात ऐसी नही है। योगाचार सम्प्रदाय वाले सत्य और भ्रान्ति के भेद की व्याख्या नही कर सकते। विषयीविज्ञानवाद सारी स्थिति को दूषित कर देता है। मिठास शहद के अन्दर है और कडुआपन माजूफल मे है, और ये गुण केवल काल्पनिक नही है। न्याय का सूत्र (अर्थात् किसी वस्तु को जैसी वह नही है उस रूप में समझना ही भ्राति है) योगाचार के मत पर भी लागू हो सकता है।[3] माध्यमिक लोग 'असत्ख्याति' के सिद्धान्त को मानते है, अर्थात् यह कि 'असत्' के अतिरिक्त और कुछ नही है, तथा आभ्यन्तर एव बाह्य पदार्थो का समस्त ज्ञान भ्रमात्मक है। अभावात्मक चादी सत्तात्मक के रूप मे भासती है, जिसका कारण हमारी ज्ञान सम्बन्धो क्रिया-विधि है। नैय्यायिक इसपर आपत्ति करता हुआ कहता है कि सीप मे चादी-विषयक भ्रमात्मक ज्ञान अभाव से उत्पन्न नही होता, बल्कि सीप के टुकड़े में विद्यमान किसी चीज़ से उपजता है। यदि भ्रमात्मक ज्ञान के उत्तेजक की बाह्य सत्ता न मानी जाए और उसका कोई पदार्थ-विषयक आधार न हो तो हम एक प्रकार के भ्रम को दूसरे प्रकार के भ्रम से किस प्रकार भिन्न कर सकते है। अभावात्मक वस्तु किसी कार्य को उत्पन्न नही कर सकती। भ्रमात्मक ज्ञानो का उद्भव स्मृतियो के आधार पर भी नही माना जा सकता, क्योकि उनके आधार

१. अनाद्यविद्यावासनारोपितमलीक बाह्यम्, तत्र ज्ञानाकारस्यारोप (भामती, १ : १, १)।
२. भामती। बलवद्बाधकप्रत्ययवशात्।
३. सांख्यप्रवचनसूत्र पर अनिरुद्ध, १ : ४२ ; न्यायमञ्जरी, पृष्ठ १७८।

भी तो ठोस पदार्थ ही स्वीकार करने पड़ेंगे।[1] अद्वैतवाद अनिर्वचनीय ख्याति को स्वीकार करता है। बोध से जो कुछ व्यक्त होता है वही बोध का विषय है। चांदी की भ्रांति मे चांदी हमारी चेतना मे प्रकट होती है और उसका बोध होता है, अन्यथा हम यह क्योकर कह सकते है कि यह चांदी का भ्रम ही है, किसी और चीज का नही है। किन्तु चांदी, जिसका इस प्रकार बोध होता है, न तो वास्तविक है, न अवास्तविक है और न वास्तविक तथा अवास्तविक दोनो ही है। यदि वह वास्तविक है तो बोध भी यथार्थ होगा। यदि अवास्तविक है तो उसकी ओर प्रवृत्ति नही हो सकती। यदि वास्तविक और अवास्तविक दोनो है तो दो परस्पर-विरोधी गुण एक ही वस्तु के अन्दर मानने पड़ेंगे। इस प्रकार इसका स्वरूप वस्तुतः अनिर्वचनीय है, अर्थात् जिसकी व्याख्या नहीं की जा सकती। यह अव्याख्येय चांदी अविद्या के कारण उत्पन्न होती है और उसकी सहायक है चांदी के भूतकालीन प्रत्यक्ष ज्ञान की स्मृतियां, जो चांदी जैसे पदार्थ के साथ दोषपूर्ण दर्शनेन्द्रिय का संयोग होने से जाग जाती है। अद्वैतवाद के मत मे भ्रांति एक प्रत्यक्षात्मक बोध है जो चेतना मे वस्तुतः प्रस्तुत हुए पदार्थ द्वारा उत्पन्न होता है। जहां और जब भ्रांति उत्पन्न होती है, उस स्थान पर और उस समय चांदी विद्यमान है। अन्यथा भ्रांति का साक्षात्कार नहीं हो सकता। यह प्रस्तुत चांदी तब तक रहती है जब तक कि भ्रांति रहती है। नैयायिक इसपर आपत्ति करते हुए कहता है कि यदि चांदी के अभाव मे भी चांदीरूप भ्रांति-विषयक पदार्थ की उत्पत्ति होती है तो हम किसी भी ऐसे पदार्थ को देख सकते है जिसका विचार हमारे मन मे हो, और फिर प्रत्यक्ष ज्ञान के विषय तथा बिम्ब मे कोई अन्तर नहीं रह जाता। परन्तु नैयायिक इस बात के लिए अपने को बधाई दे सकता है कि उसके अन्यथाख्याति सिद्धान्त के अन्तर्गत यह मत आ सकता है, क्योंकि एक ऐसा पदार्थ जिसकी परिभाषा नहीं हो सकती, हमारी चेतना मे यथार्थ की तरह प्रकट होता है। प्रभाकर के भ्रांति-सम्बन्धी मत को 'अख्याति' (अथवा विवेकाख्याति), अथवा अविवेक की संज्ञा दी जाती है। सीप के टुकड़े मे, जिसे हम देख रहे है, और चांदी मे, जिसकी हम कल्पना करते है, जो भेद है वह दिखाई नहीं पड़ता और हम कह देते है कि 'यह चांदी है'। निराकरण करनेवाला बोध भ्रांति का खण्डन नहीं करता, बल्कि वह भ्रमा-

1. यदि भ्रान्ति की उत्पत्ति बाह्य पदार्थ में नहीं होती तो सुषुप्ति तथा भ्रान्तियों में सिवाय इसके कोई अन्तर न रहेगा कि भ्रान्ति में चेतना विद्यमान रहती है और सुषुप्ति में नहीं। 'प्रमेयकमलमार्तण्ड', पृष्ठ १४ और आगे; न्यायमञ्जरी, पृष्ठ १७७-८०।

2. अद्वैतवाद की आलोचना करते हुए रामानुज प्रश्न करते हैं कि भ्रान्ति के समय में अख्यात चांदी की उत्पत्ति का कारण क्या है? चांदी का ज्ञान पदार्थ को उत्पन्न नहीं कर सकता, क्योंकि पदार्थ ही चांदी के बोध का कारण है। यह चक्षुरूपी यन्त्र के किसी दोष के कारण नहीं हो सकता, क्योंकि इन्द्रियां बाह्य पदार्थों में कोई कार्य उत्पन्न नहीं करतीं। इन्द्रियों से ज्ञान की उत्पत्ति होती है, प्रमेय पदार्थों की नहीं।

त्मक ज्ञान मे प्रत्यक्ष देखे गए और स्मरण किए गए अवयवो के मध्य जो भेद है, केवल उसे स्वीकार-मात्र करता है। इसके विरोध मे न्याय बलपूर्वक कहता है कि जब तक भ्रांति रहती है चादी का भी वस्तुत प्रत्यक्ष ज्ञान होता है, उसकी केवल प्रतिकृति-मात्र नही होती। हम यह अनुभव करते है कि चादी हमारी चेतना मे यहा और इस काल मे प्रस्तुत है, और कोई ऐसी वस्तु नही है जिसका प्रत्यक्ष भूतकाल मे हुआ था और अब केवल स्मरण हुआ है। भ्रांति के समय अविवेक मे स्मृति की प्रेरणा नही हो सकती। स्मृति के धुधलेपन (स्मृति-प्रमोष) का स्वरूप स्पष्ट नही किया गया है। इसलिए यह मानना ही पड़ेगा कि हमारी तात्कालिक प्रत्यक्ष की चेतना स्वय भ्रांति दोष से सम्पृक्त है।[1]

न्यायशास्त्र के अन्यथाख्याति सिद्धान्त की सब सम्प्रदायो ने समालोचना की है जिनमे अद्वैत वेदान्त द्वारा की गई समालोचना विशेष ध्यान देने योग्य है।[2] किसी अन्य स्थान मे उपस्थित चादी इन्द्रिय प्रत्यक्ष का विषय नही हो सकती क्योंकि उस समय वह इन्द्रियो के समक्ष प्रस्तुत नही है। यदि यह कहा जाए कि हमारी चेतना को उसकी पुनःस्मृति हो जाती है तो धुए से आग के अनुमान मे आग की स्मृति भी चेतना मे आ सकती है और इस प्रकार अनुमान की कोई आवश्यकता नही रहेगी। और फिर, अन्यथात्व किसका प्रतिपादन करता है? यह ज्ञानविषयक क्रियाशीलता का प्रतिपादन नही कर सकता क्योंकि अप्रत्यक्ष सीप अपनी आकृति को उस ज्ञान के प्रति अर्पित नही कर सकता जो चादी का बोध ग्रहण करता है, और न ही ज्ञान विषयक क्रियाशीलता के परिणाम का प्रतिपादन कर सकता है क्योंकि साक्षात्कार मे वह चाहे प्रामाणिक हो अथवा अप्रामाणिक, कुछ अन्तर नही आता। बोध के विषय का भी प्रतिपादित नही कर सकता क्योंकि सीप न तो चादी के साथ तदात्म नही हो सकता, या अपने को चादी मे परिवर्तित नही कर सकता। यदि सीप चादी से सर्वथा भिन्न है तो उसके साथ तादात्म्य कैसे हो सकता

१ [illegible] अलौकिक [illegible] मीमांसक की [illegible] (लौकिक) [illegible], वह तार्किक है और जो [illegible] की ओर करती है। नैयायिक [illegible] और जब हमें अपनी भूल का ज्ञान हो जाता है तो फिर उस ज्ञान के [illegible] । प्रभाचन्द्र ने 'प्रमेयकमल-मार्तण्ड' में यह उल्लेख करता है कि 'पार्थसारथि मिश्र' मत के समर्थन भास्कर और सांख्य के अनुयायियों ने किया है। इसके अनुसार, भ्रान्तिरूप बोध [illegible] अभाव [illegible] है, बल्कि एक भावात्मक वस्तु है जिसकी सिद्धि ज्ञान के द्वारा हुई है। जल [illegible] भ्रान्ति का विषय है, और जब इस भ्रान्तिमय बोध का सूर्य की किरणों [illegible] जाता है तो पिछले बाध का विषय सूर्य की किरणें हो जाती है। यह मत [illegible] इसके अनुसार सभी बाध यथार्थ ठहरते हैं (न्यायमञ्जरी, पृष्ठ १८७–८८ ; प्रमेयकमलमार्तण्ड, १)।

२. देखिए वेदान्तपरिभाषा, १।

है। और यदि दोनों है, अर्थात् भिन्न भी और अभिन्न भी, तो इस प्रकार के निर्णय भी कि 'गाय एक छोटे सीगोंवाला जानवर है', भ्रांतिपूर्ण ठहरेंगे। यदि सीप वस्तुतः अपने को चांदी में परिवर्तित करता है, तो चांदी का बोध अयथार्थ नहीं है और उसका निराकरण नही हो सकता। यदि यह कहा जाए कि जब तक भ्रांति रहती है तभी तक के लिए यह क्षणिक परिवर्तन है, तो जिन व्यक्तियों की दृष्टिशक्ति में कोई दोष नही है उन्हें भी चांदी का प्रत्यक्ष होना चाहिए।[1]

२०

न्याय के प्रमाणवाद का सामान्य मूल्याङ्कन

न्यायशास्त्र द्वारा प्रतिपादित ज्ञानविषयक सिद्धान्त, जिसके अनुसार ज्ञान को आत्मा का गुण कहा जाता है जो यथार्थता का अनुकरण करती है, सहज बुद्धि को इतना सरल लगता है कि उसके लिए किसी प्रकार के समर्थन की आवश्यकता प्रतीत नही होती। तो भी इस निर्दोष लगनेवाले मत में ऐसी धारणाएं है जिन्हें समालोचना के बिना ही स्वीकार कर लिया गया है। बौद्धों के 'ज्ञान सापेक्षतावाद' की प्रतिद्वन्द्विता में, न्याय का दावा है कि वस्तुएं तार्किक सत्य का आधार है कि हमारे ज्ञान से अलग बाह्य जगत् की अपनी स्वतंत्र सत्ता है, और बाह्य जगत् ही उस ज्ञान का निर्णायक है, और हमारे विचार वस्तुओं के अनुकूल होते हैं। न्याय यथार्थ को दो भागों में विभक्त करता है—द्रष्टा और दृश्य, और इस प्रकार वह सहज बुद्धि की सामान्य धारणाओं को एक आध्यात्मिक सिद्धान्त का रूप दे देता है जोकि चेतना के तथ्यों तथा तर्क की मांगों के लिए पर्याप्त नही है। मुख्य-मुख्य धारणाएं, जो न्याय के प्रमाणवाद के विरुद्ध जाती है, ये हैं: (१) आत्मचेतन और अनात्मजड एक-दूसरे से सर्वथा भिन्न है। (२) चेतना आत्मा पर अनात्म की क्रिया का परिणाम है। (३) ज्ञान आत्मा का गुण है। उक्त आध्यात्मिक पूर्वग्रहों के रहते हुए भी न्याय के पास सफल सुझाव है जिनसे उसके दोषों पर विजय पाई जा सकती है। जहा तक न्याय इस विषय की व्याख्या करता है कि ज्ञानरूपी कर्म में तात्कालिक अनुभव किस प्रकार का होता है, यह सुदृढ़ भित्ति पर है। किन्तु जब वह आध्यात्मिक समाधान ऐसी परिभाषाओं मे देने का यत्न करता है जो हमें ज्ञान के अन्तिम तथ्य के पीछे की ओर ले जाती है, तो वह आलोचना का विषय हो जाता है। निम्न विचार अनुभव के द्वारा प्रमाणित है: कि हमे इस जगत् की प्रत्यक्ष अभिज्ञता है, जो केवल अमूर्त अंशव्यापी अवयवों के एकत्र हो जाने से ही नहीं बना है बल्कि एक मिश्रित विश्व के रूप मे है, जो संज्ञाओं एवं सम्बन्धों, अंशव्यापी एवं सर्वव्यापी अवयवों से युक्त है; और यह कि हमारे विचारों का क्रियात्मक मूल्य है। न्याय की मौलिक भूल लौक तथा अन्यान्य प्रयोगवादियों की भूल के ही समान है, जो व्यक्ति तथा जगत् को पृथक्-पृथक् इकाई के रूप में मानते हैं। यह यान्त्रिक दृष्टिकोण हमारे

१. विवरणप्रमेयसंग्रह, पृष्ठ ३३।

दैनिक तथा मनोवैज्ञानिक सीमित आवश्यकताओं के लिए कितना ही क्यों न युक्तियुक्त प्रतीत हो किन्तु अन्ततोगत्वा इसकी रक्षा नहीं की जा सकती। तर्क के समक्ष ज्ञान के मूल रूप की समस्या उतनी नहीं है जितनी कि उसके स्वरूप की है। हम ज्ञान के स्वरूप का निर्णय उसके पीछे जाकर और उसकी उत्पत्ति का पता लगाकर करने की आशा नहीं कर सकते। जब नैय्यायिक चेतना को उत्पन्न अथवा परिणाम मानता है तो वह जानने की प्रक्रिया के पीछे जाने का प्रयत्न करता है।

यदि आत्म एव अनात्म के अन्दर तीक्ष्ण भेद है और यदि चेतना केवल अनात्म की आत्मा पर क्रिया का ही परिणाम है, जैसाकि लौक एव डेकार्ट, ह्यूम और काट समझते थे, तो चेतना के समस्त तत्त्व केवल प्रमाता व्यक्ति की विषयीगत अवस्थाएं हैं। अनात्म जगत् की घटनाए आत्म-सम्बन्धी ज्ञान का भाग नहीं बन सकती। और यदि ज्ञान वस्तुस्थिति की पुनरावृत्ति करता है तो उसमे केवल वास्तविक घटनाओं की नकल-मात्र हो सकती है, स्वय घटनाए नहीं हो सकती। जब हम द्रष्टा को दृश्य पदार्थ से पृथक् करते हैं तो एक-दूसरे के बीच जो अन्तर है उसे पाटने की समस्या कठिन हो जाती है। या तो हम यह स्वीकार करें कि दृश्य पदार्थ का निर्माण द्रष्टा के द्वारा हुआ या दृश्य पदार्थ है ही नहीं, चाहे तो हम यों कहें कि पदार्थ चेतना मे ले लिया जाता है, अथवा उसके अन्दर प्रतिबिम्बित होता है, अथवा एक रूपरेखा के रूप में प्रस्तुत होता है। इस प्रकार हम पदार्थ के साथ ज्ञान के सम्बन्ध का जो भी स्वरूप स्वीकार करें, यह निश्चय से कहना कि जगत् वैसा ही है जैसाकि हम इसे देखते हैं, हमारे लिए असम्भव ही है। जब तक कि दोनो एक-दूसरे के लिए बाह्य हैं, जैसेकि एक पदार्थ दूसरे के लिए बाह्य है, तब तक हम निश्चित नहीं हो सकते कि हमारे विचार पदार्थों को सही-सही प्रस्तुत करते है, अथवा वे पदार्थों को प्रस्तुत करते भी हैं या नहीं। हम अपने बोधों की तुलना वास्तविकता के साथ नहीं कर सकते, क्योंकि वास्तविकता विचार के लिए बाह्य है, सिवाय विचार के अन्य कुछ सीधे नहीं जाना जाता है। और हम विचार की तुलना वस्तु से नहीं कर सकते, क्योंकि हमे एक ही पद प्राप्त है, जबकि तुलनात्मक कर्म का आधार दोनो पद हैं। यदि कोई चीज विचार को एक ओर रखकर और पदार्थ को दूसरी ओर रखकर उनकी तुलना कर सकती है तो वह चेतना ही हो सकती है।[1] किन्तु इस प्रकार की चेतना मे विचार और पदार्थ दोनों ही समाविष्ट रहने चाहिए।

यदि सत्य से तात्पर्य विचार का वास्तविकता से मेल है, और यदि वास्तविकता की परिभाषा यह हो कि वह विचार से बाह्य है —अर्थात् जो विचार न हो, विचार के अन्तर्गत न हो और विचार से बनी न हो— तो सत्यान्वेषण निरर्थक दौड़-धूप है ऐसा मानना पड़ेगा। विचार एक ऐसे लक्ष्य को प्राप्त करने का प्रयत्न करता है जिसे प्राप्त नहीं किया जा सकता। यही नहीं, बल्कि कहना होगा कि एक ऐसा लक्ष्य

१ प्रोफेसर अलेक्जैण्डर का मत है कि चेतना एव वास्तविकता दोनों स्वतन्त्र वस्तुएं हैं, और उनमे सम्बन्ध सह-उपस्थिति का है। यद्यपि दोनों संसार में भिन्न-भिन्न हैं, तो भी वे दोनों साथ रहती हैं। किन्तु इस चेतना का स्वरूप क्या है? चेतना सदा ही किसी वस्तु की होती है, और यह हमें ऐसे पदार्थ की सत्ता के विषय में कुछ नहीं बताती जो इससे बाहर और इससे स्वतंत्र हो।

जिसका कोई स्पष्ट भाव ध्यान में नही आ सकता। इस प्रकार नैय्यायिक के समक्ष यही परिणाम आता है कि विचार का लक्ष्य, अर्थात् सत्य की प्राप्ति, प्रत्यक्ष रूप से हो नही सकती। वह यह मत रखता है कि एक सीमाबद्ध मस्तिष्क के लिए विचार का लक्ष्य प्राप्त करना शक्ति से बाहर की बात है। हमे विचारों के क्रियात्मक मूल्य मे विश्वास करके निम्नतम आदर्श से ही सन्तोष प्राप्त करना होगा। क्रियात्मक क्षमता ही इस विश्वास को उत्पन्न करती है। किन्तु यह कार्यक्षमता न्याय की इस धारणा को मान्यता प्रदान नही करती कि विचार इसलिए कार्य करते है कि उनका वास्तविकता के साथ मेल होता है।[1] बौद्ध तार्किक, जो सत्य की इसी कसौटी को अंगीकार करते है, इससे एक भिन्न परिणाम निकालते है, और यह मानना पडेगा कि बौद्धमत अधिक तर्कसम्मत है। सत्य का सारतत्त्व पदार्थो के साथ ज्ञान की अनुकूलता नही है क्योंकि वे केवल आदर्श है, बल्कि अनुभव द्वारा उनका समर्थन ही सारतत्त्व है।[2] विचार हमें कर्म की ओर प्रवृत्त करते है, और जब हम अपनी इच्छाओ को पूर्ण कर लेते है तो उनका सत्य होने का दावा यथार्थ समझा जाता है। हमारे स्वप्न भ्रांतिमय कहे गए है, क्योकि उनके आधार पर किए गए कर्म उद्देश्यों की सिद्धि मे असफल रहते है। कल्पना करो, हमे कुछ स्वप्न हुआ, हम अपने खेत को खोदते है और एक खजाना पा जाते है, तब हमारा स्वप्न सत्य है चाहे यह वास्तविकता के साथ मेल खाए या न खाए। यह स्पष्ट है कि दृढ भित्ति वाले और सुनिश्चित ज्ञान मे भी भ्रान्ति की सम्भावना रहती है। हमारा कोई भी विश्वास इतने दृढ आधार पर स्थापित नही होता कि उसके मिथ्या होने की थोडी-सी भी सम्भावना न हो सके। इस उपयोगितावादी परख पर निर्भर करके जीवन यापन सम्भव अवश्य है, किन्तु हमे इससे पूर्ण सन्तोष नही होता। जो एक आवश्यकता की पूर्ति करता है, सम्भव है वह अन्य की पूर्ति न कर सके। हमे आवश्यकता है एक सशक्त तार्किक विधि की, जो हमे वास्तविकता का ज्ञान करा सके, और इसकी पूर्ति हो नहीं सकती। न्याय ने, जो हमें बौद्धों के विषयीविज्ञानवाद से बचाने के लिए उत्सुक है, वास्तविकता के विषय मे कोई अधिक सन्तोषजनक मत नहीं दिया है। जब बाह्य जगत् के ज्ञान की व्याख्या न्याय का सिद्धान्त समीचीनतया न कर सका तो उसे अपनी प्रारम्भिक धारणाओ के प्रति लौटकर ज्ञानरूपी तथ्य के विश्लेषण के प्रकाश में उनकी परीक्षा करनी चाहिए।

यद्यपि यह सत्य है कि मेरे या तुम्हारे अनुभव मे आए बिना भी पदार्थ अपने-आपमे वास्तविक अस्तित्व रखते है और उनकी सत्ता उस समय आरम्भ नही होती जबकि तुम या मै उनके विषय मे अभिज्ञ होते है, तो भी यह नही कहा जा सकता कि वास्तविक सत्ता सब प्रकार के अनुभव से स्वतन्त्र है। ज्ञान और पदार्थ के बीच जो

१. तुलना कीजिए ब्रौड : विज्ञान को इससे कुछ भी वास्ता नहीं है कि रंगों का आभ्यन्तर रूप क्या है, बशर्ते कि जिस कार्य के लिए वह है उसे सम्पन्न कर दे। यदि हम बाह्य विषयों की ऐसी परिभाषा कर सकें जिससे उनके द्वारा हमारे प्रयोजन पूर्ण होते है, तो हमें कुछ चिन्ता नहीं कि विवाद-विषय चाहे स्वयं कैसी सत्ताएं प्रतीत हों जो हमारी मान्यताओं से भिन्न हों (साइंटिफिक थॉट, पृष्ठ ३१)।

२. न्यायबिन्दु, पृष्ठ १०३; और न्यायबिन्दुटीका, पृष्ठ ६।

सम्बन्ध है उसे न्याय मे स्वरूप-सम्बन्ध कहा जाता है। ज्ञात पदार्थ ज्ञान की प्रणाली का निर्धारण करता है। बोध से तात्पर्य किसी पदार्थ की चेतना है।[1] मधुसूदन सरस्वती ने[2] उदयन का उद्धरण देते हुए लिखा है कि "बोध, जोकि अपने-आपमे आकृतिरहित है, अपने प्रमेय पदार्थों के द्वारा विशिष्टता प्राप्त करते है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि प्रमेय पदार्थ बोध के केवल विशेष विवरण है।" प्रत्येक बोध का विशेषत्व या उसका स्वरूप पदार्थ-विशेष के द्वारा ही जाना जाता है, जैसे, 'यह एक दवात है', 'वह एक मेजपोश है'। यदि ज्ञात पदार्थ ज्ञान की प्रक्रिया से पूर्णतया बाहर है तो सत्य के विषय मे अनुरूपता का भाव स्वीकार करना पड़ेगा। किन्तु दूसरा स्वरूप ज्ञान की प्रक्रिया के अन्तर्गत ही कहा गया है, यद्यपि पदार्थ अपने-आपमे पदार्थ के ज्ञान के साथ तादात्म्य-रूप नही है। इस मत के अनुसार, ज्ञान पदार्थों को उत्पन्न नही करता, और न ही यह उनके अनुकूल होता है बल्कि उनका बोध कराता है। इसलिए ऐसा मत प्रकट करना अनुपयुक्त है कि पदार्थ, ज्ञान की सीमाओ के बाहर अवस्थित है, और जो जाना जा सकता है वह या तो उसका कार्य है या द्रष्टा की चेतना मे उसकी नकल है। हम बाह्य पदार्थ अथवा आभ्यन्तर अवस्था को चाहे प्रत्यक्ष देखे, चाहे उसकी कल्पना करे अथवा उसका स्मरण करे, हम जिसका ज्ञान, कल्पना या स्मरण करते है वह स्वय पदार्थ है और ज्ञान की प्रक्रिया से स्वतन्त्र है। न्याय का यह सिद्धान्त कि हमे वास्तविकता का तात्कालिक और प्रत्यक्ष बोध होता है उसकी अन्य धारणा से, अर्थात् इससे कि द्रष्टा तथा दृश्य अथवा प्रमाता और प्रमेय एक-दूसरे से पृथक् है, असगत है। ज्ञाता और ज्ञेय के मध्य मे किसी भी प्रकार का व्यवधान नही है। दोनो अभिन्न रूप से एक-दूसरे से सम्बद्ध है। एक का स्थान दूसरा नही ले सकता। न्याय विषयीविज्ञान-वाद' के इस मत का प्रत्याख्यान ठीक ही करता है कि प्रमेय पदार्थ की सृष्टि प्रमाता की कल्पना से होती है। प्रमाता के ज्ञान की प्रक्रिया पदार्थ का निर्माण नही करती। यहा तक कि सर्वव्यापी सम्बन्ध भी प्रमाता को दिए गए बनाए गए है, प्रमाता उनका निर्माण नही करता। इन्द्रिय-सामग्री अलग-अलग परमाणुओ के रूप मे प्रकट नही होती, बल्कि कतिपय गुणो तथा विशिष्टताओ से युक्त प्रकट होती है। परवर्ती न्याय के अनुसार, केवल व्याप्ति अथवा तादात्म्य के आधार का बोध ही इन्द्रियातीत (अलौकिक) मानसिक क्रिया द्वारा होता है। हमारे अनुभवो का एक बहुत बड़ा भाग, जो हमारे ज्ञान के अन्तर्गत है, स्वरूप मे इन्द्रियातीत है। नैय्यायिक वास्तविकता की विवश करने की शक्ति को स्वीकार करता है। हमारे अनुभव की आवश्यकता प्रमाता द्वारा आरोपित नही की गई है, बल्कि वह जगत् की आवश्यकता के कारण है। वस्तुसत्ता स्वय दो भागो, अर्थात् आत्म तथा जगत्, मे विभक्त नही है। प्रत्येक विचार के लिए पूर्व-उपस्थित सामग्री के रूप मे एक अविभक्त वास्तविकता आवश्यक है जिसमे से पृथक्करण की प्रक्रिया द्वारा प्रमाता तथा प्रमेय निकाले जाते है। यह सत्य है कि हमारे जीवन मे पृथक्करण का एक बड़ा भाग है, परन्तु तो भी वास्तविकता स्वय मे, जिसपर हमारे

१. न्यायभाष्य, ४ : २, २६। २. अद्वैतसिद्धि, १ : २०।

ज्ञान का आधार होना चाहिए अर्थात् प्रधान तात्त्विकीय तथ्य, चेतना ही है। ज्ञान के स्वरूप और अवस्थाओ की आध्यात्मिक खोज हमारे सामने चेतना की व्यापकता को प्रकाशरूप मे ला देती है। यह चेतना ही सब वस्तुओ की आधार और स्रष्टा है, और चेतना को अर्धभौतिक रूप देना आपत्तिजनक होगा। यह अनेकावयवघटित संयुक्त पदार्थ नही है, यद्यपि हमारा जगत् पर्याप्त मात्रा मे ठोस व मूर्त हो सकता है। आत्माओ तथा पदार्थों के रूप मे हमारा विश्लेषण हमारी व्यावहारिक आवश्यकताओ का सापेक्ष है; किन्तु यह मिश्रित विश्व एक वास्तविकता पर आधारित है जो अपने मे अविभक्त है। वस्तुसत्ता का विचार जब हमारे समक्ष आता है तो वह यही स्वरूप धारण करती है। हमारे लिए बुद्धि के द्वारा भेद करने के अतिरिक्त वास्तविकता का बौद्धिक विवरण देना सम्भव नही है। तो भी हमारे विचार एक ऐसी वास्तविकता का प्रतिपादन करते है जिसके लिए हमारे किए गए भेद अनिवार्य नही है। अत, चैतन्य की अविभक्त वास्तविकता ही एकमात्र निरपेक्ष है, जिसे दृष्टि से ओझल करके नैय्यायिक आत्माओ व भौतिक पदार्थों के अनेकत्व को अंगीकार करता है।

जबकि वास्तविकता चैतन्य या चेतना है, सत्य—जोकि तार्किको का लक्ष्य है—उससे भिन्न है। क्योकि तर्कशास्त्र की धारणा मे प्रमाता और प्रमेय भिन्न-भिन्न है, और उसकी प्रेरणा तभी सफल हो सकती है जबकि आत्माओ तथा पदार्थों का जगत् एक सामंजस्ययुक्त पूर्ण इकाई के रूप मे संघटित हो। न्यायशास्त्र अपने अनुकूलता के भाव का त्याग किए बिना भी सामंजस्य के सिद्धान्त के अधिक समुचित स्वरूप को ग्रहण कर लेता है। इसके मत मे ज्ञान के समस्त प्रकार एक सम्पूर्ण इकाई के अंशमात्र है, और प्रत्येक अपने-अपने स्थान मे उसी पूर्ण के अन्दर किया करता है, एवं उसका औचित्य उस पूर्ण के भाग के अतिरिक्त नही है। किसी भी प्रमाण की मान्यता अन्य प्रमाणो द्वारा स्थापित की जाती है।[1] ज्ञान के भिन्न-भिन्न प्रकार परस्पर एक-दूसरे से सम्बद्ध है। प्रत्येक ज्ञान की मध्यवर्ती आवश्यकता है। जब नैय्यायिक उस सन्तोष की अनुभूति के विरुद्ध हमे चेतावनी देता है जो स्वप्नद्रष्टा तथा विक्षिप्त व्यक्तियो को होती है, और एक सामान्य स्वस्थ मस्तिष्क वाले व्यक्ति की अनुभूति को ध्यान मे रखने की बात कहता है, तो वह अपने अनुकूलता के सिद्धान्त को त्याग देता है। सामान्य व्यक्ति वह नही है जिसे बहुमत का समर्थन प्राप्त हो। इन अर्थों मे कुछ भ्रांत-ज्ञान भी सामान्य हो सकता है, किन्तु इसीलिए वह सत्य नही है। सामाजिक अंश केवल विशुद्ध काल्पनिक अनुभवो को उन

१. हम एक पदार्थ को प्रत्यक्ष करते है। और उस प्रत्यक्ष ज्ञान की यथार्थता प्रमाणित होती है इसके अन्दर निविष्ट अवयव—इन्द्रिय और पदार्थ दोनों का सम्पर्क और परिणामस्वरूप होनेवाली बोधरूपी क्रिया—की यथार्थता के अनुमान और प्रत्यक्ष ज्ञान द्वारा। अनुमान के द्वारा यह सिद्ध होता है कि बाह्य उद्दीपक के एक वर्ग-विशेष को ग्रहण करनेवाली इन्द्रिय है। पदार्थों का निश्चय इन्द्रिय-प्रत्यक्ष के द्वारा होता है। भेदों से प्रत्यक्ष मे सम्पर्क का अनुमान होता है। और परिणामस्वरूप होनेवाली बोधरूपी क्रिया का प्रत्यक्ष ज्ञान आत्मा का मन के साथ उसके सम्पर्क तथा ज्ञान के साथ उसके निकट सम्बन्ध के द्वारा होता है।

—न्यायभाष्य २ : १, १६।

अनुभवों से पृथक् करके प्रकट करता है जो पदार्थों मे अधिक सम्बद्ध है। अपने अनुभवो की अन्यो के अनुभवो के साथ तुलना करके हमे एक क्रियात्मक निश्चय होता है, जो सभी साधारण प्रयोजनो के लिए पर्याप्त है। जो हमारे समान दूसरो ने भी देखा, और जो हमने भिन्न-भिन्न स्थानो व भिन्न-भिन्न कालो मे एक समान देखा, उसे हम सत्य अर्थात् यथार्थ मान सकते है। विज्ञान की माग है कि हमे अपने साधारण प्रत्यक्ष ज्ञानों की जाच-पडताल करनी चाहिए। हमे अपनी ऐन्द्रिय दृष्टि से सूर्य आकाश मे चलता हुआ प्रतीत होता है, किन्तु विज्ञान हमे बतलाता है कि पृथ्वी सूर्य के चारो ओर घूमती है। अधिक प्रारम्भिक व परस्पर-असम्बद्ध अनुभवो की व्याख्या अधिक सघटित एव व्यवस्थित अनुभवो को ध्यान मे रखकर करनी चाहिए। आदर्श अथवा मानदण्ड दूसरी श्रेणी के अनुभव ही है। सत्य प्रमेय पदार्थो पर उतना निर्भर नही करता जितना कि इसपर निर्भर करता है कि उसमे सब स्थानो व सब कालो मे कहा तक अव्यभिचारी रहने की क्षमता है। वास्तविकता की सरचना को सत्य के अनुकूल होना आवश्यक है। यह समझा जाता है कि देश व काल की निरन्तरता का एक व्यवस्थित स्वरूप है। नैय्यायिक, जो उपयोगितावादी परख का आश्रय लेता है, यह स्वीकार करने के लिए बाध्य है कि वास्तविकता-सम्बन्धी हमारे विचार हमारे प्रयोजनो की अपेक्षा रखते है। किसी भी पदार्थ के ज्ञान से तात्पर्य हमारी वर्तमान आवश्यकताओ की पूर्ति के अनुसार ही समझा जाता है। क्रियात्मक जीवन मे हमे पदार्थो के तत्त्व से कोई प्रयोजन नही रहता, बल्कि उनका अर्थ हमारे लिए क्या है इसीसे हमे वास्ता रहता है। इस कथन का कि प्रत्येक व्यक्ति के लिए पत्थर कठोर है और आग गरम है, अर्थ यह है कि ये पदार्थ हमारे लिए भी यही अर्थ रखते है। क्रियात्मक रूप मे उचित अनुकूलता नैय्यायिक के लिए सत्य है, और अनेको भ्रमात्मक ज्ञान जो सब व्यक्तियो तथा जाति के लिए सामान्य है, इस कसौटी के अनुसार सत्य है। और इस कसौटी का उपयोग भूतकाल और भविष्य की घटनाओ के सम्बन्ध मे भी नही हो सकता। यद्यपि हमारे सत्य सापेक्ष है, फिर भी वे सब एक समान महत्त्व के नही है। सर्वोच्च सत्य वह है जो ससार को पूर्णरूप से समझने की महत्त्वपूर्ण तार्किक आवश्यकता की पूर्ति कर सके। आदर्श अनुभव, जो वास्तविकता के स्वरूप को यथार्थ रूप मे—जिसमे परिमित प्रमाता और परिस्थिति भी सम्मिलित है—पहचानता है, सत्य का निश्चित मानदण्ड है। इन अर्थो मे नही कि कितने ही व्यक्तियो ने इसे प्राप्त किया है, अपितु इन अर्थो मे कि जब एक व्यक्ति तार्किक मत का आश्रय लेता है तो वह इसे सत्य के रूप मे समझेगा। वास्तविक यथार्थता का आधार बहुमत नही हो सकता।[1] यह बात कि मनुष्यो मे अधिकतर

१. "क्या इस तथ्य की सत्यता कि एक अंधा मनुष्य अपनी दृष्टिशक्ति के निर्दोष विकास से, जो सामान्यरूप मे होना चाहिए था, वंचित रह गया है, अपने प्रमाण के लिए इस तथ्य पर निर्भर करती है कि मनुष्यों मे अधिकांश व्यक्ति अंधे नहीं है। सबसे पहला प्राणी जिसे हठात् टटोलते टटोलते दृष्टिशक्ति प्राप्त हुई, इस विषय की घोषणा करने का अधिकारी था कि प्रकाश वास्तविकता है। मानवीय जगत् में बहुत कम व्यक्ति ऐसे हैं जिनकी आध्यात्मिक आंखें खुली हुई है। किन्तु ऐसे व्यक्तियों के अत्यधिक संख्या में रहते हुए भी कि जो देख नहीं सकते, हम उन्हें प्रकाश के अभाव के प्रमाणरूप

अनेकतावाद में आस्था रखते है, इसके सिवाय और कुछ व्यक्त नहीं करती कि यह एक ऐसा विचार है जिसका क्रियात्मक महत्त्व है। सत्य तथा असत्य की परीक्षा बहुमत-गणना द्वारा नही हो सकती। यदि मनुष्यो की अधिक सख्या पीलिया रोग का शिकार हो जाए तो इससे सत्य मे कोई अन्तर नही आ सकता। सत्य वह है जो अपने को उन व्यक्तियों के आगे व्यक्त करता है जिन्होने अनुभव की गहराई मे जाकर अन्वेषण किया है। नैय्यायिक भी आर्षज्ञान अर्थात् ऋषियो की बुद्धि की प्रामाणिकता को स्वीकार करता है। वह हमे कहता है कि हम उन व्यक्तियो की उपलब्धि से, जिन्होने अधिक योग्यता के साथ यथार्थसत्ता का ज्ञान प्राप्त किया है, अपने अनुभवो की परीक्षा करे। सत्य सज्जनता और सुन्दरता के समान एक व्यक्ति की अपनी उपार्जित सिद्धि है, और दूसरे अर्थ मे यह मानवीय मस्तिष्क के लिए उस जगत् का दिव्य ज्ञान है जो अभी तक अज्ञात है, किन्तु जिसका पूर्ण ज्ञान अधिक परिपक्व अनुभव के द्वारा हमे प्राप्त करना है। हम सत्य को निर्माण करने की अपेक्षा अधिकतर प्राप्त करते है। तो भी नैय्यायिक बार-बार मनोवैज्ञानिक के मन की ओर फिसल जाता है जो कल्पना करता है कि जीवात्माएं तथा प्रकृति इन दोनो के सयोग मे ज्ञान उत्पन्न होता है। हमारे उद्देश्यो के प्रति ज्ञान की सापेक्षता न्याय की इस धारणा का समर्थन नही करती कि प्रमाता और प्रमेय सर्वथा एक-दूसरे मे पृथक् है। इससे हमारी प्रकृति की मागो और उनकी पूर्ति की सम्भावना ध्वनित होती है। यथार्थ का स्वभाव मनुष्य के कर्म की आवश्यकताओं के अनुकूल है, इससे यह प्रकट होता है कि वास्तविकता के दो रूप, अर्थात् मन और उसकी परिस्थिति, परस्पर सम्बद्ध है। दृश्यमान अनेकत्व और वस्तुओ की परस्पर असम्बद्धता केवल भासित होती है। वास्तविक पदार्थो की अनेकता का यह विचार कि पदार्थ बाह्य रूप मे एक दूसरे से सम्बद्ध है, जगत् की अनिवार्य एकता के विचार के आगे टिक नही सकता।

समस्त विचार के साधनात्मक तथा सापेक्ष स्वरूप मे जो गूढार्थ छिपा है उसके आधार पर नैय्यायिक को स्वीकार करना चाहिए कि स्वय सत्य के आदर्श का स्वरूप सापेक्ष है। तार्किक सत्य, जो इस प्रकार की वास्तविकता है कि जिसका भान मन मे परस्पर-सम्बद्ध आत्माओ तथा पदार्थो के एक सिलसिले के रूप मे उदय हुआ है, तार्किक भावना की अपेक्षा करता है, यद्यपि यह उस मत से कही अधिक सन्तोषजनक है जिसकी दृष्टि मे यह विश्व अनेको स्वतन्त्र तथा वास्तविक पदार्थो से मिलकर बना है। सत्य एक वह वास्तविकता है जो आदर्श है और जिसे एक बुद्धिगम्य पद्धति के रूप मे माना गया है। हमारे निष्कर्ष और अनुमान उस पूर्ण इकाई को समझने का लक्ष्य रखते है। ज्ञानरूपी शरीर मे उनके स्थान का निर्णय इस प्रयत्न मे उनकी सफलता तथा विफलता के दर्जे के अनुसार होता है। सब प्रकार का तार्किक सत्य सापेक्ष है, इस अर्थ मे कि व्यक्ति वास्तविकता का केवल अश-मात्र है, जो अपने विषय से शिथिल हो गए एक अन्य अश को सहारा देता है; और जब तक एक व्यक्ति तार्किक

में उद्धृत नहीं कर सकते।" रवीन्द्रनाथ ठाकुर। देखिए राधाकृष्णन-रचित 'फिलासफी आफ दि उपनिषद्स' का प्राक्कथन।

दृष्टि का सहारा लेता है, वास्तविकता को अपने-आपमें ग्रहण करना असम्भव है। हमारा विचार भेद करने और चुनने के लिए विवश होता है, और हम उपयोगितावादी कसौटी का प्रयोग करने को बाध्य होते हैं। उदार से उदार विचार भी अपनी स्वयं की सत्ता को छोड़ देने के लिए बाध्य होता है, जिसे कि उसे वास्तविकता में अवश्य सम्मिलित करना चाहिए। समस्त ज्ञान पदार्थ से पृथक्करण ही है। यह परम निरपेक्ष की आदर्श पुनर्रचना है।[1]

न्यायशास्त्र का ज्ञान-विषयक विश्लेषण और इसका 'स्वरूप-सम्बन्ध'-विषयक मत ज्ञान में वास्तविकता की उपस्थिति के सिद्धान्त का समर्थन करते है। निर्विकल्प तथा सविकल्प ज्ञान का भेद भी यह सकेत करता है कि हमारा ज्ञान हमारे प्रयोजन की अपेक्षा करता है। कुछ अवस्थाओं मे हमे वास्तविकता का केवल भेदरहित परिचय होता है, और अन्य अवस्थाओं में इसकी जटिलता का निकटतम ग्रहण होता है। क्रियात्मक उपयोगिता की, उपयोगितवाद की, कसौटी को स्वीकार करने से इस मत का समर्थन होता है कि हमारे ज्ञान को हमारे सीमित दृष्टिकोणों की अपेक्षा रहती है। वास्तविकता की यह धारणा कि यह दो विभिन्न क्षेत्रों से मिलकर बनी है, मनोविज्ञान के लिए युक्तिसगत और उपयोगी हो सकती है। परन्तु, जब हम तार्किक दृष्टिकोण पर आते है तो हमे उससे आगे बढना चाहिए। जैसाकि हम पहले दिखा चुके है, न्याय को विदित है कि सत्य की सामजस्य की धारणा ही है जो तर्कशास्त्र में स्वीकार की जा सकती है। सापेक्षतावाद के इस समस्त सिद्धान्त का स्वाभाविक निष्कर्ष यह है कि एक मिश्रित विश्व का, जिसमे अवयव परस्पर-सम्बद्ध है, यह तार्किक आदर्श भी परम निरपेक्ष नहीं समझा सकता। न्याय ने इस मूल समस्या का मुकाबिला करना पसंद नहीं किया, किन्तु इसका ज्ञान-सम्बन्धी सिद्धान्त जब सगतिपूर्वक व्यवहार में लाया जाता है तो स्पष्टत हमें इस स्थिति में पहुंचाता है कि प्रमाता तथा प्रमेय के भेद ज्ञान अथवा अनुभव के तथ्य में ही उदय होते है, जो अकेला ही परम निरपेक्ष है अथवा अन्तिम तथ्य है, जिसके परे हम नही जा सकते।

२१

भौतिक जगत्

न्यायशास्त्र वैशेषिक के तत्त्वविज्ञान से सहमत होकर इस भौतिक जगत् को नित्य, अपरिणामी, कारणविहीन तथा हमारे विचारों से अलग अपनी स्वतन्त्र सत्ता रखने

१. तुलना कीजिए : ब्रैडले, "इस जगत् का गौरव अन्त में एक प्रतीति मात्र है, किन्तु यह चीज जगत को और भी अधिक गौरवशाली बना देती है यदि हम यह अनुभव करें कि यह एक पूर्णतर कान्तिमय गरिमा का प्रदर्शन-मात्र है। किन्तु यह इन्द्रिय यवनिका केवल एक प्रवञ्चना है, यदि जिसे यह छिपाती है वह परमाणुओं की केवल वर्णहीन गति है, अतिसूक्ष्म अपकर्षणों का कोई पैत्रिक ताना-बाना है, या रक्तविहीन वर्गों का कोइ अपार्थिव नाच है" (लॉजिक, खण्ड २, पृष्ठ ५९१)।

वाले परमाणुओ द्वारा घटित मानता है। भौतिक जगत् के विषय मे न्यायशास्त्र की अवधारणाए लगभग वैशेषिक ही के समान है।

यह जानना भी रोचक होगा कि न्याय अपने प्रतिद्वन्द्वी सम्प्रदायो द्वारा किए गए आक्षेपो का उत्तर किस प्रकार देता है। काल के विषय मे विशेष कठिनाइया है। कुछ नैय्यायिको का मत है कि काल अनुभव का ही एक रूप है और उसका ग्रहण भी इन्द्रियो द्वारा प्रमेय पदार्थो के गुण के रूप मे होता है। दृष्टान्त के रूप मे 'शिखामणि' के रचयिता रामकृष्णाध्वरी का कहना है कि क्योंकि हमे पदार्थो का बोध 'इस काल मे ये उपस्थित है', इस रूप मे होता है, इसलिए समय का भी साथ-साथ बोध होता है। घडे के प्रत्यक्ष ज्ञान मे, अर्थात् कि 'घडा इस काल मे है' वर्तमानकाल भी पदार्थविषयक ज्ञान के साथ-साथ ही सम्मिलित है। प्रत्येक पदार्थ के विषय मे वह अमुक काल मे है या था, इस प्रकार का ज्ञान होता है, यद्यपि काल का स्वतन्त्र बोध कभी नही होता है।[1] पदार्थों के विषय मे जो कुछ कहा जाए, काल-विषयक सम्बन्ध उस-पर निर्भर है। शीघ्र या विलम्ब से, पहले अथवा पीछे इस प्रकार का भाव घटनाओ एव क्रियाओ से भिन्न कुछ नही हो सकता। क्योंकि काल का बोध पदार्थो के गुण के रूप मे होता है, इसलिए उसका वास्तविक अस्तित्व है।[2]

माध्यमिक के इस सिद्धान्त का कि भूत तथा भविष्य से स्वतन्त्र वर्तमान-काल की पृथक् कोई सत्ता नही है, विवेचन वात्स्यायन ने किया है।[3] भूतकाल की परिभाषा यह है कि वह वर्तमानकाल से पहले आता है, और भविष्य वह है जो वर्तमानकाल के पीछे आता है। किन्तु वर्तमान का भूत तथा भविष्य से स्वतन्त्र कोई अभिप्राय नही है। वात्स्यायन का उत्तर है कि यह सब देश तथा काल के सम्मिश्रण के कारण होता है। आक्षेपकर्ता का तर्क है कि जब कोई वस्तु गिरती है तो उसे कुछ दूरी पार करने मे कुछ समय लगा है और शेष दूरी पार करने मे कुछ समय लगेगा। बीच की कोई दूरी ऐसी नही है जिसे वह वस्तु वर्तमान मे पार करे। पार कर ली गई दूरी हमे भूतकाल का विचार देती है, जो दूरी पार करनी है वह हमे भविष्यत्काल का विचार देती है, तथा शेष कोई और दूरी नही है जो हमारे सामने वर्तमान का विचार रख सके।[4] किन्तु वात्स्यायन कहते है कि समय अथवा काल की अभिव्यक्ति दूरी (देश) मे नही अपितु क्रिया मे होती है। जब वस्तु का गिरना बन्द हो जाता है तो हमे भूतकाल का भाव मिलता है "जब वस्तु के गिरने की क्रिया होनेवाली

१. न्यायमञ्जरी, पृष्ठ, १३६।

२. वही, पृष्ठ १३७।

३. न्यायभाष्य, २ : १ ; ३९ और आगे ; १ : ४३। और देखिए 'भारतीय दर्शन', खण्ड १, पृष्ठ ५९९।

४. न्यायभाष्य, २ : १, ३९।

होती है तो भविष्यत्काल का भाव मिलता है, और अन्त में, जब वस्तु की क्रिया दिखाई दे रही है तो हमें वर्तमानकाल का भाव मिलता है। इस प्रकार की परिस्थिति में यदि कोई व्यक्ति होती हुई क्रिया को कभी न देखे, तो उसे क्रिया की समाप्ति तथा आगे होने का विचार भी कैसे हो सकता है? ...भूत और भविष्य दोनों ही कालों में वस्तु के अन्दर क्रिया नहीं है, जबकि हमारे इस विचार के समय कि 'वस्तु गिर रही है', वस्तु का सम्बन्ध वस्तुतः क्रिया के साथ होता है। इस प्रकार वर्तमानकाल जिसका ज्ञान कराता है वह वस्तु और क्रिया का वास्तविक विद्यमान सम्बन्ध है। इसलिए इसीके (अर्थात् विद्यमान सम्बन्ध और उसके द्वारा संकेतित काल के) आधार पर ही हम काल के अन्य दोनों बिन्दुओं - अर्थात् भूत एवं भविष्य - का भाव ग्रहण कर सकते हैं। और, इस कारण, यदि वर्तमानकाल न होता तो भूतकाल व भविष्यत्काल की भी भावना सम्भव न होती।[1] इसके अतिरिक्त प्रत्यक्ष केवल उन्हीं पदार्थों का होता है जिनकी सत्ता वर्तमानकाल में हो। इसलिए यदि वर्तमानकाल की सत्ता को स्वीकार न किया जाए तो प्रत्यक्ष भी नहीं हो सकता। इस प्रकार वर्तमानकाल केवलमात्र गणित का ही विषय नहीं है, बल्कि काल का एक खण्ड है जिसकी एक निश्चित अवधि है, जिसमें भौतिक ठोसपन है।[2]

भौतिक जगत् के उद्भव व स्वरूप के सम्बन्ध में दिए गए भिन्न-भिन्न सिद्धान्तों के विरोध में वात्स्यायन तर्क करते हैं।[3] क्षणिकवाद की आलोचना करते हुए उनका कहना है कि हम यह निश्चित नहीं कह सकते कि एक क्षण के बाद एक सत्ता का स्थान दूसरी सत्ता ले लेगी, और एक सत्ता की उत्पत्ति एवं उसके अन्त के बीच कोई जोड़नेवाली कड़ी तो होनी ही चाहिए। क्षणिकता के तथ्य को हम वहां स्वीकार कर सकते हैं जहां उसका बोध होता हो, किन्तु जहां उसका बोध नहीं, जैसे पत्थर आदि में, वहां कैसे स्वीकार कर सकते है![4] पदार्थों के लगातार बोध से परिणाम यह निकलता है कि उसका अस्तित्व निरन्तर रहता है। 'प्रत्येक पदार्थ अभावात्मक है' इस प्रकल्पना का प्रत्याख्यान इस आधार पर हो जाता है कि यदि प्रत्येक पदार्थ अभावात्मक है तो कोई संकलित पदार्थ कैसे हो सकता है।[5] और न ही सब पदार्थों को एक-दूसरे का सापेक्ष कहा जा सकता है। यदि लम्बा और छोटा दोनों अन्योन्याश्रित है, तो एक के अभाव में दूसरा भी न रहेगा। और यदि दोनों में से एक भी अपने-आपमें 'सत्' नहीं है तो उनके परस्पर-सम्बन्ध की स्थापना नहीं हो सकती।[6]

१. न्यायभाष्य, २ : १, ४०।
२. व्हाइटहेड : दि प्रिंसिपल आफ रिलेटिविटी, पृष्ठ ७।
३. न्यायभाष्य, ४ : २, ३१–३३, और ४ : २, २६–२७।
४. न्यायभाष्य, ३ : २, ११ ; और देखिए ३ : २, १२–१३।
५. न्यायभाष्य, ४ : १, ३७–४०, और देखिए ४ : २, २६–२७, ३१–३३।
६. यदि वस्तुओं का कोई विशिष्ट लक्षण (अथवा व्यक्तित्व) जैसी कुछ वस्तु नहीं है, तो हमें

अनित्यता के सिद्धान्त का अवलम्ब पदार्थों की उत्पत्ति और विनाश के तथ्यों पर है। नैय्यायिक का तर्क है कि परमाणु, आकाश, देश और काल और उनके कुछ गुण ऐसे है जो न तो उत्पन्न होते है और न विनष्ट होते है।[1] इसका विरोधी मत कि सब पदार्थ नित्य है, समान रूप से दोषयुक्त है, क्योंकि कुछ पदार्थों को हम प्रत्यक्ष देखते है कि वे उत्पन्न भी होते है और नष्ट भी होते है। मिश्रित पदार्थ तो अवश्य ही बनते व बिगड़ते है।[2] वात्स्यायन 'सर्वपृथक्त्ववाद' पर भी विचार करते है।[3] नैय्यायिक का मत है कि सम्पूर्ण केवल अपने भागो का सकलन नही है। उसका अपना अलग अस्तित्व है और वह अपने भागो मे समवाय-सम्बन्ध से रहता है। वात्स्यायन इस बौद्ध मत का[4] प्रत्याख्यान करते है कि सम्पूर्ण सिवाय अपने भागो के सकलन के अन्य कुछ नही है और सम्बन्ध केवल मिथ्या है।[5]

अभाव (असत्) से जगत् की उत्पत्ति नही हो सकती। अभावपरक प्रकल्पना के समर्थक युक्ति देते है कि कोई कार्य तब तक उत्पन्न नही होता जब तक कि कारण नष्ट नही होता। अकुर की उत्पत्ति के लिए बीज को अवश्य नष्ट हो जाना होता है। इस विचार के विरोध मे वात्स्यायन का तर्क यह है कि कारण, जिसे नष्ट हो गया कहा जाता है, विनाश के पश्चात्, फिर से अस्तित्व मे नही आ सकता, और नष्ट हो गई वस्तुओ से कुछ भी उत्पन्न नही हो सकता। यदि बीज का नाश अकुर की उत्पत्ति का कारण होता तो जैसे ही बीज के टुकड़े-टुकड़े हुए, उसी क्षण मे अकुर को उत्पन्न हो जाना चाहिए था। वस्तुत अकुर केवल तभी प्रकट होता है जबकि बीज के विभाग के बाद उसके कणों मे एक नवीन सम्मिश्रण बन जाता है। इस प्रकार अकुर की उत्पत्ति अभाव मे न होकर बीज के कणो की पुनर्व्यवस्था से होती है।[6] इस मत की कि जगत् अकस्मात् उत्पन्न हो जाता है, विवेचना की गई है, और उसे त्याग दिया गया है। समस्त अनुभव को बेकार बताए बिना अथवा झूठा सिद्ध किए बिना, कार्य-कारणभाव के नियम का निषेध नही किया जा सकता।[7]

एक-से दो अणुओं अथवा एक ही आकार के दो पदार्थों के विषय में लम्बाई और चौड़ाई के सापेक्ष भाव क्यों नहीं होते? अपेक्षा से तात्पर्य यह है कि जब हम दो वस्तुओं का प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त करते हैं तो उनमें से एक का दूसरी पर आधिपत्य लक्ष्य करना हमारे लिए सम्भव हो जाता है। (न्यायभाष्य, ४ : १, ४०)।

१. न्यायभाष्य, ४ : १, २५-२८। २. न्यायभाष्य, ४ : १, २९-३३।

३. न्यायभाष्य, ४ : १, ३४-३६।

४. देखिए बौद्ध अशोककृत 'अवयवनिराकरण'। इसका रचयिता नवीं शताब्दी के अन्त के लगभग हुआ था।

५. वात्स्यायनकृत 'संख्यैकान्तवाद' की व्याख्या स्पष्ट नहीं है। यह संभवतः पिथागोरस की संख्याविषयक प्रकल्पना जैसे किसी सिद्धान्त का उल्लेख करती है।

६. न्यायभाष्य, ४ : १, १४-१८। ७. न्यायभाष्य, ४ : १, २२-२४।

२२

जीवात्मा और उसकी नियति

न्याय के अनुसार, विश्व मे कुछ तत्त्व ऐसे है जो भौतिक नही है। ये है हमारे बोध, इच्छा, द्वेष, संकल्प और सुख-दुःख की संवेदनाए।[1] चैतन्य की ये सब अवस्थाएं परिवर्तनशील है, और इस प्रकार इन्हे द्रव्यों के साथ न मिलाना चाहिए। इन्हें आत्मारूपी द्रव्य के गुण माना गया है।

आत्मा एक यथार्थसत्ता है और इसके गुण है इच्छा, द्वेष, संकल्प, सुख, दुःख तथा ज्ञान। साधारणतः नैय्यायिक आत्मा के अस्तित्व को अनुमान प्रमाण के द्वारा सिद्ध करता है, यद्यपि उसके समर्थन मे शास्त्रीय प्रमाण भी देता है।[2] उद्योतकर का मत है कि आत्मा की यथार्थसत्ता का ज्ञान प्रत्यक्ष द्वारा भी प्राप्त किया जा सकता है। उसके अनुसार 'मै' स्वभाव का प्रमेय पदार्थ आत्मा है।[3] भिन्न-भिन्न बोधो की प्रत्यभिज्ञा 'मेरी' के रूप मे होना यह सिद्ध करता है कि आत्मा की सत्ता निरन्तर विद्यमान रहती है।[4] जब कोई पुरुष किसी पदार्थ-विशेष को जानना अथवा समझना चाहता है तो वह पहले यह सोचता है कि यह क्या हो सकता है और उसे इस रूप में जानता है कि यह अमुक प्रकार का है। यह जानने की क्रिया उसी एक कर्ता की है जिसने जानने की इच्छा की थी, और पीछे का विचार भी उसी कर्ता का है। इस प्रकार यह ज्ञान उसी एक कर्ता की उपस्थिति का संकेत करता है और यही आत्मा है।[5] हम उन पदार्थों का स्मरण करते है जिनका बोध हमे पहले हुआ हो।[6] जब कोई किसी पदार्थ को देखता है, उससे आकृष्ट होता है तथा उसे प्राप्त करने की चेष्टा करता है, तो इन सब भिन्न-भिन्न क्रियाओ का आधार वही एक सामान्य सत्ता है जिसे हम आत्मा के नाम से जानते है।[7] यदि हमारा मानसिक जीवन प्रत्येक क्षण मे एक अद्भुत गुणात्मक रूप धारण किए रहता है, जो एक प्रमाता के मूर्त इतिहास में एक क्षण का निर्माण करता है तो इसका कारण यह है कि यह इसी एक सामान्य आत्मा से सम्बन्ध रखता है, किसी अन्य से नही। उद्योतकर का कहना है कि ऐसे व्यक्ति के लिए जो जीवात्मा को नही मानता, प्रत्येक बोध अपने-आपमे भिन्न होना चाहिए और उसका अपना अलग एक प्रमेय होना चाहिए, तथा कोई भी ज्ञान अथवा स्मृति सम्भव न हो सकेगी।[8] संवेदनात्मक तथा

१. यदि सुख, दुःख, राग और द्वेष का संवेदन की अवस्थाएं माना जाए तो चैतन्य की तीन अवस्थाएं है—ज्ञान, संवेदना तथा इच्छा।

२. न्यायसूत्र, १ : १, १०।

३. न्यायवार्तिक, ३ : १, १। वैशेषिक के मत मे आत्मा योगविद्या के प्रत्यक्ष का प्रमेय है। (वैशेषिक सूत्र, ९ : १, ११; न्यायकन्दली, पृष्ठ १९६)।

४. न्यायभाष्य, और न्यायवार्तिक, १ : १, १०।

५. न्यायभाष्य, १ : १, १०।

६. न्यायभाष्य, ३ : १, १४; और ३ : १, ७–११।

७. एककर्तृकत्व ज्ञानेच्छाप्रवृत्तीना समानाश्रयत्वम् (न्यायभाष्य, ३ : २, ३४)।

८. न्यायवार्तिक, १ : १, १०। वाचस्पति का कहना है कि "यदि आत्मा की अनुपस्थिति में बोधों की स्मृति तथा उनका विलयन इस प्रकल्पना के अन्तर्गत सम्भव हो सकता कि प्रत्येक बोध बोधों

स्नेहात्मक तत्त्वों की केवल संमिश्रणमात्र होने से चेतना की कोई भी अवस्था मेरी है या अन्य की, ऐसी पृथक् करके नहीं जानी जा सकती। दूसरे का अनुभव मेरा अनुभव नहीं है, क्योंकि मेरी आत्मा उसकी आत्मा से भिन्न है। हमारी सब मानसिक अवस्थाएं जैसे स्मृति, अभिज्ञान, जीवात्मा की सापेक्ष निरन्तरता की अभिज्ञता, आत्मा का संकल्प या आग्रह, अन्य आत्माओं के साथ सहानुभूति अथवा सम्बन्ध की चेतना, ये सब यह सूचित करती हैं कि आत्मा का यथार्थ अस्तित्व है।

भौतिकवादी के इस मत का कि चेतना देह का गुण है, सरलता के साथ प्रत्याख्यान हो जाता है। यदि यह देह का गुण होती तो इसका स्थान देह के भिन्न-भिन्न भागों में और उसके भौतिक अंशों में भी होता।[1] यदि देह के भौतिक अंशों मे भी चेतना है तो हमें मानना होगा कि व्यक्ति की चेतना विविध प्रकार की चेतनाओं का सम्मिश्रण है जो देह के भिन्न-भिन्न अंशों से उत्पन्न हुई है। यदि देह में चेतना मानी जाए तो प्रकृति-मात्र में भी चेतना माननी पड़ेगी, क्योकि प्रकृति के तत्त्व ही देह का निर्माण करते हैं। यदि देह से भिन्न आत्मा का अस्तित्व नही है तो नैतिकता का कुछ भी महत्त्व नही रह जाता।[2] क्योकि देह क्षण-क्षण मे बदलती रहती है, इसलिए कोई भी पाप आगामी जीवन मे हमारा पीछा कैसे करेगा। यदि चेतना देह का अनिवार्य गुण है तो वह अपने इस अनिवार्य गुण को कभी भी छोड न सकती, और हमारे लिए ऐसी देहों को देखना जो चेतना-शून्य हों, असंभव हो जाता—जैसेकि मृत देह चेतना-शून्य देखी जाती है। समाधि अवस्था में चेतना नही पाई जाती। देह का यह स्वाभाविक गुण नही है, क्योकि जब तक देह रहती है तब तक यह बराबर उसके साथ नहीं रहती, जैसेकि रंग आदि अन्य गुण देह के साथ बराबर रहते हैं।[3] यदि चेतना देह का आकस्मिक गुण होती तो इसका कारण देह के अतिरिक्त अन्य कुछ होता। इसके अतिरिक्त, चेतना उस पदार्थ का गुण नही हो सकती जिसकी कि चेतना होती है, बल्कि उसीका गुण हो सकती है जो स्वयचेतन है। चेतना को देह का गुण मानें तो इसका ज्ञान दूसरों को भी होना चाहिए।[4] देह चेतना की सहायक भी नही है, जैसाकि अनुभव सर्वविदित है। अधिक से अधिक यह स्वीकार किया जा सकता है कि यह (देह) चेतना की अभिव्यक्ति में साधन व सहायक-मात्र है। देह की परिभाषा यह की गई है कि देह क्रियाओ, इन्द्रियो तथा पदार्थों का माध्यम है।[5] आत्मा देह के

की शृंखला में एक अवयव बन जाता, तो प्रत्येक बोध उक्त शृंखला के प्रत्येक अन्य बोध का स्मरण करा सकता तथा उनके साथ विलय हो सकता। वाचस्पति का उक्त कथन वात्स्यायन के इस कथन का भावानुवाद है कि "एक बोध की प्रत्यभिज्ञा दूसरे बोध के द्वारा उसी प्रकार प्रकार संभव होगी जैसे एक शरीर द्वारा किए गए अनुभवों की प्रत्यभिज्ञा दूसरे शरीर को हो।" (न्यायभाष्य, १ : १, १०)।

१. देखिए सांख्यसूत्र, ३ : २०-२१, और इनपर विज्ञानभिक्षु तथा अनिरुद्ध की टीका।

२. न्यायभाष्य, ३ : १, ४।

३. न्यायभाष्य, ३ : २, ४७।

४. देखिए, भारतीय दर्शन, प्रथम खण्ड, पृष्ठ २६१-६२। और देखिए न्यायभाष्य, ३ : २, ५३-५५।

५. न्यायसूत्र, १ : १, ११।

द्वारा ही पदार्थों को प्राप्त करने अथवा उनसे छुटकारा पाने का प्रयत्न करती है, क्योंकि देह ही इन्द्रियों, मन तथा भावनाओं का स्थान है। हम देह की चेतना एवं आत्मा के साथ जो उसे धारण करती है, एकात्मता स्वीकार नहीं कर सकते। और न ही हम जीवनी शक्ति की प्रक्रियाओं के साथ चेतना का तादात्म्य स्वीकार कर सकते हैं। आत्मा का देह के साथ जो विशेष सम्बन्ध है उसीका नाम जीवनी शक्ति है।[1]

आत्मा इन्द्रियां नहीं है, बल्कि इन्द्रियों का नियन्त्रण करने वाली है, तथा इन्द्रियों द्वारा प्राप्त ज्ञान का संश्लेषण करनेवाली है।[2] यह जीवात्मा ही है जो भिन्न-भिन्न प्रकार के अनुभवों मे एकत्व स्थापित करती है। आंख शब्दों को नहीं सुन सकती, न कान ही वस्तुओं को देख सकते है, और यह चेतना कि मैं जिस पदार्थ को अब देख रहा हूं उसके विषय मे मैंने सुना भी था, सम्भव नही हो सकती थी यदि आत्मा इन्द्रियों से भिन्न तथा उनसे परे न होती। इन्द्रियां साधनमात्र है और इसलिए उनका उपयोग करने के लिए किसी कर्ता की आवश्यकता है। इन्द्रियां केवल भौतिक प्रकृति से उत्पन्न हैं, अतः चेतना उनका गुण नही हो सकती। देखा हुआ पदार्थ और आंखें यदि दोनों नष्ट भी हो जाएं तो भी यह ज्ञान कि मैने देखा था, रहता ही है, और इसलिए यह ज्ञान इन्द्रियों या बाह्य पदार्थो का गुण नहीं हो सकता।[3] आत्मा और मन को भी एक नहीं माना जा सकता, क्योंकि मन एक साधन-मात्र है जिसके द्वारा आत्मा मनन अथवा विचार करती है। क्योंकि मन परमाणुओं से बना है अतः यह भी देह की भांति ही, आत्मा नहीं हो सकता। यदि बुद्धि को मन का गुण मानें तो अनेकों वस्तुओं के एकसाथ ज्ञान की, जैसाकि योगियों को होना है, व्याख्या नहीं हो सकेगी।[4] आत्मा का ऐक्य देह, इन्द्रियों या मन के साथ नही हो सकता, क्योकि देह के नष्ट होने, इन्द्रियों के अलग हो जाने और मन के निश्चेष्ट हो जाने पर भी आत्मा बनी रहती है।[5] उक्त सब प्रमेय पक्ष के पदार्थ है और प्रमाता नही बन सकते, जबकि आत्मा ही प्रमाता है।[6]

यह स्थायी आत्मा बुद्धि, उपलब्धि अथवा ज्ञान नहीं है।[7] बुद्धि अस्थायी है, जबकि आत्मा को अवश्य स्थायी होना चाहिए।[8] हम अपनी चेतना की, बहती हुई जल की धारा से उपमा दे सकते है, जहा मन की एक अवस्था के विलीन होते ही दूसरी प्रकट हो जाती है। पदार्थ का जो भी स्वरूप हो, शब्द की भांति द्रुत गति से खिसकनेवाला अथवा घड़े की तरह अपेक्षाकृत स्थायी बोध अपने-आप में क्षणिक (अस्थायी) है।[9] पदार्थ का सापेक्ष स्थायित्व बोध की सापेक्ष विशिष्टता का कारण होता है, किन्तु इसके कारण बोध स्वयं स्थायी नहीं हो जाता।[10] प्रत्यभिज्ञा (पहचान) की योग्यता बुद्धि का गुण नहीं

१. न्यायकन्दली, पृष्ठ २६३। २. न्यायभाष्य, ३ : १, १।
३. न्यायभाष्य, ३ : २, १८। ४. न्यायभाष्य, ३ : २, १६।
५. प्रशस्तपाद का पदार्थधर्मसंग्रह, पृष्ठ ६९ ; और देखिए भाषापरिच्छेद, ४७–४९।
६. न्यायवार्तिक, ३ : २, १६। ७. न्यायसूत्र, १ : १–५।
८. न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका, १ : १, १०।
९. न्यायभाष्य, ३ : २, १–२; ३ : २, १८–४१।
१०. न्यायभाष्य, ३ : २, ४४ ; और देखिए न्यायवार्तिक, ३ : २, ४५।

हो सकती ।[1] बुद्धि, नैय्यायिक के अनुसार, न तो द्रव्य है और न ही प्रमाता है, बल्कि जीवात्मा का एक गुण है जिसका बोध हो सकता है। जीवात्मा उन सबकी द्रष्टा है जिनसे दुःख-सुख उत्पन्न होते हैं। वह सुख व दुःख की भोक्ता, अर्थात अनुभव करनेवाली है, और सब पदार्थों का ज्ञान प्राप्त करनेवाली है।

वह द्रव्य जो इन गुणों का निधान है, अवयव-घटित नहीं हो सकता, क्योंकि न्यायशास्त्र की यह धारणा है कि मिश्रित पदार्थ नाशवान् है जबकि सरल (निरवयव) पदार्थ नित्य है। जिसकी उत्पत्ति है वह अवश्य अवयवों से मिलकर बना है, और जब अवयव अलग-अलग हो जाते है तो पदार्थ का विनाश हो जाता है। जीवात्मा निरवयव है और नित्य है। इसका न आदि है, न अन्त है। यदि जीवात्मा ने कभी बनना आरम्भ किया होता तो उसका कभी अन्त भी होता। जीवात्मा का आकार भी परिमित नहीं हो सकता क्योंकि जो परिमित है उसके अवयव है और वह नाशवान् है। आत्मा को या तो परमाणु-निर्मित होना चाहिए, अथवा अपरिमित होना चाहिए। वह मिश्रित पदार्थों के समान मध्यम परिमाण वाली नहीं हो सकती। वह परमाणु-घटित नहीं हो सकती। क्योंकि उस अवस्था में हमें उसके बुद्धि व इच्छा आदि गुणों का ज्ञान न होता। उसके परमाणु-घटित होने की अवस्था में बोध सारी देह में व्याप्त नहीं हो सकता था।[2] यदि वह मध्यम परिमाण की होती तो या तो देह से बड़ी, या छोटी होती। दोनों ही अवस्थाओं में वह देह को व्याप्त न कर सकती, जबकि वह कर्त्ता है और उसे करना चाहिए। यदि वह देह के ही परिमाण की होती तो देह के लिए बहुत छोटी सिद्ध होती, क्योंकि देह तो जन्म के बाद से बराबर बढ़ती रहती है। इसके अतिरिक्त, जन्म-जन्म में वह अपना परिमाण बदलती रहती, यह कठिनाई उपस्थित होती जिसे दूर किया ही नहीं जा सकता। इसलिए वह सर्वव्यापक है, यद्यपि वह एक समय में अनेक पदार्थों का ज्ञान उपलब्ध नहीं कर सकती, क्योंकि उसका साधन मन अणुरूप है। देह द्वारा किए गए समस्त कर्मों के संस्कारों को मन ही संभालकर रखता है, और हरएक आत्मा के पास सामान्यतः एक ही मन है, जिसे नित्य कहा गया है।[3]

प्रत्येक व्यक्ति में आत्मा अपनी विशेषता रखती है।[4] जीवात्माओं की संख्या अपरिमित है। यदि प्रत्येक व्यक्ति की जीवात्मा पृथक्-पृथक् न होती तो सबके अनुभव एक समान हो जाया करते। यदि सब देहों के अन्दर एक ही आत्मा विद्यमान रहती तो जब एक को सुख या दुःख अनुभव होता तो सबको उसी प्रकार के सुख और दुःख का अनुभव होता, किन्तु ऐसा होना नहीं है।

चेतना आत्मा का अनिवार्य गुण नहीं है। बोध की शृङ्खलाओं का भी एक अन्त है। "अन्तिम बोध के विषय में स्थिति यह है कि कारण (पुण्य या पाप) के न रहने पर

१. न्यायभाष्य, ३ : २, ३ ।
२. तर्कसंग्रहदीपिका, १७ ।
३. न्यायभाष्य, १ : १, १६; ३ : २, ५६ ।
४. न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका, १ : १, १० ; न्यायभाष्य, ३ : १, १४ ।
५. एक ही आत्मा द्वारा भिन्न-भिन्न शरीरों के सञ्चालन की सम्भावना को असाधारण घटना माना गया है (न्यायभाष्य, ३ : २, ३२) ।

वह भी समाप्त हो जाता है, अथवा काल की विशेषताओं से (जो अच्छे व बुरे कर्मों का अन्त कर सकता है), अथवा स्वयं अन्तिम बोध द्वारा उत्पन्न संस्कारों से भी अन्तिम बोध का अन्त हो जाता है।"[1] परिणाम यह निकला कि आत्मा, जो चेतना का आधार है, सदा ही चेतन रहे, यह आवश्यक नहीं है। वस्तुतः यह एक जड़ तत्त्व है जो चेतना की अवस्थाओं से गुणवान होता है।[2] चेतनता आत्मा से पृथक् नहीं रह सकती, जैसेकि अग्नि की ज्वाला अग्नि से पृथक् नहीं रह सकती। किन्तु आत्मा के लिए यह आवश्यक नहीं कि वह चेतन रहे। जागरित अवस्था में आत्मा का मन के साथ संयोग होने से उत्पन्न एक गुण चेतनता है। यह आत्मा का एक अन्तर्विरामी गुण है।[3]

आत्मा एक ऐसा नित्य तत्त्व है कि समय-समय पर इसका ऐसी एक देह से सम्बन्ध होता रहता है जो इसके अनुकूल होती है। देह मनुष्य को अपने कर्मों के अनुसार मिलती है, और सुख-दुःख का आधार देह ही है।[4] देह की रचना नियति की अदृष्ट शक्ति से होती है और पूर्वकर्मों के फलों का परिणाम है।[5] प्रत्येक मनुष्य को ऐसी देह मिलती है जोकि उन अनुभवों का, जो उसे भोगने है, माध्यम बन सके। प्राणी का जन्म केवल भौतिक प्रक्रिया नहीं है। उद्योतकर का कहना है कि माता-पिता का कर्म जिन्हें बच्चे की उत्पत्ति में होनेवाले अनुभवों को भोगना है, और उस व्यक्ति का अपना कर्म जिसे इस जगत् में अनुभवों को भोगना है ये दोनों परस्पर मिलकर माता के गर्भ में देह की उत्पत्ति के कारण बनते है।[7] देह के साथ आत्मा का सम्बन्ध उसका जन्म कहलाता है एवं उससे अलग हो जाने का नाम मृत्यु है।[8] सृष्टि के प्रारम्भ में परमाणुओं में एक क्रिया चालू हो गई, जिससे वे संयुक्त होकर भौतिक पदार्थों की सृष्टि

१. न्यायवार्तिक, ३ २४।

२. उदयन के मत में यह एक भिन्न द्रव्य है जिसमें ज्ञान, आह्लाद तथा अन्य विशुद्ध गुण हैं, एवं यह नित्य, अविनश्वर, परिवर्तनरहित, आकार में अणु से बड़ा नहीं, किन्तु समस्त शरीर में व्यापक होने की क्षमता रखता है।

३. १ : १, १० पर न्यायभाष्य और न्यायवार्तिक, प्रशस्तपादकृत पदार्थधर्मसंग्रह, पृष्ठ ९९।

४. न्यायभाष्य, ३ : १, २७। देह मुख्यतया पृथ्वी से बनी है, यद्यपि अन्य तत्त्व भी इसके साथ सहायक के रूप में रहते हैं (३ : १, २७–२९)। मानवीय देह का निर्माण मुख्यरूप से पृथ्वी से हुआ है, किन्तु न्याय, वरुणलोक में निर्मित जलीय देहों को भी स्वीकार करता है। इसी प्रकार वह सूर्यलोक में आग्नेय और वायुलोक में वायव्य देहों को भी स्वीकार करता है। किन्तु आकाशीय अथवा ईथर की देहें नहीं हैं।

५. न्यायभाष्य, ३ : २, ६०–७२।

६. पूर्वकृतफलानुबन्धात् (न्यायभाष्य, ३ : २, ६०)।

७. न्यायवार्तिक, ३ : २. ६३।

८. ४ : १, १०। प्रश्न पूछा जाता है कि संसार रूपी चक्र का फेरा, अर्थात् जन्म व मृत्यु का सम्बन्ध मन के साथ है या आत्मा के साथ। उद्योतकर उत्तर देते हैं : "यदि संसार से तुम्हारा अभिप्राय कर्म से है (अर्थात् शरीरों में प्रविष्ट होने और उन्हें छोड़ने से है) तो इसका सम्बन्ध मन से है, क्योंकि जो वस्तुतः गति करता है (संसरति) वह मन है। दूसरी ओर यदि संसार से अभिप्राय तुम्हारा (सुख और दुःख के) अनुभव से है तो इसका सम्बन्ध आत्मा से है, क्योंकि यह आत्मा ही है जो सुख और दुःख का अनुभव करता है।" (न्यायवार्तिक, १ : १, १९।)

करते हैं। इसी प्रकार की एक क्रिया आत्माओं के मनों में भी होती है जो आत्माओं के अपने पिछले कर्मों के अनुसार कई अन्य गुणों को उत्पन्न करती है। प्रत्येक आत्मा के मूर्त इतिहास में अनेक जन्म अन्तर्निहित होते है। प्रत्येक क्षण में इसकी ऐतिहासिक परम्परा अपनी जड़ें भूतकाल में रखती है और भविष्य की रूपरेखा लिए रहती है। प्रत्येक जन्म, ऐतिहासिक रूप से व्यवस्थित इस प्रकार की शृङ्खला की केवल एक कड़ी है।

पूर्व-अस्तित्व की प्रकल्पना को सिद्ध करने का कोई विशेष प्रयत्न इसलिए नहीं किया गया क्योंकि इसे साधारणतः स्वीकार कर लिया गया है। शिशु एकदम प्रारम्भिक अवस्थाओं मे सुख और दुःख के चिह्नों को प्रकट करने लगते है, और हम बच्चे की मुस्कान अथवा रोने को कमल के खिलने तथा मुरझाने के समान केवल यान्त्रिक गति बतलाकर टाल नहीं सकते।[1] मनुष्य-प्राणी एक फूल से कही अधिक महत्त्वपूर्ण अस्तित्व रखता है। नवजात शिशु की दूध पीने की इच्छा का समाधान चुम्बक के प्रति लोहे के टुकड़े के स्वाभाविक आकर्षण से उसकी उपमा देकर नही किया जा सकता, क्योंकि शिशु केवल धातु का टुकड़ा नही है।[2] यह आपत्ति कि इच्छाओं समेत बच्चे उत्पन्न हो सकते है, जैसेकि गुणों समेत द्रव्य पैदा होते है, मान्य नहीं है, क्योकि इच्छाएं केवल गुण नही है अपितु उनका प्रादुर्भाव भूतपूर्व अनुभव से होता है।[3] हम इस जगत् में नितान्त भुलावे में नहीं आते और न ही पूर्वनग्नता को लेकर आते है, 'बल्कि कुछ स्मृतियो तथा स्वभावों को लेकर आते है जो हमने अपने पूर्वजन्म मे अर्जित किए हैं।'[4] पूर्वजन्मो तथा भावी जीवन-सम्बन्धी तर्क को नैतिक भावनाओं से समर्थन प्राप्त होता है। यदि हम अपनी आत्माओ के लिए भूतकाल तथा भविष्य के अस्तित्व को न माने तो उस अवस्था मे 'कृतहानि' तथा 'अकृताभ्यागम' -अर्थात् जो कुछ किया उसका लोप तथा जो नही किया उसका फलभोग- इन दोनो से हमारा नैतिक भाव नष्ट हो जाएगा। भविष्य जन्म को अवश्य होना ही चाहिए, जिसमें हम अपने कर्मों का फल भोग सकें, और वर्तमान में व्यक्तियों के भाग्य मे जो इतना भेद दिखाई देता है उसका समाधान करने के लिए भूतकाल के जन्म को भी मानना आवश्यक है। जब हमारे दण्ड अथवा पुरस्कार दिलानेवाले गुणावगुणो का कोष निःशेष हो जाता है तो जीवात्मा संसार एवं पुनर्जन्म से मुक्त हो जाती है और मोक्ष प्राप्त कर लेती है।[5] वात्स्यायन के अनुसार, हमारे सब कर्मों का फल मोक्ष से पूर्व के अन्तिम जन्म मे प्राप्त होता है।[6]

दुःख से छुटकारा पाने का नाम मोक्ष है।[7] यह अमरता की अवस्था भय से निर्मुक्त, अविनश्वर, परमानन्द की प्राप्ति के भाव से युक्त, ब्रह्म कही जाती है।[8] मोक्ष परम आनन्द का नाम है, जो पूर्ण शान्ति से युक्त एवं अपवित्रता (कलुषता) से रहित

१. ३ : १, १९–२१। २. ३ : १, २२–२४। ३. ३ : १, २५–२६।

४. यह भी कहा जा सकता है कि इच्छाएं तथा प्रवृत्तियां केवल आत्मा के अस्तित्व को सिद्ध करती हैं, इसके पूर्वजन्म को सिद्ध नहीं करतीं। अन्ततोगत्वा, नये प्रारम्भ की न्याय की प्रकल्पना के अनुसार, हमें अपनी आत्माओं के भूतकाल को मानना आवश्यक नहीं है।

५. न्यायभाष्य, ३ : २, ६७। ६. न्यायभाष्य, ४ : १, ६४। ७. १ : १, ६।

८. तदभयम्, अजरममृत्युपदं, ब्रह्मक्षेमप्राप्तिः (न्यायभाष्य, १ : १, २२)।

है। यह आत्मा का विनाश नहीं है, बल्कि केवल बन्धन का विनाश है। निषेधात्मक परिभाषा में कह सकते हैं कि यह दुःख का अन्त है, और निश्चित सुख की प्राप्ति नहीं है। क्योंकि सुख के साथ दुःख सदा ही मिश्रित रहता है और इसकी उत्पत्ति का भी कारण दुःख की उत्पत्ति के समान जन्म है। उद्योतकर बलपूर्वक कहता है कि यदि मुक्त आत्मा को स्थायी सुख की प्राप्ति करनी हो तो इसे स्थायी शरीर भी चाहिए, क्योंकि शरीर की यान्त्रिक क्रिया के बिना अनुभव हो नही सकता।[1]

जब धार्मिक ग्रन्थ सुख को आत्मा का अनिवार्य सारतत्त्व कहते हैं, तो उनका तात्पर्य उससे दुःख का सर्वथा अभाव होता है। नैय्यायिक सिद्ध करता है कि मुक्ति का प्रत्येक विचार कम से कम दुःख से छुटकारा चाहता है।[2] न्याय के मत में, प्रयत्न एवं क्रियात्मकता और चेतनता का पूरा अभाव तथा शरीर व मन से आत्मा का सर्वथा पृथक्त्व ही मोक्ष है। इस विशुद्ध स्थिति की तुलना, जिसे मुक्त आत्माएं प्राप्त करती है, प्रगाढ़ स्वप्नविहीन निद्रा के साथ की जाती है।[3] अमूर्त अस्तित्व की यह अवस्था, जो ज्ञान तथा आह्लाद से शून्य है, [illegible] गौरव की बताई गई है। क्योकि जीवात्मा इस स्थिति मे विभुत्व के सामान्य गुणों को धारण करती है, यद्यपि ज्ञान, इच्छा एवं संकल्प के विशेष गुण उस समय विद्यमान नही होते। वात्स्यायन इस सिद्धान्त की आलोचना कि आत्मा के सुख की अभिव्यक्ति का नाम ही मोक्ष है, इस आधार पर करता है कि न तो इसके लिए कोई प्रमाण है और न ही औचित्य ही है। यदि सुख की अभिव्यक्ति का कोई कारण है, तो वह या तो नित्य हो सकता है या अनित्य हो सकता है। यदि नित्य है, तो मुक्त तथा बद्ध आत्मा मे कोई अन्तर न होना चाहिए। यदि कारण अनित्य है, तो वह क्या हो सकता है? आत्मा का मन के साथ सम्बन्ध वह नही हो सकता, क्योंकि केवल इससे कुछ बनता नहीं। अन्य सहायक, पुण्य आदि, स्वीकार करने पड़ेगे। किन्तु अनित्य पुण्य से उत्पन्न वस्तु नित्य नही हो सकती। जब पुण्य क्षीण हो जाता है तो उससे उत्पन्न सुख को भी समाप्त हो जाना चाहिए।[4] यह अवस्था बोधों से भी बिलकुल मुक्त है। क्योंकि, न्याय के अनुसार, बोध भी क्षणभंगुर और कर्म के उत्पादक हैं, इसीलिए बन्धन के भी उत्पादक है। सांख्य के इस मत की कि मोक्ष विशुद्ध चेतनता की अवस्था है, समीक्षा में कहा गया है कि इस चेतनता की उत्पत्ति का भी तो कोई कारण अवश्य होना चाहिए, और जिसका कोई कारण है वह अवश्य अनित्य है। इसके अतिरिक्त, सांख्य का यह मत कि

१. न्यायवार्तिक, १ : १, २२। और देखिए न्यायसूत्र, ४ : १, ५८। सुख आत्मा का गुण है, किन्तु अवयवरूप नहीं है, ऐसा वाचस्पति का कहना है। देखिए न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका, १ : १, २२।

२. सर्वदर्शनसंग्रह, ११।

३. सुषुप्तस्य स्वप्नादर्शने क्लेशाभाववदपवर्गः (४ : १, ६३)।

४. न्यायभाष्य, १ : १, २२ और देखिए 'न्यायकन्दली', पृष्ठ २८६–८७।

मुक्तावस्था में पुरुष प्रकृति से पृथक् रहता है, जिससे प्रकृति अपना कार्य बन्द कर देती है और पुरुष अपने स्वरूप मे अवस्थित हो जाता है, प्रकृति के जड-तत्त्व को अत्यधिक बुद्धिपूर्ण बताता है।[1]

समीक्षक अनुभव करता है कि नैय्यायिको का मोक्ष एक निरर्थक शब्द है, क्योंकि भौतिकवाद और न्याय के दर्शन मे कुछ अधिक भेद नही प्रतीत होता। न्याय के मत में व्यक्ति न तो आत्मा है और न देह ही है, बल्कि इन दोनो के सयोग का परिणाम है। जब आत्मा का देह से पृथक्त्व होता है तो ऐसा कुछ घटित नही होता जो सवेदना को उत्तेजित करे, जैसाकि ल्यूक्रिशस ने कहा है, "न तो पृथिवी समुद्र मे समा जाएगी और न समुद्र स्वर्ग मे समा जाएगा।" विनष्ट चेतना की शान्ति मृत्यु की शान्ति के समान ही है। स्वप्न-रहित निद्रा सज्ञाशून्य जडता की स्थिति है। और हम यह भी कह सकते हैं कि एक पाषाण भी गम्भीर निद्रा मे परम आनन्द प्राप्त कर रहा है जिसमें स्वप्न कोई विघ्न नही डाल सकते। दु ख तथा कामना से रहित अस्तित्व, जो न्याय का आदर्श है, मनुष्य के स्वप्नों का केवल एक मजाक मालम देता है। सवेदनाओं, कामनाओ और सब प्रकार के हितो का त्याग करना और देश और काल के बन्धन से मुक्त होना परमात्मा में नये सिरे से उत्पन्न होने से निश्चय ही भिन्न है। भावुकहृदय व्यक्ति इस प्रकार के एक अपरूप राक्षस को, जो देवी-देवताओ की मूर्तियो के सग्रहालय म स्थान पाने के योग्य है, कभी मान्य नही ठहरा सकते। वेदान्ती, चाहे वह किसी भी सम्प्रदाय का क्यों न हो, तर्क करता है कि मोक्ष से तात्पर्य उस निर्बल, नश्वर व्यक्तित्व को छोडकर अनन्त में समा जाना है। नैय्यायिक यह प्रतिपादन करने को उत्सुक है कि मुक्ति की दशा परमानन्द की दशा है।[2] किन्तु वे ऐसा तब तक नहीं कर सकते जब तक कि वे आत्मा के साथ चेतना के सम्बन्ध की अपनी धारणा पर पुनर्विचार न करे।

२३

आत्मा तथा चेतना के सम्बन्ध के विषय मे न्याय के सिद्धान्त पर कुछ समालोचनात्मक विचार

नैय्यायिक के समक्ष इस विषय मे स्थिति स्पष्ट नही है कि उसके सिद्धान्त में चेतनता की पद-मर्यादा क्या है। वह आत्मा को अपने-आपम चेतनताविहीन मानता है और युक्ति देता है कि चेतनता की उत्पत्ति भौतिक प्रकृति के प्रति आत्मा की प्रतिक्रिया से होती है। उसकी धारणा है कि हमारी चेतनता म जो एकत्व है वह आत्मारूपी एक यथार्थ तत्त्व के अस्तित्व के कारण ही है। हमारी चेतनता क्षणिक भी है और कभी-कभी यह कुछ समय के लिए सर्वथा विलुप्त भी हो जाती है। तो भी एक समान सत्ता विद्यमान अवश्य है

१. न्यायसूत्र, ३ : २, ७३-७८।
२. न्यायसार, पृष्ठ ३९-४१। और तुलना कीजिए न्यायभाष्य, १ : १, २२।

जो हमें वस्तुओं का स्मरण कराती है और यह ध्यान दिलाती है कि हम बचपन और वृद्धावस्था में वही हैं। इस तथ्य की व्याख्या के लिए नैय्यायिक आत्मारूपी एक नित्य सत्ता को स्वीकार कर लेता है जो सदा उसी रूप में रहती है, यद्यपि चेतनावस्थाएं एक के पश्चात् दूसरी परिवर्तित हो सकती है। किन्तु क्या आत्मा स्वयं चेतनताविहीन होते हुए भी प्रत्यभिज्ञा कर सकती है? यदि निद्रितावस्था और तत्समान अन्य भी कतिपय अवस्थाओं में हमारे चेतन जीवन का पूर्ण विच्छेद होता है और यदि आत्मा स्वयं चेतनतारहित है तो फिर प्रत्यभिज्ञा की व्याख्या किस प्रकार हो सकती है? यदि नैय्यायिक द्वारा कल्पित आत्मा नित्य तथा स्वयं चैतन्य-स्वरूप नहीं है जो मानसिक स्थितियों की शृङ्खलाओं की साक्षी है तो वह न तो पहचान सकती है नहीं स्मरण कर सकती है। जैसाकि शंकराचार्य का कहना है "जो यह मानता है कि चेतनता का उन अवस्थाओं में कार्य बन्द हो जाता है, उसके लिए भी चेतनता द्वारा असाक्षीकृत चैतन्य-विहीनता के विषय में कुछ कह सकना सम्भव नहीं हो सकता।"[1] जीवात्मा को बिना व्यवधान के चेतन रहना चाहिए, जिसे कभी अवकाश नहीं मिलता। नैय्यायिक का यह मानना ठीक है कि यदि चेतनता से तात्पर्य स्वयं देखी गई या बाहर से देखी गई, किसी वस्तु की चेतना की अवस्थाओं का सिलसिला है तो वह मौलिक यथार्थसत्ता नहीं है। यथार्थसत्ता है द्रष्टा, जो नित्य है और आत्मनिर्भर है। किन्तु यह पिछला तत्त्व चेतनता से परे होना आवश्यक नहीं है। अचेतन आत्मा चेतनावस्था के अवशिष्ट प्रभावों का संग्रह करते हुए मस्तिष्क के ही समान है जो चेतनावस्था की घटनाओं के प्रभावों को अपने अन्दर धारण करता है। यदि आत्मा को एक निरन्तर चेतना के रूप में नहीं माना जा सकता तो उसकी कल्पना करने की ही आवश्यकता नहीं है। मानवदेह के मस्तिष्क के कोष्ठक ही स्मृति और प्रत्यभिज्ञा के आधार बन सकते हैं। किन्तु नैय्यायिक का सन्तोष इस प्रकार के समाधान से नहीं होता इसीलिए उसे एक चेतनामय प्रमाता अथवा आत्मा को मानना होता है। आत्मा को एक अभौतिक पदार्थ स्वीकार करने का जो उसका मत है, यह उसीका फलितार्थ प्रतीत होता है। इसे आध्यात्मिक माना गया है और यह भी आवश्यक है कि इसे चैतन्यमय स्वीकार किया जाए, यद्यपि प्रयोगसिद्ध अर्थ में नहीं। नैय्यायिक को चिन्ता है कि नित्य आत्मा को अस्थायी बोधों के साथ एक समान न मान लिया जाए। आत्मा की आध्यात्मिक यथार्थता को अस्थायी मानसिक अवस्थाओं के साथ मिश्रित करना ठीक न होगा। आत्मा सब समय में इन क्षणिक मानसिक अवस्थाओं से प्रतिबिम्बित नहीं रहती। किन्तु इसे यदि उस उद्देश्य की पूर्ति करनी है जिसके लिए इसकी कल्पना की गई है, तो इसे चैतन्यमय होना ही चाहिए। इस विषय में सांख्य का मत न्याय से एक पग आगे है।

जब तक हम आत्मा की यथार्थता को चैतन्यमय नहीं मानते, चेतनता की व्याख्या करना कठिन हो जाता है। हम चेतनता को एक तृतीय वस्तु (tertium quid) नहीं बना सकते--अर्थात् एक प्रकार की यांत्रिक चमक, जो दो चेतनताविहीन पदार्थों की परस्पर

१. शाङ्करभाष्य, २ : ३, १८।

क्रिया-प्रतिक्रिया से उत्पन्न हो जाती हो। यदि आत्मा अपने-आपमे चैतन्ययुक्त नही है, और यदि यह चैतन्य बाह्य जगत् की क्रिया के द्वारा उसके अन्दर उत्पन्न किया जाता है, तो न्याय के सिद्धान्त तथा भौतिकवाद मे भेद ही क्या रह जाता है ? अर्थात् यह हो सकता है कि चेतनता केवल-मात्र मस्तिष्क की एक आनुषङ्गिक उपज हो। चेतनता भौतिकता से बहुत आगे सरक जाती है और हम इसके समान कोई यान्त्रिक पदार्थ नही ढूढ सकते। यह विषय कि भौतिक तथा अभौतिक वस्तुए एक-दूसरे पर किस प्रकार क्रिया-प्रतिक्रिया करती हैं, अचिन्तनीय है। जब हम एक भौतिक घटना से मानसिक क्षेत्र मे आते है तो हम एक जगत् से दूसरे जगत् मे पग बढाते है, जो अपरिमेय है। यह कह देना कि चैतन्य अवस्थाए चेतना-विरहित दो पदार्थो, अर्थात् आत्मा तथा मन, की क्रिया-प्रतिक्रिया से उत्पन्न उपविकार है, कोई समाधान नही है। आत्मा असीम तथा निरवयव है, मन परमाणुओं से बना तथा निरवयव है, इसलिए इन दोनो की क्रिया-प्रतिक्रिया की कल्पना हम कैसे कर सकते है ?[1] यदि चेतनता कोई ऐसी वस्तु है जिसकी उत्पत्ति असीम रूप मे विस्तृत आत्मा के अन्दर होती है, तो क्या इस चेतनता का आधार आत्मा अपने पूर्ण रूप मे है अथवा देहगत विशिष्ट भाग के रूप मे ? पहली अवस्था स्वीकार नही की जा सकती, क्योकि उस अवस्था मे सब पदार्थ चेतना मे एकसाथ आ जाने चाहिए। दूसरी अवस्था इसलिए सभव नही है, क्योकि आत्मा के हिस्से नही होते। पुण्य तथा पाप को यदि इस विषय का निर्णायक माना जाए तो वह भी असगत है, क्योकि समुद्र, नदियो, आकाश तथा पर्वतो के प्रत्यक्ष ज्ञान के साथ पुण्य व पाप का क्या सम्बन्ध हो सकता है ? शकराचार्य इसमे बलपूर्वक अनेको आक्षेप करते है। क्योकि प्रत्येक आत्मा सर्वव्यापक है, इसलिए एक आत्मा से सम्बद्ध मन को सब आत्माओ से सम्बद्ध होना चाहिए, और परिणामस्वरूप सब आत्माओ को एक समान अनुभव होने चाहिए। क्योकि सब आत्माए सर्वव्यापक है, अत उन्हे सब देहो मे भी विद्यमान होना चाहिए। उस अवस्था मे अनेक सर्वव्यापक आत्माए एक ही देश को भी घेरेगी।[2] यदि यह कहा जाए कि मन पर, जो स्वरूप मे भौतिक है, आत्मा की क्रिया से चेतनता की उत्पत्ति होती है, तो कहना पडेगा कि आत्मा का चेतनता मे भाग है, क्योकि जब दो भौतिक पदार्थ एक-दूसरे के सम्पर्क मे आते है तो वे केवल भौतिक घटना के ही कारण बन सकते हैं। यदि हम भौतिकवाद के दोष से बच निकलना चाहे, जो बुद्धि को परमाणुओं अथवा इलेक्ट्रनो की एक अघी हलचल का निरुद्देश्य कार्य बताता है, तो हमे चेतनता की स्वतन्त्र सत्ता माननी ही पड़ेगी। आत्मा को एक निरन्तर क्रियाशील आत्मा के रूप मे मानना होगा, भले ही हम इसके कार्यकलाप से अभिज्ञ न हो। विस्मृति और असत्य की व्याख्या की आवश्यकता हो सकती है, स्मृति और ज्ञान की नही।

यदि हम देह और आत्मा मे भेद करते है तो हमे उनकी पारस्परिक प्रतिक्रिया

१. शाङ्करभाष्य, २ : २, १७। प्रलयावस्था में आत्माओं का परमाणुओं के साथ सम्पर्क होना नहीं माना जाता। तब वे अपने भूतकाल के संस्कारों को कैसे धारण कर सकती हैं ? क्या मन उन्हें अपने अन्दर स्थिर रखता है और क्या प्रलयकाल में भी मन आत्मा के साथ रहता है ?

२. शाङ्करभाष्य, २ : ३, ५०–५३।

की व्याख्या के लिए अदृष्ट (भाग्य) के सिद्धान्त का आश्रय लेना होगा, जिसे डेकार्ट ने 'दैवयोग' कहा है। न्याय के अनुसार, आत्मा जो विभु (व्यापक) है, सर्वदा मन के साथ सम्बन्ध रखती है। और बोध तब उत्पन्न होते है जब मन का सम्बन्ध इन्द्रियो के साथ होता है। मन एक ओर इन्द्रियो के साथ सम्बद्ध होता है और दूसरी ओर आत्मा के साथ। यह ऐसा करने मे किस प्रकार समर्थ होता है, यह एक ऐसा रहस्य है जिसका समाधान नैय्यायिक केवल परमात्मशक्ति की ओर सकेत करके करता है।

न्याय, आत्मा और देह को न केवल एक-दूसरे से भिन्न अपितु सामजस्यपूर्ण यथार्थसत्ताएं मानता है। यह देह से भिन्न किन्तु देह मे निवास करनेवाली आत्मा के सिद्धान्त को स्वीकार करता है। देह अवश्य प्रकृति से बनी है। मनुष्य की शरीर-रचना मे आत्मा और देह दोनो एक ही कोटि के नही माने जा सकते और न ही वे ऐकान्तिक है। देहरूपी यन्त्र मे आत्मा कोई बाहर से जोडा गया पदार्थ नही है। नैय्यायिक मनुष्य-प्रकृति के आध्यात्मिक एव भौतिक अशो मे अधिक व्यवस्थित सबन्ध मे विश्वास रखता है।[1] न्याय एव वैशेषिक द्वारा समर्थित सिद्धान्त के अनुसार, भौतिक प्रकृति विचारों को मूर्तरूप मे व्यक्त करने के लिए उपकरण है। भौतिक प्रकृति की अपेक्षा आत्मा की सार्थकता एव मूल्य कही अधिक है और इसीलिए उसकी यथार्थता भी अधिक है। आत्मा तथा देह के मध्य भेद अनुभव के उच्चतर व निम्नतर स्तर का है।

नैय्यायिक को विदित है कि चेतनता समस्त अनुभव का आधार है। यह तथ्यों मे से कोई एक तथ्य नही है जैसेकि सूर्य अथवा पृथ्वी है, बल्कि सब तथ्यो के लिए यह एक आवश्यक आधार है। बुद्धि भी बाह्य पदार्थो के कर्म द्वारा आत्मा के अन्दर उत्पन्न हुआ गुणमात्र नही है, बल्कि सब प्रकार के अनुभव का आवश्यक आधार है। अन्नभट्ट इसकी परिभाषा करते हुए इसे सब प्रकार के अनुभव का कारण (सर्वव्यवहार-हेतु) बताता है।[2] शिवादित्य बुद्धि की परिभाषा करते हुए इसे आत्मा के द्योतनात्मक अश के रूप मे वर्णन करता है,[3] जिसे टीकाकार जिनवर्धन और स्पष्ट करते हुए प्रकाश का स्वरूप बताता है, क्योंकि यह अविद्या के अधकार को दूर करता है और सब पदार्थो को प्रकाश मे लाती है।[4] जो कुछ समस्त अनुभव से पूर्व विद्यमान है उसे अनुभव से उत्पन्न नही कहा जा सकता। जबकि विशेष प्रकार के विचार एव मत वातावरण-सम्बन्धी अवस्थाओं पर निर्भर करते है, ये अवस्थाए अपने-आप मे, चेतना के आधार से अलग, उनका कारण नही बन सकती। न्याय की परिभाषा के अनुसार, बुद्धि प्रमाता

१. न्यायभाष्य, ३ : २, ६०।

२. तर्कसंग्रह, ४३। गोवर्धन अपने 'न्यायबोधिनी' नामक ग्रन्थ में व्यवहार को शब्द-प्रयोग के समान, अथवा जो कुछ शब्दों द्वारा अभिव्यक्त किया जा सके, समझता है, यद्यपि यह मत अत्यधिक संकुचित है।

३. आत्माश्रयः प्रकाशः। सप्तपदार्थी, ६३। तुलना कीजिए अन्नभट्टकृत आत्मा की इस परिभाषा से कि आत्मा वह है जो ज्ञानाधिकरण है (तर्कसंग्रह, १७)।

४. अज्ञानान्धकार-तिरस्कारकारक-सकलपदार्थस्यार्थप्रकाशकः प्रदीप इव देदीप्यमानो यः प्रकाशः सा बुद्धिः।

(विषयी) पक्ष से सम्बन्ध रखनेवाली है।[1] यह क्षणिकरूप नहीं है, बल्कि प्रमाता का अनिवार्य स्वरूप है। इसीलिए बुद्धि कभी स्वय प्रमेय, सार्वभौम चेतनता, नही बन सकती, जिससे पृथक् न तो परिमित शक्तिवाले व्यक्ति और न प्रमेय पदार्थ ही संभव है।

यदि चेतनता समस्त अनुभव का आधार है, वह आधारभूत यथार्थता है जिसके अन्दर परिमित शक्तिवाली आत्माए तथा प्रमेय पदार्थ—जिनकी उन्हे चेतना होती है—आ जाते हैं, तो यह परिमित से अधिक है। व्यक्तिरूप प्रमाता तथा प्रमेय पदार्थ अनन्त के आंशिक रूप है जो सदा परिवर्तित होते रहते है। आत्मा, जिसे नैय्यायिक जीवन के नानाविध अनुभवो के समन्वय की व्याख्या करने के लिए मानता है, चैतन्य-स्वरूप है जिससे समस्त अनुभव सम्भव है। हम इसे द्रव्य नही कह सकते, क्योकि ऐसा कहना आनुभविक जगत् के भावो को इसपर लागू करना होगा, जबकि हम यह देखते हैं कि इसी सतत चेतनता की विद्यमानता के कारण समस्त अनुभव-ससार सम्भव होता है। यदि हम इस अनुभव मे उसे सम्मिलित कर लेते है जो इससे उन्नत है और साथ ही इसे बनाता भी है, तो आत्मा एक विचारशील द्रव्य बन जाता है, जिसमे शेप सब बाह्य है।

उस आत्मा मे जो विशुद्ध चैतन्य है और सब व्यक्तियो मे समान रूप से व्यापक है, तथा उन सान्त आत्माओ मे जिनका ऐतिहासिक अस्तित्व है, परस्पर भेद करना होगा। नैय्यायिक द्वारा प्रतिपादित आत्मा बढती है, लचकदार है और अपना इतिहास रखती है। इस प्रकार की युक्तियां कि जिसका आरम्भ है उसका अन्त भी है, जिसका निर्माण मिश्रण से हुआ वह विभाज्य भी है और नष्ट भी हो सकता है, और कि अव-यवरहित पदार्थ का न तो विभाग सम्भव है और न विनाश ही सम्भव है, सबकी सब विशुद्ध आत्मा के नित्यस्वरूप को सिद्ध करती है, न कि ऐतिहासिक आत्माओ के नित्य-स्वरूप को। ऐतिहासिक आत्माओ के अपने उद्देश्य तथा आदर्श है जो जीवन की अव-स्थाओं के प्रति उनकी प्रतिक्रियाओ के निर्णायक होते है। सान्त व्यक्ति की विशेष भावनाओं तथा उन बाधाओ के अधीन होने की सम्भावना, जो उसकी क्रियाशीलता को रोकती हैं, ऐतिहासिक परिस्थितियो के कारण है। बढते हुए व्यक्तियो के अन्दर जिस प्रकार का स्थायित्व है उसे और विशुद्ध आत्मा के स्थायित्व को परस्पर मिलाना न चाहिए। सान्त आत्माओ की प्रकृति का, जो अपेक्षाकृत स्थिरस्वरूप है, उद्भव बाह्य साधनों से होता है। अपने-आपमे बन्दी ऐसी ऐतिहासिक आत्माए असख्य हैं। एक निश्चित दार्शनिक अन्तर्बोध नैय्यायिक को यह स्वीकार करने की प्रेरणा करता है कि व्यक्ति की मर्यादित शक्तियां और भौतिक विशेषता आत्मा की आनुषंगिक विशेषताएं है, जिनसे वह मरणशीलता के अभिशाप से छुटकारा पाने पर मुक्त हो जाएगा। मुक्ति अथवा बन्धन दोनों ही अवस्थाओ मे आत्मा का विशिष्ट लक्षणीय स्वरूप बना ही रहना चाहिए। क्योकि आत्मा का स्वरूप हमारे ज्ञान से अतीत है, इसलिए हम अनुभव करने

१. न्यायवार्तिक, ३ : २, १६।

लगते हैं कि बौद्धिक, भावनामय एवं ऐच्छिक अन्तःप्रेरणाओं से रहित होने पर जो शेष बचता है वह केवलमात्र शून्य है। किन्तु तो भी नैय्यायिक को निश्चय है कि आनुषङ्गिक गुणों का आधार वास्तविक कुछ है। प्रमेय पदार्थ के साथ जो सम्बन्ध है उसीके कारण आत्म-सम्बन्धी यथार्थता छिपी रहती है। हमारे अन्दर जो आत्मा है उसके ऊपर प्रकृति के निष्क्रिय अवयव का आवरण है। नैय्यायिक अपने इस मत में ठीक है कि आत्मा अमर है, यद्यपि वह उसे और जीवात्मा को मिला देने में भूल करता है, क्योंकि जीवात्मा चेतनता की अबाधित विद्यमानता के अनिरिक्त पूर्वजन्म को स्मरण नही रखता। जबकि हमारे अन्दर विद्यमान आत्मा सार्वभाम आत्मा है, अभिन्न आत्मा है, फिर भी संस्कारों को ग्रहण करने की क्षमता अपने ग्राहकतागुण के कारण, ऐसी वस्तु है जो पराधीन, निश्चेष्ट और नश्वर है और जो स्वभाव में अधिकतर प्रकृति के साथ मिलती है। हमारे अन्दर जो आत्मा है और जिसे अभौतिक माना गया है, वह अपनी कर्मशीलता को स्थगित नहीं होने देती, वह निर्बलता तथा विकार के अधीन नही होती। किन्तु मन शरीर के समान, जोकि उसका निवासस्थान है, तथा सम्बद्ध इन्द्रियों के समान भिन्नस्वरूप है। प्रत्यक्ष जीवात्मा द्वारा अनुभूत तथ्य भिन्न-भिन्न है, क्योंकि जीवात्माएं भिन्न-भिन्न ज्ञानेन्द्रियों से सम्बद्ध होती है। यदि आत्मा मन के साहचर्य से मुक्त हो जाए तो सब पदार्थ एकमात्र ही चेतना को प्राप्त हो जाएंगे, और आत्माओं के वस्तुतत्त्व भी, क्योंकि आत्मा सर्वत्र विद्यमान है, समान होंगे। इस सार्वभौम वस्तुतत्त्व को प्रत्येक आत्मा एक विशेष दृष्टिकोण से ग्रहण करती है, जिसका निर्णय देश और काल की उस व्यवस्था के कारण होता है जिसमें कि प्रत्येक आत्मा अवस्थित है। विश्वनाथ के अनुसार, जो वेदान्तियों का यह मत है कि आत्मा ज्ञानमय है एवं सब पदार्थ उसकी ऐतिहासिक परिस्थितियो द्वारा निर्णीत विशेष आकृतियां है, अपरिहार्य है।[1]

जीवात्मा की ऐकान्तिकता इसका अनिवार्य गुण नही है यह स्वयं ज्ञान के तथ्य से ही प्रकट हो जाता है। यदि प्रत्येक जीवात्मा एक विशिष्ट मन से संयुक्त पृथक् आध्यात्मिक इकाई है, तो हमें यह निश्चय नहीं हो सकता कि ये सब जगत् जिन्हें वे देखती है, एक ही है। यदि प्रत्येक इकाई अपने लिए एक जगत् का निर्माण करती है तो एक नितान्त अनेकत्ववाद का, अर्थात् जितनी इकाइयां हैं उतने ही जगत् है ऐसा, परिणाम निकलेगा। न्याय 'विषयीविज्ञानवाद' से बचने के लिए आतुर है और उसका विश्वास है कि हम सब एक सामान्य जगत् को जानते है। दूसरे शब्दों में, हम 'यहां' और 'अब' अर्थात् देश और काल की सीमाओं से ऊपर उठने का सामर्थ्य रखते है, आकस्मिक, विशिष्ट तथा आंशिक से ऊपर उठकर आवश्यक, सार्वभौम तथा अनन्त तक पहुंचने का

१. नानावस्तुविज्ञानमेव आत्मा तस्य स्वतःप्रकाशरूपत्वाच्चैतन्यम्। ज्ञानसुखादिकन्तु तस्यैवाकारविशेषः। तस्यापि भाववादेव क्षणिकत्वं पूर्व-पूर्वविज्ञानस्योत्तरविज्ञाने हेतुत्वात् (सिद्धान्तमुक्तावलि, ४९। आत्मा निःसन्देह ज्ञान है। इसका ज्ञानस्वरूप इसकी अपनी अभिव्यक्ति से ही सिद्ध होता है। इस अथवा उस पदार्थ का ज्ञान तथा सुख आदि इसकी विशेष आकृतियां है। केवलमात्र पदार्थ होने के कारण वे अस्थायी हैं। पूर्ववर्ती मानसिक स्थितियां परवर्ती स्थितियों को उत्पन्न करती है।

सामर्थ्य रखते हैं। प्रत्येक ज्ञान मे एक आवश्यक तत्त्व निहित रहता है, अर्थात् जिसे होना ही चाहिए। जाननेवाला आत्मा सान्त नहीं हो सकता। सान्त विषयी (प्रमाता) का सम्बन्ध जगत् के साथ स्थिर नहीं है। सान्त चेतनता कभी परिपूर्ण नहीं है, और इसीलिए सदा अपने में बेचैन रहती है। सान्त विचार का विशेष लक्षण यह है कि वह निरन्तर अपने में परिवर्तनस्वरूप है। मानवीय विचारधारा की अपनी विधि द्वन्द्वात्मक है, जिसका प्रयत्न सदा बाह्य पदार्थों के अपेक्षाकृत स्थिर स्वभाव के प्रत्याख्यान की ओर रहता है। वह सब विषय जो चेतना को बाह्य प्रकट होता है, वस्तुतः वैसा नही है। हम जो कुछ है उससे असन्तुष्ट रहते है, यह हमें जो कुछ बनना चाहिए उसके लिए हमारा दावा है। पदार्थों तथा घटनाओं की लौकिक व्यवस्था से परे जाने का प्रयत्न अधिकतर मौलिक यथार्थता को प्राप्त करने के लिए होता है, जो सर्वोपरि चेतनता के अतिरिक्त और कुछ नही है जो किसी भी वस्तु को अपने से विधर्मी नहीं समझती। नैय्यायिक विशुद्ध आत्मा को ऐतिहासिक व्यक्तित्व से, जो आदर्शों तथा विश्वासों पर निर्भर है—दूसरे शब्दों मे जो विशुद्ध आत्मा का एक प्रकार से मूर्तरूप है—पृथक् बताता है। यदि हम किसी समय सान्त आत्मा के स्वरूप को पहचान सकते है तो इसके शारीरिक स्वरूप व आदर्शों के द्वारा ही पहचान सकते है जोकि उसके भूतकालीन इतिहास तथा वातावरण-सम्बन्धी अवस्थाओं मे निर्णीत होते हैं। किन्तु आदर्शों, शरीर-रचना और वातावरण की ये व्यक्तित्व दर्शानेवाली अवस्थाए, सत्यस्वरूप आत्मा से भिन्न है, यद्यपि ये उसपर आधारित है—इसे नैय्यायिक स्वीकार करता है। तार्किक दृष्टि से नैय्यायिक को स्वीकार करना होता है कि आत्माओं के अनेकत्व के सिद्धान्त का आधार आत्मा के आनुषङ्गिक गुण है, और जब आत्मा के तात्त्विक स्वरूप पर बल दिया जाएगा तो इस सिद्धान्त को त्यागना पड़ेगा। ऐतिहासिक दृष्टिकोण, जो निरपेक्ष नहो है, जगत् के अनेकत्व की ओर ले जाता है। किन्तु आध्यात्मिक दृष्टिकोण, जो निरपेक्ष है, अनैक्यवाद से ऊपर उठता है। न्याय का यह तर्क कि परम आत्मा एक नही हो सकता क्योंकि इस प्रकार मानने से सुख और दुःख के भिन्न-भिन्न ज्ञान गड़बड़ हो जाएगे, प्रबल नहीं है, क्योंकि ऐतिहासिक आत्माओं के पृथक्त्व का निषेध नही किया गया है। अनेक मन भिन्न-भिन्न आत्माओं का निर्णय करते है, जो फिर अपने कर्मों द्वारा जगत् को रूप देती है। क्योंकि व्यक्तिगत आत्माएं जगत् के सब रूपों से सम्बद्ध नहीं रहती, इसलिए श्रीधर का मत है कि कम से कम एक आत्मा ऐसी होनी चाहिए जिसके अनुभव का क्षेत्र समस्त जगत् हो। इस आत्मा का सब पदार्थों के साथ कोई सामान्य सम्बन्ध नहीं है, बल्कि सब पदार्थों के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है और उनपर नियंत्रण है।[1] तात्त्विक रूप में सब आत्माएं एक हैं। लौकिक भेद जो हम आत्माओं में देखते हैं, उन घनिष्ठ तथा विशेष सम्बन्धों से निश्चित होते है जिन्हे आत्माए, सब वस्तुओं से सामान्य रूप से सम्बद्ध रहते हुए, प्राप्त करती हैं।

सार्वभौम चेतनता अथवा आत्मा की मौलिक यथार्थता को मान लेना विषयी-

१. न्यायकन्दली, पृष्ठ ८८।

विज्ञानवाद के सिद्धान्त को समर्थन देना नही है। सार्वभौम आत्मा की यथार्थता के आधार पर प्रमाता तथा प्रमेय के अन्दर भेद करने का तात्पर्य यह नही है कि हम इस तथ्य को अस्वीकार करते है कि सूर्य के प्रकाश मे लाभ उठानेवाले किसी जीवित वनस्पति अथवा सौर शक्ति को प्रकाश मे परिणत करनेवाले किसी चेतन चक्षु के प्रादुर्भाव से युगों पहले पृथ्वी तथा अन्यान्य ग्रह अपने-अपने धुरे पर तथा सूर्य के चारों ओर चक्कर काटते थे।

जब तक न्याय चेतनता को आत्मा का एक गुणमात्र मानता है तब तक वह अनुभव का कारण नही बतला सकता। यदि अनुभव को बुद्धिगम्य बनाना है तो आत्मा को सार्वभौम चेतनता मानना होगा। न्याय ठीक मार्ग पर है जब वह यह कहता है कि परिस्थिति-सम्बन्धी अवस्थाए कतिपय विचारो तथा आदर्शों के विकास की ओर ले जाती है और यह विकास मानव-स्वभाव की ऐतिहासिकता को बनाता है परन्तु यह मानव-स्वभाव समस्त चेतनता का विषय नही है, बल्कि इसका विकास स्वयं चेतनता के अन्दर होता है और वह एक प्रमेयरूपी माध्यम द्वारा निर्णीत होता है। आत्माओं का भेद लौकिक जीवन के कारण है जिसमे वे भाग लेती है। परिमित शक्ति वाले प्राणी, यद्यपि उनका मूल प्रकृति मे है, आत्मा के अन्दर ही फलते-फूलते है। पूर्णताप्राप्त आत्मा आध्यात्मिक अग्नि मे विद्यमान रहते है जबकि भौतिक देहरूपी धुआ नष्ट हो जाता है। इस मत को स्वीकार करने से मुक्त आत्मा के एकदम रिक्त होने का भय भी नही रहता। जहा तक आत्माओ की मुक्तावस्था के विचार का सम्बन्ध है, एक और अनेक का भेद कुछ अर्थ नही रखता। यदि हम न्यायदर्शन की मुख्य शिक्षा का अनुसरण करें और उसमे असगतियों को निकाल दे, यद्यपि न्यायशास्त्र के विचारक स्वय उनसे स्पष्ट रूप मे अवगत नही है, तो हम कुछ इसी प्रकार के परिणाम पर पहुचते है।

२४

नीतिशास्त्र

न्याय के विचारक इच्छा और बुद्धि के मध्य कोई कड़ा भेदक चिह्न नही रखते है। बुद्धि प्रस्तुत पदार्थों को ग्रहण करने अथवा उनपर विचार करने मे कोई निष्क्रिय कर्ता नहीं है, और इच्छा, जो बुद्धि द्वारा पदार्थों के प्रस्तुत किए जाने के पश्चात् कार्य प्रारम्भ करती है, कोई रहस्यमयी शक्ति नही है। समस्त ज्ञान प्रयोजन को लिए रहता है और जैसे ही हम पदार्थों का ज्ञान प्राप्त करते है, या तो हम उन्हे पसन्द करते है या नापसंद करते है; उन्हे प्राप्त करने की इच्छा करते है अथवा उनसे बचते है। जब हम किसी पदार्थ का चिन्तन करते है तो उसका मूल्य भी निर्धारित कर लेते है, और उसके प्रति एक निश्चित क्रियात्मक भावना भी बना लेते है। नीतिशास्त्र मनुष्य-जीवन के क्रियात्मक पक्ष को, विशेषकर स्वेच्छाकृत कर्मों को अपना विषय बनाता है।

कतिपय न्यायग्रन्थों में कामना के स्वरूप का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण किया

गया है। विश्वनाथ,[1] इच्छा की अनेक प्रकार की अवस्थाओं का वर्णन, करता है। हम असम्भव पदार्थों की इच्छा नहीं करते। केवल अबोध बच्चे ही चाँद को पकड़ने के लिए हाथ फैलाते है। साधारणत हम ऐसे ही पदार्थों के लिए अपनी इच्छा प्रकट करते है जो हमारी पहुंच के अन्दर होते है।[2] फिर, जिन पदार्थों की प्राप्ति के लिए इच्छा प्रकट की जाती है वे ऐसे ही पदार्थ होते है जिन्हे वाछनीय माना गया है, अर्थात् जिनसे ज्ञाता का उपकार होगा।[3] यहा तक कि जब हम आत्महत्या भी करने का विचार करते है, या अपने शरीर मे काटा चुभाते है तो वह भी इस विचार मे करते है कि ये हमारे लिए उपयोगी होगे। किसी भी पदार्थ का मूल्य कर्ता के लिए उपयोगी होने के नाते ही आका जाता है, यह बात अलग है कि मनुष्य आत्महत्या इत्यादि ऐसे ही अन्य कार्यों को मस्तिष्क की असाधारण अवस्था (विकृति) के कारण ही क्यो न उपयोगी समझता हो। पीछे चाहे उसके विषय मे कुछ भी सम्मति क्यो न प्रकट की जाए कामना करते समय तो उस पदार्थ की उपादेयता ही समझी जाती है। किसी भी कार्य-योजना का विधान बनाते समय हम उसके समस्त परिणामो को ध्यान मे रखते है और निश्चय कर लेते है कि उसके अगीकार करने से अधिक बुराई न होगी। यदि किसी पदार्थ के अधिक हानिकर सिद्ध होने की सम्भावना होती है तो हम उसका अनुसरण नही करते। इस तरह इसमे प्रस्तावित कार्यपद्धति के परिणामो का ध्यानपूर्वक सर्वेक्षण सम्मिलित रहता है।

ऐसे स्वत प्रवृत्त कर्म जो आन्तरिक प्रेरणाओं के कारण होते है[6] तथा स्वत -सम्पन्न होते है जिनके सम्पादन मे इच्छा की प्रेरणा का कोई स्थान नही है, वस्तुत नीति-शास्त्र के क्षेत्र मे नही आ सकते। आत्मा स्वय इच्छा व द्वेष की दासी नही है, ये बाहर से उसपर आते है। यदि आत्मा स्वय एक अचेतन व्यक्तित्व रखती तो राग-द्वेष इसके भाग्य का निर्माण करते और आत्मा भी उसीके साथ खिचती। न्याय की धारणा है कि आत्मा को उपक्रम तथा चुनाव करने का अधिकार प्राप्त है। जिससे यह स्वत उपलक्षित होता है कि आत्मा को दैवीय स्वातन्त्र्य प्राप्त है। वात्स्यायन इस मत का घोर विरोधी है कि समस्त कर्म सीधे परमात्मा की प्रेरणा से सम्पन्न होते है और पुरुषार्थ का उनमे कोई स्थान नही है।[7] मानवीय इच्छा मे पर्याप्त क्षमता है, यद्यपि यह कार्य करती है परमात्मा के नियन्त्रण के अन्तर्गत ही। वात्स्यायन इस मत का भी खण्डन करता है

१. सिद्धान्तमुक्तावली, १४६–५० । २. कृतिसाध्यताज्ञान ।
३. इष्टसाधनताज्ञान । ४. रागद्वेषाधिक्य ।
५. बलवदनिष्टाननुबन्धित्वज्ञान । यह श्लेषात्मक है और इसका अर्थ या तो अनिष्ट के अभाव की चेतनता (अनिष्ट अजनकत्वज्ञान) अथवा किसी भी अनिष्ट की चेतनता का अभाव (अनिष्टजनकत्वज्ञानाभाव) हो सकता है। विश्वनाथ का झुकाव पिछले अर्थ की ओर है।
६. जीवनयोनिपूर्वक, १५२ । ७. न्यायभाष्य, ४ : १, १९–२१ ।

कि इच्छा बिना किसी कारण के कार्य करती है।[1]

समस्त कर्मों का प्रयोजन[2] सुखप्राप्ति तथा दु:खपरिहार की इच्छा होता है। बेचैनी[3] का कारण दु:ख इस विषय का चिह्न है कि आत्मा अपने-आपमें सन्तुष्ट नहीं है। परम श्रेय सुख की प्राप्ति में नहीं, अपितु दु:ख से छुटकारा पाने में है, क्योंकि सुख सदा दु:ख के साथ मिश्रित रहता है।[4] संसार है दु:खमय, यद्यपि कभी-कभी यह सुखमय प्रतीत होता है। संसार से छुटकारा पाना ही परम श्रेय की प्राप्ति है। दु:ख, जन्म, प्रवृत्ति, दोष, मिथ्याज्ञान इस शृंखला की एक-एक परवर्ती कड़ी के नष्ट होने से उसकी पूर्ववर्ती कड़ी नष्ट होती जाती है।[5] दु:ख जन्म का परिणाम है, और जन्म प्रवृत्ति का परिणाम है। सब प्रकार की प्रवृत्ति, चाहे वह अच्छी हो या बुरी, हमें संसाररूपी शृंखला में जकड़ती है, और उसीके कारण हमें नीच या उच्च जन्म प्राप्त होता है। नैय्यायिक को लज्जा होती है कि उसके शरीर है और नॉवलिस के समान वह भी घोषणा करता है कि "जीवन आत्मा का एक रोग है, एक ऐसी प्रवृत्ति है जिसे काम से उत्तेजना मिली है।" यह प्रवृत्ति राग, द्वेष और मोह आदि दोषों के कारण है। द्वेष के अन्तर्गत क्रोध, ईर्ष्या, दुर्भावना, घृणा और निष्ठुरता सम्मिलित है। राग के अन्तर्गत कामना, लालच, तृष्णा (उत्कट अभिलाषा) और लालसा (स्पृहा) आदि का समावेश है। मोह के अन्तर्गत मिथ्याबोध, संशय, दर्प (अहंकार) एवं प्रमाद का समावेश है। सबसे बुरा मोह है क्योंकि इसीके कारण राग और द्वेष उत्पन्न होते हैं।[6] उक्त दोषों के कारण हम यह भूल जाते हैं कि आत्मा के लिए कुछ भी उपादेय अथवा हेय नहीं है, और हम पदार्थों को पसन्द या नापसन्द करने लगते हैं। इन दोषों का कारण है आत्मा, सुख व दु:ख इत्यादि के स्वरूप का मिथ्याज्ञान। मोक्ष की अनन्त स्थिति की प्राप्ति के लिए, जो हमारा एकमात्र महान् लक्ष्य है, हमें उस शृङ्खला को समाप्त कर

१. न्यायभाष्य, ४ : १, २२–२४।

२. न्यायभाष्य और उस पर न्यायवार्तिक, १ : १, २४, और न्यायभाष्य, ४ : २, ३२–३७।

३. १ : १, २१।

४. सर्वदर्शनसंग्रह, ११। उद्योतकर इस विचार में कुछ परिवर्तन करता है। "यदि सुख न होता तो पुण्य नितान्त निरर्थक होता, और न ही केवल दु:ख के अभाव को पुण्य का परिणाम समझना ठीक होगा, क्योंकि तब पुण्य का परिणाम केवलमात्र एक निषेधात्मक वस्तु रह जाएगा। साधारण जीवन में हम मनुष्यों में दो प्रकार की चेष्टा पाते हैं। एक व्यक्ति वाञ्छनीय पदार्थ को प्राप्त करने के लिए कर्म करता है, जबकि अन्य व्यक्ति अवाञ्छनीय वस्तु से दूर रहने के लिए कर्म करता है। यदि कुछ भी वाञ्छनीय न होता तो यह दो प्रकार की चेष्टा सम्भव न होती। फिर (यदि सुख न होता तो) इस प्रकार का परामर्श भी न मिलता कि अमुक सुख को दु:ख ही समझना चाहिए। और अन्त में, किसी प्रकार का वैराग्य भी न होता, क्योंकि दु:ख के प्रति कोई भी राग नहीं रखता।" (न्यायवार्तिक १ : १, २१)। श्रीधर इस मत से सहमत नहीं है कि केवल दु:ख के अभाव का नाम ही सुख है, क्योंकि परम आनन्द का निश्चित अनुभव होता है और मनुष्यों की चेष्टाएं भी दो प्रकार की देखी जाती हैं। (न्यायकन्दली, पृष्ठ २६०)।

५. न्यायसूत्र, १ : १, २; ४ : १, ६८। तुलना कीजिए इसकी बौद्धदर्शन-प्रतिपादित कार्यकारण-शृङ्खला के साथ। (विसुद्धिमग्ग, १९)।

६. ४ : १, ३–९।

देना चाहिए जो मिथ्याज्ञान से आरम्भ होकर दुःख मे समाप्त होती है। जब मिथ्याज्ञान दूर हो जाता है तो उक्त दोष भी दूर हो जाते है। इन सबके विलुप्त हो जाने पर फिर प्रवृत्ति का कोई आधार नहीं रहता, और इसलिए जन्म की भी संभावना नहीं रहती। जन्म के अभाव का तात्पर्य ही दुःख की समाप्ति है और इसीका नाम परम आनन्द, अर्थात् मोक्ष, है।[1]

जब तक हम कर्म करते रहते है तब तक हमारे ऊपर राग और द्वेष दोनो का शासन रहता है और हम परम श्रेय को नही प्राप्त कर सकते। दुःख के प्रति घृणा भी घृणा ही है और सुख के प्रति राग भी राग ही है। इसलिए जब तक ये क्रियाशील रहेगे तब तक परम श्रेय हमारी पहुच से परे ही रहेगा।

नैय्यायिक हमे कहता है कि हमे पृथक्त्व के भाव को दबाए रखना चाहिए, क्योंकि उसके मत मे ऐसे व्यक्ति की प्रवृत्ति, जो उन दोषो पर विजय पा लेता है, पुनर्जन्म का कारण नही होती।[2] वे व्यक्ति जिन्होंने उक्त दोषो पर विजय पा ली है, शरीर के रहते कर्म करते रह सकते है और ये कर्म उनके बन्धन का कारण नही बनते। जब तक हमारा लगाव एक विलग सत्ता के रूप मे बना रहता है और हम इन्द्रपद अथवा ब्रह्म-पद की प्राप्ति के लिए पुण्यसंचय करते है तब तक हम इस संसारचक्र के साथ बधे रहते है, क्योंकि इन्द्र अथवा ब्रह्म की पदवी भी सान्त अर्थात् एक न एक दिन समाप्त होने वाली है। परम श्रेय तो विलग सत्ता (पृथक्त्व) के भाव से सर्वथा मुक्ति ही है।

यथार्थ ज्ञान से तात्पर्य संसार मे तुरन्त मुक्ति प्राप्त कर लेने से नही है। गुणाव-गुण का, जो देह और आत्मा के सम्बन्ध का कारण है, सर्वथा निःशेष हो जाना आवश्यक है, जिससे कि उक्त दोनो के सम्बन्ध की पुनरावृत्ति की संभावना ही न हो सके।[3]

क्योंकि इस प्रकार पृथक्त्व से मुक्ति ही एकमात्र श्रेय है, अत चरित्र सम्बन्धी वे सब मार्ग जो इस ओर प्रवृत्त कराते है, अच्छे कहे गए है, और जो विपरीत दिशा मे ले जाते है वे बुरे कहे गए है। कर्म वाणी, मन तथा देह से सम्बन्ध रखते है और वे अच्छे व बुरे दो प्रकार के कहे गए है।[4] चरित्र-सम्बन्धी पापकर्म का सार पुण्यकर्म की अपेक्षा पापकर्म का जान-बूझकर चुनाव करने मे है। उत्कट राग के प्रभाव मे आकर हम पाप के दुःखदायी परिणामो को भूलकर सुख के आकर्षणो का शिकार बनते है।

सुकर्मों के अङ्गीकार करने से व्यक्ति इस योग्य हो जाता है कि वह शरीर

१. न्यायभाष्य, ३ : २, ६७ ; ४ : १, ६ : ४ : २, १।
२. न्यायसूत्र, ४ : १, ६४। ३. न्यायसूत्र, ४ : १, १९–२१।
४. १ : १, १७। दान, रक्षा और सेवा शरीर से सम्बन्ध रखनेवाले सुकर्म है, जबकि हत्या, चोरी और व्यभिचार दुष्कर्म है। सत्य भाषण, जो उपयोगी तथा सत्कारक भी हो, और धार्मिक पुस्तकों का अध्ययन वाणी से सम्बन्ध रखनेवाले सुकर्म है, जबकि झूठ बोलना, कठोर भाषा का प्रयोग, निन्दा, चुगली तथा निरर्थक वार्तालाप दुष्कर्म है। दया, उदारता और भक्ति मन से संबंध रखनेवाले सुकर्म है, जबकि द्वेष, लोलुपता तथा संशयात्मकता ये दुष्कर्म है।

तथा इन्द्रियों से आत्मा के पृथक्त्व को जान सके। सत्य ज्ञान, जिसपर इतना बल दिया गया है, केवल बौद्धिक सम्मति का ही विषय नहीं है अपितु एक प्रकार की सामान्य मनोवृत्ति है। मिथ्याज्ञान तथा स्वार्थपरक मनोवृत्ति का परस्पर साहचर्य है।[1] इसी प्रकार सत्य (यथार्थ) ज्ञान तथा निस्स्वार्थ-भाव परस्पर एक-दूसरे के अंग हैं। यह सत्यज्ञान पुस्तकों द्वारा प्राप्त नहीं किया जा सकता, बल्कि केवल ध्यान तथा धर्मभावना की वृद्धि से ही प्राप्त हो सकता है।[2] स्वाध्याय और चिन्तन[3] के साथ-साथ यौगिक क्रियाओं का भी आदेश दिया गया है।[4] उद्योतकर धार्मिक ग्रन्थों के अध्ययन, दार्शनिक विवेचन तथा ध्यान का आदेश देता है।[5] हमें कभी-कभी सांसारिक सुखों से बचे रहने, प्रत्येक लालसा को त्याग देने तथा वन में जाकर अपने आत्मरूपी यज्ञ की अग्नि में सब प्रकार के भौतिक कर्मों की आहुति दे डालने का आदेश दिया जाता है। शान्ति तथा सुख की प्राप्ति के लिए भक्तिरूप साधन की हमें अनुज्ञा दी गई है। यद्यपि परमेश्वर हस्तक्षेप नहीं करता, तो भी भक्ति का अपना ही पुरस्कार मनुष्य को प्राप्त होना अवश्य है।[6]

हिन्दू विचार-धारा के अन्य दर्शनों के समान, न्यायदर्शन भी कर्म के सिद्धान्त को स्वीकार करता है और ऐसा विश्वास प्रकट करता है कि हमें अपने कर्मों का फल अवश्य मिलता है। कुछ कर्म तो हमारे ऐसे होते हैं कि जिनका फल तत्काल मिलता है, जैसे खाना पकाने का कर्म है, किन्तु अन्य प्रकार के ऐसे भी कर्म हैं जिनका फल मिलने में विलम्ब होता है जैसे कि खेत में हल चलाना। पवित्र जीवन बिताना और कर्मकाण्ड-सम्बन्धी कर्म दूसरी कोटि में आते हैं क्योंकि स्वर्गप्राप्ति मृत्यु से पूर्व हो ही नहीं सकती।[7] मध्यवर्ती काल में कारण नष्ट नहीं होते बल्कि धर्म और अधर्म के रूप में विद्यमान रहते हैं। फल मिलने से पूर्व भी किसी वस्तु का अस्तित्व (माध्यम के रूप में) अवश्य रहता है जैसे कि वृक्षों पर फल आने में पूर्व की अवस्था में।[8] अदृष्ट अर्थात् न दिखाई देनेवाले गुण तथा अवगुण कर्म से भिन्न नहीं हैं, क्योंकि यदि ऐसा होता तो

१ न्यायवार्तिक, १ : १, २। २ न्यायभाष्य, ४ : २, ३८ और ४१।

३ न्यायभाष्य, ४ : २, ४७।

४ न्यायभाष्य, ४ : २, ४६। न्यायदर्शन को योग नाम से भी जाना जाता है। "नैय्यायिकानां योगपराभिधानानाम्" (गुणरत्नकृत षड्दर्शनसमुच्चयवृत्ति)। और उसकी तर्करहस्यदीपिका भी देखिए। वात्स्यायन ने १ : १, २९ में न्याय के मत को योग प्रकरण में उल्लेख किया है।

५ न्यायवार्तिक, १ : १, २।

६ न्यायसार, पृष्ठ ३८, ४० ४१, तथा सर्वसिद्धान्तसारसंग्रह, ६ : १०–२१ और ४०–४६।

७ उद्योतकर लिखता है : "उन अवस्थाओं में (कर्मों) का परिणाम तत्काल प्राप्त नहीं होता उसका कारण उन विशेष परिस्थितियों से उत्पन्न हुई बाधा होती है जो फलीभूत होते अवशिष्ट कर्मों के कारण उपस्थित हो जाती है, अथवा ऐसी बाधा होती है जो उन अन्य प्राणियों के फलीभूत होते अवशिष्ट कर्मों के कारण उपस्थित हो जाती है जिनके अनुभव प्रस्तुत मनुष्य के समान हैं, अथवा इन कर्मों में उन प्राणियों के कर्मों द्वारा उपस्थित की गई बाधा होती है जो प्रस्तुत मनुष्य के कर्म में साझीदार हैं, अथवा यह होता है कि धर्म तथा अधर्म जैसे सहायक कारण उस समय उपस्थित नहीं होते" (न्यायवार्तिक, ३ : २, ६०)।

८. न्यायभाष्य, ४ : १, ४७। देखिए, ४ : १, ४४–५४।

"अन्तिम मोक्ष के पश्चात् भी देह की उत्पत्ति की सम्भावना रहती।"[1] जिन देहों को आत्माएं धारण करती हैं उनका निर्धारण उनके पूर्वकर्मों के अनुसार होता है। देह से आत्मा को नाम मिलता है, यद्यपि आत्मा न तो मनुष्य है और न घोड़ा है, तो भी उसे जैसी देह प्राप्त हुई है उस नाम से पुकारी जाती है।[2] न्याय और वैशेषिक दर्शन 'सूक्ष्मशरीर' में विश्वास नहीं रखते। आत्मा एक शरीर से दूसरे शरीर में मन की सहायता से प्रविष्ट होती है। मन परमाणु से बना है और इसीलिए अतीन्द्रिय है और इसी कारण मृत्यु के समय देह को छोड़ता हुआ दिखाई नहीं देता। क्योंकि आत्माएं सर्वव्यापक हैं, इसलिए पुनर्जन्मकाल में फल भोगने के लिए प्राप्त नये घर (देह) में मन का ही जाना सम्भव हो सकता है।

न्याय-वैशेषिक के अनुसार, यथार्थसत्ता आत्माओं तथा प्रकृति का सम्मिश्रण है। प्राकृतिक विधान आत्माओं के द्वारा की गई सृष्टि नहीं है, बल्कि परमेश्वर द्वारा रची गई व्यवस्था है। परमेश्वर परमाणुओं से इस प्रकार की रचना करता है कि जिससे यह भौतिक सृष्टि जीवात्माओं के अनुभवों का माध्यम बन सके। जीवात्माओं तथा प्रकृति के बीच जो सामञ्जस्य हम देखते हैं, वह दैवीय योजना के कारण है।

२५

ब्रह्मविद्या

'न्यायसूत्र' में हम देखते हैं कि परमेश्वर का उल्लेख केवल आनुषंगिक रूप में ही पाया जाता है, जिससे यह सन्देह युक्तियुक्त ही ठहरता है कि न्याय का प्राचीन सिद्धान्त ब्रह्मवादी नहीं था।[3] दैवीय कारणवाद की प्रकल्पना का उल्लेख न्यायसूत्र में मिलता है।[4] वात्स्यायन, उद्योतकर तथा विश्वनाथ इसे न्याय का अपना मत स्वीकार करते हैं, किन्तु वाचस्पति, उदयन और वर्धमान की सम्मति में यह वेदान्त के इस मत की आलोचना मात्र है कि ब्रह्म विश्व का उपादान कारण है। इस आक्षेप के उत्तर में कि मनुष्य को प्रायः अपने कर्मों का पूरा फल नहीं मिलता और इसलिए सब कुछ ईश्वर की इच्छा पर निर्भर करता है—मानवीय पुरुषार्थ पर नहीं, न्याय का कहना है कि मनुष्य के कर्म ब्रह्म के नियन्त्रण में तथा उसके सहयोग से फल उत्पन्न करते हैं। वात्स्यायन इस प्रकार की घोषणा करते हुए कि आत्मा सबको देखती है, अनुभव करती है तथा जानती है, ब्रह्मविद्या का समर्थन करता है। उक्त विवरण को यदि अपूर्ण जीवात्मा पर लागू किया जाए तो इसका सब आशय नष्ट हो जाता है।[5] परवर्ती नैय्यायिक और वैशेषिक भी

१. न्यायभाष्य, ३ : २, ६८। २. न्यायभाष्य, ३ : १, २६।

३. "दोनों संप्रदायों के मूल ग्रन्थों, वैशेषिक तथा न्यायसूत्रों में ईश्वर की सत्ता को प्रारम्भ में स्वीकार नहीं किया गया था। पीछे कुछ समय बीतने पर दोनों दर्शन परिवर्तित होकर ईश्वरवादी बन गए, यद्यपि दोनों में से कोई भी यहां तक नहीं पहुंचा कि वह ईश्वर को प्रकृति का स्रष्टा मानने लगे।" (गार्बे : फिलासफी आफ एंशियण्ट इण्डिया, पृष्ठ २३)। और "यह नहीं कह सकता कि न्याय का प्राचीन सिद्धान्त ईश्वरवादी था या नहीं" (ओरिजिनल संस्कृत टैक्स्ट्स, खण्ड ३ : पृष्ठ १३३)।

४. ४ : १, १९–२१। ५. न्यायभाष्य, १ : १, ६ ; ४ : १, २१।

स्पष्ट रूप मे ब्रह्मवादी है और आत्मा-सम्बन्धी प्रस्थापना पर विचार करते समय ईश्वर के स्वरूप के विवेचन मे भाग लेते है। अन्नमभट्ट आत्माओ का वर्गीकरण करता है कि आत्माए दो प्रकार की है, अर्थात् सर्वोपरि तथा मानवीय। सर्वोपरि आत्मा ईश्वर है, एक है तथा सर्वज्ञ है। मानवीय आत्माए संख्या मे अनन्त है [illegible] देह मे भिन्न है।[1] ईश्वर को एक विशिष्ट आत्मा माना गया है जो [illegible] सर्वज्ञता के गुण धारण किए हुए है, जिनमे वह समस्त विश्व का [illegible] तथा नियमन करता है। क्योंकि मानवीय तथा दैवीय आत्माए [illegible] इसलिए ऐसा विश्वास करना कठिन है कि न्याय तथा वैशेषिक [illegible] अभिप्राय इन दोनो प्रकार की आत्माओ [illegible] होगा। न्याय की लौकिक प्रवृत्ति तथा तार्किक रुचि के कारण [illegible] यथार्थता के विषय मे उसकी क्रियात्मक उदासीनता हो सकती है।[2]

उदयनकृत कुसुमाञ्जलि नामक ग्रन्थ [illegible] अस्तित्व सम्बन्धी न्याय के प्रमाणो का शास्त्रीय विवरण है। उक्त पुस्तक के पहले अध्याय मे कुछ विचारणीय विषय दिए गए है, जो एक अदृष्ट कारण की यथार्थता [illegible] जो हमारे सुख और दुःख का निर्णायक [illegible]।[3] प्रत्येक कार्य कारण पर निर्भर करता है। इसलिए हमारे सुख-दुःख का भी कोई कारण अवश्य होना चाहिए।[4] [illegible] कारण अपने से पूर्ववर्ती कारण का कार्य है और वह भी अपने [illegible] कारण का [illegible] है। जिस प्रकार संसार अनादि है उसी प्रकार यह कारण कार्य की शृंखला भी अनादि है। इस प्रकार हमारे सुख-दुःख के आदिकारण का पता नहीं लग सकता। [illegible] की विविधता से कारणो की विविधता उपलक्षित होती है। हमारे [illegible] का कोई एक ही

१. तर्कसंग्रह, १७।

२ [illegible] : "[illegible] है कि [illegible] और [illegible] ने पहले जान-बूझकर अपने दर्शनो मे ईश्वर का [illegible] दिया था, [illegible], बल्कि इसलिए कि वह इस लौकिक जगत् से दूर तथा ऊपर है, क्योंकि उनके द्वारा दर्शनो का प्रधान प्रतिपाद्य विषय यह लौकिक जगत् ही था। [illegible] ने [illegible] वर्गीकरण तथा विवेचन का [illegible] किया। किन्तु भाष्यकारो ने इस [illegible] पर विचार [illegible] जहा ऐसा करना सम्भव था, और उक्त त्रुटि को पूरा किया" ([illegible], पृष्ठ [illegible])। '[illegible] के विषय मे इतनी अधिक रुचि [illegible] है कि [illegible] उसको [illegible] हाथ मे लिए हुए काम से विचलित होना [illegible]। और यह [illegible] धारणा करता है कि किसी विषय मे मौन साधन का तात्पर्य उक्त विषय का त्याग देना है" ([illegible] सिज़्म, पृष्ठ २६५)।

३. सापेक्षत्वाद् अनादित्वाद् [illegible]।
प्रत्यात्मनियमाद् भुक्तेरस्ति हेतुरलौकिक ॥ (१ : ४)

४. १ : ५।

५. १ : ६। इस प्रकार [illegible] दिया गया है। [illegible] न्यायवार्तिक, ४ : १, २१।

सामान्य कारण, ईश्वर या प्रकृति, नही हो सकता।[1] हमारे कर्म विलुप्त हो जाते हैं किन्तु अपने पीछे संस्कार छोड जाते है, जो फल उत्पन्न करने की योग्यता रखते है। "ऐसी वस्तु जिसे गुजरे हुए एक दीर्घ समय बीत गया हो, कोई परिणाम नही उत्पन्न कर सकती, जब तक कि उसका निरन्तर रहनेवाला कोई प्रभाव (कर्मातिशय) न हो।"[2] एक श्रेष्ठ कर्म के सस्कार को पुण्य तथा निकृष्ट कर्म के सस्कार को पाप कहते है। ये दोनों मिलकर अदृष्ट या गुणावगुण की सृष्टि करते है जो कर्म करनेवाले मनुष्य की आत्मा के अन्दर अवस्थित होता है उस वस्तु के अन्दर अवस्थित नही होता जिससे उसे सुख या दुःख मिलता है। यही अदृष्ट जब उपयुक्त समय, स्थान तथा पदार्थ मिल जाते है तो सुख और दुःख को जन्म देता है। अदृष्ट की यह अतीन्द्रिय कार्यशक्ति यह प्रदर्शित करती है कि पुण्य और पाप बराबर स्थिर रहते है। इन्द्रिययुक्त शरीरों का आत्माओं के साथ सम्पर्क प्राकृतिक कारणो से नही है। नैतिक कार्य-कारणभाव प्राकृतिक विधान से ऊपर है। भिन्न-भिन्न आत्माए जो भिन्न-भिन्न परिमाण मे सुखानुभव करती है, यह सब उनके अपने-अपने अदृष्ट की भिन्नता के कारण होता है।

उदयन यहा तक प्राचीन नैय्यायिको के मत मे भक्ति रखता है। उनके समान, विश्व की रचना की व्याख्या के लिए वह भी अणुओ मे एक आदिम क्रिया की तथा आत्माओं मे अदृष्ट की कल्पना करता है। किन्तु जब वह यह युक्ति देता है कि अदृष्ट, के समान एक बुद्धिविहीन कारण किसी बुद्धियुक्त आत्मा के पथप्रदर्शन के बिना कोई कार्य नही उत्पन्न कर सकता, तो वह उनसे आगे बढ जाता है। ईश्वर को अदृष्ट के कार्य का निरीक्षण करनेवाला कहा गया है।[3] परमाणुओ अथवा कर्म की शक्ति से जगत् की व्याख्या नही हो सकती। यदि परमाणुओ के अन्दर क्रियाशीलता प्राकृतिक है तो वह कभी रुकनी नही चाहिए। यदि काल की शक्ति से उनकी क्रियाओ का सचालन होता है तो कालरूपी इस अचेतन तत्त्व को या तो सर्वदा क्रियाशील या सर्वदा निष्क्रिय होना चाहिए। बछड़े के पोषण के लिए गाय मे दूध का जो प्रवाह है उसकी उपमा से प्रयोजन सिद्ध नही होता, क्योकि यदि दूध अपने-आपमे क्रियाशील होता तो मरी हुई गाय से भी प्रवाहित होना चाहिए था। परिणाम यह निकलता है कि यदि किसी अचेतन वस्तु मे क्रिया दिखाई दे तो उसका कर्ता अवश्य कोई चेतन होना चाहिए। जीवात्मा अदृष्ट की नियत्रक नही हो सकती, क्योकि यदि ऐसा होता तो वह अवाञ्छनीय दुःखों को दूर कर सकती, किन्तु ऐसा होता नही है। इस प्रकार बुद्धिविहीन तत्त्व अदृष्ट, जो प्राणियो के भाग्य का निर्णायक है, ईश्वर के निर्देशन मे कार्य करता है। ईश्वर न तो अदृष्ट को बनाता है और न इसकी अनिवार्य कार्यपद्धति मे कोई परिवर्तन करता है, बल्कि इसके कार्य करने को सम्भव कर देता है। इस प्रकार ईश्वर हमारे कर्मों का फलप्रदाता है।

उदयन ने अन्य युक्तियों का सार निम्नलिखित कारिका मे दिया है।

१. १ : ७। २. १ : ६। ३. १ : १३।

"कार्यों से, आयोजन से, धारण आदि से, परम्परागत कलाओं से, प्रामाणिकता से, श्रुतियों तथा श्रुतिगत वाक्यों से और विशिष्ट सख्याओं से, एक नित्य-स्थायी, तथा सर्वज्ञ सत्ता का अस्तित्व सिद्ध होता है।"[1] कार्य-कारणभाव-सम्बन्धी विवेचना को सबसे प्रथम स्थान दिया गया है। जगत् को एक उत्पन्न वस्तु माना गया है, क्योंकि यह सघटक भागों से मिलकर बना है इसलिए इसका बनानेवाला अवश्य होना चाहिए। अर्थात् 'समवर्ती कारणों की किसी शृखला के बिना जो स्वतन्त्र रूप से अपना यथोचित स्वरूप प्राप्त कर लेता है, वह कार्य नहीं है।' जगत् का रचयिता एक ऐसा बुद्धिमान है जो "सकल्प, धर्म करने की इच्छा एवं उचित साधनों के ज्ञान का ऐसा समुच्चय रखता है जो अन्य सब कारणों को गति देता है परन्तु वह स्वय किसीके भी द्वारा गति में नहीं आता।" आयोजन से तात्पर्य उस कर्म से है जो सृष्टिरचना के आरम्भ में दो अणुओं को मिलाकर सम्मिश्र बनाता है। इस कर्म से एक बुद्धिसम्पन्न कर्ता का अस्तित्व उपलक्षित होता है। धारण से तात्पर्य है कि यह अद्भुत विश्व उसीकी इच्छा से थमा हुआ है। उक्त कारिका में जो आदि शब्द है वह उस विषय का द्योतक है कि जगत् का सहार करनेवाला भी वही है। ईश्वर जगत् का निर्माणकर्ता है, सहारकर्ता तथा पुनर्निर्माणकर्ता भी है। परम्परागत कलाएं इसका उपलक्षण हैं कि इनका कोई बुद्धिसम्पन्न आविष्कारक अवश्य होगा। वेदों की प्रामाणिकता सूचित करती है कि जिसने उन्हें प्रामाणिकता दी है वह स्वय प्रामाणिक है। उदयन का मत है कि वेद, जगत् की अन्य सब वस्तुओं की भांति जो उत्पत्ति और विनाश के अधीन हैं, अनित्य हैं। इसपर भी यदि वे सत्यज्ञान के उद्भव स्थान हैं तो इसीलिए है कि उनका रचयिता ईश्वर है।[2] इसके अतिरिक्त, श्रुतियां (धर्मशास्त्र) ईश्वर को जगत् का कर्ता बताती हैं। फिर, वेदों के अन्दर वाक्य हैं और वाक्यों की रचना करनेवाला भी कोई होना चाहिए जो केवल परमेश्वर ही हो सकता है। सख्या-परक युक्ति का आधार यह विचार है कि युग्म की मात्रा परमाणुओं की अनन्त सूक्ष्मता (पारिमाण्डल्य) से नहीं, बल्कि परमाणुओं की विशेष सख्या (अर्थात् दो) से उत्पन्न होती है। जैसाकि हम देखेंगे, यह द्वित्व का विचार बुद्धि की अपेक्षा रखता है, अर्थात् बिना बुद्धिसम्पन्न कर्ता के नहीं हो सकता। इसलिए इस द्वित्व की धारणा के लिए जो सृष्टि के प्रारम्भ में युग्मों को उत्पन्न करता है, एक बुद्धिसम्पन्न कर्ता की कल्पना करनी ही होती है। प्रत्यक्ष दिखाई न देने के कारण ईश्वर के अस्तित्व के सम्बन्ध में जो आपत्ति की जाती है, उसका प्रत्याख्यान उदयन इस प्रकार करता है। किसी पदार्थ के प्रत्यक्ष न होने से उसका अभाव तब सिद्ध होता है जबकि वह पदार्थ ऐसा हो जो साधा-

1. कार्यायोजनधृत्यादेः पदात् प्रत्ययतः श्रुतेः ।
वाक्यात् संख्याविशेषाच्च साध्यो विश्वविदव्ययः ॥ (५ : १)

2. २ : १।

रणत प्रत्यक्ष होता हो। इन्द्रियों की क्षेत्र-सीमा से परे जो वस्तुएं हैं उन्हें असत् नहीं कहा जाता। अधिक से अधिक जो कहा जा सकता है वह यह है कि ईश्वर के अस्तित्व की सिद्धि प्रत्यक्ष द्वारा नहीं हो सकती।[1] अनुमान प्रमाण ईश्वर के अस्तित्व को न तो सिद्ध करता है न असिद्ध ही ठहराता है।[2] उपमान प्रमाण को पदार्थों के अस्तित्व अथवा अभाव से कुछ प्रयोजन ही नहीं है।[3] शब्द प्रमाण ईश्वरास्तित्व के पक्ष में है।[4] अर्थापत्ति और अनुपलब्धि ज्ञान के स्वतन्त्र साधन नहीं हैं।

नैय्यायिक का ईश्वर शरीरधारी है, जो सत् चित् (ज्ञान) और आनन्द से पूर्ण है। उसमें अधम, मिथ्याज्ञान तथा प्रमाद का अभाव है, और वह धर्मज्ञान समाधि से युक्त है। अपनी सृष्टि-रचना में वह सर्वशक्तिमान् है, यद्यपि अपनी सृष्टि के प्राणियों के कर्मों के परिणामों से प्रभावित होता है। वह स्वयं तो आप्तकर्मफल है, अर्थात् अपने कर्मों के तमाम फल प्राप्त कर चुका है, और अपने रचे हुए प्राणियों के लिए कर्म करना जारी रखता है। जिस प्रकार एक पिता अपने बच्चों के लिए कर्म करता है, उसी प्रकार परमेश्वर भी प्राणियों के लिए कर्म करता है।[5] परमेश्वर सर्वज्ञ है, क्योंकि वह सत्यज्ञान रखता है जो यथार्थसत्ता का स्वतन्त्र बोध है। वह नित्य प्रज्ञावान् है और क्योंकि उसके बोध नित्यस्थायी हैं, इसलिए स्मृति अथवा अनुमान सम्बन्धी ज्ञान की उसे आवश्यकता ही नहीं है। साधारण मनुष्यों में जो एक प्रकार का अन्तर्विगामी अलौकिक प्रत्यक्ष ज्ञान है, योगियों में जो प्राप्त की हुई शक्ति (सिद्धि) है, ईश्वर में वही एक समान रहनेवाली बोध की प्रक्रिया है।[7] ईश्वर इच्छाशक्ति से भी युक्त है।[8] ईश्वर विशुद्ध, अबाधित प्रतिभा तथा परमानन्द का भण्डार है।

सृष्टि-रचना की कठिनाइयों की उपेक्षा नहीं की गई है। सम्पूर्ण क्रिया को दुःख के अन्तर्गत माना गया है और कहा गया है कि वह दोषों के कारण है।[9] प्रश्न उठाया गया है कि क्या ईश्वर अपनी किसी इच्छा की पूर्ति के लिए जगत् की सृष्टि करता है, अथवा दूसरों के लिए करता है। परन्तु ईश्वर की समस्त इच्छाएं पहले से ही पूर्ण हैं, इसलिए सृष्टि-रचना ईश्वर की किसी भी इच्छा की पूर्ति का साधन नहीं हो सकती। जो दूसरों की भलाई के लिए चिन्तित रहता है, केवल बराबर व्यस्त रहता है। और न ही हम ईश्वर की उक्त क्रिया का कारण मनुष्यमात्र के प्रति उसके प्रेम को ही

१. ३ : १। २. ३ : १७। ३. ३ : ८-१२।

४. ३ : १३-१७। ५. ३ : १८-२३।

६. न्यायभाष्य, ४ : १, २१।

७ उदयन एक रोचक प्रश्न उठाता है कि क्या ईश्वर की सर्वज्ञता के अन्दर सीमित शक्ति वाले प्राणियों के भ्रमात्मक बोधों तथा उनके विषयों (पदार्थों) का ज्ञान भी समाविष्ट है, और परिणामस्वरूप क्या ईश्वर पदार्थों को उस रूप में भी प्रत्यक्ष करता है जैसे कि वे नहीं हैं। इसके उत्तर में वह कहता है कि मानवीय भ्रान्तियों का ईश्वर को जो ज्ञान है वह भ्रमात्मक नहीं है।

८. नव्य-न्याय, ४ : १, २१। ९. १ : १, १८।

मान सकते है। जगत् का दु:खस्वरूप होना ही उक्त कल्पना का प्रत्याख्यान करता है। नैय्यायिक उक्त आलोचना का उत्तर इस प्रकार देता है : 'ईश्वर का सृष्टि-रचनारूप कर्म वस्तुत: केवल अनुकम्पावश है। परन्तु ऐसी सृष्टि-रचना का विचार जिसमे केवल सुख ही हो, वस्तुओ की प्रकृति से मेल नही खाता, क्योंकि जिन प्राणियो की सृष्टि की जाएगी, उनके अच्छे या बुरे कर्मों के विभिन्न परिणामो से अन्ततोगत्वा विभिन्नता होनी आवश्यक है। और तर्क है इस प्रकार के प्रतिबन्ध करने की भी आवश्यकता नही कि यह ईश्वर की अपनी स्वतन्त्रता मे हस्तक्षेप हो। (क्योंकि इस प्रकार वह दूसरो के कर्मों पर निर्भर प्रतीत होगा)। क्योंकि यह नीति का वचन है कि 'अपना शरीर स्वय अपने को बाधा नही देता, बल्कि अपनी लक्ष्यप्राप्ति मे सहायक होता है।'[2] उद्योतकर स्वीकार करता है कि ईश्वर की क्रिया अन्य कारणो से मर्यादित हो जाती है, परन्तु ये कारण केवल स्वत आरोपित मर्यादाए है। ईश्वर की दृष्टि मे जो लक्ष्य है वह प्राणियो का सुख नही अपितु उनका आध्यात्मिक विकास है। जगत् दु:खो द्वारा श्रेयस् की तथा त्याग द्वारा पूर्णता की प्राप्ति के लिए, जो हमारे आध्यात्मिक लक्ष्य है, एक प्रकार का क्षेत्र है।

> नैय्यायिक शैव है जबकि वैशेषिको को पाशुपत कहा गया है।[3] जिनदत्त अपने 'विवेकविलास' (तेरहवी शताब्दी के मध्य मे रचित) ग्रन्थ मे कहता है कि शिव न्याय-वैशेषिक का देवता है। उद्योतकर एक पाशुपत था। भासर्वज्ञ ने ध्यान-समाधि का फल महेश्वर का साक्षात्कार बतलाया है।[4] उदयन सर्वोपरिसत्ता को शिव मानता है।[5]

न्याय का ईश्वरवाद-विषयक सिद्धान्त हिन्दू विचारधारा के इतिहास मे बहुत विवाद का विषय रहा है। आलोचक का कहना है कि जब प्राकृतिक समाधान असफल होता है तो नैय्यायिक 'अदृष्ट' का आश्रय लेता है। सृष्टि के आरम्भ मे परमाणुओ मे हलचल का होना, आग की गति का ऊपर की ओर होना, यहा तक कि सुई का चुम्बक की ओर आकृष्ट होना भी अदृष्ट के कारण माना गया है। अदृष्ट केवल व्याख्या की सीमामात्र है।[6] एक बुद्धिसम्पन्न नियामक की आवश्यकता की कल्पना की

१. सर्वदर्शनसंग्रह, ११। २. न्यायवार्तिक, ४ : १, २१।

३. देखिए गुणरत्नकृत 'षड्दर्शनसमुच्चयवृत्ति,' पृष्ठ ४९-५१। और देखिए हरिभद्रकृत 'षड्दर्शनसमुच्चय'—

अक्षपादमते देवः सृष्टिसंहारकृत् शिवः।
विभुर्नित्यैकः सर्वज्ञो नित्यबुद्धिसमाश्रयः॥ (१३)

राजशेखरकृत षड्दर्शनसमुच्चय, जो कुछ समय पूर्व बना, इस मत का समर्थन करता है। देखिए कीथ : 'इण्डियन लौजिक एण्ड ऐटोमिज़्म,' पृष्ठ २६२-६३।

४. न्यायसार, पृष्ठ ३९। ५. कुसुमाञ्जलि, २ : ४।

६. जयन्त अपने न्यायमंजरी नामक ग्रन्थ मे चार्वाक सिद्धान्त की आलोचना करते हुए कहता है कि जब हम किसी वस्तु के कारण को नहीं जानते तो उसे स्वाभाविक अथवा प्राकृतिक कहने लगते हैं।

गई है जो ईश्वर है, क्योंकि जिस क्रम से घटनाएं सम्पन्न होती है उस अद्भुत नियमितता की व्याख्या सिवाय ईश्वर के अन्य किसी प्रकार से की ही नही जा सकती। क्योकि ईश्वर मे ज्ञान, इच्छा तथा प्रयत्न है। प्रलयकाल में आत्माओं की क्रियाशक्ति नष्ट हो जाती है तथा सृष्टि-रचना के समय उन्हे यह फिर प्राप्त हो जाती है, इस सबकी व्याख्या बिना दैवीय संचालन के सम्भव नही है। उदयन तथा श्रीधर ने कार्य-कारणभाव से अत्यधिक लाभ उठाया है।[1] यह धारणा करके कि यह जगत् एक कार्य है, नैय्यायिक ने जो सिद्ध करना है उसे पहले से स्वत सिद्ध मान लिया है। पौधे तथा पशु-पक्षी स्वात्मनिर्भर नही है। ये उत्पन्न होते है, बढते है तथा मृत्यु को प्राप्त होते है। व्यक्तिरूप वस्तुए उत्पन्न पदार्थ है ऐसा कहने का अर्थ यह नही है कि यह जगत् एक पूर्ण इकाई के रूप मे उत्पन्न पदार्थ है। नैय्यायिक अनेको नित्यसत्ताओं के अस्तित्व को स्वीकार करता है जो उत्पन्न पदार्थ नही है।[2] तो क्या यह जगत सम्पूर्ण रूप मे भी नित्य नही हो सकता ? फिर क्या समस्त कार्यो के निमित्त कारण भी रहने आवश्यक है ? जैसाकि हम पहले देख चुके है, कार्य-कारण का विधान, जिस रूप मे नैय्यायिक इसकी व्याख्या करता है, सार्वभौम प्रामाणिकता नही रखता। इसकी सार्थकता इसके अतिरिक्त और कुछ नही है कि यह एक समान और साहचर्य-सम्बन्धी परिवर्तन को दर्शाता है। क्योकि इसकी साक्षी इन्द्रियगोचर जगत् मे ही गई है, इसलिए इसके क्षेत्र को उससे परे बढाना भूल है। सृष्टि के कारण का ज्ञान मानवीय मस्तिष्क से बाहर का विषय है। अनन्त कारणो की अनन्त प्रतीप गति असम्भव है, इसीलिए नैय्यायिक को एक ऐसे कारण के अस्तित्व पर बल देना पड़ा जो कार्य-कारण-शृंखला से बाहर है, जिसका अन्य कोई कारण नही है। शंकराचार्य कार्य कारणभाव की युक्ति का विरोध करते हुए हमें परामर्श देते है कि हम साहसपूर्वक यह स्वीकार करें कि यह विश्व हमें विद्यमान प्रतीत होता है, इसके अतिरिक्त हम और कुछ नही जानते। इसका अस्तित्व अपने-आपसे है, अथवा यह किसी सुदूर कारण का कार्य है इसे हम नही समझ सकते। यदि हम किसी सुदूर कारण को स्वीकार करते है तो हम उसके भी सुदूर कारण की माग क्यों न करें, और इस प्रकार अनिश्चित काल तक माग करते-करते दिमाग ही खराब हो जाएगा। यदि ईश्वर का अस्तित्व है तो उसे किसने बनाया ? साख्य के अनुसार, यह मान लेना कि विश्व ने अपने को अपने-आप बनाया उतना ही आसान है, जितना कि यह मानना कि विश्व के कर्ता ने अपने को अपने-आप बनाया। अध्यात्मविद्या की दृष्टि मे यह प्रश्न कम नही हो सकता और समाधान समस्या से भी बुरा है। नैय्यायिक के सगुणवाद से तो और भी कठिनाइया उपस्थित होती है। प्रश्न उठता है कि सृष्टि का कर्ता शरीरी है या नही ? यदि वह शरीरी है तो उसे अदृष्ट के अधीन मानना पड़ेगा, क्योंकि सब शरीरों की रचना अदृष्ट के ही आधार पर होती है। सब शरीरधारी निर्मित होते है, और वे सूक्ष्म परमाणुओं तथा पाप-पुण्य पर नियन्त्रण नही कर

१. न्यायकन्दली, पृष्ठ ५४–५७।

२. "नित्य वस्तु की कोई उत्पत्ति नहीं होती; और न ही नित्य वस्तु का कोई कारण होता है।" (न्यायवार्तिक, ४ : १, ३२)।

सकते। हम नहीं जानते कि नित्यशरीर क्या वस्तु है। इस विषय मे नैय्यायिकों का मत स्पष्ट नही है। वे कभी कहते है कि परमेश्वर बिना किसी शरीररूपी साधन के सृष्टि की रचना करता है, और साथ-साथ यह भी कहते है कि हमारे अदृष्ट के कारण परमेश्वर को भी शरीर प्राप्त हो जाता है। कभी परमाणुओ को ही परमेश्वर का शरीर मान लिया जाता है, एव अन्य अवसरो पर आकाश को शरीर की कोटि मे लाया जाता है। यदि ईश्वर किसी अचिन्त्य विधि मे, शरीर के बिना, परमाणुओ द्वारा सृष्टि की रचना करने मे समर्थ है, तो हम ऐसा भी कह सकते है कि वह बिना किसी पूर्व-अवस्थित सामग्री के सृष्टि की रचना कर सकता है।

ईश्वर की सिद्धि के लिए उपयुक्त की जानेवाली युक्तियो की प्रामाणिकता को हम यदि मान भी ले तो भी न्यायदर्शन का ईश्वर एक ऐसी पूर्ण आध्यात्मिक यथार्थ-सत्ता नही ठहरता कि जिसकी हम अपूर्ण अभिव्यक्तिया है। वह हमसे और जगत् से भी बाह्य है, भले ही हम उसे सृष्टि का कारण, शासक तथा सहारकर्ता कह ले। यथार्थसत्ता असख्य अशव्यापी अवयवो से बनी है जो एक बाह्य बन्धन द्वारा शृङ्खला-बद्ध है, जैसेकि एक रस्से मे अनेको लकड़िया बधी रहती है। ईश्वर परमाणुओ का रचयिता नहीं, अपितु केवल उन्हे क्रमबद्ध करनेवाला है। उसकी बुद्धिमत्ता विश्व के तत्त्वों पर बाहर से कार्य करती है, आन्तरिक जीवनी शक्ति के रूप मे कार्य नही करती। ईश्वर के विषय मे इस प्रकार का विचार कि वह जगत् से परे, देश के समस्त विचार से बाहर, एक शाश्वत आत्मकेन्द्रित एकान्त मे, बिल्कुल अलग रहता है, सर्वथा शुष्क और थोथा विचार है। हम इस प्रकार के द्वैतवाद को, जिसके अनुसार एक ओर एक अनन्त स्रष्टा तथा दूसरी ओर एक अनन्त विश्व हो, प्रमाणित नही कर सकते। ये दोनो ही एक-दूसरे को मर्यादित कर देगे। जिन वस्तुओ की परिभाषा एक-दूसरे के प्रति की जाए, वे अवश्य सान्त होनी चाहिए। जीवात्माए कभी न कभी स्वातन्त्र्य प्राप्त करती ही है। सबकी मुक्ति मे ससार लुप्त हो जाएगा, ईश्वर का आधिपत्य भी समाप्त हो जाएगा। जिसका अन्त है उसका आदि भी है। दोनो ही शून्य से प्रादुर्भूत हुए होगे और इसलिए शून्य मे ही लुप्त भी हो जाएगे। यह सत्य है कि सृष्टि-रचना का कारण ईश्वर का प्रेम बनाया गया है, किन्तु इस कल्पना के आधार पर सृष्टि का तात्पर्य क्या है? यदि परमाणु तथा आत्माए दोनो ही नित्य है, और उक्त दोनो की क्रिया-प्रतिक्रिया का ही परिणाम सृष्टि है, तो फिर सृष्टि-रचना मे ईश्वर का स्थान कहा है? इसलिए या तो नैय्यायिक को ईश्वर को स्रष्टा मानने का विचार त्याग देना चाहिए अथवा यह स्वीकार करना चाहिए कि परमाणु तथा आत्माए ईश्वररूपी नित्य और शाश्वत कारणता की अभिव्यक्तिया है, यद्यपि इस कारणता को यान्त्रिक अर्थो मे नही लिया जाना चाहिए। यह न्याय के इस सुझाव से उपलक्षित होता प्रतीत होता है कि पदार्थों का स्वरूप ही ईश्वर की देह है। यह एक ऐसा दृष्टान्त है जिसका उपयोग रामानुज के भाष्य में बहुत सावधानी के साथ और उच्च प्रयोजन को लेकर किया गया है। ईश्वर के अवश्यभावित्व का कुछ ऐसा ही विचार उसकी सर्वज्ञता के कारण बलात् हमारे ऊपर आरोपित किया गया है। न्याय के अनुसार, सान्त प्राणी केवल विचार को जानते है, और इस प्रकट तथ्य को भी कि यथार्थ

आध्यात्मिक अन्वेषण हमें इस बात के लिए बाध्य करता है कि हम आत्मा को अन्य पदार्थों की कोटि का एक पदार्थ न समझें। यह एक इस प्रकार के आदर्शवाद को जन्म देगा जो सहज बुद्धि के मत को उतना उलटेगा नहीं जितना कि उसके पार जाएगा। आध्यात्मिक आदर्शवाद भी हमें सहज बुद्धि तथा मनोविज्ञान के दृष्टिकोण से यह स्वीकार करने की अनुमति प्रदान करता है कि विचार तथा वास्तविकता में भेद है। हमारे अनुभव में अविच्छिन्नता तथा सामञ्जस्य का तात्पर्य है कि अननुभूत वस्तुओं की भी यथार्थसत्ता है। सांख्य और वेदान्त ने तर्क की दिशा में अनभव के गहनतर विश्लेषण का भार अपने ऊपर लिया। रामानुज के भाष्य में हमें न्याय के ब्रह्मविद्या-सम्बन्धी विचारों का अधिक व्यवस्थित समन्वय मिलता है।

उद्धृत ग्रन्थों की सूची

आथले : तर्कसंग्रह आफ अन्नंभट्ट—आंग्ल भाषानुवाद
कावेल : उदयनकृत कुसुमांजलि—आंग्ल भाषानुवाद
कावेल एण्ड गफ : सर्वदर्शनसंग्रह, ,,
गंगानाथ झा : न्यायसूत्राज विद वात्स्यायन्स भाष्य एण्ड उद्योतकर्स वार्तिक—आंग्लभाषानुवाद
कीथ : इण्डियन लौजिक एण्ड एटोमिज्म
सील : दि पौजिटिव साइंसेज आफ दि एंशियंट हिन्दूज
विद्याभूषण : हिस्ट्री आफ इण्डियन लौजिक

तीसरा अध्याय

वैशेषिक का परमाणु-विषयक अनेकवाद

वैशेषिक दर्शन—निर्माणकाल तथा साहित्य—ज्ञान का सिद्धान्त—पदार्थ—द्रव्य—परमाणुवाद—आत्मा की प्रकृति—गुण—कर्म अथवा क्रिया—सामान्य—विशेष—समवाय—अभाव—नीतिशास्त्र—ईश्वर—वैशेषिकदर्शन का सामान्य मूल्यांकन

वैशेषिक दर्शन

वैशेषिक दर्शन को यह नाम 'विशेष' शब्द के कारण दिया गया है। उक्त दर्शन अपने इस मत पर बल देता है कि इस विश्व के पृथक्-पृथक पदार्थों, विशेषकर उन पृथक्-पृथक् जीवात्माओं और परमाणुओं में ही, जो प्रत्यक्ष के विषय नहीं है, यथार्थ विशिष्टत्व अथवा पृथक्त्व दिखाई देता है। यद्यपि पृथक्-पृथक् जीवात्माएं सार्वभौम एवं सामाजिक सम्बन्धों से युक्त हैं जिनके द्वारा ही वे अपने-आपको पहचान सकती हैं तो भी वे उन सब सम्बन्धों के अतिरिक्त अपना विशेषत्व रखती हैं। यथार्थ रूप में वैशेषिक दर्शन पार्थक्य का प्रतिपादन करनेवाला दर्शन है, क्योंकि यह ऐसे किसी भी प्रयत्न को सहन करने के लिए तैयार नहीं है जो जीवात्माओं तथा पदार्थों के पृथक्-पृथक् अस्तित्व को मिटाकर किसी सार्वभौमिक अधिक पूर्ण व्यक्तित्व की स्थापना के लिए किया गया हो। इसका दृष्टिकोण कल्पनापरक होने की अपेक्षा वैज्ञानिक है, संश्लेषणपरक न होकर विश्लेषणात्मक है, यद्यपि यह विश्व के, एक पूर्ण इकाई के रूप में सामान्य स्वरूप से सम्बद्ध प्रश्नों को भी सर्वथा भुला नहीं सका है। विज्ञान का कार्य पृथक्-पृथक् विश्लेषण करना है जबकि दर्शन का कार्य समन्वय करना है। वैशेषिक को एक ऐसे सर्वान्तर्ग्राही समन्वय की रचना में कोई रुचि नहीं है जिसमें कि सब वस्तुओं के लिए स्थान हो, अर्थात् जो समस्त इन्द्रियजगत् तथा विचारजगत् की विविधता को एक ही व्यापक सूत्र में बांध सके। विज्ञान की भावना को लेकर यह दृश्य वस्तुओं के अत्यन्त सामान्य लक्षणों को सूत्रबद्ध करने का प्रयत्न करता है। यह अनुभव के विभिन्न पक्षों को उनकी संज्ञा देने तथा समुचित वर्गों में रखने का कार्य करता है। परिणामस्वरूप यह दर्शन पृथक्-पृथक् स्वरूप तो बतलाता है, किन्तु किसी यथोचित तथा व्यापक सिद्धान्त की स्थापना नहीं करता।

वैशेषिक दर्शन की प्रेरणा बौद्धदर्शन के प्रतीतिवाद के विरोध से प्रादुर्भूत हुई। जहां यह एक ओर ज्ञान के साधनों प्रत्यक्ष और अनुमान के विषय में बौद्धदर्शन के मत से सहमत है, वहां दूसरी ओर इसका यह भी तर्क है कि जीवात्माएं तथा द्रव्य अपने-आपमें सारवान् तथा यथार्थ तथ्य हैं और इनके अस्तित्व का खण्डन इन्हें पर्दे के पीछे खेली जा रही एक परी-कथा के काल्पनिक चित्र मानकर नहीं किया जा सकता। इसको ईश्वरज्ञान-सम्बन्धी समस्याओं से कोई प्रयोजन नहीं। शंकराचार्य तो अपनी समीक्षा में यहां तक कहते हैं कि वैशेषिक की प्रवृत्ति मुख्यतः अनीश्वरवादिता की ओर है।[1] चाहे जो भी हो, वैशेषिक अपने प्रारम्भिक रूप में एक अत्यधिक मानसिक लोच के युग में प्रस्तुत किया गया, जबकि संशयवाद के अंकुर विचारधारा के अन्दर पर्याप्त मात्रा में विद्यमान थे।

यह दर्शन यद्यपि मुख्य रूप में भौतिक तथा आध्यात्मिक विज्ञान का दर्शन है, तो भी तर्कसम्बन्धी विवादों का इसके परवर्ती ग्रन्थों में कुशल गठबन्धन पाया जाता है। वैशेषिक और न्याय अपने तात्त्विक सिद्धान्तों, यथा आत्मा के स्वरूप और गुणों तथा विश्व की परमाणुपरक प्रकल्पना के विषय में एकमत हैं। परन्तु वर्गीकरण तथा पदार्थों के विशिष्टत्व के निरूपण में एवं परमाणुवाद की प्रकल्पना के परिष्कार में वैशेषिक दर्शन अपना विशेष महत्त्व रखता है।

२

निर्माणकाल तथा साहित्य

'वैशेषिक दर्शन का निर्माण न्यायदर्शन से बहुत पूर्व हुआ प्रतीत होता है।"[2] गार्बे महोदय की उक्त सम्मति युक्तियुक्त प्रतीत होती है। मानवीय ज्ञान में विशेष, सामान्य से पहले आता है। ज्ञान की प्रकल्पना, जैसी कि हमें न्यायशास्त्र में मिलती है तब तक सम्भव नहीं हो सकती है जब तक कि ज्ञान स्वतन्त्र रूप में उन्नति नहीं कर लेता। तर्कशास्त्र आलोचक तथा सुधारक के रूप में प्रकट होता है। कणाद के सूत्र तथा प्रशस्तपादकृत 'पदार्थधर्मसंग्रह' पर न्यायशास्त्र का कोई प्रभाव नहीं है, जबकि गौतम के सूत्र तथा वात्स्यायन के भाष्य वैशेषिक मत से पर्याप्त मात्रा में प्रभावित हुए हैं।

यह भी बलपूर्वक कहा जाता है कि वैशेषिक दर्शन की रचना बौद्ध तथा जैन-दर्शनों से पूर्व हुई। बौद्धों के 'निर्वाण' की प्रकल्पना का आदि उद्भव वैशेषिक की 'अपवर्गवाद' की प्रकल्पना में हुआ माना जाता है। जैनों के 'अस्तिकाय' तथा उनकी परमाणुवाद की प्रकल्पना का मूल भी वैशेषिक में ही है, जिसका उल्लेख अनेकों जैन-ग्रन्थों तथा ललितविस्तर में भी मिलता है।

१. शंकराचार्य वैशेषिक के अनुयायियों को अर्धवैनाशिक अथवा अर्धशून्यवादी मानते हैं (शाङ्करभाष्य, २.२, १८)।

२. गार्बे : दि फिलासफी आफ एंशियण्ट इण्डिया, पृष्ठ २०।

लंकावतारसूत्र में भी परमाणुवाद का संकेत पाया जाता है। जैनों का एक परवर्ती ग्रन्थ 'आवश्यक'[1] रोहगुप्त (१८ ई०) को वैशेषिक दर्शन का रचयिता मानता है, जो जैनधर्म के छठे विभेद का प्रधान गुरु था। यद्यपि उक्त ग्रन्थ का वैशेषिक-विचार-सम्बन्धी आख्यान कणाद की योजना के अनुकूल है,[2] किन्तु इसके उस दावे को कि वैशेषिक दर्शन जैनदर्शन की ही एक शाखा है, प्रमाणित करना कठिन होगा। जैनदर्शन तथा वैशेषिक में जो समानता का विषय है और जिसके कारण उक्त दावे का संकेत मिल सकता है वह परमाणुवाद की प्रकल्पना है, किन्तु इस विषय में भी दोनों के विचारों में मौलिक भिन्नता पाई जाती है। जैन मत के अनुसार, गुणों की दृष्टि से परमाणु एक-समान हैं। प्रत्येक परमाणु में रंग, रस, गन्ध और स्पर्श तथा शब्द के उत्पादन की क्षमता विद्यमान है, यद्यपि वह स्वयं निःशब्द है। वैशेषिक के मत में गुणों की दृष्टि से परमाणुओं में भेद है। वे वायु, जल, अग्नि और पृथ्वी जिसके भी परमाणु हों उसके हिसाब से एक दो, तीन अथवा चार सामान्य गुण रखते हैं, और शब्द के साथ उनका कोई सम्बन्ध नहीं है। परमाणुवाद की प्रकल्पना, द्रव्यों का वर्गीकरण और ज्ञान के दो साधनों की स्वीकृति बलपूर्वक यह संकेत करते हैं कि वैशेषिक दर्शन की रचना बुद्ध और महावीर के समय[3] (छठी-पांचवीं शताब्दी ई० पू०) के लगभग हुई।

वैशेषिक दर्शन की व्याख्या व्यवस्थित रूप में सबसे पहले कणाद (कणभुज अथवा कणभक्ष) के वैशेषिक सूत्र में मिलती है। यह नाम जिसका अर्थ शब्द-व्युत्पत्ति शास्त्र की दृष्टि से कणभक्षक होता है उनके रचयिता का इस लिए भी पड़ गया हो क्योंकि उसके दर्शन का सिद्धान्त परमाणुवाद है।[4] इस दर्शन को औलूक्य दर्शन भी कहा जाता है।[5] ऐसा प्रतीत होता है कि उक्त सूत्र के रच-

१. सेक्रेड बुक्स आफ दि ईस्ट, खण्ड ४५, पृष्ठ ३८।

२. द्रव्य, गुण, कर्म, समवाय को स्वीकार किया गया है, तथा सामान्य और [illegible] के विषय में थोड़ी-सी विविधता पाई जाती है। सामान्य के निम्न भेद किए गए हैं :

(१) महासामान्य, जो पदार्थ, [illegible] अभिधेयत्व, अर्थात् नाम [illegible] अथवा ज्ञेयत्व अर्थात् जानने की क्षमता [illegible] लिए उत्तरदायी है। सब [illegible] (देखिए प्रशस्तपादकृत पदार्थधर्मसंग्रह, पृष्ठ १६; वैशेषिकसूत्र, [illegible])। महासामान्य [illegible] और किसी उच्चतर वस्तु की अपेक्षा नहीं है, क्योंकि अन्य सामान्य तथा विशेष [illegible]। (२) सत्ता-सामान्य, जो सत्ता अथवा वैशेषिक के भाव के अनुरूप है। [illegible] पदार्थों का सामान्य गुण (साधर्म्य) बताता है, और (३) सामान्य विशेष, [illegible] के [illegible] सामान्य [illegible] दृष्टान्त आ जाते हैं। देखिए यूई : 'वैशेषिक फिलासफी', पृष्ठ ३७ [illegible] ८।

३. देखिए यूई : वैशेषिक फिलासफी, पृष्ठ [illegible]। [illegible] ने अपने '[illegible]' नामक ग्रन्थ में वैशेषिक का निर्माण बुद्ध से पूर्व हुआ, ऐसा कहा है (वहीं, पृष्ठ [illegible])।

४. यद्यपि परमाणु-विषयक प्रकल्पना कुछ बौद्ध [illegible] विचारों में भी पाई जाती है, किन्तु वैशेषिक का यह प्रधान लक्षण है। देखिए ब्रह्मसूत्र, २ : २, ११, और धर्मोत्तरकृत 'न्यायबिन्दुटीका', पृष्ठ ८६।

५. यूई कृत वैशेषिक फिलासफी।

पिता का यथार्थ नाम 'काश्यप' था ।[1] यह ग्रन्थ दस अध्यायों में विभक्त है । प्रथम अध्याय में द्रव्य, गुण, क्रिया, सामान्य तथा विशेष आदि पांच पदार्थों का विवेचन किया गया है । द्वितीय अध्याय मे विभिन्न द्रव्यों का, जिनमें आत्मा तथा मन सम्मिलित नहीं है, विवेचन किया गया है । आत्मा और मन, इन्द्रियों के विषयों तथा अनुमान के स्वरूप का विवेचन तृतीय अध्याय में किया गया है । चतुर्थ अध्याय का मुख्य विषय परमाणुओं द्वारा विश्व की रचना है । पंचम अध्याय मे क्रिया का स्वरूप और उसके प्रकार बताए गए है । नैतिक समस्याओं पर षष्ठ अध्याय मे विचार किया गया है । सप्तम अध्याय मे गुण, आत्मा तथा समवाय-सम्बन्धी प्रश्नो का विवेचन है । पिछले तीन अध्याय मुख्य रूप से तर्क-विषयक है और इनमे प्रत्यक्षज्ञान, अनुमान तथा कार्य-कारणभाव के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया है । जैसाकि हम ऊपर कह आए है, कई कारणो से वैशेषिकसूत्र न्यायसूत्र से पूर्वकाल के बने प्रतीत होते है, और सम्भवतः ब्रह्मसूत्र के समकालीन है ।[2] क्योंकि कौटिल्य ने आन्वीक्षिकी-विद्या के अन्दर वैशेषिक का उल्लेख नही किया है इसलिए यह कहा जाता है कि इस दर्शन का निर्माण सूत्ररूप मे ३०० ई० पू०[3] के पश्चात् हुआ । ऐसा प्रतीत

१. प्रशस्तपाद कृत पदार्थधर्मसंग्रह, पृष्ठ २०० ।

२. वात्स्यायन ने वैशेषिकसूत्र से एक उद्धरण दिया है, जिसमे न्याय द्वारा किए गए अनुमान के 'पूर्ववत्' व 'शेषवत्' भेदों मे अभिज्ञता उपलब्ध नही होती । वैशेषिकसूत्र मे काल को परम कारण मानने का उल्लेख है (२ : २, ९ ; ५ : २, २६) और यही विचार श्वेताश्वतर उपनिषद् मे भी दिखाया गया है (१ : १, २), किन्तु विख्यात दर्शनो मे से एक ने भी इसे नहीं अपनाया है । आत्मविषयक समस्या पर भी वैशेषिक इसके अस्तित्व को सिद्ध करने का प्रयत्न नहीं करता, बल्कि उसकी रुचि अधिकतर इस विवेचन में है कि आत्मा अनुमान का विषय है अथवा साक्षात् अन्तर्दृष्टि का । बादरायण ने ब्रह्मसूत्र (२ : २, ११) में परमाणुवाद का उल्लेख किया है, और कणाद ने अविद्या तथा प्रत्यगात्मन जैसे वेदान्त के पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग किया है, और जब वह बलपूर्वक यह प्रतिपादन करता है कि आत्मा की सिद्धि केवल श्रुति से ही नहीं होती और शरीर तीन या पांच तत्त्वों से मिलकर नहीं बना है (वैशेषिकसूत्र, ३ : २, ९ ; ४ : २, २-३), तो उसकी दृष्टि मे वेदान्त की प्रकल्पना होती है । यदि हम टीकाकारों पर विश्वास करें तो वैशेषिकसूत्र मीमांसा तथा सांख्य के ज्ञान की पूर्वकल्पना करता है । देखिए वैशेषिकसूत्र, २ : १, २० ; ३ : १, १-२ ; ५ : २, १९-२० ; ७ : २, ३-८ ; ७ : २, १३ ; ९ : २, ३ । वसुमित्रकृत 'अभिधर्ममहाविभाषाशास्त्र' मे पांच प्रकार के कर्मों का उल्लेख है । चरक द्वारा किये गये वैशेषिक के प्रति संकेत हमारे लिए अधिक सहायक नहीं है । नागार्जुन ने अपने 'प्रज्ञापारमिताशास्त्र' में वैशेषिक की उस प्रकल्पना का उल्लेख किया है जिसके अनुसार काल एक अपरिवर्तनशील यथार्थसत्ता है, जो एक कारण से संबद्ध है (वैशेषिकसूत्र, २ : २, ७-९ ; ५ : २, २६ ; ७ : १, २५) । देश, परमाणु और आत्मा के विषय में किए गए उसके उल्लेख यह संकेत करते है कि वह वैशेषिकसूत्र से अभिज्ञ था, और उसने वस्तुतः अनेक सूत्र उद्धृत भी किए हैं, जैसे आत्मा के स्वरूप के सम्बन्ध में ३ : २, ४ और ३ : १, २ ; परमाणु-विषयक प्रकल्पना के विषय में, ४ : १, १ तथा ७ : १, १० ; तथा आणविक संघात के विषय में, ६ : २, १३ और ५ : २, १७-१८ । आर्यदेव वैशेषिकसूत्र से अभिज्ञ है, और हरिवर्मन सूत्र निर्माण के पश्चात् हुए वैशेषिक दर्शन के विकास को जानता है । देखिए यूई कृत वैशेषिक फिलासफी, ४६-५५ ।

३. डा० दासगुप्त का सुझाव है कि वैशेषिक, जैसीकि इसकी व्याख्या कणाद के सूत्र में की गई

होता है कि कणाद के सूत्रों में पीछे कुछ अंश समय-समय पर जुड़ते चले गए।[1] कुछेक सूत्र कणाद के उक्त ग्रन्थ में ऐसे भी मिलते हैं जिनपर भाष्यकार प्रशस्तपाद ने भाष्य नहीं किया। इससे यह संकेत मिलता है कि जिस समय प्रशस्तपाद ने वैशेषिकसूत्र पर भाष्य लिखा, वे सूत्र उसमें सम्मिलित नहीं थे। जहाँ कणाद ने केवल तीन ही पदार्थों का वर्णन किया,[2] प्रशस्तपाद ने उनमें तीन और जोड़ दिये और उसमें भी आगे चलकर अभाव नाम का एक पदार्थ और जोड़ दिया गया। कणाद की सूची में प्रशस्तपाद द्वारा सात गुण और जोड दिए गए हैं।[3]

प्रशस्तपादकृत पदार्थधर्मसंग्रह, सूत्र पर अधिकांश भाष्य न होकर उसी विषय का एक महत्त्वपूर्ण स्वतन्त्र ग्रन्थ है। इस मत की रक्षा करना कि प्रशस्तपाद के परिपक्व विचार कणाद के ग्रन्थ में दिए गए सुझावों का केवल विकासमात्र है, कठिन है।[4] प्रशस्तपाद द्वारा चौबीस गुणों का विवरण, सृष्टि की रचना और उसके संहार का सिद्धान्त, हेत्वाभासों का कथन तथा अनुमान का स्वरूप कणाद के ग्रंथ में निश्चितरूप से जोड़े गए हैं। वह न्यायदर्शन द्वारा अत्यधिक प्रभावित था और वात्स्यायन के पीछे हुआ था। उसका काल चौथी शताब्दी के अन्त में रखा जा सकता है।[5]

है, मीमांसा की किसी प्राचीन शाखा को प्रस्तुत करता है (हिस्टरी आफ इण्डियन फिलासफी, पृष्ठ २८०-८५)। यह युक्ति कि वैशेषिकसूत्र का प्रारम्भ धर्म की व्याख्या करने के लक्ष्य की घोषणा से होता है और समाप्ति इस समाश्वासन के साथ होती है कि वैदिक कर्म अदृष्ट की शक्ति से सुख-समृद्धि की ओर ले जाते हैं, निर्णायक नहीं है, क्योंकि धर्म-सम्बन्धी विवेचन तथा आग्रह के विषय में किसी एक दर्शन का एकाधिकार नहीं माना जा सकता। वैशेषिक तथा मीमांसा के मध्य जो भेदपरक विषय हैं उनके समाधान का प्रयत्न संतोषजनक नहीं माना जा सकता। कणाद का मत है कि वेद ईश्वर के रचित नहीं, बल्कि ऋषियों के रचित ग्रन्थ हैं (२ : १, १८ ; ६ : १, १–२), जबकि मीमांसा का दृढ निश्चय है कि वेद नित्य हैं, जिन्हें परवर्ती विकास नहीं माना जा सकता। शब्द की नित्यता तथा वेदों की नित्यता इन दोनों सिद्धान्तों का परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है। विचारों तथा पारिभाषिक शब्दों में समानता रहते हुए भी यह कहना कठिन है कि वैशेषिक मीमांसा की एक शाखा है।

१. फैडिगन, 'दि वैशेषिक सिस्टम', पृष्ठ १०–११।

२. वैशेषिकसूत्र, ८ : २, ३। अर्थ इति द्रव्यगुणकर्मसु (१ : १, ४), जो छः पदार्थों का प्रतिपादन करता है, पीछे से जोड़ा गया कहा जाता है।

३. और देखिए वैशेषिकसूत्र, १ : १, ४ ; १ : १, ६ ; १ : २, ३।

४. देखिए दासगुप्त : 'हिस्टरी आफ इण्डियन फिलासफी', खण्ड १, पृष्ठ ३५१; 'इण्डियन लौजिक एण्ड एटोमिज़्म', पृष्ठ २५ और ९३; यूई, 'वैशेषिक फिलासफी', पृष्ठ १७, टिप्पणी ३। "लगभग सब विलक्षण सिद्धान्त, जो परवर्ती वैशेषिकों को नैय्यायिकों तथा अन्य शाखाओं से पृथक करते थे, प्रशस्तपाद के ग्रन्थ में पाए जाते हैं और वे कणाद के सूत्र में अनुपलब्ध हैं। द्वित्व, पाकजोत्पत्ति, विभागज विभाग और ऐसे ही अन्य अनेकों सिद्धान्तों को, जिन्हें वैशेषिक दर्शन की विलक्षणताएं माना गया है, कणाद के सूत्रों में छुआ भी नहीं गया है, यद्यपि प्रशस्तपाद के भाष्य में उनपर खूब अच्छी तरह विचार-विमर्श किया गया है।" (बोडास : तर्कसंग्रह, पृ० ३७)।

५. कीथ ने दिङ्नाग की पूर्ववर्तिता तथा प्रशस्तपाद के उसके प्रति तार्किक सिद्धान्त के नाना विषयों

प्रशस्तपाद के ग्रन्थ के आधार पर निर्मित एक वैशेषिक पुस्तक चन्द्रकृत दशपदार्थशास्त्र है, जो चीनी भाषा में अनूदित होकर सुरक्षित है। (६४८ ई०)। किन्तु भारत की विचारधारा के विकास पर इसका प्रभाव नही हुआ।[1] रावण-भाष्य तथा भारद्वाजवृत्ति,[2] जिन्हे वैशेषिक की टीकाए बताया जाता है, उपलब्ध नही है। प्रशस्तपाद के ग्रन्थ पर चार टीकाए लिखी गई है। जो ये है—व्योमशेखरकृत 'व्योमवती', श्रीधरकृत 'न्यायकन्दली', उदयनकृत 'किरणावली' (दसवी शताब्दी) और श्रीवत्सकृत 'लीलावती'[3] (ग्यारहवी शताब्दी)। अन्य तीनो की अपेक्षा व्योमवती पूर्ववर्ती है।[4] श्रीधर की न्यायकन्दली ९९१ ई० मे लिखी गई और टीकाकार कुमारिल, मण्डन तथा धर्मोत्तर के विचारो से परिचित है। लीलावती तथा किरणावली सम्भवत न्यायकन्दली के तुरन्त बाद लिखी गई। श्रीधर तथा उदयन दोनो ही ईश्वर के अस्तित्व तथा अभाव नामक पदार्थ को स्वीकार करते है। शिवादित्यकृत सप्तपदार्थी ग्रन्थ भी इसी काल का है।[5] यह न्याय तथा वैशेषिक के सिद्धान्तो को एक ही पूर्ण इकाई के भागो के रूप मे प्रस्तुत करता है। यह पदार्थो की व्याख्या से प्रारम्भ होता है और न्याय के तर्क को ज्ञान के गुण के रूप मे ग्रहण करता है। लौगाक्षि भास्करकृत तर्ककौमुदी एक और सहविवादपरक ग्रन्थ है जिसका आधार प्रशस्तपाद की पुस्तक है। वैशेषिकसूत्र पर शङ्करमिश्रकृत 'उपस्कार' तथा और ग्रन्थ भी कुछ

म [illegible] होने के सम्बन्ध में एक [illegible] किया है (उगि [illegible], पृष्ठ ९३–११०)। उसके [illegible] 'वैशेषिक [illegible]', पृष्ठ [illegible]। शङ्कर और उद्योतकर प्रशस्तपाद के [illegible] यदि [illegible] भी कर ले, तो भी वह उद्योतकर के पूर्व और दिङ्नाग के पश्चात् [illegible], और [illegible] शताब्दी में विद्यमान था। यदि छः पदार्थो के सिद्धान्त को प्रतिपादन करने [illegible] दिया जा [illegible] तो वह वात्स्यायन का पूर्ववर्ती अथवा कम से कम उसका समकालीन [illegible] (२५ [illegible] ई०) और परमार्थ (४९९–५६९ ई०) प्रशस्तपाद [illegible]। देखिए [illegible] : वैशेषिक फिलासफी, पृष्ठ १८।

१. यूई के अनुसार, [illegible] छठी शताब्दी में हुआ। जैसा कि [illegible] इसमे दस पदार्थो का प्रतिपादन किया गया है। और [illegible] सामान्य-विशेष और अभाव। ईश्वर का [illegible] इस ग्रन्थ पर [illegible] टीकाएं लिखी हैं।

२. देखिए 'रत्नप्रभा', २ : २, ११। [illegible], पृष्ठ ६०। भारद्वाजवृत्तिभाष्य, जिसे गङ्गाधर ने सम्पादित किया है (कलकत्ता, [illegible]), [illegible] में प्रमाणित है, और इसमें कितने ही महत्त्वपूर्ण परिवर्तन किए गए हैं। देखिए फ़ैडीगनकृत 'दि वैशेषिक सिस्टम', पृष्ठ ३५–४०।

३. उपनाम वल्लभ।

४. सप्तपदार्थी के घाटे के संस्करण की प्रस्तावना देखिए।

५. शिवादित्य उदयन के पीछे हुआ तथा गङ्गेश से पहले हुआ, क्योंकि गङ्गेश उसके मत से परिचित है।

महत्त्व की है।[1] विश्वनाथ (सत्रहवीं शताब्दी) अपने 'भाषापरिच्छेद' तथा उसपर 'सिद्धान्तमुक्तावली' नामक टीका में कणाद की योजना का विवेचन करता है। वह नव्यन्याय द्वारा पर्याप्त मात्रा मे प्रभावित हुआ था। अन्नंभट्ट के ग्रन्थ, जगदीशकृत तर्कामृत (१६३५ ई०) तथा जयनारायणकृत 'विवृत्ति' (सत्रहवी शताब्दी) वैशेषिक सिद्धान्तों के उपयोगी संक्षिप्त संग्रह हैं। विवृत्ति यद्यपि 'उपस्कार' पर आधारित है, तो भी कुछ विषयों मे इससे मतभेद रखती है।[2]

ज्ञान का सिद्धान्त

वैशेषिक के तर्क तथा न्याय के तर्क मे थोड़ा-सा ही भेद है। ज्ञान, जोकि तर्क की विशेष समस्या है, नानाविध आकृतियां को धारण कर लेता है, क्योंकि इसके प्रमेय विषय अनन्त हैं।[3] प्रामाणिक ज्ञान के चार प्रकार स्वीकार किए गए हैं, जो ये हैं: प्रत्यक्ष, लैङ्गिक (अनुमान), स्मृति, तथा अन्तर्दृष्टिजन्य ज्ञान (आर्षज्ञान)। प्रत्यक्ष के द्वारा हम द्रव्यों, गुणों, कर्मों तथा सामान्यताओं का बोध प्राप्त करने के योग्य होते हैं। ठोस द्रव्य, जो हिस्सों से बनते हैं, प्रत्यक्ष ज्ञान की पहुंच के अन्दर हैं, किन्तु परमाणु तथा द्व्यणुक नहीं हैं। वैशेषिक योगियों के प्रत्यक्ष को स्वीकार करता है जिसके द्वारा आत्मा का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है।[4] वैशेषिक उपमान, ऐतिह्य (परम्परा) तथा शाब्द ज्ञान को अनुमान के अन्तर्गत रखता है। शास्त्रीय वचनों की प्रामाणिकता वक्ताओं की प्रामाणिकता के अनुमान मे है।[5] न्याय की भांति, वैशेषिक भी मीमांसा के शब्द की नित्यता तथा वेदों की नितान्त प्रामाणिकता के सिद्धान्त का प्रत्याख्यान करता है।[6] जहां न्याय वेदों की प्रामाणिकता को ऋषियों के साक्षात् ज्ञान के आधार पर रखता है, जिन्होंने नित्य सत्यों तथा विधानों को समझ लिया है वहां वैशेषिक उनकी प्रामाणिकता का अनुमान ईश्वरीय प्रेरणाप्राप्त ऋषियों के सर्वथा निर्भ्रान्त याथार्थ्य के आधार पर करता है। धर्मशास्त्र हमे केवल कल्पनामात्र नहीं, अपितु यथार्थ ज्ञान प्रदान करते हैं। यह वस्तुओं का जैसी वे हैं उस रूप मे ज्ञान है और इस अर्थ मे इसका आदि नहीं है, यद्यपि इसका ज्ञान सदा साक्षात् (बिना किसी व्यवधान के) होता है और कुछ व्यक्तियों को पूर्ण-रूप मे तथा कुछ को आंशिक रूप मे होता है। योग्यतर मनों ने सत्यों का ज्ञान ग्रहण किया और उसे हम तक पहुंचाया। वेदों की वाक्यरचना को देखकर यह समझा जा सकता

१. यह एक ऐसी वृत्ति का उल्लेख करता है (देखिए, १ : १, २ : १ : २, ४, ६; ३ : १,
१७ ४ : १, ७; ६ : १, ५, १२; ७ : १, ३), जिसका पता नहीं चल सका।

२. देखिए विशेषकर, १ : १, ४, -५; २ , २, ५; ६ : १, ८।

३. प्रशस्तपादकृत पदार्थधर्मसंग्रह, पृष्ठ १७२।

४. वैशेषिकसूत्र, ६ : १, ११–१५।

५. प्रशस्तपादकृत पदार्थधर्मसंग्रह, पृष्ठ २१२ से आगे।

६. ६ : १, ३।

७. वैशेषिकसूत्र, २, : २, २१–३७; ६ : १, १ से आगे। न्यायसूत्र, २ : २, १३–४०।

है कि इनके रचयिता अवश्य मेधावान् व्यक्ति रहे होंगे। और उनको स्वर्ग तथा अदृष्ट (नियति) का पूर्ण और सही-सही ज्ञान भी अवश्य था। शनैः-शनैः ईश्वर को ही वेदों का रचयिता माना जाने लगा। "वेदों की प्रामाणिकता इसके ईश्वर की वाणी होने के कारण है।"[1] शब्दो तथा वाक्यों के अर्थों का ज्ञान पहले होना आवश्यक है, अन्यथा इसके बिना ज्ञान की प्राप्ति नही हो सकती। क्योंकि अर्थों का ज्ञान निर्भर करता है व्यापक सहवर्तित्व की प्रत्यभिज्ञा पर, इसलिए शाब्दिक ज्ञान अनुमान का विषय है।[2] चेष्टा,[3] अर्थापत्ति,[4] सम्भव[5] तथा अभाव,[6] ये सब अनुमान प्रमाण के अन्तर्गत आते है। स्मृति को स्वतन्त्र स्थान दिया गया है।[7] आर्षज्ञान ऋषियो की अन्तर्दृष्टि है। यदि स्मृति को छोड़ दिया जाए, क्योकि यह केवल उसी अनुभव को दोहराती है जो हमे पहले हो चुका है, और यदि अन्तर्दृष्टिजन्य ज्ञान को प्रत्यक्ष के अन्तर्गत मान ले, तो वैशेषिक के अनुसार हमारे पास ज्ञान के केवल दो ही साधन रह जाते है, अन्तर्दृष्टि और अनुमान।[8]

मिथ्याज्ञान के चार भेद किए गए है और वे ये है . संशय, विपर्यय, अनध्यवसाय और स्वप्न। शिवादित्य इन चारो को एक-दूसरे मे सन्निविष्ट करके केवल दो ही भेद रखता है, अर्थात् संशय और भूल। ऊहा, निर्विकल्प ज्ञान तथा पराश्रित तर्क को वह संशय के अन्तर्गत रखता है।[9] श्रीधर स्वप्न का पृथक् रूप से वर्णन करने के औचित्य का समर्थन इस आधार पर करता हे कि स्वप्न शरीर की एक अवस्था-विशेष मे ही आते है।[10]

पदार्थ

जैसाकि हम पहले देख चुके है, कुछ शताब्दियो तक बौद्धदर्शन के दृष्टिकोण ने, जो वस्तुओं की व्याख्या उनके परिमाणो को लेकर तथा प्रत्येक वस्तु की व्याख्या उसके पूर्वापर सम्बन्ध से करता था, एवं सभी स्थानो पर आत्मनिर्भरता का खण्डन करता था, इस देश की विचारधारा पर आधिपत्य जमा रखा था। उसके अनुसार हरएक वस्तु का अपना अस्तित्व केवल पारस्परिक सम्बन्ध के कारण है तथा कोई भी वस्तु निरपेक्ष रूप में अपना अस्तित्व नही रखती। क्योकि सम्बन्ध ही जीवन की सामग्री अथवा मूल तत्त्व

१. तद्वचनादाम्नायस्य प्रामाण्यमिति (१० : २, ९)। और देखिए न्यायकन्दली, पृष्ठ २१६, और वैशेपिकसूत्र, ६ : १, १-४।

२. ३ : १, ७-१५। ३. प्रशस्तपादकृत पदार्थधर्मसंग्रह, पृष्ठ २२०।

४. प्रशस्तपादकृत पदार्थधर्मसंग्रह, पृष्ठ २२३।

५. प्रशस्तपादकृत पदार्थधर्मसंग्रह, पृष्ठ २२५; वैशेषिकसूत्र, ६ : २, ५।

६. वही।

७. प्रशस्तपादकृत पदार्थधर्मसंग्रह, पृष्ठ २५६।

८. सर्वसिद्धान्तसारसंग्रह, ५ : ३३।

९. सप्तपदार्थी, ३२। १०. न्यायकन्दली, पृष्ठ १८५।

है, इसलिए आत्मा और प्रकृति भी केवल सम्बन्धो के संकलन है। वैशेषिक ने उक्त मत का विरोध किया और एक अधिक सन्तोषजनक योजना हमारे समक्ष प्रस्तुत की, जो यथार्थता का दृष्टि से अधिक युक्तियुक्त प्रतीत होती है। यह आनुभविक चेतनता पर आश्रित है जो आदि तथा अन्त मे यथार्थ तथा पृथक्-पृथक् वस्तुओ से सम्बन्ध रखती है। सबसे अधिक सरल तथा विस्तृत यथार्थता पदार्थ तथा उनके आन्तरिक सम्बन्ध है। आख खोलते ही हम अपने आगे एक विस्तृत भौतिक जगत् को पाते है जिसमें भिन्न-भिन्न वस्तुए तथा उनकी व्यवस्थाए भी भिन्न-भिन्न प्रकार की है, जिनपर विचार अपना कार्य कर सकता है। और जब हम अन्दर की ओर देखते है तो हमे एक अभौतिक जगत् का अनुभव होता है जिसकी परिभाषाए और सम्बन्ध अपने है। निर्दोष दर्शनपद्धति की माग है कि हम अपने ध्यान को अनुभव-सिद्ध पदार्थो पर ही केन्द्रित करे, जो ज्ञान के विषय है, और केवल ऐसी ही प्रकल्पनाओ को स्वीकार करे जो हमारी अनुभवगम्य व्यवस्था की व्याख्या के सम्बन्ध मे अनिवार्य प्रतीत हो। विश्लेषणात्मक सर्वेक्षण एक परिशुद्ध दर्शनपद्धति की सबसे प्रथम आवश्यकता है, और वैशेषिक के विश्लेषण के परिणाम पदार्थो के सिद्धान्त मे निहित है।

पदार्थ का यौगिक अर्थ है– शब्द का अर्थ। पदार्थ एक ऐसा प्रमेय विषय है जिसके विषय मे विचार (अर्थ) किया जा सकता है तथा जिसको नाम (पद) दिया जा सकता है। सब वस्तुए जिनका अस्तित्व है, जिनका बोध हो सकता है तथा जिन्हे नाम[1] दिया जा सकता हे, सक्षेप मे, केवल भौतिक जगत् की वस्तुए ही नही, बल्कि अनुभव[2] मे आनेवाले सब प्रमेय विषय पदार्थ है। न्यायशास्त्र मे वर्णित सोलह पदार्थ विद्यमान वस्तुओ के विश्लेषण नही है, बल्कि तार्किक विज्ञान के मुख्य विचार-विषयो की एक तालिका है। परन्तु वैशेषिक के पदार्थ प्रमेय पदार्थो के पूर्ण विश्लेषण का प्रयत्न करते है।

वैशेषिक के पदार्थो मे केवल वही वस्तुए समाविष्ट नही है जो अन्य की विधेय हो, बल्कि वे उद्देश्य भी आ जाते हे जिनके विषय मे कुछ विधान किया जा सके। अरस्तू के पदार्थ केवल विधेयो का तार्किक वर्गीकरण है, सब विचारणीय विषयो का आध्यात्मिक वर्गीकरण नही हे। वैशेषिक विचारक, अरस्तू के समान ही, नाम और वस्तु के घनिष्ठ सम्बन्ध से अभिज्ञ थे। यद्यपि अरस्तू ने शब्दो का वर्गीकरण किया है, पर वह वस्तुओ का भी वर्गीकरण हो जाता है, क्योकि जिसको भी पृथक् नाम दिया जा सके वही वस्तु है। "वाक्य-रचना के बिना उच्चारण किए गए शब्दो, अर्थात् अकेले शब्दों, में से प्रत्येक शब्द द्रव्य अथवा परिमाण अथवा गुण अथवा सम्बन्ध अथवा देश अथवा काल अथवा प्रवृत्ति (अर्थात् रुख अथवा आन्तरिक व्यवस्था) अथवा उपकरण अथवा कर्म अथवा कर्म-भोग का वाचक होता है।"[3] इन दस पदार्थों मे से पिछले नौ किसी अन्य वस्तु के विधेय हे, जबकि पहला अर्थात् द्रव्य उद्देश्य है। यह किसी वस्तु का विधेय

१. अस्तित्व, अभिधेयत्व, ज्ञेयत्व (प्रशस्तपादकृत पदार्थधर्मसंग्रह, पृष्ठ १६)।
२. प्रमितिविषयाः पदार्थाः (सप्तपदार्थी, पृष्ठ २)।
३. अरस्तूकृत 'कैटिगरीज', २ : ६; मिण्टोकृत 'लाजिक', पृष्ठ ११३।

नही बन सकता, यहा तक कि अपना भी नही, क्योकि उस अवस्था मे यह द्रव्य न रह-कर एक गुण (विशेषण) बन जाएगा। किन्तु अरस्तू को शब्द के उक्त प्रयोग के लिए कोई विशेष आग्रह नही है। साधारण बोलचाल की भाषा से ही उसने अपने वर्गीकरण का निर्णय किया है, और शब्दो मे वे है जो किसी ठोस व्यक्ति-रूप पदार्थ के सार के द्योतक है। जब द्रव्य एक ठोस व्यक्ति-रूप पदार्थ होता है तो हम प्रश्न करते है कि "यह क्या है ?" और उत्तर मे कहा जाता है कि एक घोडा या गाय है जिसे अरस्तू द्रव्य कहता है, किन्तु वस्तुत: यह गुण है।[1] वह पहले और दूसरे द्रव्यो मे भेद करता है, तथा अपनी सम्मति प्रकट करता है कि पहले द्रव्यो का प्रयोग विधेय के रूप मे नही होता। तार्किक उद्देश्य को विधेयो के वर्गीकरण मे सम्मिलित करना यह प्रदर्शित करता है कि अरस्तू का आशय यह था कि उसकी पदार्थो की तालिका मे अस्तित्व के नाना प्रकारो का भी समावेश रहे। अरस्तू की तालिका मे वे द्रव्य तथा गुण मिलते है जो या तो स्थायी है या अस्थायी है। लगभग सभी टीकाकार इसमे सहमत है कि सम्बन्ध नामक पदार्थ मे उसकी योजना के अन्तिम छ भी सम्मिलित समझे जाने चाहिए। इस-लिए हम द्रव्य तथा गुण को वे अस्थायी हो या स्थायी, और सम्बन्ध को भी पूर्ण सार-गर्भित समझ सकते है।

वैशेषिक ने पदार्थो के वर्गीकरण को छ प्रकार का बनाया है जिसके अनुसार द्रव्य गुण कर्म सामान्य, विशेष और समवाय ये छः पदार्थ हुए। इनके साथ सातवा पदार्थ अभाव परवर्ती वैशेषिको यथा श्रीधर, उदयन और शिवादित्य, ने जोड दिया है।[2] पदार्थो की गणना मे अभाव को समाविष्ट करने का तात्पर्य यह हुआ कि तात्त्विकीय योजना का परिवर्तन ज्ञानवाद-सम्बन्धी योजना मे हो गया है। हमारी धारणाए ही विध्यात्मक अथवा निषेधात्मक होती है, वस्तुए जो विद्यमान है, नही होती। प्रारम्भिक अवस्थाओ मे वैशेषिक ने ऐसे सामान्य लक्षणो को जानने का प्रयत्न किया जो समस्त अस्तित्व पर लागू हो सकें, किन्तु शीघ्र ही उसने अपना ध्यान धारणाओ के स्वरूप की ओर दिया और जिज्ञासा प्रकट की कि कौनसी धारणाए सत्य है और कौनसी नही। कोई वस्तु है, किसी वस्तु की सत्ता है, यही वैशेषिक दर्शन की प्रथम स्थापना है। किन्तु कोई भी वस्तु केवल सत् ही नही हो सकती। यदि हम केवल सत्ता पर ही आकर ठहर जाए और आगे बढने का विचार छोड दें, तो जैसाकि हेगल ने हमे बताया है, हमारे समक्ष केवल शून्यमात्र रह जाता है, और 'किसी वस्तु का अस्तित्व है' इस प्रथम सिद्धान्त तक को भी छोडना पडेगा। इसलिए हमे उक्त सिद्धान्त को आगे बढाना होगा और यह कहना होगा कि कोई वस्तु इसलिए है क्योकि उसमे केवल सत्ता के अतिरिक्त

१. तुलना कीजिए ग्रोट से : "एक व्यक्तिवाचक संज्ञा विशेषण नहीं बन सकती, किन्तु विधेय उसका विशेष्य होना आवश्यक है" (ग्रोट, भाग २, पृष्ठ [illegible])।

२. प्रशस्तपाद केवल छः पदार्थों का प्रतिपादन करता है। [illegible] शिवादित्य के समय तक स्थापित हो चुकी थी, जैसाकि उसके 'सप्तपदार्थी' नामक ग्रन्थ के शीर्षक से प्रकट होता है। शंकर और हरिभद्र (षड्दर्शनसमुच्चय, ६०) वैशेषिक के अन्दर छः पदार्थ ही बताते हैं। देखिए, शांकरभाष्य, २ : २, १७; और यूई कृत वैशेषिक फिलासफी, पृष्ठ १२६।

कुछ विशेष गुण हैं। यदि किसी वस्तु का अस्तित्व है तो केवल इसलिए है क्योंकि उसमें कुछ गुण है। द्रव्य सत्तावान् है और उनमें गुण हैं। गुण दो प्रकार के हैं, एक वे जो बहुत पदार्थों में रहते हैं और दूसरे वे जो व्यक्तिगत पदार्थों में रहते हैं। प्रथम श्रेणी के सामान्य गुण हैं और दूसरी श्रेणी के स्थायी गुण तथा अस्थायी कर्म हैं। समवाय एक विशेष प्रकार का सम्बन्ध है।[1]

पहले तीन पदार्थों अर्थात् द्रव्य, गुण और कर्म में यथार्थ पदार्थ-विषयक अस्तित्व है।[2] कणाद उन्हें अर्थ की संज्ञा देता है और योग-सम्बन्धी अन्तर्दृष्टि के विषय का प्रतिपादन करते हुए कहता है कि हमें उनका ज्ञान अन्तर्दृष्टि के द्वारा हो सकता है।[3] अन्य तीन, अर्थात् सामान्य, विशेष और समवाय बौद्धिक भेद से उत्पन्न होते हैं, अर्थात् बुद्धि की अपेक्षा रखते हैं।[4] ये तार्किक द्रव्य हैं। प्रशस्तपाद का कहना है कि वे अपने एकमात्र सत्त्व को अपने अन्दर धारण करते हैं – अर्थात् स्वात्मसत्त्व हैं। बुद्धि उनकी मार्गदर्शक है (बुद्धिलक्षणत्व)। वे कार्य नहीं हैं, कारण नहीं हैं तथा उनमें सामान्य अथवा विशेषत्व भी नहीं है। वे नित्य हैं और उन्हें वस्तु शब्द से व्यक्त नहीं किया जा सकता (अर्थशब्दानभिधेयत्व)।[5] पिछले तीन पदार्थों के याथार्थ्य का प्रमाण तार्किक कहा जाता है।[6] यह इस विषय का उपलक्षण है कि इनका प्रत्यक्ष बोध नहीं हो सकता। यह एक

१. वैशेषिक के द्रव्य और गुण अरस्तू के द्रव्य और गुण के अनुरूप हैं। अरस्तू की संख्या को गुण के अन्तर्गत मान लिया गया है। सम्बन्ध दो प्रकार के हैं : बाह्य जैसे 'संयोग' अथवा आभ्यन्तर जैसे 'समवाय'। पहले को गुण के रूप में माना गया है और दूसरे को एक पृथक् पदार्थ समझा गया है। शेष पदार्थ सम्बन्ध के अन्दर आते हैं, जबकि देश और काल को स्वतन्त्र द्रव्य के रूप में माना गया है। क्रियाशीलता कर्म है, जबकि निष्क्रियता केवल कर्म का अभाव है। गुण (धर्म) या तो सामान्य हो सकता है या विशिष्ट हो सकता है। अरस्तू एक गुण है, यदि अरस्तू एक निश्चित सिद्धान्त पर चलता तो वह इस प्रकार की सूची न देता : वस्तुएं, जिनमें स्थायी अथवा अस्थायी गुण विद्यमान हैं, देश और काल के सम्बन्धों में अपना अस्तित्व रखती हैं और वे सम्बद्ध हैं अन्य वस्तुओं के साथ पारस्परिक सम्बन्धों के एक विस्तृत जाल में, और उस अवस्था में द्रव्य, गुण, कर्म और सम्बन्ध ही मुख्य शीर्षक रह जाएंगे। अरस्तू के विश्लेषण के दूषित रूप को स्टोइक लोगों ने तथा नियोप्लेटोनिक लोगों ने लक्ष्य किया। कांट के विचार में अरस्तू पदार्थों को, जैसे-जैसे वे उसके आगे आते गए, केवल नोट करता गया। हेगल का कहना है कि अरस्तू ने उन्हें किसी न किसी प्रकार एकत्र कर दिया। मिल तो एक प्रकार से दोषदर्शी की दृष्टि से कहता है कि अरस्तू की सूची इस प्रकार की है "जैसेकि जन्तुओं का विभाग मनुष्यों, चौपायों, घोड़ों, गधों और टट्टुओं में कर दिया जाए।" तुलना कीजिए वैशेषिक योजना को जैनियों के विभागीकरण के साथ, जिन्होंने सब वस्तुओं को द्रव्यों, गुणों तथा रूप-परिवर्तनों में विभक्त किया है (भारतीय दर्शन, प्रथम खण्ड, पृष्ठ ३०७ से आगे, और 'उत्तराध्ययन', प्रथम भाग, सेक्रेड बुक्स आफ दि ईस्ट, जिल्द ४५)। प्राचीन मीमांसकों ने शक्ति और सादृश्य को पदार्थ के रूप में स्वीकार किया है। उदयन ने इनका तथा संख्या का निषेध किया है। देखिए 'किरणावली', पृष्ठ ६; 'सप्तपदार्थी', पृष्ठ १०; 'न्यायकन्दली', पृष्ठ ७, १५, १४४ से आगे।

२. वैशेषिकसूत्र, १ : २, ७ ; ८ : २, ३ ; प्रशस्तपादकृत पदार्थधर्मसंग्रह, पृष्ठ १७।

३. वैशेषिकसूत्र, ६ : १, १४।

४. १ : २, ३।

५. प्रशस्तपादकृत पदार्थधर्मसंग्रह, पृष्ठ १६; वैशेषिक सूत्र, १ : २, ३–१०, १२, १४, १६ ; ७ : २, २६।

६. बुद्धिरेव लक्षणं प्रमाणम्। 'न्यायकन्दली', पृष्ठ १६।

ऐसा विचार है जिसमें उस समय परिवर्तन हुआ जबकि न्याय और वैशेषिक के सिद्धान्त परस्पर मिश्रित हो गए। प्रारम्भिक वैशेषिक मे जहां सब पदार्थों में सामान्य रूप में अस्तित्व का लक्षण मिलता है,[1] वहा दो प्रकार के अस्तित्व में भेद किया जाता है—सत्ता-सम्बन्ध द्रव्यों, गुणों तथा कर्मों में रहता है और स्वात्मसत्त्व सामान्य, विशेष और समवाय में रहता है।[2] उदयन ने अपनी 'किरणावली' मे सत्ता-सम्बन्ध को समवाय-सम्बन्ध से रहनेवाला बतलाया है और 'स्वात्मसत्त्व' को आत्मनिर्भर अस्तित्व कहा है जो समस्त अस्तित्व से स्वतन्त्र है। शंकरमिश्र अधिक सहायक है, क्योंकि अपने 'उपस्कार' मे वह सत्ता-सम्बन्ध की व्याख्या करते हुए उसे विनाश के योग्य तथा अपने स्वभाव से कार्यों को उत्पन्न करने की क्षमता रखनेवाला बतलाता है। यह देश और काल से बद्ध अस्तित्व को वर्णन करने की एक पारिभाषिक विधि प्रतीत होती है। स्वात्मसत्त्व अथवा आत्मनिर्भर अस्तित्व देश और काल से स्वतन्त्र है और इसीलिए कालाबाधित पदार्थों में इसका समावेश है। यद्यपि ये दूसरे अपकर्षण की उपज है, पर इन्हे स्वय वस्तुओं की भी अपेक्षा, जिनके कि ये अपकृष्ट भाव है, अधिक यथार्थ समझा जाता है। वैशेषिक सामान्य, विशेष और समवाय इन तीन पदार्थों के कालाबाधित तथा कार्यकारण-विहीन स्वरूप पर बल देता है, और हमे सावधान करता है कि हम अपकर्षण के निष्कर्षों को देश और काल मे संयुक्त करने की स्वाभाविक प्रवृत्ति से दूर रहे।

द्रव्य

वह पदार्थ जिसके द्वारा वैशेषिक अपने को निश्चित रूप से अन्य सब आदर्शवादी दर्शन-पद्धतियों के मुकाबले मे खडा करता है, द्रव्य है। विचार न करनेवाले साधारण व्यक्ति भी स्वीकार करते है कि द्रव्य है। बाह्य जगत् मे पदार्थ हमारे समक्ष यथार्थ रूप में आते हैं। वे वर्तमान वास्तविकताएं होती है और अपने लिए अपना निजी अस्तित्व रखती हैं। द्रव्य उन वस्तुओं के अपने अस्तित्व के स्वरूप को, जो यहा विद्यमान है, जतलाता है। जिसे हम अस्पष्ट रूप मे मन् कहते है, वह वस्तुओं की एक शृंखला के अतिरिक्त और कुछ नहीं है जो विविध प्रकार के देश और काल की उपाधियों से आबद्ध है तथा भिन्न-भिन्न गुणों द्वारा एक-दूसरे से पृथक् है। बौद्धों का यह मत कि द्रव्य अपने गुणो के अतिरिक्त और कुछ नहीं है, अथवा पूर्ण इकाई अपने अंशों के अतिरिक्त और कुछ नही है, अनुभव की कसौटी के विपरीत है।[3] यथार्थता हमारे समक्ष ऐसे द्रव्यों को प्रस्तुत करती है जिन्हे गुणों और अंशों से लक्ष्य किया जा सकता है। हम उस घड़े को जिसे हमने कल देखा था, पहचानने में समर्थ हैं। यदि घड़ा केवल संवेदनाओं की शृंखलामात्र होता[4] तो यह असम्भव होता। यह साधारण अनुभव का विषय है कि गुण ऐसे वर्गों में प्रकट

१. प्रशस्तपादकृत पदार्थधर्मसंग्रह, पृष्ठ ११।
२. प्रशस्तपादकृत पदार्थधर्मसंग्रह, पृष्ठ १६।
३. न्यायवार्तिक, १ : १, १३।
४. न्यायसूत्र, २ : १, ३०–३६।

होते है।जो स्वरूप में एक ही सदृश होते है और दूसरों से पर्याप्त मात्रा मे भिन्न रूप मे लक्ष्य किए जा सकते है । एक सेब सर्वदा एक ही वर्ग के गुण रखता है और एक ही प्रकार के वृक्ष पर बराबर लगता है । एक पुरातन सुरक्षित शव अथवा पर्वत का अबाधित नैरन्तर्य के साथ सहस्रो वर्षों मे रहनेवाला अस्तित्व सिवाय इस धारणा के कि द्रव्यों का अस्तित्व है जिनके अन्दर गुण समवाय-सम्बन्ध से रहते है, अन्य किसी प्रकार से समझ मे नही आ सकता । "वह जिसके अन्दर कर्म व गुण रहते है और जो सहास्तित्वयुक्त कारण है", द्रव्य है ।[1] यह गुणो का अधिष्ठान है ।[2] दूसरे पदार्थ गुणों से रहित है ।

वैशेषिक के मन मे द्रव्य गुणो से अतिरिक्त भी एक वस्तु है । जिस क्षण मे द्रव्य उत्पन्न होते है वे गुणो से रहित होते है ।[3] क्योकि यदि गुण द्रव्यो के साथ-साथ ही उदय होते तो उनके अन्दर कोई भेद न हो सकता । और यदि गुण उदय न हो तो द्रव्यो के गुणो से विहीन होने से द्रव्य की परिभाषा कि जिसमे गुण रहते है, सर्वथा निरर्थक हो जाएगी । इस कठिनाई को हल करने के लिए कहा जाता है कि द्रव्य गुणो का अधिष्ठान है, या तो समवाय-सबन्ध से अथवा पहले न होने (प्रागभाव) से, अर्थात् भविष्य मे होनेवाले अस्तित्व से । दूसरे शब्दों मे, द्रव्य गुणो का, जो वास्तविक अथवा सभाव्य है, वर्तमान अथवा भविष्य मे आनेवाले है, आधार है ।[4] वैशेषिक एक ऐसी वस्तु के अस्तित्व पर बल देने को उत्सुक है जो स्वय तो गुण नही किन्तु गुणो को धारण करती है । क्योकि हम द्रव्यो के विषय मे तो गुणो का विधान करते है किन्तु गुणो के विषय मे गुणों का विधान नही करते । और न हम यही कह सकते है कि हम एक गुण-समुदाय के एक विशेष गुण का विधान करते हैं । लेकिन क्योकि गुणो से अलग द्रव्य हमारे विचार का विषय नही हो सकता, इसलिए द्रव्य की परिभाषा करते समय हम कहते है कि द्रव्य वह है जो गुणो का अधिष्ठान है ।

नित्य तथा अनित्य द्रव्यो मे भी भेद किया जाता है । जो वस्तु अन्य किसी पर निर्भर करती है वह नित्य नही हो सकती । मिश्रित (अवयवी) द्रव्य अन्य पर निर्भर है और क्षणिक है : सरल (अमिश्रित) द्रव्यो मे नित्यत्व, स्वातन्त्र्य, तथा निरपेक्ष व्यक्तित्व के लक्षण पाए जाते है ।[5] उनकी न तो उत्पत्ति होती है और न विनाश ही होता है । अनित्य द्रव्य अपने से नही, बल्कि अपने से भिन्न किसी अन्य कारण से उत्पन्न होते है तथा नष्ट होते है ।[6]

पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, काल, देश, आत्मा और मन—ये नौ द्रव्य है, जिनके अन्दर समस्त शरीरधारी तथा अशरीरी वस्तुओ का समावेश हो जाता

१. १ : १, १५ ।
२. गुणाश्रयो द्रव्यम् ।
३. आद्ये क्षणे निर्गुणं द्रव्यं तिष्ठति ।
४. सिद्धान्तमुक्तावलि, ३ ।
५. नित्यत्व, अनाश्रितत्व, अन्त्यविशेषत्व (प्रशस्तपादकृत पदार्थधर्मसंग्रह, पृष्ठ २०–२१)
६. प्रशस्तपादकृत पदार्थधर्मसंग्रह, पृष्ठ २० ; न्यायकन्दली, पृष्ठ २० । देखिए । वैशेषिकसूत्र १ : १, ६–१०, १२, १५, १८ ; १० : २, १–२ ।

है।[१] वैशेषिक भौतिकवाद नहीं है, यद्यपि यह एक यथार्थवादी योजना है, क्योंकि यह अभौतिक द्रव्यों, यथा आत्मा, को स्वीकार करता है, और ठोस मूर्तरूप भौतिक द्रव्यों को नहीं, बल्कि उनके अतिसूक्ष्म रूप को यथार्थ मानता है। नौ द्रव्यों में से पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आत्मा और मन इनके अनेकों व्यक्तित्व हैं।[२] आत्मा को छोड़कर, ये सब विस्मृत होते हैं, दूर एवं समीप के सम्बन्ध रखते हैं, कर्म करने के योग्य है और गतिमान् हैं।[३] आकाश, काल और देश सर्वव्यापक हैं और बृहत्तम विस्तार रखते हैं और सब शरीरधारी वस्तुओं के एक समान पात्र हैं।[४] आत्मा और मन, आकाश काल और देश, वायु और अन्तिम परमाणु साधारणतः प्रत्यक्ष के विषय नहीं हैं।[५] मूर्त तथा भूत द्रव्यों में भी भेद किया गया है। प्रथम प्रकार के द्रव्यों का निश्चित विस्तार होता है[६], वे कर्म करते हैं और गति करते हैं। भूत द्रव्य, एकाकी रूप में अथवा परस्पर संयुक्त होकर, संसार में उत्पन्न पदार्थों के भौतिक कारण बनते हैं। मन यद्यपि परमाणु से बना है, पर वह अन्य किसी वस्तु को उत्पन्न नहीं करता। किन्तु आकाश सर्वव्यापक होते हुए भी शब्द को उत्पन्न करता है। पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु मूर्त हैं और उत्पादक भी हैं।[७]

आत्मा के विषय में वैशेषिक की प्रकल्पना वस्तुतः न्याय की प्रकल्पना के ही समान है। भेद केवल यही है कि आत्मा के प्रत्यक्ष ज्ञान को, जिसमें आत्मा ज्ञान का कर्ता भी है और विषय भी है, वैशेषिक ने स्वीकार नहीं किया।[८] उपमान इस विषय में हमारा सहायक नहीं हो सकता। आगम अथवा ईश्वरीय ज्ञान और अनुमान ही इस विषय में हमारे ज्ञान के एकमात्र साधन हैं।[९] आत्मा के अस्तित्व का अनुमान इस तथ्य के द्वारा किया जाता है कि चेतनता शरीर, इन्द्रियों तथा मन का गुण नहीं हो सकती।[१०] सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न और ज्ञान, निःश्वास और उच्छ्वास, आँखों की पलकों का खुलना तथा बन्द होना, शारीरिक घावों का भर जाना, मन की गति और इन्द्रियों की प्रवृत्ति आत्मा के अस्तित्व के प्रमाण रूप में प्रस्तुत किए जाते हैं।[११] अपनी

१. श्रीधर ने अन्धकार (तमस) के स्वरूप के विषय में एक रोचक प्रश्न उठाया है (न्यायकन्दली, पृष्ठ ९; वैशेषिकसूत्र, ५ : २, १९–२०)। कुमारिल इसे एक विशिष्ट द्रव्य मानता है, जिसमें काला रंग है तथा गति की क्रिया है (श्लोकवार्तिक, पृष्ठ ४३)। प्रभाकर का मत है कि प्रकाश का अभाव अन्धकार है (गंगानाथ झा : पूर्वमीमांसा, पृष्ठ १३)। अन्नंभट्ट का भी यही मत है। (तर्कसंग्रहदीपिका, ३)। वैशेषिक ने अन्धकार को द्रव्यों की कोटि में नहीं रखा क्योंकि यह गुणों से रहित है। अलंकार की भाषा में कहा जाता है कि उसमें काला रंग है, ठीक जैसे कि नक्षत्रविहीन आकाश को नीलवर्ण कहा जाता है। यह अभाव का एक प्रकार है, केवलमात्र प्रकाश का निषेध है। (वैशेषिक सूत्र, ५ : २, १९; सर्वदर्शनसंग्रह, १०)।

२. अनेकत्व प्रत्यक व्यक्तिभेदः (न्यायकन्दली, पृष्ठ २१)।

३. प्रशस्तपादकृत पदार्थधर्मसंग्रह, पृष्ठ २१।

४. पृष्ठ २२।

५. वैशेषिकसूत्र, ८ : १, २।

६. परिच्छिन्नपरिमाणत्वम्।

७. तर्कदीपिका, पृष्ठ १४।

८. वैशेषिकसूत्र, ३ : २, ६।

९. वैशेषिकसूत्र, ३ : २, ८ और १८।

१०. प्रशस्तपादकृत पदार्थधर्मसंग्रह, पृष्ठ ६९, वैशेषिकसूत्र, ३ : १, १९।

११. वैशेषिकसूत्र, ३ : २, ४–१३।

प्राकृतिक अवस्था मे आत्मा ज्ञान से रहित होती है, जैसेकि प्रलय मे। इसे वस्तुओं का बोध तभी होता है जबकि यह शरीर से सम्बद्ध होती है।[1] चेतनता का धारण आत्मा के द्वारा होता है, यद्यपि यह इसका अनिवार्य तथा अविच्छेद्य लक्षण नहीं है। मन के द्वारा जीवात्मा न केवल बाह्य वस्तुओं का ज्ञान प्राप्त करती है, बल्कि अपने गुणों का भी ज्ञान प्राप्त करती है। आत्मा यद्यपि सर्वव्यापक है, तो भी इसका ज्ञान, अनुभव तथा कर्म का जीवन केवल शरीर के साथ ही विद्यमान रहता है।

आत्माओं की अनेकता का अनुमान स्थिति मे भेदों के कारण तथा अवस्थाओं की नानाविधता के कारण किया जाता है।[2] धर्मशास्त्रों के आदेश इस धारणा को मानकर दिए गए हैं कि आत्माएं भिन्न भिन्न हैं।[3] प्रत्येक आत्मा अपने-अपने कर्मों का फलोपभोग करती है।[4] यह सब प्रकार के अनुभवों में समान रूप मे विद्यमान रहती है।[5] श्रीधर आत्मा के एकत्व का खण्डन करता है।[6] कतिपय आत्माओं के मोक्ष प्राप्त कर लेने से जगत् के नितान्त विलय हो जाने का कोई भय नहीं है क्योंकि आत्माएं असंख्य हैं। वैशेषिक की अनेकत्व-सम्बन्धी पूर्वधारणा के कारण इसके अनुयायी अनेकत्व को ही परम सत्य मानते हैं। मुक्तात्माओं के विषय में यह समझा जाता है कि वे नित्य विशिष्ट भेदों सहित ही रहती हैं।[7] यद्यपि प्रत्येक आत्मा का अपना एक विशेषत्व समझा जाता है, तो भी वह क्या है यह जानना हमारे लिए असम्भव है। आत्माओं मे परस्पर भेद उनके भिन्न-भिन्न शरीरों के साथ सम्बन्ध के कारण है। पुनर्जन्म मे भी मन आत्मा के साथ जाता है और उसे व्यक्तित्व प्रदान करता है। हरएक प्रयोजन के लिए, आत्मा का वैशिष्ट्य मन के वैशिष्ट्य पर निर्भर करता है जो आत्मा के साथ बराबर जीवन-भर रहता है। मन भी आत्मा के समान अमर्त्य है। क्योंकि वही मन जन्म-जन्मान्तर मे भी बराबर आत्मा के साथ रहता है, इसलिए मृत्यु के उपरान्त भी

१. अशरीरस्यात्मनो न विषयावबोधः (न्यायकन्दली पृष्ठ ५७ पृष्ठ ६८ भी देखिए)।
२. व्यवस्थातो नाना (वैशेषिकसूत्र, ३ : २, २०)।
३. शास्त्रसामर्थ्यात् (वैशेषिकसूत्र, [illegible])।
४. वैशेषिकसूत्र, ६ : १, ५। ५. न्यायकन्दली पृष्ठ ८६।
६. "यदि [illegible] आत्माओं की अनेकता का स्वीकार [illegible] कारण सब शरीरों में उपस्थित रहेगी, तो भी उसके अनुभव उन सबके लिए समान न होंगे, क्योंकि उनमें से प्रत्येक केवल ऐसे ही सुख आदि का अनुभव करेगी जो उस विशिष्ट शरीर में प्रकट होंगे जोकि उसे अपने पूर्वकर्मों के अनुसार मिला है और कर्म का सम्बन्ध भी उसी आत्मा के साथ है जिसके शरीर मे वह कर्म किया गया है। इस प्रकार शरीर का [illegible] के कारण और कर्म का शरीर के कारण है, और इस प्रकार की पारस्परिक निर्भरता [illegible] है" (न्यायकन्दली, पृष्ठ ८७-८८)।

७. डाक्टर दासगुप्त के इस सुझाव को स्वीकार करना कठिन है कि वैशेषिक का मत था कि "आत्मा एक है, यद्यपि अनेक प्रतिबन्धों के विचार से और श्रुतियों मे दिए गए आदेशों के पालन करने की आवश्यकता के लिए भी उन्हें अनेक मान लिया गया।" (हिस्टरी आफ इण्डियन फिलासफी, पृष्ठ २९०, टिप्पणी १)। वैशेषिक का लौकिक विविधता से प्रयोजन है, परमसत्य से नहीं, और अनेकत्व के मत को, क्योंकि यह विशेष के सिद्धान्त पर आश्रित है, यह अन्तिम रूप मे ही स्वीकार करता है।

चरित्र का निरन्तर बने रहना सम्भव है।[1] जीवात्मा तथा परमात्मा के अन्दर भेद किया गया है।[2] इन दोनों में सादृश्य तो है किन्तु तादात्म्य नहीं है।

आकाश, देश, और काल के निम्नतर उपवर्ग नहीं हैं और ये व्यक्तिगत संज्ञाएं हैं।[3] इन्हें अनुभव की विविधता की व्याख्या के लिए सर्वतोव्यापी इकाइयां मान लिया गया है। इन्हीके अन्दर समस्त घटनाएं घटित होती है। देश और काल सब उत्पन्न पदार्थों के साधनरूप कारण है।[4] यथार्थता एक प्रक्रिया अथवा मार्ग है और इसीलिए देशीय तथा कालगत भी है।

भौतिक परिवर्तनों के लिए हमें एक सम्पूर्ण इकाई की आवश्यकता होती है जिसके अन्तर्गत वे घटित होने है। सभी परमाणुवादी रिक्तदेश (आकाश) को यथार्थसत्ता मानते हैं। यदि देश अनेक इकाइयां होता, तो भिन्न-भिन्न देशों में चक्कर लगाने वाले परमाणुओं का एक दूसरे के साथ कोई सम्बन्ध न रह सकता। पूर्व-पश्चिम आदि दिशा-सम्बन्धी भावों तथा दूर और समीप से सम्बन्धित भावों का भी आधार देश ही है।[5] देश की प्रतीयमान विविधता उसके कार्यों द्वारा निर्णीत होती है।[6] वस्तुओं की सापेक्षिक स्थितियां भी देश ही के कारण स्थिर रह सकती हैं, जो देश के बिना सम्भव नही हो सकती थीं।

प्रकृति में होनेवाले मूर्त परिवर्तनों, यथा वस्तुओं की उत्पत्ति, विनाश और स्थिरता, के लिए भी काल का होना आवश्यक है। यह वह शक्ति है जो अनित्य पदार्थों मे परिवर्तन लाती है। यह वह ब्रह्माण्ड शक्ति नही है जो गतियो को उत्पन्न करती है, बल्कि यह समस्त गति की आवश्यक अवस्था है।[7] सब दृश्यमान वस्तुए गति करती हुई, परिवर्तित होती हुई उत्पन्न होती हुई तथा नष्ट होती हुई दिखाई देती है। खण्डित अर्थात् अलग-अलग वस्तुओं के अन्दर आत्म-उत्पादन अथवा आत्म-गति की कोई शक्ति नहीं होती। यदि ऐसी शक्ति होती तो वस्तुओं में वह पारस्परिक सम्बन्ध न होता जो सब प्रकार के परिवर्तन के होते हुए भी स्थिर रहता है। गति सुव्यवस्थित अवस्था मे पाई जाती है, जिसका अर्थ है कि एक ऐसी यथार्थसत्ता अवश्य है जिसका सामान्य सम्बन्ध समस्त परिवर्तनों के साथ रहता है। काल को एक स्वतंत्र यथार्थसत्ता माना गया है जो समस्त विश्व मे व्याप्त है और जो वस्तुओं की व्यवस्थित गति को सम्भव बनाती है। यही काल पहले-पीछे होने, एक समय मे तथा भिन्न-भिन्न समय मे होने के सम्बन्धों और शीघ्र अथवा विलम्ब के भावों का आधार है।[8] काल एक ही है जो

१. प्रशस्तपादकृत पदार्थधर्मसंग्रह, पृष्ठ ८६; वैशेषिकसूत्र, ७ : २, २१; ३ : २, २२।

२. किरणावली, पृष्ठ ७ और भी देखिए उपस्कार, ३ : २, १८।

३. प्रशस्तपादकृत पदार्थधर्मसंग्रह, पृष्ठ ५८।

४. प्रशस्तपादकृत पदार्थधर्मसंग्रह, पृष्ठ २५।

५. तर्कसंग्रह, १६; भाषापरिच्छेद, पृष्ठ ४६–४७।

६. वैशेषिकसूत्र, २ : २, १३।

७. २ : २, ६; ५ : २, २६। इस मत को उस प्रकार का 'कालवाद' न समझ लेना चाहिए जो काल को दैवत्व का रूप देता है।

८. वैशेषिकसूत्र, २ : २, ६।

विस्तार में सर्वत्र उपस्थित है।[1] यह स्वरूप में व्यक्तिरूप है, और इसमे जोडने तथा अलग करने के दोनों प्रकार के गुण हैं। क्षण, मिनट, घण्टा, वर्ष आदि प्रचलित लौकिक भाव उसी ठोस मूर्तरूप समय से निकले है। वैशेषिक के मत मे, काल एक नित्य द्रव्य है[2] और समस्त अनुभव का आधार है।[3] हम यह तो नही जानते कि काल अपने-आप में क्या है, किन्तु हमारा अनुभव काल के रूप मे ढाला जाता है। पहले अथवा पीछे के सम्बन्धों का यह औपचारिक कारण है; जबकि उनका भौतिक कारण, घडा, कपडा आदि पदार्थों का स्वरूप है। काल एक ही है, किन्तु अनेकरूप जो प्रतीत होता है उसका कारण उन परिवर्तनो के साथ सपर्क है जो इसके साथ सम्बद्ध हैं।[4]

देश और काल का भेद वैशेषिक ग्रन्थो मे पाया जाता है। देश सह-अस्तित्व का प्रतिपादन करता है और काल अनुक्रम का, अथवा ऐसा कहना अधिक ठीक होगा कि देश दृश्यमान पदार्थों का वर्णन करता है और काल ऐसे पदार्थों का वर्णन करता है जो उत्पन्न होते है तथा नष्ट होते है।[5] शकरमिश्र का मत है कि काल के सम्बन्ध बराबर रहनेवाले अथवा नियत है, तथा देश के सम्बन्ध अनियत हैं।[6] वस्तुए गति करती है काल के कारण, और परस्पर सम्बद्ध रहती है देश के कारण। देश और काल के अन्दर, अधिकतर सर्वग्राही सम्बन्ध, अर्थात् एक स्थान से दूसरे स्थान तक अथवा एक अवस्था से दूसरी अवस्था मे सक्रमण, देश-सम्बन्धी गमनागमन और कालगत परिवर्तन आ जाते है। किन्तु ये सब औपचारिक है और यथार्थ वस्तुओ के उपलक्षण हैं, जो वस्तुत: गति करती है तथा परिवर्तित होती है।

आकाश एक सरल (अमिश्रित), निरन्तर स्थायी तथा अनन्त द्रव्य है। यह शब्द का अधिष्ठान है। यह रग, रस, गन्ध और स्पर्श आदि गुणो से रहित है। अपनयन की प्रक्रिया द्वारा यह सिद्ध किया जाता है कि शब्द आकाश का विशिष्ट गुण है।[7] यह निष्क्रिय है। समस्त भौतिक पदार्थ इसके साथ सयुक्त पाए जाते है।[8] परमाणु जो अत्यन्त सूक्ष्म हैं, एक-दूसरे के पास आकर अथवा एक-दूसरे को स्पर्श करके किसी बड़े पदार्थ का निर्माण नही कर सकते। यदि वे एक-दूसरे से पृथक् रहते हैं और फिर भी किसी प्रकार से परस्पर मिलकर एक व्यवस्था को स्थिर रखते है, तो यह केवल आकाश के ही माध्यम द्वारा सम्भव है। परमाणु परस्पर सयुक्त होते है किन्तु निरन्तर नही सयुक्त होते रहते। वह वस्तु जो परमाणुओ को परस्पर सयुक्त किए रहती है, यद्यपि स्वय परमाणुओं द्वारा निर्मित नही है, आकाश है। यदि आकाश भी खण्डित होता, अर्थात् परमाणुओं मे विभक्त होने योग्य होता, तो फिर हमे किसी अन्य ऐसी जोड़नेवाली

१. ७ : १, २५। २. २ : २, ७

३. अतीतादिव्यवहारहेतुः (तर्कसंग्रह, १५; भाषापरिच्छेद, ४५)।

४. न्यायमञ्जरी, पृष्ठ १३६।

५. सिद्धान्तचन्द्रोदय में कहा है : "जन्यमात्रं क्रियामात्रं वा कालोपाधिः, मूर्तमात्रं दिगुपाधिः"।

६. उपस्कार, २ : २, १०। तुलना कीजिए इसके साथ काण्ट के अनुभव-विषयक दूसरे तथा तीसरे उपमान की।

७. वैशेषिकसूत्र, २ : १, २७, २९–३१। ८. न्यायसूत्र, ४ : २, २१–२२।

वस्तु की कल्पना करनी पड़ती जो परमाणुओं से बनी न हो । आकाश नित्य है सर्वत्र उपस्थित है, इन्द्रियातीत है और जोड़ने तथा पृथक् करने के व्यक्तिगत गुण रखता है । आकाश समस्त देश को पूर्ण करता है, यद्यपि यह स्वय देश नही है, क्योंकि यह वस्तुओं के साथ विशेष सम्बन्धो द्वारा सम्बद्ध हुए बिना और उन सम्बन्धों द्वारा उनमे शब्द उत्पन्न किए बिना न तो वस्तुओ पर कोई प्रभाव डाल सकता है और न क्रिया ही कर सकता है । खण्डित पदार्थों के स्थिति-विषयक सम्बन्धो तथा उनकी व्यवस्था को जो धारण किए रहती है वह दिक् (दिशा) है, यद्यपि वह स्वय देश नही है, यदि देश से तात्पर्य स्थान अथवा अवकाश है, क्योकि वह तो आकाश ही है । आकाश तथा देश के भेद को इसलिए स्वीकार किया जाता है कि जहा आकाश को उसके विशेष गुण अर्थात् शब्द का भौतिक कारण समझा जाता है, वहा देश सब कार्यों का सामान्य रूप मे कारण है ।

पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश इन पाच द्रव्यो के सम्बन्ध मे वैशेषिक की भौतिक प्रकल्पना का परिष्कार किया गया है । प्रकृति, जैसीकि वह हमारे सामने आती है पाच तत्त्वो का सम्मिश्रण है, जिसमे एक न एक तत्त्व प्रचुर मात्रा मे रहता है । पचभूत प्रकृति की पाच अवस्थाए है जैसे ठोस (पृथ्वी), तरल (जल), वायवीय (वायु), तेजोमय (अग्नि), अन्तरिक्ष-सम्बन्धी (आकाश) । पृथ्वी के चार गुण है : गन्ध, रस, रग और स्पर्श । जल के तीन गुण है रस, रग तथा स्पर्श । अग्नि के दो गुण है : रग और स्पर्श । वायु मे केवल स्पर्श गुण है तथा आकाश मे केवल शब्द गुण है ।[1] यद्यपि पृथ्वी मे अनेक गुण है तो भी हम कहते है कि गन्ध पृथ्वी का गुण है, क्योकि यह गुण प्रधान मात्रा मे है ।[2] यदि पृथ्वी के अतिरिक्त जल तथा अन्य द्रव्यो मे भी गन्ध मिलती है तो इस कारण से कि उनमे पृथ्वी के अश मिले हुए है। बिना गन्ध के हम पृथ्वी का विचार कर ही नही सकते, यद्यपि वायु और जल का कर सकते है । पृथ्वी से बनी वस्तुए तीन प्रकार की है शरीर, इन्द्रिया तथा प्रत्यक्ष-विषयक पदार्थ ।[3] जल का विशेष गुण रस है । अग्नि का विशेष गुण ज्योतिष्मत्ता है । वायु अदृश्य है, यद्यपि विस्तार में सीमित है और अशो से मिलकर बनी है । वायु मे गतियो के होने से यह अनुमान किया जाता है कि वायु खण्डितस्वरूप की है । यदि वायु अशो से रहित एक पूर्ण अविच्छिन्नता होती तो उसमे गतिया सभव न होती ।[4] इसके अस्तित्व का अनुमान स्पर्श से होता है ।[5] इसे द्रव्य इसलिए कहा गया है क्योकि इसमे गुण तथा क्रिया है । तापमान वायु का विशेष गुण है । पृथ्वी, वायु, अग्नि तथा जल जैसे ठोस पदार्थों का निर्माण करनेवाले अन्त मे परमाणु ही है ।

१. न्यायसूत्र, ३ : १, ६०-६१ ।

२. न्यायसूत्र, ३ : १, ६६ ।

३. प्रशस्तपादकृत पदार्थधर्मसंग्रह, पृष्ठ २७ ।

४. वैशेषिकसूत्र, २ : १, १४ ।

५. प्राचीन वैशेषिकों तथा अन्नंभट्ट का मत है कि वायु प्रत्यक्ष नहीं होती, किन्तु उसका ज्ञान अनुमान के द्वारा होता है । वे युक्ति देते हैं कि वायु का कोई रंग नहीं है और इसलिए वह देखी नहीं जा सकती । आधुनिक नैयायिकों का कहना है कि किसी वस्तु के प्रत्यक्ष होने के लिए यह आवश्यक नहीं कि वह देखी ही जा सके, वायु का प्रत्यक्ष स्पर्श से होता है ।

९

परमाणुवाद की प्रकल्पना

परमाणुवाद मानवीय मस्तिष्क के लिए इतना स्वाभाविक है कि भौतिक जगत् की व्याख्या के लिए आरम्भ मे जितने भी प्रयत्न हुए, सबने इसी प्रकल्पना को अपनाया। उपनिषदों में भी इस प्रकल्पना के चिह्न मिलते है, जो सब भौतिक पदार्थों को चार तत्त्वों, अर्थात् अग्नि, जल, वायु और पृथ्वी, से बना हुआ मानते है। आकाश को छोड़ दिया गया है, क्योकि इसका अपना एक विलक्षण स्वरूप है और यह अन्य तत्त्वों के साथ मिश्रित नही होता। किन्तु अग्नि, जल, वायु और पृथ्वी अपने-आपमें परिवर्तनशील और विभाज्य है, जबकि यथार्थ को अपरिवर्तनशील तथा नित्य माना जाता है। स्वभावतः यह प्रश्न उठता है कि अपरिवर्तनशील, अविभाज्य तथा नित्य ये परमाणु हैं क्या? विचारधारा के उस आन्दोलन मे, जिसने जैन और बौद्धदर्शन जैसी बड़ी-बड़ी दर्शनपद्धतियो को जन्म दिया, कुछ ऐसी भी दर्शनपद्धतिया थी—उदाहरणरूप में अजीवक और जैन—जो परमाणुवाद की प्रकल्पना को मानती थी।[1] कणाद ने इसकी कल्पना विशुद्ध आध्यात्मिक आधार पर की और इसके द्वारा जगद्विषयक विचारधारा को सरस बनाने का प्रयत्न किया। ल्यूसिपस तथा डेमोक्रिटस के साथ भी यही बात थी, क्योकि अणुवाद की प्रकल्पना ने डाल्टन के समय से पूर्व तक वैज्ञानिक दृष्टिकोण से कोई महत्त्वपूर्ण स्थान नही प्राप्त किया।

सब पदार्थ, जो हिस्सो से मिलकर बने है, हिस्सो से ही उत्पन्न होते है, जिनके साथ वे समवाय-सम्बन्ध से जुड़े होते है, सयोग इसमे सहकारी है। जिन वस्तुओं को हम अनुभव करते है वे सब उत्पन्न हुई है, अर्थात् या तो अलग-अलग है या हिस्सों से बनी है। इसलिए वे अनित्य है। नित्य से अलग अनित्य का कुछ तात्पर्य ही नही है।[2] पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु नित्य और अनित्य दोनों ही है। किन्तु आकाश केवल नित्य ही है। मिश्रित पदार्थ जो उत्पन्न होते है, अनित्य है, किन्तु उनके बनानेवाले अंश, जो उत्पन्न नही होते, नित्य है।[3] अदृश्य नित्य परमाणु हिस्सो मे विभक्त नही हो सकते।[4] परमाणु विभाजन की अन्तिम सीमा है। यदि परमाणु के भी अनन्त रूप से हिस्से हो सकते तो सभी भौतिक पदार्थ उसी प्रकार से अनन्त घटको की उपज होते, और इस प्रकार पदार्थों के आकारो मे जो भेद है उसकी व्याख्या करना असम्भव हो जाता।[5] यदि भौतिक प्रकृति अनन्त रूप से विभाज्य होती जाती तो उसको हमें शून्य

१. भारतीय दर्शन, प्रथम खण्ड, (पृष्ठ २९१–९३)। बौद्धधर्म के प्रामाणिक ग्रन्थों में तो नही, किन्तु उत्तरी बौद्ध-साहित्य में परमाणुवाद की प्रकल्पना के अनेको उद्धरण है। वैभाषिक और सौत्रान्तिक इसे मानते है। देखिए यूई-कृत 'वैशेषिक फिलासफी', पृष्ठ २६–२८।

२. ४ : १, ४। ३. ४ : १, १ ; २ : ३, ४–५; ७ : १, २०–२१।

४. परं वा त्रुटेः (न्यायभाष्य, ४ : २, १७–२५)।

५. सर्वेषाम् अनवस्थितावयवत्वे मेरुसर्षपयोस्तुल्यपरिमाणत्वापत्तिः। देखिए न्यायकन्दली, पृष्ठ ३१।

तक ले जाना पडता और इस विरोधाभासमय स्थिति को स्वीकार करना पड़ता कि लम्बाई व चौडाई ऐसी वस्तुओं से बनी है जिनका अपना कुछ परिमाण नही है, शरीर शरीर-रहित से बने है।[1] शरीरों के आकार-प्रकार मे परिवर्तन उनके बनानेवाले परमाणुओं के सम्मिलन तथा निःसरण के कारण होता है। अन्तविहीन महत्ता तथा अन्तविहीन लघुता ऐसे परिमाण है जिन्हे बुद्धि द्वारा नही समझा जा सकता। वे ऊपर तथा नीचे की मर्यादाएं है, और जिसका ज्ञान हमें होता है वह दोनो का मध्यवर्ती है। निरन्तर जोडते-जोड़ते हम अनन्त रूप से जो महान् है उस तक पहुंचते है और निरन्तर विभाजन करते-करते हम अनन्त लघुता तक पहुचते है। परमाणु कार्यो के भौतिक कारण है। वे यद्यपि इन्द्रियातीत है तो भी उनका वर्गीकरण किया जा सकता है, यद्यपि परिमाण, आकार, वजन तथा घनता के दृष्टिकोण से नहीं। इन्द्रियगम्य वस्तुओं की विभिन्न आकृतियों मे जो गुण वे उत्पन्न करते है, वे हमारे लिए परमाणुओं का वर्गीकरण करने मे सहायक होते हैं। यदि हम इन्द्रियगम्य वस्तुओं, अभेदनीयता जैसे सामान्य गुणो को, जिनका प्रत्यक्ष ज्ञान एक से अधिक इन्द्रियो द्वारा होता है, एक ओर रख दें तो विशेष गुण ये रह जाते है : गन्ध, रस, उज्ज्वलता और ताप। ये प्रकारभेद से भिन्न है, केवल मात्राभेद से ही नही। ऐसा समझा जाता है कि परमाणुओ की भी, भौतिक पदार्थों के चार विभागों—अर्थात् पृथ्वी, जल, अग्नि तथा वायु—के ही अनुकूल, चार श्रेणिया है। कहा गया है कि परमाणुओ की ये चार श्रेणिया स्पर्श, रस, दर्शन तथा गन्ध की इन्द्रियों को उत्पन्न करती है, और यही कारण है कि प्रत्येक विशेष इन्द्रिय केवल एक गुण का ही प्रकाश करती है, चाहे कितनी ही उत्तेजित वह क्यो न हो। यद्यपि पार्थिव पदार्थों के गुण—यथा रंग, रस, गन्ध और स्पर्शनीयता—स्वय पदार्थ के नाश हो जाने पर लुप्त हो जाते है, वे उनके अपने-अपने परमाणुओ मे सदा विद्यमान रहते है यद्यपि पृथ्वी तथा पृथ्वी के परमाणुओ मे कुछ गुण अग्नि द्वारा उत्पन्न किए (पाकज) होते है।[2] जल, प्रकाश तथा वायु इस प्रकार के परिवर्तन को नही आने देते है।

वैशेषिक पीलुपाक की प्रकल्पना को स्वीकार करता है। जब कच्चे घड़े को आग पर चढ़ाया जाता है तो पुराना घडा नष्ट हो जाता है, अर्थात् परमाणुओ के रूप मे परिवर्तित हो जाता है। ताप के लगने से परमाणुओ मे लाल रंग उत्पन्न होता है और परमाणु फिर से सयुक्त होकर एक नये घडे को उत्पन्न करते है। इस मत के अनुसार, पहले समस्त इकाई का परमाणुओ के रूप मे विघटन होता है और फिर उसके पश्चात् उन परमाणुओ का पुनः संघटन होकर एक इकाई नये सिरे से बनती है। यह सब जटिल प्रक्रिया चक्षु का विषय नहीं

१. हरबर्ट के विचार में विविधता तथा अनुभव-सम्बन्धी परिवर्तनों को तभी बुद्धि द्वारा ग्रहण किया जा सकता है जब वस्तुएं, जो अपने में सरल तथा अपरिवर्तनशील हैं, स्वयं उनके विषय में कोई कारण प्रस्तुत कर सकें। इन अज्ञेय यथार्थसत्ताओं का विचार किन्हीं विशेष सम्बन्धों में ही किया जा सकता है, जिनके द्वारा हम उनके प्रकट गुणों तथा परिवर्तनों की विविधता को समझ सकते हैं।

२. ७ : १, १–६।

है, क्योंकि यह अत्यन्त द्रुत गति से केवल नौ क्षणों के ही व्यवधान में सम्पन्न हो जाती है।[1] नैय्यायिक 'पिठरपाक' के सिद्धान्त को पुष्ट करता है, जिसके अनुसार रंग का परिवर्तन परमाणुओं तथा पदार्थ दोनों में एकसाथ होता है। यह मत अधिक युक्तियुक्त प्रतीत होता है। नैय्यायिक वैशेषिक की प्रकल्पना पर निम्न आधार पर आपत्ति उठाता है। यदि पहला घड़ा नष्ट हो गया और उसके स्थान पर सर्वथा नया घड़ा उत्पन्न हुआ तो हम दूसरे घड़े को पुराना घड़ा करके कैसे पहचान सकते हैं। हम उसी घड़े को देखते हैं जिसे पहले देखते थे, भेद केवल रंग का है। इसके अतिरिक्त, ऐसा प्रतीत होता है कि वैशेषिक के मत में, पृथ्वी के परमाणुओं का गुण, गंध भी अनित्य है। यह तथ्य कि इन्द्रिय-गम्य पदार्थों पर ताप का असर होता है, यह दर्शाता है कि वे सर्वथा ठोस नहीं हैं बल्कि छिद्र वाले हैं।[2]

परमाणुओं को गोलाकार (परिमाण्डल्य) बताया गया है, यद्यपि इससे यह परिणाम नहीं निकाला जा सकता कि उनके हिस्से हैं। इस विचार पर कि उनके हिस्से हैं, कुछ आपत्तियां की जाती हैं। जब तीन परमाणु साथ-साथ अगल-बगल रखे जाते हैं तो मध्यवर्ती अन्य परमाणुओं को पार्श्वों से स्पर्श करता है। जब एक परमाणु सब ओर से घिरा रहता है तो हम परमाणुओं के छः पार्श्व समझते हैं जिन्हें हम परमाणुओं के भाग कह सकते हैं, और यदि छः पार्श्व संकुचित होकर एक बिन्दु पर आ जाते हैं तो इससे यह परिणाम निकलेगा कि कितने भी परमाणु क्यों न हों, वे एक परमाणु से अधिक स्थान न घेरेंगे, और समस्त भौतिक पदार्थ भी परमाणुरूप धारण करके अदृश्य हो जाएंगे। इस सब कठिनाई को दूर करने के लिए उत्तर में कहा जाता है कि परमाणुओं का हिस्सों में विभाजन केवल आनुभविक (अर्थात् प्रतीतिमात्र) है, यथार्थ नहीं है।[3] परमाणुओं का अन्दर और बाहर कुछ नहीं है।[4] और वे देशरहित हैं।[5]

परमाणु स्वभाव से निष्क्रिय हैं और उनकी गति बाह्य आघात के कारण है। इस जगत् के प्रलयकाल में परमाणु विद्यमान रहते हैं, किन्तु कुछ कार्य नहीं करते। उस समय वे पृथक्-पृथक् तथा गतिविहीन रहते हैं। वैशेषिक के

१. सर्वदर्शनसंग्रह, १०।

२. न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका, पृष्ठ ३५५ : न्यायमञ्जरी, पृष्ठ ४३८।

३. न्यायभाष्य, ४ : २, २०।

४. प्रश्न उठाया जाता है कि आकाश, जो एक सरल (अमिश्रित) तथा सर्वव्यापक द्रव्य है, परमाणुओं के अन्दर प्रवेश करता है या नहीं? यदि करता है तो परमाणुओं के हिस्से मानने पड़ेंगे, और यदि प्रवेश नहीं करता तो परमाणुओं के तो हिस्से नहीं होंगे किन्तु आकाश सर्वव्यापी नहीं रहेगा। उत्तर में यह कहा जाता है कि अन्दर और बाहर का विचार एक कार्यसत्ता के विषय में उठता ही नहीं, और आकाश की सर्वत्र उपस्थिति से यह उपलक्षित नहीं होता कि परमाणुओं के हिस्से हैं।

५. न्यायवार्तिक, ४ : २, २५। परमाणु बृहत्ता के विपरीत सूक्ष्म आकार के कहे जाते हैं। उनमें किसी न किसी प्रकार का परिमाण (लम्बाई-चौड़ाई) अवश्य है। इससे विभिन्न मत के लिए देखिए चैटर्जीकृत हिन्दू रियलिज्म, पृष्ठ १९-३४; १४९-१५३ तथा १६४।

मतानुसार, मूल परमाणुओं में गति एक विशिष्ट धर्म के अनुसार होती है।[1] प्रशस्तपाद कहता है महाभूतों में हम जो क्रियाएं प्रकट होती पाते हैं और जिनका कोई भी कारण न तो प्रत्यक्ष द्वारा और न ही अनुमान द्वारा जान सकते हैं, तथा जो फिर भी उपयोगी अथवा हानिप्रद पाई जाती हैं, इन्हीं अदृष्ट साधनों द्वारा उत्पन्न होती हैं (अदृष्टकारितम्)[2], ऐसा ही समझा जाएगा।

पदार्थगत गुण उन परमाणुओं के कारण हैं जिनसे वे बने हैं। इन परमाणुओं में सब द्रव्यों के पांच सामान्य गुण रहते हैं, तथा पूर्ववर्तिता और पश्चाद्वर्तिता के भी गुण रहते हैं। इनके अतिरिक्त, पृथ्वी में गन्ध का विशेष गुण है तथा अन्य गुण, अर्थात् रस, रंग स्पर्श अथवा ताप, गुरुता, वेग एवं तरलता है। जल में विशेष गुण सान्द्रता का है तथा सिवाय गन्ध के पृथ्वी के अन्य गुण हैं। प्रकाश (अग्नि अथवा तेज) में साधारण रहनेवाले सात गुण और ताप, रंग, तरलता तथा वेग, ये गुण हैं। वायु में केवल स्पर्श और वेग तथा साधारण सातों गुण हैं। परमाणुओं में ये गुण नित्य हैं, किन्तु उनसे उत्पन्न पदार्थों में ये क्षणिक रूप से रहते हैं।

ऐसा समय कभी न आ सकेगा जब वस्तुएं सर्वथा शून्य में परिणत हो जाएंगी। यद्यपि निर्माण की गई इमारतें नष्ट हो जाती हैं तथापि जिन पत्थरों से वे बनी हैं वे स्थायी रहते हैं।[3] उपादान कारणरूप अवयव जिनके परस्पर संयुक्त होने पर एक पूर्ण इकाई बनती है, और इसीलिए जो इस प्रकार के मिश्रित पदार्थों की उत्पत्ति के पूर्व विद्यमान थे, अपने में एक स्वतन्त्र सत्ता को शक्ति रखते हैं और फिर उसी अवस्था में वापिस आ जाते हैं। इस दृश्यमान जगत का एक के बाद एक ढांचा यहां तक कि समस्त पार्थिव पदार्थसमूह विलीन हो सकता है तो भी परमाणु सर्वदा नये और ताज़े रहेंगे और आगामी युगों में नये ढांचों का निर्माण करने के लिए उद्यत रहेंगे। व्यक्तिरूप परमाणु दूसरों के साथ संयुक्त होते हैं और उसी सहकारी अस्तित्व में कुछ समय तक विद्यमान रहते हैं, और फिर वियुक्त होकर अपने आदिम एकाकी रूप में आ जाते हैं और फिर नये संयुक्त पदार्थों का निर्माण करते हैं। संयुक्त होने तथा विलग होने की यह प्रक्रिया अनन्त काल तक चलती रहती है। वैशेषिक के अनुसार सृष्टिरचना में परमाणु असंयुक्त अवस्था में नहीं रहते।[4] सृष्टिरचना में उनके अन्दर एक परिस्पन्द रहता है। परमाणु एकाकी रूप में जब रहते हैं तो उनके अन्दर उत्पादन की क्षमता नहीं होती। श्रीधर का तर्क है कि यदि एक नित्य वस्तु अपने एकाकी रूप में उत्पादनक्षम होती तो उत्पत्ति के क्रम का कभी अन्त न हो सकता, और फिर पदार्थों की अविनश्वरता

१. धर्मविशेषात्, ५ : २, ७। २. पृष्ठ ३०९।

३. न्यायभाष्य, ४ : २, १६।

४. अन्तरिक्ष मण्डल की वायु इस नियम का अपवाद है, क्योंकि कहा जाता है कि यह अनेक परमाणुओं के पुञ्जों से बनी है जो अलग-अलग तथा असंयुक्त अवस्था में हैं। किन्तु नैय्यायिक इस मत से सन्तुष्ट नहीं हैं।

स्वीकार करने को हम बाध्य होते। त्र्यणुक भी उत्पादनक्षम नहीं हो सकते, क्योंकि एक मूर्तरूप भौतिक पदार्थ अपने से लघुतर परिमाण के हिस्सों से मिलकर बना है। त्र्यणुक, जो एक ठोस परिमाण रखता है, अवश्य किसी अन्य वस्तु से बना है जो फिर स्वयं भी एक उत्पन्न पदार्थ है। इसलिए केवल 'द्वयणुक' ही वस्तुओं को बनाते हैं।[1] द्वयणुक भी, जो दो मौलिक परमाणुओं से मिलकर बने हैं, सूक्ष्म हैं, और इस प्रकार के तीन द्वयणुक मिलकर एक त्र्यणुक बनता है,[2] जिसका आकार-प्रकार इतना छोटा नहीं होता कि जो बोधगम्य न हो। अकेला एक परमाणु तथा द्वयणुक दोनों ही अदृश्य हैं, और कम-से-कम लम्बाई-चौडाई की मात्रा जो दृष्टिगोचर हो सके वह 'त्र्यणुक' है, जिसके विषय में कहा जाता है कि वह सूर्यकिरण में दिखाई देनेवाले छोटे-छोटे कणों के आकार का है। देखने में यह इस साधारण नियम का एक अपवाद लगता है कि कारणों के गुण कार्यों में प्रकट होते हैं। जब श्वेत वर्ण के दो परमाणु एक द्वयणुक को बनाने के लिए परस्पर मिलते हैं तो द्वयणुक का रंग भी तदनुसार श्वेत होना चाहिए। परन्तु परमाणु गोलाकार हैं और द्वयणुक सूक्ष्म है,[3] तो भी ये एक दृश्यमान परिमाण को उत्पन्न करते हैं। इसीलिए यह कहा जाता है कि उत्पन्न पदार्थ का परिमाण उनके हिस्सों अथवा उनकी संख्या अथवा उनकी अवस्था पर निर्भर करता है।[4] ज्यों-ज्यों द्वयणुकों की संख्या बढ़ती है, त्यों-त्यों उसके अनुसार उत्पन्न पदार्थ के परिमाण में भी वृद्धि होती है। परमाणुओं के संयोग से उत्पन्न वस्तुएं केवल समूहमात्र नहीं, अपितु पूर्ण इकाइयां हैं। यदि हम पूर्ण इकाई का प्रत्याख्यान करें तो हमारे सामने केवल हिस्से ही रहेंगे, जिनके और छोटे-छोटे विभाजन होते चलेंगे और अन्त में हम उन्हीं अदृश्य परमाणुओं तक पहुंच जाएंगे। इसी प्रकार यदि हम पूर्ण इकाई का निषेध करें तो हम अदृश्य परमाणुओं से परे अन्य किसी सत्ता को नहीं मान सकते। यदि यह कहा जाय कि परमाणु अपने-आपमें अदृश्य है तथा परमाणुओं के संग्रह दिखाई दे सकते हैं, जैसाकि एक अकेला योद्धा अथवा एक अकेला वृक्ष दिखाई न पड़े किन्तु एक पूरी सेना अथवा जंगल को अवश्य देखा जा सकता है, तो उत्तर में न्याय का कहना है कि यह उपमा निर्दोष नहीं है, क्योंकि योद्धा और वृक्ष परिमाण रखते हैं और इसीलिए दिखाई देते हैं, जबकि परमाणु परिमाण नहीं रखते।[5] पूर्ण इकाई हिस्सों से भिन्न एक वस्तु (अर्थान्तर) है, जिस प्रकार कि संगीत स्वरों के जोड़ से बढ़कर कुछ वस्तु है।[6] इसके अतिरिक्त, यदि पूर्ण इकाई न होती तो इस प्रकार के वाक्यों का कुछ अर्थ न होता कि 'वह एक कुरसी है', 'यह एक मनुष्य है' आदि-आदि। पूर्ण इकाई और उसके हिस्से परस्पर समवाय-

१. न्यायकन्दली, पृष्ठ, ३२।

२. कुछेक परवर्ती वैशेषिक विचारकों की यह सम्मति है कि एक त्र्यणुक तीन एकाकी अणुओं से मिलकर बना है। (सिद्धान्तमुक्तावली, पृष्ठ ३७; यूई, 'वैशेषिक दर्शन', पृष्ठ १३०-३१)।

३. महादेवभट्ट का मत है कि द्वयणुक अतीन्द्रिय नहीं है। 'दशपदार्थी' का भी यही मत है। देखिए यूई, 'वैशेषिक फिलासफी' और 'न्यायकोश', पृष्ठ ३५०।

४. वैशेषिकसूत्र, ७ : १, ९।

५. न्यायभाष्य, ४ : २, १४।

६. न्यायसूत्र, २ : १, ३५-३६।

सम्बन्ध से सम्बद्ध है।[1]

हिन्दू विचारधारा का कोई भी सम्प्रदाय ऐसा नही है जिसने कालचक्र-(युगो) रूपी प्रकल्पना पर अथवा सृष्टि-रचना तथा विनाश (प्रलय) के क्रमश. आते रहनेवाले विश्व ब्रह्माण्ड के कालो पर, जिसपर पहले ही बहुत गम्भीर विचार होता आया है, फिर से विचार न किया हो। प्रशस्तपाद ने इन प्रक्रियाओ का वर्णन किया है।[2] ब्रह्मा के दिन की गणना के अनुसार जब सौ वर्ष हो जाते है तो उसकी मुक्ति का समय आता है। उन सब जीवधारी प्राणियो को, जो अपने जन्म-जन्मान्तर के भ्रमण के कारण बेचैन हो गए है, विश्राम देने के लिए सर्वोपरि भगवान् (जो ब्रह्म से भिन्न है) समस्त सृष्टि को फिर से समेटने की इच्छा करता है। इस इच्छा के उदय का आशय होता है कि आत्माओ के उन सब अदृष्ट कारणो को जो प्राणियो के विविध शरीरो, इन्द्रियो तथा महाभूतो के कारण है, रोक देना। उस समय भगवान् की इच्छा से आत्माओ तथा भौतिक परमाणुओ के सयोग से शरीर और इन्द्रियो का निर्माण करनेवाले परमाणुओ का पार्थक्य हो जाता है। जब परमाणुओ के समूह नष्ट हो जाते है तो उनसे निर्मित पदार्थ भी नष्ट हो जाते है। तब फिर परमरूप भौतिक द्रव्यो, अर्थात् पृथ्वी, जल, अग्नि तथा वायु का एक-दूसरे के पश्चात् क्रमश. विलय होता है। परमाणु एकाकी रह जाते है तथा आत्माए भी अपने पिछले पुण्य व पाप की क्षमताओ मे व्याप्त अकेली रहती है। उसके पश्चात् फिर प्राणियो को उनके पूर्वकर्मो का फलोपभोग कराने के लिए, सर्वोपरि भगवान् सृष्टि-रचना की इच्छा करता है। ईश्वर की इच्छा से वायु के परमाणुओ मे, उन अदृष्ट प्रवृत्तियो के कारण जो सब आत्माओ मे कार्य करना प्रारम्भ करती है, गति उत्पन्न होती है। वायु के परमाणु द्वयणुक तथा त्र्यणुक और अन्त मे महान् वायु को बनाने के लिए परस्पर सयुक्त होते है, और शीघ्र ही महान जल प्रकट होता है, उसके बाद महान पृथ्वी और तब महान अग्नि। ईश्वर के विचार-मात्र (अभिध्यानमात्र) मे अग्नि तथा पृथ्वी के परमाणुओ मे ब्रह्माण्ड उत्पन्न होता है, और उसके अन्दर भगवान जगत् तथा ब्रह्मा को रचता है। उस ब्रह्मा के सुपुर्द ही भविष्य मे सृष्टिरचना का कार्य रहता है। आत्माओ की श्रेणियो मे ब्रह्मा सबसे शीर्षकोटि मे है, और इस पद को वह तब तक सभाले रहता है जब तक उसके पुण्यकर्मों का सामर्थ्य बना रहता है। यह जगत् समग्ररूप मे ब्रह्मा की रचना नही है, और न ऐसा ही है कि उसके पुण्यकर्म के नि.शेष हो जाने के परिणामस्वरूप यह जगत् स्वत नष्ट हो जाएगा। यह उत्तरदायित्व सर्वोपरि भगवान् का है। ब्रह्मा, ज्ञान की उच्चतम मात्राओं, प्रशान्तचित्तता तथा शक्ति के कारण, अपने मानस पुत्रो, अर्थात् प्रजापतियों, मनुओ, देवताओं,

१. न्यायभाष्य और न्यायवार्तिक, ४ : २, १२।

२. प्रशस्तपादकृत पदार्थधर्मसंग्रह, पृष्ठ ४८ से आगे।

पितरों, ऋषियो तथा चारो वर्णों एव अन्य सब जीवित प्राणियों की उनकी अपनी-अपनी प्रभावात्मक क्षमताओ के अनुसार सृष्टि करता है।[1] श्रीधर के अनुसार, अनन्तरूप से महान और अपरिवर्तनशील तीन द्रव्य, अर्थात् देश, काल और आकाश, सृष्टि-रचना तथा विनाश की प्रक्रियाओं से अछूते रहते है। विश्व की नवीन रचना नाम की कोई वस्तु नही है। प्रत्येक विश्व अनादि शृङ्खलाओ मे से एक है। जगत् की सृष्टि इस प्रयोजन से होती है कि चेतनता-सम्पन्न जीवात्माए, अपनी-अपनी योग्यता के अनुसार, अनुभव प्राप्त कर सके। प्राणियो की मूलभूत शक्तियो को वास्तविक रूप देने का नाम ही विश्व है और इसकी रचना उनके कर्मो के कारण तथा उन्हे अनुभव कराने के प्रयोजन से हुई है। किसी भी समय का सबसे उच्चकोटि का प्राणी ब्रह्मा है और कहा जाता है कि समस्त विश्व उसीके अनुभव के लिए बना है। किन्तु सम्पूर्ण योग्यता एक अर्जित वस्तु है और इसीलिए उसका आदि भी है और अन्त भी है। अतएव ब्रह्मा की योग्यता भी अनन्त नही है। जब उसका अन्त होगा तो विश्व का भी अन्त हो जाएगा, ऐसा कहा जाता है। परन्तु अन्य व्यक्तियो के बिना भुगते हुए अनुभव शेष रह जाएगे। यदि एक ब्रह्मा की योग्यता का अन्त हो जाएगा तो दूसरा ब्रह्मा उसके स्थान पर आकर उच्च आत्माओ की सख्या मे अधिष्ठाता का पद सभाल लेगा। इस प्रकार प्रत्येक विश्व के पूर्व और पश्चात एक विश्व रहता है, और यह सृष्टि का प्रवाह अनन्तकाल तक चलता रहता है।[2]

परमाणु जो द्वयणुको के भौतिक कारण है, नित्य है और इसीलिए नष्ट नही हो सकते। द्वयणुक मूल परमाणुओ के नाश से नही, अपितु मूल परमाणुओ के सयोग के नाश से नष्ट होते है।[3] प्राचीन नैय्यायिको का मत है कि कारणो का विनाश होने से कार्यों का भी तुरत विनाश हो जाता है। इसमे 'द्वयणुक' अपवादस्वरूप है, जहा सयोगमात्र का विनाश होता है किन्तु उनके भौतिक कारणो का विनाश नही होता। किन्तु परवर्ती नैय्यायिको का मत है कि हर अवस्था मे सयोग नष्ट होता है। यह मत अधिक सन्तोषजनक है, क्योकि विनाश का अर्थ वस्तुओ का अपने घटको (अवयवों) मे उत्तरोत्तर विघटन ही है। यदि विनाश की प्रक्रिया की पुनरावृत्ति होती है किन्तु रचना की प्रक्रिया का विपरीत-भाव नही होता, और यदि हिस्सों के नाश से कार्य का विनाश हो जाता है, तो इन प्रक्रियाओ के मध्य व्यवधान रहेगा, अर्थात् हिस्सो के नाश के पश्चात्

१. फेडिगन सृष्टि-रचना तथा प्रलय के क्रमों में एक महत्त्वपूर्ण भेद का लक्ष्य करता है। अग्नि का निर्माण वायु की रचना के तुरन्त पश्चात् होने के स्थान में सबसे अन्त में होता है। "सृष्टिकर्ता का हेतु क्रम बदलने में यह था कि अग्नि की सृष्टि सृष्टि-संबन्धी अण्ड, अर्थात् हिरण्यगर्भ की सृष्टि, से ठीक पहले हो, क्योंकि हिरण्यगर्भ का, जो सोने का है, निर्माण अग्नि और पृथ्वी के मिश्रण से हुआ है। इस प्रकार पद्धति के सामञ्जस्य का भंग प्रचलित पौराणिक विचारो को अनुकूलता देने के प्रयोजन से हुआ" (वैशेषिक सिस्टम, पृष्ठ १६४)।

२. उदयन : आत्मतत्त्वविवेक।

३. परमाणुद्रव्यसंयोगनाश।

भी कार्य अवशिष्ट रह जाएगे और यह सोचना असम्भव होगा कि इस मध्यवर्ती समय मे कार्य कहा रहेगा। हिस्सो मे वह रह नही सकता, क्योकि वे तो विलुप्त हो चुके है। परमाणुओ मे भी नही रह सकता क्योकि कार्यों के साथ उनका सीधा सम्बन्ध नही है।[1]

शकराचार्य अनेक युक्तियो के आधार पर परमाणुवाद की आलोचना करते है। प्रलयकाल मे गति का आरम्भ विचार मे नही आ सकता। मनुष्य के प्रयत्न से यह गति नही हो सकती, क्योकि मनुष्य का तो उस समय अस्तित्व ही नही था। यदि अदृष्टरूपी तत्त्व को उसका कारण माना जाए तो प्रश्न उठता है —अदृष्ट का निवास कहा है? यदि कहा जाए कि वह जीवात्माओ मे रहता है तो वह परमाणुओ को कैसे प्रभावित करता है? यदि परमाणुओ मे रहता है तो बुद्धि-सम्पन्न न होने से वह गति नही दे सकता। यदि कल्पना की जाए कि जीवात्मा परमाणुओ के अन्दर समवाय-सम्बन्ध से रहती है और अदृष्ट उसके साथ सयुक्त रहता है, तो नित्य क्रियाशीलता होनी चाहिए, जो विघटन की अवस्था के विपरीत होगा। इसके अतिरिक्त, यह कहा जाता है कि अदृष्ट का कार्य आत्माओ को उनके कर्मों का शुभाशुभ फल भोग कराना है तथा विश्व की उत्पत्ति अथवा विलय से उसे कुछ प्रयोजन नही है। परमाणुओ के परस्पर सयुक्त होने के सम्बन्ध मे शकराचार्य कठिनाइया उपस्थित करते है। यदि परमाणु पूर्णरूप मे एक-दूसरे के साथ सयुक्त होते है तो एक-दूसरे के अन्दर समा जाने से परिमाण नही बढ सकता। तब वस्तुओ की उत्पत्ति भी सम्भव नही हो सकती। यदि पूर्णरूप मे सयुक्त न होकर परमाणु हिस्सो मे सयुक्त होते है, तो परमाणुओ को हिस्से वाला मानना पडेगा। इसके अतिरिक्त, यह भी समझना कठिन होगा कि परमाणुओ के मिश्रण देशीय गुणो को कहा से प्राप्त करते है, क्योकि परमाणुओ की इकाई मे वे नही होते। परमाणुओ के सयोग मे वे गुण कहा से आए जो स्वय परमाणुओ मे पहले नही थे? और यह समझना भी सरल नही है कि सूक्ष्म और अविनश्वर परमाणुओ मे रग तथा उसके समान और गुण कहा से आते है। फिर, मूर्तरूप तत्त्वो, यथा अग्नि, वायु, पृथ्वी, जल और आकाश मे से कुछ मे अन्यो से अधिक गुण रहते है। जहा जल मे रग, रस और स्पर्श गुण है, वहा वायु मे केवल स्पर्श गुण ही है। ये गुण स्वय परमाणुओ मे भी किसी न किसी रूप मे होने चाहिए। इस प्रकार जल के परमाणुओं मे वायु के परमाणुओ से अधिक गुण होने चाहिए किन्तु गुणो मे वृद्धि होने का तात्पर्य है कि उनके आकार मे भी वृद्धि होगी

१. वैशेषिक के अनुसार, दो प्रकार के विनाश विचार मे आ सकते है, एक अवान्तरप्रलय अर्थात् बीच का प्रलय, जिसमें केवल स्पर्श में आनेवाले ठोस उत्पन्न पदार्थ विनष्ट होते हैं, और एक महाप्रलय अथवा सार्वभौम विनाश जिसमें सब वस्तुए भौतिक तथा अभौतिक परमाणुरूप में लौट जाती हैं। सृष्टि तथा प्रलय नित्य द्रव्यों की क्षमता तथा विकास (स्पष्टीकरण) के रूप हैं। तुलना कीजिए, महानारायण उपनिषद्, ५; कीथ : इण्डियन लाजिक एण्ड ऐटोमिज्म, पृष्ठ २१६।

और ऐसी अवस्था मे यह कथन कि सब परमाणु एक ही आकार के है, असगत हो जाएगा। आत्मा, मन और परमाणुओ के परस्पर सयोग मे भी कठिनाई है, क्योकि ये सभी हिस्से-रहित है। फिर, परमाणुओ को या तो सदा क्रियाशील, या सदा निष्क्रिय अथवा दोनो ही प्रकार का या दोनो मे से एक प्रकार का भी नही मानना होगा। यदि उन्हे सदा क्रियाशील माना जाए तो उनका विघटन असम्भव होगा, और यदि वे सदा निष्क्रिय हो तो सृष्टि-रचना नही हो सकती। एकसाथ दोनो प्रकार का होना परस्पर-विरोधी है। और यदि क्रियाशील तथा निष्क्रिय दोनो मे से कुछ भी नही है, तो क्रियाशीलता तथा निष्क्रियता दोनो ही अवस्थाओ के लिए प्रवर्तक कारणो की कल्पना करनी होगी। और ये कारण, अदृष्ट तत्त्व के समान परमाणुओ के साथ स्थायी रूप मे सम्बद्ध होने के कारण, या तो नित्य क्रियाशीलता या नित्य निष्क्रियता को उत्पन्न करेंगे।[1]

आधुनिक विचारधारा परमाणुवाद की प्रकल्पना मे सन्देह प्रकट करता है। वैशेषिक का यह मत कि ससक्त अथवा विस्तृत पदार्थ असख्य, असमसक्त तथा परिमित इकाइयो से मिलकर बने है, एक कोरी कल्पनामात्र है, क्योकि कोई भी यथार्थ वस्तु इन इकाइयो तक सीमित नही है। छोटी मे छोटी घटना की भी एक अवधि होती है, और उसमे इस प्रकार की गणितशास्त्रीय इकाइया असख्य रहती है।

ऐसा कहा जाता है कि वैशेषिक की उक्त प्रकल्पना को यूनानी विचारधारा से प्रेरणा मिली और इसका आविर्भाव सम्भवत उस काल मे हुआ जबकि भारत पश्चिमी देशो के सम्पर्क मे आया, जहा यह प्रकल्पना विस्तृतरूप मे प्रचलित थी।[2] हमारे ज्ञान की वर्तमान अवस्था मे इस विषय मे कुछ भी निश्चित रूप से कहना कठिन है। किन्तु परमाणुवाद की प्रकल्पना के सम्बन्ध मे यूनानी तथा भारतीय विचारो मे सिवाय इसके और कोई समानता नही पाई जाती कि दोनो परमाणु को अदृश्य इकाई मानते है। डेमोक्रेटिस के मत से, परमाणुओ मे परस्पर परिमाण-सम्बन्धी भेद तो है किन्तु गुणात्मक भेद नही है। वह मानता है कि परमाणु अनन्त, गुणो से सर्वथा रहित और अविभाज्य है, किन्तु आकृति, परिमाण, गुरुत्व, स्थिति तथा व्यवस्था के सम्बन्ध मे परस्पर भिन्नता रखते है। कणाद के मत मे परमाणु भिन्न-भिन्न आकार के है, प्रत्येक अपने मे एक विशिष्टता रखता है। परिणामस्वरूप, पदार्थों मे गुणो के कारण जो परस्पर भेद है वे यूनानी विद्वानो की दृष्टि मे न्यून होकर परिमाण सम्बन्धी भेदो मे परिणत हो जाते है, जबकि वैशेषिक मे इसके विपरीत है। इससे परिणाम यह निकलता है कि भारतीय दार्शनिक इस यूनानी मत को स्वीकार नही करता कि गुण परमाणु मे अन्तर्निहित नही है। डेमोक्रिटिस तथा एपिक्यूरस के मत मे परमाणु स्वतन्त्र से गतिमान् है, किन्तु कणाद के मत मे वे मुख्यत स्वय मे निष्क्रिय है। एक अन्य मौलिक भेद दोनो मे यह है कि जहा डेमोक्रिटस परमाणुओ से आत्माओ का बनना सम्भव मानता है, वहा वैशेषिक

१. शाकरभाष्य, २ : २, १४।
२. कीथ : इण्डियन लोजिक एण्ड एटोमिज्म, पृष्ठ १७–१८।

आत्माओं तथा परमाणुओं को नितान्त भिन्न मानता है और उसके मत में दोनों ही समान रूप से नित्यसत्ताएं हैं। यूनानी परमाणुवादियों ने विश्व के एक यन्त्रवादी विचार को विकसित किया और ईश्वर को इस जगत् से निकाल बाहर किया। परमाणु, जो संख्या में अनन्त हैं और आकृतियो में भिन्न-भिन्न प्रकार के है, अनन्त आकाश में से गिरते हैं और इस प्रक्रिया मे एक-दूसरे के साथ संघर्ष में आते हैं, क्योंकि बृहदाकार परमाणु लघुतर परमाणुओं की अपेक्षा अधिक शीघ्रता के साथ गति करते हैं। इस प्रकार एक प्रकार के भंवरों में पड़कर वे समूहों तथा लोकों का निर्माण करते हैं। कहा जाता है कि परमाणुओं की गतियों में परिवर्तन एक अनिश्चित विधि से होते हैं।[1] यद्यपि प्रारम्भिक वैशेपिकों ने स्पष्टरूप से ईश्वर की प्रकल्पना को स्वीकार नहीं किया तो भी उन्होंने धर्म (अदृष्ट) को अपने समस्त दर्शन का मुख्य सिद्धान्त करके माना है। इस प्रकार वैशेपिक के परमाणुवाद में जहां धार्मिक प्रवृत्ति का पुट पाया जाता है, वहां उसके प्रतिरूप यूनानी दर्शन में इसका सर्वथा अभाव है। इस प्रकार वैशेषिक-प्रतिपादित परमाणुवाद में कुछ ऐसे स्पष्ट लक्षण देखे जाते है जो यूनानी दर्शन के प्रभाव के कारण नहीं हो सकते। प्रारम्भिक भारतीय विचारधारा में परमाणुवाद की प्रकल्पना की पूर्ववर्तिता सरलतापूर्वक खोजी जा सकती है।

अभी कुछ समय पूर्व तक भौतिक विज्ञानशास्त्र में भी परमाणुवाद की प्रकल्पना का प्राधान्य था। किन्तु अभिनव प्रगति उक्त परमाणुवाद के अनुकूल नहीं है। अब पुंज अपरिवर्तनीय परिमाण नही रह गया है, बल्कि यह द्रुतगति से परिवर्तित होता है। यह वैद्युत शक्ति के अत्यन्त सूक्ष्म केन्द्रों मे परिणत होता है, जिन्हें कोई शारीरिक सहारा प्राप्त नहीं है, और जो अपेक्षाकृत विस्तृत दूरियों में बिखरे हुए हैं तथा इधर से उधर अत्यन्त द्रुतगति से उड़ते रहते है। उष्णता, प्रकाश और गति में भी, प्रकृति से अलग, गुरुत्व विद्यमान है। अब परमाणुओं को "इलैक्ट्रानों (विद्युदणुओं) की संहति माना जाने लगा है, और ये विद्युदणु आकाश (ईथर) से अपना स्वरूप प्राप्त करते हैं। परमाणु सौरमण्डल का एक लघुरूप है, जिसमे एक केन्द्रीय सूर्य है जो घूमता हुआ पुंज है और जिसके चारों ओर छोटे-छोटे विद्युदणु गुरुत्वाकर्षण के नियम के अनकूल उड़ते हैं। और यह गुरुत्वाकर्पण का सिद्धान्त ही पृथ्वी को सूर्य के साथ सम्बद्ध रखता है। परमाणुवाद की पुरानी प्रकल्पना नवीन तथ्यों की व्याख्या करने में असमर्थ है। तो भी विज्ञान के क्षेत्र में उक्त सिद्धान्त ने जो अभी तक विजय लाभ किया उसे देखते हुए मानना पड़ेगा कि यह एक सफल प्रकल्पना थी। परमाणुवाद ने 'सर्वचेतनवाद' को अपदस्थ कर दिया, क्योंकि जहां तक विज्ञान का सम्बन्ध है, 'सर्वचेतनवाद' निःसार होने के कारण स्वयं परास्त हो गया। किन्तु यूनान तथा भारत में भी इस प्रकल्पना को आध्यात्मिक दृष्टिकोण के आधार पर प्रस्तुत किया गया था विज्ञान की कसौटी पर कसकर एक सिद्धान्त के रूप में प्रस्तुत नहीं किया गया था। इस प्रसंग में प्रत्यक्षमूलक प्रमाणीकरण सम्भव नहीं है।[2] यह एक भावात्मक योजना है जिसे प्राकृतिक तथ्यों की

१. वालेस : एपिक्यूरियनिज़्म, पृष्ठ १००।

२. "परमाणुवाद की प्रकल्पना को प्राचीन काल में और आधुनिक काल में, कभी भी ठीक-ठीक

व्याख्या के लिए स्वीकार किया गया है। यह पर्यवेक्षण का विषय न होकर सिद्धान्त का प्रश्न है। इस प्रकल्पना को इस आधार पर स्वीकार करने के लिए कहा जाता है कि विश्व के अन्दर व्यवस्था तथा सामंजस्य का विचार इसको मानने के कारण है। इसलिए जब हम देखते है कि इसका व्याख्यात्मक महत्त्व अब नही रहा तो कोई कारण नही है कि अब क्यो न हम इस प्रकल्पना का प्रत्याख्यान कर दे।

७

गुण

द्रव्य तो अपना स्वतन्त्र अस्तित्व स्थिर रख सकता है, किन्तु गुण बिना आश्रय के नही रह सकता।[1] यह द्रव्य के अन्दर रहता है और स्वय अन्य गुणो को धारण नही करता। कणाद गुण की परिभाषा इस प्रकार करता है कि गुण वह है "जिसका अधिष्ठान द्रव्य हो, जिसमे और कोई गुण न हो, और जो किसी भी सयोग अथवा वियोजन का कारण न हो और न जिसका इनसे कोई सम्बन्ध हो।"[2] वैशेषिकसूत्र मे सत्रह गुण बताए गए है, अर्थात् रूप, रस, गन्ध, स्पर्श सख्या, परिमाण, पृथक्त्व (व्यक्तित्व), सयोग, विभाग, पूर्ववर्तित्व (परत्व), पश्चाद्वर्तित्व (अपरत्व), बुद्धि (ज्ञान), सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष और प्रयत्न।[3] प्रशस्तपाद उक्त सूची मे और सात गुणो को जोडता है और वे ये है: गुरुत्व, द्रवत्व, स्नेह (स्निग्धता), धर्म, अधर्म, शब्द और सस्कार।[4] लघुता, मृदुता और कठोरता को भी गुणो मे सम्मिलित करने के प्रयत्न किए गए, किन्तु उन प्रयत्नो मे सफलता नही मिली, क्योकि लघुता केवल गुरुता का अभाव है और मृदुता एव कठोरता केवल सयोग की भिन्न-भिन्न मात्राओ को दर्शाती है।[5] नव्य नैय्यायिक पूर्ववर्तित्व, पश्चाद्वर्तित्व और व्यक्तित्व को छोड देते है क्योकि इनमे से पहले दो देश और काल पर निर्भर करते है और व्यक्तित्व अन्योन्याभाव है। गुणो की सूची मे मानसिक तथा भौतिक दोनो प्रकार के गुण सम्मिलित है।

नित्य द्रव्यो के जो गुण है वे नित्य कहे जाते है, और अनित्य द्रव्यो के गुण अनित्य कहे जाते है। ऐसे गुण जो दो या दो से अधिक द्रव्यो मे पाए जाते हैं,

सिद्ध नहीं किया गया है। सही अर्थो मे, सिद्धान्त के रूप मे यह न तो कभी थी, न है, और न टिक सकती है। यह केवल एक कल्पनामात्र है। यद्यपि यह ठीक है कि इसके समान अन्य किसी कल्पना में वह क्षमता या टिकने की शक्ति नहीं है जिसके कारण भौतिक तथा रासायनिक विज्ञान दोनों को ही आज तक आगे अनुसन्धान का एक तैयार क्षेत्र मिलता गया। फिर भी यह है एक कल्पना ही, और क्योंकि इसमे ऐसे तथ्यों के विषय मे धारणाएं बना ली गई हैं जो मानवीय ज्ञान के क्षेत्र से सुदूर हैं, अतः इसकी धारणाएं कभी कसौटी पर कसी नहीं जा सकतीं" (गौम्पजकृत ग्रीक थिंकर्स, खण्ड १, पृष्ठ ३५३)।

१. सांख्यदर्शन में गुण शब्द एक विशेष अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।

२. १ : १, १६। देखिए प्रशस्तपादकृत पदार्थधर्मसंग्रह, पृष्ठ ९४।

३. १ : १, ६।

४. प्रशस्तपादकृत पदार्थधर्मसंग्रह, पृष्ठ १०।

५. तर्कसंग्रहदीपिका, ४।

सामान्य गुण कहलाते है, तथा जो एक ही द्रव्य में रहते है, विशेष गुण कहलाते हैं। रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, स्निग्धता, प्राकृतिक तरलता, बुद्धि, सुख, दु:ख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म, सस्कार और शब्द विशेष गुण है जो अपने गुणी पदार्थों को अन्यों से विशिष्ट करके प्रस्तुत करते है। संख्या, परिमाण, व्यक्तित्व, सयोग, विभाग, पूर्ववर्तित्व, पश्चाद्वर्तित्व, गुरुता, कृत्रिम तरलता, द्रुतगति सामान्य गुण है।[1] ये गुण सब द्रव्यो मे समान है और अपने निजी स्वरूप मे मनोगत गुण है। वे ऐसे विषयनिष्ठ नही है जैसेकि अन्य गुण है। उदाहरण के रूप मे, सख्या को विषयनिष्ठ गुण समझा गया है। एक ही पदार्थ एक या अनेक रूप मे देखा जा सकता है। सख्या, परिमाण, व्यक्तित्व, सयोग और विभाग सब द्रव्यो मे पाए जाते है। काल और देश मे तो अन्य कोई गुण नही है, किन्तु आकाश मे शब्द गुण भी है। मन मे, जिसे मूर्तरूप माना जाता है, परमाणुओ से बने द्रव्यो के सात गुण है और द्रुत गति भी है। आत्मा मे पाच सामान्य गुण है, और नौ गुण विशेष है, यथा बुद्धि, सुख, दु.ख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म और अधर्म और मानसिक प्रभावोत्पादक क्षमता। ईश्वर मे पाच सामान्य गुण है और इनके अतिरिक्त ज्ञान, इच्छा और प्रयत्न भी है।[2] गुणो मे एक भेद और किया गया है अर्थात् एक वे जिनका प्रत्यक्ष ज्ञान हो सकता है, दूसरे वे जो प्रत्यक्ष द्वारा नही जाने जा सकते। धर्म और अधर्म, गुरुता तथा क्षमता प्रत्यक्ष के विषय नही है। एक अन्य प्रकार से भी गुणो मे भेद किया जा सकता है, जैसे रूप, रस, गन्ध और स्पर्श तथा शब्द ये केवल एक ही इन्द्रिय के द्वारा जाने जा सकते है, और दूसरे वे है, जैसे सख्या परिमाण, व्यक्तित्व, संयोग और विभाग, पूर्ववर्तित्व, पश्चाद्वर्तित्व, तरलता, स्निग्धता, और गति, जिनका ज्ञान दो इन्द्रियो के द्वारा होता है। आत्मा के गुण—यथा ज्ञान, सुख, दु:ख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न—मन के द्वारा जाने जा सकते है।[3]

रूप ऐसा गुण है जिसका बोध केवल आख द्वारा होता है और यह गुण पृथ्वी जल, और अग्नि में पाया जाता है, यद्यपि पिछले दो मे यह स्थायी रूप से रहता है। पृथ्वी में ताप देने से इस गुण मे विविधता आती है। रूप (रग) भिन्न-भिन्न है और सात प्रकार के माने गए है, यथा श्वेत, नीला, पीला, लाल, हरा, भूरा और चित्र-विचित्र। रस उन पदार्थों का गुण है जिनका बोध केवल जिह्वा के द्वारा होता है। पृथ्वी और जल मे रस है। इसके पाच प्रकार स्वीकार किए गए है . मीठा, खट्टा, चरपरा, कसैला और तिक्त (कड़ुआ)। गन्ध एक विशेष गुण है जिसका बोध केवल नासिका द्वारा ही हो सकता है। यह या तो सुगन्ध होती है अथवा दुर्गन्ध होती है, और यह पृथ्वी का गुण है। स्पर्श ऐसा गुण है जो केवल त्वचा के द्वारा ही जाना जा सकता है। स्पर्श तीन

१. प्रशस्तपादकृत पदार्थधर्मसंग्रह, पृष्ठ ९७–९९।
२. भाषापरिच्छेद, पृष्ठ २५–३४।
३. प्रशस्तपादकृत पदार्थधर्मसंग्रह, पृ० ९९।

प्रकार का माना गया है, ठण्डा, गरम और न ठण्डा न गरम। इससे हमे यह प्रतीत होता है कि स्पर्श यथार्थ मे तापमान ही है। यह पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु मे रहता है। कभी-कभी खुरदरापन, कठोरता, चिकनाहट, और कोमलता भी स्पर्श के अन्दर सम्मिलित कर लिए जाते है।[1] शब्द आकाश का गुण है।

संख्या वस्तुओ का ऐसा गुण है जिसके कारण हम एक, दो, तीन जैसे शब्दों का व्यवहार करते हैं। इन संख्याओ मे एकत्व नित्य भी है और अनित्य भी, किन्तु अन्य सब संख्याए अनित्य ही हैं। जब हम घडे को देखते है तो हमे एकत्व अथवा दृष्ट पदार्थ की एकता का ज्ञान होता है। जब हम दूसरा घडा देखते है तो उसके भी एकत्व का ही बोध होता है और उसमे द्वित्व नही है। दो पदार्थो के एकत्वो का एकसाथ विचार करने से द्वित्व की भावना उत्पन्न होती है। पहली संख्या के अतिरिक्त बाकी सब संख्याओ का भाव विचार की क्रिया के कारण (अपेक्षाबुद्धि) होता है।[2]

आयाम (परिमिति) वस्तुओ का वह गुण है जिसके कारण हम वस्तुओ को मापते है और उन्हे बडा या छोटा लम्बा या ठिगना, करके जानते है। नित्य द्रव्यो मे आयाम भी नित्यरूप से तथा अनित्य द्रव्यो मे अस्थायी रूप से रहता है। आकाश मे परम महत्त्व है, इसी प्रकार एक परमाणु मे परम क्षुद्रता (पारिमाण्डल्य) है। अनित्य द्रव्यो का आयाम संख्या, विस्तार तथा उनके बनानेवाले हिस्सो की व्यवस्था से जाना जाता है।[3] द्व्यणुक सूक्ष्म है तथा अन्य सब परिमित विस्तार वाले है।

पृथक्त्व पदार्थों के परस्पर-भेद का आधार है।[4] यह स्वरूप मे यथार्थ है, भावात्मक नही है। जैसे द्रव्य मे इसका अधिष्ठान होता है उसीके अनुकूल यह नित्य अथवा अस्थायी होता है। जहा व्यक्तित्व अनित्य पदार्थों मे भी रहता है वहा विशेषत्व नित्य द्रव्यो का गुण है। व्यक्तित्व वस्तुओ की संख्या-सम्बन्धी भिन्नताओ का प्रतिपादन करता है, किन्तु विशेषत्व वस्तुओं की गुणात्मक विशेषता का प्रतिपादन करता है।

संयोग और विभाग,[5] क्रमश जो वस्तुए पहले पृथक् थी उनके परस्पर जुडने को तथा जो पहले संयुक्त थी उनके पृथक होने को बतलाते है। संयोग किसी एक पदार्थ की गति से होता है, जैसेकि एक उडती हुई चील किसी खम्भे पर आ बैठती है, अथवा दोनो पदार्थों की गति से होता है, जैसे दो लडते हुए मेढे एक-दूसरे से सिर टकराते है। संयोग एक अन्य संयोग के द्वारा भी होता है। जब हम लिखते है तो कलम और कागज के संयोग से हाथ का संयोग भी कागज के साथ हो जाता है। संयोग संयुक्त होनेवाले दो

१. अन्नंभट्टकृत तर्कसंग्रह, पृष्ठ १५५–५६।

२. न्यायकन्दली, पृष्ठ १[illegible]–१९; उपस्कार, ७ : २, ८। जहा न्याय का यह मत है कि द्वित्व आदि एकत्व के समान ही यथार्थ है, यद्यपि उनकी अभिव्यक्ति बोध के द्वारा होती है, वहा वैशेषिक का मत है कि इन संख्याओ की बुद्धि द्वारा केवल अभिव्यक्ति नहीं [illegible] निर्माण होता है। इस विषय में वैशेषिक यह भूल जाता है कि जब तक केवल एक ही पदार्थ रहता है तब तक एकत्व का विचार भी उत्पन्न नहीं हो सकता। द्वित्व के विचार की भांति, इसे भी विचार के प्रयोग की आवश्यकता होती है।

३. वैशेषिकसूत्र, ७ : १, ८–९। ४. वैशेषिकसूत्र, ७ : २, २।

५. प्रशस्तपादकृत पदार्थधर्मसंग्रह, पृ० १३९ से आगे, १५१ से आगे।

पदार्थों का पहले पृथक् रहना आवश्यक है, इसलिए दो सर्वव्यापक पदार्थों का परस्पर संयोग नहीं हो सकता, क्योंकि वे एक-दूसरे से कभी अलग नहीं होते। इसी प्रकार विभाग भी दो पदार्थों मे से एक अथवा दोनों की गति से अथवा किसी अन्य विभाग के द्वारा होता है। पदार्थों के अन्दर जो परिवर्तन होते है वे संयोग और विभाग के कारण ही होते है।

पूर्ववर्तित्व और पश्चाद्वर्तित्व[1] काल अथवा देश मे दूर या समीप के भावों के एक समान आधार है। इन दोनों को वस्तुतः गुण न कहकर मूर्त पदार्थों के परस्पर-सम्बन्ध कहना चाहिए। प्रशस्तपाद स्वीकार करता है कि ये सम्बन्ध निरपेक्ष नही है।[2]

सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष और प्रयत्न तथा ज्ञान आत्मा के गुण है। गुरुता पदार्थ का वह गुण है जिसके कारण पदार्थों का झुकाव गिरते समय भूमि की ओर होता है।[3] पृथ्वी और जल के परमाणुओं की गुरुता नित्य है, जबकि पदार्थों की गुरुता अनित्य है। तरलता, जो प्रवाहरूपी क्रिया का कारण है, या तो सांसिद्धिक है अथवा नैमित्तिक है। जल स्वभावतः तरल है, किन्तु पृथ्वी मे तरलता विजातीय हेतुओं के कारण आती है।[4] स्निग्धता जल का गुण है और संयुक्त होने तथा चिकनेपन आदि का कारण है।[5] धर्म और अधर्म आत्मा के गुण है, जिनके कारण यह सुख का अनुभव करती है अथवा दुःख भोगती है। अदृष्ट वह शक्ति है जो आत्माओं तथा वस्तुओं मे उत्पन्न हुई है और जिसके कारण विश्व की व्यवस्था सम्पन्न होती है और आत्माएं अपने पूर्वकर्मों के फलों का उपभोग करती है। वैशेषिक मे यह समस्त तार्किक कठिनाइयों को दूर करने की अचूक औषधि है। जिस किसीकी भी अन्य किसी प्रकार से व्याख्या न की जा सके उसका कारण अदृष्ट बतला दिया जाता है। सुई की गति चुम्बक की ओर होने, पौधों मे आर्द्रता के प्रसार, अग्नि के ऊर्ध्वगामी होने, वायु की गति और परमाणुओं की प्रारम्भिक गति इन सबका कारण अदृष्ट ही बताया गया है।[6] किसी भी घटना की व्याख्या-विषयक जिज्ञासा के सम्बन्ध मे यह कह देना कि यह एक शक्ति के कारण हुई पर्याप्त समझा जाता है। वैशेषिक की योजना मे अदृष्ट नाटककारों के दैवी साहाय्य के समान है, जो ऐसी अवस्था में जबकि उलझन को दूर करने का और कोई साधन उपलब्ध न हो, स्वर्ग से उतरकर दुःखद गांठ को काटकर समस्या को सुलझा देते है। वैशेषिक दर्शन की सीमाओं पर ही अदृष्ट को अपना कार्य करने के लिए क्षेत्र मिलता है। विश्व का आदि, उसकी व्यवस्था तथा सुन्दरता, वस्तुओं का लक्ष्य और उपाय के रूप मे एक-दूसरे से जुड़ना —

१. प्रशस्तपादकृत पदार्थधर्मसंग्रह, पृष्ठ १६४ से आगे।

२. प्रशस्तपादकृत पदार्थधर्मसंग्रह, पृष्ठ ६६।

३. वैशेषिकसूत्र, ५, १, १७–१८; ५ : २, ३; प्रशस्तपादकृत पदार्थधर्मसंग्रह, पृ० २६३।

४. प्रशस्तपादकृत पदार्थधर्मसंग्रह, पृष्ठ २६४।

५. प्रशस्तपादकृत पदार्थधर्मसंग्रह, पृष्ठ २६६।

६. ५ : १, १५; ५ : २, ७, १३; ४ : २, ७। केप्लर ने ग्रह-उपग्रहों की गतियों की व्याख्या करते हुए उन्हें अन्तरिक्षव्यापी आत्माओं के कारण उत्पन्न होनेवाली बताया है (वेवल कृत हिस्टरी आफ दि इण्डक्टिव साइंसेज, तृतीय संस्करण, खण्ड १, पृष्ठ ३१५)।

सभी का कारण अदृष्ट बताया गया है। परवर्ती विचारको ने जब ईश्वर की यथार्थता को स्वीकार कर लिया, तो अदृष्ट को वह माध्यम मान लिया गया जिसके द्वारा ईश्वर की इच्छा अपना कार्य करती है। सस्कार तीन प्रकार का है : वेग, जो किसी पदार्थ को गति मे रखता है; भावना, जिसके द्वारा आत्मा पूर्वकाल मे अनुभूत वस्तुओं को स्मरण करने तथा पहचानने योग्य होती है, और स्थिति-स्थापकना, जिसके कारण वस्तु छोड़ी जाने पर भी फिर से अपनी पहली स्थिति मे आ जाती है। पाच भौतिक द्रव्यों में वेग कर्म अथवा गति के द्वारा उत्पन्न होता है, और इसका प्रतिकार स्पर्श-योग्य ठोस द्रव्यों के सयोग से होता है। स्थिति-स्थापकना ऐसे द्रव्यो मे रहती है जो सिकुडने और फैलते है।

कर्म अथवा क्रिया

कर्म अथवा गति[1] को विश्व का एक ऐसा तत्त्व माना गया है जिसे और कम नही किया जा सकता। यह न तो द्रव्य है और न गुण ही है, बल्कि अपने-आपमे एक स्वतन्त्र पदार्थ है। तमाम गतियो का द्रव्यो मे उसी तरह सम्बन्ध है जैसेकि गुणो का है। केवल भेद यह है कि गुण द्रव्य का स्थायी स्वरूप है, जबकि क्रिया क्षणिक स्वरूप है। गुरुता शरीर का एक गुण है किन्तु उसका गिरना एक घटना है। वे गुण जो निरन्तर अपना अस्तित्व रखते है, गुण कहलाते है, और जिनका अस्तित्व नही रहता वे कर्म कहलाते है। निरन्तर रहनेवाले तथा घटित होनेवाले गुणो मे यह एक भेद है।[2] कणाद कर्म की परिभाषा करते हुए कहते है कि कर्म वह है जो एक ही द्रव्य मे रहता है, गुणो से रहित है तथा सयोग और विभाग का सीधा तथा तात्कालिक कारण है।[3] गतियो के पाच प्रकार के भेद बताए गए है, अर्थात् ऊर्ध्वगति, अधोगति, सकोच, विस्तार तथा सामान्य गति। कर्म अपने सरलतम रूप मे तात्कालिक होता है, जबकि वेग एक निरन्तर प्रवृत्ति है जो गतियों की शृखला की द्योतक है। कर्म अपने सभी रूपो म अस्थायी है, और अपने आधारभूत द्रव्य के परवर्ती सयोग अथवा विनाश के साथ ही समाप्त हो जाता है। आकाश, काल, देश तथा आत्मा यद्यपि द्रव्य है, तथापि अमूर्त होने के कारण कर्म से रहित है।[4]

१. कर्म से तात्पर्य यहा गति से है, धार्मिक कर्म अथवा कार्य-कारणभाव के नैतिक विधान से नही है।

२. तुलना कीजिए, डब्ल्यू० ई० जानसन : लॉजिक, खण्ड १, पृष्ठ ३७।

३. वैशेषिकसूत्र, १ : १, ७।

४. वैशेषिकसूत्र, ५ : २, २१ ; ७ : १, २१। यह संदेहास्पद है कि कणाद आत्मा को कर्म-विहीन मानते है।

९

सामान्य

जब हम द्रव्यो की अनेकता को स्वीकार कर चुके तो प्रकट है कि उनमे पारस्परिक सम्बन्ध भी है। द्रव्यों को एक समान होना चाहिए क्योकि वे सभी द्रव्य है; उन्हे एक-दूसरे से भिन्न भी होना चाहिए क्योकि पृथक-पृथक् द्रव्य है। जब हम किसी गुण को अनेक पदार्थों मे निहित पाते है तो हम उसे 'सामान्य' कहते है। किन्तु जब हम उस गुण को इन पदार्थों को अन्य पदार्थों से पृथक् करनेवाला पाते हैं तो हम उसे 'विशेष' कहते है। ऐसा प्रतीत होता है कि कणाद 'सामान्य' को एक भावात्मक पदार्थ मानते हैं।[1] जब हम प्रशस्तपाद के पास पहुचते है तो भावात्मक विचार का स्थान अधिक प्रचलित यथार्थवादी सिद्धान्त ले लेता है, जिसके अनुसार सामान्य नित्य है, एक है, और द्रव्य, गुण अथवा कर्म श्रेणी की अनेको वस्तुओ मे रहता है। संयोग तथा द्वैत अनेक वस्तुओ मे घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध है, किन्तु वे नित्य नही है। आकाश नित्य है किन्तु अनेक वस्तुओ से सम्बद्ध नही है। अत्यन्ताभाव नित्य है और अनेक वस्तुओ का गुण भी है, किन्तु उनके साथ घनिष्ठ सम्बन्ध नही रखता, अर्थात् अनेक वस्तुओ का निर्माण करनेवाला अवयव नही है। इसी प्रकार 'विशेष', 'सामान्य' नही है, क्योकि उस अवस्था मे यह अपने स्वरूप को खो बैठेगा तथा सामान्य के साथ मिश्रित किया जाने लगेगा। घनिष्ठ सम्बन्ध (समवाय) को सामान्य के साथ मिश्रित न करना चाहिए, क्योकि उस अवस्था मे इसे समवाय के साथ समवाय-सम्बन्ध की आवश्यकता होगी, और इस सिलसिले का कही अन्त न होगा। सामान्य, जिसके धारण करने से विभिन्न व्यष्टियो को एक श्रेणी मे रखा जाता है, अपने-आपमे एक स्वतन्त्र पदार्थ है। यह नित्य है, एक है तथा अनेको के अन्दर रहता है (अनेकानुगतम्)। यह एक समान स्वरूप के साथ (अभिन्नात्मकम्) अपनी श्रेणी के सब पदार्थों मे रहता है (स्वविषयसर्वगतम्), तथा अनुवृत्तिप्रत्यय कराने का कारण है।[3] द्रव्य गुण और कर्म मे तो सामान्य है, किन्तु

१. २ : १, ३ से आगे। देखिए ३ : २, १६। प्रशस्तपाद के अनुसार गतियों का क्षेत्र केवल भौतिक शरीरों, परमाणुओं तथा मन तक ही सीमित है।

२. उदयन का कहना है कि जहां केवल एक ही विशेष है, जैसे आकाश (अभेद), जहां व्यक्तित्व का भेद नहीं है, जैसे घट तथा कलश (तुल्यत्व), जहां भिन्न-भिन्न वर्गों के पदार्थों का सम्मिश्रण (संकर) है, जहां अन्तविहीन पश्चादगति (अनवस्था) है, जहां स्वरूप का विरोध (रूपहानि) है, जहां कोई सम्बन्ध नहीं है, वहां कोई जाति अथवा सामान्य नहीं है। देखिए सिद्धान्तमुक्तावलि, पृष्ठ ८।

अद्वैत जाति को स्वीकार नहीं करता। यह स्वीकार करते हुए कि घटत्व स्वयं घट ही है, वह यह मानने को उद्यत नहीं है कि जाति अपने-आपमें कुछ है। देखिए वेदान्तपरिभाषा, १।

३. तुलना कीजिए क्लार्क की परिभाषा से : "पदार्थ का सार उस पदार्थ के स्वरूप का नाम है जो उस वर्ग तथा नाम के अन्यान्य पदार्थों में समान रूप से है। यह एक ऐसा स्वरूप है जो सबमें पूर्ण रूप से एक समान है और हमारी धारणा के अनुसार, सबमें केवल एक समान ही नहीं बल्कि एक ही है। यह ऐसा स्वरूप है जो सब वस्तुओं के समान गुणों का उद्भव-स्थान है, जिसके कारण वे एक-

सामान्य, विशेष, समवाय तथा अभाव मे कोई सामान्य नही है। एक सामान्य अन्य सामान्य में नही रह सकता। वृक्षत्व तथा घटत्व अपने-आपमें सामान्य हैं और इसलिए इन सबमें एकसमान रहनेवाला अन्य कुछ नही हो सकता, क्योकि उस अवस्था मे हम एक प्रकार की अंत-रहित पश्चाद्गति मे पड़ जाएंगे।

सामान्य दो प्रकार का है, उच्चतर तथा निम्नतर। उच्चतम सामान्य सत्ता-सम्बन्धी है।[1] इसके अन्तर्गत अधिकतम वस्तुएं आ जाती हैं। यह अपने अन्दर सबको समाविष्ट कर लेता है किन्तु स्वयं किसीके अन्दर समाविष्ट नही होता। यह किसी उच्चतर जाति की उपजाति नही है। सत् ही अकेला यथार्थ सामान्य है, और विशिष्ट स्वयं ही यथार्थ विशेष है। और इन दोनों के मध्य हमें सामान्य-विशेष मिलते हैं, जैसेकि द्रव्य और शेष पदार्थ जिनमें कुछ परिमित वस्तुएं आती हैं। ये पिछले पदार्थ सर्वग्राही तथा ऐकान्तिक बोधों का आधार हैं, क्योंकि ये उपजाति और जाति दोनो हैं।[2] विस्तार से सामान्य की कोटि का निर्णय होता है।

अखण्ड तथा सखण्ड में और जाति तथा उपाधि में भी भेद किया गया है। जाति वस्तु के साथ उत्पन्न हुई है, प्राकृतिक तथा नित्य है। उपाधि संयोगवश तथा अस्थायी है। प्रत्येक सामान्य-लक्षण जाति नही है। क्योंकि कुछ मनुष्य अन्धे हैं, इसलिए हम अन्धेपन को 'जाति' के नाम से नही पुकार सकते। मनुष्यो का वर्गीकरण मानव के रूप में जाति है। किन्तु राष्ट्रीयता अथवा भाषा की दृष्टि से उनका पृथक्-पृथक् वर्गीकरण उपाधि है। मानव-जाति मनुष्यो को दूसरे जन्तुओं से पृथक् करती है, किन्तु काला वर्ण काले लोगो को काली भेडों या काले पत्थरों से अलग नहीं कर सकता। पहला वर्गीकरण स्वाभाविक है, किन्तु दूसरा कृत्रिम है।

दूसरे के समान दिखाती हैं तथा हमारे मन पर एक-सा प्रभाव डालती हैं। यह वह स्वरूप है जो बुद्धि और केवल बुद्धि के द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है, क्योंकि यह अभौतिक और अतीन्द्रिय रूप है" (लॉजिक)।

जैन मतानुयायी सामान्य को वस्तुरूप, अनित्य तथा सीमित अर्थात् असर्वगत मानते हैं। यह वर्ग के सदस्यों का एकसमान लक्षण है। न्याय-वैशेषिक तथा पूर्वमीमांसा के मत में, सामान्य एक यथार्थ तत्वरूप में इस जगत में अपना यथार्थ-निरपेक्ष प्रतिरूप रखता है, जो विशिष्टों से भिन्न है, एक है, नित्य तथा सर्वगत है। जैनियों के अनुसार, सामान्य की यथार्थता विशिष्टों के सादृश्य अथवा एकसमान स्वरूप में निहित है, और वह एक नहीं किन्तु अनेक है तथा अनेक विशिष्टों में विद्यमान है, और अनित्य है अर्थात् विशिष्ट के साथ-साथ उत्पन्न होता है और नष्ट होता है, सर्वगत नहीं बल्कि उसी विशिष्ट तक सीमित है जिसके अन्दर कि वह रहता है।

१. वैशेषिकसूत्र, १ : २, ४, ७-१०, १७ : प्रशस्तपादकृत पदार्थधर्मसंग्रह, पृष्ठ ३११।

२. प्रशस्तपादकृत पदार्थधर्मसंग्रह, पृष्ठ ११। देखिए यूइ, 'दि वैशेषिक फिलासफी', पृष्ठ ९९-१००। तुलना कीजिए 'सप्तपदार्थी', पाठ ५ : 'सामान्य परम् अपर परापरं चेति त्रिविधम्।'

३. न्यायसूत्र, २ : २, ७१। जैन दार्शनिक सामान्य का वर्गीकरण दो प्रकार का करते हैं, एक स्वस्तिका के समान एक-दूसरे को काटते हुए और दूसरा खड़ा लम्बायमान। स्वस्तिका के आकार वाला

प्रशस्तपाद के अनुसार सामान्य व्यक्तिरूप पदार्थों से स्वतन्त्र एक यथार्थ सत्ता है। परवर्ती वैशेषिक सामान्यों की स्वतन्त्र सत्ता के यथार्थवादी मत को स्वीकार करते हैं, जो कहा जाता है कि प्रलयकाल में भी विद्यमान रहते हैं। इस मत के अनुसार, सामान्य प्लेटो की काव्यमयी कल्पना के पृथक्, अतीन्द्रिय, प्रमुख आदर्शमय रूपों के अनुकूल है।[1] जहां कणाद ने विचार की क्रियाशीलता पर बल दिया और इसीलिए सामान्य तथा विशिष्ट के सम्बन्ध को अविभाज्य बतलाया, वहां प्रशस्तपाद ने सामान्यों के नित्यस्वरूप पर बल दिया। इस प्रकार उसे बाध्य होकर यह मत स्वीकार करना पड़ता है कि सृष्टि की रचना में सामान्य विशिष्टों के अन्दर प्रवेश करते हैं और अपने लिए अस्थायी अभिव्यक्तियों की सृष्टि करते हैं।[2] इस प्रकार की स्थिति की कठिन समस्या है सामान्य तथा विशिष्ट का सम्बन्ध, अर्थात् तत्त्व तथा अस्तित्व का सम्बन्ध। प्रशस्तपाद का मत प्लेटो के यथार्थवाद के ही समान है, जिसके अनुसार इन्द्रियगम्य वस्तुओं का जो रूप है वह विचारों के सामान्य रूपों में भाग लेने के कारण है, और विचार नित्य तथा आत्मनिर्भर है। प्लेटो के मत[3] के विरुद्ध जितनी भी आपत्तियां हैं वे यहां भी लागू होती हैं—अर्थात् यह कि यह समझ में आना भी मुश्किल है कि किस प्रकार बिना विभाग अथवा गणन के विचार विशिष्टों

अनेकों अवस्थाओं में एकसमान है, जबकि ऊर्ध्वतासामान्य किसी सादृश्य को या पदार्थ की पूर्व तथा पश्चात् अवस्थाओं में स्थिर रहता है। पहला स्थिररूप सामान्य है और पिछला क्रियाशील सादृश्य है। देखिए प्रमाणनयतत्त्वालोकालङ्कार, ५ : ३–५।

१. अरस्तू के लिए गए निम्नलिखित उद्धरण समस्या की कठिनाइयों को समझने में सहायक हैं। अपने 'मैटाफिजिक्स' नामक ग्रन्थ में अरस्तू कहता है: "दो बातें ऐसी हैं जिनका श्रेय यथार्थ में सुकरात को दिया जा सकता है—आगमनात्मक अनुमान-सम्बन्धी तर्क और सामान्य-विषयक परिभाषा, ये दोनों ही विज्ञान के प्रारम्भ से सम्बद्ध हैं। किन्तु सुकरात ने सामान्यों अथवा परिभाषाओं को पृथक् नहीं किया। तो भी उसके उत्तराधिकारियों ने उन्हें पृथक् अस्तित्व दिया और इस प्रकार उन्होंने विचारों का नाम दिया।" (रोसकृत आंग्लभाषानुवाद, १०७८ बी २८)। सुकरात के साथ सहमत होकर अरस्तू प्लेटो के अनुयायियों की आलोचना करता है: "वे विचारों को एकसाथ सामान्य द्रव्य और पृथक् व विशिष्ट मानते हैं। यह चीज सम्भव नहीं है, यह पहले दिखाया जा चुका है। उन व्यक्तियों ने जो कहते हैं कि विचार सामान्य हैं, दो मतों को जो एक में मिला दिया उसका कारण यह है कि उन्होंने आदर्श द्रव्यों तथा इन्द्रियगम्य वस्तुओं को एकसमान नहीं माना। उन्होंने सोचा कि इन्द्रियगम्य विशिष्ट पदार्थ एक प्रवाह की अवस्था में हैं और उनमें से कोई भी शेष नहीं रहता, किन्तु सामान्य इनसे पृथक् और भिन्न है। और सुकरात ने इस कल्पना को प्रेरणा दी अपनी परिभाषाओं के द्वारा। किन्तु उसने उन्हें विशिष्ट पदार्थों से पृथक् नहीं किया था, और उचित ही सोचकर पृथक् नहीं किया था।" (मैटाफिजिक्स, १०८६ बी ३२, रोसकृत आंग्लभाषानुवाद)।

२. तुलना कीजिए इस मत से टॉमस एक्वाइनस के मत की कि सामान्यता न केवल प्रमेय पदार्थों में केवल सम्भाव्य क्षमता के रूप में ही नहीं है, वरन् क्रियाशील है और सामान्य केवल समझने का ही विषय नहीं है, बल्कि मानसिक भाव से पूर्व यथार्थता के रूप में विद्यमान रहता है और सामान्य अथवा विशिष्ट अस्तित्व की अपेक्षा नहीं करता।

३. देखिए प्लेटोकृत 'परमेनाइडीज़'।

मे भाग ले सकते है और विशिष्ट विचारो मे भाग ले सकते है; तथा यह कि एक और भी उच्चतर सामान्य की आवश्यकता है जो विचार को उसके अनुकूल विशिष्टो के साथ सम्बद्ध कर सके; और तथाकथित तीसरे व्यक्ति की युक्ति।

सामान्यो की पदार्थशास्त्र-विषयक स्थिति के प्रश्न पर भारत के विभिन्न सम्प्रदायो मे भी मध्यकालीन यूरोप के सम्प्रदायो की भाति घोर बहस होती रही है। यह स्पष्ट है कि वैशेषिक बौद्धो के इस मत से सर्वथा सहमत नही है कि सामान्यता का भाव केवल नाममात्र ही है। बौद्धो के मत मे, सामान्यता का नामो के साथ ही सम्बन्ध है।[1] और उसकी विषयनिष्ठ सत्ता कुछ नही है। विशिष्टो मे कोई ऐसे समान लक्षण नही होते कि जिन्हे सामान्य कहा जाता है। यदि गाय के विशिष्ट व्यक्तित्व को किसी सामान्य अवयव की आवश्यकता हो तो उस अवयव को किसी अन्य और फिर उसको भी किसी अन्य अवयव की आवश्यकता होगी और इस प्रकार इस शृङ्खला का कही अन्त न होगा। 'सामान्य' प्रत्यक्ष ज्ञान का विषय नही है। सामान्यता के भाव का निर्माण हम भूतकाल के अनुभवो के परिणाम के रूप मे करते है और उसे भूल से बाह्य पदार्थो पर [illegible] देते है।[2] श्रीधर इस मत का खण्डन करता हुआ कहता है

1. तुलना कीजिए हौब्स : 'सामान्य कुछ नहीं है, केवल नाम है।' (ह्यूमन नेचर, ५ [illegible] ६)।

2. देखिए 'न्यायमञ्जरी' [illegible] में सामान्यदूषणदिक्प्रसारिता। जयन्त सामान्य तथा विशिष्ट के [illegible] सम्बन्धी [illegible] मत के विरोध में तर्क उपस्थित करता है। इस आक्षेप का कि सामान्य विशिष्ट से भिन्न नहीं है क्योंकि वह विशिष्ट से अलग देश के किसी भिन्न भाग को नहीं घेरता, समाधान इस विचार मे हो जाता है कि सामान्य विशिष्ट के अन्दर रहता है। अगला प्रश्न है कि क्या सामान्य पूर्णरूप मे अथवा अंशत विशिष्ट के अन्दर रहता है। यदि सामान्य हिस्सों मे मिलकर बना है तो उसका नाश भी हो सकता है, और वह नित्य नहीं हो सकता। इस प्रकार यह पूर्णरूप में ही विशिष्ट के अन्दर रहता है, और इसे एक ही विशिष्ट के अन्दर समाप्त हो जाना चाहिए। किन्तु जयन्त विरोध में कहता है कि अनुभव इस तथ्य का साक्षी है कि सामान्य यद्यपि पूर्णरूप से प्रत्येक विशिष्ट में विद्यमान है तो भी इतर सारे विशिष्टो मे सदा विद्यमान रहता है। बौद्धमतानुयायी बलपूर्वक कहता है कि सामान्य को या तो व्यापक (सर्वगत) होना चाहिए अथवा कुछ विशिष्टों में जो उसी वर्ग के है, सीमित (पिण्डगत) होना चाहिए। किन्तु दोनो मे से कोई भी सम्भव नहीं है। यदि सामान्य सब पदार्थों मे पाया जाता है तो गोत्व को घोडो तथा पत्थरो इत्यादि सबमें पाया जाना चाहिए। इस प्रकार [illegible] का [illegible] हो जायगा। यदि सामान्य विशिष्टो के एक चुने हुए समूह मे विद्यमान रहता है (स्वव्यक्तिसर्वगत), तो यह कैसे होता है कि हम गाय के एक नवजात शिशु मे भी गोत्व का प्रत्यक्ष करते है, यदि वह गाय के उत्पन्न होने से पूर्व वहा विद्यमान न था? हम यह नहीं कह सकते कि सामान्य विशिष्ट के साथ ही उत्पन्न हुआ क्योंकि सामान्य नित्य है। और न इसे किसी अन्य विशिष्ट से आया हुआ कहा जा सकता है, क्योंकि सामान्य अमूर्त है और गति नहीं कर सकता, और हम इसे किसी अन्य विशिष्ट से आते हुए देखते भी नहीं। [illegible] विशिष्ट का नाश हो जाता है तो क्या सामान्य लुप्त हो जाता है? जयन्त उत्तर देता है कि यह सर्वत्र अर्थात सब विशिष्टो में विद्यमान रहता है, यद्यपि सब विशिष्टो में यह न व्यक्त होता है और न देखा जा सकता है, और यद्यपि यह भी कहा जायगा कि इसकी अभिव्यक्ति ही इसकी विद्यमानता का प्रमाण है। इसलिए यह कल्पना करना अनुचित है कि सामान्य 'गाय' इस विशिष्ट अभी-अभी उत्पन्न गाय मे इसकी उत्पत्ति से पहले नहीं थी और इसकी उत्पत्ति के समय ही इसमे आती है, क्योंकि सामान्य गति करने के अयोग्य है। यह स्वीकार

कि "वस्तुतः हमें एक ऐसी वस्तु का ज्ञान रहता है जो सब गौओं मे विद्यमान है और जो उनको अन्य सब पशुओं, अर्थात् घोडे आदि से भिन्न करती है। यदि सब भिन्न-भिन्न प्रकार की गौओं मे कोई एक ऐसा सामान्य लक्षण उपस्थित न होता तो एक गाय अन्य गौओ से उसी प्रकार भिन्न दिखाई पडती जैसेकि एक घोडा भिन्न दिखाई पडता है। अथवा, इसके विपरीत, घोडा और गाय दोनों ऐसे ही एकसमान दिखाई देते जैसे दो गौएं दिखाई देती है, क्योकि दोनों अवस्थाओ मे कोई भेद न रह जाता। किन्तु वास्तविक स्थिति यह है कि सभी गौएं एकसमान दिखाई देती हैं। इससे यह स्पष्ट है कि कोई ऐसा अंश अवश्य है जो सब गौओ मे तो विद्यमान है किन्तु घोडे आदि अन्य पशुओ मे नही है।"[1] श्रीधर का तर्क है कि शब्दो का व्यक्तार्थ सामान्य लक्षणो की यथार्थता का रूप धारण कर लेता है।[2] इस प्रकार 'सामान्य' केवल नाममात्र नही है।

कणाद का सुझाव है कि सामान्य और विशेष बुद्धि की अपेक्षा करते है,[3] अर्थात् ये बुद्धि द्वारा निर्मित विधान है जिनमे हम अनुभूत पदार्थो का वर्गीकरण करते है। उसके इस मत से कि सत्ता द्रव्य, गुण अथवा कर्म मे एक विभिन्न पदार्थ (अर्थान्तर) है, इस स्थिति मे कोई विरोध नही आता। उसका कहना है कि हम गुण को तब सामान्य कहते है जब वह अनेको व्यक्तियो मे रहता हुआ पाया जाता है और तब

कर लिया गया है कि सामान्य केवल अपने उपयुक्त पदार्थों मे ही विद्यमान रहता है। जब एक विशेष जन्म लेता है तो वह सामान्य के साथ सम्बद्ध हो जाता है। सामान्य यथार्थ नित्य है, पर ... और स्वतन्त्र विशिष्ट के साथ नहीं होता है जबकि विशिष्ट जन्म लेता है (न्यायमञ्जरी, पृष्ठ ३१ से आगे, २९९–३००)। जयन्त ने एक विभिन्न मत का वर्णन किया है, अर्थात 'स्वरूप लक्षण स्वरूप' जो श्रोत्रियों का कहा जाता है। सामान्य विशिष्ट का रूप है और विशिष्ट सामान्य का रूप है। 'रूप' शब्द द्व्यर्थक है। इसका अर्थ रंग नहीं हो सकता क्योंकि वर्णविहीन द्रव्य भी जैसे वायु, मन, गुण और कर्म सामान्यता को धारण करते है; और न इसका अर्थ आकार है क्योंकि निराकार गुणों मे भी सामान्यता है। यदि इसका अर्थ अनिवार्य स्वभाव है तो सामान्य और विशिष्ट में केवल नाम का ही भेद है। रूप रूपी से भिन्न द्रव्य (वस्त्वन्तर) नहीं है, क्योंकि वह इस प्रकार देखा नहीं जाता, और न ही यह वही है, क्योंकि उस अवस्था में उनके बीच सम्बन्ध की कोई बात ही न होती। रूप रूपी का धर्म (गुण) भी नहीं हो सकता, क्योंकि उस अवस्था मे उसे रूपी से पृथक् दिखाई देना चाहिए, किन्तु ऐसा नहीं है (न्यायमञ्जरी, पृष्ठ २९९)।

---

१. न्यायकन्दली, पृष्ठ ३१७।

२. प्रभाचन्द्र ने अपने 'प्रमेयकमलमार्तण्ड' (पृष्ठ १३६–३७) में बौद्ध मत की आलोचना की है। सामान्य, विशिष्ट की भांति, प्रत्यक्ष का विषय है और केवल कल्पना की सृष्टि नहीं है। हम सामान्य तथा विशिष्ट के बोधों में पारस्परिक भेद का अनुभव करते हैं। केवल इसीलिए कि हम एक ही पदार्थ में और एक ही समय में सामान्य और विशिष्ट दोनों का प्रत्यक्ष करते हैं, हम दोनों को परस्पर मिश्रित नहीं कर सकते। सामान्यों का बोध सम्मिलित करनेवाला (अनुगताकार) है, जबकि विशिष्टों का बोध पृथक् करनेवाला (व्यावृत्ताकार) है। सामान्यों के बोध से सामान्यों का अस्तित्व उपलक्षित होता है। विशिष्ट संख्या में कितने भी क्यों न हों, सामान्य के विचार को उत्पन्न नहीं कर सकते।

३. १ : २, ३।

विशेष कहते है जब उसके कारण हम पदार्थो मे परस्पर भेद कर सके। घटत्व को हम सामान्य कहेंगे जब उसे अनेको पदार्थो मे रहता हुआ पाएगे, और उस अवस्था मे विशेष कहेगे जबकि उसका उपयोग घट को अन्य वस्तुओं से पृथक् करने के लिए किया जाएगा।[1] गुणो में सामान्य तथा विशेष का भेद बौद्धिक विश्लेषण का काम है। सकेत यह हुआ कि सामान्य, विशेष, और सम्बन्ध इनकी सत्ता उस अर्थ मे नही है जिसमे कि द्रव्य, गुण और कर्मो की सत्ता है।[2] किन्तु है व भावात्मक, अभावात्मक नही है। हम कणाद को प्रत्ययवादियों की कोटि मे नही रख सकते, क्योंकि वह सामान्य को यथार्थ का ही अश मानता है। परम प्रत्ययवादियो के मत मे सामान्य का अस्तित्व केवल मन मे ही है। सामान्य गुण, जिन्हे हम सामान्य कहते है, उतने ही यथार्थ है जितनी कि व्यक्तिगत विशेषताए, यद्यपि हमारा विचार सामान्य गुणो को अलग करके उन्हे व्यापक-भाव मे एकत्रित कर देता है। कणाद ने सावधानी के साथ इस विषय को लक्ष्य किया कि सादृश्य के अश हमसे तथा हमारी विचारधारा से उतने ही स्वतन्त्र है जितने कि स्वय विशिष्ट पदार्थ। हम सब कुत्तो को एकसमान बनाते नही है, बल्कि उन्हे इस रूप मे पाते है। इस अर्थ मे अरस्तू के मत का, अर्थात् वस्तुस्थित सामान्य का, समर्थन होता है। यह भी सत्य है कि सामान्य नित्य है और एक है, क्योंकि नमूना कायम रहता है, जबकि विशेष आते जाते रहते है। मनुष्य जन्म लेते है तथा मरते है किन्तु मनुष्यत्व बना रहता है। विशिष्ट सत्ताओ की अपेक्षा सामान्यो मे अधिक स्थिर रहनेवाली यथार्थता है। इस प्रकार प्लेटो का सिद्धान्त वस्तुपूर्व सामान्य भी सत्य है। यह पिछला मत प्रशस्तपाद मे प्रमुख रूप से पाया जाता है। सामान्य तथा विशेष मे जो भेद है वह यथार्थ है, क्योंकि उनके सम्बन्ध को घनिष्ठ सम्बन्ध (समवाय) कहा गया है।[3]

१. तुलना कीजिए इस मत की उस एवीसेना के मत के साथ, जो तत्त्व अथवा रूप के अपनेपन में विश्वास करता है और यह मानता है कि वह किसी व्यक्तिगत अवस्था के अधीन नहीं है। वह विशिष्ट के एकत्व तथा सामान्य रूप के एकत्व में भेद करता है। सामान्य विशिष्ट पदार्थों में प्रकट होता है, यद्यपि इसे सामान्य के रूप में बुद्धि के द्वारा जाना जाता है। अपने-आपमे यह न विशिष्ट है और न सामान्य है, किन्तु जो है सो है, एक ऐसी वस्तु है जो सामान्यता तथा विशिष्टता की पूर्ववर्ती है।

२. १.२, ७।

३. पार्थसारथि सामान्य और विशिष्ट के पारस्परिक सम्बन्ध के विषय में आपत्ति उठाता है। जब हम एक गाय को देखते है तो यह ज्ञान इस प्रकार का होता है कि "यह एक गाय है" (इयं गौः), इस प्रकार का नहीं होता कि "इस व्यक्तिरूप गाय में गाय वर्ग का सारतत्त्व है" (इह गवि गोत्वम्)। इसलिए सामान्य विशिष्ट से भिन्न नहीं है। कहा जाता है कि दोनो को पृथक नहीं किया जा सकता। पृथक् किए जा सकने (युतसिद्ध) से तात्पर्य या तो पृथक् अर्थात् स्वतन्त्र गतियों की योग्यता (पृथग्गतिमत्व) है, अथवा विभिन्न अधिष्ठानों में विद्यमानता (पृथगाश्रयाश्रयित्व) है। दोनों में से किसी अवस्था में भी पूर्ण इकाई तथा उसके घटक भागों में कोई सम्बन्ध न होगा। क्योंकि पूर्ण इकाई में गति के बिना भी भागों में गति हो सकती है। और पूर्ण इकाई और उसके भाग भिन्न भिन्न अधिष्ठानों में समवाय-सम्बन्ध से रहते है—पूर्ण इकाई अपने भागों में और भाग अपने घटक परमाणुओं में रहते है। इसी प्रकार, सामान्य तथा विशिष्ट के अधिष्ठान भिन्न-भिन्न है, क्योंकि सामान्य का अधिष्ठान विशिष्ट है और विशिष्ट का अधिष्ठान उसका निर्माण करनेवाले भाग है। इस प्रकार पार्थसारथि मिश्र समवाय की परिभाषा करते हुए कहता है कि यह आधार और आधेय के बीच एक ऐसा सम्बन्ध है जिससे आधेय

१०

विशेष

विशेष के द्वारा हम पदार्थों का प्रत्यक्षज्ञान उनमें परस्पर भेद करके कर सकते हैं।[1] यह पृथक्करण का आधार है। जो कुछ भी व्यक्तिरूप विशेष है वह अनुपम तथा एकाकी है। कणाद विशेष को भी उतना ही विचार पर निर्भर मानता है जितना कि सामान्य को।[2] प्रशस्तपाद इसको एक स्वतन्त्र यथार्थता के रूप में प्रतिपादित करता है, जो नित्य द्रव्यों में रहती हुई उन्हें एक-दूसरे से विशिष्ट करके बताती है। हम लौकिक पदार्थों में परस्पर भेद करते हैं उन हिस्सों के द्वारा जिनसे मिलकर वे बने हैं। और जब विश्लेषण करते-करते हम सरल द्रव्य तक पहुंचते हैं जो ऐसे हिस्सों से मिलकर नहीं बना कि उनके द्वारा उसे अन्य द्रव्यों से भिन्न करके पहचाना जा सके, तो हमें अवश्य मानना पड़ता है कि इसके अन्दर कोई गुण है जिसके कारण यह अन्य द्रव्यों से भिन्न रूप में जाना जा सकता है। परमाणु, काल, देश, आकाश, आत्माएं और मन सब अपनी विशेषताएं धारण किए हैं जो वर्गगत गुण न होकर व्यक्तिगत गुण हैं। ये भेदक विशेषताएं अंतिम तथ्य हैं, जिनसे परे हम नहीं जा सकते। जिस तरह परम (अन्तिम) अणु असंख्य हैं वैसे ही विशेषताएं भी असंख्य हैं।[3] प्रशस्तपाद का मत है कि योगीजन सरल

आधार के अन्दर अनुरूप बोध उत्पन्न करता है। "येन सम्बन्धेनाभेयम् आधारं स्वानुरूपां बुद्धिं जनयति स सम्बन्धः समवाय इति" (शास्त्रदीपिका, पृष्ठ ४०३-०४)। इसका अभिप्राय यह है कि सामान्य विशिष्ट के अन्दर समवाय-सम्बन्ध से रहता है, तात्पर्य यह है कि सामान्य (गोत्व) विशिष्ट (गाय) के अन्दर उसके बोध को उत्पन्न करता है। क्योंकि सामान्य का प्रत्यक्ष विशिष्ट के अन्दर होता है, इसलिए वे एक दूसरे से भिन्न नहीं हैं। यदि सामान्य विशिष्ट से सर्वथा भिन्न होता तो हम कभी ऐसा कथन न कर सकते कि 'यह एक गाय है'। कुमारिल और पार्थसारथि मिश्र के अनुसार सामान्य और विशिष्ट का सम्बन्ध तादात्म्यपरक तथा भेदपरक है। वही, पृष्ठ २०३ से आगे।

१. प्रशस्तपादकृत पदार्थधर्मसंग्रह, पृष्ठ १३।

२. १ : २, ३ से आगे।

३. विशेषास्तु यावन्नित्यद्रव्यवृत्तित्वाद् अनन्ता एव (सप्तपदार्थी, पृष्ठ १०)। तुलना कीजिए इसकी लीब्नीज के अभिन्नतावाद के सिद्धान्त के साथ। सामान्यों और सामान्यों के स्वरूप पर अपने व्याख्यान में प्रोफेसर स्टाउट प्रतिपादित करते हैं कि एक वर्ग या प्रकार का एकत्व, जिसमें उसके सदस्य या दृष्टान्त सम्मिलित हैं, परम निरपेक्ष है। ये वर्गों तथा रूपों से सतर्कता रखते हैं जिनका मत है कि गुण और सम्बन्ध इसी प्रकार के सामान्य हैं, और विरोध में उनका कहना है कि एक ऐसा लक्षण जो एक ठोस वस्तु अथवा व्यक्ति का विशिष्ट्य बतलाता है, उतना ही विशिष्ट है जितनी कि उसके द्वारा लक्षित वस्तु या व्यक्ति। बिलियर्ड खेल की दो गेंदों में से प्रत्येक की अपनी निजी गोलाई है, जो दूसरी से पृथक् तथा भिन्न है, जिस तरह कि गेंदें स्वयं पृथक् तथा भिन्न हैं। ऐसा कहने का कि बहुत-सी वस्तुओं में एकसमान लक्षण पाया जाता है, वस्तुतः यह तात्पर्य होता है कि प्रत्येक एक सामान्य प्रकार के विशिष्ट उदाहरण अथवा लक्षणों के वर्ग द्वारा लक्षित की गई है। प्रोफेसर स्टाउट का मत है कि द्रव्य एक मिश्रित एकत्व है जिसके अन्दर वे सब लक्षण सम्मिलित हैं जो इसके विषय में वस्तुतः विधान किए जा सकते हैं, और इस प्रकार के मिश्रण का एकत्व एक ठोस एकत्व है जबकि इसके लक्षण विशिष्ट होते हुए भी ठोस नहीं हैं।

द्रव्यों की अंतिम विशेषताओं को प्रत्यक्ष कर सकते है।[1]

कुछ आधुनिक नैय्यायिक विशेषताओं को मानने के लिए कोई यथोचित कारण नही देखते। यदि अलग-अलग परमाणुओ के अन्दर परस्पर भेद करने के लिए इनकी आवश्यकता समझी जाए तो फिर विशेषताओं के अपने अन्दर कैसे भेद होगा? हमे कहना होगा कि विशेषताओं के अपने अन्दर एक ऐसा अनुपम तत्त्व अथवा अन्तर्निहित शक्ति है जो उनमे भेद कराने मे समर्थ है। तो फिर, विशेषता के भाव को बीच में डालने की अपेक्षा, क्यों न परमाणुओ मे ही इस प्रकार की एक शक्ति मान ली जाए। कुमारिल, प्रभाकर तथा वेदान्त के अनुयायी 'विशेष' के सिद्धान्त को मानने को उद्यत नही है। यदि वस्तुए मौलिकरूप मे परस्पर भिन्न है तो उनके अन्दर किसी समान लक्षण को पाना असम्भव है।

११

समवाय

कणाद का तात्पर्य समवाय से उस सम्बन्ध से है जो कारण तथा कार्य के मध्य है।[2] प्रशस्तपाद की परिभाषा के अनुसार यह वह सम्बन्ध है जो उन वस्तुओं मे रहता है जिन्हे पृथक् नही किया जा सकता, और जो परस्पर आधार तथा आधेय के रूप मे है, तथा जो इस विचार के आधार है कि 'इसके अन्दर वह है,'[3] श्रीधर का कहना है कि पुण्य तथा सुख परस्पर समवाय-सम्बन्ध से सम्बद्ध नही है, यद्यपि उनका निवासस्थान आत्मा है, क्योंकि वे आधार और आधेय के रूप मे सम्बद्ध नही है। एक वस्तु तथा उसके द्योतक शब्द में समवाय-सम्बन्ध नही है, क्योंकि वे आधार-आधेय नहीं है। फल भूमि पर हो सकता है, किन्तु वे दोनो ऐसे नही है जो पृथक् न किए जा सके। इसलिए वे भी समवाय-सम्बन्ध से सम्बद्ध नही है। अयुतसिद्धि अथवा पृथक्त्व की असम्भावना तादात्म्य नही है, क्योकि दो वस्तुएं यथार्थ मे एक नही है। अग्नि का रूप तथा लोहे का गोला दोनों एक-दूसरे से भिन्न है। जहा कणाद समवाय-सम्बन्ध के अन्तर्गत केवल कार्यकारण-सम्बन्धो को ही रखते है वहा प्रशस्तपाद कारण-कार्य-सम्बन्धों से अन्य सम्बन्धों को भी इसके अन्दर ले आता है। सामान्यत. यह सम्बन्ध जो द्रव्यों को उनके गुणो के साथ, एक पूर्ण इकाई को उनके हिस्सों के साथ, गति को गतिमान् पदार्थ के साथ, व्यक्ति को विश्व के साथ, कारण को कार्य के साथ संयुक्त रखता है, समवाय-सम्बन्ध है। इस प्रकार समवेत सदस्य एक इकाई के रूप मे अथवा तादात्म्यरूप यथार्थसत्ता के रूप में हमारे समक्ष प्रस्तुत होते है।

१. प्रशस्तपादकृत पदार्थधर्मसंग्रह, पृष्ठ ३२१, ३२२। देखिए तर्कसंग्रह, ७ और ८।

२. ७ : २, २६।

३. अयुतसिद्धानाम् आधार्याधारभूतानां यः सम्बन्ध इह प्रत्ययहेतुः स समवायः। प्रशस्तपादकृत पदार्थधर्मसंग्रह, पृष्ठ १४)। और देखिए पृष्ठ ३२४; वैशेषिकसूत्र, ७ : २, २६–२८; ५ : २, २३।

समवाय अथवा आवश्यक सम्बन्ध सयोग अथवा आकस्मिक सम्पर्क से, जोकि वस्तुओ का एक गुण है, भिन्न है। जहां सयुक्त पदार्थ संयोग से पूर्व अपनी पृथक्-पृथक् सत्ता रखते है, वहा समवाय-सम्बन्ध वाले पदार्थ पृथक् न हो सकनेवाले सम्बन्ध से जडे होते हैं। समवाय-सम्बन्ध का कारण समवेत पदार्थों मे से किसी एक की क्रिया नही है। जहा सयुक्त पदार्थों के अलग-अलग हो जाने पर सयोग-सम्बन्ध समाप्त हो जाता है, वहा यह समवाय-सम्बन्ध अविनश्वर है। इसके अतिरिक्त, सयोग दो स्वतन्त्र द्रव्यों में सम्पन्न होता है, जबकि समवाय-सम्बन्ध से जुडे दो पदार्थो मे आधार-आधेय का सम्बन्ध होता है।[1] समवाय-सम्बन्ध से जुडे दो पदार्थों मे से जब तक कम से कम एक नष्ट न कर दिया जाए, वे पदार्थ पृथक् नही किए जा सकते। सयोग एक ही स्वरूप की दो वस्तुओ के अन्दर होता है, जो अलग-अलग विद्यमान रहती है और कुछ समय के लिए सयोग मे लाई जाती है। सयोग-सम्बन्ध एक प्रकार का बाह्य सम्बन्ध है जबकि समवाय-सम्बन्ध आन्तरिक है।[2] सयोग-सम्बन्ध म दो भिन्न पदार्थ जोडे जाते है किन्तु उनके सयोग से किसी ऐसी यथार्थ इकाई का निर्माण नही होता जो उनमे से प्रत्येक मे घुसी हुई हो। समवाय-सम्बन्ध यथार्थ सामजस्य है।

समवाय को नित्य कहा गया है, क्योंकि उसके उत्पन्न होने मे अन्तविहीन पश्चाद्-गति हो जाएगी। श्रीधर का कहना है कि यह सम्बन्ध समवेत वस्तु के न तो पहले, न पीछे, और न साथ-साथ ही प्रकट हो सकता है। यदि कपडे के बनने से पूर्व समवाय-सम्बन्ध का रहना सम्भव हो सकता, तो यह विचार मे नही आ सकता कि उस अवस्था मे यह रहता कहा, क्योकि समवाय के एक सदस्य का उस समय अस्तित्व ही नही था। यदि यह कपडे के साथ उत्पन्न होता है तो कपडा समवाय का अधिष्ठान होने के अपने स्वरूप को खो देगा। यदि यह माना जाए कि कपडे के बनने के पश्चात् यह प्रकट होता है, तो भी कपडा इसका अधिष्ठान न रहेगा। कार्य के लिए भी इसका (समवाय का) अधिष्ठान होना सम्भव नही है। समवाय इन अर्थों मे नित्य है कि उत्पन्न पदार्थ को उत्पन्न या नष्ट किए बिना इस उत्पन्न या नष्ट नही किया जा सकता। इसकी नित्यता इस प्रकार सापेक्ष है। समवाय-सम्बन्ध का प्रत्यक्ष नहीं हो सकता। किन्तु वस्तुओं के पृथक् न हो सकनेवाले सम्बन्ध से इसका केवल अनुमान किया जा सकता है।[3]

> जहा पहले पाच पदार्थो म समवायित्व है, तथा अनेकत्व अथवा ऐसे रूप पाए जाते हैं जो उन्हे परस्पर एक-दूसरे से भिन्न करते है, वहा समवाय केवल एक ही है और इसमे अनेकत्व नही है।[4] यह समवाय-सम्बन्ध से किसी वस्तु मे नही रहता, क्योकि ऐसा मानने से एक अन्तविहीन पश्चाद्गति उपस्थित

१. प्रशस्तपादकृत पदार्थधर्मसग्रह, पृष्ठ ३२६।

२. तुलना कीजिए इसकी जानसन द्वारा प्रतिपादित स्वरूपनिर्देशक बन्धन तथा संयोजक बन्धन के भेद के साथ।

३. प्राचीन नैय्यायिकों के विचार में यह प्रत्यक्ष का विषय है।

४. तर्कसग्रह, ८।

हो जाएगी। समवाय के सम्बन्ध में हमारे जो नानाविध विचार है उनमें परस्पर कोई भेद नही है, जैसेकि सत्ता के सम्बन्ध में हमारे जो नानाविध विचार है उनमें कोई भेद नही है। सम्बन्ध का रूप एक ही है भले ही सम्बद्ध पदार्थ भिन्न हों।[1]

वस्तुतः, समवाय का विचार बौद्धिक भेद का परिणाम है, यद्यपि इसे विषयनिष्ठ अस्तित्व की कोटि में रखा गया है। इसका उद्‌भव अपकर्षण से हुआ है और द्रव्यों से अलग इसका कोई अस्तित्व नही है। शंकराचार्य ने समवाय की प्रकल्पना की आलोचना की है। उनका तर्क है कि जिस प्रकार का सयोग परमाणुओं तथा आकाश मे है वह उतना ही नित्य है जितना कि समवाय। समवाय क्योंकि एक सम्बन्ध है, इसलिए जिसमें इसका सम्बन्ध है उसके साथ तादात्म्य नहीं रखता। समवाय का सम्बन्ध उन पक्षो से बाह्य है जिन्हें सम्बद्ध होना है, और इसे स्वय उन पक्षों के साथ सम्बद्ध होने के लिए एक सम्बन्ध की आवश्यकता होती है, और इस प्रकार इस सिलसिले का कहीं अन्त नहीं है। इसके अतिरिक्त हमें सदा ही एक ऐसे सम्बन्ध की कल्पना करनी होगी जिससे समवाय समवायी में, अर्थात् समवाय-सम्बन्ध से जुड़ी वस्तुओं में, रहता है। यदि समवाय समवायी में अन्य समवाय-सम्बन्ध से नहीं रहता, बल्कि उसके साथ तदात्मक है, तो संयोग को भी सयुक्त वस्तुओं के साथ तदात्मक माना जा सकता है।[2] ऐसा मत प्रकट करना निरर्थक है कि समवाय को समवायी वस्तुओं में रहने के लिए उसे उनसे जोड़नेवाली किसी तीसरी चीज की आवश्यकता नहीं जबकि संयोग को सयुक्त वस्तुओं से सम्बद्ध होने के लिए समवाय-सम्बन्ध की आवश्यकता है। एक को पदार्थ तथा दूसरे को गुण कह देने से कठिनाई दूर नहीं होती। इसमें सन्देह नहीं कि एक द्वयणुक का अपने घटक तत्त्वों के साथ अथवा एक उपजाति का अपने सदस्य व्यक्तियो के साथ जो सम्बन्ध है, वह वैसा नहीं है जैसाकि मेजपोश का मेज़ के साथ है। किन्तु दोनो अवस्थाओं में कठिनाई वही प्रतीत होती है, अर्थात् कोई भी सम्बन्ध, चाहे वह कितना ही घनिष्ठ क्यों न हो, परस्पर सम्बद्ध पक्षों के साथ तदात्मक नही हो सकता। इस युक्ति को कि कार्य-कारण के बीच यह सम्बन्ध अवश्य होना चाहिए, स्वीकार नहीं किया जा सकता। यदि कारण और कार्य परस्पर इस प्रकार सम्बद्ध हों कि उन्हें पृथक् नही किया जा सकता, जैसाकि वैशेषिक का मत है तो ऐसा मानना कहीं अधिक सरल हो जाता है कि दोनों के बीच तात्त्विकरूप से तादात्म्य है। इसके

१. प्रशस्तपादकृत पदार्थधर्मसंग्रह, पृष्ठ ३२६।

२. कुमारिल कहता है : "यदि समवाय वर्ग से तथा उस विशिष्ट व्यक्ति से जो वर्ग के अन्दर समवाय-सम्बन्ध से रहता है, कोई भिन्न वस्तु है, तो यह (समवाय) उनमें सम्बन्ध के रूप में नहीं रह सकता। दूसरी ओर, यदि यह उनके साथ तदात्मक है, तो वे दोनों भी तदात्मक हैं—इस विधान के अनुसार कि जो वस्तुएं एक ही वस्तु के साथ तदात्मक हैं वे आपस में भी तदात्मक होंगी।" श्लोकवार्तिक, प्रत्यक्षसूत्र, १५०।

अतिरिक्त, अविभाज्य-सम्बन्ध का विचार न्यायवैशेषिक की कार्यकारण-सम्बन्धी प्रकल्पना के इस आवश्यक स्वरूप के विरोध मे जाता है कि कारण का अस्तित्व कार्य से अवश्य पूर्व रहना चाहिए।[1] कारण अपना पृथक् अस्तित्व रखने मे समर्थ है। यदि समवाय कारण के साथ कार्य का सम्बन्ध है जो (कार्य) अपना पृथक् अस्तित्व रखने मे असमर्थ है, तो क्योकि किसी भी सम्बन्ध के लिए दो पक्षो का होना आवश्यक है, और कार्य जब तक इसका अस्तित्व नही है, कारण के साथ सम्बद्ध नही हो सकता, इसलिए दोनो के मध्य समवाय-सम्बन्ध नही हो सकता। ऐसा कहने से भी कोई लाभ नही हो सकता कि कार्य उक्त सम्बन्ध मे अस्तित्व मे आने लगने के पश्चात् प्रविष्ट हो जाता है, क्योकि वैशेषिक यदि यह मानता है कि कारण के साथ सम्बन्ध होने से पूर्व भी कार्य का अस्तित्व रह सकता है, तो यह पृथक् अस्तित्व के अयोग्य नही है। कार्य तथा कारण के मध्य सयोग तथा विभाग नही होते, इस सिद्धान्त का प्रत्याख्यान हो जाता है। यदि कारण के साथ सम्बद्ध होने से पूर्व कार्य का अस्तित्व सम्भव है, तो दोनो के मध्य पीछे से होनेवाला सम्बन्ध समवाय न होकर केवल सयोग है। जिस प्रकार कि समवाय नही किन्तु सयोग ही ऐसा सम्बन्ध है जिसमे प्रत्येक द्रव्य, जैसे ही उत्पन्न होता है, आकाश इत्यादि सर्वव्यापक द्रव्यो के साथ सम्बद्ध होकर अपनी स्थिति को प्राप्त करता है—यद्यपि उक्त सम्बन्ध के लिए उक्त पदार्थ मे कोई गति नही होती—उसी प्रकार कार्य का कारण के साथ सम्बन्ध सयोग-सम्बन्ध ही होगा, समवाय-सम्बन्ध नही।

१२

अभाव

कणाद ने अभाव को एक स्वतन्त्र पदार्थ स्वीकार नही किया। उनके मतानुसार अत्यन्ताभाव का कुछ अर्थ ही नही है। अन्य सब प्रकार के अभाव, यथा प्रागभाव, अर्थात् कार्य को उत्पन्न करने से पूर्व कारण की अवस्था, प्रध्वसाभाव, अर्थात् कार्य की वह अवस्था जब वह अपने तत्त्वो मे विलय हो जाता है, तथा पारस्परिक अन्योन्याभाव, अर्थात् अपनी-अपनी वैयक्तिक पृथक् सत्ता रखनेवाली वस्तुओ के मध्य का सम्बन्ध—ये सब भावात्मक सत्ता से सम्बन्ध रखते है।[2] यद्यपि विद्यमान वस्तुओ के लौकिक वर्गीकरण के लिए अभावरूप किसी स्वतन्त्र पदार्थ की आवश्यकता नही है, तो भी विश्व की तार्किक व्याख्या के लिए निषेध का विचार आवश्यक है। जब वैशेषिक ने अपने क्षेत्र को विस्तृत किया और अनुभव की पूर्णरूप मे सामजस्यपूर्ण व्याख्या करने का प्रयत्न किया, तो उसने अभावरूपी एक पदार्थ का विकास किया। सब विचार-पद्धतियो के अन्दर सम्बन्धो का एक बडा स्थान है। सम्बन्ध हमे एक वस्तु से दूसरी वस्तु की ओर ले जाता है, और

१. शांकरभाष्य, २ : २, १३–१७।

२. ६ : १, १ से आगे।

यह सक्रमण केवल निषेध नही है। अन्यता निषेध का आधार है, और जिसे विरोध कहा जाता है वह निषेध का विपरीत रूप है। प्रत्येक सम्बन्ध निषेध का एक प्रकार है जो विरोध के विधान का उल्लघन नही करता। एक वस्तु अपने सम्बन्धों के साथ घनिष्ठ रूप मे सम्बद्ध है। जब हम किसी वस्तु के विषय मे कहते है, तो इसकी सत्ता अथवा स्वीकृति के तथ्य की पुष्टि होती है। जब हम सम्बन्ध के विषय मे कहते है, तो इसके अभाव रूपी तथ्य पर बल दिया जाता है। एक वस्तु बिना विरोध के स्थिति है; एक सम्बन्ध बिना विरोध के प्रतिकूल स्थिति है।

यद्यपि अभाव पदार्थविज्ञान-सम्बन्धी पदार्थ न होकर अधिकतर एक तार्किक पदार्थ है, तो भी असत् को सत् के ही समान अस्तित्व रखनेवाला पदार्थ मानने की एक प्रवृत्ति है।[1] इस प्रकार निषेध तथा अभाव को एक ही समान समझा जाने लगा। विश्वनाथ का कहना है कि छः पदार्थो के पारस्परिक निषेध के कारण असत् के भाव की उत्पत्ति होती है।[2] निषेध सब प्रकार के सम्बन्धो पर लागू हो सकता है, न कि केवल एकात्मता तथा अस्तित्व ही के सम्बन्धो पर, जैसा-कि श्रीधर का विचार है। वेदान्त तथा प्रभाकर के अनुयायी इसे पदार्थ मानने से सर्वथा निषेध करते है। वे इसे एक सरल अधिष्ठान मानते है इससे अधिक और कुछ नही।[3] यदि अभाव एक पृथक् पदार्थ है तो एक अन्तविहीन पश्चाद्-गति उत्पन्न होगी, क्योंकि घडे की अनुपस्थिति (घटाभाव) घडे से भिन्न है, और घटाभाव का अभाव घटाभाव से भिन्न है। इस कठिनाई से बचने के लिए प्राचीन नैयायिक घटाभाव के अभाव को घडे की उपस्थिति के समान ही मानते थे। निषेधात्मक का निषेधात्मक निश्चयात्मक होता है। किन्तु इस मत को सबने स्वीकार नही किया। आधुनिक नैय्यायिको का मत है कि एक निषेधात्मक कभी भी निश्चयात्मक के समान नही हो सकता, यद्यपि प्रथम निषेध के निषेध का निषेध प्रथम निषेध के समान है।[4]

वात्स्यायन दो प्रकार के अभाव को स्वीकार करता है। पूर्ववर्ती, अर्थात् पदार्थ की उत्पत्ति से पूर्व का पदार्थ का अभाव, तथा पश्चाद्वर्ती, अर्थात् विनाश के पश्चात् का पदार्थ का अभाव। जब तक पुत्र उत्पन्न नही हुआ उसका अनस्तित्व पहले प्रकार का अभाव है। जब घडा टूट जाता है तो यह घड़े का अभाव दूसरे प्रकार का है।[5] वाचस्पति[6] अभाव के निम्न प्रकार से विभाग करता है : (१) तादात्म्याभाव, अर्थात् एकात्मता का निषेध; (२) ससर्गाभाव अथवा सहसम्बन्ध का निषेध। और यह दूसरा अभाव पूर्ववर्ती, पश्चाद्-

१. न्यायभाष्य तथा न्यायवार्तिक, २ : २, १२। देखिए न्यायकन्दली, पृष्ठ २२५–३०।
२. अभावत्वं द्रव्यादिषट्कान्योन्याभाववत्त्वम्। (सिद्धान्तमुक्तावली, १२)।
३. अधिकरणावेदयमा त्र।
४. तर्कसंग्रहदीपिका, ८०।
५. न्यायभाष्य, २ : २, १२।
६. न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका, २ : २, ६।

वर्ती तथा अत्यन्ताभाव -इनमे विभक्त है। अन्तिम को समवायाभाव के नाम से भी कहा गया है। अपने-आपम विरोधी विचारो को—जैसे बाझ स्त्री का पुत्र या खरगोश के सीग—अत्यन्ताभाव की कोटि म रखा गया है। अत्यन्ताभाव मे किसी वास्तविक पदाथ की स्वीकृति तथा उसके विषय मे किसी सम्बन्ध का निषेध रहता है। अन्योन्याभाव म जिन पदार्थों के मध्य एकात्मता के सम्बन्ध का अभाव बतलाया गया है व वास्तविक नही भी हो सकत। अन्योन्याभाव म हम दो पदार्थों, कपडे तथा घडे को एकात्मता का निषेध करत है, अत्यन्ताभाव मे जिसका निषेध किया जाता है वह एकात्मता स भिन्न सम्बन्ध है। 'घडा कपडा नही है" इस प्रकार के निणय म अन्योन्याभाव का विपरीत होगा कि 'घडा कपडा है।' वायु म रग का अत्यन्ताभाव एक निर्णायक वाक्य मे इस प्रकार कहा जाएगा कि 'वायु म कोई रग नही है। और इसके विपरीत कथन मे वायु तथा रग दोनो को जोडकर कहा जाएगा कि 'वायु म रग है।" अन्योन्याभाव का विपरीत है एकात्मता किन्तु अत्यन्ताभाव का विपरीत है सम्बन्ध। शिवादित्य का मत है कि अन्योन्याभाव अनित्य है, क्योकि कपडे के नाश होन ही इसका अस्तित्व भी लुप्त हो जाता है।[1] श्रीधर चार प्रकार के अभाव मानता है पूर्ववर्ती, पश्चाद्वर्ती पारस्परिक (अन्योन्य) तथा नितान्त।[2] विश्वनाथ भी इसी प्रकार के मत का परिष्कार करता है।[3] जब घडा भूमि पर होता है तो इसके अस्तित्व का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है, और जब भूमि से हटा लिया जाता है तो इसके अभाव का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। विश्वनाथ का कहना है कि अभाव तो वहा बराबर था यद्यपि जब घडा भूमि पर था तो अभाव छिपा हुआ था। इसी प्रकार प्रत्येक वस्तु का अत्यन्ताभाव सब स्थानो पर सदा रहता है, यद्यपि जिस समय म और जिस स्थान पर वस्तु आ जाती है, यह छिप जाता है। इस प्रकार सार्वभौम अभाव किसी दिशा म सीमित है अथवा सर्वथा सीमित नही है। पीछे का असीमित है और यही अत्यन्ताभाव है। सीमित अभाव का निश्चित प्रारम्भ या निश्चित अन्त हो सकता है। घडे के पूर्ववर्ती अभाव का प्रारम्भ नही है यद्यपि उसका अन्त है। पश्चाद्वर्ती अभाव का प्रारम्भ है किन्तु अन्त नही। आधुनिक न्याय के तार्किक अभाव के भिन्न-भिन्न प्रकारो का अत्यन्त सूक्ष्मता के साथ विकास करते है।[4]

हम देखते है कि अभाव-विषयक समस्त विचार वैशेषिक के आध्यात्मिक विचार पर अवलम्बित है। यदि वस्तुए केवल विद्यमान रहे और उनका अभाव न हो तो वे

१. सप्तपदार्थी, १८९।

२. न्यायकन्दली, पृष्ठ २३०। और देखिए भासर्वज्ञकृत न्यायमीमांसा तथा तर्कसग्रह, पृष्ठ ८०।

३. सिद्धान्तमुक्तावली, पृष्ठ १२-१३।

४. देखिए भीमाचार्यकृत न्यायकोश—अत्यन्ताभाव, अन्योन्याभाव तथा अभाव शीर्षकों के नीचे।

सब नित्य हो जाएं। यदि पूर्ववर्ती अभाव का हम निषेध करें तो सब वस्तुओं तथा उनकी गतियों को आदि-रहित मानना चाहिए। यदि पश्चाद्वर्ती अभाव का हम निषेध करें तो वस्तुएं और उनकी क्रियाएं भी कभी रुकेंगी नहीं और अन्तविहीन हो जाएंगी। यदि अन्योन्याभाव का निषेध करते हैं तो वस्तुओं में भेद न हो सकेगा। और यदि अत्यन्ताभाव का निषेध करते हैं तो वस्तुओं को सर्वत्र और सब कालों में विद्यमान मानना चाहिए।

१३

नीतिशास्त्र

वैशेषिक स्वेच्छाकृत तथा अनैच्छिक कर्मों में भेद करता है और उसका मत है कि आचार-विषयक भेद का प्रश्न केवल स्वेच्छाकृत कर्मों के सम्बन्ध में ही उठता है।[1] ऐसे कर्म जो ऐन्द्रिय जीवन के कारण हैं, अनैच्छिक अर्थात् सहज हैं, और ऐसे कर्म जो इच्छा अथवा द्वेषपूर्वक किए जाते हैं स्वेच्छाकृत हैं। अनैच्छिक कर्मों के लक्ष्य शारीरिक हैं तथा स्वेच्छाकृत कर्मों का लक्ष्य हितप्राप्ति है।[2] सुख अथवा अनुकूलता की अवस्था सुख देनेवाले पदार्थ के प्रति अनुराग उत्पन्न करती है। दुःख, जो बेचैनी है, ऐसे पदार्थ के प्रति जो दुःखदायी है, द्वेष का भाव उत्पन्न करता है। इच्छा और द्वेष, सुखदायी तथा दुःखदायी पदार्थों के प्रति ऐच्छिक प्रतिक्रियाएं हैं जिनके परिणामस्वरूप अभिलषित पदार्थ को प्राप्त करने तथा घृणित पदार्थ से दूर रहने के लिए कर्म होता है। वैशेषिक के अनुसार, धर्म सांसारिक वैभव तथा आत्मिक कल्याण (निःश्रेयस) दोनों की प्राप्ति का उपाय बताता है। सांसारिक वैभव कर्मकाण्ड-सम्बन्धी पवित्रता की देन है तथा निःश्रेयस तत्त्वज्ञान से प्राप्त होता है।[4] सबसे उच्च श्रेणी का सुख, प्रशस्तपाद के मत में, ज्ञानी पुरुषों का सुख है जो पदार्थ की स्मृति, इच्छा, चिन्तन जैसे सर्व प्रकार के माध्यमों से स्वतन्त्र है तथा जो उनके ज्ञान, मन की शान्ति, सन्तोष और सद्गुणों के विशिष्ट स्वभाव के कारण होता है।[5]

कर्तव्य कर्मों की दिनचर्या धर्मशास्त्रों से अनुमान की जाती है। ऐसे कर्तव्य कर्मों में जो सार्वभौम-रूप में अनिवार्य हैं — अर्थात् जिनमें वर्णभेद और जीवन की अवस्था-विशेष की अपेक्षा नहीं है — तथा ऐसे कर्तव्य कर्मों में जो जीवन की विशेष-विशेष अवस्थाओं में अनिवार्य हैं, परस्पर भेद किया गया है।

ऐसे कर्तव्य जो सबपर और सब कालों तथा सब देशों में लागू हों, ये हैं:
(१) श्रद्धा, (२) अहिंसा, अर्थात् किसी भी जीव को हानि न पहुंचाने का

१. ५ : १, ११। २. प्रशस्तपादकृत पदार्थधर्मसंग्रह, पृष्ठ २६३।
३. प्रशस्तपादकृत पदार्थधर्मसंग्रह, पृष्ठ २५९ से आगे।
४. १ : १, १-२ और ४।
५. प्रशस्तपादकृत पदार्थधर्मसंग्रह, पृष्ठ २५९।

संकल्प,[1] (३) भूतहित की भावना, अर्थात् प्राणिमात्र के प्रति दया की भावना; (४) सत्यभाषण, (५) अस्तेय, अर्थात् ईमानदारी; (६) ब्रह्मचर्य, (७) मन की शुद्धता, (८) क्रोध का वर्जन, (९) स्नान द्वारा शरीरशुद्धि (अभिषेचन), (१०) शुद्धिकारक द्रव्यों का प्रयोग,[2] (११) विशिष्ट देवता की भक्ति, (१२) उपवास, और (१३) कर्तव्यपालन में आलस्य न करना (अप्रमाद)। चारों वर्णों और चारों आश्रमों के भी विशेष-विशेष कर्तव्य साधारण रूप में प्रतिपादित किए गए हैं।[3] श्रीधर के अनुसार, गृहस्थ आश्रम में प्रवेश किए बिना भी पुरुष संन्यास धारण कर सकता है।[4] यह माना गया है कि संन्यासी वह नहीं है जो संसार को एकदम भुला देता है बल्कि वह है जो सार्वभौम उपकार का व्रत लेता है।[4] कर्तव्यों के स्वरूप का ब्योरेवार वर्णन करने के पश्चात् प्रशस्तपाद अन्त में इस परिणाम पर पहुंचता है कि यदि कर्तव्य किसी दृश्य परिणाम (यथा धन-सम्पत्ति आदि) की प्राप्ति की इच्छा को छोड़कर और सर्वथा पवित्र प्रेरणा की भावना से किए जाएं, तो उनका परिणाम धर्म होता है। आत्मिक उन्नति के लिए आत्मसंयम आवश्यक है। यह कहा गया है 'जो आत्मसंयमी नहीं है उसे केवल पवित्र भोजन करने से अभ्युदय प्राप्त नहीं हो सकता।[6] आत्मसंयम के साधनस्वरूप योग के लिए आदेश दिया गया है।[7] नियमों का पालन केवल यान्त्रिक रूप से करने से सिद्धि न होगी, बल्कि आन्तरिक धार्मिकता के भाव को विकसित करना आवश्यक है।

विस्तृत अर्थों में, अहिंसा ही धर्म है और हिंसा अथवा प्राणि के प्रति विद्वेषभाव अधर्म है। धर्मशास्त्र के आदेशों में विशेष आकस्मिक घटनाओं में अपवाद हो सकते हैं, ऐसा वैशेषिक मानता है। इसी तथ्य के आधार पर कई विचारक ऐसा सन्देह करने लगते हैं कि वैशेषिक दर्शन का उद्भव धर्मविरुद्ध कल्पनाओं से हुआ है।[8]

धर्म से तात्पर्य, वैशेषिक के अनुसार केवल सदाचार के तन्त्र से नहीं है, बल्कि उस शक्ति (क्षमता) अथवा गुण से भी है जो मनुष्य के अन्दर अवस्थित है, कर्म के अन्दर नहीं। यह स्वरूप में इन्द्रियातीत है और जब मनुष्य इसका उपभोग करने लगता है तो नष्ट हो जाता है। मत्यज्ञान इसका अन्त कर देता है यदि धर्म नितान्त

१. भूतानामनभिद्रोहसङ्कल्पः (न्यायकन्दली, [illegible])।

२. प्रशस्तपादकृत पदार्थधर्मसंग्रह, [illegible], [illegible], ६ [illegible]।

३. न्यायकन्दली, पृष्ठ २७७।

४. सर्वभूतेभ्यो नित्यमभयं दत्वा (प्रशस्तपादकृत पदार्थधर्मसंग्रह, पृष्ठ २७३) और देखिए योगसूत्र, २ : ३०।

५. प्रशस्तपादकृत पदार्थधर्मसंग्रह, पृष्ठ २७२। और देखिए वैशेषिकसूत्र, ६ : २, १-२, ४-६, ८।

६. वैशेषिकसूत्र, ६ : २, ८। ७. वैशेषिकसूत्र, ५ : २, १६-१८।

८. यूई कृत वैशेषिक फिलासफी, पृष्ठ ३१।

अविनश्वर होता तो परम मोक्ष सम्भव नही हो सकता था। धर्म से उन्नति (अभ्युदय) होती है किन्तु मोक्ष होने से पूर्व इसका अन्त हो जाना आवश्यक है। जब तक हम शास्त्र-विहित नियमों का पालन इस प्रेरणा को लेकर करते है कि अपनी उन्नति को पूर्णता तक पहुचाए अथवा जीवन की उन्नत श्रेणी मे उठ जाए, हम अपना पुरस्कार प्राप्त कर सकते है। किन्तु जो पद हम प्राप्त करेंगे वह बराबर स्थिर नही रहेगा। ब्रह्मा तक भी स्थायी सुख को प्राप्त नही कर सकते।[1] जो कुछ भी हमारा धर्म हो, वह अपरिमित नही हो सकता और इसीलिए हमें वह स्थायी शांति नही दे सकता। नि:स्वार्थ अन्तर्दृष्टि द्वारा प्राप्त किया गया वस्तुओ का सत्यज्ञान ही केवल हमे अन्तिम मोक्ष दिला सकता है। जब तक इच्छा और द्वेष हमारे ऊपर हावी रहते हे, तब तक हम धर्म और अधर्म अथवा अदृष्ट का संग्रह करते रहते है, और कर्मों के फल हमे बलात देहधारण कराते है।[2] देह भोग का स्थान (भोगायतनम्) है। अदृष्ट के साथ संयोग और उसका कार्यरूप देह ही संसार है, उससे पृथक् हो जाना ही मोक्ष है।[3]

पृथक् आत्मसत्ता की भावना से प्रेरित कर्म वस्तुओ के यथार्थज्ञान के अभाव पर आश्रित हे। किन्तु ज्योही हम अनुभव करते है कि पदार्थ, जो इतने अधिक आकर्षक अथवा अपकर्षक प्रतीत होते हैं, केवल परमाणओ के क्षणिक मिश्रणमात्र है हमारे ऊपर से उनका प्रभुत्व जाता रहता है। इसी प्रकार जब हम यह अनुभव कर लेते है कि आत्मा का यथार्थस्वरूप इन सब देहधारी सत्ताओं से सर्वथा पृथक तथा भिन्न है तो हम यह जान लेंगे कि सब आत्माए एकसमान है। जब यथार्थज्ञान स्वार्थ-प्रेरणा को दूर भगा देता है, तो स्वार्थपरक कर्मो का अन्त हो जाता है, कोई मौलिक मूल्य उत्पन्न नही होता, और इसीलिए फिर पुनर्जन्म भी नही होता। जब वैशेषिक दर्शन आस्तिकवादपरक हो गया तो मोक्ष के आनन्द को दैवीय अनुकम्पा का परिणाम समझा जाने लगा, और धार्मिक नियमो को ईश्वरीय इच्छा की अभिव्यक्ति माना जाने लगा।[4]

जब तक आत्मा संसार के अन्दर है, वह सदा किसी न किसी देह को धारण किए रहती है। यह देह प्रलयकाल मे सूक्ष्म और सृष्टि मे मूर्तरूप होती है, और ऐसी कोई अवस्था नही होती जबकि आत्मा 'अदृष्ट' से रहित हो क्योकि देहरचना की शृंखला का कोई आदि नही है। जन्म का समय स्थान और परिस्थितिया, परिवार तथा माता-पिता, जीवन की अवधि ये सब अदृष्ट के द्वारा ही निश्चित होते है।[5] प्रत्येक आत्मा को अपने पूर्वकर्मो के फल भोगने का अवसर दिया जाता है। किन्तु यह आवश्यक नही है कि वर्तमान जीवन उससे ठीक पूर्ववर्ती जीवन का परिणाम हो, क्योंकि हमारे सब मौलिक गुण सब अवस्थाओ मे एक ही जन्म में वास्तविक रूप धारण नही

१. न्यायकन्दली, पृष्ठ २८१।
२. वही, पृष्ठ ६।
३. संसारमूलकारणयोर्धर्माधर्मयोः...।
४. ५ : २, १८। और देखिए न्यायसूत्र, ४ : १, ६७।
५. ईश्वरचोदनाभिव्यक्तात्। प्रशस्तपादकृत पदार्थधर्मसंग्रह, पृष्ठ ७।
६. न्यायभाष्य, १ : १, १६ : न्यायवार्तिक, ४ : १, १० ; ३ : १, १६, २२, २५–२७।
७. विवृति, ६ : २, १५।

कर सकते ।[1] यद्यपि संस्कार (मौलिक प्रवृत्तियां) नष्ट नही होते, पर उनमे से कुछ को आगामी जन्म के लिए प्रतीक्षा करनी पड सकती है। यह माना गया है कि उचित संयम द्वारा हम अपने पूर्वजन्मो का स्मरण कर सकते है ।[2] हिन्दू विचारधारा की अन्य पद्धतियों की भांति, वैशेषिक भी स्वीकार करता है कि हमारे लिए यह सम्भव है कि हम जीवन के उच्चतर स्तर तक उठ सके अथवा अपने को मनुष्य से निचले स्तर में गिरा ले ।[3] सब प्राणी अपने धर्माधर्म के अनुसार अपना स्थान प्राप्त करते है ।

वैशेषिक मे प्रतिपादित मोक्ष के सिद्धान्त तथा न्याय-प्रतिपादित मोक्ष के सिद्धान्त मे थोडा-सा भेद है । माधव अपने 'शंकरविजय' मे कहता है कि कणाद के दर्शन के अनुसार, मोक्ष की अवस्था मे आत्मा सब प्रकार के गुणो से असम्बद्ध रहती है, तथा आकाश की भांति सब प्रकार की उपाधियो तथा गुणो से स्वतन्त्र रहती है। किन्तु नैय्यायिकों के अनुसार, मोक्षावस्था आनन्द तथा ज्ञान की अवस्था है ।[4] वैशेषिक के अनुसार, मोक्ष की अवस्था को सुख की अवस्था नही समझा जा सकता । यद्यपि इस प्रकार का लक्ष्य आकर्षक नही हो सकता परन्तु यह उक्त दर्शन के तार्किक उपलक्षणों के अनुकूल है । नाम और रूप (देह) के सम्पर्क से उत्पन्न गुणो से जब आत्मा मुक्त हो जाती है[5] तो यह पुन अपनी स्वतन्त्रता प्राप्त कर लेती है। मण्डनमिश्र का यह तर्क कि दुःख, क्लेश आदि गुणो का विनाश आत्मा के विनाश से भिन्न नही है, अपने अन्दर कुछ बल रखता है ।[6] श्रीधर का तर्क है कि मोक्ष की अवस्था मे आत्मा अपनी नैसर्गिक दशा का सुख भोगती है ।[7] आत्मा का शून्य होना तो सम्भव नही है, क्योंकि वह नित्य है, अतः मोक्ष की अवस्था पाषाण-सरीखी एक जड अवस्था के अत्यन्त निकट पहुंच जाती है ।[8] श्रीधर अपने पक्ष के समर्थन मे उपनिषदों के उद्धरण देता है ।[9]

१४

ईश्वर

कणाद के सूत्र मे प्रकटरूप में ईश्वर का उल्लेख नही है । उसके अनुसार, परमाणुओं तथा आत्माओं में आदिम गतियां अदृष्ट के कारण से होती है ।[10] कणाद भले ही विश्व

१. न्यायकन्दली, पृष्ठ ५३, २८१, और उपस्कार, ६ : २, १६ ।

२. उपस्कार, ५ : २, १८ ; ६ : २, १३ ।

३. प्रशस्तपादकृत पदार्थधर्मसंग्रह, पृष्ठ २८०-८१ ।

४. अत्यन्तनाशो गुणसंगतेर्या स्थितिर्नभोवत् कणभक्षपक्षे ।
मुक्तिस्तदीये चरणाक्षपक्षे सानन्दसंवित्सहिता विमुक्तिः ॥

५. आत्मविशेषगुणानामत्यन्तोच्छेदः ।

६. विशेषगुणनिवृत्तिलक्षणा मुक्तिरुच्छेदपक्षान्न भिद्यते ।

७. आत्मनः स्वरूपेणावस्थानम् ।

८. सर्वसिद्धान्तसारसंग्रह, ५ : ३६ ।

९. न्यायकन्दली, पृष्ठ २८२-८७ ।

१०. कभी-कभी ऐसा कहा जाता है कि वैशेषिकसूत्र, २ : १, १८-१९, में ईश्वर के अस्तित्व के विषय में प्रमाण विद्यमान हैं, यद्यपि इस मत को स्वीकार करना कठिन है । २ : १, १-१४ में अदृश्य

की व्याख्या अदृष्ट तत्त्व के द्वारा करके सन्तुष्ट हो गया हो, पर उसके अनुयायियों ने अनुभव किया कि अदृष्टरूपी तत्त्व अत्यन्त अस्पष्ट तथा धर्मविहीन है और इसलिए उन्होंने इसे ईश्वर की इच्छा पर निर्भर बताया। ईश्वर संसार का नैमित्तिक कारण है, तथा परमाणु उपादान कारण है। परन्तु कणाद ने स्वयं भी एक दैवीय सत्ता की आवश्यकता को अनुभव किया, ऐसा स्वीकार करना कठिन है। उस प्रसिद्ध वाक्य[1] में, जो दो बार आया है और जिसे परवर्ती टीकाकारों ने आस्तिकवाद का समर्थक बताया है, ईश्वर का कहीं उल्लेख नहीं है। यह स्पष्ट है कि कणाद वेदों को ईश्वरप्रदत्त न मानकर उन्हें ऋषियों द्वारा रचित ग्रन्थ मानता है। प्रशस्तपाद ने भी अपनी दर्शन-पद्धति में ईश्वर को प्रधानता नहीं दी है यद्यपि वह अपने 'पदार्थधर्मसंग्रह' के प्रारम्भिक श्लोक में ही ईश्वर को जगत् का कारण बताता है।[2] वेदान्तसूत्र पर किए गए अपने भाष्य में शंकराचार्य ने जो समीक्षा की है[3] उसमें भी यही धारणा बनाई गई है कि वैशेषिक दर्शन में ईश्वर के लिए कोई स्थान नहीं है, और कि यह दर्शन आत्माओं तथा परमाणुओं के नित्य तथा अनिर्मित स्वरूप को मानता है और उनकी नानाविध अवस्थाओं की व्याख्या अदृष्ट के द्वारा करता है।

विरोधी सम्प्रदायों की आलोचना ने अनीश्वरवादी वैशेषिक के असन्तोषजनक स्वरूप को स्पष्ट रूप से खोलकर रख दिया। करोड़ों बुद्धि-रहित परमाणु इस जगत् की नानाविधता में अद्भुत एकत्व नहीं उत्पन्न कर सकते। वे एकत्र होकर विचार करने में असमर्थ हैं, और एक आत्मिक शासन की सामान्य योजना को कार्यान्वित करने में भी असमर्थ हैं। वैशेषिक विचारक जो तार्किक मस्तिष्क रखते थे, केवल आकस्मिकता की कल्पना को नहीं अपना सकते थे। उन्होंने शीघ्र इस बात को समझ लिया कि परमाणु भले ही निर्विकार और नित्य क्यों न हों, किसी प्रयोजन के नहीं हैं, जब तक कि उनकी क्रियाओं का नियन्त्रण किसी अधिष्ठाता मस्तिष्क द्वारा न हो। ईश्वर परमाणुओं को प्रत्यक्ष करता है और उसकी विवेकशक्ति में पहले द्वित्व का भाव उदय होता है और तब द्व्यणुकों का निर्माण होता है। अनुमान प्रमाण तथा धर्मशास्त्र दोनों की मांग है कि हम ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार करें।[4] चारों महाभूतों से पूर्व किसी

नित्य वायु के अस्तित्व की सिद्धि की गई है। २ : १, १५–१७ में एक आपत्ति उठाई गई है कि इसका अस्तित्व प्रत्यक्ष अथवा अनुमान का विषय नहीं है, बल्कि केवल अन्तर्ज्ञान का विषय है। और २ : १, १८–१९ में कहा गया है कि हमारे ठीक विचारों का मूल हमारे पूर्वजों के प्रत्यक्ष में रहता है तथा उनसे हमें प्राप्त होता है, और यही तदनुकूल पदार्थों के अस्तित्व का तार्किक आधार है (देखिए गूई : वैशेषिक फिलासफी, पृष्ठ १६८–६९)। ३ : २, ४–९ में हम आत्मविषयक समस्या का ऐसा ही प्रतिपादन पाते हैं।

१. तद्वचनादाम्नायस्य प्रामाण्यम् (१ : १, ३ ; १० : २, ९)।

२. देखिए प्रशस्तपादकृत पदार्थधर्मसंग्रह के प्रारम्भिक तथा अन्तिम अंशों को तथा पृष्ठ ४८–४९।

३. शांकरभाष्य, २ : ३, १४।

४. कीथ : इण्डियन लौजिक एण्ड ऐटोमिज़्म, पृष्ठ २६५–६६; न्यायकन्दली, पृष्ठ ५४१।

ऐसी शक्ति का होना अनिवार्य है जो उनका ज्ञान रखती हो, क्योंकि वे कार्य है।[1] शब्दों तथा उनके अर्थों का परस्पर अनुबन्ध ईश्वर के ही द्वारा निर्धारित होता है। इसके अतिरिक्त, वेद वाक्यो का सग्रह है जो इस विषय का सकेत करता है कि उनका रचयिता कोई बुद्धि-सम्पन्न होगा।[2] और क्योंकि वेद का विषय निर्भ्रान्त प्रमादरहित तथा रचयिता की किसी प्रकार की प्रवचना की इच्छा से भी रहित है, अत उसका कर्ता अवश्य कोई नित्य, सर्वज्ञ, पूर्णतया पवित्र अर्थात् निर्दोष पुरुष होना चाहिए।[3] इसके अतिरिक्त प्रलयावस्था मे आत्माए विवेकबुद्धि से रहित होती है, इसलिए वे परमाणुओ की गति को वश मे नही रख सकती, और परमाणु-जगत् मे गति का कोई स्रोत दिखाई नही देता। यदि हमे अनन्त पश्चाद्गति मे बचना है तो हम एक प्राथमिक गति-सचालक का आश्रय लेना ही होगा, जिसे आदिकारण तथा गति का आदिस्थान माना जा सके।[4] ऐसा गति-सचालक केवल एक ही हो सकता है। अनेक का मानना अनावश्यक है। यदि देवताओ के अनेकत्व को माने तो परस्पर-विरोध अथवा कलह उत्पन्न होता है। इसलिए केवल एक ही कर्ता है और वह ईश्वर है।

इस प्रश्न का कि क्या ईश्वर के शरीर है, श्रीधर ने विवेचन किया है। ईश्वर के लिए शरीर धारण करना आवश्यक नही है। अशरीरी भी कर्म कर सकता है। अभौतिक आत्मा शरीर को गति देने का कार्य करती ही है। शरीर यद्यपि आत्मा से सम्बद्ध है तो भी यह अपने को कार्य मे लगाने की शक्ति प्रदान नही करता। पदार्थ जिसे प्रेरणा दी गई, शरीर है और ईश्वर के लिए इस प्रकार का पदार्थ परमाणु है। यदि यह युक्ति दी जाए कि इच्छा तथा प्रयत्न को उत्पन्न करने के लिए शरीर आवश्यक है तो। श्रीधर उसके उत्तर मे कहता है कि यह उस अवस्था मे होता है जहा इच्छा और प्रयत्न आगन्तुक है जहा ये स्वाभाविक है इसकी आवश्यकता का प्रश्न नही उठता। ईश्वर की बुद्धि, इच्छा तथा प्रयत्न नित्य है।[5] ईश्वर द्वारा सृष्टि-रचना पर किए गए अनेक आक्षेपो के विषय मे भी श्रीधर ने विचार किया है। यदि कहा जाए कि ईश्वर की कोई भी इच्छा ऐसी नही है जो अपूर्ण रही हो और जिसकी पूर्ति के लिए उसे सृष्टि-रचना की प्रेरणा हो तो इसका उत्तर यह है कि ईश्वर की इच्छाए स्वार्थमयी नही हैं, बल्कि वह दूसरो के उपकार के लिए कर्म करता है। कर्म-सिद्धान्त के अनुकूल, वह ससार मे दुःख को रहने देता है। दुःख वस्तुत कोई बडा पाप नही है, क्योंकि यह हमारे लिए सब जन्मो की विविधता के अनुभव करने मे सहायक

१. २ : १, १८–१९। २. बुद्धिपूर्वा वाक्यकृतिर्वेदे। देखिए उपस्कार, ६ : १, १।

३. उपस्कार, १० : २, ९। पूरा तर्क वेदों की प्रामाणिकता का स्वीकार करने पर निर्भर करता है। यदि हम इसे नहीं मानते, जैसे कि बौद्ध नहीं मानते, तो तर्क में बल नहीं रहता।

४. तुलना कीजिए अरस्तू की ईश्वरविषयक प्रकल्पना के साथ, जिसमें ईश्वर को आदिम गति देनेवाला माना गया है, जो आकाशीय तथा भौमिक सब प्रकार की गतियों को शुरू करता है।

५. न्यायकन्दली, पृष्ठ ५५–५८।

होता है। वह जो चरित्र का विचार करता है और तदनुसार ही प्राणियो को जन्म देता है, यह उसकी स्वतन्त्रता मे बाधक नही है।

ईश्वर के सम्बन्ध मे वैशेषिक का मत भी लगभग वही है जैसाकि न्याय का है,[1] और इसलिए इसकी समालोचना भी उसी आधार पर हो सकती है। पहले इस ससार को एक यन्त्र के समान माना जाता था जो पूर्ण तथा स्वात्मनिर्भर है, और जिसमे परमाणु तथा आत्माए अदृष्ट के सिद्धान्त से अपने-अपने स्थान मे एकत्र रहते है। वैशेषिक के समालोचको द्वारा जो कठिनाइया बार बार प्रस्तुत की जाती थी—अर्थात् कि एक विवेकरहित तत्त्व ससार के पृथग्भूत घटको को एकत्र नही रख सकता—उनसे निकलने का मार्ग ढूढते हुए परवर्ती वैशेषिको को एक दैवीय तत्त्व को स्वीकार करना पड़ा। ईश्वर जगत् का स्रष्टा नही है, क्योकि परमाणु तथा आत्माए उसके समान सहकारी नित्य है। ईश्वर सर्वज्ञता तथा सर्वशक्तिमत्ता के कारण मानवीय आत्माओ से भिन्न है और यही गुण उसे विश्व का शासक होने की योग्यता देते है। वह कभी भी जन्म-मरण के चक्र मे नही आता। वह ससार को कतिपय नियमो के अधीन कर देता है और इसे चलने देता है। किन्तु वह फिर इसके मार्ग मे हस्तक्षेप नही करता। ससार एक विशाल घडी के समान है जिसे इसका स्रष्टा एक बार गति दे देता है और फिर इसकी गति मे बाधा नही देता। किन्तु एक हस्तक्षेप न करनेवाला ईश्वर ससार के वास्तविक जीवन मे सहायक नही होता। दूसरी ओर हस्तक्षेप करनेवाले ईश्वर के विषय मे यह भय होगा कि वह कही अपने ही बनाए हुए विधान को न उलट दे। ईश्वर तथा ससार दोनो एक-दूसरे से स्वतन्त्र है, किन्तु यदि हम प्रारम्भिक प्रस्थापना मे परिवर्तन न करे तो ईश्वर भी हमारी सहायता नही कर सकता। यदि हम परस्पर असम्बद्ध सत्ताओ के अनेकत्व को लेकर चलते है तो हम एक ईश्वर की यान्त्रिक योजना से भी जो वस्तुओ को बाहर से व्यवस्थित करता है उनके पृथक्करण मे कोई सुधार कैसे कर सकते है। एक विजातीय माध्यम के यान्त्रिक उपाय द्वारा सयुक्त ससार वस्तुओ का एक पुजमात्र हो सकता है, एक पूर्ण आगिक इकाई नही हो सकता। आत्माए एक-दूसरे को जान तक नही सकती। प्रत्येक यथार्थ वस्तु अपने लिए एक लघु जगत् हो जाएगी, जो अपने आन्तरिक तत्त्व के चक्र के ही अन्दर बन्द होगी। आत्माए तथा उनके विषय आवश्यक रूप से पृथक् है, और उनका सम्बन्ध एक बाहर से आरोपित सामजस्य है। इससे पूर्व कि हम किसी अधिक सन्तोषजनक विचार तक पहुच सके, प्रारम्भिक स्थापना को छोड़ देना आवश्यक है। यदि ईश्वर का अस्तित्व है, तो वह प्रकृति के परमतत्त्वो को भी उत्पन्न कर सकता है, और आत्माओ तथा परमाणुओ के नित्य तथा स्वयभू स्वरूप को अगीकार करने की आवश्यकता नही है। यदि ईश्वर नाम की कोई सत्ता है तो स्वर्ग तथा पृथ्वी सब उसके आश्रित है, और कल्पना मे भी न आ सकनेवाले प्रकृति के सूक्ष्मतम कण भी, जो अन्तरिक्ष के अनन्त क्षेत्र मे गति कर रहे है, उसीकी रचना हैं।

१. देवताविषये भेदो नास्ति नैय्यायिकैः समम् (हरिभद्रकृत षड्दर्शनसमुच्चय, पृष्ठ ५९)।

१५
वैशेषिकदर्शन का सामान्य मूल्यांकन

वैशेषिक के सामान्य सिद्धान्तो का सूक्ष्म निरीक्षण उक्त दर्शन के प्रमुख लक्षणो तथा मर्यादाओ को समझने मे सहायक होगा। एक दार्शनिक प्रकल्पना का कार्य यथार्थता द्वारा अभिव्यक्त नानाविध स्वरूपो को एक सामञ्जस्यपूर्ण और बोधगम्य परिपूर्ण इकाई के रूप मे सुव्यवस्थित तथा संघटित करना है। वैशेषिक दर्शन 'इस समस्त दृश्यमान जगत् के लक्षणो तथा पारस्परिक सम्बन्धो को एक पद्धति मे प्रदर्शित करने का प्रयत्न करता है।'[1] प्रोफेसर व्हाइटहैड के समान हमारे लिए इन्द्रिय सामग्री प्रत्यक्ष जगत् एव वैज्ञानिक पदार्थों मे पृथक्त्व करना उपयोगी होगा। इन्द्रिय सामग्री मे वास्तविक रंग, रस, शब्द तथा ताप है, जिनका हमे प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। ऐसी सामग्री पर हमारे समस्त अनुभव का आधार है और इसी इन्द्रिय सामग्री ... जगत् की व्याख्या के लिए हम अनेको वैज्ञानिक विषयो ... प्रत्यक्ष का विषय नही है, यद्यपि ... समस्त प्रत्यक्ष ज्ञान ... व्याख्या ... मे भी हमे इन्द्रियज्ञान की सामग्री अथवा प्रत्यक्ष का विषय मिलता है जिससे समस्त अनुभव शुरू होता है। जब हम इन विषयो पर द्रव्य गुण सम्बन्ध इन पदार्थो द्वारा एकसाथ विचार करते है तो हम आनुभविक जगत् की ओर अग्रसर ... है। ... हम अनेक बार कह चुके है जब हम किसी वस्तु तथा उसके गुणो के विषय ... है, तो हम तथ्यो का कथन नही कर रहे ... है। जब वैशेषिक नित्य द्रव्यो गुणो आदि को अनित्य द्रव्यों ... मे पृथक् करता है तो वह हमारे अनुभव के क्षेत्र ... अनुभवातीत विषयो की, यथा परमाणुओ और आत्माओ ... आकाश ... लेता है। इस प्रकल्पना को सन्तोषप्रद माना जा सकता है ... ज्ञान हम अनुभव-जगत् की ओर ले जाए और आनुभविक जगत् वैज्ञानिक पदार्थो की ओर ले जा सके। किन्तु जैसाकि हम देखेगे, इस प्रकार का कोई तर्कसंगत सम्बन्ध दिखाई नही देता।

अभाव के सिद्धान्त पर बल देने के कारण वैशेषिक की ... विशिष्ट प्रवृत्ति लक्षित होती है। यथार्थसत्ता न तो द्रव्य है न द्रव्यो का पुञ्ज ही है क्योकि द्रव्य गुणो के विषय है, ... यह एक तात्त्विक सम्बन्ध है जहा पर विश्लेषण, तुलना, भेद तथा तादात्म्य की आवश्यकता होती है। परिवर्तनशील आनुभविक जगत् मे ऐसी सत्ताधारी वस्तुओ की अनन्तता है जो एक-दूसरे के साथ सब प्रकार के सम्बन्धो के एक जटिल जाल मे बधी है। वैशेषिक का अपना लक्ष्य इस विश्व को एक व्यवस्थित पूर्ण इकाई, विविधताओ के एक सामञ्जस्य के रूप मे प्रस्तुत करना है। जब तक हम परस्पर टकराने तत्त्वो मे सामञ्जस्य लाने के अयोग्य है, तब तक हम तार्किक आदर्श

1. व्हाइटहैड : दि कसेप्ट आफ नेचर, पृष्ठ १८५।

तक नहीं पहुंचते । स्वात्मविरोधी विचार में नहीं आ सकता, और तो भी इस दर्शन के ऐसे अवयव हैं जिनको हम एक पूर्ण इकाई के हिस्सों के रूप में एकसाथ विचार नहीं कर सकते ।

वैशेषिक अभाव के सापेक्ष स्वरूप को स्वीकार करता है । जिस विषय-वस्तु का यह निषेध करता है, वह सर्वथा बहिष्कृत कभी नहीं होती । इससे पूर्व कि हम निषेध करें, निषिद्ध विचार को मानना होता है । फिर ऐसा सुझाव जिसका निषेध द्वारा प्रत्याख्यान किया जाता है, एक निश्चित अभिज्ञा (पहचान) पर आश्रित है जो प्रस्तुत वस्तु-विषय से असंगत होती है । हम भूतल पर घड़े को ढूंढते हैं और वहां उसे न पाकर उसका अभाव उद्घाटित कर देते हैं । यह धर्मसत्ता अंगीकार करती है, क्योंकि इसमें असंगतिरूप गुण है । निषेध (अभाव) अपने आधार में एक विभाजन का संकेत करता है जो यथार्थ है । निषेध का उद्देश्य हमारे समक्ष एक ऐसी व्यवस्था को रखने का है जिसे एक व्यवस्थित पद्धति के रूप में समझा गया है । साधारण स्वीकृतिमूलक कथन उसी तरह एकपक्षीय भावात्मक सार है जिस तरह कि साधारण निषेधात्मक कथन । केवल सत् एक रिक्त पदार्थ (विषय) या भावात्मक सार है, जबकि केवल, 'असत्' रिक्तता से भी परे जाता है । केवल असत् एक 'वह' अथवा एक ऐसी वस्तु का विचार है जो प्रत्येक विधि अथवा उपाधि को बहिष्कृत करती तथा स्वयं भी बहिष्कृत होती है । यह एक एेसा पदार्थ या भावात्मक सार है जो सब प्रकार की उपाधियों का निषेध करता है और अपना भी निषेध करने पर बाध्य होता है । अभाव पर आग्रह होने से वैशेषिक का दर्शन संसार का तत्त्वों के सामञ्जस्य मानना ठहरता है, यद्यपि वस्तुतः इस प्रकार का आदर्श सिद्धान्त रूप में परम सत्य तथा यथार्थता से न्यून है । विविधता, भेद, तथा अनेकता ये सब एक इकाई के अन्दर ही कुछ अर्थ रखते हैं । जिसे वैशेषिक एक स्वतंत्र व्यक्ति समझता है, वह यथार्थ के स्वरूप के अन्दर ही एक अवयव के रूप में देखा जाता है । यह भिन्न और विरोधियों में पारस्परिक भ्रम उत्पन्न करता है । भिन्न पदार्थ विरोधी भी हों, यह आवश्यक नहीं है । भिन्न पदार्थ एक-दूसरे को बहिष्कृत नहीं करते, वे केवल अपने भेद के निषेध को ही बहिष्कृत करते हैं । परस्पर असंगत पदार्थ भी हैं, किन्तु वे अन्तिम तथा निरपेक्ष नहीं हैं । सीमाओं के अन्दर वे पाए जाते हैं, किन्तु अभिज्ञा के तार्किक विचार का भाग है कि यथार्थ विशेष है तथा सामञ्जस्यपूर्ण और आत्म-संगत है । समस्त पदार्थों के लिए एक पृथक् अभिज्ञा की कल्पना करने के कारण, वैशेषिक एक यथार्थ आध्यात्मिक पूर्ण इकाई के विचार तक नहीं उठ सका, जहां पहुंचकर हिस्सों के अन्योन्य बहिष्कार का भाव लुप्त हो जाता है । यद्यपि यह इस संसार के लिए एकत्व तथा अनेकत्व दोनों को मौलिक मानता है, परन्तु दोनों को पास-पास रहने दिया गया है और इन्हें एक पूर्ण इकाई में नहीं लाया गया है । वैशेषिक ज्ञान को एक सुसंघटित, पूर्ण इकाई मानने के विचार को, जो उसके अभाव-सम्बन्धी मत से उपलक्षित होता है, अन्त तक स्थिर नहीं रख सका ।

किन्तु वैशेषिक यह निर्देश करता है कि अनुभव के अन्दर पदार्थ तथा उनके सम्बन्ध दोनों सम्मिलित हैं । द्रव्य, गुण, और कर्म अपने-आपमें अपना अस्तित्व रखते

है और एक-दूसरे के अन्दर भी अस्तित्व रखते है, और ये अनेक सम्बन्धो से बद्ध है, जो सामान्य अर्थात् जातिगत स्वरूप, विशेष अर्थात् विशिष्ट लक्षण, और समवाय अर्थात् कभी पृथक् न हो सकनेवाला सम्बन्ध कहलाते हैं। प्रत्येक द्रव्य मे एक जातिगत गुण रहता है, एक विशिष्ट भेद रहता है और यह इन दोनो के साथ समवाय-सम्बन्ध से जुडा हुआ है। सम्बन्धो की यथार्थता का समर्थन किसी भी सन्तोषप्रद, अनेकवादी आध्यात्मिक ज्ञान के लिए एक मौलिक आवश्यकता है। यदि सम्बन्ध अयथार्थ है तो ससार मे केवल एक ही द्रव्य रह जाता है जो निरपेक्ष होगा, अथवा यह जगत् ऐसे शक्त्यणुओ से मिलकर बना है जो स्वतन्त्र तथा निरपेक्ष है, परस्पर असम्बद्ध है तथा कभी भी सम्बद्ध नही हो सकते।

समवाय की प्रकल्पना वैशेषिक दर्शन मे एक निर्बल कडी है। यह नहीं हो सकता कि हम समवाय को दो भिन्न वस्तुओ का सम्बन्ध माने और इसे सयोग से भिन्न प्रकार का भी माने। यदि समवाय सयोग से भिन्न है, तो पूर्ण इकाई हिस्सो के अतिरिक्त और उनसे भिन्न कोई वस्तु है। वैशेषिक का समवाय-सम्बन्धी मत, इसके अभाव-विषयक मत के ही समान इस भाव का सकेत करता है कि ससार एक व्यवस्थित इकाई है जिसमे तत्त्व परस्पर सम्बद्ध हैं। इस प्रकार इसका अनेकत्ववाद अन्तिम सिद्धान्त नही है।

सामान्य तथा विशेष के अन्दर जो भेद है, वह द्रव्यो के गुणो का भेद है। विशेष, अथवा विशिष्टता का स्वरूप क्या है? यह बिलकुल सत्य है कि हम विलक्षण विशेषो को जीवन के साधारण बुद्धि मे आनेवाले स्तर पर मान लेते है। किन्तु यह विशेष है क्या? इसका सन्तोषजनक विवरण हम नही दे सकते। वह क्या है जो किसी वस्तु को वस्तु-विशेष बनाता है। किसी भी वस्तु के विषय मे जो कुछ हम जानते है, वह उसके कुछ गुण है और यह कि किस रूप मे वह व्यवहार करती है। अनुपमता की परिभाषा नही की जा सकती, तो भी यह अक्षर्य प्रतीत होती है। विशेषता केवलमात्र एक धारणा प्रतीत होती है, जो अभाव के ही बराबर है। जीवात्मा ही को ले। क्या कोई ऐसी वस्तु भी है जिसे यह न बदल सके? यदि इसका विशेषत्व कोई ऐसी वस्तु है जो उसके ऐतिहासिक जीवन के साथ बदलती है, तो यह परिवर्तित होने की क्षमता रखती है। किन्तु यदि यह एक अपरिवर्तनशील तत्त्व है, तो हम नहीं जानते कि यह क्या है। यदि हम तथ्यो की ओर ध्यान दे तो हमे 'नीला' नहीं मिलता, बल्कि सर्वदा 'एक नीला' अर्थात् एक विशेष प्रकार का नीला मिलता है। यह न तो स्वय मे सामान्य है और न यह विशिष्टता ही है जो विशेष पदार्थ को नीला बनाती है। हम नहीं जानते कि किस प्रकार ये एक अनुपम विशेष को बनाने के लिए सयुक्त होते है। अन्ततोगत्वा, हमारा अनुपमता से क्या तात्पर्य है, इसकी परिभाषा हम नही कर सकते। यद्यपि 'विशेष' की प्रकल्पना तार्किक प्रमाण के आधार पर सिद्ध नहीं हो सकती, तो भी एक अनुभवजन्य प्रबल पक्षपात हमे प्रेरणा करता है कि हम व्यक्तियो मे अनुपम तथा अविनश्वर तत्त्वो को स्वीकार करे। असख्य तत्त्वो तथा आत्माओ का विशेषत्व सम्पूर्ण इकाई के विशेषत्व का नाश करनेवाला है। इस प्रकार यदि एक सघटित इकाई के भाव को, जो वैशेषिक के अभाव तथा समवाय सम्बन्धी विचार से उपलक्षित होता है पुष्ट करना हो तो

विशेषों के सिद्धान्त में परिवर्तन करना आवश्यक है।'

सामान्य का भाव कहा जाता है कि, विचार करनेवाली बुद्धि पर निर्भर न रह कर, द्रव्यों, गुणों और कर्मों मे रहता है, और इसे नित्य द्रव्यो मे नित्य तथा अनित्यों में अनित्य माना जाता है। यदि विशिष्ट व्यक्ति तथा सामान्य समान रूप से यथार्थ है, और यदि हमारी वैज्ञानिक व्याप्तियां प्राकृतिक व्यवस्था मे नियम से नियत इन सत्ताओं से सम्बद्ध मानी जाती है, तो विचार मे आने योग्य अच्छी, बुरी तथा तटस्थ समस्त सत्ताओ के लिए अनुकूल सामान्य होने चाहिए। उसके अतिरिक्त, ऐसे सामान्य नही है जो नित्य हो। औपचारिक तर्क के प्रभाव के कारण, जिसकी प्रवृत्ति विचारधारा को स्थिर करने की ओर होती है, न्याय-वैशेषिक, सारतत्त्वो, उनके गुणो, तथा उनके भेदों पर बल देता है। कोई भी वस्तु एक ही समय मे विद्यमान तथा अभावात्मक दोनों नही हो सकती। यही विरोध का विधान है, और इसीके प्रभाव मे वस्तुएं भिन्न-भिन्न वर्गो मे विभक्त की गई है और यह माना गया है कि ये वर्ग जब से यह संसार बना और जब तक इसका अन्त नही होता, इसी प्रकार के है और रहेगे। डार्विन का विकासवाद जातियो की नियतता के मत को हीन मानता है। प्राकृतिक चुनाव के अधीन वैयक्तिक भिन्नताओ के एकत्र हो जाने पर एक जाति विकसित होकर अन्य मे परिणत हो जाती है। वर्ग जैसे है, वे लाखो वर्षो की विकास की प्रक्रिया के परिणाम है। वर्ग सबसे अधिक परिवर्तनशील है और वर्तमान काल तक मे एक मे दूसरे के अन्दर परिवर्तित होते रहते है। मैंडेल की पैतृक परम्परा-सम्बन्धी सिद्धान्त के अनुसार घोडे का स्वरूप यहां तक परिवर्तित हो सकता है कि पहचान मे न आ सके। तथाकथित सामान्य अपरिवर्तनशील व स्वात्मनिर्भर प्रकार नही है, बल्कि परिस्थितियो की परिवर्तित होती अवस्थाओ के अनुकूल वृद्धि तथा विकास की मंजिलो को प्रदर्शित करते हैं। जब वर्ग मिटने लगते है तो तार्किक की आधारभूमि ही विलुप्त हो जाती है, क्योंकि वह तो प्रकारो तथा सारतत्त्वों पर ही अपने सिद्धान्त का निर्माण करता है। किसी एक विशेष अवस्था मे सामान्य के द्वारा वर्ग का स्वरूप जनाया जाता है यद्यपि यह स्वरूप किसी भी प्रकार से अपरिवर्तनीय नही है। जब हम सामान्यो को नित्य कहते है तो हमारा तात्पर्य अनन्त समय

१. तुलना कीजिए ब्रैडले से : "अनेकों के स्वरूप, उसलिए, केवल अपने मे (प्रत्येक अपने-आपमे) आत्म-निर्भर नहीं है, क्योंकि यदि तुम प्रत्येक मे से उसके परे के प्रत्येक उल्लेख का मिटा दो तो अनेकत्व कहीं भी नहीं रहता। 'और' शब्द का अर्थ सिवाय इसके और कुछ नहीं है कि वह पूर्ण इकाई के आधार को अभिव्यक्त करता है, और एकात्मता मे अलग विवेचना का अपना कोई अर्थ नही है। इसलिए जिन विशेषों की आवश्यकता है, वे स्वात्म-विरोधी है। और पृथक्-पृथक् पक्षो में से प्रत्येक के अन्दर भेद करने से तुम बच नहीं सकते, क्योंकि इस प्रकार का भाग हमें नये विशेषों के विभाग की ओर ले जाएगा जिनमें से प्रत्येक के सम्बन्ध में वही समस्या उत्पन्न होगी। यदि अनेकों में से प्रत्येक अपने से परे नहीं है, तो वे अनेक नहीं रहते। और दूसरी ओर, जो आत्मनिर्भर नहीं रह सकता वह विशेष अथवा विलक्षण भी नहीं कहा जा सकता। इसलिए विशेष, जिनमे से प्रत्येक—यदि सम्भव हो सके तो—विलक्षण हो, केवल असत् भाव ही सिद्ध होते है। और क्योंकि ये सिद्धान्तरूप में स्वात्म-विरोधी है, इसलिए अयथार्थ है और अन्ततोगत्वा निरर्थक है" (लौजिक, खण्ड २, पृष्ठ ६५१)। और भी देखिए जेंटाइल-कृत थियरी आफ माइण्ड ऐज प्योर एक्ट, आंग्लभाषानुवाद, पृष्ठ ११३।

तक उनकी सत्ता से नही होता, बल्कि यह होता है कि काल-विषयक सम्बन्धों से वे स्वतन्त्र है। जैन तार्किकों का कहना है कि न्याय-वैशेषिक भी अभाव के सामान्य भाव को, जो पूर्ववर्ती अभाव, पश्चाद्वर्ती अभाव आदि में एकसमान माना जाता है, स्वीकार नहीं करता; और न सामान्यो के सामान्यभाव को ही स्वीकार करता है। यदि विभिन्न सामान्यों अथवा विभिन्न प्रकार के अभावो का सामान्य केवल मात्र उनका समान स्वरूप है, तो हम कह सकते है कि समान स्वरूप के अतिरिक्त अन्य किसी प्रकार का सामान्य है ही नही। सामान्य की प्रकल्पना को परिवर्तनशील तथा अपरिवर्तनशील मे परस्पर भेद करने की इच्छा से ही प्रेरणा मिलती है। यदि हम सामान्यो को उत्कृष्ट यथार्थता के इन्द्रियातीत जगत् की वस्तु माने, तो उनका सम्बन्ध विशेष व्यक्तियो के साथ, जिनमे कि वे रहते है, स्थापित करना कठिन होगा। एक, नित्य, सर्वगत सामान्य तत्त्व का अनेक, अनित्य, खण्डित तथा एकाकी व्यक्तियो के साथ सम्बन्ध स्थापित करना आसान नही होगा। यदि सामान्य विशिष्ट के साथ सह-अस्तित्व नही रखता तो हमारी स्थिति भी प्लेटो की विचार-सम्बन्धी प्रकल्पना के ही समान हो जाती है, जिसे वह 'वस्तुपूर्व-सामान्य' का सिद्धान्त कहता है। नितान्त पृथक् दो वस्तुओ को, अर्थात् सामान्य तथा व्यक्ति को, एकाकार नहीं किया जा सकता। हमे व्यक्तिरूप जगत् को, यह कहकर कि उसका यथार्थसत्ता के साथ कोई बुद्धिगम्य सम्बन्ध नही है, और वह एक व्यर्थ प्रतीति-मात्र है, अमान्य ठहराना होगा। न्याय-वैशेषिक स्वीकार करता है कि सामान्य तथा व्यक्ति एक-दूसरे से पृथक् नहीं किए जा सकते, क्योंकि वे परस्पर समवाय-सम्बन्ध से जुड़े हुए हैं। दूसरे शब्दो म, सामान्य तथा विशेष मे भेद केवल विचार-विषयक ही है, यथार्थभेद नही है, और तो भी असगत रूप मे सामान्यो को स्वतन्त्र अस्तित्व दे दिया गया है। कल्पना की गई है कि ससार के विनाश के पीछे भी ये विद्यमान रहते है और प्रलय की अवस्था मे उनका अधिष्ठानकाल होता है, जिसे यथार्थ वस्तु समझा गया है।

द्रव्य, गुण और कर्म को विषयनिष्ठ माना गया है, जबकि सम्बन्ध तार्किक विश्लेषण की उपज है, जिन्हे विश्व के तथ्यों का रूप देना हमारे अधिकार के बाहर की बात है। पहले तीन पदार्थों के विषय मे कहा जाता है कि वे सत्ता के लक्षण को ग्रहण करते है, और सत्ता के विषय मे समझा जाता है कि वह उसी गुण का, अर्थात सत् से युक्त एक कल्पना का, तीनो पदार्थों मे आधान करती है। विभिन्न सम्बन्ध—कारण-कार्य और अन्योन्य तथा सह-उपस्थिति का केवल एकत्रीकरण—असत् है, क्योंकि सब सत् पदार्थ व्यक्तिरूप है। गुण और कर्म सत्तावाची विशेष्य के भिन्न-भिन्न प्रकार या विशेषण है।[1] कोई भी काल-सम्बन्धी परिवर्तन अथवा दैशिक गतिया क्यो न हो, गुण कारणकार्य-सम्बन्ध के सतत घटक माने जा सकते है, जबकि परिवर्तनशील अवस्थाएं कर्म है जो कारण-कार्य-सम्बन्धी आकस्मिक घटक है। द्रव्य के सम्पूर्णभाव मे गुण और कर्म, सतत और आकस्मिक घटक, दोनों सम्मिलित है, जिनमे से किसीका भी चिन्तन दूसरे से

१. डब्ल्यू० ई० जानसन विशेषणों को दो भागों मे विभक्त करता है, अर्थात् संक्रामक तथा असंक्रामक। संक्रामक विशेषण ही सम्बन्ध है। देखिए लौजिक, खण्ड १, पृष्ठ ३७।

पृथक् नही किया जा सकता।[1] प्रत्येक द्रव्य की अपनी विशेषता, अपने गुण और अपने कर्म होते हैं। साधारण बुद्धि ससार की घटनाओ को कुछ द्रव्यो के गुण समझती है। वस्तु तथा उसके गुणों का भाव हम सबके लिए इतना परिचित है कि हमारे समस्त अनुभव मे इसका प्रवेश है। वैशेषिक इसे एक साधारण, असन्दिग्ध सूत्र के रूप मे मान लेता है जिसको सिद्ध करने के लिए न तो किसी और विवेचन और न प्रमाण की ही आवश्यकता है। प्रत्येक यथार्थ वस्तु या तो द्रव्य है या उसका गुण है। गुण यथार्थसत्ता के आश्रित पक्ष है और अपने स्वतन्त्ररूप मे रहने के अयोग्य हैं। वे जीवित द्रव्य के एक अधिक मौलिक रूप का सकेत करते हैं जिसके कि वे गुण हैं। द्रव्यो के अनेकत्व के अस्तित्व को, जिनमे से प्रत्येक अपने-आपमे पूर्ण है और अन्य सब से स्वतन्त्र है, साधारण बुद्धि का आदेश मानकर स्वीकृत किया गया है, यद्यपि उससे हम, द्रव्य अपने-आपमे क्या है, इस विषय मे कोई सन्तोषजनक विचार नही बना सकते।

द्रव्य और गुण की सरल कल्पना के पीछे ऐसी समस्याओं की गहराई छिपी है जिनका समाधान आज तक नही हुआ। द्रव्य की परिभाषा करते हुए कहा जाता है कि द्रव्य वह है जो गुणो का अधिष्ठान हो।[2] इस प्रकार गुणो का स्वतन्त्र अस्तित्व नही है। हम विचार मे द्रव्य तथा गुण के अन्दर भेद करते हैं, किन्तु ऐसी धारणा बनाने की कोई आवश्यकता नही है कि गुणो तथा कर्मो मे सामान्य तथा विशेष आदि की अपेक्षा यथार्थता का अधिक ऊचा अश विद्यमान है। किन्तु वैशेषिक की धारणा है कि गुणो के बिना भी द्रव्य रह सकता है। सृष्टि-रचना के आरम्भिक क्षण मे द्रव्यो को गुणरहित ही बताया गया है, जिसका निर्देश यह है कि द्रव्य की तत्त्वज्ञान-सम्बन्धी पहचान उसके गुणो की स्थिर पहचान के समान नही है। द्रव्य के सारतत्त्व का जिसके ही कारण वह द्रव्यरूप मे है उन स्थिर गुणो के साथ, जो उसकी अपनी विशेषता है, कोई विशेष सम्बन्ध नही है। द्रव्य के अपने अस्तित्व के बने रहने के लिए गुणो के स्थायित्व की अनिवार्यता नही है। द्रव्यो के विशिष्ट गुण कार्य माने गए हैं, अर्थात् ऐसे गुणो का उद्‌भव द्रव्यो के अन्दर से है। किन्तु द्रव्य कारण कैसे बन सकता है, अर्थात् अपने से भिन्न किसी वस्तु का कैसे उत्पन्न कर सकता है? समस्त निश्चित और मूर्त गुणो से ऊपर जो कुछ है वह हमारे विचार के लिए विषय-वस्तु मे सर्वथा रिक्त है। यह एक अज्ञात कल्पित वस्तु है, अर्थात् "मैं नही जानता कि क्या है", जो सब गुणो की पृष्ठभूमि मे है। विचार के एक चिरस्थायी स्वभाव की प्रवृत्ति के कारण हम गुणो की अपेक्षा द्रव्य को अधिक यथार्थ समझते हैं। वैशेषिक के द्रव्य एक अज्ञात अधिष्ठान हैं, जिसके द्वारा अनुभव मे आनेवाले गुणो की व्याख्या हो सके। ये सम्भाव्य कल्पना के परिणाम हैं वैज्ञानिक निरीक्षणो के नही। किन्तु वैशेषिक यह भी मानता है कि यदि कोई वस्तु अपने गुणो को खो दे तो उसका स्वरूप भी नष्ट हो जाता है। द्रव्यों तथा गुणो का परस्पर सम्बन्ध समवाय-सम्बन्ध कहा जाता है, अर्थात् इन दोनो में से

१. डब्ल्यू० ई० जानसन : लौजिक, खण्ड १, पृष्ठ ३७।

२. जहा प्राचीन न्याय ने द्रव्य की परिभाषा करते हुए इसे गुणो तथा कर्मो का अधिष्ठान बताया है, वहा आधुनिक न्याय अपनी परिभाषा में इसे केवल गुणो का ही अधिष्ठान बताता है।

कोई भी एक-दूसरे के बिना नहीं रह सकता ।[1]

द्रव्य और गुण के बीच जो उक्त प्रकार का सम्बन्ध बताया गया है, शङ्कराचार्य ने उसकी आलोचना की है। यदि दोनों इस प्रकार संयुक्त हैं कि उन्हें पृथक् नहीं किया जा सकता, तो यह अविभाज्यता देश, काल तथा स्वभाव से सम्बद्ध होगी। दोनों देश के अन्दर अविभाज्य नहीं हैं, क्योंकि धागों से बनने-वाला कपड़ा केवल धागों की जगह घेरता है, कपड़े का स्थान (देश) नहीं घेरता जबकि कपड़े के गुण जैसे इसका रंग आदि केवल कपड़े का ही स्थान घेरते हैं धागों का नहीं ।[2] यदि काल में अविभाज्यता को समवाय-सम्बन्ध का सारतत्त्व मानें, तो गाय के दायें और बायें सींग भी समवाय-सम्बन्ध से संयुक्त होंगे। और यदि यह अविभाज्यता स्वभाव में है तो द्रव्य और गुण में आगे कोई भेद असम्भव होगा, क्योंकि दोनों एक ही हैं ।[3]

यदि द्रव्य अपने गुणों के आश्रित है तो वह वस्तुतः स्वतन्त्र नहीं है। द्रव्य केवल अपने गुणों के साथ समवाय-सम्बन्ध से संयुक्त नहीं है, बल्कि सभी द्रव्य द्रव्यत्व के एक सामान्य भाव से संयुक्त हैं, और व्यक्तिरूप में प्रत्येक द्रव्य उसी प्रकार अपने वर्ग के भाव से संयुक्त है ।[4] गुणों से अलग द्रव्य का हमें प्रत्यक्ष नहीं होता, और इस प्रकार की धारणा कि गुणों के परिवर्तन होने पर भी कोई वस्तु अपरिवर्तित रह जाती है, तर्क के विरुद्ध है ।[5] यदि हम उन गुणों को अपना आधार बनाएं जो परिवर्तित हो जाते हैं, तो स्थायी द्रव्य कोई हो ही नहीं सकता। पत्ती जो आज ताजी, हरे रंग की तथा रस से पूर्ण है, अगले दिन म्लान होकर पीली पड़ जाती है, और उससे भी अगले दिन भूरे रंग की और मुरझाई हुई दिखाई देती है। इसलिए हम नहीं जान सकते कि उस पत्ती का स्थायी गुण क्या है। दर्शनशास्त्र का सम्पूर्ण इतिहास यह सिद्ध करता है कि वस्तु का अन्तस्तल एक ऐसा रहस्य है जिसके अन्दर प्रवेश करना कठिन है ।[6] अपने गुणों

१. देखिए गौडपादकृत कारिका, ३ : ५ पर शंकराचार्य ।

२. वैशेषिकसूत्र, १ : १, १० ।

३. शांकरभाष्य, २ : २, १७ ।

४. श्री हर्ष पूछता है कि ऐसे गुण, जो संख्या जैसे अन्य गुणों को धारण करते हैं, द्रव्यों के अन्तर्गत क्यों नहीं लाए गए। यदि गुणों की परिभाषा करते हुए यह कहा जाता है कि ये सामान्य के अधिष्ठान है, तो वह पूछता है कि वे विध्यात्मक सत्ताओं, यथा उपाधियों, के अधिष्ठान हैं या नहीं (खण्डन, ४ : ३)। अलेग्जैण्डर गुण को पदार्थ मानने को उद्यत नहीं है।

५. परन्तु देखिए न्यायवार्तिक, १ : १, १३, जहां पर 'पृथिव्यादिगुणाः' को द्वन्द्व समास माना गया है, जिसका तात्पर्य पृथ्वी आदि और गुण हैं, और यह सुझाया गया है कि द्रव्यों और गुणों का बोध इन्द्रियों द्वारा होता है।

६. सांख्य द्रव्य और गुण को एक ही यथार्थतासम्पन्न मानता है। अद्वैत वेदान्त द्रव्य के विचार को अतार्किक मानता है तथा समझता है कि यह केवल विचार का एक प्रकार है। तुलना कीजिए लौक : 'एसे आन दि ह्यू मन अंडरस्टैंडिंग' ।

तथा कर्मों को छोड़कर द्रव्य क्या वस्तु है, यह जानने की आशा हम नहीं कर सकते। आनुभविक जगत् में हमें द्रव्य तथा गुण, इन पदार्थों का उपयोग करने को बाध्य होना होता है यद्यपि अस्तित्व को हम गुणों के रूप मे नही ला सकते, और तो भी वैशेषिक स्वीकार करता है कि द्रव्य अपने गुणों से अलग कुछ नही है। हम द्रव्य की परिभाषा केवल उसके गुणों के द्वारा ही कर सकते है। इसी प्रकार पदार्थों मे परस्पर-भेद भी उनके भिन्न-भिन्न गुणों के द्वारा ही कर सकते है। हम एक पदार्थ को भिन्न-भिन्न समयो में वही तभी तक कहते है जब तक कि उसमे वही गुण रहते है। जब हम भिन्न गुणसमूहों को पाते है तो हम कहते है कि ये वस्तुए भिन्न है। द्रव्य हमारे अनुभव के स्थायी तत्त्वो का निर्देश करता है। आत्माए और परमाणु, देश, काल, आकाश और मन हमारे अनुभव के निरन्तर रहनेवाले अवयवो का निर्देश करते है।

वैशेषिक का प्रयत्न अनुभव के सभी पहलुओ को लेकर उन्हे एक सामान्य योजना मे ठीक-ठीक स्थान पर बैठाना है। इन्द्रियगम्य जगत् का एक यथार्थ आधार है, जो प्रत्यक्षदर्शी से स्वतन्त्र है। सम्बन्ध इन अर्थो मे यथार्थ है कि इन्हे मनुष्य के मन ने नही बनाया है। वैशेपिक की सम्मति मे अनुभव हमे केवल बहुविध रूप मे प्राप्त नही होता है। यह नियमो मे स्थापित है, जो इसपर केवल आरोपित नहीं किए गए है। गुण, कर्म, सामान्य, विशेप और समवाय आश्रित पदार्थ है, जबकि द्रव्य एक स्वतन्त्र सत्ता है जिस (आश्रय) पर ये सब आश्रित है। द्रव्य नितान्त अनाश्रित है। अनित्य द्रव्य, जो कारण मे उत्पन्न है, यथार्थ मे द्रव्य नही है। नौ नित्य द्रव्यों का सिद्धान्त वैशेपिक के अनेकवाद का प्रधान प्रतिपाद्य विषय बन जाता है। ये नौ नित्य द्रव्य, प्रोफेसर व्हाइटहैड के अनुसार, वैज्ञानिक पदार्थ हैं, जो प्रत्यक्ष-विषयक पदार्थों तथा इन्द्रिय-सामग्री से भिन्न है। इनका महत्त्व इसमे है कि ये प्रत्यक्ष की सामग्री की व्याख्या करने तथा उसे व्यवस्थित करने, इन्द्रियो द्वारा प्रत्यक्ष मे आनेवाली प्रकृति को अधिक बुद्धि-गम्य बनाने की क्षमता रखते है। प्रकृतिवाद-सम्बन्धी पक्षपात के कारण वैशेषिक विचारक अनुभव को एक निरन्तर परिवर्तित होनेवाले छायाचित्र की भाति मानने के लिए बाध्य होते है, जिसकी व्याख्या के लिए बाह्य साधनो की आवश्यकता है। वे अनुभूत पदार्थों को परदे पर पड़े हुए छायाचित्रो की भाति मानते है जिनकी पृष्ठभूमि मे द्रव्य है। द्रव्यो के द्वारा, जो पृष्ठभूमि मे छिपे रहते है, हमारे मन के परदे पर छायाचित्र प्रकट होते है। यह एक काल्पनिक धारणा है, जिसके लिए कोई प्रमाण हमारे पास नहीं है। हमे अनुभव के पीछे जाकर ऐसी वस्तुओं की कल्पना करने की आवश्यकता नहीं है जो अपने-आपमे रहस्यपूर्ण है। वैशेपिक हमे आदेश देता है कि हमे आनुभविक चेतना के निर्णयो को ही सही मानना चाहिए, क्योंकि यह कहा जाता है कि वह आदि से अन्त तक यथार्थ तथा पृथक्-पृथक् वस्तुओ का प्रतिपादन करती है। किन्तु वह स्वयं ही चेतना की साक्षी से परे जा रहा है, जबकि वह आनुभविक जगत् को एक प्रकार का परदा मानता है, जो हमारे तथा अदृश्य यथार्थसत्ताओ के बीच मे पड़ा हुआ है। वैशेपिक दृश्य वस्तुओं को सरल करने अथवा सयुक्त करने का कार्य अपने ऊपर लेता है, किन्तु जब वह इस प्रकार की धारणा बनाता है कि जगत् की अनेकता एक तात्त्विक

अनेकता का दृश्य मात्र है तो एक मिथ्या तत्त्वज्ञान का आश्रय लेता है। किन्तु जब वह एक बार अनुभूत एकत्व को अनेको विभिन्न तत्त्वो मे भग कर देता है, तो उन्हे फिर से एक पूर्ण इकाई मे सयुक्त नही कर सकता। एक तितर-बितर और वियुक्त विविधता एकत्व को उत्पन्न नही कर सकती। जब तक कि इसमे दैवीय शक्ति ही का हाथ न हो। ये द्रव्य अपने नित्य आत्म-स्वरूप तथा अनित्य अभिव्यक्तियों, दोनो अवस्थाओं मे ही एक सुसगत इकाई का निर्माण नही कर सकते। ऐसी कोई शृखला नही है जिससे हम इन्हे एकसाथ बाध सके।

द्रव्यो के अन्त सम्बन्ध के विचार को सुचारुरूप से विकसित नही किया गया। वैशेषिक जहा सम्बद्धता को आनुभविक जगत् का प्रधान लक्षण मानता है, वहा असम्बद्ध परमाणुओ तथा आत्माओ को वैज्ञानिक पदार्थ मानकर वह सब प्रकार के सम्बन्धो को बाह्य तथा स्वच्छन्द बना देता है। यथार्थ सत्रूपी जगत्, अर्थात् ना नित्य द्रव्य, परिवर्तन से सदा अप्रभावित रहते है, और दृश्यमान परिवर्तन का आधार स्वय यथार्थ के किसी लक्षण मे भी नही खोजा जा सकता। सम्बद्धता इस प्रकार यथार्थसत्ताओ की एक बाह्य घटना बन जाती है। असमक्त परमाणु दृश्यमान जगत् का कारण नही हो सकते। दृश्यमान वस्तुओ को उत्पन्न करने के लिए उन्हे अवश्य परस्पर मिलना तथा टकराना चाहिए। यदि परमाणुओ मे गति-सम्बन्धी गुण है तो सभी अर्थों मे असम्पृक्त नही है, क्योकि परमाणुओ की गति भी उनके असम्पृक्त होने का निषेध करती है। अदृष्ट को मानने का अर्थ दार्शनिक व्याख्या की हर सभावना को छोड देना है। यदि वैशेषिक सम्बन्धो की यथार्थता के अपने सिद्धान्त के प्रति दृढ रहना चाहता है, जिसे वह पदार्थों अथवा अनुभूत जगत् का विवरण देते हुए अगीकार करता है, तो उसे नित्य अपरिवर्तनशील द्रव्यो की, जो वैज्ञानिक पदार्थ है, अपनी कल्पना को त्याग देना होगा, और सम्बद्धता को भी यथार्थ बनाना होगा। यथार्थ सम्बद्धता सम्बद्ध तत्त्वो की नितान्त स्वतन्त्रता के साथ सगति नही खा सकती। इसलिए तथाकथित नित्य द्रव्य अमिश्रित, परिवर्तनरहित स्थायी तत्त्व नही हो सकते, बल्कि एक निरन्तर परिवर्तनशील पद्धति के केवल अपेक्षाकृत स्थिर बिन्दु हो सकते है। यदि परिवर्तन और सम्बद्धता का यथार्थता के सारतत्त्व मे सम्बन्ध है, तो यथार्थता अमिश्रित यथार्थसत्ताओ का समुच्चय नही है। सही अर्थों मे वैज्ञानिक पदार्थ नित्य द्रव्य नही है, बल्कि स्वय जगत् की सदा परिवर्तनशील अभिन्नता है।

जब वैशेषिक नित्य परमाणुओ को तथ्यरूप मे मान लेता है तो इसका आशय इस प्रकार के सुझाव से है कि देश-काल के विस्तृत क्षेत्र मे हम अतीन्द्रिय कणो का एक समूह पाते हैं। ये कण इतने अधिक सूक्ष्म हैं कि अकेले मनुष्य के दृष्टिक्षेत्र को स्पर्श नही कर सकते, यद्यपि जब ये परस्पर सयुक्त हो जाते है तो दृश्यमान कोटि मे आ जाते है। इनके ये सयुक्त रूप न्यूनाधिक परिमाण मे स्थायी होते है, यद्यपि किन्ही भी अर्थों मे नित्य स्थायी नही होते। कार्यकारण सिद्धान्त के प्रयोग के लिए, कि असत् से कुछ उत्पन्न नहीं होता, इन नित्य परमाणुओ की स्थापना आवश्यक है। वैशेषिक का इस प्रकार का तर्क ठीक ही है कि जहां आयाम (विस्तार), लम्बाई, आकृति,

काल और गति, देश-काल सम्बन्धी गुण है, वहां गन्ध, रस, रंग, उष्णता और शब्द देश-काल को भरनेवाले गुण है। फिलहाल शब्द को एक ओर रखकर, वैशेषिक गन्ध रस, रंग तथा उष्णता को, जो हमारे अनुभव की विषयवस्तु है, परमाणुओ से आया बताता है। क्योंकि हमारे अनुभव के ये लक्षण स्थायी है, इसलिए वह इनकी व्याख्या परमाणुओ को नित्य मानकर करता है, अनुभव के परिवर्तनशील पहलुओ का उद्भव अनित्य द्रव्यों से तथा स्थायी पहलुओं का नित्य द्रव्यो से बताता है। अन्तिम सामग्री, जिसको लेकर वैशेषिक आगे बढ़ता है और जिसकी व्याख्या करने का वह प्रयत्न करता है, हमारे इन्द्रियानुभव है। परमाणु अपने-आपमे हमारे प्रत्यक्ष ज्ञान की पहुच से बाहर है, यह स्पष्ट स्वीकार किया गया है, यद्यपि इस सब दृश्य के प्रादुर्भाव के लिए, जिसे हम देखा करते है और देखते है, उन्हे अनिवार्य समझा गया है। हम रगो, शब्दो, रसो तथा उष्णताओ का प्रत्यक्ष अनुभव करते है। इस इन्द्रिय-सामग्री को हम प्रकृति के भाग के रूप मे प्रत्यक्ष अनुभव करते है, न कि मन के भाग के रूप मे जैसाकि बौद्ध मानते है। किन्तु क्या हमे परमाणुओ को इस इन्द्रिय-सामग्री के अतीन्द्रिय कारण मानने की आवश्यकता है? यदि हम रगो, शब्दो, स्पर्शों तथा रसो का क्रमशः एक-दूसरे मे पृथक प्रत्यक्ष करे तब तो प्रकृति को परमाणुओ के टुकडो से बना हुआ मानने मे कुछ औचित्य हो सकता है। किन्तु वैशेषिक इसपर ठीक ही बल देता है कि दृश्यमान प्रकृति एक सम्बद्धता है, एक-दूसरे मे विलीन होती इन्द्रिय-सामग्री का एक पुञ्ज है, एक निरन्तर बहती धारा है। इसी इन्द्रिय-सामग्री मे से हम अपने अनुभव-सम्बन्धी विचार का निर्माण करते है जिसमे वस्तुए, उनके गुण और सम्बन्ध सम्मिलित है। किन्तु कल्पित परमाणु आनुभविक जगत् के अन्तर्निहित घटक नही है। परमाणुओ की प्रकल्पना केवल नई कठिनाइया ही उत्पन्न करती है और वैशेषिक दर्शन को विषयिविज्ञानवाद के सकटो की ओर ले जाती है। हम परमाणुओ का बोध नही होता, तो भी उन्हे एकमात्र यथार्थसत्ता मान लिया गया है जो अनुभूत पदार्थ को उत्पन्न करती है। कार्यकारण सिद्धान्त का व्यवहार यान्त्रिक है, और जिसका हम प्रत्यक्ष ज्ञान करते है वह जिसका अस्तित्व है उसके साथ अर्थात् अनुभव के काल्पनिक अप्रमाणित कारणो—परमाणुओ के साथ, कोई सम्बन्ध नही रखता। ये अमूर्त आधार उनपर निर्माण किए गए मूर्त अनुभव के लिए अपर्याप्त है। हमारा अनुभव घटनाओ की शृखला से बना है, जो देश और काल मे सम्बद्ध है। प्रत्येक घटना की एक दैशिक स्थिति होती है, अर्थात् वह किसी स्थान-विशेष पर होती है, और उसका कुछ इतिहास होता है, अर्थात् वह किसी काल-विशेष मे होती है। किन्तु ये देश और काल सम्बन्धी गुण ही घटना का पूर्ण स्वरूप नही है। हमे भौतिक बिन्दुओ अर्थात् परमाणुओं के विषय मे कुछ भी ज्ञान नही। जो कुछ हम जानते है, यह है कि शरीर एक ही समय मे अनेको स्थितियो मे रहते है, और इसलिए हम यह कहते है कि वे देशीय विस्तार तथा रूप वाले है। सही-सही अर्थों मे, हम न तो व्यापक प्रकृति को जानते है और न अदृश्य परमाणुओ को ही जानते है, बल्कि केवल पिण्डों को जानते है। साधारणत जो गति करता है उसे ही हम पिण्ड कहते है। यह प्रकृति का, जो अपने भागों की प्राकृतिक स्थिति को अपरिवर्तित रूप में स्थिर रखती है, एक हिस्सा है,

किन्तु अन्य स्थितियो के साथ उनके सम्बन्ध परिवर्तित हो जाते है। एक विस्तृत इकाई की सीमाए स्थिर होती है, और जब तक आभ्यन्तर तथा बाह्य सम्बन्धो की यह स्वतंत्रता बनी रहती है उसकी पहचान मे कोई परिवर्तन नही आता। जिसे हम वस्तु अथवा पिण्ड के नाम से पुकारते है वह देश का एक क्षेत्र-विशेष है, जो किसी विशेष लक्षण द्वारा लक्षित होता है और काल के अन्दर अपरिवर्तित रहता है। हमें अनुभव मे जो मिश्रण प्राप्त होता है, हम उसमे देश तथा काल को घेरनेवाले पिण्ड को स्वयं देश तथा काल से भिन्न करते है। प्रकृति वह है जो देश-काल के साचे को भरती है।[1] वैशेषिक उन बौद्ध कल्पनाओ से सहमत नही है जिनकी तुलना अलेग्जैंडर तथा रसल जैसे कुछ नव्य यथार्थवादियों की कल्पनाओ से की जा सकती है और जो व्यक्ति को सामान्य से, यथार्थ वस्तुओ को उनके सम्बन्धो से, शब्दो को उनके अर्थ-सम्बन्धो से और प्रकृति को देश और काल के सयोग से उत्पन्न मानती है। गतिमान पदार्थों के बिना गति नही हो सकती। वैशेषिक परमाणु को यथार्थसत्ता मानता है, सीमा निर्माण करनेवाला केवल विचार नही। वैशेषिक के मत मे परमाणु रग आदि गुणो के धारण करनेवाले कहे जाते हैं। शकराचार्य का तर्क है कि जिसमे रग आदि गुण है वह अणु (सूक्ष्म) तथा नित्य नही हो सकता। अनुभव के आधार पर निर्णय करने से भी रग आदि गुणो से सम्पन्न पदार्थ मूर्तरूप तथा अस्थायी है।[2] यदि प्रत्यक्ष न होना स्थायीभाव का सकेत माना जाए तो द्वयणुको को भी, जो इतने सूक्ष्म है कि प्रत्यक्ष का विषय नही है स्थायी मानना चाहिए[3]। यदि विश्व के आधार का नित्य होना आवश्यक है तो परमाणु निश्चय ही विश्व का आधार नही माने जा सकते।[4] जगत् की स्थिरता (निश्चितता) परमाणुओ की विभिन्नता के कारण बताई जाती है। किन्तु नितान्त बाह्य तथा आकस्मिक सम्बन्ध जगत् के निश्चित स्वरूप की व्याख्या नही कर सकते। प्रकृति के अपनी भिन्न-भिन्न अवस्थाओ मे रूपान्तरण की प्रकल्पना परमाणुओ के निर्विकार होने की कल्पना से विरुद्ध जाती है। जहा साधारण चिन्तन-विहीन अनुभव जगत को खण्डो मे विभक्त करता है जहा प्रत्येक वस्तु एक-दूसरी से पृथक् नही तो विलक्षण अवश्य है, वहा थोडा-सा भी चिन्तन हमे यह जताता है कि वस्तुए एक-दूसरी मे परिणत हो जाती है। बनना नाम की एक वस्तु है जिसे विकास भी कहते है। वस्तु-सम्बन्धी सत्य नमूनो की अनेकता नही बल्कि एक सामान्य स्वरूप है। वैशेषिक को अपनी आनुभविक प्रवृत्ति के कारण होने (सत्)के विचार से ऊपर बनने के विचार को स्थान देना चाहिए था। यदि हम किसी एक वस्तु से दूसरी की अपेक्षा अधिक प्रभावित होते है, तो यह प्रकृति के एकत्व और सब श्रेणियों के 'परमाणुओं' के उद्भव-स्थान की मौलिक एकता के ही कारण है।

१. वस्तुतः घटनाएं ही ठोस सामग्री है जिनमें देश और काल का प्रादुर्भाव हुआ। केवल मात्र विस्तार और शुद्ध क्रमिक प्रक्रिया दोनों ही असत भाव हैं। यदि विश्व की मौलिक इकाइयां कोई हैं तो वे देश-काल-प्रकृति हैं, जिन्हें प्रोफेसर व्हाइटहेड घटनाएं कहते हैं। पदार्थों की स्थायी सामग्री, अर्थात् देश और काल, सब घटनाओं के आश्रित हैं।

२. वैशेषिकसूत्र, ४ : १, १। ३. ४ : १, ५।

४. शांकरभाष्य, २ : २, १५।

विकास का विचार इस बात का उपलक्षण है कि नाना आकृतियो की अपेक्षा उस तत्त्व का महत्त्व कही अधिक है जो उन सब आकृतियो मे से गुजरता है। यथार्थता, जो हमारे समक्ष आती है, स्वरूप मे परमाणु-निर्मित नही है, बल्कि एक ऐसी सामग्री प्रतीत होती है जिसके भिन्न-भिन्न गुणो वाले पहलू एक-दूसरे मे विलीन हो जाते है। शकराचार्य का कहना है कि भिन्न-भिन्न तत्त्व एक ही परमतत्त्व की भिन्न-भिन्न अवस्थाए है, जैसे पृथ्वी ठोस है, जल अपेक्षाकृत सूक्ष्म है, प्रकाश उससे भी सूक्ष्म है और वायु सबसे सूक्ष्म है।[1] उक्त चारो तत्त्वो के अनुकूल परमाणुओ के विषय मे यह कल्पना नही की जा सकती कि उनमे गुणो की सख्या अधिक अथवा न्यून होगी, केवल इसलिए कि पृथ्वी मे चार गुण है, जल मे तीन गुण है, और इसी प्रकार इन तत्त्वो मे गुण कम होते गए है। फिर सब परमाणओ मे सब गुण है, यह भी नही कहा जा सकता। यदि उनमे केवल एक ही गुण माना जाए तो हमे पृथ्वी मे रस का प्रत्यक्ष न होना चाहिए, अथवा जल मे रूप का प्रत्यक्ष न होना चाहिए, क्योकि कार्यो के गुण कारणो के पूर्ववर्ती गुणो के कारण होते है।[2] परस्पर विलक्षण परमाणुओ की अनन्त राशि एक सामञ्जस्यपूर्ण विश्व को उत्पन्न नही कर सकती। इस कठिनाई को दूर करने के लिए समवाय के रहस्यमय सम्बन्ध का आविष्कार किया गया है। कहा जाता है कि द्वयणुक, जो दो परमाणुओं से मिलकर बनते है, उन परमाणुओ मे भिन्न है, यद्यपि समवाय-सम्बन्ध से उनके साथ सम्बद्ध है।

परमाणु घटनाओ के प्रवाह के स्थायी घटक है। प्रकृति मे कुछ ऐसा भी है जो गति नही करता। हमारे अनुभव मे कुछ स्थिर तत्त्व होते है जिन्हे हम द्रव्यो से सम्बद्ध करते है। जैसाकि हम पहले देख चुके है, द्रव्य उस विधि-विशेष का नाम है जिसके अनुसार वस्तुओ का व्यवहार चलता है। हमारे अनुभव के कुछ नित्य लक्षण है, यद्यपि यह परिवर्तनशील स्वभाव वाला है। इस प्रकार अनुभव द्वारा हम जिस अनिवार्य परिणाम पर पहुचते है वह यह है कि प्रकृति का तत्त्व कुछ ऐसी चीज है जो बराबर परिवर्तित होती रहती है यद्यपि वह निरन्तर स्थिर रहती है। परमाणुओ की प्रकल्पना से केवल यही उपयोगी सुझाव दर्शनशास्त्र को मिलता है कि यथार्थ वह है जिसका स्वय अपने मे और अपने लिए अस्तित्व है। ठोस आदर्शवाद मे सम्पूर्ण इकाई ही इस प्रकार की यथार्थता रखती है, क्योकि हिस्सो के विशेषत्व का अर्थ सम्पूर्ण इकाई के विशेषत्व का नाश होगा। किन्तु सम्पूर्ण इकाई का अपने हिस्सो के साथ सम्बन्ध कठिनाइयो से खाली नही है, इसलिए यथार्थसत्ता का केवल चेतनता से ही तादात्म्य हो सकता है।

जब वैशेषिक देश और काल के व्यापक (सामान्य) तथा यथार्थरूप का प्रतिपादन करता है, तो उसका अभिप्राय यही है कि यह विश्व जिस रूप मे हमे प्रतीत होता है, एक अनन्त विस्तार है, एक ऐसी अवधि है जिसका माप नही हो सकता,

१. आधुनिक विज्ञान परमाणुओं को विद्युत् से निकला हुआ बताता है, और प्रकृति लगभग आत्मा ही के समान आकाशीय तत्त्व बनती जा रही है।

२. शांकरभाष्य, २ : २, १६।

एक ऐसा शून्य है जिसकी कोई सीमाए नही हे, कोई तल नही है और कोई अन्त नही है। प्रत्येक घटना के अन्दर देश तथा काल सम्बन्धी गुण रहते है। यदि किसी वस्तु की दैशिक स्थिति वही रहती है और कालिक स्थिति मे परिवर्तन होता है, तो हम कहते है कि शरीर निश्चेष्ट है; किन्तु यदि यह निरन्तर परिवर्तन मे आती है जिस प्रकार कि काल बराबर परिवर्तित होता है, तो हम उसे गति कहते हे। हमारे अनुभव का क्योकि एक देशकालिक स्वरूप है, इसलिए वैशेषिक अनुमान करता है कि देश और काल हमसे बाह्य हे और ये रिक्त पात्रो के समान है, जिनका भरना वस्तुओ तथा घटनाओ से होता है। सत्य यह प्रतीत होता है कि देश व काल विषयक सम्बन्ध देश तथा काल सम्बन्धी प्रत्यक्षानुभवो से बने है। यदि हमारे अनुभव के देश तथा काल सम्बन्धी स्वरूपो की माग यह है कि हम देश तथा काल को व्यापक द्रव्य स्वीकार करे, तो कोई कारण नही कि हम इस विराट अन्तरिक्ष मे एक विराट बुद्धि को, एक विराट प्रकाश को, एक विराट अधकार को और अच्छे-बुरे तथा तटस्थ उन सब गुणो के विराट विश्वीय भण्डारो को भी स्वीकार न करे जो हमारे वास्तविक अनुभवो को स्वरूप प्रदान करते है। देश और काल अनुभवो से उत्पन्न नही माने जा सकते, क्योकि अनुभव उनकी पूर्वविद्यमानता को स्वीकार करता है। यह कहने से कि देश और काल व्यापक है, सर्वगत द्रव्य है, उनका अभिप्राय यही है कि जो कुछ है देश के अन्दर है और जो कुछ होना है, काल के अन्दर होना है। जगत् के पदार्थ गतिमान है, अर्थात् देश को घेरते है और काल के अन्दर अपने व्यवहार मे परिवर्तन लाते हे। पिण्डो मे विहीन देश और घटनाओ मे विहीन काल को द्रव्य कहा जाता है। अपने अनुभवो की व्याख्या के लिए, जो देश सम्बन्धी तथा काल-सम्बन्धी स्वरूप रखते है, वैशेषिक एक अपार तथा असीम देश की तथा एक ऐसी अवधि (काल) की कल्पना करता है जिसकी कही समाप्ति नही है। किन्तु ये अनन्त देश और काल केवल तात्त्विक कल्पनाए-मात्र है, तथ्यो का विवरण नही है।

यद्यपि देश काल-सम्बन्धी परिवर्तनो के बिना निरर्थक प्रतीत नही होता, किन्तु काल बिना परिवर्तनो तथा घटनाओ के कुछ नही है, जैसेकि सम्बद्ध पक्षो के बिना सम्बन्ध कुछ नही है। काल यथार्थ वस्तु से व्याप्त है। काल वस्तुओ के अनेकत्व का सकेत नही करता। एकाकी द्रव्य मे भी काल हो सकता है। एक पुरुष अपने चरित्र मे परिवर्तन कर सकता है एक फूल अपना रग बदल सकता है। देश को क्योकि स्थिति, दूरी इत्यादि के गुणो से व्यवहार करना होता है, इसलिए इसे नानाविध यथार्थ वस्तुओ की आवश्यकता होती है। समय अकेला अपने-आपमे सह-अस्तित्व की विविधता का उपलक्षण नही है। इसका सह-अस्तित्व के साथ उतना ही सम्बन्ध है जितना कि एक यथार्थ-वस्तु का अन्य यथार्थवस्तु के साथ।

जिस तर्क के द्वारा परमाणुओ की कल्पना की जाती है, वह देश तथा काल के सम्बन्ध मे लागू नही होता। वैशेषिक यह नही कहता कि काल की निरन्तरता अविभाज्य तथा पृथक् क्षणो मे उत्पन्न होती है, अथवा देश की निरन्तरता पृथक् बिन्दुओ अथवा देशीय इकाइयो से उत्पन्न होती है। यदि प्रकृति के खण्डित होते-होते शून्य मे परिवर्तित हो जाने की कठिन समस्या का निराकरण केवल अविभाज्य परमाणुओ की

कल्पना के द्वारा ही हो सकता है, तो देश और काल की निरन्तरता की व्याख्या भी केवल बिन्दुओं तथा क्षणों की कल्पना से ही हो सकती है। यदि देश और काल की अवस्था में एक सार्वभौम देश तथा एक सार्वभौम काल की कल्पना सम्भव है, तो भौतिक विश्व की व्याख्या के लिए भी एक सार्वभौम प्रकृति की प्रकल्पना सर्वथा युक्तियुक्त हो सकती है। हमें वस्तुएं परस्पर देशीय सम्बन्ध से सम्बद्ध मिलती है, और घटनाएं कालिक सम्बन्ध से सम्बद्ध मिलती है। देश और काल हमारे अनुभव के लिए पदार्थों के पारस्परिक सम्बन्धों के प्रतिनिधि है। देश तथा काल सम्बन्धी ये सम्बन्ध तात्कालिक अनुभव के लिए तथ्य हैं, और इस प्रकार की प्रकल्पना कि घटनाए प्रस्तुत देश तथा प्रस्तुत काल में घटती हैं, जिनमे प्रस्तुत तथा स्थिर आणविक सामग्री मे सम्पन्न हुए परिवर्तन भी आ जाते है तात्त्विक विवेचन का परिणाम है। एक सार्वभौम देश, एक सार्वभौम काल तथा निरन्तर स्थायी परमाणु, ये सब काल्पनिक समाधान है, प्रस्तुत तथ्य नही है।[1] द्रव्य की यह दोषपूर्ण परिभाषा कि द्रव्य गुणो का अधिष्ठान है, वैशेषिक को देश, काल आदि को द्रव्य मानने की ओर प्रवृत्त करती है। प्रकृति वह सामग्री है जो देश तथा काल की पूर्ति करती है, और यदि हम ठीक-ठीक समझना चाहे तो हमे यह कहना होगा कि मूलभूत विचार जिससे इस विश्व की व्याख्या की जा सकती है वह है देश-काल-प्रकृति-रूप सामग्री। यह एक ऐसा निष्कर्ष है जिसका एक धुधला बोध कतिपय वैशेषिको को भी था। शिवादित्य का कहना है कि आकाश, देश और काल ये वस्तुत: एक है, यद्यपि नानाविध कार्यो के कारण इन्हे तीन प्रकार का विचार मे लाया गया है।[2] इस मत का समर्थन चन्द्रकान्त तर्कालंकार ने किया है। उनका तर्क है कि कणाद के मत मे देश, काल और आकाश एक ही द्रव्य है, यद्यपि इसे इसके द्वारा उत्पन्न कार्यो तथा उन विभिन्न बाह्य परिस्थितियों के अनुसार जो इसके साथ सम्बद्ध हो, देश अथवा काल अथवा आकाश के विभिन्न नामो से पुकारा जाता है।[3] देश और काल प्रकृति से ही निकले है। परवर्ती नैय्यायिको ने देश और काल को ईश्वर की ही अवस्थाए बताया है।[4]

चेतनता एक कर्म है, एक ऐसी वस्तु का गुण है जिसका मुकाबला अन्य वस्तु अर्थात् जड़-जगत् के साथ विस्तार तथा अनुक्रम के सम्बन्ध मे होना है। आत्मा का अपने गुणो के साथ समवाय-सम्बन्ध है। शंकराचार्य ज्ञान आदि गुणो के साथ आत्मा के सम्बन्ध का प्रश्न उठाते है और आपत्ति करते हैं कि वैशेषिक दोनों को एकसमान

१. तुलना कीजिए व्हाइटहेड से : "घटनाओं के विषय मे हमें ऐसा विचार न करना चाहिए कि वे एक प्रस्तुत समय मे, एक प्रस्तुत देश में घटती है और प्रस्तुत स्थायी सामग्री में हुए परिवर्तनों वाली है। काल, देश और सामग्री घटनाओं के सहायक है। सापेक्षता की पुरानी प्रकल्पना के आधार पर, काल और देश सामग्री के मध्यगत सम्बन्ध है। हमारी प्रकल्पना के आधार पर ये घटनाओं के मध्यगत सम्बन्ध है" (इनक्वायरी, पृष्ठ २६)।

२. आकाशादित्रयं तु वस्तुत एकमेव उपाधिभेदान्नानाभूतम्। (सप्तपदार्थी, १७)। सांख्यप्रवचन-भाष्य, १ : ६१।

३. देखिए 'सेक्रेड बुक्स आफ दि हिन्दूज' ग्रन्थमाला मे परिशिष्ट बी०, पृष्ठ ४, वैशेषिकसूत्र, के प्रति। और देखिए सांख्यप्रवचनसूत्र, २ : १२।

४. आथले : तर्कसंग्रह, १५।

श्रेणी मे नहीं रख सकते, क्योंकि ग्रात्मा स्थायी है और गुण अस्थायी है । यदि दोनों को एक ही श्रेणी में रखा जाएगा तो आत्मा की ऐसी दशा कभी न होगी जबकि वह गुणों से मुक्त हो सके। संक्षेप में, आत्मा को भी गुणों के समान ही अवश्य अस्थायी होना चाहिए ।[1] मानसिक जीवन की सकीर्णता आणविक मन की धारणा के कारण बताई गई है, किन्तु आत्मा तथा मन के सम्बन्ध को सन्तोषजनक रूप मे विचार में लाना कठिन है । जब वैशेषिक आत्मारूप द्रव्य को चेतनतारूप गुण से भिन्न करता है, तो वह एक यान्त्रिक मन को स्वीकार कर रहा होता है । किसी बाह्य पदार्थ की मन के प्रति प्रतिक्रिया का परिणाम ही हमारा अनुभव है, इस प्रकार का विचार, जैसाकि हम पहले देख आए है, समस्त अनुभव को अज्ञेय बना देता है । आत्मा का अन्तस्तम सारतत्त्व क्या है, हम नही जानते । इसके भिन्न-भिन्न गुण, सुख, दुःख, ज्ञान आदि विवेकशून्य आत्माओ की विवेकशून्य परमाणुओ के साथ पारस्परिक प्रतिक्रिया के द्वारा उत्पन्न होते हैं । जब आत्मा मुक्तिलाभ कर लेती है तो ये गुण विलुप्त हो जाते है, और सब गुणो से रहित मुक्त आत्मा एक ऐसी इकाई है जिसके अन्दर कोई विविधता नही है और इसलिए वह सर्वथा यथार्थसत्ता भी नही रह जाती । प्रमेय विषय प्रमाता को अपने अन्दर विलीन कर लेता है । मनुष्य एक उत्पादक केन्द्र है जो ससार की रचना मे सहयोग देता है, जिसे वह जानता है । अनुभव, जोकि दर्शनशास्त्र के लिए एक समस्या है, न तो मन के लिए अगम्य प्रकृति है और न प्रकृति से पृथक् मन है । मनोवैज्ञानिक तथा भौतिक यथार्थता सब स्थानों पर अत्यन्त घनिष्ठ रूप में सम्बद्ध रहती है । मन का आधार चेतनता है, बाह्यता नहीं । भौतिक विज्ञानी अपने परमाणुओ तथा शक्तियो को लेकर तथा मनोवैज्ञानिक अपनी आत्माओ तथा क्षमताओं को लेकर बार-बार सारतत्त्वो के निष्कर्षण के लालच मे पड़ते रहे है । अद्वैतवेदान्त तथा साख्य के द्वारा स्वीकृत इस प्रकल्पना के विषय में बहुत-कुछ कहा जा सकता है कि अतीन्द्रिय आत्मा के अतिरिक्त हरएक अन्य पदार्थ विश्व-विकास के दौरान उत्पन्न होते है ।

यदि हम आत्माओं के अनेकत्व के सिद्धान्त को स्वीकार करते है, जिसके लिए न्यायदर्शन का विवेचन करते हुए हमे कोई तात्त्विक औचित्य नही मिल सका, तो अब हमारे समक्ष एक ओर आत्माए है और दूसरी ओर देश-काल-प्रकृति है । देश-काल-प्रकृति का विशिष्ट लक्षण है गति अथवा सक्रमण, और साख्य-दर्शन मे इसे प्रकृति नाम से पुकारा गया है । साख्यदर्शन अपने पुरुषो अर्थात् आत्माओं तथा प्रकृति के सिद्धान्त को लेकर न्याय-वैशेषिक द्वारा प्रतिपादित विचार में आगे प्रगति करता है ।

गहनतम विश्लेषण हमारे समक्ष इस विषय को प्रकट करता है कि सम्बन्ध तथा गुण आदि सब सत्ताधारी तत्त्वों के अधीन है, और ये सत्ताधारी तत्त्व दो प्रकार के है, अर्थात् प्रकृति तथा अप्रकृति अथवा आत्माए, अर्थात् प्रकृति और पुरुष । हम ऋग्वेद के सुझाव से लाभ उठा सकते हैं और उक्त सुझाव बाइबिल के प्रथम अध्याय में भी, जहां सृष्टिरचना का वर्णन है, मिलेगा कि सुव्यवस्थित विचारमग्न आत्मा आदिम अस्तव्यस्तता के अन्दर से जीवित प्राणियों की नाना श्रेणियों का तथा प्राकृतिक

१. देखिए गौडपादकृत कारिका, ३ : ५, शांकरभाष्य पर ।

जगत् का आविष्कार करती है। केवल उसीको द्रव्य कहा जा सकता है जो पूर्णरूप में अस्तित्व रखता है। इस संसार में हमें कहीं भी कोई पूर्ण इकाई अब और यहां की सीमा के अन्दर बद्ध नहीं मिलती। हम वस्तुओं की एक-दूसरे से पृथक् करनेवाली मर्यादाओं को चिह्नित नहीं कर सकते। निःसन्देह एकत्व अथवा व्यक्तित्व के दर्जे होते हैं। व्यक्तित्व का उच्चतम प्रकार जो हमें मिलता है वह परिमित व्यक्ति का है, किन्तु यह भी स्वात्मनिर्भर नहीं है। यथार्थ द्रव्य वह है जो अपने अन्दर सान्त मनों तथा प्राकृतिक जगत् को सम्मिलित रखता है। इस संसार की आधारभूत मौलिक यथार्थसत्ता वह निरपेक्ष परम आत्मा है जिसकी अभिव्यक्ति विश्व के विघटित होने, गति के साथ-साथ अपने को निर्माण करने तथा परिवर्तित करने के विचार में होती है। अनुभव एक सतत 'संक्रमण' अथवा आन्तरिक सम्बद्धता है। देश का विभाजन बिन्दुओं में, काल का क्षणों में, और प्रकृति का परमाणुओं में हो सकता है। किन्तु हम देख आए है कि विश्व को देश और काल तथा प्रकृति नहीं समझा जा सकता, बल्कि देश-काल-प्रकृति समझा जा सकता है। इस प्रकार प्रकृति, अथवा वह जो परिवर्तित होती है, विश्व की आधारभूत सामग्री को बनाती है तथा इसके अंशरूप तत्त्वों को वस्तुएं न मानकर घटनाएं मानना चाहिए।

वैशेषिक के अभिमत पदार्थ दोषपूर्ण हैं, हम चाहे किसी भी दृष्टिकोण को अपनाए। यदि हम उन्हें भिन्नताओं के रूप में देखें, जिनका साधारण जीवन के स्तर पर कुछ अर्थ हो सकता है, तो हम ऐसी भिन्नताओं को लक्ष्य करेंगे जो सामान्य प्रयोग में आती है किन्तु पदार्थों की सूची में नहीं आती, जैसे मूल्य तथा लक्ष्य सम्बन्धी भाव। यदि हम उन्हें अनुभव की दार्शनिक व्याख्या समझें, तो संसार की समस्त विविधता तथा परिवर्तन केवल एक भाव में रखे जा सकते हैं। परिमित जीवात्माएं और प्राकृतिक जगत् ये निरन्तर प्रगति के पहलू हैं जो एक-दूसरे के अनुकूल हैं। वैशेषिक का यह विचार कि आत्मा यथार्थसत्ता का—जिसके तथा भौतिक प्रकृति के बीच बहुत भेद है—दूसरा छोर है, युक्तिसंगत है।

यदि प्रमेय जगत् के अनुभव के समग्र स्वरूप को प्राकृतिक कह सकें, क्योंकि प्रकृति घटनाओं की सदा आगे बढ़नेवाली प्रगति है, तो उस योजना के अन्दर आत्मा का क्या स्थान होगा? ज्ञान के सिद्धान्त की यह एक समस्या है और हम पहले देख चुके हैं कि किस प्रकार न्याय का सिद्धान्त—जिसे वैशेषिक ने भी स्वीकार किया है, अर्थात् जीवात्मा के पास एक निष्क्रिय मन है, जिसके अन्दर, जैसे किसी भी रिक्त पात्र में, बाह्य जगत् अपने स्वरूप-सम्बन्धी विचारों को भरता है—सर्वथा अपर्याप्त है। जड़ पदार्थों का अध्ययन वैशेषिक की समस्त दार्शनिक प्रवृत्ति का निर्णायक है। भौतिकवाद की छाया पृष्ठभूमि को अन्धकारमय बनाती है, और आत्माएं भी उसी स्वरूप की, जैसेकि परमाणु हैं, स्वयं में विवेकशून्य द्रव्य मानी गई हैं।

परमाणु और आत्माए, देश और काल केवल शब्दमात्र हैं और ऐसे प्रतीक हैं जिनका अनुभव से पृथक् कोई अर्थ नहीं है। वैशेषिक ने उन्हें कृत्रिम बनाकर रखा है जिससे कि उनके ऊपर वह अपने समग्र सिद्धान्त को खड़ा कर सके। ये हमारे अनुभव

के भिन्न-भिन्न पहलुओ के केवल नाममात्र है। जिस प्रकार हम अपनी न्यायशास्त्र की समीक्षा मे देख आए है, मनोवैज्ञानिक तथा भौतिक दोनो प्रकार की व्यवस्थाओं का आधार एक सार्वभौमिक चेतना मे है जिसे मनोवैज्ञानिक चेतनता के साथ मिश्रित न कर देना चाहिए। प्रमाता (विषयी) तथा प्रमेय (विषय) के परस्पर भेद की पृष्ठभूमि में यही चेतनता है। जब तक वैशेषिक इस मत को स्वीकार नही करता, तब तक वह उत्पत्ति-विषयक व्यवस्था, पदार्थो की यथार्थता और सदा परिवर्तनशील विश्वीय विकास की, जिसके कि अवयव पौधे, पशु तथा मनुष्य है, कोई व्याख्या नही कर सकता। व्याख्या के लिए अदृष्ट का आश्रय लेना स्वेच्छाचारिता है, और ईश्वर अदृष्ट का स्थान नही ले सकता, जब तक कि उसे परम चेतनता का रूप न दिया जाए। यदि द्रव्य की एकता इसकी अवस्थाओ की विविधता के अनुकूल है तब तो ससार मे पाए जानेवाले नानाविध अस्तित्व को एक मौलिक सत्ता के गुणात्मक पहलू मानने में हमारे मार्ग मे कोई विशेष कठिनाई नही रह जाएगी। वैशेपिक का दोष यह है कि यह अपने परिणामो को एक सामञ्जस्यपूर्ण सुगठित ढाचे मे एकत्र नही कर सकता। इसे प्लेटो की 'रिपब्लिक' के इस प्रसिद्ध कथन के लाक्षणिक अर्थो मे कि वही सच्चा विद्वान अथवा दार्शनिक है जो चीजो को एकत्रित देख सकता है, दर्शनशास्त्र नही कह सकते। विषयो की सूची व्यवस्थित दर्शन नही है। मनुष्य-जीवन के अनेक पहलुओ वाले प्रसग को वैशेषिक ने दृष्टि से ओझल कर दिया, और इसके भौतिक दर्शन और आचार-सम्बन्धी तथा धार्मिक मूल्यो की एक एकरूप व्याख्या नही की गई है। विश्व की युक्तियुक्त व्याख्या की बौद्धिक माग के लिए, एक परमाणुवादी अनेकवाद अन्तिम समाधान नही हो सकता। किन्तु हम वैशेषिक के साथ इस प्रकार का चिन्तन करने मे सहमत है कि केवल तर्क का आश्रय लेनेवाले विद्वान का विशुद्ध विश्लेषण सम्भावना के विज्ञान से अधिक कुछ प्रदान नहीं करता, और यह अमूर्तभावात्मक उपचार मात्र है, जिसका यथार्थ जगत् से कुछ सम्बन्ध नही है। दर्शनशास्त्र साधारण बुद्धि की समालोचना कर सकता है किन्तु उससे अपने को सर्वथा अलग नहीं कर सकता। साधारण बुद्धि ही सब कुछ नही है, किन्तु यह निश्चय ही समस्त फलप्रद दर्शन की पहली सीढी है। केवल दर्शन की विधि मे साधारण बुद्धि की विधि मे भेद है। इन्द्रियो के ज्ञान द्वारा जो तथ्य प्रस्तुत किए जाते है, यह यथासभव उनके अधिक से अधिक पार और ऊपर बढ़ने की चेष्टा करती है। रचनात्मक तर्क, जो दार्शनिक प्रतिभा का एक साधन है, ससार को उच्चतर सिद्धान्त का आधार प्रदान करने की कोशिश करता है। उन्ही तथ्यो की, जिनको न्याय-वैशेषिक के विचारकों ने लक्ष्य किया, अधिक सन्तोषजनक व्याख्या हो सकती है; और जैसाकि हम आगे चलकर देखेंगे, साख्य और वेदान्त अधिक सन्तोषजनक दार्शनिक रचनाओ तक पहुचते है जो 'एक ईश्वर, एक विधान और एक तत्त्व' मे विश्वास करने को अधिक युक्तियुक्त बताती है।

उद्धृत ग्रन्थों की सूची

चैटर्जी : हिन्दू रियलिज्म

कावेल तथा गफ : सर्वदर्शनसंग्रह, १०

गंगानाथ झा : प्रशस्तपादकृत पदार्थधर्मसंग्रह, श्रीधर की न्यायकन्दली टीका सहित

फैडीगन : दि वैशेषिक सिस्टम

कीथ : इंडियन लाजिक एण्ड ऐटामिज्म

नन्दलाल सिन्हा : दि वैशेषिकसूत्राज आफ कणाद

रोअर : भाषा-परिच्छेद एण्ड सिद्धान्तमुक्तावली आफ विश्वनाथ

युइ : दि वैशेषिक फिलासफी

चतुर्थ अध्याय

सांख्य दर्शन

प्रस्तावना—पूर्ववर्ती परिस्थिति—साहित्य—कार्यकारणभाव—प्रकृति—गुण—विकास—देश और काल—पुरुष—लौकिक जीवात्मा—पुरुष और प्रकृति—पुरुष और बुद्धि—ज्ञान के उपकरण—ज्ञान के स्रोत—सांख्य की ज्ञान-सम्बन्धी प्रकल्पना पर कुछ आलोचनात्मक विचार—नीतिशास्त्र—मोक्ष—परलोक-जीवन—क्या सांख्य निरीश्वरवादी है—सामान्य मूल्यांकन।

प्रस्तावना

सांख्यदर्शन विचारधारा के क्षेत्र में एक विशिष्ट प्रकार की पद्धति को प्रस्तुत करता है जो मन के औपचारिक स्वभाव से भिन्न है। नैरन्तर्य के सिद्धान्त पर विशेष बल देने के कारण, यह, किसी अंश में, विश्व को साफ-सुथरे बण्डलों में बंधा मानने की प्रवृत्ति को त्याग देने का निर्देश करता है। न्याय-वैशेषिक के कड़े पदार्थों को जटिल तथा गतिशील विश्व की व्याख्या के लिए पर्याप्त साधन न मानकर, सांख्य ने आणविक अनेकवाद के सिद्धान्त से वस्तुतः आगे पग बढ़ाया है। सृष्टिरचना के स्थान में विकासवाद का प्रतिपादन करके सांख्य ने अलौकिक धर्म की नींव में ही कुठाराघात किया है। इसके अनुसार, यह संसार किसी सृष्टि-कर्ता ईश्वर का कार्य नहीं है, जिसने अपनी इच्छा के चमत्कार से अपने से सर्वथा भिन्न इस संसार को आह्वान करके उत्पन्न किया, बल्कि यह असंख्य आत्माओं तथा सदा कर्मशील प्रकृति की परस्पर प्रतिक्रिया का परिणाम है। इस प्रकृति अथवा प्रकृति की क्षमता को प्लेटो 'समस्त सन्तति का आश्रय तथा उसकी धात्री' कहता है।[1]

प्रमाता (विषयी) तथा प्रमेय (विषय) के मध्य जो भेद है उसके ज्ञान के आधार पर सांख्यदर्शन पुरुषों तथा प्रकृति की यथार्थसत्ता की कल्पना करता है। यदि हम ज्ञाता

१. और देखिए 'एनीड्स', ३ : ६, १३, आंग्लभाषानुवाद मैककेना कृत, खण्ड २, पृष्ठ ८६।

तथा ज्ञात की यथार्थसत्ता की कल्पना नहीं करते तो अनुभव की कोई व्याख्या सम्भव नहीं हो सकती । सांख्य समस्त अनुभव का हिसाब अर्थात् कि हम अनुभव क्यों करते हैं और किस प्रकार प्राप्त करते है, देने का प्रयत्न करता है । रिचार्ड गार्बे, जिसने इस दार्शनिक शाखा का विशेष अध्ययन किया है, कहता है : "कपिल के सिद्धान्त मे, संसार के इतिहास में सबसे प्रथम, मानव-मन की पूर्ण स्वतन्त्रता तथा अपनी शक्तियो में उसका पूर्ण विश्वास दिखाई दिया ।"[1] भारत मे उत्पन्न यह दर्शन सर्वाधिक सारगर्भित पद्धति है ।"[2] जो लोग उक्त मूल्यांकन को 'अतिशयोक्ति मानते है, वे भी यह तो स्वीकार ही करेंगे कि यह विशुद्ध दर्शन के क्षेत्र मे एक विलक्षण प्रयास है ।

इस दर्शन का नाम 'सांख्य' इसलिए हुआ क्योकि यह सैद्धान्तिक अनुसंधान के द्वारा अपने परिणामो पर पहुचता है । कतिपय विद्वानो के अनुसार, 'सांख्य' नाम 'संख्या'[3] के कारण हुआ, जो उचित ही है, क्योकि यह दर्शन हमें विश्व के तत्त्वो का विश्लेषणात्मक परिगणन देता है । किन्तु यह परिगणन की प्रवृत्ति समस्त हिन्दू विचारधारा की पद्धतियों में सामान्य रूप से पाई जाती है । प्राचीन पाठ्य पुस्तको मे 'सांख्य' का प्रयोग दार्शनिक विचार के लिए हुआ है, न कि परिगणन के अर्थों मे[4] । यह विशिष्ट दर्शन, जो सावधानतापूर्वक विचार करके पुरुष अथवा आत्मा तथा अन्य सत्ताओ के स्वरूप की व्याख्या करता है[5], अपना नाम सार्थक करता है ।[6]

१. फिलासफी आफ एंशियण्ट इण्डिया, पृष्ठ ३० । और देखिए डेवीज : सांख्यकारिका पृष्ठ ५ ।

२. सांख्यप्रवचनभाष्य, पृष्ठ १४ ।

३. गार्बे : फिलासफी आफ एंशियण्ट इण्डिया, पृष्ठ ४४ । महाभारत सांख्य का परिसंख्यान, अथवा सम्पूर्ण गणना के साथ साहचर्य बनाता है । देखिए १२ : ११३९३; १२ : ११४०९, ११४१० । विटरनीज कहता है : ऐसा प्रतीत होता है कि यह सिद्ध है कि पिथागोरस पर भारतीय सांख्य का प्रभाव पड़ा था । कैलकटा रिव्यू, १९२४, पृष्ठ २१ ।

४. देखिए भारतीय दर्शन, प्रथम खण्ड, पृष्ठ ४८५-८६ । तुलना कीजिए महाभारत, १२ : ११९३४ ।

दोषाणाञ्च गुणानाञ्च प्रमाणं प्रविभागतः ।
कञ्चिदर्थमभिप्रेत्य सा संख्येत्युपधार्यताम् ॥

किसी एक व्याख्या के उद्देश्य से दोषो तथा गुणो को एक-एक करके तोलना; इसे संख्या समझना चाहिए । सांख्य का उल्लेख सदा ही संख्या के सम्बन्ध मे नहीं होता । विष्णुसहस्रनाम पर अपनी टीका में शंकराचार्य एक वाक्य उद्धृत करते है, जहां सांख्य मे तात्पर्य विशुद्ध आत्मा के स्वरूप का ज्ञान है । "शुद्धात्मतत्त्वविज्ञानं सांख्यमित्यभिधीयते ।"

देखिए हाल : सांख्यसार, पृष्ठ ५ ।

५. तुलना कीजिए, सम्यग्विवेकेनात्मकथनम् ।

६. यह भी सुझाव दिया जाता है कि उक्त दर्शन का नाम इसके सर्वप्रथम संस्थापक संख के नाम पर पड़ा, यद्यपि इस कल्पना के लिए बहुत कम साक्षी मिलती है । देखिए हाल : सांख्यसार, पृष्ठ ३ ।

२

पूर्ववर्ती परिस्थिति

विचारधारा के इतिहास मे कोई भी विषय सर्वथा नया नही होता। कोई भी विचारपद्धति किसी एक मनुष्य के मस्तिष्क से अपनी पूर्णता मे प्रकट नही होती। सस्थापक के कार्य करने के लिए आधारस्वरूप दार्शनिक विचार और सिद्धान्त पहले से अवश्य विद्यमान रहते है, जिनसे उसे आवश्यक सामग्री प्राप्त होती है। हमने ऋग्वेद मे प्रतिपादित विश्वविज्ञान[1] का विवरण देते हुए साख्य के प्रकृति-पुरुष-सिद्धान्त की कुछ अस्पष्ट पूर्व-प्रकल्पनाओ का उल्लेख किया था। जब हम उपनिषदो की ओर आते है तो हम उनकी नानाविध शिक्षाओ मे साख्य-दर्शन के मुख्य-मुख्य विचारो को पाते है।[2] उपनिषदो के रचयिता सब एक समान ही विचार नही करते थे। उनमे से कुछ ने ऐसे सुझाव तो प्रकट कर दिए जिनका परिष्कार साख्यदर्शन मे किया गया, किन्तु वे स्वय वहा तक नही पहुचे। साख्यदर्शन जब यह दावा करता है कि उसका आधार उपनिषदे है तो यह एक सीमा तक उचित है यद्यपि उपनिषदो की मुख्य प्रवृत्ति साख्य के द्वैतवाद के सर्वथा प्रतिकूल है। साख्य के विश्व-सम्बन्धी विचार मे उपनिषदो की यथार्थवादी प्रवृत्ति पर बल दिया गया है। साख्य के सम्बन्ध मे सबसे प्रथम उल्लेख श्वेताश्वतर उपनिषद् मे मिलता है।[3] यद्यपि ऐसे अश जिनका समन्वय उक्त दर्शन मे किया गया है, उससे पूर्व के उपनिषदो मे भी पाए जाते है। न केवल पुनर्जन्म तथा ससार की असारता के ही भाव, किन्तु ऐसे-ऐसे मुख्य सिद्धान्त भी, जैसेकि ज्ञान मोक्ष का साधन है और पुरुष विशुद्ध प्रमाता है, उपनिषदो से लिए गए है।[4] कठोपनिषद्[5] मे प्रकृति के स्तर पर विकास-शृखला मे सबसे ऊचा स्थान 'अव्यक्त' को दिया गया है, जिससे महान आत्मा, बुद्धि, मन, पदार्थ (विषय) और इन्द्रिया क्रमश उत्पन्न होती है। अहकार का उल्लेख नही है, और परम आत्मा (सर्वोपरि ब्रह्म) की सत्ता को स्वीकार किया गया है। तो भी विश्व-विकास का यह सबसे प्रथम वर्णन है, जिसका उपयोग साख्य के विचारको ने किया प्रतीत होता है। प्रकृति की सबसे प्रथम उपज को महत् का नाम दिया गया और इस विचार का स्वाभाविक उद्भव उपनिषद् के उस भाव से है जिसके अनुसार आद्य असस्कृत प्रकृति को उत्पन्न करने के पश्चात् सर्वोपरि ब्रह्म सृष्टि मे सबसे पूर्व उत्पन्न होकर फिर से अभिव्यक्त

१. भारतीय दर्शन, प्रथम खण्ड, पृष्ठ ८१–८५।

२. देखिए भारतीय दर्शन, प्रथम खण्ड, पृष्ठ २३८–३९।

३. ६ : १३।

४. बृहदारण्यक उपनिषद्, २ ; ४, १२ ; ३ : ४, ७ ; ४ : ३, १५। और देखिए मुण्डक उपनिषद्, ३ : १, १।

५. ३ : १०–११। और देखिए ६ : ७-११। तुलना कीजिए छान्दोग्य उपनिषद्, ६ : ८, ६।

होता है।[1] मानसिक व्यापारों का वर्गीकरण प्रश्नोपनिषद् के निद्रा तथा स्वप्न आदि की अवस्थाओं के वर्णन से उदित हुआ, ऐसी सम्भावना की जाती है।[2] श्वेताश्वतर उपनिषद्[3] में साख्य के विश्व-सम्बन्धी सिद्धान्तो, तीन गुणों का अधिक परिष्कृत वर्णन किया गया है, यद्यपि साख्य ने तत्त्वों को अपने मुख्य सिद्धान्त ईश्वरवाद से गौण स्थान दिया है। उक्त उपनिषद् प्रधान तथा माया एव ब्रह्म और पुरुष को समान मानती है।[4] 'मैत्रायणी' उपनिषद, जो बौद्ध-काल के पीछे की बनी प्रतीत होती है,[5] परिष्कृत साख्य से सुपरिचित है और तन्मात्राओं[6], तीन गुणो[7] (अर्थात् सत्त्व, रजस् और तमस्) और आत्मा तथा प्रकृति के भेद का उल्लेख करती है।[8] उपनिषदो मे इन परिभाषाओं का प्रयोग सामान्य तथा अनिश्चित रूप मे हुआ है, जिन्हे परवर्ती दर्शन-पद्धतियों ने विशेष अर्थ दे दिए है।

जैकोबी का यह विचार कि साख्य एक पूर्ववर्ती भौतिकवादी सम्प्रदाय का ही परिष्कृत रूप है, प्रमाणित नही होता। परमार्थ सत्ता तथा आत्मा के स्वातन्त्र्य पर आग्रह रहने के कारण, साख्य ने मानसिक प्रतीति-सम्बन्धी समस्त भौतिकवादी विचारों के विरुद्ध प्रचार को अपना लक्ष्य बनाया। साख्य के विकास मे हमें कोई भी अवस्था ऐसी प्रतीत नही होती कि जहा पर इसका भौतिकवाद के साथ साम्य प्रदर्शित किया जा सके।

प्रारम्भिक बौद्ध दर्शन के साथ साख्य का सम्बन्ध होने से अधिकतर इस बात की कल्पना की जाती रही है कि दोनो मे परस्पर विचारो का आदान-प्रदान हुआ है।[9] यद्यपि जो साख्यग्रथ आज हमें उपलब्ध है, वे बौद्ध धर्म के प्रादुर्भाव से बाद के है और हो सकता है कि इनपर बौद्ध सिद्धान्तों का प्रभाव पडा हो, परन्तु साख्य के विचार बुद्ध से पूर्व विद्यमान थे[10], और बौद्ध मत को

१. ऋग्वेद, १० : १२९, ४। तुलना कीजिए महाभारत, १२ : ३११, ३।

२. ४। तुलना कीजिए, साख्य के सूक्ष्म शरीर की इस उपनिषद की १६ तत्त्वों की सत्ता के साथ।

३. भारतीय दर्शन, प्रथम खण्ड, पृष्ठ ४६९–७६; देखिए श्वेताश्वतर उपनिषद, १ : ४; ४ : ५।

४. १ : १० ; ४ : १०; ३ : १२; और ४ : १।

५. देखिए भारतीय दर्शन, प्रथम खण्ड, पृष्ठ १२९। पादटिप्पणी ; कीथ : सांख्य, पृष्ठ १४–१५। 'नृसिंहतापनीय', 'गर्भ' तथा 'चूलिका' ये सब सांख्य के सिद्धान्तों से अत्यन्त प्रभावित हैं।

६. ३ : २, और देखिए छान्दोग्य उपनिषद्, ६ : ३।

७. २ : ५; ५ : २। कुछ विद्वान तीन गुणों के विचार को छान्दोग्य उपनिषद् में वर्णित तीन रंगों से सम्बद्ध समझते हैं, जिनकी पुनरावृत्ति श्वेताश्वतर उपनिषद् में भी की गई है।

८. ६ : १०। तुलना कीजिए कीथ : 'साख्य में ... विषय विवरण-सहित कम है जो उपनिषदो में किसी न किसी स्थान पर न मिल सके।' (साख्य, पृष्ठ ६०)।

९. देखिए भारतीय दर्शन, प्रथम खण्ड, पृष्ठ ४३६–३७।

१०. "हिन्दू तथा बौद्ध ग्रन्थों, दोनो मे इस विषय के पर्याप्त प्रमाण मिलते हैं कि साख्य और योगदर्शन निःसन्देह प्राचीन तथा प्रामाणिक ग्रन्थ है और बुद्ध के समय से पूर्व इनका प्रचलन था।"

साख्य का उद्भव-स्थान मानना असम्भव है। ससार दुःखमय है, वैदिक यज्ञों को गौण स्थान देना तथा कठोर तपस्याओ का त्याग, ईश्वरवाद के प्रति उदासीनता तथा ससार के सतत बनने (परिणामिनित्यत्व) मे विश्वास, ये सब साख्य तथा बौद्धमत मे एकसमान है। ये आकस्मिक समानताए परस्पर आदान-प्रदान की कल्पना के औचित्य को सिद्ध करने के लिए पर्याप्त नही है, विशेषत: जबकि दोनों मे परस्पर भेद भी स्पष्टरूप से लक्षित होता है। बौद्धधर्म साख्य के मुख्य-मुख्य सिद्धान्तो, जैसे निष्क्रिय (साक्षीरूप) पुरुष, परमतत्त्वरूप प्रकृति तथा गुणो की प्रकल्पना, मे से एक को भी स्वीकार नही करता। यदि बौद्धो की कार्य-कारण-शृखला, किन्ही अशो मे, साख्य के विकासवाद के साथ समता रखती है तो इसका कारण यह है कि दोनो का ही उद्भवस्थान उपनिषद है। क्या बुद्ध के समय मे साख्य स्वरूप से अनीश्वरवादी था, यह ठीक-ठीक नही कहा जा सकता।

महाभारत मे हमे स्पष्टरूप मे साख्य के समान एक निश्चयात्मक विचार-पद्धति मिलती है।[1] अनुगीता मे पुरुष तथा प्रकृति के भेद की व्याख्या दी गई है।[2] पुरुष ज्ञान का प्रमाता (विषयी) है जो पच्चीसवा तत्त्व है और उसके विपरीत अन्य चौबीस तत्त्व जो प्रकृति के है व ज्ञान के विषय (प्रमेय) है।[3] आत्मा तथा प्रकृति के मौलिक भेद का पहचान लेने पर ही मोक्ष की प्राप्ति हो सकती है।[4] आत्माओ की अनेकता अनुभवगम्य है। जीवात्माए तभी तक अनेक है जब तक कि उनका सम्बन्ध प्रकृति से है, किन्तु जैसे ही वे प्रकृति से अपने पार्थक्य का सम्यक् ज्ञान प्राप्त कर लेती है, वे छब्बीसवे तत्त्व अर्थात् ईश्वर के पास लौट जाती है।[5] महाकाव्यों के दर्शन का स्वरूप निश्चित रूप से ईश्वरवादी है और उसमे जो कुछ साख्य के अश विद्यमान है उन्हे ईश्वरवाद की ही ओर लगाया गया है। कहा गया है कि आत्मा अपने-आपसे गुणो का प्रादुर्भाव करता है, जैसेकि एक मकडी अपने-आपमे जाला बुनती है।[6] प्रकृति पुरुष के वश मे रहकर कार्य

(राजेन्द्रलाल मित्र, योगसूत्र, पृष्ठ १६)। बौद्ध किम्वदन्तियों मे कहा गया है कि कपिल बुद्ध के पूर्ववर्तियों मे से एक थे। देखिए गार्बे कृत 'साख्यप्रवचनसूत्रवृत्ति', पृष्ठ ३। तुलना कीजिए, ब्रह्मजालसूत्र से : "ऐसे भी हैं, जिनमें कुछ तपस्वी और ब्राह्मण है, जो नित्यवादी है और जो चारों ओर यह घोषणा करते हैं कि आत्मा और जगत् दोनों विद्यमान है। उन्हें तर्क का व्यसन है, और अपने तर्क के निष्कर्षों की निम्न प्रकार से घोषणा करते है, जो उनकी तर्कशैली से तथा शास्त्रीय ज्ञान से अच्छी तरह परिमार्जित होकर निकले हैं। आत्मा नित्य है; और यह जगत्, जो किसी नई वस्तु को जन्म नहीं देता, पर्वत के शिखर की भाति अचल है, एक सुदृढ खम्भे की भाति स्थिर है, और ये जीवित प्राणी, यद्यपि ये एक जन्म से दूसरे जन्म में जाते हैं, जीवन की एक स्थिति से गिरकर फिर से दूसरी स्थिति में पहुच जाते हैं, किन्तु ये सर्वदा रहते हैं।"

१. भारतीय दर्शन, प्रथम खण्ड, पृष्ठ ४६१–६४।

२. १४ : ४०, ८ से आगे।

३. महाभारत, १२ : ३०६, ३६–४०।

४. १२ : ३०७, २०।

५. १२ : ३४०, २५–२६ ; १२ : ३५१, २-४।

६. १२ : २८५, ४०।

करता है।[1] कहा गया है कि वह पुरुष की ही उपज है, जिसके अन्दर वह (प्रकृति) समय-समय पर समा जाती है।[2] महत्, अहंकार और मन सर्वोपरि आत्मा के विश्व-सम्बन्धी व्यापार हैं। सांख्यदर्शन के संस्थापक कपिल को एक बहुत बड़ा महात्मा तथा पुण्यस्मृतिपुरुष माना गया है। यह स्पष्ट है कि सांख्य ने अपना परवर्ती विशिष्टरूप महाकाव्यों में भी प्राप्त नहीं किया था, क्योंकि उदाहरण के रूप में उनमें तन्मात्राओं का वर्णन नहीं है। तत्त्वों की व्यवस्था तथा विकास के सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न विचार मिलते हैं। इस विषय पर शास्त्रीय सांख्य के प्रति निकटतम पहुंच अनुगीता में पाई जाती है।[3] पञ्चशिख[4] तथा असित देवल[5] के विचारों का उल्लेख किया गया है। कहा गया है कि आसुरि ने पञ्चशिख को सांख्य की शिक्षा दी, और महाकाव्य के उक्त सुझाव की पुनरुक्ति सांख्यकारिका में हुई है। आसुरि तथा पञ्चशिख दोनों ही ईश्वरवादी सांख्य के अनुयायी हैं और ब्रह्म की सर्वश्रेष्ठता में आस्था रखते हैं। जीवात्मा का स्वातन्त्र्य केवल अपेक्षाकृत है। सांख्य के विचारों तथा पञ्चशिख के विचारों में ब्यौरे-सम्बन्धी कितने ही महत्त्वपूर्ण मतभेद पाए जाते हैं।[6]

मनु[7] यद्यपि सांख्य का नाम नहीं लेते, तो भी प्रथम अध्याय में दिया गया सृष्टि का वर्णन, ज्ञान के तीन उद्भव-स्थान[8] तथा तीनों गुणों का ब्यौरेवार वर्णन[9] सांख्य के प्रबल प्रभाव को दर्शाते हैं। पुराणों[10] तथा परवर्ती वेदान्त रचनाओं में सांख्य सिद्धान्तों का उपयोग किया गया है, यद्यपि वे इसके अनीश्वरवादी तत्त्वज्ञान को कोई प्रश्रय नहीं देते और उक्त दर्शन की प्राचीनता का निर्णय करने में बहुत कम उपयोगी सिद्ध होते हैं।

१. १२ : ३१६, १२ ; १२ : ३१५, ८ । २. १२ : ३०३, ३२ से आगे ।
३. १४ : ४०-४२ । ४. १२ : २१९; १२ : ३२१, ९६-११२ ।
५. १२ : २७४ ।

६. मनु के ही समान, जिसे वह छठी ज्ञानेन्द्रिय मानता है, पञ्चशिख शक्ति को छठी कर्मेन्द्रिय मानता है। १२ : २१९ में दिए गए विवरण से १२ : ३१८, ९६-११२ में दिया गया विवरण भिन्न है, जिसमें कहा जाता है कि पञ्चशिख ने तीस तत्त्वों को माना है। कभी-कभी यह कहा जाता है कि यह पिछला विचार पञ्चशिख सम्प्रदाय का एक पूर्वरूप है। यह निर्णय करना कठिन है कि यह पञ्चशिख सम्प्रदाय की परम्परा वाला पञ्चशिख वही है जिसका उल्लेख महाकाव्य में आया है या उससे भिन्न है, क्योंकि महाभारत में जो उसके विचार दिए गए हैं, उनमें तथा सांख्य और योग के ग्रन्थों में दिए गए पञ्चशिख के विचारों में भेद है। प्रोफेसर दासगुप्त चरक के चिकित्साशास्त्र से इससे लगभग मिलते-जुलते विचारों का एक लम्बा सारांश देते हैं, 'हिस्टरी आफ इण्डियन फिलासफी', पृष्ठ २१३ से आगे। किन्तु तन्मात्राओं का कोई उल्लेख नहीं है, और पुरुष तथा प्रकृति दोनों को अव्यक्त माना गया है, और न ही पुरुष को निष्क्रिय तथा भावनाशून्य माना गया है। ब्रह्म की दशा को प्राप्त कर लेने को मोक्ष कहा गया है। इस विवरण पर वेदान्त, न्याय-वैशेषिक तथा बौद्धदर्शन और सांख्यदर्शन के विचारों का प्रभाव पड़ा है।

७. भारतीय दर्शन, प्रथम खण्ड, पृष्ठ ४७५-७६।

८. १२ : १०५। ९. १२ : २४-२५।

१०. देखिए भागवत, ३ : ५; मत्स्य, ३ ; अग्नि, १७ ; मार्कण्डेय, ४५

सांख्य के विचार, जैसेकि हमें उपनिषदों, महाभारत, भगवद्गीता और मनुस्मृति में मिलते हैं, ईश्वरवाद की ओर झुकते है।[1] पुरुष और प्रकृति स्वतन्त्र सत्ताएं नहीं थीं, बल्कि केवल ईश्वर की ही स्थितियां थी। अश्वघोष के बुद्धचरित में हमें बुद्ध तथा उसके भूतपूर्व शिक्षक 'अराड' की भेंट का वर्णन मिलता है जो सांख्य-सिद्धान्तों को मानता था, यद्यपि उनमें ईश्वरवादिता का पुट था। यह अधिक सम्भव प्रतीत होता है कि सांख्य का सबसे पूर्व का रूप एक प्रकार का यथार्थवादी ईश्वरवाद था, जो उपनिषदों के विशिष्टाद्वैत के समीप पहुंचता है। सांख्य के इस प्रकार के रूप को तो उपनिषदों के उपदेशों का युक्तियुक्त परिष्कृत रूप माना जा सकता है। किन्तु द्वैतवादी सांख्य को, जो पुरुषों के अनेकत्व तथा प्रकृति की स्वतन्त्रता पर बल देता है और परमतत्त्व के वर्णन को बिल्कुल छोड़ देता है, उपनिषदों की शिक्षाओं के अनुरूप किसी भी अवस्था में नही कहा जा सकता। प्रश्न उठता है कि सांख्य ने जो परमतत्त्व के सिद्धान्त को सर्वथा छोड़ दिया वह कैसे हुआ, क्योंकि इसको साथ लेकर ही तो सांख्यदर्शन को सन्तोष-जनक माना जा सकता था। बौद्धदर्शन के उदय के पश्चात् तक सांख्य ने एक सुव्यवस्थित दर्शन का रूप धारण नहीं किया था। जब बौद्धधर्म ने यथार्थवाद को चुनौती दी तो सांख्य ने उस चुनौती को स्वीकार किया और आत्माओं तथा प्रमेय पदार्थों की यथार्थता के पक्ष मे युक्तियुक्त आधार पर तर्क उपस्थित किया। जब इस दर्शन का विकास विशुद्ध युक्तियुक्त आधार पर हुआ तो इसे बाध्य होकर यह स्वीकार करना पडा कि ईश्वर की सिद्धि में कोई प्रमाण नही है।

३

साहित्य

परम्परा एक मत होकर कपिल को सांख्यदर्शन का रचयिता स्वीकार करती है।[2] कुछ कहते है कि वह ब्रह्मा का पुत्र है,[3] दूसरे कहते है कि वह विष्णु का

१. "महाकाव्य तथा अन्य प्राचीन सामग्री के अध्ययन ने मुझे निश्चय करा दिया है कि ऐसा एक वाक्य भी नहीं है जिसके आधार पर सांख्य पर ब्रह्म अथवा ईश्वर के प्रति अविश्वास का दोष लगाया जा सकता हो" (फ्रैंकलिन इजर्टन : अमेरिकन जर्नल आफ फिलालौजी, ४५ : १, पृष्ठ ८)। महाभारत, १२ : ११०३६ को साधारणतः सांख्य और योग के भेद पर बल देनेवाला माना जाता है। सांख्य ईश्वर को नहीं मानता तथा योग ईश्वर को मानता है। इजर्टन उक्त सम्मति का विरोध करता है, किन्तु महाभारत के उन वाक्यों का समाधान करना कठिन है जो छब्बीस तत्त्वों वाले सांख्य को पच्चीस तत्त्वों वाले सांख्य से भिन्न करते हैं। पच्चीस तत्त्वों वाला सांख्य परमतत्त्व अथवा ईश्वर के प्रति सर्वथा उदासीन है (१२ : ३००)। किन्तु यह सत्य है कि महाभारत पिछले मत का समर्थन नहीं करता।

२. श्वेताश्वतर उपनिषद्, ५ : २। तुलना कीजिए, महाभारत, मोक्षधर्म।

सांख्यस्य वक्ता कपिलः परमर्षिः पुरातनः।
हिरण्यगर्भो योगस्य वक्ता नान्यः पुरातनः॥

३. महाभारत, १२ : ३४०, ६७ ; रामायण, १ : ४०-४१।

अवतार है,[1] और कुछ उसे अग्नि का अवतार मानते है।[2] उक्त मत यद्यपि सब कल्पनात्मक है, पर इतना अवश्य है कि कपिल नामक एक ऐतिहासिक व्यक्ति अवश्य रहा है। जो साख्य विचारधारा के लिए उत्तरदायी है। यदि हम उसका समय बुद्ध से पूर्व की शताब्दी मे रखे तो हम भूल नही करेगे।[3] यह दर्शाने के लिए हमारे पास कोई प्रमाण नही है कि 'साख्यप्रवचनसूत्र' और 'तत्त्वसमास' का निर्माण कपिल ने किया, यद्यपि कपिल को उक्त दोनों ग्रथो का कर्ता कहा जाता है। ईश्वरकृष्ण अपनी कारिका मे अपने को आसुरि और पञ्चशिख में से गुजरनेवाली कपिल की शिष्य-परम्परा मे मानता है।[4] आसुरि सम्भवत ६०० ई० पू० हुआ, यदि यह वही आसुरि है जो शतपथ ब्राह्मण मे सम्बन्ध रखता है। गार्बे के विचार मे पञ्चशिख को पहली शताब्दी मे रखा जा सकता है। कुछएक इधर-उधर पाए जानेवाले सन्दर्भों के आधार पर, जो हम तक पहुच सके है, पञ्चशिख तीन गुणो की प्रकल्पना को मानता था। वह पुरुषो[5] को आणविक आकार का मानता था,[6] और पुरुषो व प्रकृति के सम्बन्ध का कारण कर्म नही, बल्कि भेद का अभाव मानता था।[7]

ईश्वरकृष्ण की साख्यकारिका साख्य-सम्प्रदाय का सबसे प्राचीन तथा सबसे अधिक प्रचलित पाठ्य-ग्रन्थ है। इसके नाम से यह स्पष्ट है कि साख्यदर्शन का यह पहला ग्रन्थ नही है। चीनी परम्परा के अनुसार, विन्ध्यवास ने वार्षगण के ग्रन्थ को फिर से लिखा। यदि विन्ध्यवास वही है जो कारिका का रचयिता है[8] तो परिणाम यह निकलता है कि कारिका एक अन्य पूर्वलिखित ग्रन्थ पर आधारित थी, जिसके विषय मे हमे कुछ पता नही है।[9] यह तीसरी शताब्दी का ग्रन्थ

१. भागवत, ३ : २४, ३६ ; २ : ७, ३ । २. साख्यप्रवचनभाष्य, ६ : ७० ।

३. वेबर का मत है कि साख्य वर्तमान दर्शनों में सबसे पुराना है (हिस्टरी आफ इण्डियन लिटरेचर, पृष्ठ २३५)। महाभारत साख्य तथा योग को बहुत प्राचीन दर्शन बताता है। सनातनं द्वे, १२ : १३७११ ।

४. सांख्यकारिका, ७० । महाभारत के अनुसार (१२ : २१८, १४–१५), कपिल के उत्तराधिकारी है—आसुरि, पञ्चशिख, गार्ग्य और उलूक । चीनी परम्परा के अनुसार, एक पञ्चशिखी कणाद का शिष्य था। यह प्रकट है कि वह पञ्चशिख से भिन्न था। देखिए यूई : वैशेषिक फिलासफी, पृष्ठ ७–८ । महाभारत में 'जनकपञ्चशिखसवाद' पर एक परिच्छेद है और उसमे की कुछ सम्मतियों को योगभाष्य में उद्धृत किया गया है।

५. साख्यप्रवचनभाष्य, १ : १२७ । ६. योगभाष्य, तत्त्ववैशारदी, १ : ३६ ।

७. सांख्यप्रवचनभाष्य, ६ : ६८ ।

८. तकाकुसु का विचार है कि विन्ध्यवासी ईश्वर कृष्ण की एक उपाधि थी (जर्नल आफ रायल एशियाटिक सोसायटी, १९०५)। गुणरत्न उन्हें भिन्न-भिन्न मानता है (तर्करहस्यदीपिका, पृष्ठ १०२, १०४)।

९. भागवत में हमें बताया गया है कि साख्यग्रन्थों का केवल एक भाग ही हम तक पहुंच सका है और एक बड़ा भाग काल की गति से लुप्त हो गया है। १ : ३, १० । विज्ञानभिक्षु का मत है कि अनेक ग्रन्थों को काल खा गया है—कालार्कभक्षितम् (साख्यप्रवचनभाष्य, भूमिका)। सांख्यकारिका की अन्तिम कारिका में इस प्रकार का पाठ मिलता है : "सम्पूर्ण षष्टितन्त्र के विषयों का सत्तर कारि-

है।[1] गौडपाद ने कारिका पर एक टीका लिखी। क्या यह टीकाकार वही है जो माण्डूक्योपनिषद् पर लिखी गई 'कारिका' का रचयिता है? इसका निर्णय नही किया जा सकता, क्योंकि दोनों ग्रन्थों में विचारों की भिन्नता है। वह क्योंकि वाचस्पति से पूर्व हुआ, इसलिए उसे आठवीं शताब्दी में रखा जा सकता है।[2] वाचस्पतिकृत सांख्यतत्त्वकौमुदी (नौवीं शताब्दी) एक प्रसिद्ध ग्रन्थ है। नारायणकृत सांख्यचन्द्रिका कारिका पर लिखा गया ग्रन्थ है।

कार्यों में प्रतिपादन किया गया है, किन्तु दृष्टान्त के रूप में समझानेवाली कहानियां तथा विवादात्मक प्रश्नों को छोड दिया गया है।" यह माना जाता है कि उक्त कारिका प्रक्षिप्त है, क्योंकि गौडपाद ने, जो कारिका का सबसे प्रथम टीकाकार है, इसका उल्लेख नहीं किया है। गुणरत्न ने षष्टितन्त्रोद्धार का उल्लेख किया है। कहा जाता है कि आसुरि ने इसे प्रचलित किया और पञ्चशिख ने इसे निरीश्वरवादिता का रूप देकर इसे कपिल की रचना बता दिया। तो भी इस सब विषय में कोई निश्चित मत नहीं दिया जा सकता। वाचस्पति तथा नारायण की सम्मति में षष्टितन्त्र से किसी ग्रन्थ का उल्लेख न होकर केवल साठ विषयों की किसी योजना का ही उल्लेख है। संभवतः यही समाधान जैन 'अनुयोगद्वारसूत्र' में उल्लिखित षष्टितन्त्र के विषय में भी सत्य हो। अहिर्बुध्न्यसंहिता (१२) के अनुसार, सांख्य एक ईश्वरवादी दर्शन है, जिसमें साठ विभाग हैं, जिसके दो भाग हैं अर्थात् बत्तीस प्रकृति के तथा अट्ठाईस विप्रकृति-सम्बन्धी विभाग हैं। वाचस्पति अपनी तत्त्वकौमुदी (७२) में राजवार्तिक से एक सन्दर्भ उद्धृत करता है, जिसका आशय यह है कि इसका नाम षष्टितन्त्र इसलिए पड़ा क्योंकि यह प्रकृति-सम्बन्धी साठ विषयों का, इसके एकत्व का, तथा पुरुष से भेद आदि का प्रतिपादन करता है। एक चीनी परम्परा के अनुसार, षष्टितन्त्र का रचयिता पञ्चशिख को बताया गया है, किन्तु कभी-कभी इसका श्रेय वार्षगण्य को दिया गया है। देखिए भामती, २ : १, ३।

१. बौद्धभिक्षु परमार्थ (छठी शताब्दी) ने चीनी भाषा में इसका अनुवाद किया और उसपर एक टीका भी लिखी। चीनी परम्परा के अनुसार विन्ध्यवास को वसुबन्धु से पूर्व हुआ बताया जाता है जो कारिका में दूसरी कारिका को उद्धृत करता है। देखिए गृह : वैशेषिक फिलासफी। चाहे विन्ध्यवास कारिका का रचयिता हो, जैसाकि कीथ का सुझाव है, (सांख्य, पृष्ठ ७९ ; इण्डियन लाजिक एण्ड एटोमिज्म, पृष्ठ २४८ ; कर्ममीमांसा, पृष्ठ ५९), अथवा उसपर टीका करनेवाला हो, जैसा बेलवलकर का मत है, (भण्डारकर कौमेमोरेशन वाल्यूम, पृष्ठ १७५–७८), ईश्वरकृष्ण वसुबन्धु से पूर्व हुआ, जिसका समय अब चौथी शताब्दी बताया जाता है। स्वप्नेश्वर ईश्वरकृष्ण तथा कालिदास को एक बताता है। 'ईश्वरकृष्णनाम्ना कालिदासेन कृताः कारिकाः।' देखिए हाल : सांख्यसार, पृष्ठ २१। ईश्वरकृष्ण निश्चित रूप में अनीश्वरवादी प्रतीत होता है। यद्यपि कहा जाता है कि कारिका में सत्तर कारिकाएं थीं, तो भी हम तक केवल उनहत्तर ही पहुंच सकी हैं। बालगंगाधर तिलक ने सांख्यकारिका, ६१ पर गौडपाद की टीका से विलुप्त कारिका की पुनः रचना इस प्रकार की है :

कारणमीश्वरमेके ब्रुवते कालं परे स्वभावं वा।
प्रजाः कथं निर्गुणतो व्यक्तः कालः स्वभावश्च॥

गौडपाद के ध्यान में इस प्रकार की एक कारिका थी, और आगे चलकर सम्भवतः इसे दबा दिया गया क्योंकि यह विषमतापूर्वक निरीश्वरवादी थी।

२. 'माठरवृत्ति' सांख्यदर्शन का एक ग्रन्थ है, जिसका संक्षिप्त रूप ही गौडपादकृत भाष्य कहा जाता है। किन्तु वृत्तियां साधारणतः भाष्यों के पीछे आती हैं, और इस तथ्य के आधार पर कि माठरवृत्ति में सांख्यकारिका की अन्तिम तीन कारिकाओं पर टीका की गई है, इसका निर्माण-काल पीछे का प्रतीत होता है। देखिए भण्डारकर कौमेमोरेशन वाल्यूम।

सांख्यप्रवचनसूत्र के, जो कपिल का बनाया हुआ कहा जाता है,[1] छः अध्याय हैं। इनमें से पहले तीन अध्याय सांख्य के सिद्धान्तों की व्याख्या के लिए उपयोग में लाए गए हैं, चौथे में दृष्टान्तरूप में कहानियां दी गई हैं, पांचवें में प्रतिपक्षियों के विचारों का खण्डन किया गया है, और छठा अध्याय उपसंहार के साथ समाप्त होता है। इस ग्रन्थ का निर्माण चौदहवीं शताब्दी में हुआ माना जाता है, मुख्यतः इस आधार पर कि माधवकृत सर्वदर्शनसंग्रह में इसका उल्लेख नहीं है, और उक्त ग्रन्थ में सांख्य-विषयक विवरण कारिका के आधार पर दिया गया है।[2] जहां कारिका में पूर्णरूप से द्वैतवाद का परिष्कार किया गया है, वहां सूत्र में एकेश्वरवाद के प्रति अधिक समन्वयात्मक प्रवृत्ति दिखाई देती है।[3] अनिरुद्धकृत सांख्यसूत्रवृत्ति का समय पन्द्रहवीं शताब्दी है, जबकि महादेवकृत सांख्यसूत्रवृत्तिसार १६०० ई० के लगभग लिखा गया बताया जाता है। नागेशकृत लघुसांख्यसूत्रवृत्ति कुछ अधिक महत्त्व की नहीं है। सांख्यप्रवचनसूत्र पर सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ विज्ञानभिक्षुकृत सांख्यप्रवचनभाष्य (सोलहवीं शताब्दी) है। यह ग्रन्थकार सांख्य तथा ईश्वरवादी वेदान्त के अन्तर को न्यूनतम करने का प्रयत्न करता है, क्योंकि ऐसे ही वेदान्त को यह यथार्थ वेदान्त मानता है। इसकी सम्मति में अद्वैत वेदान्त उक्त वेदान्त का आधुनिक मिथ्यारूप है। विज्ञानभिक्षु ने और भी ग्रन्थ लिखे, अर्थात् सांख्यसार, योगवार्तिक, योगसारसंग्रह। इनके अतिरिक्त, उसने ब्रह्मसूत्र पर विज्ञानामृत नामक टीका भी लिखी।

१. स्वप्नेश्वर अपने 'कौमुदीप्रभा' ग्रन्थ में 'सांख्यप्रवचनसूत्र' को पञ्चशिख का बनाया हुआ बताता है, और इसके कपिलकृत माने जाने का आधार इस तथ्य में देखता है कि कपिल ने इस परम्परा का प्रारम्भ किया था। देखिए हाल रचित सांख्यसार, पृष्ठ ८।

२. गुणरत्न (चौदहवीं शताब्दी) ने इस ग्रन्थ का उल्लेख नहीं किया है। इसके अतिरिक्त, इस पर 'भाष्य' सोलहवीं शताब्दी में प्रकाशित हुआ, और यदि सूत्र उससे पहले का था तो यह जानना कठिन है कि भाष्य का निर्माण और पहले क्यों नहीं हुआ। यह अन्य सब दर्शनों का उल्लेख करता है। वाचस्पति इससे अभिज्ञ नहीं है। अल्बेरूनी, जिसने अपनी पुस्तक ग्यारहवीं शताब्दी के पूर्वार्ध में लिखी, ईश्वरकृष्ण तथा गौडपाद के ग्रन्थों से तो अभिज्ञ है, किन्तु वह 'सूत्रों' से अनभिज्ञ प्रतीत होता है।

३. तुलना कीजिए गार्बे : "विशेषकर सूत्रों का रचयिता इस नितान्त असम्भव स्थापना के लिए प्रमाण प्रस्तुत करने में बहुत ही परिश्रम करता है कि सांख्यदर्शन की शिक्षाएं एक शरीरधारी ईश्वर के सिद्धान्त, ब्रह्म की एक सर्वव्यापी कर्ता के सिद्धान्त, ब्रह्म को आनन्द-स्वरूप मानने के सिद्धान्त और दिव्यलोक की प्राप्ति को उच्चतम उद्देश्य मानने के सिद्धान्त के सर्वथा विरुद्ध नहीं हैं (देखिए: १ : ९५, १५४ ; ५ : ६४, ६८, ११० ; ६ : ५१, ५८, ५९)। इसमें सन्देह नहीं कि सांख्यसूत्र में, अनेक स्थानों पर, सरलता के साथ दिखाई देनेवाले वेदान्त के प्रभाव के परिणाम मिलते हैं। सबसे अधिक स्पष्ट रूप में, ४ : ३ में, जो वेदान्तसूत्र, ४ : १, ११ की अक्षरशः पुनरावृत्ति है; और ५ : ११६ में जहां सांख्य के प्रचलित वाक्य के स्थान में वेदान्त की पारिभाषिक संज्ञा 'ब्रह्मरूपता' का प्रयोग किया गया है" (गार्बेकृत एस० बी० पी० की आवृत्ति, पृष्ठ ११)।

४

कार्यकारणभाव

अब हम उन युक्तियों पर विचार करेंगे जिनके आधार पर सांख्य पुरुष और प्रकृति के द्वैतवाद पर पहुंचता है। कार्यकारणभाव के सिद्धान्त का उपयोग करके सांख्य प्रकृति के अस्तित्व की युक्ति देता है।

यह प्रकल्पना कि कार्य वस्तुतः अपने कारण मे पहले से विद्यमान रहता है सांख्य दर्शन के मुख्य लक्षणों मे से है। कारण की परिभाषा करते हुए सांख्य कहता है कि कारण वह सत्ता है जिसके अन्दर कार्य गुप्तरूप में विद्यमान रहता है। इसके समर्थन में वह निम्नलिखित युक्तिया उपस्थित करता है।[1] (१) अभावात्मक किसी भी क्रिया का विषय नही हो सकता। आकाशकुसुम उत्पन्न नही किया जा सकता। असत् को कभी भी सत् नही बनाया जा सकता। नीले को हजारों कलाकार भी पीले में परिवर्तित नही कर सकते।[2] (२) उत्पन्न पदार्थ उस सामग्री से भिन्न नही है जिससे कि वह बना है। (३) उत्पन्न होने से पूर्व वह सामग्री के रूप में विद्यमान रहता है। यदि इसे स्वीकार न किया जाए तो हर किसी वस्तु से हरएक वस्तु उत्पन्न हो सकेगी। (४) कार्यकारणभाव-सम्बन्धी योग्यता उसीमें सम्बद्ध रहती है जिसके अन्दर आवश्यक क्षमता रहती है। (५) कार्य का स्वरूप वही होता है जो कारण का होता है। अपने तात्त्विक रूप में कपड़ा धागों से भिन्न नही है। ऐसे पदार्थों मे जो एक-दूसरे से तात्त्विक-रूप में भिन्न है, कार्यकारण-सम्बन्ध नही हो सकता।[3] जो कुछ छिपा हुआ है उसके प्रकाश में आ जाने का नाम ही विकास है, अथवा अरस्तू के शब्दो मे, यह सम्भाव्य सत्ता के रूप में सक्रमण है, अथवा, हेगल के शब्दों मे, यह गुप्तावस्था से प्रकटरूप में आना है। इस मत को धर्मशास्त्र का भी समर्थन प्राप्त है।[4] सत्कार्यवाद के उक्त सिद्धान्त के अनुसार, कारण तथा कार्य उसी एक पदार्थ की अविकसित तथा विकसित अवस्थाएं है। समस्त उत्पादन उद्भाव अर्थात् विकास और समस्त विनाश अनुद्भाव अर्थात् कारण के अन्दर विलय हो जाना है।[5] अत्यन्त अभाव नामक कोई वस्तु नही है। भूतकाल तथा भविष्यत् की अवस्थाओ का नाश नही होता है, क्योंकि उनका प्रत्यक्षज्ञान योगियों को होता है।[6] सांख्य विकास (आविर्भाव) तथा अन्तर्लय (तिरोभाव) की प्रकल्पना को स्वीकार करता है।

कारण तथा कार्य भिन्न-भिन्न अवस्थाएं है और इसीलिए एक-दूसरे से भिन्न हैं,[7] यद्यपि इस भेद का आधार हमारे क्रियात्मक स्वार्थ है। घड़ा अपने अन्दर जल को रख

१. सांख्यकारिका, ९।
२. नहि नीलं शिल्पिसहस्रेणापि पीतं कर्तुं शक्यते (तत्त्वकौमुदी, पृष्ठ ९)।
३. देखिए तत्त्वकौमुदी, पृष्ठ ९।
४. छान्दोग्योपनिषद्, ६ : २, २। और देखिए भगवद्गीता, २ : १६।
५. सांख्यप्रवचनसूत्र, १ : १२०–२१।
६. सांख्यप्रवचनभाष्य, १ : १२१।
७. कारणकार्यविभागात् (सांख्यकारिका, १५)।

सकता है, किन्तु मिट्टी नहीं रख सकती। जहां उपादान कारण तथा कार्य मौलिक रूप से एक ही है, वहां क्रियात्मक रूप में वे भिन्न-भिन्न हैं क्योंकि उनसे भिन्न-भिन्न प्रयोजन सिद्ध होते हैं। तादात्म्य मौलिक है, भेद केवल क्रियात्मक रूप में है। सांख्य दो प्रकार के कारणों अर्थात् उपादान तथा नैमित्तिक में भेद करता है। जहां उपादान कारण कार्य के अन्दर प्रविष्ट होता है, वहां नैमित्तिक कारण बाहर रहते हुए अपना प्रभाव डालता है। यद्यपि कार्य कारण के अन्तर्गत है तो भी ऐसी एक वस्तु की आवश्यकता होती है जो उसे कारणात्मक स्थिति से स्वतन्त्र कर सके। बीज में से तेल निकालने के लिए उसे हम पेलते हैं, अनाज को प्राप्त करने के लिए धान को कूटते हैं। जब इस सहकारी शक्ति का अभाव रहता है तो कार्य उत्पन्न नहीं होता।[1] यद्यपि कार्य शक्तिरूप में कारण के अन्दर विद्यमान रहता है, परन्तु यह शक्तिमत्ता सब एकसाथ वास्तविक रूप धारण नहीं करती। रुकावट का दूर कर देना शक्तिमत्ता के वास्तविक रूप में आने का सहचारी कारण होता है। व्यास के अनुसार, ये सहचारी अवस्थाएं हैं—देश, काल, रूप तथा आकार।[2] एक पत्थर के टुकड़े से पौधा नहीं निकल सकता।[3] दो प्रकार के कार्यों में भेद किया गया है। दूध में से मलाई का उत्पन्न होना एक सरल अभिव्यक्ति की अवस्था है। जब सोने से आभूषण बनाया जाता है तो यह पुनरुत्पत्ति का दृष्टान्त है। जब किसी वस्तु के स्वभाव में परिवर्तन होता है तो हमारे समक्ष धर्म-परिणाम की अवस्था आती है। जब गुप्त वास्तविक रूप में आ जाता है और परिवर्तन केवल बाह्य होता है तो यह लक्षण-परिणाम की अवस्था है। केवल समय के व्यतीत होने पर जो अवस्था में परिवर्तन होता है वह अवस्था-परिणाम है।[4] परिवर्तन हर जगह तथा हरएक क्षण में हो रहा है। हम एक ही जलधारा में दो बार पग नहीं डाल सकते, क्योंकि जल दो क्षण के लिए भी वही नहीं रहता। और यह भी सत्य है कि वही व्यक्ति उसी जलधारा में दो बार पग नहीं डालता, क्योंकि इस बीच जैसे जलधारा में परि-

१. व्यास इन सहकारी कारणों की क्रिया का दृष्टान्त इस प्रकार दिखाते हैं: "जिस प्रकार अनेक खेतों का स्वामी एक ही खेत में से, जिसमें जल ऊपर तक भर गया है—अन्य खेतों को, जो उसी ऊंचाई पर हैं या उससे नीचे हैं, जल पहुंचा देता है, वह अपने हाथों से वहां जल नहीं ठेलता, बल्कि केवल बीच की रुकावट रूप बांध को तोड़ देता है और जल अपने बल से अन्य खेतों में दौड़ जाता है; अथवा जिस प्रकार वही स्वामी धान के पौधों की जड़ों में जल तथा मिट्टी में घुले हुए रासायनिक द्रव्यों को हाथ से ठेलकर नहीं पहुंचाता है, वरन केवल बाधा देनेवाली घास आदि को मार्ग में से हटा देता है, जिससे वह जल की धारा स्वयं जड़ों में प्रवेश कर जाता है; इसी प्रकार निमित्त कारण की भी क्रिया होती है जो उपादान कारणों के साथ मिलकर सहायक का काम करता है।" योगभाष्य, ४ : ३)।

२. योगभाष्य, ३ : १४।

३. किन्तु सांख्यदर्शन के अनुसार, कोई कारण कोई भी कार्य उत्पन्न कर सकता है (क्योंकि सब वस्तुएं प्रकृति के परिवर्तित रूप हैं), यदि केवल बाधा उपस्थित करनेवाली रुकावटों को दूर कर दिया जाए। विज्ञानभिक्षु का मत है कि यदि पत्थर के अन्दर के कणों की वह व्यवस्था जो उसके भीतर गुप्त शक्तिमत्ता को विकसित होकर अंकुर के रूप में फूटने से रोकती है, ईश्वर की इच्छा से दूर हो जाए तो पत्थर में भी एक पौधा उग सकता है।

४. योगभाष्य, ३ : १३।

वर्तन हो गया वैसे ही उस व्यक्ति में भी परिवर्तन हो गया। सब वस्तुएं तथा अवस्थाएं, बाह्य तथा आभ्यन्तर, इस परिवर्तन के विधान के अधीन है।[1] इसी परिवर्तनरूप प्रक्रिया में से मनुष्य का मस्तिष्क पूर्ववर्तियो तथा पश्चाद्वर्तियों के सम्बन्ध द्वारा कार्यकारणभाव के नियम की रचना करता है।[2]

५

प्रकृति

सांख्य प्रकृति की व्याख्या करने का प्रयत्न करता है कि यह तत्त्वो का एक अत्यधिक सम्मिश्रण है जो सदा परिवर्तित होता रहता है। भौतिक द्रव्य अपने-आपमे अतभौतिक तत्त्वो से उत्पन्न पदार्थ है, और उसके रूपों के विभाजन को प्रकृति की निधियो का प्रकटीकरण कहा गया है। यदि समस्त कार्य अपने कारणो के अन्दर छिपे हुए रहते हैं, और यदि हम एक अनन्त पश्चाद्गति से बचना चाहते है, तो एक आदिकारण, जिसका अन्य कोई कारण न हो अवश्य स्वीकार करना होगा। कार्यकारणभाव के सिद्धान्त से अनुमान द्वारा यह परिणाम निकलता है कि इस आनुभविक विश्व का परम (अन्तिम) आधार अव्यक्त प्रकृति है। सांख्यकारिका मे प्रकृति के अस्तित्व को सिद्ध करने के लिए निम्नलिखित युक्तिया दी गई है।[3] (१) व्यक्तिगत पदार्थों का परिमाण परिमित है। जो कुछ परिमित है वह अपने मे बाह्य किसी वस्तु पर निर्भर है। इसलिए सान्त सान्त के रूप मे विश्व का उद्भव-स्थान नही हो सकता। (२) सब व्यक्तिगत पदार्थ कुछ व्यापक लक्षण रखते है, और इससे वे यह उपलक्षित करते है कि उन सबका कोई एक सामान्य उद्भव-स्थान होना चाहिए, जहा मे वे सब निकलते है। सांख्य यह नही मानता कि भिन्न-भिन्न तत्त्व एक-दूसरे से पूर्णरूप मे भिन्न हैं। (३) वस्तुओ के विकास मे अपने को व्यक्त करता हुआ एक क्रियात्मक तत्त्व अवश्य है। विकास एक ऐसे तत्त्व को उपलक्षित करता है जो अपनी किसी भी स्थिति के समान नही हो सकता। जो अपने उत्पन्न पदार्थों के अन्दर रहता हुआ भी उनसे बृहत्तर है। (४) कार्य कारण से भिन्न है और इसलिए हम यह नही कह सकते कि सान्त तथा सोपाधिक जगत् अपना कारण अपने-आप है। (५) विश्व का एकत्व प्रकट है, जिससे एक ही कारण का निर्देश मिलता है। सांख्य निम्नतम स्तर से उच्चतम स्तर तक विश्व के नैरन्तर्य को मानता है। पदार्थ एक निश्चित व्यवस्था मे विकसित होते है तथा विलीन होते है। जगत् को प्रकृति का परिणाम कहा गया है, और प्रकृति जगत् का कारण है। प्रत्येक वस्तु किसी उत्पादक कारण का कार्य है, क्योकि असत् से कोई वस्तु उत्पन्न नही होती। यदि कारण मे कार्य से कम पदार्थ है तो इस अधिकांश को असत् मे उत्पन्न मानना पड़ेगा। इससे परिणाम यह निकलता है कि कारण के अन्दर कार्य से या तो अधिक या कम से कम उतनी ही यथार्थता अवश्य होनी चाहिए। डेकार्ट के शब्दो मे, तर्क का स्वाभाविक प्रकाश

१. सांख्यप्रवचनसूत्र, १ : १२१। २. बुद्धनिर्माण।
३. १५ और १६।

हमें यह दिखाता है कि परम कारण को कार्य की पूर्ण यथार्थता, तात्पर्य तथा मूल्य को अपने अन्दर रखना चाहिए। ऐसी कोई वस्तु विकसित नहीं हो सकती जो प्रारम्भ में किसी रूप में अन्तर्निहित न हो।[1] जबकि प्रत्येक कार्य का कारण है, प्रकृति का कोई कारण नहीं है।[2] बल्कि वह सब कार्यों का कारण है और उन्हींसे उसका अनुमान किया जाता है।[3] इसे प्रधान नाम दिया गया है, क्योंकि यह सब कार्यों का आधार है,[4] ब्रह्मा अथवा वह जो बढ़ता है,[5] माया अर्थात वह जो मापती है या सीमा बनाती है। यह सत्ता की प्रारम्भिक आकृति है, जिससे जीवनों की भिन्न-भिन्न व्यवस्थाएं निकलती है। सांख्य पुरुष अथवा आत्मा का उद्‌भव अनात्म अथवा प्रकृति से निकलने की असम्भवता को मानता है।

उत्पन्न पदार्थों के कारण होते है, किन्तु प्रकृति का कारण नही है। उत्पन्न पदार्थ पराधीन है, किन्तु प्रकृति स्वाधीन है। उत्पन्न पदार्थ संख्या मे अनेक है, देश और काल में सीमित हैं, किन्तु प्रकृति एक है, सर्वव्यापक है और नित्य है।[6] उत्पन्न पदार्थ ते चिह्न है जिनसे उनके उद्‌भव का अनुमान किया जाता है। प्रकृति कभी नष्ट नही हो सकती और इसलिए यह कभी पैदा भी नही हो सकती थी। एक बुद्धिसम्पन्न तत्त्व ऐसी सामग्री नही हो सकता जिससे जड जगत का निर्माण हो सके, क्योकि आत्मा प्रकृति के रूप मे परिवर्तित नही हो सकती। इसके अतिरिक्त, कर्तृत्व का सम्बन्ध पुरुष अथवा आत्मा के साथ नही है, बल्कि अहंकार के साथ है, जो स्वय उत्पन्न पदार्थ है।[7]

यह आपत्ति कि प्रकृति प्रत्यक्ष मे नही दिखाई देती, कुछ अधिक महत्त्व की नही है। कितने ही ऐसे पदार्थ होते है जिन्हे यथार्थ माना जाता है किन्तु जो प्रत्यक्ष ज्ञान के विषय नही होते। ऐसे पदार्थों के सम्बन्ध मे जो या तो अत्यन्त निकट है या अत्यन्त दूर है, प्रत्यक्ष सफल नही हो सकता। इन्द्रियों के अथवा मन के दोष, किसी अन्य पदार्थ के बीच मे आ जाने से, अथवा किसी अधिक आकर्षक, उत्तेजक पदार्थ की उपस्थिति से प्रत्यक्ष निरर्थक हो जाता है। प्रकृति की सूक्ष्मता इसे प्रत्यक्ष के अयोग्य करती है।[8] व्यास प्रकृति की व्याख्या इस प्रकार करते है कि "प्रकृति वह है जो कभी नही है और

१. तुलना कीजिए इसके साथ मुख्य तथा औपचारिक कारणों के भेदों की, जो डेकार्ट ने किए हैं।

२. सांख्यप्रवचनसूत्र, १ : ६७।

३. सांख्यप्रवचनसूत्र, १ : ११०, १३६।

४. प्रधीयते (सांख्यप्रवचनभाष्य, १ : १२५)। लोकाचार्य लिखते है : इसे प्रकृति कहा जाता है, क्योंकि यह सब परिवर्तनों का उद्‌भव स्थान है ; अविद्या कहते है क्योंकि यह समस्त ज्ञान के प्रतिकूल है; माया कहते है क्योंकि यह विचित्र-विचित्र सृष्टि का कारण है। प्रकृतिरित्युच्यते विकारोत्पादकत्वाद् अविद्या ज्ञानविरोधित्वात्, माया विचित्रसृष्टिकरत्वात् (तत्त्वत्रय, पृष्ठ ४८)। समस्त भौतिक आकृतियों के एक सार्वभौम, अदृश्य आदिस्रोत के विषय मे प्लेटो का इसी प्रकार का विचार था। देखिए 'टाईमियस', पृष्ठ २४।

५. भगवद्गीता, १४ : ३।

६. सांख्यकारिका, १० ; सांख्यप्रवचनसूत्र, १ : १२४ ; और भी देखिए योगभाष्य, ४ : १२ : सांख्यप्रवचनभाष्य, १ : ७६।

७. सांख्यप्रवचनसूत्र, ६ : ५४। ८. सांख्यकारिका, ८।

न ही अभावात्मक है, जिसका अस्तित्व है और नही भी है, जिसके अन्दर कोई अभाव नही है, जो अव्यक्त है, विशेष लक्षण से रहित है और सबकी मुख्य पृष्ठभूमि है।"[1] यदि उसे सत् कहा जाए, जो आत्मा के प्रयोजन को सिद्ध करता हो, तो प्रकृति असत् है, यद्यपि यह वर्गाकार वृत्त की भांति असत् नही है। फिर, ऐसा कोई पदार्थ जो सत् है, नष्ट नही हो सकता, और उत्पन्न पदार्थ प्रकृति के अन्दर अपना अस्तित्व रखते है यद्यपि एक अव्यक्त दशा मे। इसके अन्दर समस्त व्यवस्थित अस्तित्व उपलक्षित है। भिन्न-भिन्न गुण अपने को मिटाते नही है बल्कि साम्यावस्था मे रहते है, जो निष्क्रियता नही है, बल्कि एक प्रकार की प्रसारण है। प्रकृति इतनी सत् नही है जितनी कि शक्ति है। तीनो गुणो की साम्यावस्था होने के कारण[2] यह समस्त भौतिक तथा मानसिक परिवर्तनो का आधार है। यह विशुद्ध क्षमता है।[3] हम प्रकृति तथा गुणो के यथार्थस्वरूप को नहीं जानते, क्योकि हमारा ज्ञान दृश्यमान जगत् तक सीमित है।[4] यह शब्द तथा स्पर्श से रहित है,[5] जो क्रियात्मक रूप मे एक सीमा है जिससे परे हम नही जा सकते। यह आनुभविक रूप मे एक अमूर्तभाव है, केवल नाममात्र है।[6] किन्तु इसकी सत्ता को समस्त सृष्टि की पूर्वभूमिका के रूप मे स्वीकार करना ही होता है।[7]

सांख्य मे दिया गया जगत् का वर्णन, जिसमे इसको एक समाग द्रव्य का रूप दिया गया है और समस्त पदार्थ जिसके केवल भिन्न-भिन्न विन्यास (आकृतियां) है जिनका निर्माण इसके परम घटको के भिन्न-भिन्न मिश्रणों के द्वारा हुआ है, कुछ-कुछ भौतिकवाद के सिद्धान्त के साथ सादृश्य रखता है। सांख्य तथा भौतिकवाद दोनो का ही प्रयत्न उस बहुत-कुछ अव्यवस्थित विचार की अपेक्षा जो ऊपरी रूपो से हमारे मस्तिष्क मे बनता है, विश्व के एक अधिक युक्तियुक्त भाव को प्राप्त करने की ओर है। ये दोनो ही सिद्धान्त एक आद्य द्रव्य की परम यथार्थता पर बल देते है, जिसे ये नित्य, अविनश्वर तथा सर्वव्यापी मानते है। विविध वस्तुओ की प्रचुरता, जो हमे अपने साधारण अनुभव मे दिखाई देती है इसी अकेले द्रव्य के कारण है। किन्तु सांख्य-प्रतिपादित प्रकृति की तुलना हम विशुद्ध एवं सरल भौतिक द्रव्य के साथ नही कर सकते। सांख्य के विचारक प्रकृति की बुद्धि को उत्पन्न करने तथा पुरुष की प्रकृति को उत्पन्न करने की अक्षमता से भली प्रकार अभिज्ञ है। वे स्वीकार करते है, जबकि भौतिकवादी स्वीकार नही करते,

१. निःसत्तासत्तं निःसदसन्निरसदव्यक्तमलिङ्गं प्रधानम् (योगभाष्य, २ : १९; सांख्यप्रवचन-भाष्य, १ : ६१)।

२. साम्यावस्था (सांख्यप्रवचनभाष्य, १ : ६१)। ३. तुलना कीजिए ऋग्वेद, १० : १२९।

४. व्यास 'षष्टितन्त्र' से निम्नलिखित एक श्लोक उद्धृत करते है:

गुणानां परमं रूपं न दृष्टिपथमृच्छति।
यत्तु दृष्टिपथं प्राप्तं तन्मायेव सुतुच्छकम्॥ (योगभाष्य, ४ : १३)।

इसपर टिप्पणी करते हुए वाचस्पति का कहना है कि प्रकृति माया नहीं, अपितु माया जैसी है—मायेव न तु माया।

५. सांख्यप्रवचनभाष्य, १ : १२८; विष्णुपुराण, १ : २, २०-२१।

६. संज्ञामात्रम् (सांख्यप्रवचनभाष्य, १ : ६८)।

७. प्र — पहले, कृति — सृष्टि-रचना; अथवा प्र — आगे, कृति — बनाना।

कि प्रकृति का विकास एक प्रयोजन को लेकर होता है, "यह एक ऐसा तोरणद्वार है जिसमे से अछूते जगत् की झलक मिलती है।" साख्य-प्रतिपादित प्रकृति कोई भौतिक द्रव्य नही है, और न ही वह एक चेतनता-सम्पन्न सत्ता है, क्योकि पुरुष को बहुत सावधानी के साथ इससे पृथक् रखा गया है। यह केवल भौतिक जगत् के पाचों तत्त्वों को ही उत्पन्न नही करती, बल्कि मानसिक तत्त्वो की भी जननी है। यह समस्त प्रमेय-विषयक जीवन का आधार है। साख्य इस विचार पर विज्ञान के द्वारा नही, बल्कि अध्यात्म के द्वारा पहुचता है। यथार्थतत्त्व को उसकी पूर्णता के साथ अपरिवर्तनशील प्रमाता (विषयी) और परिवर्तनशील प्रमेय (विषय) के रूप मे पृथक् किया गया है, तथा प्रकृति परिणमनशील जगत् का आधार है। यह अविश्रान्त क्रियाशील जगत् के तनाव की प्रतीक है। यह बिना चेतनता के, बिना किसी पूर्व-निर्धारित योजना के बराबर क्रियाशील रहती है, यह ऐसे लक्ष्य के प्रति क्रियाशील है जिसे यह समझती नही।

६

गुण

प्रकृति का विकास इसकी अपनी तीन घटक शक्तियो अथवा गुणो से होता है,[1] जिनकी कल्पना प्रकृति के कार्यों के लक्षणो के आधार पर की गई है। प्रकृति एक त्रिगुणात्मक (तीन लडो वाली) रस्सी है। बुद्धि मे, जो एक कार्य है सुख, दुःख तथा सम्मोह—ये गुण पाए जाते है, और इसलिए उसकी कारणरूप प्रकृति मे भी तदनुकूल गुण अवश्य होने चाहिए। ये गुण प्रत्यक्ष के विषय नही है, किन्तु इनके कार्यों द्वारा इनके अस्तित्व का अनुमान किया जाता है। इनमे से प्रथम गुण को 'सत्त्व' कहते है। यह कार्यक्षम चेतना है और इसलिए चेतनामय अभिव्यक्ति की ओर प्रवृत्त होता है तथा मनुष्य में सुख उत्पन्न करता है। व्युत्पत्तिशास्त्र के अनुसार, सत्त्व शब्द की व्युत्पत्ति 'सत्' से है, अर्थात् सत् वह है जो यथार्थ अथवा विद्यमान है। क्योकि चैतन्य को इस प्रकार की सज्ञा दी जाती है इसलिए सत्त्वगुण को कार्यक्षम चैतन्य कहा गया है। गौण अर्थो मे, 'सत्' का अर्थ 'पूर्णता' भी है और इस प्रकार 'सत्त्व' वह तत्त्व है जो सौजन्य एव सुख को उत्पन्न करता है। इसे ऊपर उठने योग्य अर्थात् हलका बतलाया गया है।[2] दूसरा गुण रजस् है जो समस्त क्रिया का स्रोत है और दु.ख को उत्पन्न करता है। रजोगुण हमें एक उत्तेजनामय सुख तथा सतत उद्यम के जीवन की ओर ले जाता है।[3] तीसरा तमोगुण है जो क्रियाशीलता मे बाधा पहुचाता है तथा उदासीनता अथवा निरुत्साह उत्पन्न करता है। यह अज्ञान तथा आलस्य की ओर ले जाता है। सत्त्व, रजस्, और तमस् के कार्य क्रमश प्रकाश, (अभिव्यक्ति), प्रवृत्ति (क्रियाशीलता) और नियमन

१. साख्यकारिका, १६। २. सत्त्वप्रकाशलाघव (तत्त्वकौमुदी, १३)।

३. दुःखोपष्टम्भकत्व, प्रवर्तकत्व, जबकि तमस् का लक्षण बताया है—मोहगुरुत्वावरणैः (तत्त्वकौमुदी, १३)।

(अवरोध)[1] हैं और ये क्रमश सुख, दुःख और आलस्य (तन्द्रा) को उत्पन्न करते है। तीनो गुण कभी पृथक् नही रहते। वे एक-दूसरे को पुष्ट करते हैं तथा एक-दूसरे मे मिले-जुले रहते है। वे एक-दूसरे के साथ घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध है, जैसेकि दीपशिखा, तेल तथा दीपक की बत्ती परस्पर सटे हुए रहते है।[2] ये तीन गुण ही प्रकृति के सारभूत तत्त्व है। सब वस्तुए इन तीन गुणो से मिलकर बनी हैं,[3] और ससार मे जो भेद पाए जाते हैं वे भिन्न-भिन्न गुणो की प्रधानता के कारण है। गुणो की इस प्रकार की कल्पना का आदिस्रोत निःसन्देह मनोवैज्ञानिक है, क्योंकि इनके अन्दर जो भेद किए गए है वे भावना के भिन्न-भिन्न प्रकारो के आधार पर है। किन्तु इतने प्रारम्भिक काल मे भी, जो साख्यकारिका का समय है, गुण प्रकृति के घटको अथवा अवयवो को प्रकट करते थे।[4] इन्हे गुणो की सज्ञा दी गई है, क्योकि प्रकृति अकेली विशेष्य है और ये उसके अन्दर केवल अवयव (घटक) रूप से है। इन्हे किसी वस्तु-विशेष के विकास की भिन्न-भिन्न अवस्थाओ के रूप मे माना जा सकता है। सत्त्व उस सारभूत तत्त्व अथवा स्वरूप का द्योतक है जिसको हमे प्राप्त करना है, और तमस् उन बाधाओ का द्योतक है जो उक्त उद्देश्य की प्राप्ति के मार्ग म आती है। इसी प्रकार रजस् उस शक्ति का द्योतक है जिसके द्वारा बाधाओ पर विजय प्राप्त की जाती है तथा सारभूत रूप अभिव्यक्त होता है। साख्य द्वारा प्रतिपादित सत्कार्यवाद के अनुसार, वस्तु सदा उत्पन्न की जाती है, किन्तु नये सिरे से रची कभी नही जाती। उत्पत्ति केवल अभिव्यक्तिमात्र है और विनाश तिरोभाव के अतिरिक्त कुछ नही है। ये दोनो प्रतिक्रियाकारी शक्तियो की अनुपस्थिति तथा उपस्थिति पर निर्भर करते है। बाधाओ के हटा दिए जाने पर वस्तु अभिव्यक्त हो जाती है। जो अभिव्यक्त होता है वह सत्त्व अथवा वस्तु का रूप है, अभिव्यक्ति का कारण रजोगुण है; तमस् वह बाधा है जो सत्त्व की अभिव्यक्ति के मार्ग म उपस्थित रहती है और जिसपर विजय प्राप्त करनी है।[5] जहा सत्त्व और तमस क्रमश विध्यात्मक सत्

१ प्रकाशक्रियास्थितिशीलम् (योगसूत्र, २ १८)।

२ साख्यकारिका, १३।

३ त्रिगुणात्मक।

४. तुलना कीजिए श्वेताश्वतर उपनिषद्, ४.५। "अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णाम्..." शकराचार्य इसमे छान्दोग्योपनिषद् मे वर्णित तीन रगो का आभास पाते है, (६ ४)। शकराचार्य साख्य-सम्प्रदाय के एक अनुयायी द्वारा इसकी व्याख्या इस प्रकार म कराते है: "इस छन्द में लाल, श्वेत तथा कृष्ण से रजस्, सत्त्व और तमस का ग्रहण करना चाहिए। लाल रजस् (भावावेश) है, क्योंकि यह स्वभावतः मनुष्य को लाल बना देता है, उत्तेजना उत्पन्न करता है, रञ्जयति। श्वेत सत्त्व है (अनिवार्य रूप से कल्याणकर), क्योंकि यह स्वभावतः मनुष्य को उज्ज्वल बनाता है। कृष्णवर्ण तमस (अन्धकार) है, क्योंकि यह अज्ञानान्धकार उत्पन्न करता है। क्योंकि तीनो गुण आद्य प्रकृति के है, इसलिए उन्हें 'अजा' कहा गया है, अर्थात् जिनका जन्म न हुआ हो" (शाकरभाष्य, १ : ४, ९)। गुण नाम इनका इसलिए है क्योंकि ये आत्मा को बाधते है (गुण अर्थात् रस्सी) (साख्यप्रवचनभाष्य, १ : ६१)।

५. डाक्टर सील लिखते है: "प्रत्येक घटना में तीन प्रकार के मूलतत्त्व होते है: बुद्धिगम्य सार, शक्ति और घनत्व। निकट सयोग में ये वस्तुओ के अन्दर अनिवार्य रचनात्मक अवयवों के रूप में प्रवेश करते हैं। किसी वस्तु का सार (सत्त्व) वह है जिस रूप में वह अपने को बुद्धि के आगे अभि-

तथा निषेधात्मक असत् के अनुरूप है, रजस् उक्त दोनो के मध्य संघर्ष का द्योतक है। प्रत्येक वस्तु का अपना आदर्श सारतत्त्व होता है जिसे प्राप्त करने का वह प्रयत्न करती है, और वास्तविक ढांचा होता है जिससे छुटकारा पाने का वह प्रयत्न करती है। पिछली अवस्था इसकी तमोऽवस्था है तथा पहली सत्त्वावस्था है, और प्रयत्न करने की प्रक्रिया राजसी अवस्था की द्योतक है। परिणाम मे, सत्त्व वह है जिसके द्वारा कोई भी वस्तु अपने को चैतन्य मे अभिव्यक्त करती है। क्योकि ये लक्षण जीवन-मात्र में पाए जाते है, इसलिए ये मूल प्रकृति के कारण माने गए हैं।[1]

ये गुण वैशेषिक के गुण नही है, क्योकि इनके अन्दर लघुता, क्रियाशीलता आदि गुण विद्यमान है।[2] विज्ञानभिक्षु इनको यथार्थसत्ता के प्रकार बताते है[3] तथा प्राचीन उपनिषदो में[4] इन्हे मनोवैज्ञानिक अवस्थाओ का रूप दिया गया है जो भौतिक तथा मानसिक बुराई को उत्पन्न करती है। रचना की दृष्टि से ये गुण अत्यन्त सूक्ष्म बताए गए है। ये सदा परिवर्तनशील है, यहा तक कि जिसे साम्यावस्था कहा जाता है उसमे भी ये गुण निरन्तर एक-दूसरे मे परिवर्तित होते रहते है।[5] किन्तु ये परिवर्तन अपने-आपमे तब तक कोई विषयनिष्ठ परिणाम उत्पन्न नही करते जब तक कि साम्यावस्था मे कोई क्षोभ उत्पन्न नही होता। गुणो की साम्यावस्था मे क्षोभ उत्पन्न होने पर ये गुण एक-दूसरे पर क्रिया-प्रतिक्रिया करते है तथा विकास होता है। गुणो की नानाविध प्रतिक्रिया के कारण ही जगत् मे विविधता पाई जाती है। जिस विशेष घटना मे जो कोई गुण सर्वोपरि रहता है वह उसमे अभिव्यक्त होता है, यद्यपि अन्य गुण भी अनुपस्थित नही रहते। भौतिक जड पदार्थों मे तमोगुण प्रधान है तथा सत्त्व और रजस्

व्यक्त करती है, और इस प्रकार की अभिव्यक्ति के बिना चेतनामय जगत् मे कुछ भी नहीं रह सकता (समष्टिबुद्धि)। किन्तु यह सारतत्त्व तीन लक्षणों मे से केवल एक है। यह न तो पुञ्ज को और न गुरुत्व को धारण करता है। न यह बाधा ही देता है और न कोई कार्य ही करता है। उसके बाद तमस का अंश है, जो पुञ्ज, निष्क्रियता, भौतिक सामग्री है, जो गति के मार्ग में तथा चेतनामय चिन्तन के भी मार्ग मे बाधा देता है। किन्तु बुद्धि-सामग्री तथा भौतिक सामग्री कोई कार्य नही कर सकती। और अपने-आपमें रचनात्मक क्रियाशीलता से रहित है। समस्त कार्य रजोगुण से होता है जो शक्ति का अंश है और जो भौतिक द्रव्य की बाधा पर विजय प्राप्त करके बुद्धि को भी शक्ति प्रदान करता है, जिसकी आवश्यकता इसे अपने चेतनामय नियमन तथा अनुशीलन के लिए होती है" (दि पाजिटिव साइंसेज आफ दि हिन्दूज़, पृष्ठ ४)। कुछ लोगो को डा० सील का उक्त प्रयास साख्य की व्याख्या से अधिक उसका पुनर्लेखन प्रतीत होगा।

१. कभी-कभी यह कहा जाता है कि क्रियाशीलता का, जो सम्पूर्ण विश्व की विशेषता है, बाधा पहुंचाने वाले से अलग कोई अर्थ ही नही है। इस प्रकार रजस् अर्थात् क्रियाशील पक्ष तमस् अर्थात् निष्क्रिय पक्ष के अस्तित्व का संकेत करता है। उसके बिना सब वस्तुए निरन्तर गतिमान रहेंगी। सक्रियता अपने-आपमे युक्तियुक्त उद्देश्य को पूरा करती है और इसलिए सत्त्वपक्ष भी विद्यमान है (तत्त्वकौमुदी, १३)।

२. साख्यप्रवचनभाष्य, १ : ६१।

३. वाचस्पति तथा साख्यकारिका इस प्रकार की व्याख्या नही देते।

४. श्वेताश्वतर उपनिषद् तथा मैत्रायणी उपनिषद्।

५. सारूप्यपरिणाम।

गौण है। गतिमान पदार्थों मे रजोगुण प्रधान है और अन्य गुण प्रच्छन्न है। इस प्रकार 'सत्त्व, रजस् और तमस्' इन पारिभाषिक शब्दो का प्रयोग प्रधान पक्ष को लक्ष्य करके किया जाता है, एकान्तिक तथा अनन्यस्वरूप को लक्ष्य करके नही किया जाता। यद्यपि कार्यरूप जगत् की उत्पत्ति मे तीनो गुण एकसाथ भाग लेते है, तो भी वे कभी एकीभूत नही होते। पारस्परिक प्रभाव अथवा सामीप्य के कारण उनके अन्दर परिवर्तन होता है। वे विकसित होते है, परस्पर मिलते है तथा पृथक् होते है। उनमे से कोई भी अपनी शक्ति को नही खोता, भले ही दूसरे सक्रिय रूप मे क्यो न कार्यरत हो।[1] प्रकृति तथा तज्जन्य पदार्थ इन गुणो को धारण करते है और इसलिए वे अचेतन है। वे अपने-आपमे तथा पुरुष मे भेद करने की शक्ति से वंचित है। वे सदा विधेय (विषय) कोटि मे ही रहते है, जबकि केवलमात्र पुरुष ही प्रमाता (विषयी) की कोटि मे है।

गुणो के विषय मे विज्ञानभिक्षु मे एक बिलकुल भिन्न मत पाया जाता है, जो इनको सूक्ष्म सत्ताए तथा व्यक्तिरूप पदार्थो की विविधता के अनुसार सख्या मे अनन्त मानता है। इस मत के अनुसार ऐसा कहना सही न होगा कि व्यापक गुण अपने विविध सयोगो के कारण विविध कार्यों को उत्पन्न करते है, क्योकि इस प्रकार का मत छोटे-छोटे भेदो की व्याख्या नही कर सकता।[2] यद्यपि गुणो की अभिव्यक्तिया असख्य है, तो भी कुछ सामान्य लक्षणो जैसे लघुता, को धारण करने के कारण इनका तीन प्रकार का वर्गीकरण किया गया है।[3] कारण-कार्य-सम्बन्धी इन तीनो सत्त्व आदि द्रव्यो मे से प्रत्येक नानाविध निजी अभिव्यक्तिया रखता है।[4] गुणो की न तो सृष्टि होती है और न नाश ही होता है। यद्यपि ठोस मूर्त रूप प्रकारो मे धन एव ऋण, वृद्धि एव ह्रास, सम्भव है, जो परिवर्तन व्यवस्थाप्रत तथा अन्तर्हित मे वास्तविक म रूपान्तर के कारण होते है, तो भी अन्तर्हित तथा वास्तविक मिलकर सदा एकसमान ही रहते है। यह ठीक उसी प्रकार है जैसेकि चौसर के खेल मे होता है। पासे सदा वही रहते है, किन्तु वे क्योकि भिन्न-भिन्न प्रकार मे पडते है इसलिए उनका अर्थ हमारे लिए भिन्न-भिन्न होता है। समस्त परिवर्तन अनन्त काल से विद्यमान अनिवार्य सत्ताओ की स्थिति, व्यवस्था, उनके वर्गीकरण, मिश्रण तथा पृथक्करण से सम्बन्ध रखता है जो सदा ही परस्पर सघटित तथा विघटित होती रहती है।[5]

१. योगभाष्य, २ : १८।
२. सांख्यप्रवचनभाष्य, १ : १२७।
३. सांख्यप्रवचनभाष्य, १ : १२८।
४. वही।
५. तत्त्वकौमुदी, १३–१६; तत्त्ववैशारदी, २ : २०, ४ : १३–१४, और योगवार्तिक, ४ : १३–१४।

७

विकास

प्रकृति वह मौलिक द्रव्य है जिसमे से यह जगत् विकसित होता है। अव्यक्त दशा मे प्रकृति केवल प्रतिकूलनाओ का संगतीकरण है। जब वे साम्यावस्था मे एकत्र रहती है तो उनमे कोई क्रिया नही होती है। विश्राम की अवस्था को प्रकृति की स्वाभाविक दशा कहा गया है।[1] तो भी बाह्य क्रिया की अनुपस्थिति का तात्पर्य यह नही है कि कार्य करने की प्रवृत्ति का भी अभाव है। व्यक्त होने की प्रवृत्तिया (सत्त्व) और क्रियाशीलता (रजस्) अव्यक्त तथा निष्क्रियता (तमस्) की प्रवृत्तियो से प्रतिबद्ध रहती है। सांख्य जगत् के सर्वोपरि तत्त्व का विचार एक ऐसे एकत्व के रूप मे करना है जिसके साथ तत्त्वो का यथार्थ विरोध है। एक अमूर्त इकाई को या तो निरन्तर क्रियाशील या निरन्तर निष्क्रिय होना चाहिए। प्रकृति स्वरूप से अस्थिर नही है और इसलिए इसे अनिवार्य रूप से भिन्न-भिन्न होने की आवश्यकता नही है।[2] जब गुणो की साम्यावस्था में क्षोभ होता है तो प्रकृति का नाश होता है,[3] एक पक्ष के अत्यधिक बोझ से तनाव कम होता है और परिणमन की क्रिया प्रारम्भ हो जाती है। पुरुष के प्रभाव मे आकर प्रकृति विकसित होती है। पुरुष के उद्देश्यो की पूर्ति प्रकृति के तीन विशिष्ट अवस्थाओं मे व्यक्त होने का कारण है[4] क्योकि प्रकृति एक है और सर्वव्यापक है, इसलिए सब वस्तुओं का आधार प्रकृति है और, एक अर्थ मे, प्रत्येक वस्तु अपने लक्षणो मे अन्य वस्तुओ के साथ साझा रखती है। किन्तु तथ्य यह है कि वस्तुए सब कार्यों को एकसाथ व्यक्त नही करती। विकास का कारण देश, काल, विधि तथा कार्यकारणभाव मे अनुक्रम के एक निश्चित विधान का अनुसरण करना है।[5] हम नही कह सकते कि यह विकास क्यो होता है। हमे इसे केवल स्वीकार करना होता है। प्रकृति जो अपने अन्दर सब वस्तुओ की सम्भाव्यताओ को धारण करती है, विचार के उपकरणो के रूप में और विचार के विषयो के रूप मे विकसित होती है।

महत्, जो सकल विश्व का कारण है, प्रकृति के विकास मे सबसे प्रथम उत्पन्न पदार्थ है। यह व्यक्ति की बुद्धि का आधार है। जहा 'महत्' शब्द विश्वीय पक्ष को दर्शाता है, वहा बुद्धि शब्द से, जो इसका पर्यायवाची होकर प्रयुक्त होता है, तात्पर्य तत्समान मनोवैज्ञानिक पक्ष है, जो प्रत्येक व्यक्ति मे रहता है। साख्य मे 'महत्' के मनोवैज्ञानिक पक्ष पर बल दिया गया है। बुद्धि के पर्यायवाची शब्दो[6] तथा गुणों—धर्म, ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य—और इनके विपरीतों से यह स्पष्ट है कि बुद्धि को मनोवैज्ञानिक अर्थ में लेना चाहिए। किन्तु इसकी उपाधियो, यथा महत् ब्रह्मा आदि, से यह उपलक्षित

१. योगभाष्य, २ : १८।
२. देखिए स्पेंसर : फर्स्ट प्रिंसिपल्स, पृष्ठ १९।
३. प्रकृतिनाश।
४. अयाश्च विशेषावस्थाविशेषाणामादौ पुरुषार्थता कारणं भवति (योगभाष्य, २ : १९) इसपर वाचस्पति को भी देखिए।
५. परिणामक्रमनियम।
६. मति, ख्याति, प्रज्ञा, ज्ञान।

होता है कि इसका प्रयोग विश्व-सम्बन्धी अर्थ में भी किया गया है।[1] बुद्धि को अशरीरी पुरुष के साथ मिश्रित न करना चाहिए। इसे समस्त मानसिक प्रक्रियाओ का सूक्ष्म द्रव्य माना गया है। यह वह क्षमता है जिससे हम पदार्थों मे भेद करते है तथा प्रत्यक्ष ज्ञान से जानते है कि वे क्या है। बुद्धि के व्यापार है निश्चय करना तथा निर्णय पर पहुंचना। और सब इन्द्रिया बुद्धि के लिए कार्य करती है, जो सीधे पुरुष के लिए कार्य करती हैं। इस प्रकार पुरुष समस्त जीवन का अनुभव करने योग्य होता है तथा अपने व प्रकृति के अन्दर भेद कर सकता है।

प्रकृति के अन्य उत्पन्न पदार्थों के समान बुद्धि मे भी तीन गुण है। अपने सात्त्विक रूप मे यह कर्तव्यपालन, ज्ञान-सम्पादन, इच्छा की अधीनता से स्वातन्त्र्य तथा दैवीय शक्तियो से पहचानी जाती है, अपने राजस रूप में यह इच्छाओ को उत्पन्न करती है, और अपने तामस रूप मे यह उपेक्षा तथा अज्ञान आदि को उत्पन्न करती है। विज्ञानभिक्षु का कहना है कि सब आत्माए दैवीय है,[2] यद्यपि उनके अन्तःस्थित ऐश्वर्य को रजस् तथा तमस् गुण द्वारा रुकावट मिलती है।[3] तत्त्वो द्वारा निर्मित सृष्टि से प्रत्ययसर्ग अथवा बौद्धिक सृष्टि भिन्न है, जो चार प्रकार की है, अर्थात् अज्ञान (विपर्यय), अशक्ति, तुष्टि (सन्तोष), और पूर्णता (सिद्धि)। इनके पचास उपविभाग है।[4] अज्ञान के पाच प्रकार माने गए है, अर्थात अविद्या, अस्मिता (अथवा अहभाव), इनमे से प्रत्येक आठ प्रकार का है, राग (इच्छा), जो दस प्रकार का है, द्वेष अभिनिवेश (अथवा भय) जो अट्ठारह प्रकार के है। अशक्ति के अट्ठाइस प्रकार है, तुष्टि के नौ प्रकार और सिद्धि के आठ प्रकार है।

बुद्धि दोनो ही है, नित्य भी और अनित्य भी। यह प्रकृति की कारणावस्था मे बीजशक्ति के रूप मे अकुर बनकर विद्यमान रहती है और तब इसके व्यापार प्रकट नही होते। जब यह कार्यावस्था मे परिवर्तित हो जाती है तो यह बुद्धि कहाती है। विज्ञानभिक्षु इसे कभी असफल न होनेवाली तथा सब संस्कारो को धारण करनेवाली मानता है।[5] स्मृतिया बुद्धि मे संगृहीत रहती है मन अथवा अहकार मे नही रहती। "सत्यज्ञान द्वारा अहकार तथा मन के विलय हो जाने पर भी स्मृति शेष रहती है।"[6]

यह स्पष्ट है कि कारिका ने जो व्यापार बुद्धि के बताए है वे इसके द्वारा केवल तभी सम्पन्न हो सकते है जबकि यह अहकार के पीछे हो, तथा मन और इन्द्रियो के भी पीछे हो, और ठोस तत्त्वो के समान कोई ज्ञेय पदार्थ विद्यमान हो। किन्तु सांख्य का मत है कि प्रथम अवस्था मे जब बुद्धि उपस्थित होती है, ये सब उपस्थित नही होते।

१. परवर्ती वेदान्त में बुद्धि को समष्टिरूप में हिरण्यगर्भ की उपाधि करके लिया गया है।
२. सर्वे एव पुरुषा ईश्वर इति।
३. सांख्यप्रवचनभाष्य, २ : १५। और देखिए योगभाष्य, १ : २।
४. सांख्यकारिका, ४६।
५. सांख्यप्रवचनभाष्य, २ : ४१-४२।
६. सांख्यप्रवचनभाष्य, २ : ४२।

इसलिए हमें इसको विश्व-सम्बन्धी अर्थों मे ग्रहण करना चाहिए, अर्थात् विषयी तथा विषय, प्रत्यक्ष करनेवाले तथा प्रत्यक्ष के विषय में भेद का आधार समझना चाहिए। किन्तु तब हमें एक विश्वात्मा को मानना होगा, जिसे सांख्य स्वीकार नहीं करता। महत् की स्थिति को एक अनिश्चित दशा में छोड़ दिया गया है। बुद्धि प्रकृति के उत्पन्न पदार्थ तथा अहंकार की उत्पादिका के रूप में उस बुद्धि से भिन्न है जो इन्द्रियों, मन तथा अहंकार की प्रक्रियाओं को वश में रखती है। यदि दोनों को एकसमान माना जाए तो प्रकृति के सम्पूर्ण विकास को विषयनिष्ठ मानना पड़ेगा, क्योकि अहं तथा अनहं दोनों ही बुद्धि से उत्पन्न है। इस प्रकार की संदिग्धता प्रकृति के अन्य पदार्थों में भी पाई जाती है।

अहंकार (अहंभाव) अथवा व्यक्तित्व का तत्त्व बुद्धि के पश्चात् उदय होता है। इसके व्यापार के द्वारा भिन्न-भिन्न आत्माओं में से प्रत्येक एक पृथक् मानसिक पृष्ठभूमि से युक्त हो जाती है। हमें यहां पर विश्व-सम्बन्धी तथा मनोवैज्ञानिक पक्षों में भी भेद करना है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से, अहं का भाव एक अनहं अथवा प्रमेय विषय (पदार्थ) के बिना असम्भव है। किन्तु विषयनिष्ठ का विकास सांख्य की विकास-सम्बन्धी प्रकल्पना में अहंकार के उदय के पीछे ही होता है। हमें एक विश्वात्मक अहंकार की संभावना को स्वीकार करना ही होगा, जिसमें से व्यक्तिरूप विषय तथा विषयी उदय होते हैं। अहंकार को भौतिक सामग्री के रूप में लिया गया है, और जहां बुद्धि अपने व्यापार में अधिक ज्ञान-विषयक है वहां अहंकार अधिक क्रियात्मक है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से, अहंकार का कार्य अभिमान अथवा आत्मप्रेम है। कर्तृत्व का सम्बन्ध इसके साथ है, आत्मा अथवा पुरुष के साथ नही है।[1] महत् की अहंकार के प्रति वही स्थिति है जो चैतन्य की आत्म-चैतन्य के प्रति है। पहला पिछले की तर्क-संबंधी पूर्वकल्पना है। हम अहंकार के अस्तित्व का अनुमान इसके कार्यों से करते है।[2] इसे द्रव्य माना गया है, क्योंकि यह अन्य द्रव्यों का उपादान कारण है। पुरुष अहंकार के द्वारा ही प्रकृति की क्रियाओं को अपनी क्रियाएं समझने लगता है। मन के द्वारा इसे जो संवेदनाए तथा सुझाव मिलते है यह उन्हें आत्मा के अर्पण कर देता है। इस प्रकार यह भावों तथा निर्णयों के निर्माण में सहायक होता है। अहंकार वह नहीं है जो सार्वभौम चैतन्य को व्यक्तित्व का रूप देता है, क्योंकि सांख्य के अनुसार व्यक्तित्व पहले ही विद्यमान है। बाह्य जगत् से जो संस्कार आते है उन्हें यह व्यक्तित्व प्रदान करता है। जब अहंकार पर सत्त्व की प्रधानता होती है तो हम अच्छे कर्म करते है, जब रजस् की प्रधानता होती है तब बुरे कर्म करते है; और जब तमोगुण की प्रधानता होती है तब ऐसे कर्म करते हैं जिन्हें न अच्छे कह सकते है, न बुरे। प्रगाढ़ निद्रा (सुषुप्ति) में अहंकार का कार्य अनुपस्थित रह सकता है, किन्तु इच्छाएं तथा प्रवृत्तियां सब रहती है।[3] यह जानना कठिन है कि आत्मभाव महत् अथवा बुद्धि

१. सांख्यप्रवचनसूत्र, ६ : ५४। विज्ञानभिक्षु छान्दोग्य उपनिषद् का वाक्य उद्धृत करता है, 'बहु स्यां प्रजायेय' (मैं अपने अनेक रूप धारण करूं, उत्पन्न होऊं)। और इसपर टिप्पणी करता है : "तत्त्वों तथा अन्य सबकी रचना से पूर्व अभिमान का अस्तित्व है और इस प्रकार इसे सृष्टि-रचना का कारण कहा गया है।" (सांख्यप्रवचनभाष्य, १ : ६३)।

२. सांख्यप्रवचनसूत्र, १ : ६३। ३. सांख्यप्रवचनभाष्य, १ : ६३।

से किस प्रकार उत्पन्न होता है।

गुण अहंकार से विकसित होने मे तीन विभिन्न मार्गों का आश्रय लेते हैं, जिनके कारण इसे सात्त्विक, राजस तथा तामस कहा जाता है। अहंकार से इसके सात्त्विक (वैकारिक) रूप मे मन, पाचो ज्ञानेन्द्रिया तथा पाचो कर्मेन्द्रिया विकसित होती है, और इसीसे इसके तामस (भूतादि) रूप मे पाच सूक्ष्म तत्त्व उत्पन्न होते है। राजस (तैजस) रूप दोनो मे अपनी भूमिका अदा करता है और परिणामो मे उपस्थित रहता है।[1] तन्मात्राओ अथवा पाच सूक्ष्म तत्त्वो से, तमस् के आधिपत्य होने से, मूर्तरूप पञ्चभूत उत्पन्न होते है। इन सब विकासो मे यद्यपि कोई एक गुण प्रधान रह सकता है, किन्तु अन्य भी उपस्थित रहते है अपने अपने कार्य करते है और अप्रत्यक्ष रूप मे पदार्थों के विकास मे सहायक होते है।

मन वह इन्द्रिय है जिसका महत्त्वपूर्ण कार्य इन्द्रियो से प्राप्त सामग्री का संश्लेषण करके उन्हें विचार (प्रत्यय) के रूप मे परिणत करना, कार्यो के वैकल्पिक मार्गों का सुझाव देना, तथा इच्छा द्वारा दिए गए आदेशो का कर्मेन्द्रियो द्वारा पालन कराना है। जिस प्रकार बुद्धि तथा आत्मभाव के विषय मे है, उसी प्रकार मन के विषय मे भी इन्द्रिय तथा उसके कर्म मे कोई भेद नही किया गया है। इन्द्रिया को द्वार माना गया है और मन को द्वाररक्षक कहा गया है।[2] प्रत्यक्ष ज्ञान तथा क्रिया दोनो मे ही मन का सहयोग आवश्यक है। भिन्न-भिन्न इन्द्रिया के सम्बन्ध मे यह नाना आकृतिया धारण करता है।[3] मन सर्वव्यापक नही है, क्योकि यह एक यन्त्र है जिसमे गति तथा क्रिया रहती है।[4] यह हिस्सो से मिलकर बना है क्योकि इसका सम्बन्ध इन्द्रियो से है।[5] मन तथा इन्द्रिया नित्य नही है उस अर्थ मे कि एक नित्य विषयी, अर्थात् ईश्वर विद्यमान है जिसके अधिकार मे ये सब है।[6]

पाचो ज्ञानेन्द्रिया क्रमश दर्शन, श्रवण, गन्ध, रस और स्पर्श के व्यापार है। आवश्यकता कार्य की जननी है। क्योकि हम इच्छा रखते है, इसलिए हम क्रियाओ तथा

१. सांख्यकारिका, २४–२५। विज्ञानभिक्षु का मत है कि सात्त्विक अहंकार मन को उत्पन्न करता है, राजस दस इन्द्रियों को और तामस पाच तन्मात्राओं को उत्पन्न करता है। (सांख्यप्रवचनभाष्य, २ : १८)। अनिरुद्ध प्रचलित मत को स्वीकार करता है कि राजस एक ऐसी दशा है ... ... रहती है, और अन्य गुण घटक अवयवो के स्वरूप का निर्णय करते है। ... का यह मत है कि महत् से अहंकार उत्पन्न होता है और अहंकार से तन्मात्राए, ... कि अहंकार का पृथक्करण तथा तन्मात्राओं का विकास ये महत् के अन्दर सम्पन्न होते है।

२. सांख्यकारिका, ३५। "बुद्धि, अहंकार और मन इनमे सदा सावधानी से साथ भेद नहीं किया जाता। इन्हे आन्तरिक इन्द्रिय (अन्त करण) माना जाता है। केवल आत्माओ के त्रिविध भेद के अनुसार अन्त करण एक और केवल एक ही है; जैसे कि बीज, पौधा या महान वृक्ष आदि के विषय में है, यह कार्य और कारण के पारस्परिक सम्बन्ध के अन्तर्गत आ जाता है।" विज्ञानभिक्षु 'वायुपुराण' मे एक श्लोक इस आशय का उद्धृत करता है : '... मनो महान् मतिर्ब्रह्मा पूर्बुद्धिः ख्यातिरीश्वरः।' (सांख्यप्रवचनभाष्य, २ : १६)। और देखिए सांख्यप्रवचनभाष्य, २ : ४०।

३. सांख्यप्रवचनसूत्र, २ : २६।

४. सांख्यप्रवचनसूत्र, ५ : ७०।

५. सांख्यप्रवचनसूत्र, ५ : ६९–७०।

६. सांख्यप्रवचनसूत्र, ५ : १२७।

पदार्थों की रचना उनकी पूर्ति के लिए करते है।[1] इन्द्रियां तत्त्वों से नहीं बनी हैं, क्योंकि इन्द्रियां और तत्त्व अहंकार से उत्पन्न होते है।[2] इन्द्रिया नित्य नही है, क्योकि उनका उदय तथा विलोप दिखाई देता है। प्रत्येक इन्द्रिय एक गुण को ग्रहण करती है। इन्द्रियां, मन के व्यापारों के समान, दर्शन आदि की इन्द्रिया नही है।[3] वे सूक्ष्म तथा मूर्तरूप तत्त्वों (भूतों) के निरीक्षण के साधन है।[4] कर्मेन्द्रिया जिह्वा, पाद, हस्त, मलत्याग तथा जनन के व्यापार है। मन इन्द्रियो सहित उनकी क्रियाओं द्वारा पाच जीवधारक वायुओं को उत्पन्न करता है,[5] जिन्हे वेदान्तदर्शन मे एक स्वतन्त्र स्थान प्रदान किया गया है। मूत्र के मत मे प्राण (जीवन) इन्द्रियो का एक परिवर्तित रूप है और उनके अभाव स्थित नहीं रहता।[6]

प्रत्यक्ष के विषयरूप इस जगत् में पाच इन्द्रियो के अनुरूप पाच तन्मात्राए है।[7] ये शब्द, स्पर्श रूप, रस तथा गन्ध के सारतत्त्व है, जिन्हे भौतिक तत्त्व माना गया है और जो साधारण प्राणियो की दृष्टि के विषय नही है। इनमे मे प्रत्येक केवल एक इन्द्रिय से सबद्ध है, जबकि मूर्ततत्त्व एक से अधिक इन्द्रियों से सम्बद्ध रहते है। इन अदृश्य सारतत्त्वों का अनुमान दृश्यमान पदार्थो से होता है, यद्यपि कहा जाता है कि ये योगियों के प्रत्यक्ष का विषय बनते है।[8] सूक्ष्म तत्त्वो को विशेष (भेद) से रहित कहा गया है, किन्तु उनसे उत्पन्न होनेवाले मूर्ततत्त्व एक निश्चित गुण रखते है।[9] तन्मात्राए तब तक इन्द्रियों के लिए उत्तेजक नही बन सकती जब तक कि वे परमाणुओं का निर्माण करने के लिए एक-दूसरे से सयुक्त न हो जाए। तमोगुण से आक्रान्त भूतादि अथवा अहकार सर्वथा समाग व निष्क्रिय होता है तथा पुञ्ज होने के अतिरिक्त अन्य सब प्रकार के लक्षणों से रहित होता है। रजोगुण के सहयोग से यह परिवर्तित होकर सूक्ष्म द्रव्य, कम्पनशील, तेजोमय और शक्ति से परिपूर्ण हो जाता है, और शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गन्ध की तन्मात्राएं उदय होती है। भूतादि तथा तन्मात्राओ के मध्य आकाश सक्रमण की कडी बनता है। कारणाकाश, जो आणविक नही है और सर्वव्यापक है, तथा कार्याकाश अथवा आणविक आकाश, जो भूतादि अथवा पुञ्ज इकाइयो और शब्द के सारतत्त्वो के मेल से बना है, इनमे भेद किया गया है। शब्द के सारतत्त्व कारणाकाश मे रुके हुए रहते है तथा

१. तुलना कीजिए महाभारत : रूपरागादभूच्चक्षुः : रूप के प्रति मोह के कारण चक्षु इन्द्रिय उत्पन्न हुई। देखिए महाभारत, शान्तिपर्व, २१३, १६।

२. साख्यप्रवचनसूत्र, २ : २०।

३. साख्यप्रवचनसूत्र, २ : २३।

४. साख्यकारिका, ३४।

५. सांख्यप्रवचनसूत्र, २ : ३१।

६. ५ : ११३।

७. केवल वही। देखिए प्रश्नोपनिषद्, ४ : ८। तुलना कीजिए परिमित केवल तत्त्वों के तत्त्व की परिकल्पना के साथ।

८. तत्त्वकौमुदी, ५।

९. तुलना कीजिए इसकी छान्दोग्य उपनिषद् के इस मत से (६ : ४) कि मूर्त तत्त्वों की उत्पत्ति तीन तत्त्वों के परस्पर मिलने से होती है, और मूर्त तत्त्वों को उनके अन्दर जिस तत्त्व की अपेक्षाकृत बड़े अनुपात में उपस्थिति रहती है उसीके अनुसार विशेष नाम दिया जाता है। वेदान्त के एक मत के अनुसार, प्रत्येक तत्त्व में एक तत्त्व का आधा तथा अन्य चार तत्त्वों का आठवां हिस्सा सम्मिलित रहता है।

वायु के अणुओं के विकास के लिए माध्यम बनते है।[1] व्यासभाष्य के अनुसार, शब्द की तन्मात्रा उत्पन्न होती है अहंकार से और अहंकारयुक्त शब्द की तन्मात्रा से स्पर्श की तन्मात्रा उत्पन्न होती है, जिसमें शब्द और स्पर्श के गुण विद्यमान रहते हैं, और आगे भी इसी प्रकार अन्य तन्मात्राए उत्पन्न होती है तथा प्रत्येक उत्पत्ति में एक गुण जुड़ता जाता है।

गौडपाद तथा वाचस्पति के मत मे मूर्त तत्त्वो की उत्पत्ति एकत्रीकरण की प्रक्रिया द्वारा सूक्ष्म तत्त्वों के गुणन से होती है। निःसन्देह इसमे यह कठिनाई है कि इस मत से ईथर को, जिसमे केवल एक ही गुण श्रवण-योग्यता का है, अनुरूप सूक्ष्म तत्त्व के मूर्ततत्त्व के रूप मे नही रखा जा सकता।[2] वाचस्पति का मत है कि ईथर का अणु अन्य सारतत्त्व से उत्पन्न होता है; वायु का अणु शब्द और स्पर्श दोनों के सारतत्त्वो से, जिनमे स्पर्श का सारतत्त्व मुख्य है, उत्पन्न होता है; प्रकाश का अणु शब्द, स्पर्श तथा रूप की तन्मात्राओ से, जिनमे रूप की तन्मात्रा मुख्य है, उत्पन्न होता है; जल का अणु चार तन्मात्राओं से, तथा पृथ्वी का अणु पाच तन्मात्राओ से उत्पन्न होता है, जिनमे क्रमश रस और गन्ध की तन्मात्राए मुख्य है।[3] विज्ञानभिक्षु का मत इससे कुछ भिन्न है। ईथर का अणु, भूतादि की सहायता से, ईथर की तन्मात्रा से उत्पन्न होता है।[4]

जब मूर्त अणु परस्पर मिलते है तो उनके गुण उनसे उत्पन्न पदार्थों मे पाए जाते हैं और इस प्रकार वे किसी तत्त्वान्तर को उत्पन्न नही करते।[5] आकाश के अणु मे अन्तःप्रवेश की शक्ति रहती है, वायु के अणु मे यान्त्रिक दबाव, प्रकाश के अणु मे ज्योतिष्मान उष्णता तथा प्रकाश, जल के अणु मे लसदार आकर्षण तथा पृथ्वी के अणु में स्निग्ध आकर्षण रहता है। मूर्त अणुओ के सयोग से पृथ्वी तत्त्व उत्पन्न होता है। तन्मात्राओं की सुख तथा दुःख के अनुभव को उत्पन्न करने की योग्यता तब तक प्रत्यक्ष का विषय नही बनती जब तक कि वे तन्मात्राओ के रूप मे रहती है। क्योंकि यह मूर्त अणुओं की अवस्था मे पहचानी जा सकती है, इसलिए मूर्त तत्त्वो मे ही शान्त, घोर और मूढ़ का भेद किया जाता है। पृथ्वी आदि के अणु, गुणो के नानाविध परिवर्तनो के द्वारा, विश्वात्मक सत्ता के नानाविध रूप प्रतीत होते है। वस्तुओ मे कोई आन्तरिक भेद नहीं है, क्योंकि वे सब एक ही सामग्री से बनी हुई है। क्योंकि प्रत्येक वस्तु की संभाव्यता प्रत्येक वस्तु के अन्दर है,[6] इसलिए परिवर्तन सदा पुरुष के निमित्त होता है।

१. देखिए सील : पौजिटिव साइंसेस आफ दि हिन्दूज।

२. देखिए तैत्तिरीय उपनिषद्, २ : १। ३. तत्त्ववैशारदी, १ : ४४।

४. योगवार्तिक, १ : ४५। नागेश भूतादि की इस सहकारिता का विस्तार समस्त अणुओं तक करता है। सर्वत्र तन्मात्रेष्वत्तद्भूतोपादानेऽहंकारस्य सहकारित्वं बोध्यम्।

५. अविशेष से विशेष के विकास को तत्त्वान्तरपरिणाम कहा गया है। यह केवल गुणों के परिवर्तन, अर्थात् धर्मपरिणाम से भिन्न है।

६. योगभाष्य, ३ : १४।

मूर्त अणु[1] निर्जीव (जड) तथा सजीव शरीरो की रचना करते है, और एक से दूसरे के विकास मे तारतम्य कभी भग नही होता। जड, वनस्पति तथा पशुजगत् ये तीन स्थितिया विकास मे रहती है, जो घटक अवयवों के केवल गुणो के परिवर्तन से लक्षित होती है,[2] किन्तु घटक अवयवो के अपने अन्दर परिवर्तन नही होते। भिन्न-भिन्न गुणो की अभिव्यक्ति अणुओ की भिन्न-भिन्न व्यवस्थाओं के कारण होती है। साधारणत. चार प्रकार के स्वीकृत शरीरो मे साख्य दो और जोडता है, एक इच्छा से उत्पन्न (साकल्पिकम्) और कृत्रिम (सासिद्धिकम्)। पृथिवी इन सब शरीरो का उपादान कारण है,[3] यद्यपि अन्य तत्त्व सहायक के रूप मे विद्यमान रहते है। मूर्त शरीर पाच तत्त्वो मे मिलकर बना है, यद्यपि कुछ के मत मे ईथर आवश्यक नही है। इसी प्रकार कुछ का मत यह भी है कि केवलमात्र पृथिवी ही पर्याप्त है। यह भी कहा जाता है कि जहा मनुष्य के शरीर मे पृथ्वी तत्त्व सबसे प्रधान है, वहा सूर्य मे प्रकाश तत्त्व (तेजस्) की प्रधानता रहती है।[4]

तीन गुणो से निर्मित प्रकृति तथा तज्जन्य पदार्थ अविवेकी, विषय (प्रमेय), अनेको पुरुषो के लिए सामान्य, अचेतन तथा प्रसवधर्मी कहलाते है।[5] प्रत्येक विकसित पदार्थ परवर्ती पदार्थ से सूक्ष्मतर तथा पूर्ववर्ती पदार्थ से स्थूलतर होता है। प्रकृति से लेकर पच भूतो तक की शृङ्खला सख्या मे चौबीस है, और पुरुष को साख्यदर्शन का पच्चीसवा तत्त्व कहा गया है।[6] प्रकृति से उदभूत तेईस तत्त्व कार्य है, क्योकि वे प्रकृति और पुरुष से भिन्न है, परिमित परिमाण के है और उनमे प्रधान के गुण रहते है, जैसेकि वृद्धि तथा आत्मसात् कर लेने की शक्ति, और ये तेईस तत्त्व पुरुष के साधनरूप बनते है।[7] ससार की सब वस्तुए प्रकृति की विकृतिया है। प्रकृति की स्थिति विकृतियों के प्रति वैसी है जैसीकि मूलभूत द्रव्य की अपने परिवर्तित रूपो के प्रति होती है।

१ क्योंकि वे भिन्न-भिन्न प्रकार के तन्मात्रों को घटक अवयवों के रूप में धारण करते हैं, इसलिए मूर्त अणुओं को वैशेषिक के परमाणुओं के समान नही समझा जा सकता। तन्मात्राएं, जिनके हिस्से नही होते, वैशेषिक के परमाणुओं की तुलना मे अदृश्य है।

२. धर्मपरिणाम। ३. ५ : ११२।

४. ३ : १७-१९। साख्यप्रवचनभाष्य, ३ : १९। ५. साख्यकारिका, ११।

६

(१) पुरुष
|
(२) प्रकृति (अव्यक्त) - व्यक्त
|

(३) बुद्धि
(४) अहकार अथवा अहभाव
(५-९) शब्द, स्पर्श, गन्ध, रूप (अथवा रग) और रस की पाच तन्मात्राए

(१०) मन
(११-१५) पाच ज्ञानेन्द्रिया
(१६-२०) पाच कर्मेन्द्रियां
(२१-२५) पांच भूत तत्त्व, अर्थात् ईथर, वायु, तेज, जल और पृथिवी

७. साख्यप्रवचनसूत्र, १ : १२९-१३४ ; साख्यकारिका, १५।

महत् अहंकार और पंच तन्मात्राएं कुछ के कार्य तथा कुछ के कारण है। पञ्चभूत तथा ग्यारह इन्द्रिया केवल कार्य हैं, औरों के कारण नही है। जहा प्रकृति केवल कारण है, वहां ग्यारह उत्पन्न पदार्थ केवल कार्य है। पदार्थों मे से सात कारण भी है और कार्य भी है, जबकि पुरुष न कार्य है, न कारण है।[1]

> विकास से उत्पन्न ये पदार्थ, जो अपने समान अन्य पदार्थों को उत्पन्न करने मे समर्थ है, अविशेष कहलाते हैं; और जो अपने सदृश अन्य पदार्थों को उत्पन्न करने मे समर्थ नही है वे विशेष कहलाते है। जब अहकार तन्मात्राओ को उत्पन्न करता है, तो हम सूक्ष्म तत्त्वो मे अहकार की विद्यमानता का सहूलियत के साथ पता नही लगा सकते। अहकार से जो उत्पन्न होता है वह एक सर्वथा भिन्न सत्ता प्रतीत होता है, और इस प्रकार के परिवर्तन को 'तत्त्वान्तर-परिणाम' कहा जाता है। इन्द्रिया तथा मूर्त तत्त्व किसी सर्वथा भिन्न सत्ता को उत्पन्न नही कर सकते। इस प्रकार जहा अहकार अविशेष है, वहा इन्द्रिया आदि अत्यधिक विशेष है।[2]

विकास केवलमात्र उसका व्यक्त हो जाना है जिसका अस्तित्व पहले से सम्भाव्यता के रूप मे विद्यमान था। प्रारम्भ तथा अन्त का एकसमान निर्णय होता है। उन वस्तुओ के बावजूद जिन्हे प्रकृति उत्पन्न करनी है, प्रकृति के द्रव्य मे न्यूनता नही आती। पदार्थों की उत्पत्ति से परिणमन का स्रोत नि शेष नही होता। कोई भी भौतिक पदार्थ, अपनी अतर्हित शक्ति के कुछ भाग के व्यय किए बिना, कार्य नही कर सकता। इसलिए प्रकृति को स्वरूप से विशुद्ध भौतिक मानना कठिन है।

साख्य द्वारा प्रस्तुत विकास के विवरण की ठीक-ठीक सार्थकता को समझना कठिन है। और हमे कोई सन्तोषजनक व्याख्या इस विषय मे नही दिखाई दी कि विकास के जो विभिन्न ढग है वे ऐसे क्यो है।

साख्यदर्शन के विभिन्न तत्त्व तार्किक अनुमान के द्वारा प्रकृति से नही प्राप्त किए जा सकते, और वे उससे उत्पन्न पदार्थो के रूप मे ऐतिहासिक सयोगो के कारण रखे गए लगते हैं। इन पदार्थों का एक प्रकृति से तर्कपूर्ण विकास नही हुआ है। विज्ञानभिक्षु इस दोष से अभिज्ञ है और इसीलिए वह हमे साख्य के विकास-विषयक विवरण को शास्त्र के प्रमाण के आधार पर स्वीकार करने की सम्मति देता है।[3] किन्तु

१. साख्यकारिका, ३। तुलना कीजिए इरिजेना : "वह जो सृष्टिरचना करता है किन्तु स्वयं अजन्मा है : वह जो रचना करता है और स्वय भी उत्पन्न हुआ है; वह जिसकी रचना हुई है और जो रचना करता नहीं है; और वह जिसकी न तो रचना हुई और न जो रचना करता है" (डी, डिवीजन नेचुरी, लाइब्रेरी ५)। देखिए गर्भोपनिषद, ३।

२. देखिए योगभाष्य, २ : १६, जहा तन्मात्राओं तथा व्यक्तित्व के भाव को महत् के अविशेष रूप बताया गया है, जबकि पाचों तत्त्व तन्मात्राओं के विशेष रूप हैं, और पाच ज्ञानेन्द्रियां तथा पांच कर्मेन्द्रियां और मन को 'अस्मिता' के विशेष रूप कहा गया है।

३. अत्र प्रकृतेर्महान् महतोऽहङ्कार इत्यादि सृष्टिक्रमे शास्त्रमेव प्रमाणम् (साख्यसार) और देखिए जयन्तकृत न्यायमंजरी, पृष्ठ ४५२–४६६।

यह दार्शनिक व्याख्या की सम्भावना को छोड बैठना है।

बुद्धि, अहकार, मन तथा औरों को विकास की क्रमशः आगे-पीछे आनेवाली स्थितियो की शृखला नही मानना चाहिए। ये विकसित आत्माओं के तार्किक विश्लेषण के परिणाम है। वाचस्पति लिखता है : "प्रत्येक मनुष्य पहले अपनी बाह्य इन्द्रियों का प्रयोग करता है। फिर वह (मन से) विचार करता है, फिर वह नानाविध प्रमेय विषयों को अहकार के समक्ष प्रस्तुत करता है, और वह अन्त मे बुद्धि के द्वारा निश्चय करता है कि क्या करना है।"[1] जहा यह विश्लेषण विषयी (जीवात्मा) के पक्ष मे इन भिन्न-भिन्न तत्त्वो की प्रत्यभिज्ञा का स्पष्टीकरण करना है, वहा विश्वस्तर पर इन तत्त्वो के कार्य ठीक-ठीक क्या होंगे इसे समझने मे हमे इससे कुछ सहायता नही मिलती। विश्व-सम्बन्धी योजना का निर्माण मानवीय आत्मा के सादृश्य पर किया गया है; क्योंकि मनुष्य विश्व का एक सक्षिप्त रूप है, जिसमे एक छोटे पैमाने पर यथार्थसत्ता के सब घटक अवयवों को दोहराया गया है। क्रम मे आनेवाली जागरितावस्था तथा स्वप्नावस्था के अनुरूप हमे ससार की रचना तथा सहार को समझना चाहिए। सुषुप्ति अवस्था मे आत्मा विद्यमान है यद्यपि यह ससार का बोध नही प्राप्त करती। इसी प्रकार संसार के प्रलय मे आत्माए नष्ट नही होती, यद्यपि प्रकृति का प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त नही होता। जब कोई मनुष्य प्रगाढ निद्रा से उठता है और कहता है कि "मैं अच्छी तरह सोया, मुझे कुछ भी ज्ञान नही हुआ," तो यह 'कुछ नही' अनात्म अथवा अव्यक्त प्रकृति है जिसमे कुछ का भाव उत्पन्न होना है। प्रकृति की उस अवस्था को जब यह निष्क्रिय रहती है, जीवात्मा की सुषुप्ति अवस्था के सदृश समझना चाहिए। जब कोई उक्त अवस्था से उठता है तो पहले चैतन्य का भाव उदय होता है, उसके तुरन्त बाद अहं का भाव आता है, तथा इच्छा की बेचैनी आती है। इन्द्रिया तथा शब्द, स्पर्श आदि के पाच तत्त्व इसके बाद क्रिया करने लगते है। मूर्त तत्त्वो का ज्ञान मनुष्य को तभी होता है जब वह जागा हुआ होता है। जब आत्मा का मुकाबिला अनात्म के साथ होता है, तो चैतन्य अथवा बुद्धि शून्य आकाश मे पहली चमक है, जो उदय होती है। आत्मा को पता लगता है कि कुछ है। इसके पश्चात् इसे अनात्म के भेद से अपने व्यक्तित्व की चेतना होती है। इसको यह अनुभव होता है कि "मै पदार्थ को प्रत्यक्ष देखता हू।" तब हमे मालूम होता है कि प्रमेय (पदार्थ) एक मानसिक अवस्थाओ की शृखला है जो मन के द्वारा सश्लिष्ट हुई है और तत्त्वो से मिलकर बनी है।[2] साख्य की विकास की पूरी

१. तत्त्वकौमुदी, ३३।

२. सर आर० जी० भण्डारकर साख्य की विकास-सम्बन्धी प्रकल्पना का निम्नरूप से किया गया स्पष्टीकरण देते है। जो व्यक्ति अपनी चेतना मे हो रहे व्यापार को साक्षात् जानता है, वह कुछ ऐसी सवेदनाओं से अभिज्ञ होता है जिनका उत्पन्न करनेवाला वह नही है। वह इसलिए एक बाह्य प्रकृति की धारणा कर लेता है। इसकी यथार्थता चैतन्य की स्वतन्त्र क्रिया की मर्यादाओं से प्रमाणित होती है। "चैतन्य की अवस्था में जब 'मै' अपने-आपको परिमित अनुभव करता है, तो बुद्धि सबसे पूर्व 'मैं' की पुष्टि करती है और तब 'मैं से भिन्न' के साथ विरोध में आती है। 'मैं' की सीमाबद्धता से उसकी पहले की स्वतन्त्रता अथवा असीमता उपलक्षित होती है।" इस प्रकार हमारे समक्ष सीमित अहं, अनहं,

योजना व्यक्ति के मनोवैज्ञानिक अनुभव के आधार पर स्थित है। किन्तु मनोवैज्ञानिक से तत्त्व-विज्ञान-सम्बन्धी संक्रमण के मध्य में यह ऐतिहासिक तथ्य आ गया कि उपनिषदों मे आत्मचैतन्य-युक्त ब्रह्मा परमचैतन्य का सबसे प्रथम विकसित रूप बताया गया है। महत् के प्रकृति से प्रथम उत्पन्न होने का विचार कठ उपनिषद् मे दिए गए अव्यक्त से महान आत्मा के विकास के विचार से मिलता है।[1] महत् प्रकृति है, जो चैतन्य से प्रकाशित होता है। उपनिषदो मे हमे हिरण्यगर्भ अथवा ब्रह्मा का विचार मिलता है, जो विश्वात्मा है और जिसका उद्‌भव अशरीरी ब्रह्म से हुआ बताया गया है। एकमात्र उपाय, जिससे प्रकृति से महत् के उत्पन्न होने का विचार समझाया जा सकता है, वेदान्त की स्थिति को स्वीकार कर लेना ही है। विषय (प्रमेय) तथा विषयी (प्रमाता) से दूर सर्वोपरि ब्रह्म विद्यमान है। जैसे ही इसका विषय से सम्बन्ध होता है, यह विषयी बन जाता है, जिसके सामने एक विषय होता है।[2] जहा सर्वोपरि ब्रह्म का स्वरूप विशुद्ध चैतन्य है, वहा प्रकृति का चैतन्य-शून्यता है; और जब दोनो परस्पर मिलते है तो ये चेतन तथा जड का समागम है, अर्थात् विषय-विषयी है और यही महत् है। यहा तक कि असत् भी सम्भाव्य सत् है अथवा सभाव्य चैतन्य है। ज्योही विषयी अपने को विषय से विरोधी स्वभाव का पाता है, इसमे अहभाव का विचार विकसित होता है। पहले बुद्धि है और उसके पश्चात् अहभाव। अहभाव का विचार सृष्टिरचना के पूर्व आता है। "मैं अनेक हो जाऊगा, मैं प्रजनन करूगा।"[3] साख्य-प्रकल्पना की अस्पष्टता इस तथ्य के कारण है कि एक मनोवैज्ञानिक विवरण को एक तत्त्वज्ञान-सम्बन्धी कथन के साथ मिश्रित कर दिया गया है। मनोवैज्ञानिक सामग्री को प्रस्तुत करने की व्यवस्था आवश्यक नही है कि यथार्थ विकास की भी व्यवस्था हो जब तक कि विषयी परम-निरपेक्ष तथा सर्वोपरि नही है। साख्य अपनी पूर्वकल्पित धारणाओ के साथ उपनिषदो से लिए गए विचारो को मिला देता है, जो तात्त्विक रूप मे इसके लिए विजातीय है।

परिमितता और परम आत्मा आते हैं। सांख्य का अहंकार सीमित अहं से सम्बद्ध है। सूक्ष्म और मूर्त तत्त्व तथा उनकी अनुरूप इन्द्रियां, जिन्हें अहं से उत्पन्न बताया गया है, अनन्त के अनुरूप हैं। स्वतन्त्र, अनन्त, परम आत्मा, पुरुष है और उसकी सीमा अनन्त के बन्धन में है। लेकिन क्योंकि सर्वथा स्वतन्त्र पुरुष सीमाओं का उद्भवस्थान नहीं हो सकता, इसलिए सांख्य एक विशिष्ट कारण के अस्तित्व को स्वीकार करता है, जो स्वरूप में अनन्त है, और जिसकी सान्तता का कारण, अनन्त अहं के साथ उसका घनिष्ठ सम्बन्ध होने के कारण, अहं अज्ञान में अपने को मानता है। देखिए इण्डियन फिलासफिकल रिव्यू, २। पृष्ठ २०० से आगे।

१. ३ : ११।

२. तुलना कीजिए, बृहदारण्यक उपनिषद्, १ : ४, १, ईक्षा० (उसने चारों ओर देखा)। छान्दोग्य उपनिषद्, ६ : २, ३, तदैक्षत (उसे उसने देखा)। तुलना कीजिए भागवत : "जिसे वे चित्त अथवा मन के नाम से घोषित करते हैं, जो वासुदेव अर्थात् विष्णु कहलाता है, वह महत् से बना है।" यदाहुर्वासुदेवाख्यं चित्तं तन्महदात्मकम् (३ : २६, २१)। देखिए सांख्यप्रवचनभाष्य, ६ : ६६।

३. छान्दोग्य उपनिषद्, ६ : २, ३।

८

देश और काल

विश्व के विकास का प्रत्येक व्यापार क्रियाशीलता, परिवर्तन अथवा गति (परिस्पन्द) के लक्षण से युक्त होता है।[1] सब वस्तुएं वृद्धि तथा क्षय के अनन्त परिवर्तनों में से गुजरती हैं। क्षण-भर में समस्त विश्व परिवर्तन में से गुजर जाता है। व्यावहारिक जगत् में देश और काल परिमित प्रतीत होते है और आकाश से उत्पन्न हुए कहे जाते हैं, जबकि यह देश में सहास्तित्व वाली वस्तुओ तथा काल में गति करते हुए भौतिक पदार्थों से आबद्ध रहता है।

विज्ञानभिक्षु कहता है : "नित्य देश और काल, प्रकृति के रूप के है, अथवा आकाश के आदिकारण है, और प्रकृति के केवल विशिष्ट परिवर्तित रूप हैं। इस प्रकार देश और काल की सार्वभौमिकता सिद्ध हो जाती है।......किन्तु ये देश और काल, जो परिमित है, एक न एक उपाधि से युक्त होकर आकाश से उत्पन्न होते है।"[2] सीमावद्ध देश और काल स्वयं आकाश है, जो एक न एक उपाधि से विशिष्ट होते है, यद्यपि वे इसके कार्य कहे जाते है। देश और काल अपने-आपमें अमूर्तभावात्मक है। वे द्रव्य नही है, जैसाकि न्याय-वैशेषिक का विचार है, बल्कि प्रकृति के विकास की घटनाओं को बाधकर रखनेवाले संबंध है। घटनाओं की स्थिति देश और काल से सम्बद्ध है। हमें अनन्त देश तथा अनन्त काल का प्रत्यक्ष ज्ञान नही होता, और इसलिए उनकी रचना हमारे समझने पर है। प्रत्यक्ष के विषय उन पदार्थों से जो परस्पर आगे व पीछे के सम्बन्ध से रहते है, हम विकास के मार्ग के प्रदर्शनार्थ एक अनन्त काल की व्यवस्था की रचना करते है। व्यास कहते है : "जिस प्रकार परमाणु द्रव्य की न्यूनतम सीमा है, उसी प्रकार क्षण काल की न्यूनतम सीमा है,[3] अथवा एक गतिमान परमाणु को एक बिन्दु को छोड़ने तथा दूसरे बिन्दु तक पहुंचने में जो समय लगता है वही क्षण है। किन्तु इनका निरन्तर प्रवाह एक क्रम है। क्षण और उनके क्रम एक यथार्थ वस्तु के अन्दर नही सयुक्त हो सकते। इस प्रकार काल, इस विशेष प्रकृति का होने से, किसी यथार्थ वस्तु के साथ तुलना नहीं खाता, बल्कि यह मन से उत्पन्न है, और प्रत्यक्ष ज्ञान अथवा शब्दों का परिणाम है।"[4] किन्तु क्षण विषयनिष्ठ है और क्रम उसका आधार है।[5] क्रम का सार-तत्त्व है क्षणों की अबाधित शृङ्खला, जिसे विशेषज्ञ विद्वान् काल कहते हैं। दो

१. व्यक्तं सक्रियं परिस्पन्दवत्, 'तत्त्वकौमुदी', १०। और देखिए योगभाष्य, ३ : १३।

२. सांख्यप्रवचनभाष्य, २ : १२; २ : १०।

३. योगभाष्य, ३ : ५२।

४. स खल्वयं कालो वस्तुशून्योऽपि बुद्धिनिर्माणः शब्दज्ञानानुपाती (योगभाष्य)।

५. क्षणस्तु वस्तुपतितः क्रमावलम्बी।

क्षण एकसाथ नही हो सकते, क्योंकि यह असम्भव है कि दो ऐसी वस्तुओ का जो एकसाथ होती है, क्रम बन सके। जब अगला क्षण पहले क्षण के पीछे आता है तब क्रम बनता है। इस प्रकार वर्तमान काल मे एक ही क्षण होता है, आगे आनेवाला या पीछे का क्षण नही रहता। और इस प्रकार उनका एकत्रीकरण नही हो सकता। किन्तु उन क्षणों को जो भूतकाल मे विद्यमान थे या भविष्य मे होंगे, परिवर्तनो के अन्तर्गत समझना चाहिए। तदनुसार समस्त जगत् प्रत्येक क्षण मे परिवर्तन मे से गुजर जाता है।[1] इस प्रकार जगत् के ये समस्त बाह्य रूप इस वर्तमान क्षण के सापेक्ष है।[2]

यह जगत् न यथार्थ है और न अयथार्थ है। यह मनुष्यशृंग की भांति अयथार्थ नहीं है, और यथार्थ भी नही है क्योकि इसका विलोप हो जाता है।[3] तो भी इसे ऐसा न मानना चाहिए कि इसका वर्णन नही हो सकता, क्योकि ऐसी वस्तु की सत्ता नही हो सकती।[4] सांख्य उस मत का प्रत्याख्यान करता है जो यह मानता है कि यह जगत् उसका प्रतिबिम्ब है जिसका अस्तित्व नहीं है।[5] और न यह जगत् केवल विचार मात्र ही है।[6] यह जगत् प्रकृति के, अपने नित्यरूप मे विद्यमान रहता है और अपने अस्थायी परिवर्तित रूपो मे विलुप्त हो जाता है।[7] परिवर्तनो के अधीन होने के कारण इस जगत् की प्रतीयमान यथार्थसत्ता है।[8] विश्व-सम्बन्धी प्रक्रिया स्वभाव मे दो प्रकार की है, रचनात्मक तथा विनाशात्मक। मूल प्रकृति मे से भिन्न-भिन्न व्यवस्थाओ के व्यक्त होने का नाम रचना है और उनके विश्लिष्ट होकर मूल प्रकृति मे विलीन हो जाने का नाम विनाश है। प्रकृति की साम्यावस्था मे विक्षोभ होने के परिणामस्वरूप विश्व अपने भिन्न-भिन्न तत्त्वो के साथ विकसित होता है, और युग की समाप्ति पर पदार्थ विपरीत गति द्वारा विकास की अपनी पूर्वस्थिति मे लौट जाते है और अन्त मे प्रकृति मे विलीन हो जाते है। प्रकृति तब तक इसी दशा मे रहती है जब तक कि नये विश्व के विकसित होने का समय नही आता। विकास तथा पुनर्विलय का यह चक्र अनादि तथा अनन्त है। प्रकृति का यह नाटक कभी किसी जीवात्मा के मोक्ष लेने से समाप्त नही होता,[9] यद्यपि मुक्तात्माओ पर प्रकृति की क्रिया का कोई असर नही होता। यद्यपि प्रकृति एक ही है, और सब पुरुषों के लिए समान है, तो भी वह अनेक मार्गो मे अपने को व्यक्त करती है। बन्धन मे पडी हुई आत्माओ के लिए यह अपने को सूक्ष्मतम से लेकर स्थूलतम आकृतियो में विकसित करती है, और मुक्तात्माओ के लिए यह पश्चाद्गति से विलय

१. तेनैकेन क्षणेन कृत्स्नो लोकः परिणाममनुभवति।

२. इस प्रकार योगी प्रत्यक्ष रूप में क्षणों और उनके क्रम दोनों को देख सकते हैं (योगभाष्य, ३ : ५२)।

३. सांख्यप्रवचनसूत्र, ५ : ५२–५३। ४. सांख्यप्रवचनसूत्र, ५ : ५४।

५. सांख्यप्रवचनसूत्र, ५ : ५५। ६. सांख्यप्रवचनसूत्र, १ : ४२।

७. सदसत्ख्यातिर्बाधाबाधात् (सांख्यप्रवचनसूत्र, ५ : ५६)।

८. सांख्यप्रवचनभाष्य, १ : २६। ९. सांख्यप्रवचनसूत्र, ३ : ६६।

होते-होते अपनी मूल स्थिति मे पहुच जाती है। जिस समय तक दर्शक रहते है, प्रकृति का नाटक भी चलता रहता है। जब सब आत्माए मोक्षलाभ कर लेती हैं, तब नाटक समाप्त हो जाता है और नाटक के पात्र भी विश्राम प्राप्त कर लेते है।[1] लेकिन क्योकि ऐसी आत्माए बराबर रहेगी जो प्रकृति की उलझन मे से बच निकलने के लिए सघर्ष कर रही है इसलिए प्रकृति की क्रिया की निरन्तर रहनेवाली सगीतलहरी बराबर बनी रहेगी। ससार अपने लक्ष्य तक कभी नही पहुचेगा।[2] क्योकि विलय की दशा एक साधारण दशा है, इसलिए विकासकाल मे भी विलय की ओर जाने की प्रवृत्ति बराबर पाई जाती है। जब सब पुरुषो की इच्छाओ को ऐसी आवश्यकता होती है कि समस्त अनुभव कुछ समय के लिए रुक जाए, तो प्रकृति अपनी शान्त दशा मे लौट आती है। गुण इतनी सूक्ष्मता के साथ विरुद्ध है कि कोई भी सर्वप्रधान नही होने पाता। इस प्रकार वस्तुओ की तथा गुणो की कोई नई पीढी नही बनती। प्रलय की अवस्था तक भी पुरुषो के हित की सिद्धि के लिए है। प्रलय की अवस्था मे प्रकृति निष्क्रिय नही रहती, यद्यपि इसके परिवर्तन समाग होते हैं।

पुरुष

समस्त इन्द्रियधारी प्राणियो मे आत्मनिर्णय का एक तत्त्व विद्यमान है, जिसे सामान्यत: 'आत्मा' नाम दिया गया है। वस्तुत प्रत्येक प्राणी के अन्दर, जिसमे जीवन है, आत्मा विद्यमान है, और भिन्न-भिन्न आत्माए मौलिक रूप मे स्वरूप मे एकसमान है। भेद जो प्रतीत होते है वे भौतिक सस्थानो के कारण है, जो आत्मा के जीवन को मलिन और व्यर्थ करते है। उक्त मलिनता का नानाविध श्रेणीविभाग उन शरीरो के स्वभाव के कारण है जिनमे आत्माओ का निवास है। जिस तत्त्व से भौतिक सस्थानो का उद्भव हुआ, आत्माओ का उस तत्त्व से सम्बन्ध नही हो सकता। इस प्रकार साख्य सान्त जीवन की आकस्मिक घटनाओ से उन्मुक्त तथा काल और परिवर्तनो से ऊपर उठे हुए पुरुषो के अस्तित्व का प्रतिपादन करता है। इस विषय मे चेतनता की साक्षी है कि यद्यपि व्यक्ति एक अर्थ मे एक विशिष्ट तथा परिमित शक्ति वाला प्राणी है, जो मरणशीलता-सम्बन्धी समस्त आकस्मिक घटनाओ तथा परिवर्तनो के अधीन है, तो भी उसके अन्दर ऐसा कुछ अवश्य है जो उसे इन सबसे ऊपर उठाता है। वह न तो मन है, न जीवन है, न शरीर है, बल्कि मौन, शान्त सूचना देनेवाली (साक्षीरूप) एवं सभाले रखनेवाली आत्मा है, जो इन सबको धारण करती है। जब ससार के तथ्यो पर हम ज्ञानवाद-सम्बन्धी दृष्टिकोण से विचार करते है तो हमे एक ओर विषयी (प्रमाता) और दूसरी ओर विषय (प्रमेय) का वर्गीकरण मिलता है। किसी भी प्रमाता तथा

१. साख्यकारिका, ५८–५९; साख्यप्रवचनसूत्र, ३ : ६३।

२. योगसूत्र, २ : २२; साख्यप्रवचनभाष्य, २ : ४; साख्यप्रवचनभाष्य, १ : १५९; १ : ६७; ६ : ६८, ६९।

किसी भी प्रमेय के मध्य जो सम्बन्ध है वह बोध-विषयक अथवा; विस्तृत रूप में, अनुभव-विषयक है। ज्ञान प्राप्त करनेवाले को सांख्य पुरुष मानता है और ज्ञात विषय को प्रकृति।

पुरुष के अस्तित्व को सिद्ध करने के लिए सांख्य अनेक युक्तियां देता है[1]: (१) वस्तुओं का पुञ्ज किसी दूसरे के लिए होता है। गौडपाद कहता है कि जैसे एक शय्या, जो हिस्सों से मिलकर बनी है, उस मनुष्य के लिए है जो उसपर सोता है, इसी प्रकार 'यह संसार, जो पांच तत्त्वों का संग्रह है, अन्य के उपयोग के लिए है; एक आत्मा है, जिसके सुखोपभोग के लिए यह उपभोग्य शरीर, बुद्धि इत्यादि सहित, उत्पन्न किया गया है।" (२) समस्त जानने योग्य पदार्थों मे तीन गुण रहते है और इसमे उनके एक द्रष्टा आत्मा की, जो स्वयं गुणों से रहित है, पूर्वकल्पना होती है, (३) एक ऐसी अधिष्ठातृ शक्ति का, एक विशुद्ध चेतनता का होना आवश्यक है, जो समस्त अनुभवों का समन्वय करनेवाली हो। (४) क्योंकि प्रकृति बुद्धिशून्य है, इसलिए प्रकृति से उत्पन्न पदार्थों का अनुभव करनेवाला कोई अवश्य होना चाहिए। (५) कैवल्य (मोक्ष) के लिए पुरुषार्थ किया जाता है, जो इस विषय का उपलक्षण है कि पुरुष का अस्तित्व है, जो प्रकृति से विरुद्ध गुणों वाला है। जीवन की अवस्थाओ से छुटकारा पाने की उत्कट अभिलाषा का ही तात्पर्य है कि ऐसा कोई यथार्थसत्तावान् अवश्य है, जो छुटकारा दिला सकता है।

आत्मा अथवा विषयी रूप चैतन्य का स्वरूप क्या है? यह शरीर नही है। चैतन्य तत्त्वो से उत्पन्न पदार्थ नही है, क्योकि यह उनके अन्दर अलग-अलग विद्यमान नही है, इसलिए उन सबमे एकसाथ भी नही हो सकता।[2] यह इन्द्रियो से भिन्न है,[3] क्योंकि इन्द्रिया दर्शन के साधन हैं, किन्तु द्रष्टा नही है। इन्द्रिया बुद्धि मे परिवर्तन लाती हैं। पुरुष बुद्धि से भिन्न है, क्योकि बुद्धि अचेतन है। हमारे अनुभवो का एक इकाई मे सुसंघटित होना आत्मा की उपस्थिति के कारण है, जो भिन्न-भिन्न चेतन अवस्थाओ को एकत्र रखती है। विशुद्ध आत्मा ही आत्मा है, जो शरीर अथवा प्रकृति से भिन्न है।[4] यदि यह परिवर्तन के अधीन होती तो ज्ञान असम्भव हो जाता। क्योकि इसका स्वरूप चैतन्य है, इसलिए यह विकासात्मक शृंखला के पदार्थो को आत्मचेतनता मे लाने मे सहायक होती है। यह विचार तथा संवेदना के समस्त क्षेत्र को प्रकाशित करती है। यदि पुरुष परिवर्तित होता तो समय-समय पर असमर्थ हो सकता और इस विषय की कोई सुरक्षित गारण्टी न होती कि प्रकृति की सुख या दुःख रूपी अवस्थाओं का अनुभव होगा ही। पुरुष का सदा प्रकाशरूप स्वरूप परिवर्तित नही होता।[5] यह सुषुप्ति अवस्था मे उपस्थित रहता है[6] तथा जागरित और स्वप्न अवस्था मे भी उपस्थित रहता है,

१. सांख्यकारिका, १७; सांख्यप्रवचनसूत्र, १ : ६६; योगसूत्र, ४ : २४।
२. सांख्यप्रवचनसूत्र, ५ : १२६; ३ : २०-२१।
३. सांख्यप्रवचनसूत्र, २ : २९।
४. सांख्यप्रवचनसूत्र, ६ : १-२।
५. सांख्यप्रवचनभाष्य, १ : ७५; योगसूत्र, ४ : १८; सांख्यप्रवचनसूत्र, १ : १४६।
६. सांख्यप्रवचनसूत्र, १ : १४८।

जो सब बुद्धि के परिवर्तन हैं।[1] इस प्रकार पुरुष विद्यमान रहता है, यद्यपि यह न कारण है, न कार्य है।[2] यह वह प्रकाश है जिसके द्वारा हम देखते हैं कि प्रकृति नाम की एक वस्तु है। प्रमेय पदार्थों को प्रकाशित करने के लिए इसे अन्य किसी पदार्थ पर निर्भर करने की आवश्यकता नहीं, प्रकृति तथा उसके उत्पन्न पदार्थ स्वत: अभिव्यक्त नहीं होते, बल्कि वे व्यक्त होने के लिए पुरुष के प्रकाश पर निर्भर करते है। चैतन्य का भौतिक माध्यम तो है किन्तु भौतिक रूप मे व्याख्या नहीं होती। बुद्धि, मन इत्यादि साधन हैं; ये चैतन्य के अन्तिम लक्ष्य की व्याख्या नही कर सकते, क्योंकि ये उसकी दासता में हैं। पुरुष केवल चैतन्य है, आनन्द नहीं, क्योंकि सुख सत्त्वगुण के कारण होता है, जिसका सम्बन्ध प्रकृतिपक्ष से है। विषय-विषयी का द्वैतभाव सुखकारक तथा दु:खदायक दोनों प्रकार के अनुभवो मे विद्यमान रहता है। सुख और दु:ख का सम्बन्ध बुद्धि से है।[3] इसके अतिरिक्त, चैतन्य के साथ-साथ आनन्द का योग पुरुष के स्वरूप मे द्वैतभाव प्रविष्ट कर देगा।[4] यदि पुरुष के स्वरूप मे दु:ख को भी स्थान है तो मोक्ष सम्भव नही होगा। पुरुष गति के अयोग्य है, और मोक्ष प्राप्त करने पर यह कही नही जाता।[5] यह परिमित आकार का नही है, क्योंकि उस अवस्था में यह हिस्सों से मिलकर बना हुआ तथा विनश्वर भी हो जाएगा।[6] यह अणु के आकार का नही है क्योंकि तब इसे सारे शरीर की अवस्थाओं का बोध कैसे होता है—इसका समाधान करना कठिन होगा। यह किसी क्रिया में भाग नही लेता। सांख्य पुरुष को सब गुणों से रहित मानता है, क्योकि अन्यथा इसका मोक्ष सम्भव न होता। वस्तु का स्वरूप अविच्छेद्य है, और सुख तथा दु:ख आत्मा के नहीं हो सकते।

आत्माए अनेक हैं, क्योंकि अनुभव बतलाता है कि मनुष्यों मे सबको शारीरिक, नैतिक तथा बौद्धिक दृष्टि से भिन्न-भिन्न शक्तिया प्राप्त है। संसार मे चैतन्ययुक्त प्राणी अनेक है और उनमे से प्रत्येक, इसकी विषयीनिष्ठ तथा विषयनिष्ठ प्रक्रियाओं के अपने स्वतन्त्र अनुभव द्वारा, इसे अपनी ही विधि से समझता है। दृष्टिकोण में भेद प्रकृति के व्यापारों के कारण नहीं हो सकते और इसलिए यह युक्ति दी जाती है कि चैतन्यरूप द्रष्टा भिन्न-भिन्न है। इनकी भिन्न-भिन्न इन्द्रिया तथा कर्म है और ये पृथक्-पृथक् जन्म तथा मरण को प्राप्त होते है।[7] एक स्वर्ग को जाता है तो दूसरा नरक मे जाता है। साख्य चैतन्य की धाराओं की संख्या की दृष्टि से विशिष्टता पर तथा पृथक्-पृथक् धाराओं के व्यक्तिगत एकत्व पर बल देता है। हम व्यक्ति के अनुभवों के सुव्यवस्थित एकत्व का इसके अतिरिक्त कोई कारण नही बता सकते कि एक व्यक्तिरूप विषयी के अस्तित्व को मान लेना चाहिए। किन्तु भिन्न-भिन्न एकत्वो की विशिष्टता का कारण अवश्य ही आत्माओ के अनेकत्व को दर्शाता है। यदि आत्मा एक होती तो

१. सांख्यप्रवचनभाष्य, १ : १४८। २. सांख्यप्रवचनसूत्र, १ : ६१।
३. सांख्यप्रवचनसूत्र, ६ : ११। ४. ५ : ६६।
५. सांख्यप्रवचनसूत्र, १ : ४६। सांख्यकारिका, ३।
६. १ : ५०।
७. सांख्यप्रवचनसूत्र, ६ : ४५; १ : १४६ और १५०।

किसी एक के मुक्तिलाभ करने पर सब मुक्त हो जाती ।[1] यदि आत्मा स्वरूप मे प्रकृति के विपरीत है, जबकि प्रकृति एक ही है और सबके लिए एकसमान है, तो स्वतः परिणाम निकलता है कि आत्माए अनेक है। धर्मशास्त्रो के उन वाक्यो का अर्थ जो एकेश्वरवाद का समर्थन करते है, यह लगाया जाता है कि वे तात्त्विक गुणों का परस्पर अभेद प्रतिपादन करते है ।[2] वे तात्त्विक अभेद को उपलक्षित करते है, किन्तु अखण्डता को नहीं ।[3] मोक्ष एक परम निरपेक्ष आत्मा के साथ मिल जाना नही है, बल्कि प्रकृति से पृथक् (वियुक्त) हो जाना है । अनेक व्यक्तियो के अन्दर स्थित आत्माओ मे एक सामान्य गुण है कि वे प्रकृति के उत्पन्न पदार्थों की क्रियाओ की मूक दर्शक है, जिन के साथ वे अस्थायी रूप से सम्बद्ध है ।

साख्य का पुरुष-सम्बन्धी विचार उपनिषदो की आत्मा-सम्बन्धी धारणा द्वारा निर्धारित है ।[4] इसका न आदि है, न अन्त है, यह गुणो से रहित (निर्गुण) है, सूक्ष्म है, सर्वव्यापी है, एक नित्य द्रष्टा है, इन्द्रियातीत है, मन की पहुच से परे है, बुद्धि के क्षेत्र से परे है, काल, देश तथा कार्यकारण की शृखला से भी परे है, जो इस आनुभविक जगत् की विचित्रता का ताना-बाना बुनते है । यह अजन्मा है और कुछ उत्पन्न भी नही करता । इसकी नित्यता न केवल सर्वदा स्थायित्व मे है, बल्कि अखण्डता तथा पूर्णता मे भी है । यह चिद्रूप है, यद्यपि यह व्यावहारिक अर्थो मे सब वस्तुओ को नही जानता, क्योकि व्यावहारिक बोध केवल शारीरिक सीमाओ के द्वारा ही सम्भव है । जब आत्मा इन सीमाओ से मुक्त होती है तो इसे परिवर्तनो का कोई बोध नही होता, बल्कि तब यह अपने स्वरूप मे रहती है ।[5] पुरुष प्रकृति से सम्बद्ध नही है । यह केवल दर्शक है, अकेला, उदासीन, निष्क्रिय दर्शक है ।[6] पुरुष तथा प्रकृति के लक्षण स्वभाव से परस्पर प्रतिकूल हैं । प्रकृति अचेतन है, जबकि पुरुष सचेतन है । प्रकृति क्रियाशील और सदा सक्रमणशील है जबकि पुरुष अकर्ता है । पुरुष बिना किसी परिवर्तन के निरन्तर रहनेवाला है, जबकि प्रकृति परिवर्तनसहित निरन्तर रहनेवाली है । प्रकृति त्रिगुणात्मक है, जबकि पुरुष निर्गुण है । प्रकृति प्रमेय (विषय) है, जबकि पुरुष प्रमाता (विषयी) है ।

१ साख्यकारिका, १८ ।

२. साख्यप्रवचनसूत्र, १ : ६९ ; साख्यप्रवचनभाष्य, १ : १५४ ।

३. वैधर्म्यविरह, किन्तु अखण्डता नहीं ।

४. बृहदारण्यक उपनिषद, ४ : ३, १६ ; श्वेताश्वतर उपनिषद, ६ : ११ और १९ ; अमृतबिन्दु, ५ : १० ।

५. साख्यप्रवचनसूत्र, वृत्ति, ६ : ५९ ।

६. बृहदारण्यकोपनिषद, ४ : ३, १५ ।

७. साख्यकारिका, १९ । हरिभद्रकृत षड्दर्शनसमुच्चय, ४१ पर गुणरत्न से तुलना कीजिए—

अमूर्तश्चेतनो भोगी नित्य सर्वगतोऽक्रिय. ।
अकर्ता निर्गुणः सूक्ष्म आत्मा कापिलदर्शने ॥

१०

लौकिक जीवात्मा

जीव वह आत्मा है जिसे इन्द्रियो के सयोग तथा शरीर द्वारा सीमित होने से पृथक् रूप मे पहचाना जाता है ।[1] विज्ञानभिक्षु का कहना है कि अहकारसहित पुरुष जीव है, पुरुष अपने-आपमे जीव नही है ।[2] जबकि विशुद्ध आत्मा बुद्धि से परे रहती है, बुद्धि के अन्दर पुरुष का प्रतिबिम्ब अहभाव के रूप मे प्रतीत होता है, जो हमारी सब अवस्थाओ का, जिनमे सुख और दुख भी सम्मिलित है, बोध प्राप्त करनेवाला है । जब हम यह नही जानते कि आत्मा बुद्धि से परे है और लक्षण तथा ज्ञान मे इससे भिन्न है तब बुद्धि को ही आत्मा समझ लेते है । प्रत्येक बुद्धि, इन्द्रियो आदि को साथ लिए हुए, अपने पूर्वकर्मों के अनुकूल निर्मित एक पृथक् सस्थान है ।[4] और उसके साथ विशिष्ट-रूप से लगी हुई उसकी अपनी अविद्या रहती है । अहभाव उस सचेतन अनुभव की धारा का मनोवैज्ञानिक एकत्व है जिसमे एक लौकिक आत्मा का आभ्यन्तर जीवन बनता है । यह एकत्व शारीरिक है और सदा परिवर्तनशील है । किन्तु पुरुष परिवर्तनशील नही है, वह कालाबाधित होकर शारीरिक एकत्व के पूर्वकल्पित रूप मे उपस्थित है । पुरुष वह आत्मा है जो नित्य है और अपने-आपमे एक है, जबकि जीव प्राकृतिक जगत् का एक अश है । अहभाव सत्ताओ के जगत् मे उनके साथ की सत्ताए है तथा भौतिक पदार्थों से अधिक परम रूप मे यथार्थ नही है । अहभावो का हम अन्य सत्ताओ की भाति, यद्यपि उनसे भिन्न रूप मे, अनुभव कर सकते है । प्रत्येक अहभाव मूर्तरूप भौतिक शरीर के अन्दर, जो मृत्यु के समय विलीन होकर भग हो जाता है, एक ऐसा सूक्ष्म शरीर रखता है जो इन्द्रियो समेत मानसिक उपकरण से निर्मित है । यह सूक्ष्म शरीर पुनर्जन्म का आधार है[5] और नानाविध जन्मो मे व्यक्तिगत प्रत्यभिज्ञा का तत्त्व है । यह सूक्ष्म शरीर, जिसके अन्दर हमारे सब अनुभवो के सस्कार कायम रहते है लिगशरीर कहलाता है, अर्थात् यह पुरुष की पहचान करानेवाला चिह्न है । लिग विशिष्ट लौकिक लक्षण है, जिनके बिना भिन्न-भिन्न पुरुषो मे भेद नही किया जा सकता । प्रकृति से उत्पन्न पदार्थ होने के कारण उनमे तीनो गुण रहते है । लिग का विशिष्ट लक्षण गुणो के मिश्रण पर निर्भर करता है । प्रत्येक जीवन-इतिहास का अपना लिग है । जब तक लिंगशरीर उपस्थित है, शारीरिक जीवन तथा पुनर्जन्म भी रहेगे । अत्यन्त नीचे की पशुयोनि में तमोगुण प्रधान रहता है, क्योकि हम देखते है कि पशु के जीवन मे अज्ञान तथा मूर्खता विशिष्ट रूप से लक्षित होती है । उनमे स्मृति तथा कल्पना की क्षमता का विकास अपूर्ण रूप मे होता है, और इसलिए जो सुख या दुख पशु अनुभव करते है वह न तो चिर-स्थायी होता है और न तीव्र होता है । क्योकि सत्प्रकृति उनमे अत्यन्त न्यून है, इसलिए पशुओ का ज्ञान केवल वर्तमान कर्म का ही साधन होता है । जब रजोगुण अधिक

१. साख्यप्रवचनसूत्र, वृत्ति, ६ : ६३ ।
२. साख्यप्रवचनभाष्य, ६ : ६३ ।
३. योगसूत्र, २ : ६ ।
४. सांख्यप्रवचनभाष्य, २ : ४६ ।
५. सांख्यप्रवचनसूत्र, ३ : १६ ।

प्रधान होता है तो पुरुष मानवीय जगत् मे प्रवेश करता है। मनुष्य प्राणी बेचैन रहते है, और मुक्ति तथा दुःख से छुटकारा पाने के लिए प्रयत्नवान रहते है। जब सत्त्वगुण प्रधान होता है, तो रक्षापरक ज्ञान की प्राप्ति होती है तथा प्रकृति अह को और अधिक जीवन की आपदा से बाधकर नही रखती। मुक्तात्मा इस ससार के नाटक की एक उदासीन दर्शक होती है। मृत्यु होने पर पुरुष और प्रकृति के मध्य का बन्धन टूट जाता है, और मुक्तात्मा सर्वथा स्वतन्त्र हो जाती है। मोक्ष तथा बन्धन रूप परिवर्तनो का सम्बन्ध सूक्ष्म शरीर के साथ है, जो पुरुष के साथ सलग्न है। पुरुष सदा विशुद्ध चेतन है, यद्यपि जब तक सूक्ष्म शरीर रजोगुण तथा तमोगुण से आच्छन्न रहता है, यह अपने यथार्थ स्वरूप को भूला रहता है। सब लिंगशरीरो के अन्दर पुरुष एक ही प्रकार के है, और लिंगशरीर स्वय, जो उनके अन्दर भेद उत्पन्न करते है, प्रकृति के अन्दर हो रहे निरन्तर विकास से सम्बद्ध है। विकास की परिकल्पना मनुष्य को अन्य सब जीवधारियो, यथा पशु-जगत् और वनस्पति-जगत् के साथ रक्त-सम्बन्ध मे बाधती है।

लौकिक जीवात्मा स्वतन्त्र आत्मा तथा यन्त्रन्याम, पुरुष और प्रकृति, का सम्मिश्रण है। लिंगशरीर, जो प्रकृति का उत्पन्न पदार्थ है और अचेतन है, पुरुष व प्रकृति के परस्पर सयोग से सचेतन हो जाता है। यह सुख तथा दुःख, कर्म तथा कर्मफलो के अधीन है, और जन्म-जन्मान्तर के चक्र मे भ्रमण करता है। आत्मा अथवा पुरुष सासारिक कार्यव्यापारो के प्रति बिलकुल उदासीन रहता है। क्रियाशीलता का सम्बन्ध बुद्धि के साथ है, जो प्रकृति की उपज है। तो भी पुरुष के साथ इसके सयोग मे, उदासीन पुरुष कर्ता प्रतीत होता है। वास्तविक कर्तृत्व का सम्बन्ध अन्तःकरण से है, जिसे पुरुष मे प्रकाश प्राप्त होता है।[1] अचेतन अन्तःकरण अपने-आपसे कर्ता नही बन सकता, किन्तु इसमे चेतनता भरी जाती है। अन्तःकरण मे चेतनता का भरना, या इसका प्रकाशित होना इसका चेतनता के साथ एक विशिष्ट प्रकार का सयोग है, जो नित्य प्रकाशमान है। चेतनता अन्तःकरण मे प्रविष्ट नही होती बल्कि इसमे केवल प्रतिबिम्बित होती है। निःसन्देह, पुरुष का प्रकृति के साथ यह सयोग स्थायी नही है। पुरुष प्रकृति के साथ गठबन्धन इसलिए करता है कि इसपर प्रकृति का स्वरूप प्रकट हो जाए और यह प्रकृति के साहचर्य से छुटकारा पाकर मोक्ष प्राप्त कर सके। मानसिक तथा भौतिक दोनो ही प्रपञ्चो की पृष्ठभूमि मे प्रकृति है। इसके घटक एक अवस्था मे विषयी अथवा द्रष्टा के रूप मे व्यवहार करते है तथा दूसरी अवस्था मे पदार्थ अथवा दृष्ट के रूप मे व्यवहार करते हैं। दोनों विकास की भिन्न-भिन्न व्यवस्थाओ को प्रस्तुत करते है।[2] प्रकृति कर्म करती है और पुरुष कर्म के फलों का उपभोग करता है। सुख और दुःख प्रकृति की अवस्थाओ से सम्बन्ध रखते है और यह कहा जाता है कि पुरुष अपनी अज्ञानता के कारण उनको

१. साख्यप्रवचनसूत्र, १ : ९९।

२. तुलना कीजिए वाचस्पति : 'गुणानां द्वैरूप्य व्यवसेयात्मकत्व, व्यवसायात्मकत्व च। तत्र व्यवसेयात्मकता ग्राह्यतामास्थाय पञ्चतन्मात्राणि भूतभौतिकानि'''व्यवसायात्मकत्वं तु ग्रहणस्वरूपमास्थाय साहङ्काराणीन्द्रियाणि' (तत्त्ववैशारदी, २ : ४७)।

अनुभव करता है ।[1] चैतन्य का प्रकाश प्रकृति के कार्यों से उत्पन्न बताया जाता है; और पुरुष, निष्क्रियतापूर्वक प्रकृति के कार्यों का निरीक्षण करते हुए, अपने यथार्थ स्वरूप को भूल जाता है और भ्रम से समझने लगता है कि यही सोचता, अनुभव करता तथा कर्म करता है। यह अपने को जीवन के एक परिमित और विशिष्ट रूप, सजीव शरीर के साथ तादात्म्यरूप, मान लेता है, और इस प्रकार सत्यजीवन से अपने को वंचित कर लेता है। नित्यता की शान्ति को खोकर, यह काल की बेचैनी मे प्रविष्ट होता है। पुरुष गति नही करता, यद्यपि वह शरीर जिसके अन्दर यह प्रविष्ट है, एक स्थान से दूसरे स्थान तक गति करता है। पुरुष जो निष्क्रिय है, और सहमति अथवा निषेधात्मक आज्ञा देनेवाला माना जाता है, केवल मात्र उस गति का नाम है जो होनी प्रकृति में है। पुरुष यद्यपि कर्ता नही है तो भी प्रकृति के कर्तृत्व के साथ भ्रमवश कर्ता प्रतीत होता है, जिस प्रकार पुरुष के सान्निध्य से प्रकृति सचेतन प्रतीत होती है।[2] दुःख का अनुभव (साक्षात्कार) केवल प्रतिबिम्ब के रूप मे है, जोकि उपाधि की वृत्ति है।[3] वास्तविक बन्धन चित्त का है, जबकि पुरुष पर इसकी केवल छाया पडती है।

जीव का सकीर्ण तथा परिमित जीवन आत्मा अथवा पुरुष के तात्त्विक स्वरूप के कारण नही है। यह इसके अपने आदिम क्षेत्र से च्युत होने का परिणाम है। पुरुष के अनुभव का अर्थ केवलमात्र पदार्थों के प्रतिबिम्बो का ग्रहण है।[4] जब प्रकृति कर्म करती है तो उसके फलो का अनुभव पुरुष करता है, क्योंकि प्रकृति की क्रिया पुरुष के अनुभव के लिए है।[5] सही-सही अर्थो मे, यह अनुभव भी अभिमान (आत्मत्व के भाव) के कारण है, जो अविवेक से पैदा होता है।[6] जब सत्य का ज्ञान हो जाता है तो न सुख है और न दुःख है, कर्तृत्व भी नही तथा भोक्तृत्व भी नही।[7]

पुरुष तथा जीव के विषय मे साख्य द्वारा दिया गया विवरण, अनेक अंशों मे, अद्वैत वेदान्त के आत्मा तथा अहभाव के वर्णन के साथ मिलता है। अद्वैत वेदान्त के अनुसार, आत्मा कर्म से स्वतन्त्र है, शरीर तथा मन के बन्धनों से भी स्वतन्त्र है, जो हमे कर्म मे लिप्त करते है। आत्मा अपनी आकस्मिक घटनाओं के कारण कर्म करता हुआ प्रतीत होता है। निरुपाधिक आत्मा अथवा पुरुष को जीव माना जाता है, जबकि इसे व्यक्तित्व के सकीर्ण बन्धनो के साथ मिश्रित कर दिया जाता है। सही-सही अर्थो मे, अद्वैत मे व्यक्तित्व का सम्बन्ध सूक्ष्म शरीर से है और साख्य म लिगशरीर से। विज्ञानभिक्षु पारस्परिक प्रतिबिम्ब

१. तत्त्वकौमुदी, ५।

२. सांख्यकारिका, २० और २२; सांख्यप्रवचनसूत्र, १ : १६२–६३; योगसूत्र, २: १७; भगवद्गीता, ८ : २१; कठोपनिषद्, ३ : ४।

३. सांख्यप्रवचनभाष्य, १ : १७।

४. पुरुषस्य विषयभोगः प्रतिबिम्बादानमात्रम् (साख्यप्रवचनभाष्य, १ : १०४)।

५. साख्यप्रवचनसूत्र, १ : १०५।

६. सांख्यप्रवचनसूत्र, १ : १०६।

७. साख्यप्रवचनसूत्र, १ : १०७।

के विषय मे कहता है, जो किसी हद तक अद्वैत वेदान्त के प्रतिबिम्बवाद के वर्ग का है। अद्वैत वेदान्त का मत है कि आत्मा अन्त.करण मे प्रतिबिम्बित होती है। यह चिदाभास अथवा चित्त की प्रतीति ही जीवात्मा है।.

साख्य की प्रकल्पना, स्पष्ट रूप से, मोक्षप्राप्ति के लिए सघर्ष करती आत्मा के लौकिक विचार तथा अद्वैत वेदान्त के आत्मा-विषयक तात्त्विक विचार के मध्य एक प्रकार का समझौता है। अद्वैत वेदान्त के अनुसार, अनन्त तथा वासनाविहीन आत्मा बन्धन के अधीन नही हो सकती। इस प्रकार यह कहा गया है कि यद्यपि पुरुष अपने तात्त्विक रूप मे नित्य अपरिवर्तित रहता है, तो भी यह दुःख के प्रतिबिम्ब को, जो बराबर चलता है, अनुभव करता है। जैसेकि स्फटिकमणि मे से एक लाल फूल देखा जा सकता है, यद्यपि स्वय मणि लाल रग ग्रहण नही करती, इसी प्रकार आत्मा अपरिवर्तित रहती है, भले ही इसके दुःख अथवा सुख की भ्रांति चेतनता मे उपस्थित रहे। विज्ञानभिक्षु सूर्यपुराण से एक श्लोक इस आशय का उद्धृत करता है "जिस प्रकार एक विशुद्ध मणि के ऊपर रक्तवर्ण की सामग्री रखने से वह लोगो को लाल रग की दिखाई देती है, इसी प्रकार की अवस्था महान् पुरुष की है।"[1] शकराचार्य स्फटिक के बने गुलदस्ते की उपमा का प्रयोग करते है जो अपने अन्दर रखे हुए लाल फलो के कारण लाल रग का दिखाई देता है, यद्यपि यह अपने-आपमे सब प्रकार के रग से रहित है।[2] यदि पुरुष प्रभावित अथवा विक्षुब्ध प्रतीत होता है तो यह उस मन के कारण है जो कुछ समय के लिए इसका सहचारी है। यह साहचर्य आत्मा के ऊपर न तो अस्थायी और न कोई स्थायी प्रभाव ही छोडता है। क्योकि सम्पर्क यथार्थ नही है, इसलिए उसका कोई प्रभाव भी शेष नही रहता।

११

पुरुष और प्रकृति

साख्यदर्शन का सबसे अधिक क्लिष्ट अथवा भ्रामक विषय पुरुष और प्रकृति के सम्बन्ध की समस्या है। हम पहले देख आए है कि प्रकृति के विकास मे न केवल एक आकर्षक सौन्दर्य है, बल्कि यह अपने अन्दर एक ऐसी योजना को सजोए हुए है जो धार्मिक उद्देश्यो

१. यथा हि केवलो रक्तः स्फटिको लक्ष्यते जनैः।
रञ्जकाद्युपधानेन तद्वत्परमपूरुषः॥
(साख्यप्रवचनभाष्य, १ : १९)।

पुरुष जो निष्क्रिय रूप से उदासीन है, ऐसा प्रतीत होता है कि कर्ता है और ऐसा तीन गुणों के प्रभाव से होता है। तुलना कीजिए।

प्रकृतेः कार्यं नित्यैकं नित्यैका प्रकृतिर्जडा।
प्रकृतेस्त्रिगुणावेशादुदासीनोऽपि कर्तृवत्॥
(सर्वसिद्धान्तसारसंग्रह, ९ : १५)

२. आत्मबोध।

के अनुकूल है।[1] प्रकृति एक ऐसे जगत् के रूप में विकसित होती है जो विपत्ति तथा ध्वंस से परिपूर्ण है और जिसका प्रयोजन आत्मा को उसकी नींद से जगा देना है। इस जगत् का प्रकट-दुःखान्तरूप आत्मा के लिए आवश्यक बताया गया है, जो निष्क्रिय है, यद्यपि जो कुछ उसके सम्मुख आता है उस सबको वह देखती है। पुरुष की सेवा के उपयुक्त होना प्रकृति की क्रियाओं का लक्ष्य माना गया है,[2] यद्यपि प्रकृति को स्वयं इस लक्ष्य का ज्ञान नहीं है। सांख्य जादू के चमत्कार की मिथ्या कल्पना को तो वर्जित मानता है, किन्तु यह स्वीकार करता है कि जगत् के अन्तर्निहित एक उद्देश्यवाद अवश्य है। विश्व की महानता तथा इस जगत की अद्भुत व्यवस्था का कारण प्रकृति के क्रिया-कलाप के अन्दर देखने का विचार बहुत उत्कृष्ट है। यह क्रियाकलाप यन्त्रवत् होने पर भी ऐसे परिणामों को उत्पन्न करता है जो प्रबलरूप में संकेत करते हैं कि यह किसी अत्यन्त मेधावी द्वारा की गई विलक्षण गणना का परिणाम है। किन्तु सांख्य का मत इस विषय में स्पष्ट है कि प्रकृति का कार्यकलाप किसी सचेतन चिन्तन का परिणाम नहीं है।[3] सांख्य द्वारा प्रयुक्त दृष्टान्तों से हमारा कुछ अधिक सन्तोषजनक समाधान नहीं होता। बुद्धिहीन प्रकृति के विषय में कहा जाता है कि वह उसी प्रकार कार्य करती है जैसेकि बुद्धिविहीन वृक्ष फलों को उत्पन्न करते हैं,[4] अथवा जैसे गाय का दूध बछड़े के पोषण के लिए थनों से निकलता है। यन्त्र-रचना अपनी व्याख्या अपने-आप नहीं कर सकती, और न ही प्रकृति के उत्पन्न पदार्थों को निम्न श्रेणी की अवस्थाओं का यान्त्रिक परिणाम समझा जा सकता है। यदि प्रकृति स्वेच्छापूर्वक क्रियाशील होती, तो मोक्ष सम्भव ही न होता क्योंकि प्रकृति की क्रिया का विराम ही न होता। इसी प्रकार यदि यह स्वेच्छा से निष्क्रिय होती तो ऐहलौकिक जीवन का प्रवाह चलना तुरन्त बन्द हो जाता। सांख्य स्वीकार करता है कि प्रकृति की क्रियाशीलता इस विश्व की ओर संकेत करती है कि गति देनेवाला कोई है, जो स्वयं गतिमान नहीं है किन्तु गति को उत्पन्न करता है। प्रकृति का विकास इस विषय का उपलक्षण है कि कोई आत्मिक कर्ता है। किन्तु सांख्य द्वारा स्वीकृत आत्मिक केन्द्र प्रकृति पर कोई सीधा प्रभाव उत्पन्न करने में असमर्थ है। सांख्य का कहना है कि पुरुषों की केवल उपस्थिति-मात्र से प्रकृति को क्रियाशीलता तथा विकास के लिए प्रेरणा मिलती है। यद्यपि पुरुष में रचनात्मक शक्ति नहीं है, तो भी प्रकृति, जो अनेकरूप विश्व को उत्पन्न करती है, पुरुष के सम्पर्क के कारण ऐसा

१. सांख्यप्रवचनसूत्र, २ : १; ३ : ५८।

२. सांख्यकारिका, ५६। प्रकृति के सम्बन्ध में सांख्य का मत उससे भिन्न है जिसका हक्सले ने अपने रोमनेस लेक्चर में प्रचार किया है अथवा जिसका हार्डी की निम्नलिखित पंक्तियों में प्रतिपादन है—

"कोई विराट् जड़ता
बनाने व जोड़ने में शक्तिशाली
किन्तु देखभाल में सर्वथा अशक्त
आत्मचलित
हमारे दुःखों से अनभिज्ञ।"

३. सांख्यप्रवचनसूत्र, ३ : ६१।

४. सांख्यप्रवचनसूत्र, वृत्ति, २ : १।

करती है। प्रकृति स्वयं तो विचारशून्य है, किन्तु पुरुष से मार्गदर्शन पाकर वह अनेक प्रकार के जगत् का निर्माण करती है। प्रकृति और पुरुष के सयोग को समझाने के लिए एक अच्छी दृष्टि रखनेवाले किन्तु लगडे मनुष्य से जो अच्छे पैरों वाले किन्तु अधे मनुष्य के कन्धों पर सवार है, तुलना की जाती है।[1] असख्य आत्माओ का, जो प्रकृति की गति का ज्ञान प्राप्त करती है, सामूहिक प्रभाव ही प्रकृति के विकास का कारण है। गुणो की साम्यावस्था के अन्दर विक्षोभ, जिसके कारण विकास की प्रक्रिया प्रारम्भ होती है, प्रकृति पर पुरुष के प्रभाव से ही होता है।[2] पुरुषो की उपस्थिति शक्तियो के सतुलन मे, जो एक-दूसरे को नियन्त्रित रखता है, विक्षोभ उत्पन्न करती है। विकास की आरम्भिक प्रक्रिया में प्रकृति निष्क्रिय दशा मे रहती है, और असख्य पुरुष भी उसीके समान निश्चेष्ट रहते हैं, किन्तु वे प्रकृति पर एक यान्त्रिक शक्ति का प्रयोग करते है। यह प्रयोग प्रकृति की साम्यावस्था को उलट देता है और एक ऐसी गति को जन्म देता है जो पहले तो विकास का रूप धारण करती है और बाद मे ह्रास तथा विनाश मे परिणत हो जाती है। प्रकृति फिर अपनी निष्क्रिय अवस्था मे आती है और फिर पुरुषो द्वारा उत्तेजना प्राप्त करती है। यह प्रक्रिया तब तक निरन्तर चलती रहेगी जब तक कि सब आत्माए मोक्ष नही प्राप्त कर लेगी। इस प्रकार विश्व-सम्बन्धी प्रक्रिया का पहला और अन्तिम कारण पुरुष है। किन्तु पुरुष की कारणता केवल यन्त्रवत् है, जो अपनी इच्छा के कारण न होकर केवल सान्निध्य के कारण है। पुरुष ससार का सचालन एक इस प्रकार के कर्म से करता है जो गति नही है। जैसे लोह का आकर्षण चुम्बक

१. साख्यकारिका, २१। गौडपाद कहता है: "एक लगडे और एक अधे ने, जो अपने साथी यात्रियों से बिछुड गए थे, क्योंकि जंगल में से गुजरते हुए डाकुओं ने उन्हें तितर-बितर कर दिया था, आपस में मिलने पर वार्तालाप करके एक-दूसरे का विश्वास प्राप्त कर लिया। उनमें पैदल चलने तथा देखने के कार्यों का आपस मे बाट लेने का समझौता हो गया, जिसके अनुसार लगडा मनुष्य अधे के कंधे पर सवार हो गया और इस प्रकार उसने अपनी यात्रा पूरी की; और अधा मनुष्य भी अपने मार्ग पर बराबर चल सका क्योंकि उसे अपने साथी से दिशा का ज्ञान मिलता रहा। ठीक इसी प्रकार देखने की क्षमता आत्मा में है किन्तु गति की नहीं है, यह लंगडे मनुष्य की भांति है; प्रकृति में गतिविषयक क्षमता है किन्तु देखने की क्षमता नहीं, और इसलिए वह अधे मनुष्य के साथ समानता रखती है। आगे चलकर जैसे लगडा और अधा, जब उनका प्रयोजन सिद्ध हो जाता है और वे अपने गन्तव्य लक्ष्य पर पहुच जाते है, अलग-अलग हो जाते है, इसी प्रकार पुरुष को मोक्ष प्राप्त कराकर प्रकृति कार्य करना समाप्त कर देती है, और पुरुष भी प्रकृति का पूरा ज्ञान प्राप्त कर लेने पर मोक्ष को प्राप्त हो जाता है। और इस प्रकार उनके अपने-अपने प्रयोजन पूरे हो जाने पर उनका परस्पर सम्बन्ध टूट जाता है" (कारिका, पृष्ठ २१ पर भाष्य)।

२. किसी भी रचनात्मक विकासवादी दार्शनिक पद्धति को एक सघटनकारक सिद्धान्त, एक सजीव प्रवृत्ति अथवा गति की आवश्यकता होती है। एलेक्जैण्डर, जो दिक्काल के आधार में देश-काल को पाता है, काल को शक्तिदायक अवयव प्रतिपादन करता है। ह्वाइटहेड, 'साइंस इन एवोल्यूशन' की दूसरी आवृत्ति की अपनी भूमिका में, बलपूर्वक कहता है कि मन किसी न किसी रूप में समस्त विकास की प्रेरक शक्ति है। लायड मौरगान ने अपने 'इमर्जेण्ट इवोल्यूशन' नामक ग्रन्थ में इसका कारण ईश्वर को बताया है।

के प्रति होता है, उसी प्रकार का यह भी एक विशेष आकर्षण है।[1] सांख्य का पुरुष अरस्तू के ईश्वर से भिन्न नहीं है। यद्यपि अरस्तू ऐसा मानता है कि संसार के प्रारम्भ में गति देनेवाला एक सर्वातिशयी ईश्वर है, तो भी संसार के कार्यकलाप में उस ईश्वर का कोई भाग है, इसको वह नही मानता। ईश्वर, अरस्तू के मत में, एक ऐसी विचार-मग्न सत्ता है जो अपने अन्दर ही सीमित है, और इसलिए वह न तो विश्व के प्रति किसी प्रकार का कार्य कर सकती है और न उसकी ओर कुछ ध्यान ही दे सकती है। वह सर्वप्रथम गति देनेवाला ईश्वर, कहा जाता है कि, स्वय एक ऐसा उद्देश्य बनकर जिसकी प्राप्ति के लिए प्राणी मात्र पुरुषार्थ करते है, संसार को गति देता है, किन्तु संसार उसके कार्य से किसी भी रूप में निर्धारित नही होता। यदि वह सांसारिक व्यापारों की चिन्ता करने लगे तो उसके ईश्वरीय अस्तित्व की पूर्णता ही नष्ट हो जाएगी। इस प्रकार ईश्वर, जो विशुद्ध ज्ञानमय है और स्वय अचल है, केवल-मात्र अपने अस्तित्व से विश्व में गति का संचार करता है। आगे चलकर वस्तुओं का विकास उनके अपने-अपने स्वभाव के कारण होता है। किन्तु पुरुष को प्रकृति से बाह्य कहा गया है, और प्रकृति पर उसका प्रभाव यद्यपि वास्तविक है पर बुद्धिगम्य नहीं है। दोनों का पारस्परिक सम्बन्ध एक ऐसा रहस्य है जो हमे चारों ओर से घेरे हुए है, किन्तु हम इसके अन्दर घुमकर इसके रहस्य को जान नही सकते।[2] हम यह नही कह सकते कि प्रकृति पुरुषों के उद्देश्य के अनुसार कार्य करती है, क्योकि पुरुष अनादिकाल से स्वतन्त्र है और प्रकृति की क्रियाओं का सुखोपभोग करने के अयोग्य है। परिणाम यह निकलता है कि प्रकृति की क्रियाएं जीवो के उपयोग के निमित्त है, क्योंकि जीव ही पूर्ण अन्तर्दृष्टि न रखने के कारण अपने सूक्ष्म (लिंग) शरीरो के साथ तादात्म्य स्थापित करते है, कामनाए रखते है तथा भेद-परक ज्ञान की आवश्यकता रखते है। इस प्रकार प्रकृति प्राणियो को जन्म देती है, जो दुःख भोगने के लिए बाध्य है, जिससे कि उन्हे अवसर मिले कि वे छुटकारा पा

१. सांख्यकारिका, ५७; सांख्यप्रवचनसूत्र, १ : ६६।

२. तुलना कीजिए शाङ्करभाष्य, २ : २, ६। शङ्कराचार्य प्रकृति के क्रियाकलाप के प्रयोजन-सम्बन्धी प्रश्न का विवेचन करते हुए कि क्या यह आत्माओं का भोग है अथवा मोक्ष है, कहते हैं : "यदि कहो सुखोपभोग के लिए, तो उस आत्मा का सुखोपभोग से क्या वास्ता जो सुख अथवा दुःख को आत्मसात् करने मे असमर्थ है? इसके अतिरिक्त मोक्ष का भी कोई अवसर प्राप्त न होगा (क्योंकि निष्क्रिय आत्मा मोक्ष को अपना लक्ष्य नही बना सकती और प्रधान का लक्ष्य केवल यह है कि आत्मा नानाविध अनुभवों में से गुज़रे)। यदि उद्देश्य मोक्ष होता तो प्रधान की क्रिया निरभिप्राय होती, क्योंकि इसकी पूर्ववर्ती आत्मा मोक्ष की अवस्था में है। यदि सुखोपभोग और मोक्ष दोनों उद्देश्य हैं, तो प्रधान के अनेक पदार्थ ऐसे होनेके कारण जो आत्मा के सुखोपभोग के लिए हैं, अन्तिम मोक्ष का अवसर प्राप्त न होगा। और न ही इच्छा की पूर्ति प्रधान की क्रियाशीलता का प्रयोजन माना जा सकता है, क्योंकि न तो बुद्धिविहीन प्रधान और न तात्त्विक रूप से विशुद्ध आत्मा ही किसी इच्छा का अनुभव कर सकते हैं। अन्त में यदि तुम कल्पना करो कि प्रधान क्रियाशील है, क्योंकि अन्यथा दृष्टिशक्ति (जो बुद्धिमान् आत्मा के अन्दर है) और सृजनात्मक शक्ति (प्रधान की) प्रयोजनशून्य हो जाएगी, तो परिणाम यह निकलेगा कि क्योंकि दोनों का किसी समय भी अन्त न होगा, इसलिए प्रतीयमान जगत् का भी कभी अन्त न होगा, और इस प्रकार अन्तिम मोक्ष असम्भव है।"

सकें।[1]

यथार्थ पुरुष के सम्बन्ध एक यथार्थ संसार के साथ हैं, क्योंकि दोनों के मध्य एक कल्पित सम्बन्ध है। जब तक यह कल्पित सम्बन्ध विद्यमान रहता है प्रकृति भी उसके प्रति कार्य करती है। जब पुरुष सदा विकास तथा विलय को प्राप्त होनेवाले प्राकृतिक जगत् से अपने भेद को पहचान जाता है, तो प्रकृति उसके प्रति अपना व्यापार बन्द कर देती है।[2] प्रकृति के विकास का नैमित्तिक कारण केवल पुरुषो की उपस्थिति मात्र नही है क्योकि वे तो सदा ही उपस्थित रहते है, बल्कि उनका अपने तथा प्रकृति मे भेद न करना (अभेद) है।

प्रकृति के महदादि मे परिणत होने से पूर्व केवल अभेद ही रहता है। अदृष्ट, ऐसा धर्माधर्म जिसे हम देख नही सकते, उस समय तक उत्पन्न नही होता, क्योकि इसकी उत्पत्ति भी महत् से ही है और प्रकृति के प्रारम्भिक कर्म के पश्चात् ही यह प्रकट होता है। पूर्वसृष्टि का सचित अदृष्ट कुछ सहायक नही होता, क्योकि भिन्न-भिन्न व्यक्तियो का भिन्न-भिन्न अदृष्ट होता है, और सृष्टि के समय भिन्न-भिन्न अदृष्टो का विभाजन भिन्न-भिन्न व्यक्तियो मे हो नही पाता। अंतिम विश्लेषण मे, प्रकृति की क्रिया का कारण अभेद ही है, क्योंकि कर्म के साथ सम्बन्ध अभेद ही का कार्य है।[3] इस अभेद के कारण पुरुष तथा प्रकृति का अस्थायी सम्बन्ध स्थापित होता है। यह सम्बन्ध निश्चय ही यथार्थ नही होता, क्योकि सत्यज्ञान के उदय होने पर यह टूट जाता है।

प्रकृति ने किसी न किसी प्रकार से पुरुषो को अपने जाल मे फास लिया है। नित्य आत्माओ के प्रारम्भिक बन्धन के कारण की कोई व्याख्या सम्भव नही है, क्योकि आत्माए एक समय स्वतन्त्र थी और प्रकृति उन्हीके समान नित्य है। केवल यह तथ्य लक्षित होता है कि पुरुष प्रकृति के जाल मे बिना अपनी स्वीकृति के पकड़े जाते है। यह उस अभेद के कारण है जिसका कोई आदि नही है। यदि इसका आदि होता तो इससे पूर्व आत्माए मुक्त अवस्था मे होती और इसके पश्चात् बन्धन मे। इसका तात्पर्य होता है कि मुक्तात्माए, फिर बन्धन मे पडती।

हम नही कह सकते कि अविद्या का क्या कारण है। इस प्रकार इसे अनादि समझा जाता है, यद्यपि इसका अन्त है।[4] अविवेक को पुरुष तथा प्रकृति के संयोग का कारण कहा गया है।[5] अविवेक, जो कारण है, प्रलयकाल मे भी रहता है,

१. सांख्यप्रवचनसूत्र, वृत्ति, २ : १।
२. सांख्यकारिका, ६१; सांख्यप्रवचनसूत्र, ३ : ७०।
३. योगसूत्र, २ : २४।
४. सांख्यप्रवचनसूत्र, ३ : ६७।
५. देखिए सांख्यप्रवचनसूत्र, ६ : १२-१५।
६. सांख्यप्रवचनभाष्य, १ : १६ ; योगसूत्र, २ : २३-२४।

यद्यपि पुरुष तथा प्रकृति का संयोग नही रहता। यह संयोग यथार्थ परिणाम नहीं है, क्योंकि पुरुष के अन्दर कोई नये गुण उत्पन्न नही होते। पुरुष और प्रकृति के सम्बन्ध को कभी-कभी भोक्ता तथा भोग्य का सम्बन्ध बताया जाता है।[1]

१२

पुरुष और बुद्धि

प्रकृति से विकसित समस्त पदार्थों मे बुद्धि सबसे अधिक महत्त्व की है। इन्द्रियां अपने ज्ञेय विषयों को बुद्धि के आगे प्रस्तुत करती है, जो उन्हे पुरुष के प्रति प्रदर्शित करती है। यह बुद्धि ही है जो प्रकृति तथा पुरुष के भेद को बताती है और पुरुष के लिए समस्त अनुभव-योग्य सामग्री का उपभोग सम्पन्न करती है।[2] बुद्धि उस पुरुष के प्रतिबिम्ब मे, जो इसके निकट है, वस्तुत. उसीके रूप की बन जाती है और सब पदार्थों के अनुभव को सिद्ध करती है। बुद्धि यद्यपि प्रकृति से उत्पन्न पदार्थ है और इसलिए स्वरूप मे अचेतन है, तो भी ऐसी प्रतीत होती है मानो ज्ञानसम्पन्न हो।[3] पुरुष अपनी चेतनता का सक्रमण बुद्धि में नही करता। "अपनी सात्त्विक अवस्था मे प्रकृति के पारदर्शी होने के कारण उसके अन्दर प्रतिबिम्बित पुरुष प्रकृति के अहभाव तथा कर्तृत्व, (अभिमान) को भूल से अपना समझ लेता है। यह भ्रान्तिपूर्ण भाव आत्मा के अन्दर भी है, किन्तु वह प्रकृति के अन्दर प्रतिबिम्बित होने के कारण ही है। वह वस्तुत. आत्मा का निजी भाव नही है; जिस प्रकार न हिलता हुआ भी चन्द्रमा जल के अन्दर प्रतिबिम्बित होने के कारण जल की गति के साथ-साथ हिलता है।"[4] वाचस्पति का मत है कि पुरुष तथा बुद्धि की अवस्था में कोई संयोग नही हो सकता क्योकि वे दोनो यथार्थता की दो भिन्न-भिन्न व्यवस्थाओं से संबन्ध रखते है। और इसलिए यह कहा जाता है कि बुद्धि मे पुरुष का प्रतिबिम्ब है, जो बुद्धि को चेतनामय बनाता है। अहभाव बुद्धि तथा पुरुष का प्रतीत होने वाला एकत्व है। जब पुरुष देखता है तो उसके साथ ही बुद्धि मे भी परिवर्तन हो जाता है। जब बुद्धि में परिवर्तन होता है तो उसे पुरुष की झलक मिलती है। इस तरह पुरुष तथा प्रकृति का संयोग प्रतिबिम्बित पुरुष तथा बुद्धि के विशिष्ट परिवर्तन के एकत्व के साथ-साथ होता है। पुरुष तथा उससे सलग्न प्रकृति का सम्पर्क इस प्रकार का है कि जो भी मानसिक घटनाएं मन के अन्दर घटित होती है वे सब पुरुष के अनुभव समझी जाती है; यहां तक कि अभेद का सम्बन्ध भी बुद्धि के साथ है, और बन्धन में वह पुरुष मे प्रतिबिम्बित

१. सांख्यप्रवचनभाष्य, १ : १९। विज्ञानभिक्षु इस आधार पर प्रत्याख्यान करता है कि यदि सम्बन्ध नित्य है तो ज्ञान से इसका अन्त नही हो सकता, और यदि यह अनित्य है तो इसे भी संयोग कह सकते हैं।

२. सांख्यकारिका, ३७। सांख्यप्रवचनभाष्य, १ : १६१।

३. चेतनावद् इव (सांख्यकारिका, २०)। और देखिए सांख्यकारिका, ६०।

४. सांख्यप्रवचनसूत्र, वृत्ति, ६ : ५६।

होता है।[1]

पुरुष का उस बुद्धि के साथ जो इससे सलग्न है, तात्कालिक सम्बन्ध बतलाया गया है और अन्यो के साथ अप्रत्यक्ष सबन्ध बतलाया गया है। इस प्रकार विज्ञानभिक्षु का कहना है कि जहा एक ओर पुरुष बुद्धि का साक्षी है अर्थात् विना किसी मध्यस्थ के बुद्धि की अवस्थाओ का साक्ष्य रखता है, वहा यह अन्य सबका बुद्धि की सहायता से द्रष्टा है। पुरुष अपने-आपमे स्वतन्त्र तथा निरपेक्ष होते हुए भी जब बुद्धि के सम्पर्क मे आता है तो साक्षी बन जाता है।[2] यदि आत्मा तथा शरीर के सम्बन्ध को वास्तविक समझा जाए तो शरीर की त्रुटियो को भी आत्मा की त्रुटिया मानना होगा। इससे आत्मा की अनिवार्य निर्विकारता के साम्य के सिद्धान्त के अन्दर त्रुटि आ जाएगी। बुद्धि के विकारों का पुरुष के अन्दर प्रतिबिम्ब ही बन्धन है। इस प्रतिबिम्ब का हट जाना ही मोक्ष है, जोकि बुद्धि के पुन अपनी मौलिक पवित्रता प्राप्त कर लेने पर ही, अर्थात् बुद्धि के प्रकृति मे विलय हो जाने पर ही, सम्भव है। इस प्रकार का कथन कि प्रकृति की क्रिया पुरुष के ही हित के लिए है, केवल इस बात का आलकारिक रूप है कि यह बुद्धि की पवित्रता के लिए है। बुद्धि अपने-आपमे सात्त्विक है, किन्तु व्यक्ति-विशेष के अन्दर जाकर, पूर्वजन्म के प्रभावो के सम्पर्क के कारण यही राजस अथवा तामस बन जाती है। दुख तथा सुख का अनुभव जो हम प्राप्त होता है, वह बुद्धि तथा विषयरूप जगत की क्रिया-प्रतिक्रिया द्वारा होता है और पुरुष उसम केवल दर्शक मात्र है। बुद्धि के द्वारा केवल सुख की प्राप्ति होनी चाहिए किन्तु उपार्जित प्रभावो के कारण उसके दुखमय परिणाम होते हैं। यही कारण है कि एक ही वस्तु भिन्न-भिन्न व्यक्तियों पर भिन्न-भिन्न प्रकार का असर रखती है। प्रत्येक ज्ञेय पदार्थ को ध्यान बटाने वाले वैयक्तिक प्रयोजन के माध्यम से देखा जाता है। इस प्रकार जो वस्तु एक के लिए सुखदायी है, वह दूसरे के लिए दुखदायी है, या उसी व्यक्ति के लिए भिन्न समय मे दुखदायी प्रतीत होती है। हम साधारणत अपनी ही दुनिया मे रहते है, जहा हम अपनी विशेष आवश्यकताओ तथा प्रयोजनो का आवश्यक से अधिक मूल्याकन करते है, तथा अपनी अभिरुचियो को अस्वाभाविक महत्त्व देते है। हमारे साधारण जीवन हमारा स्वार्थमय इच्छाओ से बधे हुए है और ऐसे दुख को उत्पन्न करते है जो अनिश्चित सुख के एक अश के साथ मिश्रित होता है। यदि हम अपनी बुद्धि को शुद्ध कर ले तथा अपनी पिछली प्रवृत्तिया से विमुक्त हो सके, तो हम ऐसी स्थिति मे होगे कि वस्तुओ का निरीक्षण जिस रूप मे वे हमसे सम्बद्ध है उस रूप मे नही, बल्कि जिस रूप मे वे परस्पर सम्बद्ध है उस रूप मे, अर्थात् निरपेक्ष रूप में कर सके। जब बुद्धि मे सत्त्वगुण का प्राधान्य होता है तब इसके द्वारा सत्यज्ञान की प्राप्ति होती है, रजोगुण की प्रधानता मे इच्छा उत्पन्न होती है और तमोगुण की प्रधानता से मिथ्याज्ञान इत्यादि की प्राप्ति होती है।[3]

१. तुलना कीजिए साख्यप्रवचनभाष्य, १ : १९। "जन्म से तात्पर्य है एक व्यक्तिगत बुद्धि के साथ संयोग। उपाधिरूप बुद्धि के संयोग के कारण ही पुरुष में दुःख का संयोग होता है।"

२. सांख्यप्रवचनसूत्र, ६ : ५०।

३. सत्त्वं यथार्थज्ञानहेतुः, रजो रागहेतुस्तमो विपरीतज्ञानादिहेतुः।

१३

ज्ञान के उपकरण

समस्त ज्ञान में तीन घटक रहते है, अर्थात् ज्ञात विषय, ज्ञाता विषयी और ज्ञान की प्रक्रिया। साख्यदर्शन मे "विशुद्ध चेतनता 'प्रमाता' (जाननेवाला) है; रूपान्तर (वृत्ति) 'प्रमाण' है; परिवर्तनो का विषयो के रूप मे चेतनता के अन्दर प्रतिबिम्ब प्रमा है। ज्ञेय प्रतिबिम्बित वृत्तियो की विषयवस्तु है।"[1] अनुभव का सम्बन्ध पुरुष से है।[2] बुद्धि, अहंकार, मन और इन्द्रिया ये सब मिलकर उस उपकरण का निर्माण करते है जिसके द्वारा एक बाह्य विषय का ज्ञान प्रमाता (विषयी) को होता है। जब कोई पदार्थ इन्द्रियों को उत्तेजित करता है तो मन[3] इन्द्रियानुभवो को एक बोध के रूप मे व्यवस्थित करता है, अहकार इसे आत्मा को प्रेषित करता है, और बुद्धि उसे विचार के रूप मे परिणत कर देती है।[4] बुद्धि, सारे शरीर मे व्याप्त होने के कारण, पूर्वजन्मो के सस्कारों तथा वासनाओ को अपने अन्दर रखती है, जो अनुकूल अवस्थाए पाकर जागरित हो जाते है। "इन्द्रियों के मार्गों से पदार्थो के साथ सम्पर्क होने के कारण, अथवा आनुमानिक चिह्न इत्यादि के ज्ञान द्वारा बुद्धि का सबसे पूर्व रूपान्तर उस विषय के रूप मे होता है जिसका ज्ञान प्राप्त करना है। पदार्थ से रजित यह रूपान्तर पुरुष के सयोग के क्षेत्र मे एक प्रतिबिम्ब के रूप मे प्रविष्ट होता है और वहा प्रकाशित होता है, क्योकि पुरुष, जो अपरिवर्तनीय है, पदार्थ के रूप मे रूपान्तरित नही हो सकता।" यदि पदार्थ के ज्ञान का तात्पर्य पदार्थ के रूप के साथ तादात्म्य समझा जाए तो इस प्रकार का परिवर्तन पुरुष में सम्भव नही है। इसलिए बुद्धि को रूपान्तरित कहा जाता है। रूपान्तर को व्यक्त होने के लिए बुद्धि का चेतनता के अन्दर प्रतिबिम्बित होना आवश्यक है।[5] इस प्रतिबिम्ब का निर्णय बुद्धि के रूपान्तर द्वारा होता है। पुरुष के अन्दर प्रतिबिम्ब केवल तभी तक स्थिर रहता है जब तक कि जो प्रतिबिम्बित होता है वह उपस्थित रहता है। बुद्धि के रूपान्तर का पुरुष के अन्दर प्रतिबिम्ब रूपान्तर के पीछे नही, बल्कि साथ के साथ होता है। जब इन्द्रियो के मार्ग से बुद्धि बाह्य पदार्थ के सम्बन्ध मे आती है और उससे प्रभावित होती है तो यह उक्त पदार्थ का रूप धारण कर लेती है। चेतनाशक्ति

१. साख्यप्रवचनभाष्य, १ : ८७। २. साख्यप्रवचनसूत्र, १ : १४३।

३. मन को अनेक कारणों से ग्यारहवीं इन्द्रिय माना गया है। यदि नित्य पुरुष का सुख तथा दुःख देनेवाले पदार्थों के साथ अपना खुद का सम्बन्ध होता तो मोक्ष न हो सकता। यदि पदार्थों के साथ सम्बन्ध प्रकृति पर निर्भरता के कारण होता तब भी मोक्ष न होता, क्योकि प्रकृति नित्य है। यदि अनित्य पदार्थ, घड़े आदि पुरुष की नित्य प्रज्ञा के साथ सम्बद्ध होते तो दृष्ट और अदृष्ट के बीच कोई भेद न होता, क्योंकि सब विद्यमान वस्तुएं आवश्यक रूप में एक ही क्षण मे दिखाई दे जाती। और यदि पदार्थों का सम्बन्ध प्रज्ञा के साथ केवल बाह्य इन्द्रियो पर निर्भर करता तो हम अपने प्रत्यक्ष ज्ञानों के अयुगपत् होने का कोई कारण न बता सकते।

४. तत्त्वकौमुदी, ३६। सांख्य की ज्ञानविषयक प्रकल्पना की समीक्षा के लिए देखिए न्यायवार्तिक और न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका, ३ : २, ८–६।

५. सांख्यप्रवचनभाष्य, १ : ६६।

इस प्रकार रूपान्तरित बुद्धि में प्रतिबिम्बित होकर बुद्धि के रूपान्तर का अनुकरण करती है, और यह अनुकरण (तद्वृत्त्यनुकार) ही ज्ञान (उपलब्धि) कहलाता है। पुरुष का प्रतिबिम्ब वास्तविक समागम नहीं है, बल्कि केवल प्रतीतिरूप है, और यह पुरुष तथा बुद्धि के भेद को न जानने के कारण है। बुद्धि के अन्दर प्रतिबिम्बित पुरुष का पदार्थ के साथ जो सम्बन्ध है उसे ही ज्ञान कहते है। और इस ज्ञान के साथ पुरुष का जो सम्बन्ध है वह परिणामस्वरूप इस प्रकार के निर्धारण मे कि 'मैं करता हूं' देखा जाता है,[1] जबकि वस्तुतः यह 'मैं' अर्थात् पुरुष कार्य नही कर सकता, और जो कार्य करती है अर्थात् बुद्धि वह सोच नही सकती।[2]

बुद्धि की कोई भी गति चेतनापूर्ण ज्ञान नही हो सकती जब तक कि यह किसी पुरुष का ध्यान आकृष्ट न करे। इस मत के अनुसार, बुद्धि मन और इन्द्रिया ये सब अचेतन है।[3]

> भिन्न-भिन्न व्यापारो का कार्य क्रमबद्ध है। यद्यपि कुछेक व्यापारो में यह क्रम इतनी शीघ्रता के साथ सम्पन्न होता है कि ध्यान मे भी नही आ सकता। जब कोई मनुष्य अंधेरी रात मे एक व्याघ्र को देखता है तो उसकी इन्द्रियों में उत्तेजना पैदा होती है, मन चिन्तन करता है, अहकार पहचान करता है और बुद्धि पदार्थ के स्वरूप का निर्णय करती है और उसके बाद वह व्यक्ति अपने प्रिय जीवन की रक्षा के लिए वहा से भागता है। इस घटना मे भिन्न-भिन्न व्यापार इतनी शीघ्रता के साथ सम्पन्न हो जाते है कि वे सब एकसाथ ही होते जान पडते है। इसी प्रकार जब कोई मनुष्य किसी पदार्थ को मन्द प्रकाश मे देखता है, उसे सन्देहपूर्वक चोर समझने लगता है और शनै-शनै अपने मन मे निश्चय करके विपरीत दिशा मे चला जाता है। इस घटना मे भिन्न स्थितिया

१. बुद्धावारोपितचैतन्यस्य विपर्ययेण सम्बन्धो ज्ञानम्, ज्ञानेन सम्बन्धश्चेतनोऽहं करोमीत्युपलब्धिः (उदयनकृत कुसुमाञ्जलि, १ : १४ पर हरिदास भट्टाचार्य)।

२. जहा वाचस्पति का यह विचार है कि आत्मा पदार्थ का ज्ञान उस मानसिक परिवर्तन के द्वारा करता है जिसपर यह अपना प्रतिबिम्ब डालता है, वहा विज्ञानभिक्षु का मत है कि मानसिक परिवर्तन, जो आत्मा के प्रतिबिम्ब का ग्रहण करता है और उसका रूप प्राप्त करता है, आत्मा पर फिर से प्रतिबिम्बित होता है और यह इसी प्रतिबिम्ब के कारण सम्भव होता है कि आत्मा पदार्थ को जानती है। योगवार्तिक, १ : ४। तत्त्ववैशारदी, पृष्ठ १३।

३. किन्तु सांख्य की प्रकल्पना के अनुसार, बुद्धि, अहंकार आदि तब तक उत्पन्न नहीं हो सकते जब तक कि प्रकृति पर पुरुष का व्यापक प्रभाव न हो। इसलिए हमारे लिए ऐसा सोचना अनावश्यक है कि बुद्धि केवल अचेतन है। बुद्धि का विकास स्वयं पुरुष के प्रभाव मे है। बुद्धि और अहंकार आदि को हमें पुरुष के प्रयोजन के लिए बने पहले से तैयार ऐसे साधन मानने की आवश्यकता नहीं है जो तब तक अचेतन और निष्क्रिय रहते हैं जब तक कि पुरुष उनके अन्दर से दूरवीक्षण यंत्र में जैसे देखा जाता है उस तरह न देखे, क्योंकि यह सांख्य के इस मुख्य सिद्धान्त की उपेक्षा करना होगा कि प्रकृति बुद्धि इत्यादि को तब तक उत्पन्न नहीं कर सकती जब तक कि पुरुष प्रकृति की साम्यावस्था में क्षोभ उत्पन्न नहीं करता।

पृथक्-पृथक् ध्यान में आ जाती है।[1]

प्रत्यक्ष और विचार, इच्छा और चुनाव के मानसिक व्यापार, वस्तुतः, प्रकृतिजन्य पदार्थों की यान्त्रिक प्रक्रियाएं है, जिनसे आभ्यन्तर इन्द्रियो का निर्माण हुआ है।[2] यदि पुरुष इन्हें प्रकाशित न करे अर्थात् इन्हे चैतन्य प्रदान न करे, तो ये अचेतन रहेंगी। पुरुष का यह एकमात्र कार्य है, क्योंकि क्रियाशीलता जितनी भी है प्रकृति से सम्बन्ध रखती है। पुरुष एक प्रकार का निष्क्रिय दर्पण है, जिसके अन्दर आभ्यन्तर इन्द्रिय प्रतिबिम्बित होती है। विशुद्ध रूप मे अभौतिक आत्मा आभ्यन्तर इन्द्रिय की प्रक्रियाओ को अपनी चेतनता से आप्लावित कर देता है और इस प्रकार वे अचेतन नही रहती। सांख्य बुद्धि के साथ पुरुष के केवल सान्निध्य ही को नही मानता, बल्कि बुद्धि मे पुरुष के प्रतिबिम्ब की भी कल्पना करता है। दर्पण मे प्रतिबिम्बित चेहरे को देखने के साथ-साथ हम चैतन्यरूप घटना का भी ज्ञान प्राप्त करते है। केवल इसी प्रकार चेतनता अपने को पहचान सकती है।[3]

अभौतिक पुरुष तथा भौतिक प्रकृति के मध्य जो सम्बन्ध है उसे समझना कठिन है। वाचस्पति के अनुसार, देश और काल के स्तर पर इन दोनो मे कोई सम्पर्क नही हो सकता। इसलिए वह सन्निधि का अर्थ 'योग्यता' लगाता है। पुरुष यद्यपि बुद्धि की अवस्थाओ से पृथक् रहता है, परन्तु भ्रातिवश अपने को बुद्धि के साथ एकात्म समझने लगता है और उसकी अवस्थाओ को अपनी ही अवस्थाएं मानने लगता है। इसके विरोध मे विज्ञानभिक्षु का कहना है कि यदि इस प्रकार की विशिष्ट योग्यता को स्वीकार किया जाए तो कोई कारण प्रतीत नहीं होता कि क्यों पुरुष इस योग्यता को मोक्ष की अवस्था मे खो बैठता है। दूसरे शब्दो मे, मोक्ष सम्भव ही न हो सकेगा क्योंकि पुरुष सदा ही बुद्धि की अवस्थाओ का अनुभव करता रहेगा। इस प्रकार उसके मत से ज्ञान की प्रत्येक घटना मे बुद्धि के रूपान्तरो के साथ पुरुष का यथार्थ सम्पर्क होता है। और इस प्रकार के सम्पर्क से यह आवश्यक नही है कि पुरुष के अन्दर भी किसी प्रकार का परिवर्तन हो, क्योकि परिवर्तन का तात्पर्य नये गुणो का उदय होना है। बुद्धि के अन्दर परिवर्तन होते है, और जब ये परिवर्तन पुरुष के अन्दर प्रतिबिम्बित होते है तो पुरुष के अन्दर द्रष्टा होने का भाव उत्पन्न होता है। और जब पुरुष बुद्धि के अन्दर प्रतिबिम्बित होता है तो बुद्धि की अवस्था एक चैतन्यमयी घटना प्रतीत होती है। किन्तु विज्ञानभिक्षु भी इतना तो मान लेता है कि पुरुष तथा बुद्धि के मध्य जो सम्बन्ध है वह ठीक उस प्रकार का है जैसाकि स्फटिकमणि का अपने अन्दर प्रतिबिम्बित गुलाब के फूल

१. सांख्यकारिका, ३० ; तत्त्वकौमुदी, ३०।

२. बुद्धि, अहंकार और मन इन तीनों आभ्यन्तर इन्द्रियों को प्रायः एक ही समझा जाता है, क्योंकि इन सबका परस्पर निकट-सम्बन्ध है। तुलना कीजिए गार्बे : "यह प्रत्युत भौतिक आभ्यन्तर इन्द्रिय अपने अनात्मस्वरूप में तथा अपने उन समस्त व्यापारों में जिन्हें सांख्य इसीका बतलाता है, स्नायुजाल (वात-संस्थान) के अनुरूप है" (ई०, आर० ई०, खण्ड २, पृष्ठ १९१)।

३. 'चिच्छायापत्ति' अथवा चेतनता की छाया का पतन (सर्वदर्शनसंग्रह, १५)।

से है। उक्त घटना में वास्तविक सङ्क्रामण (उपराग) नहीं होता, बल्कि इस प्रकार के सङ्क्रामण की केवलमात्र कल्पना (अभिमान) होती है।[1]

पुरुष यद्यपि असंख्य तथा सार्वभौम है और चैतन्य के रूप है, फिर भी वे सब वस्तुओ को सब काल मे प्रकाशित नही करते, क्योकि वे असग (सगदोष से मुक्त) है और स्वय प्रमेय पदार्थो के रूप मे परिवर्तित नही हो सकते। पुरुष अपनी-अपनी बुद्धियों के रूपान्तरो को प्रतिबिम्बित करते है, औरो के नही। वह पदार्थ जिससे बुद्धि प्रभावित हुई है जाना जाता है; किन्तु वह पदार्थ जिससे यह प्रभावित नही हुई, अज्ञात रहता है।[2]

जागरण स्वप्न, निद्रा और मृत्यु—इन विभिन्न अवस्थाओ मे भेद किया गया है। जागरित अवस्था मे बुद्धि इन्द्रियो के मार्ग से पदार्थों के रूप मे रूपान्तरित होती है। स्वप्न की अवस्था मे बुद्धि के रूपान्तर सस्कारो अथवा पूर्वानुभवो के प्रभावो का परिणाम होते है। स्वप्नरहित निद्रा दो प्रकार की है और यह लय के पूर्ण अथवा आशिक रूप के अनुसार होती है। आशिक लय की अवस्था मे बुद्धि पदार्थों के रूप मे रूपान्तरित नही होती यद्यपि यह सुख, दुःख तथा आलस्य के रूपो को, जो इसके अन्तर्गत रहते है, धारण कर लेती है। यही कारण है कि जब कोई व्यक्ति नीद मे उठता है तो उसे जिस प्रकार की नीद आई हो उसकी स्मृति रहती है। मृत्यु मे पूर्ण लय की अवस्था रहती है।[3]

१४

ज्ञान के स्रोत

ज्ञानविषयक चेतनता पाच प्रकार की है प्रमाण अथवा यथार्थज्ञान, विपर्यय अथवा अयथार्थज्ञान, जिसका आधार ऐसा रूप होता है जो प्रमेय पदार्थ का नही है,[4] विकल्प, अर्थात् ऐसी ज्ञानपरक चेतनता जो प्रचलित शब्दो मे तो प्रकट की जाए किन्तु जिसका आधार कोई वस्तु न हो,[5] निद्रा अर्थात् ऐसा ज्ञान जिसका आधार तमोगुण हो;[6] और स्मृति।

साख्य तीन प्रमाणो को स्वीकार करता है, अर्थात प्रत्यक्ष, अनुमान तथा शाब्द-प्रमाण को।[7] इन्द्रियो की क्रियाशीलता से जो ज्ञान उत्पन्न होता है वह प्रत्यक्ष है। जब कोई पदार्थ, जैसेकि एक घडा, दृष्टिपथ मे आ जाता है तो बुद्धि मे इस प्रकार का एक परिवर्तन होता है कि वह घडे का रूप धारण कर लेती है[8] और आत्मा घडे के अस्तित्व

१. साख्यप्रवचनभाष्य, ६ : २८ ; योगसूत्र, १ : ४, ७। और देखिए योगभाष्य, २ : २० ; ४ : २२।

२. सर्वदर्शनसंग्रह, १५।

३. साख्यप्रवचनभाष्य, १ : १४८।

४. योगसूत्र, १ : ८।

५. योगसूत्र, १ : ९।

६. योगसूत्र, १ : १०।

७. साख्यकारिका, ४।

८. तदाकारोल्लेखी।

से अभिज्ञ हो जाती है।[1] प्रत्यक्ष के दो प्रकार माने है, अर्थात् निर्विकल्प और सविकल्प। वाचस्पति के अनुसार, बुद्धि इन्द्रियों के द्वारा बाह्य पदार्थों के स्पर्श मे आती है। उक्त सम्पर्क के प्रथम क्षण मे एक अनिश्चयात्मक चेतनता होती है जिसमे कि प्रमेय विषय के विशेष लक्षण नही दिखाई देते और हमे निर्विकल्प प्रत्यक्ष होता है। दूसरे क्षण मे, मानसिक विश्लेषण (विकल्प) तथा संश्लेषण (सकल्प) को प्रयोग मे लाने से प्रमेय विषय एक निश्चित स्वरूप मे दिखाई देता है,[2] और हमे सविकल्प प्रत्यक्ष होता है। जहा वाचस्पति का यह विचार है कि प्रत्यक्षज्ञान मे मन की क्रियाशीलता का होना आवश्यक है, वहा विज्ञानभिक्षु इसे अस्वीकार करता है और कहता है कि बुद्धि इन्द्रियों द्वारा सीधे प्रमेय पदार्थों के स्पर्श मे आती है। वाचस्पति के अनुसार, मन का कार्य यह है कि इन्द्रिय सामग्री की व्यवस्था करे और उसे सविकल्प प्रत्यक्ष का रूप दे। किन्तु विज्ञानभिक्षु का विचार है कि वस्तुओ के सविकल्प स्वरूप का ज्ञान सीधे इन्द्रियों द्वारा होता है और मन केवल इच्छा, संशय तथा कल्पना की क्षमता है। सांख्य योगी पुरुषो के प्रत्यक्ष को मानता है, क्योंकि उसके मत मे सब वस्तुए सब कालो मे विकसित अथवा अविकसित (लीन) दशा मे विद्यमान रहती है। योगी पुरुष का मन, समाधि द्वारा प्राप्त की गई शक्तियो से भूत तथा भविष्य के प्रमेय पदार्थों के सम्बन्ध मे आ सकता है, क्योंकि वे पदार्थ वर्तमान मे भी अन्तर्लीन अवस्था मे विद्यमान रहते है। मन की सिद्धियो से प्राप्त किया गया योगी का प्रत्यक्षज्ञान साधारण इन्द्रियजन्य प्रत्यक्षज्ञान जैसा नही है। स्मृति मे ज्ञान, मन अहंभाव और बुद्धि ही केवल क्रियाशील रहते है, यद्यपि उनकी क्रियाशीलता पूर्वकाल के प्रत्यक्ष ज्ञानो के परिणामो की कल्पना पहले से कर लेती है, अर्थात् जो स्मृति मे बनी हुई प्रतिकृति है। प्रत्यक्षज्ञान की बाह्य इन्द्रिया केवल ऐसे ही पदार्थों पर अपना कार्य कर सकती है जो उनके समक्ष प्रस्तुत किए गए हो, किन्तु मन भूत और भविष्य को भी समझ सकता है। आभ्यन्तर प्रत्यक्षज्ञान की अवस्था मे इन्द्रियों के सहयोग का अभाव रहता है। सुख एवं तत्समान अवस्थाओ का ज्ञान बुद्धि को होता है।[4]

> यदि पुरुष भी जाना जा सकता है तो इसलिए क्योंकि वह बुद्धि के अन्दर प्रतिबिम्बित होता है। आख अपने को केवल उसी अवस्था मे देख सकती है जबकि दर्पण मे उसका प्रतिबिम्ब पड़ता हो, अन्यथा नही। सब बोध आभ्यन्तर इन्द्रिय के रूपान्तर है। एक प्राथमिक बोध, जैसेकि 'यह घड़ा है', उस इन्द्रिय का रूपान्तर है। जब इसका प्रतिबिम्ब पुरुष पर पड़ता है तो इसका ग्रहण (ज्ञान)

१. सांख्यप्रवचनसूत्र, १ : ८९।

२. तुलना कीजिए व्यास : सामान्यविशेषसमुदायो [illegible] (योगभाष्य, [illegible])।

३. सांख्यप्रवचनभाष्य, १ : ८९।

४. "स्वप्नविहीन निद्रा मे, जबकि पदार्थों के साथ कोई सम्पर्क नही रहता, जो सात्त्विक सुख के रूप में व्यक्त होता है और जिसे हम शान्तिसुख के नाम से पुकारते है, वही बुद्धि का गुण अर्थात् आत्मसुख है" (सांख्यप्रवचनभाष्य, १ : ६५)।

होता है। इस प्रकार का ज्ञान कि 'मैं घड़े को देखता हूं', आभ्यन्तर इन्द्रिय का रूपान्तर है। पुरुष, आभ्यन्तर इन्द्रिय के रूपान्तर के प्रतिबिम्ब, अर्थात् 'यह एक घड़ा है' समेत आभ्यन्तर इन्द्रिय मे प्रतिबिम्बित होता है। यह दूसरा प्रतिबिम्ब आभ्यन्तर इन्द्रिय का रूपान्तर है, इस प्रकार का ज्ञान तक कि 'मैं प्रकृति से भिन्न हू' आभ्यन्तर इन्द्रिय का रूपान्तर है।[1] प्रस्तुत पदार्थों के अनुकूल बुद्धि मे भी परिवर्तन आता है।

अहं की भावना, जिसका सम्बन्ध हमारी समस्त मानसिक घटनाओं से है और जो उन्हे प्रकाशित करती है, बुद्धि मे आत्मा के प्रतिबिम्ब के कारण है। इस प्रकार जिसका प्रत्यक्ष बुद्धि ने किया था उसीका प्रत्यक्ष आत्मा फिर से करता है, और अपना प्रकाश अहं के रूप मे देकर बुद्धि को चेतनता प्रदान करता है। पुरुष अपने को बुद्धि मे पड़े अपने प्रतिबिम्ब के द्वारा ही जान सकता है, क्योंकि उसी अवस्था मे यह प्रमेय पदार्थ का रूप धारण कर सकता है। वाचस्पति के अनुसार, आत्मा अपने को उसी अवस्था मे जान सकता है जबकि मानसिक व्यापार से, जिसमे कि आत्मा प्रतिबिम्बित होता है, समूचा ध्यान हटा लिया जाए, तथा बुद्धि के सत्त्व-स्वरूप मे प्रतिबिम्बित आत्मा पर पूर्णरूप से ध्यान केन्द्रित कर दिया जाए। इस कार्य मे आत्मज्ञान का प्रमाता (विषयी) सात्त्विक-स्वरूप बुद्धि को ही कहा जाएगा, जो अपने अन्दर प्रतिबिम्बित आत्मा के कारण चेतनामय हो गई है, और आत्मा अपने निर्विकार रूप मे प्रमेय (विषय)[2] होगी। व्यास का मत है कि आत्मा का ज्ञान उस बुद्धि के द्वारा जिसमे आत्मा प्रतिबिम्बित हो रही है, नही हो सकता, बल्कि यह आत्मा ही है जो बुद्धि के विशुद्ध स्वरूप मे पडे अपने प्रतिबिम्ब द्वारा स्वयं अपने को जानती है। विज्ञानभिक्षु का विचार है कि आत्मा अपने को अपने अन्दर पडे हुए मानसिक रूपान्तर के प्रतिबिम्ब द्वारा जानती है। यह मानसिक रूपान्तर आत्मा के प्रतिबिम्ब को अपने अन्दर ग्रहण कर लेता है और उसीके रूप मे रूपान्तरित हो जाता है। ठीक उसी प्रकार जैसेकि आत्मा एक बाह्य पदार्थ का ज्ञान अपने अन्दर पडे उस मानसिक रूपान्तर के प्रतिबिम्ब द्वारा प्राप्त करता है जो उक्त बाह्य पदार्थ (प्रमेय) का रूप धारण कर लेता है।[4] क्योंकि आत्मा तात्त्विक रूप मे स्वत. प्रकाश है, इसलिए यह अपने अन्दर पड़े उस मानसिक दशा के प्रतिबिम्ब द्वारा जो आत्मा का रूप धारण कर लेती है, अपने को जान सकती है। विज्ञानभिक्षु आत्मा के रूप मे रूपान्तरित मनोदशा द्वारा निर्णीत आत्मा को प्रमाता (विषयी) मानता है और आत्मा को उसके विशुद्ध तात्त्विक रूप मे प्रमेय (विषय) मानता है।

१. योगसूत्र, २ : २०, इस प्रकार है : "द्रष्टा के रूप में आत्मा अपनी निर्मलता में निरपेक्ष है, तो भी अनुभव द्वारा देखे जाने के योग्य है" (प्रत्ययानुपश्यः)।

२. तत्त्ववैशारदी, ३ : ३५।

३. योगभाष्य, ३ : ३५।

४. योगवार्तिक, ३ : ३५।

प्रत्यभिज्ञा (पहचान) को भी प्रत्यक्ष ज्ञान की ही श्रेणी मे रखा गया है। यह सम्भव इसलिए है क्योंकि बुद्धि नित्य है और मनुष्यो के अस्थायी ज्ञानो से सर्वथा भिन्न है। नित्य बुद्धि परिवर्तनों में से गुजरती है, जिसके कारण यह भिन्न-भिन्न ज्ञानों के साथ सम्बद्ध हो जाती है जो प्रत्यभिज्ञा के अन्तर्गत है। यह आत्मा के विषय मे सम्भव नही है, क्योंकि आत्मा निर्विकार है।[1]

साख्य के अनुसार, एक बोध का ज्ञान दूसरे बोध से नही होता है, किन्तु आत्मा द्वारा होता है। क्योंकि बोध को बुद्धि का व्यापार माना गया है जो अचेतन है, और इसलिए यह अपना ही ज्ञेय पदार्थ नही हो सकता, बल्कि केवल आत्मा के द्वारा जाना जा सकता है।[2]

अभाव को भी प्रत्यक्ष ज्ञान की ही कोटि मे रखा गया है। साख्य अभाव को निषेधात्मक रूप मे न मानकर उसकी अस्तित्ववाची शब्दो मे व्याख्या करता है। केवल दिखाई न देना अभाव को सिद्ध नही कर सकता क्योंकि ऐसा अन्य कारणों से भी सम्भव है; अर्थात् दूरी के कारण, अत्यधिक निकट होने के कारण, अत्यधिक सूक्ष्म होने से, अथवा इन्द्रिय मे दोष होने से, असावधानी तथा ज्ञेय पदार्थ के छिपे रहने से, अथवा अन्य वस्तुओ के साथ मिश्रित हो जाने से भी न दिखाई देना सम्भव हो सकता है। आभ्यन्तर ज्ञान, आत्मचेतना, पहचान और अभाव का ज्ञान—ये सब प्रत्यक्ष ज्ञान के ही अन्तर्गत आते है।[3]

अनुमान दो प्रकार का बताया गया है विध्यात्मक (वीत) और निषेधात्मक (अवीत)। वीत अनुमान का आधार विध्यात्मक साहचर्य है तथा अवीत का निषेधात्मक साहचर्य है।[4] परार्थानुमान के पञ्चावयवघटित रूप को स्वीकार किया गया है।[5] 'व्याप्ति' निरीक्षण किए गए साहचर्य का परिणाम है, जिसके साथ साहचर्य के अभाव का न देखा जाना भी रहता है।[6] व्याप्ति, जो निरन्तर साहचर्य है, कोई पृथक् तत्त्व नही है।[7] यह वस्तुओ का परस्पर सम्बन्ध है, किन्तु स्वय वस्तु नही है।[8] 'अर्थापत्ति' तथा 'सम्भव' को भी अनुमान के अन्तर्गत माना गया है।

आप्तवचन अथवा विश्वसनीय कथन भी यथार्थज्ञान का एक स्रोत है। शब्द का अपने पदार्थ के साथ वैसा ही सम्बन्ध है, जैसाकि चिह्नित वस्तु के साथ चिह्न का

१. उक्त प्रकल्पना की आलोचना के लिए देखिए, न्यायसूत्र, ३ . २, १–९।

२. योगभाष्य, ४ : १।

३. और देखिए तत्त्ववैशारदी, १ : ७। साख्यकारिका, ७; साख्यप्रवचनसूत्र, १ : १०८–९।

४. वाचस्पति पूर्ववत् तथा सामान्यतो दृष्ट प्रकार के अनुमानो को पहली श्रेणी में तथा शेषवत् को दूसरी श्रेणी में रखता है। देखिए तत्त्वकौमुदी, ५।

५. साख्यप्रवचनसूत्र, ५ : २७।

६. साख्यप्रवचनसूत्र, वृत्ति, ५ : २८। साध्य और साधन दोनो का, अथवा किसी एक का निरन्तर साहचर्य 'व्याप्ति' है (साख्यप्रवचनसूत्र, ५ : २९)। पहले प्रकार का दृष्टान्त यह है : "उत्पन्न हुए सब पदार्थ अनित्य हैं"; और "जहा-जहा धुआ होगा वहा-वहा अग्नि होगी," यह दृष्टात दूसरे प्रकार का है।

७. तत्त्वान्तरम्, ५ : ३०। पञ्चशिख की सम्मति मे व्याप्ति ऐसी शक्ति के धारण करने का नाम है जो स्थिर रहती है (आधेयशक्तियोग, ५ : ३२)।

८. ५ : ३३–३५।

सम्बन्ध है। यह आप्त पुरुषों की शिक्षा से प्रकट है, प्रयोग तथा प्रथा के विधान, परम्पराओं और इस तथ्य से भी प्रकट है कि शब्द एक ही अर्थ को प्रकट करते हैं।[1] वेदों के विषय में कहा जाता है कि वे किसी पुरुष द्वारा नहीं रचे गए है, क्योंकि ऐसा कोई भी मनुष्य नहीं है जो वेदो के रचयिता होने का सामर्थ्य रखता हो।[2] मुक्तात्माओं को वेदों से कोई सम्बन्ध ही नहीं है, और संसार के बन्धन में पड़े हुए मनुष्यों के अन्दर वह योग्यता नहीं कि इस कार्य को कर सके।[3] और न ही वेद नित्य है, क्योंकि उनका स्वरूप अन्य कार्यों जैसा ही है। उच्चारण किए जाने के पश्चात् अक्षर नष्ट हो जाते है। जब हम कहते है 'यह वही अक्षर है' तो इसका आशय यह होता है कि यह उसी वर्ग का है।[4] केवल इसलिए कि वेदो का उद्भव किसी शरीरधारी से नहीं हुआ, हम यह अनुमान नहीं कर सकते कि वे नित्य है, क्योंकि अंकुर नित्य नहीं है यद्यपि इसका विकास भी किसी शरीरधारी से नहीं है।[5] वेदो के विषय इन्द्रियातीत है, तो भी "इन्द्रियातीत विषयो में भी व्यापक रूपो के द्वारा, जिनमे पदार्थ, अथवा शब्द द्वारा प्रतिपादित विषय के स्वरूप का निर्णय होता है, अन्तर्दृष्टि हो सकती है।"[6] यद्यपि वेद किसी शरीरधारी की रचनाएं नहीं है, तो भी आप्त विद्वानों ने अपने शिष्यो को पदार्थों को व्यक्त करने की उनकी स्वाभाविक शक्ति का पता दे दिया है।[7] अशरीरी द्वारा रचित होने के कारण, वेद संशय और परस्पर असंगति से रहित है और उन्हें स्वतः प्रमाण के रूप में स्वीकार किया गया है। यदि वेदो की प्रामाणिकता अन्य किसी पर आश्रित होती, तो वे हमारे लिए प्रामाणिक ग्रंथ सिद्ध न हो सकते।[8] कपिल मुनि ने कल्प के प्रारम्भ में उन्हें केवल स्मरण किया। उनके अन्तर्गत जो धार्मिक उपदेश है उनको मुक्त पुरुषो ने कसौटी पर कसकर तदनुकूल आचरण किया और उन्हें अन्यान्य मनुष्यो तक पहुंचाया। यदि वे जिनसे हम शास्त्रों का अध्ययन करते है, स्वयं प्रेरणाप्राप्त ऋषि नहीं है, बल्कि उन्होंने भी उस ज्ञान को दूसरे से लिया है, तो यह ऐसी अवस्था है जैसेकि एक अंधा दूसरे अंधे का मार्गप्रदर्शक हो।[9] हम आप्त पुरुषो के वाक्यों को यथार्थ मानकर स्वीकार करते हैं, क्योंकि उनके वाक्यो की प्रामाणिकता ज्ञान की अन्यान्य शाखाओं, यथा आयुर्वेद आदि, में कसौटी पर कसे जाने पर सिद्ध हो चुकी है।[10]

सांख्य यह जानता है कि अन्य भी कतिपय ऐसी पद्धतियां है जो ईश्वर की वाणी होने का दावा करती है। इसलिए उसका तर्क है कि इस विषय की खोज के लिए कि कौन-सा ईश्वरीय विधान यथार्थ है और कौन-सा नहीं, तर्क का उपयोग करना चाहिए।

१. सांख्यप्रवचनसूत्र, वृत्ति, ५ : ३८ ।
२. सांख्यप्रवचनसूत्र, ५ : ४६ ।
३. सांख्यप्रवचनसूत्र, ५ : ४७ ।
४. सांख्यप्रवचनसूत्र, वृत्ति, ५ : ४५ । स्फोटवाद का खण्डन, ५ : ५७ में किया गया है और शब्द कार्यरूप होने से अनित्य कहा गया है (५ : ५८)।
५. सांख्यप्रवचनसूत्र, ५ : ४८ ।
६. अतीन्द्रियेष्वपि पदार्थतावच्छेदकेन सामान्यरूपेण प्रतीतेर्वक्ष्यमाणत्वात् (सांख्यप्रवचनभाष्य, ५ : ४२)।
७. सांख्यप्रवचनभाष्य, ५ : ४३ ।
८. सांख्यप्रवचनसूत्र, ५ : ५१ ।
९. सांख्यप्रवचनसूत्र, ३ : ८१ ।
१०. सांख्यप्रवचनभाष्य, १ : ९८; ४ : ५१ ।

वाचस्पति का कहना है कि "इन पद्धतियों की अप्रामाणिकता इस कारण से है कि ये युक्तिविहीन कथन करती है, इन्हें पर्याप्त समर्थन का अभाव है, इनके अन्दर कही-कहीं तर्क-विरोधी कथन पाए जाते है, तथा इन्हे म्लेच्छ व इसी प्रकार की अन्यान्य नीच जातियो ने स्वीकार किया है।"[1] अनिरुद्ध ने अपनी वृत्ति मे एक श्लोक निम्न आशय का उद्धृत किया है : "आकाश से महान् दैत्य केवल इसलिए नही उतरते कि कोई आप्त अथवा योग्य पुरुष ऐसा कहता है। मै तथा तुम्हारे जैसे अन्य पुरुष केवल ऐसे ही कथनो को स्वीकार करते है जिनका समर्थन तर्क द्वारा हो सके।"[2]

सांख्य ने वेद को ज्ञान का साधन स्वीकार करके अपने को नवीन कृति के रूप मे प्रतीत होने से बचाया है। किन्तु जैसा हम देखेंगे, इसने कितनी ही पुरानी रूढ़ियों को छाटकर अलग कर दिया है तथा औरो की, मौनभाव धारण करके, उपेक्षा की है। नि.सन्देह इसने कही भी वेदो का स्पष्ट रूप मे विरोध नही किया है, किन्तु उनकी नीव को खोखला कर देने की कही अधिक भयानक प्रक्रिया का आश्रय लिया है।

बुद्धि का रूपान्तर प्रमाण है और इन रूपान्तरो की यथार्थता अथवा अयथार्थता की परीक्षा परवर्ती रूपान्तरो द्वारा की जा सकती है, बाह्य पदार्थो के द्वारा नही। भ्रमात्मक बोध का विषय कोई अभावात्मक पदार्थ नही है, बल्कि भावात्मक पदार्थ है। जल की भ्रान्ति का विषय (पदार्थ) जल है और जब इस भ्रमात्मक बोध का सूर्य की किरणो के बोध से खण्डन हो जाता है, तो पिछले बोध का विषय सूर्य की किरणे हो जाती है।[3] यथार्थता तथा अयथार्थता स्वयं बोध से ही सम्बन्ध रखती है।[4] कभी-कभी यह कहा जाता है कि केवल श्रुति ही स्वत. प्रमाण है, और प्रत्यक्ष तथा अनुमान दोनो में ही भ्रम का रहना सम्भव है और इसलिए इनकी पुष्टि की आवश्यकता होती है।[5] यथार्थता की परख 'अर्थक्रियाकारित्व' (अर्थात् कार्य सिद्ध करने की क्षमता) है। इसके अतिरिक्त, हमारा बोध-ग्रहण हमारे अहंकार अथवा निजी प्रयोजन की अपेक्षा करता है। संसार का अपने से भिन्न निरपेक्ष ज्ञान प्राप्त करना कठिन है। जीव अपनी ही एकान्त चेतना के अन्दर बद्ध है, और उससे परे यथार्थता के ज्ञान को प्राप्त नही कर सकता। परिणाम यह निकला कि प्रत्येक लौकिक ज्ञान एक मुख्य त्रुटि से दूषित है। प्रत्येक बोध जिसमे पुरुष का सम्बन्ध है उसे आभ्यन्तर इन्द्रिय के साथ सम्मिश्रित कर

१. तत्त्वकौमुदी, ५।

२. न ह्याप्तवचनान्नभसो निपतन्ति महासुराः।
युक्तिमद्वचनं ग्राह्यं मयाऽन्यैश्च भवद्विधैः॥ (१ : २६।)

३. प्रभाकर इसकी आलोचना इस आधार पर करता है कि यह यथार्थ तथा अयथार्थ बोध के भेद को नष्ट कर देता है।

४. नैयायिक इस आधार पर इस मत की आलोचना करता है कि यदि बोध आभ्यन्तर रूप से अयथार्थ होते तो हम कार्य न कर सकते। और यदि वे आभ्यन्तर रूप मे यथार्थ है तो हम भ्रान्त बोधों का, जो तथ्य है, कोई कारण नहीं बता सकते।

५. सांख्यप्रवचनसूत्र, १ : १४७; और देखिए १ : ३६, ७७, ८३, १५४; २ : २०, २९; ३ : १५, ८०; ४ : २२।

देता है। बुद्धि की छाया जैसे ही पुरुष पर पड़ती है वैसे ही पुरुष ऐसा प्रतीत होता है कि वह ज्ञानसम्पन्न है।[1]

१५

सांख्य की ज्ञान-सम्बन्धी प्रकल्पना पर कुछ आलोचनात्मक विचार

साख्य के तत्त्वज्ञान के समालोचनात्मक मूल्याकन को किसी आगामी अध्याय के लिए स्थगित रखते हुए, यहा हम साख्य की ज्ञानविषयक प्रकल्पना के कुछ आश्चर्यजनक दोषो पर सक्षेप मे दृष्टिपात करेगे। इस तथ्य के आधार पर कि इस आनुभविक जगत् मे व्यक्ति प्रस्तुत सामग्री को लेकर ही चलता है, साख्य का तर्क है कि विषयी तथा विषय दोनो का स्वतन्त्र अस्तित्व है। जैसाकि हम न्याय की ज्ञानविषयक प्रकल्पना के विवेचन मे देख आए है, विशुद्ध विषयी और विशुद्ध विषय मिथ्या अमूर्तभाव है, जिनका उस मूर्त अनुभव के अतिरिक्त जिसमे वे कार्य करते है, और कोई अर्थ नही है। जब साख्य अनुभव के मूर्त एकत्व को विषयी तथा विषय इन दो अगो मे विभक्त कर देता है और उन्हे काल्पनिक रूप मे निरपेक्ष बना देता है, तो यह अनुभवरूप तथ्य का कारण नही बता सकता। जब पुरुष को विशुद्ध चैतन्य रूप, एक स्थायी प्रकाश माना गया, जो सब ज्ञेय पदार्थों को प्रकाशित करता है और प्रकृति को चैतन्य का विरोधी तथा सर्वथा विजातीय माना गया, तो प्रकृति कभी भी पुरुष का विषय नही बन सकती। साख्य उस खाई को जो उसने विषयी और विषय के बीच खोद दी है, कभी भी पार नही कर सकता। निकट स्थिति, प्रतिबिम्ब, और इसी प्रकार के अलकार केवल कृत्रिम उपाय है, जो केवल काल्पनिक रोगो की ही चिकित्सा कर सकते है। यदि पुरुष और प्रकृति ठीक उसी रूप मे हैं, जैसाकि साख्य उन्हे मानता है, तो पुरुष कभी भी प्रकृति का ज्ञान प्राप्त नही कर सकता। पुरुष यह कभी नही प्रकट कर सकता कि उसके अपने चैतन्य मे हुए परिवर्तन, जिनको बुद्धि के रूपान्तरो का प्रतिबिम्ब कहा जाता है, किस प्रकार सम्पन्न होते हैं। साख्य का कहना है कि जब बुद्धि का रूपान्तर होता है तो इस रूपान्तर का प्रतिबिम्ब पुरुष के चैतन्य मे पड़ता है। यदि केवल तर्क के लिए प्रतिबिम्ब की इस प्रकल्पना को यथार्थ भी मान ले, तो क्या हम इस प्रकार मनोवैज्ञानिक विषयि-विज्ञानवाद के पाश

१ तत्त्वकौमुदी, ५।

२. साख्य तथा काण्ट द्वारा प्रतिपादित ज्ञान विषयक प्रकल्पनाओं में कुछ-कुछ सादृश्य है। दोनों में ही इस प्रपञ्चमय जगत् का निर्माण अतीन्द्रिय विषयी (पुरुष) तथा विषय प्रकृति के सहयोग से हुआ है। दोनों ही परलोक में आत्माओं की स्वाधीनता को मानते हैं और (प्रकृति) के अस्तित्व को स्वीकार करते हैं, क्योंकि विषयी अपनी निष्क्रियता के कारण अपनी संवेदनाओं को उत्पन्न नहीं कर सकते। दोनों ही का मत है कि ईश्वर का अस्तित्व सिद्ध नहीं किया जा सकता। अन्य पक्षों में दोनों के प्रबल मतभेद भी हैं।

में नहीं जकड़े जाते ? प्रतिबिम्ब को ग्रहण करना तथा एक ऐसी यथार्थता का प्रत्यक्ष ज्ञान, जो केवल मानसिक नही है, एक बात नही है। बाह्य पदार्थ तथा आभ्यन्तर विचार मे क्या सम्बन्ध है ? यदि दोनो मे कार्यकारण-सम्बन्ध है तो दोनो मे जो नितान्त विरोध है उसका क्या बनेगा ? क्या प्रत्यक्ष ज्ञान कभी भी केवल चैतन्य का एक परिवर्तन होता है ? क्या यह सदा पदार्थ की अभिज्ञता नही है ? यदि हम अभिज्ञता तथा पदार्थ को दो भिन्न-भिन्न यथार्थसत्ताए मान् ले, तो क्या हम प्रमाणीकृत अनुभव से दूर नही चले जाते ? यदि पुरुष और प्रकृति एक-दूसरे से नितान्त असम्बद्ध है, तो हम चैतन्यपूर्ण घटना अथवा भौतिक प्रक्रिया की भी व्याख्या नही कर सकते। यह निश्चय ही एक प्रसग-दोष है। किन्तु साख्य अपनी इस असन्तोषजनक स्थिति को अनेको अलकार तथा असगतिया प्रस्तुत करके छिपाता है। जब विषयी और विषय एक-दूसरे के सम्पर्क मे आते है तो कहा जाता है कि परस्पर गुणो का प्रतिबिम्बीकरण होता है, तभी गुणो का संक्रमण भी होता है। जब तक विषयी और विषय एक-दूसरे के सजातीय न हो, एक-दूसरे को प्रतिबिम्बित कैसे कर सकते है ? बुद्धि, जो जड पदार्थ है, पुरुष को कैसे प्रतिबिम्बित कर सकती है ? और निराकार पुरुष, जो सतत द्रष्टा है, बुद्धि के अन्दर किस प्रकार प्रतिबिम्बित हो सकता है, क्योकि बुद्धि तो परिवर्तनशील है ? इसलिए दोनो स्वभाव मे परस्पर सर्वथा भिन्न नही हो सकते। योगसूत्र के विभूतिपाद मे अन्तिम सूत्र मे कहा है कि जब बुद्धि भी इतनी विशुद्ध हो जाती है जितना कि पुरुष है, तो मोक्ष की प्राप्ति होती है।[1] विशुद्ध बुद्धि पुरुष को बन्धन मे डालने का कारण नही बनती, और बुद्धि के विनष्ट होने से पूर्व पुरुष का प्रतिबिम्ब विशुद्ध बुद्धि के अन्दर पडता है। बुद्धि के द्वारा पुरुष और प्रकृति का सम्पूर्ण ज्ञान तथा उनके परस्पर भेद का भी ज्ञान सम्भव होता है। जब तक बुद्धि स्वार्थपरक उद्देश्यो तथा विशेष-विशेष प्रयोजनो से रजित रहती है, तब तक हम सत्य को नही जान सकते।

साख्य सिद्धान्त के अनुसार ज्ञानरूपी तथ्य की व्याख्या नही की जा सकती, क्योकि ज्ञान विषयी और विषय के सम्बन्ध का नाम है। साख्य स्वीकार करता है कि विषय (पदार्थ) ज्ञात होने के लिए विषयी पर निर्भर करता है, और विषयी को जानने के लिए विषय (पदार्थ) की आवश्यकता है। दूसरे शब्दो मे, यदि दोनो का सश्लेषण न हो तो ज्ञान हो नही सकता। विषयी अपने को पूर्ण रूप मे नही जान सकता जब तक कि वह विषय को पूर्ण रूप मे न जान ले। और यह तब तक विषय (पदार्थ) को नही जान सकता जब तक कि विषय विषयी द्वारा व्यक्त न कर दिया जाए। इस प्रकार दोनो का सम्बन्ध क्या आवश्यक नही है ? दोनो एक-दूसरे के लिए बाह्य नही हो सकते। बाह्यता की भावना उसी अवस्था मे उत्पन्न होती है जबकि हम इसकी व्याख्या के लिए अनुभवरूपी तथ्य के परे जाते है।

चैतन्य के तत्त्व का प्रत्यक्षज्ञान अपने-आपमे कभी नही होता। इसका ज्ञान द्वारा अनुमान किया जाता है। इसे विशुद्ध अभिज्ञता कहा गया है। ज्ञान के सार्वभौम

१. सत्त्वपुरुषयोः शुद्धिसाम्ये कैवल्यम्।

तत्त्व को ही अमूर्त रूप मे पुरुष कहा गया है, अथवा यह ऐसा चैतन्य है जिसका कोई आकार नही, कोई गुण नही और जिसमे कोई गति नही है। इसे विशुद्ध प्रमाता (विषयी) बताया गया है। चैतन्य के अन्तस्तत्त्व, जो सदा घटते-बढते रहते हैं पदार्थ-जगत् से आते है, और यह पदार्थ-जगत् ऐसी एक प्रकार की मौलिक एकता है जिसका स्वभाव ही परिवर्तनशीलता है। समस्त विषय (प्रमेय) भौतिक है, जिनके अन्दर इन्द्रिय-सामग्री और मानसिक अवस्थाएं भी सम्मिलित है जो अपने स्वरूप मे परिमित है। ये आती-जाती रहती हैं और बाह्य वस्तुओ की प्रतिकृतिमात्र है, यद्यपि इनका निर्माण सूक्ष्म सामग्री से हुआ है। यद्यपि बुद्धिगत परिवर्तन उसी वर्ग मे आते है जिसमे ससार की अन्य वस्तुएं आती है, तो भी पुरुष बुद्धि को प्रकाशित करता है क्योंकि बुद्धि अत्यन्त सूक्ष्म स्वरूप की है और उसमे सत्त्वगुण प्रचुर मात्रा मे है। प्रकृति के अन्य पदार्थों की अपेक्षा बुद्धि पुरुष के प्रकाश को प्रतिबिम्बित करने के लिए अधिक अनुकूल है।[1] जहा तक ज्ञान का सम्बन्ध है, हम अन्य वस्तुओं का ज्ञान बुद्धिगत परिवर्तनो अथवा मनः-सामग्री के द्वारा ही प्राप्त करते है। ज्ञान की प्रत्येक क्रिया के दो अंश होते है एक चैतन्यरूपी तत्त्व, जो इसे प्रकाशित करता है और दूसरा बुद्धि का परिवर्तित रूप। बुद्धि अपने-आपमे तो अचेतन है किन्तु ज्यो ही पुरुष द्वारा प्रकाशित होती है, त्यो ही चैतन्य का अन्तस्तत्त्व हो जाती है। बुद्धि की गतिया अपने-आपमे अचेतन है, किन्तु पुरुष के साथ सम्बन्ध हो जाने से उन्हे व्यक्ति के स्वगत अनुभव मान लिया जाता है। अनुभव के अपने अन्दर दो तत्त्व है, जिनमे से एक निरन्तर रहनेवाला तथा दूसरा परिवर्तनशील है। हम दोनो को पृथक् नही कर सकते और ऐसा तर्क उपस्थित नही कर सकते कि दोनो का पृथक् अस्तित्व है और केवल अनुभव मे आकर व एकत्र हो जाते है। इस प्रकार की धारणा बनाना कि प्रमाता और प्रमेय अपने-आपमे पूर्ण है, सत्यरूपी बिना जोड के वस्त्र को फाड देना होगा। क्योंकि इस प्रकार हम उसके विभिन्न घटकों को पूर्ण इकाई के विरोध मे खडा कर देते है जबकि ये उस इकाई के अनिवार्य अंग है। यदि पुरुष आत्मा है और प्रकृति अनात्म है तो पारिभाषिक दृष्टि मे भी परस्पर ये विरुद्ध है और इनके बीच कोई सम्पर्क नही हो सकता, और सांख्य जो इनके पारस्परिक सम्बन्ध को यन्त्र-वत् बतलाता है, सो ठीक ही है। एक यन्त्रवत् सम्बन्ध इस विषय का उपलक्षण है कि चैतन्य के विषयी तथा विषय केवल सत्ता की दृष्टि मे ही नही बल्कि स्वतः पूर्णरूप से एक दूसरे के अनाश्रित तथा परस्पर भिन्न है। बुद्धि के यान्त्रिक रूपान्तर मानो जादू के बल से चेतनता के प्रकाश से प्रकाशित हो जाते है। इस विषय मे हमे चेतनता-

1. मूर्त द्रव्य में पुञ्ज और शक्ति, जो तमोगुण तथा रजोगुण के प्रतिरूप है, प्रधान लक्षण हैं। बुद्धि में तमोगुण सबसे न्यून है और सत्त्वगुण सबसे अधिक है, और इसीलिए इसके अन्दर पारदर्शकता का गुण है। यदि बुद्धि के अन्दर केवल सत्त्व और रजस गुण के ही अवयव रहते तो वह एक ही समय में समस्त पदार्थों को प्रकाशित कर देती। तमस के अंश के कारण वह ऐसा नहीं कर सकती। चेतनता रूपी प्रकाश वहा-वहा प्रतिबिम्बित होता है जहा-जहा से तमोगुण दूर हो जाता है। एक अर्थ में, बुद्धि अपने अन्दर समस्त ज्ञान को क्षमता के रूप में निहित किए रहती है। परिणामन का समस्त क्रम वस्तुतः अन्धकार के आवरण के उठ जाने पर ही आश्रित है।

युक्त ज्ञान का कोई समाधान नहीं मिलता।[1] यान्त्रिक रूपान्तर के अवसर पर चेतनता का उदय एक विस्मयकारक रहस्य है। किन्तु यह समस्या हमारी अपनी ही निर्माण की हुई है। सबसे पहले तो हम एक विशुद्ध विषयी तथा एक विशुद्ध विषय की सत्ता की धारणा बना लेते है, जो अनुभव के क्षेत्र से सर्वथा बाहर है, और फिर उन दोनों को अनुभव के अन्दर एकत्र करने की पूरी चेष्टा करते है। एक अधिक सत्य दार्शनिक ज्ञान हमें बताता है कि विषयी और विषय का भेद चैतन्य अथवा ज्ञान के अन्दर किया जाता है, इसके बाहर नही। विषयी और विषय एकसाथ नही आते, किन्तु वस्तुत. वे एक-दूसरे से पृथक् नही किए जा सकते। यदि अनुभव अपने को व्यक्त कर सकता तो यह हमे बताता कि विषयी और विषय एकत्व रूप मे प्रस्तुत किए जाते है। यदि हम इस विषय को समझ ले कि समस्त चैतन्यमय अनुभव मे मौलिक सम्बन्ध उन अवयवो (घटको) का सम्बन्ध है जो एक ऐन्द्रिय एकता मे है, जो एक-दूसरे के अन्दर ठीक वैसे ही रहते है जैसेकि किसी जीवित प्रक्रिया मे पक्ष (पद) होते है, अथवा जो किसी ऐसे व्यापक के अन्दर रहते है जो दोनो के ऊपर है यद्यपि वह दोनो मे सर्वथा भिन्न नही है, तो ज्ञान को समझा जा सकता है। व्यापक चेतनता का मौलिक तथ्य सम्पूर्ण ज्ञान की पूर्वकल्पना है। सांख्य का पुरुष वस्तुत यह व्यापक आत्मा होनी चाहिए, यद्यपि मनोवैज्ञानिक और आध्यात्मिक आत्मा को परस्पर मिला देने मे इसे अनेक मान लिया गया है। नि सन्देह प्रत्येक जीव के अन्दर यह विश्वात्मा कार्य कर रही है। एक अर्थ मे, हमारा ज्ञान व्यापक तत्त्व की अभिव्यक्ति है। किन्तु, एक दूसरे दृष्टिकोण से, यह एक विवेकपूर्ण प्रक्रिया पर निर्भर है, जिसको इसके अनुरूप पदार्थो द्वारा बाहर से उत्तेजना मिलनी चाहिए। जिनके अन्दर बुद्धि का विकास हुआ है उनमे बुद्धि एक ही समान है, और वह सब स्थानो पर अपने को व्यक्तिगत सीमाओ से मुक्त करने के लिए सघर्ष कर रही है। और यह बुद्धि सब वस्तुओ को किसी विशेष सस्थान के दृष्टिकोण से नही, बल्कि विशुद्ध विषय के दृष्टिकोण से देखती है। जहा एक अर्थ मे हमारा ज्ञान हमारा अपना है, वहा दूसरे अर्थ मे यह हमसे, जो इसे धारण किए हुए है, स्वतन्त्र है।

१६

नीतिशास्त्र

सांख्य दु.ख की सार्वभौमिकता को स्वीकार करके अपने दर्शनशास्त्र का प्रारम्भ करता है,[2] और यह दु.ख तीन प्रकार का है : 'आध्यात्मिक', अर्थात् ऐसा दु.ख जो मनुष्य के

१. तुलना कीजिए : "अचेतन अहंकार से आत्म-प्रकाशित आत्मा की अभिव्यक्ति होती है, यह कथन ऐसा ही है जैसेकि कहा जाए कि बुझा हुआ कोयला सूर्य को अभिव्यक्त करता है।"

शान्ताङ्गार इवादित्यमहंकारो जडात्मकः।
स्वयं ज्योतिषमात्मानं व्यनक्तीति न युक्तिमत॥

यामुनाचार्य : आत्मसिद्धि, ब्रह्मसूत्र के रामानुजभाष्य, २ : १, १ में उद्धृत।

२. सांख्यप्रवचनसूत्र, ६ : ६–८ ; योगसूत्र, २ : १५।

आत्मिक-भौतिक स्वरूप के कारण उत्पन्न होता है; आधिभौतिक, अर्थात् जो दुख बाह्य-जगत् के कारण उत्पन्न हो; तथा आधिदैविक अर्थात् वह दुख जो अतिप्राकृतिक कारणों अर्थात् दैवीय शक्तियो से प्राप्त हुआ हो। वह दुख जो शरीर-सम्बन्धी अव्यवस्थाओं अथवा मानसिक अशान्ति के कारण उत्पन्न हो, प्रथम कोटि का दुख है, द्वितीय कोटि का दुख वह है जो मनुष्यो, पशुओ तथा पक्षियो से प्राप्त होता है; और तृतीय कोटि के दुख का अस्तित्व ग्रहो तथा पञ्चतत्त्वो के कारण है।[1] प्रत्येक व्यक्ति दुख को कम करने और यथासम्भव उससे छुटकारा पाने का प्रयत्न करता है। किन्तु चिकित्सा-शास्त्र मे निर्दिष्ट औषधियो अथवा धर्मशास्त्रो मे विहित उपायो से दुख को जडमूल से नष्ट नही किया जा सकता है।[2] वैदिक कर्मकाण्ड के अनुष्ठान से मुक्ति की प्राप्ति नही हो सकती। बौद्ध तथा जैन मत की भाति, साख्य भी इसी विषय पर बल देता है कि वैदिक कर्मकाण्डो मे महान नैतिक सिद्धान्तो के विपरीत आचरण पाया जाता है। जब हम 'अग्निष्टोम' यज्ञ के लिए किसी पशु की हत्या करते हे तो अहिंसा के नैतिक सिद्धान्त का व्याघात होता है। जीवहत्या, भले ही यज्ञ मे क्यो न की जाए, पाप की जननी है। इसके अतिरिक्त, यज्ञ के अनुष्ठान से जिस प्रकार का स्वर्ग प्राप्त होता है वह भी अस्थायी है। स्वर्ग का जीवन तीनो गुणो से उन्मुक्त नही है। धर्म के अनुष्ठान और यज्ञ से हम कुछ समय के लिए पाप को दूर कर सकते हे, किन्तु उससे सर्वथा छुटकारा नही पाते। मृत्यु द्वारा भी हम पाप से बचकर नही निकल सकते, क्योकि वही भाग्य जन्म-जन्मान्तर मे भी हमारा पीछा करता है। यदि दुख आत्मा के लिए स्वाभाविक है तो हम निसहाय है, यदि वे केवल आकस्मिक हे तथा अन्य किसी वस्तु से उत्पन्न होते है तो हम दुख के उद्भवस्थान से अपने को पृथक् करके दुख से छुटकारा पा सकते हे।

बन्धन का सम्बन्ध प्रकृति मे है और यह पुरुष के कारण होता हे, ऐसा कहा गया है। "यद्यपि दुख के बोधरूप मे बन्धन तथा क्रियाओ के रूप मे भेद और अभेद चित्त या आभ्यन्तर इन्द्रिय से सम्बन्ध रखते है, तो भी पुरुष का सुख अथवा दुख केवल उसके अन्दर पडे दुख के प्रतिबिम्बरूप मे है।"[3] पुरुष का बन्धन एक मिथ्या विचार[4] है, और यह इसके चित्त के निकट होने के कारण है। इसीलिए इसे 'औपाधिक' कहा जाता है। यदि दुख के साथ पुरुष का सम्बन्ध वास्तविक होता तो उसे दूर नही किया जा सकता था। विज्ञानभिक्षु कूर्मपुराण मे एक श्लोक उद्धृत करता हे[5], जिसका आशय इस प्रकार है 'यदि आत्मा स्वभाव मे अशुद्ध अशुचि तथा विकारवान होती तो वस्तुत. इसके लिए सैकडो जन्मो मे भी मोक्ष सम्भव न हो सकता।"[6] बन्धन का कारण काल

१. तत्त्वकौमुदी, १।
२. साख्यकारिका, २।
३. साख्यप्रवचनभाष्य, १ : ५८।
४. वाड्मात्रम्। साख्यप्रवचनसूत्र, वृत्ति, १ : ५८।
५. १ : २, १२।
६. यद्यात्मा मलिनोऽस्वच्छो विकारी स्यात्स्वभावत:।
न हि तस्य भवेन्मुक्तिर्जन्मान्तरशतैरपि ॥ (साख्यप्रवचनभाष्य, १ : ७।)
यदि दुःख पुरुष के लिए स्वाभाविक होता तो इससे छुटकारे के लिए जो आदेश दिया गया है उसकी कोई आवश्यकता न होती (साख्यप्रवचनसूत्र, १ : ८—११)।

अथवा देश, शरीरधारण अथवा कर्म नहीं है।[1] ये सब अनात्म के साथ सम्बन्ध रखते है। किसी एक वस्तु का गुण दूसरी वस्तु के अन्दर परिवर्तन नहीं उत्पन्न कर सकता, क्योंकि उस अवस्था मे या तो सभी को सुखानुभव होगा या सब दुःख अनुभव करेंगे।[2] प्रकृति का पुरुष के साथ सयोग होने मे ही बन्धन की सृष्टि होती है, पुरुष स्वभाव से नित्य तथा शुद्ध है, ज्ञानस्वरूप तथा बन्धनरहित है। प्रकृति की केवल उपस्थिति ही अनुभव का कारण नहीं है, क्योंकि ऐसा मानने से मुक्तात्माओं को भी अनुभव हो सकेगा; बल्कि इसका कारण है "अनुभव का विषय जो मोक्ष की अवस्था में विद्यमान नहीं होता।"[3] अविवेक बन्धन का कारण है। अविवेक का सम्बन्ध बुद्धि से है, यद्यपि इसका विषय है पुरुष। इससे परिणाम यह निकला कि जब हमारा अविवेक दूर होगा, केवल तभी दुःख भी दूर होगा। ज्ञान तथा अज्ञान ही क्रमशः मोक्ष तथा बन्धन के निर्णायक है।[5]

पुरुष सदा से स्वतन्त्र है। यह न इच्छा करता है, न द्वेष करता है, न शासन करता है, न आज्ञापालन करता है, न किसीको प्रवृत्त करता है, न रोकता है। नैतिक जीवन सूक्ष्म शरीर मे निहित है, जो प्रत्येक जन्म में पुरुष के साथ जाता है। दुःख शारीरिक जीवन का सार है।[6] जब आत्मा अकेली रहती है तो पवित्र रहती है। सर्वोपरि श्रेय जो जीवात्मा का लक्ष्य है और जिसे प्राप्त करने के लिए वह पुरुषार्थ करती है, पुरुष की पूर्णता प्राप्त करना है। हमारी समस्त नैतिक क्रियाएं अपने अन्तःस्थ पुरुष की पूर्णतर अवस्था को ग्रहण करने के लिए है। यह ससारचक्र सघर्ष और परिवर्तन मे ओत-प्रोत है और ऐसे अवयवो से मिलकर बना है जो एक-दूसरे के प्रति उदासीन तथा बाह्य है। जीवात्मा अपने अनन्त चक्रो मे बराबर अपने साथ एकत्व-स्थापन के लिए पुरुषार्थ करती रहती है और असफल होती रहती है, अर्थात् पुरुष के पद को प्राप्त करने के लिए पुरुषार्थ करती है, जो अनादिकाल से अपने मे एक है और परिपूर्ण है और जिसे किसी बाह्य वस्तु के साथ सम्बन्ध की आवश्यकता नहीं। प्रत्येक जीव के अन्दर उच्चतम पुरुष विद्यमान है और इसके यथार्थ स्वरूप को ग्रहण करने के लिए अपने से बाहर जाने की आवश्यकता नहीं है, बल्कि केवल अपने वास्तविक स्वरूप से अभिज्ञ होना है। नैतिक प्रक्रिया किसी नई वस्तु का विकास नहीं है, बल्कि केवल उसे खोज निकालना है जिसे हम भूल गए है। अपने यथार्थस्वरूप मे लौट आने का नाम ही मोक्ष है और उस जुए को उतार फेंकना है जिसके अधीन जीव ने अपने को कर रखा है। यह उस भ्रान्ति को दूर करना है जो हमारे यथार्थस्वरूप को हमारी दृष्टि से छिपाए हुए है। इस प्रकार

१. सांख्यप्रवचनसूत्र, १ : १२–१६।
२. सांख्यप्रवचनसूत्र, वृत्ति, १ : १७।
३. १ : १९।
४. सांख्यप्रवचनसूत्र, वृत्ति, ६ : ४४।
५. सांख्यप्रवचनसूत्र, २ : ७। अनिरुद्ध अपनी सांख्यप्रवचनसूत्र वृत्ति मे एक श्लोक उद्धृत करता है, जिसका आशय यह है : "वस्तुओं के स्वभाव में बन्धन नहीं है और न ही उसके अभाव के कारण मोक्ष प्राप्त हो जाता है। इन दोनों का निर्माण भूल के कारण हुआ है और इनकी कोई वास्तविक सत्ता नहीं है" (१ : ७)।
६. सांख्यकारिका, ५५।

का ज्ञान कि 'मैं नही हू' (नास्मि), 'मेरा कुछ नही है' (न मे), और 'अहभाव नही है' (नाहम्), मोक्ष को प्राप्त कराता है ।[1]

मोक्ष ज्ञान के द्वारा प्राप्त होता है अवश्य, किन्तु यह ज्ञान केवल सैद्धान्तिक नही है। यह वह ज्ञान है जो धर्माचरण तथा योग आदि से निष्पन्न होता है।[2] जहा बन्धन का मूल मिथ्या ज्ञान (विपर्यय) है, वहा इस मिथ्या ज्ञान के अन्दर केवल अविद्या अथवा अयथार्थ बोध ही नही, बल्कि अस्मिता अथवा अहभाव, राग अथवा इच्छा एव द्वेष और अभिनिवेश अथवा भय भी आ जाते है।[3] ये अशक्ति अथवा अयोग्यता के कारण उत्पन्न होते है, जो अट्ठाईस प्रकार की है, जिनमे ग्यारह का सम्बन्ध इन्द्रियो से और सतरह का सम्बन्ध बुद्धि से है।[4] नि स्वार्थ कर्म अप्रत्यक्ष रूप मे मोक्ष का साधन है।[5] अपने-आप यह हमे मोक्ष की ओर नही ले जाता। इसके द्वारा दिव्य लोको मे जन्म मिलता है, जिसे मोक्ष के साथ मिश्रित नही करना चाहिए।[6] सदसद्विवेक के पश्चात् जो वैराग्य होता है, वह उससे भिन्न है जो उससे पूर्व होता है।[7] वैराग्य अथवा अनासक्ति द्वारा ही प्रकृति के अन्दर विलय होता है।[8] प्रकृति के अन्दर इस प्रकार का विलय परम मुक्ति नही है, क्योकि उस प्रकार प्रकृति मे विलीन हुई आत्माए फिर से ईश्वरो अथवा प्रभुओ के रूप मे प्रकट होती है, क्योकि उनकी भूल ज्ञान द्वारा दग्ध नही होती। 'वह जो पूर्वसृष्टि म कारण (प्रकृति) म विलीन हो गया था, दूसरी सृष्टि मे आदिपुरुष बनता है, जो स्वरूप मे ईश्वर अथवा प्रभु होता है, सर्वज्ञ और सर्वकर्ता होता है।"[9] नैतिक पुण्यकर्म चैतन्य की गहराई तक पहुचने मे हमारे सहायक बनते है, जबकि दुष्कर्म इस चैतन्य को अन्धकारमय बनाते है। दुराचरण मे लिप्त रहने से आत्मा अपने को भौतिक शरीर मे अधिकाधिक फसा लेती है।

साख्यसूत्र मे योग की पद्धति का प्रमुख स्थान है, यद्यपि साख्यकारिका मे ऐसा नही है। हम उसी अवस्था मे विवेकमय ज्ञान प्राप्त कर सकते है जबकि हमारी भावना-प्रधान उत्तेजनाए वश मे रहे तथा हमारा अपनी बौद्धिक क्रियाओ पर नियन्त्रण रहे। जब इन्द्रिया नियमपूर्वक कार्य करती हो और मन शान्ति प्राप्त कर लेता बुद्धि पारदर्शी हो जाती है और उसमे पुरुष का विशुद्ध प्रकाश प्रतिबिम्बित होता है। बुद्धि का

१. साख्यकारिका, ६४ ।

२. साख्यप्रवचनभाष्य, ३ : ७७ और ७ ।

३. साख्यप्रवचनसूत्र और साख्यप्रवचनभाष्य, ३ : ३७ ।

४. साख्यप्रवचनसूत्र, ३ : ३८ ; साख्यकारिका, ४९ । ५. १ : ८२, ८५ ।

६. साख्यप्रवचनसूत्र, ३ : ५२–५३ ।

७. तत्त्वकौमुदी, २३ में वैराग्य के चार भेद बताए गए है ।

८. वैराग्यात् प्रकृतिलयः (साख्यकारिका, ४५ ; साख्यप्रवचनसूत्र, ३ : ५४) ।

९. साख्यप्रवचनभाष्य, ३ : ५६ । वाचस्पति ने नाना प्रकार के बन्धनों में भेद किया है, जैसे प्राकृतिक, वैकृतिक और दाक्षिणक । प्रथम प्रकार के प्रकृति को निरपेक्ष (परम) आत्मा मानते है ; दूसरे प्रकार के प्रकृतिजन्य भौतिक पदार्थों का निरपेक्ष आत्मा समझ लेते है ; तीसरे आत्मा के यथार्थस्वरूप को भूलकर सासारिक क्रियाओं में निजी स्वार्थों की सिद्धि के लिए लिप्त रहते है (तत्त्वकौमुदी, पृष्ठ ४४ ; तत्त्वसमास, पृष्ठ १९) ।

ग्राभ्यन्तर स्वरूप सात्त्विक है, परन्तु ग्रपने प्राप्त किए हुए मवेगो नथा प्रवृत्तियो (वासनाग्रो) के कारण उसका ग्रपनी ग्रन्तःस्थ विशुद्धि से ह्रास हो जाता है। बाह्य पदार्थों से चित्त पर पड़े दोषचिह्न ध्यान द्वारा दूर हो जाते है।[1] जब चित्त ग्रपनी ग्राद्यस्थिति को फिर से प्राप्त कर लेता है ग्रौर ग्रपने को इच्छाग्रो मे मुक्त कर लेता है, तो बाह्य विषय प्रेम ग्रथवा घृणा को उत्तेजना नही देते। जब बाह्य पदार्थ हमारे ग्रहकारिक हितों को उत्तेजित नही करते बल्कि ग्रपने यथार्थस्वरूप को प्रकट करते है, तब हमे आध्यात्मिक शान्ति तथा शान्तचित्तता प्राप्त करना शेष रह जाता है। क्योकि यह सर्वथा ग्रनासक्ति साधारण मनुष्यो की पहुच से बाहर है, इसलिए व ग्रवैयक्तिक दृष्टिकोण को कला का ग्राश्रय लेकर विकसित करने का प्रयत्न करते है। कलापूर्ण रचनाए प्राकृतिक जगत् मे एक क्षणिक मुक्ति प्रदान करने मे समर्थ होती है।

गुणो के सिद्धान्त मे बहुत बड़ा नैतिक महत्त्व छिपा है। ससार के प्राणियो का वर्गीकरण उनके ग्रन्दर भिन्न-भिन्न गुणो के प्राधान्य के ग्रनुसार किया गया है। देवताग्रो मे सत्त्वगुण की प्रधानता होती है तथा रजस् ग्रौर तमस् न्यून ग्रवस्था मे रहते है। मनुष्य मे तमोगुण का ग्रश देवो की अपेक्षा कम न्यून होता है। पशुजगत् मे सत्त्वगुण बहुत न्यून हो जाता है। वनस्पतिजगत् मे औरो की ग्रपेक्षा तमोगुण ग्रधिक प्रधान रहता है। ऊपर की ग्रोर उन्नति करने मे सत्त्वगुण के ग्रश का क्रमिक रूप मे बढना ग्रौर तमोगुण का न्यून होना सम्मिलित है, क्योकि दुःख रजोगुण का विशेष परिवर्तित रूप है।[2] वस्तुतः, गुण हमारे जोवन के प्रत्येक रेशे मे मिलते है, सयुक्त होते है ग्रौर चेष्टावान है। उनकी सापेक्ष क्षमता ही हमारे मानसिक स्वरूप की निर्णायक होती है। हमे इस जगत् मे बहुत उच्च ग्राध्यात्मिक शक्ति रखनेवाले, ग्रावेशपूर्ण उग्र शक्ति वाले ग्रौर उदासीन हीनात्मा पुरुष मिलते है। यदि तमोगुण प्रधान हो तो वह निष्क्रियता को उत्पन्न करता है तथा ग्रज्ञान, दुर्बलता, ग्रयोग्यता, विश्वास के ग्रभाव ग्रौर कर्म करने मे ग्ररुचि उत्पन्न करता है। यह ग्रसस्कृत ग्रालसी ग्रौर ग्रज्ञानी मानव-स्वभाव को उत्पन्न करता है। जिन मनुष्यो मे रजोगुण प्रधान होता है, व साहसी बचैन तथा कर्मशील होते है। सत्त्वगुण के कारण विवेचनात्मक सन्तुलित तथा विचारशील स्वभाव का विकास होता है। तीनो गुण भिन्न-भिन्न ग्रनुपात मे सब मनुष्यो मे पाए जाते है। किन्तु ऋषियो, सन्तो तथा महात्माग्रो मे सत्त्वगुण बहुत उच्च कोटि की विकसित ग्रवस्था मे रहता है। योद्धा मे, राजनीतिज्ञ मे और कर्मवीर शक्तिशाली मनुष्य मे रजोगुण बहुत उच्च कोटि की विकसित दशा मे रहता है। यद्यपि ये गुण हमारे जीवन के प्रत्येक भाग मे ग्रपना असर रखते है, तो भी ग्रपेक्षाकृत तीनो गुण जीवन के तीन ग्रावश्यक ग्रवयवो पर, अर्थात् मन, जीवन तथा शरीर पर ग्रपना प्रभुत्व ग्रधिक रखते है। साख्य यज्ञो मे किसी प्रकार का पुण्य नही मानता। उसके मत मे शूद्रो के लिए उच्च शिक्षा का द्वार ग्रवरुद्ध

१. साख्यप्रवचनसूत्र, ३ : ३० ; साख्यप्रवचनभाष्य, ३ : ३०।

२. जहा साख्य में गुणो को ज्ञान-रहित माना गया है, वहा वेदान्त के ग्रनुसार वे बुद्धि के स्वरूप को प्रतिबिम्बित करते हैं।

३. दुःखं रजःपरिणामविशेषः।

नही है। शिक्षक ब्राह्मण ही हो यह आवश्यक नही है, बल्कि जो मुक्तात्मा है वही शिक्षक है। योग्य शिक्षक (गुरु) की प्राप्ति हमारे पूर्वजन्म के सुकृत से होती है।

१७

मोक्ष

साख्यदर्शन मे मोक्ष केवल प्रतीतमात्र है, क्योकि बन्धन का सम्बन्ध पुरुष के साथ है ही नही। बन्धन और मुक्ति पुरुष और प्रकृति के सयोग तथा वियोग को बतलाते है, जो अभेद तथा भेद ज्ञान का परिणाम है।[1] प्रकृति पुरुष को बन्धन मे नही डालती किन्तु नानाविध रूपों मे स्वय अपने को बन्धन मे डालती है।[2] पुरुष तो पाप और पुण्य दोनों के विरोधो से सर्वथा स्वतन्त्र है।[3] इस प्रकार जहा बन्धन प्रकृति की ऐसे व्यक्ति के प्रति क्रिया है जो प्रकृति और पुरुष का भेदज्ञान नही रखता, वहा मुक्ति प्रकृति की ऐसे व्यक्ति के प्रति निष्क्रियता है जो भेदज्ञान रखता है।[4] जब प्रकृति सचेष्ट रहती है तो यह पुरुष के प्रतिबिम्ब को ग्रहण कर लेती है और अपनी छाया पुरुष के ऊपर डालती है। फिर भी पुरुष के अन्दर प्रतीत होता हुआ यह परिवर्तन कृत्रिम तथा अवास्तविक है।[5] सूक्ष्म शरीर के साथ पुरुष का सयोग ही ससार का कारण है, और पुरुष तथा प्रकृति के भेदज्ञान द्वारा इस सयोग का उच्छेद करके मोक्ष प्राप्त हो सकता है। जब प्रकृति अपने को पुरुष से पृथक् कर लेती है तो पुरुष अनुभव करता है कि प्रकृति के प्रयत्नों को अपना मानना मूर्खता थी। पुरुष अपना पृथक्त्व सदा के लिए स्थिर रखता है और प्रकृति फिर से निष्क्रिय हो जाती है। जब तक बाह्य पदार्थ आत्मा के यथार्थस्वरूप को आवृत किए रहते है तब तक मोक्षप्राप्ति नही हो सकती। जब प्रकृति कार्य करना बन्द कर देती है तब बुद्धि के परिवर्तन भी बन्द हो जाते है और पुरुष अपने स्वाभाविक रूप मे आ जाता है।[6] "मुक्तात्मा के लिए प्रधान द्वारा सृष्टिकार्य का रोक दिया जाना इसके अतिरिक्त और कुछ नही है कि उसके अनुभव के कारण का उत्पादन नही होता, अर्थात् उसकी अपनी उपाधि का विशेष रूपान्तर, जिसे जन्म कहते हैं, नही होता।"[7] मुक्त हो जाने पर पुरुष के साथ मे कोई नही रहता, वह अपने अतिरिक्त और किसीको नही देखता तथा किसी प्रकार के विजातीय विचारो को भी प्रश्रय नही देता।[8] यह अब प्रकृति अथवा तज्जन्य पदार्थो पर निर्भर नही करता, बल्कि सर्वथा पृथक् एक नक्षत्र के समान रहता है, जिसे सासारिक चिन्ताए बाधा नही दे

१. साख्यप्रवचनसूत्र, ३ : ७२। २. साख्यकारिका, ६२।
३. सांख्यप्रवचनसूत्र, ३ : ६४ : योगसूत्र, २ : २२। ४. साख्यकारिका, ६१।
५. सांख्यप्रवचनसूत्र, २ : ८। और तुलना कीजिए साख्यप्रवचनभाष्य, १ : १६४।
६. सांख्यप्रवचनसूत्र, २ : ३४ ; योगसूत्र, १ : ३।
७. मुक्तं प्रति प्रधानसृष्ट्युपरमो यत् तद्भोगहेतोः स्वोपाधिपरिणामविशेषस्य जन्माख्यस्यानुत्पादनम (सांख्यप्रवचनभाष्य, ६ : ४४)।
८. प्रकृतिवियोगो मोक्षः : हरिभद्र।

सकती। यथार्थ मे बद्ध तथा मुक्त के अन्दर कोई भेद नही है, क्योकि मुक्ति का अर्थ है उन बाधाओ का दूर हो जाना जो पुरुष के पूर्ण वैभव के अभिव्यक्त होने मे अडचन डालती है।[1] समाधि अर्थात् परमानन्ददायक चैतन्य की अवस्था मे, सुषुप्ति और मोक्ष की अवस्था मे बुद्धि के परिवर्तनो के विलय हो जाने से पुरुष अपने स्वाभाविक रूप अर्थात् ब्रह्मरूपता मे रहता है।[2] सुषुप्ति तथा परमाह्लादकर चैतन्य की दशा मे भूतकाल के अनुभवो के अवशेष विद्यमान रहते है, किन्तु मोक्ष की अवस्था मे ये अनुपस्थित रहते है।[3] मोक्ष प्राप्त हो जाने पर भेदकारक ज्ञान स्वय भी विलुप्त हो जाता है, क्योकि यह एक ऐसी औषधि के समान है जो रोग के साथ-साथ अपने को भी बाहर निकाल देती है। मोक्ष नाम दुःख से छुटकारे का है, सब प्रकार के जीवन से छुटकारे का नही है। सांख्य का दृढ विश्वास है कि पुरुष निरन्तर रहता है, और इसीलिए हम सांख्य को निराशावादी नही मान सकते। जब प्रकृति का नाटक समाप्त हो जाता है तो इसके विकास अविकसित रूप मे लौट आते है। पुरुष द्रष्टा रहते है यद्यपि उनके देखने के लिए कुछ शेष नही रहता। वे ऐसे दर्पण के समान रह जाते है जिनके अन्दर कुछ भी प्रतिबिम्बित होने को नही है। वे प्रकृति तथा उसके दूषणो से पृथक् सदास्थायी मुक्त अवस्था तथा कालातीत अवकाश मे विशुद्ध प्रज्ञा के रूप मे विद्यमान रहते है। मोक्ष की प्राप्ति पर, "पुरुष अविचलित और आत्मसयमी रूप मे एक दर्शक की भांति उस प्रकृति के विषय मे चिन्तन करता है जिसने अपना कार्य करना बन्द कर दिया है।"[4] सांख्य के मुक्ति-सम्बन्धी आदर्श को बौद्धो के शून्यतापरक आदर्श अथवा आत्मा के लोप[5] से, अथवा अद्वैत सिद्धान्त के ब्रह्म मे विलीन होने[6] के भाव, अथवा योगदर्शन की अलौकिक सिद्धियो[7] के साथ न मिला देना चाहिए। और न ही मुक्ति आनन्द की अभिव्यक्ति है, क्योकि पुरुष सर्वगुणातीत है।[8] धर्मशास्त्रो के वाक्य जो आनन्द के विषय मे कहते है उनका तात्पर्य यही है कि मोक्ष की अवस्था दुःख से छुटकारा पाने का ही नाम है।[9] जब तक पुरुष के अन्दर गुण विद्यमान रहते है वह मुक्त नही है।[10]

भेदज्ञान के उत्पन्न हो जाने पर प्रकृति तुरत ही पुरुष को स्वतन्त्र नही कर देती, क्योकि पिछले स्वभाव के बल के कारण कुछ और काल तक इसका कार्य चलता रहता है।[11] होता केवल इतना ही है कि शरीर इसमे बाधक नही रह जाता। प्रारब्ध-कर्म के बल से शरीर भी चलता रहता है, यद्यपि नये कर्म सञ्चित नही होते। जीवन्मुक्त को यद्यपि अविवेक नही व्याप सकता तो भी उसके पूर्वसस्कार उसे शरीर धारण करने के

१. सांख्यप्रवचनसूत्र, ६ : २० ।

२. योगसूत्र, १ : ४ ।

३. सांख्यप्रवचनसूत्र, ५ : ११७ ।

४. और देखिए सांख्यकारिका, ६५ ।

५. सांख्यप्रवचनसूत्र, ५ : ७७–७६ ।

६. सांख्यप्रवचनसूत्र, ५ : ८१ ।

७. सांख्यप्रवचनसूत्र, ५ : ८२ ।

८. ५ : ७४ ।

९. ५ : ६७ ।

१०. सांख्य का मोक्ष विषयक मत अरस्तू के परमानन्द के मत से भिन्न नही है जिसका रूप सब प्रकार की क्रियाओं से स्वतन्त्र चिन्तनमात्र है ।

११. सांख्यकारिका, ६७ ।

लिए बाध्य करते है ।[१] बन्धन से मुक्ति और शरीर का चलते रहना ये दोनो अवस्थाएं एक-दूसरे के अनुरूप हे (अर्थात् परस्पर-प्रतिकूल नही है), क्योंकि उनके निर्णायक भिन्न-भिन्न कारण है। मृत्यु के उपरान्त जीवन्मुक्त सम्पूर्ण मोक्ष प्राप्त कर लेता है, जिसे 'विदेहकैवल्य' कहते है ।[२] जीवन्मुक्त हमे मोक्ष के स्वरूप और उसकी प्राप्ति के उपायों के विषय मे उपदेश करते है ।[३]

यदि प्रकृति के नाटक का अन्त हो जाता है तो पुरुष फिर दर्शक नही रह जाता, क्योकि उसके देखने को फिर कुछ नही रहता। तो भी ऐसा कहा गया है कि मुक्तात्मा को समस्त विश्व का ज्ञान रहता है ।[४] इस विषय का ज्ञान हमको नही है कि मुक्तात्माओं मे परस्पर सामाजिक सम्पर्क होता है या नही। ऐसा प्रतीत होता है कि वैयक्तिकता का सर्वथा लोप हो जाना ही लक्ष्य है, व्यक्तित्व को ऊचा उठाना लक्ष्य नही है। प्रकृति तथा अन्य आत्माओ से पृथक्त्व की सबसे उच्च अवस्था तो निष्क्रियता ही है, जिसमे भावना का कोई विश्वास अथवा कर्म की कोई चेष्टा क्षोभ उत्पन्न नही कर सकती। बहुत सम्भव है कि इसे मूर्च्छावस्था के समान समझ लिया जाए। प्रशस्तपाद साख्य की मोक्ष-विषयक प्रकल्पना मे आपत्ति उठाता है इस आधार पर कि प्रकृति, जो अपने स्वभाव से ही क्रियाशील है, निष्क्रिय नही रह सकती। यदि प्रकृति ज्ञानरहित है तो वह इस विषय का ज्ञान कैसे प्राप्त कर सकती है कि पुरुष ने सत्य का साक्षात्कार किया या नही ?[५] यदि साख्य के मत मे वस्तुओ का केवल तिरोभाव होता है नाश नही होता, तो अज्ञान तथा वासना आदि के भी पूर्णरूप मे विनाश की कोई सभावना नही है। दूसरे शब्दो मे इसकी पूरी सभावना है कि वे मुक्तात्मा के अन्दर फिर से फूट निकले ।[६]

१८

परलोक-जीवन

साख्य दोनो दिशाओं मे आत्मा के अनन्त जीवन का निश्चित रूप मे प्रतिपादन करता है। यदि आत्मा का जीवन अनन्त काल से न हो तो कोई कारण नही कि इसका जीवन अनन्त काल तक रहे। इसलिए आत्मा अजन्मा है। हम आत्माओं की नित्यता को जितना ही अधिक स्वीकार करेंगे, स्रष्टा ईश्वर की आवश्यकता उतनी ही कम

१. साख्यप्रवचनसूत्र, ३ : ८२–८३ ।
२. छान्दोग्य उपनिषद्, ८ : १२, १ ।
३. ३ : ७९ ।
४. साख्यप्रवचनसूत्र, वृत्ति, ६ : ५९ ।
५. "वस्तुतः, उदाहरण के रूप मे, हम देखते है कि उस अवस्था में भी जबकि यह शब्द का प्रत्यक्षज्ञान करवा देती है, यह उसी प्रत्यक्षज्ञान की ओर फिर भी कार्य करती रहती है ; और इसी प्रकार यह भेदज्ञान करा देने के पश्चात् भी उसी उद्देश्य को लेकर कार्य करती रहेगी, क्योंकि इसकी क्रियाशीलता का स्वभाव (उक्त ज्ञान से) दूर नहीं होगा" (प्रशस्तपादकृत पदार्थधर्मसंग्रह, पृष्ठ ७) ।
६. उदयनकृत 'परिशुद्धि', २ : २, १३ ; शास्त्रदीपिका, पृष्ठ ३२३ से आगे ।

होगी।[1] सांख्य के मतानुसार प्रकृति और पुरुष में भेद न करना ही संसार का कारण है यह अभेदभाव ही अन्तःकरण पर एक संस्कार छोड़ता है, जो आगामी जन्म में उसी साघातिक दोष को उत्पन्न करता है। लिङ्गदेह, अथवा सूक्ष्म शरीर, के अन्दर, जो एक मूर्त शरीर से दूसरे मूर्त शरीर में निरन्तर संक्रमण करता है, बुद्धि, अहङ्कार और मन, पांचों ज्ञानेन्द्रियां तथा पांचों कर्मेन्द्रियां, पांच तन्मात्राएं और भौतिक तत्त्वों के मूलतत्त्व विद्यमान रहते हैं जो बीज का कार्य करते हैं और उनमें से यह भौतिक शरीर उत्पन्न होता है। भौतिक तत्त्वों के ये सूक्ष्म भाग मानसिक उपकरण के लिए ऐसे ही आवश्यक हैं जैसेकि किसी चित्र के लिए पर्दा।[2] यह सूक्ष्म शरीर, जो स्वरूप में अपार्थिव है, अपने नानाविध संक्रमण में किए गए कर्मों के प्रभावों को ग्रहण करता है। नये शरीर के रूप का निर्धारण यही सूक्ष्म शरीर करता है। सुख और दुःख का वास्तविक अधिष्ठान यही है।[3] सूक्ष्म शरीर पुरुष से भिन्न होने पर भी मनुष्य के विशिष्ट लक्षण तथा व्यक्तित्व को बनाता है। उसीके अन्दर संस्कार अथवा पूर्वप्रवृत्तियां निहित रहती हैं। सूक्ष्म शरीर की तुलना नाटक के ऐसे पात्र के साथ की जाती है जो नाना प्रकार की भूमिकाओं में कार्य करता है। इसमें यह शक्ति इसलिए है क्योंकि यह प्रकृति के सर्वव्यापकत्व गुण से महिमा बटाता है। सूक्ष्म शरीर के साथ पुरुष का संयोग दुःख का कारण भी है और लक्षण भी है, और यह तब तक स्थिर रहता है जब तक यथार्थ अन्तर्दृष्टि प्राप्त नहीं हो जाती। जहां सूक्ष्म शरीर बराबर बने रहते हैं, वहां वे शरीर जिनका माता व पिता के द्वारा निर्माण होता है मृत्यु के समय नष्ट हो जाते हैं।[4] सूक्ष्म शरीर का भौतिक शरीर के साथ सम्बन्ध ही जन्म है, तथा उससे पृथक् होना मृत्यु है। उन पुरुषों की अवस्था को छोड़कर जो मोक्ष को प्राप्त कर लेते हैं, लिंग-शरीर का अस्तित्व एवं पुनर्जन्म सम्पूर्ण मन्वन्तर तक रहता है, जिसके अन्त में विश्राम तथा साम्यावस्था की पुनरावृत्ति होती है। किन्तु जब सृष्टि का फिर से आरम्भ होता तो यह पुनः अपने मार्ग पर चल देता है।

यथाक्रम शरीर रूपी ढांचों में प्रतिष्ठापन का निर्णय भावों (प्रवृत्तियों) द्वारा होता है, जो उन कर्मों के परिणाम हैं जिनका सूक्ष्म तथा भौतिक शरीरों के बिना सम्पन्न

1. कुछ विचारक, जैसे गैटेगार्ड, सर्वशक्ति-रहित एक अनुत्पादक ईश्वर के पक्ष में तर्क उपस्थित करते हैं।

2. सांख्यकारिका, 41। इसलिए हम यह नहीं कह सकते कि केवल बुद्धि, अहंकार तथा मन से ही काम चल जाएगा, क्योंकि इन्हें भी एक सूक्ष्म शरीर के आधार की आवश्यकता होती है। कुछ विद्वानों ने मन में यह वाक्य एक स्थूल शरीर की मांग उपस्थित करता है। किन्तु इस प्रकार की व्याख्या सन्तोषजनक नहीं है, क्योंकि यह प्रकट तथ्य है कि एक जीवन से दूसरे जीवन में संक्रमणकाल में सूक्ष्म शरीर बिना स्थूल शरीर के भी विद्यमान रहता है। विज्ञानभिक्षु का सुझाव है कि एक तीसरे प्रकार का भी शरीर है जिसे अधिष्ठान-शरीर कहते हैं और जिसकी रचना भौतिक तत्त्वों के सूक्ष्म रूपों द्वारा होती है तथा जो सूक्ष्म शरीर का ग्रहण करता है (सांख्यप्रवचनभाष्य, 3 . 12)।

3. सांख्यप्रवचनसूत्र, 3 : 8।

4. सांख्यकारिका, 39।

होना असम्भव है।[1] बीज तथा अंकुर की भांति यह अन्योन्याश्रय-निर्भरता अनादि है और इसे दोष न मानना चाहिए।[2] बुद्धि, अहंकार, सूक्ष्म शरीर तथा स्थूल शरीर का विकास एक भौतिक प्रक्रिया है और परिणाम भी भौतिक है, यद्यपि इनमें से कुछ पदार्थ इतनी सूक्ष्म रचना वाले हैं कि साधारण इन्द्रियों द्वारा उनका प्रत्यक्ष नहीं किया जा सकता। यह भौतिक संघटन ही एक जीवित प्राणी, देवता, मनुष्य अथवा पशु बन जाता है, जब इसका सम्बन्ध किसी पुरुष के साथ हो जाता है।

धर्म और अधर्म प्रकृति की उपज हैं और अन्तःकरण के गुण हैं।[3] ये विशेष शरीरों तथा इन्द्रियों के निर्माण में—जो जीवित प्राणियों के अनुकूल हों, अर्थात् विकास की श्रेणी में उनके अपने-अपने स्थान के अनुसार हों—सहायक होते हैं। कर्म का विधान भावों, अर्थात् बुद्धि की प्रवृत्तियों द्वारा कार्य करता है।[4] प्रत्येक आत्मा अपने शारीरिक संघटन की अपेक्षा करती है, और अपने अदृष्ट के अनुसार उच्चतम से निम्नतम प्राणी तक की श्रेणियों में से गुजर सकती है,[5] जो संख्या में चौदह हैं। हमें एक ऐसा शारीरिक संघटन प्राप्त हो सकता है जहां हमारा जीवन अस्पष्ट संवेदनाओं, और पशुओं की सहज प्रवृत्तियों अथवा वनस्पतिजगत् की मूढ गतियों तक सीमित हो। वनस्पतिजगत् भी अनुभव का एक क्षेत्र है।[6] ये सब प्रकृतिजन्य वस्तुएं अन्तर्निविष्ट पुरुष के विकास को रोक सकती हैं किन्तु उसे नष्ट नहीं कर सकतीं।

१९

क्या सांख्य निरीश्वरवादी है

हम देख आए हैं कि किस प्रकार सांख्य के मूल तत्त्वों को उपनिषदों तथा भगवद्गीता में आदर्शपरक ईश्वरवाद के आगे गौण स्थान प्रदान किया गया है। महाकाव्य के दर्शन

१. सांख्यकारिका, ५२। जहां वाचस्पति और नारायण लिंगशरीर तथा भाव के परस्पर-सम्बन्ध की अनुभवकर्ता और अनुभूत पदार्थों के सम्बन्ध के रूप में व्याख्या करते हैं, वहां विज्ञानभिक्षु इसे बुद्धि और इसकी उपाधियों का सम्बन्ध बनाता है।

२. इस प्रकार सृष्टि तीन प्रकार की है: एक, भौतिक सर्ग जिसमें आत्माएं स्थूल शरीरों के साथ रहती हैं। इसमें आठ उत्कृष्ट प्राणियों के और पांच निम्नतम श्रेणी के प्राणियों के वर्ग हैं, जो मानवीय प्रकार के सहित, जिसकी अलग ही एक श्रेणी है, तीनों लोकों में फैले प्राणियों के चौदह वर्ग हो जाते हैं। दूसरी लिंगशरीरों की सृष्टि (तन्मात्रसर्ग), और तीसरी बौद्धिक सृष्टि (प्रत्ययसर्ग अथवा भावसर्ग) जिसके अन्दर बुद्धि की प्रवृत्तियां, भावनाएं और क्षमताएं, जिनके चार विभाग उनके बोधशक्ति को बाधा देने, अयोग्य बनाने, सन्तुष्ट करने तथा सम्पूर्ण करने के कारण किए गए हैं, अन्तर्निहित रहती हैं (सांख्यकारिका, ५३; सांख्यप्रवचनसूत्र, ३ : ४६)।

३. सांख्यप्रवचनसूत्र, ५ : २५; सांख्यकारिका, ४३।

४. सांख्यकारिका, ४०, ४३, ५५; भगवद्गीता, ७ : १२; १० : ४, ५।
तीन प्रकार के शरीरों के लिए देखिए सांख्यप्रवचनसूत्र, ५ : १२४।

५. सांख्यकारिका, ४४।

६. सांख्यप्रवचनसूत्र, ५ : १२।

ने जहा साख्यप्रतिपादित विश्व के सृष्टि-विषयक सिद्धान्त तथा पुरुष की नितान्त निष्क्रियता की प्रकल्पना को अपना लिया, वहा उसने पुरुष तथा प्रकृति को आत्मनिर्भर यथार्थसत्ताओ के रूप मे स्वीकार नही किया, बल्कि इन्हे एक परम ब्रह्म की अवस्थाओं के रूप मे प्रस्तुत किया। तो भी साख्यदर्शन अपने प्राचीन शास्त्रीय रूप मे ईश्वरवाद का समर्थन नही करता। एक परम आत्मा के सर्वोपरि भाव के प्रति अपनी उपेक्षा, तथा अविद्या के सम्बन्ध और आत्मा के ससार मे उलझे रहने के अपने सिद्धान्त से साख्य हमे बौद्ध मत का स्मरण कराता है। यह सम्भव है कि साख्य का प्रयत्न व्यवस्थित रूप मे इस प्रकार की घोषणा करने मे रहा हो कि युक्तियुक्त पद्धति का आश्रय हम आत्माओ की यथार्थता के प्रत्याख्यान की दिशा मे नही ले जाता।

सृष्टिरचना-सम्बन्धी कठिनाइयो का दिग्दर्शन कराया गया है। समस्त कार्य या तो किसी स्वार्थ को लक्ष्य मे रखकर किए जाते है या उपकार की दृष्टि मे किए जाते है। ईश्वर, जिसके सब स्वार्थ पूर्ण हो चुके है, अब और कोई स्वार्थ नही रखता। यदि ईश्वर स्वार्थमय उद्देश्यो अथवा इच्छाओ से प्रभावित होता है तो वह स्वतन्त्र नही है। और यदि वह स्वतन्त्र है तो वह सृष्टिरचना-सम्बन्धी कार्य मे अपने को लिप्त नही करेगा।[1] यह कहना कि ईश्वर न तो स्वतन्त्र है, न बद्ध ही है, तर्क के समस्त आधार को ही मिटा देना होगा। ससार की रचना का दया का कार्य नही माना जा सकता, क्योंकि सृष्टि-रचना से पूर्व आत्माओ को कोई दुःख नही था, जिससे छुटकारा पाने की उन्हे आवश्यकता हो। यदि ईश्वर केवल शुभ कामना से ही प्रेरित हो तो उसके द्वारा उत्पन्न सभी प्राणी सुखी होने चाहिए थे। यदि यह कहा जाता है कि आचरण के भेदो के अनुसार ईश्वर को मनुष्यो के साथ भिन्न-भिन्न बर्ताव करना होता है, तो इसका उत्तर यह है कि कर्म-विधान ही कार्यकारी सिद्धान्त हुआ और ईश्वर की सहायता अनावश्यक है।[2] फिर भौतिक पदार्थ का उद्भव एक अभौतिक आत्मा से नही हो सकता। पुरुषो का नित्य-जीवन ईश्वर की अनन्तता तथा उसके कर्तृत्व के साथ सगति नही रखता। ईश्वरवाद अमरत्व मे आस्था को दुर्बल करता हुआ प्रतीत होता है, क्योंकि यदि आत्माओ का स्रष्टा कोई है, तो आत्माए अनादि न हुई और तब आत्माए अमर भी नही हो सकती। साख्य का, जो ज्ञान की कडी सीमाओ के ही अन्दर रहने के लिए उत्सुक है, यह मत है कि ईश्वर की यथार्थता तार्किक प्रमाणो द्वारा सिद्ध नही की जा सकती।[3] ईश्वर के पक्ष मे कोई युक्तियुक्त प्रमाण, अथवा आनुमानिक ज्ञान अथवा श्रुतिविहित प्रमाण नही है। साख्य इन अर्थों मे अनीश्वरवादी नही है कि वह यह सिद्ध करता है कि ईश्वर नही है। यह केवल यही प्रदर्शित करता है कि ईश्वर है—ऐसी कल्पना करने का कोई हेतु

१. साख्यप्रवचनसूत्र, १ : ९३-९६।

२. साख्यप्रवचनसूत्र, ५ : १। देखिए तत्त्वकौमुदी, ५७।

३. साख्यप्रवचनसूत्र, ५ : १२। तुलना कीजिए डार्विन : "सब वस्तुओ के प्रारम्भ-सम्बन्धी रहस्य का हम उदघाटन नही कर सकते, और कम से कम मै तो अवश्य अज्ञानी बने रहने में ही सन्तोष-लाभ करूंगा" (लाइफ एण्ड लेटर्स आफ चार्ल्स डार्विन)।

नही है।[1] धर्मशास्त्रो मे जो ईश्वरवादपरक वाक्य आते है, वे वस्तुत मुक्तात्माओं की स्तुतिया है।[2]

वैदिक ऋचाओ के पुरातन देवता हेतुवादी सांख्य की छत्रछाया मे रह सकते है। किन्तु वे स्वरूप मे नित्य नही है। सांख्य एक व्यवस्थापक ईश्वर की कल्पना को स्वीकार करता है, जो सृष्टिरचनाकाल मे प्रकृति के क्रमिक विकासो की व्यवस्था करता है। शिव, विष्णु इत्यादि केवल प्रतीतिरूप माने गए है।[3] सांख्य एक ऐसे ईश्वर को मानता है जो पहले प्रकृति के अन्दर लीन था और पीछे से प्रकट हुआ।[4] आत्माए, जो महत् आदि के प्रति अनासक्ति भाव के अभ्यास द्वारा प्रकृति मे लीन हो जाती है, सर्वज्ञ तथा सर्वकर्ता कही जाती है।[5] ये वे लक्षण है जिन्हे हम साधारणतया ईश्वर के बताते है, किन्तु क्योकि सांख्य के मत मे प्रकृति सदा दूसरे के शासन मे रहती है,[6] इसलिए ये देवता स्वतन्त्र नही है।

प्रकृति का अचेतन किन्तु अन्तःस्थ हेतुविज्ञान जो हम लीब्नीज के पूर्वस्थित सामञ्जस्य के सिद्धान्त का स्मरण कराता है, सांख्यदर्शन मे एक कठिन समस्या है। यह कैसे होता है कि प्रकृति का विकास आत्माओ की आवश्यकताओ के अनुकूल हो जाता है? पुरुष के बिना प्रकृति निःसहाय है, और न ही पुरुष प्रकृति की सहायता के बिना मोक्ष प्राप्त कर सकता है। दोनो को एक-दूसरे मे नितान्त विलक्षण मानना कठिन है। लगड़े और अधे का दृष्टान्त असगत है, क्योकि वे दोनो चेतन है और परस्पर परामर्श कर सकते हैं। परन्तु प्रकृति चेतन नही है।[7] फिर, अन्त मे केवल पुरुष ही मोक्ष प्राप्त करता है ऐसा कहा गया है, प्रकृति नही। चुम्बक तथा लोहे के टुकडे की उपमा भी यहा ठीक नही बैठ सकती, क्योकि पुरुष और प्रकृति के सान्निध्य का स्थायित्व होने से विकास का भी कभी अन्त न होगा। प्रधान ज्ञानविहीन है और पुरुष उदासीन है, और उन्हे परस्पर सम्बद्ध करनेवाला कोई तीसरा तत्त्व नही है। ऐसी अवस्था मे दोनो का सम्बन्ध नही हो सकता।[8] उस नटी की उपमा जो दर्शको के आगे प्रदर्शन करके अपना नाच बन्द कर देती है, सम्यक् कल्पना प्रतीत नही होती। पुरुष भूल से प्रकृति के साथ सम्मिश्रित हो जाता है, और उसके प्रतिकार का उपाय इस गडबड को और अधिक गडबडाता प्रतीत होता है। कहा जाता है कि बुराई को उसका पूर्ण उपभोग करके दूर करना है। पुरुष को मोक्ष तब होगा जब इसे प्रकृति के कार्यकलाप से सर्वथा विरक्ति हो जाएगी।

१. वह यह नहीं कहता "ईश्वराभावात्" किन्तु केवल यही कहता है— "ईश्वरासिद्धेः"।
२. सांख्यप्रवचनसूत्र, १, १५, ३ : ५४-५६।
३. सांख्यप्रवचनसूत्र, ३ : ५७।
४. प्रकृतिलीनस्य जन्येश्वरस्य सिद्धिः (सांख्यप्रवचनभाष्य, ३ : ५७)।
५. सर्ववित् सर्वकर्ता, (सांख्यप्रवचनसूत्र, ३ : ५६)।
६. सांख्यप्रवचनसूत्र, वृत्ति, और सांख्यप्रवचनभाष्य, ३ : ५५, और योगसूत्र, ४ : ३।
७. शाङ्करभाष्य, २ : २, ७।
८. शाङ्करभाष्य, २ : २, ७।

परवर्ती विचारको ने पुरुष की आवश्यकताओ तथा प्रकृति के कर्मों के इस सामञ्जस्य की व्याख्या करना असम्भव देखा, और इसलिए बाधाओं को दूर करके प्रकृति के विकास के मार्गप्रदर्शन का कार्य ईश्वर के सुपुर्द किया ।[1] इस प्रकार उन्होने उक्त दर्शन की मौलिक योजना को उत्कृष्ट बनाया । सांख्य की मांग एक ऐसे सर्वग्राही जीवन के लिए है जो भिन्न-भिन्न पुरुषो को उनके अपने-अपने सस्थान सुपुर्द करता है । वाचस्पति का मत है कि प्रकृति के विकास का सचालन एक सर्वज्ञ आत्मा द्वारा होता है । विज्ञानभिक्षु का विचार है कि कपिल द्वारा ईश्वर का निषेध एक प्रकार का नियामक सिद्धान्त है जिसपर उसने इसलिए आग्रह किया कि जिससे मनुष्यो को एक नित्य ईश्वर की ओर अत्यधिक ध्यान लगाना छोडने के लिए फुसलाया जा सके, क्योंकि ईश्वर की ओर अत्यधिक ध्यान लगाना सत्य तथा भेदविधायक ज्ञान के मार्ग मे बाधक होता है । अनीश्वरवाद को भी वह एक अनावश्यक रूप मे अमर्यादित दावा (प्रौढिवाद) मानता है, यह दिखाने के लिए कि साख्यदर्शन को एक ईश्वरवादी प्रकल्पना की आवश्यकता नही है । कभी कभी वह साख्य के अनीश्वरवाद को प्रचलित मतो के प्रति रियायत बताता है ।[2] और बहुत ही भोलेपन मे यह भी सुझाव देता है कि निरीश्वरवाद का आविष्कार इस निश्चित उद्देश्य को लेकर किया गया है कि दुर्जन पुरुषो को भरमाया जा सके, जिससे कि वे यथार्थ ज्ञान को प्राप्त करने मे दूर रहे । ईश्वर के विषय मे साख्य के भाव की व्याख्या कर डालने का भी वह प्रयत्न करता है । अनेक स्थानो पर[4] विज्ञानभिक्षु साख्य के विचारो तथा वेदान्त के विचारो मे परस्पर समन्वय स्थापित करने का प्रयत्न करता है । वह एक व्यापक पुरुष की यथार्थता को स्वीकार करता है । "वह, सर्वोपरि, अर्थात् व्यापक सार्वभौम सामूहिक पुरुष है, सब कुछ जानने तथा सब कुछ करने की शक्ति रखता है, और चुम्बक पत्थर के समान केवल सान्निध्य के कारण गति देने वाला है ।"[6] जो भी साख्य तत्त्वज्ञान-विषयक मौलिक समस्या को दृष्टि से ओझल कर देता है, क्योंकि यह पर्याप्त रूप मे सर्वाङ्गीण नही है । इसके समक्ष इस प्रकार का एक भ्रमपूर्ण विचार रहा कि उक्त जिज्ञासा का इसके अपने प्रयोजन के साथ कोई सम्बन्ध नही है ।

१ वाचस्पति, विज्ञानभिक्षु और नागेश । तुलना कीजिए वाचस्पति : "ईश्वरस्यापि धर्माधिष्ठानार्थं प्रतिबन्धापनय एव व्यापारः" (तत्त्ववैशारदी, ४ . ३) ।

२ अभ्युपगमवाद (साख्यप्रवचनभाष्य-प्रस्तावना) ।

३ पापिनां ज्ञानप्रतिबन्धार्थम् ।

४ साख्यप्रवचनभाष्य, १ : १२०; ५ : ६१, ६५; ६ : ५२, ६६ ।

५ ससार के उपादान कारण प्रकृति को ब्रह्म से अविभक्त बताया गया है । और यह ब्रह्म आत्माओं से भिन्न है (साख्यप्रवचनभाष्य, १ : ६९; ३ : ६) ।

६ स हि परः पुरुषसामान्य सर्वज्ञानशक्तिमत्त्व सर्वकर्तृताशक्तिमत्त्व च (साख्यप्रवचनभाष्य, ३ : ५७) । और देखिए साख्यप्रवचनभाष्य, ५ : १२ ।

२०

सामान्य मूल्यांकन

दार्शनिक विचारधारा के इतिहास का विद्यार्थी मौलिक समस्याओं की पुनरावृत्ति को निरन्तर ही पाता है, भले ही उनके कथन विविध प्रकार के क्यों न हो और भले ही उनके रचयिताओं का काल तथा स्थान एक-दूसरे से कितना ही भिन्न क्यो न हो। समस्याओं में परिवर्तन नही होता, समाधानों के अन्दर भी उतना परिवर्तन नही होता, जितना कि उनके प्रयोग मे होता है। जब विकास की वैज्ञानिक प्रकल्पना जीवन के अत्यन्त अपरिपक्व अंकुर से लेकर पूर्ण विकसित पुष्प समान पुरुष तक विकास की एक सुव्यवस्थित प्रक्रिया की खोज करती है, तो यह प्रकल्पना ऐसी नही है जिसे नया समझा जा सके, क्योंकि यह इतनी ही पुरातन है जितनी कि भारत में उपनिषदें अथवा यूनान में अनाक्सिमाण्डर, हिरैक्लिटस और एम्पिडोक्लीज है। किन्तु इस विषय मे, जो नवीन है, वह विकास के ब्यौरो का परीक्षणात्मक अध्ययन और आधुनिक विज्ञान द्वारा उक्त प्रकल्पना का प्रमाणीकृत किया जाना है। साख्य की प्रकल्पना, जो मनुष्य के मानसिक अनुभव की आवश्यकता को कुछ सन्तोष प्रदान करती है, एक ऐसा दार्शनिक विचार है जो अधिकतर तत्त्वविज्ञान-विषयक प्रवृत्तियो के साचे के प्रभाव से प्राप्त हुआ है, न कि पदार्थों के अस्तित्व-सम्बन्धी अध्यवेक्षण से उत्पन्न वैज्ञानिक प्रेरणा द्वारा मिला है। किन्तु साख्य का दार्शनिक मत, जो प्रकृति और पुरुष के द्वैतभाव तथा अनन्त पुरुषों के अनेकत्व का प्रतिपादन करता है और जिसके अनुसार प्रत्येक पुरुष असीमित है और तो भी अन्यों की असीमितता का व्याघात नहीं करता और उनसे बाह्य तथा स्वतन्त्र अस्तित्व रखता है, दर्शनशास्त्र की मुख्य समस्या का सन्तोषप्रद समाधान नही माना जा सकता। द्वैतवादपरक यथार्थवाद मिथ्या तत्त्वविज्ञान का परिणाम है। हमारे लिए प्रारम्भ में ही यह समझ लेना ठीक होगा कि पुरुष और प्रकृति अनुभवजन्य तथ्य नहीं हैं, बल्कि अनुभव से परे की इस प्रकार की अमूर्तभावात्मक सत्ताए है जिन्हे इस समस्या की व्याख्या के लिए मान लिया गया है।

सांख्य की पुरुष-विषयक प्रकल्पना का तात्पर्य इस मौलिक तथ्य मे है कि चैतन्य गति, ताप तथा विद्युत् की भांति शक्ति का एक रूप नही है। अत्यन्त समुन्नत विज्ञान केवल मात्र एक ऐसे सम्बन्ध को ही सिद्ध कर सका है जिसमे कतिपय स्नायविक प्रक्रियाएं कतिपय चैतन्यपूर्ण घटनाओं के साथ समन्वित रहती है। जहां भौतिक जीवन से हमें चैतन्य की प्राप्ति नही हो सकती, वहां चैतन्य को अपने ऐहलौकिक रूप में भौतिक जीवन के माध्यम का संसर्ग मिलता है। इस अनिवार्य सम्बन्ध को दृष्टि से ओझल करना भूल है। पुरुष के विषय में कहा गया है कि उसका अस्तित्व मानसिक अवस्थाओं की अविच्छिन्न गति से ऊपर तथा उनसे पृथक् है। इस प्रकार का पुरुष न तो अनुभवगम्य है और न ऐहलौकिक तत्त्वविज्ञान के विचार-क्षेत्र में आता है। यदि हम पुरुष से उस सबको पृथक् कर दे जो भौतिक है, अनुभूत पदार्थों के प्रत्येक गुण को उससे हटा दें, तो ऐसी प्रत्येक सामग्री जिसके द्वारा हम इसको निश्चित रूप से लक्षित कर सकें,

हमारे वश के बाहर हो जाएगी। निषेधात्मक पद्धति का अवलम्बन करके पुरुष की परिभाषा करते हुए, उसे नित्य तथा अखण्ड कहा गया है, "जो परिणामी नही है अर्थात् विविधता की छाया से भी रहित है" और सदा अपने विशुद्ध आत्मस्वरूप मे अवस्थित है। यहा तक कि यह आदर्श क्रियाशीलता से भी वञ्चित है और एक विशुद्ध चेतना की सम्भावना मात्र बनता है। हमारे व्यक्तित्व के अन्दर इसकी कल्पना इस रूप मे की गई है कि यह ऐसा एक तत्त्व है जो हमारी मानसिक प्रक्रियाओ को, जिनका उद्गम हमारे भौतिक सघटन द्वारा हुआ है, प्रकाशित करता है। यह उस नाटक के पात्रो मे सम्मिलित नही है जिसका कि यह साक्षीरूप मे द्रष्टा है। वह आत्मा जिसके उपयोग के लिए प्रकृति की कला का अस्तित्व है, कभी रगमच पर नही आती, यद्यपि यह कहा जाता है कि समस्त अनुभव उसकी ओर सकेत करता है। हम जो दृष्टिगत होता है वह जीव है, जो विशुद्ध पुरुष नही है, बल्कि प्रकृति की उपाधि से युक्त पुरुष है। प्रत्येक आत्मा जो हमारे ज्ञान मे आती है शरीरधारी आत्मा है। हम जीव की एकता का विभाजन कर देते है जब हम उसे उस पुरुष की बगल मे रखते है जो अपने मे परिपूर्ण है और बाह्य जगत के पदार्थो तथा प्राणियो के साथ, जो केवल प्रकृतिजन्य पदार्थों के सघटन है, केवल आनुषङ्गिक रूप मे सम्बद्ध है। यदि हम अनुभवजन्य तथ्यो मे ठीक-ठीक विश्वास करे तो हमे स्वीकार करना होगा कि एक निर्गुण आत्मा, जिसमे से समस्त वस्तुविषय निकाल दिया गया है, केवल एक कल्पित रचना है।

पुरुष के अस्तित्व को सिद्ध करने के लिए दी गई साख्य की युक्तिया आनुभविक व्यक्तियो के अस्तित्व का ही प्रमाण बनती है अतीन्द्रिय प्रमाताओ के अस्तित्व का नही। यह तथ्य साख्य की पुरुषो के अनेकत्व की प्रकल्पना मे स्पष्टरूप मे प्रकट हो जाता है। पुरुषो के अनेकत्व के विषय मे प्रधान हेतु जो दिया गया है वह यह है कि यदि केवल एक पुरुष होता तो जब इसकी बुद्धि भ्राति से वापिस लौटती तो समस्त सृष्टि की प्रक्रिया का अन्त हो जाता। किन्तु ऐसा कुछ नही होता। यह विश्वरूपी नाटक अनन्त बद्ध आत्माओ के लिए तब भी निरन्तर चलता रहता है जबकि कुछ एक आत्माए मोक्ष प्राप्त कर लेती है। यह युक्ति कि यदि पुरुष अनेक न होकर एक ही हो तो शरीरो मे अवस्थित सभी जीवात्माए एक ही समय मे मृत्यु को प्राप्त हो जाए और एक ही समय मे जन्म ग्रहण करे, इस धारणा के आधार पर है कि जन्म तथा मृत्यु शाश्वत पुरुष पर लागू है, जो साख्यदर्शन का अभिमत नही है। हम केवल यही अनुमान कर सकते है कि शरीरधारी आत्माए अनेक है और भिन्न-भिन्न है, क्योकि वे सब एकसाथ न जन्म लेती है, न मरती है। यदि एक मनुष्य किसी विशेष पदार्थ को देखता है तो अन्य मनुष्य उसे उसी समय मे नही देखते, क्योकि प्रत्येक जीवात्मा का अपना-अपना शारीरिक सघटन तथा अपनी-अपनी रुचि है। अनुभवसिद्ध आत्माओ की अनेकता मे, जिसे सभी दार्शनिक स्वीकार करते है, नित्य आत्माओ की अनेकता के प्रति, जिसे साख्य मानता है, जाने की आवश्यकता प्रतीत नही होती। साख्य-प्रतिपादित पुरुष प्रकृति से सर्वथा भिन्न है।

१. सर्वसिद्धान्तसारसग्रह, १२ : ६८–६६।

हम इसके सम्बन्ध मे किसी प्रकार के विशिष्ट लक्षणों, जैसे व्यक्तित्व अथवा सृजनशक्ति आदि का प्रयोग नही कर सकते। पुरुषों के विषय में सब प्रकार का विशिष्ट लक्षणो का प्रयोग सम्भ्रम के कारण है। आत्मा सब प्रकार के गुणो से रहित है, अखण्ड है, अविनश्वर है, अचल है, सर्वथा निष्क्रिय तथा धीर है सुख-दुःख तथा अन्य किसी प्रकार की भावना से अप्रभावित रहती है। समस्त परिवर्तन तथा लक्षण प्रकृति से सम्बद्ध है। पुरुषों के अन्दर भेद प्रतिपादन करने का कोई आधार प्रतीत नही होता। यदि प्रत्येक पुरुष के अन्दर एक ही समान चैतन्य तथा सर्वव्यापकता के लक्षण है, एक-दूसरे के अन्दर न्यूनातिन्यून भेद भी नही है, क्योकि वे सब प्रकार की विविधता से उन्मुक्त है, तो पुरुषों के अनेकत्व की कल्पना करने का कोई भी कारण नही रहता। बिना भेद के बहुत्व असम्भव है। यही कारण है कि गौडपाद सरीखे सांख्य के टीकाकारो का भी झुकाव एक पुरुष की प्रकल्पना की ओर है।[1] वस्तुओ का सुखोपभोक्ता एक अवश्य होना चाहिए, वह यह दर्शाता है कि एक सुखोपभोक्ता आत्मा है, निष्क्रिय पुरुष नही है। रूप, जन्म, मृत्यु, उद्भवस्थान तथा भाग्यसम्पद् के पृथक्-पृथक वितरण हमे केवल अनुभूतिसिद्ध ऐहलौकिक जीवो के बहुत्व की ओर ले जाते है। तीन वृत्तियो की भिन्न भिन्न अवस्थाओ से हम मौलिक अनेकत्व का अनुमान नही कर सकते, क्योकि वे तो केवल प्रकृति के रूपान्तर हैं। यह कहा जाता है कि प्रकृति के विषय मे जो सांख्य का यह मत है कि प्रकृति पुरुषो के भोग तथा मोक्ष के लिए प्रवृत्त होती है, इस मत की माग है कि पुरुषो को अनेक होना चाहिए। यदि पुरुष केवल एक ही होता तो बुद्धि भी एक होती। किन्तु हमे याद रखना चाहिए कि विशुद्ध पुरुष अमर तथा उदासीन है और उसे किसी विषय की कामना नही है। प्रकृति का नाटक सदास्वतन्त्र पुरुषो के लिए नही है, बल्कि केवल प्रतिबिम्बित अहभावरूप जीवात्माओ के लिए है। जीवात्माओ के अनेकत्व के विषय मे कोई विवाद नही है। अधीक्षण तथा मोक्ष के लिए उत्कण्ठा उन आत्माओ के लिए ही ठीक है जो भेद न करने के कारण दुःख पा रही है। भिन्न-भिन्न युक्तियां प्रकृति से सम्बद्ध वास्तविक आत्माओ के ही बहुत्व को सिद्ध करती है, उस पुरुष को नही जिसे हम नेति-नेति के मार्ग से प्राप्त करते है। अनेकत्व मे सीमितताए निश्चित रहती है, और एक परम, अविनश्वर, शाश्वत तथा अनुपाधिक पुरुष एक से अधिक नही हो सकता। यदि पुरुष की सत्ता प्रकृति के अभिनय के लिए आवश्यक है तो एक पुरुष पर्याप्त है।[2] यह प्रकट है कि सांख्य पुरुष की यथार्थसत्ता को स्वीकार करने के लिए बाध्य है, क्योकि इसका

१. देखिए सांख्यकारिका, ११ और ४४ पर गौडपाद।

२. सर्वव्यापक आत्माओं के अनेकत्व के विषय में, जिनका स्वरूप निर्गुण तथा सर्वातिश्रेष्ठ विशुद्ध प्रज्ञा है, शङ्कराचार्य कहते है, "यह सिद्धान्त कि सब आत्माए प्रज्ञास्वरूप है और उनमें प्रकृति से सान्निध्य आदि (निष्क्रियता अथवा आत्माओं के औदासीन्य) के विषय में कोई भेद नहीं है, यह उपलक्षित करता है कि यदि एक आत्मा का सम्बन्ध सुख और दुःख मे है तो सब आत्माए सुख-दुःख में सम्बद्ध रहेंगी" (शाङ्करभाष्य, २ : ३, ५०)। "यह मानना कि अनेकों सर्वव्यापी आत्माए है, असम्भव है, क्योंकि इस प्रकार का कोई दृष्टान्त नहीं मिलता" (शाङ्करभाष्य, २ : ३, ५३)। आत्माए यदि एकसमान सर्वत्र व्यापक हैं तो सब एक ही स्थान को घेरेंगी।

महत्त्व जगत् की व्याख्या करने के लिए है। प्रत्येक चैतन्यपूर्ण अवस्था का सम्बन्ध एक सचेतन व्यक्ति के साथ होता है। हमे केवल तभी सवेदना होती है जब आत्मा किसी एक रूप मे सवेदना प्राप्त करती है, अन्यथा कभी नही होती। किन्तु हम पुरुष की आत्मा को उसके अनुभवो से पृथक् करके कैसे जान सकते है। जहा हम मानसिक तथ्यो का विवरण बिना किसी मानसिक प्रमाता (विषयी) की कल्पना किए नही दे सकते, वहा हम उनका विवरण सही-सही नही दे सकते, यदि उस प्रमाता (विषयी) को किसी अभौतिक द्रव्य का रिक्त केन्द्र बना दे या उसे एक ऐसी सार्वभौमिकता का अपरिवर्तनीय तत्त्व मान ले जो सम्बन्धित विशिष्ट तथ्यो से सर्वथा असम्बद्ध हो। पुरुष की उपस्थिति के द्वारा अपने चैतन्यपूर्ण अनुभवो की सगति की व्याख्या करना, वस्तुत, तथ्य के विशिष्ट स्वरूप को फिर से दोहराना है और साराश मे इसे अपना कारण आप बनाना है। पुरुष कोई ऐसा अतिप्राकृतिक आच्छादन नही है जो अपने अन्दर समस्त चैतन्य अनुभवो को समाविष्ट कर ले। समस्त साख्य मे पुरुष और जीव के बीच कोई स्पष्ट भेद नही मिलता। यदि पुरुष अनादिकाल से अपरिवर्तनीय, निष्क्रिय तथा सर्वथा पृथक् है, तो यह ज्ञाता अथवा उपभोक्ता नही हो सकता, क्योकि उस अवस्था मे वह अध्यारोपण के आधार पर भूल भी कर सकता है।[1] किन्तु ये गुण प्रकृति के नही हो सकते, क्योकि ये प्रज्ञावान प्राणियो के गुण है। अध्यारोपण अथवा अध्यास का तात्पर्य है किसी प्रज्ञासम्पन्न प्राणी द्वारा एक पदार्थ के गुणो का दूसरे पदार्थ मे आधान किया जाना। इस प्रकार जीवात्मा के विचार का विकास हुआ। जीवो का अस्तित्व व्यक्तियो के रूप मे है। परन्तु इससे हम यह परिणाम नही निकाल सकते कि पुरुष अपना स्वतन्त्र अस्तित्व किसी अन्य लोक मे, जो देश और काल की परिधि से बाहर है रखते है। पुरुष पूर्ण आत्मा का नाम है, जिसे मनुष्यदेहस्थ आत्मा के साथ न मिला देना चाहिए। पुरुष निश्चय ही मुझमे, इस व्यक्तिरूप मुझमे, है जो मेरा अन्तस्तत्त्व तथा सारतत्त्व है। और जीव अथवा व्यक्ति, अपनी समस्त अविवेकपूर्ण सनको तथा स्वार्थपरक उद्देश्यो सहित, उस पुरुष की केवल विकृति है। इस प्रकार का कथन कि प्रत्येक जीव अपने पुरुष को समझने के लिए प्रयत्नशील है, यह निर्देश करता है कि प्रत्येक जीव मौलिक रूप मे पुरुष है, प्रत्यक मानव मौलिक रूप मे दिव्य है।

प्रकृति भी अनुभव से एक अपकर्षण है। पदार्थ जगत् के पक्ष मे यह एक प्रतिबन्धकभाव है। यह उस अज्ञात तथा पदार्थ-जगत् के कल्पनात्मक कारण की सज्ञा है। यदि यथार्थ अनुभवसिद्ध है, तो प्रकृति विशुद्ध प्रमेय विषय का ऐसा अपकर्षण है जो बुद्धिगम्य नही है। जब प्रकृति के लिए 'अव्यक्त' शब्द का प्रयोग किया जाता है तो प्रकृति का उक्त स्वरूप स्वीकार कर लिया जाता है। यह केवल मात्र रिक्तता है, क्योकि यह वस्तुओ का रूपरहित अधिष्ठान है। पदार्थ जगत् के सर्वाधिक सामान्य लक्षण प्रकृति-विषयक विचार के अन्दर सक्षिप्त रूप मे आ जाते है। शारीरिक तथा मानसिक सृष्टि का प्रत्येक भाग उस तनाव का[2] प्रतीक है जो एक गुण और उसके विरोधी के मध्य

१. साख्यकारिका, २०–२१।
२. विषमत्व। देखिए मैत्रायणी उपनिषद्, ५ : २।

विद्यमान है और जो क्रियाशीलता को उत्पन्न करता है। यदि परिवर्तन अन्तर्निहित क्षमता का वास्तविकता तक पहुंचने का मार्ग है, तो इसे एक प्रकार का ऐसा संघर्ष मानना चाहिए जो किसी भी आकृति को अपने यथार्थरूप को प्राप्त करने के लिए मार्ग में आनेवाली बाधाओ पर विजय पाने के लिए करना होता है। तीनों गुण समस्त सत्ता के तीन क्षणों को दर्शाते हैं; और प्रकृति, जिसे तीनों गुणों की साम्यावस्था कहा गया है, समस्त जीवन का केवल ढांचा मात्र है। जैसाकि महादेव कहता है, यह ऐसी कोई वस्तु नहीं है जो गुणों की पृष्ठभूमि मे रहती है, किन्तु गुणों की त्रिमूर्ति है।[1] तीनों गुण प्रकृति के रूप हैं, धर्म नही। यथार्थ में जो एक भावात्मक अपकर्षण है वह, व्यावहारिक दृष्टिकोण से देखने पर, एक भेदरहित बहुगुण बन जाता है, जिसके अन्दर सब वस्तुओं को उत्पन्न करने की क्षमता विद्यमान है।

सांख्य में प्रतिपादित प्रकृति तथा गुणों की परिभाषा से ऐसा मत बनाने की प्रवृत्ति होती है कि प्रकृति तथा उसका विकास ये अन्ततोगत्वा सही अर्थो में यथार्थ नहीं है। तीनों गुण समस्त जीवन की आवश्यक अवस्थाओं के उपलक्षण है। प्रकृति के विकास की प्रत्येक स्थिति मे सन्निहित है--एक आदर्श अथवा आशय (सत्त्व); उसे प्राप्त करने का प्रयत्न (रजस्); और एक भौतिकता (तमस्)। ये अपकर्षण नही है, बल्कि, कम से कम विज्ञानभिक्षु की सम्मति में, निश्चित विध्यात्मक सत्ताए है। बिना इनके कुछ भी नही रह सकता। साख्य के अनुसार, ये सघर्ष की स्वाभाविक स्थिति मे रहते है। प्रकृति के अन्दर विरोधी क्षमताए रहती है। इसमे केवल क्रियाशीलता की प्रवृत्ति ही नही है, बल्कि क्रियाशीलता का विरोध करनेवाली विपरीत प्रवृत्ति भी है। तमस् एक निरोधक शक्ति है। क्रियाशीलता मे बाधा डालने के कारण यह क्रियाशीलता का आधार भी बन जाता है। सत्तावान, अथवा वह जिसके अन्दर तीन गुण है, अधिक से अधिक यथार्थता का नही, बल्कि एक स्थिति का प्रतिनिधित्व करता है। सत्त्व, रजस् और तमस् को एक ओर विरोधी स्थिति मे विद्यमान मानना और दूसरी ओर पदार्थ के घटक मानना केवल तभी सम्भव है जबकि हम यह स्वीकार करे कि प्रत्येक पदार्थ, जिसके अन्दर गुण है, एक संघर्ष है, एक अयथार्थसत्ता है जो अपने-आपको अतिक्रमण करने का प्रयत्न कर रही है। इस प्रकृतिरूप जगत मे कोई व्यक्ति ऐसा नही जो परिपूर्ण हो और सामञ्जस्य धारण किए हो, क्योकि सदा ही एक गुण अन्य गुणो को अपनी अधीनता में रखता है। यहा तक कि जब सत्त्व का प्राबल्य होता है तब भी तमस् विद्यमान रहता है, यद्यपि वह सत्त्व की अधीनता मे रहता है। विकास इससे अधिक और कुछ नहीं है कि किसी एक गुण का प्राधान्य हो, अथवा किसी एक गुण का दमन हो। किन्तु दमन सर्वथा दमन नहीं है। कोई एक गुण अन्य गुणो का मूलोच्छेदन नही कर सकता। हम ऐसी किसी अवस्था को विचार मे नहीं ला सकते जबकि सत्त्व, रजस् और तमस् अन्यों पर विजय प्राप्त करके अपने-आपमें अस्तित्व रखते हों, या सामञ्जस्य भाव से रहते हों। प्रलयकाल मे वे नितान्त सामञ्जस्यपूर्ण अवस्था में रहते प्रतीत होते हैं।

१. सांख्यप्रवचनसूत्र, वृत्तिसार, १ : ६१। और देखिए ६ : ३६। तुलना कीजिए : गुणा एव प्रकृतिशब्दवाच्या न तु तदतिरिक्ता प्रकृतिरस्ति (योगवार्तिक, २ : १८)।

किन्तु यह केवल प्रतीतिमात्र ही है, क्योंकि प्रकृति के विषय मे कहा गया है कि यह प्रलय मे तनाव की स्थिति मे रहती है। इसमे तीन गुण है, परन्तु क्योकि तीनो एक समान शक्तिशाली है, इसलिए कोई विकास नही होता। विकास तब होता है जबकि इनमे से किसी एक गुण का अधिक प्राधान्य हो जाता है। जब तक सामञ्जस्य नही हो जाता, विकास-कार्य का अन्त नही होता। साख्यदर्शन ऐसी एक अवस्था की आशा नहीं रखता जो पूर्णता की अवस्था हो और जिसमे तीनो गुण सामञ्जस्य-भाव मे रहे। प्रकृति की मूल अवस्था सामञ्जस्य की अवस्था नही कही जा सकती। यथार्थ मे, यह असमञ्जस की अवस्था है, अर्थात् ऐसी अवस्था जिसमे प्रकृति को न तो हम क्रियाशील ही कह सकते है और न निष्क्रिय ही कह सकते है। परस्पर असगत एक-दूसरे के सर्वथा विरोध मे स्थित प्रतीत होते है। यह इतनी सम्भावना नही बल्कि उसकी सीमा अर्थात् असम्भावना है, जहा सम्भावनाए इतनी अधिक विभक्त रहती है कि वे परस्पर-विरोधी होती है। प्रकृति को किसी भी अर्थ मे न तो एकत्व और न सामञ्जस्य ही माना जा सकता है। यह मूर्तरूप सामान्य नही है जो भिन्न-भिन्न सत्ताओ को बन्धन मे एकत्र रखता है, अथवा सत् का नग्न स्वरूप भी नही है जो उन सबका लक्षण है। यह गुणो की एक क्षुब्ध अवस्था है। प्रकृति के क्षेत्र मे व्यवस्था लाने तथा उसे सार्थक करने के लिए पुरुष की आवश्यकता है। पुरुष के प्रभाव से असमञ्जस की अवस्था लुप्त हो जाती है, कोई न कोई गुण औरो का दबाकर सर्वोपरि हो जाता है। पूर्णता की अवस्था कभी नही हो सकती। गुणो के लिए सामञ्जस्य असम्भव है। जहा पूर्णता की अवस्था नही है, वहा परिवर्तन, विकास अथवा उलझाव का प्रकट हो जाना आवश्यक है। प्रकृति का जगत् अपने-आपमे यथार्थ नही है। इसके तीनो गुणो को धारण करने मे ही इसका आत्मविरोधी स्वरूप प्रकट होता है। क्योकि पूर्णता अथवा यथार्थता वह है जिसमे तीनो गुणो के विरोध का दमन कर दिया गया हो अथवा अतिक्रमण कर लिया गया हो, और प्रकृति का स्वरूप ऐसा नही है, इसलिए यह यथार्थ नही है। प्रकृति की प्रक्रिया की अन्तविहीनता ही इसे अयथार्थ तथा सापेक्ष बना देती है। अद्वैत वेदान्त इस परिणाम का सामना करता है और प्रकृतिजगत को माया मानता है।

यदि प्रकृति के सम्बन्ध मे हम साख्य के मत को तथा पुरुष से इसकी नितान्त स्वतन्त्रता को स्वीकार करे, तो प्रकृति के विकास की व्याख्या करना असम्भव हो जाएगा। हम नही जानते कि किसी निर्देशक चैतन्य के बिना अन्तर्निहित क्षमताए किस प्रकार फलवान हो जाती है। जैसाकि साख्य कहता है, जहा कोई बुद्धिसम्पन्न तत्त्व उपस्थित नही है वहा किसी प्रकार की क्रियाशीलता नही हो सकती। जब साख्य-शास्त्रियों के तीनो गुण साम्यावस्था मे होते है तो वे 'प्रधान' की रचना करते है। प्रधान के परे कोई ऐसा बाह्य तत्त्व विद्यमान नही है जो प्रधान को क्रियाशीलता के लिए बाध्य करे अथवा उससे रोके। पुरुष उदासीन है, वह न तो कर्म मे प्रवृत्त करता है और न कर्म से रोकता है। क्योकि प्रधान किसी सम्बन्ध मे स्थित नही है, इसलिए यह समझना असम्भव है कि क्यो यह किसी समय तो अपने को महत् के रूप मे परि-

वर्तित करता है, और कभी नही करता।"[1] "और न हम यही कह सकते है कि प्रधान अपने को महत् आदि मे इस तरह रूपान्तरित करता है जैसेकि घास दूध के रूप में परिणत हो जाती है, क्योकि घास को अन्य कारणो की आवश्यकता रहती है जो गाय के अन्दर ही उपलब्ध है, बैल के अन्दर नही।"[2] यह तर्क कि सीमित कार्यों से असीमित कारण का अनुमान किया जा सकता है, आवश्यक नही कि तीन गुणो से मिलकर बनी प्रकृति की यथार्थता को सिद्ध कर दे। गुण परस्पर मे एक-दूसरे के प्रतिबन्धक है और इसलिए कार्य है। यदि गुण असीमित है, तो कोई असमानता उत्पन्न नही हो सकती और इस प्रकार कोई कार्य उत्पन्न नही हो सकता।[3] यदि तीनो गुण साम्यावस्था मे प्रधान की रचना करते है, और यदि उनमे परस्पर श्रेष्ठता अथवा निकृष्टता का सम्बन्ध नही है, तो वे पारस्परिक अधीनता के सम्बन्ध मे नही आएगे, क्योकि तब वे अपनी नितान्त स्वाधीनता से वञ्चित हो जाएगे। क्योकि ऐसा कोई बाह्य तत्त्व नही है जो गुणों को उत्तेजित करके उन्हे क्षुब्ध अवस्था मे पहुचा दे, इसलिए क्रियाशीलता असम्भव है।[4] अचेतन प्रकृति अनायास ही कार्यों को उत्पन्न नही कर सकती, जो पुरुषो के प्रयोजनों को सिद्ध करते है। प्रज्ञा प्रकृति का धर्म नही हो सकती क्योकि इससे साख्य के मुख्य वैशिष्ट्य का प्रत्याख्यान होगा।[5] श्रुतिग्रन्थ हमे ऐसी प्रकृति के विषय मे, जो संसार के विकास का कारण है किन्तु जो किसी प्रज्ञावान द्वारा प्रेरित नही होती, कुछ नही कहते। साख्य की प्रकल्पना विकास के अन्दर एक योजना का होना स्वीकार करती है, क्योकि प्रकृति की क्रियाशीलता का अन्तिम कारण पुरुषो को अपनी मुक्ति प्राप्त करने के योग्य बनाना है। अचेतन प्रकृति की कल्पना के आधार पर, प्रकृति का नैमित्तिक कारण अथवा अन्तिम कारण होना समझ में नही आ सकता। कभी कभी यह सुझाव दिया जाता है कि प्रकृति की क्रियाशीलता स्वयंभूत है अथवा स्वाभाविक है। घोडा गाडी को स्वभाव से खीचता है, जबकि कोचवान केवल घोडे की चाल का निरीक्षण करता है और कुछ नही। किन्तु स्वभाव मे भूतकाल के कर्मो की पूर्वकल्पना होती है। घोडे बुद्धिमान मनुष्यो द्वारा प्रशिक्षित किए जाते है। किन्तु साख्य की प्रकल्पना के आधार पर पुरुष का निर्देशकत्व मानना सम्भव नही है। बछडे की शारीरिक पुष्टि के

१. शाङ्करभाष्य, २ : २, १। और देखिए शाङ्करभाष्य, बृहदारण्यक, ६ : ३।

२. शाङ्करभाष्य, २ : २, ५

३. ब्रह्मसूत्र पर रामानुजभाष्य, २ : २, १।

४. शाङ्करभाष्य, २ : २, ८। रामानुज कहते हैं : "सांख्य के अनुयायी मानते हैं कि जगत् का उद्भव मुख्य और उसकी अधीनस्थ सत्ताओं के एक विशेष सम्बन्ध (अंगांगिभाव) का परिणाम है, जो गुणों की अपेक्षाकृत उत्कृष्टता तथा हीनता पर निर्भर है और यह भेद अनेक गुणों के स्थानों के भेद के कारण है (सांख्यकारिका, १६), तो क्योंकि प्रलय अवस्था में तीनों गुण साम्यावस्था में हैं, उनमें न कोई दूसरों से श्रेष्ठ है, न हीन है, अतः अंगांगिभाव का वह सम्बन्ध तब नहीं रह सकता और इसलिए जगत् का उद्भव नहीं हो सकता। यदि यह माना जाए कि प्रलयावस्था में भी कुछ असमानता रहती ही है, तो उससे परिणाम यह निकलेगा कि यह सृष्टि शाश्वत है" ब्रह्मसूत्र पर रामानुजभाष्य, २ : २, ६)।

५. शाङ्करभाष्य, २ : २, ६।

लिए गाय के थनों में से दूध के स्वतः निकलने की उपमा यहां लागू नहीं होती, क्योंकि निकटतम तथा अन्तिम कारणों में भेद करना चाहिए।'[1] एक तथ्य का कथन करना रहस्य का हटाना नही है। हमें कुछ ऐसे विधान मिलते हैं जिनसे वस्तुएं मेल खाती हैं, किन्तु जब तक हम इन सब विधानो के अन्तिम स्रोत को स्थापित न करें तब तक समाधान अपूर्ण है। अंधे और लंगडे मनुष्य की उपमा भ्रान्तिपूर्ण है, क्योंकि वे दोनों बुद्धि-सम्पन्न और क्रियाशील कर्ता है जो अपने सामान्य प्रयोजन को सिद्ध करने के लिए योजना बना सकते है। पुरुष और प्रकृति का ऐसा कोई एक सामान्य प्रयोजन नही है। अचेतन प्रकृति को दु.ख नही हो सकता; उदासीन पुरुष दु ख का अनुभव नही कर सकता। दोनो ससार के त्राण के लिए किस प्रकार सहयोग कर सकते है? इस प्रश्न का उत्तर तब तक नही दिया जा सकता जब तक कि सांख्य एक उच्चतर एकत्व को स्वीकार करने से निषेध करता है।[2]

विषयी (प्रमाता) और विषय (प्रमेय) एक उच्चतर एकत्व के पक्ष है, भिन्न है तो भी एक सम्पूर्ण इकाई के ही अन्तर्गत है। यदि हम आनुभविक स्तर पर है तो भी हमे कहना होगा कि समस्त चैतन्य एक प्रमेय विषय का चैतन्य है और समस्त यथार्थता चैतन्य का प्रमेय विषय है। अपने को पदार्थ-जगत् से भिन्न करने तथा उससे सम्बद्ध करने म ही हम आत्मा को जान सकते है, अन्यथा नहीं। अपने जगद्-विषयक अनुभव का विस्तृत करने मे ही हम आत्मा के अपने चैतन्य को गहन बनाते है। यदि हम प्रमाता (विषयी) तथा प्रमेय (विषय) की सम्बन्ध-विहीनता की कल्पना करे, तो एक से दूसरे की ओर सक्रमण असम्भव होगा। दो पक्षो की एकता उनके भेद की पूर्व-कल्पना है। यह केवल हमारी अविद्या, हमारे अज्ञान अथवा हमारे अनुभव के स्वरूप तथा उसकी अवस्थाओं पर विचार न करने के कारण ही है कि हम प्रमाता तथा प्रमेय के परम एकत्व को पहचानने मे असफल रहते है। यह बिलकुल सत्य है कि मन तथा पदार्थ का द्वैतपरक विचार हमारे मनो के लिए स्वाभाविक है, किन्तु हमे थोडा-सा भी चिन्तन यह बताता है कि यदि दोनो पृथक् है तो हमे उन्हे जोडने के लिए एक तृतीय वस्तु की आवश्यकता है। ज्यो ही हम इस तृतीय वस्तु की कल्पना को असन्तोषप्रद समझ लेते है, त्यो ही हमारे पास एक ही मत स्वीकार करने को शेष रह जाता है कि दोनों एक ही परम चैतन्य के पक्ष है, जो समस्त ज्ञान तथा जीवन का भी आधार है। इस परम एकत्व के पहचानने मे जो असफलता है, यही सांख्य की प्रकल्पना मे एक मौलिक भूल है।

१. शांकरभाष्य, २ : २, ३। और "गाय, जो एक बुद्धि-सम्पन्न प्राणी है, अपने बछड़े से प्रेम करती है; अपनी इच्छा से दूध को बहने देती है; इसके अतिरिक्त बछड़े के चूसने से भी दूध निकलता है।"

२. विज्ञानभिक्षु, जो एक ईश्वरवादी है, पुरुष तथा प्रकृति के संयुक्त कर्म की व्याख्या करने में समर्थ है। वह लिखता है : "प्रकृतिस्वातन्त्र्यवादिभ्या सांख्ययोगिभ्या पुरुषार्थप्रयुक्ता प्रवृत्तिः स्वयमेव पुरुषेणाद्यजीवेन संयुज्यते···अयस्कान्तेन लोहवत्···अस्माभिस्तु प्रकृतिपुरुषसंयोग ईश्वरेण क्रियते।" (विज्ञानामृत, १ : १, २)।

समस्त प्रमाण जो हमारे पास है, यह प्रदर्शित करता है कि द्वैतभाव परम नही है, कि पुरुष और प्रकृति आनुषगिक रूप से सबद्ध नही है। हम यहा पर साख्य के कुछ थोडे-से सूक्ष्म विवरण उक्त मत के समर्थन मे दे रहे है। प्रकृति पुरुष के अन्दर एकसाथ ही अपने विषय मे तथा जगत् के विषय मे जिसमे यह निवास करता है सत्य अस्तित्व के ज्ञान को उत्पन्न करती है। क्या यह दोनो के भेद की पृष्ठभूमि में जो एकत्व है उसकी साक्षी नही है? प्रकृति तभी व्यक्त होती है जब इसका सम्बन्ध प्रमाता (विषयी) के साथ होता है। जब यह प्रमाता (विषयी) से असम्बद्ध रहती है तो अव्यक्त रहती है।[1] यदि प्रकृति वह है जो करती है,[2] तो इसकी सूचना पुरुष द्वारा मिलती है। दूसरे शब्दो मे, पुरुष से स्वतन्त्र प्रकृति का विचार समझ मे नही आ सकता। इस प्रकार का विचार स्वत विरोधी है। साख्य का कहना है कि प्रकृति भी पुरुष के समान, आद्य (मूलभूत), अनुत्पन्न तथा स्वतन्त्र है। यदि हम ठीक-ठीक कहना चाहे तो हमे कहना होगा कि प्रकृति और पुरुष परस्पर-प्रतिकूल है, यद्यपि वे यथार्थ की एक दूसरे पर निर्भर दो ग्रथिया है। सृजनात्मक विकास के लिए दोनो की पूर्वकल्पना आवश्यक है। यदि नित्य प्रकृति के आधाररूपी गर्भ मे पुरुष विद्यमान न हो तो कोई अनुभव हो नही सकता। प्रकृति की धूलि को पुरुष के जादू के वश मे होना ही होगा, यदि इसे अपने पदार्थों के रूप मे विकसित होना है। फिर, प्रकृति के विकास के अन्दर जो एक उद्देश्यवाद रहता है उसका कारण भी पुरुष का प्रभाव है। प्रकृति के विकास को आत्मा की मोक्षप्राप्ति का साधन माना गया है। साख्य यह तो नही स्वीकार करता कि प्रकृति ज्ञानपूर्वक कोई योजना बनाती है तथा उसे प्रयोग मे लाती है तो भी यह तो मानना ही है कि प्रकृति का विकास आत्मा के उद्देश्यो की पूर्ति के लिए बनाई गई योजना का क्रियात्मक रूप है। प्रकृति, जो पदार्थों की विशुद्ध सम्भाव्य क्षमता है क्या बनती है, यह इसपर निर्भर करता है कि पुरुष का कौनसा रूप या लक्ष्य उसे प्रभावित करता है। प्रकृति जो सम्भाव्य क्षमता के रूप मे सबकुछ है, पुरुषो द्वारा निर्णीत रूप की प्राप्ति से ही इस या उस वस्तु के रूप मे आ जाती है। प्रकृति की शृखला मे पुरुष यद्यपि कही नही आता, तो भी यह उसकी सब कडियो मे एकसमान सम्बद्ध है। इसका प्रभाव न केवल प्रकृति के विकास को प्रारम्भ करता है बल्कि निरन्तर इसे सहारा दिए रहता है। यदि निर्णय की भूल से पुरुष ससार की इस नाटयशाला मे हठात न आ जाता और यदि हमारे भ्रात मन प्रकृति के तमाशे को ध्यानपूर्वक न देखते, तो प्रकृति का कोई भी कार्य कतई न होता।

जहा पुरुष और प्रकृति का द्वैतभाव मानने से मनुष्य के चैतन्य का उसके स्वभाव के अन्य तत्त्वो से विभाग भी मानना होता है, जिससे ज्ञान, जीवन और नैतिकता बुद्धि को चकरा देनेवाले रहस्य बन जाते है, वहा साख्य ने उक्त सबको बुद्धिगम्य केवल इसलिए कर दिया है कि यह अपने अभिमत के सर्वथा विपरीत भाव को मान लेता है, अर्थात् मनुष्य-स्वभाव के एकत्व को मान लेता है। हम पहले देख चुके है कि यदि

१. सांख्यप्रवचनसूत्र, १ : ७१।
२. प्रकरोतीति प्रकृतिः।

बुद्धि अनात्मिक और अचेतन होती, तो यह चैतन्य को भी प्रतिबिम्बित न कर सकती। जीवन के दो भिन्न-भिन्न स्तरों से सम्बद्ध वस्तुएं वास्तविक तथा प्रतिबिम्ब के रूप में कार्य नहीं कर सकतीं। पुरुष को बुद्धि की अवस्थाओं का अनुभव करनेवाला नहीं कहा जा सकता, क्योंकि बुद्धि के अन्दर इसका प्रतिबिम्ब यथार्थ नहीं है। सांख्य-प्रतिपादित पुरुष का बुद्धि से सम्बन्ध यह सुझाव देता है कि दोनों में बन्धुता है, सर्वथा प्रतिकूलता नहीं है। पुरुष और प्रकृति के सम्पर्क का अत्यन्त घनिष्ठ बिन्दु बुद्धि में है, जो ब्रह्माण्ड की शक्ति के व्यापारों में भेद करती है तथा समन्वय स्थापित करती है और, अहंकार की सहायता से, साक्षीरूप आत्मा का विचार, इन्द्रिय तथा कार्य-सम्बन्धी क्रियाओं के साथ तादात्म्य करती है। यह बुद्धि ही है जो अपने सत्त्व-रूप में भेदपरक ज्ञान के लिए प्रयत्न करती है। जब बुद्धि को यह ज्ञान हो जाता है कि तादात्म्य एक भूल है और देखती है कि सब कुछ केवल गुणों की विक्षुब्धता है, तो बुद्धि उस मिथ्या प्रदर्शन में जिसे यह समर्थन देती रही है, विरत हो जाती है। पुरुष विश्व-नाट्य से अपना सम्पर्क त्याग देता है, और प्रकृति भी पुरुष के अन्दर प्रतिबिम्बित होने की अपनी शक्ति खो देती है क्योंकि अहंकार के कार्य नष्ट हो जाते हैं, इसलिए बुद्धि उदासीन हो जाती है, और गुण साम्यावस्था में चले जाते हैं। यदि बुद्धि असमञ्जस में पड जाती है तो कहा जाता है कि यह पुरुष के लिए संकट है, और यदि बुद्धि असमञ्जस को काट देती है तो कहा जाता है कि पुरुष बच गया। बुद्धि लगभग पुरुष के समान ही कार्य करती प्रतीत होती है। इसलिए प्रमेय की अपेक्षा इसका बन्धुत्व प्रमाता के साथ अधिक है।[1]

इस मत के नैतिक परिणाम भी इसी प्रकार अर्थपूर्ण हैं। यदि प्रकृति पूर्णरूप से यान्त्रिक है, तो इच्छा-स्वातन्त्र्य एक भ्रान्ति है क्योंकि इच्छा प्रकृतिजन्य है। नैतिक भेद निरर्थक बन जाते हैं, क्योंकि पाप और पुण्य गन्धकाम्ल अथवा चीनी के समान उत्पन्न पदार्थ हो जाएंगे। किन्तु सांख्य यह स्वीकार न करेगा कि एक मनुष्य को हत्या के लिए विनाशकारक एक पत्थर से अधिक दोष नहीं दिया जाना चाहिए। मनुष्य के अन्दर ऐसा कुछ अवश्य है जो पत्थर अथवा पौधे में नहीं है। प्रकृति के अन्दर भी यान्त्रिकता से अधिक कुछ अवश्यमेव है, अन्यथा यह हमारे लिए मोक्ष का साधन नहीं बन सकती थी। सांख्य बलपूर्वक कहता है कि वह ज्ञान जो हमारा रक्षक है, प्रकृति का दान है।

पुरुष और प्रकृति के मध्य जो काल्पनिक सम्बन्ध है और जो अविवेक अथवा अभेद के कारण बताया जाता है, वह सम्भव न होगा यदि दोनों एक-दूसरे से सबद्ध न

१. विद्यारण्य अपने 'विवरणप्रमेयसंग्रह' (पृष्ठ ६३) में कहता है "यदि वस्तुएं ऐसी होतीं जैसाकि सांख्य उन्हें प्रस्तुत करता है, यदि अहंकार (अहंभाव) और वह सब जो उसपर निर्भर है, समस्त कर्म, समस्त सुखभोग इत्यादि, अपने को चैतन्य के समक्ष विशुद्ध वस्तुपरक रूप में प्रस्तुत करते, अर्थात् 'यह एक कर्ता है', 'यह एक सुखोपभोक्ता है', और ऐसे रूप में प्रस्तुत न करते जैसेकि कुछ आत्मा पर अध्यारोपित किया गया हो, तो चैतन्य के वास्तविक रूप, अर्थात् 'मैं कर्ता हूं', 'मैं सुखोपभोक्ता हूं' कभी उत्पन्न न होते ('इण्डियन थौट' खण्ड १, पृष्ठ ३७६)।

हो। यह विचार मे आना कठिन है कि ऐसी दो सत्ताओ के परस्पर-सम्बन्ध की मिथ्या धारणा जो एक-दूसरे से किसी प्रकार का वास्ता नही रखती, किस प्रकार पैदा हो सकती है। इस सम्बन्ध को पर्याप्त रूप मे यथार्थ होना चाहिए जिससे प्रकृति का विकास आगे बढ सके। इसलिए भी इसे पर्याप्त मात्रा मे यथार्थ होना चाहिए जिससे कि पुरुष अपनी विशुद्धता तथा प्रकृति रूपी साधन द्वारा अपने पृथक्त्व को पहचान सके। ऐसी वस्तु जिससे पुरुष को सहायता मिलती है, इससे सर्वथा बाह्य नही हो सकती। साख्य पुरुष और प्रकृति को एक-दूसरे के इतना समीप लाने के लिए बाध्य है जितना कि द्वैतवाद पर उसके आग्रह के कारण हम विश्वास भी नही कर सकते। प्रकृति और पुरुष की पारस्परिक अनुकूलता वस्तुत आश्चर्यजनक है। दृष्टान्त के रूप मे, ऐसी इच्छा के बल से, जिसे हम अचेतन कह सकते है, प्रकृति थोडे-से यान्त्रिक खिलौनो का विकास करती है, जिनके द्वारा वह पुरुषजगत् के दृश्य को देख सके। चेतनापूर्ण आत्मा और अचेतन प्रकृति एक ही विकास की दो स्थितिया है। यह जीव है जो मुक्त होने के लिए प्रयत्न करता है; क्योकि सीमित चैतन्य से एक अनन्त चैतन्य की पूर्वकल्पना होती है, जो प्रकृति के स्वभाव मे सीमित हो गया है, और सीमित आत्मा, अपने अन्दर विद्यमान अनन्त चैतन्य की खोज करके अपनी सत्य सत्ता को समझ लेती है।

जब साख्य यथार्थता की प्रक्रिया को प्रकृति की यत्र-रचना तथा आत्मा के स्वातन्त्र्य की दो ग्रन्थियो मे विभक्त करता है, तो यह समझ लेना चाहिए कि ये यथार्थ भावात्मक है, ऐतिहासिक नही। वे हमे बताते है कि आनुभविक जगत् मे दो भिन्न-भिन्न प्रवृत्तिया है जो परस्पर इस प्रकार सम्बद्ध है कि उन्हे पृथक् नही किया जा सकता। पुरुष और प्रकृति समस्त अनुभव के ये दो पहलू है। यदि पुरुष चैतन्यस्वरूप है तो प्रकृति अचेतन है, क्योकि वह पुरुष के विपरीत लक्षणो वाली है। ये दोनो, अर्थात् चैतन्य और जडता, एक परिणमन के दो पहलू है। यथार्थसत्ता न तो केवल पुरुष है और न केवल प्रकृति है। ये अस्तित्वविहीन है, क्योकि जो अस्तित्ववान है उसके नाम व रूप होते है। अभौतिक रूप और रूपहीन प्रकृति ये दोनो प्राणियो की क्रम-व्यवस्था की उच्चतर और निम्नतर सीमाए है, यद्यपि उनमे से किसी का भी अस्तित्व नही है। सबसे प्रथम अस्तित्ववान महत् है, जिससे शेष सब विकसित हुआ कहा जाता है। यह महत् विशुद्ध प्रकृति नही है किन्तु रूपधारिणी प्रकृति है। महत् निर्विकल्प प्रकृति की सविकल्प अभिव्यक्ति है। यदि पुरुष तथा प्रकृति दोनो परस्पर सहयोग न करे तो हमे महत् की प्राप्ति नही हो सकती। यह सबसे प्रथम उत्पन्न पदार्थ, अथवा आनुभविक सत्ता है, जो तब पैदा होती है जब पुरुष प्रकृति को सूचित करता है। ईश्वर, जिसको साख्य स्वीकार करता है, विशुद्ध प्रमाता (विषयी) नही है, बल्कि अपने अन्दर प्रमेय (विषय) की सभाव्य क्षमता रखता है। यदि हम जगत् के उत्पन्न पदार्थों के उद्भव का पीछे तक पता लगाते लगाते उच्चतम कोटि तक पहुचे, तो हम एक पूर्ण-चैतन्यस्वरूप आत्मा तक पहुचते हैं, जिसके अन्दर सब वस्तुओ की सम्भाव्य क्षमता है, अर्थात् जो विषयी-विषय (प्रमाता-प्रमेय) है। सब वस्तुएं जो विश्व की घटक है, प्रमाता-प्रमेय हैं। ईश्वर तथा निम्नतम द्रव्य दोनो मे हमे पुरुष और प्रकृति की दो प्रवृ-

त्तिया मिलती है । वे जिनके अन्दर द्रव्य का प्राधान्य है निम्नतर स्तर में आते है और वे जिनके अन्दर रूप का प्राधान्य है, उच्चतर स्तर मे आते है । आत्मा की सफलता के अनुपात मे प्राणी सृष्टि की क्रम व्यवस्था में ऊंचा स्थान पाता है । प्रकृति की निम्नतम स्थिति मे हम वस्तुओ की वस्तुओ के प्रति विशुद्ध बाह्यता पाते है यद्यपि प्रकृति का यह साम्राज्य भी आत्मा के उद्देश्यो के उपयोग मे आता है । हम पौधो, पशुओ तथा मनुष्यो मे एक श्रेणीबद्ध चढाव पाते है । जबकि एन्द्रिय जीवन की श्रेणी में पौधा नीचे स्थित है, पशु अपने संवेदनाशील भाग को लिए हुए उससे ऊंचे मे आता है, मनुष्य अपनी विवेकयुक्त तथा इच्छापरक प्रकृति के साथ उससे भी ऊपर आता है। सब वस्तुए निरन्तर ऊचा-ऊचा उठने के लिए प्रयत्न करती है । विकास की प्रकल्पना व्यक्ति को एक स्थिर परिणाम के रूप मे नही मानती, बल्कि एक अस्थायी अवस्था के रूप मे मानती है, जो पूर्ण पुरुष की अभिव्यक्ति तक पहुचानेवाली है । ये विपरीत तत्त्व एक सतत परिणमन की परस्पर-विरोधी गतियों द्वारा, आपस मे एक-दूसरे पर निर्भर है । यदि हम पुरुष को प्रकृति से पृथक् कर दे, तो यह अयथार्थ हो जाता है । इसी प्रकार प्रकृति भी पुरुष से पृथक् होकर अयथार्थ हो जाती है । सब वस्तुए पुरुष और प्रकृति को संयुक्त करती है और पुरुष को अधिकाधिक अभिव्यक्त करने के लिए संघर्ष करती है, और यह संघर्ष जगत् की प्रक्रिया है ।

जब साख्य के विचारक यह मत प्रकट करते है कि अनुभवसिद्ध उच्चतम श्रेणी का पदार्थ भी निरपेक्ष नहीं है तो उनका तात्पर्य यह होता है कि इस आनुभविक जगत् को जहा दो प्रवृत्तिया एक दूसरे पर प्राधान्य प्राप्त करने के लिए संघर्ष करती है, अपने तार्किक आधार के रूप मे किसी अन्य तत्त्व की आवश्यकता है । उनका यह सुझाव कि इस संघर्षमय जगत् की पृष्ठभूमि मे क्या इससे परे एक ओर तो पुरुष है और दूसरी ओर प्रकृति है जो सम्भावित विषयी और विषय है और नित्य एक-दूसरे के विपरीत है न तो अनुभव-विपर्यक तथ्यो के अनुकूल है और न ही साख्य के सिद्धान्तो के अनुकूल है । यदि विश्वीय आत्मा (महत्) व्यक्तिरूप प्रमाताओ (अहकार) के अनेकत्व और व्यक्तिरूप प्रमेयो (तन्मात्राओ) को जन्म देता है, तो महत की पृष्ठभूमि मे प्रमाताओ तथा प्रमेयो के अनेकत्व की कल्पना करना अनावश्यक है । यदि सब प्रमेयों को घटाकर एक प्रकृति के रूप मे परिणत कर दिया जाता है तो प्रमाताओ को भी घटाकर एक सार्वभौमिक आत्मा के रूप मे परिणत किया जा सकता है, जिसे जगत् के लौकिक व्यक्तियो मे अनेकविध प्राकृतिक बाधाओ का विरोध करना होता है । यदि पुरुष के अक्षुब्ध चैतन्य तथा प्रकृति की निरन्तर गति को एक-दूसरे से स्वतन्त्र माना जाता है, तो दर्शनशास्त्र की समस्या का समाधान असम्भव है । किन्तु सांख्यदर्शन प्रत्यक्षत. केवल इसलिए न्यायसगत प्रतीत होता है कि यह इनके भिन्न-भिन्न सम्बन्धो का वर्णन इस रूप मे करता है मानो वे आत्मा की एक ही नित्यशक्ति के भिन्न-भिन्न पक्ष है । वह अद्भुत विधि जिससे ये एक-दूसरे की सहायता करते है, यह प्रदर्शित करती है कि ये परस्पर-विरोधी एक ही पूर्ण इकाई के अन्तर्निविष्ट है । पारदर्शक द्वैतभाव किसी एकत्व पर अवस्थित है, जो उससे ऊपर है । यदि किसी चीज को समस्त अनुभव की

पूर्वकल्पना माना जा सकता है, तो यह एक सार्वभौमिक आत्मा है, जिसपर पुरुष और प्रकृति की दोनो प्रवृत्तिया अवस्थित है, क्योकि ये दोनो, पुरुष और प्रकृति, एक-दूसरे के सर्वथा विरुद्ध तथा प्रतिकूल नही है। जगत् के परिणमन मे उक्त विरोध मिट जाता है। यह प्रदर्शित करता है कि दोनो वस्तुए मौलिक एकरूपता पर अवस्थित है। साख्य का पुरुष पर बल देने का तात्पर्य, जहा इसे जीव के साथ मिश्रित नही किया गया है, इससे अधिक और कुछ नही है कि वह एक विशुद्ध तथा पूर्णसत्ता की उपस्थिति को मानता है, जो वस्तुओ के विभाग से विभक्त नही है और विश्वीय अभिव्यक्ति के तनाव व सघर्ष से प्रभावित नही है, जो इन सबके अन्दर है और उन सबसे ऊपर है। निरपेक्ष आत्मा इतनी महान है कि वह काल और देश म होनी गति से, जिसे वह धारण करती है, सीमित नही हो सकती। किन्तु ससार उसके ऊपर आश्रित है। हेगल के शब्दो मे, प्रकृति 'निषेधपरक अनिष्टसूचक शक्ति' है, जो ससार को अस्तित्व मे लाती है। यदि हम ऐसी खाई को लेकर चले जो भरी नही जा सकती, तो ससार का एकत्व कभी बुद्धि-गम्य न होगा। जैसे ही वह निरपेक्ष आत्मा एक प्रमेय के विषय म अभिज्ञ होती है, वह सर्वोपरि प्रमाता (विषयी) बन जाती है और प्रमेय पर, जिसे महत् की सज्ञा दी गई है कार्य करने लगती है।[1] विज्ञानभिक्षु महाभारत से एक श्लोक[2] उद्धृत करता है, जिसमे प्रतिपादन किया गया है कि प्रकृति, जो परिवर्तित होती है, अविद्या है और पुरुष, जो सब प्रकार के परिवर्तन से उन्मुक्त है, विद्या है।[3] साख्य यह सिद्ध करने के लिए उत्सुक है कि प्रकृति ऐसी कुछ वस्तु नही है जो विपर्ययनिष्ठ अर्थात् अयथार्थ हो क्योकि एक ऐसी अयथार्थ वस्तु बन्धनरूप यथार्थता का कारण नही बन सकती।[4] जैसे भी हो, प्रकृति पुरुष के प्रति निषेधात्मक है, आत्मा का अनात्मरूप है। आत्मा का अनात्म को देखना[5] इस विषय का प्रमाण है कि आत्मा अनात्म अर्थात् प्रकृति के अस्तित्व का स्वीकार करती है। यह स्वीकृति ही प्रकृति को जो कुछ भी इसका अस्तित्व है, वह प्रदान करती है। प्रमेय का उदय प्रमाता के उदय के साथ साहचर्य-सम्बन्ध रखता है। यह स्वत चेतन आत्मा, जिसका महत् के उदय के साथ सह-सम्बन्ध है, कोई जीव नही है, क्योकि यह प्रकृति को क्रियाशीलता के लिए निरन्तर बलात प्रेरणा करती रहती है, भले ही

१. मत्स्यपुराण कहता है कि ब्रह्मा, विष्णु और महेश्वर महत्तत्त्व म उत्पन्न होते है, जैसे-जैसे वह क्रमशः रजस्, सत्त्व, तथा तमस् की प्रधानता से युक्त होता है।

सविकारात् प्रधानात्तु महत्तत्त्वं प्रजायते।
महानिति यतः ख्यातिर्लोकानां जायते सदा।
गुणेभ्यः क्षोभ्यमाणेभ्यस्त्रयो देवा विजज्ञिरे।
एकमूर्तिस्त्रयो भागा ब्रह्मविष्णुमहेश्वराः॥

देखिए, इण्डियन फिलासोफिकल रिव्यू, खण्ड १, पृष्ठ १०० की पादटिप्पणी; और देखिए भागवत, १:३, २२३।

२. १२, ११६१५।

३. साख्यप्रवचनभाष्य, १ : ६६।

४. तुलना कीजिए : न हि स्वाप्नरज्ज्वा बन्धनं दृष्टम् (साख्यप्रवचनभाष्य, १ : २०)।

५. प्रकृतिं पश्यति पुरुषः (साख्यकारिका, ६५)।

अनेकों जीव क्यों न मोक्ष प्राप्त कर लें। सर्वोपरि प्रभु के नियन्त्रण द्वारा प्रकृति के अनेकत्व में बराबर उन्नति होती रहती है, जैसेकि वर्गसां की प्राणशक्ति का एक ही स्पन्दन विभक्त होकर प्रकृति में नानाविध प्रतिध्वनियों से परिणत हो जाता है। विज्ञान-भिक्षु सृष्टि के प्रारम्भ में उत्पन्न हुए एक सर्वोपरि पुरुष का उल्लेख करता है, महत्त्व उसके साथ उपाधि अथवा बाह्य विनियोग के रूप में था।[1] यह सर्वोपरि व्यक्तित्व अपने अन्दर एक ओर पुरुष की शान्ति और आनन्द को, स्थिरता तथा मौन को, और दूसरी ओर प्रकृति के कोलाहलपूर्ण बाहुल्य, संघर्ष तथा दुःख को एकत्र संयुक्त किए रहता है। सर्वोपरि प्रभु अपने अन्दर समस्त जीवनों तथा शरीरों[2] का धारण किए हुए है, और प्रत्येक व्यक्तिरूप प्राणी इस अनन्त सागर की केवल एक लहर से अधिक और कुछ नहीं है—विश्वात्मा का अंशमात्र है। ईश्वर-महान् प्रारम्भिक एकत्व है, जिसमें दो भिन्न भिन्न प्रवृत्तियां एक-दूसरे के अन्दर प्रविष्ट होकर एक हो गई हैं।[3] इस प्रकार वेदान्त और पुराण भी प्रकृति को सर्वोपरि यथार्थसत्ता पर निर्भर मानते हैं। केवल इस प्रकार का मत ही सांख्यदर्शन को अधिक संगतिपूर्ण बना सकता है। सांख्य अद्वैत-विषयक आदर्शवाद के सत्य की ऊंचाई तक नहीं उठता, बल्कि केवल बोध के उस स्तर तक रहने में ही सन्तुष्ट है जो सत् और असत् के भेद पर बल देता है, और दोनों के विरोध को यथार्थ तथा तादात्म्य को अयथार्थ मानता है। इसने जो प्रश्न उठाए हैं, उनके अन्दर क्या क्या निहित है, इसे यह अनुभव नहीं कर सका। उन प्रश्नों की कठिनाई तथा महत्त्व को युग-युग के विरोध तथा विवाद प्रकाश में लाते रहे हैं, किन्तु बहुत कम सन्तोषप्रद समाधान तक पहुंच सके हैं। तो भी विश्व के सम्बन्ध में एक सर्वतोग्राही विचार तक पहुंचना, जिसमें न तो यथार्थसत्ता के किसी अंश का दमन किया गया है और न ही उसे खण्डित किया गया है, मानव-मस्तिष्क का एक महान् प्रयास है। इससे पूर्व कि उनके सत्य सम्बन्ध दृष्टिगत हो सकें, वस्तुओं के भिन्न-भिन्न पहलुओं की स्पष्ट रूप में परिभाषा होनी चाहिए और उनमें भेद दिखना चाहिए। सांख्य द्वारा किए गए अनुभव के विश्लेषण ने इस प्रकार एक अधिक उपयुक्त दर्शन के लिए भूमि तैयार कर दी।

१. सांख्यप्रवचनभाष्य, ५ : १२।

२. वायुपुराण के चौथे अध्याय में सांख्य-प्रतिपादित महत् को [illegible] अथवा ब्रह्म बताया गया है। तुलना कीजिए विष्णुपुराण : "[illegible]"। [illegible] में दिव्य मन ही जगत् का आदिस्थान (जगद्धाम) है।

३. विष्णुपुराण (१ : २) में इसे कार्यकारणशक्तिमान् कहकर वर्णन किया गया है। यह सर्वोपरि प्रभु का कार्य है तथा शेष विश्व का कारण है। 'चूलिका उपनिषद्' प्रकृति के विषय में कहती है "विकारजननीं मायामष्टरूपामजां ध्रुवाम्"। और देखिए सांख्यप्रवचनभाष्य, १ : २६।

उद्धृत ग्रंथों की सूची

एस. सी. बैनर्जी : सांख्य फिलासफी
गार्बे : सांख्यप्रवचनभाष्य
गार्बे : सांख्यसूत्रवृत्ति
कीथ : सांख्य सिस्टम
नन्दलाल सिन्हा : दि सांख्य फिलासफी
सर्वदर्शनसंग्रह : १४ और १५
सील : पॉजिटिव साइंसेज आफ दि एंशियण्ट हिन्दूज

पांचवां अध्याय

पतञ्जलि का योगदर्शन

प्रस्तावना—प्राचीन परिस्थिति—निर्माणकाल और साहित्य—सांख्य और योग—मनोविज्ञान—प्रमाण—योग की कला—नैतिक भावना—शरीर का नियन्त्रण—प्राणायाम—इन्द्रिय-निग्रह—ध्यान—समाधि अथवा एकाग्रता—मोक्ष—कर्म—अलौकिक सिद्धियां—ईश्वर—उपसंहार।

१

प्रस्तावना

तथाकथित 'आत्मिक' व्यापार के विषय में मनोव्यापार की अनुसन्धान-समिति के अन्वेषणो ने ऐसी प्रकल्पनाओ को जिन्हे आज तक वैज्ञानिक सत्य समझा जाता रहा है, हिलाकर रख दिया, जैसे कि यह प्रकल्पना कि बौद्धिक तथा स्मृति-सम्बन्धी व्यापार मस्तिष्क-सम्बन्धी उपकरण की अविकलता पर ही आश्रित है और उसके क्षय के साथ-साथ ही नष्ट हो जाते है। अतः अब कुछ विचारक ऐसा विश्वास करने लगे है कि चैतन्य-विषयक क्रियाओ के लिए मस्तिष्क का अस्तित्व सर्वथा अनिवार्य नही है। मनुष्य का मन उन क्षमताओ के अतिरिक्त जो पाच ज्ञानेन्द्रियो द्वारा प्राप्त होती है, प्रत्यक्ष-ज्ञान सम्पादन की अन्यान्य क्षमताए भी रखता है यह हमे मनोविज्ञानशास्त्र के वेत्ता बताते है। दार्शनिक भी शनै-शनै इस विचार को मानने लगे है कि हमारे अन्दर मस्तिष्क द्वारा नियन्त्रित तर्क-वितर्क तथा स्मृति के अतिरिक्त भी अन्यान्य मानसिक शक्तिया विद्यमान है। भारत के प्राचीन विचारक, जिसे हम 'तत्त्वज्ञान-विषयक मनोविज्ञान' कह सकते है, उसके सम्बन्ध मे पर्याप्त क्रियात्मक ज्ञान रखते थे और 'अद्भुत दृष्टि' तथा तत्समान अन्यान्य शक्तियो से भी बिलकुल परिचित थे। वे हमे बताते है कि हम बाह्य इन्द्रियो की सहायता के बिना भी देखने तथा जानने की शक्ति प्राप्त कर सकते है और उन प्रक्रियाओ की, जिनका उपभोग हम भौतिक इन्द्रियो तथा मस्तिष्क-रूपी साधनो द्वारा करते है, अधीनता से सर्वथा उन्मुक्त हो सकते है। वे यह स्वीकार करते है कि साधारणतया जो जगत् हमे दृष्टिगोचर हो सकता है उससे अधिक विस्तृत जगत् का अस्तित्व है। जब किसी दिन हमारी दृष्टि उक्त जगत् को प्रत्यक्ष करने के

लिए खुलेगी तो हमे पता लगेगा कि हमारे प्रत्यक्षज्ञान का क्षेत्र कितना अधिक विलक्षण एवं महान है; किसी अंधे पुरुष को जब पहले-पहले दृष्टि प्राप्त होती है तो जैसा भासता है, ठीक वही दशा हमारी भी होगी। इस महत्तर दृष्टि तथा अन्तर्निहित शक्तियों की अभिव्यक्ति को प्राप्त करने के लिए विशेष विधान है। 'योग' के नियमो का पालन करने से—जैसे ध्यान की शक्ति को उच्चता तक पहुचाने, अपने ध्यान को शक्ति के अगाध स्रोत के ऊपर टिकाकर मन की चपलता का निग्रह करने से व्यक्ति, जैसे व्यायाम करनेवाला अपने शरीर को साध लेता है उसी प्रकार अपनी आत्मा को पूर्णरूप से साधने मे समर्थ हो सकता है। योग की सहायता से हम चैतन्य के उच्चतर स्तर तक पहुच सकते है, जिसका मार्ग मानसिक उपकरण मे परिवर्तन के द्वारा प्रशस्त होता है, और इस प्रकार वह उन सीमाओं का अतिक्रमण कर सकता है जिन्हे मानवीय अनुभव की साधारण सीमाए समझा जाता है। योग मे हम हिन्दू-विचारधारा के उन आधारभूत भावो—यथा भौतिक जगत् की अपेक्षा आत्मिक जगत् की श्रेष्ठता, मौनसाधन तथा एकान्तसेवन, ध्यान, समाधि और बाह्य अवस्थाओं के प्रति उदासीनता आदि—को स्पष्ट रूप मे लक्ष्य कर सकते है, जिनके कारण आधुनिक विचारको का हिन्दू जाति की, जीवन के प्रति, परम्परागत प्रवृत्ति अद्भुत तथा सनकी प्रतीत होती है। किन्तु जो उससे परिचित है वे यह स्वीकार करते है कि हमारी वर्तमान मनोवृत्ति को, जो बाह्य वस्तुओ के बोझ से अत्यधिक आक्रान्त है और जो नीरस कठोर परिश्रम, भौतिक लिप्सा और इन्द्रियजन्य उत्तेजना के कारण आत्मा के यथार्थ जीवन मे सर्वथा विरक्त है, सुधारने के लिए इस साधना की नितान्त आवश्यकता है।[1]

योग शब्द का प्रयोग नाना अर्थों मे होता है। साधारण रूप से इसका तात्पर्य 'क्रियाविधि'[2] हो सकता है। कभी-कभी इसका प्रयोग संयोजित करने के लिए होता है।[3] उपनिषदो तथा भगवद्गीता मे आत्मा के विषय मे कहा गया है कि वह अपनी सासारिक और पापमय अवस्था मे सर्वोपरि आत्मा से पृथक् तथा विरक्त रहती है। सब पापों तथा दु:ख की जड़ यह पृथक्त्व, भेदभाव तथा विरक्ति ही है। दु:ख तथा पाप से छुटकारा पाने के लिए हमे आध्यात्मिक एकत्व, अर्थात् एक के अन्दर दो की भावना, अर्थात् योग को प्राप्त करना चाहिए। पतञ्जलिकृत योगदर्शन मे योग का अर्थ जुड़ना (एकत्व) नही, बल्कि केवलमात्र प्रयत्न है, अथवा, जैसाकि भोज का कहना है, पुरुष तथा प्रकृति के मध्य वियोग है। यह एक खोज है उसकी जिसे नार्थलिम ने 'हमारे अतीन्द्रिय अहम्' के नाम से पुकारा है, जो हमारे अस्तित्व का दैवीय तथा नित्य अंश है। इसका अर्थ प्रयत्न, कठोर परिश्रम भी होता है और इस प्रकार इसका प्रयोग इन्द्रियो तथा मन

१. देखिए भारतीय दर्शन, खण्ड १, पृष्ठ ४८०।

२. भगवद्गीता, ३ : ३।

३. देखिए भारतीय दर्शन, खण्ड १, पृष्ठ ४८०। देखिए ऋग्वेद, १ : ३४, ९ ; ७ : ६७-६८ ; ३ : २७, ११ ; १० : ३०, ११ ; १० : ११४, ९ ; ४ : २४, ४ ; १ : ५, ३ ; १ : ३०, ७ ; शतपथ ब्राह्मण, १४ : ७, १, ११। याज्ञवल्क्य के अनुसार, 'जीवात्मा तथा सर्वोपरि आत्मा के संयोग का नाम ही योग है।'—संयोगो योग इत्युक्तो जीवात्मपरमात्मनोरिति (सर्वदर्शनसंग्रह, १५)।

के निग्रह के अर्थ मे होने लगा ।[1] यद्यपि कभी-कभी इसका समाधि के लक्ष्य के पर्यायवाची अर्थों मे भी व्यवहार किया गया है, पर अधिकतर इसका प्रयोग उस तक पहुचने के मार्ग के अर्थों मे ही किया गया है । ऐसे स्थल कम नही है जहा ईश्वर की सर्वोपरि शक्ति के लिए इसका प्रयोग किया गया है ।[2] पतञ्जलि के अनुसार, मानवीय प्रकृति (भौतिक तथा आत्मिक) के भिन्न-भिन्न तत्त्वो के नियन्त्रण द्वारा पूर्णता-प्राप्ति के लिए किया गया विधिपूर्वक प्रयत्न ही योग है । भौतिक शरीर, सक्रिय इच्छाशक्ति और समझने की शक्ति रखनेवाले मन को नियन्त्रण के अन्दर लाना आवश्यक है । पतञ्जलि ने कुछ ऐसे अभ्यासो पर बल दिया है जिनसे शारीरिक चचलता की चिकित्सा हो सकती है तथा मलिनता दूर की जा सकती है । और जब इन अभ्यासो से हमे अधिक शक्ति, दीर्घकालीन युवावस्था और दीर्घजीवन प्राप्त हो जाए, तो इनका प्रयोग आध्यात्मिक मुक्ति के लिए करना उचित है । चित्त की शुद्धि तथा शान्ति के लिए अन्य विधियो का प्रयोग किया जाता है । पतञ्जलि का मुख्य लक्ष्य आध्यात्मिक सिद्धान्त का प्रतिपादन नही, बल्कि क्रियात्मक रूप मे यह सकेत करना है कि सयमी जीवन द्वारा किस प्रकार मोक्ष प्राप्त किया जा सकता है ।

२

पूर्ववर्ती परिस्थिति

प्राचीन समय से भारत मे यह विचार चला आया है कि हम साधना द्वारा ऐसी अनेको भौतिक और मानसिक सिद्धिया प्राप्त कर सकते हैं जो साधारण मनुष्यो मे नही पाई जाती, और शारीरिक तथा मानसिक क्रियाओं के सयम से हमे दुःख से छुटकारा पाने मे सहायता मिलती है । समाधि और सम्मोहक मूर्छा के

१. योगसूत्र, १ : १ ।

२. भगवद्गीता, ६ : ५ । बलदेवकृत प्रमेयरत्नावलि, पृष्ठ १४ भी देखिए ।

३. योगतत्त्व उपनिषद् में योग चार प्रकार का बताया गया है : मन्त्रयोग, लययोग, हठयोग और राजयोग । पतञ्जलि-प्रतिपादित योग अन्तिम प्रकार का है, क्योंकि यह मन को नियन्त्रित करने तथा समाधि अवस्था प्राप्त करने की प्रक्रिया का विस्तार से प्रतिपादन करता है । हठयोग के मत मे शारीरिक क्रियाओं पर आधिपत्य प्राप्त किया जा सकता है । शरीर को वश मे करना पतञ्जलि के योग का एक भाग है । मन्त्रयोग विश्वास-चिकित्सा पर आधारित है । यद्यपि ईसाई विचारक, जो इस विधि का प्रयोग करते हैं, ऐसा कहते हैं कि यह ईसाई मत तथा पादरियों के प्रभाव का परिणाम है, तो भी इस विषय का प्रमाण मिलता है कि विश्वास-चिकित्सा किसी एक धर्म तक सीमित नहीं है । एम० क्युई हमें प्राचीन चिकित्सक का स्मरण कराता है । विश्वास के द्वारा चिकित्सा पद्धति की व्यवस्था में हस्तक्षेप नहीं है, जिसमें साक्षात् ईश्वर का हाथ अथवा किसी गौण अतिप्राकृतिक तत्त्व का प्रवेश काम करता हो । मन्त्रों द्वारा चिकित्सा केवल ऐसी अवस्थाओं में ही सम्भव है जहा रोग स्नायुजाल से सम्बन्ध रखता हो और मस्तिष्क इच्छा की असफलता के कारण, किसी एक बात के हठात् हृदय मे बैठ जाने से, अथवा मानसिक आघात के कारण विकृत हो गया हो । किसी मसखरे का यह कथन कि "मुझे कोई ऐसी टूटी हड्डी दिखाओ जिसे विश्वास के द्वारा फिर से जोड़ दिया गया हो, तो मैं तुम्हारे दावों को सुन सकता हूं", एकदम निरर्थक नहीं है ।

महत्त्व के सम्बन्ध में अपरिपक्व विचार ऋग्वेद में पाए जाते है, जिसमें 'मुनि' शब्द भी आया है।[1] इसके अनुसार, दिव्य प्रकाश पर ध्यान लगाना भक्ति का एक पवित्र कार्य है।[2] अथर्ववेद मे यह विचार कि कठोर साधना द्वारा अलौकिक शक्तिया प्राप्त की जा सकती है, बहुत आया है।[3] उसके पश्चात् शीघ्र ही तपस्या का भाव उत्पन्न हुआ, जिससे निग्रह को एक नैतिक स्वरूप दिया जाने लगा। अपने मन को नित्य मे केन्द्रित करने के लिए मनुष्य को समस्त सांसारिक सुखोपभोग का त्याग करना चाहिए। उपनिषदो के अनुसार, योगाभ्यास यथार्थसत्ता के सत्यज्ञान की चेतनापूर्ण आन्तरिक खोज है। ध्यान तथा एकाग्रता पर बल दिया गया है,[4] क्योकि आत्मा का विषयीरूप मे प्रत्यक्षज्ञान अन्यथा सम्भव नही है। उपनिषदो ने तप और ब्रह्मचय को महान शक्ति के उत्पादक गुण बताया है।[5] ऐसी उपनिषदे जिनमे साख्य के सिद्धान्त आते है, योग-सम्बन्धी क्रियाओ का भी वर्णन करती है। कठ, श्वेताश्वतर और मैत्रायणी उपनिषदे धार्मिक सिद्धि के क्रियात्मक पक्ष का उल्लेख करती है, जोकि साख्य के सैद्धान्तिक अन्वेषण से भिन्न है। 'योग' एक पारिभाषिक शब्द के रूप मे कठ, तैत्तिरीय और मैत्रायणी उपनिषदो मे आता है,[6] किन्तु यह नही कहा जा सकता कि उनमे वर्णित योग तथा पतञ्जलि का योग एकसमान है। हो सकता है कि समाधि का विचार उपनिषदो के उस सिद्धान्त से विकसित हुआ हो जो परमब्रह्म की प्राप्ति अथवा आनुभविक जीवन की वस्तुओ से मुक्ति की तुलना सुषुप्ति के साथ करता है। कठोपनिषद् मे योग की उच्चतम अवस्था का वर्णन करते हुए कहा गया है कि उसमे इन्द्रियो को मन तथा बुद्धि के साथ सर्वथा शान्त भाव मे लाया जाता है।[7] इसलिए यह स्वाभाविक ही था कि ऐसे व्यक्ति थे जिन्होने कृत्रिम उपायो द्वारा ऐसी मूर्छितावस्था लाने का प्रयत्न किया। मैत्री उपनिषद् मे छ प्रकार के योग का उल्लेख आता है[8] और पतञ्जलि योगदर्शन के पारिभाषिक शब्दो का प्रयोग पाया जाता है।[9] यह प्रकट है कि पतञ्जलि का योग आरम्भिक उपनिषदो के काल मे पूर्णता तक नही पहुचा था, यद्यपि परवर्ती उपनिषदो मे हमे उसकी क्रमिक उन्नति दिखाई देती है।

१. १० : १३६, ४-५, देखिए भारतीय दर्शन, खण्ड १, पृष्ठ १०१।

२. ऋग्वेद, ३ : ६२, १० में गायत्री का उल्लेख आया है। और देखिए शुक्ल यजुर्वेद, ३ : ३५ ; सामवेद, २ : ८, १२।

३. भारतीय दर्शन, खण्ड १, पृष्ठ १११।

४. बृहदारण्यक उपनिषद्, ४ : ४४ ; ३ : ५ ; ४ : ४ ; तैत्तिरीय उप०, १ ; कठ, ३ : १२ ; प्रश्न, ५ : ५।

५. छान्दोग्य उपनिषद्, ३ : १७, ४ ; बृहदारण्यक, १ : २, ६ ; ३ : ८, १० ; तैत्तिरीय, १ : ९, १ ; ३ : २, १ ; ३ : ३, १ ; तैत्तिरीय ब्राह्मण, २ : २. ३, ३ ; शतपथ ब्राह्मण, ११ : ५, ८, १।

६. ६ : १०।

७. छान्दोग्य, ६ : ८, ६ भी देखिए।

८. ६ : १८।

बुद्ध ने योग का अभ्यास दोनो अर्थों मे किया। उन्होने कठोर तपस्याएं भी की तथा उच्च श्रेणी का चिन्तन भी किया। ललितविस्तर ग्रन्थ के अनुसार, तपस्या की नानाविध विधिया बुद्ध के समय मे प्रचलित थी।[1] बुद्ध के कुछेक गुरु, जैसे 'आलार', योगविद्या मे निपुण थे। बौद्धसूत्र एकाग्रता की योग की विधियो से अभिज्ञ है। बौद्ध मत मे प्रतिपादित ध्यान की चार अवस्थाएं साधारण रूप मे शास्त्रीय योग की चेतनापूर्ण एकाग्रता की चार स्थितियो के साथ अनुकूलता रखती हैं।[2] बौद्ध मत के अनुसार, श्रद्धा, शक्ति, विचार, एकाग्रता तथा बुद्धि इन पाच गुणो के धारण कर लेने मे योग के लक्ष्य की प्राप्ति हो सकती है। और योग भी इस मत को स्वीकार करता है।[4] बौद्ध मत की योगाचार शाखा बौद्ध सिद्धान्त को योग के विवरणो के साथ स्पष्ट रूप मे मिलाती है। परवर्ती बौद्ध ग्रन्थ एक परिष्कृत योगपद्धति का आश्रय लेते है।[5]

महाभारत मे साख्य और योग का उपयोग एक ही पूर्ण इकाई के दो पूरक अशो के रूप मे किया गया है और ये क्रमश सिद्धान्त तथा व्यवहार अथवा दर्शन तथा धर्म के प्रतीक है। ऐसा कहा जाता है कि योगदर्शन ईश्वर को छब्बीसवे तत्त्व के रूप मे स्वीकार करता है। इसके अतिरिक्त, मोक्ष, जिसे प्रारम्भ मे परब्रह्म के साथ तादात्म्य माना गया था, अब आत्मा का प्रकृति से पृथक्करण हो जाता है, जबकि परब्रह्म का वह सर्वतोग्राही स्वरूप नही रहा जिसमे से व्यक्तिरूप आत्माए प्रादुर्भूत हुई बल्कि वह ईश्वर अर्थात् सहायक हो गया। महाभारत मे धारण, प्राणायाम का उल्लेख है।[6] उक्त महाकाव्य के अनेक तपस्वियो ने चमत्कारी शक्तियो को प्राप्त करने के लिए योग साधन का आश्रय लिया। महाभारत मे इनका बार-बार उल्लेख हुआ है।[8]

उपनिषद्, महाभारत—जिसमे भगवद्गीता भी शामिल है—जैनमत तथा बौद्धमत योगसम्बन्धी क्रियाओ का स्वीकार करते है। योग-सिद्धान्त को इतना पुरातन बताया जाता है जितना कि ब्रह्मा है। पतञ्जलि के योग मे, तपस्या तथा गहन चिन्तन-विषयक जो विचार उस समय अस्पष्ट तथा अनिश्चित रूप मे विद्यमान थे उन सबका निचोड़ पाया जाता है। उन्होने उस अस्पष्ट परम्परा को जो जीवन तथा अनुभव के दबाव से विकसित हुई, एक विधान का रूप दे दिया। पतञ्जलि का दर्शन जिस युग मे प्रादुर्भूत हुआ, वह उसके चिह्नो को धारण

१. भारतीय दर्शन, खण्ड १, पृष्ठ [illegible], टिप्पणी [illegible]।

२. योगसूत्र, १ : १७। देखिए भारतीय दर्शन, खण्ड १, पृष्ठ [illegible]।

३. मज्झिमनिकाय, १ : १६४।

४. योगसूत्र, १ : ३३।

५. विस्तृत विवरण के लिए देखिए हॉपकिंस कृत योग टेक्नीक इन दि ग्रेट एपिक, जर्नल आफ दि अमेरिकन ओरियण्टल सोसाइटी, २२।

६. १२ : ११६८३-८४।

७. १२ : ३२६, ८।

८. १२ : ३४०-५५ ; १२ : ३०३, १६३ ; १३ : १४, ४२०।

किए हुए है। जहा एक ओर इसमे हमें अत्यन्त परिष्कृत रहस्यवाद मिलता है, वहा उससे मिश्रित ऐसे अनेकों मत भी मिलते है जोकि उस काल मे प्रचलित धार्मिक सम्प्रदायों में से निकले है।

वात्स्यायन इसके भी पूर्ववर्ती एक योग का उल्लेख करता है, जिसके अनुसार आत्मा के कर्म के अनुरूप सृष्टिरचना सम्पन्न होती है, और वही राग तथा द्वेष आदि बुराइयो तथा क्रिया की प्रेरणा के लिए जिम्मेवार है और उसीके कारण असत् का सद्भाव मे प्रकट होना और विद्यमान वस्तुओ का लोप हो जाना सब कुछ सम्भव होता है।[1] यह योग मानवीय क्रिया पर बल देता है, और सांख्य की अपेक्षा कर्ममीमासा के अधिक निकट है, जो सत्कार्यवाद को मानता है, आत्मा के परम रूप मे विश्वास रखता है तथा शरीर, इन्द्रियो, मन और भौतिक गुणों के साथ सयोग को चेतन व्यापारों का कारण मानता है। इस प्रकार वात्स्यायन के अनुसार, सांख्य तथा योग मे परस्पर अत्यधिक मतभेद है, यहा तक कि आत्मा के स्वरूप, क्रियाशीलता और कार्य-कारण-सम्बन्ध जैसे मूल प्रश्नों पर भी मतभेद है। यदि सांख्यदर्शन के साथ क्रियाशीलता के सिद्धान्त पर बल देने का भाव सयुक्त कर दिया जाए तो हम प्राचीन शास्त्रीय योग का नमूना प्राप्त कर सकते है।

३

निर्माणकाल और साहित्य

पतञ्जलि का योगसूत्र योग-सम्प्रदाय का प्राचीनतम पाठ्यग्रन्थ है। इसके चार भाग है जिनमे पहले भाग मे समाधि के स्वरूप तथा लक्ष्य का प्रतिपादन किया गया है। इसे 'समाधिपाद' कहते है। द्वितीय भाग 'साधनापाद' मे लक्ष्य-प्राप्ति के साधनो की व्याख्या है। तीसरे मे उन अलौकिक सिद्धियो का वर्णन है जो योग की क्रियाओं द्वारा प्राप्त की जा सकती है। यह 'विभूतिपाद' कहलाता है। और चौथे मे मोक्ष का स्वरूप बताया गया है। यह 'कैवल्यपाद' है।[2] याज्ञवल्क्यस्मृति के अनुसार, योगदर्शन का आदिसंस्थापक हिरण्यगर्भ था, और माधव निर्देश करता है कि 'इसके साथ पतञ्जलि के योगदर्शन का रचयिता होने मे कोई विरोध भी नही होता क्योंकि स्वय पतञ्जलि

१. पुरुषकर्मादिनिमित्तो भूतसर्गः, कर्महेतवो दोषाः प्रवृत्तिश्च, स्वगुणविशिष्टाश्चेतना असदुत्पद्यते उत्पन्नं निरुध्यत इति योगानाम् (न्यायभाष्य, १ : १, २९)। उद्योतकर का कहना है कि इस योग के अनुसार इन्द्रियों के अंग पञ्चभूतों से निर्मित हुए है।

२. क्योंकि अन्य सम्प्रदायों की समीक्षाएं योगसूत्र के चौथे भाग में आती है और 'इति' शब्द जो ग्रन्थ की समाप्ति का द्योतक है, तीसरे भाग के अन्त में आया है, इससे यह प्रतीत होता है कि चौथा भाग पीछे से मिलाया गया है। देखिए दास गुप्ता : हिस्ट्री आफ इण्डियन फिलासफी, पृष्ठ २३०।

ने अपने ग्रन्थ को 'अनुशासन' कहा है, जिसमे 'अनु' उपसर्ग का अर्थ ही बताता है कि पतञ्जलि का कथन एक प्रारम्भिक रहस्योद्घाटन के पीछे आता है और यह उक्त दर्शनपद्धति का अपने-आपमे प्रथम सूत्रीकरण नही है।[1] वैय्याकरण (अर्थात् महाभाष्यकर्ता) पतञ्जलि का काल द्वितीय शताब्दी ई० पू० बताया गया है,[2] यद्यपि उक्त वैय्याकरण पतञ्जलि और योगसूत्र के रचयिता पतञ्जलि दोनो एक ही व्यक्ति थे—यह अभी सिद्ध नही हो सका है।[3] योगसूत्र पर व्यास का भाष्य (चौथी शताब्दी ई०) योग के सिद्धान्तो की सर्वमान्य व्याख्या है। वाचस्पति ने व्यास के भाष्य पर एक वृत्ति 'तत्त्ववैशारदी' (नवी शताब्दी) लिखी है। भोजकृत 'राजमार्तण्ड' एक अत्यधिक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। विज्ञानभिक्षु का 'योगवार्तिक', जो योगभाष्य पर एक प्रचलित टीका है, और 'योगसारसग्रह' ये दोनो पुस्तके उपयोगी है। उक्त ग्रन्थकर्ता कुछ विषयो पर वाचस्पति के विचारो की आलोचना करता है और योगदर्शन को उपनिषदो के दर्शन के समीप लाने का प्रयत्न करता है।[4] प्रत्येक विचार-

१. सर्वदर्शनसंग्रह, १५।

२. पतञ्जलि का योगसूत्र दूसरी शताब्दी ई० पू० में रचा गया माना जाता है, यद्यपि कुछ की सम्मति यह है कि यह वस्तुत पीछे का अर्थात चौथी शताब्दी ई० का है। परमाणुवाद (१ : ४०) सौत्रान्तिकों की समयसम्बन्धी प्रकल्पना कि काल क्षणों की शृङ्खला है (३ : ५२), स्फोटवाद (देखिए योगभाष्य, ३ : १७) तथा बौद्ध आदर्शवाद (४ : १५–१७) का उल्लेख योगसूत्र में आया है।

यह मानकर कि वैशेषिकसूत्र में वसुबन्धु के आदर्शवाद की समीक्षा की गई है, प्रोफेसर वुड्स योगसूत्र के निर्माणकाल की पूर्वतर सीमा चौथी शताब्दी ई० रखते है। उनकी सम्मति इस तथ्य से पुष्ट होती प्रतीत होती है कि नागार्जुन ने अपनी 'कारिका' में 'योगदर्शन' का उल्लेख नहीं किया है। यह तर्क हमें दूर तक नहीं ले जाता, क्योंकि यह स्वीकृत तथ्य है कि नागार्जुन के 'उपायकौशल्य-हृदयशास्त्र' के चीनी अनुवाद में योग का उल्लेख दर्शनशास्त्र की आठ शाखाओं में से एक शाखा के रूप मे मिलता है, और बौद्ध आदर्शवाद का समय वसुबन्धु तथा असग से पूर्ववर्ती माना जा सकता है। जैकोबी के विचार मे, योगदर्शन ३०० ई० पू० मे विद्यमान था। उमास्वातिकृत 'तत्त्वार्थसूत्र', २ : ५२, में योगसूत्र, ३ : २२ का उल्लेख है। उमास्वाति, जो अपने टीकाकार सिद्धसेन (पाचवी शताब्दी) से पूर्व का होना चाहिए, साधारणतः तीसरी शताब्दी ई० का माना जाता है। इस प्रकार पतञ्जलि का समय ३०० ई० के पश्चात् का नहीं हो सकता।

३. भोज योगसूत्र पर अपनी टीका, 'राजमार्तण्ड' (प्रस्तावना, पृष्ठ ५) मे कहता है कि उसने व्याकरण, योग और वैद्यक विषयों पर ग्रन्थ लिखे, और इस प्रकार "पतञ्जलि के समान हमारी वाणी, चित्त तथा शरीरों के मलो को दूर किया।" इस तरह वह स्पष्ट करता है कि पतञ्जलि ने व्याकरण (वाणी), योग (चित्त) और वैद्यक (शरीर) के विषयों पर ग्रन्थ लिखे। यह सबसे पूर्ववर्ती उल्लेख है। तो भी इस विषय में सन्देह है कि प्रस्तावना भोज की लिखी हुई है। वुड्स ने अपने 'इण्ट्रोडक्शन टू दि योग सिस्टम' (हार्वर्ड ओरियण्टल सीरीज) नामक ग्रन्थ में महाभाष्य के रचयिता वैय्याकरण पतञ्जलि तथा योगसूत्र के रचयिता पतञ्जलि को एक मानने का विरोध किया है। उक्त दोनों ग्रन्थों में न तो भाषा-सम्बन्धी और न सिद्धान्त-सम्बन्धी ही समानताएं पाई जाती है। महान वैय्याकरणों, जैसे भर्तृहरि, कैय्यट, वामन और नागेश ने योगसूत्र के रचयिता की वैय्याकरण के साथ एकात्मता का कहीं उल्लेख नहीं किया।

४. योगदर्शन पर लिखे गए अन्य ग्रन्थों में, जैसे कि नागोजी भट्ट (नागेश भट्ट), नारायण भिक्षु और महादेव के ग्रन्थों में, अपनी पूर्वधारणाओं के अनुरूप, पतञ्जलि के विचारों को परिवर्तित किया गया है

पद्धति योग की विधियो का उपयोग अपने हित के लिए करती है। कुछ परवर्ती उपनिषदे—यथा मैत्री, शाण्डिल्य, योगतत्त्व, ध्यानबिन्दु, हस, वराह और नादबिन्दु—योग के सिद्धान्तो को बहुत महत्त्व देती है।

४

सांख्य और योग

पतञ्जलि ने योग के विचारो को व्यवस्थित रूप दिया और उन्हे साख्य की तत्त्वज्ञान-सम्बन्धी पृष्ठभूमि पर स्थित किया, जिसे उन्होने परिवर्तन के साथ स्वीकार कर लिया। प्रारम्भिक ग्रन्थो मे योग के सिद्धान्त साख्य के विचारो के साथ ही मिलते है।[1] योग ने पच्चीस तत्त्वो को स्वीकार कर लिया और उनके सम्बन्ध मे विवाद की कोई आवश्यकता अनुभव नही की। विश्व की रचना नही हुई और यह नित्य है। इसमे परिवर्तन अवश्य होते रहते है। अपनी तात्त्विक अवस्था मे इसे प्रकृति नाम से पुकारा जाता है, जिसका साहचर्य गुणो के साथ है और उस रूप मे यह सदा वैसा ही है। जीवात्माए असख्य है, जो जीवित प्राणियो मे जीवन फूकती है और स्वभाव से निर्मल, नित्य और निर्विकार है। किन्तु विश्व के साथ सम्बन्ध होने से ये परोक्ष रूप मे सुखो तथा दुःखो के अनुभव करनेवाली बनती है और अपने सासारिक जीवन मे नाना प्रकार की शरीराकृतियो को धारण करती है। प्रकृति के विकास के विषय मे योग का मत है कि विकास की दो समानान्तर पद्धतिया है जो महत् मे आरम्भ करती है और एक पक्ष मे अहकार, मन पाच ज्ञानेन्द्रियो तथा पाच कर्मेन्द्रियो के रूप मे विकसित होती है, तथा दूसरे पक्ष मे पाच सूक्ष्म तन्मात्राओ द्वारा पाच महाभूतो मे विकसित होती है। व्यास के अनुसार, महाभूत पाच सारतत्त्वो मे निकले है, और ग्यारह इन्द्रिया अहकार अथवा अस्मिता से निकली है। तन्मात्राए अहकार से नही निकली, बल्कि अस्मिता के साथ छः अविशेष कहाती है और उनकी उत्पत्ति महत् मे हुई। विज्ञानभिक्षु का विचार है कि व्यास ने केवल बुद्धि के परिवर्तनो को दो विभागो मे वर्णित किया है, किन्तु उनका तात्पर्य इस प्रकार का सुझाव देने मे नही है कि महत् मे तन्मात्राओ की उत्पत्ति अहकार पर आश्रित नही है।[2] साख्य मे, अहकार सात्त्विक रूप मे इन्द्रिया का जन्म देता है, और तमोरूप मे तन्मात्राओ को जन्म देता है, और ये दोनो ही महत् मे अवरुद्ध रहते है। इस प्रकार साख्य और योग का विकास-विषयक यह भेद कुछ अधिक गम्भीर नही है। हम देखते हैं कि योग साख्य-प्रतिपादित तीन आभ्यन्तर इन्द्रियो को 'चित्' का नाम देता है। यह अहकार और मन को बुद्धि से पृथक नही समझता। इन्द्रियो को भी यह स्वरूप मे भौतिक ही मानता है और इसलिए सूक्ष्म शरीर मानने की कोई आवश्यकता नही रह जाती।

१. देखें कठोपनिषद्। योगसूत्र पर व्यासकृत वृत्ति का नाम साख्यप्रवचनभाष्य है, जो साख्य तथा योग में परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध प्रदर्शित करता है।

२. योगवार्तिक, १ : ४५।

वस्तुओं के यथार्थ स्वरूप के विषय मे अज्ञान ही इच्छाओ आदि को जन्म देता है, और ये इच्छाए ही ससार मे समस्त दुःख का आधार है। अज्ञान का आदि-उद्भव क्या है इस प्रकार का प्रश्न उठाना निरर्थक है, क्योकि स्वय ससार ही अनादि है। प्रलय-काल मे भी जीवात्माओ के चित्त प्रकृति की अवस्था मे लौट जाते है और उसके अन्दर अपनी-अपनी अविद्याओ के साथ समाविष्ट रहते है। प्रत्येक नई सृष्टि अथवा विश्व के विकास के समय इनकी रचना नये सिरे से होती है, जिनमे व्यक्तिगत अविद्याओ के कारण उचित परिवर्तन हो जाते है। ये अविद्याए अपने को चित्तो के अन्दर क्लेश के रूप मे अभिव्यक्त करती है, जिनमे आगे चलकर कर्माशय जाति, आयु और भोग प्राप्त होते है। योगदर्शन के अनुसार, ईश्वर तथा अविद्या इन दो प्रेरक शक्तियो के द्वारा सृष्टि की रचना होती है। अविद्या के बल से प्रकृति की सदा चक्र मे रहनेवाली शक्ति अपने-आपको मानसिक तथा भौतिक जगत् के परिवर्तनो मे परिवर्तित कर लेती है, तथा ईश्वर प्रकृति के आधिपत्य के बाहर रहते हुए भी प्रकृति द्वारा उपस्थित की गई बाधाओ को दूर करता है। अविद्या बुद्धिशून्य होने के कारण असख्य पुरुषो की इच्छाओ से अनभिज्ञ है। ईश्वर प्रज्ञासम्पन्न होने से प्रकृति के परिवर्तनो को पुरुषो के लक्ष्यो के अनुकूल बनाता रहता है। जीवात्मा प्रकृति मे लिप्त रहने के कारण अपनी निर्मलता तथा निर्दोषता से च्युत हो जाती है। योगदर्शन के अनुसार, मनुष्य प्रकृति के इतना अधीन नही है जितना कि साख्य के अनुसार है। उसे अधिक स्वातन्त्र्य प्राप्त है और, ईश्वर की सहायता से, वह अपनी मुक्ति प्राप्त कर सकता है। साख्य और योग दोनो मे ही एक समान जन्म का चक्र, अपने नाना दुःखो के साथ, एक ऐसा विषय है जिससे छुटकारा पाना है। प्रधान आत्मा का सयोग इस ससार का कारण है। इस सयोग के विनाश का नाम ही मोक्ष है और उसका साधन है पूर्ण अन्तर्दृष्टि।[1] आत्मा द्रष्टा है और प्रधान ज्ञान का विषय (प्रमेय) है। इन दोनो का सयोग ही ससार का कारण है।

मोक्ष का लक्ष्य पुरुष का प्रकृति से पृथक् हो जाना है, और इस लक्ष्य की पूर्ति दोनो मे भेद करने से होती है। जहा साख्य के मत मे ज्ञान ही मोक्ष का साधन है, वहा योगदर्शन चित्त की एकाग्रता तथा क्रियात्मक प्रयत्न पर बल देता है।[3] जैसाकि

१ दुःखबहुलः संसारो हेयः, प्रधानपुरुषयोः संयोगो हेयहेतुः। संयोगस्यात्यन्तिकी निवृत्तिर्हानम्, हानोपायः सम्यग्दर्शनम् (योगभाष्य, २ : १५)।

२ २ : १८।

३ मधुसूदन सरस्वती ज्ञान और योग को मोक्षप्राप्ति के लिए भिन्न-भिन्न प्रकार के दो साधन बताता है, और भगवद्गीता, ६ : २९, पर अपनी टीका मे योगवासिष्ठ में से इस प्रकार का एक उद्धरण देता है : "मन का अहभाव आदि के साथ दमन करने के योग और ज्ञान दो साधन है। मानसिक क्रिया के दमन का नाम योग है और यथार्थग्रहण का नाम ज्ञान है। कुछ मनुष्य ऐसे होते है जिनके लिए योग सम्भव नही है, और अन्य कुछ ऐसे है जिनके लिए ज्ञान सम्भव नही है।"

द्वौ क्रमौ चित्तनाशस्य योगो ज्ञानं च राघव।
योगो वृत्तिनिरोधो हि ज्ञानं सम्यगवेक्षणम्।
असाध्यः कस्यचिद् योगः कस्यचित् तत्त्वनिश्चयः।

तुलना कीजिए, भागवतः निर्विण्णानां ज्ञानयोगो न्यासिनामिह कर्मसु (भगवद्गीता, ५ : ५; योग-

हम देख चुके है, भगवद्गीता तथा श्वेताश्वतर उपनिषद् मे 'साख्य' ज्ञान के मार्ग से मोक्ष प्राप्त करने का नाम है, और 'योग' क्रियात्मक प्रयत्न अथवा अनासक्तिभाव से कर्म करने के मार्ग से मोक्ष प्राप्त करने का नाम है।[1] इस प्रकार जहाँ साख्य तार्किक अन्वेषणो मे व्यग्र है, वहा योग भक्तिपरक साधनाओ के स्वरूप तथा मानसिक निग्रह का विवेचन करता है। इसीलिए योगदर्शन को ईश्वरपरक विचार प्रकट करने के लिए बाध्य होना पडा, इसीलिए इसे कपिल के निरीश्वर साख्य से भिन्न करके सेश्वर साख्य की सज्ञा दी गई। योग का उद्देश्य मानव को प्रकृति के बन्धन से मुक्त कराना है। प्रकृति का उच्चतम रूप चित्त है, और योग उस मार्ग का निर्देश करता है जिसके द्वारा मनुष्य अपने को चित्त के बन्धनो से उन्मुक्त कर सकता है। हम चित्त को उसके स्वाभाविक व्यापारो से हटाकर सासारिक दु ख पर विजय प्राप्त कर सकते है तथा ससार से छुटकारा पा सकते है।

५

मनोविज्ञान

साख्य जिसे 'महत्' कहता है, योग उसे ही 'चित्त' कहता है।[2] उसकी उत्पत्ति प्रकृति से सबसे पहले हुई, यद्यपि इसे सर्वतोग्राही अर्थों मे लिया जाता है जिससे इसके अन्तर्गत बुद्धि, आत्मचैतन्य तथा मन भी सम्मिलित है। यह तीनो गुणो के अधीन है और तत्तद् गुण के प्राधान्य के कारण नानाविध परिवर्तनो म से गुजरता है। तात्त्विकरूप मे यह अचेतन है, यद्यपि यह निकट-स्थित आत्मा के प्रतिबिम्ब स सचेतन हो जाता है। जब यह इन्द्रियो द्वारा प्रमेय पदार्थो से प्रभावित होता है तो परिवर्तनो म आ जाता है। इसके अन्दर प्रतिबिम्बित पुरुष के चैतन्य से ऐसा आभास होने लगता है कि यही अनुभव का कर्ता है। यथार्थ मे, चित्त दृश्य है जिसका प्रतिबिम्ब के कारण आत्मा द्रष्टा है। कारणरूप चित्त आकाश के समान सर्वव्यापक है, और जितने पुरुष है उतने ही चित्त भी हैं क्योकि प्रत्येक पुरुष के साथ एक एक चित्त सम्बद्ध है। चित्त पूर्वापर जीवनो मे नानाविध आश्रयस्थानो के अनुकूल सिकुडता तथा फैलता रहता है। जब पुरुष एक पशुशरीर धारण करता है तो यह सकुचित प्रतीत होता है और पुरुष के मनुष्यदेह धारण करने पर यह अपेक्षाकृत प्रसारित प्रतीत होता है। इस प्रकार का सकुचित अथवा

सारसग्रह, १ : ७)। यह सब हमारी मनोवैज्ञानिक वृत्ति पर निर्भर करता है। सम्भवत. अन्तर्मुख व्यक्ति योग का आश्रय लेगा, जबकि बहिर्मुख व्यक्ति साख्य की ओर प्रवृत्त होगा।

१. भगवद्गीता, १३ : २४। महाभारत भी देखिए, १२ : ११६७८, ११७०७।

और देखिए सर्वसिद्धान्तसारसग्रह, १० : ६-६, जहा योगदर्शन के अनुसार केवल ज्ञान को अपर्याप्त बताया गया है।

२. वेदान्त में चित्त का प्रयोग बुद्धि के पर्यायवाची रूप में या इसके परिवर्तनो के लिए हुआ है। देखिए वेदान्तसार।

३. चित्तशब्देनान्तःकरणं बुद्धिमुपलक्षयति (वाचस्पति), योगसूत्र, १ : १ पर।

प्रसारित चित्त कार्यचित्त है, जो चैतन्य की दशाओं मे अपने को व्यक्त करता है। मृत्यु के समय कारणचित्त, जो सदा पुरुष के साथ सम्बद्ध रहता है, अपने को कार्यचित्त के रूप मे नये शरीर मे अभिव्यक्त करता है, जिसका निर्माण पूर्वजन्म के पुण्य व पाप कर्मों के अनुसार प्रकृति द्वारा हुआ है। योग इस प्रकार के एक पृथक् सूक्ष्म शरीर के अस्तित्व को स्वीकार नही करता जिसमें चित्त बन्द रहे।[1] जहा कारणचित्त सदा विभु अर्थात् सर्वव्यापी रहता है, यह कार्यचित्त अपने आश्रयरूप शरीर के अनुकूल सिकुडा अथवा फैला हुआ प्रतीत होता है।[2] योगसाधन का यह उद्देश्य है कि रजोगुण तथा तमोगुण का दमन करके चित्त को उसके मूल स्वरूप, अर्थात् सर्वव्यापी कारणचित्त, मे लौटा दे। जब चित्त को अपना सर्वव्यापी रूप पुन प्राप्त हो जाता है तो योगी सर्वज्ञता प्राप्त कर लेता है। जब यह पुरुष के समान निर्मल हो जाता है तो पुरुष को मोक्ष प्राप्त हो जाता है। चित्त के द्वारा ही पुरुष पदार्थों से अभिज्ञ होता है तथा इस जगत् के सम्बन्ध मे प्रविष्ट होता है। चित्त का अस्तित्व पुरुष के लिए है, जो विचार, सवेदना तथा इच्छा से भी अधिक अगाध है।[3] ज्ञान मे पुरुष अर्थात् आत्मा का स्वरूप परिवर्तित नही होता, यद्यपि इसे ज्ञान का अधिष्ठान कहा जाता है।[4] जब चैतन्य विचार करनेवाले द्रव्य अर्थात् चित्त रूपी दर्पण मे प्रतिबिम्बित होता है तथा तदाकार हो जाता है, जैसाकि चित्त पदार्थ के आकार को धारण कर लेता है, तब परिणामस्वरूप ज्ञान उत्पन्न होता है। चित्त परिवर्तित हो जाता है और जो पदार्थ उसके समक्ष प्रस्तुत होते है उनका रूप धारण कर ले सकता है, किन्तु यह जो देखता है उसका प्रत्यक्षज्ञान नही प्राप्त कर सकता, क्योंकि यह अपने स्वरूप मे अचेतन है।[5] इसपर पडता हुआ आत्मा का प्रतिबिम्ब ही इसे प्रस्तुत पदार्थ का प्रत्यक्ष ज्ञान कराता है। समस्त विषयनिष्ठ ज्ञान मे, चित्त विषय तथा विषयी दोनो से प्रभावित होता है। चित्त के सदा परिवर्तनशील होने पर भी हमारा ज्ञान स्थिर होता है, क्योंकि आत्मा, जो वास्तविक ज्ञाता है, स्थिर है। फिर क्योंकि चित्त मे एक समय मे एक ही परिवर्तन हो सकता है, इसलिए आत्मा एक समय मे एक ही ज्ञान प्राप्त करती है। इस प्रकार हम चित्त तथा पदार्थ दोनो का ज्ञान एक ही साथ प्राप्त नही कर सकते।[6] प्रत्यक्ष देखे गए पदार्थ हमारे प्रत्यक्ष ज्ञान से स्वतन्त्र अपना

१. तत्त्ववैशारदी, ४ : १०।

२. परन्तु सांख्य चित्त को आनवा रूप में सर्वव्यापक नही मानता। योगसूत्र, ४ : १०, पर व्यास तथा वाचस्पति का दखिए। तुलना करें, नागेश : व्याख्या : प्रतिपुरुषं सर्वशरीरसाधारणमेकैकमेव चित्तम्। किन्तु घटप्रासादरूप, स्वल्पमहदाश्रयभेदेन प्रदीपवत् स्वल्पमहच्छरीरभेदेन, संकोचविकासशालितया स्वल्पमहत्परिमाणञ्च, न तु विभु, ४ : १०।

३. १ : २; २ : ६, १७ और २०।

४. चित्त आत्मा के संसर्ग में नहीं, किन्तु केवल इसके समीप है। यह सामीप्य इसके साथ आत्मा के किसी दैशिक अथवा कालिक सह-सम्बन्ध का परिणाम नहीं है। विशिष्ट लक्षण यह है कि आत्मा चित्त के साथ नैसर्गिक सामञ्जस्य (योग्यता) धारण किए हुए रहती है। आत्मा अनुभव कर सकती है और चित्त अनुभव का विषय है। चित्त को, जबकि यह परिवर्तित होकर नानाविध पदार्थों का रूप धारण करता है, अनुभव का विषय बताया गया है (वाचस्पति, १ : ४)।

५. २ : २०।   ६. ४ : १७-१९।   ७. ४ : २०।

अस्तित्व रखते है। जो वस्तु के ज्ञान को उत्पन्न करता है वह स्वय वस्तु को उत्पन्न नही करता।[1] दो भिन्न-भिन्न विचार एक काल में उत्पन्न नही हो सकते।[2] चित्त में उत्पन्न हुए प्रभाव अपने अवशिष्टांश छोड़ जाते है, जो प्रयोजनों, इच्छाओ, नये जन्मों और आगामी अनुभवों के कारण होते है। चित्त के व्यापार (क्रियाएं) सम्भाव्य क्षमताए उत्पन्न करते है, और वे अपनी ओर से अन्य सम्भाव्यताओ को उत्पन्न करती है, और इस प्रकार यह ससारचक्र बराबर चलता रहता है। इन सम्बन्धो से वासनाए तथा इच्छाएं उदय होती है, और व्यक्तित्व का भाव उत्पन्न होता है। यह सासारिक जीवन वासनाओ तथा इच्छाओ से बना है। विषयी अहभाव से भिन्न है, जोकि सासारिक अनुभव पर निर्भर है। अहभाव का जीवन बेचैन तथा असन्तुष्ट है, क्योकि यह इन पाच प्रकार के क्लेशो के अधीन है : अविद्या, अर्थात् अनित्य को नित्य समझना, अपवित्र को पवित्र मानना, दुःखदायी को सुखदायी समझ लेना, तथा अनात्म को आत्मा जानना।[4] अस्मिता, अर्थात् शरीर तथा मन के उपकरणो मे आत्मभाव भ्रमवश मान लेना।[5] राग, अर्थात् सुखकारी पदार्थो मे लिप्त हो जाना। द्वेष, अर्थात् दुःखदायी पदार्थो मे घृणा। अभिनिवेश, अर्थात् जीवन के प्रति सहज आसक्ति तथा मृत्यु का भय।[6] आत्मा तथा चित्त के सम्बन्ध का पृथक् हो जाना ही मोक्ष है। जब आत्मा चित्त से स्वतन्त्र हो जाती है तो यह अपने स्थान पर लौट आती है वासना से रहित, निष्प्रयोजन तथा अशरीरी हो जाती है। पुरुष अपने सत्त्वस्वरूप मे केवल मात्र मन की क्रियाओ का दर्शक है। जब मन (चित्त) क्रियाशील होता है तो आत्मा नानाविध अवस्थाओ का अनुभव करती प्रतीत होती है, और जब मन (चित्त) समाधि के अन्दर शान्त तथा निश्चल रहता है तो आत्मा अपने यथार्थरूप मे निवास करती है।

जहा योग एक ओर साख्य की भेदज्ञान द्वारा मोक्ष की प्रकल्पना को मान लेता है, वहा इसका मुख्य बल मोक्षप्राप्ति के अन्य साधनो अर्थात् मानसिक क्रियाओ के दमन पर है। मानसिक क्रियाओ के दमन को सुषुप्ति अवस्था के समान न मान लेना चाहिए। योग अथवा एकाग्रता द्वारा हम कृत्रिम स्तरो को हटाते हुए आन्तरिक आत्मा तक पहुचते है। एकाग्रता चित्त का इसकी पाचो स्थितियो मे एक गुण है।[7] जब रजोगुण का आधिक्य होता है तो चित्त क्षिप्त अथवा बेचैन होता है तथा पदार्थों द्वारा इतस्ततः चलायमान रहता है। हम अपनी वासनाओ तथा प्रयोजनो से प्रेरित होकर पदार्थों पर ध्यान गडा सकते है, किन्तु इस प्रकार की एकाग्रता हमे यथार्थ मुक्ति मे सहायक नहीं हो सकती।

१. ४ : १६। २. ४ : १९।

३. एवं वृत्तिसंस्कारचक्रमनिशमावर्तते। (योगभाष्य, १ : ५)।

४. २ : ५। पुरुष तथा बुद्धि के मध्य जो भेद है उसकी केवल अख्याति (न देखना) ही अविद्या नहीं है, बल्कि उसकी अन्यथाख्याति (मिथ्यारूप में देखना) भी अविद्या है, जिसके कारण हम बुद्धि को आत्मा मान लेते है और उसे निर्मल, नित्य तथा सुख का उद्भव-स्थान समझने लगते है। अविद्या क्लेश तथा कर्माशय और इनके फलों की सनातन शृङ्खला का मूल है (योगभाष्य, २ : ५)।

५. २ : ६। ६. २ : ७-९।

७. स च सार्वभौमश्चित्तस्य धर्मः (योगभाष्य १ : १)।

जब तमोगुण का आधिक्य होता है तो चित्त मूढ हो जाता है और निद्रारूप परिवर्तन के अधीन हो जाता है। यह विक्षिप्त होता है, क्योंकि प्राय प्राकृतिक दोषो अथवा आकस्मिक आपत्तियो के कारण यह अस्थिर रहता है। साधारण मन इस अवस्था मे सुखदायक विषयो का पीछा करता है तथा दु खदायी विषयो से दूर हटता है। इन तीनो को अपूर्ण कहा गया है क्योंकि ये तीन गुणो से सम्बद्ध है। जब मन ध्यान के योग्य किसी एक ही विषय मे मग्न रहता है और सत्त्वगुण से व्याप्त होता है तो उसे 'एकाग्र' कहा जाता है। यह अवस्था मन को सर्वोत्तम पुरुषार्थ के योग्य बना देती है। जब इसके विकारो पर रोक लग जाती है तो यह निरुद्धावस्था मे रहता है। यद्यपि अन्तर्निहित सस्कार बने रहते है,[१] पर मानसिक परिवर्तनो का प्रवाह रुक जाता है। योग के मनोवैज्ञानिक स्वीकार करते है कि एकाग्रता मन की सब अवस्थाओ का एक सामान्य लक्षण है, यद्यपि समाधि की अवस्था मे यह अपने सबसे गहनरूप मे पाई जाती है। प्रत्येक मानसिक परिवर्तन (वृत्ति) अपने पीछे एक सस्कार अथवा अतर्निहित प्रवृत्ति छोड जाती है जो उचित अवसर आने पर अपने को सचेतन अवस्था मे अभिव्यक्त कर सकती है। समान वृत्तिया समान प्रवृत्तियो को शक्ति प्रदान करती है। योगी को उचित है कि वह न केवल वृत्तियो की रोकथाम करे बल्कि प्रवृत्तियो का भी नाश करे, अन्यथा वे पुन फूट पड सकती है। जब मन अपनी वृत्तियो से रहित होता है तो इसे समापत्ति अवस्था मे कहा जाता है और यह किसी भी पदार्थ के रूप को, जो इसके समक्ष प्रस्तुत किया गया हो, धारण कर लेता है अर्थात् ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान की क्रिया का रूप धारण कर लेता है। यह पदार्थ के स्वरूप को, जैसा वह अपने-आपमे है, धारण कर लेता है।

इस समापत्ति अवस्था के निम्नतर रूप भी है। सवितर्क समापत्ति मे शब्द, पदार्थ तथा उनके अर्थ (शब्दार्थज्ञान) सब मिले रहते है।[२] जब शब्द और अर्थ हट जाते है, अर्थात् जब स्मृति उनसे शून्य हो जाती है, तो पदार्थ मन के अन्दर अपने विशिष्ट रूप मे प्रकट होता है और वह मन की निर्वितर्क समापत्ति अवस्था है।[३] व्यास कहते है "जब स्मृति शब्दो के परम्परागत प्रयोग के स्मरणो से रहित होकर निर्मल हो जाती है, और जब सकेन्द्रित अन्तर्दृष्टि (समाधिप्रज्ञा) अनुमान-सम्बन्धी विचारो के सम्बन्धो (विकल्पो) अथवा जो कुछ सुना गया उस सबसे उन्मुक्त हो जाती है, तो अभिप्रेत पदार्थ अपने वास्तविक स्वरूप मे रहता है उससे अधिक कुछ नही और इस स्थिति के विषय मे विशेष रूप से कहा जाता है कि पदार्थ अपने वास्तविक रूप मे है,

१. ये दोनो सम्प्रज्ञात तथा असम्प्रज्ञात समाधि के अनुरूप है। पहली तीन भी योग के अन्तर्गत आती है, क्योंकि एकाग्रता जाग्रदवस्था मे भी किसी न किसी अश में पाई जाती है। यत्किञ्चिच्चित्त वृत्तिनिरोधम् (योगसारसग्रह, ५)।

२. १ : ४१। ३. १ : ४२।

४. १ : ४३।

इसके अतिरिक्त कुछ नही।"[१] यह उच्चश्रेणी का (परम) प्रत्यक्ष है और समस्त आनुमानिक तथा शाब्दिक (आप्त) ज्ञान का आधार है। इसीसे इनका अस्तित्व है।[२] इस ज्ञान के साथ न तो आनुमानिक और न् आप्त ज्ञान का ही विचार रहता है।[३] सविचार अथा निर्विचार समापत्ति अवस्थाए भी है। पहली अर्थात् सविचार समापत्ति का सम्बन्ध उन सूक्ष्म तत्त्वो से है जिनकी आकृतिया व्यक्त हो गई है और देश, काल तथा कारण सम्बन्धी अनुभव से लक्षित है। इसमे एक सूक्ष्म तत्त्व, जो एक विचार से जानने योग्य होता है और अभिव्यक्त आकृतिया से विशेषत्व प्राप्त करता है, अन्तर्दृष्टि का विषय होता है। निर्विचार समापत्ति का सम्बन्ध सब प्रकार से और हर हालत मे ऐसे सूक्ष्म तत्त्वो मे है जो किसी भी प्रकार की आकृतियो से—अर्थात् अभिव्यक्त अथवा अन्तर्निहित अथवा अव्यपदेश्य से—लक्षित नही होते और फिर भी सब आकृतियो के अनुकूल है और सबका सारतत्त्व है। निर्विकार समापत्ति मे अन्तर्दृष्टि अभिप्रेत पदार्थ बन जाती है, इससे अधिक कुछ नही।[४] सविचार समापत्ति तथा निर्विचार समापत्ति के प्रतिपाद्य विषय सूक्ष्म पदार्थ है, जबकि सवितर्क समापत्ति तथा निर्वितर्क समापत्ति स्थूल पदार्थो का प्रतिपादन करती है। और ये सब सबीज समाधि के रूप कही जाती है, क्योकि ये एकाग्रता के लिए विषय प्रस्तुत करती है। पुरुष, यद्यपि सूक्ष्म है, किन्तु उक्त प्रकार की समाधियो का विषय नही है।

हमारा मन विरोधी शक्तियो का एक रणक्षेत्र है, जिन्हे अधीन करने की आवश्यकता है ताकि एकत्व स्थापित हो सके। कुछ इच्छाए ऐसी है जो तृप्ति चाहती है; कुछ जीवन की प्रबल प्रेरणाए है, जैसेकि आत्मरक्षा तथा पुनर्जनन की प्रेरणाए, जो सरलता से वश मे नही आ सकती। समाधि के मार्ग मे बाधाए भिन्न-भिन्न प्रकार के मिथ्या विश्वास हैं,[५] अर्थात् अज्ञान (अविद्या), अहभाव (अस्मिता), राग, द्वेष और जीवन से चिपटे रहना (अभिनिवेश)। इसके अतिरिक्त और भी बाधाए है, यथा रुग्णता, आलस्य, संशय, प्रमाद, दीर्घसूत्रिता, सासारिकता, भ्रातिमय प्रत्यक्ष, एकाग्रभाव मे असफलता और उसमे सफलता प्राप्त करने पर भी अस्थिरता।[६] जहा मिथ्या विश्वासो के भिन्न-भिन्न रूप समाधि के अयोग्य जीवन की सामान्य प्रवृत्ति को बताते है, वहा दूसरी सूची ब्यौरेवार ऐसी दशाओ का वर्णन करती है जो समाधि की प्रक्रिया मे बाधक होती है।

१. योगभाष्य १ : ४३।
२. तच्च श्रुतानुमानयोर्बीजम। ततः श्रुतानुमाने प्रभवतः (योगभाष्य, १ : ४३)।
३. न च श्रुतानुमानज्ञानसहभूतं तद्दर्शनम् (योगभाष्य, १ : ४३)।
४. योगभाष्य, १ : ४४।
५. १ : ३०।
६. योगभाष्य, २ : ३। और देखिए योगभाष्य, १ : ८।

६

प्रमाण

प्रत्यक्ष, अनुमान तथा आप्त प्रमाण --ये ज्ञान के तीन साधन स्वीकार किए गए है।[1] जब चित्त इन्द्रियमार्ग द्वारा किसी बाह्य पदार्थ से प्रभावित होता है, तो यह प्रत्यक्ष-ज्ञान की अवस्था है। मानसिक वृत्ति का सीधा सम्बन्ध पदार्थ के साथ होना है। यद्यपि पदार्थ मे जातिगत तथा विशिष्ट दोनो प्रकार के लक्षण विद्यमान है, तो भी प्रत्यक्ष मे हमे विशिष्ट से अधिक वास्ता रहता है। योग बाह्य पदार्थो की यथार्थता को स्वीकार करता है। विश्व के समान, समस्त इन्द्रिय-ग्राह्य पदार्थो के अपने-अपने नित्य मूलादर्श है, जो इन्द्रियगोचर परिवर्तनो मे से गुज़रते है, किन्तु कभी सर्वथा नष्ट नही होते। जब एक पदार्थ दूसरे मे परिवर्तित होता है तो केवल इसके रूप मे ही परिवर्तन होना है, और जब सब रूप नष्ट हो जाते है तो पदार्थ अपने प्रारम्भिक अर्थात् मूल आदर्श रूप मे लौट आता है। रूप नि सन्देह मिथ्याभास नही है। जब कभी इन्द्रियो को उत्तेजना देनेवाले पदार्थ उपस्थित रहते है तो संवेदनाए उत्पन्न होती है। किन्तु यह भी सत्य है कि यद्यपि प्रस्तुत पदार्थ वही है पर उसमे उत्पन्न होनेवाली संवेदनाए भिन्न हो सकती है, क्योकि चित्त तीनो गुणो मे से कभी किसी, और कभी किसी गुण से प्रभावान्वित होकर प्रस्तुत पदार्थ के प्रभाव को ग्रहण करता है।[2]

अनुमान वह मानसिक वृत्ति है जिसके द्वारा हम पदार्थों के जातिगत स्वरूप का बोध प्राप्त करते है। अनिवार्य साहचर्य का बोध अनुमान का आधार है। ऐसी दो वस्तुओ मे से जो एक-दूसरे से अनिवार्यरूप मे सम्बद्ध रहती है, एक का प्रत्यक्ष दूसरे के अस्तित्व को सिद्ध करने के लिए पर्याप्त है।

एक विश्वस्त पुरुष द्वारा प्रत्यक्ष अथवा अनुमान मे प्राप्त किया गया एक पदार्थ का ज्ञान शब्दो द्वारा अन्यो तक पहुचाया जा सकता है। यह ज्ञान का तीसरा साधन है।

प्रामाणिक बोध को चार अन्य प्रकार की मानसिक वृत्तियो से भिन्न किया गया है। विपर्यय एक भ्रांत विचार है, जो पदार्थ के स्वरूप के प्रति सत्य नही है।[3] विकल्प (कल्पना) शब्दो का एक ऐसा रूप है जिसकी अनुकूलता किसी निश्चित तथ्य से नही है।[4] निद्रा वह मानसिक वृत्ति है जिसका समर्थन जागरित तथा स्वप्नमय वृत्तियो के अभाव से होता है।[5] इसे एक मानसिक वृत्ति इसलिए कहा गया है क्योकि जागने पर हमे इस विषय की स्मृति रहती है कि हम किस प्रकार की नीद आई। व्यास कहते है : "जागने के ठीक पश्चात् मनुष्य को निश्चय ही यह सयोजी स्मृति उत्पन्न न हो सकती, यदि नीद के अन्दर एक कारण का अनुभव न होता, और न ही जागरित अवस्था में उसे इसपर आधारित अथवा इसके अनुकूल स्मृतिया हो सकती।"[6] इस प्रकार निद्रा एक विशेष प्रकार का प्रस्तुत विचार (प्रत्यय) है और समाधि मे इस मानसिक वृत्ति का

१. योगसूत्र १ : ७। २. ४ : १५-१७।
३. १ : ८। ४. १ : ९।
५. अभावप्रत्ययालम्बना वृत्तिर्निद्रा, (१ : १०)। ६. योगभाष्य, १ : १०।

भी निरोध करना होगा। किसी पदार्थ का उसके पूर्व-अनुभव द्वारा छोड़े गए संस्कार द्वारा फिर से संग्रह (स्मरण) करना स्मृति है।

योग का मत है कि प्रत्यक्ष, अनुमान तथा आप्त प्रमाण द्वारा प्राप्त ज्ञान सर्वथा प्रामाणिक नहीं है, क्योंकि, सांख्य के समान, यह मान लेता है कि आनुभविक ज्ञान पुरुष और बुद्धि के भ्रांतिमय मिश्रण से उत्पन्न होता है। वस्तुएं जैसी है उनके विषय मे सत्य ज्ञान केवल योगाभ्यास से ही प्राप्त हो सकता है। व्यास एक श्लोक इस आशय का उद्धृत करते है : "धर्मशास्त्रों द्वारा, अनुमान द्वारा तथा गहन चिन्तन के अभ्यास की उत्कट इच्छा द्वारा— इन तीन उपायों से वह अपनी अन्तर्दृष्टि को आगे बढ़ाता है तथा उच्चतम योग को प्राप्त करता है।"[1]

७

योग की कला

आत्मविषयक यथार्थता की प्राप्ति मन के विषयनिष्ठ प्रयोग द्वारा नहीं होती बल्कि इसकी क्रियाओं के दमन द्वारा तथा उस मानसिक अधिष्ठान के नीचे अन्तःप्रवेश करने से होती है जिसमें हमारा साधारण जीवन तथा क्रियाकलाप हमारी अपेक्षाकृत दैवीय प्रकृति को छिपाए रखते है। यद्यपि हममें से प्रत्येक के अन्दर आत्मा का बीज उपस्थित है, पर हमारा चैतन्य इसे ग्रहण नहीं कर सकता, क्योंकि यह अन्य वस्तुओं मे अत्यन्त व्यग्रता के साथ रमा रहता है। इससे पूर्व कि हम अपने चैतन्य को फिर से अन्य दिशा मे मोड़ने मे समर्थ हो सकें, हमे कठोर अनुशासन में से गुजरना होगा। योगदर्शन प्रेरणा करता है कि मानसिक अवस्थाओं का आवश्यक दमन अभ्यास तथा इच्छाओं पर विजय प्राप्त करके किया जाता है।[2] इच्छाओं पर विजय की प्राप्ति तो सदाचारमय जीवन का परिणाम है, किन्तु अभ्यास का सम्बन्ध विचार-शक्ति की स्थिरता की ओर प्रयत्न करने से है, जिसकी प्राप्ति पवित्रताकारक कर्म मे, जितेन्द्रियता, ज्ञान तथा विश्वास से होती है।[3] वैराग्य अथवा वासनाऽभाव उस परमपद का अवबोध है जो व्यक्ति को दृष्ट या प्रकाशित पदार्थों की लालसा से मुक्त होकर प्राप्त होता है।[4] इस प्रकार का व्यक्ति स्वर्ग तथा मर्त्यलोक के सुखों को नितान्त उपेक्षाभाव से देखता है। वैराग्य के उच्चतम रूप मे, जबकि आत्मदर्शन उदय होता है, पदार्थों अथवा उनके गुणों की इच्छा के अधीन होने का कोई भय नहीं रहता।[5] यह परम मोक्ष की ओर ले जाता है, जबकि निम्न श्रेणी का वैराग्य, जिसमें रजोगुण (और इस प्रकार प्रवृत्ति) का अंश

१. आगमेनानुमानेन ध्यानाभ्यासरसेन च।
त्रिधा प्रकल्पयन् प्रज्ञां लभते योगमुत्तमम्॥ (योगभाष्य, १ : ४८।)
वाचस्पति उक्त तीन तथा श्रवण, मनन और निदिध्यासन के मध्य जो अनुकूलता है उसका उल्लेख करता है।

२. १ : १२। ३. १ : १३–१४। ४. योगभाष्य, १ : १४।
५. १ : १५। ६. १ : १६।

शेष रहता है, प्रकृति में लय होने की दशा में परिणत हो जाता है।

मानवीय संस्थान के अन्दर हम पुरुष के अतिरिक्त भौतिक शरीर, जीवनप्रद गतिवाद तथा मानसिक तत्त्वों को पाते है।[1] पुरुष दूषणीय शरीर और अशान्त मन के पर्दों के पीछे छिपा हुआ है, और ये सब योग की विधि में बाधाएं उपस्थित करते है। शरीर तथा मन के घनिष्ठ सम्बन्ध पर बल दिया गया है, क्योंकि "दुःख, निराशा, शरीर की अस्थिरता उच्छ्वास और निश्वास ये सब ध्यानापकर्षणों के सहायक है।" यद्यपि शारीरिक स्वास्थ्य मानवीय जीवन का लक्ष्य नही है, तो भी यह इसकी एक अनिवार्य दशा है। हम मनुष्य को एक ऐसा भौतिक यन्त्र नही मान सकते जिसमें आत्मिक जीवन बाहर से जोड दिया गया हो। शरीर आत्मिक जीवन की अभिव्यक्ति का साधन है। इस प्रकार भौतिक आधार का त्याग देने की अपेक्षा, योग इसे आत्मिक जीवन की समस्या का एक भाग मानता है। बाधाओ पर विजय पाने के लिए योग हमे आठ प्रकार के उपाय बताता है, जो ये है यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, ध्यान, धारणा और समाधि।[2] अन्त के तीन उपाय अन्तरंग (सीधे) सहायक है और पहले पाच अप्रत्यक्ष अथवा बहिरंग सहायक है।[4]

१. योग ने शरीरविज्ञान की एक पूरी पद्धति का परिष्कार किया है जो नाडियो अथवा अनन्त छोटी-छोटी नसों से, जो सारे शरीर में व्याप्त है और संख्या में ७० करोड़ से भी अधिक है, सम्बन्ध रखती है, तथा जो मानसिक केन्द्रों अर्थात् चक्रों से, एक प्रसुप्त शक्ति से जिसे कुण्डलिनी की संज्ञा दी गई है और जिसका स्थान मेरुदण्ड के मूलाधार में कहा गया है, तथा जो जागरित किए जाने पर चक्रों को उत्तेजित करके क्रिया में प्रवृत्त कर देती है, सम्बन्ध रखती है। मानवीय शरीर के दो मुख्य भाग है, एक ऊपर का, दूसरा नीचे का। सिर, धड और बाहे ऊपर के भाग का निर्माण करते है और टांगे तथा पैर नीचे के भाग मे आते है। शरीर का केन्द्र, विशेष करके मनुष्यों में, मस्तिष्क-मेरुदण्ड स्कन्ध है, जो शरीर के दोनों भागो का धारण तथा नियन्त्रण करता है, आधार में स्थित है। नसों और स्नायु-जाल की ग्रन्थि विषयक सामग्री की व्यवस्था दो बृहत् पद्धतियो में है, अर्थात् संवेदनासूचक तथा मस्तिष्क-सुषुम्निक। मस्तिष्क और सुषुम्ना, जो क्रमशः कपाल तथा मेरुदण्ड के अस्थिमय गह्वर मे स्थित है, मस्तिष्क-सौषुम्निक संस्थान के बृहत् केन्द्र है। हिन्दू शरीरविज्ञान का ब्रह्मदण्ड मेरुदण्ड है। यह सुषुम्ना नाडी का आसन-स्थान है, जो मूलाधार से, अर्थात् मेरुदण्ड की जड़ से लेकर ऊपर मस्तिष्क-केन्द्र के ऊर्ध्वभाग मे अवस्थित सहस्रार तक फैली हुई है। अन्य चार चक्र ये है : स्वाधिष्ठान, मणिपुर, अनाहत और विशुद्ध। मेरुदण्ड के अन्दर तीन योगनाडिया विशिष्ट महत्त्व की है, अर्थात्—इडा, पिंगला और सुषुम्ना। इनमे भी सुषुम्ना प्रधान है। इसके दक्षिणपार्श्व मे पिंगला, तथा वाम-पार्श्व मे इडा है। इस नाडी के छः सूक्ष्म केन्द्र है, जिन्हे पद्म अथवा चक्र की संज्ञा दी गई है। इन पद्मों का प्रत्यक्षज्ञान हमारी इन्द्रियो को नही हो सकता, किन्तु योग के नेत्रों से इनका अनुभव हो सकता है।

२. १ : ३१। ३. २ : २९।

४. पतञ्जलि के योग मे इन सबको एक ही योजना के अन्तर्गत ले लिया गया था, पर परवर्ती ग्रन्थों मे भेद किए गए। कर्मयोग कर्म के द्वारा मोक्ष की पद्धति है। भक्तियोग ईश्वर के प्रति भक्ति के द्वारा पूर्णता की प्राप्ति पर बल देता है। ज्ञानयोग ज्ञान के द्वारा मोक्ष बताता है, जबकि राजयोग मन तथा मानसिक शक्तियो के प्रशिक्षण का प्रतिपादन करता है। हठयोग शारीरिक नियन्त्रण, प्राणा-याम और मन्त्रों की विधि का विवेचन करता है। शारीरिक प्रक्रियाएं आध्यात्मिक परिणाम उत्पन्न कर सकती है—इस प्रकार के विचार का पराकाष्ठा तक पहुंचा हुआ एक परिष्कार रसेश्वरदर्शन में मिलता है (सर्वदर्शनसंग्रह, ९)।

८

नैतिक साधना

पहले दो, अर्थात् यम और नियम, नैतिक साधना पर बल देते है, जो योगाभ्यास के लिए आवश्यक है। हमें अहिंसा, सत्य, अस्तेय, जितेन्द्रियता तथा अपरिग्रह का पालन करना चाहिए, अर्थात् हिंसा, असत्य, चोरी, इन्द्रियलोलुपता तथा लालच से बचना चाहिए।[1] इन सबमे मुख्य है अहिंसा। शेष सब सद्गुण अहिंसा मे ही बद्धमूल है। विस्तृत अर्थों में अहिंसा का तात्पर्य लिया जाता है—हर प्रकार से और हर समय मे समस्त जीवित प्राणियों के प्रति द्वेषभाव से परहेज करना।[2] यह केवल क्षति पहुचाने का अभाव ही नहीं किन्तु वैर का त्याग भी है।[3] मैत्री का भाव, महानुभूति, प्रसन्नचित्तता तथा सुखदायक एव दुःखदायक, अच्छी और बुरी सब वस्तुओं के प्रति मानसिक विकारशून्यता - इन सब गुणो को बढ़ाने व धारण करने से चित्तप्रसाद की प्राप्ति होती है। हमारे लिए ईर्ष्या के भाव से उन्मुक्त होना आवश्यक है, तथा हमे दूसरो के दुःखो के प्रति उपेक्षाभाव भी न रखना चाहिए। पाप से घृणा करते हुए भी हमे पापी के प्रति भद्र व्यवहार ही का आचरण करना चाहिए। उक्त सिद्धान्तो का, जोकि स्वभावतः निरपेक्ष है, कोई अपवाद नही हो सकता। 'किसी को मत मारो' यह एक सुनिश्चित तथा निरपेक्ष आदेश है, और हम इस प्रकार का मत प्रकट करके कि हम अपने देश के शत्रुओ को मार सकते है, अथवा सेना से भागे हुओ, धर्मपरिवर्तन करनेवालो अथवा ब्राह्मणो की निन्दा करनेवालों को मार सकते है, इसकी नितान्तता मे हस्तक्षेप नही कर सकते। आत्मरक्षा के लिए भी हत्या करना धर्मसम्मत नही कहा जा सकता। यमों का पालन सार्वभौम धर्म है। इसमें जातिभेद, देशभेद, आयुभेद और अवस्थाभेद के कारण कोई अपवाद नही हो सकता।[4] इनको प्राप्त करने का विधान मनुष्यमात्र के लिए किया गया है, चाहे ध्यानमय व चिन्तनमय उच्च जीवन के लिए सबको न चुना जा सके। नियमो के अन्तर्गत शौच (आभ्यन्तर तथा बाह्य दोनों प्रकार की शुद्धि), सन्तोष, तपस्या तथा ईश्वरभक्ति—ये सब आते है।[5] ये ऐच्छिक विषय है, यद्यपि उन सबके लिए जो योगसाधना के मार्ग का अवलम्बन करते है, नियमित रूप से इनका अभ्यास आवश्यक है। इन दोनो, अर्थात् यम और नियम, के अभ्यास से वैराग्य, अर्थात् वासना का अभाव, सुलभ हो जाता है, अर्थात् इच्छा से, चाहे वह सासारिक पदार्थो के लिए हो चाहे स्वर्ग के सुखो के लिए, मुक्ति मिल जाती है।[6]

जब कभी हमे नैतिक आदेशों को भग करने का प्रलोभन हो तो उस समय, योगदर्शन के आदेश के अनुसार, हमे उनके प्रतिपक्ष की भावना अपने अन्दर उत्पन्न करनी चाहिए।[7] मनोविज्ञान के विश्लेषक हमें बताते है कि सहज

१. २ : ३० ।
२. सर्वथा सर्वदा सर्वभूतानामनभिद्रोहः (योगभाष्य, २ : ३०) ।
३. २ : ३५ ।
४. २ : ३१ ।
५. २ : ३२ ।
६. १ : १५ ।
७. २ : ३३ ।

प्रवृत्तियो को वश में करने के तीन उपाय है—अर्थात् प्रतिरक्षार्थ प्रत्याक्रमण, प्रतिस्थापन तथा उदात्तीकरण। पहले के अनुसार, मन ऐसी प्रवृत्ति धारण कर लेता है जो आवेग के स्पष्ट रूप मे प्रतिकूल हो, और उसका मार्ग अवरुद्ध कर देता है। जहा अवचेतना के अन्दर किसी विशेष आवेग की प्रबल धारा विद्यमान है, वहा मन सचेतन होकर उसके सर्वथा विपरीत क्रियावान आवेग का अवलम्बन करता है। योग का अन्तिम उद्देश्य हमारी प्रकृति के सारतत्त्व की सर्वथा कायापलट कर देना है।

मन की धारा का प्रवाह उभयपक्षी है, अर्थात् वह बुराई की दिशा मे भी बहती है तथा अच्छाई की दिशा मे भी। जब इसकी गति मोक्ष तथा ज्ञान की दिशा मे होती है तो कहा जाता है कि इसका प्रवाह अच्छाई की ओर है, और जब यह जीवन के भवर मे फसकर नीचे को, भेदज्ञान के अभाव की ओर, होती है तो हम कहते है कि प्रवाह बुराई की ओर है।[1]

कर्म की क्रियाए या तो बाह्य होती है या मानसिक अर्थात् आन्तरिक। उनके चार प्रकार के विभाग किए गए है। कृष्ण कर्म दुष्ट कर्म है, जो बाह्य, जैसे दूसरो की निन्दा करना, अथवा आन्तरिक, जैसे विश्वास (श्रद्धा) का अभाव, दो प्रकार के है। शुक्ल कर्म धार्मिक क्रियाए है और वे आन्तरिक हैं, जैसे श्रद्धा, ज्ञान आदि। शुक्ल-कृष्ण वे बाह्य कर्म है जो चाहे कितने भी अच्छे क्यो न हो, बुराई के अशो से सर्वथा रहित नही है। वैदिक कर्मों तक मे भी अन्य प्राणियो को कुछ न कुछ क्षति पहुचाना सम्मिलित है। अशुक्ल-अकृष्ण, अर्थात् न अच्छे न बुरे, कर्म उनके है जिन्होंने सब कुछ त्याग दिया है। उच्चतम श्रेणी की क्रियाशीलता का सम्बन्ध अन्तिम प्रकार के कर्मो से है।

९
शरीर का नियंत्रण

योगदर्शन अनुभव करता है कि हमारे शरीर का भी उतना ही महत्त्व है जितना कि मन का है। आसनों से मन की एकाग्रता मे सहायता मिलती है।[2] दौडते समय अथवा निद्रितावस्था मे हम किसी वस्तु पर ध्यान स्थिर नही कर सकते। ध्यान मे बैठने से पूर्व हमे अपने को एक सुविधाजनक स्थिति (आसन) मे स्थित करना चाहिए। पतञ्जलि केवल यही कहते है कि आसन दृढ, सुखावह और सरल होना चाहिए। टीकाकारो ने भिन्न-भिन्न प्रकार के आसनो के विवरण पीछे से बहुत विस्तार से दिए है। जब भारतीय संस्कृति के एक आधुनिक समालोचक ने अपने पाठको को विश्वास दिलाया कि भारतीय दार्शनिको का विचार है कि आलथी-पालथी मार के बैठना और नाभि मे

१. योगभाष्य, १ : १२। २. ४ : ७।
३. देखिए भगवद्गीता, ६ : १० से आगे; २ : ४६–४८।

ध्यान लगाना विश्व की गहराई को समझने का सबसे उत्तम मार्ग है, तो उसके ध्यान में योग के आसनों में से ही कोई एक रहा होगा।

शरीर को या तो पशुओं के समान असंयत छोड़ा जा सकता है या दैवीय शक्ति-सम्पन्न बनाया जा सकता है। हमें बताया गया है कि अपने भोजन के विषय में हमें बहुत ध्यान देना चाहिए। ऐसे पदार्थों को हमें अपने खान-पान का भाग न बनाना चाहिए जिनसे हमारे स्नायुजाल को उत्तेजना मिले अथवा मूर्छा आ जाए। जीवन के निम्नश्रेणी के तृप्तिदायक साधन, साधारणतः, आत्मा के सच्चे सुख को दबाकर नष्ट कर देते है। यदि बौद्धिक जीवन और नैतिक व्यापार सच्चे अर्थों मे मनुष्य के लक्ष्य है, तो शारीरिक आवश्यकताओं को उनके अधीन रखना चाहिए। योग की अन्तिम अवस्थाओं के लिए शारीरिक सहनशीलता की महान शक्तिया आवश्यक है। और ऐसे दृष्टान्तों की कमी नही है जहाकि कठोर आत्मिक जीवन का अत्यधिक बोझ इस शरीररूपी मिट्टी के पात्र को टूटने की सीमा तक पहुचा देता है। इसलिए सबसे पूर्व शरीर को वश में रखना होगा। हठयोग का लक्ष्य शरीररूपी यन्त्र को पूर्णता तक पहुचाना है, जिससे कि यह थकावट से विरत हो सके तथा इसके क्षय और जरा को रोका जा सके।

योग हमें शरीर को वश में करने के लिए कहता है, मारने के लिए नही। इन्द्रियभोग से दूर रहना तथा शरीर को कष्ट देना एकसमान नही है। परन्तु कभी-कभी हिन्दू भारत में तथा ईसाई यूरोप मे इन दोनों को मिला दिया जाता है।[1] योग का कहना है कि शरीर की पूर्णता सौन्दर्य, शोभा, शारीरिक बल तथा दुर्भेद्य कठोरता में है।[2]

१. तुलना कीजिए सूसो के आत्मचरित्र के उस अंश के साथ जिसमें उसने अपना अनुभव अन्य पुरुष के रूप में प्रकट किया है : "वह अपनी युवावस्था में जीवन के जोशभरे स्वभाव मे था और यह जोश जब अधिक उमड़ने लगा तो उसे बहुत दुःख हुआ। उसने अनेक यत्न किए कि किसी प्रकार से शरीर को वश में किया जा सके। उसने दीर्घ काल तक एक बालों वाली कमीज और एक लोहे की जंजीर धारण की, यहां तक कि उसके शरीर से खून बहने लगा और उसे उन दोनों को उतार फेंकने के लिए बाध्य होना पड़ा। उसने गुप्तरूप से अपने लिए नीचे पहनने की पोशाक तैयार कराई जिसमें चमड़े की पट्टियां थीं और उनमें १५० पीतल की कीलें ठुकवा दीं, जिनकी नोकें खूब पैनी थीं और सदा शरीर के मांस की ओर रहती थीं। यह पोशाक उसने बहुत ही तंग बनवाई, जिससे बदन में चारों ओर कसी जाकर नोकीली कीलें सदा उसके मांस के अन्दर गड़ सकें। यह पोशाक उसने काफी ऊंची, नाभि तक पहुंचनेवाली बनवाई। उसीको पहनकर वह रात को सोता था।" (लाइफ आफ द ब्लैसेड हेनरी सूसो, बाई हिमसेल्फ, टी० एफ० नौक्स द्वारा अनूदित)। इस पुस्तक में इससे भी अधिक हृदय-विदारक विवरण है। बलिदानी ईसा के जीवन के प्रिय साथी रहे है—दारिद्र्य, कष्ट और अपमान, अतः ईसाई संतों में उनका अनुकरण करने के लिए कष्ट और यातनाओं को झेलने की प्रतिस्पर्धा सी रही है। सेंट बर्नार्ड अपने शरीर पर इतने कोड़े लगाते थे कि मृतप्राय हो जाते थे। सेंट टेरेसा अपने भीषण दुःखोन्माद में चिल्लाते थे : "मुझे कष्ट झेलने दो या मर जाने दो।" सेंट जान आफ दि क्रास ने अपने शरीर को जो यातनाएं दीं, वे अवर्णनीय हैं।

२. रूपलावण्यबलवज्रसंहननत्वानि कायसम्पत (३ : ४६)।

१०

प्राणायाम

प्राणायाम पर पर्याप्त बल दिया गया है, यद्यपि पतञ्जलि ने इसे एक ऐच्छिक साधन के रूप मे ही रखा है।[1] मन की अविक्षुब्धता या तो धार्मिक कार्यों के सम्पादन से या प्राणायाम से प्राप्त की जा सकती है।[2] इस प्रकार जिन व्यक्तियों को इसमे श्रद्धा है, उनके लिए छूट दी गई है। प्राणायाम का प्रयोग मन पर प्रभाव स्थिर रखने के लिए होता है ऐसा माना गया है, और हठयोग मे इसका महत्त्वपूर्ण भाग है। वहां इसकी अत्यन्त प्रतिष्ठा इसलिए है कि इसमे अलौकिक शक्तियो को उत्पन्न करने की अपूर्व क्षमता है। श्वास-प्रश्वास-सम्बन्धी व्यायाम को आधुनिक समय मे भी स्वास्थ्य के लिए बहुत उपकारी समझा जाता है।[3] श्वास मे एकसमानता कभी-कभी सम्मोहन की प्राप्ति का साधन बन जाती है। शरीर से दुर्बल पुरुष जब इस प्रकार के प्राणायाम का अभ्यास करने लगते हैं तो अत्यन्त भय रहता है। यही कारण है कि योगविद्या का इतना अधिक गुप्त रखा गया है।[4]

११

इन्द्रिय-निग्रह

चीनी दार्शनिक लाओ-त्से ने पूछा, "ऐसा कौन है जो कीचड-सने जल को निर्मल कर सकता है?" और उत्तर दिया, "यदि तुम उसे वैसे ही छोड दो तो वह स्वय निर्मल हो जाएगा।"[5] प्रत्याहार अथवा इन्द्रियो को बाहर की उनकी प्राकृतिक क्रियाओ से हटा लेना, आधुनिक मनोविज्ञान की अन्तर्मखता की प्रक्रिया के अनुरूप है।[6] दृढ सकल्पपूर्वक

१. ४ : ३४। २. १ : ३३-३९।

३. 'दीर्घ जीवन के साधन' इस विषय पर १९०३ में डाक्टर ... के व्याख्यान में से लिया गया निम्नलिखित उद्धरण इस विषय पर कुछ रुचिकर विचार प्रकट करता है : "मै मानता हू कि हृदय की पुष्टि तथा काय में अद्भुत उन्नति का कारण बहुत अंशों में दीर्घ श्वास है, जो ऊपर चढ़ने में लेना आवश्यक है, विशेषकर जब चढ़ाई नियमपूर्वक तथा चिरकाल तक जारी रहे। उक्त विचार ने ही मुझे श्वास-सम्बन्धी व्यायाम (प्राणायाम) पर विशेष ध्यान देने की प्रेरणा दी। यह व्यायाम मुझे तो लाभप्रद हुआ ही, किन्तु अनेक ऐसे व्यक्तियों के लिए भी लाभप्रद सिद्ध हुआ जिनके हृदयों की मासपेशियां बहुत दुर्बल थीं। ... मैने प्रारम्भ में दिन में एक या दो बार गहरा श्वास तथा उच्छ्वास ३ से ५ मिनट तक जारी रखा और शनैः-शनैः इसे बढ़ाकर १० या १५ मिनट तक कर दिया ..." (ब्रिटिश मेडिकल जर्नल, दिसम्बर ५, १९०३)।

४. देखिए चिन्तामणिकृत हठप्रदीपिका।

५. ताओ-तेह-किंग।

६. और विचार सबसे उत्तम तब होता है जबकि मन अपने-आपमें संयत होता है, और कुछ भी उसे तंग नहीं करता—न शब्द, न दृश्य, न दुःख और न कोई सुख, जब शरीर के साथ उसका यथा-

मन को समस्त बाह्य प्रभावो के लिए बन्द कर लेना चाहिए। स्तोत्रकार ने कहा है "निश्चल हो और जानो।" नियन्त्रण हमसे चाहता है कि हम स्वेच्छाचारी मानसिक आवेगों तथा आग्रहपूर्ण विचारो को दूर हटा दे। हमे उस दशा को प्राप्त करना है जिसे सेंट जान आफ दि क्रास ने 'नाइट आफ सैस' कहा है। प्रत्येक सत्यान्वेषी को अपने हृदय के अन्दर एक आश्रमकुटी निर्मित कर लेनी चाहिए और प्रतिदिन उसमे अवकाश ग्रहण करना चाहिए।

नैतिक साधना (यम और नियम), आसन, प्राणायाम और प्रत्याहार योग के सहायक साधन है, इसके अन्तर्निहित अंश नही है।[1]

१२

ध्यान

मनुष्य के चचल और विक्षुब्ध मन को, जो पृथ्वी और स्वर्ग के गूढ़तम रहस्यो को जानना चाहता है, योग का कहना है कि चैतन्य को निरन्तर बाह्य क्रियाओ तथा आभ्यन्तर परिवर्तनो से हटाकर ही सत्य को जाना जा सकता है। मन (चित्त) को एक विशेष स्थान पर स्थिर करने का नाम 'धारण' है। यह मन की स्थिरता है। साधारण दैनिक जीवन मे विचार आते तथा जाते है, परन्तु दीर्घकाल तक नही ठहरते। साधारणत: एकाग्रता केवल थोड़े समय के लिए ही अपनी पूर्णता मे रहती है। ध्यान की अवस्था, बिना किसी विघ्न के, समरूप मे बह रही विचारधारा का परिणाम है। यह ध्यान, मनन अथवा चिन्तन कहाता है। ध्यान पराकाष्ठा तक पहुचकर समाधि मे परिणत होता है, जहा अभिज्ञा का भाव लुप्त हो जाता है। शरीर और मन समस्त बाह्य प्रभावों के लिए निश्चेष्ट हो जाते है और केवल ध्यान का विषय, वह कुछ भी क्यो न हो, प्रकाशित रहता है। जब ये तीनो एक ही विषय की ओर प्रेरित होते है तो उसे सयम कहते है।[2] जब यह सयम विषयो की ओर प्रेरित होता है—चाहे वे विषय बाह्य हो अथवा आभ्यन्तर हो—तो असाधारण शक्तिया (सिद्धिया), जैसे बन्द किवाडो के अन्दर मे देखना, अदृश्य हो जाना, अन्य पुरुषो के विचारो को जान जाना आदि, प्राप्त हो जाती है। मोक्ष का अभिलाषी यदि इन सिद्धियों के प्रलोभनो मे पड जाता है तो अपने उद्देश्य को भूल जाता है। ऊर्ध्वदिशा मे गति करने के लिए उक्त प्रलोभनो को रोकना चाहिए।[3]

संभव कम से कम वासना रहता है, तथा कोई शारीरिक बाध या अनुभूति नही रहती, और वह केवल मन को प्राप्त करने की महत्त्वाकांक्षा रखता है (प्लेटो कृत फीडो, जावेट का आंग्लभाषानुवाद)।

१. ये आत्मशुद्धि की अवस्था को प्रस्तुत करते है, ध्यान और धारणा प्रकाश की अवस्था को प्रस्तुत करते हैं, तथा समाधि योग को प्रस्तुत करती है।

२. ३ : ६ ।

३. ३ : ५१ ।

१३

समाधि अथवा एकाग्रता

समाधि उस दशा का नाम है जिसमें से मोक्षप्राप्ति से पूर्व गुजरना आवश्यक है। क्योंकि योग समाधि द्वारा मोक्षप्राप्ति पर आग्रह करता है, इसलिए इसे पारिभाषिक रूप में 'समाधि' कहा गया है (योगः समाधिः)।[1] यह समाधिस्थ की दशा है जिसमें बाह्य जगत् के साथ सम्बन्ध टूट जाता है। योग की साधना का यह लक्ष्य है, क्योंकि यह आत्मा को उसके काल-सम्बन्धी, सोपाधिक तथा परिवर्तनशील जीवन से ऊपर उठाकर एक सरल, नित्य तथा पूर्ण जीवन प्राप्त कराना है।[2] इसके द्वारा पुरुष नित्यपद को पुनः प्राप्त कर लेता है। एकाग्रता अथवा समाधि की श्रेणिया है : सम्प्रज्ञात अर्थात् सचेतन और असम्प्रज्ञात अर्थात् चैतन्यातीत। पहली मे मन विषय से अभिज्ञ रहता है। वह अवस्था जिसमें चित्त अपने उद्देश्य में एकाकी होता है और एक स्पष्ट तथा यथार्थ पदार्थ को पूर्णरूप से प्रकाशित करता है, दुःखो को दूर करता है तथा कर्म के बन्धनों को ढीला कर देता है और सब पकार की मानसिक वृत्तियों का दमन अपना लक्ष्य रखता है, सम्प्रज्ञात समाधि है।[3] इसके अन्दर ज्ञाता और ज्ञात का सयोग होता है, जिसमें ज्ञाता विषय को जाननेवाला केवल इसलिए कहलाता है कि यह स्वयं वही है। विचार और विचार का विपय एक ही है। इस अवस्था में वितर्क, विचार, आनन्द और अस्मिता का भाव संलग्न रहते हैं।[4] ये समाधि के ऐसे रूप है जिनके निश्चित विषय हैं, जिनपर इनका आधार है। सम्प्रज्ञात समाधि के सूक्ष्म भेदों को भिन्न-भिन्न नाम दिए गए हैं, जैसे सवितर्क, सविचार, सानन्द और सास्मिता। जब तक हम क्या अच्छा है क्या बुरा, क्या उपस्थित है क्या अनुपस्थित, इस प्रकार का तर्क-वितर्क करते हैं, जब तक हम आनन्द और अस्मिता के भावों को अनुभव करते है, तब तक हम सम्प्रज्ञात समाधि में रहते है। जब आनन्द का अनुभव दूर हो जाता है और उच्चश्रेणी की समवृत्ति में लुप्त हो जाता है तो वह अवस्था उत्पन्न होती है जिसे धर्ममेघ कहते है, जिसमें आत्मा का पृथक्त्व तथा इसका प्रकृति से पूर्णरूप में भेद प्रत्यक्ष हो जाता है और कर्म और आगे अपना कार्य नहीं करता।

१. योगभाष्य, १ : १।

२. "बिलकुल बाल्यावस्था से, मैं जब कभी सर्वथा अकेला रहा हूं तो प्रायः एक प्रकार की जागरित अन्तर्लीनता (समाधि) का अनुभव करता रहा हूं। सामान्यतः यह अवस्था मुझे चुपचाप दो-तीन बार अपना नाम दोहराने से आती है, अचानक अस्मिता के चैतन्य के आधिक्य से स्वयं अहं अनन्त सत्ता के अन्दर लुप्त होता हुआ प्रतीत होने लगता है और यह एक अस्पष्ट व सम्भ्रम की दशा न होकर स्पष्टों में भी सबसे स्पष्ट, निश्चितों में भी सबसे निश्चित, अलौकिकों में भी सबसे अलौकिक, सर्वथा शब्दातीत दशा होती है, जहां मृत्यु एक उपहासास्पद असम्भावना थी, तथा व्यक्तित्व का लोप (यदि यह ऐसा था) सर्वथा लोप नहीं, बल्कि एकमात्र सत्यजीवन लगता है" (लाइफ आफ टैनीसन, खण्ड १, पृष्ठ ३२०)। देखिए उसकी 'दि एंशियण्ट सेज'।

३. योगभाष्य, १ : १।

४. क्योंकि नींद में हम किसी यथार्थ विशद विषय पर एकाग्र नहीं होते इसलिए निद्रा एकाग्रता की अवस्था नहीं है। देखिए वाचस्पति, १ : १।

वेदान्त के अनुसार, यह वह अवस्था है जिसमें विचारों का प्रवाह अत्यन्त विशदरूप में रहता है।

ऐसे व्यक्ति को जिसने आन्तरिक शान्ति प्राप्त कर ली है, वस्तुओं के सत्यज्ञान की अन्तर्दृष्टि प्राप्त हो जाती है। जैसाकि व्यास ने कहा है : "बुद्धि का सत्त्व, जिसका सारतत्त्व प्रकाश है, जब अशुद्धि के मल से उन्मुक्त हो जाता है तो एक स्फटिक के सदृश निर्मल तथा स्थिर प्रवाह का रूप धारण कर लेता है, जिसपर रजोगुण तथा तमोगुण अपना आधिपत्य नहीं कर सकते। जब निर्विचार समाधि में इस प्रकार की स्पष्टता (वैशद्य) उदित होती है तो योगी को आन्तरिक शांति (अध्यात्मप्रसाद) की प्राप्ति हो जाती है; और अन्तर्दृष्टि के प्रकाश से प्राप्त होती है ऐसी दर्शनशक्ति जिसको साधारण, भ्रांतिपूर्ण अनुभवज्ञान की क्रमिक अवस्थाओं मे से गुजरना नही होता, और उसका अभिलषित विषय उसके सम्मुख अपने यथार्थरूप मे होता है।"[1] यह अन्तर्दृष्टि सत्य से आपूरित है तथा सत्य को धारण किए हुए है।[2] मिथ्या ज्ञान का इसमें लेशमात्र भी नही है। इस अन्तर्दृष्टि को पतञ्जलि ने उस ज्ञान मे पृथक् कहा है जो हमे अनुमान और आगम (शास्त्र) प्रमाण से प्राप्त होता है, क्योंकि पतञ्जलि के मत मे इसका विषय एक मूर्त यथार्थसत्ता है, केवल एक सामान्य धारणामात्र नही।[3] जहा तक इसका अपने विषय के लिए एक विशेषार्थ है, प्रत्यक्ष से इसका सम्बन्ध अधिक घनिष्ठ है। अन्तर केवल यही है कि अन्तर्दृष्टि द्वारा ज्ञात पदार्थ भौतिक प्रत्यक्ष के लिए अत्यन्त सूक्ष्म होते है।[4] यह परम प्रत्यक्ष है।[5] इस प्रकार प्रमेय, चाहे उसका सम्बन्ध सूक्ष्म तत्त्वो से हो अथवा आत्मा से हो, केवल इसी एकाग्र अन्तर्दृष्टि द्वारा जाना जाता है। जब हमारे भौतिक चक्षु बन्द हों तो इस प्रकार का दर्शन आत्मा से सम्पन्न होता है। यह अन्तर्दृष्टि जब एक बार उत्पन्न हो जाती है तो इसके प्रभाव के आगे अन्य सब प्रभाव फीके पड जाते है, जिससे कि उनके विचार फिर सामने नही आते।[6] जब हम उच्चतम कोटि के अन्तर्दृष्टिजन्य ज्ञान को प्राप्त कर लेते है, जो एकसाथ ही भूत, वर्तमान और भविष्य को उनकी समस्त अवस्थाओ समेत एक पूर्ण इकाई मे ग्रहण कर लेता है, तो यह हमें अंतिम पूर्णता तक पहुंचा देता है।[7]

समाधि एक सरल अनुभव नही है, जो जब तक रहे एकसमान हो। इसके विपरीत, यह ऐसी मानसिक अवस्थाओ की शृङ्खला है जो अधिकाधिक सरल होती हुई अंत में अचेतन अवस्था में परिणत हो जाती है। असम्प्रज्ञात समाधि ऐसी एकाग्रता है जिसमें कोई चित्तवृत्ति उपस्थित नही रहती, यद्यपि प्रसुप्त सस्कार रह सकते है।[8] सम्प्रज्ञात समाधि में जिस विषय का चिन्तन किया जाता है उसकी चेतना स्पष्ट रहती है और प्रमाता (विषयी) से भिन्न रूप मे रहती है, किन्तु असम्प्रज्ञात समाधि में यह भेद

१. योगभाष्य, १ : ४७। और देखिए २ : ४५ : ३ : ५६।
२. ऋतंभरा तत्र प्रज्ञा (१ : ४८)।
३. १ : ४६।
४. योगभाष्य, १ : ४६।
५. योगभाष्य, १ : ४३।
६. १ : ५०।
७. ३ : ५४।
८. १ : १८।

विलुप्त हो जाता है।[1]

ऐसी समाधि की अवस्था जिसमें भावी जीवन का बीज विद्यमान रहता है, अर्थात् 'सबीज समाधि', तथा जिसमें यह विद्यमान नहीं रहता, अर्थात् 'निर्बीज समाधि'—दोनों में भेद किया गया है। वाचस्पति के अनुसार, बीज "कर्म का प्रसुप्त आशय है, जो जन्म, जीवन की अवधि तथा सुखों के नाना रूपों की बाधाओं के अनुरूप है।"[2] जिसका यह आधार है वह सबीज है और जो इससे विरहित है वह निर्बीज है। प्रकृतिजन्य अन्य सब पदार्थों की भांति, चित्त के भी तीन पार्श्व हैं, अर्थात् सत्त्व, रजस्, और तमस्। व्यास के अनुसार, "इसका सात्त्विक पार्श्व, जो प्रकाशमय है, जब रजस् और तमस् के साथ संयुक्त रहता है तो शक्ति तथा ऐन्द्रिय विषयों की कामना करता है। किन्तु वही जब तम से अभिभूत रहता है तो बुराई, अज्ञान और आसक्ति की ओर प्रवृत्त होता है तथा अपने प्रभुत्व को अनुभव करने में असफल रहता है। जब भ्रम का आवरण दूर हो जाता है तो वही चारों ओर से प्रकाशित होता है, और क्योंकि इसमें थोड़ा-सा रजस् का अंश सम्मिलित रहता है इसलिए धर्म, ज्ञान, अनासक्ति तथा प्रभुत्व के प्रति प्रवृत्त होता है। वही सत्त्व, जब रजस् का लेशमात्र भी शेष नहीं रहता तो, अपने-आपमें अवस्थित हो जाता है (स्वरूपप्रतिष्ठम्), और सत्त्व तथा आत्मा के भेद को पहचानने के अतिरिक्त अन्य कुछ न होने से (सत्त्व-पुरुषान्यताख्यातिमात्रम्) धर्ममेघ के चिन्तन के प्रति प्रवृत्त हो जाता है (धर्म-

१. "आत्मा अब शरीर अथवा मन से अभिन्न नहीं रहती, बल्कि जानती है कि जिसकी उसे इच्छा थी वह उसके पास है, और कि वह ऐसी स्थिति में है जहां कोई छल नहीं आ सकता, और कि वह अपने परमानन्द को स्वर्ग के भी स्वर्ग के साथ बदलने को तैयार न होगी" (प्लाटिनस : एनीड्स, ६ : ७, ३४)। शेलिंग अपनी 'फिलौसाफिकल लैटर्स अपौन डौग्मैटिज़्म एण्ड क्रिटिसिज़्म' नामक पुस्तक में कहता है : "हम सबके अन्दर एक गुप्त तथा अद्भुत शक्ति निवास करती है, जिसके द्वारा हम अपने को कालजनित परिवर्तनों से स्वतन्त्र कर सकते हैं, अपने को बाह्य वस्तुओं से हटाकर अपनी गुह्य आत्मा में समेट सकते हैं, और हमारे अन्दर अपरिवर्तनशीलता के रूप में जो नित्य है उसे खोज सकते हैं। अपने को अपने-आपके समक्ष इस तरह प्रस्तुत करना यथार्थ में सर्वथा निजी अनुभव है, जिसपर वह सब कुछ निर्भर करता है जो हम अतीन्द्रिय लोक के सम्बन्ध में जानते हैं। यह प्रस्तुतीकरण हमें पहली बार यह दिखाता है कि यथार्थ जीवन क्या है, जबकि अन्य सब कुछ केवल प्रतीतिमात्र है। यह प्रस्तुतीकरण अन्य सब इन्द्रियजनित प्रस्तुतीकरणों से भिन्न है, क्योंकि यह सम्पूर्णरूप में स्वतन्त्र है, जबकि अन्य सब प्रस्तुतीकरण बद्ध हैं, पदार्थों के भार से बुरी तरह दबे हुए हैं। यह बौद्धिक प्रस्तुतीकरण तब सम्पन्न होता है जब हम अपने ही प्रमेय बनने बन्द हो जाते हैं, जब अपने अन्दर सिमटकर प्रत्यक्ष-द्रष्टा मूर्ति प्रत्यक्षीकृत आत्मा में आत्मसात् हो जाती है। उस समय हम काल तथा कालावधि को सर्वथा मिटा देते हैं। हम तब काल के अन्दर नहीं होते, बल्कि काल अथवा स्वयं अनन्तता हमारे अन्दर होती है। बाह्यजगत् हमारे लिए प्रमेय नहीं रहता, बल्कि हमारे अन्दर लुप्त हो जाता है।" इस प्रकार यह प्रकट है कि ऐसा सोचना कि केवल पूर्व के लोगों का ही मस्तिष्क इस प्रकार के भावुकतामय विचारों के लिए उपयुक्त है, जो अतीन्द्रिय सौन्दर्यपरक चिन्तन में परिणत हो जाते हैं, ठीक नहीं है।

२. तत्त्ववैशारदी, १ : २।

मेघध्यानोपग भवति) । इसको धर्ममेघ इसलिए कहा गया है क्योकि यह धर्म अर्थात् सत्य से परिपूर्ण है तथा नीचे के स्तरो पर वरदानो की वर्षा करता है, जबकि मनुष्य स्वय नित्य सत्यरूपी सूर्य की धूप का आनन्द लेता है और सब प्रकार के कष्टो तथा कर्मों से ऊपर उठ गया होता है । ध्यानी पुरुष इसे उच्चतम श्रेणी की बोधप्रक्रिया (प्रसख्यान) मानते है । किन्तु चितिशक्ति निर्विकार है और पदार्थों के साथ सयुक्त नही होती । पदार्थ इसके सम्मुख आते है, किन्तु यह निर्दोष रहती है और इसका अन्त नही है, जबकि विवेकख्याति, जिसका सारतत्त्व सत्त्व है इसकी प्रतिपक्षी है ।" यद्यपि यह उच्चतम ज्ञान है जो सम्भव हो सकता है, किन्तु इसका भी दमन करना आवश्यक है ।[1] "इस प्रकार इससे भी निराश होकर चित्त इस अन्तर्दृष्टि को नियन्त्रित करता है । इस अवस्था मे इसके अन्दर सस्कार रहते है ।…सबीज समाधि का उपयोग, जिसके द्वारा वस्तुओ का ज्ञान ग्रहण करने की महान शक्ति प्राप्त होती है, निर्बीज समाधि तक पहुचने के लिए एक आवश्यक सोपान के रूप मे करना होगा । क्योकि इस अवस्था मे किसी भी प्रमेय की चेतना नही रहती इसलिए इसे असम्प्रज्ञात भी कहा गया है ।" यद्यपि कुछ सस्कार रहते है, किन्तु उनका मूल नष्ट हो जाता है । परन्तु भोज की सम्मति है कि पूर्ण असम्प्रज्ञात समाधि मे समस्त सस्कार नष्ट हो जाते है ।[2] व्यास और वाचस्पति का मत है कि उस अवस्था मे सस्कार विद्यमान रहते है । किन्तु अन्तिम मोक्ष के लिए उन्हे दूर करना आवश्यक है, क्योकि योगसूत्र का कहना है कि जब अन्तर्दृष्टि के अवचेतनावस्थागम सस्कार का भी दमन हो गया, अर्थात् जब सब कुछ दमन हो गया, तो योगी निर्बीज समाधि को प्राप्त कर लेता है ।[4]

जब तक हम समाधि की अवस्था को नही पहुचते, हमारा प्रयत्न निषेधपरक,

१. व्यास (१ : ४) पञ्चशिख से इस प्रकार का एक उद्धरण देते है : "ज्ञान केवल एक है, भेद ज्ञान ही ज्ञान है ।" "एकमेवदर्शन ख्यातिरेव दर्शनम् ।"

२. भोजवृत्ति, १ : १८ ।

३. राजेन्द्रलाल मित्र लिखते है : "इस विरोध का समाधान यो किया जा सकता है कि मानो पातञ्जलभाष्य की दृष्टि में एक वह समाधि है जिसमे जागना होता है, जबकि भोजवृत्ति अन्तिम समाधि का वर्णन करता है जिसमे और जागना नही होता। क्योंकि वह स्वीकार करता है कि असम्प्रज्ञात समाधि की प्रारम्भिक अवस्थाओं में कुछ विशिष्ट सस्कार शेष रह जाते है । योगीजन स्वीकार करते हैं कि असम्प्रज्ञात समाधि मे पुरुष जागते है, और कि उस समाधि का प्राय अभ्यास किया जाता है, और इस प्रकार की अवस्थाओं में सस्कार अन्तर्निहित अवस्था में अवश्य रह जाते है, जो कि समाधि से उठने पर उचित उत्तेजना मिलने पर पुनरुज्जीवित हो उठेगे । यह सन्तोषजनक रूप मे कहना कि पतञ्जलि स्वयं किस समाधि की अवस्था के विषय में कहते है, कठिन है, जिस प्रकार उन्होंने 'शेष' शब्द का प्रयोग किया है उससे इस विचार का सुझाव मिलता है कि पातञ्जलभाष्य ने उनका ठीक ही अर्थ लगाया है" (योगसूत्र, पृष्ठ २३) ।

४. १ : ५१ । तस्यापि निरोधे सर्वनिरोधान्निर्बीजः समाधिः ।

अर्थात् पुरुष को प्रकृति से भिन्न जानना, रहता है। किन्तु जब इस पारस्परिक भेद का पूरा ज्ञान हो गया, तो आत्मा का विध्यात्मक स्वरूप अपने को अभिव्यक्त करता है। आत्मा के स्वरूप की उसके अपने स्तर पर यह अभिव्यक्ति, जो प्रकृति के साथ सब प्रकार के मिश्रण से ऊपर है, समाधि की सबसे उन्नत अवस्था है। इस अत्युत्कृष्ट चेतनामय समाधि में द्रष्टा अपने स्वरूप में अवस्थित रहता है।[1] उस अवस्था में आत्मा तथा चित्त की क्रिया के मिश्रण की समस्त सम्भावना मिट जाती है।[2] योग का यह मत है कि मनुष्य का चित्त एक चक्की के पाट के समान है। यदि हम उसके नीचे गेहूं रखेंगे तो वह उसे पीसकर आटे के रूप में परिणत कर देगा; और यदि हम उसमें पीसने को कुछ न रखेंगे तो वह चलते-चलते अन्त में अपने-आपको ही पीस डालेगा। जब हम चित्त को उसके उतराव-चढ़ाव से विहीन कर देते हैं तो उसकी चेष्टा विराम को प्राप्त हो जाती है, और वह नितान्त अकर्मण्यता की अवस्था में आ जाता है। उस समय हम एक ऐसे मौन में प्रवेश करते हैं जिसपर बाह्य जगत् का सतत कोलाहल कोई प्रभाव नहीं डालता। चित्त तो निराश्रय हो गया, किन्तु आत्मा बिलकुल स्वस्थ है। यह एक ऐसी अवस्था है जो रहस्यमय है और प्रगाढ़ एकाग्रता के परिणामस्वरूप होती है। इसका हम ठीक-ठीक निरूपण नहीं दे सकते। क्योंकि, जैसाकि व्यास ने उद्धरण दिया है, "योग के द्वारा ही योग जाना जाता है, और योग की अभिव्यक्ति भी योग के ही द्वारा होती है, और जो योग के प्रति तत्पर है वह सदा इसीमें रमा रहता है।"[3] समाधि एक ऐसी अवस्था है जो बहुत कम व्यक्तियों को प्राप्त होती है और प्रायः कोई भी इसे देर तक धारण किए नहीं रह सकता, क्योंकि जीवन की मांगों के कारण यह भंग हो जाती है। इसलिए यह कहा गया है कि अन्तिम मोक्ष तब तक सम्भव नहीं है, जब तक कि इस शरीर का त्याग नहीं होता।

उन्माद की अवस्थाएं आती हैं, इस विषय में कोई भी संदेह नहीं कर सकता। प्लेटो के अनुसार, "यह दैवीय उन्माद मनुष्य को दिए गए वरदानों का मुख्यतम स्रोत है।" सर्वोच्च अन्तःप्रेरणाओं का आविर्भाव जीवन के ऐसे ही क्षणों में हुआ है। होरेब पर्वत पर मोज़ेज़ ने अनादि, अनन्त विश्वात्मा के शब्द को 'मैं हूं' इस ध्वनि में सुना। ईसाइयाह ने यथार्थसत्ता के रहस्य को 'पवित्र, पवित्र, पवित्र' इन शब्दों द्वारा प्रत्यक्ष किया। सन्त पीटर्स ने सड़क के दर्शन से ही यह ज्ञान प्राप्त किया कि ईश्वर सब मनुष्यों तथा सब राष्ट्रों के लिए एकसमान है। कहा जाता है कि सन्त पॉल अपनी दीक्षा लेते समय समाधि की मूर्च्छा में आ गए थे। मध्ययुग के रहस्यवादी प्रायः ही अद्भुत दर्शन तथा अद्भुत वाणियों के विषय में कहते सुने गए हैं। आधुनिक काल के कवियों में वर्ड्सवर्थ और टैनीसन उन्माद की दशाओं का प्रायः उल्लेख करते हैं। इन अद्भुत दर्शनों तथा अद्भुत वाणियों को साधारणतः ईश्वर से साक्षात्कार माना गया है, जोकि बाधाओं के साथ जूझते हुए सन्तों को साहाय्य प्रदान करने तथा आवश्यकता के समय बल प्रदान

१. १ : ३। २. १ : ३-४।
३. योगेन योगो ज्ञातव्यो योगो योगात्प्रवर्तते।
योऽप्रमत्तस्तु योगेन स योगे रमते चिरम्॥ (योगभाष्य, ३ : ६।)

करने के अभिप्राय से प्रकट होते है; जिससे कि ईश्वर मे श्रद्धा रखनेवालों के लिए उन्माद की अवस्था दैवत्वप्राप्ति ही का दूसरा नाम है।[1] किन्तु योग का मत ऐसा नही है। प्रत्येक आत्मा मूलरूप में दैवीय है, और उसके दैवत्व की अभिव्यक्ति तब होती है जबकि बाह्य तथा आभ्यन्तर दोनो प्रकार के स्वभाव पर मनुष्य नियंत्रण कर लेता है।[2] अद्भुत दर्शनो तथा अद्भुत वाणियों को योग मे मनुष्य के अपने अन्दर के सृजनात्मक भाव का प्रकाशनमात्र माना गया है। उक्त दर्शन अथवा अद्भुत वाणिया प्रामाणिक है या नही, इसका निर्णय तर्क के प्रकाश से करना चाहिए।

१४

मोक्ष

मोक्ष का नाम योगदर्शन मे 'कैवल्य' अर्थात् परम स्वातन्त्र्य है। यह अवस्था केवल निषेधात्मक नही है, बल्कि पुरुष का वह नित्यजीवन है जो प्रकृति के बन्धनों से मुक्त होकर प्राप्त होता है। इसकी व्याख्या करते हुए कहा गया है कि यह गुणो का पूर्वावस्था को प्राप्त हो जाना है, क्योकि उस समय आत्मा का कोई प्रयोजन नही रहता, अथवा बुद्धि की शक्ति अपने-आपमे स्थित होती है।[3] पुरुष अपने यथार्थस्वरूप मे रहता है। हिन्दू विचारधारा की अन्यान्य दर्शन-पद्धतियो की भाति योगदर्शन मे भी समस्त इच्छा का कारण वस्तुओ के यथार्थस्वरूप का अज्ञान है। शरीर इसी अज्ञान के कारण है। इसका समर्थक चित्त है और इसका विषय सासारिक सुखोपभोग है। जब तक अविद्या का अस्तित्व है, मनुष्य अपने बोझ को उतारकर नही फेंक सकता। अविद्या का परिहार विवेकज्ञान (विवेकख्याति) के द्वारा हो सकता है।[4] जब मनुष्य ज्ञान प्राप्त कर लेता है तो सब प्रकार के मिथ्या विचार विलुप्त हो जाते हैं। आत्मा पवित्र हो

१. "कतिपय महान ईसाई रहस्यवादियों ने ईसामसीह अथवा ईश्वर की स्वतःसम्भूत कार्यशक्ति को ही दैवत्व का नाम दिया है" (जे० एच० ल्यूबा : जर्नल आफ फिलासफी, २१, पृष्ठ ७०२)।

२. बर्नार्ड शा कृत 'सेंट जान' की प्रकाश डालनेवाली प्रस्तावना देखिए।

३. पुरुषार्थशून्याना गुणाना प्रतिप्रसवः कैवल्यं स्वरूपप्रतिष्ठा वा चितिशक्तिरिति (योगसूत्र, ४ : ३४)।

४. कहा जाता है कि इसकी सात स्थितिया है, जो इस प्रकार है : (१) वस्तु, जिससे छुटकारा पाना है, जान ली गई है और इस प्रकार उसे फिर से जानने की आवश्यकता नहीं है। (२) जिस वस्तु से छुटकारा पाना है उसके कारण क्षीण हो चुके हैं और इसलिए उन्हें और क्षीण होने की आवश्यकता नहीं है। (३) छुटकारे का सीधा प्रत्यक्ष निरोध समाधि द्वारा होता है। (४) विभेदज्ञान के रूप में छुटकारे के साधन को सिद्ध किया गया है। जहा ये चारों चार प्रकार की बाह्य प्रपञ्च से मुक्ति (कार्यविमुक्ति) से सम्बन्ध रखती हैं, वहा अन्य तीन का सम्बन्ध अन्तिम मोक्ष (चित्तविमुक्ति) से है और वे हैं—(१) बुद्धि का अधिकार समाप्त हो गया; (२) गुणों को विश्राम मिल गया; (३) आत्मा, जिसने गुणों से अपना सम्बन्ध तोड लिया है, स्वतः प्रकाशित होती है, इससे अधिक कुछ नहीं, और वह निर्मल तथा पृथक् हो गई। (गुणसम्बन्धातीतः स्वरूपमात्रज्योतिरमलः केवली पुरुष इति) (योगभाष्य, २ : २७)।

जाती है और चित्त की अवस्थाओ से अलिप्त रहती है। गुण भी अवकाश प्राप्त कर लेते है और आत्मा अपने सारतत्त्व मे प्रतिष्ठित हो जाती है।[1]

जीव का लक्ष्य अनासक्ति तथा स्वाधीनता प्राप्त करना है। यह पारिवारिक जीवन, समाज आदि मानवीय सम्बन्धो के अनुकूल नही है, और इसीलिए योग एक ऐसा दर्शन कहा गया है जिसको नीतिशास्त्र से कोई सरोकार नही है। एक ऐसे दर्शन मे, जिसका लक्ष्य ही मनुष्य के ससार-सम्बन्धी समस्त बन्धनो को तोडने का हो, नैतिक, विषयो पर विवेचन के लिए कोई स्थान नही हो सकता।[2] इस प्रकार की समालोचना का हमे प्राय ही सामना करना पडा है। नैतिक मार्ग ही एकमात्र हमे पूर्णता तक पहुचाने मे सहायक होता है, यद्यपि पूर्णता की प्राप्ति के पश्चात् हम ऐसे क्षेत्र मे पहुच जाते है जो अच्छाई और बुराई दोनो से परे है। आत्मा के यथार्थस्वरूप को, जो अनेक प्रकार के आवरणो से मलिन बना रहता है, जान लेने का ही नाम मोक्ष है। हम केवल पुरुषार्थ तथा आत्मसयम के द्वारा ही उनसे मुक्ति पा सकते है। अन्यान्य अनेको दर्शन-पद्धतियो की अपेक्षा योगदर्शन इस मत को स्वीकार करने पर कही अधिक बल देता है कि दार्शनिक ज्ञान हमे त्राण नही पहुचा सकता। जिस वस्तु की हमे आवश्यकता है वह अनुसन्धान अथवा विवेचन की सूक्ष्मताए नही है, बल्कि इच्छाशक्ति को वश मे करना है। हमे अपनी आन्तरिक भावनाओ तथा वासनाओ पर विजय पानी है। सच्चा दार्शनिक वह है जो आत्मा का चिकित्सक हो, जो हमे इच्छाओ के बन्धन से मुक्ति दिलाने मे सहायक हो।

योगदर्शन इस बात को मानता है कि सब मनुष्य उस आत्मसयम को पालन करने के योग्य नही होते जिसपर कि वह बल देता है। कुछ व्यक्ति ऐसे है जिन्हे आधुनिक मनोविज्ञान की भाषा मे 'बहिर्मुख' कहा जाता है। उनके लिए क्रियायोग का विधान है, जिसमे तपस्या, स्वाध्याय तथा भक्ति (ईश्वर-प्रणिधान) शामिल है।[3] तपस्या वह है जो क्लेश तथा कर्म के परिणामस्वरूप अन्तस्तल मे बैठे हुए अज्ञात सस्कारो समेत समस्त मलो को भस्मसात् कर देती है। योगान्तर्गत मनोविज्ञान की धारणा है कि चेतन मन के अतिरिक्त भी एक अचेतन किन्तु सक्रिय आत्मिक क्षेत्र है, और तपस्या का लक्ष्य इस अचेतन क्षेत्र के विषयो को भी वश मे करना है।[4]

१. ३ : २४-३३।

२. "तार्किक दृष्टि मे एक नैतिक प्रयोजन तथा आचरण योग के लक्ष्य की माग नही है, क्योकि सत्य-व्यवहार तथा मैत्रीभाव इत्यादि एक व्यक्ति के लिए किसी प्रयोजन के नहीं है जो नितान्त अनासक्ति तथा एकाकीपन चाहता है। नैतिक महत्ताओं की चिन्ता का व्यक्तित्व के दमन की कामना के साथ संयोजन उन विषमताओं में से है जो विचार की अव्यवस्था को प्रकट करती है, और यह इस दर्शन में एक त्रुटि है।" (जर्नल आफ फिलासफी, अध्याय १६, संख्या ८, पृष्ठ २००)।

३. २ : १।

४. चैतन्य की सीमारेखा से ऊपर जो कुछ होता है वह नीचे की ओर हो रहे शक्तियो के नाटक का एक प्रतीक है। योगविद्या में निपुण पुरुष, मानसिक रोग (स्नायुरोग) तथा 'भूतबाधा' की अवस्थाओं में, जो कुछ साधारणतः अचेतन के अन्दर छिपा है उसे सम्मोहक मूर्च्छा अथवा अन्य

एक योगी, जिसे समाधि की शक्ति प्राप्त हो गई है, कर्म को नष्ट करने के लिए उद्यत हो जाता है। और वे कर्म तीन प्रकार के है : (१) भूतकाल में किए हुए कर्म, जिन्होने वर्तमान जीवन मे अपना फल देना प्रारम्भ कर दिया है (ये प्रारब्ध कर्म है); (२) वे कर्म जो भूतकाल मे किए गए हे किन्तु जिनके फल किसी भावी जीवन मे मिलने के लिए सचित है (ये सचित कर्म हैं); और (३) वे कर्म जो इस जन्म मे किए गए और जिनका फल इस जीवन मे अथवा किसी भावी जीवन मे मिलने को है (ये आगामी कर्म है)। अन्तिम प्रकार के कर्म ईश्वरभक्ति तथा समाजसेवा द्वारा रोके जा सकते हे। पके हुए कर्म फल दे चुकने पर इसी जीवन मे शेष हो जाते है, और अपरिपक्व कर्मों के विषय म, जिनके लिए आगामी जीवन की आवश्यकता है, यह कहा जाता है कि योगी पुरुष ऐसे सब शरीरो की सृष्टि कर सकता है जिनसे पुराने सब ऋणो का शोध हो जाए। इनमे से प्रत्येक शरीर का एक अपना चित्त अथवा मन रहता है, जिसे निर्माणचित्त अथवा कृत्रिम मन कहते है। कृत्रिम शरीरो की, उनके चित्तो सहित, पहचान साधारण शरीरो से स्पष्ट रूप मे की जा सकती है, क्योकि वे अपने कर्मों मे पूर्णतया व्यवस्थित होते है। योगी की चेतना इन सब विभिन्न इच्छा-रहित कार्यशरीरो का सचालन करती है। ज्योही यह यन्त्रवत् प्राणी, जिसका विशेष लक्ष्य सचित कर्म के एक विशेष भाग की समाप्ति होता है, अपना उद्देश्य पूरा कर चुकता है, योगी उसपर से अपना नियन्त्रण उठा लेता है और 'मनुष्य' हठात् मृत्यु को प्राप्त हो जाता है। प्राकृतिक मन के विपरीत, कृत्रिम मन के अनुभव अपने पीछे कोई चिह्न नही छोडते।[1]

१५

कर्म

जब तक अविद्या पर विजय नही प्राप्त की जाती, तब तक ससार मे जन्म होता रहेगा। कर्म का विधान प्रामाणिक माना गया है, और हमारे जीवन, इसके स्वरूप तथा इसकी अवधि—सबका निर्णय इस कर्मविधान से ही होना है।[2] यद्यपि हम अपने पूर्व-जन्मों को स्मरण नही करते तो भी हम उनकी विशेषताओ का अनुमान वर्तमान जीवन की प्रवृत्तियों द्वारा कर सकते है।[3] और ये प्रवृत्तिया अपने कारण (हेतु), प्रेरक भाव (फल), आश्रय और विषय (आलम्बन) के लुप्त हो जाने पर नष्ट हो जाएगी। मूल कारण है अविद्या, यद्यपि अन्य भी उसके साथ ससक्त कारण हो सकते हैं। प्रेरक भाव से तात्पर्य उस प्रयोजन से है जिसके सम्बन्ध मे कोई भी मानसिक प्रक्रिया वर्तमान में

साधनों से ऊपर की ओर आने देते है और खोज निकालने है। इस प्रकार की चिकित्साएं, जो हमें आधुनिक मनोविश्लेषण का स्मरण कराती है, भारत में बहुत प्रचलित हैं।

१. ४ : ४–५।   २. २ : १२–१४।   ३. ४ : ९।

कार्यकारी बनती है। चित्त अवशिष्ट क्षमताओं का अधिष्ठान है और विषय (प्रमेय पदार्थ) वह है जो क्षमताओं को उत्तेजित करता है।[1]

१६

अलौकिक सिद्धियां

प्रचलित इन्द्रजाल (जादू) के सम्प्रदाय को मुक्ति की योग-विहित धार्मिक योजना के साथ मिला दिया जाता है। योगसाधना के मार्ग मे कुछ जादू की शक्तिया प्राप्त हो जाती है, ऐसा प्रारम्भिक बौद्ध ग्रन्थो मे माना गया है, यद्यपि स्वय बुद्ध ने उन शक्तियो की खोज को पूर्ण मोक्ष के लिए अनुपयोगी बताया था। हिन्दूधर्मशास्त्र हमे ऐसे व्यक्तियो के विषय मे बताते है जिन्होने केवल कठोर तपस्या से अद्भुत शक्तिया प्राप्त की। योगदर्शन मे इन शक्तियो की प्राप्ति को समाधि के मुख्य लक्ष्य से निम्नस्तर का बताया गया है। यद्यपि उच्चतम लक्ष्य न भी प्राप्त हो, तो भी नीचे की स्थितियों का अपना महत्त्व है ही। प्रत्येक स्थिति अपना पुरस्कार प्रस्तुत करती है। आसनों द्वारा शरीर के नियन्त्रण से अत्यधिक शीत तथा अत्यधिक उष्णता साधक को नही सताते।[2] जिस किसी चीज़ पर भी हम अपने ध्यान को एकाग्र करेंगे उसका पूरा अन्तर्दृष्टिजन्य ज्ञान हम प्राप्त कर लेंगे। सयम अथवा एकाग्रता ऐसे साधन है जिनके द्वारा हम अतीन्द्रिय विषयो का ज्ञान प्राप्त करते है। इनके द्वारा हम वस्तुओं के अन्तस्तम मर्म का भी ज्ञान प्राप्त कर सकते है तथा महान प्रज्ञालोक तक पहुच जाते हैं। मित्रता, अनुकम्पा एव सुख पर नियन्त्रण का प्रयोग करने से इन गुणो मे वृद्धि होती है।[3] यदि हम मासपेशियो की शक्ति पर ध्यान को केन्द्रित करेंगे तो हमे दैत्य के समान शक्ति प्राप्त होगी।[4] इन्द्रियो की बढी हुई शक्तिया, जिनसे योगी दूर से देख तथा सुन सकता है, एकाग्रता का ही परिणाम है।[5] हम अचेतन सस्कारो का भी सीधा ज्ञान प्राप्त कर सकते है तथा, उनके द्वारा, अपने पूर्वजन्मों के विषय मे भी जान सकते है।[6] किसी भी प्रस्तुत विचार पर एकाग्रता के साथ सयम करने से परिणामस्वरूप दूसरे के मन का भाव जाना जा सकता है (परचित्तज्ञानम्)।[7] एक व्यक्ति मे दूसरे व्यक्ति तक विचार का सक्रमण, बिना किसी साधारण सचारसाधन के सर्वथा सम्भव है। तीन प्रकार के परिवर्तनो पर ध्यान लगाने से, जिनमे होकर सब पदार्थ बराबर गुज़रते रहते है, हम भूत, भविष्यत् तथा वर्तमानकाल के विषय मे जानने की शक्ति प्राप्त करते है।[8] योगी अपने शरीर को अदृश्य बना सकता है।[9] दो प्रकार के कर्मों पर संयम करने

१. योगभाष्य, ४ : ११। २. २ : ४८।
३. ३ : २३। ४. ३ : २४। ५. ३ : ३५।
६. ३ : १८। ७. ३ : १९। ८. ३ : १६।
९. योगसूत्र, ३ : २१। "गोरेस का जो पाच खण्डो में बड़ा ग्रन्थ है उसे दैवीय, प्राकृतिक और नारकीय (पैशाचिक) रहस्यवाद में विभक्त किया गया है। पहले में दृष्टि, श्रवण, गन्ध आदि की शक्तियों के चमत्कारिक रूप में बढ़ जाने के सम्बन्ध में, जो अत्यधिक पवित्रता का परिणाम है, कहानियां दी

से, अर्थात् उन क्षमताओं पर जो शीघ्र ही समाप्त हो जाएगी तथा उनपर जिन्हें समाप्त होने में अधिक समय लगेगा, वह जान जाता है कि वह कब मरेगा। वह सूक्ष्म को, छिपे हुए को, अस्पष्ट को, अन्तरिक्ष को, नक्षत्रमण्डल को, ध्रुव तारे को, शारीरिक सघटन को तत्सम्बन्धी सयमों को करने से जान लेता है। पतञ्जलि के अनुसार, ऐसा मनुष्य जो आत्मा तथा पदार्थ-जगत् के पृथक्त्व को ठीक-ठीक जान लेता है, जीवन की तमाम अवस्थाओ और सर्वज्ञता पर अधिकार प्राप्त कर लेता है।[1] पूर्ण ज्ञान की प्राप्ति से पूर्व हमे कभी-कभी सत्य के विषय मे एक प्रकार की पूर्व अर्तदृष्टि मिल जाती है। इसे प्रतिभा कहते है।[2]

अलौकिक सिद्धिया वस्तुत समाधि के मार्ग मे बाधक है, यद्यपि जब मनुष्य इन्हे प्राप्त करता है तो इन्हे पूर्णता का ही रूप समझने लगता है।[3] ये उच्च जीवन की आनुषङ्गिक उपज है। ये वे फूल है जो हमे मार्ग मे मिल जाते है और जिन्हे हम चुन लेते है, यद्यपि सत्य का अन्वेषक इन्हे चुनने के लिए नही निकला था। इन पूर्णताओ की उपेक्षा करने से ही मोक्ष प्राप्त हो सकता है।[4] बनियन के रूपकालकार म दिव्यनगर के तीर्थयात्रियो को स्वय स्वर्ग के मुख्य द्वार पर ही एक छोटी-सी खिडकी मिलती है, जिसमे से होकर एक मार्ग नीचे नरक तक चला गया है। जो पुरुष इन चमत्कारपूर्ण शक्तियो का शिकार हो जाता है उसका अध पतन शीघ्र होता है।

योगदर्शन मे इन अलौकिक सिद्धियो को प्रकृति के नियमो मे चामत्कारिक रूप से विघ्न डालनेवाली नही माना गया है। जो जगत् हमारे लिए इन्द्रियगोचर है यही सम्पूर्ण प्राकृतिक जगत् नही है। जो भौतिक जगत के सिद्धान्तो का व्याघात प्रतीत होता है, वह विश्व-व्यवस्था के दूसरे भाग के सिद्धान्तो द्वारा उसकी केवल पूर्तिमात्र है। भौतिक जगत् से परे जो जगत् है उसका अपना ही विज्ञान तथा विधान है। असीम भौतिक एवं बौद्धिक शक्ति के आकर्षणो का उपयोग सम्भवत सासारिक जीव को उच्चतम जीवन तक ले जाने के लिए किया गया हो, क्योकि मूर्ख लाग सदा चिह्नो की ही खोज करते है।

"सिद्धिया, जन्म से, ओपधियो से, मन्त्रों द्वारा, तपस्या से अथवा समाधि द्वारा प्राप्त होती है।"[5] कुछ व्यक्ति शक्तियो के साथ ही उत्पन्न होते है, क्योकि उन्होने पूर्वजन्म मे योग का अभ्यास किया होता है। ये जन्मजात आत्मिक व्यक्ति थोडे-से ही प्रशिक्षण से उत्कृष्ट योगी बन जाते है। कभी-कभी आत्मिक शक्तियो की प्राप्ति ओषधियो और चेतनाशून्य करनेवाली ओषधियो के प्रयोग से भी होती है। प्रचलित विचार मे नशीली दवाइयो से प्राप्त मूर्च्छा और उन्माद की अवस्था मे कोई भेद नहीं किया

गई है, और उनमें बतलाया गया है कि किस प्रकार एक महात्मा को अदृश्य हो जाने की शक्ति प्राप्त थी, एक दूसरे सन्त को बन्द दरवाजों के अन्दर से गुजर जाने की और तीसरे को वायु में उड़ने की शक्ति प्राप्त थी" (डीन इगे : क्रिश्चियन मिस्टिसिज्म, पृष्ठ २६४–६५)।

१. ३ : ४६।
२. योगभाष्य, ३ : ३३। ३ : ३७।
३. ३ : ३७।
४. ३ : ५०–५१।
५. ४ : १।

जाता। पतञ्जलि ने औषधियों के प्रयोग का विधान नहीं किया है, यद्यपि सिद्धियों के प्राप्त करने के उपायों में इसका उल्लेख अवश्य है।[1] इस प्रकार औषधि द्वारा नशा लाने की आदत, जो आदिम जातियों में प्रचलित थी, योग के उच्चतर रहस्यवाद के साथ मिश्रित कर दी गई। मन्त्र तथा तपस्या भी हमें इन शक्तियों को प्राप्त करने में सहायता देते हैं[2] किन्तु बल केवल चित्त की एकाग्रता पर ही दिया गया है, औरों पर नहीं। औषधियों अथवा अव्यवस्थित स्नायुजाल द्वारा प्राप्त अद्‌भुत दर्शन को दूषित ठहराया गया है। योगदर्शन अपनी परिस्थितियों से सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद करने को उद्यत नहीं था, इसलिए ऐसे अंशों को भी उसने अपने अन्दर सम्मिलित कर लिया जो उसके अन्तस्तम अस्तित्व के साथ सम्बन्ध नहीं रखते थे। इसी समझौते के भाव के कारण योगदर्शन का यह विविधतापूर्ण स्वरूप है, जो निम्नस्तर के प्रकृतिवाद तथा उच्चस्तर के आदर्शवाद के एक मिश्रित रूप को प्रस्तुत करता है। वातावरण से भी अनजाने सुझाव मिल जाना स्वाभाविक है, और इसलिए योगदर्शन कुछ ऐसी विशेषताओं को प्रस्तुत करता है जो उस युग की जिसमें इसका प्रादुर्भाव हुआ, अवस्थाओं के कारण उत्पन्न हुई थीं। किन्तु हमारे लिए यह आसान है कि हम इन गौण तथा आकस्मिक लक्षणों को मुख्य तथा आन्तरिक लक्षणों से पृथक् कर सकें। योगसूत्र इन औषधियों तथा मन्त्रों पर आगे तनिक भी ध्यान नहीं देता जिसमें सुझाव यह मिलता है कि उसका निश्चित मत यह है कि चिह्न और विलक्षणता—जिनको असंस्कृतजन खोजते हैं—चाहे सम्यक् रूप से प्रमाणित ही हों, तो भी उनका आध्यात्मिक महत्त्व कुछ नहीं है।

१७

ईश्वर

पतञ्जलि ने ईश्वरभक्ति को योग के सहायकों में अन्यतम माना है।[3] ईश्वर केवल ध्यान का ही विषय नहीं है बल्कि बाधाओं को दूर करके लक्ष्यप्राप्ति में सहायता करनेवाला भी माना गया है। किन्तु ईश्वरवाद पतञ्जलि के सम्प्रदाय का अन्तरंग भाग नहीं है। पतञ्जलि के क्रियात्मक प्रयोजन एक शरीरधारी ईश्वर में पूरे हो जाते हैं, और वह ईश्वरवाद की कल्पनात्मक रुचियों से अधिक वास्ता नहीं रखता। व्यास ने एक ऐसा हेतु प्रस्तुत किया है जो हमें शास्त्रीय तात्त्विक हेतु का स्मरण कराता है।[4] ईश्वर पूर्ण

१. नाइट्रस ऑक्साइड उन्मादपरक चेतना को उत्तेजित करता है। विलियम जेम्स के अनुसार, "मद्य अपने उपासक को वस्तुओं की भावशून्य (जड़) परिधि से दीप्तिमान अन्तस्तत्त्व तक पहुंचा देता है। यह उसे क्षणमात्र के लिए सत्य के साथ तादात्म्य प्राप्त करा देता है" (वैराइटीज ऑफ़ रिलिजियस एक्सपीरियंस, पृष्ठ ३८७)।

२. 'अमेरिकन न्यू थॉट' सावधानी से चुने हुए शब्द अथवा छन्दोबद्ध सूत्र पर ध्यान एकाग्र करने का सुझाव देता है, और यह विधि मन्त्रोच्चारण के अनुरूप है।

३. १ : २३।

४. योगभाष्य, १ : २४।

स्वभाव वाला (प्रकृष्टसत्त्व) है। "उसकीप्रकृष्टता उसके तुल्य अथवा उससे उत्कृष्ट दूसरे किसी के न होने मे है। प्रथम तो, कोई अन्य प्रकृष्टता इससे बढ नही सकती, क्योकि जो कोई इससे अधिक प्रकृष्टता का दावा करेगा उसे उतनी प्रकृष्टता अपनी सिद्ध करनी होगी। इसलिए जिसमे प्रकृष्टता की इस प्रकार की पराकाष्ठा पाई जाएगी वही ईश्वर है।" फिर, उसके समान प्रकृष्टता भी किसी अन्य मे नही है। "क्योकि जब एक ही वस्तु की इच्छा समान श्रेणी के दो व्यक्ति करते है, जिनमे से एक तो कहे कि 'यह नई होनी चाहिए' और दूसरा कहे कि 'यह पुरानी होनी चाहिए', तो यदि एक की विजय होती है तो दूसरे को अपनी इच्छा मे असफलता मिलती है और वह हीनतर हो जाता है। और दो समान श्रेणी के व्यक्ति उसी इच्छित वस्तु को एकसाथ प्राप्त भी नही कर सकते, क्योकि इस प्रकार की प्राप्ति परस्पर-विरोधी होगी। इसलिए हमारा मत है कि जिस किसी मे ऐसी प्रकृष्टता है जिसके न तो कोई बराबर है और न कोई उससे अधिक है, वही ईश्वर है।"[1] पतञ्जलि ईश्वर की सर्वज्ञता को निरन्तरता के विधान द्वारा सिद्ध करते है, क्योकि निरन्तरता की ऊपर कही न कही सीमा आवश्यक है। जहा महत् है और महत्तर है, वहा महत्तम भी अवश्य है। जिस किसीमे भी उत्कृष्टता की श्रेणिया है, वह उच्चतम सीमा तक अवश्य पहुच सकता है। सर्वज्ञता मे उत्कृष्टता की श्रेणिया है। यह शनै-शनै अनुपात मे बढते-बढते उस सोपान तक पहुचाती है जहा भौतिक सामग्री (तमोगुण), जिसने सारतत्त्व (सत्त्व) को ढका हुआ है, दूर हो जाती है। और जब सर्वज्ञता का अकुर अपनी पूर्णता की ऊचाई पर पहुच जाता है तो हम सर्वज्ञ ईश्वर को पाते है। "उसमे सर्वज्ञता का अकुर पूर्णता तक पहुचा हुआ है।" जड प्रकृति की उद्देश्यहीन प्रवृत्ति इस विश्व म, जहा मनुष्य अपने कर्मों के अनुसार कष्ट भोगते हैं, व्यवस्था तथा सामञ्जस्य नही ला सकती। ईश्वर प्रकृति के विकास का मार्गदर्शक है। वह सदा इसके लिए तत्पर रहता है कि प्रकृति का विकास पुरुषो के प्रयोजनो को सिद्ध करनेवाला हो। किन्तु ईश्वर जगत् का स्रष्टा नही है, क्योकि एक ऐसे जगत् की सृष्टि जो दुखो से भरपूर है, किसी ऐसी सत्ता के द्वारा नही हो सकती थी जो अनन्त करुणा का आगार हो। श्रुति ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध करने का यत्न करती है। किन्तु इसके द्वारा दिया गया प्रमाण चक्रक दोष मे पूर्ण है, क्योकि वेदो का प्रामाण्य स्वय इस आधार पर है कि उन्हे ईश्वर ने बनाया है। ये प्रामाणिक कहे जाते है, क्योकि उनकी शिक्षाए तथ्यो के अनुकूल है।[3] साख्य वेदो की प्रामाणिकता को मानता तो है, किन्तु उसके औचित्य का समर्थन नही करता। योग ईश्वर को वेदो के प्रादुर्भाव का आदिस्रोत मानने मे कुछ न कुछ प्रमाण उपस्थित करता है।

पतञ्जलि के ईश्वर का वर्णन करना सरल कार्य नही है। उसे एक विशेष प्रकार की आत्मा कहा गया है, जिसमे अपूर्णता का लेशमात्र भी नही है और जो कर्म के विधान से ऊपर है।[4] सासारिक जीवन की तमाम उलझनो से स्वतन्त्र, ईश्वर नित्य परमानन्द

1. योगभाष्य, १ : २४।
2. तत्र निरतिशय सर्वज्ञत्वबीजम (१ : २५)। और देखिए योगभाष्य, और इसपर योगवार्तिक।
3. तत्त्ववैशारदी, १ : २४।
4. १ : २४।

में रहता है। उसका धर्म और अधर्म (पुण्य व पाप) से कोई सम्पर्क नही। वह दुख के भार से, जिससे जीवित प्राणी अभिभूत रहते है, अछूता है। वह सर्वज्ञ है, प्राचीन ऋषियों का भी गुरु है। यदि ईश्वर को परिश्रम करती हुई आत्माओ को ऊपर की तरफ मोक्ष तथा प्रकाश की ओर बढने मे सहायता करनी है, तो उसे किसी न किसी रूप मे अपने को सासारिक अनुभव के अधीन करना चाहिए। इसलिए पतञ्जलि का झुकाव उसे सत्य का उपदेष्टा, गुरु मानने की ओर है। ईश्वर ने गुरु के रूप मे प्लेटो से लेकर प्रत्येक महान विचारक के हृदय मे प्रतिध्वनि पाई है। वह कालाबाधित है,[1] पूर्ण करुणामय है, और यद्यपि उसकी अपनी ऐसी कोई इच्छा नही है जिसे पूर्ण करना हो, तो भी ससारी पुरुषों के लिए वह प्रत्येक ससार के युगारम्भ मे श्रुतियों का प्रतिपादन करता है। उसका निर्दोष कोटि का सत्त्वस्वभाव, जो रजस् अथवा तमस् मे होनेवाली प्रत्येक त्रुटि से सर्वथा रहित है, उसकी आत्म-अभिव्यक्ति का साधन है और वह पूर्णरूप मे उसके वश मे है।[2] ईश्वर सर्वदा स्वतन्त्र है, और इसलिए उसे मुक्त आत्माओ के साथ नही मिलाया जा सकता, जो किसी समय बद्ध थीं, या जो प्रकृति मे लीन है और भविष्य मे किसी समय भी बन्धन प्राप्त कर सकती है। मुक्तात्माओ के विपरीत, जिनका ससार से कोई और सम्बन्ध नही रहता, ईश्वर नित्य ससार के साथ सम्बन्ध रखता है। यह मान लिया गया है कि ईश्वर का प्रकृति के विशुद्धतम पक्ष अर्थात् सत्त्व के साथ नित्य तथा अटूट सम्बन्ध है, और इस प्रकार के ईश्वर के अन्दर सदा सर्वोपरि शक्ति, ज्ञान तथा श्रेष्ठता रहती है। वह अपनी करुणा से सत्त्वगुण धारण करके परिवर्तन के प्रदर्शन मे अन्त प्रवेश करता है। क्योकि वह सघर्ष मे लगे पुरुषो के हित म स्वेच्छा से ऐसा करता है, इसलिए वह कर्म के विधान मे नही आता। महान प्रलयकाल मे, जबकि प्रकृति अपनी अव्यक्त अवस्था मे लौट जाती है, तो यह स्वीकृत रूप त्याग दिया जाता है, यद्यपि आगामी विकास के समय यह रूप फिर धारण कर लिया जाता है। जिस प्रकार कोई व्यक्ति किसी रात अगले दिन प्रात एक निश्चित समय पर जाग उठने का सकल्प करता है और उसी समय उठ भी जाता है और यह उसके दृढ सकल्प द्वारा छोड़े गए सस्कार के बल पर होता है, ठीक उसी प्रकार ईश्वर भी जब प्रकृति फिर से विकास प्रारम्भ करती है तथा पुरुष प्रकट होते है, फिर से महान् शिक्षक का रूप धारण करने का सकल्प करता है। रहस्यपूर्ण अक्षर 'ओम्' ईश्वर का द्योतक है और इसपर ध्यान लगाने से मन ईश्वर की यथार्थ झाकी म विश्राम करता है।[3]

योगदर्शन का शरीरधारी ईश्वर उक्त दर्शन के शेष भाग के साथ बहुत शिथिलता-पूर्वक सम्बद्ध है। मानवीय महत्त्वाकाक्षा का लक्ष्य ईश्वर के साथ सम्मिलन नही, बल्कि पुरुष का प्रकृति से सर्वथा पृथक्त्व है। ईश्वर-भक्ति परम मोक्ष तक पहुचने के अन्य अनेक उपायो मे से एक है। ईश्वर केवल एक विशेष आत्मा (पुरुषविशेष) है, विश्व का स्रष्टा अथवा सरक्षक नही है। वह मनुष्यो को उनके कर्मों के लिए पुरस्कार अथवा

१. १ : २५–२६।
२. योगभाष्य, १ : २५।
३. १ : २७–२८।

दण्ड नहीं देता। किन्तु जब वह एक बार प्रकट हो गया तो उसके लिए कोई न कोई कार्य निकालना ही चाहिए। कहा जाता है कि वह अपने भक्तों की उन्नति में जो बाधाएं आती है, उन्हें दूर करने मे सहायता करता है। प्रणिधान अर्थात् निःस्वार्थ भक्ति से हम ईश्वर की दया के पात्र बनने के योग्य हो जाते है। ईश्वर मोक्षप्राप्ति में सहूलियत देता है, किन्तु सीधा मोक्ष का दाता नही। निःसन्देह इस प्रकार का ईश्वर-विषयक विचार असन्तोषजनक है,[1] और हम यह कहे बिना नही रह सकते कि योग-दर्शन ने ईश्वर के विचार को लोकाचार के विचार से और जनसाधारण के मन को आकृष्ट करने के लिए ही अपनाया है।[2] उन व्यक्तियों ने जो साख्य की विश्व-सम्बन्धी प्रकल्पना तथा योग की साधना-सम्बन्धी विधियो के प्रचार के लिए उत्सुक थे, सम्भवतः मनुष्य की सहज आस्तिक वृत्तियों को सन्तुष्ट किए बिना अपने विचारों को फैलाने में कठिनाई अनुभव की। परवर्ती योग मे मानवीय हृदय की सार्वभौम आवश्यकताएं अधिक बलवान सिद्ध होती है, और ईश्वर एक अधिक केन्द्रीय स्थान लेना प्रारम्भ करता है। मनुष्य के पवित्र हुए जीवन मे ईश्वर की यथार्थता देखी जाती है। मनुष्य का धार्मिक अनुभव ईश्वर का साक्षी है। अध्यात्म आत्मा को सम्बोधन करता है, और वे जो सत्य का अन्वेषण करते है, अपने हृदयो मे उसका उत्तर पाते है। योग की कठिन साधना, जिसके साथ कठोर शारीरिक यातनाएं तथा गम्भीर नैतिक आशकाए जुड़ी हुई है, एक मार्गदर्शक तथा सहायक चाहती है, जो अन्धकार और दुःख से छुडाए और जो सत्य का शिक्षक तथा शक्ति का प्रेरक हो। शीघ्र ही मानवीय प्रयास का लक्ष्य ईश्वर के साथ सयोग बन जाता है। उदाहरण के लिए, भगवद्गीता मे ईश्वरवादी भक्ति दैववादी योग का स्थान ग्रहण कर लेती है। समाधि के अन्दर आत्मा ईश्वर का साक्षात्कार करती है तथा उसे अपने अन्दर धारण कर लेती है। आत्मा को इन्द्रिय के प्रत्येक विषय तथा विचार से पृथक् करके, सब प्रकार की इच्छा तथा वासना का दमन करके तथा सब प्रकार के वैयक्तिक भाव दूर करके हम फिर से ईश्वर के साथ सयुक्त हो जाते है। ईश्वर के गभीर चिन्तन से लक्ष्य की प्राप्ति हो सकती है। विज्ञानभिक्षु का कहना है : "सब प्रकार के चैतन्ययुक्त ध्यान मे परमेश्वर का ध्यान सबसे ऊचा है।"[3]

१. देखिए शाङ्करभाष्य, २ : २, ३८ और ४१।

२. तुलना कीजिए गार्बे : "शरीरी ईश्वर का अन्तःप्रवेश, जो बाद में निश्चित रूप से योग-दर्शन के स्वरूप का निर्णायक हुआ, पहले बहुत शिथिल रूप में तथा केवल ऊपरी तौर पर ग्रहण किया गया था, और उससे इस दर्शन के वस्तु-विषय तथा प्रयोजन पर कोई असर नहीं पड़ा, ऐसा पतञ्जलि के योगदर्शन के आधार पर परिणाम निकलता है। हम यहां तक कह सकते हैं कि योगसूत्र, १ : २३–२७ ; २ : १, ४५, जो शरीरी ईश्वर का प्रतिपादन करते हैं, ग्रन्थ के अन्य भागों से सम्बद्ध नहीं है। यही नहीं, बल्कि ये इस दर्शन के आधारभूत सिद्धान्तों का भी विरोध करते हैं" (दि फिलासफी आफ दि एंशियण्ट इण्डिया, पृष्ठ १५)।

३. योगसारसंग्रह, १।

१८.

उपसंहार

पूर्व तथा पश्चिम के आधुनिक विचारकों को योग की सिद्धि प्राप्त करने की पूरी योजना केवल आत्मसम्मोहन की एक सुपरिष्कृत प्रक्रिया प्रतीत होती है। गम्भीरता के साथ एकान्त में ध्यानावस्थित होना और उसके साथ शारीरिक व्यायाम तथा आसनों का प्रयोग, ये सब हमारे मन को एक प्रकार के सांचे में ढालने में सहायक होते हैं। इस प्रकार के मत को इस चीज से कुछ समर्थन मिलता है कि योगदर्शन के साथ तान्त्रिक सम्प्रदाय की कुछ बीभत्स क्रियाओं को मिला दिया जाता है, तथा कुछ हठधर्मी भिक्षुओं ने पातञ्जल योग को ग्रहण कर लिया। किन्तु यह तथ्य ध्यान में रखना चाहिए कि पतञ्जलि का योग अपने मूलरूप में इस प्रकार के भ्रमजाल से मुक्त था। पतञ्जलि के योगदर्शन की धारणा है कि हम जीवन की समस्त निधियों से सम्पन्न हैं, जिनसे बहुत-कुछ प्राप्त किया जा सकता है, और ये ऐसी निधियां हैं जिनकी कल्पना भी नहीं है। यह दर्शन हमें अपने गम्भीरतम क्रियाशील स्तरों तक पहुंचने की विधियां बताता है। योगसाधन शरीर, मन और आत्मा के पवित्रीकरण के अतिरिक्त और कुछ नहीं है, और इन्हें उस आनन्दमय दर्शन के लिए तैयार करना ही इसका कार्य है।[१] क्योंकि मनुष्य का जीवन चित्त के स्वभाव पर निर्भर करता है, इसलिए यह हमारे अपने वश के अन्दर है कि हम चित्त को नियन्त्रित करके अपने स्वभाव में परिवर्तन कर लें। विश्वास और एकाग्रता से हम अपनी बुराइयों से भी मुक्त हो सकते हैं।[२] मानवीय दृष्टि की साधारण सीमाएं विश्व की सीमाएं नहीं हैं। हमारी इन्द्रियां जिस संसार को हमारे लिए प्रकाश में लाती हैं उसके अतिरिक्त भी अन्य संसार है। निम्न श्रेणी के पशुओं की इन्द्रियों के समान जो इन्द्रियां हमारे पास हैं उनके अतिरिक्त भी अन्य इन्द्रियां हैं। भौतिक प्रकृति की शक्तियों के अतिरिक्त भी अन्य शक्तियां हैं। यदि हमें आत्मा में विश्वास है तो प्रतिप्राकृतिक भी प्राकृतिक का ही एक भाग है। हममें से अधिकांश व्यक्ति अपनी आंखें आधी बन्द करके आलसी मन तथा बोझ से दबे हृदय के साथ जीवन-यापन करते हैं। और वे कतिपय व्यक्ति भी जिनके सम्मुख दर्शन तथा जागरण के वे दुर्लभ क्षण आते हैं, तुरन्त ही फिर निद्रालु अवस्था में डूब जाते हैं। यह जानना हमारे लिए हितकर है कि प्राचीन विचारक हमें यह आदेश करते रहे हैं कि आत्मा की सम्भाव्य शक्तियों को पहचानने के लिए एकान्तसेवन तथा मौन अत्यावश्यक है, जिससे कि चमक के रूप में आने तथा विलीन हो जानेवाले दर्शन के दुर्लभ क्षणों को हम स्थायी प्रकाश के रूप में परिवर्तित कर सकें, जिससे शेष जीवन आलोकित रहे।

१. मारकोस दि नौस्टिक (इरेनियस, १ : १३, ३) कहता है : "अपने को इस प्रकार तैयार करो जैसेकि एक वधू अपने को वर का स्वागत करने के लिए करती है।"

२. जैसेकि 'सेल्फ-मास्टरी' पर अपनी लघु पुस्तिका में एम० कुई कहते हैं : "निश्चय रखो कि तुम जो कुछ चाहते हो तुम्हें प्राप्त हो जाएगा, और तब तक प्राप्त होता रहेगा जब तक यह तर्कसम्मत है।" केवल उसी अवस्था में जबकि संशय है, कोई परिणाम न होगा।

उद्धृत ग्रन्थों की सूची

दास गुप्ता : योग एज फिलासफी एण्ड रिलिजन
पतञ्जलीज योगसूत्र विद दि कमेंटरी आफ व्यास एण्ड दि ग्लोस आफ वाचस्पति (सेक्रेड बुक्स आफ दि हिन्दूज)
राजेन्द्रलाल मित्र : योग एफोरिज़्म विद दि कमेंटरी आफ भोज (एशियाटिक सोसायटी आफ बंगाल)
वुडस : दि योग सिस्टम आफ पतञ्जलि (हार्वर्ड ओरियण्टल सीरीज, १७)

छठा अध्याय

पूर्वमीमांसा

प्रस्तावना—रचनाकाल और साहित्य—प्रमाण—प्रत्यक्ष ज्ञान—अनुमान—वैदिक प्रामाण्य—उपमान प्रमाण—अर्थापत्ति—अनुपलब्धि—प्रभाकर की ज्ञानविषयक प्रकल्पना—कुमारिल की ज्ञानविषयक प्रकल्पना—आत्मा—यथार्थता का स्वरूप—नीतिशास्त्र—अपूर्व—मोक्ष—ईश्वर।

प्रस्तावना

इस दर्शन का नाम पूर्वमीमासा इसलिए हुआ क्योकि यह उत्तरमीमासा का अपेक्षाकृत पूर्ववर्ती है, ऐतिहासिक कालक्रम की दृष्टि से उतना नही जितना कि तार्किक अर्थों मे। इसका मुख्य विषय कर्मकाण्ड है, जैसेकि उत्तरमीमासा का मुख्य विषय वस्तुओ का सत्यज्ञान प्राप्त करना है। उपनिषदो को छोडकर, शेष समग्र वेद के विषय मे यह कहा गया है कि वह धर्म अथवा कर्तव्य कर्मो का प्रतिपादन करता है, जिनमे मुख्य है यज्ञ। पवित्र क्रियाकलाप का अनुष्ठान ज्ञानोपार्जन की भूमिका है। शकराचार्य भी, जो कर्म और ज्ञान के मौलिक विरोध पर बल देते है, इस विषय मे सहमत है कि सुकर्म, चाहे वह इस जन्म मे किया हुआ हो अथवा पूर्वजन्म मे, सत्यज्ञान की प्राप्ति के लिए इच्छा उत्पन्न करता है।

मीमासा का प्रारम्भिककाल स्वय वेद तक पहुच सकता है, जहाकि इसका प्रयोग, कर्मकाण्ड तथा सिद्धान्त-सम्बन्धी नियमो के विषय मे सशय तथा वादविवाद प्रकट करने के लिए किया गया है। यज्ञो का उपयुक्त अनुष्ठान वैदिक मन्त्रो की यथार्थ व्याख्या पर निर्भर करता था। सन्देहास्पद विषयो को लेकर नियमो का अधिक परिष्कार हुआ, और उससे यज्ञ किस विधि से किया जाना चाहिए इस विषय मे सहायता मिली। व्याख्या-विषयक अनेक समस्याओ पर वादविवाद हुआ और ज्यों-ज्यो समस्याए उठती रही, निर्णय होते रहे। उक्त निर्णय ब्राह्मणग्रन्थो मे जहा-तहा बिखरे हुए हैं। ब्राह्मणों मे दिए गए वृत्तान्त एक-दूसरे से इतने अधिक पृथक्, अस्पष्ट तथा अपूर्ण है कि उन्हें बिना अन्य सहायता के नही समझा जा सकता। इस प्रकार की सहायता उस काल

मे मौखिक अनुश्रुति द्वारा प्राप्त होती थी। धार्मिक कर्तव्य के अनुष्ठान के विषय में बहुत समय तक वैदिक मन्त्र तथा मौखिक अनुश्रुति दोनो ही प्रमाण माने जाते रहे। जबकि नानाविध वैदिक शाखाए (सम्प्रदाय) बनने लगी तो अक्षुण्ण परम्परा द्वारा प्राप्त पवित्र पुस्तको की प्रामाणिकता को बहुत महत्त्व दिया गया। बौद्धमत के उदय के पश्चात् वैदिक धर्म के अनुयायियो के लिए उस समस्त ज्ञान का जो उनके पास था, पुनर्निरीक्षण तथा पुनर्निर्माण आवश्यक हो गया, और आवश्यक हो गया उनकी निर्दोषता सिद्ध करना तथा उन्हे सूत्रो के रूप मे रखना। जैमिनि अपने ग्रन्थ मे मीमासा के नियमो को व्यवस्थित रूप देने तथा उनकी यथार्थता सिद्ध करने का प्रयत्न करते है।

पूर्वमीमासा का स्वीकृत लक्ष्य धर्म के स्वरूप की परीक्षा करना है। इसकी रुचि कल्पनापरक होने की अपेक्षा क्रियात्मक अधिक है। इसके अन्दर जो दार्शनिक कल्पनाए पाई जाती है वे कर्मकाण्ड-विषयक प्रयोजन के आगे गौण है। धर्म के प्रति सत्यनिष्ठा के विचार से, इसे आत्मा की यथार्थता को स्वीकार करना पडा और इसे एक शरीरधारी स्थिर सत्ता मानना पडा, जो कर्मो के फलो का उपभोक्ता है। वेद कर्तव्य कर्मों का आदेश देता है, और साथ ही वह उन कर्मों के करने से जो लाभदायक परिणाम प्राप्त होते है उनका भी विशिष्ट रूप मे प्रतिपादन करता है। इन कर्मो को धर्म का रूप देने मे तथा ये लाभदायक फल देने की योग्यता रखते है इस विषय मे प्रमाण नित्यवेद है, जिसे अपनी स्थिति के लिए अन्य किसी आधार की आवश्यकता नही। किन्तु इस प्रकार की रूढिपरक मान्यता उस समय पर्याप्त नही रहती जबकि अन्य विचारक वैदिक मन्त्रो के महत्त्व को स्वीकार न करते हो और उनका कोई क्रियात्मक मूल्य भी दिखाई न देता हो। इसलिए ईश्वरीय ज्ञान तथा दार्शनिक ज्ञान-विषयक विवाद बहुत परिष्कृत रूप मे उठते हैं। मीमासा सब दार्शनिक विचारो का तब तक स्वागत करती है जब तक कि वे इसके मुख्य विषय, अर्थात धर्म के अतीन्द्रिय महत्त्व को, जिसे कर्मकाण्डपरक भाव दिया गया है हानि नही पहुचाते। मीमासा के दार्शनिक कलेवर मे इस प्रकार की शिथिलता ने ही भिन्न-भिन्न विचारको को मीमासा के दार्शनिक विचारो की भिन्न-भिन्न प्रकार से व्याख्या करने का अवसर प्रदान किया, यद्यपि वे सब धर्म के सर्वोपरि महत्त्व के विषय मे एकमत है। वेद को प्रामाणिक स्वीकार किया गया है, और इसकी प्रामाणिकता को बौद्ध मतानुयायियो के विरुद्ध, जो इसका विरोध करते है, तथा ऐसे जिज्ञासुओ के विरुद्ध जो कर्म को ज्ञान के आगे गौण स्थान देते है, सिद्ध किया गया है। मीमासा स्पष्ट रूप मे अनेकेश्वरवादी है, यद्यपि उपलक्षण रूप मे यह निरीश्वरवादी है। बौद्धो के विपरीत, यह जगत के सम्बन्ध मे एक यथार्थवादी दृष्टिकोण रखता है।

हिन्दू धर्म के लिए इसका महत्त्व बहुत अधिक है। धर्मशास्त्रो की, जो हिन्दुओं के दैनिक जीवन पर शासन रखते है, मीमासा के नियमो के अनुकूल व्याख्या करने की आवश्यकता है। आधुनिक हिन्दू विधान पर मीमासा-पद्धति का पर्याप्त प्रभाव है।

२

रचनाकाल और साहित्य

जैमिनि का मीमांसासूत्र वैदिक व्याख्या के एक सुदीर्घ इतिहास की पूर्व-कल्पना करता है। क्योंकि यह उन सामान्य नियमों (न्यायो) का जो प्रचलित थे, साराश देता है। यह भिन्न-भिन्न यज्ञो तथा उनके अभिप्रायों का वर्णन करता है एवं अपूर्व की प्रकल्पना और कुछ दार्शनिक प्रस्थापनाओ का भी वर्णन करता है। इसमें बारह अध्याय है, जिनमें पहले अध्याय का दार्शनिक महत्त्व है, क्योकि यह ज्ञान के स्रोतो तथा वेदो की प्रामाणिकता का विवेचन करता है। जैमिनि वेदों के प्रत्येक भाग की न्याय्यता को सिद्ध करने का प्रयत्न करते है। उनका 'सकर्पणकाण्ड', जिसे देवताकाण्ड भी कहा जाता है, पूर्वमीमासा से सम्बद्ध है, क्योकि इसका आधार उपासना है, जिसका भी विधान वेदो मे है।

चौथी शताब्दी ई० पू० सर्वाधिक प्राचीन समय है जो हम जैमिनि के ग्रन्थ के लिए स्थिर कर सकते है, क्योकि यह न्याय तथा योगसूत्रो से अभिज्ञ है।[1] जैमिनि के ग्रन्थ का प्रधान भाष्यकार शबर है। वह लगभग पहली शताब्दी ई० पू० मे हुआ था।[2] यह प्रकट है कि शबर से पूर्व भी जैमिनि के ग्रन्थ के

१. यदि हम कुमारिल के इस मत का स्वीकार करें कि मीमासासूत्र मे अनेक बौद्ध विचारों की आलोचना है (देखिए श्लोकवार्तिक, १ : १, ३, ५ और ६) तो मीमासासूत्र का काल बौद्धमत के उदय के ठीक उपरान्त माना जा सकता है। महाभारत मे जैमिनि के ग्रन्थ के उल्लेख का सर्वथा अभाव होने से कुछ भी निश्चित सामग्री उपलब्ध नहीं होती। जैमिनि का ग्रन्थ, जिसने पाच स्थलों पर बादरायण के नाम का उल्लेख किया है (१ : १, ५ ; ५ : २, १९ ; ६ : १, ८ ; १० : ८, ४४ ; ११ : १, ६४), उसी काल में बना जिसमे ब्रह्मसूत्र बना। ब्रह्मसूत्र दस भिन्न-भिन्न सूत्रों मे जैमिनि का उल्लेख वेदान्त के अधिकारी विद्वान के रूप में करता है (१ : २, २८ ; १ : २, ३१ ; १ : ३, ३१ ; १ : ४, १८ ; ३ : २, ४० ; ३ : ४, २ ; ३ : ४, १८ ; ३ : ४, ४० ; ४ : ३, १२ ; ४ : ४, ५)। क्योंकि उनमें से तो मीमासासूत्र में नहीं पाए जाते, इसलिए कभी-कभी यह तर्क दिया जाता है कि ब्रह्मसूत्र मे जिस जैमिनि का उल्लेख है वह मीमासासूत्र के रचयिता से भिन्न है। औरो का मत है कि जैमिनि के कुछ ग्रन्थ लुप्त हो गए। जैमिनि कई स्थलो पर ब्रह्मसूत्र के ज्ञान का सकेत करता है। आत्मा के सम्बन्ध में जो बादरायण का यह मत है कि वह अभौतिक है उसे वह मानता है, यद्यपि उसकी प्रतिरक्षा में उसने कोई हेतु नहीं दिए। टीकाकारो का सुझाव है कि वह बादरायण के ही हेतुओं को स्वीकार करता है (११ : १, ६४ और ब्रह्मसूत्र, ३ : ३, ५३ ; और देखिए मीमासासूत्र, ६ : १ और ब्रह्मसूत्र, ३ : २, ४०) और इसलिए उनकी पुनरावृत्ति नहीं करता।

२. झा : प्रभाकर स्कूल, पृष्ठ ६–७। शबर द्वारा किया गया विज्ञानवाद तथा शून्यवाद का खण्डन हमें इससे अधिक परवर्ती समय मानने की अनुमति नहीं देता। जैकोबी का विचार है कि शबर ने जिस वृत्ति का उद्धरण दिया है वह २००–५०० ई० में बनी और शबर भी इसी काल में रहा होगा। कीथ का मत है कि ४०० ई० उसके लिए अधिक से अधिक पूर्व का समय है।

भाष्यकार हुए है, यथा भर्तृमित्र[1], भवदास[2], हरि[3] और उपवर्ष[4], परन्तु उनके ग्रन्थ उपलब्ध नही है। मीमासा-सम्बन्धी समस्त परवर्ती लेखो का आधार शबर का भाष्य ही है।

कुमारिल[5] ने, जो उस सनातन ब्राह्मणधर्म का प्रबल व्याख्याकार है जोकि वेदो की प्रामाणिकता तथा पुरोहित की सर्वश्रेष्ठता को मानता है, 'सूत्र' और 'भाष्य' पर टीका की है, और उसके ग्रन्थ के तीन भाग है। पहला 'श्लोक-वार्तिक' पहले अध्याय के पहले भाग के विषय मे है, दूसरा 'तन्त्रवार्तिक' हमे तीसरे अध्याय के अन्त तक ले जाता है; और 'टुपटीका' शेष भाग को पूरा करता है। कुमारिल शकर का पूर्ववर्ती है, और उसे हम सातवी शताब्दी ई० मे रख सकते है।[6] मडनमिश्र, जो 'विधिविवेक' तथा 'मीमासानुक्रमणी' का रचयिता है, कुमारिल का अनुयायी था। यह वाचस्पति (८५० ई०) से पूर्व हुआ, जो अपने 'न्यायकणिका' नामक ग्रन्थ मे 'विधिविवेक' के विचारो को विस्तृत रूप मे प्रस्तुत करता है। कुमारिल के ग्रन्थ के कई टीकाकार हुए है, जैसे सुचरितमिश्र, जो 'श्लोकवार्तिक' पर की गई 'काशिका' नामक टीका का रचयिता है, सोमेश्वर भट्ट, जो 'तन्त्रवार्तिक' पर की गई टीका 'न्यायसुधा' का रचयिता है, जो 'राणक' भी कहलाती है, और पार्थसारथिमिश्र (१३०० ई०), जो 'श्लोकवार्तिक' पर की गई टीका 'न्यायरत्नाकर' का रचयिता है तथा 'शास्त्रदीपिका' का रचयिता है, जो मीमासादर्शन का एक स्वतन्त्र ग्रन्थ है और कुमारिल की पद्धति पर लिखा गया है, तथा 'तन्त्ररत्न' का भी रचयिता

१. न्यायरत्नाकर, १० । और देखिए काशिका, पृष्ठ १० ।

२. श्लोकवार्तिक, १ : ६३ ।

३. शास्त्रदीपिका, १० : २, ५९–६० ।

४. शबर १ : १, ५ पर अपने भाष्य में एक वृत्ति मे एक लम्बा वाक्य उद्धृत करता है (२ : ३, १६ और ३ : १, ६ पर शबर को देखिए)। कुमारिल रचयिता का उल्लेख वृत्तिकार के रूप में करता है। डा० झा उसे भवदास बताते हैं। पार्थसारथि इस सम्बन्ध में उसके नाम का उल्लेख नहीं करता। तो भी पृष्ठ ४८ देखिए। जेकाबी का विचार है कि बोद्धायन ने दोनों मीमासाओं पर वृत्तियां लिखीं, जिस प्रकार कि उसके पूर्ववर्ती उपवर्ष ने लिखी थीं (जर्नल आफ दी अमेरिकन ओरियण्टल सोसायटी, १९११)।

५. कुमारिल के लिए, जो हिन्दूधर्म का एक महान विजेता माना जाता है, कहा जाता है कि वह बिहार का रहनेवाला एक ब्राह्मण था। जो बौद्धमत से हिन्दूधर्म में दीक्षित हुआ था। देखिए इलियट : हिन्दूइज्म एण्ड बुद्धिज़्म, खण्ड २, पृष्ठ ११०, २०७। तारानाथ उसे दक्षिण भारत का निवासी बताते हैं। किवदन्ती के अनुसार, कुमारिल अपने को दो पापों के कारण अग्नि में भस्म कर देना चाहते थे—एक अपने बौद्ध गुरु का नाश; दूसरे, वेदों के नित्यस्वरूप को सिद्ध करने तथा मोक्षप्राप्ति के लिए वैदिक कर्मकाण्ड की ही एकमात्र क्षमता को सिद्ध करने की चिन्ता में ईश्वर के अस्तित्व का क्रियात्मक निषेध। देखिए माधवकृत 'शंकरदिग्विजय'।

६. श्रीयुत पण्डित के अनुसार, कुमारिल भवभूति (६२०–६८० ई०) का गुरु था और इसलिए उसका समय ५९०–६५० ई० रखा गया है; यह काल इस स्वीकृत तथ्य के साथ मेल खाता है कि कुमारिल की ख्याति राजा हर्ष के अन्तिम समय में भली प्रकार स्थिर हो चुकी थी।

है। वेंकटदीक्षित-कृत 'वार्तिकाभरण' 'टुपटीका' पर एक टीका है।[1]

प्रभाकर[2] ने शबर के भाष्य पर अपनी 'बृहती' नामक टीका लिखी, जिसका यह निकट रूप से अनुसरण करती है। कुमारिल कभी-कभी शबर के विचारों का प्रत्याख्यान करता है। इस तथ्य के आधार पर कि प्रभाकर कुमारिल के विचारों की ओर बिलकुल भी ध्यान नहीं देता, जबकि कुमारिल ऐसे विचारों का उल्लेख करता है जिनके समान विचार 'बृहती' में दिए गए है,[3] कभी-कभी अधिकारपूर्वक यह कहा जाता है कि प्रभाकर कुमारिल से पहले हुआ। कहा जाता है कि 'बृहती' की शैली इसके पूर्वसमय का सकेत करती है।[4] शालिकनाथकृत 'ऋजुविमला' 'बृहती' पर एक टीका है। उसकी 'प्रकरणपचिका' प्रभाकर-पद्धति की एक प्रसिद्ध पुस्तक है। उसका 'परिशिष्ट' 'शबर' के भाष्य पर एक सक्षिप्त टिप्पणि का है। भवनाथकृत 'नयविवेक' में प्रभाकर के विचारों का विस्तार से प्रतिपादन किया गया है। शालिकनाथ ने, जो प्रभाकर का शिष्य था, धर्मकीर्ति का उल्लेख किया है।[5] वाचस्पति ने अपनी 'न्यायकणिका' मे प्रभाकर के अनुयायियों की दो शाखाओं मे भेद किया है।[6] मीमांसा की तीसरी शाखा का, जिसका सम्बन्ध मुरारि[7] के नाम के साथ है, उल्लेख हिन्दू दार्शनिक साहित्य मे मिलता है, यद्यपि इससे सम्बन्ध रखनेवाले ग्रन्थ हमें उपलब्ध नही है। माधवकृत 'जैमिनीय न्यायमालाविस्तार' मीमासादर्शन का पद्य में भाष्य है, जिसके साथ गद्य मे टीका भी है। अप्पय दीक्षित (१५५२–१६२४) अपने 'विधिरसायन' ग्रन्थ मे कुमारिल पर आक्षेप करता है। आपदेव (१७वी शताब्दी) ने 'मीमासान्यायप्रकाश' नामक एक प्राथमिक पुस्तक लिखी है, जिसका नाम 'आपदेवी' भी है और यह एक बहुत प्रसिद्ध ग्रन्थ है। लौगाक्षिभास्करकृत

१. रामकृष्णभट्ट ('युक्तिस्नेहप्रपूरणी' का रचयिता), सोमनाथ ('मयूखमालिका' का रचयिता), भट्टशंकर, भट्टदिनकर और कमलाकर इस शाखा के अनुयायी हैं।

२. किवदन्ती के अनुसार, प्रभाकर और मण्डन कुमारिल के शिष्य थे, जिसने प्रभाकर को उसकी उज्ज्वल योग्यताओं के आधार पर 'गुरु' की उपाधि दी थी।

३. १ : २, ३१ ; १ : ३, २ ; १ : ४, १।

४. झा : 'प्रभाकर स्कूल' ; कीथ : 'कर्ममीमासा'। प्रोफेसर कुप्पू स्वामी शास्त्री परम्परागत मत का समर्थन करते हैं और झा तथा कीथ के मत के विरुद्ध विस्तार से तर्क उपस्थित करते है। कलकत्ता की दूसरी ओरियण्टल कांफ्रेस में पढ़े गए 'पूर्वमीमासा की प्रभाकरशाखा' शीर्षक निबन्ध को देखिए। दक्षिणभारत की एक पुरानी किवदन्ती मे कहा गया कि उंवेक कुमारिल का शिष्य था।

उंवेकः कारिकां वेत्ति, चम्पूं वेत्ति प्रभाकरः।
मण्डनस्तूभयं वेत्ति नोभयं वेत्ति रेवणः॥

श्रीयुत पण्डित 'गौटवहो' (बॉम्बे संस्कृत ग्रन्थमाला) की अपनी प्रस्तावना में उक्त श्लोक का 'चम्पू' और 'मण्डन' के स्थान में 'तन्त्र' और 'वामन' शब्दों का व्यवहार करते हुए उद्धृत करते हैं। और देखिए गुणरत्नकृत 'षड्दर्शनसमुच्चयवृत्ति' (१४०९)। उंवेक और भवभूति एक ही थे, और वह कुमारिल के शिष्यों में से एक था, ऐसा माना जाता है। और देखिए चित्सुखकृत अद्वैतप्रदीपिका, पृष्ठ २६५।

५. देखिए प्रकरणपञ्चिका, १। ६. जरत्प्राभाकराः तथा नव्यप्राभाकराः।

७. मुरारेस्तृतीयः पन्थाः।

'अर्थसग्रह' भी प्रसिद्ध ग्रन्थ है जो आपदेव की पुस्तक के आधार पर लिखा गया है। खण्डदेव (१७वी शताब्दी) ने 'भाट्टदीपिका' नामक ग्रन्थ लिखा, जो अपने तर्क के लिए प्रसिद्ध है। उसका 'मीमासाकौस्तुभ' सूत्र के विषय मे प्रतिपादन करता है।[1]

३

प्रमाण

जैमिनि प्रत्यक्ष, अनुमान तथा शाब्द इन तीन प्रमाणो को स्वीकार करता है। प्रभाकर उपमान और अर्थापत्ति को स्वीकार करता है। कुमारिल इनमे अनुपलब्धि को जोडता है। ऐतिह्य (किंवदन्ती) को अस्वीकार किया गया है, क्योंकि यदि किंवदन्ती के आदिम उद्भव के सम्बन्ध मे निश्चित सूचना का अभाव है कि वह विश्वस्त है या नही, तो उससे उत्पन्न होनेवाले बोध की प्रामाणिकता के विषय मे कुछ निश्चय नही हो सकता। स्मृति को प्रमाणो के क्षेत्र से बाह्य माना गया है, क्योंकि यह हमे केवल ऐसी ही वस्तुओ के विषय मे कुछ बताती है जो पहले प्रत्यक्ष हो चुकी है।

प्रभाकर वर्णन करता है कि किस प्रकार हम मन तथा इन्द्रियो के अस्तित्व का अनुमान करते है। हमारे बोध स्वरूप से अल्पकालिक होते है और उनके कारण भौतिक (समवायी कारण) तथा अभौतिक (असमवायी कारण) दोनो प्रकार के होते है।[2] बोधो का समवायी कारण आत्मा है, और इसका असमवायी कारण आत्मा के कारण मे नही रह सकता, क्योंकि आत्मा अजन्मा है, उसका कोई कारण नही है, इसलिए इसे स्वय आत्मा ही मे होना चाहिए। द्रव्य के अन्दर जो समवाय-सम्बन्ध से रहता है वह गुण है, और इस प्रकार बोधो का असमवायी कारण एक गुण है। यदि एक नित्य द्रव्य मे अस्थायी गुण उदय होते है, तो यह अवश्य अन्य द्रव्यो के साथ सम्पर्क के कारण ही हो सकता है। क्योंकि इस विषय मे कोई प्रमाण नही है कि अन्य द्रव्य भी और अन्य द्रव्यो के अन्दर रहते है, इसलिए उन्हे नित्य मानना चाहिए। प्रत्यक्ष जो एक निश्चित प्रकार का ज्ञान है, आत्मा का एक विशिष्ट गुण है। इस प्रकार के गुण को नित्यद्रव्यो के साथ सम्बद्ध होने के लिए असमवायी कारण को कतिपय अन्य द्रव्यो

१. राघवानन्दकृत 'मीमासासूत्रदीधिति', रामेश्वरकृत 'सुबोधिनी' जो मीमासासूत्र पर एक टीका है, और विश्वेश्वर (अथवा गागाभट्ट) कृत 'भाट्टचिन्तामणि'—ये ग्रन्थ कुछ महत्त्व के है। वेदान्तदेशिक के 'सेश्वरमीमासा' नामक ग्रन्थ मे वेदान्त और मीमासा के विचारो मे समन्वय करने का प्रयत्न किया गया है। इसका रचयिता रामानुज का अनुयायी है, जिसका मत है कि दोनो मीमासाए एक ही सम्पूर्ण इकाई के भाग है।

२. तुलना कीजिए प्रकरणपञ्चिका : "पदार्थों का बोध क्षणिक है। आत्मा समवायी कारण है और आत्मा का मन के साथ सम्पर्क सहकारी कारण है" (पृष्ठ ५२ से आगे)।

के साथ सम्पर्क के रूप में होना चाहिए। ऐसे द्रव्य या तो सर्वव्यापक हैं, यथा देश और काल, या आणविक है। सर्वव्यापक द्रव्यों के साथ सम्पर्क हमारे बोधो के नानाविध स्वरूप की व्याख्या नही कर सकता। इसलिए बोध का असमवायी कारण आणविक द्रव्यो के साथ सम्पर्क है, जो स्वय अणुओ की अपनी गति से सम्पन्न होता है। वह आणविक द्रव्य जो प्रमाता आत्मा द्वारा वासित शरीर के अन्दर रहता है, मन है, और अन्य कोई भी बोध के असमवायी कारण के अधिष्ठान को धारण नही कर सकता, जिस बोध का समवायी करण आत्मा है। शरीर के अन्दर होनवाली आणविक द्रव्य की क्रिया, जो सम्पर्क कराने मे सहायक होती है, आत्मा के साथ उसके सम्पर्क के कारण है, जो प्रत्येक बोध के कर्म मे उसकी प्राप्ति के लिए अपना योगदान देता है। किन्तु जहा मन सुख-दु:ख जैसे कार्यों को उत्पन्न कर सकता है, वहा यह रग, गन्ध आदि गुणो को उत्पन्न नही कर सकता। इनके ज्ञान के लिए इसे अन्य इन्द्रियो की सहायता की आवश्यकता होती है।[1] इन्द्रियो के साथ बाह्य पदार्थों के सम्पर्क के द्वारा, जिसमे मन माध्यम का कार्य करता है, आत्मा बाह्य जगत् का ज्ञान प्राप्त करती है। आत्मा तथा मन का सम्बन्ध धर्माधर्म के द्वारा सम्पन्न होता है। किन्तु मन के प्रति जो आत्मा की प्रवृत्ति है, उसमे आत्मा को निष्क्रिय नही माना गया है। मन को इन्द्रियो मे सम्मिलित किया गया है, क्योंकि यह मानसिक अवस्थाओ, यथा सुख, दु:ख, इच्छा और द्वेष, का प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त करता है। इस प्रकार का तर्क उपस्थित किया जाता है कि यदि हम मन तथा इन्द्रियो पर निर्भर न करते तो हमे सब वस्तुओ का ज्ञान एकसाथ और तुरन्त हो जाता।

आत्मा जब मन के सम्पर्क मे आती है तो बोधो को उत्पन्न करती है। यह सम्पर्क मन की क्रिया से होता है, जिस क्रिया का निर्णय या तो आत्मा के प्रयत्न द्वारा या आत्मा के पूर्वकर्म द्वारा चालित अदृष्ट प्रारब्ध द्वारा होता है। आत्मा अनुभवकर्ता अथवा फलोपभोक्ता है, शरीर अनुभवो का स्थान है, इन्द्रिया अनुभव के साधन है। अनुभव के पदार्थ दो प्रकार के है आभ्यन्तर, जैसे सुख और दुःख, और बाह्य, जैसे घडा आदि। प्रभाकर का कहना है कि हमारी संवित्, अर्थात् चेतनता, एक समय मे एक ही पदार्थ के साथ अपने को सपृक्त करती है, दो के साथ नही।

४

प्रत्यक्ष ज्ञान

प्रत्यक्ष ज्ञान साक्षात् प्रतीति है। यह सीधा इन्द्रिय-सम्पर्क से प्राप्त होता है। प्रत्यक्ष ज्ञान में पदार्थ तथा इन्द्रिय का, पदार्थ के विशिष्ट गुणो तथा इन्द्रिय का, मन और इन्द्रिय

१. शास्त्रदीपिका, पृष्ठ १०० । २. वही, पृष्ठ ६८ ।
३. प्रकरणपञ्चिका : प्रत्यक्ष ।

का, और आत्मा तथा मन का सम्पर्क होता है। कुमारिल की व्याख्या के अनुसार, पदार्थ का इन्द्रिय के साथ सम्पर्क केवल अनुकूलता अथवा पदार्थ को अभिव्यक्त करने की क्षमता है, जिसका अनुमान हम इसके कार्य से करते है।[1] प्रत्यक्ष का सम्बन्ध ऐसे ही पदार्थों से है जिनका अस्तित्व है, अर्थात् जो इन्द्रियो से जानने योग्य है। यह इन्द्रियातीत पदार्थों का बोध नही करा सकता। प्रभाकर के अनुसार, जिन पदार्थों का बोध होता है वे द्रव्य, वर्ग अथवा गुण हो सकते है।

मीमासक[2] सामान्यत: इन्द्रियो के विषय मे न्यायदर्शन की जो प्रकल्पना है उसे स्वीकार करता है, केवल श्रवणेन्द्रिय के सम्बन्ध मे मतभेद है। देश-सम्बन्धी सामीप्य तथा दूरी का साक्षात् प्रत्यक्ष होता है—केवल दर्शन तथा स्पर्श से ही नही बल्कि श्रवणेन्द्रिय द्वारा भी। देश के दो भेद है, स्थिति और दिशा, और इन दोनो का प्रत्यक्ष शब्दो के विशेषणो के रूप मे होता है। श्रवणेन्द्रिय प्राप्यकारी है, अर्थात् प्रमेय शब्द के सम्पर्क मे आती है। श्रवणेन्द्रिय बाहर निकलकर प्रमेय अर्थात् दूरस्थ शब्द तक नही जाती है, बल्कि शब्द कर्णपटह तक वायु की लहरो द्वारा प्राप्त होकर प्रसारित होता है। यह विचार इस तथ्य का कारण स्पष्ट कर देता है कि क्यो समीपस्थ मनुष्यो को तो शब्द का बोध हो जाता है किन्तु दूरस्थ पुरुषो को नही होता। शब्दो की तीव्रता की श्रेणियों मे जो भेद है उसके कारण की भी व्याख्या इससे हो जाती है।[3] यदि श्रवणेन्द्रिय शब्दो के साक्षात् सम्पर्क मे आए बिना भी शब्दो का बोध प्राप्त कर सकती, जैसाकि बौद्धमत कल्पना करता है, तो सभी शब्द —क्या दूर के, क्या पास के —श्रवणेन्द्रिय से एकसाथ प्रत्यक्ष रूप मे जाने जाते, किन्तु अवस्था यह नही है। श्रवणेन्द्रिय के अन्दर वायु की एक परत है जिसपर वक्ता की वाणी से निकलनेवाली वायु की लहर आकर टकराती है, और ऐसी अवस्था उत्पन्न करती है जिससे कि शब्द सुना जाता है। श्रवणेन्द्रिय शब्द के स्थान के सम्पर्क मे नही आती, बल्कि केवल शब्द के सम्पर्क मे आती है जिसका स्थान कर्णपटह मे होता है। किन्तु शब्दो का बोध सदा इस रूप मे होता है कि लगता है कि वे देश के भिन्न-भिन्न बिन्दुओ मे स्थित है, कर्णपटह मे स्थित नही है। वे श्रवण-इन्द्रिय तक केवल शब्दरूप मे नही पहुचते, बल्कि जहा से वे उत्पन्न होते है, उन दिशाओं का रग लिए हुए पहुचते है। इस प्रकार शब्दो तथा उनकी दिशाओ का भी सीधा प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। यहा तक कि श्रवणेन्द्रिय द्वारा दूरी का भी प्रत्यक्ष ज्ञान होता है, क्योंकि समीप से आते हुए शब्द अधिक तीव्र होते है, अपेक्षा उनके कि जो दूर से आते है। इस प्रकार शब्दो के मन्द या तीव्र रूप के प्रत्यक्ष से हमे यह भी ज्ञान हो जाता है कि वे कितनी दूरी से आते है।

१. श्लोकवार्तिक, प्रत्यक्षसूत्र, ४२–४३।
२. शास्त्रदीपिका, पृष्ठ ४०० से आगे, श्लोकवार्तिक, ७६० से आगे।
३. तीव्रमन्दादिव्यवस्था।

प्रभाकर और कुमारिल दोनों ही निर्विकल्प तथा सविकल्प प्रत्यक्ष के भेद को मानते है और उन्हे प्रामाणिक मानते है। कुमारिल के अनुसार, निर्विकल्प प्रत्यक्ष व्यक्ति का बोध कराता है, जो सामान्य तथा विशिष्ट लक्षणो का अधिष्ठान है, यद्यपि यह पदार्थ के सामान्य तथा विशिष्ट लक्षणों से युक्त रूप का प्रत्यक्ष ज्ञान नही है।[1] निर्विकल्प प्रत्यक्ष स्वय पदार्थ के कारण ही होता कहा गया है।[2] सविकल्प प्रत्यक्ष मे सामान्य तथा विशिष्ट गुण स्पष्ट रूप मे दिखाई पड़ते है।[3] इस मत के समर्थन मे, पार्थसारथि, आगे और युक्ति देता है। पदार्थ का इन्द्रियों के साथ सम्पर्क होने पर हमे सब प्रकार के सम्बन्धों से विहीन पदार्थ का बोध होता है। तब तक हम गुणी तथा गुणो मे तथा सामान्य और विशिष्ट लक्षणों मे भेद नहीं करते। यदि निर्विकल्प ज्ञान न होता तो सविकल्प प्रत्यक्ष भी न होता,[4] क्योंकि सविकल्प प्रत्यक्ष गुणयुक्त पदार्थ तथा उसके गुणो के पारस्परिक सम्बन्ध का बोध है। इस प्रकार के सम्बन्ध का बोध निर्भर करता है सम्बन्ध के पक्षो के पूर्वबोध पर। जब तक ये पक्ष निर्विकल्प प्रत्यक्ष मे उपलक्षित रूप मे न जाने जाएं, तब तक ये सविकल्प प्रत्यक्ष मे स्पष्ट रूप मे नही जाने जा सकते। पदार्थ के सविकल्प प्रत्यक्ष मे हम स्मरण करते है उस वर्ग को जिससे यह सम्बद्ध है, और उस नाम को जिसे यह धारण करता है, और तब उन्हे प्रत्यक्ष मे जाने गए पदार्थ के साथ जोडते है। यदि वर्ग तथा नाम सर्वथा अज्ञात हो तो वे स्मरण नही किए जा सकते। इसलिए निर्विकल्प प्रत्यक्ष के अस्तित्व को जिसमे जाति, नाम तथा वैशिष्टच बताने वाले गुणो का उपलक्षित रूप मे बोध रहता है, स्वीकार करना आवश्यक है।

कुमारिल का मत है कि पदार्थों का बोध मौखिक अभिव्यक्तियो से स्वतन्त्र है।[5] गाय के वर्ग का बोध सदा 'गाय' शब्द के रूप मे नही होता, यद्यपि हम ज्ञात पदार्थ का वर्णन करने के लिए उक्त शब्द का प्रयोग करते है।[6] कुमारिल का यह विचार है कि निर्विकल्प प्रत्यक्ष अनिर्णीत प्रत्यक्ष है, केवल देख लेना (आलोचन) मात्र है, जिसकी तुलना एक नवजात शिशु के बोध के साथ की जा सकती है, जहा केवल व्यक्ति ही हमारे सम्मुख प्रस्तुत किया जाता है उसके सामान्य (जातिगत) अथवा विशिष्ट लक्षण प्रस्तुत नही रहते। किन्तु प्रभाकर का मत है कि निर्विकल्प प्रत्यक्ष वर्गगत लक्षणो तथा विशिष्ट लक्षणो, दोनो का बोध कराता है, लेकिन क्योंकि अन्य पदार्थ उस समय तक बोध के क्षेत्र के अन्दर प्रविष्ट नही होते, इसलिए पदार्थ का बोध किसी वर्गविशेष से वस्तुत. सम्बद्ध के रूप मे नही होता। कोई पदार्थ, अन्य पदार्थो की तुलना मे ही, जिनसे कि वह अलग लक्ष्य किया गया है, व्यक्तिरूप मे प्रत्यक्ष होता है। किन्तु जब यह किसी वर्ग-विशेष के अन्य सदस्यो के समान कुछ विशिष्ट लक्षणो को लिए हुए देखा

१. श्लोकवार्तिक, प्रत्यक्षसूत्र, ५ : ११३।
२. शुद्धवस्तुज अथवा भेदरहित पदार्थ, ११२।
३. श्लोकवार्तिक, प्रत्यक्षसूत्र, ५ : १२०।
४. शास्त्रदीपिका, पृष्ठ १०९–१०। इस मत की समीक्षा के लिए देखिए जयन्तकृत न्याय-मंजरी, पृष्ठ ९८।
५. श्लोकवार्तिक, प्रत्यक्षसूत्र, १७६। ६. वही, १८०, १८२।

जाता है, तो इसके विषय में यह ज्ञान होता है कि यह किसी विशेष वर्ग का सदस्य है। यद्यपि जिसका बोध हुआ है वह वस्तुतः किसी वर्ग का एक व्यक्ति है परन्तु इसके यथार्थ स्वरूप का ज्ञान तब तक नही हो सकता जब तक कि इसकी तुलना उक्त वर्ग के अन्य सदस्यों के साथ नही कर ली जाती।[1] जबकि वर्गगत लक्षण तथा विशिष्ट लक्षण निर्विकल्प प्रत्यक्ष मे विद्यमान है, उनकी पहचान उक्त प्रत्यक्ष मे उस रूप मे नही होती। सविकल्प प्रत्यक्ष मे आत्मा उसी वर्ग के अन्य पदार्थों का स्मरण करती है और उनकी समानताओ तथा असमानताओं को लक्ष्य करती है। प्रभाकर का मत है कि सविकल्प प्रत्यक्ष का रूप मिश्रित है, और उसके अन्दर स्मृति का अंश अन्तर्निहित है क्योंकि उस वर्ग के अन्य सदस्य आत्मा के प्रति अपने को उस संस्कार के कारण प्रस्तुत करते है जो इसने उनके सम्बन्ध मे प्राप्त किया हुआ है। किन्तु स्मृति का अंश उस पदार्थ से सम्बन्ध नही रखता जिसका प्रत्यक्ष ज्ञान हुआ है, बल्कि अन्य पदार्थों से रखता है जिनके साथ इसकी तुलना की गई है, और इसलिए पदार्थ के अपने बोध की प्रामाणिकता को प्रभावित नही कर सकता।

प्रभाकर और कुमारिल दोनो ही सामान्य की यथार्थता को स्वीकार करते है और उन्हे प्रत्यक्ष के विषय मानते है। इसके विपरीत, बौद्धो का मत है कि विशिष्ट व्यक्तित्व ही केवल यथार्थ है और सामान्यता कल्पना की उपज है।[2] कुमारिल और पार्थसारथि ने बौद्ध मत की समीक्षा की है। सामान्य प्रत्यक्ष का विषय है, क्योकि जब भी हम किसी पदार्थ का प्रत्यक्षज्ञान प्राप्त करते है, हम इसे वर्गविशेष से सम्बद्ध के रूप मे प्रत्यक्ष करते है। प्रत्यक्ष ज्ञान की क्रिया के अन्दर आत्मसात्करण तथा विभेदीकरण दोनो रहते है। प्रत्यक्ष ज्ञान अनुवृत्त भी है तथा व्यावृत्त भी है। अनुवृत्ति सामान्य की यथार्थता पर निर्भर करती है। अनुमान की क्रिया भी इसी पर आधारित है। और न बौद्ध विरोध मे ऐसा कह सकते है कि सामान्य यथार्थ नही है, क्योकि इसका प्रत्यक्ष ज्ञान व्यक्ति से भिन्न रूप मे नही होता। क्योंकि यह तर्क कि जो है वह या तो भिन्न है या अभिन्न, सामान्य वस्तुत्व का मान लेना है।[3] और न ऐसा प्रश्न करना उपयुक्त है कि सामान्यता प्रत्येक व्यक्ति के अन्दर अपने पूर्णरूप मे विद्यमान है या सबके अन्दर समष्टिभाव मे विद्यमान है। इस प्रकार का भेदभाव व्यक्तियों के लिए प्रासंगिक है, किन्तु सामान्यता के लिए नही, क्योंकि सामान्यता अखण्डित है। सामान्य के विषय मे जो जैन मत है उसका भी प्रत्याख्यान किया गया है।[4] यदि सामान्यता और सादृश्य एक ही माने

1. वस्त्वन्तरानुसन्धानशून्यतया सामान्यविशेषरूपं न प्रतीयते। देखिए प्रकरणपञ्चिका, पृष्ठ ५४-५५।

2. विकल्पाकारमात्रं सामान्यम्। शास्त्रदीपिका, पृष्ठ ३८१।

3. यद् वस्तु तद्भिन्नमभिन्नं वा भवति, पृष्ठ ३८२।

4. न च सादृश्यमेव सामान्यम्, पृष्ठ ३८४।

जाएं तो हमारे लिए यह कथन आवश्यक होगा कि "यह एक गाय के समान है", यह नहीं कि "यह एक गाय है"। इसके अतिरिक्त, सामान्यता से अलग सादृश्य सम्भव नहीं है। वस्तुएं, यदि उनके अन्दर सामान्य गुण हैं तभी एक-दूसरे के सदृश हैं। कुमारिल के अनुसार, सामान्य व्यक्ति से भिन्न नहीं है।[1] दोनों का परस्पर सम्बन्ध भिन्नता में तादात्म्य का सम्बन्ध है। हम सामान्य का ज्ञान प्राप्त करते हैं अथवा व्यक्ति का, यह हमारी रुचि पर निर्भर है। सामान्य से तात्पर्य, जिसे आकृति (रूप) भी कहा जाता है, बाह्याकार से नहीं है, बल्कि लक्षण के तादात्म्य से है, क्योंकि आकृति का सम्बन्ध आत्मा जैसे अभौतिक पदार्थों के साथ कहा गया है। पदार्थों का बाह्याकार नाशवान है, किन्तु वर्गगत स्वरूप नाशवान नहीं है।[2] वर्ग स्वयं आकृति के नाम से पुकारा जाता है। इससे स्पष्ट संकेत उसकी ओर है जो व्यक्ति को लक्षित करता है। यह वह है जो सब व्यक्तिरूप पदार्थों में समान है, और इस समष्टि-रूप विचार का साधन है कि इन पदार्थों में एक पूर्ण इकाई का निर्माण होता है।[3] पार्थसारथि का तर्क है कि सामान्य व्यक्ति से सर्वथा भिन्न नहीं है। यदि ऐसा होता तो हम व्यक्ति में सामान्य का प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त न कर सकते। "यह एक गाय है", इस प्रत्यक्ष ज्ञान में हमें 'यह' का बोध (इयं बुद्धि) तथा 'गाय' का बोध (गोबुद्धि) भी होता है। पहले बोध का विषय व्यक्ति है और दूसरे बोध का विषय सामान्य है। 'यह' और 'गाय' के बोधों में भेद है, और तो भी वे एक ही पदार्थ के अन्तर्गत हैं। प्रत्यक्ष ज्ञान का यह दो प्रकार का स्वरूप पदार्थ के स्वरूप को सामान्य तथा विशिष्ट दोनों रूप में निर्देश करता है। ये दोनों स्वभावतः परस्पर असंगत नहीं हैं, क्योंकि प्रत्यक्ष ज्ञान के एक ही कर्म में तादात्म्य तथा भेद दोनों प्रत्यक्ष होते हैं। तादात्म्य तथा भेद एक-दूसरे का विरोध नहीं करते, जैसेकि 'यह चांदी है' और 'यह चांदी नहीं है' ये बोध करते हैं। तादात्म्य तथा भेद का संबन्ध पदार्थ के भिन्न-भिन्न पहलुओं से है।[4]

प्रभाकर के अनुयायी इस विचार से सहमत नहीं हैं। बोधरूपी वही एक कर्म सामान्य तथा व्यक्ति में तादात्म्य तथा भेद का ज्ञान नहीं करा सकता। जब

१. श्लोकवार्तिक, प्रत्यक्षसूत्र, १४९। इसपर टीका करते हुए 'न्यायरत्नाकर' कहता है : "वर्ग आदि व्यक्ति से सर्वथा भिन्न नहीं है। यह एक साधारण अनुभव की बात है कि व्यक्तिरूप गाय इस रूप में केवल तभी पहचानी जाती है जब यह 'गाय' के वर्ग के साथ एकात्म पाई जाती है। यह नहीं हो सकता था, यदि व्यक्ति वर्ग से सर्वथा भिन्न होता। व्यक्ति की वर्ग के साथ तादात्म्य की इस प्रकार की प्रत्यभिज्ञा ही वर्ग को जानने का एकमात्र साधन है। इसलिए व्यक्ति तथा वर्ग में अवश्य तादात्म्य होना चाहिए।" और देखिए आकृतिवाद, ८, १०, १८, २५।

२. तन्त्रवार्तिक, १ : ३, ३०।

३. जातिमेवाकृतिं प्राहुः व्यक्तिराक्रियते यया।
सामान्यं तच्च पिण्डानामेकबुद्धिनिबन्धनम्॥
(श्लोकवार्तिक, आकृतिवाद, ५ : ३)।

४. शास्त्रदीपिका, पृष्ठ २८४।

हमे सामान्य और व्यक्ति मे भेद का प्रत्यक्ष होता है तो हमे उन दोनो का पृथक्-पृथक् प्रत्यक्ष होगा। और जब हमे उनके अन्दर तादात्म्य प्रत्यक्ष होता है तो हमे उनमे से एक ही का प्रत्यक्ष होगा, अर्थात् या तो सामान्य का या व्यक्ति का। इस अवस्था मे एक ही पदार्थ से, अर्थात् सामान्य या व्यक्ति से दो प्रकार का बोध होगा, अर्थात् सामान्य तथा व्यक्ति का और उनके तादात्म्य का। किन्तु सामान्य के लिए यह सम्भव नही है कि वह व्यक्ति के साथ अपने तादात्म्य का बोध उत्पन्न करे, और न व्यक्ति के ही लिए यह सम्भव है कि वह सामान्य के साथ अपने तादात्म्य का बोध उत्पन्न करे। इसलिए यह नही कहा जा सकता कि भेद तथा तादात्म्य दोनो का ज्ञान बोध के उसी एक कर्म से हो सकता है। पार्थसारथि विरोध मे कहता है कि यह तर्क अप्रामाणिक है। दो पदार्थों के बोध मे आवश्यक नही है कि उनके भेद का ज्ञान भी सम्मिलित रहे। जब पहल-पहल किसी वर्ग के सदस्य एक व्यक्ति का प्रत्यक्ष किया जाता है, तो सामान्य तथा व्यक्ति दोनो का ही प्रत्यक्ष ज्ञान होता है, किन्तु दोनो की भिन्नता का प्रत्यक्ष नही होता। जब उसी वर्ग के किसी अन्य व्यक्ति को देखते है तो उसी वर्ग का होने के कारण प्रथम व्यक्ति के साथ उसका आत्मसात्करण हो जाता है, और भिन्न व्यक्ति होने से प्रथम व्यक्ति से उसका भेद भी प्रत्यक्ष हो जाता है। दो पदार्थों के बोध मे, इसलिए, उनके भेद का बोध अन्तर्गत नही रहता। एक ही पदार्थ के बोध मे आवश्यक नही कि इसके तादात्म्य का बोध भी अन्तर्गत हो, जैसेकि जब कोई किसी दूरस्थ पदार्थ को देखता है और सन्देह अनुभव करता है कि यह खभा है या मनुष्य है।[1]

प्रभाकर के अनुयायियो का तर्क है कि सामान्य तथा व्यक्ति मे एकात्मता नही हो सकती, क्योंकि सामान्य नित्य है और अनेक व्यक्तियों मे एकसमान है, जबकि व्यक्ति अनित्य है और विशिष्ट है। यदि इन दोनो मे एकात्मता होती, तो सामान्य अनित्य होता तथा भिन्न-भिन्न व्यक्तियो मे भिन्न-भिन्न होता और व्यक्ति नित्य होते तथा अनेक एकसमान होते। उत्तर मे पार्थसारथि युक्ति देता है कि एक मिश्रित अथवा बहुरूप पदार्थ कुछ बातो मे नित्य तथा अन्य बातो मे अनित्य हो सकता है, कुछ लक्षणो मे औरो के साथ एकात्मरूप और अन्य लक्षणो मे उनसे भिन्न हो सकता है।

पूर्ण इकाई (अवयवी) तथा उसके भाग (अवयव) के प्रश्न के विषय मे प्रभाकर का मत है कि अवयवी प्रत्यक्ष का विषय है। पूर्ण इकाई के रूप मे पदार्थों का अस्तित्व है। यह आवश्यक नही है कि हम पूर्ण इकाई का प्रत्यक्ष करने से पूर्व उसके सभी हिस्सो का प्रत्यक्ष करे। यदि हम किसी भौतिक पदार्थ को ले तो परमाणु इसके उपादान कारण है, और उनका संयोग अभौतिक

१. न वस्तुद्वयप्रतीतिरेवभेदप्रतीतिः । नाप्येकवस्तुप्रतीतिरेवाभेदप्रतीतिः (शास्त्रदीपिका, पृष्ठ २८७)।

२. शास्त्रदीपिका, पृष्ठ २८८।

कारण है जो पूर्ण इकाई को उसकी विशिष्टता प्रदान करता है। कुमारिल का मत है कि अवयवी तथा उसके अवयव एकात्मरूप है, और यह हमारे दृष्टि-कोण पर निर्भर करता है कि हम किसी पदार्थ को पूर्ण इकाई समझते हैं या अनेक भाग।[1]

प्रत्यभिज्ञा को अनुभूतिपरक ज्ञान मानने में कुमारिल नैय्यायिक के साथ सहमत है, क्योंकि इसकी उपस्थिति वहीं सम्भव है जहां इन्द्रियों की क्रियाशीलता है, और जहां वह नहीं है वहां प्रत्यभिज्ञा का भी अभाव है। केवल इसलिए कि प्रत्यभिज्ञान से पूर्व स्मृति की क्रिया आती है, हम इसे अप्रत्यक्षपरक नहीं कह सकते। जहां कहीं ज्ञानेन्द्रिय का सम्पर्क किसी उपस्थित पदार्थ के साथ है, हम उसे प्रत्यक्ष ज्ञान की अवस्था मानेंगे।[2]

मीमांसक यौगिक अन्तर्दृष्टि की प्रकल्पना का समर्थन नहीं करते, जिसके द्वारा कहा जाता है कि योगी भूत, भविष्यत्, अदृश्य और दूरस्थ पदार्थों का ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं। यह अन्तर्दृष्टि या तो इन्द्रियजनित है या अनिन्द्रियजनित है। यदि इन्द्रियजनित है तो क्योंकि इन्द्रियां भूत, भविष्यत् तथा दूरस्थ पदार्थों के सम्पर्क में नहीं आ सकतीं अतः उनका कुछ ज्ञान नहीं हो सकता। यहां तक कि अन्तःकरणरूप इन्द्रिय, अर्थात् मन भी केवल मानसिक अवस्थाओं, यथा सुख-दुःख आदि, का ही ज्ञान प्राप्त कर सकती है। इस प्रकार का तर्क उपस्थित करना कोई अर्थ नहीं रखता कि इन्द्रियां जब उच्च विकास को प्राप्त हो जाती हैं तो पदार्थों के सम्पर्क में आए बिना भी, उनका प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त कर सकती है, क्योंकि कितना भी विकास क्यों न हो, वह इन्द्रियों की प्रकृति में परि-वर्तन नहीं ला सकता। यदि यौगिक अन्तर्दृष्टि भूतकाल में प्रत्यक्ष की हुई वस्तुओं का बोध प्राप्त करती है तो यह प्रत्यक्ष ज्ञान न होकर स्मृति की अवस्था है। यदि यह ऐसे पदार्थों का बोध कराती है जिनका बोध पहले कभी नहीं हुआ तो इसकी प्रामाणिकता में सन्देह है। भूतकाल के, दूरस्थित तथा भविष्य के पदार्थों का ज्ञान केवल वेदों द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है।[3]

मानसिक प्रत्यक्ष को, जिसके द्वारा हम सुख-दुःख इत्यादि का ज्ञान प्राप्त करते हैं, मीमांसादर्शन ने स्वीकार किया है। तो भी बोध अन्तर्मुखता का विषय नहीं हो सकता। मानसिक प्रत्यक्ष ऐसी क्रियाओं तक ही सीमित है जो बोध-सम्बन्धी नहीं हैं। स्वप्नों में भी बोध जिसे ज्ञानप्राप्ति के योग्य बनाता है वह बाह्य जगत् का ही कोई पदार्थ होता है।[4] यद्यपि स्वप्नकाल में पदार्थ वास्तव में उपस्थित नहीं होता, तो भी वह ऐसी वस्तु होता है जिसका पहले प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त किया गया है और जो अब संस्कारों द्वारा पुनर्जीवित हो गई है। वह बोध जो हमें स्वप्नों में होता है, स्मृति के स्वरूप का है और कुछ संस्कारों के पुनर्जागरित होने से होता है। स्वप्नों में भूतकाल के

१. श्लोकवार्तिक, वनवाद।
२. श्लोकवार्तिक, प्रत्यक्षसूत्र, २३४–३७।
३. शास्त्रदीपिका, पृष्ठ ५२। देखिए यामुनाचार्यकृत सिद्धित्रय, पृष्ठ ७१।
४. श्लोकवार्तिक, निरालम्बनवाद, १०७–८; शास्त्रदीपिका, पृष्ठ १६२–६३ और १६५।

अनुभव का केवल वही भाग पुनर्जीवित होता है जो कर्ता के सुख अथवा दुःख का कारण बन सके और जिसके लिए वह उस क्षण मे परिपक्व है। स्वप्न केवल ऐसी निद्रा मे ही सम्भव होते है जिसमे आत्मा का सम्पर्क मन के साथ होता है, यद्यपि मन इन्द्रियों के साथ मे सम्पर्क मे नही होता। स्वप्न-विहीन प्रगाढ निद्रा मे आत्मा का मन के साथ सम्पर्क टूट जाता है। प्रभाकर का तो यही विचार है, किन्तु कुमारिल की सम्मति मे, प्रगाढ निद्रा की अवस्था मे आत्मा अपने विशुद्ध चैतन्यरूप मे लौट जाती है, जहाकि किसी प्रकार के स्वप्नो की सम्भावना नही है।[1]

५

अनुमान

शबर के अनुसार, जब दो वस्तुओ मे किसी स्थिर-सम्बन्ध की विद्यमानता जानी हुई होती है, जिससे उनमे से किसी एक के देखने पर दूसरी का भी एक भाव आ जाता है, तो यह दूसरा बोध आनुमानिक कहलाता है।[2] शबर अनुमान को दो भागो मे विभक्त करता है प्रत्यक्षतोदृष्ट, जहा अनिवार्य सम्बन्ध ऐसे पदार्थों के मध्य है जो दृष्टिगोचर है, जैसे धुआ और आग, और सामान्यतोदृष्ट जहा सम्बन्ध इन्द्रियो के द्वारा नही जाना जाता बल्कि केवल अमूर्त रूप मे ही जाना जाता है, जैसेकि सूर्य की गति तथा आकाश मे उसकी परिवर्तित होती हुई स्थिति की अवस्था मे होता है।[3] प्रभाकर के अनुसार, सम्बन्ध अवश्य अचूक, सत्य तथा स्थायी होना चाहिए, जैसाकि कारण और उसके कार्य के मध्य, अवयवी और अवयव के मध्य, द्रव्य और गुण के मध्य, वर्ग और सदस्यो के मध्य होता है। सामान्य सिद्धान्त का उद्भव प्रत्यक्ष ज्ञान मे नही है, क्योकि प्रत्यक्ष ज्ञान का कार्यक्षेत्र केवल वे पदार्थ है जो वर्तमानकाल मे विद्यमान है तथा ज्ञानेन्द्रियो के सम्पर्क मे है। इसका उद्भव अनुमान अथवा अर्थापत्ति से भी नही है, क्योकि ये दोनो इसे मान लेते है। सामान्य सिद्धान्त की सिद्धि अनुभव के आधार पर होती है। ऐसी अवस्थाए हमारे देखने मे आती है जहा धुआ और आग एकसाथ उपस्थित रहते है, और ऐसी अवस्थाए भी देखने मे आती है जहा ये एकसाथ इस प्रकार उपस्थित नही है, और तब हम एक सामान्य सिद्धान्त का अनुमान करते है जो सब अवस्थाओ पर लागू होता है। जब सह-अस्तित्व, तादात्म्य अथवा कार्यकारणभाव का एक स्थायी सम्बन्ध मन मे बैठ जाता है, तो इसका एक पक्ष दूसरे पक्ष का स्मरण कराता है।

प्रभाकर तथा कुमारिल के अनुसार, अनुमान-सम्बन्धी तर्क के केवल तीन अवयव हैं : प्रतिज्ञा अथवा प्रस्तुत विषय के सम्बन्ध मे कथन, मुख्य पद जो सामान्य नियम को

१. झा : प्रभाकर स्कूल, २।

२. ज्ञातसम्बन्धस्यैकदेशदर्शनादेकदेशान्तरेऽसन्निकृष्टेऽर्थे बुद्धिः। और देखिए प्रकरणपञ्चिका, पृष्ठ ६४।

३. शबर का सामान्यतोदृष्ट वात्स्यायन द्वारा की गई इसकी प्रथम व्याख्या के सर्वथा समान है, जबकि वात्स्यायन के पूर्ववत् तथा शेषवत् शबर के प्रत्यक्षतोदृष्ट के अनुकूल हैं।

समर्थन करनेवाले दृष्टान्त समेत उपस्थित करता है, और गौण पद। इन तीन अवयवों को किसी भी क्रम मे रखा जा सकता है। मीमांसक स्वार्थानुमान तथा परार्थानुमान के मध्य जो भेद है उसे स्वीकार करते है। आनुमानिक ज्ञान का दो प्रकार का लक्ष्य होता है: दृष्ट स्वलक्षण, अर्थात् जिसका अपना विशिष्ट लक्षण प्रत्यक्ष हो चुका है, जैसेकि धुए से आग का अनुमान; और अदृष्ट स्वलक्षण, अर्थात् जिसका विशिष्ट लक्षण प्रत्यक्ष का विषय नही है, जैसेकि आग की जला देनेवाली क्षमता का अनुमान। प्रभाकर का मत है कि अनुमान मे सामान्य सम्बन्ध का पूर्वज्ञान सन्निहित है। और इसका सम्बन्ध ऐसे पदार्थों से है जो पहले से ज्ञात है। कुमारिल विलक्षणता को अनुमान का एक अनिवार्य लक्षण मानता है। यद्यपि यह सत्य है कि धुआ दिखाई दिया है और धुए का प्रत्यक्ष अपने साथ आग के सम्बन्ध मे एक सामान्य विचार लिए हुए है, जो बताता है कि उसका धुए से सम्बन्ध है, तो भी आनुमानिक बोध का विषय एक ऐसी चीज है जो पहले से ज्ञात नही है, अर्थात् विधेय से विशेषित उद्देश्य है—प्रचलित दृष्टान्त मे अग्नि-युक्त पहाड।[1]

६
वैदिक प्रामाण्य

मीमांसा का लक्ष्य धर्म के स्वरूप का निश्चय करना है। धर्म का अस्तित्व भौतिक नही है और इसलिए इन्द्रियो द्वारा इसका ज्ञान नही हो सकता। अन्य प्रमाण किसी प्रयोजन के नही है, क्योंकि वे सब प्रत्यक्ष ज्ञान की पूर्वकल्पना करते है। प्रत्यक्ष, अनुमान और इसी प्रकार के ज्ञान के अन्य साधन उस विषय मे कुछ भी नही कह सकते कि अग्नि-ष्टोम यज्ञ का करनेवाला स्वर्ग को जाएगा। इसका ज्ञान केवल वेदो मे ही प्राप्त होता है। यद्यपि वेद का प्रमाण हमारे लिए धर्मज्ञान का एकमात्र स्रोत है, तो भी अन्य साधनो पर विचार किया गया है, क्योंकि यह प्रदर्शित करना आवश्यक है कि वे धर्म के संबंध मे ज्ञान नही दे सकते। भ्रान्त विचारों के उच्छेदन के लिए भी उन्हे उपयोगी पाया गया है।

वेद का सारतत्त्व आदेशात्मक रूप मे दी गई वे घोषणाएं है जो मनुष्यो को कर्म-सम्बन्धी निश्चित विधियों की ओर प्रेरित करती है और यह बताती है कि इस प्रकार का कर्म उपकारी परिणामो को प्राप्त कराएगा। यह मानते हुए कि वेदो मे कर्म-काण्ड का क्रियाकलाप ही सब कुछ है, जैमिनि का यह मत है कि वे भाग जो प्रकट-रूप मे इससे असम्बद्ध है, निरर्थक है,[2] और इस प्रकार उनकी व्याख्या कर्मकाण्ड-सम्बन्धी

१. श्लोकवार्तिक, अनुमान परिच्छेद, ५०। प्रभाकर चार हेत्वाभासो को स्वीकार करता है, अर्थात् असाधारण, बाधित, साधारण और असिद्ध, जबकि कुमारिल का विश्लेषण, जो अनैकान्तिक तथा असिद्ध को स्वीकार करता है, न्याय की योजना से घनिष्ठ समानता रखता है।

२. यह विचार वेद के उन भागो के विषय में कठिनता के साथ उचित हो सकेगा जो विश्व-सम्बन्धी चरम समस्याओं के विषय में प्रतिपादन करते हैं।

आदेशो के आधार पर होनी चाहिए। अन्य भाग भी केवल उसी अवस्था मे प्रामाणिक है जबकि वे व्यक्ति के लिए कर्म करने मे सहायक सिद्ध होते है।[1] मीमासक यह सिद्ध करने का प्रयत्न करते है कि पवित्र वाङ्मय का प्रत्येक भाग कर्तव्य कर्मों से ही सबंध रखता है। वेद का मोटा विभाग मन्त्रो और ब्राह्मणो मे है। वेद के विषयवस्तु का वर्गीकरण इस प्रकार भी किया गया है : (१) विधि, (२) मन्त्र, (३) नामधेय, (४) निषेध और (५) अर्थवाद।[2]

शाब्दिक ज्ञान की परिभाषा करते हुए कहा गया है कि यह ऐसी वस्तु का बोध है जो इन्द्रियो के समक्ष प्रस्तुत नही है, और शब्दो के ज्ञान से उत्पन्न हुआ है। ये शब्द मनुष्यो द्वारा उच्चरित हो सकते है या वेदो के हो सकते है।[3] प्रथम प्रकार के शब्द प्रामाणिक उसी अवस्था मे है जबकि उनके रचयिताओ के विषय मे हमे निश्चय हो कि वे अविश्वसनीय नही है। वेदो के शब्द स्वत. प्रामाणिक है। वह ज्ञान जिसका विरोध आगे आनेवाले ज्ञान से हो जाए, अप्रामाणिक है। किन्तु वैदिक आदेशो द्वारा प्राप्त बोध किसी भी काल मे, किसी भी स्थान मे, अथवा किसी भी अवस्था मे खडित नही हो सकते।[4] ऐसा कहना आत्म-विरोधी होगा कि वैदिक आदेश किसी ऐसी वस्तु को व्यक्त करता है जो सत्य नही है। वेद अपनी निजी प्रामाणिकता को अभिव्यक्त करते है। हमारे द्वारा प्रयुक्त शब्द ऐसी चीजो को व्यक्त करते है जिनका ज्ञान ज्ञान के अन्य साधनो द्वारा प्राप्त किया जा सकता है, और यदि हम उन्हे अन्य साधनो से नही जान सके तो उनके उच्चारण करनेवाले ऐसे होने चाहिए जिनकी प्रामाणिकता असन्दिग्ध हो। इस प्रकार अवैदिक वाक्यो मे कोई अन्तर्निहित प्रामाणिकता नही रहती।[5] प्रभाकर का मत है कि अवैदिक शाब्दिक बोध अनुमान-स्वरूप है। केवल वही शाब्दिक ज्ञान जो वेदो मे मिलता है, सही अर्थो मे शाब्दिक है।[6] किन्तु इसकी सगति अन्य प्रकल्पना के साथ नही है, जो सब बोधो की स्वत प्रामाणिकता को मानती है। क्योकि

१. १ : २, १। वेदान्त विधिपरक मन्त्रों के अतिरिक्त वैदिक मन्त्रों की प्रामाणिकता को भी स्वीकार करता है।

२. विधिपरक आदेश, जो पुरुष को विशेष फलों की आशा से कर्म करने के लिए प्रेरित करते है, यथा : 'जो स्वर्ग का इच्छुक है वह यज्ञ करे' (स्वर्गकामो यजेत), सबसे अधिक महत्त्व के है। इनके सहकारी आदेश भी है जो यज्ञ-सम्बन्धी ब्यौरों का वर्णन करते है, और यह बताते है कि किस क्रम में उनके अनेक भागों को सम्पन्न करना है, और कौन-कौन पुरुष उनको करने के अधिकारी है, आदि आदि। मंत्र यज्ञकर्ता को यज्ञ में सम्बन्धित विभिन्न विषयों का स्मरण कराने में उपयोगी सिद्ध होते है, जैसेकि वे देवता जिन्हें लक्ष्य करके आहुतियां देनी है। कहा जाता है कि कुछ मन्त्रों में रहस्यमय अथवा अतीन्द्रिय कार्य-शक्ति है और वे सीधे अतीन्द्रिय परिणाम अर्थात् अपूर्व को उत्पन्न करते हैं। नामधेय में उन परिणामों का संकेत रहता है जो यज्ञों के द्वारा प्राप्त किए जाते है। निषेध केवल प्रच्छन्न विधियां हैं। अर्थवाद वे वाक्य है जो आदिष्ट वस्तुओं की प्रशंसा करते है या निषिद्ध वस्तुओं की निन्दा करते हैं, अथवा औरों के कर्मों का विवरण देते है, अथवा पुराकल्प अर्थात् इतिहास के दृष्टान्त हैं (अर्थसंग्रह)।

३. अपौरुषेयं वाक्य वेदः (अर्थसंग्रह, पृष्ठ ३)।

४. १ : १, २ पर शबर।

५. शास्त्रदीपिका, पृष्ठ ५३।

६. प्रकरणपञ्चिका, पृष्ठ ८८ से आगे। तुलना कीजिए कुसुमाञ्जलि, ३ : १६।

वेदमन्त्रों का कोई रचयिता नही है, इसलिए त्रुटियो की सम्भावना नही है, और इस प्रकार वेदो की अप्रामाणिकता की कल्पना भी नही की जा सकती।[1] जिस प्रकार मनुष्यो के शब्द भी, यदि उनके रचयिता विश्वस्त व्यक्ति है तो प्रामाणिक होते है, कुमारिल उन्हें भी शब्दप्रमाण मानता है।

वेद नित्य है, क्योकि वे शब्द जिनसे वे बने है, नित्य है। शब्द और अर्थ के मध्य जो सम्बन्ध है वह नैसर्गिक है, और परम्परा द्वारा निर्मित नही है। शब्द और उसके अर्थ के बीच इस प्रकार का सम्बन्ध है, यह प्रत्यक्ष जाना जा सकता है। यदि कोई इसे, जबकि वह पहली बार शब्द को सुनता है, नही जान सकता, तो इसका तात्पर्य केवल यही है कि सहायको का अभाव है किन्तु इससे शब्दार्थ-सम्बन्ध का अभाव नही हो जाता। यदि आख प्रकाश के अभाव मे नही देख सकती तो इसका यह अर्थ नही है कि आख देखने के सर्वथा अयोग्य है। सहायक यह ज्ञान है कि इस-इस प्रकार का शब्द इस-इस प्रकार के पदार्थ (विषय) का द्योतक है, और यह ज्ञान अनुभव से प्राप्त होता है। शब्द के अन्दर अभिव्यक्ति का गुण उसके अपने स्वभाव से निहित है। घडा इत्यादि साधारण सज्ञाओं के विषय मे यह सर्वथा सत्य है, जहाकि शब्दो का अपने अर्थो के साथ सबध किसी परम्परा से सर्वथा स्वतन्त्र है।[2] शब्द तथा उनमे निर्दिष्ट पदार्थ दोनो नित्य है और अज्ञात काल से मनुष्य उन्ही पदार्थो के लिए उन्ही शब्दो का प्रयोग करते आए है।

प्रभाकर के अनुसार, केवल ध्वनि अथवा अस्पष्ट शब्द नाम की कोई वस्तु नही है। समस्त शब्द किसी न किसी अक्षर के रूप मे सुने जाते है। शब्द उन अक्षरो से भिन्न नही है जिनसे यह बना है। अक्षरो का प्रत्यक्ष श्रवणेन्द्रिय द्वारा होता है, और वह क्रम जिसमे यह प्रत्यक्ष होता है यह निर्णय करता है कि किन शब्दो का बोध हुआ है। एक शब्द मे जितने अक्षर है उतने ही प्रत्यक्ष ज्ञान भी होते है, और इन प्रत्यक्ष ज्ञानो की अत्यधिक समीपता के कारण हम कल्पना करते है कि शब्द का प्रत्यक्ष ज्ञान एक ही है। प्रत्येक अक्षर का प्रत्यक्ष ज्ञान प्रकट होते ही विलुप्त हो जाता है और अपने पीछे एक सस्कार छोड जाता है। भिन्न-भिन्न अक्षरो द्वारा छोडे हुए सस्कार अतिम अक्षर के सस्कार के साथ सयुक्त होकर पूर्ण शब्द के विचार को उत्पन्न करते है, जिसके अन्दर अर्थ को प्रकट करने की शक्ति होती है। क्योकि शब्द की क्षमता अक्षरो की भिन्न-भिन्न क्षमताओ से उत्पन्न होती है, इसलिए अक्षरो की क्षमताओ को शाब्दिक बोध का सीधा कारण बताया गया है। शब्दार्थ का बोध इन्द्रिय-प्रत्यक्ष द्वारा प्राप्त नही होता। इन्द्रिया अक्षरो को प्रस्तुत करती है, जिनमे

१. श्लोकवार्तिक, २ ; और देखिए २ : ६२–६८।

२. व्यक्तिवाचक संज्ञाओं के विषय में, जहा वस्तुओं अथवा मनुष्यो के नाम उनके उत्पन्न होने के पश्चात् रखे जाते है, प्रभाकर यह स्वीकार करता है कि शब्द और अर्थ का सम्बन्ध परम्परा के कारण होता है।

३. तुलना कीजिए, शास्त्रदीपिका, पृष्ठ २६६ से आगे।

अक्षरों से बने हुए शब्द द्वारा प्रकट की गई वस्तु का बोध कराने की शक्ति रहती है। इस प्रकार प्रभाकर का मत है कि अक्षर शाब्दिक बोध के साधन हैं। शब्दों में नैसर्गिक रूप से द्योतन की शक्ति रहती है, जिसके द्वारा वे पदार्थों को प्रकट करते हैं, भले ही हम उनके अर्थों को समझ सकें, या न समझ सकें।[1]

प्रभाकर की भांति कुमारिल भी तर्क करता है कि सार्थकता स्वयं अक्षरों के अपने अन्दर रहती है, न कि किसी विशेष स्फोट में। इसलिए वह उस प्रकल्पना का प्रत्याख्यान करता है जिसके अनुसार शब्द का निर्माण करनेवाले अक्षरों की क्षणिक ध्वनियों के अतिरिक्त, एक परिपूर्ण शब्दाकृति क्षणिक ध्वनियों से अभिव्यक्त होती है, किन्तु उत्पन्न नहीं होती।

सामान्यतः शब्दों और विशेषतः वेदों के नित्यस्वरूप के विरुद्ध अनेकों आपत्तियों पर विचार किया गया है। (१) सर्वसाधारण का यह अनुभव है कि समग्र मौखिक शब्दोच्चारण मनुष्यों के प्रयत्न द्वारा होता है और इसलिए इसका प्रारम्भ है। अतः इसे नित्य नहीं माना जा सकता। जैमिनि का उत्तर है कि उच्चारण पहले से विद्यमान शब्द को केवल प्रत्यक्ष ज्ञान के योग्य बनाने में सहायक होता है, किन्तु यह इसे पहली बार निर्मित नहीं करता है। (२) यह कहा जाता है कि शब्द कुछ ही समय के लिए अपना अस्तित्व रखता है, क्योंकि उच्चारण होते ही यह नष्ट हो जाता है। जैमिनि का कहना है कि शब्द नष्ट नहीं होता, बल्कि केवल अपनी मूल अव्यक्त दशा में लौट जाता है। इस जगत् में ऐसी अनेक वस्तुएं हैं जो प्रत्यक्ष का विषय न होती हुई भी अपना अस्तित्व रखती हैं। जब लोग शब्दों के 'निर्माण' के विषय में कहते हैं तो, जैमिनि के अनुसार, निर्माण से तात्पर्य उन ध्वनियों से होता है जो शब्द को अभिव्यक्त करती हैं। (३) एक ही शब्द का उच्चारण एक ही समय में भिन्न-भिन्न पुरुषों द्वारा भिन्न-भिन्न स्थानों में किया जाता है। यदि शब्द एक नित्य तथा सर्वव्यापक सत्ता होती, तो यह सम्भव न हो सकता। जैमिनि का उत्तर है कि जिस प्रकार अनेकों पुरुष भिन्न-भिन्न स्थानों में और एक ही समय में एक ही सूर्य का प्रत्यक्ष दर्शन करते हैं उसी प्रकार वे एक ही शब्द का उच्चारण करते हैं। (४) शब्दों में परिवर्तन होते हैं, जो नहीं होने चाहिए थे यदि वे नित्य होते। प्रत्युत्तर में जैमिनि का कहना है कि शब्दों में परिवर्तन नहीं होता,

1. प्रभाकर के अनुसार, जो अन्विताभिधानवाद की प्रकल्पना को स्वीकार करता है, शब्दों के अर्थ केवल उसी अवस्था में जाने जा सकते हैं क्योंकि वे एक वाक्य में आते हैं जो किसी कार्य का आदेश करता हो। इस प्रकार शब्द पदार्थों का केवल इस प्रकार से वाक्य के अन्य अवयवों से सम्बद्ध रूप में ही ज्ञापन करते हैं। यदि वे एक आदेश से सम्बद्ध नहीं हैं, तो वे केवल अर्थों का ही स्मरण कराते हैं, तो यह स्मृति का विषय है, जो प्रामाणिक बोध नहीं है। कुमारिल के अनुयायियों द्वारा अभिमत अभिहितान्वयवाद के अनुसार, अर्थ का ज्ञान शब्दों के कारण होता है। किन्तु यह ज्ञान स्मरण अथवा बोधग्रहण के कारण नहीं है, बल्कि [illegible] के कारण है। शब्द अर्थों को प्रकट करते हैं, जो संयुक्त होने पर एक वाक्य का ज्ञान देते हैं।

किन्तु अन्य शब्द उनका स्थान लेते हैं। (५) शब्द का परिमाण जब इसका उच्चारण एक अथवा अनेक मनुष्य करते हैं तदनुसार घटता तथा बढ़ता है। जो बढ़ता भी है और घटता भी है वह नित्य नहीं हो सकता। जैमिनि बल-पूर्वक कहते है कि शब्द का परिमाण कभी बढ़ता या घटता नहीं है, यद्यपि मनुष्यों से प्रकट हुई ध्वनि बढ़ती या घटती है।[1]

जैमिनि अपने मत के समर्थन मे निश्चयात्मक धारणाए उपस्थित करते है। शब्द सर्वदा विद्यमान रहता है, क्योंकि इसका उच्चारण केवल इसे औरों के प्रति व्यक्त करने के प्रयोजन से ही होता है। अविद्यमान वस्तु के व्यक्त करने के लिए कोई प्रयत्न नहीं होता। फिर, जब 'गाय' शब्द उच्चारण किया जाता है तो सदा ही इसे पहचान लिया जाता है कि यह वही शब्द है। लोग 'गाय' शब्द को तीन या चार बार उच्चारण करने की बात कहते है, वे ऐसे तीन या चार शब्दों को उच्चारण करने की बात नहीं कहते। यह शब्द एकत्व अथवा नित्यस्वरूप का प्रतिपादन करता है। अनित्य वस्तुओं के नाश के कारण पाए जाते है, किन्तु हमें शब्दों के विनाश के ऐसे कारण नहीं मिलते। वायु से उत्पन्न ध्वनि उस शब्द से भिन्न है जिसे व्यक्त करने के लिए इसका उपयोग होता है। इसके अतिरिक्त, हमे अनेकों वैदिक मन्त्र ऐसे मिलते है जो शब्द के नित्य-स्वरूप पर बल देते है।[2]

शब्द वर्गों (जातियों) को प्रकट करते है, विशिष्ट व्यक्तियों को नहीं। जब हम कहते है कि 'एक गाय लाओ' तो हमारा अभिप्राय किसी विशिष्ट गाय से नहीं होता, बल्कि ऐसे किसी भी पशु से होता है जिसमे गाय के समान लक्षण विद्यमान हो। शब्द वर्ग अथवा रूप को प्रकट करता है, क्योंकि इसका उद्देश्य क्रिया है। यदि शब्दों द्वारा व्यक्ति-विशेषों का द्योतन होता, तो 'गाय' के समान एक जातिगत भाव असम्भव हो जाता। फिर, एक शब्द सब व्यक्तियों का द्योतन नहीं कर सकता, क्योंकि उस अवस्था मे इसमे इतनी ही क्षमताए अन्तर्निहित रहनी चाहिए जितने कि व्यक्ति-विशेष है। यह व्यक्तियों के समूह का भी द्योतक नहीं हो सकता, क्योंकि उस अवस्था मे यह परिवर्तित होने लगेगा, क्योंकि समूह में से कुछ व्यक्ति नष्ट हो जाएगे और कुछ उसमे नये आ जाएगे। फिर, यदि शब्द का तात्पर्य एक व्यक्ति से ही हो तो शब्द का अर्थ के साथ नित्य सम्बन्ध नहीं हो सकता और क्रिया असम्भव होगी, क्योंकि यह निश्चय करना कठिन होगा कि किस व्यक्ति-विशेष से तात्पर्य है। यदि द्योतित पदार्थ व्यक्ति-विशेष हो तो क्योंकि वे सर्वत्र उपस्थित नहीं है, इसलिए शब्द और उसके अर्थ मे कोई सम्बन्ध नहीं हो सकता। आकृति नित्य है और इसलिए यह नित्य जगत् के साथ सम्बन्ध रखने योग्य है।[3] शब्द और उनके अर्थ तो नित्य है, किन्तु इस बात की सम्भावना है कि हमे उनके विषय मे भ्रांत धारणाए

१. १ : १, ६–१७। २. १ : १८–२३।

३. आकृतिस्तु क्रियार्थत्वात् (१ : ३, ३३)।

हों, और मानवीय उच्चारण त्रुटिपूर्ण हो सकते है। किन्तु वैदिक शब्दो के विषय मे ऐसी सम्भावना नही है।

मीमासक उस मत का विरोध करते है जो वेदों को ईश्वर की कृति मानता है। उनका मत है कि वेदो का स्वाधिकार से नित्य अस्तित्व है। ईश्वर, जो अशरीरी है, वाग् इन्द्रिय के अभाव मे वेद के शब्दों का उच्चारण नही कर सकता। यदि यह कहा जाए कि वह दिव्य वाणी को प्रकट करने के लिए मानवीय रूप धारण कर लेता है, तो वह भौतिक जीवन के सब प्रतिबन्धो के अधीन हो जाएगा और उसकी वाणी मे कोई प्रामाणिकता न रहेगी। इसके अतिरिक्त, दैवीय अथवा मानवीय रचयिता (वेदो के) होने की कोई परम्परा भी नही है। यहा तक कि जगत् की सृष्टि-सम्बन्धी प्रकल्पना के आधार पर भी वेदो को इन अर्थों मे नित्य माना जा सकता है कि जगत् का स्रष्टा हरएक मन्वन्तर के प्रारम्भ मे स्मृति मे विगत सृष्टि के वेदो को फिर से दोहराता है, और उनकी शिक्षा देता है।[1] विरोधरूप मे कभी-कभी ऐसा कहा जाता है कि वेद मनुष्यों के बनाए हुए है, क्योकि उनके रचयिता ऋषियो के नाम मन्त्रो के प्रारम्भ मे दिए गए है। इसके उत्तर मे कहा जाता है कि ऋषियो ने मन्त्रो का विशेष अध्ययन किया और औरो को उनकी शिक्षा दी। वेदो की रचना नही हुई है, इन अर्थो मे कि उनपर न तो ईश्वर का और न ऋषियो का ही नियन्त्रण है। ऋषि अधिक से अधिक सत्यों का बोध ग्रहण करते है तथा उनका प्रसारण करते है।[2] वेदो की प्रामाणिकता की इस आधार पर आलोचना की जाती है कि उनमे ऐतिहासिक नामो का उल्लेख मिलता है। उत्तर मे यह कहा जाता है कि ऋचाएं प्राकृतिक नित्य घटनाओ का प्रतिपादन करती है। उनमे आए हुए नाम सार्वभौमिक उपयोग के लिए है और उनका कोई ऐतिहासिक सन्दर्भ नही है। विश्वामित्र का अर्थ है विश्वमात्र का मित्र, और इसका किसी ऐतिहासिक पात्र से तात्पर्य नही है।

१. एवं प्रादुर्वेदपूर्वत्व माधयता न किञ्चिद्दुत्तरं भवति, तेन सत्यपि सर्गे, सुप्तप्रबुद्धन्यायेन अनादिरेव वेदव्यवहारः (न्यायरत्नाकर)। नैयायिक मीमासा के मत का विरोध करते है। (१) वेद का कोई शरीरधारी रचयिता होने की परम्परा में सम्भव है विश्व के विध्वंस या प्रलयकाल में व्याघात आ गया हो। (२) यह सिद्ध करना असम्भव होगा कि किसीको भी कभी भी स्मरण रचयिता का स्मरण नहीं रहा। (३) वेदों के वाक्यों का रूप वैसा ही है जैसाकि अन्य वाक्यों का होता है। (४) गुरु से शिष्य को पहुंचने की वेद की जो वर्तमान परिपाटी है उसके आधार पर किया गया यह अनुमान कि यह परिपाटी अवश्य ही अनादिकाल से चली आई है, टिक नहीं सकता, क्योंकि यह भी तो इसी तरह अन्य किसी पुस्तक के सम्बन्ध में भी लागू हो सकती है। (५) वस्तुतः वेद एक शरीरधारी रचयिता का बनाया हुआ समझा जाता है। (६) शब्द नित्य नहीं है, और जब हम अक्षरों को पहचानते है कि ये वही हैं जो पहले सुने थे तो यह न तो तादात्म्य को और न नित्यत्व को ही सिद्ध करता है, बल्कि केवल यही सिद्ध करता है कि ये उसी वर्ग के हैं जिस वर्ग के शब्द हमने पहले सुने थे। देखिए सर्वदर्शनसंग्रह, १२।

२. देखिए मीमासासूत्र, १ : १, २४-३१। वेदों के अपौरुषेयत्व के विषय में पूर्वमीमासा तथा वेदान्त के विचार लगभग एकसमान हैं। तुलना कीजिए भामती : "पुरुषास्वातन्त्र्यमात्रमपौरुषेयत्वं रोचयन्ते जैमिनीया अपि तच्चास्माकमपि समानम्"' (१ : १, ३)।

७

उपमान प्रमाण

सादृश्य सम्बन्धी निर्णय उपमान प्रमाण के द्वारा होते है। जब हम किसी पदार्थ को देखते है और उसे देखकर अन्य पदार्थ का स्मरण करते है, तो इस देखे गए पदार्थ के साथ स्मृत पदार्थ के सादृश्य का जो ज्ञान हमे होता है वह उपमान प्रमाण के साधन से हुआ कहलाता है। वह गाय जिसे मैंने शहर मे देखा था इस गाय के समान है जिसे मैं अब देखता हू।[1] उपमान द्वारा प्राप्त ज्ञान उस ज्ञान से भिन्न है जो प्रत्यक्ष द्वारा प्राप्त होता है, क्योंकि हम स्मृति द्वारा किसी ऐसी वस्तु का बोध ग्रहण करते हैं जो इन्द्रियो के सम्पर्क मे नही है क्योंकि जिस समय गवय दिखाई दिया उस समय गाय नही देखी गई। यह अनुमान से भिन्न है, क्योंकि अनुमान के लिए आवश्यक अवयवो मे से एक अवयव भी यहा उपस्थित नही है।

८

अर्थापत्ति

जहा किसी पदार्थ के प्रत्यक्ष की व्याख्या करने के लिए एक अन्य वस्तु की कल्पना आवश्यक हो तो वह 'अर्थापत्ति' का विषय है। यह अनुमान से भिन्न है, क्योंकि इस विषय मे दृष्टिगत तथ्यो के अन्दर सशय का एक अश प्रविष्ट होता है, जिसका निराकरण अन्य वस्तु की कल्पना के बिना नही हो सकता। जब तक कल्पना नही की जाती, देखे गए तथ्य असगत अथवा सदिग्ध बने रहते है। अनुमान मे लेशमात्र सशय के लिए भी स्थान नही है। जहा प्रभाकर का यह मत है, वहा कुमारिल का कहना है कि जो दो तथ्य प्रकटरूप मे असगत प्रतीत होते है उनके समन्वय मे अर्थापत्ति से सहायता मिलती है। अनुमान मे, सुनिश्चित तथ्यो के बीच इस प्रकार की कोई असगति नही होती। कुमारिल का विचार अधिक निर्दोष है, क्योंकि देखे गए तथ्य के विषय मे यदि कोई सशय है तो वह अर्थापत्तिपरक तर्क की प्रामाणिकता को सदिग्ध बना देगा। जब तक हमे यह निश्चय न हो कि अमुक पुरुष जीवित है और घर पर नही है, तब तक हम यह कल्पना नही कर सकते कि वह कही और है।

९

अनुपलब्धि

वृत्तिकार का अनुसरण करते हुए, कुमारिल अनुपलब्धि को ज्ञान का एक स्वतन्त्र साधन स्वीकार करता है।[2] सादृश्य का अभाव ही असादृश्य है और अनुपलब्धि का सिद्धान्त

१. शास्त्रदीपिका, पृष्ठ २०८। २. १ : १, ५ पर शबर को देखिए।

इसका समाधान कर देता है। हम जब कहते है, "इस स्थान पर घड़ा नही है", तो हम घड़े के अभाव का बोध ग्रहण करते है। अभाव का ज्ञान प्रत्यक्ष द्वारा नही हो सकता, क्योंकि उसमे एक उपस्थित पदार्थ के साथ इन्द्रिय-सम्पर्क होना आवश्यक है, जो इस विषय मे सम्भव नही है।[1] अन्य प्रमाणो द्वारा भी अभाव का ज्ञान नही हो सकता। अनुपलब्धि ऐसे पदार्थ के सम्बन्ध मे जिसका निषेध बताया गया है, ज्ञान का एक साधन (मानम्) है। हम खाली जगह का प्रत्यक्ष करते है और घड़े के अभाव के विषय मे विचार करते हैं। हम कह सकते है कि घड़े के अभाव का भी प्रत्यक्ष उसी प्रकार हुआ जिस प्रकार कि खाली जगह का हुआ, तो भी, क्योंकि प्रत्यक्ष मे किसी वास्तविक पदार्थ का इन्द्रियों के साथ सम्पर्क निहित है, हम अनुपलब्धि की क्रिया को और प्रत्यक्ष ज्ञान को एकसमान नही मान सकते। हम खाली जगह को प्रत्यक्ष देखते है, उस घड़े का स्मरण करते है जो अनुपस्थित है, और तब हमे घड़े के अभाव का ज्ञान होता है जिसका प्रत्यक्ष की क्रिया से कोई सम्बन्ध नही है। अभाव का ज्ञान अनुपलब्धि के द्वारा होता है।[2] अभाव को ज्ञान का एक विध्यात्मक विषय कहा गया है।[3] जिसे हम खालीपन कहते है, वह ऐसा स्थान है जिसे किसी पदार्थ ने घेर नही रखा है।[4]

प्रभाकर अनुपलब्धि को ज्ञान का स्वतन्त्र साधन स्वीकार नहीं करता। किसी ऐसी वस्तु के अभाव का बोध जो यदि उपस्थित होती तो प्रत्यक्ष का विषय होती। उसके अप्रत्यक्ष से (न दिखाई देने से) अनुमान किया जाता है। जब हम केवल जगह को देखते है और वहा पर घड़े को नही देखते, तो हम कहते है कि घड़ा नहीं है। अधिष्ठान का बोध अपने-आपमे (तन्मात्रधि) अनुपलब्धि का समाधान करता है।[5] कुमारिल इस विचार से असहमत है। हम केवल रिक्त स्थान को ही नही बल्कि उस स्थान को पुस्तको तथा कागज से भरपूर भी देख सकते है, और वह भी हमे घड़े के अभाव का ज्ञान देगा। यदि हम कहे कि हम घटरूप उपाधि से रहित स्थान का ज्ञान प्राप्त करते है, तो हम निषेधात्मक ज्ञान को स्वीकार कर लेते है। केवल भूमि के प्रत्यक्ष ज्ञान से घड़े के अभाव का ज्ञान उत्पन्न नहीं हो सकता, क्योंकि जहा घड़ा है वहा भी भूमि का प्रत्यक्ष तो होता ही है। इसलिए भूमि का प्रत्यक्ष ज्ञान अवश्य ही निषेधात्मक उपाधि से युक्त होना चाहिए, और इसका तात्पर्य यह है कि हमारे समक्ष पहले से निषेध का भाव उपस्थित है।

१. श्लोकवार्तिक, अभावपरिच्छेद।
२. शास्त्रदीपिका, पृष्ठ २३४ से आगे।
३. श्लोकवार्तिक, निरालम्बनवाद, ८०।
४. वस्त्वन्तरैरसंसृष्टः पदार्थः शून्यताधियः (११२)।
५. प्रभाकर के इस मत की आलोचना न्यायरत्नाकरव्याख्या, ४ : ४१, में की गई है।

१०

प्रभाकर की ज्ञान विषयक प्रकल्पना

प्रभाकर त्रिपुटीसंवित् का पक्षपोषक है, जिसके अनुसार ज्ञान के प्रत्येक कर्म में ज्ञाता ज्ञेय तथा ज्ञान तीनों एक ही समय में प्रस्तुत रहते हैं। ज्ञान अपने को तथा ज्ञाता और ज्ञेय को भी प्रकट करता है। 'मैं इसे जानता हूँ' (अहम् इदं जानामि) इस चैतन्य में हमारे पास तीन प्रस्तुत पदार्थ हैं, 'मैं' अथवा विषयी (अहंवित्ति), इसे अथवा विषय (विषयवित्ति), और चेतन अभिज्ञता (स्वसंवित्ति)।[1] समस्त चैतन्य एक ही समय में आत्मचैतन्य भी है और विषयचैतन्य भी। सब बोधों में, चाहे वे आनुमानिक हों या शाब्दिक, आत्मा मन के कर्तृत्व तथा सम्पर्क से साक्षात् जानी जाती है। बोध-सम्बन्धी प्रत्येक क्रिया में आत्मा का तो सदा सीधा और तात्कालिक बोध होता है, किन्तु अनात्म अर्थात् विषय (पदार्थ) का सदा सीधा और तात्कालिक बोध नहीं होता। स्मृति और अनुमान में विषय (पदार्थ) सीधा चैतन्य के समक्ष प्रस्तुत नहीं किया जाता। यद्यपि परोक्ष ज्ञान में पदार्थ सीधा चैतन्य के समक्ष प्रस्तुत नहीं किया जाता, तो भी परोक्ष ज्ञान स्वयं सीधा चैतन्य के समक्ष प्रस्तुत किया जाता है।[3] बोध भी सीधा ज्ञान के द्वारा आत्मज्ञात है। बोध का जो प्रकाश-स्वरूप है, अन्य किसी वस्तु की आवश्यकता व्यक्त होने के लिए नहीं होती। इसलिए बोध को स्वतोज्ञात कहा जाता है। बोध प्राप्त करनेवाली आत्मा तथा ज्ञात पदार्थ प्रकाशस्वरूप नहीं हैं, और इसलिए उन्हें अपनी अभिव्यक्ति के लिए अपने से अतिरिक्त किसी ऐसी वस्तु की आवश्यकता रहती है जो प्रकाशस्वरूप हो। बोध स्वतःप्रकाशित हैं और उनका प्रत्यक्ष पदार्थों की भाँति नहीं होता।[4] उनका बोध अन्य बोधों से नहीं होता। वे कभी भी विषय (प्रमेय) नहीं हैं, और इसलिए सुख दुःख की भाँति उनका बोध नहीं होता। उनका बोध सीधा

१. फ्रेंच पाश्चात्य विचारक फुइली भी इसी मत का है। इस मत के अनुसार, ज्ञान की क्रिया को इस प्रकार के सूत्र में अभिव्यक्त किया जा सकता है, "मैं जानता हूँ।" चैतन्य की क्रिया को इस प्रकार के सूत्र में व्यक्त किया जा सकता है, "मैं जानता हूँ कि मैं जानता हूँ"। परन्तु जिस प्रकार हमारे लिए जानना असम्भव है बिना साथ-साथ यह जाने कि हम जानते हैं, उसी प्रकार बिना हमारे वस्तु को जाने यह जानना भी असम्भव है कि हम जानते हैं। [illegible] से भी तुलना कीजिए "मैं जानना चाहता हूँ, इसके लिए यह आवश्यक है कि मैं अपने चैतन्य में प्रविष्ट होऊँ, कि मैं यह जानूँ कि मैं जानता हूँ।" परिणाम यह निकलता है कि चैतन्य की क्रिया अपनी और विचार करनेवाले विषयी की यथार्थता को सिद्ध करती है" ([illegible], पृष्ठ ५)।

२. क्योंकि गहरी निद्रा में हमें पदार्थों का कुछ ज्ञान नहीं होता, इसलिए हमें आत्मा का ज्ञान नहीं होता, यद्यपि वह विद्यमान रहती है। यदि गहरी निद्रा में आत्मा विद्यमान न रहती, तो हम निद्रा से जागने पर अपने आपको भी न पहचान सकते (प्रकरणपञ्चिका, पृष्ठ ५८)।

३. वही, पृष्ठ ५६।

४. तुलना कीजिए इसके साथ अलेक्जेंडर द्वारा किए गए भोग तथा विचार के भेद की (स्पेस, टाइम एण्ड डेयटी, खण्ड १, पृष्ठ १२-१३)।

के रूप मे होता है, विषयो के रूप मे नही ।[1] यदि बोधो का बोध प्रमेय पदार्थों के रूप मे हो, तो हरएक बोध को अपने बोध के लिए अन्य बोध की आवश्यकता होगी, और इस सिलसिले का कही भी अन्त न होगा । प्रभाकर अनुभव करता है कि उसकी प्रकल्पना प्रकटरूप मे शबर के इस कथन से सगत नही है कि ज्ञान ग्रहण करने मे हम पदार्थों का प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त करते है, बोधो का नही, और इसलिए वह तर्क उपस्थित करता है कि यद्यपि बोध स्वत प्रकाशित है, तो भी उनकी उपस्थिति अनुमान से जानी जाती है । अनुमान इस तथ्य से कि हमे पदार्थ का बोध हुआ, हम बतलाता है कि बोध का अस्तित्व है। यह बोध एक प्रमेय है अर्थात् सत्यज्ञान का विषय है, किन्तु यह सवेद्य अर्थात् अपनी पूर्णता मे जाना गया पदार्थ नही है । प्रभाकर के अनुसार, सवेद्य की अवस्था हमारे सामने केवल तभी होती है जबकि पदार्थ का रूप अभिव्यक्त हो, और यह इन्द्रियो द्वारा प्रत्यक्ष जाने गए पदार्थों के विषय मे ही सम्भव है । क्योंकि बोधो का कोई रूप नही है, इसलिए उनका प्रत्यक्ष नही हो सकता । उनकी उपस्थिति केवल अनुमान द्वारा जानी जाती है । अनुमान पदार्थ के रूप का अथवा वस्तुतत्त्व का ज्ञान नही कराता, बल्कि केवल इसके अस्तित्व का ज्ञान कराता है ।[2] प्रभाकर और कुमारिल दोनो स्वीकार करते है कि बोध, जो आत्मा के परिणाम है, अनुमान के विषय है ।

ज्ञान की प्रामाणिकता का निर्णय किसी बाह्य वस्तु द्वारा नही होता । बाह्य पदार्थों की पुनरावृत्ति का प्रश्न नही है । बोध की प्रामाणिकता उस बल से लक्षित होती है जिसमे समस्त प्रत्यक्ष ज्ञान हमे बाह्य जगत् मे क्रिया करने की प्रेरणा करता है । समस्त ज्ञान हमारे अन्दर इस विशिष्ट प्रवृत्ति को उत्पन्न करता है और किसी परवर्ती अनुभव की मध्यस्थता की प्रतीक्षा नही करता । एक बोध जो एक पदार्थ का ज्ञानग्रहण करता है अप्रामाणिक नही हो सकता । यदि बोध अपने मे प्रामाणिक न होते तो हम अपने बोधो मे विश्वास न कर सकते । प्रामाणिकता का भाव मौलिक है और प्राप्त किया हुआ नही है । जबकि ज्ञान स्वत प्रकाशित है, यह प्रामाणिकता ज्ञान के साधनो से प्राप्त की हुई है । ज्ञान की अवस्थाए भी उसकी प्रामाणिकता-सम्बन्धी चेतना को उत्पन्न करती है ।

प्रभाकर ज्ञान को प्रामाणिक तथा अप्रामाणिक रूप मे विभक्त करता है । अनुभूति अथवा साक्षात् ज्ञान प्रामाणिक है, और स्मृति अप्रामाणिक है । "प्रामाणिक बोध अथवा ज्ञान स्मरण से भिन्न है, क्योंकि स्मरण को पूर्वज्ञान की आवश्यकता होती है ।"[4]

१. संवित्तयैव हि संवित् संवेद्या न संवेद्यतया ।

२. नाप्यनुमानाद् रूपग्रहणं सत्तामात्रग्राह्यनुमानं भवति ।

३. गंगेश अपने तत्त्वचिन्तामणि नामक ग्रन्थ मे इस मत की आलोचना इस आधार पर करता है कि यदि ज्ञान की प्रामाणिकता ज्ञान की सामान्य अवस्थाओ से उत्पन्न होती, तो अप्रामाणिक ज्ञान में भी प्रामाणिक ज्ञान रहता, क्योंकि दोनों की वही अवस्थाएं है । फिर यदि ज्ञान स्वयं प्रकट होता तो संदिग्ध बोध की व्याख्या करना कठिन होता ।

४. प्रमाणम् अनुभूतिः सा स्मृतेरन्या न प्रमाणं स्मृतिः पूर्वप्रतिपत्तिव्यपेक्षणात् । (प्रकरणपंचिका, पृष्ठ ४२; झा : प्रभाकरमीमांसा, २) ।

पूर्वज्ञान पर निर्भरता ही स्मृति की अप्रामाणिकता का कारण है। ऐसे बोध जो विषय से परोक्षरूप से सम्बन्ध रखते हैं, अप्रामाणिक हैं। प्रभाकर और कुमारिल दोनों ने ही विषय के पूर्वज्ञान के अभाव को प्रामाणिक ज्ञान की कसौटी माना है, यद्यपि कुमारिल असंगतियों के अभाव पर भी बल देता है। समस्त ज्ञान प्रामाणिक है और हमें कर्म करने की प्रेरणा करता है।

जिसे विपर्यय कहा जाता है वह मिथ्याज्ञान नहीं है। यदि समस्त बोध स्वप्रकाश है और इसलिए यथार्थ है, तो 'यह चांदी है' इस निर्णय में जो चेतना अभिव्यक्त होती है वह भी भ्रांत नहीं हो सकती। जब हम सीप को भूल से चांदी समझ लेते हैं तो यह भूल उसके अन्तर्गत दो भिन्न-भिन्न तत्त्वों में—अर्थात् चांदी के विचार और 'यह' के संस्कार में—भेद न करने के कारण है। हम प्रत्यक्ष देखे गए तथा स्मरण किए गए तत्त्वों को एक मनोविकृति में मिश्रित कर देते हैं। बोध का विषय वह वस्तु है जो चैतन्य के समक्ष प्रस्तुत की जाती है। 'यह चांदी है' इसमें चैतन्य को जो प्रस्तुत किया गया है वह 'चांदी' है, 'सीप' नहीं है। हम सीप का बोध चांदी के रूप में नहीं करते क्योंकि सीप कभी भी चैतन्य के अन्दर प्रविष्ट नहीं हुआ। जिस विचार का स्मरण किया जाता है वह तथ्य के अनुकूल नहीं होता, क्योंकि 'यह चांदी है' इस प्रकार के निर्णय का, जब ज्ञाता सीप के टुकड़े को उठाता है तो 'यह तो केवल एक सीप का टुकड़ा है,' इस निर्णय द्वारा निराकरण हो जाता है। यह भूल प्रस्तुत तथा स्मृत तत्त्वों में भेद न कर सकने, अर्थात् अख्याति, के कारण है। प्रत्यक्ष देखा गया तत्त्व 'यह' और स्मरण किया गया तत्त्व 'चांदी' सत्य है, केवल मात्र दोनों में जो भेद है उसकी 'अख्याति' है। यह अख्याति ज्ञानेन्द्रियों के कुछ दोषों के कारण है और सीप तथा चांदी के सादृश्य के संकेत के कारण है, जो पूर्वज्ञात चांदी के मानसिक संस्कार को जगा देता है। प्रस्तुत तथा स्मृत तत्त्वों के भेद की यह अनभिज्ञता हमें क्रिया के प्रति अग्रसर करती है। वास्तविक अनुभव में चांदी के प्रामाणिक तथा अप्रामाणिक बोध में कोई भेद नहीं है, क्योंकि कर्ता में दोनों ही उसी एक प्रकार की कार्यशीलता को जन्म देते हैं।[1]

> अन्य सम्प्रदायों ने इस प्रकल्पना की आलोचना की है। "प्रत्यक्षीकृत तथा स्मृत बोध दोनों चैतन्य में प्रकट होते हैं या नहीं? यदि नहीं प्रकट होते तो वे विद्यमान नहीं हैं और यदि प्रकट होते हैं तो दोनों के भेद का प्रत्यक्ष न होना असम्भव है।" यह प्रकल्पना इस तथ्य की व्याख्या करने में असमर्थ है कि जब तक भूल विद्यमान रहती है, तब तक चैतन्य के समक्ष वास्तविक प्रस्तुति होती है, केवल स्मृतिरूप आकृति नहीं होती। स्मृतिप्रमोष का कारण बताना कठिन

१. जब हम निर्णय में कहते हैं कि "सीप पीतवर्ण है" तो इसमें भ्रान्ति का कोई अंश समाविष्ट नहीं है। यदि हम सीप के अन्दर पीलेपन को देखते हैं, भले ही यह आंख के दोष से ही क्यों न हो, तो यह निर्णय प्रामाणिक है, जब तक कि आगे के बोध से इसका प्रत्याख्यान नहीं होता।

२. देखिए पण्डित-न्यायसूत्र, खण्ड १७, पृष्ठ १०६।

है, जो साक्षात् प्रस्तुति की भ्रांति को जन्म देता है।[1] गणेश का तर्क है कि भेद की अचेतनता उस क्रियाशीलता का कारण नहीं हो सकती जिसकी ओर मनुष्य प्रेरित होता है। प्रस्तुत तत्त्व, अर्थात् सीप का ज्ञान, जिसकी प्राप्ति के लिए मनुष्य की इच्छा नहीं है, विरुद्ध प्रतिक्रिया की ओर ले जाएगा और स्मृत चांदी का ज्ञान क्रियाशीलता की ओर ले जाएगा, तथा दोनों के मध्य भेदविषयक अचेतनता का परिणाम निश्चेष्टता होगा। यह समझना कठिन है कि किस प्रकार अचेतनता किसीको क्रियाशीलता के लिए प्रेरित कर सकती है।[2]

प्रभाकर का यह मत कि प्रत्येक ज्ञान की क्रिया में विषय, विषयी और विषय का ज्ञान व्यक्त होते हैं, मनोविज्ञान के साक्ष्य के अनुकूल नहीं है। जब हम किसी विषय (पदार्थ) को जानते हैं तो इसकी कोई आवश्यकता नहीं है कि साथ-साथ ज्ञान की विषयवस्तु में मेरा भी उल्लेख रहे। यदि व्यक्ति दूषित मनोवृत्ति का नहीं है तो सम्भावना यही है कि इसमें अहं का कोई उल्लेख सम्मिलित न होगा। प्रभाकर भूल से परवर्ती विचार के साक्ष्य को ही प्रत्यक्ष का साक्ष्य मान लेता है। जब कोई व्यक्ति अपने पदार्थ-विषयक ज्ञान के विषय में विचार करता है तो उसके विचार में विषय और विषयी दोनों उपस्थित हैं। हम किसी वस्तु के विषय में ज्ञात वस्तु के रूप में तब तक विचार नहीं कर सकते जब तक कि उसके साथ ज्ञाता का भी सम्बन्ध न रहे। परन्तु कोई कारण नहीं है कि क्यों कोई व्यक्ति वस्तु के विषय में उसके ज्ञात वस्तु के रूप में विचार किए बिना विचार न करे। चिन्तन की क्रिया जो विचार में पदार्थों के केवल निरीक्षण से एक उच्चतर स्थिति को प्रस्तुत करती है, हमें ज्ञान के उपलक्षणों के विषय में बताती है। प्रभाकर का विश्वास है कि हम बिना यह जाने कि हम जानते हैं, नहीं जान सकते।[3] प्रतीत होता है कि वह "मैं जानता हूं" और "मैं जानता हूं कि मैं जानता हूं" इनमें जो भेद है उसे स्वीकार नहीं करता। फिर यदि बोध स्वतःप्रकाश हो तो पदार्थ बोध की अभिव्यक्तियों के रूप में प्रकट होंगे, यथार्थ पदार्थों के रूप में नहीं, और इस प्रकार हम विषयीविज्ञानवाद में आ पड़ते हैं।[4] विषयीविज्ञानवाद से बचने के लिए प्रभाकर यह मत प्रकट करता है कि स्वतःप्रकाशित बोध भी अनुमान से जाने जाते हैं। शबर के इस कथन पर कि बोधों का नहीं अपितु पदार्थों का प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त किया जाता है, टिप्पणी करते हुए वह कहता है कि इससे परिणाम यह निकलता है कि बोधों का ज्ञान केवल अनुमान से होता है।[5] किन्तु यह बोधों के स्वतःप्रकाशत्व का विरोध करता है। शालिकनाथ का सुझाव है कि अनुमान से जो बोध होता है वह मन का आत्मा के साथ सम्पर्क है, जो चैतन्य को उत्पन्न करता है।[6] यदि यही सब कुछ है,

१. विवरणप्रमेयसंग्रह, १ : १।
२. तत्त्वचिन्तामणि।
३. इटली के विचारक बोनाटेली की भी सम्मति यह है कि किसी तथ्य के ज्ञान के अन्दर तथ्य का ज्ञान और ज्ञान का तथ्य एकसाथ रहते हैं।
४. श्लोकवार्तिक, शून्यवाद, २३३।
५. अतःसिद्धमानुमानिकत्वं बुद्धेः।
६. प्रकरणपंचिका, पृष्ठ ६३।

जिसका अनुमान किया जाता है, तो यह कहना अनुचित है कि बोधों का अनुमान किया जाता है। जब तक यह कहा जाएगा कि बोध स्वत प्रकाशित है, विपयीविज्ञानवाद का तब तक भय बना ही रहेगा। प्रभाकर हमें यह नही बताता कि ज्ञान का स्वरूप क्या है, केवल यही कहता है कि स्वत प्रकाश इसका लक्षण है। वह ज्ञान की परमसत्ता पर बल देता है, और आनुषंगिक रूप मे यह प्रतिपादन करता है कि स्वय ज्ञान के अन्दर विपयी तथा विषय का अर्थ किस प्रकार आ जाता है। यदि उसने इस प्रकल्पना के उपलक्षणों का परिष्कार किया होता तो वह अपनी द्वैतपरक पूर्वकल्पनाओं को त्याग देने की ओर बढ सकता था।

११

कुमारिल की ज्ञानविषयक प्रकल्पना

ज्ञान एक गति है जो आत्मा की क्रियाशीलता से उत्पन्न होती है और जो वैषयिक वस्तुओं के चैतन्य की उत्पत्ति मे परिणत होती है। किसी पदार्थ का बोध आगे उक्त बोध के बोध मे परिणत न होकर पदार्थ की प्रकटता मे परिणत होता है।[1] किसी भी ज्ञान की क्रिया मे चार अवयव होते है (१) ज्ञाता, (२) ज्ञेय; (३) ज्ञान का साधन (ज्ञानकरण); और (४) ज्ञान का परिणाम (ज्ञातता)। कुमारिल के अनुसार, बोध का सीधा प्रत्यक्ष नही होता, बल्कि वह बोध से उत्पन्न प्रकटता (ज्ञातता) से अनुमान किया जाता है।[2] बोध की प्रत्यक्ष क्रिया मे द्रष्टा तथा दृष्ट वस्तु के मध्य एक सम्बन्ध उपलक्षित रहता है, जिसमे द्रष्टा की क्रियाशीलता सम्मिलित रहती है। यह सम्बन्ध हमे कर्ता की क्रिया का अनुमान करने योग्य बनाता है, जो ज्ञान के विषय मे बोध है। ज्ञाता तथा ज्ञेय के सम्बन्ध से बोध का अनुमान होता है, जिसका ज्ञान मानस-प्रत्यक्ष से होता है। यदि यह दूसरा अवयव, जो ज्ञाता और ज्ञेय की मध्यस्थता करता है, न होता तो पदार्थ के साथ आत्मा का सम्बन्ध न हो सकता। ज्ञान के अन्तर्निहित विपयी तथा विषय के विशिष्ट सम्बन्ध से बोध के अस्तित्व का अनुमान किया जाता है। चैतन्य को यहां एक प्रकार की तृतीय वस्तु माना गया है, जो आत्मा और अनात्म का सम्बन्ध जोड़ती है। जिनके मत मे समस्त बोध स्वप्रकाश है वे भी यह स्वीकार करते है कि ज्ञान के अन्तर्गत जो आत्मा और अनात्म का सम्बन्ध है, वह मानस-प्रत्यक्ष का विषय है। "घडा मेरे द्वारा जाना गया", हम ऐसा नही कह सकते, जब तक कि हम ज्ञान प्राप्त करनेवाले आत्मा तथा ज्ञात पदार्थ के सम्बन्ध का और बोध तथा बोध के विषय के पारस्परिक

१. तुलना कीजिए प्रोफेसर विनायक रामास्वामी के साथ, जो कहता है कि यद्यपि बोध की प्रत्येक क्रिया हमें पदार्थ का ज्ञान कराती है, जिसके अन्दर उसका अन्त हो जाता है, पर कोई भी क्रिया हमें अपना ज्ञान नहीं कराती। देखिए फिलासोफिकल रिव्यू, जुलाई १९२२, पृष्ठ ४०७।

२. ज्ञाततानुमेय ज्ञानम्। और देखिए, १ : १, ५ पर शबर।

सम्बन्ध को न जाने ।[1] यदि बोध अथवा चैतन्य स्वतःप्रकाश है, और यदि पदार्थ (विषय) चैतन्य से व्यक्त होता है, तो चैतन्य और पदार्थ (विषय) के मध्य जो सम्बन्ध है वह किसके द्वारा व्यक्त होता है ? दोनों के बीच का सम्बन्ध उसी बोध द्वारा अभिव्यक्त नहीं हो सकता, क्योंकि यह बोध के उत्पन्न होने के साथ ही साथ अस्तित्व में नहीं आया । जब बोध उत्पन्न होता है तो यह अपने पदार्थ (विषय) को अभिव्यक्त करता है, और इसलिए दोनों का सम्बन्ध उस बोध का विषय नहीं हो सकता । क्योंकि बोध क्षणिक होता है, इसलिए हम नहीं कह सकते कि यह पहले पदार्थ को व्यक्त करता है और तब पदार्थ के साथ अपने सम्बन्ध को । न यही कहा जा सकता है कि बोध और पदार्थ का सम्बन्ध स्वतःप्रकाश है, क्योंकि इसका कोई प्रमाण नहीं है । इस प्रकार कुमारिल के अनुयायी विरोध में कहते हैं कि आत्मा और पदार्थ के बीच का सम्बन्ध आभ्यन्तर (मानसिक) प्रत्यक्ष का विषय है, जो बोध के अस्तित्व को सिद्ध करता है ।[2]

बोध का अस्तित्व बोध के द्वारा अपने विषय के अन्दर उत्पन्न किए गए 'अतिशय' द्वारा सिद्ध किया जा सकता है ।[3] इस अतिशय को उन्हें भी स्वीकार करना होता है जो ऐसा मत रखते हैं कि ज्ञाता, ज्ञात पदार्थ और बोध इन तीनों की अभिव्यक्ति चैतन्य द्वारा होती है (त्रितयप्रतिभासवादिभिः) । कुमारिल, इसलिए कि वह बाह्य पदार्थों की स्वतन्त्र सत्ता की रक्षा कर सके, बोध की स्वतःप्रकाशता का निषेध करता है । न्याय-वैशेषिक के अनुयायी उस मत का विरोध करते हैं जिसके अनुसार यह कहा जाता है कि हम बोध के द्वारा अपने विषय के अन्दर उत्पन्न किए गए अतिशय से बोध का अनुमान करते हैं । बोध को ऐसा न मानना चाहिए कि वह जिसका बोध कराता है उसे परिवर्तित कर देता है । ज्ञात होना पदार्थ का कोई गुण नहीं है, बल्कि एक प्रकार का स्वरूप-सम्बन्ध है जो विषय और बोध के मध्य रहता है ।[4]

१. अन्यथा ज्ञातो मया घट इति ज्ञानज्ञेयसम्बन्धो ज्ञातृज्ञेयसम्बन्धो वा न व्यवहर्तुं शक्यते । शास्त्रदीपिका, पृष्ठ १५८ ।

२. शास्त्रदीपिका, पृष्ठ १५८–५९ ।

३. अर्थगतो वा ज्ञानजन्योऽतिशयः कल्पयति ज्ञानम् (शास्त्रदीपिका, पृष्ठ १५९) ।

४. बोध का विषय होने के लक्षण के अतिरिक्त ज्ञातता और कुछ नहीं है । विषयज्ञानवाद की परिभाषा करना कठिन है । यदि इसका अर्थ यह है कि विषय में बोध उत्पन्न होता है, तो ज्ञानेन्द्रियों तथा अन्य अवस्थाओं को भी, जो बोध को उत्पन्न करती हैं, विषय मानना होगा । फिर, यह सम्भव नहीं है कि किसी विषय में उस समय कोई धर्म (गुण) उत्पन्न हो सके जबकि विषय विद्यमान नहीं है । ज्ञातता विषयों का एक धर्म है, यद्यपि इसे भूत और भविष्य के विषयों में उत्पन्न नहीं किया जा सकता, जिनका कि बोध होता है । इस प्रकार का तर्क कि विषय ज्ञाततारूपी नये धर्म को बोध उत्पन्न होने के बाद ग्रहण कर लेता है, जैसे कि पाकक्रिया चावल के अन्दर पक्वता का गुण उत्पन्न कर देती है, ठीक नहीं सकता, क्योंकि हम पक्वता को चावल के अन्दर, जो तण्डुल (कच्चे चावल) से ओदन (पके हुए चावल) के रूप में परिवर्तित हुआ है, स्पष्ट देखते हैं, किन्तु विषय के अन्दर हम ज्ञाततारूपी धर्म को प्रत्यक्ष नहीं देखते । इसके अतिरिक्त जब किसी विषय का बोध होता है तो कहा जाता है कि उसके अन्दर एक विशिष्ट धर्म, जिसे ज्ञातता कहते हैं, उत्पन्न होता है; और इस प्रकार जब इस ज्ञातता का बोध हो गया तो उसके अन्दर एक और ज्ञातता उत्पन्न होगी, और इस प्रकार इस क्रम का कहीं अन्त न होगा । यदि अनन्त पश्चाद्गति से बचने के लिए ज्ञातता को स्वतःप्रकाश मान लें, तो क्यों न हम बोध

कुमारिल के अनुयायी तर्क करते हैं कि यदि बोध को प्रत्यक्ष-योग्य माना जाए तो इसे भी एक विषय (पदार्थ) मानना होगा, जिसे जानने के लिए एक अन्य बोध की आवश्यकता होगी, और इस प्रकार इस क्रम का कहीं अन्त न होगा। इसलिए वे बोधों को प्रत्यक्ष के अयोग्य मानते हैं, यद्यपि वे बोध के विषयों को व्यक्त करने में समर्थ हैं।[1]

ही को स्वत:प्रकाश मान लें। यह युक्ति दी जा सकती है कि विषय का अस्तित्व भूत, वर्तमान और भविष्यत् तक रहता है किन्तु इसके अस्तित्व का वर्तमान में सम्बन्धरूप में बोध होता है। ज्ञातता विषय की वह अवस्था है जो वर्तमान से निर्णीत होती है, और इस चिह्न को धारण करने से ही हम बोध का अनुमान करते हैं। किन्तु ऐसा नहीं है, क्योंकि वर्तमान में निर्णीत होने का सम्बन्ध विषय से है और वह बोध से उत्पन्न नहीं हुआ है, बल्कि केवल जाना गया है। यदि यह तर्क दिया जाए कि बोध का अनुमान विषयों के बोध से होता है (विषयसंवेदनानुमेयं ज्ञानम्), तो हम पूछ सकते हैं कि बोध समवाय-सम्बन्ध से आत्मा में रहता है अथवा विषय में। विषय में यह नहीं रह सकता, क्योंकि वह अचेतन है। यदि यह आत्मा में है तो वह कौनसा बोध है जिसका अनुमान विषयों के बोध से होता है? यदि यह कहा जाए कि विषयों के बोध से जिसका अनुमान होता है वह ज्ञाता की क्रिया (ज्ञानव्यापार) के रूप में उसका कारण है, तो हम पूछ सकते हैं कि यह कारण नित्य है अथवा अनित्य। यदि अनित्य है तो उसका कारण क्या है? यदि यह मन के आत्मा के साथ सम्पर्क के कारण है, जो ज्ञानेन्द्रिय के विषय के साथ सम्पर्क से सहायक होता है, तो क्यों न इन सबको बोध का कारण मान लिया जाए। आत्मा की क्रियाशीलता के रूप में एक मध्यस्थ कारण की कल्पना करने की कोई आवश्यकता नहीं है। यदि यह माना जाए कि यह क्रिया नित्य है, और बोधों का कभी-कभी प्रकट होना सहायक कारणों की वजह से है, तो क्योंकि ये बोध को उत्पन्न करने के लिए पर्याप्त हैं इसलिए आत्मा की क्रिया की कल्पना करना अनावश्यक है (श्रीधर, न्यायकन्दली, पृष्ठ ९६–९८)। प्रभाचन्द्र पूछता है कि यह ज्ञातता पदार्थ का धर्म है अथवा ज्ञान (बोध) का धर्म है। यह पदार्थधर्म नहीं हो सकती, क्योंकि यह केवल बोध के समय को छोड़ अन्य किसी समय में पदार्थ के अन्दर नहीं रहती, और यह ज्ञाता आत्मा की निजी निधि के रूप में प्रतीत भी होती है। यह बोध से भी सम्बद्ध नहीं हो सकती, क्योंकि वह बोध जिसका इसे धर्म माना जाए, कुमारिल के मत से, प्रत्यक्ष-योग्य नहीं है, और जो प्रत्यक्ष योग्य नहीं है वह बोधों का अधिष्ठान नहीं हो सकता। दूसरी ओर, यदि ज्ञातता, जो ज्ञान-स्वभाव की है, प्रत्यक्ष-योग्य है तो बोध को भी प्रत्यक्ष-योग्य मानना होगा। यदि ज्ञातता अर्थस्वभाव है तो इसका तात्पर्य केवल पदार्थ की अभिव्यक्ति (अर्थप्राकट्य) है। पदार्थ अभिव्यक्त नहीं हो सकता, यदि बोध, जिससे पदार्थ व्यक्त होता है, अपने-आपमें अनभिव्यक्त है (प्रमेयकमलमार्तण्ड, पृष्ठ ३१ ...)। कुमारिल के अनुसार, घड़े का बोध घड़े के अन्दर ज्ञातता के गुण को उत्पन्न करता है, जो इस रूप में प्रत्यक्ष का विषय हो जाता है, "मैंने इस घड़े का ज्ञान प्राप्त किया है।" इससे बोध का तथा उसकी प्रामाणिकता का भी अनुमान होता है। न्याय का मत है कि ज्ञान, ज्ञान-विषयक चैतन्य (अनुव्यवसाय) तथा प्रामाणिकता का ज्ञान ये क्रमश: होते हैं। किन्तु कुमारिल के विचार में पिछले दोनों युगपत् होते हैं।

१. प्रभाचन्द्र अपने प्रमेयकमलमार्तण्ड ग्रन्थ (पृष्ठ ३१) में इस मत की आलोचना करता है। प्रमाता, बोध-विषयक क्रिया (प्रमाण), और परिणामरूप बोध (प्रमिति), प्रमेय (विषय) के समान ही प्रत्यक्ष के योग्य हैं। हम अपने अनुभव में ज्ञान के भिन्न-भिन्न अंशों का स्पष्ट रूप में प्रत्यक्ष करते हैं। न ही यह आवश्यक है कि जिसे प्रत्यक्ष किया है वह सर्वदा प्रत्यक्ष के विषय के रूप में ही प्रत्यक्ष किया जाए। आत्मा का प्रत्यक्ष ज्ञाता बोध के रूप में होता है, बोध के विषय के रूप में नहीं। इसलिए बोध का प्रत्यक्ष प्रत्यक्ष के साधन के रूप में भी हो सकता है। जब कुमारिल के अनुयायी आत्मा की प्रत्यक्ष-योग्यता को मान लेते हैं, जो मात्र ज्ञान का कर्ता है, तो वे बोध की प्रत्यक्षयोग्यता को भी स्वीकार कर सकते हैं, जो प्रमेय (विषय) की अभिव्यक्ति का साधन है। यदि आत्मा प्रत्यक्ष-योग्य है तो यह बोध

बोध स्वयं अनुमान किया जाता है, जबकि विषय बोध के द्वारा जाने जाते हैं।

मीमांसक ज्ञान की आत्म-प्रामाणिकता के मत को स्वीकार करते हैं।[1] कुमारिल कहता है कि 'सत्यज्ञान के समस्त स्रोतों में अन्तर्निहित प्रामाणिकता है, क्योंकि एक ऐसी शक्ति जो अपने-आपमें अविद्यमान है, दूसरे के द्वारा उत्पन्न नहीं कराई जा सकती।'[2] ज्ञान में इन्द्रियां, आनुमानिक चिह्न और इसी प्रकार के अन्य मध्यस्थ हो सकते हैं किन्तु यह विषयों को स्वयं प्रकट करता है[3] और अपनी प्रामाणिकता के भाव को उत्पन्न करता है। यदि हमें तब तक प्रतीक्षा करनी पड़े जब तक कि हम कारणों की विशुद्धता का निश्चय न कर लें, तो हमें तब तक प्रतीक्षा करनी होगी जब तक कि अन्य कारणों से एक और बोध की उत्पत्ति न हो, और इस प्रकार इस क्रम का कहीं अन्त नहीं है।[4] स्वतः प्रामाण्य के सिद्धान्त का मत है कि बोध अपने-आपमें प्रामाणिक है

पदार्थ को, प्रत्यक्ष के अयोग्य बोध की सहायता के बिना भी, जान सकती है। यदि यह कहा जाए कि कर्ता साधन के बिना कर्म नहीं कर सकता, तो आभ्यन्तर और बाह्य इन्द्रियां बोध के साधन बन सकती हैं। इसके अतिरिक्त, यदि साधन के बिना कोई क्रिया सम्भव नहीं है, तो आत्मा के स्व-बोध में कौनसा साधन है? यदि आत्मा के बोध में आत्मा साधन है, तो यह पदार्थों के बोध में भी साधन का कार्य कर सकती है। यदि यह स्वीकार कर लिया गया कि आत्मा और परिणामरूप बोध (फलज्ञान) का प्रत्यक्ष होता है, यद्यपि वे चैतन्य में बोध के विषय के रूप में प्रकट नहीं होते, तो यह भी स्वीकार किया जा सकता है कि बोध के साधन का भी बोध के विषय के रूप में नहीं वरन् साधन के रूप में, प्रत्यक्ष होता है। फिर साधनरूप बोध (करणज्ञान) तथा परिणामस्वरूप ज्ञान (फलज्ञान) में सर्वथा भिन्न नहीं हैं, और इसलिए यदि अन्त्य दो प्रत्यक्ष-योग्य हैं तो यह प्रत्यक्ष के अयोग्य नहीं हो सकता। इसके अतिरिक्त, आत्मा और बोध, जिनके द्वारा आत्मा पदार्थ को जानती है, हमारे चैतन्य में साक्षात् प्रकट होते हैं, और इसलिए वे चैतन्य के विषय माने जाने चाहिए (प्रतीयमानत्वं हि ग्राह्यत्वं तदेव कर्मत्वम्)। जो कुछ भी चैतन्य में प्रकट होता है वह उसका विषय है। "मैं घड़े को जानता हूं" इस बोध में विषयी अपने विषय से अभिज्ञ है कि वह घड़े के ज्ञान से युक्त है। विषयी का घट सम्बन्धी बोध उतना ही प्रत्यक्ष का विषय है, जितना कि आत्मा और घट। फिर, यदि ज्ञानोत्पादक क्रिया प्रत्यक्ष के अयोग्य है, तो यह किसी प्रमाण द्वारा भी यथार्थ सिद्ध नहीं की जा सकती।

१. तत्र गुरूणां मते ज्ञानस्य स्वप्रकाशरूपत्वात् तज्ज्ञानप्रामाण्यं तेनैव गृह्यते। भाट्टानां मते ज्ञानमतीन्द्रियम्, ज्ञानजन्यज्ञातता प्रत्यक्षा, तया च ज्ञानमनुमीयते। मुरारिमिश्राणां मते अनुव्यवसायेन ज्ञानं गृह्यते। सर्वेषामपि मते तज्ज्ञानविषयकज्ञानेन तज्ज्ञानप्रामाण्यं गृह्यते। (सिद्धान्तमुक्तावली, १३५)।

२. और देखिए न्यायरत्नाकर, २ : ४७।

३. "केवल अपने उद्भव के लिए ही क्रियात्मक सत्ताओं को एक कारण की आवश्यकता होती है। जब वे एक बार उत्पन्न हो गईं तो वे अपने नानाविध कार्यों के लिए अपने आप ही क्रियाशील हो जाती हैं" (२ : ४८)। घड़े को अपनी उत्पत्ति के लिए मिट्टी आदि की आवश्यकता हो सकती है, किन्तु जल को धारण करने की क्रिया वह स्वयं करता है। ज्ञान को अपनी उत्पत्ति के लिए एक कारण की आवश्यकता हो सकती है, किन्तु वस्तुओं के सत्यस्वरूप के निश्चय रूपी कार्य के लिए इसे कारणों की आवश्यकता नहीं है। इस प्रकार मीमांसक तर्क करता है कि स्वतःप्रामाण्य तथा इन्द्रिय-सम्पर्क आदि कारणों पर निर्भरता के मध्य परस्पर कोई विरोध नहीं है। साधारणतः ज्ञान के उदय होने के बाद इन्द्रिय सम्पर्क आदि का अनुमान किया जाता है। केवल स्मृति की अवस्था में ही पूर्वानुभव पर निर्भरता प्रकट है।

४. श्लोकवार्तिक, २ : ४९-५१।

और उनकी प्रामाणिकता का परिहार केवल उनके विषयों के विरोधी स्वरूप से हो सकता है, अथवा उनके कारणों की असंगति का पता लग जाने से हो सकता है।[1] जब हम भूलकर एक रस्सी को सांप समझ लेते हैं और पीछे ऐसा पाते हैं कि यह रस्सी है सांप नहीं है, तो हमारा पहला बोध अप्रामाणिक होकर कट जाता है। जब हम बोध के साधनों के दोषों को पहचान लेते हैं तो हम बोध की प्रामाणिकता के विषय में सन्देह करते हैं। पीलिया रोग से पीडित व्यक्ति के विचार में सीप पीले रंग की है। किन्तु जब वह आंख के दोष को पहचान लेता है, तो वह पीलेपन को आंख के दोष के कारण समझता है और यह स्वीकार कर लेता है कि सीप श्वेतवर्ण है। जब तक हमें असंगतियों का ज्ञान न हो, तब तक हमारे पास सन्देह करने का कोई युक्तियुक्त आधार नहीं है। बोध बाह्य रूप में या तो अन्य साधनों द्वारा पदार्थ के यथार्थस्वरूप का ज्ञान हो जाने से, या बोध के साधनों के दोषों का पता लग जाने से अप्रामाणिक ठहराए जाते हैं। ज्ञान की मानी हुई अवस्थाओं के कारण प्राप्त हुए बोध को प्रामाणिक मानना चाहिए, जब तक कि सन्देह के लिए कोई विशेष कारण न हो। किसी विचार की अप्रामाणिकता कभी भी अन्तर्निहित नहीं होती, वह सदा बाह्य साधनों से जानी जाती है।[2] और सन्देह की अवस्था में भी, जैसे दूरस्थ अथवा धुंधले प्रकाश में देखी गई वस्तु की सत्य-प्रकृति के बारे में, हम सन्देह का निवारण सुधरी अवस्थाओं में दूसरा ज्ञान प्राप्त करके कर सकते हैं। यह हो सकता है कि किन्हीं अवस्थाओं में, दूसरे ज्ञान को एक तीसरे ज्ञान से ठीक करना पड़े और कभी-कभी तीसरे को भी चौथे ज्ञान से ठीक करना पड़े। किन्तु अधिकतर अवस्थाओं में एक छोटी संख्या से दूर जाने की आवश्यकता नहीं है। कुमारिल के अनुसार, तीन या चार बार दुहराया हुआ ज्ञान सर्वथा सत्य सिद्ध होगा।[3]

१. श्लोकवार्तिक, २ : ५८

२ श्लोकवार्तिक, २ : ५ और ७। यत्र कारणदोषज्ञानं बाधकज्ञानं वा तत्र मिथ्यात्वम् (शास्त्रदीपिका, पृष्ठ १४२)। ज्ञानस्य प्रामाण्यं स्वतः, अप्रामाण्यं परतः।

३ श्लोकवार्तिक, २ : ६१।

४ पार्थसारथि का कहना है : बोध के मिथ्या होने के सम्भावित कारण ये हैं : ऐसे दोष जिनका सम्बन्ध स्थान, काल, परिस्थिति, ज्ञानेन्द्रिया, बोध के विषय आदि से होता है। जहां इस प्रकार के दोषों के अस्तित्व का निषेध किया गया हो, जैसे, उदाहरण के रूप में, एक मनुष्य पूर्णरूप से जागरित तथा अपनी क्षमताओं को पूर्णरूप में धारण किए हुए, दिन के उज्ज्वल प्रकाश में अपने समीप रखे हुए घड़े को देखता है, तो दोषों के सम्बन्ध में कोई सन्देह नहीं उत्पन्न हो सकता है, और इसलिए प्रत्यक्ष ज्ञान के अप्रामाणिक होने का भी कोई विचार नहीं हो सकता। अन्य अवस्थाओं में दोष की सम्भावना हो सकती है, उदाहरणस्वरूप से, विषय (पदार्थ) दूर हो सकता है और इसीलिए प्रत्यक्ष की प्रामाणिकता के विषय में सन्देह उठ सकता है। किन्तु साधारणतः एक पग आगे बढ़ने से, पदार्थ तक चलकर जाने से, दो विकल्पों में से— जिनकी एक ही समय में उपस्थिति से सन्देह उत्पन्न हुआ है— कोई एक सत्य के रूप में निर्णीत हो सकता है, और इस साधारण विधि से प्रश्न हल हो सकता है। ज्योंही यह पता चलता है कि सन्दिग्ध दोष का वास्तविक अस्तित्व नहीं है, वह बोध, जिसकी प्रामाणिकता को उक्त दोष के कारण भय हो गया था, अपने स्वतःप्रामाण्य को बलपूर्वक प्रकट कर सकता है (श्लोकवार्तिक, २ : ५८ और ६०–६१ पर न्यायरत्नाकर)।

कुमारिल का विश्वास है कि सीप को चादी मानने का बोध भी बोध के रूप मे प्रामाणिक है। ज्ञाता को उस समय बोध हुआ था। बाद के अनुभव से उसका प्रत्याख्यान हो गया, यह दूसरी बात है। यहा तक कि सीप को पीला समझने के बोध मे भी आंख के पित्तदोष से सम्बन्धित एक यथार्थ पीलेपन का प्रत्यक्ष होता है। सन्दिग्ध बोध, जैसेकि दूरी पर स्थित एक लम्बे पदार्थ के बारे मे हमारी अनिश्चितता कि वह मनुष्य है या खभा, भी प्रामाणिक है, क्योकि हम लबेपन को प्रत्यक्ष देखते है और दो पदार्थों का स्मरण करते है जो दोनों लबे है। भ्रान्त ज्ञान या तो अपूर्ण ज्ञान के कारण होता है, या अज्ञान के कारण होता है। यह विध्यात्मक मिथ्या ज्ञान के कारण नही, बल्कि निषेधात्मक अज्ञान के कारण होता है।[1] पार्थसारथि प्रामाणिक बोध की परिभाषा इस प्रकार करता है कि यह वह ज्ञान है जो असगतियो से स्वतन्त्र होते हुए पहले से अज्ञात वस्तुओं का बोध कराता है।[2] ज्ञान का जो स्वत प्रकाश लक्षण है, इस मत से उसका कोई विरोध नही होता।[3] यह केवल बोध के स्वरूप का फिर से वर्णन करता है जो अपने स्वभाव से प्रामाणिक है। प्रामाणिकता ज्ञान का धर्म है, यद्यपि हम अपने ज्ञान की सचाई की परीक्षा यह जानकर करते और कर सकते है कि यह अन्य ज्ञान के सगत है या उसका विरोधी है। तो भी यह सब सत्य की बाह्य कसौटी है, यह हमे इसके आन्तरिक स्वभाव को प्रकट नही करता।

यदि सगति सत्य की प्रकृति है और केवल इसकी कसौटी नही है, तो सत्य को प्राप्त करना कठिन होगा, क्योकि हम दुष्ट चक्र से नही बच सकते। कुमारिल और पार्थसारथि हमे कह सकते है कि तीन या चार बोधो से दूर जाने की आवश्यकता नही है। यदि हम एक बार यह मान ले कि प्रामाणिकता मध्यस्थ है, तो हम किसी भी बोध की नितान्त प्रामाणिकता के विषय मे निश्चित नही हो सकते।[4]

१. बोधों की अप्रामाणिकता तीन प्रकार की होती है: मिथ्याज्ञान, अज्ञान और सन्देह। सन्दिग्ध और मिथ्याज्ञान विध्यात्मक सत्ताएं हैं और दोषपूर्ण कारणों से हैं, जबकि अज्ञान में केवल कारणों का अभाव है (श्लोकवार्तिक, २ : ५४-५५)।

२. कारणदोषबाधकज्ञानरहितमगृहीतग्राहिज्ञानं प्रमाणम् (शास्त्रदीपिका, पृष्ठ, १२३)।

३. किन्तु देखिए झा: प्रभाकरमीमांसा, २. इस कठिनाई में यह सुझाव दिया गया है कि 'प्रामाणिकता' शब्द का प्रयोग दो अर्थों में होता है। प्रत्येक बोध, ज्ञान के रूप में प्रामाणिक है, और इस अर्थ में भूल, स्मृति आदि भी प्रामाणिक हैं। किन्तु क्रियात्मकरूप में प्रामाणिक बोधों में, जो कर्म की कसौटी पर ठीक उतरते हैं, तथा अप्रामाणिक बोधों में, जो ठीक नहीं उतरते, भेद किया जाता है। देखिए पी० शास्त्री, पूर्वमीमांसा, अध्याय २।

४. सम्भवतः प्रोफेसर स्टाउट के मन में यही है जब वे कहते हैं: "अन्त में, सत्य केवल अन्य सत्य के साथ संगत होने से ही नहीं पहचाना जा सकता। तात्कालिक ज्ञान के अभाव में संगति का सिद्धान्त बिना टेक के लीवर के समान होगा।" यह कहना कि संगत बोध व्यवहित अथवा मध्यस्थ है, इस अर्थ में अवश्य ही दुष्ट चक्र की ओर ले जाता है। यदि व्यवहित बोध में केवल बोधों का ही व्यवधान है जो अपने-आपमें केवल व्यवहित ही हैं, तो ज्ञान का सञ्चालन कभी नहीं हो सकता। यह ऐसा ही है जैसे कि कोई कहे कि दीवार के बनाने में हरएक ईंट को दूसरी ईंट के ऊपर रखना चाहिए, और कोई भी ईंट सीधी भूमि पर न रखी जाए।" (माइंड, १९०८, पृष्ठ ३३)

मीमांसा की प्रकल्पना के आलोचक बलपूर्वक कहते है कि यदि उनके रूप नही है, तो बोधों के अन्दर भेद करना सम्भव न होगा। क्योंकि एकमात्र वस्तु जो एक बोध को दूसरे बोध से भिन्न करती है वह विषय है, इसलिए बोध के विषय मे यह कहा जाता है कि वह विषय का रूप धारण कर लेता है। यह बलपूर्वक कहा गया है कि बोध तथा ज्ञात वस्तु मे तादात्म्य है। मीमांसक कहता है कि यदि ज्ञाता आत्मा और ज्ञात वस्तु मे तादात्म्य होता, तो ज्ञात वस्तु आत्मा के द्वारा जानी गई है, ऐसा न कहा जाता। और न केवल रूप ही बोधो के अन्दर भेद करने का एकमात्र आधार है। संवेदना, अथवा व्यक्ति-विशेष का ज्ञान एक वस्तु है, जो विशेष प्रकार के धर्म की अभिव्यक्ति है, जो उसके एक विशेष पदार्थ के प्रति व्यापार से अनुकूलता रखती है। वह पदार्थ जिसके प्रति यह ज्ञाता की क्रियाशीलता से अनुकूलता रखती है जाना जाता है। क्योंकि प्रत्येक बोध किसी विशिष्ट पदार्थ की ओर क्रियात्मक व्यापार को प्रवृत्त करता है, इसलिए वहा भेद का एक आधार है।

नैय्यायिक ज्ञान की स्वत प्रामाणिकता के सिद्धान्त को स्वीकार नही करता। ज्ञान अपनी सचाई को प्रमाणित नही करता। हमारे बोध सर्वदा यथार्थता के अनुकूल ही होगे इसका कुछ निश्चय नही है। जब हम अपने विचारो पर कर्म करते हैं तो हम कभी सफल होते है और कभी नही होते। यदि सफल होते है तो हम प्रामाणिकता का अनुमान कर लेते है और यदि सफल नही होते तो अप्रामाणिकता का अनुमान होता है।[1]

मीमांसा की आत्मप्रामाणिकता की प्रकल्पना निर्देश करती है कि प्रामाणिकता समस्त ज्ञानात्मक विषय का गुण है जो उससे पृथक् नही किया जा सकता। अनुकूलता और संगति प्रामाणिकता की कसौटी है, किन्तु उसे उत्पन्न नही करती। । हमारे लिए प्रामाणिक बोध के स्वभाव को स्पष्ट नही करती। ज्ञान का कार्य पदार्थों का बोधात्मक ज्ञान प्राप्त करना है। मन का यथार्थता के साथ सम्बन्ध सदा ही इसमे अन्तर्निहित रहता है। इसके अतिरिक्त, मन विचारधारा के विधान के अनुकूल कार्य करता है, जो एक अर्थ मे अनुल्लंघनीय है। जब हम कहते है कि "यह एक रोटी है", तो जिसे हम रोटी कहते है वह वास्तव मे रोटी नही भी हो सकती, किन्तु निर्णय करने के समय हम इसे रोटी ही मानते है और उस विचार की प्रबलता को रोक नही सकते। कोई सन्देह हमारे चैतन्य मे विघ्न उपस्थित नही करता और इसलिए विचार की विषय-वस्तु निर्णय के समय हमारे लिए बिलकुल सत्य होती है। सब निर्णयो मे, चाहे वे सत्य हों या मिथ्या, यह आवश्यकता का अंश रहता है। तो भी इसका अर्थ यह नही है कि निर्णय विचार का केवल खेल-मात्र है। हमारे चैतन्य मे कुछ वस्तु ऐसी प्रस्तुत रहती है जिसे हमें अवश्य स्वीकार करना होता है। हमारी मानसिक प्रक्रिया पर यथार्थता

१. न्यायमंजरी, पृष्ठ १६०–१७२।

का एक नियन्त्रण रहता है। प्रत्येक निर्णय मे इस प्रकार का एक कथन रहता है कि आधारभूत सामग्री में अपने से अधिक कुछ है, कि ऐसी कुछ वस्तु है जो अभी प्रस्तुत नही है, किन्तु जिसकी प्रतिनिधि यह आधारभूत सामग्री है। इसके अतिरिक्त, प्रत्येक निर्णय मे मानसिक क्रिया का एक अंश विद्यमान रहता है, जो आधारभूत सामग्री को बढा देता है। यह प्रस्तुत विषय (सामग्री) की व्याख्या करता है, इसे सार्थकता प्रदान करता है, और दावा करता है कि यह पूर्ण इकाई का एक भाग है और अपने ही अन्दर पूर्ण नही है। यद्यपि मीमासक यथार्थवादी है, तो भी कुमारिल का यह कथन कि यदि निर्णय का समर्थन अन्य निर्णयो द्वारा हो जाए तो उसकी प्रामाणिकता का निश्चय हो जाता है, अनुकूलता की अपेक्षा सगति की प्रकल्पना का सुझाव देता है। विभिन्न निर्णयो को अवश्य सगत होना चाहिए। किन्तु यह आभ्यन्तर सगति ही सब कुछ नही है। यह ठीक केवल इसलिए है क्योंकि यथार्थता, जिसका अनुभव प्राप्त किया जाता है, स्वयं सगत है।

मन का उस यथार्थता के साथ जिसका यह अनुभव करता है, क्या सम्बन्ध है, एतद्विषयक जो परम समस्या है उसे मीमासा ने नही उठाया है। यह उस सहज बुद्धि के मत को मान लेता है कि यथार्थता एक सत्तावान जगत् के रूप मे हमारे चिन्तन से बाह्य है। इस स्थिति के परिणाम सत्य के अनुकूलतापरक भाव की कठिनाइयो से मीमासा सब बोधो की स्वत प्रामाणिकता की प्रकल्पना द्वारा बचकर निकल जाती है।

१२

आत्मा

विध्यात्मक वैदिक आदेश दूसरे लोक मे पुरस्कारो के उपभोग का विश्वास दिलाते है। यदि शरीर के विनाश के पश्चात् कोई यथार्थ आत्मा जीवित न रहे तो वे सब निरर्थक हो जाएगे। यज्ञ का कर्ता, कहा जाता है कि स्वर्ग जाएगा, और जो स्वर्ग को जाता है वह मास और रक्त वाला शरीर नही, बल्कि अशरीरी आत्मा है।[1] जैमिनि आत्मा की यथार्थसत्ता का कोई ब्यौरेवार प्रमाण नही देता और इस प्रश्न पर जो युक्तिया वेदान्त ने दी है उन्हे ही स्वीकार करता प्रतीत होता है। वह आत्मा (पुरुष) को बुद्धि

१. १ : १, ५।

२. उपवर्ष, जो दोनों मीमासाओं का वृत्तिकार है, कहता है (१ : १, ५) कि आत्मा के प्रश्न पर उत्तरमीमासा मे विचार किया जाएगा। शबर भी इसी मत का प्रतीत होता है, क्योंकि कुमारिल अपने आत्मवाद (श्लोकवार्तिक) के अन्तिम श्लोक मे कहता है :

इत्याह नास्तिक्यनिराकरिष्णुरात्मास्तितां भाष्यकृदत्र युक्त्या।
दृढत्वमेतद् विषयश्च बोधः प्रयाति वेदान्तनिषेवणेन॥

"इस प्रकार टीकाकार (शबर) ने, निरीश्वरवाद का खण्डन करने के विचार से, तर्क द्वारा आत्मा के अस्तित्व की सिद्धि की है, और वेदान्त के अध्ययन से यह विचार पुष्ट हो जाता है।" देखिए शांकर-भाष्य, ३ : ३, ५३।

तथा इन्द्रियों से भिन्न करता है।[1] शबर एक स्थायी ज्ञाता की यथार्थता को स्वीकार करता है, जो "अपने-आपसे ज्ञात है और देखा या औरों द्वारा दिखाया नही जा सकता।"[2] शबर का मत उपलक्षित करता है कि आत्मा और चैतन्य एक ही है। विज्ञानवाद का खण्डन करते हुए वह कहता है कि बोधो का एक प्रमाता (विषयी) है[3] और वह प्रमाता अपने-आपसे जाना जाता है।

मीमासा के विचारक आत्मा को शरीर, इन्द्रियो तथा बुद्धि से भिन्न मानते है। जब बुद्धि अनुपस्थित रहती है तब भी आत्मा उपस्थित रहती है, जैसेकि निद्रा मे। यदि बुद्धि आत्मा की सहचारिणी हो, तो भी हम यह नही कह सकते कि वे एक-दूसरे के समान है। आत्मा इन्द्रिय नही है, क्योकि इन्द्रियो के क्षत हो जाने अथवा नष्ट हो जाने पर भी आत्मा विद्यमान रहती है। एक सत्ता ऐसी है जो इन्द्रियो मे प्राप्त विभिन्न सामग्री का सश्लेषण करती है। शरीर भौतिक है, और हरएक बोध मे हमे ज्ञाता की शरीर से भिन्नता की अभिज्ञता रहती है। शरीर के अवयव बुद्धि-सम्पन्न नही है और उनका सघात चैतन्य को उत्पन्न नही कर सकता। शरीर अपने मे परे एक लक्ष्य का एक साधन-मात्र है, और इसलिए इसे आत्मा के प्रयोजन के लिए कहा जाता है जो इसका सचालन करती है। स्मृति के तथ्य आत्मा की यथार्थता को सिद्ध करते है। यह स्वीकार किया गया है कि आत्मा परिवर्तन की अनुमति देती है किन्तु वह सब परिवर्तनों मे स्थिर रहती है। बोध, जो एक क्रिया है, आत्मारूपी द्रव्य से सम्बन्ध रखता है।[4] आत्मा के नित्यस्वरूप के विरुद्ध यह कोई युक्ति नही है कि यह परिवर्तनों के अधीन रहती है।[5] और न यह कोई बडी भारी आपत्ति है कि जब हम फल भोगते है तो उन कर्मों को भूल जाते है जिनके कारण वे फल मिले है। आत्मा के विषय मे जो बौद्धो का विचार है कि यह विचारो की एक शृखला है जिनमे से प्रत्येक विचार अपने पूर्ववर्तियों से अपने भूतकाल के सस्कार सगृहीत करता है, उसका खण्डन करते हुए कुमारिल कहता है कि यदि कर्मविधान का कुछ अर्थ है तो एक सामान्य अधिष्ठान अवश्य होना चाहिए। बौद्ध प्रतिफल के विधान अथवा पुनर्जन्म की सम्भावना की व्याख्या करने मे असमर्थ है। सूक्ष्म शरीर की कल्पना अधिक सहायक नही हो सकती, क्योकि विचार का इसके साथ सम्बन्ध एक रहस्य है। विचारो की शृखला-सम्बन्धी बौद्धमत के आधार पर आत्मचैतन्य इच्छा, स्मृति तथा सुख-दुःख का प्रपञ्च बुद्धिगम्य नही हो सकता। इसलिए एक ऐसी सत्ता का होना आवश्यक है जो विचारो की सम्भाव्य क्षमता को धारण करती हो, नित्य हो तथा पुनर्जन्म के योग्य हो। आत्मा आणविक नही हो सकती, क्योंकि यह शरीर के भिन्न-भिन्न भागो मे होने परिवर्तनो का ज्ञान ग्रहण करती है। इसे विभु अथवा सर्वव्यापक माना गया है, और यह एक के बाद दूसरे शरीर मे सबध

१. १ : १, ५।
२. स्वसंवेद्यः स भवति नासावन्येन शक्यते द्रष्टुं दर्शयितुं वा।
३. ज्ञानातिरिक्तः स्थायी ज्ञाता वर्तते।
४. श्लोकवार्तिक, आत्मवाद, १००।
५. श्लोकवार्तिक, आत्मवाद, २२ और २३।

करने योग्य भी है। जिस शरीर के साथ इसका सम्बन्ध है उसका यह, जब तक मोक्ष नहीं होता, सचालन करती है। एक सर्वत्र उपस्थित आत्मा कर्म कर सकती है, क्योंकि कर्म केवल आणविक गति नहीं है। आत्मा की शक्ति शरीर की गति का कारण है।

मीमांसक आत्माओं के अनेकत्व की प्रकल्पना को मानते हे[1] इसलिए कि अनुभवों की विविधता की व्याख्या की जा सके। शरीरो की क्रियाओ से हम आत्मा के अस्तित्व का अनुमान करते है, क्योकि बिना आत्मा की कल्पना के उनकी व्याख्या नही हो सकती। जिस प्रकार मेरी क्रियाए मेरी आत्मा के कारण है, उसी प्रकार अन्य क्रियाए अन्य आत्माओं के कारण है। धर्म और अधर्म के भेद जो आत्माओ के गुण है, भिन्न-भिन्न आत्माओं के अस्तित्व के कारण ही है। यह दृष्टान्त कि जिस प्रकार एक सूर्य भिन्न-भिन्न द्रव्यो मे प्रतिबिम्बित होकर विविध धर्मों वाला हो जाता हे, उसी प्रकार एक ही आत्मा भिन्न-भिन्न शरीरो मे प्रतिबिम्बित होकर भिन्न-भिन्न गुण धारण कर लेती है, टिकेगा नही, क्योकि गुण जो भिन्न-भिन्न प्रतीत होते है, प्रतिबिम्ब के माध्यम से सम्बद्ध है, सूर्य से नही। यदि उक्त दृष्टान्त को सत्य माना जाए, तो आत्माओ के सम्बन्ध मे प्रकट होते नानाविध गुण शरीरो से सम्बद्ध होगे, आत्मा मे नही। किन्तु सुख-दु.ख आदि आत्मा के गुण है, शरीर के नही।[2]

प्रभाकर का आत्मा से तात्पर्य एक ऐसी वस्तु से है जो बुद्धिविहीन है और ज्ञान, क्रियाशीलता, अनुभव अथवा सुखोपभोग तथा दुःख आदि जैसे गुणो का अधिष्ठान है।[3] एक स्थायी अनन्य आत्मा का कोई सीधा ज्ञान नही है। उसकी सिद्धि परोक्ष-रूप मे विचार के स्थायी विषयो के प्रत्यभिज्ञारूपी तथ्य के द्वारा होती है।[4] प्रत्यभिज्ञा की घटना मे दो अवयव होते है, एक स्मृति तथा दूसरा पदार्थ का पूर्वानुभव। इस तथ्य का कि हम भूतकाल के बोध को स्मरण कर सकते हे, अर्थ है कि एक स्थायी आत्मा का अस्तित्व है जो भूतकाल के प्रत्यक्ष ज्ञान तथा वर्तमानकाल के स्मरण की आश्रय है। इस प्रकार, प्रभाकर के अनुसार, स्थायी आत्मा या निजी व्यक्तित्व प्रत्यभिज्ञा का विषय नही बल्कि उसका आश्रय है।[5] यह सर्वव्यापक तथा अपरिवर्तनशील है। यह स्वत

१. बुद्धीन्द्रियशरीरेभ्यो भिन्नात्मा विभुर्ध्रुवः।
नानाभूतः प्रतिक्षेत्रमर्थज्ञानेषु भासते। (सर्वसिद्धान्तसारसंग्रह, ६ : २०६) और देखिए श्लोकवार्तिक, आत्मवाद, पृष्ठ ५–७।

२. झा : प्राभाकरमीमांसा।

३. कर्ता भोक्ता जडो विभुरिति प्राभाकराः। मधुसूदन सरस्वतीकृत 'सिद्धान्तबिन्दु', 'न्यायरत्नावलि' में जड की व्याख्या इस प्रकार की गई है : स च ज्ञानस्वरूपभिन्नत्वाज्जडः ; ज्ञानामीति ज्ञानाश्रयत्वेन स भाति न ज्ञानरूपत्वेन।

४. विवरणप्रमेयसंग्रह थिबौत का आंग्लभाषानुवाद, पृष्ठ ४०५ (इण्डियन थौट, खण्ड १)।

५ अद्वैत इस मत से असहमत है। स्मरण के कर्म में वर्तमान आत्मा है ; भूतपूर्व प्रत्यक्ष में भूतकाल की आत्मा थी ; और दोनों के बीच की खाई भरी नही जा सकती जब तक कि प्रत्यभिज्ञा का कर्म न हो, जिसे फिर अन्य की आवश्यकता होगी, और इस प्रकार इस क्रम का कहीं अन्त नहीं है। तर्क में यह नही कहा जा सकता कि वर्तमान स्मरण और भूतपूर्व प्रत्यक्ष एकसाथ आत्मा के निरन्तर अस्तित्व का ज्ञान प्रदान करते हैं, क्योंकि दोनों, एक भूत तथा दूसरा वर्तमान, साथ-साथ नही रह सकते।

प्रकाश नही है, क्योकि यदि ऐसा होता तो हमे प्रगाढ निद्रा मे भी ज्ञान होता। किन्तु ऐसा होता नही है, यद्यपि प्रगाढ निद्रा मे आत्मा विद्यमान रहती है। स्वत प्रकाश बोध, 'मैं घडे को जानता हू", घडे को बोध के विषय के रूप मे अभिव्यक्त करता है और आत्मा को बोध के आश्रय के रूप मे। आत्मा बोध के आश्रयरूप मे तुरत जानी जाती है, जैसेकि घडा बोध के विषयरूप मे जाना जाता है। जो 'मैं' इस रूप मे प्रतीत होती है वह आत्मा है, और वह विषय (प्रमेय) सम्बन्धी सब अवयवो से स्वतन्त्र है। क्योकि सब बोधो मे, यहा तक कि उन बोधो में भी जहा शरीर का कोई बोध नही है, आत्मा हमे अभिव्यक्त होती है, इसलिए आत्मा को शरीर से भिन्न माना गया है। आत्मा अपने-आपमे प्रत्यक्ष-योग्य नही है, किन्तु उसे सर्वदा बोध के कर्ता के रूप म जाना जाता है, कर्म के रूप मे नही। बोध का कर्म आत्मा के अन्दर स्वफल को उत्पन्न नही करता, इसलिए आत्मा बाह्य या आभ्यन्तर प्रत्यक्ष का विषय नही है। विषय-चैतन्य से अलग आत्मचैतन्य नाम की कोई वस्तु नही है। आत्मा चैतन्य का विषयी और विषय दोनो नही हो सकती।[1] यह कर्ता है, सुखोपभोक्ता है, और यद्यपि अचेतन है तो भी सर्वत्र उपस्थित है। इस प्रकार यह शरीर, इन्द्रियों और बुद्धि से पूर्णरूप मे भिन्न है। इसकी सब बोधो म अभिव्यक्ति होती है और यह नित्य है। प्रभाकर नही मानता कि आत्मा अणु के आकार की है या उस शरीर के आकार की है जिसे यह सूचना देती है। यद्यपि यह सर्वत्र उपस्थित है तो भी दूसरे शरीर मे जो कुछ हो रहा है उसे अनुभव नही कर सकती, क्योकि यह उसीका अनुभव कर सकती है जो कुछ उस शरीररूपी यन्त्र मे हो रहा है, जो आत्मा को भूतकाल के कर्म से प्राप्त हुआ है। आत्माए अनेक है, प्रत्येक शरीर मे एक आत्मा है। अपनी मुक्तावस्था मे आत्मा केवल सद् रूप मे अवस्थित रहती है और एकसाथ सब वस्तुओ के सामूहिक बोध का आश्रय होती है, किन्तु सवेदना का आश्रय नही होती, क्योकि सुख और दुख के धर्म अपने को सिवाय शरीर के अन्यत्र अभिव्यक्त नही कर सकते। यह अनश्वर है, क्योकि इसकी सत्ता किसी कारण के द्वारा नही उत्पन्न हुई।[2]

पार्थसारथि तर्क करता है कि ऐसा मानने मे कि आत्मा प्रत्यक्ष की विषयी और विषय दोनो ही है, किसी प्रकार का परस्पर-विरोध नही है। जब प्रभाकर कहता है कि आत्मा बोधरूपी कर्म से व्यक्त होती है, तो उसका तात्पर्य यह है कि आत्मा भी चैतन्य का विषय है। प्रत्यभिज्ञा तथा स्मरण मे चैतन्य मे विषय प्रकट होता है, विषयी प्रकट नही होता। यह प्रत्यक्ष के विषयरूप मे जानी गई आत्मा ही है जिसे चैतन्य मे वर्तमान प्रत्यभिज्ञा तथा स्मरण के विषयरूप मे प्रस्तुत किया गया है। यदि आत्मा की प्रत्यभिज्ञा मे आत्मा विषय न होती, तो कर्म विषयविहीन हो जाएगा। किन्तु बिना विषय के कोई चैतन्य नही हो सकता। इसलिए आत्मा को अवश्य आत्म-चैतन्य का विषय मानना चाहिए।[3] आत्मा का ज्ञान प्रामाणिक बोध की उसी प्रक्रिया से होता है जिससे कि स्वय विषयो का होता है, परन्तु तो भी आत्मा बोध का विषयी है, विषय

१. शास्त्रदीपका, पृष्ठ ३४८–४९। २ झाझन प्राभाकरमीमासा।
३ पृष्ठ ३४४ से आगे।

नहीं; जैसेकि एक व्यक्ति जो पैदल चलता है, यद्यपि चलने की क्रिया उसकी अपनी ही है, चलने की क्रिया का कर्ता माना जाता है, विषय नहीं।

कुमारिल के अनुयायियों के अनुसार, प्रत्येक बोधात्मक कार्य में आत्मा अभिव्यक्त नहीं होती। विषय-चैतन्य सर्वदा आत्मा द्वारा आत्मसात् नहीं किया जाता। व्यक्ति कभी विषय को जानता है कि "यह घड़ा है", किन्तु वह यह नहीं जानता कि वह घड़े को जानता है। आत्मा विषय-चैतन्य (विषयवित्ति) के विषयी या विषय के रूप में अभिव्यक्त नहीं होती, किन्तु कभी-कभी विषयवित्ति के साथ एक अन्य भिन्न चैतन्य होता है, अर्थात् आत्मप्रत्यय जिसका आत्मा विषय है। प्रभाकर का ऐसा मानना उचित है कि अनात्म के चैतन्य में विषयी सदा उपलक्षित रहता है, किन्तु यह सदा स्पष्ट रूप में अभिव्यक्त नहीं होता। आत्मा की उपस्थिति तथा उपस्थिति की चेतना में भेद है, और हमारे लिए यह आवश्यक नहीं है कि जब भी हम किसी विषय का ज्ञान प्राप्त करें तो आत्मा के विषय में भी अभिज्ञ हों। आत्मा केवल आत्मचैतन्य में ही अभिव्यक्त होती है, जिसे और विषय-चैतन्य को एक नहीं माना जा सकता। आत्मचैतन्य केवल विषय-चैतन्य से उच्चतर कोटि का चैतन्य है।[1] विषय-बोध के साक्षात् अथवा मुख्य अनुभव तथा चिन्तनात्मक एवं गौण अनुभव में, जिसमें मन अपने ऊपर वापस लौट आता है, भेद है।

प्रभाकर यह स्वीकार नहीं करता कि आत्मा और संवित् अथवा चैतन्य एक समान है। और इसीलिए वह ऐसा कहने के लिए बाध्य है कि आत्मा स्वतःप्रकाश नहीं है। किन्तु इस मत का पक्षपोषण कठिन है। आत्मा प्रमातृ अर्थात् जाननेवाली है और प्रभाकर संवित् अथवा चैतन्य का कभी ज्ञाता और कभी बोध रूप में वर्णन करता है।[2] कुमारिल की इस प्रकल्पना का कि आत्मा मानसिक प्रत्यक्ष का विषय है, खण्डन करते हुए, शालिकनाथ स्वीकार करता है कि आत्मा स्वतःप्रकाश है और बाह्य पदार्थों के बोध में भी संलग्न रहती है,[3] इस प्रकार यह चैतन्य का अचेतन आश्रय नहीं है। संवित् स्वतःप्रकाश है, यद्यपि इसका बोध चैतन्य के विषय के रूप में नहीं होता। फिर, बोधों को आत्मा के परिणाम (परिवर्तित रूप) कहा जाता है, और इसलिए आत्मा की प्रकृति को चैतन्यमय होना चाहिए, अन्यथा यह बोधों के रूप में परिणत नहीं हो सकती। आत्मा (अथवा चैतन्य) चैतन्य का विषय नहीं हो सकती, किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि यह चैतन्यरहित है। यह समस्त ज्ञान का आधार है। स्वयं ज्ञान के अन्दर ही यह विषयी अथवा अहं के रूप में प्रकट होती है। अहं आत्मा से न तो

१. शास्त्रदीपिका, पृष्ठ ३४४–५२।

२. संवित् का प्रयोग चैतन्य के अर्थों में किया गया है। संविद् उत्पत्तिकारणम् आत्ममनस्संनिकर्षाख्यम् (प्रकरणपञ्चिका, पृष्ठ ६३)।

३. स्वयंप्रकाशत्वेन, विषयप्रतीतिगोचरत्वेन (प्रकरणपञ्चिका, पृष्ठ १५१)।

अधिक है, न कम है, जिसे हम तुरन्त अभिज्ञ होकर बोध का विषयी अथवा आश्रयरूप जानते हैं। आत्मा न तो द्रव्य है, न गुण है, न कर्म ही है। यह केवल चैतन्य है। जैसाकि अद्वैतवेदान्तवादी कहेंगे, जब यह मायावश अहंकारत्व के इन्द्रिय सम्पर्क में आती है तो अहं बन जाती है। प्रगाढ़ निद्रा में 'अहंरूप' अनुपस्थित रहता है, जबकि आत्मा अहंकारत्व के सब प्रतिबन्धों से मुक्त रहती है। पदार्थों के बोध में सर्वव्यापी आत्मा अथवा चैतन्य पदार्थ के साथ अपने सम्बन्ध में युक्त प्रकट होती है। प्रभाकर इस विषय से अभिज्ञ प्रतीत होता है कि उसकी प्रकल्पना उसे अद्वैत वेदान्त की स्थिति की ओर ले जाती है, परन्तु उसे चिन्ता है कि इसपर बल नहीं देना चाहिए, क्योंकि उसका मुख्य उद्देश्य मनुष्यों तथा उनके उत्तरदायित्व के भेदों पर बल देना है। प्रभाकर कहता है "यह कथन कि 'मैं' और 'मेरा' ये उक्तियां आत्मा के सम्बन्ध में एक मिथ्या विचार की ओर संकेत करती हैं, उन व्यक्तियों के प्रति होना चाहिए जिन्होंने सांसारिक पदार्थों की ओर अपनी आसक्ति का दमन कर लिया है, उनके प्रति नहीं जो कर्म में जुटे हुए हैं।"[1]

कुमारिल के अनुसार आत्मा शरीर से भिन्न है, नित्य है और सर्वत्र व्याप्त है। आत्मा अपने में चैतन्य है, यद्यपि आत्माएं अनेक हैं। क्योंकि सब आत्माएं चैतन्य स्वभाव की हैं, इसलिए उपनिषद् उन्हें एक ही कहती हैं।[2] आत्मा चैतन्य है और बोध की, जो आत्मा से उत्पन्न है, आश्रय भी है।[3] 'अहं'भाव के द्वारा आत्मा के अस्तित्व का अनुमान किया जाता है। आत्मा अपने-आपसे अभिव्यक्त होती है यद्यपि दूसरे इसका प्रत्यक्ष नहीं कर सकते।[4] आत्मा बोध का विषय है, क्योंकि इसका साक्षाद् ज्ञान होता है, जैसे घड़ा है। यह मानस प्रत्यक्ष का विषय है। आत्मा ज्ञान का विषय और विषयी दोनों ही हैं।[5] और यह परस्पर विरोध नहीं है, क्योंकि हम आत्मा के अन्दर एक तो द्रव्यात्मक अंश पाते हैं जो बोध का विषय है, और एक चैतन्य का अंश पाते हैं जो बोध का विषयी (प्रमाता) है।[6] प्रभाकर के अनुयायी इस मत पर आपत्ति करते हैं। यदि आत्मा का द्रव्यात्मक अंश बुद्धिशून्य है, तो यह सर्वथा आत्मा ही नहीं है। जो कुछ रहता है वह केवल चैतन्यांश ही है, और वह विषयी तथा विषय दोनों रूप में

१. बृहती, पृष्ठ ३०, 'एशियाटिक सोसाइटी आफ बंगाल' में मीमांसासूत्र।

२. श्लोकवार्तिक, आत्मवाद, ७०-७४।
३. तन्त्रवार्तिक, ३, १, ५।

४. रामानुज भी इसी प्रकार के मत को स्वीकार करते हैं, बोध को आत्मा का नित्यगुण मानते हैं, जो विस्तृत तथा संकुचित हो सकता है, जबकि कुमारिल का विचार है कि बोध आत्मा का विकास (परिणाम) है और उसका उदय प्रमाणों द्वारा होता है।

५. श्लोकवार्तिक, आत्मवाद, १४२-४३।
६. श्लोकवार्तिक, आत्मवाद, १०७।

७. तुलना कीजिए : न्यायरत्नावली। आत्मनोऽपि अंशद्वयं चिदंशोऽचिदंशश्च; चिदंशेन द्रष्टृत्वमचिदंशेन ज्ञानसुखादिपरिणामित्वं 'माम् अहं जानामि' इति ज्ञेयत्वं च (पी० शास्त्री : पूर्वमीमांसा, पृष्ठ ६५)। और देखिए विवरणप्रमेयसंग्रह, थिबौट का इंग्लिश ट्रांसलेशन, इण्डियन थौट, खण्ड १, पृष्ठ ३५७।

कार्य नही कर सकता। इसके हिस्से नही है, और इसीलिए अपरिवर्तनीय है, जिससे एक ही समय मे यह विषय और विषयी दोनो का रूप धारण नही कर सकता। यदि द्रव्यत्व चैतन्य का विषय है, तो आत्मा विषयी अथवा ज्ञाता नही हो सकती, क्योकि यह घड़े के समान ही द्रव्य है। यदि कुमारिल यह कहता है कि चैतन्य का विशुद्ध रूप विषयी है और वही चैतन्य लौकिक दृष्टि से परिवर्तित होकर विषय हो जाता है,[1] तो ऐसा प्रतीत होता है कि हमारे पास तीन प्रकार है, अर्थात् शुद्ध विषयग्रहण, शुद्ध ज्ञातृता, और घड़े आदि पदार्थ से परिवर्तित विषयी (घटावच्छिन्नज्ञातृता)। इसके अतिरिक्त, क्योकि प्रत्येक पदार्थ के बोध मे आत्मा की ज्ञाता के रूप मे साक्षात् अभिव्यक्ति होती है, इसलिए मानस-प्रत्यक्ष के समान एक अन्य बोध की, जो आत्मा को साक्षात् एक विषय के रूप मे अभिव्यक्त करता है, कल्पना करना अनावश्यक है।

यदि ज्ञान का सम्बन्ध आत्मा से है तो आत्मा चैतन्यविहीन नही हो सकती। यदि आत्मा चैतन्य है, तब यह स्वतःसिद्ध है, क्योकि समग्र प्रमाण उसकी यथार्थता की पूर्वकल्पना कर लेता है।[2] कुमारिल के मत मे विषय चैतन्य के साथ वृत्ति द्वारा सम्बद्ध प्रतीत होते है। आत्मा का अचिदंश (चैतन्यविहीन अंश) सम्भवतः अन्तःकरण है, जिसके द्वारा आत्मा वृत्ति के रूप मे विकसित हुई है। केवल इसलिए कि आत्मचैतन्य मे आत्मा विषयी तथा विषय दोनो है, यह परिणाम न निकालना चाहिए कि इसमे चैतन्य तथा चैतन्यविहीनता दोनो के अंश है। वस्तुतः, हम देखते है कि कुमारिल और प्रभाकर दोनो आत्मा के विषय मे एक अधिक उपयुक्त विचार को प्राप्त करने के लिए संघर्ष तो करते है, किन्तु अपनी-अपनी क्रियात्मक रुचियो के कारण उसे प्राप्त नही कर सकते।

१३

यथार्थता का स्वरूप

मीमांसा की प्रत्यक्ष-विषयक प्रकल्पना पदार्थों की यथार्थता को मान लेती है, क्योकि यथार्थ पदार्थों के साथ सम्पर्क होने पर ही प्रत्यक्ष ज्ञान उत्पन्न होता है।[3] जब हम प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त करते हैं तो पदार्थों का प्रत्यक्ष करते है, अपने बोधो का नहीं।[4] बोध का हम अनुमान करते है, प्रत्यक्ष नही करते। ज्ञान की स्वतःप्रामाणिकता का सिद्धान्त जाने गए पदार्थों की यथार्थता को उपलक्षित करता है। कुमारिल उस प्रकल्पना (निरालम्बनवाद) का प्रत्याख्यान करता है जिसके अनुसार विचारो का कोई आधार नही है और शून्यवाद की प्रकल्पना का भी खण्डन करता है जिसके अनुसार पदार्थों की बाह्य यथार्थता केवल शून्यमात्र है। बाह्य जगत् की यथार्थता ही केवल अनुभव और जीवन की

१. घटावच्छिन्ना हि ज्ञातृता ग्राह्या, शुद्धैव ज्ञातृता ग्राहिका (न्यायमञ्जरी, ४३०)।
२. देखिए सुरेश्वरकृत सम्बन्धवार्तिक, १०६६।
३. सत्सम्प्रयोग, मीमांसासूत्र, १ : १, ४।
४. अर्थविषया प्रत्यक्षबुद्धिर्न बुद्धिविषया। १ : १, ४ पर शबर।

आधारभित्ति है। यदि विचारों के अतिरिक्त और कुछ न हो, तो हमारे समस्त निष्कर्ष, जो बाह्य यथार्थता में विश्वास पर आधारित हैं, मिथ्या हो जाएंगे। बोधों का यथार्थ आश्रय बाह्य जगत् में है, यह आगे और ज्ञान से भी विरोध नहीं खाता। यदि यह कहा जाए कि जागरितावस्था के बोधों की अयथार्थता योगियों की अन्तर्दृष्टि में मालूम होती है, तो कुमारिल इसका उत्तर देते हुए योगियों की अन्तर्दृष्टि की प्रामाणिकता का निषेध करता है, और अन्य यौगिक अन्तःप्रेरणाओं का उद्धरण देता है जो जगत की यथार्थता को पुष्ट करती है। मीमांसा के विचारक जगत् को प्रतीयमान प्रपंच बतानेवाली प्रकल्पना का समर्थन नहीं करते। "जो ब्रह्म को जानते हैं वे यदि इसी परिणाम पर पहुंचते हैं कि वह सब कुछ, जो ज्ञात है, मिथ्या है, और जो अज्ञात है, वह सत्य है, तो मैं झुककर उनसे विदा लेता हूं।"[1] यह विश्व यथार्थ है और मन से, जो इसका प्रत्यक्ष करता है, स्वतन्त्र है।

प्रभाकर द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, परतन्त्रता, शक्ति, सादृश्य, और संख्या—इन आठ पदार्थों को स्वीकार करता है। द्रव्य, गुण और कर्म की व्याख्या लगभग उसी प्रकार की है जैसी कि न्याय की प्रकल्पना में है। प्रभाकर के अनुसार, सामान्य यथार्थ है। यह प्रत्येक व्यक्ति में पूर्णरूप में विद्यमान रहता है और इन्द्रियप्रत्यक्ष का विषय है। व्यक्ति से पृथक् इसका अस्तित्व नहीं है। प्रभाकर उच्चतम प्रजाति के अस्तित्व को स्वीकार नहीं करता, इस आधार पर कि हमें उसकी अभिज्ञता नहीं है। हम पदार्थों को केवल विद्यमान नहीं देखते। जब हम किसी व्यक्तिरूप पदार्थ को विद्यमान (सत्) कहते हैं, तो हमारा तात्पर्य यह होता है कि वह अपनी विशिष्ट सत्ता (स्वरूपसत्ता) रखता है। हम किसी वस्तु को उसके गुणों से पृथक् नहीं देखते। सामान्य और विशेष समवाय-सम्बन्ध से सम्बद्ध हैं। जब एक नया व्यक्ति उत्पन्न होता है, तो समवाय का नया सम्बन्ध उत्पन्न होता है, जिसके द्वारा वह व्यक्ति उस वर्गगत लक्षण के सम्बन्ध में आता है जो अन्य व्यक्तियों के अन्दर विद्यमान है। जब एक व्यक्ति का नाश हो जाता है तो सामान्य और व्यक्ति के मध्य जो समवाय-सम्बन्ध है उसका भी नाश हो जाता है। समवाय नित्य नहीं है, क्योंकि यह विनश्वर वस्तुओं में भी विद्यमान रहता है। यह एक नहीं है, बल्कि जितनी वस्तुएं हैं उतना ही है। यह दोनों प्रकार का है—उत्पन्न भी है, अनुत्पन्न भी है, दृश्य भी है, अदृश्य भी है। जिन वस्तुओं में यह रहता है उनके स्वरूप के अनुसार होता है। शक्ति उस क्षमता को दिया गया साधारण नाम है जिसके द्वारा द्रव्य, गुण, कर्म और सामान्य वस्तुओं के कारण बनते हैं।[2] क्षमता, जिसका अनुमान कार्यों से होता है, नित्य वस्तुओं में नित्य है और अन्यों में अनित्य है। प्रभाकर के अनुसार, सादृश्य को द्रव्य, गुण अथवा कर्म के साथ न मिला देना चाहिए, क्योंकि यह गुणों में आन्तरिक सम्बन्ध से रहता है। द्रव्य गुणों में नहीं रह सकता, और न ही एक गुण

१. बृहती, पृष्ठ २०। और देखिए शास्त्रदीपिका : अद्वैतमतनिराश।

२. इस मत की कि कारण के अन्दर एक अदृष्ट शक्ति रहती है जो कार्य को उत्पन्न करती है, आलोचना नैय्यायिक ने इस आधार पर की है कि यह शक्ति न तो दिखाई देती है और न अनुमान की जा सकती है। देखिए कुसुमाञ्जलि, १।

अथवा कर्म दूसरे गुण अथवा कर्म मे रह सकता है। सादृश्य और जातिगत सामान्य रूप एकसमान नही है, क्योकि सादृश्य अपने सह-सम्बन्धी पर निर्भर करता है। यह जाति से भी सम्बद्ध है, जैसे हम कहते है कि गाय की जाति घोड़े की जाति के समान है। अभाव को और इसे एकसमान नही माना जा सकता, क्योंकि इसका बोध इसकी प्रतिकूल सत्ता के सम्बन्ध मे नही प्राप्त किया जाता। हम पहले देख आए है कि सादृश्य प्रत्यक्ष के द्वारा नही जाना जाता। अनुमान, अथवा साक्ष्य और उपमान हमें इसका ज्ञान कराते है।[1] शक्ति, सादृश्य और संख्या, ये स्वतन्त्र पदार्थ माने गए है, क्योंकि इन्हे ह्रास द्वारा अन्यों मे लाया नही जा सकता। नैय्यायिक द्वारा प्रतिपादित विशेष को नही माना गया, क्योंकि यह एक विशिष्ट प्रकार के गुण का निर्देश करता है। अभाव देश के अन्दर अपने उस आधार को छोडकर, जहा इसे विद्यमान माना जाता है, अन्य कोई वस्तु नही है।

कुमारिल सब पदार्थों को भावात्मक तथा अभावात्मक रूप मे बाटता है। अभावात्मक पदार्थ चार प्रकार के है : पूर्ववर्ती, परवर्ती, परम और पारस्परिक। भावात्मक पदार्थ भी चार प्रकार के है : द्रव्य, गुण, कर्म और सामान्य। शक्ति और सादृश्य को द्रव्य के अन्तर्गत माना गया है। क्षमता पदार्थों का ऐसा धर्म है जिसका अनुमान होता है, प्रत्यक्ष नही। यह वस्तुओ के साथ ही उत्पन्न होती है। संख्या एक गुण है। शक्ति प्राकृतिक (सहज) या उत्पन्न (आधेय) होती है। सादृश्य केवल एक गुण है, जो इस तथ्य मे पाया जाता है कि एक से अधिक पदार्थों मे एकसमान लक्षण होते है। यह एक भिन्न पदार्थ नही हो सकता, क्योंकि हम अपने साधारण अनुभव मे सादृश्य की भिन्न-भिन्न श्रेणियो से अभिज्ञ रहते है। कुमारिल की दृष्टि मे समवाय स्वय उन वस्तुओं से, जिनमे यह रहता है, भिन्न नही है।[2] प्रभाकर के समान, कुमारिल का मत है कि जातिगत सामान्यरूप प्रत्यक्ष का विषय है।[3] जो वस्तुए भिन्न है उनमे सम्बन्ध विद्यमान रहता है, किन्तु समवाय इस प्रकार का सम्बन्ध कहा जाता है जो पृथक न हो सकने योग्य वस्तुओं मे ही रहता है, जैसेकि वर्ग तथा व्यक्ति मे, और इस प्रकार यह एक असम्भव विचार है।

द्रव्य वह है जिसके अन्दर गुण रहते है। द्रव्य संख्या मे नौ है : पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि, आकाश, आत्मा, मन, काल और देश। कुमारिल इस सूची मे अन्धकार और शब्द को जोड़ता है।[4] पृथ्वी, जल, वायु और अग्नि मे रूप तथा स्पृश्यता है, और इसलिए जब ये अपनी आणविक अवस्था मे नही होते, तो दृष्टि तथा स्पर्श की इन्द्रियो के विषय होते है। अन्य द्रव्य प्रत्यक्ष के विषय नही है, उनका केवल अनुमान होता है।

१. प्रकरणपञ्चिका, पृ० ११० से आगे।

२. श्लोकवार्तिक, प्रत्यक्षसूत्र, पृष्ठ १४९-५०।

३. इन्द्रियगोचर, श्लोकवार्तिक, वनवाद, २४।

४. प्रभाकर के अनुसार, अन्धकार केवल प्रकाश के अभाव का नाम है। यदि यह द्रव्य अथवा गुण होता तो इसका प्रत्यक्ष दिन में भी होना चाहिए था। कुमारिल का तर्क है कि अन्धकार एक द्रव्य है, क्योंकि इसमें नीलेपन का गुण है और इसमें गति हो सकती है।

आकाश की प्रकट धवलता इसमे अग्नि के कणा के कारण है। आकाश का शब्द के आश्रयरूप मे अनुमान होता है। वायु प्रभाकर के मत म, न ठण्डी है, न गरम। उष्णता अथवा शीतता इसमे अग्नि अथवा जल के कणो के व्याप्त होने के कारण है। कुमारिल के अनुसार, वायु का स्पर्श द्वारा प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त होता है।

गुणो के कथन तथा उनका द्रव्या के साथ सम्बन्ध बतलाने म प्रभाकर और कुमारिल वैशेषिक के ऋणी है। कुमारिल, प्रशस्तपाद का अनुसरण करते हुए, चौबीस गुणो को गिनाता है, केवल शब्द के स्थान पर ध्वनि को और धर्म व अधर्म के स्थान पर अभिव्यक्ति तथा क्षमता को रखता है। जहा प्रभाकर बलपूर्वक यह कहता है कि व्यक्तित्व केवल नित्य वस्तुआ ही पर लागू होता है, वहा कुमारिल का मत है कि यह उत्पन्न पदार्थो तथा नित्य वस्तुओ पर भी लागू होता है।

कर्म को वैशेषिक म पाच प्रकार का बताया गया है। जहा प्रभाकर का मत है कि यह केवल अनुमान का विषय है, वहा कुमारिल इसे प्रत्यक्ष का विषय मानता है। प्रभाकर के अनुसार हम जब देश के बिन्दुआ से सयोग और वियोग देखते है तो हम कहते है कि हम गति देखते है। ये सम्पर्क देश के अन्दर है, जबकि गति पदार्थ मे है। कुमारिल का मत है कि यदि गति का अनुमान होता है, तो इसका अनुमान देश के बिन्दुओ से किसी पदार्थ के सयोग और वियोग के अभौतिक कारण के रूप मे ही हो सकता है, और इसम यह उपलक्षित होगा कि यह पदार्थ और देश दोनो मे रहता है, जबकि यह केवल पदार्थ म ही रहता है। इसलिए वह तर्क करता है कि हम गति को देखते है, जो पदार्थ मे है और जो देश के अन्दर सयोग और वियोग को उत्पन्न करती है। जबकि कुमारिल द्रव्य, गुण और कर्म की सामान्यताओ को स्वीकार करता है, प्रभाकर अन्तिम दो को स्वीकार नही करता। पूर्वमीमासादर्शन आदिम सृष्टि और नितान्त प्रलय के सिद्धान्त को स्वीकार नही करता।[1]

१४

नीतिशास्त्र

उचित जीवन की योजना धर्म है। जैमिनि धर्म की परिभाषा करते हुए कहते है कि धर्म एक अध्यादेश अथवा आदेश है।[2] 'चोदना' अर्थात् निषेधाज्ञा धर्म का लक्षण है। यह विधानकार द्वारा की गई विधान की परिभाषा है। शबर के अनुसार, चोदना ऐसे वचनो की द्योतक है जो मनुष्यो को कर्म म प्रवृत्त होने की प्रेरणा करते है।[3] 'चाहिए'

१. श्लोकवार्तिक, सम्बन्धाक्षेपपरिहार, ११३।
२. चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः (१ : १, २)।
३. चोदनेति क्रियायाः प्रवर्तकं वचनमाहुः (१ : १, २ पर शबर)।

का उद्भव बाह्य है, क्योंकि कर्तव्य हमारे लिए एक शक्ति द्वारा प्रकाशित किए जाते हैं, हम स्वयं उन्हें प्रकाशित नहीं करते। 'चोदना' शब्द का एक और अर्थ भी है, अर्थात् दैवीय प्रेरणा अथवा अन्दर से होनेवाली प्रेरणा। जो अन्तःस्थ हृदय को अच्छा लगता है वह बाहर की आज्ञा के अनुकूल होता है। एक व्यक्ति की इच्छा और जाति की दी गई व्यवस्था परस्पर समान होती है। टीकाकारों का कहना है कि जिसका आदेश दिया जाता है उसके अन्दर दुःख की अपेक्षा सुख उत्पन्न करने की क्षमता अधिक रहती है। इस प्रकार आचरण की पद्धतियां, जिनका विधान किया जाता है, अभिलषित उद्देश्यों की ओर हमें ले जाती हैं। सुख ही लक्ष्य है, जो मीमांसादर्शन को अभिमत है, यद्यपि इससे तात्पर्य इस जगत् के सुख से नहीं है। पारलौकिक सुख के लिए हमें इस लोक में आत्मत्याग का अभ्यास करना चाहिए। जिन कार्यों का परिणाम नुकसान अथवा दुःख (अनर्थ) हो वे धर्म नहीं हैं। जिसे करने के लिए आज्ञा दी गई है वह धर्म है, और वह हमें सुख की ओर ले जाता है।[1] यदि हम आज्ञाओं का पालन नहीं करते तो केवल यही नहीं कि हम अपने सुख से वञ्चित होते हैं, बल्कि दुःख भागते हैं।

पूर्वमीमांसा द्वारा प्रतिपादित नीतिशास्त्र ईश्वरीय ज्ञान पर आधारित है।[2] वैदिक आज्ञाएं धर्म के ब्योरों का प्रतिपादन करती हैं। सत्कर्म, मीमांसक के अनुसार, वह है जो वेदविहित है। कट्टरपंथी प्रकल्पना के अनुसार, स्मृति के वाक्यों के अनुरूप वैदिक वाक्य हैं, यद्यपि उनमें से कतिपय लुप्त हो गए हों, यह सम्भव है। यदि स्मृतियां श्रुति की विरोधी हैं तो उन स्मृतियों का अप्रामाण्य ठहराना होगा।[3] हमें यदि प्रतीत हो कि स्मृतियों का निर्माण स्वार्थ की प्रेरणा से हुआ है, तो ऐसी स्मृतियों को अवश्य त्याग देना चाहिए।[4] स्मृतियों से उतरकर सज्जन पुरुषों का आचरण अथवा प्रथा हमारे मार्गदर्शक हैं।[5] ऐसे कर्तव्य जिनके लिए धर्मशास्त्र में अनुमति नहीं पाई जाती, उनकी व्याख्या उपयोगिता के सिद्धान्त पर की जाती है। यदि हम सहज प्रेरणाओं के वश होकर कोई कार्य करते हैं तो हम धर्मात्मा नहीं हैं।[6] एक हिन्दू का जीवन वैदिक नियमों से शासित है, और इसलिए हिन्दू विधान की व्याख्या के लिए मीमांसा के नियम बहुत महत्त्वपूर्ण हैं।

मोक्ष की प्राप्ति के लिए हमें सन्ध्या इत्यादि नित्यकर्मों का पालन करना चाहिए और उचित अवसर आने पर नैमित्तिक कर्मों का पालन करना चाहिए। ये बिना किसी प्रतिबन्ध के कर्तव्य कर्म हैं। यदि इन्हें हम पूर्ण नहीं करते तो हमें पाप (प्रत्यवाय) लगता है। विशेष उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए हम काम्य कर्म करते हैं। यदि हमें उद्देश्यों की कामना न हो तो उन्हें करने की आवश्यकता नहीं है। निषिद्ध आचरणों से बचकर हम नरक से बचते हैं, और यदि हम काम्य कर्मों से दूर रहें तो हम

१. आदेश विधि के अनुकूल है, कर्तव्य धर्म के अनुकूल है और अनुमान फल के अनुकूल है।
२. तुलना कीजिए पाले द्वारा की गई धर्म की परिभाषा से : "ईश्वरेच्छा के अनुसार तथा स्थायी सुख की कामना से मनुष्य-जाति का कल्याण करना।"
३. १ : ३, ३।
४. १ : ३, ४।
५. १ : ३, ८–६।
६. ४ : १, ३।

अपने को स्वार्थपरक उद्देश्यों से स्वतन्त्र रख सकेंगे, और यदि हम प्रतिबन्धरहित कर्तव्य कर्मों का पालन करते रहे तो हमे मोक्षलाभ होगा ।

जैमिनि के अनुसार, यज्ञों के करने का अधिकार केवल ऊपर के तीन वर्णों, अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य को ही है । उसे आत्रेय का समर्थन प्राप्त है । परन्तु बादरी के समान ऐसे विचारक भी थे जिनका मत था कि यज्ञो का अधिकार सब वर्णो को एक-समान प्राप्त है । जैमिनि का आधार यह है कि, क्योंकि शूद्र वेदो का अध्ययन नही कर सकते, इसलिए वे यज्ञों को करने के अधिकार से वञ्चित है ।[1]

प्रभाकर के अनुयायी सकल्प-शक्ति का विस्तृत विश्लेषण करते है । 'सिद्धान्त मुक्तावलि' मे ऐच्छिक कर्म का, प्रभाकर के मत मे, निम्नलिखित क्रम दिखाया गया है: कार्यताज्ञान, अर्थात् कोई कार्य करना है इसका अभिज्ञान, अथवा कर्तव्य का भाव; चिकीर्षा, अर्थात् उसको करने की इच्छा जिसमे यह ज्ञान उपलक्षित है कि यह कार्य किया जा सकता है, अर्थात् कृतिसाध्यताज्ञान; प्रवृत्ति; चेष्टा, और क्रिया । प्रभाकर कल्याण की भावना की अपेक्षा कर्तव्य-भावना पर अधिक बल देता है, परन्तु काम्य कर्मों मे कल्याण की भावना विद्यमान रहती है, वैदिक यज्ञो मे, आदेश अपनी शाब्दिक शक्ति द्वारा, कर्ता के अन्दर, उस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए कार्य करने की प्रेरणा उत्पन्न करता है जिसका सकेत आदेश मे किया गया है । मीमासा दर्शन मानवीय स्वतन्त्रता को मानता है, अन्यथा मनुष्य अपने कर्मो के लिए उत्तरदायी नही ठहराए जा सकते ।

कर्म-विधान का तात्पर्य यदि ठीक-ठीक समझ लिया जाए तो मानवीय स्वतन्त्रता के साथ इसकी असगति नही है । हम प्रथम पग उठाने से बच सकते है, किन्तु जब एक बार पग उठा लिया तो, स्वभाव के विधान के अनुसार, दूसरा पग सरलता से उठ जाएगा ।[2]

वेद मनुष्य-जाति की विज्ञता का प्रतिनिधित्व करते है, और यदि उनमे शिक्षित समाज की सम्मति मे विरोध पाया जाता है तो उनकी प्रामाणिकता के विषय मे स्वभावत सन्देह उत्पन्न होता है । कुमारिल तर्क करता है कि वैदिक आदेशो मे अन्तर्निहित प्रामाणिकता है, क्योंकि अधिकतर जनसाधारण उन्हे मानते है । उसकी सम्मति मे सामाजिक चैतन्य वैदिक नियमो की प्रामाणिकता को पुष्ट करता है । तो भी वह कर्तव्य के विषय मे हमे वेद की पथप्रदर्शकता को स्वीकार करने का आदेश देता है, और समाज-कल्याण अथवा दूसरो का सुख सरीखे अनिश्चित पथप्रदर्शको पर विश्वास न करने का आदेश करता है ।[3] महान पुरुषों का आचरण भी हमे धर्म के स्वरूप का

१. ६ : १, २५–३८ । जैमिनि को विरोध कुछ तथ्यों से होता है, जिनका समाधान करने के लिए वह बहुत प्रयत्न करता है । ६ : १, ४४–५० मे रथकार के लिए, जो चारों वर्णों के बाहर है, अग्न्याधान यज्ञ करने का अधिकार स्वीकार किया गया है । निषाद रौद्रयज्ञ के अधिकारी है । (६ : १, ५१–५२) ।

२. डेरियस का भूत पर्शियन अवतरण से यह नैतिक शिक्षा लेता है : "जब हम अपनी स्वतन्त्र इच्छा से पाप की ओर वेग से दौड़ते है, तो स्वयं परमात्मा हमारा सहायक हो जाता है ।"

३. श्लोकवार्तिक, २ : २४२–४७ ।

संकेत करता है। किन्तु कुमारिल बौद्धमत के सिद्धान्तो का समर्थन करने मे सकोच अनुभव करता है, क्योकि बौद्ध वेदों की प्रामाणिकता का विरोध करते है। वह नेकनीयती के साथ स्वीकार करता है कि बौद्धो का आचार-विधान, जो अहिसा पर बल देता है, श्रेष्ठ है, यद्यपि वे जो वेदो का खण्डन करते है, वह निन्दनीय है। बौद्धमत मे जो सत्य का अश है वह उससे मिश्रित है जो अधिकतर मिथ्या है, और इसलिए वह इसकी तुलना उस दूध के साथ करता है जो कुत्ते की खाल में रखा हुआ है।[1]

वेदान्त यान्त्रिक क्रियाकलाप (कर्मकाण्ड) का विरोध उसी भावना को लेकर करता है जिस भावना से ईसामसीह ने पारसियो का विरोध किया और लूथर ने कर्मों द्वारा औचित्य-निर्णय के सिद्धान्त का विरोध किया। प्रत्येक कार्य चाहे वह कितना ही पवित्र क्यो न प्रतीत हो, बिना किसी मनोभावना के यान्त्रिक रूप मे किया जा सकता है, और इसलिए अपने-आपमे मोक्ष के लिए अधिक उपयोगी नही हो सकता। कर्मकाण्डवाद अधिकतर हानिकारक है, क्योंकि उसमे मिथ्याविश्वास रहता है। हम चाहे कितने ही यज्ञ क्यो न करे, फिर भी हो सकता है कि वे आन्तरिक भावना मे कोई भी परिवर्तन न ला सके। यदि पुण्य अथवा धर्म से तात्पर्य नैतिक सुधार अथवा हृदय-परिवर्तन से है, तो कर्मकाण्ड-सम्बन्धी यज्ञ नही बल्कि स्वार्थत्याग आवश्यक है। वेद श्रद्धा, भक्ति और तपस्या का विधान करते है, जिनका यज्ञो के साथ बहुत दूर का सम्बन्ध है।[2] ईश्वरवादी मत, जो घोषणा करता है कि समस्त कार्य ईश्वर को समर्पित करके करना चाहिए, वेद की भावना के अनुकूल है। कुछ परवर्ती मीमांसको का यही मत है। लौगाक्षि भास्कर हमे बतलाता है कि जब ईश्वरार्पण के भाव मे कर्तव्य का पालन किया जाता है तो वह मोक्ष का कारण बन जाता है।[3] इस लोक मे या परलोक मे पुरस्कार का भाव अनासक्ति तथा आत्मत्याग की भावना को दबा देता है। इसके अतिरिक्त, मीमासक मुख्य करके यज्ञो के विषय मे ही कहते है,[4] और इस प्रकार मानवीय जीवन के मुख्य भाग को अछूता छोड़ देते है।

१५

अपूर्व

कर्मों को करने का आदेश उनके फलों की दृष्टि मे रखकर किया जाता है। कर्म और उसके परिणाम मे एक प्रकार का सम्बन्ध रहना आवश्यक है। कर्म, जो आज किया गया है, किसी भविष्यत्काल मे अपना परिणाम उत्पन्न नही कर सकता जब तक कि वह समाप्त होने से पूर्व किसी अदृष्ट परिणाम का जन्म न दे दे। जैमिनि इस प्रकार

१. श्वचर्मनिक्षिप्तक्षीरवत् (तन्त्रवार्तिक, १ : ३, ६, पृष्ठ १२७)।

२. श्रद्धा देवा यजमाना उपासते (ऋग्वेद, १० : १५१-५४) और देखिए ऋग्वेद, १० : १६७।

३. ईश्वरार्पणबुद्ध्या क्रियमाणस्तु निःश्रेयसहेतुः (अर्थसंग्रह)।

४. यागादिरेव धर्मः, तल्लक्षणं वेदप्रतिपाद्यः प्रयोजनवद् अर्थो धर्मः (अर्थसंग्रह, पृष्ठ १)।

की एक अदृष्ट शक्ति की कल्पना करते है और उसे 'अपूर्व' की सज्ञा देते है।[1] इसे या तो फल का पूर्ववर्ती अदृष्ट माना जा सकता है या कर्म की पश्चाद्वर्ती अवस्था। क्योकि यज्ञ इत्यादि की व्यवस्था ऐसे निश्चित फलो के लिए की गई है जो दीर्घकाल के बाद मिलते है, इसलिए कालान्तर मे फल की प्राप्ति तब तक सम्भव नही हो सकती जब तक कि इसके लिए अपूर्व को माध्यम न माना जाए।[2] कार्य तथा उसके परिणाम के बीच 'अपूर्व' एक अतिलौकिक कडी है।[3] मीमासक कर्मों के फलो को ईश्वर की इच्छा पर निर्भर मानने के इच्छुक नही है, क्योकि नानाविध कार्यो का कारण कोई एक नही हो सकता।[4]

> कुमारिल के अनुसार, अपूर्व प्रधान कर्म मे अथवा कर्ता मे एक योग्यता है, जो कर्म के करने से पूर्व नही थी और जिसका अस्तित्व धर्मशास्त्र के आधार पर सिद्ध होता है। कर्म के द्वारा उत्पन्न निश्चित शक्ति जो परिणाम तक पहुचाती है, अपूर्व है। अपूर्व का अस्तित्व अर्थापत्ति से सिद्ध होता है। यदि हम इसके अस्तित्व को नही माने तो कितने ही वेदवाक्यो की व्याख्या न हो सकेगी। कर्ता द्वारा किया गया यज्ञ कर्ता मे साक्षात् एक ऐसी शक्ति उत्पन्न करता है जो उसके अन्दर अन्यान्य शक्तियो की भाति जन्म-भर विद्यमान रहती है और जीवन के अन्त मे उसके लिए प्रतिज्ञात पुरस्कार प्राप्त कराती है। प्रभाकर के अनुसार, अपूर्व आत्मा के अन्दर नही रह सकता, क्योकि अपनी सर्वत्र व्यापकता ही के कारण आत्मा निष्क्रिय है। वह इस मत को स्वीकार नही करता कि कर्म कर्ता के अन्दर एक निश्चित क्षमता उत्पन्न करता है, जो अन्तिम परिणाम का निकटतम कारण है। यज्ञ इस प्रकार की क्षमता उत्पन्न करता है, यह न तो प्रत्यक्ष से न अनुमान से और न धर्मशास्त्र से ही सिद्ध होता है। कर्ता के प्रयत्न से कर्म उत्पन्न होता है, और कारणरूप क्षमता इसी प्रयत्न मे रहनी चाहिए। इस प्रकार हमे क्षमता की कल्पना कर्म मे करनी चाहिए न कि कर्ता मे। इसके अतिरिक्त, [illegible] १, २ मे यह सिद्ध किया गया है कि नियोज्य पुरुष द्वारा अभिलषित परिणाम का साक्षात् कारण, कार्य है। यह कार्य कर्म नही हो सकता, क्योकि कर्म अन्तिम परिणाम का साक्षात् कारण नही है। कार्य की उत्पत्ति कर्ता की कृति अर्थात् प्रयत्न द्वारा होती है, जिसका कारण नियोग (प्रेरणा) है।[5] प्रयत्न कर्ता के अन्दर एक परिणाम (कार्य) उत्पन्न करता है। प्रभाकर इसे भी नियोग का नाम देता है, क्योकि यह कर्ता के लिए एक प्रेरक का कार्य करता है, जिसके कारण वह कर्म करने का प्रयत्न करता है, परन्तु

१. कोई नई वस्तु, जो पहले नही जानी गई।

२. पूर्वमीमासासूत्र, २ : १, ५।

३. तुलना कीजिए भीमाचार्य की इस परिभाषा से : यागादिजन्य स्वर्गादिजनकः कश्चन गुणविशेषः (न्यायकोश)।

४. शाकरभाष्य, ३ : २, ४०। ५. ३ : १, ३।

यह नियोग, जब तक भाग्य इसमें सहायक न हो, परिणाम को उत्पन्न नहीं कर सकता, जैसाकि शालिकनाथ ने कहा है। प्रभाकर के मत[1] को समझना आसान नहीं है और वह कुमारिल के मत से कुछ उन्नत भी प्रतीत नहीं होता।

उद्योतकर ने अपूर्व के सिद्धान्त की आलोचना की है।[2] यह नित्य नहीं हो सकता, क्योंकि इसे नित्य मानने से मृत्यु सम्भव न हो सकेगी, क्योंकि पुण्य व पाप भी नित्य हो जाएंगे। यदि अपूर्व एक है तो सब मनुष्यों के सुख और दुःख एकसमान होंगे। हम यह नहीं कह सकते कि यद्यपि अपूर्व एक है, किन्तु अभिव्यक्त करनेवाले साधन अनेक है, क्योंकि हम नहीं जानते कि अभिव्यक्त करनेवाला साधन क्या है, अर्थात क्या यह परिणाम उत्पन्न करने की योग्यता है, अथवा अपूर्व से सम्बद्ध एक धर्म है। हम नहीं कह सकते कि अपूर्व और योग्यता एक ही है, या भिन्न है। यदि हम कहें कि गुप्त अपूर्व अभिव्यक्त किया गया है, तो हमारे लिए इसका समाधान करना आवश्यक होगा कि पहले यह गुप्त कैसे रहता है। यदि नित्य अपूर्व भिन्न-भिन्न पुरुषों के लिए भिन्न-भिन्न भी हो, तो भी अभिव्यक्ति की कठिनाइयों से बच नही सकते। शङ्कराचार्य अपूर्व की प्रकल्पना की आलोचना इस आधार पर करते है कि यह अभौतिक नही है और तब तक यह कार्य नही कर सकता जब तक कि इसे चालित करनेवाला कोई आध्यात्मिक न हो। कर्मों के फलों की व्याख्या एकमात्र अपूर्व के सिद्धान्त से नहीं हो सकती। यदि कहा जाए कि ईश्वर अपूर्व के सिद्धान्त के अनुसार कर्म करता है, तो वेदान्त का ठीक यही मत है कि ईश्वर कर्म-विधान के अनुसार कार्य करता है।[3]

१६

मोक्ष

जैमिनि और शबर ने मोक्ष की समस्या का सामना नही किया। उन्होंने स्वर्ग के जीवन का तो मार्ग निर्दिष्ट किया, किन्तु संसार से मुक्ति का मार्ग-निर्देश नही किया। परन्तु परवर्ती लेखक उक्त समस्या से बच नही सके, क्योंकि अन्य सम्प्रदायों के विचारकों का ध्यान इधर आकृष्ट था। प्रभाकर के अनुसार, धर्म और अधर्म के सर्वथा विलोप होने का नाम ही मोक्ष है, क्योंकि इनका व्यापार ही पुनर्जन्म का कारण है। इसकी परिभाषा इस प्रकार की है, "समस्त धर्म और अधर्म के विलोप हो जाने के कारण जो शरीर की समाप्ति है वही मोक्ष है।"[4] एक व्यक्ति यह पता लगाकर कि इस संसार में सुख-दुःख

१. प्रकरणपञ्चिका, पृष्ठ १८५ से आगे।

२. न्यायवार्तिक, १ : १, ७।

३. कर्मापेक्षाद् अपूर्वापेक्षाद् वा यथास्तु तथास्तु ईश्वरात फलम् (शाङ्करभाष्य, ३ : २, ४१)।

४. आत्यन्तिकस्तु देहोच्छेदो निःशेषधर्माधर्मपरिक्षयनिबन्धनो मोक्ष इति सिद्धम्। धर्माधर्मवशीकृतो जीवस्तासु तासु योनिषु संसरति (प्रकरणपञ्चिका, तत्त्वालोक, पृष्ठ १५६)।

के साथ मिश्रित है, मोक्ष की ओर अपने ध्यान को मोडता है। वह निषिद्ध कर्मों से बचने का प्रयत्न करता है और विहित कर्मों से भी बचता है, जो इस लोक मे या परलोक मे सुख दे सकते हैं। वह पूर्व-एकत्रित कर्म को पूर्णतया समाप्त कर देने के लिए जो आवश्यक परिशुद्धिया है उनमे से गुजरता है, और शनै -शनै आत्मा के सत्यज्ञान से, जिसमे सन्तोष तथा आत्मनियन्त्रण सहायक होते है, अपने शारीरिक जीवन से मुक्ति पा जाता है।[1] केवल ज्ञान हमे बन्धन से मुक्ति नही दिला सकता, जिसकी प्राप्ति कर्म की सर्वथा समाप्ति से ही हो सकती है। ज्ञान आगे के लिए पुण्य व पाप के सचय को रोकता है।[2] यह प्रकट है कि प्रभाकर के अनुयायी केवल कर्म को ही अपने आपमे मोक्ष-प्राप्ति के लिए पर्याप्त नही मानते। कर्म, पुरस्कार की आशा मे, आगामी जन्म की ओर ले जाता है। हमारी रुचिया तथा अरुचिया हमारे भावी जीवनो की निर्णायक है। यदि हम मोक्ष प्राप्त करना चाहते है तो हमे इस चक्र को अवश्य तोडना होगा। सुख और दु ख दोनो की समाप्ति का नाम मोक्ष है। यह परम आनन्द की अवस्था नही है, क्योकि गुणविहीन आत्मा आनन्द को भी प्राप्त नही कर सकती। मोक्ष केवल आत्मा का प्राकृतिक स्वरूप है।[3]

कुमारिल के अनुसार, मोक्ष समस्त दु ख से रहित आत्मा को अपने स्वरूप मे स्थिति है।[4] कुछ विचारक आत्मा के आनन्दानुभव को मोक्ष मानते है।[5] किन्तु यह कुमारिल के मत के विरुद्ध है, जो बलपूर्वक कहता है कि मोक्ष नित्य नही हो सकता जब तक कि यह निषेधात्मकस्वरूप न हो।[6] पार्थसारथि का भी मत है कि मोक्ष की अवस्था दु ख से मुक्ति है, सुखोपभोग नही है। आत्मा ज्ञान की शक्ति है। पदार्थों (विषयो) के बोध मानस तथा इन्द्रियो की क्रियाओ के कारण है। क्योकि मोक्ष मे इनका कोई अस्तित्व नही रहता, इसलिए आत्मा सब प्रकार की अभिव्यक्ति से रहित, अपने विशुद्ध सारतत्त्व मे रहती है। यह सुख, दु ख और वैसे ही अन्य विशिष्ट गुणो से रहित एक अवस्था है। इसे चैतन्य की ऐसी अवस्था माना जा सकता है जिसमे कोई विषयपरक बोध अथवा किसी भी प्रकार की सवेदना नही होती। किन्तु कुमारिल मोक्ष को एक विध्यात्मक अवस्था—आत्मा का साक्षात्कार—मानता है, और यह अद्वैत वेदान्त के बिलकुल समीप है। उसके विचार मे मोक्षप्राप्ति के लिए ज्ञान पर्याप्त नही है। उसका विश्वास है कि ज्ञानयुक्त कर्म से मोक्ष की प्राप्ति हो सकती है।

१. शमदमब्रह्मचर्यादिकाङ्गोपबृंहितेनात्मज्ञानेन। पृष्ठ १५७।
२. एक भिन्न मत के लिए देखिए भाट्टचिन्तामणि, बनारस एडीशन, पृष्ठ ५७।
३. स्वात्मस्वरूपः (प्रकरणपञ्चिका, पृष्ठ १५७)।
४. परमात्मप्राप्त्यवस्थामानम्।
५. नित्येन स्वात्मसौख्यानुभूतिः।
६. श्लोकवार्तिक, सम्बन्धाक्षेपपरिहार, पृष्ठ १०७।

१७

ईश्वर

पूर्वमीमासा अनेको देवताओ के अस्तित्व को स्वीकार कर लेती है, जिससे कि वेदविहित आहुतिया उन्हे अर्पित की जा सके । यह इन देवताओ के परे नही जाती, क्योकि वैदिक धर्म के पालन मे किसी सर्वोपरि शक्ति की कल्पना की आवश्यकता नही है । जैमिनि ईश्वर का निषेध उतना नही करते जितना कि उसकी ओर उपेक्षा का भाव रखते है। वैदिक धर्म के किसी भी ब्यौरे मे ईश्वर की सहायता आवश्यक नही है । धर्म की स्थापना एक नित्य स्वयंभू: वेद के द्वारा हुई है, और हम पहले ही देख आए है कि किस प्रकार वेद को ईश्वर की कृति मानने के प्रयासो का प्रत्याख्यान किया गया है । यज्ञों के पुरस्कार किसी परोपकारी ईश्वर के कारण नही है । यहा तक कि जहा परिणाम तुरन्त प्रकट नही होते, वहा अपूर्व का अतीन्द्रिय सिद्धान्त उपस्थित कर दिया जाता है, और यह समय पर यज्ञ के कर्ता को उसके पुरस्कार की प्राप्ति मे सहायता देता है। एक सर्वज्ञ सत्ता के अस्तित्व का कोई विश्वसनीय प्रमाण नही मिलता । प्रत्यक्ष, अनुमान तथा शब्दप्रमाण सब अनुपयोगी है । श्रुति के वे वाक्य जो घोषणा करते है 'वह सब जानता है', 'वह ससार को जानता है', यज्ञकर्ता के पुण्यो की बढा-चढाकर स्तुति करते है । कार्यो का सिलसिला और उससे निकलनेवाले परिणाम, बीजाकुर की भाति, अनादिकाल से अनन्तकाल तक चलते रहते है । मीमासा उस सिद्धान्त को स्वीकार नही करती जिसके अनुसार सृष्टि और प्रलय बार-बार होते है । परिणमन तथा विनाश की प्रक्रिया निरन्तर चलती है । यह कल्पना करना व्यर्थ है कि सर्वोपरि प्रभु किसी एक समय मे सब आत्माओ की शक्तियो को निष्क्रिय बना देता है और जब एक नई सृष्टि का सचालन होता है तो उन्हे फिर से जागरित करता है । प्रभाकर यह तो स्वीकार करता है कि विश्व के सघटक भाग है, जिनका आदि भी है और अन्त भी है, किन्तु वह यह मानता है कि पूर्ण इकाई के रूप मे विश्व का न आदि है, न अन्त है । मनुष्यों तथा पशुओ के शरीरो की उत्पत्ति मे हम किसी दैवीय सत्ता के हस्तक्षेप को नही देखते, क्योकि वे अपने माता-पिता से उत्पन्न होते है । हम नही कह सकते कि परमाणु ईश्वर की इच्छा के अनुकूल कर्म करते है, क्योकि हमारे अपने अनुभव मे प्रत्येक आत्मा उस शरीर पर कार्य करती है जो उसे मिला हुआ है । किन्तु परमाणु ईश्वर का शरीर नही हैं । यदि हम ईश्वर को शरीररूपी यन्त्र प्रदान करे भी, तो उस शरीर मे क्रिया ईश्वर के ही प्रयत्न के कारण होगी । यदि वह प्रयत्न नित्य है तो परमाणु निरन्तर क्रियाशील रहेगे । और न ही हम यह कह सकते है कि धर्म व अधर्म का कोई दैवीय निरीक्षक है, क्योकि वे बुद्धिसम्पन्न व्यक्तियो से सम्बद्ध है । एक सत्ता, चाहे वह कितनी ही महान क्यों न हो, दूसरे के धर्म और अधर्म को नही जान सकती । ईश्वर अपनी इन्द्रियों अथवा मन के द्वारा दूसरों के धर्म को, जो अदृश्य है, प्रत्यक्ष नही कर सकता, क्योंकि वह उसके शरीर के बाह्य है । धर्म और अधर्म पर ईश्वर के नियन्त्रण का क्या स्वरूप है, इसे समझना कठिन है। यह नियन्त्रण संयोग की अवस्था नही है, क्योंकि धर्म

और अधर्म गुण है और संयोग द्रव्यों में ही सम्भव हो सकता है। यह समवाय की अवस्था भी नहीं है क्योंकि धर्म और अधर्म अन्य आत्माओं में समवाय-सम्बन्ध से रहते है, और ईश्वर मे नही रह सकते ।[1]

कुमारिल न्याय के उस मत की आलोचना करता है जो तर्क के द्वारा ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध करता है, और घोषणा करता है कि वेदों का निर्माण ईश्वर द्वारा हुआ है। यदि वेद, जिन्हें ईश्वर की कृति समझा जाता है, कहते है कि ईश्वर जगत् का स्रष्टा है, तो इस प्रकार के कथन का कोई मूल्य नही है।[2] यदि स्रष्टा ने जगत् को बनाया है तो इसे कौन प्रमाणित करेगा? फिर, वह जगत् का निर्माण कैसे करता है? यदि उसका कोई भौतिक शरीर नही है, तो उसे सृष्टिरचना की कोई इच्छा भी नही हो सकती। यदि उसका कोई भौतिक शरीर है तो वह स्वय उसके कारण नही हो सकता, और इस प्रकार हमे उसके लिए एक अन्य स्रष्टा मानना होगा। यदि उसका शरीर नित्य माना जाए तो वह किन तत्त्वों से बना है क्योंकि पृथ्वी आदि तत्त्व तो तब तक उत्पन्न नही हुए थे? यदि उसकी रचनात्मक क्रिया से पूर्व प्रकृति का अस्तित्व है, तो अन्य पदार्थों के अस्तित्व का निषेध करने का कोई कारण नही है। दुःखों से भरे इस ससार को उत्पन्न करने मे ईश्वर का क्या प्रयोजन है? भूतकाल के कर्म की व्याख्या लागू नही होती, क्योंकि इसमे पूर्व सृष्टि न थी। दया के कारण वह सृष्टि की रचना नही कर सकता, क्योंकि ऐसे प्राणी नही थे जिनपर दया दिखाई जा सके। इसके अतिरिक्त इस मत के अनुसार केवल सुखी प्राणियों की ही रचना की जानी चाहिए थी। हम यह नही कह सकते कि ऐसी सृष्टि की रचना सम्भव नही है जिसमे दुःख का अंश विद्यमान न हो, क्योंकि ईश्वर के लिए कुछ भी असम्भव नही है। किन्तु यदि किन्हीं कारणों से उसपर प्रतिबन्ध लगा हुआ है, तो वह सर्वशक्तिमान नही है। यदि सृष्टि की रचना ईश्वर के मनोरंजन के लिए है, तो उस कल्पना से विरोध होता है जो कहती है कि ईश्वर सर्वथा सुखी है। इससे ईश्वर बहुत अधिक कष्टदायक परिश्रम में पड जाएगा, और न ही ससार के विनाश की उसकी इच्छा समझ में आएगी। हम उसकी वाणी पर क्यों विश्वास करें? क्योंकि यदि उसने जगत् का निर्माण न भी किया हो तो भी अपनी शक्ति की महत्ता दिखाने को वह ऐसा कह सकता है।[3] यदि स्रष्टा अपने धर्म की मात्रा के कारण अन्यों से भिन्न है, तो धर्म केवल वेदों के द्वारा ही सम्भव है, और इस प्रकार वे सृष्टि से पूर्ववर्ती है।[4] यदि यह कहा जाए कि परमाणु ईश्वर की इच्छा के अनुसार कार्य करते है, तो ईश्वरेच्छा कैसे उदय होती है? यदि अदृष्ट सरीखे किसी कारण से इसे प्रेरणा मिलती है, तो वही ससार का भी कारण हो सकता है।[5] यदि ईश्वर अन्य वस्तुओं पर निर्भर करता है तो उसकी स्वतन्त्रता में अन्तर पड़ता है। यदि

१. झा : प्राभाकरमीमांसा, पृष्ठ ८०-८७।
२. श्लोकवार्तिक, सम्बन्धाक्षेपपरिहार, ११४ ; चोदनासूत्र, १४२।
३. असृष्ट्वापि ह्यसौ ब्रूयादात्मैश्वर्यप्रकाशनात्, ६०।
४. श्लोकवार्तिक, सम्बन्धाक्षेपपरिहार, ४४–७२, ११४–१६।
५. वही, ७२–७३।

हम ईश्वर की इच्छा का आश्रय लेते है, तो ससार की व्याख्या के लिए वह पर्याप्त है, और कर्म की कोई आवश्यकता नही रह जाती।

देवताओ के देहधारी स्वरूप के विषय मे शबर का विचार है कि वेद उक्त स्वरूप के विषय में केवल स्तुति के विचार से कहते है। यह कहने का कि "हमने तुम्हारा हाथ पकड़ लिया है" अर्थ होता है कि हम तुम्हारी शरण मे आ गए है।[1] प्रभाकर और कुमारिल दोनों का मत है कि देवता देहधारी नही है। हम देवताओं की कृपा से अपने कर्मों का फल प्राप्त नही करते, और इसलिए उन्हे किसी प्रकार के भौतिक रूप की आवश्यकता नही है। यद्यपि मीमासा के सस्थापको ने देवताओ को किसी प्रकार की यथार्थता से सम्पन्न माना, परन्तु परवर्ती मीमासक, मन्त्रो के महत्त्व पर बल देने की उत्सुकता मे, तर्क करते हुए कहते है कि यज्ञकर्ता को देवताओ के व्यक्तित्व से कोई सरोकार नही है, उसे मन्त्रो तक ही अपने ध्यान को सीमित रखना चाहिए। उनका झुकाव देवताओ को काल्पनिक मानने की ओर है, और तो भी व इसपर बल देते रहते है कि उन्हे आहुतिया देने से पुरस्कार-प्राप्ति निश्चित है, चाहे उन्हे उद्दिष्ट करके बने मन्त्रों से अलग उनका अस्तित्व ही न हो।[2]

पूर्वमीमासा पर लिखे गए एक आधुनिक ग्रन्थ मे इस प्रश्न पर मीमासा के मत को वेदान्त के मत के साथ समन्वय करने का सुकल्पित प्रयत्न किया गया है।[3] ऐसा तर्क दिया गया है कि यह ठीक है कि जैमिनि ईश्वर के पुरस्कारो का वितरण करनेवाले रूप का खण्डन करते है, परन्तु वह ईश्वर के सृष्टि का स्रष्टा होने का निषेध नही करते। जहा अन्य दर्शन-पद्धतियो के मत मे ईश्वर जगत् का स्रष्टा भी है और फलो का प्रदाता भी है, वहा जैमिनि का विरोध यही है कि ईश्वर फलो का प्रदाता नही है। कोई भी पदार्थ जब मनुष्य को सुख या दु.ख प्रदान करता है तो 'फल' कहलाता है। जब तक इसका सम्बन्ध किसी व्यक्ति के साथ सुख अथवा दु.ख के रूप मे नही है तब तक इसे 'फल' नही माना जा सकता।[4] जब कर्म को 'फल' का कारण कहा जाता है तो इसका तात्पर्य यह होता है कि यह पदार्थ के सुखोपभोग का कारण है, केवल उसकी रचना से तात्पर्य नही होता। क्योकि बादरायण अपने ग्रन्थ के तीसरे अध्याय मे जैमिनि के मत पर विचार करता है, इसलिए वह जैमिनि के इस मत पर आक्षेप करता है कि ईश्वर नही बल्कि अपूर्व पुरस्कारो के वितरण का कारण है। यदि जैमिनि ने ईश्वर को स्रष्टा मानने से निषेध किया होता, तो बादरायण ने निश्चित रूप से इसका खण्डन दूसरे अध्याय मे किया होता, जो प्रतिपक्षियों की कल्पनाओ की आलोचना के लिए ही रखा गया था। जैमिनि ने अनुभव किया कि यदि ससार की असमानताओ का एकमात्र उत्तरदायित्व

१. १० : १, ६ पर शबर को देखिए।
२. देखिए आपदेव : देवतास्वरूपविचार।
३. पी० शास्त्री : पूर्वमीमांसा, पृष्ठ ३।
४. शांकरभाष्य, ३ : २, ३८।

अकेले ईश्वर पर होता, तो वह पक्षपात तथा क्रूरता के दोषों से मुक्त न हो सकता, और इस कारण मनुष्यों के नानाविध भाग्यों का कारण उसने उनके पूर्व आचरण को ही ठहराया। यह समाधान निश्चय दिलानेवाला नहीं है, क्योंकि इससे पूर्व कि हम वस्तुओं से सुख अथवा दुःख की प्राप्ति कर सकें, उनका पहले अस्तित्व आवश्यक है। यदि अपूर्व हमारे सुखों और दुःखों का वितरण करने-वाला है, तो इसे जगत् का स्रष्टा भी होना चाहिए। यदि सृष्टिरचना के लिए ईश्वर आवश्यक है, तो अपूर्व केवल कर्म का सिद्धान्त होना चाहिए, जिसका ध्यान ईश्वर ने सृष्टि-रचना में रखा है। साक्षात् अथवा परोक्ष रूप में जैसे भी हो, ईश्वर जगत् का स्रष्टा तथा फलों का प्रदाता भी बन जाता है।

पूर्वमीमासा के अन्दर का शून्य स्थान इतना सन्तोपजनक था कि परवर्ती लेखक गुप्त मार्ग मे ईश्वर को ले आए। अपूर्व का अचेतन तत्त्व उन सामंजस्यपूर्ण परिणामों को जो इसके कारण उत्पन्न हुए कहे जाते है, प्राप्त नहीं कर सकता, इस आलोचना में जो बल था उसे अनुभव किया गया।[1] शनैः-शनैः दैवीय सिद्धान्त का प्रवेश हुआ। किन्तु इस सर्वोपरि प्रभु का कर्मविधान के अधीन होना आवश्यक नही है, क्योंकि कोई भी अपने ही स्वरूप के अधीन नहीं होता। कर्मविधान ईश्वर की निरन्तरता को व्यक्त करता है। जब कुमारिल यह स्वीकार कर लेता है कि कर्म और उपासना दोनों मोक्षप्राप्ति के लिए आवश्यक है, तो वह ईश्वर के अस्तित्व को निश्चित रूप से मानता है, यद्यपि निःसन्देह यह तर्क दिया जाता है कि उपासना भी एक प्रकार का कर्म है जो स्वयं अपने उचित फल को उत्पन्न करता है। यह प्रकट है कि बहुत पहले ही यह अनुभव कर लिया गया था कि मीमांसादर्शन यदि ईश्वरवाद से अपना सम्बन्ध नहीं जोड़ता तो विचारवान पुरुषों को सन्तोष प्रदान न कर सकेगा। इसलिए आपदेव और लौगाक्षिभास्कर घोषणा करते है कि यदि यज्ञ का सम्पादन सर्वोपरि प्रभु के सम्मान में किया जाता है तो यह उच्चतम कल्याण को प्राप्त कराएगा। इस प्रवृत्ति को अपनी पूर्ण सीमा तक वेदान्तदेशिक के सेश्वर मीमासाग्रन्थ मे पहुचाया गया है।

पूर्वमीमासा मे नैतिक पक्ष पर बल दिया गया है। कर्म के स्थिर सिद्धान्त को संसार की परम यथार्थता समझा गया है। ईश्वर न्यायपरायणता अथवा धर्म है। धर्म की विषयवस्तु वेदों मे रखी गई है, और वेद, केवल ईश्वर के मन को प्रकाश में लाते है। कुमारिल कहता है : "यह शास्त्र जिसे वेद कहा जाता है, जो शब्दों के रूप में ब्रह्म है, एक सर्वोपरि आत्मा का स्थापित किया हुआ है।"[2] कुमारिल अपनी पुस्तक का प्रारम्भ शिव के प्रति प्रार्थना से करता है : "मैं उसे प्रणाम करता हूं जिसका शरीर विशुद्ध ज्ञान से बना है, तीनों वेद जिसके दिव्य चक्षु हैं, जो परमानन्द की प्राप्ति का

१. भामती, ३ : २, ४१।
२. शब्दब्रह्मेति यच्चेदं शास्त्रं वेदाख्यमुच्यते।
तदप्यधिष्ठितं सर्वमेकेन परमात्मना॥ (तन्त्रवार्तिक, पृष्ठ ७१९।)

कारण है, और जो अर्धचंद्र को धारण करता है।[1] वेद ईश्वर के मन का दिव्य ज्ञान है। यज्ञ-सम्बन्धी कार्य आनन्द के विशेष कारण हो सकते हैं किन्तु ईश्वर सामान्य कारण है। यह मत कुमारिल के इस घोषित आशय के साथ भी संगति रखता है कि मीमांसा के सिद्धान्त की इस प्रकार पुनर्व्याख्या करनी चाहिए जिससे कि उसे उस काल की अप्रकृतिवादी प्रवृत्तियों की अनुकूलता में लाया जा सके।[2]

मीमांसा को दार्शनिक रूप में असन्तोषजनक बताने के लिए कुछ अधिक कहना आवश्यक है। विश्व के सम्बन्ध में मीमांसा का जो दार्शनिक मत है वह अपूर्ण है, जो स्पष्ट प्रतीत होता है। परम यथार्थता की ओर आत्माओं तथा प्राकृतिक जगत के साथ उसके सम्बन्ध की समस्याओं से इसने अपना कोई वास्ता नहीं रखा। इसका नीतिशास्त्र सर्वथा यांत्रिक है और इसका धर्म त्रुटिपूर्ण रहा। यज्ञ करना ही सबसे आवश्यक माना गया, और देवता यज्ञकर्ताओं की दृष्टि से विलुप्त हो गए। परवर्ती मीमांसक हमें स्पष्टरूप में बताते हैं कि देवता वह है जिसके नाम के लिए सम्प्रदानकारक (चतुर्थी विभक्ति) का प्रयोग होता है। 'इन्द्राय स्वाहा' इस मंत्र में इन्द्र देवता है। इस प्रकार के धर्म में हृदय को स्पर्श करनेवाली तथा उसे प्रकाशित करनेवाली सामग्री कम है। इसलिए यदि एकेश्वरवाद, वैष्णव, शैव अथवा तान्त्रिक मतों के पक्ष में प्रतिक्रिया हुई तो कुछ आश्चर्य नहीं है। इन मतों ने मनुष्य को एक सर्वोपरि ईश्वर प्रदान किया जिसपर वह निर्भर कर सकता था और शोक तथा दुःख में जिसकी शरण में जा सकता था।

उद्धृत ग्रन्थों की सूची

गंगानाथ [illegible]

गंगानाथ [illegible] प्रभाकर [illegible] पूर्वमीमांसा

काथ : कर्ममीमांसा।

पी० शास्त्री : [illegible] पूर्वमीमांसा

[illegible] : [illegible] मीमांसा [illegible]

१. [illegible]

[illegible]

पार्थसारथि [illegible] 'न्यायरत्नाकर' में [illegible]

जिसमें कि कुमारिल की स्थिति [illegible]

में लगाता है। [illegible] मीमांसा [illegible] (अर्थात् [illegible] ज्ञान ही जिसका शरीर है), [illegible]

अर्थ स्थान [illegible] [illegible]

किन्तु वह यह भी मानता है कि कुमारिल [illegible] 'निरीश्वर

[illegible] (८ [illegible] ७) [illegible] कुमारिल के

मत में [illegible] है और [illegible]

कतिपय अन्य ग्रन्थों की भांति, यह [illegible] थी।

२. प्रायेणैव हि मीमांसा लोके लोकायतीकृता।

तामास्तिकपथे कर्तुमयं यत्नः कृतो मया। (श्लोकवार्तिक, [illegible])

सातवां अध्याय

वेदान्तसूत्र

प्रस्तावना—सूत्रकार तथा ग्रन्थ की रचना का काल—अन्य सम्प्रदायों के साथ संबंध—अध्यात्म विद्या संबंधी विचार—उपसंहार।

प्रस्तावना

वेदान्तदर्शन पर विशेष ध्यान देना केवल इसीलिए आवश्यक नहीं कि इसका दार्शनिक महत्त्व है अपितु इसलिए भी आवश्यक है क्योंकि भारत देश के धर्म में यह ओतप्रोत है और इस देश में यह अन्य सभी विचारपद्धतियों की अपेक्षा अधिक जीवित रूप में विद्यमान है। आधुनिक समय के हिन्दू विचारकों का जगत् के विषय में जो दृष्टिकोण है उसका निर्णय करने में वेदान्त का ही किसी न किसी रूप में प्रमुख भाग है।

'वेदान्त' शब्द का यौगिक अर्थ है—वेद का अन्त, अथवा वे सिद्धान्त जो वेदों के अन्तिम अध्यायों में प्रतिपादित किए गए हैं, और ये ही उपनिषदें हैं। उपनिषदों के विचार भी वही हैं जो वेद का अन्तिम लक्ष्य अथवा वेदों का सार[1] है। वेदान्तसूत्र का दूसरा नाम ब्रह्मसूत्र भी है, क्योंकि यह ब्रह्म-सम्बन्धी सिद्धान्त की व्याख्या है और शारीरकसूत्र[2] भी इसीका एक अन्य नाम है इसीलिए कि यह निरुपाधिक आत्मा की अभिव्यक्ति के विषय में प्रतिपादन करता है। जहां एक ओर जैमिनि का कर्ममीमांसा ग्रन्थ वेदविहित धर्म तथा उसके फलाफल का अनुसंधान करता है वहां बादरायण का उत्तरमीमांसादर्शन उपनिषदों के दार्शनिक व ईश्वरज्ञान सम्बन्धी विचारों का वर्णन करता है।[3] दोनों एकत्र मिलकर सम्पूर्ण वेद के प्रतिपाद्य विषयों का क्रमबद्ध अनुसंधान करते हैं। उपनिषदें केवलमात्र सत्य के प्रति विविध दृष्टिकोणों से किए

१. "वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः" (मुण्डकोपनिषद्)। गौतम ने उपनिषदों तथा वेदान्त (२२ : १) में भेद किया है, किन्तु परम्परा के अनुसार बराबर यही माना जाता रहा है कि उपनिषदों के अनुयायी वेदान्त के अनुयायी हैं।

२. शरीर, देह।

३. तुलना कीजिए, वेदान्तवाक्यकुसुमग्रथनार्थत्वात् सूत्राणाम् (शाङ्करभाष्य, १ : १, १)।

गए दृष्टिपातों की एक श्रृंखला है, किन्तु महत्त्वपूर्ण प्रश्नों पर अन्तिम रूप से विचार करने के प्रति प्रयास नहीं है। तो भी ऐसे व्यक्तियों के ऊपर जो उन्हें ईश्वरीय प्रेरणा द्वारा प्राप्त सत्य करके मानते हैं, यह दर्शाने का उत्तरदायित्व है कि उपनिषदों की शिक्षाएं एक संगतरूप में परिपूर्ण इकाई हैं और बादरायण का प्रयास इसी प्रकार के क्रमबद्ध कार्य की दिशा में है। उसका ग्रन्थ क्रमबद्ध दर्शन न होकर ईश्वरज्ञान-विषयक एक व्याख्या है। "बादरायण के ग्रन्थ का उपनिषदों के साथ वही सम्बन्ध है जैसाकि क्रिश्चियन रूढ़िवादियों का 'न्यू टेस्टामेण्ट' के साथ है, यह उपनिषदों की शिक्षाओं का अनुसंधान करता है, जो ईश्वर, जगत् तथा आत्मा के संसारचक्र में भ्रमण के विषय में तथा मोक्ष की अवस्थाओं के विषय में है। यह प्रत्यक्ष में दिखाई पड़नेवाली सिद्धान्त-सम्बन्धी असङ्गतियों का निराकरण करता है, उन्हें परस्पर क्रमबद्ध रूप में जोड़ता है, और विशेष करके इसका उद्देश्य विरोधियों के आक्षेपों से बचाना है।"[1] पांच सौ पचपन सूत्रों के अन्दर, जिनमें से प्रत्येक दो या तीन शब्दों से बने हैं, समग्र दर्शन का परिष्कार किया गया है। सूत्र अपने-आपमें विशद अर्थ नहीं देते, किन्तु सब कुछ उनके भाष्यकार के ऊपर निर्भर करता है। उन्हें प्रोटियस के समान किसी निर्यामित रूप में नहीं पकड़ा जा सकता। उनकी शिक्षाओं की व्याख्या कभी तो साकार ईश्वरवाद के उज्ज्वल प्रकाश में की जाती है और कभी-कभी अस्पष्ट भाववाचक निरपेक्षवाद के रूप में की जाती है। आस्तिकवाद के विभिन्न सम्प्रदायों में बहुत प्रारम्भ से ही भिन्न-भिन्न विचार-परम्पराएं स्थापित हो गई थीं, जिन्हें शङ्कर तथा रामानुज प्रभृति विचारकों ने लेखबद्ध किया। टीकाकारों ने, जिनमें प्रमुख हैं शङ्कर, भास्कर, यादवप्रकाश, रामानुज, केशव, नीलकंठ, मध्व, बलदेव, वल्लभ तथा विज्ञानभिक्षु,[2] एक समान विचारधारा का परिष्कार नहीं किया और इसलिए इस विषय का निर्णय करना कि इनमें से किसको सूत्र के ठीक-ठीक समझने के लिए पथ-प्रदर्शक माना जाए, सरल कार्य नहीं है, क्योंकि इनकी टीकाएं ऐसे समय में लिखी गईं जबकि ये सिद्धान्त अत्यन्त गम्भीर संशय तथा वाद-विवाद के विषय बन चुके थे। ये अपनी-अपनी व्याख्याओं का विकास अपने पूर्व-निर्धारित मतों के आधार पर ही करते हैं, यहां तक कि कभी-कभी शब्दों के धात्वर्थ तथा स्पष्ट अर्थों को भी दृष्टि से ओझल कर देते हैं, जिससे कि वे सन्दर्भ को खींच-खांचकर अपने दार्शनिक सिद्धान्तों की सचाई को सिद्ध करने में प्रयोग कर सकें। सूत्र ऐसे दुर्लभ ग्रन्थों में से एक ग्रन्थ है, जिसमें से प्रत्येक व्यक्ति को अपना अभिलषित सिद्धान्त अपनी-अपनी योग्यता के अनुसार प्राप्त हो सकता है।

१. डयूसन, ५ पृष्ठ, २१।

२. भारतीय परम्परा के अनुसार, शुक को भी सर्वप्रथम टीकाकारों में माना गया है। शबर ने अपने पूर्वमीमांसाभाष्य में वृत्तिकार उपवर्ष का नाम लिया है। शङ्कर का भी यह मत है (३ : ३, ५३)। रामानुज और उसके अनुयायी उसे बोधायन कहते हैं। वेदान्तदीपिका की घोषणा है कि उसे एक ही व्यक्ति को दोनों नामों से पुकारा गया है। द्रामिड, टंक, भर्तृप्रपञ्च, भारुचि, कापर्दि, ब्रह्मानन्द और गुहदेव की टीकाएं उपलब्ध नहीं हैं, ऐसा प्रतीत होता है। देखें शाङ्करभाष्य, १ : १, ४; १ : २, २३; १ : ३, १८; १ : ४, १२; ४ : ३, १४।

बादरायण के ग्रन्थ में वेदान्त के अन्य शिक्षकों के उल्लेखों से यह स्पष्ट विदित है कि उस समय उपनिषदों की कितनी ही स्वतन्त्र व्याख्याएं, जो बादरायण की व्याख्याओं से भिन्न थीं, प्रचलित थीं।[1] जिस समय बादरायण ने अपने सूत्र का निर्माण किया उस समय भी परस्पर में मुक्तात्मा[2] के लक्षण-सम्बन्धी तथा जीवात्मा के ब्रह्म के साथ सम्बन्धपरक मुख्य-मुख्य विषयों में भी परस्पर मतभेद विद्यमान थे।[3] आश्मरथ्य की सम्मति है कि जीवात्मा का ब्रह्म के साथ भेदाभेद-सम्बन्ध है, अर्थात् जीवात्मा ब्रह्म से न तो नितान्त भिन्न है और न ही नितान्त अभिन्न है।[4] औडुलोमि का मत है कि मोक्ष से पूर्व जीवात्मा ब्रह्म से सर्वथा पृथक् तथा भिन्न रहता है—मोक्ष अवस्था मे ब्रह्म के अन्दर सर्वथा लीन हो जाता है[5] और काशकृत्स्न का विचार है कि जीवात्मा तथा ब्रह्म परस्पर सर्वथा तादात्म्य-सम्बन्ध से है और ब्रह्म ही किसी न किसी रूप में अपने को जीवात्मा के रूप में प्रकट करता है।[6] परवर्ती टीकाकार भी उक्त मतो मे से ही एक न एक मत को स्वीकार करते हैं। यह प्रकट है कि उपनिषदे स्वय पर्याप्त विवाद का विषय रही है और बादरायण का वेदान्तविषयक विचार एक प्रमुख विचार-सम्प्रदाय का निष्कर्ष है, यद्यपि अन्यान्य सम्प्रदाय भी, जो पर्याप्त मात्रा में प्रसिद्ध थे, विद्यमान थे।

२

सूत्रकार तथा सूत्र की रचना का काल

शङ्कराचार्य से आरम्भ करके बराबर परम्परा यही रही है कि वेदान्तसूत्र के कर्ता बादरायण है। चूकि बादरायण का नाम अनेक स्थलों पर अन्य पुरुष[7] में आया है इसलिए स्वभावतः मन में यह शंका उत्पन्न होती है कि बादरायण इसका रचयिता नही है।[8] किन्तु प्राचीन भारत में इस प्रकार अन्य पुरुष के प्रयोग का कोई असाधारण रिवाज नहीं था और इससे रचयिता कोई अन्य व्यक्ति

१. बादरि (१ : २, ३० ; ३ : १, ११ ; ४ : ३, ७ ; ४ ४, १०), औडुलोमि (१ : ४, २१; ३ : ४, ४५ ; ४ : ४, ६), आश्मरथ्य (१ : २, २९ ; १ : ४, २०), काशकृत्स्न (१ : ४, २२), कार्ष्णाजिनि (३ : १, ९), आत्रेय (३ : ४, ४४) और जैमिनि। महाभारत में भी इनके मतों का वर्णन नहीं है।

२. ४ : ३, ७–१४ ; ४ : ४, ५–७।

३. १ : ४, २०–२२।

४. १ : ४, २०।

५. १ : ४, २१।

६. १ : ४, २२।

७. १ : ३, २६; १ : ३, ३३; ३ : २, ४१; ३ : ४, १; ३ : ४, ८; ३ : ४, १९; ४ : ३, १५; ४ : ४, ७; ४ : ४, १२।

८. उदाहरण के लिए ड्यूसन का तर्क है कि जैमिनि और बादरायण के ग्रंथ, जिनमें से प्रत्येक में अपना तथा दूसरे का उद्धरण है, किसी परवर्ती सम्पादक ने एक ग्रन्थ में संगृहीत कर दिए, जिसके ऊपर उपवर्ष ने टीका लिखी और अंतिम ग्रन्थ पूर्वमीमांसा के ऊपर शबरभाष्य तथा ब्रह्मसूत्रों पर शांकर-भाष्य का आधार हुआ ('ड्यूसन्स सिस्टम आफ दि वेदान्त', पृष्ठ २४, पादटिप्पणी १७)।

है इस प्रकार की अर्थापत्ति न निकाली जानी चाहिए। भारतीय परम्परा के अनुसार वेदान्तसूत्र का रचयिता बादरायण तथा व्यास एक ही व्यक्ति हे। शकर के अनुयायी, गोविन्दानन्द, वाचस्पति और आनन्द गिरि व्यास तथा बादरायण को एक ही बताते है। रामानुज, मध्व, वल्लभ और बलदेव वेदान्त-सूत्र का रचयिता व्यास को बताते हे। कही-कही इस मत का खण्डन इस आधार पर किया जाता हे कि जैमिनि, जिसका उद्धरण बादरायण ने स्थान-स्थान पर दिया है, व्यास का शिष्य था, यदि हम महाभारत, विष्णुपुराण तथा भागवत पर भरोसा करे, और इस प्रकार जैमिनि तथा बादरायण के ग्रथो मे पारस्परिक उल्लेख गुरु व शिष्य के सम्बन्ध मे परस्पर सगत नही बैठते। शबर, गोविन्दानन्द तथा आनन्दगिरि का मत है कि इसमे असगति कुछ नही है।[1] किन्तु स्वय शकराचार्य का इस विषय म क्या मत था यह स्पष्ट नही ज्ञात होता।[2]

ब्रह्मसूत्र म सांख्य, वैशेषिक तथा जैन और बौद्ध सम्प्रदायो के मतो की ओर भी परोक्ष सकेत पाया जाता है। शकर, रामानुज, मध्व, और वल्लभ २ ३ ४५ और ४ १ १०, म क्रमश गीता के उल्लेखो (१५ ७, ८ २४), और उक्त आचार्यो म से प्रथम तीन, अर्थात् शकर, रामनुज और मध्व, ४ १ १० मे गीता (७ ११) के उल्लेख के बारे मे एकमत है। सूत्रो मे वर्णित अनेको नाम श्रौत सूत्रो मे भी पाए जाते है यथा आश्वलायन मे आश्मरथ्य, कात्यायन मे बादरि, कार्णाजिनि और काशकृत्स्न, तैत्तिरीय प्रातिशाख्यसूत्र मे आत्रेय। बौद्धायन के गृह्यसूत्र म आत्रेय, काशकृत्स्न तथा बादरी के नामो का उल्लेख है, इसी प्रकार भारद्वाज गृह्यसूत्र मे भी आत्रेय का उल्लेख है। काशकृत्स्न एक अत्यन्त प्राचीन टीकाकार है। पाणिनि अष्टाध्यायी पर रचित महाभाष्य मे औडुलोमी का उल्लेख पाया है।[3] गरुडपुराण, पद्मपुराण और मनुस्मृति मे वेदान्तसूत्र का उल्लेख है और हरिवश मे, जिसे होपकिन्स ने २०० वर्ष ईसा के पश्चात् का बना हुआ माना है, इस विषय के स्पष्ट उल्लेख पाए

१ देखे, बेलवाल्कर : '... आथरशिप आफ दि वेदान्तसूत्राज', '... फिलासाफिकल रिव्यू', अक्तूबर १९२८, मे और ... 'बिगिनिंग्स इन ब्रह्मसूत्राज', पृष्ठ ८।

२. शकर ब्रह्मसूत्र पर की गई अपनी टीका ... के वाक्य म ... कि द्वापर और कलियुग के प्रति सक्रमणकाल म एक प्राचीन ऋषि तथा वैदिक शिक्षक ... की प्रेरणा से कृष्ण द्वैपायन नाम से उत्पन्न हुआ। ... शकर ने यह नही कहा कि यह कृष्णद्वैपायन ब्रह्मसूत्रो का रचयिता है इसलिए विंडिश्मान और ... इस परिणाम पर पहुंचे कि शकर की दृष्टि में दोनो व्यक्ति भिन्न थे ('... बादरायण', '... आफ ... ', बम्बई, खण्ड १६, १८८३, पृष्ठ १९०)। कहा भी शकर ने व्यास का उल्लेख किया ... कही भी ऐसा सकेत नहीं मिलता कि व्यास ब्रह्मसूत्रो के रचयिता है (... ३, ७)। भगवद्गीता तथा महाभारत के शान्तिपर्व के अनेकों उल्लेख ब्रह्मसूत्रो में है, ... यदि हम टीकाकारो की ... को स्वीकार करें, अर्थात् सूत्रों का रचयिता तथा महाभारत का लेखक एक ही है, ... उक्त ... का ... सरलता से समझ में नहीं आ सकता।

३. ४ : १, १४।

जाते हैं। कीथ का मत है कि बादरायण का समय २०० वर्ष (ईसा के बाद) से आगे का नहीं माना जा सकता।[1] भारतीय विद्वानों का मत है कि उक्त सूत्र का निर्माण ५०० से २०० वर्ष ईसापूर्व के बीच के काल में हुआ। फ्रेज़र इसे ४०० वर्ष ईसापूर्व का बताता है।[2] मैक्समूलर का कहना है, "भगवद्गीता का जो कोई भी काल हो (और यह महाभारत का एक भाग है), वेदान्तसूत्र और बादरायण का काल अवश्य उससे पूर्व होना चाहिए।"[3]

३

अन्य सम्प्रदायों के साथ सम्बन्ध

बादरायण के वेदान्त का जैमिनि के पूर्वमीमांसादर्शन के साथ ठीक-ठीक सम्बन्ध क्या है इसे भिन्न-भिन्न टीकाकारों ने भिन्न-भिन्न रूप में बतलाया है।[4] रामानुज वृत्तिकार से सहमत होकर मानता है कि दोनों मीमांसादर्शन एक ही ग्रंथ से सम्बन्ध रखते हैं किन्तु शंकर का मत इसमें भिन्न है। यह सम्भव है कि दोनों प्रारम्भ में एक ही सामान्य ग्रंथ के दो भाग रहे हों।[5] दोनों मीमांसादर्शन मुख्यतः वैदिक दर्शन हैं और प्रारम्भ में तथा मुख्यरूप में श्रुति अथवा वेद अर्थात् उपनिषदों के भाष्यरूप में थे। बादरायण ने न्याय का कहीं भी उल्लेख नहीं किया। योग को सांख्य के साथ जोड़ा जाता है और सांख्य की जो समालोचनाएं हैं वे सब योग के ऊपर भी घटती कही जाती हैं।[6] सांख्य का खण्डन बहुत विस्तार के साथ मिलता है। और अनेक स्थलों पर उसका उल्लेख पाया जाता है।[7] यह एक ऐसा दर्शन है जिसके प्रति अत्यन्त आदर-भाव दिखाया गया है, कुछ तो इसलिए कि इसके प्रतिपादित सिद्धान्त बादरायण

१. कर्ममीमांसा, पृष्ठ [illegible]। [illegible] जैकोबी का विश्वास है कि सूत्र का निर्माण २०० और ४५० वर्ष ईसा के पश्चात् के बीच हुआ ('जर्नल आफ द अमेरिकन ओरियण्टल सोसाइटी', [illegible])।

२. '[illegible]', पृष्ठ [illegible]।

३. '[illegible] फिलासफी', पृष्ठ [illegible]। [illegible], '[illegible] ब्रह्मसूत्र।'

४. बादरायण ने जैमिनि का [illegible] पर उल्लेख किया है : देखो, [illegible] ४ : ३, १२; [illegible]।

५. देखो, [illegible] भाष्य, [illegible]। जैकोबी : 'जर्नल आफ द अमेरिकन ओरियण्टल सोसाइटी', [illegible]। [illegible] 'टेस्टामेंट' की रचना होने की उपमा दी [illegible] जीवन [illegible] में बदलता है। 'ड्यूसन्स सिस्टम आफ दि वेदान्त', पृष्ठ [illegible]।

६. २ : १, ३।

७. [illegible] २ : २, १-१०।

८. [illegible] १ : ३, ११; १ : ४, २८; २ : १, [illegible]; २ : ३, ५१; ४ : २, २१।

को भी अभिमत है और कुछ इसलिए भी कि इसका समर्थन मनु तथा व्यास सरीखे ऋषियों ने किया है।[1] वैशेषिक के सिद्धान्तों की समालोचना की गई है[2] और हमें ज्ञात होता है कि बादरायण के समय में वैशेषिक दर्शन की ख्याति अधिक नहीं थी। बौद्धमत के अनेक सम्प्रदायों, लोकायत और भागवत के सिद्धान्तों पर भी विवाद मिलता है।[3] सूत्र के रचयिता के ऊपर भगवद्गीता तथा भागवतों के आस्तिकवाद का पर्याप्त मात्रा में प्रभाव हुआ है।

४

अध्यात्मविद्या-सम्बन्धी विचार

वेदान्तसूत्र चार अध्यायों मे विभक्त है। प्रथम अध्याय मे ब्रह्म का आधारभूत यथार्थता के रूप मे प्रतिपादन किया गया है। उक्त विषय के ऊपर जो भिन्न-भिन्न वैदिक मत हैं उनका समन्वय करना इसका प्रयोजन है। धर्म के सम्बन्ध मे कोई भी व्याख्या हो तथा ईश्वर, आत्मा और जगत् के सम्बन्ध मे कोई भी समाधान हो, इन सबके लिए ऐसे व्यक्तियो के धार्मिक अनुभवो का विचार करना आवश्यक होता है, जो घोषणापूर्वक कहते है कि उन्होंने नित्यसत्ता के दर्शन किए है, और प्रत्येक दार्शनिक सिद्धान्त को सन्तोषप्रद बनने के लिए भूतकाल के ऋषियों के लेखबद्ध अनुभवो के अन्दर समन्वय स्थापित करना आवश्यक है। पहले अध्याय मे हमे ब्रह्म के स्वरूप एव इस दृश्यमान जगत् तथा जीवात्मा के साथ उसके सम्बन्ध का वर्णन मिलता है। दूसरे (अविरोध) अध्याय मे उक्त विचार के ऊपर जो आपत्तिया उठाई गई हे उनका समाधान किया गया है और विरोधी सिद्धान्तों की समालोचना की गई है। इसके अन्दर ईश्वर के ऊपर जगत् किस रूप मे निर्भर है इसका भी दिग्दर्शन कराया गया है तथा उस ईश्वर के भीतर से क्रमिक विकास तथा उसीके अन्दर पुनर्विलय का भी वर्णन दिया गया है और अन्तिम भाग में[4] आत्मा के स्वरूप, उसके गुण, ईश्वर, शरीर तथा अपने कर्मों के साथ सम्बन्ध के विषय मे रोचक मनोवैज्ञानिक विवेचन भी दिया गया है। तीसरे अध्याय में ब्रह्मविद्या की प्राप्ति के साधनो तथा उपायों पर विचार किया गया है। इसमें हमें पुनर्जन्म और साधारण मनोवैज्ञानिक[5] तथा ईश्वरज्ञान-सम्बन्धी[6] विषयो पर भी विवेचन मिलता है, जिसके साथ श्रुतिभाष्य-सम्बन्धी अनेक टिप्पणिया भी है। चौथे अध्याय मे ब्रह्मविद्या के पुरस्कारो का प्रतिपादन हे। इस अध्याय मे कुछ ब्यौरे के साथ मृत्यु के पश्चात् आत्मा का निष्क्रमण तथा दोनों मार्गों, अर्थात् देवयान तथा पितृयान, द्वारा संचार तथा उस मुक्ति के स्वरूप का भी वर्णन है जहा से लौटकर फिर संसारचक्र में

१. देखें, ब्रह्मसूत्रों पर शाङ्करभाष्य, १ : ४, २८।
२. २ : २, ११-१७।
३. देखें, २ : २, १-४५; १ : ४, २८; ३ : ३, ५३-५४।
४. २ : ३, १५ और आगे भी।
५. ३ : २, १, १०।
६. ३ : २, ११-४१।

आगमन नहीं होता है। प्रत्येक अध्याय में चार हिस्से (पाद) हैं और प्रत्येक हिस्से में जो सूत्र हैं वे किसी न किसी वर्ग के अन्तर्गत आ जाते हैं, जिन्हें अधिकरण की संज्ञा दी गई है। भिन्न-भिन्न टीकाकारों में पाठभेद भी कहीं-कहीं पाया जाता है, किन्तु ये सब भेद कुछ महत्त्व के नहीं हैं।[1]

बादरायण वेद को नित्य मानता है[2] और शास्त्रप्रमाण ही उसकी दृष्टि में बहुत महत्त्वपूर्ण है।[3] वह स्पष्टरूप में घोषणा करता है कि तर्क अथवा विचार के द्वारा अध्यात्मज्ञान-सम्बन्धी सत्य की प्राप्ति सम्भव नहीं है।[4] वह यह भी स्वीकार करता है कि ज्ञान के दो ही स्रोत (साधन) हैं, अर्थात् श्रुति और स्मृति, और वह इन्हें प्रत्यक्ष, तथा अनुमान के[5] नाम से पुकारता है, सम्भवतः इसलिए कि स्मृति, जैसाकि शंकर का सुझाव है कि स्मृति को ज्ञान के आधार (प्रामाण्य) की आवश्यकता होती है जबकि श्रुति को नहीं, क्योंकि वह स्वतः प्रमाण है। ईश्वरीय ज्ञानरूप श्रुति को, जो स्वतः प्रकाशित है, प्रत्यक्ष माना गया है। श्रुति से बादरायण का तात्पर्य उपनिषदों से है और स्मृति से उसका तात्पर्य भगवद्गीता, महाभारत तथा मनुस्मृति से है। जिस प्रकार सांसारिक ज्ञान में अनुमान का आधार प्रत्यक्षज्ञान है, इसी प्रकार स्मृति का आधार श्रुति है। बादरायण अन्य किसी प्रमाणको नहीं मानता। वह इस जीवन को दो भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में विभक्त करता है, एक जो विचार का विषय है और यह प्रकृति का क्षेत्र है जिसके अवयव हैं मन, बुद्धि तथा अहंभाव, और दूसरा क्षेत्र है अचिन्त्य, और वह ब्रह्म है। दूसरे क्षेत्र में केवल शास्त्र ही हमारे पथप्रदर्शक हैं।[6] ऐसा एक भी तर्क जो वेद के अनुकूल नहीं है, बादरायण की दृष्टि में निरर्थक है। तर्क का प्रारम्भ विशिष्ट लक्षणों से होता है। किन्तु ब्रह्म के विषय में हम यह नहीं कह सकते कि यह अन्य गुणों से शून्य तथा अमुक-अमुक लक्षणों से युक्त है। इसलिए तर्क अन्तर्दृष्टि-सम्बन्धी ज्ञान के अधीन है[7] और वह अन्तर्दृष्टि भक्ति तथा समाधि के द्वारा ही प्राप्त हो सकती है।[8]

वेदान्तसूत्र के अनुसार, सांख्य में वर्णित पुरुष और प्रकृति स्वतन्त्र पदार्थ नहीं है, किन्तु एक ही यथार्थसत्ता के परिवर्तित रूप है। यथार्थ अनन्तों का अनेकत्व सम्भव ही नहीं है। एकमात्र अनन्त सत्ता, अर्थात् ब्रह्म, को ही उपनिषदों में वर्णित सर्वोच्च यथार्थसत्ता का रूप बताया गया है। प्रथम अध्याय में उपनिषदों में दिए गए ब्रह्म-सम्बन्धी अनेक वर्णनों के ऊपर हमें विचार-विमर्श मिलता है।[9] वही जगत् का उद्भव-स्थान, आधार तथा अन्त है,[10] जो विश्व का निमित्त तथा उपादान कारण भी है। वह बिना साधनों के सृष्टि की रचना करता है।[11] ब्रह्म की यथार्थता का एक मनोवैज्ञानिक प्रमाण प्रगाढ़ निद्रा (सुषुप्ति) की अवस्था की साक्षी में मिलता है।[12] ब्रह्म को जड़रूप-

१. देखें, बेलवालकर : 'दी मल्टिपल आथरशिप आफ दि वेदान्त सूत्राज़', पृष्ठ १४४–४५, 'इण्डियन फिलासाफिकल रिव्यू'।

२. १ : ३, २६। ३. १ : १, ३। ४. २ : १, ११।
५. १ : ३, २८; ३ : २, २४; ४ : ४, २०। ६. १ : १, ३; २ : १, २७।
७. २ : १, ६; २ : १, ११। ८. ३ : २, २४। ६. १ : २ और ३।
१०. १ : १, २। ११. २ : १, २३–२७। १२. १ : १, ६।

प्रधान अथवा जीवात्मा के साथ न मिला देना चाहिए। उसके अन्दर सब धर्म ओत-प्रोत हैं।[1] और वही आन्तरिक विधान तथा पथप्रदर्शक है।[2] उसमें निर्मलता, सत्यार्थ, सर्वज्ञता, सर्वशक्तिमत्ता आदि गुण विद्यमान हैं।[3] उसके ब्रह्माण्ड सम्बन्धी रूपों का भी प्रतिपादन किया है। वह विश्वात्मा ज्योति है, सूर्य में जो स्वर्णमय पुरुष है वह वही है, आकाश भी वही है तथा विश्वात्मा वायु अथवा प्राण भी वही है।[4] जीवात्मा में प्रकाश (ज्योति) भी वही है।[5] मनुष्य के हृदय में उसका निवास है[6], इसी रूप में उसका चिन्तन करना चाहिए, और हमें स्वतन्त्रता दी गई है कि हम सर्वव्यापक ईश्वर को एक परिमित देश के अन्दर विद्यमान भी मान ले सकते हैं। समस्त पदार्थों का परम अधिष्ठान एकमात्र सर्वोपरि आत्मा है और वही प्रत्येक पदार्थ का स्रोत तथा एकमात्र यथार्थ पूजा और श्रद्धा के योग्य है।[7]

जड़ पदार्थ तथा चेतन जीवात्माएं सर्वोपरि सत्ता के साथ किस प्रकार सम्बद्ध हैं? क्या हम इन्हें उसी प्रकार समझें जैसा कि गीता में बतलाया गया है, अर्थात् एकमात्र यथार्थसत्ता के ही यह उच्चतम तथा निम्नतम श्रेणी के अभिव्यक्त रूप हैं? सूत्र इस विषय में हमें कोई स्पष्ट मार्ग नहीं दिखाता। उपनिषदों के सृष्टि-सम्बन्धी विचार की अस्पष्टता इसमें भी पाई जाती है। ब्रह्म जो स्वयं अजन्मा है तथा नित्य है सम्पूर्ण विश्व का कारण है। प्रत्येक भौतिक तत्त्व ब्रह्म के द्वारा रचा गया है।[8] यदि आरम्भिक तत्त्वों के अन्दर गति होने से जगत् का विकास हुआ तो भी वह शक्ति जिसके द्वारा उक्त विकास सम्भव हुआ, ब्रह्म के द्वारा ही दी गई, जैसा कि कहा जाता है ब्रह्म तत्त्वों की रचना करके स्वयं उनके अन्दर प्रविष्ट हो गया था। तथा उसमें स्थित यह ब्रह्म ही है जो अन्यान्य पदार्थों की सृष्टि का परिणाम करता है।[9]

यह पहले बतलाया जा चुका है कि ब्रह्म ही जगत् का उपादान कारण और ब्रह्म ही निमित्त कारण है।[10] ब्रह्म सब पदार्थों का स्रष्टा है और अपने को सब पदार्थों के रूप में परिणत कर देता है, जैसे कि मिट्टी का ढेला नाना प्रकार के मिट्टी के पदार्थों के रूप में परिणत हो जाते हैं। सूत्र में कारण तथा कार्य के परस्पर सम्बन्ध के स्वरूप के विषय में अर्थात् ब्रह्म तथा जगत् पर विचार किया गया है। कारण और कार्य के तादात्म्य-सम्बन्ध को दो दृष्टान्तों के द्वारा समझाया गया है। जिस प्रकार कपड़े का एक थान जब लिपटा हुआ रहता है तो उसके स्वरूप का ज्ञान नहीं होता, किन्तु जब उसे फैलाया जाता है तभी थान स्वरूप का पूर्ण ज्ञान प्राप्त होता है, यद्यपि दोनों अवस्थाओं में कपड़ा वही एक थान है। इसी प्रकार कारण और कार्य एक ही हैं, भले ही उनके गुण परस्पर-भिन्न प्रतीत होते हों।[11] फिर जैसे जब श्वास को रोक

१. २ : १, ३७। २. १ : १, २०। ३. १ : २, १-२; २ : १, ३०।
४. १ : १, २०-२३। ५. १ : १, २४।
६. १ : २, ७। ७. १ : १, ७। ८. २ : ३, ९।
९. १ : १, ५; १ : २, १; २ : १, २२; १ : १, २२।
१०. २ : ३, ७। ११. २ : ३, १३। १२. १ : ४, २३-२७।
१३. २ : १, १४-२०। १४. २ : १, १९, शाङ्करभाष्य।

लिया जाता है तो मनुष्य कोई कर्म नही कर सकता, यद्यपि वह बराबर जीवित रहता है और जब वह श्वास को छोड देता है तो वह अपने अंगों को हिला सकता है, यद्यपि इस सारी अवस्था में श्वास एक ही है, इसी प्रकार कारण और कार्य भिन्न-भिन्न कर्मों को उत्पन्न करते है, यद्यपि वे है एक ही।[1] ब्रह्म और जगत् परस्पर भिन्न नहीं है,[2] वैसे ही जैसेकि मिट्टी का पात्र मिट्टी से भिन्न नही है।[3] यद्यपि टीकाकार इस विषय में सहमत है कि कारण कार्य से भिन्न नही है तो भी ब्रह्म तथा जगत् के तादात्म्य की उन्होने भिन्न-भिन्न प्रकार से व्याख्या की है। बादरायण की दृष्टि मे अनन्य शब्द के प्रयोग मे तात्पर्य भिन्नता का अभाव अथवा परिवर्तन नही है। इस परिवर्तन की व्याख्या करने के लिए ही शंकर ने अविद्या की कल्पना की है। जगत् का अस्तित्व ऐसे ही व्यक्तियों के लिए है जो अविद्या के प्रभाव मे है, जैसेकि कल्पनात्मक साप ऐसे ही मनुष्य के लिए है जिसे रस्मी के विषय में भ्रम हुआ है। अन्य टीकाकारो ने 'परिणाम' अर्थात् परिवर्तन की कल्पना का आश्रय लिया है। छान्दोग्य उपनिषद मे कारण और कार्य के दृष्टान्त के लिए मिट्टी, सोना और लोहा तथा इनसे बने पदार्थो को चुना गया है, रस्सी और साप अथवा सीप और चादी को नही। सान्त पदार्थों की यथार्थता ब्रह्म के परिणामस्वरूप होने ही से है। 'ब्रह्म जगत् का उपादान कारण है" इस प्रकार के कथन से यही ध्वनित होता है कि यह जगत् ब्रह्म के सारतत्त्व का ही परिणमित रूप है।[4] जगत् कोई भ्रान्ति अथवा स्वप्न के समान ढाचा नही है किन्तु एक यथार्थ एवं विध्यात्मक ठोस पदार्थ है, जिसकी उत्पत्ति, स्थिति तथा विलय भी ब्रह्म के अन्दर होता है।[5] बादरायण का मत है कि सृष्टि-रचना की शक्ति निर्मल एवं निर्दोष ब्रह्म की अपनी शक्ति है जिस प्रकार से कि ताप अग्नि की अन्तर्निहित शक्ति है।[6] ब्रह्म अपनी लीला के लिए[7] अपने को जगत् के रूप मे विकसित[8] करता है किन्तु इससे उसके अन्दर न तो किञ्चिन्मात्र परिवर्तन होता है[9] और न उसका ह्रास ही होता है। बादरायण को इस विषय की चिन्ता नही है कि वह यह सब कैसे सम्भव है उसकी व्याख्या करे। रामानुज तथा अन्यान्य आचार्यों की भाति वह यह भी नही कहता कि ब्रह्म की शक्ति अद्भुत है जिसके द्वारा अचिन्त्य वस्तु की भी प्राप्ति हो सकती है। वह हमारा ध्यान श्रुति के प्रत्यक्ष मे परस्पर-विरोधी वाक्यों की ओर आकृष्ट करते हुए हमे सावधान करता है कि श्रुति के प्रामाण्य के विषय मे शका करने का हमे कोई अधिकार नही है। दार्शनिक दृष्टि से यह उत्तर असन्तोषजनक है। इस स्थिति का समाधान शकर करता है और परस्पर विरोध को श्रुति की अपेक्षा वैयक्तिक विचारो के ऊपर डाल देता है

१. २ : १, २०, शाङ्करभाष्य। रामानुज के अनुसार, कार्य कारण की ही परिवर्तित अवस्था का नाम है। शङ्कर भी स्वीकार करता है कि यह जगत ब्रह्म का अवस्थान्तर ही है जैसे कि कपडा धागों का।

२. २ : १, १४।
३. १ : १, ४ ; १ : ४, २२।
४. १ : ४, २६, और भी देखें, २ : ३, ७।
५. ३ : २, ३।
६. १ : ३, १।
७. २ : १, ३३।
८. १ : ४, २६।
९. २ : १, २७।

और तर्क करता है कि ब्रह्म ही जगत् के रूप में परिणत नहीं होता है। हम, जिनके अन्दर भ्रान्तिदोष है, यह समझते है कि एक दूसरे के रूप में परिवर्तित हो जाता है। उसका मत है कि परम यथार्थसत्ता ब्रह्म है, जो निर्विकल्प आत्मा है, और उसका तर्क है कि ज्ञाता, ज्ञात तथा ज्ञान सबकुछ किसी न किसी प्रकार से ब्रह्म ही के अन्दर निहित है। रामानुज का मत इससे भिन्न है। वह जब एक निर्मल, अद्वितीय ब्रह्म के अतिरिक्त अनादि जगत्प्रवाह की समस्या में आकर घिर जाता है तो श्रुति का आश्रय ढूंढ़ता है। असम्भव भी ईश्वर के लिए सम्भव है[1], जिसकी अद्भुत शक्तियां हैं।[2]

बादरायण[3] कहता है कि आत्मा ज्ञाता है जिसे शंकर ने बुद्धि का रूप दिया, किन्तु रामानुज इसे बुद्धिसम्पन्न ज्ञाता मानता है। वल्लभ शंकर के साथ सहमत है किन्तु केशव के विचार मे आत्मा ज्ञान तथा ज्ञाता दोनो ही है। जीवात्मा कर्ता है।[4] जन्म तथा मृत्यु का सम्बन्ध शरीर से है, आत्मा से नही[5] क्योंकि वह अनादि है। यह अनादि नित्य है।[6] जीवात्मा को सूक्ष्म कहा गया है अर्थात् अणु के आकार का। रामानुज, मध्व, केशव, निम्बार्क, वल्लभ और श्रीकण्ठ इसी मत को मानते है। शंकर का मत है कि आत्मा सर्वव्यापक अर्थात् विभु है यद्यपि सासारिक अवस्था मे इसे आणविक समझा जाता है।[7] बादरायण का मत है कि ब्रह्म जीवात्मा के अन्दर है, यद्यपि ब्रह्म के स्वरूप पर आत्मा के स्वरूप का कोई असर नही होता।[8] चूंकि जीव और ब्रह्म भिन्न-भिन्न हे जिस प्रकार सूर्य का प्रकाश और सूर्य भिन्न है और जिस प्रकार प्रकाश को बादल ढक लेते हे किन्तु सूर्य पर उसका असर नही होता, इसी प्रकार जब जीव दुःख भोगता है तो ब्रह्म दुःख का भागी नही होता।[9] शरीरधारी आत्मा कर्म करती है और सुख भोगती है तथा पुण्य और पाप का संचय करती हे और सुख व दुःख मे लिप्त होती है, किन्तु सर्वोपरि आत्मा का स्वभाव इसके विपरीत है और वह सब प्रकार की बुराई (पाप) से परे है।[10] 'तत्

१. देखें रामानुजभाष्य, ब्रह्मसूत्रों पर, २ : १, २७।

२. ब्रह्मसूत्र के अनुसार (३ : २, ३) यह जगत् स्वप्नों की भांति माया नहीं है। 'माया' शब्द जैसेकि अर्वाचीन वेदान्त में स्पष्ट है अत्यन्त भ्रामक है। हम इसका अर्थ भास्कर से सहमत होकर अर्थप्रत्ययशून्यत्व, अथवा शङ्कर से सहमत होकर [illegible]स्वरूपत्व, अथवा रामानुज के साथ मिलकर आश्चर्यात्मकत्व, अथवा वल्लभ के अनुसार सर्वभावनासामर्थ्य भी ले सकते हैं।

३. २ : ३, १८। ४. २ : ३, ३३-३९। ५. २ : ३, १६।

६. २ : ३, १८।

७. देखें, ३ : १, १४-२८। ब्रह्मसूत्र के अनुसार, जीव चार वर्ग के हैं : जरायुज, अण्डज, स्वेदज, तथा उद्भिज। ये सब चेतनायुक्त माने गए हैं, यद्यपि चेतनता की श्रेणियां भिन्न-भिन्न हैं। वनस्पति तथा पौधे अपनी चेतना को वाणी में प्रकट नहीं कर सकते, क्योंकि उनमें तमोगुण की प्रधानता है।

८. १ : २, ८। ९. २ : ३, ४६। इसपर केशव की टीका भी देखें।

१०. १ : १, १७, और भी देखें, २ : १, २२।

त्वमसि' और 'अयमात्मा ब्रह्म' इत्यादि वाक्य यह दर्शाने का प्रयत्न करते हैं कि दोनों अर्थात् ब्रह्म और आत्मा, ईश्वर और मनुष्य यथार्थ में एक हैं। यदि ब्रह्म सबका कारण है तो यह जीवात्मा का भी कारण है। परम दैवीय तत्त्व इसकी सभी अभिव्यक्तियो मे विद्यमान है। प्रत्येक जीवात्मा ईश्वरीय आत्मा की भागीदार है। बादरायण के कथन से यह स्पष्ट नही होता कि ठीक किस रूप मे जीवात्मा ब्रह्म के साथ सम्बद्ध है अर्थात् विश्वात्मा के अश के रूप मे अथवा आभास (प्रतिबिम्ब) के रूप मे।[1] बादरायण निर्देश करता है कि आश्मरथ्य, औडुलोमि और काशकृत्स्न जीवात्मा के ब्रह्म के साथ सम्बन्ध के विषय में भिन्न-भिन्न स्थिति रखते है। आश्मरथ्य का विचार है कि देश-सम्बन्धी अर्थ मे भी आत्मा ब्रह्म का अश है। औडुलोमि का मत है कि प्रगाढ निद्रा (सुषुप्ति) की अवस्था मे आत्मा का कुछ समय के लिए ब्रह्म के साथ सयोग हो जाता है। काशकृत्स्न, जिसकी सम्मति का समर्थन शकर भी करता है, मानता है कि ब्रह्म पूर्ण तथा अविभक्त रूप मे जीवात्मा के आकार मे विद्यमान रहता है और बादरायण केवल इन भिन्न भिन्न मतो का वर्णन तो अवश्य करता है किन्तु इनमे से वह किस मत का समर्थक है यह नही कहता।[2] शकर ने इस वाक्य का कि 'जीव सर्वोपरि यथार्थसत्ता का अश है' अर्थ यह लगाया है कि 'मानो यह अश के समान है'[3] (अश इव)। चूंकि ब्रह्म हिस्सों से मिलकर नही बना है इसलिए यौगिक अर्थ मे भी उसके हिस्से नही हो सकते। भास्कर तथा वल्लभ बलपूर्वक कहते हैं कि जीव प्रभु (ब्रह्म) का एक अश है क्योकि उनमे परस्पर भेद भी है और तादात्म्य भी है। रामानुज, निम्बार्क, बलदेव और श्रीकण्ठ का विचार है कि जीव ब्रह्म का एक वास्तविक अश है इसी प्रकार जैसेकि किसी प्रकाशमय पुञ्ज, यथा अग्नि अथवा सूर्य, से निकलने-वाला प्रकाश उक्त पुञ्ज का अश होता है। इस मत का कि जीव सर्वोपरि ब्रह्म से भिन्न भी है और अभिन्न भी है जैसेकि एक साप अपनी कुण्डलियों से भिन्न है भी और भिन्न नही भी है[4], खण्डन किया गया है। किन्तु रामानुज मानता है कि सूत्र मे ब्रह्म का प्रकृति के साथ जो सम्बन्ध है उसका प्रतिपादन किया गया है और वह इस मत का खण्डन करता है कि प्रकृति केवल ब्रह्म की एक भिन्न मुद्रामात्र है किन्तु ब्रह्म से भिन्न नही है, जैसेकि साप की कुण्डलियां केवल भिन्न मुद्रा ही है किन्तु साप से भिन्न नही है। रामानुज का तर्क है कि जीव और प्रकृति दोनो ब्रह्म के अश है। केशव का तर्क है कि प्रकृति दोनो है अर्थात् ब्रह्म से भिन्न भी है और ब्रह्म के साथ उसका तादात्म्यभाव भी है, जैसेकि साप और उसका फण भिन्न-भिन्न है किन्तु जब सांप को एक सम्पूर्ण इकाई के रूप मे लिया जाता है तो भिन्न नही भी है। प्रकृति ब्रह्म के साथ एकरूप है क्योकि इसका अस्तित्व ही ब्रह्म के ऊपर निर्भर है और यह ब्रह्म से

१. २ : ३, ४३ और ५०।
२. १ : ४, १९–२२।
३. २ : ३, ४३, शाङ्करभाष्य।
४. ३ : २, २७।

> भिन्न है क्योंकि इसका नाम और रूप अलग है। जीव भी, ब्रह्म से भिन्न भी है और अभिन्न भी है और यह भेद निश्चित रूप से यथार्थ है।[1] बादरायण ब्रह्म तथा जीवात्मा के भेद को यथार्थ मानता है इस विषय को प्रबल समर्थन प्राप्त है और यह भेद आत्मा के मोक्ष प्राप्त कर लेने के पश्चात् भी विद्यमान रहता है। जीव आकार मे सूक्ष्म होने पर भी समस्त शरीर मे व्याप्त रहता है जैसेकि चन्दन का थोडा-सा लेप भी सारे शरीर को शीतलता पहुचा देता है।[2]

यह जगत् ईश्वर के सकल्प का परिणाम है। यह उसीकी लीला अथवा खेल है। किन्तु इसका अर्थ यह नही है कि उसने पाप और दु ख की सृष्टि भी अपनी प्रसन्नता के लिए की, जैसाकि किसी-किसी धार्मिक योजना मे लिखा मिलता है कि निम्न श्रेणी के प्राणी रहे जो उसकी अनन्त महत्ता की प्रशसा करेगे तथा उसका यश गाएगे। एक ऐसा ईश्वर जो आनन्दमय है और जो प्राणियो के दु ख मे प्रसन्नतालाभ करता हो वह ईश्वर ही नही है। मनुष्य-जाति मे जो विभिन्नता पाई जाती है उसका निर्णय मनुष्यो के अपने कर्म के आधार पर होता है।[3] ईश्वर की शक्ति भी मनुष्यो के पूर्व-जन्मो के ऊपर विचार करने के कारण से परिमित हो जाती है। सुख का विषम रूप मे विभाग जो देखा जाता है वह प्रकट करता है कि इस जगत् मे एक ऐसी नैतिक व्यवस्था है जिसे ईश्वरेच्छा कहा जाता है। इस प्रकार से ब्रह्म न तो पक्षपाती ही है और न ही निर्दय है और उसे स्वेच्छापूर्वक इस प्रकार की स्वतन्त्रता अथवा उत्तर-दायित्वहीनता भी प्राप्त नही है, जिन दोपो का आरोप किसी-किसी ईश्वरज्ञानवेत्ता ने ईश्वर के नाम पर कर दिया है। यदि ईश्वर की कठोर निष्पक्षता के दोप का इस सिद्धान्त से निराकरण हो जाता है कि वह प्रत्येक मनुष्य को उसके अपने कर्म के अनु-सार सुख अथवा दु ख प्रदान करता है तो इस दूसरे मत का कि ईश्वर स्वय उचित एव अनुचित आचरण[4] का कारणरूप कर्ता है, कोई समाधान नही होता। यदि प्रत्येक प्रकार के कर्म का प्रेरक ईश्वर ही है, तब तो वही कर्ता और दु ख का भोक्ता दोनो हो जाता है। ऐसा प्रतीत होता है कि वह अनन्त परम्परा मे इस प्रकार से जकडा हुआ है कि वह स्वय ही अपने को अच्छाई और बुराई का फल देनेवाला भी है। यहा पर फिर सूत्र श्रुति का ही आश्रय लेता है, किन्तु परस्पर विरोध के निराकरण का कोई प्रयत्न नही करता।

१. ३ : २, २७-२८ पर केशव की टीका।

२. २ : ३, २१। सूत्र के अनुसार जीव का निवासस्थान हृदय अथवा हृत्पद्म है जोकि स्नायु-जाल के मेरुदण्ड का जटिल केन्द्र है जहा कि १०१ भिन्न-भिन्न नाडिया मिलती है। उन सबमें से सुषुम्ना एक नाडी है जो बराबर उनमें से गुजरती हुई शीर्षस्थान तक पहुचती है। मृत्युकाल समीप आने पर ज्ञाता आत्मा प्रभु की कृपा से हृदय की ग्रन्थि को छिन्न-भिन्न करके सुषुम्ना के मार्ग में प्रविष्ट हो जाती है और कपाल में छिद्र करके शरीर से निकल जाती है। (४ : २, १७)। जब जीव शरीर से बाहर निकलता है तो यह सूक्ष्म इन्द्रियो से, मन तथा मुख्य प्राण से, आवृत रहता है (३ : १, १–७ ; ४ : २, ३–२१)। यह उन्हींके साथ फिर से जन्म लेता है।

३. २ : १, ३४। ४. ३ : २, ४१ ; कोषीतकि उपनिषद्, ३ : ८

सूत्र के तीसरे अध्याय में इस विषय का प्रतिपादन किया गया है कि किस प्रकार नैतिक साधना के द्वार[1] एक मनुष्य को ऐसा शरीर प्राप्त हो सकता है जो परब्रह्म के ज्ञान की प्राप्ति करा सके। उपनिषदों में वर्णित जो साधारण नियम हमारे अपने साधनों की पवित्रता के लिए दिए गए है उन्हें सूत्र में स्वीकार किया गया है।[1] साधारणतया ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य इन तीन उच्च वर्णों को यज्ञ आदि करने का अधिकार दिया गया है। इसके अतिरिक्त शूद्र और स्त्रियां भी प्रभु की कृपा से मुक्ति को प्राप्त कर सकते हैं।[2] सूत्र के रचयिता का कहना है कि क्रियात्मक सेवा के भाव तथा संसार के त्याग को भी धर्मग्रन्थों का समर्थन प्राप्त है।[3] उक्त ग्रन्थकार का अपना झुकाव भी त्याग-भाव के साथ कर्मवीरता के जीवन[4] को परस्पर संयुक्त करने की ओर है। अज्ञानता से किया गया कर्म, किन्तु समस्त कर्म नही, आध्यात्मिक ज्ञान की प्राप्ति में बाधक होता है।[5] मोक्षप्राप्ति के पश्चात् जो भी स्वतन्त्रता इस लोक में हमें प्राप्त होती है, अर्थात् जीवन्मुक्त की अवस्था, उसमें भी कर्म करने का विधान है।[6] उपनिषदों का अनुसरण करते हुए सूत्र भी देवताओ की पूजा के विधान की अनुमति देता है जोकि अपने उपासकों को वरदान देते है यद्यपि ये भी सर्वोपरि ब्रह्म से ही शासित होते है।[7] यथार्थता प्रतीकों अथवा लिंगो से परे है और इनके अन्दर सन्निविष्ट नहीं है, किन्तु तो भी मनुष्य की दुर्बलता का विचार करके उक्त प्रतीकों की उपासना की अनुमति दी गई है।[8] परब्रह्म अव्यक्त है अर्थात् उसकी कोई अभिव्यक्ति नही है, यद्यपि 'संराधना'[9] में उसका साक्षात्कार होता है। ईश्वर का साक्षात्कार ही सर्वोच्च कोटि का धर्म है। ऐसे व्यक्ति जो इस प्रकार की आध्यात्मिक अन्तर्दृष्टि को विकसित नही कर सकते, शास्त्रों पर भरोसा रखते है। मनुष्य का अन्तिम लक्ष्य आत्मा को प्राप्त करना है।[10] हम यह नहीं कह सकते कि आत्मा के साथ इस प्रकार का मिलन तादात्म्यस्वरूप का है अथवा संयोग तथा साहचर्य का है। बादरायण जीवन्मुक्ति मे विश्वास करता है। ब्रह्मज्ञान हो जाने पर उन कर्मों का, जिन्होंने फल देना अभी प्रारम्भ नहीं किया है, विनाश हो जाता है[11] यद्यपि शरीर तब तक विद्यमान रहता है जब तक कि, वह कर्म जो फल देना आरम्भ कर चुके है,[12] पूर्णतया शेष नही हो जाते।

चौथे अध्याय में हमे वर्णन मिलता है कि किस प्रकार जीवात्मा देवयानमार्ग से ब्रह्म को प्राप्त करती है, जहां से फिर संसारचक्र मे लौटना नही होता। चौथे अध्याय के ४, ५–७ सूत्र में मुक्तात्मा के लक्षणों पर विचार-विमर्श किया गया है। औडुलोमि के अनुसार इसका मुख्य स्वरूप 'विचार' है। जैमिनि का मत है कि मुक्तात्मा में उच्चकोटि के अनेक गुण विद्यमान होते है और सूत्रकार अपना मत प्रकट करते हुए भी कहता है कि उक्त दोनों ही विचारों का समन्वय युक्तियुक्त है। मोक्ष प्राप्त करने पर मुक्तात्मा

१. ३ : ३, ४०-४२। २. १ : ३, ३४–३८ ; ३ : ४, ३८।
३. ३ : ४, ९। ४. ३ : ४, ३२–३५।
५. ३ : ४, २६। ६. ३ : ४, ३२।
७. ३ : २, ३८–४१। ८. ४ : १, ४। ९. ३ : २, २३–२४।
१०. १ : १, ९। ११. ४ : १, १३–१५। १२ ४ : १, १९।

अनन्त शक्ति तथा ज्ञान प्राप्त कर लेती है। इसका वर्णन करने के पश्चात् सूत्रकार यह भी स्पष्ट कर देता है कि कोई भी मुक्तात्मा सृष्टिरचना, शासन तथा विश्व के संहार की शक्ति प्राप्त नही करती[1] क्योकि ये कार्य केवल एकमात्र ईश्वर के ही है। मध्व और रामानुज उक्त वाक्य की व्याख्या सरलता के साथ कर लेते है, क्योकि यह उनके अपने सिद्धान्त अर्थात् जीवात्मा तथा ईश्वर के मध्य स्थायी भेद मानने के सर्वथा अनुकूल पड़ता है।[2] किन्तु बादरायण का मत इस विषय मे बिलकुल स्पष्ट नही है। जहां कुछेक वाक्य उक्त भेद को स्थिर[3] बताते है, अन्य वाक्य केवलमात्र उसका समाधान कर देते है।[4]

उपसंहार

बादरायण ससार के अद्वैतवाद-विषयक विचार का समर्थन करता है। उसे बहुदेवतावाद अथवा अनेक स्वतन्त्र और एकसमान परम यथार्थसत्ताओ अथवा अजन्मा जीवात्माओ या ईश्वर तथा शैतान के मध्य द्वैतभाव आदि से कोई सरोकार नही। ब्रह्म के विषय मे जो दो मत है अर्थात् निर्विशेप चिन्मात्रा का स्वरूप, जैसाकि बादरी, काशकृत्स्न और औडुलोमि मानते है, और सविशेष शरीरधारी प्रभु, जैसाकि आश्मरथ्य तथा जैमिनि मानते हे, ये दोनो मत सूत्रकार को अभीप्ट हे। सूत्र की पद्धति से यह ठीक-ठीक निर्णय करना सम्भव नही है कि ग्रन्थकार के मन मे उक्त दोनो मतो के समन्वय का क्या प्रकार रहा होगा। उपनिषदो का मत स्पष्ट है कि ब्रह्म अविकारी अथवा परिवर्तनरहित तथा नित्य है। यह जगत् परिवर्तनशील तथा अस्थायी है। इस प्रकार का कार्य विपरीत गुण रखनेवाले कारण से कैसे प्रकट हो सकता है? सूत्र श्रुति के आधार पर केवल इतना ही कहता है कि ब्रह्म विश्व के रूप मे परिष्कृत हो जाता है और इन्द्रियातीत रहता है।[5]

'ब्रह्मकारणता' की अत्यधिक यथार्थ परिभाषा करने का प्रयत्न करने पर हमे भिन्न-भिन्न मत मिलेगे। शकर का तर्क है कि ब्रह्म जगत् की उत्पत्ति करता है किन्तु उससे ब्रह्म के अन्दर कोई भी विशिष्ट परिवर्तन नही होता, रामानुज तथा वल्लभ का मत है कि यह जगत वस्तुतः ब्रह्म के द्वारा बना है, अर्थात् ब्रह्म वस्तुत जगत् के रूप मे परिणत हो गया है। फिर, बादरायण का कहना है कि यद्यपि ब्रह्म जीवात्मा के अन्दर है तो भी जीव के दोषो के कारण ब्रह्म के अन्दर कोई विकार नही हुआ, क्योकि दोनो के स्वभाव मे परस्पर भेद जो है।[6] वह ब्रह्म और जीवात्मा के अन्दर दोनों भावों को अर्थात् तादात्म्य तथा

१. ४ : ४, १७।
२. १ : १, १७।
३. ४ : ४, १७ और २१।
४. ४ : २, १३ और १६।
५. १ : ४, २७।
६. १ : २, ८।

भेदभाव को मानता है। उक्त स्थिति के सम्बन्ध में कोई तर्कसम्मत कथन उसने नहीं किया। शंकर को यह असम्भव जंचता है कि किस प्रकार सूत्रकार के ब्रह्म-विषयक विचारों को उपनिषदों के अन्दर प्रतिपादित निर्गुण तथा निर्विशेष ब्रह्म के ऊपर लागू किया जा सकता है। किन्तु अन्य भाष्यकार सूत्रकार की परिभाषाओं को सर्वोपरि ब्रह्म के सम्बन्ध में सर्वथा उपयुक्त मानने को उद्यत हैं। इन भाष्यकारों का तर्क है कि सूत्रकार दो प्रकार के ब्रह्म की कल्पना से अनभिज्ञ है एवं जगत् के मिथ्यात्व से भी अनभिज्ञ है। सूत्रकार सांख्य का खण्डन तथा सृष्टिरचना-सम्बन्धी कल्पनाओं पर इतनी गम्भीरता के साथ विवाद न करता यदि उसके मत में यह जगत् केवल आभासमात्र होता, क्योंकि उस अवस्था में इस जगत् के स्रष्टा का कोई प्रश्न ही न उठता। यह भी हो सकता है कि बादरायण दैवीय स्वभाव के वस्तुतः परिवर्तनशील पक्ष में विश्वास करता हो, अर्थात् उसके स्वगत भेद में, जिसके कारण ब्रह्म में विविध पदार्थों के रूप में तथा व्यक्तिगत मनुष्य-जीवन में भी अपने को अभिव्यक्त करने की योग्यता है। तो भी इस विषय में कोई स्पष्ट कथन नहीं मिलता है।

मुक्तात्मा की दशा ब्रह्म से अविभाग की दशा है। इस साधारण से अविभागरूपी नियम की नानाविध व्याख्याएं हो सकती हैं, जोकि इसे परवर्ती भाष्यकारों से प्राप्त होती है। शंकर इसका तात्पर्य यह समझता है कि विश्वात्मा के साथ इसका सम्पूर्ण भाव से तादात्म्य है, किन्तु रामानुज के अनुसार ईश्वर के साथ आंशिक ऐक्य होता है। शंकर की विचार-पद्धति में दोनों के लिए गुंजाइश है। नीतिशास्त्र के प्रश्न पर बादरायण ने, त्याग का कर्म के साथ क्या सम्बन्ध है, इसपर सर्वथा विचार-विमर्श नहीं किया है और उद्देश्य-प्राप्ति के लिए इनके अन्दर कहां तक क्षमता है, इस विषय पर भी प्रकाश नहीं डाला है। धर्म के क्षेत्र में वह ब्रह्म को अव्यक्त मानता है, किन्तु तो भी स्वीकार करता है कि उसका आध्यात्मिक रूप में साक्षात्कार हो सकता है। दोनों के समन्वय की आवश्यकता है।

बादरायण के सूत्र में भी उपनिषदों की विशेषता के समान अनिश्चितता तथा सन्दिग्धता पाई जाती है। सूत्र में उपनिषदों की ही शिक्षा का प्रतिपादन करने का प्रयत्न किया गया है और इसीलिए इसके अन्दर अनेक प्रकार के सन्देह तथा वाद-विवाद के अंकुरों का समावेश है। यदि सूत्र के अन्तर्गत विचारों की विशिष्टता को और सूक्ष्मता के साथ समझने का कोई प्रयत्न किया जाएगा तो अनेक विरोधी चट्टानों तथा आध्यात्मिक विघ्नों का सामना करने की सम्भावना हो सकती है। अन्त में हम यह देखने का प्रयत्न करेंगे कि किस प्रकार एक ही समान सूत्रों से आध्यात्मिक मनोवृत्तियों में भिन्नता रहने के कारण नानाविध व्याख्याओं की उत्पत्ति होती है।

आठवां अध्याय

शंकर का अद्वैत वेदान्त

प्रस्तावना—शकर का जन्मकाल तथा जीवन—साहित्य—गौडपाद—अनुभूत ज्ञान का विश्लेषण—सृष्टिरचना—नीतिशास्त्र और धर्म—गौडपाद और बौद्धधर्म—भर्तृहरि—भर्तृप्रपंच—उपनिषदो तथा ब्रह्मसूत्र के साथ शकर का सम्बन्ध—शकर तथा अन्य सम्प्रदाय—आत्मा—ज्ञान का तन्त्र या रचना—प्रत्यक्ष अनुमान—शास्त्रप्रमाण—विषयिविज्ञानवाद का निराकरण—सत्य की कसौटी—तार्किक ज्ञान की अपूर्णता—अनुभव—अनुभव, तर्क तथा श्रुति—परा तथा अपरा विद्या—शकर के सिद्धान्त और कुछ पाश्चात्य विचारो की तुलना—विषयनिष्ठ मार्ग: देश काल और कारण—ब्रह्म—ईश्वर अथवा शरीरधारी परमात्मा—ईश्वर का सात्त्विक रूप—जगत् का मिथ्यात्व—मायावाद—अविद्या—क्या जगत् एक भ्रान्ति है—माया और अविद्या प्राकृतिक जगत—जीवात्मा—साक्षी और जीव—आत्मा और जीव—ईश्वर और जीव—एक-जीववाद तथा अनेकजीववाद—नीतिशास्त्र—शकर के नीतिशास्त्र पर किए गए कुछ आरोपो पर विचार—कर्म—मोक्ष परलोक—धर्म—उपसहार।

१

प्रस्तावना

शकर का अद्वैतवाद, एक महान कल्पनात्मक साहस और तार्किक सूक्ष्मता का दर्शन है। इसका उग्र बुद्धिवाद, इसका कठोर तर्क जोकि मनुष्य की आशाओ तथा विश्वासो के प्रति उपरामता का भाव लिए अपने मार्ग पर आगे ही आगे चलता जाता है, इसका धार्मिक तत्त्व-सम्बन्धी उद्वेगो से अपेक्षाकृत स्वातन्त्र्य, यह सब एकसाथ मिलकर इसे विशुद्ध दार्शनिक योजना के एक महान उदाहरण के रूप मे उपस्थित करता है। थिबौत, जिसपर कोई शकर के प्रति पक्षपात रखने का लाञ्छन नही लगा सकता शकर के दर्शन के विषय मे इस प्रकार कहता है. "शकर द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त जो विशुद्ध दार्शनिक दृष्टिकोण से, सब प्रकार के धर्मतत्त्व-सम्बन्धी विचारो के अतिरिक्त अत्यन्त महत्त्वपूर्ण तथा रोचक है, भारत की भूमि मे उपजा है। वेदान्त के उन रूपो मे से जो शकर के मत से भिन्न दिशा मे जाते है, अथवा वेदान्त-विपरीत दर्शनो मे से कोई भी, जहा तक साहस, गाम्भीर्य तथा कल्पना की सूक्ष्मता का सम्बन्ध है, शास्त्रीय वेदान्त की तुलना में

नहीं ठहर सकते।"[1] शङ्कर के ग्रन्थों को पढ़ते समय यह असम्भव है कि पाठक के मन में इस प्रकार का भाव उत्पन्न न हो कि वह एक ऐसे मस्तिष्क के सम्पर्क में आ गया है जो अत्यन्त सूक्ष्मता के साथ गहराई मे जानेवाला तथा अगाध आध्यात्मिक ज्ञान से परिपूर्ण है। अपरिमेय विश्व के विषय मे अपनी अत्यधिक उच्च भावना के कारण, आत्मसम्बन्धी गूढ तत्त्वों के स्फूर्तिदायक प्रेक्षण के कारण, जिसे सिद्ध किया जा सके, उसके सम्बन्ध में न अधिक और न कम कथन करने का अविचल संकल्प रखने के कारण, शंकर मध्यकालीन भारत के धार्मिक उपदेशकों के नानाविध समूहों के मध्य एक तेजस्वी व्यक्तित्व रखते हैं। उनका दर्शन स्वयं मे परिपूर्ण है जिसको न तो अपने आगे और न पीछे ही किसी अन्य सामग्री की आवश्यकता है। यह एक ऐसी स्वतःसिद्ध पूर्ण इकाई है जो कलापूर्ण ग्रन्थों मे ही पाई जा सकती है। यह अपनी पूर्वनिर्धारित कल्पनाओं को विस्तृत रूप से प्रस्तुत करता है, अपने ही लक्ष्य द्वारा शासित होता है, और अपने सब घटक अवयवो को एक स्थायी तथा युक्तियुक्त साम्यावस्था मे धारण किए हुए है। दर्शनशास्त्र के किसी विद्यार्थी के अन्दर जो गुण होने चाहिए ऐसे गुणों की जो सूची[2] शङ्कर ने निर्धारित की है उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि उसकी दृष्टि में दर्शन केवलमात्र बौद्धिक धन्धा न होकर समर्पित जीवन भी है। सबसे प्रथम गुण, 'नित्य तथा अनित्य वस्तुओं मे भेद करने की क्षमता' की माग है कि दर्शनशास्त्र के विद्यार्थी के अन्दर ऐसी विचारशक्ति होनी चाहिए जो उसे अपरिवर्तनशील यथार्थसत्ता तथा परिवर्तनशील ससार के अन्दर भेद करने मे सहायता प्रदान कर सके। ऐसे व्यक्तियो के लिए जिनके अन्दर यह शक्ति हो अध्यात्मविद्या-सम्बन्धी साहसिक कार्य मे दूर रहना असम्भव हो जाता है। दूसरा आवश्यक गुण है 'पुरस्कार के सुख की आकाक्षा का इस लोक तथा परलोक दोनो मे त्याग'। आनुभविक जगत मे तथा मनुष्य के ऐहलौकिक जीवन मे भी आत्मा की महत्त्वाकाक्षाओ को पूर्ण कर सकने योग्य सामग्री नही है। दर्शनशास्त्र को उचित अवसर तथा औचित्य दोनो ही जीवन मे उपलब्ध भ्रान्ति-निवारण द्वारा प्राप्त होते है। सत्य का अन्वेषण करनेवाले को चाहिए कि वह वस्तुओं के प्रतीयमान रूप के समक्ष अपने को नीचे गिराने के स्थान पर अपने अन्दर एक कठोर अनासक्ति के भाव का विकास करे, क्योकि यही सर्वश्रेष्ट आत्मा की विशिष्टता है। तीसरा गुण जिसके ऊपर बल दिया गया है, यह है 'नैतिक व्यवस्था'[3] और सबसे अन्त मे 'मुमुक्षुत्व की प्रबल अभिलाषा' का स्थान है। जैसाकि सन्त ल्यूक ने कहा है, हमारे मन का झुकाव एक नित्य जीवन की ओर होना आवश्यक है।[4] शकर हमारे समक्ष दर्शन का जो यथार्थ आदर्श प्रस्तुत करते है वह अधिकतर ज्ञानपरक न होकर विवेकबुद्धिपरक एवं

१. 'इण्ट्रोडक्शन टु ब्रह्मसूत्र', पृष्ठ १४। सर चार्ल्स इलियट के मत मे शङ्कर का दर्शन संगति, पूर्णता तथा गाम्भीर्य मे भारतीय दर्शन में सबसे प्रथम स्थान रखता है। ('हिन्दूइज्म एण्ड बुद्धिज्म', खण्ड २, पृष्ठ २०८)।

२. शाङ्करभाष्य, प्रस्तावना।

३. शाङ्करभाष्य, २ : १, १।

४. 'एक्ट्स', १३ : ४८। देखें भारतीय दर्शन, प्रथम खण्ड, पृष्ठ ३९ और ४०।

तार्किक विद्यापरक न होकर आध्यात्मिक स्वातन्त्र्य से युक्त है। शंकर की दृष्टि में संसार के कतिपय अन्य महान विचारकों यथा प्लेटो, प्लाटिनस, स्पिनोज़ा और हीगल के समान ही दर्शनशास्त्र शाश्वत सत्य का गूढ निरीक्षण है जोकि मनुष्य के तुच्छ जीवन की क्षुद्र चिन्ताओं से उन्मुक्त होने के कारण दिव्य है। शकर की महाकाय किन्तु सूक्ष्म आन्वीक्षिकी विद्या के अन्दर से एक विशद तथा भावुक प्रवृत्ति की झलक मिलती है जिसके बिना दर्शनशास्त्र का झुकाव केवलमात्र तर्क की खेल की ओर हो जाना सम्भव है। अत्यन्त कठोर तर्क के ऊपर जहा शकर को पूर्ण अधिकार प्राप्त है, वहा दूसरी ओर उन्हें एक उत्कृष्ट तथा सजीव काव्य पर भी उतना ही अधिकार प्राप्त है, यद्यपि यह दर्शन से भिन्न प्रकार का विषय है। उनकी प्रतिभा की किरणों ने विचारधारा के अन्धकारमय कोनो मे भी पहुचकर उन्हे प्रकाशित किया तथा अत्यन्त निराशहृदयो के दु.खो को भी दूर कर उन्हे सान्त्वना प्रदान की। जहा एक ओर शकर का दर्शनशास्त्र अनेकों को बल प्रदान करता है तथा सान्त्वना देता है, दूसरी ओर नि.सन्देह ऐसे भी व्यक्ति है जिन्हे शङ्कर विरोध तथा अन्धकार की एक अथाह खाई प्रतीत होते है। किन्तु हम सहमत हों या न हो, यह मानना ही पड़ेगा कि उनके मस्तिष्क का प्रकाश हमे कभी भी जहा का तहा ही नही छोड़ जाता।

२

शंकर का जन्मकाल तथा जीवन

तेलग के अनुसार, शकर, ईसा के पश्चात् छठी शताब्दी के मध्य अथवा अन्त में हुए।[1] सर आर० जी भण्डारकर का कहना है कि शकर का जन्म सन् ६८० ईस्वी मे हुआ। वे इससे कुछ वर्ष पूर्व भी मानने को उद्यत है।[2] मैक्समूलर तथा प्रोफेसर मैकडोनल का मत है कि शकर का जन्म ७८८ ईस्वी का है और ८२० ईस्वी मे उनका देहान्त हुआ। प्रोफेसर कीथ की सम्मति मे भी नवी शताब्दी के प्रथम चरण मे शकर का होना माना गया है।

हम शकर के रूप मे एक नि:सग तपस्वी विचारक की कल्पना कर सकते है, जो गम्भीर ध्यान मे मग्न होने की क्षमता रखता था और साथ ही क्रियात्मक जीवन मे भी गम्भीर था। शकर के कुछ शिष्यो ने उनके जीवनवृत्त-सम्बन्धी घटनाओं का सग्रह किया है, जिनमे से मुख्य है माधवकृत 'शकर-

१. उनका तर्क यह है कि पूर्णवर्मन, जिसका उल्लेख आगम २ पर किए गए शङ्कर के भाष्य में आता है, मगध का एक बौद्ध धर्मावलम्बी राजा था, जो उसी समय में हुआ।

२. देखें, 'रिपोर्ट आन दि सर्च फार संस्कृत मैन्युस्क्रिप्ट्स', १८८२, पृष्ठ १५।

३. 'इण्डियन लॉजिक एण्ड एटमीज़्म', पृष्ठ ३०। कृष्ण मिश्र (लगभग ग्यारहवीं शताब्दी ईसा के पश्चात्) के प्रबोध चन्द्रोदय के नन्दीश्लोक में माया तथा मृगतृष्णिका एवं सर्प रज्जु के अत्यन्त प्रचलित दृष्टान्त दिए गए है।

दिग्विजय' तथा आनन्दगिरि कृत 'शंकरविजय'[1] । शकर का जन्म मलाबार की सरलस्वभाव किन्तु विद्वान तथा परिश्रमी नम्बूद्री ब्राह्मण जाति मे हुआ और सामान्यतः यह अनुमान किया जाता है कि उनका जन्मस्थान प्रायद्वीप के पश्चिमी समुद्रतट पर स्थित कालदी था ।[2] यद्यपि परम्परा के अनुसार कहा जाता है कि उनके कुलदेवता शिव थे, किन्तु एक मत यह भी है कि वे जन्म से शाक्त थे। अपनी युवावस्था के प्रारम्भ मे वे गौडपाद के शिष्य गोविन्द द्वारा सचालित वैदिक पाठशाला मे प्रविष्ट हुए । अपने सब ग्रन्थो मे शकरस्वय को गोविन्द के शिष्यरूप मे ही बताते हे । इससे स्पष्ट है कि गोविन्द ने ही उन्हे वेदान्त के मुख्य-मुख्य सिद्धान्तो की शिक्षा दी । कहा जाता है कि अपनी बाल्यावस्था मे ही जब वे केवल आठ वर्ष के थे, उन्होने उत्कट अभिलाषा तथा प्रसन्नता के साथ सब वेदो को कण्ठस्थ कर लिया । वे प्रकटरूप मे वैदिक विद्या तथा स्वतन्त्र प्रज्ञा से युक्त एक असामान्य प्रतिभा के तेजस्वी व्यक्ति थे । जीवन के गूढ रहस्य तथा महत्त्व ने उन्हे प्रभावित किया और उन्होने भगवान की झलक अपने जीवन के बहुत प्रारम्भिक काल मे ही प्राप्त कर ली । इसके पूर्व ही कि वे ससार के व्यवहार से अभिज्ञता प्राप्त करते, उन्होने ससार का त्याग कर दिया और वे संन्यासी हो गए । किन्तु वे एक वीतराग परिव्राजक नही थे । सत्य की विशुद्ध ज्वाला उनके अन्तस्तल मे प्रज्वलित हो रही थी । एक आचार्य के रूप मे उन्होने स्थान-स्थान पर भ्रमण किया, और वे विभिन्न मतो के नेताओं के साथ सवाद और शास्त्रार्थ मे प्रवृत्त हुए । परम्परागत वर्णनो के अनुसार, वे इन अपनी विजययात्राओ मे कुमारिल[3] और मण्डनमिश्र के सम्पर्क मे आए, जिनमे से आगे चलकर मण्डनमिश्र उनका शिष्य बन गया और सुरेश्वराचार्य[4] के नाम से प्रसिद्ध हुआ । अमरुक के मृत शरीर मे शकर के प्रवेश करने की कहानी यह प्रकट करती है कि शकर योग-सम्बन्धी क्रियाओ मे निपुण थे । उन्होने चार मठो की स्थापना की, जिनमे मुख्य वह है जो मैसूर प्रान्त मे शृगेरी मे है । अन्य तीन मठ क्रमशः पूर्व मे पुरी मे, पश्चिम मे द्वारका मे और हिमालय प्रदेश मे बदरीनाथ मे हे । एक करुणाजनक घटना, जिसके विषय मे परम्परा मे सब एकमत है, यह दर्शाती है कि शकर का हृदय किस प्रकार मानवीय

१. चिद्विलास तथा सदानन्द ने कुछ वृत्तान्त दिए है । स्कन्दपुराण मे कुछ तथ्य दिए गए है (देखें, ९)। एक मध्व ग्रथकार नारायणाचार्य ने अपने 'मध्वविजय' और 'मणिमञ्जरी' मे कुछ विवरण दोहराए हैं। किन्तु इनमे दिए गए कई तथ्य किवदन्तिरूप है और उनके ऐतिहासिक होने में सन्देह है । देखें, 'लाइफ एण्ड टाइम्स आफ शङ्कर', सी० एन० कृष्णस्वामी अय्यर, मद्रास, द्वारा विरचित ।

२. आनन्दगिरि का मत है कि शङ्कर का जन्म चिदम्बरम् में ४४ वर्ष ईसा से पूर्व हुआ तथा १२ वर्ष ईसा से पूर्व उनका देहान्त हुआ । किन्तु उनके इस मत को अधिक समर्थन प्राप्त नही है ।

३. दक्षिण भारत की एक परम्परा के अनुसार यह कहा जाता है कि शकर कुमारिल के शिष्य थे ।

४. मैसूर के प्रोफेसर हिरियान्न ने सुरेश्वर तथा मण्डनमिश्र के एक ही होने के विरोध मे आग्रहपूर्वक विश्वस्त प्रमाण उपस्थित किए है । देखे, 'जर्नल ऑफ दि रायल एशियाटिक सोसाइटी,' अप्रैल, १९२३, और जनवरी, १९२४ ।

करुणा तथा माता-पिता की भक्ति से भरा हुआ था। सन्यासाश्रम की व्यवस्था के नियमो को प्रकट रूप मे भंग करके शकर ने अपनी माता की अन्त्येष्टि-क्रिया मे पूर्ण भाग लिया और इस प्रकार अपने समुदाय के विकट विरोध का सामना किया। परम्परा से पता लगता है कि ३२ वर्ष की अवस्था मे हिमालय के अचल मे केदारनाथ मे उनका देहान्त हुआ। हम जैसे साधारण मनुष्यो को, जिनका जीवन भावुकतामय का है, शकर के जीवन मे एक प्रकार का सूनापन प्रतीत होता है जो प्रसन्नतादायक साहचर्य के रगीले सुख से वचित था और सामाजिक मनोरजन का भी जिसमे अभाव था, किन्तु सामान्यरूप मे यही अवस्था उन सब महापुरुषो की होती है जो उच्चतर कोटि के जीवन का अवलम्बन करते है और यह अनुभव करते हे कि उनकी पुकार ईश्वर की न्यायपरायणता का प्रचार करने तथा आत्मा के दावो को पूरा करने के लिए हुई है। वे एक ऐसे देवदूत की तरह थे जो मनुष्य-समाज को धर्म के मार्ग पर पथ-प्रदर्शन करने के लिए अवतरित हुआ था और भारत मे ऐसा कोई भी व्यक्ति उस कार्य को नही सभाल सकता जिसके सन्देश की पृष्ठभूमि मे ससार की चिन्ताओ के प्रति अनासक्ति न हो।

थोडे ही वर्षो मे शकर ने जीवन-यात्रा के नाना उपायो का अवलम्बन किया, जिनमे से प्रत्येक एक साधारण पुरुष के लिए सन्तोषप्रद हो सकता था। कल्पना के क्षेत्र मे उनकी सबसे महान सिद्धि अद्वैतदर्शन है, जिसे उन्होने प्राचीन सूत्रो के ऊपर भाष्यों के द्वारा विकसित किया। उन्होंने इसे ज्ञान के समकालीन मान दण्डो तथा विश्वास का प्राचीन सूत्रो तथा परम्पराओ के साथ समन्वय करने का सबसे उत्तम मार्ग समझा। छठी तथा सातवी शताब्दियो ने प्रचलित हिन्दू-धर्म के उदय को देखा था। दक्षिण भारत मे बौद्धधर्म पतन के मार्ग की ओर जा रहा था।[1] और जैनमत अपने उच्च शिखर पर आसीन था। वैदिक क्रिया-कलाप अप्रतिष्ठा को प्राप्त होने लगा था। शैवमतावलम्बी भक्त (अदियार) तथा वैष्णवमतावलम्बी भक्त (आलवार) ईश्वर-भक्ति के मार्ग का प्रचार कर रहे थे। मन्दिरो मे पूजा तथा त्योहार, जिनका सम्बन्ध पौराणिक हिन्दूधर्म से था, सर्वत्र प्रसार पा रहे थे। दक्षिण भारत मे पल्लव साम्राज्य सर्वश्रेष्ठ था और स्वातन्त्र्य तथा उस शान्ति के समय मे, जो एक केन्द्रीय शासन के कारण प्राप्त थी, ब्राह्मणधर्म शनैः-शनै हिन्दूधर्म मे परिणत हो रहा था। पल्लव राजाओ की धार्मिक प्रेरणाए उस समय हो रहे पुन सघटन का स्पष्ट सकेत करती हैं। जहा पल्लव वश के सबसे पूर्व के काल के शासक बौद्धमतावलम्बी थे वहा क्रमानुसार उनके पीछे आनेवाले वैष्णवमतावलम्बी थे और सबसे अर्वाचीन शैवमत को माननेवाले थे। बौद्धधर्म की त्यागपरक प्रवृत्ति की

१. जहां फाहियान ने बौद्धधर्म को पान्चवीं शताब्दी में फलते-फूलते देखा, युआन च्वाग ने, जो उसके पीछे अर्थात छठी और सातवीं शताब्दी में आया, उसके पतन के चिह्नों को स्पष्ट रूप में देखा। बाण का हर्षचरित उक्त प्रभाव की पुष्टि करता है।

प्रतिक्रियास्वरूप तथा ईश्वरवाद की भक्तिपरक प्रवृत्ति के विरुद्ध मीमांसक लोग वैदिक क्रियाकलापों के महत्त्व को अत्यन्त बढ़ाकर जनता के समक्ष प्रस्तुत कर रहे थे। कुमारिल तथा मण्डनमिश्र ने ज्ञान और संन्यास के महत्त्व को दूषित ठहराया तथा कर्म के महत्त्व एवं गृहस्थाश्रम की उपयोगिता पर बल दिया। शंकर एकसाथ और एक ही समय में कट्टर मनातनधर्म के उत्साही रक्षक एवं धार्मिक सुधारक के रूप में भी प्रकट हुए। उन्होंने पुराणों के उज्ज्वल विलास-मय युग के स्थान में उपनिषदों के रहस्यमय सत्य के युग को फिर से लौटा लाने का प्रयत्न किया। आत्मा को उच्चतर जीवन की ओर मोड़ने की जो शक्ति धर्म मे है उसे उसके बल को परखने की कसौटी माना। उन्होने अपने युग को धार्मिक दिशा मे मोडने के लिए प्रयत्न करने में अपने को विवश पाया और इसकी सिद्धि उन्होंने एक ऐसे दर्शन व धर्म की व्यवस्था के द्वारा सम्पन्न की जो बौद्धधर्म, मीमासा तथा भक्तिधर्म की अपेक्षा जनता की आवश्यक-ताओ को कही अधिक सन्तोषप्रद सिद्ध हो सकती थी। आस्तिकवादी सत्य को भावावेश के कुहरे से आवृत किए हुए थे। रहस्यवादी अनुभव प्राप्त करनेवाली अपनी प्रतिभा से सम्पन्न वे लोग जीवन की क्रियात्मक समस्याओं के प्रति उदासीन थे। मीमासकों द्वारा कर्म के ऊपर दिए गए बल से एक आत्मविहीन क्रियाकलाप का विकास हुआ। धर्म जीवन के अन्धकारमय सकटों का सामना करके केवल उसी अवस्था मे जीवित रह सकता है जबकि यह विचार का उत्तम परिणाम हो। शकर की सम्मति मे, अद्वैतदर्शन ही एकमात्र परस्पर-विरोधी सम्प्रदायों के अन्दर निहित सत्य है तथा उसकी न्यायोचितता का प्रतिपादन कर सकता है और इस प्रकार उन्होने अपने सब ग्रथों का निर्माण एक ही उद्देश्य को लेकर किया, अर्थात् जीवात्मा को ब्रह्म के साथ अपने एकत्व को पहचानने मे सहायक सिद्ध होना और यही ससार से मोक्षप्राप्ति का उपाय है।[1] मालाबार-स्थित अपने जन्म-स्थान से उत्तर दिशा में स्थित हिमालय तक की अपनी यात्राओ मे उन्हे पूजा के अनेक रूप देखने को मिले और उन्होने उन सबको स्वीकार किया जिनके अन्दर मनुष्य को ऊचा उठाकर जीवन को निर्मल बना देने की शक्ति थी। उन्होने मुक्ति के केवलमात्र एक ही उपाय का प्रचार नही किया अपितु प्रचलित हिन्दूधर्म के भिन्न-भिन्न देवताओं, यथा विष्णु, शिव, शक्ति तथा सूर्य आदि को लक्ष्य करके असदिग्ध रूप से महत्त्वपूर्ण छन्दो की रचना की। यह सब उनकी सार्वजनिक सहानुभूतियो तथा प्राकृतिक देन की सम्पत्ति का अद्भुत प्रमाण उपस्थित करता है। प्रचलित धर्म में फिर से जीवन डालने के अतिरिक्त उन्होने धर्म का सुधार भी किया। उन्होने दक्षिण भारत में शक्तिपूजा की मूर्तरूप अभिव्यक्ति को हटा दिया और यह दुःख की बात है कि उसका असर कलकत्ता के बड़े काली मन्दिर में देखने को नहीं

१. संसारहेतुनिवृत्तिसाधनब्रह्मात्मैकत्वविद्याप्रतिपत्तये। देखें, शांकरभाष्य, १ : १, १।

मिलता। कहा जाता है कि दक्षिण भारत मे उन्होने कुत्ते के रूप मे प्रचलित शिव की भ्रष्ट पूजा का दमन किया जो मल्लारि के नाम से होती थी, और कापालिकों की घातक प्रक्रियाओं का दमन किया, जिनका देवता भैरव नरबलि की अभिलाषा रखता है। उन्होने शरीर को विविध चिह्नों से दागने की प्रथा को दूषित ठहराया। उन्होने बौद्धसघ से यह सीखा कि अनुशासन, मिथ्या-विश्वास से मुक्ति और धार्मिक सघटन धार्मिक विश्वास को स्वच्छ तथा बल-शाली बनाए रखने मे सहायता करते है, और उन्होने स्वय दस धार्मिक सघो की स्थापना की, जिनमे से चार ने आज तक अपनी प्रतिष्ठा को स्थिर बनाए रखा है।

शकर के जीवन मे विरोधी भावो का एकत्र सग्रह मिलता है। वे दार्शनिक भी है और कवि भी, ज्ञानी पडित भी है और सन्त भी, वैरागी भी है और धार्मिक सुधारक भी। उनमे इतने भिन्न-भिन्न प्रकार के दिव्य गुण निहित थे कि यदि हम उनके व्यक्तित्व का स्मरण करे तो भिन्न-भिन्न मूर्तरूप हमारे सम्मुख उपस्थित हो जाते है। युवावस्था मे वे बौद्धिक महत्त्वाकाक्षा के आवेश से पूर्ण, एक अदम्य और निर्भय शास्त्रार्थ-महारथी प्रतीत होते है। कुछ व्यक्ति उन्हे तीक्ष्ण राजनैतिक प्रतिभा से सम्पन्न मानते है जिन्होने जनता को एकता की भावना का महत्त्व समझाया। तीसरे वर्ग के वे लोग भी है जिनकी दृष्टि मे वे एक शान्त दार्शनिक है जिनका एकमात्र प्रयत्न जीवन तथा विचार के विरोधो का अपनी असामान्य तीक्ष्ण बुद्धि के द्वारा भेद खोल देने के प्रति था। और चौथे वर्ग के लोगो की दृष्टि मे वे एक रहस्यवादी है जो घोषणापूर्वक कहते है कि हम सब उससे कही अधिक महान है जितना कि हम जानते है। उनके समान सार्वजनिक-मेधावी पुरुष बहुत कम देखने मे आते है।

३

साहित्य

इस दार्शनिक मत के मुख्य-मुख्य ग्रन्थ है प्रमुख उपनिषदो[1] पर तथा भगवद्गीता और वेदान्तसूत्र पर किए गए शाकरभाष्य। उपदेशसहस्री और विवेकचूडा-मणि ग्रथो से उनकी सामान्य स्थिति हमारे समक्ष आ जाती है। ईश्वर के भिन्न-भिन्न स्वरूपो को लक्ष्य करके निर्माण किए गए स्तोत्र, इस जीवन मे उनकी आस्था कहा तक थी, इसे भली भाति प्रकट करते है। इन स्तोत्रो के नाम है: दक्षिणामूर्तिस्तोत्र, हरिमीडेस्तोत्र, आनन्दलहरी और सौन्दर्यलहरी। जीवन के प्रति जो उनकी आस्था थी उसका औचित्य भी इन स्तोत्रों से प्रकट होता है।

१. छान्दोग्य, बृहदारण्यक, तैत्तिरीय, ऐतरेय, श्वेताश्वतर, केन, कठ, ईश, प्रश्न, मुण्डक और माण्डूक्य। कहा जाता है कि उन्होंने अथर्वशिखा, अथर्वशिरस और नृसिहतापनीय उपनिषदों के भी भाष्य किए थे।

अन्य ग्रन्थ, जो शकर के रचित बताए जाते है, ये हैं : आप्तवज्र सूची, आत्मबोध, महामुद्गर, दशश्लोकी और अपरोक्षानुभूति तथा विष्णुसहस्रनाम और सनत् सुजातीय के ऊपर भाष्य। ऐसे अनेक सूत्रो की अभिव्यक्ति उनके ग्रन्थों में प्रकट है जिन्होने उसके व्यक्तित्व के जटिल विन्यास का निर्माण किया था। उनकी शैली के विषय मे विशेष बात जो लक्ष्य करने की है, वह यह है कि किस प्रकार से वह शकर के मानसिक गुणो को, अपनी शक्ति को, अपने तर्क को, अपने मनोभावों तथा विनोदप्रियता के भाव को अपने अन्दर प्रतिबिम्बित कर देती है। शकर के द्वारा प्रतिपादित दर्शनशास्त्र का इतिहास बहुत लम्बा है और आज तक भी वह प्रगतिशील है। अन्य मतावलम्बी सामान्यत. अपनी स्थिति का समर्थन शकर के विचारो का खण्डन करके करते है। इसके कारण शकर की स्थिति का पक्षपोषण प्रत्येक काल मे आवश्यक हो गया है। किन्तु हमारे लिए शकर के दर्शन मे उनके अपने समय की समृद्धि के अतिरिक्त बाद मे हुई समृद्धि का ठीक ठीक पता लगाना सम्भव नही है।[1]

१ सुरेश्वराचार्य के वार्तिक और नैष्कर्म्य सिद्धि, वाचस्पति की भामती, पद्मपाद की पञ्चपादिका और आनन्दगिरि का न्याय-निर्णय, ये अद्वैत के प्रसिद्ध ग्रन्थ है जिनकी रचना शकर के समय के ठीक पश्चात् हुई। अमलानन्द का कल्पतरु (तेरहवी शताब्दी का मध्य भाग) भामती के ऊपर किया गया एक भाष्य है। अप्पय दीक्षित (सोलहवी शताब्दी) ने अपने कल्पतरुपरिमल नामक ग्रथ का निर्माण, जो एक महाकाय ग्रन्थ है, कल्पतरु के आधार पर किया। उसका 'सिद्धान्त लेश' वेदान्त के भिन्न-भिन्न विकसित रूपों का एक महत्त्वपूर्ण सारसग्रह है। प्रकाशात्मा ने (१२०० ईस्वी) के अपने 'पञ्चपादिकाविवरण' मे पद्मपाद की 'पञ्चपादिका' के ऊपर टीका की है, जो प्रथम चार सूत्रो के ऊपर एक परिष्कृत वृत्ति है। विद्यारण्य ने, जो चौदहवी शताब्दी में हुआ और जिसे सामान्यत. माधव माना जाता है, अपने 'विवरणप्रमेयसग्रह' की रचना की, जो प्रकाशात्मा के ग्रथ का भाष्य है। 'पञ्चदशी' जहा अर्वाचीन अद्वैत का एक शास्त्रीय ग्रन्थ है, वहा उसका 'जीवन्मुक्तिविवेक' भी अत्यन्त महत्त्व का ग्रंथ है। पञ्चदशी के रचयिता के सम्बन्ध में परम्परागत मतभेद है। ऐसा कहा जाता है कि पहले छः अध्याय विद्यारण्य के द्वारा रचित हुए तथा अन्य नौ अध्याय भारतीतीर्थ ने रचे (देखें, पीताम्बरस्वामी का सस्करण, पृष्ठ ६)। निश्चलदास ने अपने 'वृत्तिप्रभाकर' (पृष्ठ ४०४) में प्रथम दस अध्यायों का कर्ता विद्यारण्य को माना है तथा अन्य पाच का कर्ता भारतीतीर्थ को माना है। सर्वज्ञात्ममुनि ने (९०० ईस्वी) अपने 'सक्षेपशारीरक' में शकर की स्थिति का सर्वेक्षण किया है और रामतीर्थ ने इसके ऊपर टीका लिखी है। श्रीहर्ष का खण्डनखण्डखाद्य (११९० ईस्वी) अद्वैत दर्शन का सबसे महान ग्रंथ है। यह दर्शनशास्त्र की निःसारता के ऊपर लिखा गया एक अत्यन्त विस्तृत विचार-प्रबन्ध है, जो मानवीय मस्तिष्क की उन उच्च श्रेणी के विषयों को मापने की अयोग्यता का प्रतिपादन करता है जिन्हे यह अपनी कल्पनात्मक विलक्षणता द्वारा खोज लेने योग्य समझता है। नागार्जुन के ही प्रेरकभाव का अनुसरण करते हुए वह सामान्य वर्गीकरण का विश्लेषण सूक्ष्मता तथा परिशुद्धता के साथ करता हुआ एक सुदीर्घ तथा परिश्रमसाध्य प्रक्रिया द्वारा पाठक के समक्ष इस सरल सत्य को सिद्ध करता है कि किसी विषय को भी अन्तिम एव निश्चित रूप मे सत्य अथवा असत्य नही कहा जा सकता। सार्वभौम चैतन्य के अतिरिक्त अन्य सब वस्तुए सन्दिग्ध है। निरपेक्ष परमात्मा की यथार्थता के अन्दर जो उसका विश्वास है वह उसे बौद्धधर्म के शून्यवाद (१ : ५) से पृथक् लक्षित करता है। अन्त मे जाकर वह न्याय के प्रमाणों तथा उसके कारणकार्यभाव की प्रकल्पना के ऊपर वादविवाद उठाता है तथा तर्क करता है कि न्याय केवल प्रतीयमान वस्तुओं तक ही सीमित है, यथार्थसत्ता तक नही पहुंचता। वस्तुओं के अन्दर की

४

गौडपाद

अद्वैत वेदान्त पर क्रमबद्ध भाष्य लिखनेवालो मे गौडपाद[1] सबसे प्रथम है। वह शकर के गुरु, गोविन्द, के नाम से प्रसिद्ध है और कहा जाता है कि या तो आठवी शताब्दी के प्रारम्भ मे या सातवी शताब्दी के अन्त के लगभग हुआ।[2] यह भी कहा जाता है कि गौडपाद ने उत्तरगीता पर भी एक भाष्य लिखा था। कारिका मे अद्वैतदर्शन के मुख्य-मुख्य सिद्धान्तो का प्रतिपादन किया गया है, जैसेकि यथार्थसत्ता के अनुक्रम, ब्रह्म और

विविधता परम यथार्थ नही है, किन्तु निरपेक्ष ब्रह्म परम यथार्थ है (१ ९), यद्यपि यह कभी जाना नही गया। चित्सुख ने इसके ऊपर एक टीका लिखी तथा इसके अतिरिक्त एक स्वतन्त्र ग्रन्थ 'तत्त्वदीपिका' नामक भी उसी पद्धति के ऊपर लिखा। 'न्यायामृतम्' में 'चित्सुखीयम्' की समीक्षा की गई है। मधुसूदन सरस्वती ने (१६वी शताब्दी) अपने 'अद्वैतसिद्धि' नामक ग्रन्थ मे 'न्यायामृत' की समीक्षा की। रामाचार्य ने अपनी 'तरगिणी' में 'अद्वैतसिद्धि' की समीक्षा की। 'गौडब्रह्मानन्दीय' अथवा 'गुरुचन्द्रिका' ब्रह्मानन्दकृत एक ग्रन्थ है, जो 'तरङ्गिणी' के विरुद्ध की गई समीक्षा के विरुद्ध 'अद्वैतसिद्धि' ग्रन्थ के समर्थन में लिखा गया है। शकरमिश्र तथा रघुनाथ ने खण्डन के ऊपर स्वतन्त्र ग्रन्थ लिखे। धर्मराजाध्वरीन्द्र का 'वेदान्तपरिभाषा' नामक ग्रन्थ (सोलहवी शताब्दी) न्यायशास्त्र की व्याख्याओ के विषय मे एक अत्युत्तम ग्रन्थ है। इसके ऊपर धर्मराज के पुत्र रामकृष्ण ने अपना 'शिखामणि' नामक ग्रन्थ लिखा। अमरदासकृत 'मणिप्रभा' इसके ऊपर एक उपयोगी टीका है। विज्ञानभिक्षु के 'विज्ञानामृत' (सोलहवी शताब्दी) मे यह सिद्ध करने का प्रयास किया गया है कि साख्यप्रतिपादित द्वैत वेदान्त से भिन्न है। अद्वैतानन्द का 'ब्रह्मविद्याभरण' (१५वी शताब्दी), गोविन्दानन्द की 'रत्नप्रभा', सदानन्द का 'वेदान्तसार' (१५वी शताब्दी) अपनी 'सुबोधिनी' तथा 'विद्वन्मनोरञ्जनी' नामक टीकाओ समेत प्रकाशानन्द का 'सिद्धान्तमुक्तावली', सदानन्द का 'अद्वैतब्रह्मसिद्धि', लक्ष्मीधर का 'अद्वैतमकरन्द' आदि कतिपय अन्य ग्रन्थ भी बहुत महत्त्व के है। कई आधुनिक उपनिषद, यथा महोपनिषद, तथा कई धार्मिक ग्रन्थ, यथा योगवाशिष्ठ और अध्यात्मरामायण अद्वैतवाद का समर्थन करते है। योगवाशिष्ठ में बौद्ध विचारो का प्रतिबिम्ब पाया जाता है। तुलना कीजिए—

> यदिद दृश्यते किञ्चित् तन्नास्ति किमपि ध्रुवम्।
> यथा गन्धर्वनगर यथा वारि मरुस्थले ॥ (२)

अद्वैत वेदान्त के ऊपर अन्य कितने ही ग्रन्थ लिखे गए है, किन्तु वे सब शकर के वचनो के गाम्भीर्य तथा अगाधता तक नही पहुचते। सुरेश्वर, वाचस्पति, पद्मपाद, श्रीहर्ष, विद्यारण्य, चित्सुख, सर्वज्ञात्ममुनि, मधुसूदन सरस्वती, अप्पयदीक्षित ये सब यद्यपि एक ही समान विचार-प्रणाली में आते हैं तो भी नवीन विषय का कुछ न कुछ प्रतिपादन करते है, तथा निरपेक्ष आदर्शवाद की सार्थकता के किसी न किसी पक्ष पर प्रकाश डालते है, जिसके समान प्रगाढ विचार पहले कभी सामने नही आए। ये सब यद्यपि एक ही सामान्य विधि का प्रयोग करते है तथा एक ही सामान्य मत की व्याख्या करते है और फिर भी अपने विशेष व्यक्तित्व का भी धारण किए हुए है।

१. सम्भवतः यह वह गौडपाद नही है जोकि साख्यदर्शन के भाष्य का कर्ता है।

२. इसे बहुत अधिक प्राचीन होना चाहिए क्योंकि वालेसर का कहना है कि भव्यविवेककृत तर्कज्वाला के तिब्बती भाषा के रूपान्तर में कारिका का उद्धरण आता है। परवर्ती ग्रन्थकार अवश्य शुआन-चाग से पहले हुआ और इसलिए गौडपाद का समय लगभग ५५० ईस्वी, या ऐसा ही होना चाहिए (देखें जैकाबी, 'जर्नल आफ दि अमेरिकन ओरिएण्टल सोसाइटी', अप्रल, १९१३)। जैकोबी का मत है कि कारिका ब्रह्मसूत्र से अर्वाचीन है। प्राचीन बौद्धग्रंथों में ब्रह्मसूत्र का कोई उल्लेख न रहने से इस मत

आत्मा का एकत्व, माया, परमनिरपेक्ष सत्ता पर कारण-कार्यभाव को लागू न होना, ज्ञान अथवा विद्या का मोक्ष का प्रत्यक्ष साधन होना, तथा निरपेक्ष शून्य का अचिन्त्य होना। यह ग्रंथ चार अध्यायों में विभक्त है। प्रथम के अन्दर, जिसे आगम कहा जाता है, माण्डूक्योपनिषद् के प्रतिपाद्य विषय की व्याख्या की गई है। गौडपाद ने यह दर्शाने का प्रयत्न किया है कि यथार्थसत्ता के विषय में जो उसका मत है उसे श्रुति की मान्यता प्राप्त है और तर्क उसका समर्थन करता है।[1] दूसरे अध्याय में, जिसका नाम वैतथ्य है, युक्तियों द्वारा संसार के प्रतीयमान स्वरूप की व्याख्या की गई है, क्योंकि इसकी विशिष्टता द्वैतभाव और परस्पर-विरोध से लक्षित होती है। तीसरे भाग में अद्वैत सिद्धान्त को सिद्ध किया गया है। अन्तिम भाग में, जिसका नाम अलातशान्ति है और जिसका अर्थ होता है ज्वाला को बुझाना, आत्मा के एकमात्र यथार्थ अस्तित्व के तथा उससे सम्बद्ध हमारे साधारण अनुभव के स्वरूप के विषय में अद्वैत सिद्धान्त की जो स्थिति है उसका और अधिक परिष्कार किया गया है। जिस प्रकार एक सिरे पर जलती हुई लकड़ी जब चारों ओर घुमाई जाती है तो बड़ी शीघ्रता से एक प्रकार का भ्रम उत्पन्न करती है कि यह अग्निचक्र (अलातचक्र) है यही हाल संसार के अनेकत्व का है। यह योगाचार मत का भी उल्लेख करती है और बुद्ध का नाम भी इसमें कम से कम आधा दर्जन बार आया है।

गौडपाद ऐसे समय में हुआ जबकि बौद्धधर्म विस्तृत रूप में प्रचलित था। स्वभावतः यह बौद्धधर्म के सिद्धान्तों से अभिज्ञ था और जहां पर वे उसके अपने अद्वैतवाद के सिद्धान्तों के साथ विरोध में नहीं जाते थे, वहां पर उन्हें गौडपाद ने स्वीकार भी किया था। बौद्धधर्मियों से उसने यह कहा कि उसके मत का आधार कोई धर्मशास्त्रीय मूलग्रंथ या दैवीय वाणी नहीं है। सनातनी हिन्दू को उसने यह कहा कि इसको श्रुति प्रमाण की भी मान्यता प्राप्त है। अपने उदार विचारों के कारण उसे बौद्ध धर्म से सम्बद्ध सिद्धान्तों को स्वीकार करके उन्हें अद्वैत की शैली पर अपने अनुकूल बना लेने की सुविधा प्राप्त हो गई।

ही था अन्तर नहीं आता क्योंकि ब्रह्मसूत्र के 'रहस्यमय स्वरूप' के कारण विजातीयों के लिए वेदान्त-दर्शन के विचारविषयों के स्पष्टस्वरूप में उसका उद्धरण देना सम्भव हो जाता है। "इसके अतिरिक्त बौद्ध लेखक बादरायण व पुरातन वेदान्त की उपेक्षा भी कर दे सकते थे जिस प्रकार कि जैनियों ने आगे चलकर नवीं शताब्दी में किया। किन्तु वे 'गौडपादी' की उपेक्षा नहीं कर सकते थे, क्योंकि उक्त ग्रन्थ ने एक ऐसे दर्शन की शिक्षा दी जोकि अनेक अंशों में उनके अपने समान थी।" 'जर्नल आफ दि अमेरिकन ओरियण्टल सोसाइटी', अप्रैल, १९१३)। अनेक भारतीय विद्वानों का झुकाव जेकोबी की सम्मति की ओर है, यद्यपि वे उसके तर्क को वालेसर के तर्क से भिन्न नहीं मानते।

१. ३ : २३।

२. मैत्रायणी उपनिषद् भी देखें, ६ : २४। यही उपमा का प्रयोग बौद्धग्रन्थों में भी किया गया है। निःसन्देह भाषा तथा विचार की दृष्टि से गौडपाद की कारिका तथा माध्यमिक ग्रन्थों में अद्भुत समानता पाई जाती है, और उनमें प्रयुक्त दृष्टान्त भी इसमें मिलते हैं। विशेष रूप में तुलना कीजिए, २ : ३२; ४ : ५९। देखें, 'जर्नल आफ दि रायल एशियाटिक सोसाइटी', १९१०, पृष्ठ १३६ से आगे।

५

अनुभूत ज्ञान का विश्लेषण

एक अन्य स्थान पर हमने चेतना की श्रेणियों तथा प्रकारों के विषय मे जो सिद्धान्त है, और जिसका वर्णन माण्डूक्योपनिषद् मे किया गया है, उसका उल्लेख किया है।[1] गौडपाद इसी विश्लेषण को अपना आधार मानकर बलपूर्वक कहता है कि स्वप्नावस्था के अनुभव तथा जागरित अवस्था के अनुभव एकसमान है। यदि स्वप्नावस्थाएं हमारे अन्य साथी मनुष्यों के सामान्य अनुभवों तथा हमारे अपने भी साधारण अनुभव की अवस्थाओ के अनुकूल नही है तो अवश्य यह समझना चाहिए कि इसका कारण यह नही है कि वे निरपेक्ष यथार्थसत्ता मे न्यून है, अपितु इसका कारण यह है कि वे हमारे अपने परम्परागत मानदण्डो के अनुकूल नही है। अनुभवो की उनकी अपनी एक पृथक् ही श्रेणी है और अपने सब के अन्दर वे सश्लिष्ट है। स्वप्न मे का पानी स्वप्नगत प्यास को बुझा सकता है और यह कहना कि यह वास्तविक प्यास को नही बुझाता है, असंगत है। ऐसा कहने का तात्पर्य होगा कि हम यह मान लेते है कि जागरित अवस्था का अनुभव अपने-आपमे यथार्थ है और वही एकमात्र यथार्थ है। जागरित तथा स्वप्न अवस्थाए दोनो ही अपने-अपने स्थानो पर यथार्थ है, अथवा निरपेक्ष भाव से दोनो ही एक समान अयथार्थ है।[2] गौडपाद का मत है कि जागरितावस्था के अनुभूत यथार्थ हम सबके लिए एकसमान है जबकि स्वप्नावस्था मे जाने गए पदार्थ केवल स्वप्नद्रष्टा की निजी सम्पत्ति है।[4] फिर भी उनका कहना है कि 'क्या स्वप्न मे और क्या जागरित अवस्था मे जो भी पदार्थ ज्ञान मे आते है वे सब अयथार्थ है।"[5] उसका तर्क यह है कि पदार्थ के रूप मे जो कुछ भी प्रस्तुत होता है वह सब अयथार्थ है। यह तर्क कि सब पदार्थ अयथार्थ है और केवल मात्र प्रमाता (ज्ञाता) जो निरन्तर साक्षीरूप आत्मा के रूप मे है वही यथार्थ है, कुछ उपनिषदों में उपस्थित किया गया है और इसे बौद्ध विचारधारा मे निषेधात्मक परिणामों के साथ विकसित किया गया है। इसी तर्क का प्रयोग आगे चलकर गौडपाद

१. देखें खण्ड १, पृष्ठ ३०–३३, १५८ से आगे। तुलना कीजिए, ब्रैडले : 'ट्रुथ ऐण्ड रियलिटी', पृष्ठ ४६२–६४।

२. २ : २०३।

३. "जब मैं इस विषय पर ध्यान देकर विचार करता हूं तो मुझे एक भी ऐसा लक्षण नही मिलता जिसके द्वारा मैं निश्चित रूप से निर्णय कर सकूं कि क्या मैं जागता हूं या स्वप्न देख रहा हू। स्वप्नावस्था के अनुभव तथा जागरितावस्था के अनुभव इतने अधिक समान है कि मैं पूर्णरूप से हैरान हो जाता हू और वस्तुतः मैं नही जानता कि मैं इस क्षण मे स्वप्न नही देख रहा हू" डेस्कार्ट : 'मेडिटेशन्स', पृष्ठ १ का पास्कल का कथन ठीक है कि यदि हर रात एक ही स्वप्न दिखाई दे तो हम उसमें भी ठीक इसी प्रकार लिप्त हो जाएंगे जैसेकि उन वस्तुओं में हो जाते है जिन्हे हम प्रतिदिन देखते है। उसके शब्द हैं, "यदि कोई कारीगर निश्चित रूप से पूरे बारह घण्टे तक यह स्वप्न देखे कि वह राजा है तो मेरा विश्वास है कि वह भी उसी राजा के समान सुखी होगा जो हर रात में बराबर बारह घण्टे तक यह स्वप्न देखता है कि वह कारीगर है।"

४. २ : १४।

५. २ : ४।

ने यह सिद्ध करने के लिए किया है कि यह जीवन जागरित अवस्था का स्वप्न है ।[1] हम जागरित अवस्था के ससार को बाह्य मान लेते है, इसलिए नही कि हमे अन्य लोगो की मानसिक अवस्थाओ का ज्ञान होता है, किन्तु इसलिए कि हम उनकी साक्षी को मान लेते है । देश, काल और कारण के सम्बन्ध, जो जागरित ससार के पदार्थों का नियमन करते है, आवश्यक नही कि यथार्थ ही मान लिए जाए । गौडपाद के अनुसार, "एक वस्तु के स्वरूप से जो कुछ समझा जाता है, वह वह है जोकि अपने मे पूर्ण होता है, वह जोकि इसकी वास्तविक अवस्था है वह जोकि अन्तर्निहित है, वह जोकि आकस्मिक नही है अथवा वह जो अपने-आपमे नष्ट नहीं हो जाता ।"[2] इस कसोटी को उपयोग मे लाने पर हमे प्रतीत होता है कि आत्माए तथा ससार अपने-आपमे दोनो ही कुछ नही हैं, और केवल आत्मा ही सत् है ।[3]

अनुभूत ज्ञान की व घटनाए हमारे मस्तिष्क के अन्दर प्रविष्ट होती है, किन्ही निश्चित नियमो का पालन करती है तथा किन्ही निश्चित सम्बन्धो मे आबद्ध ह, जिनमे प्रधान सम्बन्ध है कारण । वह कौन सा क्रम है जिसके अनुसार कारण और कार्य एक-दूसरे के पीछे आते है ? यदि वे युगपत् आते है, जैसेकि एक पशु के दो सीग साथ-साथ आते है, तो वे कारण और कार्य के रूप मे एक-दूसरे से सम्बद्ध नही हो सकते । बीज और वृक्ष का दृष्टान्त अधिक उपयुक्त नही हो सकता । हम किसी भी वस्तु को कार्य नही कह सकते यदि हम उसके कारण को नही जानते ।[4] बाह्य आवरण के स्वरूप मे कारण-कार्य-सम्बन्धी व्याख्या पूर्ण नही हो सकती । वस्तुओ की किसी भी प्रस्तुत अवस्था को हम सोपाधिक मानते हैं और उसकी उपाधियो का पता लगाते हे और जब उपाधियो का पता लग जाता है तो हमे उनकी पृष्ठभूमि मे जाना होता है । इस प्रकार की प्रक्रिया का कोई अन्त नही है ।[5] किन्तु यदि हम विश्वास करे कि ऐसे अनादि नित्य कारण भी वर्तमान है जो स्वय मे कारणरहित है और तो भी कार्यों को उत्पन्न करते हैं, तब फिर गौडपाद कैसे पूछ सकता है कि क्या वह पदार्थ जो कार्य को उत्पन्न करता है, स्वय अज (अर्थात् न उत्पन्न होनेवाला) हो सकता है ? और एक परिवर्तनशील पदार्थ कैसे नित्य हो सकता है ? स्वय अनुत्पन्न वस्तुओ को अन्य वस्तुओ को उत्पन्न करते हुए हम कहा पाएगे ? कारण और कार्य, स्पष्ट है कि परस्पर सापेक्ष है, जिनमे से एक-दूसरे को सहारा देता है और जो गिरते भी साथ-साथ है ।[6] कारण कार्य-सम्बन्ध का स्वरूप यथार्थसत्ता के स्वरूप-सा नही है किन्तु केवल ज्ञान की एक दशा है । गौडपाद कहता हे "न तो अयथार्थ का और न यथार्थ का ही कारण कभी अयथार्थ हो सकता है और न ही यथार्थ का कारण यथार्थ हो सकता हे और यथार्थ कैसे अयथार्थ का कारण हो सकता है ?"[7] कारणकार्यभाव की समस्याओ के कारण गौडपाद यह कहने के लिए विवश हुआ कि "कोई भी वस्तु न तो अपने से और न अन्य

१. २ : ३१ । २. ४ : ६ । ३. ४ : १०, २८, ६१ ।
४. ४ : १६, २१ । ५. ४ : ११-१३, २१, २३, २५ ।
६. ४ : १४-१५ । ७. ४ : ४० ।

के द्वारा उत्पन्न हो सकती है। वस्तुतः कोई वस्तु उत्पन्न होती ही नहीं, चाहे वह सत् हो चाहे असत् हो अथवा दोनों में से एक हो।"[1] कारणकार्यभाव असम्भव है। हम न तो यही कह सकते है कि ईश्वर ससार का कारण है अथवा और न यह कि जागरित अवस्था का अनुभूत ज्ञान स्वप्नावस्थाओं का कारण है।[2] नानाविध पदार्थ—विषयनिष्ठ और पदार्थनिष्ठ, जीवात्मामात्र तथा ससार—सभी अयथार्थ है।[3] वे तभी तक यथार्थ प्रतीत होते है जब तक कि हम कारणकार्य के सिद्धान्त को स्वीकार करते है।[4] "प्रत्येक पदार्थ सवृति (अर्थात् सापेक्ष सत्य) की शक्ति से उत्पन्न होता है और इसलिए कुछ भी नित्य नही है, फिर प्रत्येक पदार्थ उत्पत्तिरहित है क्योंकि वह सत् से पृथक् नही हो सकता और इसलिए विनाश नाम की कोई वस्तु नही है।"[5] उत्पत्ति और विनाश केवल प्रतीति-मात्र है और यथार्थ मे न तो कुछ उत्पन्न होता है और न विनष्ट ही होता है।[6] यथार्थसत्ता तक पहुचने के लिए हमे कारणकार्यभाव तथा अन्य सम्बन्धो को अस्वीकार करना होगा, क्योंकि यथार्थसत्ता प्रतीतिरूप जगत् से अतीन्द्रिय है।[7]

यह ध्यान देने योग्य विषय है कि आत्मनिष्ठ तथा पदार्थनिष्ठ का भेद वेदान्त मे वैसा नही है जैसाकि साधारणत होता है। मानसिक जगत् वैसा ही पदार्थनिष्ठ अथवा अयथार्थ है जैसाकि भौतिक जगत् है, क्योंकि एकमात्र ज्ञाता अथवा यथार्थसत्ता केवल आत्मा ही है। यद्यपि गौडपाद और शकर दोनो ही इस विचार के माननेवाले है तो भी शकर स्वप्नलोक तथा जागरित लोक मे परस्पर भेद करने का विशेष ध्यान रखते है। जहा एक ओर शकर इस बात पर बल देता है कि दोनो जगत् मानसिक और भौतिक एक ही प्रकार तथा एक ही व्यवस्था के नही है, यद्यपि तात्त्विक रूप से वे दोनो ही ब्रह्म है। गौडपाद के ऊपर यह दोष आ सकता है कि वह परम्परागत अर्थों मे आत्म-निष्ठता को मानता है क्योंकि उसने बाह्य वस्तुओ की अयथार्थता को सिद्ध करने तथा उन्हे मानसिक विचार के रूप मे प्रस्तुत करने के लिए उन्ही युक्तियों का प्रयोग किया है जिनका प्रयोग बौद्धधर्म का विज्ञानवाद करता है।[8] यह चैतन्य की गति (विज्ञान-स्पन्दितम्) है जो प्रत्यक्ष ज्ञान के कर्ता तथा ज्ञात पदार्थ की प्रतीति को उत्पन्न करती

१. ४ : २२। शकर इसपर इस प्रकार टीका करते है, "अतएव किसी भी वस्तु से सत का उत्पन्न होना किसी प्रकार भी सिद्ध नही हो सकता। अपने-आपसे, अर्थात् अपनी निजी आकृति से कुछ नहीं उत्पन्न हो सकता। कोई भी पदार्थ फिर से अपने को उत्पन्न नहीं कर सकता जैसे घड़े से फिर घड़ा नहीं उत्पन्न हो सकता, और न ही किसी अन्य वस्तु से कोई वस्तु उत्पन्न हो सकती है जैसे घड़े से कपड़ा नहीं उत्पन्न हो सकता; और पहले कपड़े से दूसरा कपड़ा नही उत्पन्न हो सकता; और अपने तथा अपने से अन्य दोनो से कुछ नहीं उत्पन्न हो सकता: क्योंकि एक घड़ा और एक कपड़ा दोनों एकसाथ मिलकर किसी एक को या दूसरे को उत्पन्न नहीं कर सकते।"

२. ४ : ३८। ३. ४ : ५१-५२, ६७। ४. ४ : ५५-५६; ४ : ४२।

५. ४ : ५७। ६. २ : ३२। ७. प्रपञ्चोपशमम्, १ : ३५।

८. जेकोबी गौडपाद के तर्क को इस तर्कक्रम में प्रस्तुत करता है: "जागरित अवस्था में देखे गए पदार्थ यथार्थ नहीं हैं: यह प्रतिज्ञा (प्रापोजीशन) है, हेतु यह है कि वे देखे गए हैं, जैसेकि किसी स्वप्न में देखे गए पदार्थ, यह दृष्टान्त है; जिस प्रकार स्वप्न में देखे गए पदार्थ यथार्थ नहीं होते, इसी प्रकार दृश्यमानता का गुण जागरितावस्था के पदार्थों से भी सम्बन्ध रखता है; यह हेतु का उपयोग (हेतूपनय)

है और जहा यह नही होती वहा हम नानाविध वस्तुओ की कल्पना कर लेते है।[1] ससार का अस्तित्व केवलमात्र मनुष्य के मन मे है।[2] गौडपाद की दृष्टि में कुल यथार्थ-सत्ता मानसिक प्रभावमात्र के अतिरिक्त और कुछ नही और वह यह भी घोषणा करता है कि मानसिक प्रभाव के कोई पदार्थनिष्ठ कारण नही है। "वस्तुओ के स्वभाव के आधार पर निर्धारित युक्तिया सकेत करती है कि कारण का कारण नही होता।"[3] "चित्त (अथवा विचार) अपने को पदार्थों के साथ सम्बद्ध नही करता और न यह पदार्थों को ही अपने अन्दर प्रतिबिम्बित होने देता है, क्योंकि पदार्थ अयथार्थ हैं और उनका प्रतिबिम्ब उससे (चित्त से) पृथक् नही है।"[4]

यथार्थवादी तर्क करता है कि विचार तथा मनोभावनाए उदय ही नही होगी यदि बाह्य पदार्थ उन्हे उत्पन्न न करे। गौडपाद विचारो से स्वतन्त्र प्रमेय पदार्थों के अस्तित्व की कल्पना को अयुक्तियुक्त बतलाता है और शकर यह स्वीकार करने के लिए विवश है कि यह प्रतिवाद 'बौद्धो के विज्ञानवादी सम्प्रदाय का तर्क है जो यथार्थ-वादियो (बाह्यार्थवादियो) की सम्मति को अमान्य ठहराते है, और आचार्य उनसे यहा तक सहमत है।'[5]

किन्तु विचारो के यथार्थप्रवाह की कल्पना भी गौडपाद के लिए अरुचिकर है। वह विज्ञानवाद की मुख्य स्थिति अर्थात् चित्त की यथार्थता का भी प्रतिवाद करता है। "इसलिए मन (चित्त) का उद्भव नही होता और न मन के द्वारा जाने गए पदार्थ ही उत्पन्न होते है। ऐसे व्यक्ति जो उनके उद्भव को जानने का अभिनय करते है, केवल हवाई किले बनाते है।[6] यदि सम्पूर्ण ज्ञान केवल प्रतीतिमात्र है तो फिर यथार्थ और मिथ्या ज्ञान मे अन्तर ही क्या रहा? निरपेक्ष परमसत्ता की दृष्टि मे कुछ भी अन्तर नही है। रस्सी का रस्सी के रूप मे ज्ञान भी फिर उतना ही निराधार है जितना कि रस्सी को साप के रूप मे जानने का ज्ञान है। जागरित तथा स्वप्न अवस्थाओ मे प्रस्तुत पदार्थों की चेतना निरन्तर रहनेवाला घटक साधन नही है। सुषुप्ति अवस्था मे न तो बाह्य और न आभ्यन्तर पदार्थो का बोध हो सकता है। केवल एक ऐसा एकत्व है जिसके अन्दर सब पदार्थ आकर एक चेतना के पुञ्जरूप मे एकत्र होते हुए प्रतीत होते है जहा वे अलग-अलग पहचाने नही जा सकते।[7] इस अवस्था का अस्तित्व इस विषय

है; इसलिए जागरित अवस्था में देखे गए पदार्थ भी अयथार्थ है; यह निष्कर्ष (निगमन अनुमान) है। 'जर्नल आफ दि अमेरिकन ओरियण्टल सोसाइटी', खण्ड ३३, भाग १, अप्रैल १९१३। और भी देखें, २:४, ३१; ४:६१-६६, ७२-७३।

१. २:१५ और १७, और ४:४७।

२. ४:४५-४८, ७२:४:७७; १:१७।

३. ४:२५। इसके ऊपर भाष्य करते हुए शकर लिखता है, "घडे आदि का, जिन्हे तुम विषयी-निष्ठ प्रभावों का पदार्थनिष्ठ कारण मानते हो, अपना कोई कारण नहीं है, न कोई आधार ही है; इसलिए वे विषयीनिष्ठ प्रभावों के कारण नहीं है।"

४. ४:२६। ५. ४:२१, २५-२७। ६. ४:२८।

७. "यथा रात्रौ नैशेन तमसा विभज्यमान सर्वं घनमिव तद्वत् प्रज्ञानघन एव।" शांकरभाष्य, माण्डूक्योपनिषद्, ५।

का स्पष्ट प्रमाण है कि ज्ञान, जिसमें ज्ञाता और ज्ञात पदार्थ का भेद है, निरपेक्ष परम नही है। स्वप्न तभी तक यथार्थ है, जब तक कि हम स्वप्न देखते है। इसी प्रकार जागरित अवस्था का ज्ञान भी तभी तक वर्तमान है जब तक कि हम निद्राभिभूत नही होते एवं स्वप्न नही देखते। सुषुप्ति (अर्थात् स्वप्नरहित निद्रा), जिसमे से गुजरकर हम जागरित अथवा स्वप्नावस्था मे आते है उतनी ही अयथार्थ है जितनी कि अन्य अवस्थाएं, और तीनो अवस्थाए उस समय अपने सापेक्ष रूप को प्रकट करती है, जब मनुष्य "भ्राति-रूप निद्रा से जाग जाता है, जिसका कोई आदि नही है और वह उस अजन्मा, सदा जागरित, स्वप्नविहीन को पहचान जाता है जिसके समान दूसरा कोई नही है।"[1]

ससार के मिथ्यात्व को दर्शाने का दूसरा तर्क यह है कि "प्रत्येक वस्तु जो प्रारम्भ मे असत् थी और अन्त मे भी असत् रूप मे परिणत हो जाएगी, मानना चाहिए कि मध्यकाल मे भी असत् है।"[2] दूसरे शब्दो मे वह सब जिसका आदि व अन्त है, अयथार्थ या मिथ्या है।[3] यथार्थता का प्रमाण पदार्थनिष्ठता अथवा क्रियात्मक क्षमता नही है किन्तु सब काल मे निरन्तर अस्तित्व अथवा निरपेक्ष आत्मसत्ता है। जागरितावस्था के अनुभूत पदार्थ स्वप्नावस्था मे असत् हो जाते है और स्वप्नावस्था के पदार्थ जागरितावस्था मे असत् रूप हो जाते है। इस प्रकार गौडपाद अनुभूत जगत् के अयथार्थस्वरूप को सिद्ध करता है अर्थात् (१) इसकी स्वप्नावस्था के साथ समानता के कारण; (२) इसके प्रस्तुत होनेवाले अर्थात् पदार्थनिष्ठ स्वरूप के कारण, (३) इसके उन सम्बन्धो के दुर्बोध होने के कारण जो इसका सगठन करते है, और (४) उसके सब कालो मे स्थिर न रहने के कारण।

यह स्वीकार करते हुए कि सापेक्षता एक सर्वग्राही शक्ति है जो अनुभूत ज्ञान के क्षेत्र मे नियामक है, वह एक ऐसी वस्तु की यथार्थता की स्थापना करता है जो अनुभव, ज्ञान तथा सापेक्षता से भी ऊपर हो। सापेक्ष की सम्भावना ही निरपेक्ष यथार्थसत्ता को उपलक्षित करती है। यदि हम यथार्थसत्ता को अस्वीकार करते है तो हम सापेक्ष को भी अस्वीकार करते है।[4] उपनिषदो मे प्रतिपादित किया गया है कि जागरित, स्वप्न तथा सुषुप्ति तीनो ही अवस्थाओ से परे उन सबका एक सामान्य आधार आत्मा है।[5] केवल-मात्र यही सत् है। यह अखण्ड है क्योंकि यदि इसके खण्ड होते तो बहुत्व का दोष आ जाता। सत् के अन्दर कोई भेद नही रह सकता क्योंकि जो सत् से भिन्न है वह असत् है, और असत् अभावात्मक है। "वह वस्तु जो सत् है बन नही सकती, जिस प्रकार जो नही है वह हो नहीं सकती।" सत् का विचार के साथ तादात्म्य है क्योंकि यदि यह

१. २ : १६।   २. २ : ६।   ३. २ : ७।

४. ३ : २८।

५. १ : १। एक एव त्रिधा स्मृतः। तुलना कीजिए :

· सत्त्वा-जागरणं विद्याद्रजसा स्वप्नमादिशेत।
प्रस्वापनं तु तमसा तुरीयं त्रिषु सन्ततम्॥

देखें, सांख्यप्रवचनभाष्य, १ : ६१।

६. ४ : ४।

तादात्म्य न होता तो यह अन्य प्रकार से नितान्त रूप में एक न होता। विचार वही है जो सत् है; किन्तु यह विचार वह मानवीय विचार नहीं है जिसे एक प्रमेय पदार्थ की आवश्यकता होती है। इस प्रकार का विचार सम्बन्धों में और इसीलिए बहुत्व से संपृक्त होगा। विचार से यहां तात्पर्य है सरल आत्मप्रकाश की ज्योति से, जो सब प्रकार के सापेक्ष ज्ञान को सम्भव बनाती है। "सदा अजन्मा, जागरित, स्वप्नरहित, अपने को स्वयं से प्रकाशित करता है। यह अपने स्वरूप ही के कारण सदा प्रकाशमान रहता है।"[1] निरपेक्ष परमसत्ता को निषेधात्मक शून्यता के साथ न मिला देना चाहिए जो सुषुप्ति की अवस्था है। सुषुप्ति में हमें अबोध रहता है किन्तु ब्रह्म के अन्दर हमें विशुद्ध बोध होता है। जागृति, सुषुप्ति तथा निद्रा, ये तीन प्रकार की अवस्थाएं हैं जिनमें एक-मात्र निरुपाधिक आत्मा अपने को अभिव्यक्त करती है जबकि यह भिन्न-भिन्न उपाधियों (सीमाओं) से मर्यादित रहती है।[2]

६

सृष्टिरचना

गौडपाद सर्वश्रेष्ठ तत्त्व अर्थात् आत्मा तथा आनुभविक जगत् के मध्य क्या सम्बन्ध है इस विषय के प्रश्न को उठाता है। यदि हम सत्य के नैष्ठिक विद्यार्थी (परमार्थ-चिन्तका:) और सृष्टि के सम्बन्ध में केवल कल्पना ही कल्पना करनेवाले (सृष्टि चिन्तका:) नहीं हैं तो हम देखेंगे कि सृष्टिरचना नाम की कोई वस्तु है ही नहीं। यथार्थ-सत्ता में कोई परिवर्तन सम्भव नहीं है। यदि यह सम्भव होता तो 'अमर मरणधर्मा हो जाता।'[4] "किसी प्रकार से भी यह सम्भव नहीं है कि कोई वस्तु अपने से सर्वथा विपरीत गुणवाली वस्तु के रूप में परिणत हो जाए।"[5] प्रत्येक परिणमन अवास्तविक है एवं केवल आनुभविक जगत् में ही वह सत्य अथवा सप्रमाण है। यथार्थ में भेद नामक कोई वस्तु नहीं है। (नास्ति भेद कथञ्चन)।[6] आत्मा ही जो, एकमात्र निरुपाधिक यथार्थसत्ता है, अपने अतिरिक्त और किसीके विषय में अभिज्ञ नहीं है। जैसाकि शङ्कर कहता है: प्रमेय पदार्थों का बोध एक क्रियाशील प्रमाता को होता है, साधारण सत्ता मात्र को नहीं होता।' यह बताना सम्भव नहीं है कि यह अध्यास अथवा आत्मा का अनात्म के साथ असामञ्जस्य कैसे उत्पन्न होता है, किस प्रकार से एक अनेकरूप में प्रकट

१. ४ : ८१। और भी देखें, ३ : ३३, ३५ : ३६।

२. ३ : ३४। और भी देखें, १ : २६-२९ ; ३ : २६ : ४ : ८।

३. स्थूल, सूक्ष्म तथा कारण शरीरों से सम्बद्ध आत्मा की क्रमशः, विश्व, तैजस और प्राज्ञ संज्ञा होती है। इसके साथ तुलना कीजिए हीगल के विचार की अर्थात् एक ऐसी क्रमबद्ध श्रेणी जिसके द्वारा मनुष्य का मानस शनैः-शनैः न्यूनतर यथार्थ से अयथार्थता के अधिकतर सही विचारों पर पहुंचता है, उस प्रक्रिया की अवस्थाओं के अनुकूल है जिसके द्वारा यथार्थता स्वयं सदा बढ़ती रहनेवाली यथेष्टता के साथ घटनाओं के ऊपर उठनेवाले क्रम में स्वयं अभिव्यक्त होती है।

४. ३ : १६। ५. ३ : २१। ६. ३ : १५, ६ और २४।

होता है, क्योंकि अखण्ड आत्मा के यथार्थ मे विभाग नही हो सकते और कभी-कभी यह तर्क किया जाता है कि जगत् की व्याख्या का पता लगाना, यदि यह यथार्थ नही है तो भी, आवश्यक है।[1] सृष्टिरचना के विषय मे प्रस्तुत किए गए भिन्न-भिन्न विकल्पो पर गौडपाद ने इस प्रकार विचार किया है, "कुछ इसे ईश्वर की अभिव्यक्ति (विभूति) के रूप मे मानते है किन्तु अन्य कई इसे स्वप्नरूप अथवा भ्रांति (स्वप्नमाया) के रूप मे मानते है अन्य कई का मत है कि यह ईश्वर की इच्छा-रूपी एक सङ्कल्प है, किन्तु ऐसे व्यक्ति जो काल मे विश्वास रखते है, बलपूर्वक कहते है कि सब कुछ काल से ही प्रादुर्भूत हुआ है। कुछ का कहना हे कि सृष्टि भोग के लिए है, दूसरी ओर ऐसे भी व्यक्ति है जिनका कहना है यह क्रीडा के लिए है।'[2] गौडपाद उक्त सब मतो का निराकरण करते हुए बलपूर्वक कहता है कि "यह उस तेजोमय का अन्त स्थित स्वभाव (देवस्यैष स्वभावोऽयम्) है जिसे सब कुछ प्राप्त है क्योंकि उसकी इच्छा और क्या हो सकती है?'[2] इसलिए इस मत का निराकरण करते हुए कि जगत् की तुलना एक स्वप्न अथवा भ्रांति के साथ की जा सकती है, गौडपाद तर्क करता हे कि यह ईश्वर के अपने स्वभाव का व्यक्तरूप है, अर्थात् उसकी शक्ति का अभिव्यक्त स्वरूप हे। अन्य वाक्यो मे भी जगत् का यथार्थवादी विचार प्रकट होता है तथा "आत्मा अपनी माया की शक्ति द्वारा (स्वमाया से) अर्थात् अपने आपसे अपनी कल्पना करता है। वही एक-मात्र बाह्य विषयो (प्रमेय पदार्थों) का बोध ग्रहण करता हे। इस विषय पर वेदान्त का यह अन्तिम मत है।"[3] यहा पर गौडपाद ने माया शब्द का प्रयोग अद्भुत शक्ति के अर्थों मे किया है, यह आत्मा का स्वभाव बन जाता है "जो उस सर्वदा ज्योतिष्मान् से पृथक् नही हो सकता और जो इसके द्वारा आवृत है।"[4] माया के विषय मे यह भी कहा गया है कि यह अनादि सृष्टितत्त्व है जो मनुष्य की दृष्टि से यथार्थसत्ता को छिपाए रहती हे।[5] वह परमतत्त्व इस माया रूपी तत्त्व अथवा स्वभाव से सयुक्त होकर जो अव्याकृत है, ईश्वर कहाता है 'जो समस्त चैतन्य के केन्द्रो का वितरण करता हे।"[6]

पृथ्वी, लोहा और आग के स्फुलिंगो के दृष्टान्त जिनका उपयोग उपनिषदो मे किया गया है वह हमे केवल परमार्थसत्ता के प्रत्यक्षीकरण मे सहायता प्रदान करने के लिए हे।[7] अर्वाचीन वेदान्त मे इस स्थिति को परिष्कार करके अध्यारोपापवाद अथवा एक अध्यास के रूप मे, जिसके आगे अपसरण आता है, प्रतिपादन किया गया है।[8] उक्त सब कथनो मे जो आध्यात्मिक सत्य निहित है वह यह है कि इस आनुभविक जगत् का अधिष्ठान आत्मा है जो यथार्थ मे किसी प्रकार के द्वैत को स्वीकार नही करता (द्वैत-स्याग्रहणम्)।[9] 'द्वैतपरक जगत् केवल माया है यथार्थसत्ता अद्वैत है।[10] शङ्कर कहते हैं, 'ज्ञान की विविधता आत्मा के अन्दर ठीक उसी भाति रहती है जैसेकि साप रस्सी

१. १ : १७-१८। २. १ : ७-९।
३. २ : १२ और भी देखे, ३ : १०। ४. २ : १९।
५. १ : १६। ६. १ : ६। ७. ३ : १५। ८. वेदान्तसार, २।
९. १ : १३. १७। १०. मायामात्रमिद द्वैतम द्वैत परमार्थतः (१. १७)।

मे ।"[1] हमे यह न कहना चाहिए कि आत्मा अपने को जगत् के रूप मे परिणत करती है। यह वस्तुओं को उत्पन्न करती है केवल उसी भांति जिस भांति कि एक रस्सी सांप का रूप धारण करती है, किन्तु यथार्थरूप मे वह सांप नही।[2] यह केवल माया के द्वारा ही अनेक रूप मे परिणत होती केवल प्रतीत होती है किन्तु अपने आपमे नही (न तत्त्वत)।[3] "अनुभूत ज्ञान की विविधता को आत्मा के अनुरूप नही कहा जा सकता और न अपने-आपमे स्वतन्त्र रूप मे अवस्थित ही कह सकते है, और कुछ भी भिन्न अथवा तादात्म्य-सूचक नही है।"[4] यह जगत् न तो आत्मा के साथ तादात्म्यरूप है और न उससे पृथक् तथा भिन्न ही है। जिस समय गौडपाद का ध्यान सर्वोपरि यथार्थसत्ता के ऊपर होता है तो वह बलपूर्वक कहता है कि जगत् केवल स्वप्नमात्र अथवा भ्रान्ति है और भेद सब केवल प्रतीतिस्वरूप है।[5]

गौडपाद ने माया शब्द का प्रयोग ठीक एक ही अर्थ मे नही किया है। इसका प्रयोग (१) जगत् तथा आत्मा के मध्यगत सम्बन्ध की अव्याख्येयता के अर्थो मे किया है, (२) ईश्वर के स्वभाव अथवा शक्ति के अर्थों मे तथा, (३) जगत् की स्वप्नसदृश प्रतीति के अर्थों मे किया है। शङ्कर ने माया के पहले अर्थो को ही अधिकतर प्रधानता दी है और तीसरे प्रकार के अर्थों के प्रति वह उदासीन है। वह तीसरे प्रकार के अर्थों की गौडपाद की स्थिति को माध्यमिकों के संवृति सत्य अथवा असत्य के सदृश बना देती है, किन्तु व्यावहारिक सत्य अथवा क्रियात्मक सत्य के सदृश नही।[6]

यदि यह जगत् चित्तनिष्ठ पदार्थों से ही बना है (चित्तदृश्यम्) और निरपेक्ष परमार्थस्वरूप आत्मा के ऊपर आरोपित किया गया है तो यही जीव की दशा है। आत्मा का अनेक जीवो मे विभक्त होना केवल प्रतीतिमात्र है। आत्मा की तुलना सर्वव्यापी देश के साथ की गई है और जीव की तुलना भी उसीके समान घडे मे सीमित आकाश (देश) के साथ की गई है। और जब ढकनेवाला बाह्य आवरण नष्ट हो जाता है तो सीमाबद्ध देश (घटाकाश) व्यापक देश (महाकाश) मे मिल जाता है। भेद केवल ऐसे आनुषगिक पदार्थो मे रहते है, यथा आकृति, क्षमता और नाम, किन्तु स्वय व्यापक देश (आकाश) मे यह भेद नही है। जैसेकि हम यह नही कह सकते कि सीमाबद्ध आकाश (देश) व्यापक आकाश का अवयव है अथवा एक विकार है इसी प्रकार हम यह भी नही कह सकते कि जीव आत्मा का अवयव है या विकार है। ये दोनो एक ही है और भेद केवल प्रतीतिपरक है। यद्यपि व्यावहारिक रूप मे हमे इन दोनो को भिन्न मानना होता है।[7]

१. ब्रह्मसूत्र पर शाङ्करभाष्य, २ : १२, १८।

२. ३ : २७ ; २ : १७।   ३. ३ : २७।   ४. २ : ३४।

५. ३ : १९, २६ ; ४ : ४५। और भी देखें, २ : १८।

६. गौडपाद की दृष्टि मे आनुभविक जगत् के पदार्थ (धर्म) केवल भ्रांतिमात्र है जैसाकि आकाश (गगनोपम)। ज्ञान को भी वह आकाश के समान कल्पनात्मक और ज्ञेय पदार्थों से अभिन्न मानता है।

७. ३ : ३-१४।

७

नीतिशास्त्र और धर्म

मनुष्य का सबसे श्रेष्ठ हित इसीमे है कि वह उन बन्धनो को तोड फेंके जो उसे उस यथार्थसत्ता से दूर रखे हुए है, जो उसका अपना स्वरूप है। जीवात्मा के अन्दर आत्मा का साक्षात्कार कर लेने का नाम ही मोक्ष है।[1] 'मुक्त आत्मा कभी जन्म नही लेती क्योकि वह कारणकार्य की परिधि से दूर हो जाती है।'[2] जब मनुष्य सत्य का साक्षात् कर लेता है तो वह ससार मे उच्चकोटि के अनासक्तिभाव से युक्त रहता है जिसकी तुलना जड प्रकृति की पूर्ण उदासीनता के साथ (जडवत्) हो सकती है।[3] वह परम्परागत नियमो तथा विधानो के बन्धन मे नही रहता।[4]

नैतिक प्रयत्न उच्चकोटि के कल्याण के प्रगतिशील सान्निध्य मे है। पुण्य और पाप के भेद आनुभविक जगत् से ही सम्बन्ध रखते है जहा कि जीव व्यक्तित्व का भाव रखते है। चूकि अविद्या एक ऐसी वस्तु है जिसका प्रभाव मनुष्य के व्यक्तित्व के ऊपर सम्पूर्णरूप मे होता है। इससे मुक्त होने के लिए न केवल सत्य ज्ञान अपितु सदाचरण और ईश्वर मे भक्ति आवश्यक है। धर्म सर्वोपरि नि श्रेयस् की प्राप्ति मे हमारा सहायक होता है। परिमित शक्तिवाले जीवात्मा का पूजा तथा उपासना के विषय मे पूरी स्वतन्त्रता दी गई है, जो उस अनन्त सत्ता की जिस किसी भी रूप मे कल्पना कर सकता है क्योकि जितनी भी आकृतिया है उसी एक परम सत्ता मे न्यस्त है।[5] मानवीय आत्मा तथा ईश्वर मे परस्पर भेद के ऊपर निर्भर धर्म का स्वरूप सापेक्ष है और इसको साधन के रूप मे महत्त्वपूर्ण होने के कारण स्वीकार किया गया है।[6] गौडपाद योगशास्त्रविहित पद्धति को साधन के रूप मे स्वीकार करता है। "जब चित्त कल्पना करते करते आत्मविषयक सत्यज्ञान के कारण विरत हो जाता है तो यह शून्य हो जाता है और तब चूकि इसे किसी वस्तु का बोध ग्रहण करना शेष नही रहता इसलिए विश्रान्तिलाभ करता है।"[7] इस अवस्था को सुषुप्ति-अवस्था के साथ नही मिला देना चाहिए क्योकि यह एक ज्ञान की अवस्था है जिसका ज्ञेय विषय है ब्रह्म।[8] यह भावात्मक वर्णन से परे है, सब प्रकार के द्वैतभाव से परे है, यह एक ऐसे क्षेत्र मे है जहा कि ज्ञान आत्मा के अन्दर केन्द्रित है।[9] योग की प्रक्रिया कठिन है क्योकि इसके लिए मन का निग्रह अत्यन्त आवश्यक है जो इतना कठिन है कि गौडपाद इस कष्टसाध्य प्रयत्न की तुलना एक ऐसे व्यक्ति के प्रयत्न से करता है जो घास के एक तिनके से बूद बूद लेकर समुद्र को सुखाने का प्रयत्न करता है।[10] तो भी जब तक परम आनन्द की प्राप्ति न हो जाए, चित्त को बीच मे प्रयत्न न छोड़ना चाहिए।

१. २ : १८, ३८ ।
२. ४ : ७१ ; ३ : ४८ ।
३. २ : ३६ ।
४. २ . ३७ ।
५. २ : २९-३० ।
६. ३ : १ ।
७. ३ : ३२ ।
८. ३ . ३३ ३४ ।
९. ३ : ३५-३८ ।
१०. ३ : ४०-४१ ।

८

गौडपाद और बौद्धधर्म

गौडपाद के ग्रन्थ मे जो सामान्य विचार हमें आदि से अन्त तक मिलता है—अर्थात् बन्धन और मोक्ष, जीवात्मा तथा जगत्, यह सब अयथार्थ हैं—एक मर्मभेदी समालोचक को इस परिणाम पर पहुचाता है कि वह प्रकल्पना जो इससे अधिक कुछ नहीं कह सकती कि एक अयथार्थ आत्मा इस अयथार्थ जगत् मे सर्वश्रेष्ठ कल्याण की प्राप्ति के लिए अयथार्थ बन्धनो से मुक्त होने का प्रयत्न कर रही है, स्वय अपने मे भी अयथार्थ है। एक ओर यह कहना कि अस्तित्व का रहस्य, कि किस प्रकार निर्विकार यथार्थसत्ता इस परिवर्तनशील विश्व म बिना अपने स्वरूप को नष्ट किए अपने को अभिव्यक्त करती है, स्वय रहस्य है और साथ-साथ समस्त परिवर्तनशील विश्व को केवल मृगतृष्णिका-मात्र बताकर निराकरण करना दूसरी बात है। यदि हम जीवन के क्रीडाक्षेत्र मे खेलना है तो हम अपने अन्दर इस प्रकार की धारणा रखकर कि यह सब केवल दिखावामात्र है और इसके अन्दर जितने भी पुरस्कार है व सब शून्य है, कभी खेल मे भाग नही ले सकते। कोई भी दर्शन इस प्रकार के मत को युक्तिसगत मानते हुए शान्ति नही प्राप्त करा सकता। इस प्रकार की प्रकल्पना मे सबसे बडा दोष यह है कि हम ऐसे प्रमेय पदार्थो मे लगे रहने के लिए बाध्य होते है कि जिनके अस्तित्व तथा महत्त्व का हम अपनी इस प्रकल्पना मे बराबर निषेध कर रहे होते है। यह ससाररूपी तथ्य रहस्यमय तथा अनिर्वचनीय हो सकता है। यह केवल यही दर्शाता है कि एक अन्य सत्ता ऐसी अवश्य है जो इस ससार के अन्दर निहित है और इससे भी ऊपर है किन्तु तो भी इस प्रकार का सकेत नही करता कि ससार एक स्वप्न है अर्वाचीन बौद्धधर्म से ही गौडपाद की इस प्रकल्पना मे ऐसी अतिशयोक्ति का समावेश हुआ। ऐसा प्रतीत होता है कि उसे बौद्धदर्शन के कुछ रूपो के साथ अपने दर्शन की समानता होने का ज्ञान था। इसलिए वह कुछ अधिक आगे बढकर विरोध के रूप मे कहता है कि उसका मत बौद्धमत नही है। अपने ग्रन्थ के अन्तिम भाग म वह कहता है "यह बुद्ध ने नही कहा था।"[1] इसके उपर टिप्पणी करते हुए शङ्कर लिखता है, "बौद्धधर्म का सिद्धान्त अद्वैत के साथ सादृश्य रखता है किन्तु बौद्धधर्म वैसा निरपेक्षवाद नही है जो अद्वैतदर्शन का प्रधान आधार है।"

गौडपाद के ग्रन्थ (कारिका) मे बौद्धदर्शन के चिह्न मिलते है,[2] विशेषकर विज्ञानवाद तथा माध्यमिक सम्प्रदाय के। गौडपाद ठीक उन्ही युक्तियो का प्रयोग करता है जिनका प्रयोग विज्ञानवाद ने बाह्य पदार्थो की अयथार्थता को सिद्ध करने के लिए किया है। बादरायण और शकर दोनो ही बलपूर्वक कहते है कि स्वप्नावस्था के

१. नैतद् बुद्धेन भाषितम् (४ : ९९)।

२. ऐसे भी व्यक्ति है जिनका विश्वास है कि गौडपाद अपने-आपमे बौद्धधर्मावलम्बी था और उसने 'माध्यमिककारिका' पर टीका की है, तथा उसकी सम्मति मे बौद्धधर्म उपनिषदों की पद्धति के समान है। देखे, दासगुप्ता : 'हिस्टरी आफ इण्डियन फिलासफी,' पृष्ठ ४२३-४२८।

तथा जागरित अवस्था के प्रभावों मे मौलिक भेद है।[1] और यह कि जागरित अवस्था के प्रभावों का आधार बाह्य पदार्थों का अस्तित्व है। किन्तु गौडपाद जागरित तथा स्वप्न अवस्था दोनों के प्रभावों को एकसाथ जोड़ देता है।[2] शंकर जहां एक ओर अपने दर्शन को विषयीविज्ञानवाद से अछूता रखने के लिए उत्सुक है, जोकि विज्ञानवाद का सहचारी है, वहां गौडपाद उसका स्वागत करता है।[3] विज्ञानवाद को अन्तिम रूप में स्वीकार करने के लिए उद्यत न होने के कारण वह ऐसी घोषणा करता है कि विषयी (प्रमाता) भी प्रमेय विषय के समान ही अयथार्थ है और इस प्रकार संकट मे पड़कर शून्यवादियों की स्थिति के ही समीप पहुंच जाता है। नागार्जुन के समान वह कारणकार्यभाव तथा परिवर्तन की सम्भाव्यता का भी निराकरण करता है।[4] "विनाश नाम की कोई वस्तु नहीं है सृष्टिरचना भी नही है, बन्धनों में जकड़ा हुआ कोई नहीं है, मोक्ष के लिए प्रयत्न करनेवाला भी नही है, न कोई मोक्ष की ही अभिलाषा करनेवाला है, न कोई मुक्त है, यही परमसत्य है।"[5] यह आनुभविक जगत् अविद्या के कारण है अथवा नागार्जुन की भाषा में संवृति के कारण है। "एक जादू के बीज से जादू का अंकुर निकला है; यह अंकुर न तो स्थायी है और न नाशवान् है। वस्तुएं भी ऐसी ही है और इसी कारण हैं।"[6] भेदों के परे सबसे ऊंची ज्ञान की अवस्था को हम अस्तित्व अथवा अभाव दोनों अथवा इनमें से किसी एक के भी विधेयों द्वारा लक्षित नही कर सकते। गौडपाद और नागार्जुन के मत मे यह एक ऐसी वस्तु है जो प्रतीतिस्वरूप जगत् से ऊपर है।[7] इन सिद्धान्तविषयक अंशों के अतिरिक्त पारिभाषिक शब्दों मे भी समानताएं है जो निश्चयपूर्वक बौद्धधर्म के प्रभाव का निर्देश करती है। किसी वस्तु अथवा सत्ता के लिए धर्म शब्द का प्रयोग, सापेक्ष ज्ञान के लिए संवृति शब्द का प्रयोग और संघात शब्द का प्रयोग पदार्थों के अस्तित्व के लिए विशिष्ट रूप से बौद्धधर्म से ही सम्बन्ध रखते हैं।[8] आलातचक्र की उपमा का बौद्धधर्म के ग्रन्थों मे प्रायः ही अयथार्थता के प्रतीक रूप में प्रयोग हुआ है।[9]

१. २ : २, २८–३२। : ४। ३. ४ : २४-२८।

४. १ : ३२ ; ४ : ४, ७, ११, ५९।

५. २ : ३२, माध्यमिककारिका, १ : १। योगवाशिष्ठ भी देखें, ४ : ३८, २२।

न बन्धोऽस्मि न मोक्षोऽस्मि नाबन्धोऽस्ति न बन्धनम्।
अप्रबोधादिदं दुःखं प्रबोधात् प्रविलीयते॥

६. ४ : ५९। यह बौद्धधर्म के इस सिद्धान्त का कि "शून्य से पदार्थों की उत्पत्ति होती है" भावानुवाद है।

७. प्रपञ्चोपशमनम्, २ : ३५। तुलना कीजिए, माध्यमिककारिका, १ : १ ; और २० : २५।

सर्वोपलम्भोपशमः प्रपञ्चोपशमः शिवः।
न क्वचित् कस्यचित् कश्चित् धर्मो बुद्धेन देशितः॥

८. ३ : १० ; ४ : ७२।

९. लंकावतार। बी० टी० एस० संस्करण, पृष्ठ ८५। इस मत का कि गौडपाद हमें बौद्धधर्म के शून्यवाद का वेदान्त रूप देता है कई विद्वानों ने समर्थन किया है, यथा जेकोबी, पूसी, सुखठणकर तथा विधुशेखर भट्टाचार्य। दुर्भाग्यवश शंकर बौद्धधर्म के समग्र स्पष्ट उल्लेखों का समाधान कर डालता है।

गौडपाद की कारिका माध्यमिकों के निषेधात्मक तर्क को उपनिषदों के भावात्मक आदर्शवाद के साथ एक पूर्ण इकाई के अन्दर संयुक्त करने का प्रयास है। गौडपाद में निषेधात्मक प्रवृत्ति भावात्मक प्रवृत्ति की अपेक्षा अधिक मात्रा में पाई जाती है। शंकर का दृष्टिकोण अधिक सन्तुलित है।

९

भर्तृहरि

शंकर का एक अन्य पूर्ववर्ती विद्वान् जिसके विचार उनके विचारों के समान हैं भर्तृहरि था जो प्रसिद्ध तार्किक तथा वैयाकरण था।[1] मैक्समूलर[2] की गणना के अनुसार उसकी मृत्यु ६५० वर्ष ईसा के पश्चात् के लगभग हुई। उसका महान् दार्शनिक ग्रन्थ 'वाक्यपदीय' है जिसका झुकाव कुछ-कुछ बौद्धधर्म की ओर है। ई-त्सिंग लिखता है कि भर्तृहरि कई बार बौद्ध भिक्षु बना और कई बार उससे भी गया। उसकी शिक्षाएं उक्त कथन का समर्थन करती हैं। संसार के प्रतीतिस्वरूप के प्रति उसका आग्रह तथा वस्तुओं से अनासक्ति के विचारों में बौद्धदर्शन की भावना प्रबल रूप में पाई जाती है। "मनुष्यों के लिए सब वस्तुएं भयप्रद हैं; अनासक्ति ही केवल सुरक्षित उपाय है।"[3] यह जगत् अपने समस्त भेदों के साथ काल्पनिक है। सांसारिक पदार्थ अनात्म हैं यद्यपि शब्दों के द्वारा उन्हें व्यक्तित्व दिया गया है। किन्तु भर्तृहरि जब ब्रह्म की यथार्थता की स्थापना करता है तो वह बौद्धों से भिन्न है। वह समस्त जगत् को एक विवर्त के रूप में मानता है अर्थात् एक प्रतीति है जिसका आधार ब्रह्म है। वह ब्रह्म तथा शब्द को एक मानता है। "ब्रह्म जो अनादि और अनन्त है और जो शब्द (वाणी) का नित्य सारतत्त्व है, वस्तुओं के आकार में परिवर्तित हो जाता है जोकि संसार के विकास के समान है।"[4] नित्य शब्द जिसे 'स्फोट' की संज्ञा दी गई है और जो अखण्ड है, निःसन्देह ब्रह्म है।[5] ग्रीक भाषा के पारिभाषिक शब्द 'लोगोस' की सन्दिग्धता जो तर्क तथा शब्द दोनों के लिए प्रयुक्त होता है, निर्देश करती है कि दैवीय तर्क तथा दैवीय शब्द परस्पर सम्पृक्त हैं।

देखें, ब्रह्मसूत्र पर शांकरभाष्य, ४ : १, २, १९, ४२, ६०, जहां पर बुद्ध तथा उसके सिद्धान्त के अद्भुत उल्लेखों का समाधान कर दिया गया है।

१. डाक्टर विण्टरनीज कवि भर्तृहरि और तार्किक व वैयाकरण भर्तृहरि के एक ही होने में सन्देह प्रकट करता है। सम्भवतः इस विषय में यह विद्वान् डाक्टर आवश्यकता से कुछ अधिक सावधान है।

२. 'सिक्स सिस्टम्स आव इंडियन फिलासफी', पृष्ठ ९० ।

३. सर्वं वस्तु भयान्वितं भुवि नृणाम् वैराग्यमेवाभयम् ।

४. अनादिनिधनं ब्रह्म शब्दतत्त्वं यदक्षरम् ।
विवर्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः ॥ वाक्यपदीय, १ : १ ।

५. स्फोटाख्यो निरवयवो नित्यशब्दो ब्रह्मैवेति । (सर्वदर्शनसंग्रह, पृष्ठ १४०) ।

१०

भर्तृप्रपञ्च

बृहदारण्यक उपनिषद्[1] के अपने द्वारा किए गए भाष्य मे शकर भर्तृप्रपञ्च के द्वैताद्वैत (अथवा भेदाभेद) का उल्लेख करते है जिसके अनुसार ब्रह्म एक ही समय मे एक भी है और द्वैत भी है। कारणरूप ब्रह्म कार्यरूप ब्रह्म से भिन्न है यद्यपि जब जगत् मूल कारण ब्रह्म मे वापस लौट आता है तब दोनो एक-समान हो जाते है। शकर का कहना है कि द्वैत और अद्वैत ये दो विरोधी गुण उसी एक प्रमाता (विषयी) के विषय मे सत्य नही हो सकते। भिन्नता मे अभेद दृश्यमान पदार्थों के विषय मे तो सम्भव हो सकता है किन्तु प्रकृति-तत्त्व के विषय मे यह सम्भव नही है। द्वैतभाव उपाधियो से घिरे हुए जीवात्मा के विषय मे तो सत्य हो सकता है किन्तु उपाधियो से उन्मुक्त होने पर यह विनष्ट हो जाता है।

११

उपनिषदों तथा ब्रह्मसूत्र के साथ शंकर का सम्बन्ध

दर्शनशास्त्र मनुष्य जाति की विकासमान भावना का व्यक्त रूप है और दार्शनिक विद्वान इसकी वाणी है। महान विचारक सब महत्त्वपूर्ण युगो मे प्रकट होते है और जहा वे अपने युगो की उपज है वहा वे उक्त युगो के निर्माणकर्ता भी है। उनकी प्रतिभा अपने युग के अवसर को पकड लेने की शक्ति तथा ऐसी मूक आकाक्षाओ को जो एक दीर्घ-काल से मानव-जाति के हृदयो मे बाह्यरूप मे प्रकट होने के लिए संघर्ष कर रही होती हैं, वाणी प्रदान करने मे निहित रहती है। एक प्रथम श्रेणी के रचनात्मक विचारक के रूप मे शकर ने अपने समय के दार्शनिक उत्तराधिकार मे प्रवेश किया और अपने समय की विशेष आवश्यकताओ को दृष्टि मे रखकर उसकी नये सिरे से व्याख्या की। यद्यपि हिन्दू विचारधारा ने बौद्धमत के ऊपर क्रियात्मक रूप मे विजय प्राप्त कर ली थी, तो भी बौद्धमत ने जनसाधारण के अन्दर अपनी शक्ति का गुप्त रूप से प्रवेश करा दिया था। बौद्धमत मे पुराने मान्यताप्राप्त विश्वासो के ऊपर जो अविश्वास की छाया डाल दी गई थी वह सर्वथा लुप्त नही हुई थी। मीमासक लोग सब मनुष्यो की तर्कशक्ति को वैदिक कर्मकाण्ड के आध्यात्मिक महत्त्व के विषय मे सन्तोष प्रदान करने मे असमर्थ थे। भिन्न-भिन्न आस्तिक सम्प्रदाय वाले ऐसे क्रियाकलाप कर रहे थे जिनके समर्थन मे वे किसी न किसी श्रुतिवाक्य का उद्धरण दे देते थे। हिन्दू जाति के इतिहास मे यह एक सकट का काल था जबकि परस्पर वाक्कलह मे पडे हुए सम्प्रदायो के कारण जनता मे सामान्य अर्थों मे थकावट जैसा भाव आ गया था। उस समय को एक ऐसे धार्मिक

१. शांकरभाष्य, बृहदारण्यक उपनिषद्, ५ : १। इसके साथ, बृहदारण्यक उपनिषद् पर सुरेश्वर का वार्तिक भी देखें, तथा इसपर आनन्दज्ञान की टीका भी।

प्रतिभासम्पन्न पुरुष की आवश्यकता थी जो भूतकाल के साथ सम्बन्ध तोड़े बिना नवीन मतो के उत्तम प्रभावो को भी ग्रहण कर सके और जो पुराने ढाचों को भग किए बिना उनका विस्तार कर सके और परस्पर युद्ध मे, तत्पर सम्प्रदायों का सत्य के ऐसे उदार आधार पर समन्वय कर सके जिसमे सब बुद्धिमान् तथा सस्कृत वर्गो के मनुष्यो को समान स्थान प्राप्त हो। शकर ने उस ध्वनि के अन्दर, जो लाखो मनुष्यो के कानो मे गूज रही थी, मधुर सगीत का सचार कर दिया। उन्होने अपने अद्वैत वेदान्त की धार्मिक एकता को सम्पन्न करानेवाले एक समान आधार के रूप मे घोषणा की।

अपनी नम्रता के कारण शकर ने कहा कि जिस सिद्धान्त का वह प्रचार कर रहा है वह उससे अधिक कुछ नही है जो वेद के अन्दर निहित है। वह समझता है कि वह एक पुरातन तथा महत्त्वपूर्ण परम्परा का ही प्रचार कर रहा है जोकि हमे आचार्यो की एक अविच्छिन्न शृखला के द्वारा प्राप्त हुई है।[1] वह इससे अभिज्ञ है कि वेदान्तसूत्र' के ऊपर अन्य विचारको ने एक भिन्न प्रकार से भाष्य किया है। वह एक अन्य भाष्यकार का प्राय उल्लेख करता है जिससे उसका मतभेद है।[2] नि सन्देह यह निश्चय करना कठिन है कि शकर का दर्शन प्राचीन शिक्षा का अनुबन्ध है, अथवा पुनर्व्याख्या है अथवा एक नवीन जोड है। हम पुराने को नये से अलग नही कर सकते क्योकि जीवन मे पुराना भी नया है और नया भी पुराना है।

जहा तक प्राचीन शास्त्रीय उपनिषदो का सम्बन्ध है, यह कहना पडेगा कि शकर का मत उनकी प्रमुख प्रवृत्ति को प्रस्तुत करता है। जैसाकि हम देख आए है उपनिषदो मे विश्व के सम्बन्ध मे कोई सुसगत विचार नही दिया गया है। उनके रचयिता अनेक थे और सब एक ही काल मे भी नही हुए और यह भी सन्दिग्ध है कि उन सबका आशय विश्व-सम्बन्धी मत मे एक ही प्रकार का था। किन्तु शकर आग्रहपूर्वक उपनिषदो की व्याख्या एक ही सुसगत विधि से करते है। उनके अनुसार ब्रह्म का ज्ञान, जो हमे उपनिषदो से मिलता है बराबर एक समान तथा निर्विशेष होना चाहिए।[3] शकर उपनिषदो के ऐसे वाक्यो मे जो एक-दूसरे के सर्वथा विपरीत प्रतीत होते है समन्वय करने का प्रयत्न करते है।

उपनिषदो मे परम यथार्थसत्ता के विषय मे निर्गुण और सगुण रूप मे विवरण पाए जाते है और शकर उनमे परस्पर पराविद्या (उच्चकोटि के ज्ञान)

१. शकर वृत्तिकार के विरोध मे अद्वैत के पूर्ववर्ती शिक्षकों का उल्लेख करते है। देखे, दहराधिकरण, जहा पर 'अपरमहीयाश्च' वाक्य आया है। 'सम्प्रदायविद्भिराचार्यैः' का बार-बार उल्लेख आया है। तैत्तिरीयोपनिषद पर शाकरभाष्य का प्रारम्भिक छन्द देखे।

२. शाकरभाष्य, ब्रह्मसूत्र पर, ४ : ३, ७ ; १ : ३, १९। लिंगेश महाभागवत का विचार है कि जिस वृत्तिकार का शकर ने खण्डन किया है वह बोधायन नही है और जिस द्रविड का 'सम्प्रदायविद्' के नाम से शकर ने उल्लेख किया है बृहदारण्यकोपनिषद् के भाष्य में वह विशिष्टाद्वैत सम्प्रदाय के द्रामिड से भिन्न है। देखें, 'इण्डियन फिलासफिकल रिव्यू', खण्ड ४, पृष्ठ ११०। भगवान उपवर्ष का नाम शांकरभाष्य में दो बार आया है, १ : ३, २८ ; ३ : ३, ५३।

३. 'ड्यूसन्स सिस्टम आफ वेदान्त', पृष्ठ ९५।

तथा अपराविद्या (निम्न कोटि के ज्ञान) मे भेद के द्वारा समन्वय करते है । परा तथा अपराविद्याओ का यह परस्पर भेद उपनिषदो मे पाया जाता है ।[१] यद्यपि इन दोनों के भेद, जो उपनिषदो मे वर्णन किए गए है, शकर द्वारा किए गए भेदो के सर्वथा समान नही है तो भी ये शकर की व्याख्या मे सहायक है। केवल उच्चकोटि की अध्यात्मविद्या तथा निम्नकोटि की साधारण बुद्धि मे भेद को स्वीकार करने से ही हम याज्ञवल्क्य के विशुद्ध आदर्शवाद को अपेक्षाकृत न्यूनतम उन्नत विचारो के साथ, जो ससार की यथार्थता तथा इसकी एक शरीरधारी ईश्वर के द्वारा रचना का प्रतिपादन करते है, समन्वय कर सकते है । यह भेद शकर की अनेक कठिनाइयो को दूर करने मे सहायक है । उदाहरण के रूप मे ईशोपनिषद् में परस्पर विरोधी विधेयो का सम्बन्ध ब्रह्म के साथ बतलाया गया है, जैसेकि "यह गतिविहीन है और फिर भी मन से अधिक वेगवान् है ।" शकर का कहना है कि "इसमे विरोध कुछ भी नही है ।" यदि हम उसका विचार निरुपाधिक अथवा सोपाधिक रूप मे करे तो यह सम्भव है ।[२] ब्रह्म के निर्विशेष तथा सविशेष विवरणो के विषय मे शकर का कहना है कि "दो विभिन्न दृष्टिकोणो मे ब्रह्म एक ही काल म निरुपाधिक तथा सोपाधिक दोनो ही हो सकता है । मुक्तात्मा के दृष्टिकोण मे वह निरुपाधिक है; बन्धन मे पडे व्यक्ति के दृष्टिकोण से ब्रह्म विश्व के कारणरूप मे प्रकट होता है जिसमे चैतन्य तथा अन्य गुण है ।[३] शकर ने दो प्रकार के वाक्यो की जो मोक्ष को ब्रह्म के साथ समानता अथवा तादात्म्य का वर्णन करते है सरलता के साथ व्याख्या कर दी । यद्यपि माया का सिद्धान्त प्राचीन उपनिषदो मे नही मिलता तो भी यह उपनिषदो के मत का एक बुद्धिपूर्वक विकास है ।[४] अविद्या (अज्ञान) शब्द कठ उपनिषद् मे आता है[५] यद्यपि इसका प्रयोग मनुष्य के यथार्थ सत्य के अज्ञानरूप सामान्य अर्थो मे हुआ है । शकर की योजना मे अविद्या के भाव का प्रमुख भाग है । उपनिषदो के अन्य भाष्यकारो को यह अत्यन्त कठिन प्रतीत हुआ कि किस प्रकार उन सब वाक्यो की व्याख्या की जाए जो ब्रह्म के निर्विकल्प और मोक्ष के ब्रह्म के साथ ऐक्यभाव होने का प्रतिपादन करते है । निःसन्देह ऐसे भी वाक्य है जिन्हे शकर अनावश्यक समझकर छोड देते है ।[६] तो भी उपनिषदो पर उनका भाष्य अपेक्षाकृत अधिक सन्तोषप्रद है ।[७]

१ देखें, 'इण्डियन फिलासफी', पृष्ठ १४८ ; मुण्डक, १ : १, ४ ; मैत्रायणी, ६ : २२ ।

२ नैष दोषः निरुपाध्युपाधिमत्त्वोपपत्तेः ।

३. छान्दोग्योपनिषद्, ८ : १, ५ ; बृहदारण्यक, ४ : ५, १३ भी देखें ।

४. कठ उपनिषद्, २ : ४, ५ ; छान्दोग्य, ८ : ३, १–३ ; १ : १, १० ; प्रश्न, १ : १६ । बृहदारण्यक उपनिषद् की प्रार्थना "असत् से हमें सत की ओर ले जाओ, अन्धकार से प्रकाश की ओर ले जाओ, मृत्यु से अमरत्व की ओर ले जाओ," से माया के सिद्धान्त का सुझाव मिलता है ।

५. २ : ४, और ५ ; मुण्डकोपनिषद्, २ : १, १० ।

६. देखें 'ड्यूसन्स सिस्टम आफ दि वेदान्त', पृष्ठ ६५ ।

७. थिबौत, गफ और जैकब का भी यही मत है । "सम्पूर्ण उपनिषदों की शिक्षाओं को एक सुसंगत

जब हम वेदान्तसूत्र के प्रश्न को हाथ मे लेते है तो वहा विषय इतना अधिक सरल नही है। यदि हम भाष्यो को एक ओर रख दे तो हमे सूत्र के रचयिता का आशय जानना कठिन है। हिन्दू धर्म की व्याख्याविषयक प्रकल्पना के अनुसार छ विख्यात कसौटिया है जिनके द्वारा हम किसी ग्रन्थ की शिक्षा के विषय मे निश्चित ज्ञान प्राप्त कर सकते है और वे ये है (१) उपक्रम (प्रारम्भ) और उपसहार (अन्तिम निर्णय), (२) अभ्यास, (३) अपूर्वता (४) फल, (५) अर्थवाद (व्याख्यापरक वाक्य) और (६) उपपत्ति (दृष्टान्त)। उक्त कसौटियो की दृष्टि मे शकर का विश्वास है कि बादरायण की दृष्टि मे उसी प्रकार का वेदान्त था जिस प्रकार के वेदान्त का प्रतिपादन उन्होने स्वय किया है।[1] यह इस मान्य स्थिति के अनकूल है कि वेदान्त उपनिषदो की शिक्षाओ का सारसग्रह प्रस्तुत करता है। वेदान्त के अनेक अध्ययनकर्ता विद्वान जिनमे थिबौत मुख्य है, इस मत के समर्थक पाए जाते है कि रामानुज ब्रह्मसूत्र के रचयिता के आशयो को अधिक समझते थे।[2] प्रत्येक भारतीय भाष्यकार का विश्वास है कि शकर

तथा विरोधरहित दर्शन में रूप देने का कार्य अपने-आपमे एक कठिन कार्य है। किन्तु यह कार्य जब एक बार हमारे सामने आ गया तो हम यह स्वीकार करने के लिए सर्वथा उद्यत है कि शकर का ही दर्शन सम्भवत. ऐसा सर्वोत्तम दर्शन है जिसका निर्माण इस कार्य के लिए हो सकता था।" ('थिबौत : शांकरभाष्य' ...)। "शकर की शिक्षा उपनिषदो के सिद्धान्तो की स्वाभाविक तथा युक्तियुक्त व्याख्या है," (गफ : 'फिलासफी आफ द उपनिषदस', पृष्ठ ८)। कर्नल जकब कहते है : "यह स्वीकार किया जा सकता है कि यदि उपनिषदो के विरोधी मतों का समन्वय करने तथा उन्हे एकसमान और सगत रूप मे रखने का असम्भव कार्य किया जा सकता है तो शकर का दर्शन ही लगभग एकमात्र प्रयास है जो इस कार्य को कर सकता था।" (वेदान्तसार—प्रस्तावना)

१. शांकरभाष्य, ब्रह्मसूत्र पर, १ १, ४।

२. "वे ब्रह्म के उच्चतम तथा निम्नतर ज्ञान मे परस्पर भेद का प्रतिपादन नही करते; वे ब्रह्म और ईश्वर मे भेद को शकर के अर्थ मे नहीं मानते; वे शकर के समान जीवात्मा तथा उच्चतम आत्मा के परम तादात्म्य-भाव की घोषणा नहा करते" (शांकरभाष्य—भूमिका अश)। उनके मुख्य-मुख्य तर्क सक्षेप में इस प्रकार रखे जा सकते है : (१) चौथे अध्याय के अन्तिम तीन भाग उस क्रमिक गति का प्रतिपादन करते है जिसके द्वारा उस पुरुष की आत्मा जिसने प्रभु को जान लिया ब्रह्मलोक में पहुच जाती है और पुनर्जन्म के चक्र में वापस लौटे बिना वहा पर निवास करती है। इसके अतिरिक्त समस्त ग्रन्थ का अन्तिम सूत्र अर्थात् "शास्त्र के अनुसार, उनके लिए लौटने का कोई प्रश्न नही रहता" यह उपसहार है और उसका आशय अवश्य यही लिया जाना चाहिए कि यह पुनर्जन्म से नितान्त मुक्ति अपितु उस मार्ग पर एक पड़ाव के रूप मे नहा है ज्योकि शकर का मत है। शकर के अनुसार, ४ : २, १२—१४, और ४ : १—७, ऐसे पुरुष की अवस्था का वर्णन करते है जिसने सर्वोच्च अथवा निरुपाधिक ब्रह्म का ज्ञान प्राप्त कर लिया है। इस आक्षेप के उत्तर मे यह कहा जाता है कि उपक्रम अथवा प्रस्तावना इस प्रश्न के विषय में उपसहार की अपेक्षा अधिक निश्चायक है। अप्पयदीक्षित उस नाम के एक ग्रन्थ मे उपक्रम के श्रेष्ठ मूल्य का (उपक्रम पराक्रम) उल्लेख करते है। ४ . ३, ७—१४ के सम्बन्ध में थिबौत का जो मत है उसके विरोध मे भी वही उत्तर ठीक बैठता है जहा पर बादरी, जैमिनी तथा बादरायण की सम्मतियां दी गई है, जहा पर वे प्रतिपादन करते है कि जो पहले आता है वह पूर्वपक्ष होता है और जो अन्त में आता है वह सिद्धान्त होता है। (२) १ : १, २ मे दी गई ब्रह्म-विषयक परिभाषा को ईश्वर की परिभाषा नही माना जा सकना। "यह निश्चित ही इतना असम्भव है कि सूत्रों का प्रारम्भ एक निम्नकोटि के तत्त्व के साथ हो जिसके ज्ञान से कोई स्थायी लाभ प्राप्त न हो

का अपना मत वही है जो ब्रह्मसूत्र के रचयिता का मत था और यह कि अन्य कोई भी मत इसके विपरीत है ।[1]

१२

शङ्कर तथा अन्य सम्प्रदाय

यह कहा जाता है और यह सत्य भी है कि ब्राह्मणधर्म ने एक भ्रातृभावपूर्ण स्नेहालिंगन के द्वारा बौद्धधर्म का नाश किया। हम पहले देख चुके है कि किस प्रकार ब्राह्मण धर्म ने चुपचाप बौद्धधर्म की अनेक प्रक्रियाओं को अपने अन्दर ले लिया, पशुबलि को दूषित ठहराया, बुद्ध को विष्णु के अवतार रूप मे मान लिया और इस प्रकार बौद्धमत के सर्वोत्तम अंश को अपने अन्दर समाविष्ट कर लिया। यद्यपि बौद्धमत की प्रारम्भिक तथा तात्कालिक रूप की अप्रत्याशित घटनाएं विलुप्त हो गई तो भी बौद्धमत अंशतः शङ्कर के प्रभाव से देश के जीवन मे एक जीवनप्रद शक्ति बन गया। बौद्ध मत ने विचार के क्षेत्र में एक ऐसा निश्चित वातावरण उत्पन्न कर दिया जिससे कोई भी मस्तिष्क न

सके जितना कि यह असम्भव है कि उनका अन्त ऐसे व्यक्तियो के वर्णन के साथ हो जो केवल निम्न-कोटि के ब्रह्म को ही जानते हैं और इसीलिए यथार्थ मोक्ष से वंचित रहते है।" अद्वैतवादियों का तर्क है कि ब्रह्म यद्यपि अपने यथार्थस्वरूप में अनिर्वचनीय (अनिर्देश्य) है तथा अज्ञेय (अग्राह्य) है तो भी हमें औपचारिक परिभाषाओं का तो अवलम्बन करना ही होता है। वे ब्रह्म को ऐसे पदार्थों से विलक्षण बतलाने के लिए जिनके अन्दर विभिन्न गुण वर्तमान है कुछ विशेषणों तथा लक्षणों का ब्रह्म के सम्बन्ध में प्रयोग करते है और इस प्रकार हमें प्रस्तुत पदार्थों को समझने में सहायक होते है। यह विशिष्ट लक्षण या तो तात्त्विक (स्वरूप लक्षण) है, यथा सत्, चित और आनन्द अथवा आनुषङ्गिक (तटस्थ लक्षण) हैं, यथा विश्व का निर्माणकर्तृत्व, आदि आदि। दूसरे सूत्र की परिभाषा हमें ब्रह्म के ज्ञान में सहायक होती है। (३) इस प्रकार का हेतु कि 'सूत्र' में शंकर की अभिमत माया का सिद्धान्त नहीं पाया जाता एक ऐसा जटिल प्रश्न है कि इसका विवेचन पादटिप्पणी में नहीं किया जा सकता। चाहे कुछ भी क्यों न हो, यह सत्य है कि जगत् के विषय में जो शंकर का मत है वह 'सूत्र' की शिक्षा का एक युक्तियुक्त परिष्कार है। जीवात्मा तथा ब्रह्म के तादात्म्य का प्रश्न माया के सामान्य सिद्धान्त का एक विशिष्ट विनियोग है। शंकर बादरायण के ग्रन्थ के एक नैष्ठिक व्याख्याकार है या नहीं इस विषय में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता। देखें, थिबौत : 'शांकरभाष्य'—प्रस्तावना ; जैकब : 'वेदान्तसार'—प्रस्तावना ; सरस्वती : 'वेदान्तसार'—प्रस्तावना ; आर्टे : 'दि डाक्ट्रिन आफ माया', तथा लिङ्गेश महाभागवत का लेख 'इण्डियन फिलासफिकल रिव्यू', खण्ड ४। ड्यूसन स्वीकार करता है कि शंकर तथा बादरायण मे परस्पर महान मतभेद है। देखें, 'ड्यूसन्स सिस्टम आफ दि वेदान्त', पृष्ठ ३१९।

१. तुलना कीजिए, भास्करभाष्य, १। सूत्रों के आशयों को एक ओर रखते हुए एवं अपने-अपने मतों का परिष्कार करते हुए अनेक भाष्यों की रचना हुई है और नये-नये भाष्य भी लिखे जा सकते हैं।

सूत्राभिप्रायसंवृत्या स्वाभिप्रायप्रकाशनात् ।
व्याख्यातं यैरिदं शास्त्रं व्याख्येयं तन्निवृत्तये ॥

बच सका और शङ्कर के मस्तिष्क पर तो निःसन्देह इसने एक चिरस्थायी प्रभाव उत्पन्न किया। एक शङ्करविरोधी भारतीय परम्परा ऐसी भी है जिसके अनुसार शङ्कर के मत को प्रच्छन्न रूप में बौद्धमत का ही रूप बताया जाता है और उनके मायावाद को प्रच्छन्न बौद्धमत कहा जाता है। पद्मपुराण में कहा है कि ईश्वर ने पार्वती पर प्रकट किया कि "माया की प्रकल्पना एक मिथ्या सिद्धान्त है और बौद्धमत का ही प्रच्छन्न रूप है; हे देवि ! मैंने ही कलियुग मे एक ब्राह्मण का रूप धारण करके इस प्रकल्पना का प्रचार किया है।"[1] यामुनाचार्य की भी, जो रामानुज के आध्यात्मिक प्रपितामह थे, यही सम्मति है और इसी सम्मति को रामानुज ने भी दोहराया है।[2] सांख्यदर्शन पर टीका करते हुए विज्ञानभिक्षु कहता है "एक भी ब्रह्मसूत्र ऐसा नही है जिसमें कहा गया हो कि हमारा बन्धन केवल अज्ञान के कारण है। जहा तक माया की विलक्षण प्रकल्पना का संबध है, जिसका प्रचार अपने को वेदान्ती कहनेवालों ने किया है, यह केवल बौद्धों के विषयीविज्ञानवाद का ही रूप है। यह प्रकल्पना वेदान्त का मन्तव्य नहीं है।"[3] यह स्पष्ट है कि शङ्कर के मायावाद की कट्टरता को सिद्ध करने के कुछ काल पश्चात् ही इस मत के विरोधियों ने यह कहना प्रारम्भ किया कि यह बौद्धमत के प्रच्छन्न रूप से अधिक कुछ नहीं है और इसलिए वेदों के अनुकूल नही है। पद्मपुराण मे आगे चलकर उसी अध्याय में शिव के ये शब्द आते है : "उस महान् दर्शन अर्थात् माया के सिद्धान्त को वेदों का समर्थन प्राप्त नही है यद्यपि इसके अन्दर वेदों के सत्य अवश्य निहित है।"[4] उक्त सब अनुमान इस विषय का सकेत करते है कि शङ्कर ने अपने वेदान्तदर्शन में कतिपय बौद्धधर्म के अशो का समावेश किया जैसेकि माया का सिद्धान्त तथा वैराग्य-वाद। यह भी कहा जाता है कि विचारधारा के अविच्छिन्न रूप को सुरक्षित रखने के प्रति अपने प्रयास में उन्होंने तार्किक दृष्टि से परस्पर असंगत कुछ विचारों को भी संयुक्त करने का प्रयत्न किया। शङ्कर के मस्तिष्क की नमनशीलता तथा उनकी सच्ची सहिष्णुता के भाव के पक्ष मे यह विषय कितना ही विश्वसनीय क्यों न हो यह उनकी विचारधारा की तार्किक उग्रता के ऊपर असर किए बिना न रह सका और माया के सिद्धान्त ने उनके दर्शन के अन्तर्गत छिद्रो को ढकने के लिए चोले का काम किया। इस सबके होते हुए भी इसमें सन्देह नही कि शङ्कर ने अपने सम्पूर्ण दर्शन का परिष्कार उपनिषदों तथा वेदान्तसूत्र के आधार पर किया जिसमे बौद्धदर्शन का कोई उल्लेख

१. मायावादमसच्छास्त्रम् प्रच्छन्नं बौद्धमेव च।
मयैव कथितं देवि! कलौ ब्राह्मणरूपिणा ॥ (उत्तर खण्ड, २३६)। सर्वदर्शनसंग्रह भी देखें।

२. अपने सिद्धित्रय में यामुनाचार्य कहते है, कि बौद्धों तथा वेदान्तियों, दोनों के लिए ज्ञाताज्ञात और ज्ञान के मध्य जो भेद है वे अवास्तविक है। अद्वैत इन भेदों का कारण माया को बताता है एवं बौद्ध विषयीविज्ञानवाद इन्हें बुद्धि के कारण बताता है। ('जर्नल आफ दि रायल एशियाटिक सोसाइटी', १९१०, पृष्ठ १३२)।

३. सांख्यप्रवचनभाष्य, १ : २२।

४. वेदार्थवन्महाशास्त्रं मायावादमवैदिकम्।

नही है।[1] भारत के धार्मिक इतिहास के निरन्तर मिथ्या अध्ययन किए जाने का ही परिणाम यह हुआ कि यह विश्वास सर्वसाधारण के अन्दर प्रचलित हो गया कि बौद्ध-मत वेदों के विरुद्ध तथा विदेशी है। बौद्धदर्शन के विषय मे विचार-विमर्श करते हुए हमने बार-बार इस विषय पर बल दिया है कि बुद्ध ने उपनिषदो के ही कुछ विचारो का परिष्कार किया है। बुद्ध को विष्णु के अवतारो मे सम्मिलित करने का यही आशय है कि उसका प्रादुर्भाव वैदिकधर्म की स्थापना के लिए हुआ था न कि उसके ऊपर कुठाराघात करने के लिए। इसमे सदेह नही कि बौद्धदर्शन तथा अद्वैत वेदान्त के विचारो मे समानताए है। इसमे कोई आश्चर्य भी नही है जबकि हम इस तथ्य को देखते है कि उक्त दोनो ही दर्शन-पद्धतियो की पृष्ठभूमि मे उपनिषदे है।

शङ्कर तो इस तथ्य मे स्पष्ट रूप मे अभिज्ञ थे यद्यपि बुद्ध इस तथ्य से अभिज्ञ प्रतीत नही होते। शङ्कर बुद्ध की भाति स्वतन्त्र विचार के प्रति आदरभाव रखते हुए भी परम्परा के लिए महती श्रद्धा रखते थे। दार्शनिक दृष्टि से उन्हे इस विषय का निश्चय हो गया कि कोई भी आन्दोलन निषेधपरक भाव के आधार पर फल-फूल नही सकता और इस प्रकार उन्होने श्रुति के आधार पर ब्रह्म की यथार्थता का बलपूर्वक प्रतिपादन किया। बौद्धो का प्रतीतिवाद माया के सिद्धान्त की ही कोटि का है। शङ्कर घोषणा करते है कि यह आनुभविक जगत् है भी और नही भी है। इसका अन्तर्वर्ती अस्तित्व है जो दोनो ही है अर्थात् है भी और नही भी। बुद्ध चरममीमा के दोनो ही विचारो का खण्डन करते है जिनके अनुसार हरएक वस्तु है और हरएक वस्तु नही भी है और अपना मत प्रकट करते है कि केवल 'परिणमन' का ही अस्तित्व है।[2] शकर परमार्थ सत्य तथा व्यावहारिक सत्य के अन्दर जो भेद है उसे स्वीकार करते है और यह मत बौद्ध-धर्म के अभिमत परमार्थ तथा सवृति के अन्दर के भेद के ही अनुकूल है।[3] प्राचीन बौद्ध धर्म का दृष्टिकोण भावात्मक था और उसने जो कुछ हम प्रत्यक्ष देखते है उस तक ही अपने को सीमित रखा। कुछ प्राचीन बौद्ध तो यहा तक बढ गए कि उनके अनुसार इस प्रतीयमान जगत् की पृष्ठभूमि मे कुछ भी नही है। केवल हमारे ही लिए कुछ नही, किन्तु सर्वथा कुछ नही है। हिन्दू होने के नाते शकर का दावा है कि अपने प्रतीयमान रूप की असन्तोषप्रदता के परे एक अपने गम्भीरतम गह्वर मे यथार्थ आत्मा है जिसमे सर्वप्रकार की विशेषताए निहित है। किन्तु तो भी शकर का मोक्ष-

१. अद्वैत सिद्धान्त को माननेवाले अनेक विचारक विरोधी मतो के सम्बन्ध मे माध्यमिको के आध्यात्मिक खण्डन-मण्डन से सम्बन्धित पद्धति को अपनाते है। श्रीहर्ष का मत है कि अन्य दर्शनों की समीक्षा करते समय हमे किसी भी मत को स्वत सिद्ध मानकर न चलना चाहिए, अपितु केवल माध्यमिको के तर्क का अवलम्बन करना चाहिए। "विचारमात्रकथामालम्ब्य खण्डनाना वक्तव्यत्वात्।" मधुसूदन सरस्वती वाद, जल्प और वितण्डा इन सबका अन्य सिद्धान्तो की समीक्षा में आश्रय लेते हैं।

२. देखें 'भारतीय दर्शन', खड १, पृष्ठ ३६८। सयुत्तनिकाय, २२ : ९०, १६।

३. द्वे सत्ये समुपाश्रित्य बुद्धाना धर्मदेशना।
लोके सवृतिसत्यं च सत्यं च परमार्थतः ॥

देखें, श्लोकवार्तिक पर 'न्यायरत्नाकर' निरालम्बनवाद।

सम्बन्धी विचार बौद्धधर्म के निर्वाण से अधिक भिन्न नही है।[1] यदि हम प्राचीन बौद्धधर्म में एक निरपेक्ष ब्रह्म के यथार्थ अस्तित्व को प्रविष्ट कर दें तो फिर भी हम अद्वैत वेदान्त पर ही आ जाते है। शकर को बौद्ध-विचार के वास्तविक औचित्य तथा प्रतिबन्धों पर पूरा अधिकार प्राप्त था और यदि कही-कही हमे बौद्धधर्म के सम्प्रदायों पर की गई उनकी समीक्षा से विरोध प्रकट करने की प्रवृत्ति होती है तो हमे यह भी न भूलना चाहिए कि उन्होने जो कुछ भी लिखा, बुद्ध की शिक्षाओ पर नहीं, अपितु उस समय के प्रचलित बौद्धमर्त-सम्बन्धी विचारो के ऊपर लिखा।

प्रत्येक विचार-पद्धति के विषय मे जो निर्णय दिया जाता है वह केवल इस आधार पर ही नही होता कि वह किस विध्यात्मक विषयवस्तु को प्रस्तुत करने का प्रयास करती है, किन्तु उन विचारों के आधार पर भी दिया जाता है जिनका वह प्रतिवाद करती है। मण्डनमिश्र के साथ जो शास्त्रार्थ शकर का हुआ उसमे यह प्रकट होता है कि शकर केवल वैदिक कर्मकाण्ड की एकमात्र श्रेष्ठता के विचार के विरोधी थे। शकर ने इस सिद्धान्त पर विशेष बल दिया कि सर्वोपरि आत्मा का ज्ञान मनुष्य के पुरुषार्थ का प्रधान उद्देश्य होना चाहिए। उन्हे भय था कि क्रियाकलापपरक मत मनुष्य को केवलमात्र दम्भ की ओर ले जाता है। जिस प्रकार जीसस् क्राइस्ट ने फारसी सम्प्रदाय को दूषित ठहराया और पाल ने विधान का प्रतिवाद किया, शकर ने भी इस प्रकार की घोषणा की कि कर्मकाण्ड-सम्बन्धी पवित्रता अपने-आपमे धर्म का लक्ष्य नही है, अपितु प्राय. इसकी घातक शत्रु है। तो भी उन्होने वैदिक विधान को निरर्थक बताकर उसका निराकरण नही किया। जीवन के वैदिक नियमो पर तो केवल सच्चे दार्शनिक विद्वान ही पहुच सकते है। अन्यो के लिए शकर ने यही विधान किया कि उन्हे वैदिक नियमो के अनुकूल ही आचरण करना चाहिए; इस आशा से नही कि उन्हे इस लोक मे अथवा परलोक मे उत्तम फल प्राप्त होगा, अपितु कर्तव्य की भावनाओ से और इसलिए भी कि यह वेदान्त के अध्ययन की नैतिक क्षमता मे सहायक होगा। वैदिक पवित्रता हमे अपने चित्त को अन्तस्थित आत्मा की ओर प्रेरणा देने मे सहायक होती है और इस प्रकार मनुष्य जाति का जो अन्तिम और नित्य लक्ष्य है उसकी प्राप्ति की ओर ले जाती है।

शङ्कर के अनुसार, पूर्व तथा उत्तर मीमासाओ के अन्तर्गत विषयवस्तु तथा उद्देश्य सर्वथा एक-दूसरे से स्वतन्त्र है। पूर्वमीमासा मे मनुष्य के कर्तव्य-सम्बन्धी प्रश्न पर अनुसन्धान किया गया है और यह हमारे सम्मुख एक ऐसे परलोक के दृश्य को प्रस्तुत करती है जो हमारे इस मर्त्यलोक के आचरण के ऊपर आश्रित है। उच्चतम सुख जो यह प्रस्तुत करती है केवल क्षणिक है। किन्तु दूसरी ओर वेदान्त हमें सत्य की उपलब्धि मे सहायक होता है। इसका ध्येय इस लोक या परलोक मे सुख-प्राप्ति (अभ्युदय) न होकर पुनर्जन्म के बन्धन से मोक्ष (नि.श्रेयस्) है। और इसकी

१. वासनात्यन्तविरामः। जीवात्मा के ब्रह्म के साथ तादात्म्य का साक्षात्कार (सोऽहम् अथवा अहं ब्रह्मास्मि) "मैं शून्य हूं" (शून्यत्वैवाहम्) माध्यमिकों के इस मत के अनुकूल है यद्यपि बल है एक ही तथ्य के भिन्न-भिन्न पक्षों पर।

प्राप्ति तब तक नही हो सकती जब तक कि हम भविष्य जीवन में अपना विश्वास जमाए हुए हैं। ब्रह्मविषयक अनुसन्धान का सम्बन्ध एक ऐसी यथार्थसत्ता से है जो सर्वदा विद्यमान रही और जो हमारे कर्मों के ऊपर निर्भर नही है।[1]

साधारणत: शङ्कर प्रतिपक्षी सम्प्रदायो के दार्शनिक विचारो पर ही आक्रमण करते है, किन्तु उनके धार्मिक मन्तव्यो पर नही करते। भागवतदर्शन के विषय मे शङ्कर स्वीकार करते है कि इसके धार्मिक विचार श्रुति तथा स्मृति के प्रामाण्य पर आश्रित है, किन्तु इस विषय मे कि जीवात्माए ईश्वर से उत्पन्न होती है, आपत्ति प्रकट करते है।[2] वे एक साकार ईश्वर के सर्वश्रेष्ठत्व को भी स्वीकार करते हे जो जीवात्मा के मोक्ष तथा बन्धन का कारण है। मनुष्य के चित्त मे ब्रह्म का ज्ञान किस प्रकार प्रकट होता है, तार्किक अन्वेषण के द्वारा तो इसका होना सम्भव नही हो सकता, इसलिए उसके क्षेत्र का सम्बन्ध अविद्या से होने के कारण उक्त समस्या को हल करने की इच्छा से शङ्कर ईश्वरेच्छा को प्रस्तुत करते हे।

१. साधारणत: धर्मविषयक जिज्ञासा चित्त को ब्रह्म के प्रति जिज्ञासा के लिए तैयार करती है। ऐसे व्यक्ति जो सीधे ही ब्रह्मजिज्ञासा में तत्पर हो जाते हैं वे हैं जिन्होंने पूर्वजन्म मे अवश्य अपने आवश्यक कर्तव्यों का पालन किया होगा।

२. भागवतों का कहना है कि भगवान वासुदेव अपने को आत्मा, मन तथा इन्द्रियज्ञान के अन्दर विभक्त करता है। शङ्कर का तर्क है कि यदि जीवात्मा की उत्पत्ति भगवान से है तो इसका विनाश भी हो सकता है और फिर इसके लिए अन्तिम मोक्ष की व्यवस्था भी नहीं हो सकती। भागवत यह भी मानते हैं कि जैसे जीवात्मा की उत्पत्ति भगवान से है, उसी प्रकार चित्त की भी उत्पत्ति आत्मा से है और आत्मज्ञान की उत्पत्ति चित्त से। शङ्कर कहते हैं कि यह असम्भव है क्योंकि यह अनुभव का विषय नही है। आत्मा अपने अन्दर से अपने साधनों को उत्पन्न नहीं कर सकती, ठीक जैसेकि खेत में कार्य करनेवाला किसान उस फावड़े को उत्पन्न नहीं कर सकता जिससे वह कार्य करता है। यदि यह कहा जाए कि इन चारों में वही शक्ति है और ये एक ही स्तर के हैं तथा एकसमान यथार्थ हैं तब ये सब एक हैं। यदि इनमें से प्रत्येक क्रमानुसार उत्तरोत्तर एक-दूसरे से उत्पन्न होता है, अर्थात भगवान से आत्मा, आत्मा से चित्त, चित्त से आत्मज्ञान तब कार्यरूप इन सबमें अनित्यता दोष आता है। यदि चारों नित्य हैं तब उसका कोई उत्तर नहीं हो सकता कि भगवान आत्मा को जन्म दें और आत्मा भगवान को जन्म दे। यदि चारों ऐसी आकृतियां हैं जिनके द्वारा एक ही यथार्थसत्ता अपने को अभिव्यक्त करती है तो वेदान्ती का कहना यह है कि ब्रह्म असंख्य आकृतियों में विद्यमान है, केवल इन चारों में ही नहीं। शांकरभाष्य, २ : २, ४२-४४।

३. "चूंकि जीवात्मा जो अज्ञान की दशा में आत्मा को कार्येन्द्रियों (जो शरीर के रूप में प्रकट होती हैं) से पृथक करने में असमर्थ है और अविद्यारूपी अन्धकार के द्वारा उस सर्वोच्च आत्मा को नहीं देख पाती, जो कार्य का अध्यक्ष है, प्राणिमात्र में निवास करता है तथा सबके ऊपर दृष्टि रखता है। प्रभु है, जो आत्मा का भी कारण है, जिससे और जिसकी आज्ञा से संसार की सृष्टि होती है, अर्थात् सब कर्मों का सम्पादन तथा फलोपभोग और, उसकी ही कृपा से ज्ञान उत्पन्न होता है और इस ज्ञान द्वारा मोक्ष प्राप्त होता है।" आगे कहा गया है कि यद्यपि ईश्वर तथा आत्मा का तादात्म्य छिपा हुआ है तो भी जब एक प्राणी निरन्तर चिन्तन करता है तथा सर्वोच्च ईश्वर तक पहुंचने का प्रयत्न करता है, उसी प्रकार जिस प्रकार एक ऐसे व्यक्ति का जिसकी दृष्टिशक्ति नष्ट हो गई है, ओषधियों के प्रयोग से अन्धकार दूर हो जाता है, उसके अन्दर जिसे ईश्वरकृपा पूर्णता प्राप्त करा देती है, यह अभिव्यक्ति होती है, किन्तु स्वभावतः हर किसी प्राणी में नहीं। ऐसा क्यों? क्योंकि उसके द्वारा,

जैसाकि हम देख आए है, शङ्कर साख्यविचारको की क्रमविहीन, शिथिल तथा विवेकरहित कल्पनाओ की समीक्षा करते है और न्यायवैशेषिक की प्रतीतिपरक अनुभव-प्रवृत्तियो की भी समीक्षा करते है। उन्होने नैयायिको की साधारण बुद्धि-सम्मत पद्धति का परित्याग करना उचित समझा और उसके स्थान पर एक ऐसी तर्कसम्मत समीक्षा की स्थापना की जो बौद्ध विचारको के समान ही सूक्ष्म गहराई तक पहुचनेवाली थी।

१३

आत्मा

अनुभवरूपी तथ्य से जिसका सकेत मिलता है उसीके विमर्श का नाम अध्यात्मविद्या है। इसकी समस्या केवलमात्र चेतनता के तथ्यो का निरीक्षण करना तथा उन्हे क्रम-बद्धता का रूप देना ही नही है, किन्तु इसका विशेष कार्य यथार्थसत्ता के स्वरूप के विषय मे जो उपस्थित तथ्य सकेत करते है उनपर ध्यान देना भी है। शङ्कर भौतिक विज्ञान के तथ्यो की भाति मनोवैज्ञानिक तथ्यो मे भी कोई शका उपस्थित नही करते किन्तु उक्त तथ्यो की पूर्वकल्पना के ऊपर आगे आपत्ति उपस्थित करते है और उक्त समस्या का अध्ययन विषयीनिष्ठ तथा विषयनिष्ठ पक्षो की दृष्टि से करते है, और उनका मत है कि ये दोनो पक्ष परमार्थरूप मे एक-दूसरे से भिन्न नही है। वेदान्तसूत्र पर अपने भाष्य की प्रस्तावना मे वे प्रश्न करते है कि क्या अनुभव मे ऐसा कोई वस्तु है जिसे मौलिक अर्थात् आधारभूत माना जा सके और वे अनुभव के ऐसे समस्त दावो पर विचार करते हैं। हमारी इन्द्रिया हमे धोखा दे सकती है और हमारी स्मृति भी भ्रातिपूर्ण हो सकती है। भूत और भविष्यत् केवल भावात्मक अमूर्त विषय है। ससार की आकृतिया केवल भावनामात्र हो सकती है और हमारा समस्त जीवन भी एक दु स्वप्न भ्रान्तिमात्र सिद्ध हो सकता है। हम जागरित अवस्था के अनुभव-क्षेत्रो को स्वप्नावस्था के उन लोको के समान मान सकते है जिनमे कि हम स्थान-स्थान का भ्रमण करते है, छायामात्र पदार्थों को व्यवहार मे लाते है और भूत-प्रेतो से युद्ध करते है और परियो के देश मे किए गए साहसिक भ्रमणो का भी स्मरण कर सकते है। यदि स्वप्न तथ्य हो तो तथ्य भी उसी प्रकार स्वप्न हो सकते है। यद्यपि समस्त प्रमेय पदार्थ विश्वास के ही विषय है और इसीलिए उनमे सन्देह भी हो सकता है, तो भी अनुभव के अन्दर ऐसा कुछ अवश्य हो सकता है जो उससे परे इन्द्रियातीत हो। यदि मनुष्य को अपने अन्दर ऐसा कुछ उपलब्ध होता है जो परिस्थितियो की देन नही है किन्तु तो भी इसका निर्माता तथा परिवर्तनकर्ता कोई है तो मनुष्य के ज्ञान की सम्भाव्य परिधि मे तथा इन्द्रियजगत् के अनुमान के अनुसार तर्क की माग है कि मनुष्य को उस अतीन्द्रिय यथार्थसत्ता की उप-

ईश्वर के द्वारा, जो कारणरूप है, आत्मा का बन्धन और मोक्ष सम्पन्न होता है, बन्धन उस अवस्था में जबकि यह ईश्वर तत्त्व को नहीं समझ पाता और मोक्ष तब जबकि यह उसे समझ लेता है।" 'ड्यूसन्स सिस्टम आफ वेदान्त', पृष्ठ ८६-८७।

स्थिति को अपने अन्दर ही ढूढना चाहिए। सशयवाद की विज्ञप्ति आत्मा तक ही सीमित है जिसकी हमे सीधे रूप मे अभिज्ञता है। प्रत्येक व्यक्ति अपनी आत्मा के अस्तित्व के सम्बन्ध मे अभिज्ञता रखता है और यह कोई नही सोचता कि मैं नही हू।[1] डेस्कार्ट की भाति शङ्कर भी आत्मा की साक्षात् निश्चितता के अन्दर सत्य का आधार पाते है जिसे अन्य पदार्थों के विषय मे उत्पन्न हो सकने वाले सशय स्पर्श नही करते।[2] यदि आत्मा के अस्तित्व का ज्ञान न होता तब प्रत्येक मनुष्य यह सोचता कि 'मैं नही हू'। किन्तु यह सत्य नही है। आत्मा की सत्ता चेतनता के प्रवाह से पूर्ववर्ती है, सत्य तथा असत्य से भी पूर्ववर्ती है, यथार्थता व भ्राति से तथा पुण्य व पाप से भी पूर्ववर्ती है। 'ज्ञान के समस्त साधन अर्थात् प्रमाण आत्मा के अस्तित्व पर ही निर्भर करते है और चूकि इस प्रकार का अनुभव अपना प्रमाण स्वय है इसलिए आत्मा के अस्तित्व को सिद्ध करने की आवश्यकता नही है।" "बोधशक्ति तथा उसके कार्यों के अस्तित्व से ही एक ज्ञानसम्पन्न सत्ता की पूर्वकल्पना होती है जो आत्मा के नाम से जानी जाती है जो उनसे भिन्न है और स्वयसिद्ध है तथा जिसके अधीन वे सब है।"[3] प्रत्येक व्यापार और क्षमता, स्थूल शरीर तथा जीवनशक्तियुक्त प्राण, इन्द्रिया और अन्तःकरण, आनुभविक 'अह' केवल आत्मा के ही आधार पर तथा उसीके सम्बन्ध मे प्रकट होते हैं। वे अपने से परे एक लक्ष्य की पूर्ति करते है और अस्तित्व के किसी गम्भीरतर आधार पर निर्भर करते है। आत्मा के अस्तित्व के विषय मे सशय नही हो सकता, "क्योकि यह उसका अनिवार्य स्वरूप है जो इसका निषेध करता है।"[4]

शकर का तर्क है कि हमारे लिए विचार के द्वारा आत्मा को जानना असम्भव है क्योकि विचार स्वय अनात्म के क्षेत्र मे सम्बन्ध रखनेवाले प्रवाह का एक भाग है। यदि हम इसका ग्रहण अपनी समस्त समालोचनात्मक तथा समाधानात्मक शक्तियो पर एक प्रकार का उपेक्षाभाव प्रदर्शित करते हुए करते है तो हम जिस प्रकार के ज्ञान की इच्छा करते है उसे प्राप्त करने मे असफल रहेगे। तो भी हम आत्मा को विचार के क्षेत्र से बाहर भी नही कर सकते क्योकि इसके बिना कोई भी चेतनता अथवा अनुभव सम्भव नही है। यद्यपि यह हमारे ज्ञान से बचता है तो भी सर्वथा हमसे बच नही सकता। यह आत्मसम्बन्धी भाव का विषय है। और इसका अस्तित्व साक्षात् दर्शन के कारण बताया जाता है।[5] इसकी सिद्धि नही हो सकती क्योकि समस्त प्रमाणो का यही आधार है तथा समस्त प्रमाणो से पूर्व इसकी स्थापना आवश्यक है।[6] तार्किक

१. सर्वो ह्यात्मास्तित्वं प्रत्येति न नाहमस्मीति। शाङ्करभाष्य, १ : १, १।

२. तुलना कीजिए, डेस्कार्ट : 'डिस्कोर्स आन मेथड'।

३ सुरेश्वरकृत वार्तिक, पृष्ठ १८६ और ५४२, ७२१–५। और भी देखे, शाकरभाष्य, २ : ३, ७; १ : ३, २२।

४. य एव हि निराकर्ता तदेव तस्य स्वरूपम् (शाकरभाष्य, २ : ३, ७)।

५. अस्मत्प्रत्ययविषय। तुलना कीजिए, केन, २। प्रतिबोधविदितम्।

६. अपरोक्षत्वाच्च प्रत्यगात्मा-प्रसिद्धेः (शाकरभाष्य, १ : १, १)।

७. आत्मा तु प्रमाणादिव्यवहाराश्रयत्वात् प्रागेव प्रमाणादिव्यवहारात् सिद्ध्यति। (शाकरभाष्य, २ : ३, ७; भगवद्गीता पर शाकरभाष्य, १८ : ५०)।

दृष्टिकोण से यह एक स्वतःसिद्ध आधार तत्त्व है। हमें इसको स्वतःसिद्ध मान लेना होता है।[1]

शंकर यथार्थ आत्मा को विषय (प्रमेय पदार्थ) से भिन्न करने का प्रयत्न करते हैं और बलपूर्वक कहते हैं कि विषय तथा विषयी प्रकाश तथा अन्धकार की भांति दोनों एक-दूसरे के विपरीत हैं अर्थात् जो सच्चे अर्थों में ज्ञाता (विषयी) है वह कभी भी विषय (प्रमेय पदार्थ) नहीं बन सकता। आध्यात्मिक दृष्टि से आत्म अस्तित्व के भाव के अन्दर नित्यता, निर्विकारिता और पूर्णता के भाव समाविष्ट हैं। जो सचमुच में यथार्थ है वह अपने में सत् है और अपने लिए सत् है।[2] यहां तक कि आत्मा की यथार्थसत्ता को स्वीकार करना एक नित्य ब्रह्म की यथार्थसत्ता को स्वीकार करना है। आत्मा च ब्रह्म।[3] ब्रह्म की यथार्थता का प्रमाण यह है कि यह प्रत्येक की आत्मा की आधारभूमि है।[4]

हम यह तो जानते हैं कि आत्मा है, किन्तु यह नहीं जानते कि यह है क्या, सान्त है या अनन्त है, ज्ञान है अथवा परमानन्द है, एकाकी है अथवा अपने समान अनेक में से एक है, केवल साक्षीमात्र है अथवा उपभोक्ता भी है अथवा इन दोनों में से कुछ भी नहीं ह। चूंकि आत्मा के स्वरूप के विषय में परस्पर-विरोधी मत हैं इसलिए शंकर का कहना है कि यह दोनों ही है, अर्थात् ज्ञात भी और अज्ञात भी। 'मैं' और 'मैं नहीं' में अवश्य भेद करना चाहिए क्योंकि 'मैं नहीं' में केवल बाह्य जगत् ही नहीं शरीर, उसकी इन्द्रियां तथा बोधशक्ति की समस्त सामग्री और इन्द्रियां भी आती हैं। साधारण प्रयोग में हम मानसिक अवस्थाओं को विषयीनिष्ठ तथा भौतिक अवस्थाओं को विषयनिष्ठ मानते हैं। किन्तु अध्यात्मशास्त्र की दृष्टि से प्रतीतिरूप जगत् की दोनों व्यवस्थाएं अर्थात् भौतिक तथा मानसिक एकसमान विषयनिष्ठ हैं।[5] भौतिकवादी आत्मा

१. शंकर लिखते हैं : "नित्य आत्मा, जो कर्ता से भिन्न है क्योंकि कर्ता 'अहं प्रत्यय का विषय' है, सब प्राणियों में साक्षी रूप से अवस्थित है, एकसमान, एकाकी, सर्वोच्च सत्ता, जिसका बोधग्रहण कोई वेद (विधिकाण्ड) से नहीं कर सकता अथवा अन्य भी ऐसी किसी पुस्तक में नहीं कर सकता जो चिन्तन (तर्क) पर आश्रित हो। वह समस्त जगत् की आत्मा है (सर्वस्यात्मा) और इसलिए कोई भी उसका निराकरण नहीं कर सकता, क्योंकि जो निषेध करता है उसकी भी आत्मा है।" (१ : १, ४)।

२. देखें, हेगल : 'एस्थेटिक्स', अंग्रेज़ी अनुवाद, अध्याय १।

३. शांकरभाष्य, १ : १, १।

४. सर्वस्यात्मत्वाच्च ब्रह्मास्तित्वप्रसिद्धिः। शांकरभाष्य, १ : १, १।

५. "जिस प्रकार अपने पुत्र या पत्नी या ऐसे ही किसी प्रियजन के दुःखी या सुखी होने पर अभ्यास के कारण कोई व्यक्ति यह कहता है कि 'मैं दुःखी या सुखी हूं' और इस प्रकार वह बाह्य पदार्थों के गुणों का आत्मा के सम्बन्ध में प्रयोग करता है, इसी प्रकार वह शरीर के गुणों को भी आत्मा के साथ जोड़ देता है जब वह यह कहता है कि 'मैं मोटा हूं, मैं पतला हूं, मैं श्वेतवर्ण हूं, मैं खड़ा होता हूं, मैं जाता हूं, मैं छलांग मारता हूं', और उसी प्रकार इन्द्रियों के गुणों को भी वह आत्मा के साथ जोड़ देता है जब वह कहता है, 'मैं गूंगा हूं, अशक्त हूं, बहरा हूं, काना हूं, अन्धा हूं', और अंतःकरण के गुणों को भी, अर्थात् इच्छा, संकल्प, संशय, निश्चय इत्यादि को भी वह आत्मा के साथ जोड़ देता है। इस प्रकार वह अहं प्रत्ययी 'अहं' को अन्तःस्थ आत्मा में परिणत कर देता है, जो केवल शरीर-सम्बन्धी प्रवृत्तियों का साक्षीमात्र है और, इसके विपरीत सबका साक्षी है, अन्तःस्थ आत्मा को अन्तः-

तथा शरीर अथवा इन्द्रियो को एकरूप मानते है। किन्तु चेतनता और प्रकृति भिन्न-भिन्न प्रकार की यथार्थता को प्रस्तुत करते है और एक को दूसरे के अन्दर परिणत नही किया जा सकता। और न ही हम आत्मा तथा इन्द्रियो को एक मान सकते है, क्योकि उस अवस्था मे जितनी इन्द्रिया है उतनी ही आत्माए हो जाएगी और इससे व्यक्तिगत पहचान एक समस्या बन जाएगी। इसके अतिरिक्त यदि भिन्न-भिन्न इन्द्रिया मिलकर आत्मा बनती है तो दृष्टि तथा श्रवण और रस आदि का एकसाथ उपभोग सम्भव होगा। योगाचार के सिद्धान्त के अनुसार अस्थायी मानसिक अवस्थाओ की श्रृखला के अतिरिक्त आत्मा कोई वस्तु नही है।[1] किन्तु इस सिद्धान्त के आधार पर हम स्मृति तथा प्रत्यभिज्ञा सम्बन्धी तथ्यो की व्याख्या नही कर सकते। शून्यवाद का, जो घोषणा करता है कि नित्य आत्मा सर्वथा है ही नही, शकर के इस मौलिक सिद्धान्त के साथ विरोध होता है कि आत्मा के अस्तित्व मे सन्देह नही किया जा सकता। यदि हम समस्त जगत् को शून्यरूप भी घोषित करे, तो भी यह शून्यता अपने बोध को ग्रहण करनेवाले की पूर्वकल्पना कर लेती है।[2] सुषुप्ति अवस्था मे भी आत्मा उपस्थित रहती है क्योकि जब मनुष्य उस अवस्था से जाग जाता है तो उसे इस विषय का ज्ञान रहता है कि वह प्रगाढ निद्रा मे था जिसम स्वप्नो न विघ्न नही किया। और यह वह स्मृति के ही द्वारा जानता है। चूकि स्मृति प्रस्तुत विषयो की ही होती है, निद्रा का परम आनन्द और शून्य-सम्बन्धी चेतना निद्रा की अवस्था मे ही प्रस्तुत रहे होगे। यदि यह कहा जाए कि निद्रा मे क्षोभ तथा ज्ञान का अभाव निद्रा से पूर्व अवस्था की स्मृति के द्वारा तथा पीछे की अवस्था के द्वारा केवल अनुमान द्वारा जाना जाता है तब उसका उत्तर यह होगा कि हम ऐसी किसी वस्तु का अनुमान नही कर सकत जिसके समान वस्तु हमारे आगे प्रस्तुत न हुई हो। यदि यह कहा जाए कि एक निषेधात्मक विचार अपने अनुकूल प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं रख सकता और इसलिए ज्ञान तथा क्षोभ के अभाव का

करण में तथा शेष को भी परिणत कर देता है।" (शाकरभाष्य, १ : १, १)। देखे, 'ड्यूसन्स सिस्टम आफ दि वेदान्त', पृष्ठ ५४, टिप्पणी; 'आत्मबोध', पृष्ठ १८; सर्वसिद्धान्तसारसग्रह, १२ : ४६–६२, ७२–७७। तुलना कीजिए, डेस्कार्टे : "मै उन अवयवो का पुञ्ज जिसे मानवीय शरीर कहते है नही हू; म एक पतली अन्तःप्रवेश करनेवाली वायु नहा हू जो उक्त सब अवयवो द्वारा अन्दर डाल दी गई है, अथवा वायु, या ज्वाला, या वाष्प, या प्राण, या अन्य ऐसी कोई भी वस्तु जिसकी म कल्पना कर सकता हू, क्योकि मैने कल्पना की कि ये सब नहा थे और कल्पना मे परिवर्तन किए बिना भी मै समझता हू कि मुझे अभी भी अपने आत्मत्व का निश्चय है" (मेडिटेशन्स, पृष्ठ २)। और भी देखें, छान्दोग्य उपनिषद, ८ : ७–१२; तैत्तिरीय उपनिषद्, २ . १, ७, माण्डूक्य उपनिषद्। अनुभूत पुञ्ज तथा कथावस्तु की जटिलताए समाधान नहा करती अपितु व्याख्या की माग करती है। 'काण्ट' ने तार्किक सिद्धान्त को एक प्रभावशाली देन दी जबकि उसने हमें अपना ध्यान चेतना के वस्तु विषयो से हटाकर उस चेतना की ओर मोडने के लिए आदेश दिया जो वस्तु विषय मे अभिन्न है तथा अन्तर्दृष्टि रखती है। किन्तु उसको अपने इस सिद्धान्त-सम्बन्धी सकेतो का पूरा ज्ञान नहीं था कि सर्वव्यापी चेतनता केवलमात्र एक ही हो सकती है। वह जानता था कि निर्जीव तथा सजीव पदार्थों तथा चेतन-अचेतन का भेद वस्तुरूप जगत् के भेद है। किन्तु वस्तुजगत् के अनेकत्व से उसने वस्तुओं के अपने अन्दर अनेकत्व है यह अनुचित अनुमान किया।

१. क्षणिक विज्ञानधारा।

२. शून्यस्यापि स्वसाक्षित्वात्।

केवल अनुमान ही होता है तो उत्तर मे कहा जाएगा कि ज्ञान आदि का अभाव जिसका अनुमान करता है वह विचारगम्य होना चाहिए अर्थात् उसका प्रत्यक्ष ज्ञान उसके अभाव मे साक्षात् होना चाहिए। इस प्रकार सुषुप्ति (प्रगाढ़ निद्रा) की अवस्था मे हमें ज्ञान तथा क्षोभ के अभाव की प्रत्यक्ष चेतना होती है। उस अवस्था मे आनुभविक मन निष्क्रिय होता है और केवल विशुद्ध चेतना ही उपस्थित रहती है।[1] आत्मा को अन्तःस्थ भावना के साथ न मिलाना चाहिए जो हमारी मानसिक प्रवृत्तियो अथवा आनुभविक 'अहं' के निरन्तर हो रहे परिवर्तनो के साथ-साथ रहती हैं, जिसमे समय-समय पर अनेक मानसिक विषय परिष्कृत होते है।[2] यह सत्य है कि क्रिया से पूर्व आत्म-चेतना (अर्थात् अहंकार) आती है किन्तु यह आत्मा नही है क्योकि यह ज्ञान की पूर्ववर्ती नही है, चूंकि यह स्वयं ज्ञान का एक विषय है।[3] आत्मा को अवस्थाओ के प्रवाह के समान मानने के लिए एक अविच्छिन्न समर्पण अथवा अवस्थाओ का प्रवाह मानना चेतनता के तत्त्व को इसके मूलतत्त्वो के अंशो के साथ मिला देना होगा। अनुभूतिपुञ्ज और चेतनता की धाराएं उठती और गिरती है, प्रकट होती तथा विलुप्त होती है। यदि इन सब विविध मूलतत्त्वो को परस्पर सम्बद्ध किया जाए तो हमे एक सर्वव्यापी चेतनता की आवश्यकता प्रतीत होती है जो सदा उनके साथ साहचर्यभाव से

१. अन्तःस्थ इन्द्रिय (अन्तःकरण) निष्क्रिय है और विशुद्ध चेतना का सम्बन्ध अविद्या मे है। 'विवरण' के ग्रन्थकार के अनुसार सुषुप्ति अवस्था में यदि कोई भी क्रिया होती है तो वह अविद्या के कारण है जबकि सुरेश्वर का तर्क है कि सुषुप्ति अवस्था में कोई क्रिया ही नही होती।

२. एम० बर्गसा हमें एक ऐसा विचार देता है जिसके अनुसार आत्मा एक ऐसी वृद्धिशील सत्ता है जो अपने पूर्व अनुभवों को स्मृति द्वारा साथ लेते हुए भविष्य के लक्ष्य की ओर अग्रसर होती है ('क्रियेटिव इवाल्यूशन', पृष्ठ २१०)। यदि व्यक्तित्व का आधार केवल भूतकाल की चेतना ही होती जैसाकि कुछ बौद्ध मतावलम्बियों का विश्वास है तब काल के विभिन्न क्षणों में वही एक आत्मा नही रह सकती थी। जहां एक ओर स्मृति रूप जोड़नेवाली कड़ी से आत्मत्व के भाव को प्रबलता तथा महत्त्व प्राप्त होते है वहां आत्मचैतन्य के अन्दर निहित काल की अनन्तता के भाव की व्याख्या न हो सकेगी। बर्गसा को आत्मा के अन्तर्हित वृद्धिशील होने की असन्तापजनकता का ज्ञान है और इसलिए वह हमे बतलाता है कि यथार्थ आत्मा की परिभाषा एक ऐसे विशुद्ध कार्यकाल से सम्बद्ध होनी चाहिए जिसे न तो अग्रगति और न भूतकाल के ही इतिहास का ज्ञान हो। यह एक अविभक्त वर्तमानकाल है जिसमें समस्त लौकिक वर्गीकरण का अभाव है। इस प्रकार बर्गसा अनन्तता के प्रति जो सहज प्रवृत्ति होती है उसका सन्तापजनक समाधान करने का प्रयत्न करता है एवं काल को कार्य परिमित करता तथा कालावधि अथवा लौकिक मे विपरीत अग्रगति की प्रकल्पना उपस्थित करता है। किन्तु आत्मा जो अपना अस्तित्व स्थिर रखती है वह बाह्य घटकों के ऊपर निर्भर करके ही कर सकती है। यह आत्मनिर्भर नही है। इस प्रकार बर्गसा स्मृति की सर्वांग सम्पूर्ण यथार्थता को प्रगाढ निद्रा (स्वप्नरहित) मे भी वर्तमान स्वीकार करने एवं चेतनता के सातत्य तथा एकता को सिद्ध करने के लिए उसका उपयोग करने के कारण शंकर के अत्यन्त निकट आ जाता है। वह यह भी स्वीकार करता है कि स्मृति मे आत्मिक भाव उस समय भी स्थिर रहता है जबकि वस्तुओ के सार्वभौम प्रवाह में अन्य सब रूप नष्ट हो जाते है। यह आगे आनेवाले अनुभवों के लिए संयोजक कड़ी का तो काम करता ही है, किन्तु समस्त अनुभवों के भी नष्ट हो जाने पर यह स्थिर रहता है।

३. अहंकारपूर्वकमपि कर्तृत्वं नोपलब्धिर्भवितुमर्हति अहंकारस्याप्युपलभ्यमानत्वात् (शांकरभाष्य, २ : ३, ४०)।

रहती है। "जब यह कहा जाता है कि यह मैं हूं जो जानता हूं कि वर्तमान में किसका अस्तित्व है, यह मैं हूं जो भूतकाल को जानता था तथा उसे भी जो भूतकाल से पूर्व था, यह मैं हूं जो भविष्यत् को तथा भविष्यत् के आगे भी क्या होगा उसे जानूंगा, इन शब्दों से उपलक्षित होता है कि ज्ञान के विषय में जब परिवर्तन हो जाता है तब भी ज्ञाता परिवर्तित नहीं होता क्योंकि उसका अस्तित्व भूत, वर्तमान और भविष्य में भी है एवं उसका सारतत्त्व सदा से उपस्थित है।"[1] हम घटनाओं की सासारिक शृंखला को केवल शृंखला के रूप में ही जान सकते है, यदि तथ्यों को उनसे भिन्न किसी वस्तु के द्वारा एकसाथ रखा जा सके और स्वयं वह इसलिए काल के वश से परे हो।[2] आत्मा प्राकृतिक जगत् का प्राणी नहीं है और इसका कारण बिलकुल सरल है कि यदि आत्मा-रूपी तत्त्व की पूर्व से कल्पना न की जाती तो यह जगत् ही नहीं होता। शंकर का मत है कि यदि हम समस्त चतुर्दिक् वर्तमान पदार्थों से इसे विच्छिन्न कर दे, तथा शरीर-रूपी ढाचे से इसे पृथक् करके चिन्तन करे, जिसके अन्दर यह घिरा हुआ है, एव अनुभव के भी समस्त मूलतत्त्वों से इसे पृथक् करके देखें तो हमे आत्मा के भाव का ज्ञान होगा अन्यथा नहीं।[3] हमारे तार्किक मनों को ऐसा प्रतीत हो सकता है कि हमने इसे केवल विचार की क्षमतामात्र ही बना डाला है, हालाकि केवल शून्यता का रूप नहीं भी दिया है तो भी इसे इस प्रकार का मानना कहीं अधिक उत्तम है बजाय इसके कि इसे अंशों से मिलकर बनी एक पूर्ण इकाई, अथवा गुणों से युक्त एक वस्तु, अथवा गुणों से युक्त एक द्रव्य करके माना जाए। यह निर्विशेष चिन्मात्र है जिसके ऊपर शरीर के भस्मीभूत हो जाने तथा चित्त के नष्ट हो जाने पर भी कोई असर नहीं होता।[4]

१. सर्वदा वर्तमानस्वभावत्वात् (शांकरभाष्य, २ : ३, ७, और भगवद्गीता पर शांकरभाष्य २ : १८)। देखे, अद्वैतमकरन्द, पृष्ठ ११ और १३।

२. शंकर लोट्ज़े के तर्क से सहमत है कि दो विचारों की सरलतम तुलना और उनकी समानता अथवा असमानता की स्वीकृति इस प्रकार की पूर्वकल्पना कर लेती है कि 'जो सत्ता उनकी तुलना करती है वह अविभाज्य रूप से एक है' और वह आत्मा है जो उस मूलतत्त्व से बाह्य है जिसका यह प्रतिपादन करती है ('मेटाफिजिक्स', पृष्ठ २४१)।

३. बोधग्रहण, इन्द्रियां आदि अचेतन है और एक विषयी के लिए विषय है। तुलना कीजिए, भामती : "चित्स्वभावात्मा विषयी, जड़स्वभावा बुद्धीन्द्रियदेहविषया विषयाः।"

४. सर्वसिद्धान्तसारसंग्रह, १२ : ८, ४१। तुलना कीजिए, आगस्टाइन : "शरीरों से ऊपर क्रमशः चढ़ते हुए मैं आत्मा तक पहुंच सका जो शरीरगत इन्द्रियों के द्वारा प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त करता है; और उसके आगे मैं आत्मा की उस क्षमता तक पहुंचा जिस तक शरीरगत इन्द्रियां बाह्य पदार्थों की सूचना को पहुंचाती हैं और यह प्राणियों की बुद्धि की चरम सीमा है। और उसके आगे तर्कशक्ति तक पहुंचा जिस तक शरीरगत इन्द्रियों द्वारा प्राप्त ज्ञान अन्तिम निष्कर्ष के लिए पहुंचाया जाता है। और जब यह शक्ति भी मुझे अपने अन्दर परिवर्तनशील प्रतीत हुई तो इसने अपने को और ऊंचा उठाया और अपनी प्रज्ञा तक पहुंची तथा अनुभवजन्य विचारों से इसने अपने को मुक्त किया तथा इन्द्रियाकृतियों के परस्पर विरोधी जमघट से हटाकर अपने को अमूर्त बनाया इसलिए कि उस प्रकाश को खोज निकाल सके जिसके अन्दर यह आवृत था और तब सब संशयों का उच्छेद करके इसने घोषणा की कि समस्त परिवर्तनशील जगत् की अपेक्षा निर्विकार का ही आश्रय वांछनीय है और वहीं से इसने उस निर्विकार का

समस्त दर्शन की कठिन समस्या यह है कि इन्द्रिया, शरीर की स्नायुमण्डल-सम्बन्धी प्रक्रियाएं तथा जो कुछ देश और काल में है यह सब चेतना को उत्पन्न करता है। निश्चय ही अचेतन वस्तु चेतन वस्तु का कारण नही हो सकती। यदि कुछ सम्भव है तो यह है कि चेतन को अचेतन का कारण अवश्य होना चाहिए। इन्द्रिया, मन और बोधग्रहण की शक्ति आत्मनिर्भर नही है। "इन इन्द्रियों की क्रिया को साथ-साथ उपलब्धि की आवश्यकता है और यह आत्मा की ही वस्तु है।...आत्मा का यथार्थस्वरूप नित्य ज्ञान है।"[1] किन्तु यह चेतनसत्ता जो अचेतन जगत् का कारण है, परिमित शक्तिवाली चेतना नहीं है अपितु निरपेक्ष है, क्योंकि अनेक पदार्थ तथा घटनाएं जो इसमें अथवा उक्त परिमित शक्तिवाली चेतनता मे अवस्थित नही है तो भी उस यथार्थसत्ता में विद्यमान रहती है। इस प्रकार हमे अवश्य एक निरपेक्ष परम चेतनता की कल्पना करनी ही होती है जिसका यह परिमित शक्तिवाली चेतनना केवल अशमात्र है। मूलभूत चेतनता को, जो समस्त यथार्थसत्ता का आधार है, मानवीय चेतनता के साथ नही मिलाना चाहिए जोकि विश्व के विकास में सबसे अन्त मे प्रकट होती है। प्रत्यक्ष द्वारा अनुभूत पदार्थ उत्पत्ति तथा क्षय के अधीन हे और स्वप्रकाशित नही है। और उनका ज्ञान केवल आत्मा के प्रकाश के द्वारा होता है,[2] जिसका अनिवार्य स्वरूप है आत्म-प्रकाशत्व।[3] यह विशुद्ध चैतन्य अथवा केवल अभिज्ञता ही है जो "सर्वोपरि तत्त्व है, जिसके अन्दर ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञात विषय का कोई भेद नही है, जो अनन्त है, अतीन्द्रिय है तथा निरपेक्ष ज्ञान का सारतत्त्व है।"[4] इसका स्वरूप निर्विषय चैतन्य का

ज्ञान प्राप्त किया और इस प्रकार एक दृष्टि की झपक के प्रकाश मे यह उस तक पहुचा जो सत् है। ('कन्फेशन्स', ७ : २३)।

१ नित्योपलब्धिस्वरूपत्वात् (शाकरभाष्य, २ : ३, ४०)। तुलना कीजिए, 'चित्सुखी', १ : ७।

चिद्रूपत्वादकर्मत्वात् स्वयं ज्योतिरिति श्रुतेः।
आत्मनः स्वप्रकाशत्वं को निवारयितुं क्षमः॥

२ शाकरभाष्य, २ : २, २८। तुलना कीजिए इसके साथ अरस्तू के 'कामन्सेन्स' की जो बोधग्रहण की शक्ति आदि का, जो अन्तर्निहित चेतना द्वारा बुद्धिसम्पन्न है, उनकी अपनी क्षमता का ज्ञान प्राप्त कराने मे सहायक होना है।

३. स्वयं ज्योतिःस्वरूपत्वात् (शाकरभाष्य, १ : ३, २२)। प्रश्नोपनिषद् पर शाकरभाष्य को भी देखें, ६ : ३।

४. विवेकचूडामणि, पृष्ठ २३९। नैयायिक (न्यायमञ्जरी, पृष्ठ ४३२) निम्नलिखित हेतुओं के आधार पर इस प्रकल्पना पर आपत्ति उठाता है : विशुद्ध चैतन्य का ज्ञान कोई भी प्राप्त नहीं कर सका है क्योंकि हमारा आनुभविक चैतन्य सदा ही मन और इन्द्रियों की उपाधि से आवृत रहता है। यह कहना कि इसका ज्ञान अन्तःकरण के चैतन्य (अपरोक्ष ज्ञान) मे होता है स्वतःविरोधी है। यदि इस प्रकार का तर्क किया जाए कि आत्मा का ज्ञान आत्मप्रकाश के रूप मे तात्कालिक होता है तो कहा जाएगा कि एक प्रकाशमान दीपक एक अन्धे मनुष्य के लिए भी व्यक्त होता है यद्यपि अन्धा मनुष्य उसे देखता नहीं है। यदि दीपक ऐसे ही मनुष्य के लिए व्यक्त हो जो उसका बोध ग्रहण करता है तब फिर आत्मा का भी ज्ञान केवल तभी हो जब उसका ज्ञान प्राप्त किया जाए अर्थात् जब यह चेतन्य का विषय बने और तब यह विशुद्ध तथा निर्मल नही रह सकता। कुमारिल प्रश्न करता है कि यदि आत्मा चैतन्य-स्वरूप होने के कारण आत्मप्रकाश है तो क्या सुख तथा दुःख को भी आत्मप्रकाश मानना चाहिए?

है।[1] "आत्मा सर्वांगरूप मे प्रज्ञा के अतिरिक्त अन्य कुछ नही है; प्रज्ञा ही उसका अनन्य-स्वरूप है जैसे नमक की राशि का स्वरूप उसके नमकीन स्वाद मे है।"[2] आत्मा का स्वरूप अनात्म कभी नही हो सकता। अपनी सत्ता के विधान के अनुसार यह सदा ज्योतिर्मय है। जिस प्रकार प्रकाशित करने के लिए कोई वस्तु उपस्थित न रहने पर भी सूर्य स्वतन्त्र रूप से चमकेगा ही, इसी प्रकार आत्मा के अन्दर चैतन्य सदा विद्यमान रहता है, ऐसी अवस्था मे भी जबकि कोई ज्ञातव्य विषय उपस्थित न भी हो।[3] यह विशुद्ध प्रकाश है, विशद ज्योतिष्मान् है एव न केवल हमारे समस्त ज्ञान का आधार है, अपितु हमारी दृष्टि का प्रकाश भी है।

शकर न्याय तथा विशिष्टाद्वैत के मत का सर्वथा निराकरण करते हे जिसके अनुसार आत्मा एक बुद्धिसम्पन्न द्रव्य है और यह कि आत्मा का चैतन्य के साथ धर्मी और धर्म का सम्बन्ध है।[4] बुद्धि तथा आत्मा के मध्य का सम्बन्ध या तो तादात्म्य का हो या भिन्नता का हो अथवा तादात्म्य और भिन्नता दोनो का हो। यदि बुद्धि स्वरूप मे आत्मा से भिन्न हो तब उनके मध्य मे द्रव्य और गुण का सम्बन्ध नही हो सकता।[5] इसके अतिरिक्त भिन्न-भिन्न प्रमेय पदार्थों की अवस्था मे सम्बन्ध या तो बाह्य सयोग के रूप का हो अथवा आन्तरिक सम्बन्ध अर्थात् समवाय के समान हो। सयोग दो भौतिक वस्तुओ मे सम्भव होता है किन्तु आत्मा और बुद्धि भौतिक नही है। यदि आत्मा तथा बुद्धि के बीच मे आन्तरिक समवायसम्बन्ध हो तो यह सम्बन्ध आत्मा से भी सम्बद्ध होना चाहिए और दूसरे सम्बन्ध को भी आत्मा से सम्बद्ध होना चाहिए और इस प्रकार इसका कही अन्त नही होगा। इस प्रकार यदि आत्मा तथा बुद्धि एक-दूसरे से भिन्न है तो उनके अन्दर द्रव्य और गुण जैसा सम्बन्ध विचार मे भी नही आ सकता। और यदि दोनो एकसमान है तब इस प्रकार के कथन का कोई अर्थ ही नही होता कि एक-दूसरे का गुण है। यह मानना सभव नही है कि कोई वस्तु अन्य वस्तु के समान भी है और भिन्न भी है। इस प्रकार आत्मा को

इस मत के अनुसार स्वप्नावस्था में सुख-दुःख के विरत हो जाने का हम कोई समाधान न कर सकेंगे। यदि यह कहा जाए कि सुषुप्ति अवस्था में केवल आत्मा की ही अभिव्यक्ति होती है किन्तु शरीर, अथवा इन्द्रियों अथवा पदार्थों की नहा होती जिन सबकी अभिव्यक्ति जागरित अवस्था में होती है तो कुमारिल इसका निराकरण इस आधार पर करता है कि जागने पर हमें उस विषय की चेतना रहती है कि हमने प्रगाढ निद्रा की अवस्था में कुछ ज्ञान प्राप्त नहीं किया। उसका तर्क है कि आत्मासानस प्रत्यक्ष का विषय है। देखे, शास्त्रदीपिका, पृष्ठ ३४७ से ३५० तक।

१. निर्विषयज्ञानमयम्। तुलना कीजिए, शकर के 'हिम्स टु हरि', पृष्ठ ४।

२. शांकरभाष्य, ३ : २, १६। और भी देखें, शांकरभाष्य, १ : ३, १६, २२।

३. शांकरभाष्य, २ : ३, १८।

४. चिद्धर्म आत्मा न तु चित्स्वभावः। तुलना कीजिए, ज्ञानभिन्नो नित्यात्मेति सिद्धम्। (विश्वनाथकृत मुक्तावली, पृष्ठ ४६)।

५. आत्मघटादिवद्धर्मधर्मित्वानुपपत्तेः।

बुद्धि के समान ही मानना चाहिए।[1]

चैतन्य अथवा आत्मा को तार्किक बोधग्रहण के साथ नही मिला देना चाहिए क्योंकि तार्किक बोधग्रहण निरपेक्ष तथा परम यथार्थसत्ता नही है, जिसकी व्याख्या अपनी परिभाषा मे हो सके, किन्तु वह प्रमाता (विषयी) तथा प्रमेय पदार्थ (विषय) की पारस्परिक प्रतिक्रिया का कार्य होता है। यदि ज्ञान के विषय मे इसे एक ऐसे स्तर पर रखकर विचार किया जाए कि जिस स्तर पर यह अपने विषय (प्रमेय पदार्थ) का निर्माण करनेवाला है तो भी उसके अन्दर ज्ञाता और ज्ञेय का भेद रहेगा ही। और यह प्रतिबन्ध केवल प्रतिबन्ध ही नही है केवल इसलिए कि स्वयं ज्ञान ने इसे उत्पन्न किया है। यथार्थ अस्तित्व और बुद्धि का साहचर्य है। बिना बुद्धि के आत्मा का अस्तित्व नही हो सकता अथवा बुद्धि बिना अस्तित्व के नही हो सकती।[2] यह भी आनन्द की प्रकृति का ही है।[3] सब प्रकार के दुःखो से मुक्ति का नाम आनन्द है।[4] आत्मा को कुछ त्यागना नही है और न कुछ प्राप्त ही करना है, न कुछ अन्धकार है, न अव्यवस्थित है। शंकर आत्मा के अन्दर क्रियाशीलता का अभाव मानते है, क्योंकि क्रियाशीलता स्वभाव मे अनित्य है।[5] "आत्मा किसी क्रिया का स्थान नही हो सकती क्योंकि क्रिया जिस वस्तु के अन्दर रहती है उसमे कुछ परिवर्तन अवश्य उत्पन्न करती है।"[6] सब प्रकार की क्रिया आत्मभाव की पूर्वकल्पना करती है और जहां तक हमे ज्ञान है यह दुःख के आकार की है,[7] और इसकी प्रेरक है इच्छा।[8] क्रिया तथा सुखोपभोग द्वैतात्मक दृष्टिकोण के ऊपर ही निर्भर है और द्वैतात्मक दृष्टिकोण सर्वोच्च सत्य नही है।[9] आत्मा मे शरीर आदि प्रतिबन्ध के बिना क्रिया नही हो सकती और प्रत्येक प्रतिबन्ध अयथार्थ है।[10] आत्मा मे स्वयं कोई कर्तृत्व नही है।[11] शंकर के मत मे आत्मा के गुण है—सत्य, अपनी ही महत्ता पर आश्रित रहना, सर्वव्यापकता और समस्त अस्तित्व का स्वत्व होने

१. देखें, 'हस्तामलक'। देखें, हाल्डेन 'रेन आफ रिलेटिविटी', पृष्ठ ११६।

२. सत्ता एव बोधो बोध एव च सत्ता।

३. तैत्तिरीय उपनिषद् २। आत्मा है (अस्ति), चमकती है (भाति) और प्रसन्नता देती है (प्रीणाति)।

४. तुलना कीजिए, बृहदारण्यक उपनिषद्, ३ : ५।

५. अध्रुव।

६. शांकरभाष्य, १ : १, ४।

७. कर्तृत्वस्य दुःखरूपत्वात् (शांकरभाष्य, २ : ३, ४०)।

८. कामहेतुः कार्यं स्यात्, प्रवर्तकत्वात्। (तैत्तिरीय उपनिषद् पर शंकर की प्रस्तावना)।

९. अविद्या प्रत्युपस्थापितत्वात् कर्तृभोक्तृत्वयोः। (शांकरभाष्य, २ : ३, ४०।) तुलना कीजिए, बृहदारण्यक उपनिषद्, ४ : ५, १५।

१०. तुलना कीजिए, सुरेश्वर : "विद्वान् लोगों ने आत्मा की अपने स्वाभाविक रूप में स्थिति को 'निःश्रेयस' नाम दिया है और आत्मा का अन्य किसी अवस्था मे सम्पृक्त होना अज्ञान का परिणाम है" (वार्तिक, पृष्ठ १०९)।

११. स्वतः अनधिकारिणः। देखें, सुरेश्वरकृत वार्तिक, पृष्ठ ११०-११३।

का लक्षण ।[1] वे आत्मा को एकाकी, सार्वभौम और अनन्त मानते है उन्ही कारणो के आधार पर जिनसे हीगल अपने विचार को अनन्त मानता है। यह किसी स्थान पर भी अपने से विपरीत वस्तुओ के द्वारा मर्यादित नही होती और न ऐसी किसी अन्य वस्तु से ही मर्यादित होती है जो एतद्रूप तो है ही नही, किन्तु तो भी इसके लिए मर्यादा उत्पन्न करती है। यह सदा अपने ही क्षेत्र मे वर्तमान रहती है। चैतन्य की कोई मर्यादा नही है क्योकि मर्यादाओ की चेतनता यह दर्शाती है कि चैतन्य मर्यादा से बडा है। यदि इसकी मर्यादा होती तो अन्य वस्तुओ से मर्यादित चैतन्य मर्यादाओ के चैतन्य से युक्त न हो सकता। चैतन्य और मर्यादा स्वरूप मे एक-दूसरे के विपरीत है। मर्यादा वस्तु का स्वभाव है और चैतन्य कोई वस्तु नही है।

डेस्कार्ट के विरुद्ध यह बलपूर्वक कहा जाता है कि उसने आत्मा को अनात्म से सर्वथा पृथक् किया तथा आत्मा की यथार्थता को अपने निजी अधिकार मे स्वतन्त्र रूप मे सिद्ध किया। हमे यह बिलकुल स्पष्ट रूप से समझ लेना चाहिए कि शकर द्वारा प्रतिपादित आत्मा वह जीवात्मा नही है जो ज्ञाता तथा कर्ता है। यदि शकर ज्ञान प्राप्त करनेवाली व्यक्तिगत जीवात्मा की यथार्थता को सिद्ध करने का प्रयास करते एव अनात्म से पृथक् तथा उसके विपरीत रूप मे मानते तो उनके आगे मर्यादित और निर्विषय आत्माओ का अनेकत्व उपस्थित होता अथवा एक अमूर्तरूप सार्वभौम आत्मा ही रह जाती। शकर द्वारा प्रतिपादित आत्मा न तो शरीरधारी जीवात्मा है और न ही ऐसी आत्माओ का सगृहीत पुञ्ज है। ये आत्माए सार्वभौम आत्मा के ऊपर आश्रित है। शकर का कहना है कि "आनुभविक अर्थ मे यह एक ऐसी वस्तु नही है जिसका निर्देश हम शब्दो के द्वारा कर सके। और न यह गाय के समान ही कोई ऐसा प्रमेय पदार्थ है जिसका ज्ञान ज्ञान के साधारण साधनो के द्वारा हो सके। इसका वर्णन भी जातिगत गुणो अथवा विशेष लक्षणो के द्वारा नही हो सकता। हम यह नही कह सकते कि यह अमुक प्रकार मे कर्म करती है। क्योकि इसे सदा ही निष्क्रिय कहा गया है। इसलिए इसका ठीक ठीक वर्णन नही हो सकता।" शकर की प्रतिपादित आत्मा काण्ट के अतीन्द्रिय 'अह' से भी भिन्न है जो केवल एक विशुद्ध आकृति है जिसका सम्बन्ध अनुभव के सब विषयो के साथ रहता है। यद्यपि कहा यह जाता है कि यह आनुभविक चैतन्य की पहुच से परे है तो भी इसका एक निजी रूप है क्योकि यह क्रियात्मक इच्छा का रूप धारण करती है। काण्ट का आनुभविक अहभाव से भिन्नरूप का वर्णन जो अवस्थाओ की उपज है, शकर द्वारा प्रतिपादित आत्मा मे लागू होता है। शकर केवल यही कहता है कि सदा रहनेवाला चैतन्य का प्रकाश लगभग एक पूर्ण वस्तु है किन्तु प्रगति की प्रक्रिया मे नही है।[2] काण्ट का क्रियात्मक सकल्प आनभविक आत्मा है, जिसके लिए सदा ही अतीत का अनिर्वचनीय भाव बना रहता है। फिश्ते का निरपेक्ष 'अहभाव' तात्त्विक रूप मे आनुभविक आत्मा से भिन्न नही है। क्योकि उस क्रिया का निर्णय, जिसके द्वारा

१. सत्यत्वम, स्वमहिमाप्रतिष्ठितत्वम, सर्वगतत्वम, सर्वात्मत्वम (शाकरभाष्य, १ : ३, ६)।

२. तुलना कीजिए, जयटाइल की विशुद्ध प्रमातांविषयक कल्पना मे जिसे विषय (प्रमेय पदार्थ) का रूप नही दिया जा सकता ('थियरी आफ माइण्ड ऐज प्योर एक्ट', पृष्ठ ६–७)।

यह उस अवस्था को प्राप्त हुआ है जो इसका मौलिक रूप है, अनात्म की ही क्रिया है। चूंकि शंकर के मत में व्यक्तित्व का सारतत्त्व उसका अन्य सत्ताओं से भेद होने के कारण ही है इसलिए उनका तर्क है कि आत्मा का पृथक् व्यक्तित्व इसलिए नहीं है चूंकि उसके अतिरिक्त अन्य कोई सत्ता ही नहीं है। यह सत्य अवश्य है कि तार्किक दृष्टिकोण से आनुभविक आत्मा ही एकमात्र यथार्थसत्ता है और विशुद्ध आत्मा केवल छायामात्र है। किन्तु जब हम ऊंचे उठकर अन्तर्ज्ञान तक पहुंचते हैं जहां कि प्रमाता तथा प्रमेय मिलकर एक हो जाते हैं, हम परमार्थरूप चैतन्य का साक्षात् कर सकते हैं।[1] यह परमरूप का दर्शन ही है जो अपना दर्शन स्वयं कराता है। यही सारतत्त्व प्रत्येक का है जो यह सोचकर कि "मैं हूं जो मैं हूं" इस प्रकार अपने को जानता है। यह नितान्त रूप से यथार्थ है जिसे कोई भी अनुभव कभी भी परिवर्तित नहीं करेगा। इसका कोई परिमाण नहीं है। हम इसके विषय में यह नहीं सोच सकते कि यह विस्तृत हो सकता या विभक्त हो सकता है। यह सदा और सब कालों में एकसमान है। इसमें अनेकत्व नहीं है। यह जितना एक में है उतना ही अन्य में है। इसको विशिष्टरूप नहीं दिया जा सकता। हम जीवन धारण किए हुए हैं क्योंकि हम सार्वभौम जीवन के भागीदार हैं; और हम सोचते हैं क्योंकि हम सार्वभौम विचार में अपना भाग रखते हैं। हमारे अन्दर सार्वभौम आत्मा की उपस्थिति के कारण से ही अनुभव सम्भव होता है।[2]

१४

ज्ञान का तन्त्र या रचना

साधारण बुद्धि की पूर्वमान्यताओं तथा विचार के प्राथमिक सिद्धान्तों के विषय में संशय करना शङ्कर को अपने पूर्ववर्ती बौद्ध विचारकों से दाय के रूप में प्राप्त हुआ। यह उन्हें स्पष्ट प्रतीत हो गया कि दार्शनिक विचार के निर्माण का कोई भी प्रयास

१. तुलना कीजिए, केयर्ड : "यदि प्रमेय पदार्थ का चेतन प्रमाता (विषयी) के साथ सम्बन्ध होना ज्ञान है तो यह जितना ही पूर्ण होगा उतना ही सन्निकट सम्बन्ध होगा और यह पूर्ण हो जाती है, जब द्वैतभाव प्रत्यक्ष पारदर्शी हो जाता है अर्थात् जब प्रमाता और प्रमेय में एकत्व हो जाता है और जब द्वैतभाव केवलमात्र एकत्व को शब्दों में प्रकट करने के लिए ही आवश्यक रह जाता है—संक्षेप में, जब चैतन्य आत्मचैतन्य के रूप में परिणत हो जाता है।" ('क्रिटिकल फिलासफी आफ काण्ट', पृष्ठ ४६)।

२. माण्डूक्य उपनिषद् पर शांकरभाष्य, २ : ७। तुलना कीजिए, एकहार्ट : "आत्मा के अन्दर एक ऐसी वस्तु है जो आत्मा से ऊपर है, दैवीय है, सरल है, परम शून्य है; नाम रूप न होकर अनाम है; ज्ञान न होकर अज्ञात है, यह ज्ञान से भी ऊपर है, प्रेम से भी ऊंची है, कृपा से भी ऊंची है, क्योंकि इन सबमें भी भेद विद्यमान है। इस प्रकाश को सन्तोष होता है केवल सर्वान्त अनिवार्य तत्त्व से। इसका झुकाव सरल भूमि में, मौन निर्जन स्थान में प्रवेश करने की ओर है, जहां पर न पिता का, न पुत्र का और न पवित्र आत्मा का ही कोई भेद रहता है। यह उस एकत्व में प्रविष्ट होना चाहती है जहां किसी मनुष्य का निवास नहीं है। तब यह उस प्रकाश में सन्तुष्ट होती है, तब यह एकाकी है, तब यह अपने में एक है, चूंकि यह भूमि एक सरल स्थिरता है, अपने-आपमें अचल है, किन्तु तो भी इस अचलता से ही सब वस्तुएं गति प्राप्त करती हैं"। (हण्ट कृत 'ऐस्से आन पानथीइज्म' में उद्धृत, पृष्ठ १८०)।

प्राथमिक सिद्धान्तों के दर्शन को स्वत मान्य मानकर आगे नहीं बढ़ सकता। इस प्रकार उन्होंने ज्ञान के समालोचनात्मक विश्लेषण को तथा मनुष्य के बोधग्रहण तंत्र को भी हाथ में लिया। हमारे अन्तस्तल के गह्वर में हमारी आत्मा का एक ऐसा अस्तित्व है जिसके विषय में यह कुछ कथन नहीं करता। परम यथार्थसत्ता अद्वैतरूप आत्मा है। किन्तु समस्त निश्चयात्मक ज्ञान परम चैतन्य के परिवर्तन की इन विभागों में पूर्व-कल्पना कर लेता है : (१) एक ज्ञाता (प्रमातृचैतन्य), बोधग्रहण करनेवाली चेतनता, जिसका निर्णय अन्तःकरण के द्वारा होता है; (२) ज्ञान की प्रक्रिया (प्रमाणचैतन्य), बोध ग्रहण करनेवाली चेतनता जिसका निर्णय वृत्ति अथवा अन्त.करण के परिवर्तन के द्वारा होता है; और (३) ज्ञात पदार्थ (प्रमेय विषय या विषयचैतन्य), यह वह चेतनता है जिसका निर्णय ज्ञात विषय के द्वारा होता है। परमचैतन्य एक ही है (एकमेव), जो सर्वव्यापी है, जो सबको प्रकाशित करता है, यह अन्त करण है, इसका परिवर्तित रूप तथा विषय है।[1] इन्द्रियों के अतिरिक्त आभ्यन्तर इन्द्रिय अर्थात् अन्त.करण[2] के अस्तित्व को सिद्ध करने के लिए जो युक्तियां उपस्थित की जाती है वे पहले से ही हमे भली भांति ज्ञात है।[3] इसे अन्तःकरण का नाम इसलिए दिया गया है कि यह इन्द्रिय के व्यापारों का स्थान है और उनके बाह्य गोलकों से भिन्न है। बाह्य इन्द्रियों के द्वारा जो कुछ सामग्री इसे प्राप्त होती है उसे यह ग्रहण करता है तथा उसकी क्रमबद्ध व्यवस्था करता है। इसे अपने आपमे इन्द्रिय नही माना गया क्योंकि यदि यह इन्द्रिय होता तो इसे अपना तथा अपने परिवर्तनो का साक्षात् प्रत्यक्ष ज्ञान न हो सकता। इसे भिन्न-भिन्न अवयवों से मिलकर बना बताया जाता है और यह मध्यम आकार का है, न तो आणविक है और न महदाकार मे अनन्त है। इसमे पारदर्शिता का गुण है जिसके द्वारा इसमे प्रमेय पदार्थ प्रतिबिम्बित होते है जिस प्रकार एक दर्पण मे उसकी चमक के कारण हमारे चेहरे उसमे प्रतिबिम्बित हो जाते है। पदार्थों के प्रतिबिम्बित करने की क्षमता अर्थात् उनके विषय मे अभिज्ञ होना अन्त.करण का स्वाभाविक अन्तर्निहित गुण नही है, किन्तु आत्मा के साथ सम्बद्ध होने के कारण उसमे यह आ गया है। यद्यपि कहा यह जाता है कि अन्त करण प्रमेय पदार्थों पर अपना प्रकाश डालता है तथा उन्हे प्रतिबिम्बित करता है तो भी यह आत्मा है जो उसके अन्दर प्रतिबिम्बित होती है।[4] आत्मा ही प्रकाश

१. तुलना कीजिए, पञ्चदशी, ७ : ६१।

२. वाचस्पति मन को भी एक इन्द्रिय के रूप में मानता है।

३. आत्मा तथा इन्द्रियों के मध्य एक जोड़नेवाली श्रृङ्खला का होना आवश्यक है। यदि हम अन्तःकरण को स्वीकार नहीं करते तो या तो परिणाम में निरन्तर प्रत्यक्ष होगा, अथवा निरन्तर अप्रत्यक्ष होगा, पहली अवस्था जबकि आत्मा, इन्द्रियां और विषय का संयोग होगा क्योंकि ये तीनों प्रत्यक्ष के साधन हैं। और यदि इन तीनों कारणों के संयोग से कार्य सम्पन्न नहीं होता है तब निरन्तर अप्रत्यक्ष रहेगा। किन्तु यह तथ्य के विपरीत है। इसलिए हमें अन्तःकरण के अस्तित्व को स्वीकार करना होगा जिसके अवधान तथा अनवधान से प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष उत्पन्न होते हैं (शांकरभाष्य, २ : ३, ३२)।

४. देखें मनीषा पञ्चकम्। यहां पर शङ्कर सांख्य के इस मत का अनुसरण करते हैं कि बुद्धि, मनस आदि अपने-आपमें प्रकाशरहित हैं यद्यपि ये पुरुष के सान्निध्य से प्रकाशशक्ति को प्राप्त कर लेते हैं। अद्वैत में आत्मा, जो केवल आत्मज्योति है, पुरुष का स्थान ग्रहण करती है।

देनेवाली है और अन्तःकरण इसीके द्वारा प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त करता है।[1] अन्तःकरण की आकृति में परिवर्तन होता रहता है। उस परिवर्तन को जो विषय का प्रकाश करता है वृत्ति की संज्ञा दी गई है।[2] अन्तःकरण की प्रवृत्तियां अथवा आकृतियां चार प्रकार की हैं : अनिश्चय (संशय), निश्चय, गर्व (आत्मचेतना) और स्मरण। एक अन्तःकरण को तब मन कहते हैं जब यह संशय की स्थिति में होता है; उसे बुद्धि अथवा बोध ग्रहण की क्षमता कहा जाता है, जब वह निश्चयात्मक स्थिति में होता है, और अहङ्कार के नाम से पुकारा जाता है, जब वह आत्मचैतन्य की स्थिति में होता है, तथा चित्त नाम से पुकारा जाता है जब वह एकाग्रता और स्मरण की स्थिति में होता है।[3] बोध का कारण अन्तिम चैतन्य ही अकेला नहीं है किन्तु अन्तःकरण की उपाधि से युक्त चैतन्य है। यह अन्तःकरण प्रत्येक व्यक्ति में भिन्न है और इस प्रकार एक मनुष्य का बोध सब मनुष्यों का बोध नहीं होता। चूंकि अन्तःकरण एक मर्यादित वस्तुतत्त्व है यह संसार के सब पदार्थों पर लागू नहीं हो सकता। यह विविध प्रकार की परिधियों के अन्दर ही कार्य करता है जिसकी व्याख्या प्रत्येक व्यक्ति के भूतकाल के आचरण के आधार पर हो सकती है जिस व्यक्ति के साथ उस अन्तःकरण का सम्बन्ध है।[4]

१. उपदेशसाहस्री, १८ : ३३-५४। देखें, शांकरभाष्य, तैत्तिरीय उपनिषद पर, २ : १। वार्त्तिक, तैत्तिरीय उपनिषद पर, २ : १।

२. भावनाओं आदि का अनुभव करने में इसके अन्य परिवर्तितरूप होते हैं जिन्हें वृत्ति के नाम से नहीं पुकारा जाता।

३. बुद्धिरूपी पदार्थ की केवल तीन अवस्थाएं हैं जिनमें यह उत्पन्न होती है, स्थिर रहती तथा नष्ट हो जाती है, जबकि चित्त स्थिर रहता है। पूजा के दृष्टिकोण से चित्त का कार्य महत्त्वपूर्ण है जिसमें चिन्तन तथा एकाग्रता अनिवार्य है। शंकर मन तथा बुद्धि में भेद करते हैं; मन का कार्य संशय तथा बुद्धि का क्षेत्र निर्णय करने में है (२ : ३. ३२)। मन के अन्दर संकल्प, विकल्प, इन्द्रिय-प्रत्यक्ष, स्मृति, इच्छाएं तथा मनोभाव आते हैं। बुद्धि उच्चश्रेणी की शक्ति है जिसके द्वारा विचार, निर्णय, तर्क तथा आत्मचैतन्य सम्भव हो सकते हैं। जैसाकि हम देख आए हैं, सांख्य ने बुद्धि के अतिरिक्त अहंकार को भी स्वीकार किया, यद्यपि उसने चित्त को बुद्धि के अन्तर्गत मान लिया। 'परिभाषा' चारों को हमारे सम्मुख उपस्थित करती है। वेदान्त-सम्बन्धी अन्य ग्रन्थ यथा 'वेदान्तसार' और 'वेदान्त सिद्धान्तसारसंग्रह' उक्त विभागों में मन तथा चित्त को एवं बुद्धि को अहंकार के साथ एक समान मानकर समन्वय स्थापित करते हैं। परवर्ती अद्वैत मानसिक अवस्थाओं को, संवेदन, ज्ञान और संकल्प के रूप में न मानकर मानसिक क्रिया के विचार तथा प्रत्यक्ष से सम्बन्धित स्तर पर इसकी चैतन्य की समस्त विधियां; प्रेम-सम्बन्धी, ज्ञान-सम्बन्धी तथा संकल्प-संबन्धी विधियों समेत मानता है।

४. जीव अपनी तात्त्विक बुद्धि से ज्ञेय विषयों को प्रकाशित नहीं कर सकता बिना अन्तःकरण की वृत्तियों की सहायता के जैसाकि ईश्वर करता है क्योंकि जीव के साथ अविद्या का प्रतिबन्ध लगा हुआ है, किन्तु निरपेक्ष चैतन्य सब वस्तुओं के उपादान कारणरूप में उनके साथ एकात्मभाव रखता है और इसलिए उनका प्रकाश अपने सम्बन्ध में कर सकता है। जीव अपने निजी रत्नात्मक संगठन के कारण बाह्य पदार्थों के साथ सम्बद्ध नहीं है किन्तु केवल अन्तःकरण के साथ सम्बद्ध है। देखें, सिद्धान्तलेश।

१५

प्रत्यक्ष

शङ्कर ज्ञान के तीन स्रोतो का उल्लेख करते है प्रत्यक्ष, अनुमान और शास्त्रप्रमाण (आप्तोपदेश)।[1] उनके परवर्ती लेखको ने इनमे तीन और जोडे है : उपमान, अर्थापत्ति और अभाव।[2] स्मृति को यथार्थ ज्ञान मे सम्मिलित नही किया गया क्योकि विचित्रता को समस्त ज्ञान का एक लक्षण बनाया गया है।[3]

चूकि शङ्कर ने प्रत्यक्ष तथा अनुमान विषयक मनोविज्ञान के विषय मे विचार-विमर्श नही किया है, हम उनके मन के विषय मे कुछ नही कह सकते। 'वेदान्त-परिभाषा' मे दिए गए वर्णन से ही हमे सन्तोष करना पडेगा और वह स्पष्ट ही असन्तोषप्रद है। इसके अनुसार प्रत्यक्ष ज्ञान वह है जो चैतन्य पदार्थों के विषय मे बिना किसी माध्यम के और साधारणत: इन्द्रियो की क्रिया के द्वारा चैतन्य प्राप्त होता है। इन्द्रिय प्रत्यक्ष मे ज्ञाता तथा प्रत्यक्ष विषयक पदार्थ मे वास्तविक सम्पर्क होता है।[4] जब आख एक घडे पर जमती है तो अन्त:करण उसकी ओर अग्रसर होता है, उसे अपने प्रकाश से प्रकाशित करता है, उसकी आकृति धारण करता और इस प्रकार उसका बोध ग्रहण करता है। यह आन्तरिक व्यापार ऐसा समझा जाता है कि भौतिक कम्पनो को मानसिक अवस्थाओ मे परिणत कर देता है। यदि हम केवल नीले आकाश की ओर ताकते रहे तो हमे कुछ नही दिखाई देता। अन्त करण प्रकाश के समान कार्य करता है एक विस्तृत प्रकाश-किरण के रूप मे, इसकी वृत्ति बाहर की ओर गति करती है। यह वृत्ति सूर्य की किरण के समान एक निश्चित दूरी तक ही जाती है। यही कारण है कि दूरस्थ पदार्थों का प्रत्यक्ष नही होता। वृत्ति प्रमेय पदार्थ का रूप धारण करके पदार्थ के साथ एकाकार हो जाती है और इसका तादात्म्य समस्त समीपवर्ती क्षेत्र तक फैल जा सकता है। हम जो कुछ प्रत्यक्ष करते है वह वृत्ति के ऊपर निर्भर करता है। यदि वृत्ति पदार्थ के वजन की आकृति धारण करती है

१. सुरेश्वर अपने नैष्कर्म्यसिद्धि नामक ग्रन्थ में आगम प्रमाणों तथा लौकिक प्रमाणों में भेद प्रतिपादन करता है। और भी देखें, संक्षेप शारीरक, २ : ३१।

२. देखें, वेदान्तपरिभाषा।

३. अनधिगताबाधितार्थविषयज्ञानत्व प्रमात्वम् (वही, १)। यह परिभाषा उसी एक पदार्थ के 'धारावाहिक बुद्धि' के विषय में भी लागू होती है, क्योंकि उसके अन्दर प्रतिक्षण परिवर्तन होता रहता है

४. सम्पर्क छः प्रकार का माना गया है : सयोग, अथवा घडे रूप पदार्थ (विषय) तथा चक्षु इन्द्रिय का; संयुक्त तादात्म्य अथवा घडे के घटत्व का सम्पर्क; संयुक्ताभिन्न तादात्म्य, अथवा घडे के रंग का रंजितत्व के साथ सम्पर्क; तादात्म्य अथवा शब्द के साथ सम्पर्क जो कि आकाश का गुण है, और उससे भिन्न नहीं है; तादात्म्यावदभिन्न, अथवा शब्द के शब्दत्व के साथ सम्पर्क; और विशेष्य-विशेषण-भाव, अथवा सोपाधिक का उपाधि के साथ सम्पर्क। देखें, वेदान्तपरिभाषा और शिखामणि।

तो हम वज़न का प्रत्यक्ष करते है; और यदि रंग की वृत्ति है तो हमें रंग का प्रत्यक्ष होता है। धुएं से आग का अनुमान करने में वृत्ति गति करके आग के पास तक नही जाती और उसका कारण स्पष्ट है कि आग चक्षु इन्द्रिय के सम्पर्क में नहीं है, चक्षु इन्द्रिय का सम्पर्क धुएं से है। घड़े के प्रत्यक्ष ज्ञान की अवस्था में घड़े के द्वारा निर्धारित चैतनता उस घड़े पर पड़ती हुई अन्तःकरण की वृत्ति द्वारा निर्धारित चेतनता के समान हो जाती है ठीक जैसेकि एक कमरे के अन्दर रखे हुए पात्र का अन्तर्गत आकाश स्वयं कमरे के अन्तर्गत आकाश के साथ एक-समान हो जाता है। परमार्थ चैतन्य की परिमितता लानेवाली अवस्थाएं अर्थात् परिवर्तन तथा पदार्थभेद उत्पन्न नही करते क्योंकि वे दोनों एक ही स्थान में है। यह एकीकरण घड़े के बोध को स्वरूप से निरन्तर स्थायी बना देता है[1] और प्रत्यक्ष को अनुमान से स्पष्टरूप में भिन्न लक्षित कर देता है। फलितार्थ यह है कि प्रत्यक्ष में प्रस्तुत तत्त्व तथा उसकी व्याख्या मिलकर एक संयुक्त इकाई हो जाती है। किन्तु अनुमान के व्यापार में प्रस्तुत तथा अनुमित तत्त्व एक दूसरे से भिन्न रखे जाते है। अनुमान में मन केवल पदार्थ का चिन्तन करता है किन्तु बाहर उससे सम्पर्क करने नही जाता। प्रत्यक्ष स्मृति से सर्वथा भिन्न है क्योंकि स्मृति केवल भूतकाल की घटनाओं की ही होती है। इससे बढ़कर भी एक और प्रतिबन्ध का वर्णन किया गया है वह यह कि पदार्थ (विषय) और मानसिक वृत्ति अवश्य वर्तमान काल के साथ सम्बद्ध होने चाहिए।[2]

अनुमान भिन्न-भिन्न प्रकार का माना गया है। इन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष ज्ञान से वह प्रत्यक्ष ज्ञान भिन्न है जो इन्द्रियजन्य नही है। इच्छा इत्यादि का जो आन्तरिक प्रत्यक्ष है वह दूसरे प्रकार के प्रत्यक्ष की कोटि में आता है। प्रत्यक्ष की व्याख्या के लक्षण की विशेषता ज्ञानेन्द्रिय की मध्यस्थता मे नही है अपितु पदार्थ-सम्बन्धी विशिष्ट चेतनता तथा प्रमाण-सम्बन्धी चेतनता के तादात्म्य मे है।[3] जब हम सुख का और इसीके समान अन्य आन्तरिक अवस्थाओं का प्रत्यक्ष करते है तो दो मर्यादा बांधने वाली अवस्थाओ का, अर्थात् सुख तथा सुख की मानसिक वृत्ति का, एक ही स्थान में उपस्थित होना आवश्यक है। तो भी यह मान लिया गया है कि धर्म और अधर्म (पुण्य और पाप), यद्यपि ये अन्तःकरण के गुण है, प्रत्यक्ष के विषय नही है। इसके समाधान मे इससे अधिक उत्तम और कुछ नही कहा जाता कि ये प्रत्यक्ष के लिए उपयुक्त विषय नही हैं। उप-

१. जहां एक ओर गन्धग्रहण करने तथा रस लेनेवाली तथा स्पर्श गुणवाली इन्द्रियां अपने-अपने विषयों का ज्ञान अपने स्थानों को बिना छोड़े भी कराती है वहां दूसरी ओर दृष्टि तथा श्रवणविषयक इन्द्रियां अपने विषयों तक चलकर पहुंचती है। शब्द के सम्बन्ध में लहर की प्रकल्पना को समर्थन प्राप्त नही है।

२. वर्तमानत्वम्।

३. प्रमाणचैतन्यस्य विषयावच्छिन्नचैतन्याभेद इति।

युक्तता एक अनिवार्य आवश्यकता है ।[1] यह निर्देश करने के लिए कि कौन से पदार्थ उपयुक्त है और कौन-से नही, अनुभव ही हमारा एकमात्र मार्ग-प्रदर्शक है । जबकि दृश्यमान पदार्थ मानसिक वृत्ति के साथ संपृक्त है जैसेकि इस कथन में कि "तू दसवां है"[2] तो प्रत्यक्ष-सम्बन्धी बोध मौखिक कथन द्वारा होता है । "मैं मधुर चन्दन की लकडी को देखता हूं" इस प्रकार के कथन द्वारा प्रकट किया गया ज्ञान प्रत्यक्ष ज्ञान है । जहा तक चन्दन की लकड़ी का सम्बन्ध है तथा जहा तक मधुरगन्ध का सम्बन्ध है वह दृष्टि का विषय नही है, इसलिए ज्ञान का उतना अश अप्रत्यक्ष है । इसलिए प्रत्यक्ष की परिभाषा इस प्रकार की जाती है; 'यह वह अन्तिम चेतना है जो ऐसे पदार्थ से विशेष रूप मे सम्बद्ध है जो वर्तमान काल में अवस्थित है और इन्द्रियों के द्वारा प्रत्यक्ष रूप में ज्ञात होने की क्षमता भी रखती है तथा उस वृत्ति की अन्तिम चेतना मे जिसने पदार्थ की आकृति धारण की है तादात्म्य रूप धारण कर लेती है ।"[3]

सविकल्प तथा निर्विकल्प प्रत्यक्ष मे भेद है, इसे स्वीकार किया गया है । सविकल्प प्रत्यक्ष मे हमे निर्णीत वस्तु अर्थात् घडे तथा निर्णय करने वाली प्रवृत्ति घटत्व मे भेद प्रतीत होता है ।[4] निर्विकल्प ज्ञान मे निर्णायक सब गुण-दृष्टि से ओझल रहते है । 'स' और 'प' मे ऐसा कोई भेद वर्तमान नही है जैसाकि इन कथनो मे भेद है जैसे 'वह तू है', 'यह वह देवदत्त है ।' वह तू है' इस कथन मे चूकि बोधकर्ता पदार्थ है, बोधकर्ता की चेतना तथा उस वृत्ति की चेतना में, जो बोधकर्ता की आकृति मे है, कोई भेद नही है ।[5] हम इस कथन के आशय का ग्रहण इसके विभिन्न अशो के सम्बन्ध का ग्रहण किए बिना भी कर लेते है ।

१. योग्यत्व । जब अन्तःकरण तथा उसके गुणों को साक्षी के द्वारा प्रत्यक्ष का विषय कहा जाता है तब भी ज्ञाता विषयी का साहचर्य वृत्ति के साथ रहना है और यह वृत्ति अन्तःकरण तथा इसके गुणों के रूप में होती है । साक्षीरूप आत्मा के द्वारा बोधग्रहण का तात्पर्य बिना वृत्ति की बोधक्षमता नहीं है किन्तु इसका तात्पर्य केवल इन्द्रियों की सम्पर्कता का अभाव अथवा अनुमान अथवा ऐसे ही अन्य प्रमाणों का अभाव होता है । जब अन्तःकरण की वृत्ति का बोध होता है तो बोधकर्ता का दूसरी वृत्ति के साथ साहचर्य होना आवश्यक नहीं है और इसी प्रकार अनन्त समय तक, क्योंकि पहली वृत्ति अपना विषय अपने-आप बन जाती है । वृत्तेः स्वविषयत्वाभ्युपगमेन ।

२. देखो, पञ्चदशी, ७ : २३ और आगे ।

३. तत्तदिन्द्रिययोग्यवर्त्तमानविषयावच्छिन्नचैतन्याभिन्नत्वम्, तत्तदाकारवृत्त्यवच्छिन्नज्ञानस्य तत्तदंशे प्रत्यक्षत्वम । और भी देखें, विवरणप्रमेयसंग्रह, १ ; १ ।

४. घटघटत्वयोर्वैशिष्ट्यम् ।

५. यह कहा जाता है कि निर्विकल्प प्रत्यक्ष में केवल सब प्रकार के विधेयों से रहित होने का ही बोध होता है । "महासामान्यमन्ये तु सत्ताम्" (न्यायमञ्जरी, पृष्ठ ६८) । जयन्त उक्त मत की समीक्षा इस आधार पर करता है कि यदि निर्विकल्प प्रत्यक्ष हमें केवल सत् की ही प्रतीति कराता है तब सविकल्प प्रत्यक्ष में विशेष लक्षणों का प्रत्यक्ष नहीं हो सकता। इसके अतिरिक्त किसी पदार्थ के अस्तित्व का प्रत्यक्ष उसके गुणों से पृथक् नहीं किया जा सकता । न च भेद विना सत्ता ग्रहीतुमपि शक्यते (न्यायमञ्जरी, पृष्ठ ६८) ।

एक अन्य भेद बोधकर्ता के आधार पर भी किया जाता है। चाहे वह जीव-शक्ति हो, चाहे ईश्वरशक्ति हो। जबकि जीव अन्तःकरणविशिष्ट अन्तिम चैतन्य है, जीवशक्ति भी वही चेतना है, जिसमें अन्तःकरण की उपाधि लगी हुई है। अन्तःकरण जीव के सगठन में अन्तःप्रवेश करता है किन्तु जीवशक्ति का निरीक्षण करते समय यह बाहर अवस्थित होता है। पहली अवस्था में यह विशेषण है एवं पिछली अवस्था में एक उपाधि (मर्यादा) है।[1] ईश्वर तथा ईश्वर-शक्ति के सम्बन्ध में अन्तःकरण का यह स्थान माया ले लेती है। जबकि माया से विशिष्ट परम चैतन्य ईश्वर है, वही चैतन्य माया की उपाधि से ईश्वरशक्ति है। ईश्वर का साकार केन्द्र के रूप में जगत् के साथ वही सम्बन्ध है जो जीव का इस शरीर के साथ है।

भ्रान्तिमूलक प्रत्यक्ष ज्ञान का, जैसे सीप को चादी समझ लेने के प्रत्यक्ष ज्ञान का, भी अध्ययन मनोवैज्ञानिक दृष्टि से किया गया है। जब किसी प्रकार के दोष से ग्रस्त आंख का सम्पर्क किसी प्रस्तुत प्रमेय पदार्थ के साथ होता है, जैसेकि मोतियाबिन्द और तत्समान रोगों में, तो अन्तःकरण का एक परि-वर्तित रूप, इस पदार्थ तथा इसकी चमक की आकृति में उदय होता है। अविद्या[2] के बल से जिसके साथ चांदी के भूतकाल के बाध के अवशेष भी संयुक्त हो जाते है भ्रान्तिरूप चांदी देखनेवाले के आगे प्रस्तुत होती है और चादी के समान सीप की चमक से वे अवशेष पुनरुज्जीवित हो उठते है। अविद्या के परि-वर्तित रूप में चांदी पदार्थ विशेष (इदम्) की चेतना के अन्दर निवास करती है। भ्रांतिरूप चांदी का अधिष्ठान अन्तिम चैतन्य अपने-आपमें नही है अपितु उसी पदार्थ विशेष मे है। भ्रान्तिमय प्रत्यक्ष ज्ञान मे हमारे आगे दो वृत्तियां होती है, एक इदम् की और दूसरी प्रतीतिरूप चांदी की। पहला तो यथार्थ प्रत्यक्ष है और दूसरे के कारणों में से एक स्मृति है। वहा पर कुछ समय के लिए 'शुक्त्यविद्या परिणाम' के रूप मे चादी के होने की कल्पना की जाती है। वही चेतनता दोनों वृत्तियों को एकसाथ मिला देती है जिनमे से एक यथार्थ और दूसरी मिथ्या है और इस प्रकार मिथ्या ज्ञान उत्पन्न होता है। यहां तक कि भ्रांतिरूप पदार्थ भी केवल कुछ भी न हो ऐसा नही है अन्यथा भ्रान्ति ही न होती। जब हम किसी पदार्थ को भ्रांतिरूप कहते है तब हम स्वीकार कर लेते है कि यह कुछ है किन्तु इसे हम भ्रान्तियुक्त इसलिए कहते है कि संसार में

१. किसी पदार्थ का गुण उसकी पहचान करानेवाला अनिवार्य लक्षण है जैसेकि कमल मे उसकी नीलिमा। उपाधि पहचान करानेवाला लक्षण है किन्तु यह लक्षण पृथक् हो सकता है जैसेकि किसी स्फटिकमणि के समीप का लाल फूल जो उसकी उपस्थिति के कारण लाल प्रतीत होता है।

२. न्यायामृत का रचयिता प्रश्न करता है कि क्या वह अविद्या भी अनादि है जोकि जब हम रस्सी को सांप समझ लेते है उस समय अपना कार्य करती है। हमारे विशेष मिथ्या ज्ञान प्रारम्भिक अविद्या के मूर्तरूप अभिव्यक्तरूप हैं। तुलना कीजिए, मूल अथवा प्रारम्भिक अविद्या तथा 'तूल' अथवा गौण अविद्या के रूपों में।

इसका वह रूप नही है जिस रूप का कि यह दावा रखता है।[1] यद्यपि शकर के अध्यात्म ज्ञान की दृष्टि मे यथार्थ चादी भी नितान्त रूप से यथार्थ नही है अर्थात् आनुभविकरूप, यथार्थ चादी तथा प्रतीतिरूप चादी मे अन्तर है। प्रतीतिरूप चादी का प्रत्यक्ष केवल वैयक्तिक है। इस प्रतीतिरूप चादी का बोध केवल साक्षीरूप आत्मा को ही होता है[2] और सुख व दुख के समान अन्य आत्माओ के लिए इसका बोध अगोचर है।[3]

अद्वैत के अनुसार प्रत्यभिज्ञा (पहचान) एक प्रत्यक्ष सम्बन्धी प्रक्रिया है जिसमे भूतकाल के अनुभवो के अवशेषो के कारण परिवर्तन होता है। अद्वैत प्रत्यभिज्ञा के लिए न केवल पदार्थ के तादात्म्य पर ही बल देता है अपितु बोध ग्रहण करनेवाली आत्मा के तादात्म्य पर भी बल देता है।

शकर आनुभविक जगत् को, जिसकी स्थापना तर्क के द्वारा होती है, स्वप्न तथा भ्रान्तिमय जगत् से पृथक् करते है।[4] तार्किक यथार्थता की पहचान के लिए स्थान, काल, कारण और विरोधाभाव इन शर्तों की पूर्ति आवश्यक है।[5] स्वप्न के पदार्थ उक्त पहचान मे सही नही उतरते।

यदि स्वप्न-जगत् कुछ भी यथार्थता का दावा रखता है, तो उसे चाहे वह शून्य पर ही क्यो न हो बराबर स्थिर रहना चाहिए किन्तु स्वप्न के अनुभवो का विरोध न केवल जागरित अवस्था के अनुभवो से ही होता है स्वय उसी स्वप्नावस्था मे भी विरोध हो जाता है। शङ्कर इतना मानने की अनुमति देते है कि ऐसी स्वप्नावस्थाए जिनका महत्त्व भविष्यवाणीपूर्ण है, अपना अस्तित्व रखती है, यद्यपि स्वप्नगत पदार्थ अयथार्थ है। इस प्रकार जिन अर्थों मे जागरित जगत् यथार्थ है उन अर्थों मे तो स्वप्न-जगत् यथार्थ नही है।[6] स्वप्न मे देखे गए भ्रातिरूप कल्पनाजन्य पदार्थ बराबर रहते है, जब तक कि इसकी

१. इस मत के आधार पर सीप के स्थान पर चादी की उत्पत्ति उसी प्रकार से यथार्थ है जिस प्रकार अन्य किसी पदार्थ की उत्पत्ति इस संसार में है, क्योकि प्रत्येक कार्य उस अविद्या के अधिष्ठान में रहता है कि जिसमें से यह उत्पन्न होता है। नैयायिको का मत है कि प्रतीतिरूप चादी की स्थापना की कोई आवश्यकता नहीं है। अन्य स्थान पर देखी गई चादी भ्रान्तिरूप बोध का विषय है और भ्रान्ति एक अशुद्ध निर्णय की अवस्था है। अद्वैतवादी उत्तर में कहता है कि बोध का विषय, यद्यपि भ्रातिमय है फिर भी तत्काल उपस्थित है और इसलिए अन्यत्र और एक भिन्न काल में देखा गया एक चादी का टुकड़ा वर्तमान प्रत्यक्ष का विषय नहीं हो सकता। इस कठिनाई से उद्धार के लिए नैयायिक कहता है कि विषय के साथ सीधा इन्द्रियों का सम्पर्क नहीं है किन्तु केवल मध्यस्थयुक्त इन्द्रियरहित सम्पर्क (प्रत्यासत्ति) है। किन्तु यदि हम इसे स्वीकार करें तो अनुमान भी कोई स्वतन्त्रप्रमाण नहीं रहेगा। यह आपत्ति कि यदि भ्रान्तिरूप चादी सुख-दुःख की भाति ही आत्मा के ऊपर एक प्रकार के अध्यास का रूप है तब हमें अवश्य ऐसा कहना चाहिए 'मै चादी हू' ठीक जैसे हम कहते है, 'मै सुखी हू, अथवा दुःखी हूं'। इसका निराकरण इस आधार पर किया जाता है कि 'मैं' और 'चांदी' दोनों का एकसाथ अनुभव नहीं होता।

२. केवलसाक्षिवेद्य।

३. सुखादिवद् अनन्यवेद्य।

४. शाङ्करभाष्य, ३ : २, १. ३।

५. देशकालनिमित्तसम्पत्तिरबाधश्च।

६. परमार्थिकस्तु नायं संध्याश्रयः सर्गो वियदादिसर्गवत् (शाङ्करभाष्य, ३ : २४)।

पृष्ठभूमि में वर्तमान यथार्थता का अन्तर्ज्ञान उदय नहीं होता। आपत्ति की जाती है कि स्वप्न के पदार्थों को जागरित अवस्था मे अवश्य रहना चाहिए क्योंकि परमचैतन्य विषयक अन्तर्ज्ञान जो एकमात्र यथार्थसत्ता है जागरित अवस्था के अनुभव में उत्पन्न नही होता। अद्वैतवादी बाधा और निवृत्ति में भेद करता है। 'बाधा' में कार्य अपने उपादान कारण के सहित नष्ट हो जाता है; किन्तु निवृत्ति में कारण वर्तमान रहता है यद्यपि कार्य का अस्तित्व लोप हो जाता है। केवल यथार्थता का अन्तर्ज्ञान ही अविद्या का नाश कर सकता है क्योंकि अविद्या ही प्रतीतिरूप जगत् का उपादान कारण है। जब कभी एक नई मानसिक वृत्ति का उदय होता है अथवा कोई मौलिक दोप विलुप्त होता है तो निवृत्ति होती है। स्वप्न के पदार्थों का जागने पर तिरोभाव हो जाता है इसलिए नही कि यथार्थता का अन्तर्ज्ञान नही हुआ किन्तु इसलिए कि अन्य वृत्तिया उदय होती है तथा स्वप्नावस्था के दोप विलुप्त हो जाते है। सीप का ज्ञान होने पर चादीविषयक भ्राति अपने-आप दूर हो जाती है। स्वप्नावस्था की चेतनता स्मृति का एक रूप है और इसलिए प्रत्यक्ष ज्ञान की अवस्थाओं से तात्त्विक रूप मे भिन्न है।[1]

अद्वैत वेदान्त की प्रत्यक्ष ज्ञान-सम्बन्धी प्रकल्पना वैज्ञानिक पक्ष मे एक प्रकार से अपरिष्कृत है यद्यपि इसका आध्यात्मिक अन्तर्ज्ञान का पक्ष अत्यन्त महत्त्व का है। अन्तःकरण तथा इसके उन परिवर्तनों-सम्बन्धी समस्त समस्या, जो पदार्थो की आकृति धारण करते है, का प्रतिपादन एक कट्टरता के रूप मे किया जाता है। इसमें स्थान तथा आकृतियो के महत्त्व का कोई उल्लेख नही है जो इन्द्रियजन्य सामग्री समेत उक्त

१. शाङ्करभाष्य, २ : २, २९। परवर्ती टीकाकारों का मत है कि यहां शङ्कर अन्य सम्प्रदाय के मत का उल्लेख करते है (शाङ्करभाष्य १ : १, ४)। और भी देखें, ३ : २, १-१०। शङ्कर का विश्वास है कि स्वप्न भी व्यक्ति के भूतपूर्व पुण्य व पाप के कारण प्रसन्नता तथा भय को उत्तेजना देते हैं (शाङ्करभाष्य, २ : ३, १८)। स्वप्नावस्था के अनुभव के आधार के विषय में कभी-कभी यह कहा जाता है कि विशुद्ध सार्वभौम चैतन्य (अनवच्छिन्न चेतन्य) स्वप्नों का आधार है किन्तु इस मत के अनुसार अहंकार से युक्त चैतन्य के बाहर भी स्वप्नो का आना आवश्यक है किन्तु यह स्वीकार नही किया जा सकता। साक्षीरूप आत्मा केवल ऐसी ही घटनाओ का प्रकाश कर सकती है जिनके साथ यह सहअस्तित्व रखती हो। दूसरी ओर यदि स्वप्नों का आधार अहंकार द्वारा प्रतिबंधित चैतन्य है (अहंकाराद्यवच्छिन्न चैतन्य) तब स्वप्नद्रष्टा को अपने साथ एकात्म्यभाव से अथवा उनके अन्दर निवास करते हुए स्वप्न दीखने चाहिए। प्रस्तावित अधिष्ठान तथा स्वप्न का प्रत्यक्ष एकसमान सम्बन्ध में रहने चाहिए (तादात्म्य-सम्बन्ध) अथवा स्थान विशेप तथा उसमें स्थित वस्तु का सम्बन्ध (आधाराधेय सम्बन्ध) हो। तब स्वप्न के प्रत्यक्ष का रूप ऐसा होना चाहिए 'मै एक हाथी हूं' 'अथवा मेरे पास हाथी है' किन्तु स्वप्नद्रष्टा देखता है कि वह पहाड़ के ऊपर एक हाथी को देख रहा है और यह कि उक्त हाथी उससे अथवा अन्य किसीसे भी भिन्न है। तो भी जब तक पीछे के मत को स्वीकार नहीं किया जाता तब तक स्वप्नों की विविधता की व्याख्या नही हो सकती। क्योकि सार्वभौम चैतन्य समस्त जीवात्माओं के लिए सामान्य है और यदि यह स्वप्नो का आधार होता तब सब जीवात्माओं के स्वप्न एक समान होते।

विचार को बनाते है। मौलिक चैतन्य एक द्वैतभाव नही है किन्तु चैतन्य का एक पुञ्ज है और समस्त ज्ञान इसीके अन्दर पृथक् भाव से उत्पन्न होता है। प्रत्यक्ष-सम्बन्धी इस प्रकल्पना का शङ्कर की प्रकल्पना के समान गुण यह है कि यह चैतन्य की केवल भौतिक परिवर्तन मानने की असम्भाव्यता को स्पष्टरूप मे अङ्गीकार कर लेती है। चैतन्य को अवश्य ही आदिम तथ्य मानना चाहिए, जिसकी व्याख्या अचेतन घटको की परिभाषा मे नही हो सकती। जब अद्वैत यह कहता है कि तत्काल प्रत्यक्ष का विषयरूपी पदार्थ ज्ञाता से पृथक् अपना कोई अस्तित्व नही रखता तो इसका तात्पर्य केवल यही होता है कि वह अधिष्ठान जो पदार्थ को धारण करके रखता हे ज्ञाता के अधिष्ठान से भिन्न नही है।[1] चूंकि समस्त दृष्ट पदार्थों का व्यक्तित्व होना आवश्यक है इसलिए नित्य चैतन्य और केवल अभाव प्रत्यक्ष के विषय नही है।

१६

अनुमान

अनुमान की उत्पत्ति व्याप्ति-ज्ञान के द्वारा होती है जोकि इसका निमित्त कारण है। "जब इस प्रकार का ज्ञान होता है कि व्याप्य पद के अन्दर गुण उपस्थित हे जैसे 'पर्वत धुए वाला है' इस वाक्य मे है, और पूर्व प्रत्यक्ष ज्ञान की मानसिक प्रभाव की जागृति भी है इस रूप मे कि 'धुआ बराबर अनिवार्य रूप से आग के साथ रहता है' तब परिणामस्वरूप इस अनुमान की उत्पत्ति होती है कि 'पर्वत पर आग हे'।" व्याप्ति की परिभाषा यह है कि यह हेतु तथा साध्य के मध्य निरन्तर साहचर्यरूप से रहनेवाला सम्पर्क ह जो हेतु के समस्त आधारो अर्थात् पक्षपद (लघुपद) मे विद्यमान रहता हे। इसकी प्राप्ति साध्य पद और हतु के साहचर्य के पाए जान तथा इनके पार्थक्य के कभी न पाए जाने से होती है।[2] निश्चित दृष्टान्त हमे व्याप्ति की ओर ले जाते हैं और इस व्याप्ति का समर्थन अभावात्मक साक्षी के द्वारा होता है। अद्वैत सिद्धान्त के अनुसार यथार्थ अर्थो मे अनुमान का आधार एक ऐसा साहचर्य है जिसका प्रकाश इस प्रकार के निश्चयात्मक कथन के द्वारा होता है, जैसे इस कथन मे कि 'जहा-जहा धुआ होता है वहा-वहा आग भी होती है।' साहचर्य के ज्ञान का एक कथन अभावात्मक व्याप्ति मे, जैसे 'जहा कही आग नही होती वहा धुआ भी नही रहता', हम अर्थापत्ति अथवा सकेतात्मक तर्क की ओर ले जाता है। वस्तुत: केवल अभाव नाम की कोई वस्तु नही है और सब निश्चयात्मक वस्तुओ मे कुछ न कुछ अभावात्मक अश विद्यमान रहता है। नितान्त निश्चयात्मक सम्बन्धो को (केवलान्वयी) जहा पर कि हेतु (मध्यम-पद) तथा साध्यपक्षपद अनिवार्य रूप से प्रत्येक पक्षपद मे एक साथ पाए जाते

१. प्रमातृसत्तातिरिक्तसत्ताकत्वाभावः।

२. वेदान्तपरिभाषा, २। सा च व्यभिचाराज्ञाने सति सहचारदर्शनेन गृह्यते।

हैं और कभी भी अनुपस्थित नहीं पाए जाते, जैसे इस कथन में कि 'चूंकि यह जाना जा सकता है इसलिए इसे नाम भी दिया जा सकता है' कभी साध्यपक्ष नहीं स्वीकार किया जाता क्योंकि उनके विषय में विपक्षी दृष्टान्तों का अभाव है। इसके अतिरिक्त चूकि प्रत्येक गुण अपने अभाव के विपरीत पदार्थ है और सब अभाव ब्रह्म की परम यथार्थसत्ता के अन्दर निहित है, जो ब्रह्म गुणों से सर्वथा रहित है, इसलिए ऐसा कोई केवल निश्चयात्मक गुण ब्रह्म के विषय में हो ही नहीं सकता। और चूंकि ब्रह्म समस्त भेदों का निरन्तर रहनेवाला आधार है इसलिए सब वस्तुओं के अभाव का भी अस्तित्व है। बारवरा तर्क रूप के यथार्थ स्वरूप को प्रकट करता है। अद्वैत स्वीकार करता है कि स्वार्थ के लिए जो अनुमान किया जाता है उसमें और परार्थ के लिए किए गए अनुमान में परस्पर भेद है। परार्थ अनुमान मे तीन अवयव होते हैं अर्थात् साध्यपक्ष, हेतु और दृष्टान्त, अथवा दृष्टान्त, उसका विनियोग और निर्णय।

१७

शास्त्रप्रमाण

अद्वैनवादी आगम अथवा शास्त्रप्रमाण को स्वतन्त्र रूप में ज्ञान का साधन मानते है। कोई भी कथन उसके द्वारा उपलक्षित अर्थों में निर्दोष प्रमाण है, यदि किसी अन्य प्रमाण के द्वारा वह असत्य सिद्ध न कर दिया जाए।[1]

शंकर शब्दों के स्फोट-सम्बन्धी सिद्धान्त की समीक्षा करते हैं और उपवर्ष के साथ सहमत होकर कहते हैं कि अक्षर ही शब्द हैं। ये अक्षर नष्ट नही होते "क्योंकि प्रत्येक बार जब-जब उन्हें नये सिरे से प्रकट किया जाता है तो ये वही अक्षर हैं इस प्रकार उनको पहचान लिया जाता है।"[2] शब्द जाति अथवा आकृति का बोध कराते है व्यक्तियों का नहीं, क्योंकि वे संख्या में अनेक हैं। चूंकि व्यक्तियों की ही उत्पत्ति तथा विनाश होते है वर्गों (जातियों) की नही, शब्दों तथा उनसे जिन वर्गों का बोध होता है उन वर्गों के मध्य जो सम्बन्ध है उसे अपेक्षाकृत नित्य कहा गया है। एक शब्द का अर्थ दो प्रकार का होता है - साक्षात् (शक्य) और उपलक्षित (लक्ष्य)। जातिगत व्याप्तियों को शंकर

१. यस्य वाक्यस्य तात्पर्यविषयीभूत संसर्गो मानान्तरेण न बाध्यते तद वाक्यं प्रमाणम्।

२. वे अक्षर जिनसे मिलकर एक शब्द बनता है और जिनमें एक व्यवस्था तथा संख्या सहायक रूप में रहती हैं, परम्परागत व्यवहार के द्वारा एक निश्चित सम्बन्ध के साथ विशेष अर्थ में प्रविष्ट कर जाते हैं। जिस समय में उनका प्रयोग होता है वे अपने को बोधग्रहण के लिए उक्त रूप में प्रस्तुत करते हैं तथा वह बोधग्रहण क्रमपूर्वक अनेक अक्षरों का बोध करके अन्त में समस्त पुञ्ज का ज्ञान प्राप्त करता है और वे इस प्रकार बिना किसी भूल के उनके निश्चित अर्थबोध की सूचना देते हैं (शांकरभाष्य, १ : ३, २८)।

ने स्वीकार किया है और उन्हे अजन्मा बताया है किन्तु व्यक्ति उत्पन्न होते है ।[1] जो कुछ हमे दिखाई देता है और अनुभव होता है उस सबकी तह मे तथा पृष्ठभूमि मे सार्वभौम (व्याप्ति के) सिद्धान्त रहते है । वे इस लोक के पदार्थों के परलोकगत आदिमरूप है । वे ऐसे आदर्शरूप नमूने है जिनके अनुरूप ईश्वर इस विश्व की रचना के लिए ढाचे गढता है ।

वेद नित्य ज्ञान है और सृष्टि के समस्त जीवो के लिए त्रिकालाबाधित नियमो का भण्डार है । वेद अपौरुषेय (अर्थात् मनुष्य की शक्ति से परे) है और वे ईश्वर के विचारो को प्रकट करते है ।[2] वेदार्थ तो अवश्य नित्य है किन्तु स्वय उसके मन्त्र नित्य नही है क्योकि ईश्वर प्रत्येक सृष्टि के आरम्भ मे फिर से उनका उच्चारण करता है । अद्वैतवादी यह स्वीकार करता है कि वेद अक्षरो, शब्दो तथा वाक्यो के सग्रह है और उनके अस्तित्व का प्रारम्भ सृष्टि से प्रारम्भ होता हे और उनका विलोप प्रलय के साथ ही हो जाता है, उसी प्रकार जिस प्रकार कि आकाश तथा अन्य तत्त्व उदय होते और नष्ट होते है । "ससार के क्रम मे बार-बार निरन्तर विघ्न पडने पर भी अनादि ससार के अन्दर एक सारभूत नित्यत्व है ।"[3] कहा जाता है कि वेदो मे विश्व के आदर्शरूप का विधान है और चूकि ससार प्रवाहरूप से नित्य हे वेद भी नित्य हे । इसके अतिरिक्त क्रमागत ससारो की एक नित्य आकृति होने के कारण वेदो की प्रामाणिकता मे किसी भी सृष्टियुग मे कोई अन्तर नही आता । जिन अर्थों मे परम यथार्थसत्ता नित्य है, मूल

१. अवाचीन अद्वैतवादी सार्वभौम व्याप्तियो के अस्तित्व को स्वीकार नहीं करते क्योंकि उनका ज्ञान न तो प्रत्यक्ष के द्वारा और न ही अनुमान के द्वारा होता है । भिन्न-भिन्न व्यक्तियो में एक ही समान आकृति का दिखाई देना व्याप्तियो के अस्तित्व का प्रमाण नहीं है । (न तावद् गोः गौरिति अभिन्नाकारग्राहिप्रत्यक्ष जातौ प्रमाणम्) । भिन्न-भिन्न दृष्टान्तो मे गौ का ज्ञान गोजाति की सत्ता का सकेत नहीं करता, क्योंकि भिन्न-भिन्न पात्रो मे चन्द्रमा का ज्ञान जिनमे इसका प्रतिबिम्ब पडता है यह सिद्ध नहीं करता कि चन्द्रमा की कोई सार्वभौम जाति है । यह कथन करना भी कि हम प्रत्येक गौ के अन्दर उसी एक गौ के स्वरूप का ज्ञान प्राप्त करते है सत्य नहीं है । और यदि यह सत्य भी हो तो भी इसका तात्पर्य यही है कि कुछ सामान्य गुण हैं किन्तु यथार्थवादी के अर्थो में वे सार्वभौम जातिगत गुण नही हैं । किसी एक गौ के ज्ञान में जातिगत व्याप्ति के सारतत्त्व नहीं मिलते । हम उन्ही अवयवो की एक समान संख्या अथवा व्यवस्था को देखते है जो जातिगत तत्त्व में नहीं है । देखे, तत्त्वदीपिका, पृष्ठ ३०३ । जातिगत व्याप्तियों की यथार्थता के विरुद्ध कि बौद्ध मतावलम्बियों द्वारा दिए गए हेतुओ की 'चित्सुखी' में पुनरुक्ति की गई ।

२. शाकरभाष्य, १ : १, ३ । तुलना कीजिए, प्लेटो . "ईश्वर का चित्त ही विश्व की विवेकपूर्ण व्यवस्था है" (७१३, ई० जावेट का पाठ) ।

३. 'ड्यूसन्स् सिस्टम आफ दि वेदान्त', अग्रेजी अनुवाद, पृष्ठ ७० ।

४. "वह महान् सत्ता जिसने, श्रुति के अनुसार (बृहदारण्यक उपनिषद् , २ : ४, १०) एक लीला के रूप में बिना किसी परिश्रम के, मनुष्य के निःश्वास की भांति, ऋग्वेद तथा अन्य वेदों का आविर्भाव किया, जो समस्त ज्ञान की निधि हैं ; और वही सत्ता देवता, पशुजगत् , मनुष्य, वर्ण तथा जीवन-सम्बन्धी आश्रमों इत्यादि के विभाग का कारण है ऐसी सत्ता को अवश्य ही सर्वज्ञ तथा सर्वशक्तिमान् होना चाहिए" (शाकरभाष्य, १ : १, ३)।

आदर्शरूप आकृतियां उन अर्थों में नित्य नहीं है चूंकि वे सब अविद्या से उत्पन्न हैं। शब्द से संसार की उत्पत्ति का तात्पर्य यह नहीं है कि शब्द संसार का ब्रह्म के समान उपादान कारण है। शंकर कहते है, "यद्यपि सदा रहनेवाले शब्दों का अस्तित्व है जिनका सारतत्त्व उनके अपने नित्य स्थायी महत्त्वों (अर्थात् वे आकृतियां जिनका बोध उनसे होता है) से सम्बद्ध बोध कराने की क्षमता है, ऐसे व्यक्तिरूप पदार्थों को जिनके ऊपर वे शब्द लागू हो सकते है उक्त शब्दों से निर्मित कहा जाता है।"[1] ईश्वर, जिसे नित्यरूप से बुद्धि-स्वातन्त्र्य प्राप्त है और संकल्प शक्ति भी स्वतन्त्ररूप से उसमें है, इन शब्दों को स्मरण रखता तथा प्रत्येक सृष्टियुग मे इन्हें व्यक्त करता है। उन शब्दों को वास्तविक रूप में प्रकट करना ही सृष्टिरचना है अथवा विषयनिष्ठ कारण है, जो त्रिकालाबाधित है। शंकर ने वेदों की प्रामाणिकता को न्याय और मीमांसा के विचारकों द्वारा दी गई युक्तियों से भिन्न युक्तियों के आधार पर सिद्ध किया है। वेद नित्य है और स्वतःप्रकाश है क्योंकि वे ईश्वर के स्वरूप का प्रकाश करते है, जिसके विचार उनके अन्दर दिए गए है। उनकी प्रामाणिकता स्वतः सिद्ध तथा साक्षात् है वैसे ही जैसेकि सूर्य का प्रकाश हमारे आकृति-सम्बन्धी ज्ञान का साक्षात् साधन है।[2]

स्मृति अथवा परम्परा का प्रामाण्य निरपेक्ष नही है। इसे तभी स्वीकार किया जाता है जबकि यह श्रुति के अनुकूल हो,[3] क्योंकि श्रुति ही हमें ऐसा ज्ञान प्रदान करती है जो इन्द्रियों अथवा विचारशक्ति के द्वारा प्राप्त नही हो सकता।[4] प्रकृति तथा उसके गुणों से सम्बन्ध रखनेवाले विज्ञान का श्रुति भी उल्लंघन नही कर सकती।[5] किन्तु धर्म और अधर्म-सम्बन्धी विषयों पर श्रुति एकमात्र प्रमाण है। यथार्थसत्ता को जानने के लिए अनुमान तथा अन्तर्दृष्टि का भी प्रयोग किया जा सकता है।[6]

१८

विषयिविज्ञानवाद का निराकरण

शंकर द्वारा किए गए यथार्थसत्ता के चित्रण मे से इस बाह्यजगत् के अपेक्षाकृत टिकाऊ ढांचे को निकाल नही दिया गया है। वे यह नही मानते कि एक कुर्सी या टेबल का प्रत्यक्ष ज्ञान एक मानसिक अवस्था का प्रत्यक्ष ज्ञान है क्योंकि इसका तात्पर्य होगा कि हम सब प्रकार की साक्षी से दूर भागते है और इस भौतिक विश्व को एक अमूर्त स्वप्न के रूप मे परिणत कर डालते है। 'हम अपने ज्ञान से बाह्य पदार्थो के अस्तित्व को मानने (उपलब्धि) के लिए विवश हैं, क्योकि कोई भी मनुष्य एक खम्भे अथवा दीवार को केवल ज्ञान का एक रूप नहीं मानता किन्तु उसी खम्भे अथवा दीवार को जानने योग्य पदार्थ अवश्य मानता है। और प्रत्येक व्यक्ति ऐसा जानता है कि यह इस तथ्य से भी

१. शांकरभाष्य, १ : ३, २८।
२. वेदस्य हि निरपेक्षं स्वार्थे प्रामाण्यम् रवेरिव रूपविषये।
३. शांकरभाष्य, २ : १, १। ४. भगवद्गीता पर शांकरभाष्य, ३ : ६६।
५. शांकरभाष्य, १ : १, ४; १ : ३, ७। ६. शांकरभाष्य, १ : १, २।

स्पष्ट होता है कि वे व्यक्ति जो बाह्य पदार्थों का निषेध करते है वे ही ऐसा भी कहते है कि अन्दर मे जिस आकृति का ज्ञान हुआ, ऐसा प्रतीत होता है कि, वही बाहर है। 'ज्ञान तथा ज्ञान का विषय एक-दूसरे से भिन्न है।' ज्ञान की विविधता का निर्णय पदार्थों की विविधता से होता है। हम पदार्थों का प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त करते है, किन्तु केवल आभासमात्र का चिन्तन नही करते। प्रत्यक्ष-सम्बन्धी मानसिक क्रिया दृश्य पदार्थ की व्याख्या नही है किन्तु पदार्थ का स्वरूप मानसिक क्रिया का कारण है। किसी वस्तु की वैयक्तिक चेतना की उपस्थितिमात्र वस्तु का सब कुछ नही है। यहा तक कि जब हम पीडा का अनुभव करते है तो यह केवलमात्र मानसिक प्रवृत्ति नही है। इसकी भी वैसी ही पदार्थनिष्ठ सत्ता है जैसी कि चेतनता के अन्य किसी विषय की है। हम वस्तुओं को प्रत्यक्ष देखते है जिस रूप मे वे है और वे जैसी है वैसी प्रतीत होती है। अध्यात्म विज्ञान की दृष्टि से भी, जैसाकि हम देखेंगे, शकर पदार्थ की स्थापना करने के लिए विवश है क्योकि चैतन्य केवलमात्र जानना और अभिज्ञता है। इसके अन्दर विषयवस्तु अथवा अवस्थाए नही है। यह विशुद्ध लक्षणरहित पारदर्शक है। रग, प्रचुरता, गति तथा हलचल सब कुछ पदार्थ ही की अवस्था मे सम्भव है। चूकि चैतन्य के पदार्थो मे परस्पर भेद है इसीलिए हम इन्द्रियो द्वारा अनुभव करने, प्रत्यक्ष करने, स्मरण करने, कल्पना करने, चिन्तन करने, निर्णय करने, तर्क करने एव विश्वास करने मे भेद करते है। विशुद्ध चैतन्य न देता है न लेता है। भ्रातियुक्त प्रत्यक्ष का भी कुछ न कुछ विषय (ज्ञातव्य पदार्थ) रहता है। इसीलिए शकर की दृष्टि मे ब्रैडले के समान नितान्त सत्य नाम की कोई वस्तु नही है और न नितान्त भ्रातिया ही है।[1] भेद केवल इतना है कि जहा यथार्थ विचार हमारी आवश्यकताओ के अनुकूल होते है और हमारे यथार्थता-सम्बन्धी क्रमबद्धपूर्ण इकाई के विचार मे ठीक बैठ जाते है मिथ्या विचार अनुकूल नही बैठते। जिस जगत् को हम देखते, स्पर्श करके अनुभव करते, स्वाद लेते और छूते है वह ऐसा ही तात्त्विक है जैसा तात्त्विक कि मनुष्य का अस्तित्व है जो देखता, अनुभव करता, स्वाद लेता, और स्पर्शानुभव करता है।[2] एक पक्ष में अपने वर्ग विभागो समेत चित्त और दूसरे पक्ष मे यह जगत्, जिसका यह उक्त वर्गों द्वारा निर्माण करता है, एक समान ही तात्त्विक है। विषयी तथा विषय के अन्दर जो सहसम्बन्ध (सापेक्षता) है और जो समस्त आदर्शवाद का केन्द्रीय सत्य है उसे शकर ने स्वीकार किया है, जिसने मनोवाद तथा यथार्थवाद दोनो ही का निराकरण किया है क्योकि दोनो ही आनुभविक तथ्यो की व्याख्या करने के लिए अपर्याप्त है। शकर विषयिनिष्ठ आदर्शवाद से ही अपनी

१. "अधिकतर व्याख्या की अवस्था में अतिरिक्त समस्त सत्य तथा मिथ्या ज्ञान मेरे मत में सापेक्ष कहे जा सकते है और अन्त में उनके अन्दर भेद केवल वर्ग-सम्बन्धी है" ('ट्रूथ एण्ड रियलिटी,' पृष्ठ २५२)। बौद्धमत के विषयिविज्ञानवाद की शकर के द्वारा की गई समीक्षा के लिए देखें, 'भारतीय दर्शन', प्रथम खण्ड, पृष्ठ ६३२–६३४।

२. प्रश्नोपनिषद् पर भाष्य करते हुए शकर कहते है, "कोई पदार्थ है ऐसा नहीं कह सकते किन्तु वह जाना नहीं जा सकता। यह इसी प्रकार का कहना होगा कि एक दृश्य पदार्थ देखा गया है किन्तु आंख नहीं है। यदि ज्ञान नही तो ज्ञातव्य पदार्थ भी नही" (६ : २)।

स्थिति को भिन्न नहीं बतलाते बल्कि वे जागरित तथा स्वप्न की अवस्थाओं मे भी भेद करते है। स्वप्न के अनुभवों का जागरित अवस्था के अनुभवों के साथ जहां विरोध होता है वहां जागरित अवस्था के अनुभव अन्य किसी अवस्था में मिथ्या सिद्ध नही होते (अर्थात् आनुभविक अवस्था में)।[1]

शङ्कर इस मत का तो खण्डन करते है कि संसार की वस्तुए हमारी ही कल्पना से उत्पन्न छायामात्र है किन्तु एक आध्यात्मिक ज्ञान विषयक आदर्शवाद का समर्थन करते है, इस अर्थ में कि प्रमेय पदार्थ भी आत्मा के रूप है (विषयचैतन्य)। ज्ञान के वस्तु विषयों को अन्ततोगत्वा केवलमात्र प्रकृति अथवा गति या शक्ति का ही रूप तो नही माना जा सकता क्योंकि यह सब अपने-आपमे विचार के सामान्य प्रत्यय हैं। प्रमेय पदार्थ अपने लिए कोई अस्तित्व नही रखते और यदि वे मेरे अथवा तुम्हारे चैतन्य के वस्तु-विषय नही हे तो वे दैवीय चैतन्य के वस्तुविषय है।[2] दैवीय चैतन्य की दृष्टि में ससार की पद्धतिया विद्यमान है जो वस्तुविषयों तथा आत्माओं से भरपूर है और वे अपने वस्तुविषयो से अभिज्ञ है। एक शाश्वत दैवीय प्रत्यक्षद्रष्टा के कारण संसार की व्यवस्था बनी रहती है। परिमित शक्तिवाली आत्माओ तथा प्रमेय पदार्थों से वह श्रेष्ठ है क्योंकि उसका वस्तुविषय अनन्त है और वह अपने-आपमे परिपूर्ण है। वह सार्वभौम आत्मा है जो सृष्टि की रचयिता और विश्वमात्र के वस्तुविषयों मे अभिज्ञ है। जिस प्रकार हम अपने निजी विषयवस्तु की व्यवस्था करते है उसी प्रकार ईश्वर संसार की पद्धतियो की व्यवस्था करता है। यह विस्तृत जगत् और दैवीय चैतन्य जिसके लिए यह अवस्थित है दोनो अधीन केन्द्रो मे संकुचित हो जाते है जो केवल आंशिक रूप मे ही स्वतन्त्र है। समस्त विषयवस्तुओ का आधार दैवीय चैतन्य है और यदि इसे प्रगाढ रूप मे जाना जा सकता तो यह वास्तविक चैतन्य का अपार समुद्र होता। जब जीवात्मा प्रबुद्ध होता है तो वह उन सब सकुचित उपाधियों को तोड़ डालता है जो उसकी दृष्टि को सीमाबद्ध करती है, तब वह अनुभव करता है कि समस्त ससार बाहर और भीतर आत्मा से परिपूर्ण है उसी प्रकार जिस प्रकार कि समुद्र का जल नमक मे भरा हुआ है। वस्तुतः विश्व की कुल विषयवस्तुएं अपने स्वरूप मे आध्यात्मिक है।[3] इस प्रकार आत्मा परमतथ्य है जो ज्ञान प्राप्त करने वाले विषयी तथा ज्ञातविषय दोनो से अतीत है। और वही परम यथार्थ सत्ता है जिसके अतिरिक्त और किसीका अस्तित्व नही है। किन्तु जब एक बार हमारे सम्मुख विषयि-विषय की प्रतिद्वन्द्विता आ जाती है तो आत्मा सर्वोपरि विषयी के रूप मे

१. नैवं जागरितोपलब्धं वस्तु स्तम्भादिकं कस्यांचिदपि अवस्थायां बाध्यते (शाङ्करभाष्य, २ : २, २९)।

२. यहां तक कि बर्कले भी, जिसे विपर्ययविज्ञानवादी होने का दोषी कहा जाता है, एक ऐसे ईश्वर के अस्तित्व की कल्पना करता है जो विश्व की समस्त क्रियाप्रणाली का प्रत्यक्ष ज्ञान करता है और इस प्रकार उन सब विचारों के लिए एक निश्चित स्थान बना देता है जिन्हें अन्यान्य विचारकों के मस्तिष्क में स्थान नहीं मिला।

३. शाङ्करभाष्य, तैत्तिरीय उपनिषद् पर, २ : १।

प्रकट होती है, जिसकी दृष्टि मे अन्य सब कुछ जिसका अस्तित्व विषय है और हम सब उसके अधीनस्थ विषयी है जिनके लिए ज्ञेय पदार्थों से युक्त ससार के कुछ अश ही दिए गए है। शङ्कर के सिद्धान्त पर प्रहार करने का यह असफल उपाय है कि आत्मा ही सब कुछ है और यह कि भौतिक तथ्य तथा मानसिक आकृतिया हमारे लिए किसी अर्थ की नही है। वे इनका निराकरण नही करते। एक पारमार्थिक अध्यात्म-ज्ञान-सम्बन्धी समस्या का समाधान आनुभविक तथ्यो के द्वारा नही हो सकता।

शङ्कर का सत्यविषयक सिद्धान्त वस्तुत[1] आमूलपरिवर्तित आदर्शवाद है। तर्कसिद्ध सत्य मनोवैज्ञानिक प्रक्रियाओ के ऊपर आश्रित नही है। मीमासको के विरोध मे शङ्कर का तर्क है कि जहा सत्य के आदर्श का अन्वेषण अथवा मनोवैज्ञानिक मूल्याङ्कन की प्रक्रिया व्यक्ति[2] के अपने स्वतन्त्र चुनाव के ऊपर निर्भर कर सकती है मूल्याङ्कन का विषय इन सबसे स्वतन्त्र है।[3] हम सत्य के अन्वेषण की क्रिया मे संलग्न हो सकते है या नही भी हो सकते है। यह हमारी इच्छा है, किन्तु यदि हम सत्यान्वेषण के कार्य को लेते है तो सत्य के स्वरूप को हमे मानना ही होगा। ज्ञान की कभी रचना अथवा उत्पत्ति नही होती किन्तु सदा उसकी अभिव्यक्ति अथवा प्रकाश होता है। यह अभिव्यक्ति तो एक ऐहलौकिक प्रक्रिया हो सकती है किन्तु जिसकी अभिव्यक्ति होती है वह कालातीत है। ज्ञान का कोई इतिहास नही है किन्तु हमारे मानसिक जीवन का इतिहास है। प्रत्यक्ष और अनुमान ज्ञान के प्रकाश के, आनुभविक जीवन की परिस्थियो के अन्दर रहकर वाहकरूप साधन है।

१९

सत्य की कसौटी

अद्वैतमत मे मानसिकवृत्ति का कोई विषय अवश्य होना चाहिए। वह विषय चाहे स्वय वृत्ति हो या अन्य कुछ। यह बाह्य विषय का बोधग्रहण कर सकती है, जबकि यह विषय के रूप मे परिवर्तित हो जाए, अथवा यह अपना ही बोधग्रहण कर सकती है।[4] बोध का बोध नाम की कोई वस्तु नही है क्योकि समस्त प्रकार के बोध स्वतः प्रकाशित होते है। बोध ग्रहण की प्रक्रिया तथा उसके बोध की मध्यवर्ती कोई अन्य मानसिकवृत्ति नही होती। बोधग्रहण की चेतनता बिना किसी व्यवधान के साक्षात् तथा तात्कालिक होती है। एक मानसिक वृत्ति के बोधग्रहण मे अव्यवहित बौद्धिक अन्तर्ज्ञान होता है।[5] बोधो को स्वप्रकाश कहा जाता है, जिसका तात्पर्य यह है कि वे अपने बोध के विषय स्वय है।[6] ज्ञान अव्यवहित प्रत्यक्ष के रूप मे यथार्थ है और

१. पुरुषचित्तव्यापाराधीना। शाङ्करभाष्य, १ : १ ४।

२. न वस्तुयाथात्म्यज्ञानं पुरुषबुद्ध्यपेक्षम। ३. शाङ्करभाष्य, १ : १, ४।

४ स्वविषयवृत्ति। ५ केवल साक्षिवेद्यत्व।

६. भाट्ट के इस सिद्धान्त को त्रुटियुक्त माना गया है कि ऐसा बोध जिसका अपना प्रत्यक्ष नहीं हुआ है किसी विषय को ग्रहण कर सकता है। और न ही कोई बोध किसी अन्य बोध का विषय

यह उसी साधन के द्वारा प्राप्त होता है जिससे इसका ज्ञान होता है। समस्त ज्ञान सत्य ज्ञान है।

जो मिथ्या है उसके विषय मे हम विचार नही कर सकते। यदि हम विचार कर सके तो सत्य की प्राप्ति ही असम्भव हो जाएगी, क्योकि सत्य के जिस किसी भी मानदण्ड को हम अगीकार करे वह स्वय विचार के अपने अन्दर की त्रुटि को पूरा करने मे असमर्थ रहेगा, क्योकि उक्त मानदण्ड का बोध स्वय भी विचार की ही एक क्रिया होगी और इस प्रकार उसमे भी विचार की स्वाभाविक अनिश्चितता रूप दोष रहेगा। इसलिए हमे यहा स्वीकार कर लेना पडेगा कि ऐसा कोई विचार नही है जो सत्य न हो और भ्रान्ति केवल ऐसा अभाव है जिसके कारण मनुष्यो की वासनाए तथा निहित स्वार्थ है जो बुद्धि को आच्छन्न कर लेते हैं। यहा तक कि श्रुति की स्वीकृति भी सत्य के व्यक्तिगत तथा आन्तरिक रूप को नही बदल सकती क्योकि श्रुति एक विशेष प्रकार के अनुभव का ही उल्लेख करती है जिसे कार्य-निर्वाहक रूप मे सत्य करके माना जा सकता है।

जहा एक ओर समस्त ज्ञान अपनी यथार्थता का स्वतन्त्र साक्षी है, वहा इसका यह स्वप्रकाश स्वभाव हमारे अपने मनोवैज्ञानिक पक्षपातो के कारण छिपा रहता है और यह जानने के लिए कि आनुभविक ज्ञान निर्दोष है या नही आनुभविक कसौटियो यथा अनुरूपता, कार्यक्षमता तथा समवाय सम्बन्ध आदि का प्रयोग किया जाता है। "किसी वस्तु की यथार्थता का प्रश्न मानवीय भावना के ऊपर निर्भर नही करता। यह स्वय वस्तु के अपने ऊपर निर्भर करता है। एक खम्भे के विषय मे ऐसा कथन करना कि यह या तो खम्भा है या एक मनुष्य है अथवा कुछ और है, इसकी सचाई को प्रकट करना नही है। यह खम्भा है मात्र यही सत्य है क्योकि यह वस्तु के स्वरूप के अनुकूल है।" सत्य की कसौटी वस्तुओ के विषय मे उनकी वस्तुओ के साथ अनुकूलता मे ही है।[1] शकर इस विषय मे सहमत है कि सत्य और असत्य दोनो का पदार्थरूप विषयो से सम्बन्ध रहता है। किन्तु परमार्थरूप मे मात्र एक ही वस्तु यथार्थ है अर्थात् ब्रह्म और कोई भी विचार इसके साथ अनुकूलता नही रखता, और इस प्रकार हमारे समस्त निर्णय अपूर्ण है।

शकर के अनुसार अविरोध (अबाध) का भाव ही सत्य की कसौटी है। ऐसा ज्ञान जिसके विरोध मे कुछ भी न हो वही सत्य है।[2] सीधी छडी जल मे पडकर झुकी

हो सकता है क्योकि बोध अचेतन पदार्थो (विषयो) के स्वरूप के नही होते। यही मत प्रभाकर का भी है। कुछ बौद्धो का मत है कि एक बोध अपना बोध कराता है तथा अपने को प्रकाशित करता है। अद्वैतवादी का तर्क है कि एक बोध का ग्रहण अथवा प्रकाश अन्य बोध के द्वारा नही होता। यदि एक बोध अपने को बोध का विषय बना सकता तो यह अन्य बोध का विषय भी हो सकता है।

१. एवभूतवस्तुविषयाणा प्रामाण्य वस्तुतन्त्रम् (शाकरभाष्य, १ : १; २)।

२. तुलना कीजिए, भामती : अबाधितानधिगतासन्दिग्धबोधजनकत्व हि प्रमाणत्व प्रमाणानाम् (१ : १, ४)। वेदान्तपरिभाषा भी देखे। अबाधितार्थविषयज्ञानत्वम्। "एक बोध केवल इसीलिए यथार्थ नही है कि यह किसी पदार्थ को उसी रूप में प्रस्तुत करता है जिस रूप में कि वह वस्तुतः है और न यह इसीलिए ही असत्य है कि यह उस वस्तु को अन्य रूप मे प्रस्तुत करता है। किन्तु यह इसलिए यथार्थ है

हुई प्रतीत होती है। जल के अन्तर्गत इसका टेढ़ापन आंख के लिए उतना ही यथार्थ है जितना कि स्पर्शेन्द्रिय के लिए इसका सीधापन है। स्पर्श आंख के मिथ्या निर्णय को सुधार देता है और इस प्रकार एक अधिक संगत सम्बन्ध को प्रकट कर देता है। यह परिभाषा सत्य के क्रमबद्ध अथवा सामञ्जस्यपूर्ण रूप के ऊपर बल देती है। किन्तु क्या हम सब वस्तुओं के एकत्व को समझने में सफल हो सकते हैं? क्या कोई व्यक्ति जीवन तथा विश्व के विषय में ज्ञान की पूर्णता का दावा कर सकता है? हम भूतकाल के विषय में तो स्वल्प ज्ञान रखते ही हैं, भविष्यत् का सर्वथा नही रखते और वर्तमान तो इतना विस्तृत है कि यह अनुभव के क्षेत्र की परिधि से भी अतीत है। जिस किसीके अन्दर किसी अन्य के अनुभव द्वारा आमूल परिवर्तन हो जाता है वह अपने-आपमें अथवा अपने विषय में सत्य नहीं है। स्वप्नावस्थाओं का विरोध जागरित अवस्था के अनुभवों द्वारा हो जाता है और जागरितावस्था के अनुभवों का प्रतिकार ब्रह्मानुभवरूप यथार्थता के अन्तर्ज्ञान से हो जाता है। यह उच्चतम सिद्धान्त है क्योंकि और कोई ज्ञान ऐसा नही है जो इसके विपरीत जा सके।[1] हमे यह स्पष्ट रूप से जान लेना चाहिए कि ये सब कसौटियां फिर भी आनुभविक (संसारी) है। सर्वोच्च ज्ञान, शंकर के अनुसार, यथार्थता की अपने प्रति साक्षी है, और यह इस तथ्य के द्वारा सम्भव हो सका है कि ज्ञाता और ज्ञान दोनों ही परमार्थरूप से एक है और यथार्थ है। तार्किक प्रमाण की उत्पत्ति केवल आनुभविक संसार में ही है जहां पर कि यह द्रष्टा तथा दृश्य का परम ऐक्यभाव मनोवैज्ञानिक बाधाओं की रुकावटों के कारण अस्पष्ट रहता है जिन्हे एक शब्द में अविद्या की संज्ञा दी गई है। तार्किक प्रमाण बाधक परदो को छिन्न-भिन्न करने में सहायक होता है और सत्य के स्वप्रकाशस्वरूप को प्रकाश मे लाता है। तर्कशास्त्र के नियम कार्यसाधक औजार है जो निषेधात्मक प्रतिबन्ध का काम करते है और इनके द्वारा हम अपने मानसिक पक्षपातों को दूर हटा सकते है।

२०

तार्किक ज्ञान की अपूर्णता

तार्किक ज्ञान ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञानविषय के परस्पर भेद को प्रकट करता है[2] किन्तु यथार्थसत्ता इन सब भेदों से मुक्त है।[3] यदि यथार्थसत्ता में सम्बन्धों का प्रवेश नहीं है, तो ऐसा विचार जिसके सम्बन्ध ही आधार हों अपूर्ण है। तार्किक ज्ञान अविद्या है

कि इसका विषय अन्त में जाकर असत्य सिद्ध नहीं हुआ, और असत्य उस हालत में है जबकि अन्त में उसके विषय का निराकरण हो गया। और वस्तुतः यह यथार्थता ब्रह्म के ज्ञान में इसीलिए लागू होती है कि इस ज्ञान की उपलब्धि श्रुति द्वारा हुई है अन्य किन्हीं साधनों से नहीं" (अद्वैतसिद्धि, १ : १२)।

१. बाधकज्ञानान्तराभावात् (शांकरभाष्य, २ : १, १४)।

२. अविद्याकल्पितं वेद्यवेदितृवेदनाभेदम, (शांकरभाष्य, १ : १, ४)।

३. सर्वसिद्धान्तसारसंग्रह, १२ : ४७, और भी देखें, अद्वैत मकरन्द, पृष्ठ १९। देखें, शांकर भाष्य, गौडपाद की कारिका पर, ४ : ६७।

क्योंकि यह वस्तुओं के सत्यस्वरूप का ज्ञान नही कराता। यथार्थस्वरूप आत्मा जो विशुद्ध चैतन्य है ज्ञान का विषय नहीं है। वह आत्मा कभी भी विषयी अर्थात् ज्ञान की प्रक्रिया का विषय नहीं हो सकती। सत्य चैतन्य में विषयी को विषय से सर्वथा अतिरिक्त होना चाहिए और इस प्रकार विषयी ज्ञाता मे और कुछ शेष नही रह जाता। मन की किसी अवस्था में भी विषयी अपने सम्मुख एक विषय के रूप में उपस्थित नहीं होता।[1] कोई भी वस्तु विषय का रूप तभी धारण करती है जब कि हम उसके विषय में देश और काल से सम्बद्ध रूप में विचार करने है किन्तु देश और काल दोनों ही तथा वे पदार्थ भी जिनका सम्बन्ध इन दोनो से है उस आत्मा के सम्बन्ध के कारण ही अपना अस्तित्व रखने हैं जो उन्हे एक साथ संयुक्त रखती है। इस प्रकार ज्ञान का सार्वभौम साक्षी अव्यक्त तथा अदृश्य है।[2] समस्त ज्ञान मे यथार्थतत्त्व को ज्ञान का विषय बनाने की असम्भाव्यता ही अतीतता का कारण है। चूंकि ज्ञान की प्रक्रिया केवल परम यथार्थसत्ता की अभिव्यक्ति ही है और कुछ नही, यथार्थसत्ता को आत्मचैतन्य की प्रक्रिया के अन्दर ग्रहण करना असम्भव है। चूंकि आत्मा काल तथा देश एवं समस्त विषय समूह की पृष्ठभूमि है, इसे इसके द्वारा आविर्भूत जगत् की सीमाओं में आबद्ध करना चक्रक दोष है। "मै तुम्हें किस प्रकार जानूंगा ?" यह एक निरर्थक प्रश्न है, जैसा कि सुकरात के प्रति किया गया क्रीटो का वह प्रश्न था कि "मै तुम्हे कैसे दूर कर सकूंगा ?"[3] आत्मा के सम्बन्ध मे आत्मचेतना केवल अन्त.करण की उपाधि के द्वारा ही सम्भव है।[4]

१. देखें, शांकरभाष्य, तैत्तिरीय उपनिषद् पर, २ : १।

२. अव्यक्तमतीन्द्रियग्राह्य सर्वदृश्यसाक्षित्वात् (३ : २, २३)।

३. सुकरात क्रीटो के द्वारा उन तर्कों की वैधता स्वीकार कर लेने पर, जिनका झुकाव यह दिखाने की ओर था कि सुकरात न तो भौतिक है और न ही दैशिक है और इस प्रकार उसे भूमिसात् नहीं किया जा सकता, तुरन्त ऐसा प्रश्न पूछने के लिए उसे फटकारता है।

४. इस आत्मा को पहचाना भी जा सकता है। जहां पहचान करनेवाला अन्तःकरण की उपाधियुक्त आत्मा है, वहां पहचान का विषय पूर्व तथा पश्चात् के भौतिक अनुभवों की उपाधियुक्त लौकिक आत्मा है। प्रतिबन्धरूपी सहायकों के कारण यह सम्भव हो सकता है कि आत्मा एक ही समय में कार्य का कर्ता तथा विषय भी बन सकती है। साक्षात् चैतन्य पहचान के कार्यो को इस रूप में आने का निर्णय कर देता है, जैसे "मैं अब वही व्यक्ति हूं जो पहले था।" इसके साथ कारट की प्रकल्पना की तुलना कीजिए, : "इस 'मैं' अथवा 'वह' अथवा 'इस' (वस्तु) के द्वारा जो विचार करता है हमारी चेतनता के सम्मुख एक अतीन्द्रिय अनाम विषयी के अतिरिक्त अन्य कुछ नही आता जिसका ज्ञान केवल उन विचारो के द्वारा होता है जो इसके विधेय है (अथवा ऐसा कहना अधिक उपयुक्त होगा कि जिसे यह अन्य वस्तुओं के साथ विधेय के रूप में संयुक्त करता है) और जिसके विषय में, यदि इसे अन्य वस्तुओं से पृथक् कर दिया जाए तो, हमें अणुमात्र भी विचार नहीं हो सकता। इसका ज्ञान ग्रहण करने में, वस्तुतः हम इसके चारों ओर निरन्तर चक्कर काटते रहते है क्योंकि इसके सम्बन्ध में कोई भी निर्णय करने के लिए हमें सदा ही इसका उपयोग करना आवश्यक होता है। इसलिए यहां पहुंचकर हम एक विकट मार्ग में पड जाते है जिससे बचने का कोई उपाय नही है क्योंकि जिस चैतन्य का वर्णन है ऐसा विचार नही है जो हमारे लिए कोई विषय विशेष छांटकर रख दे, किन्तु यह एक ऐसी आकृति है जो उन समस्त विचारों से सम्पृक्त रहती है। जहां तक उनका पदार्थों से सम्बन्ध है, अर्थात् जहां तक किसी भी वस्तु का विचार उनके द्वारा होता है।" (केयर्ड : 'क्रिटिकल फिलासफी आफ कारट', खण्ड

शंकर सम्पूर्ण तार्किक ज्ञान की अपूर्णता का समर्थन इसे पशुओं के ज्ञान के समान निर्देश करके करते हैं।[1] "क्योंकि जिस प्रकार पशु, दृष्टान्त के रूप में, जब एक शब्द उनके कानों में पड़ता है और यदि वह शब्द उनके अनुकूल नहीं होता है तो उससे दूर हट जाते हैं, और यदि उनके अनुकूल होता है तो उसके समीप आ जाते हैं, तथा जैसे कि जब वे किसी मनुष्य को अपने सम्मुख डण्डा पकड़े देखते हैं तो यह सोचकर कि 'यह मुझे इससे मारेगा' बचने का प्रयत्न करते हैं किन्तु जब वे किसीको अपने हाथ में मुट्ठी-भर ताज़ी घास लिए हुए देखते है तो उसके पास खिंचे चले आते है—इसी प्रकार ऐसे मनुष्य जिनका ज्ञान अधिक परिष्कृत (व्युत्पन्न चित्त) है जब वे भयानक आकृति वाले बलिष्ठ आदमियों को देखते हैं जिनके हाथों में नंगी तलवारें है तो उनके आगे से भाग जाते है और दूसरी ओर मुड़ जाते हैं। इस प्रकार ज्ञान के साधन तथा विषयों के सम्बन्ध में मनुष्यों तथा पशुओं मे प्रक्रिया एक ही समान है। निःसन्देह पशुओं के विषय में प्रत्यक्ष तथा उसके समान प्रक्रियाएं पूर्व विवेक से रहित होती हैं; किन्तु जैसा कि सादृश्य से देखा जाता है व्युत्पत्तिमान् पुरुषों मे भी कुछ समय के लिए उक्त प्रक्रियाएं एक ही समान है।"[2] इस सबके अन्दर शंकर की दृष्टि में मानसिक क्रिया का चुनावपरक स्वभाव है। विचार की हमारी समस्त प्रक्रिया के निर्णायक हमारे क्रियात्मक निजी स्वार्थ हैं। अन्तःकरण हमें अपनी चेतनता को एक संकुचित परिधि के अन्दर ही एकाग्र करने में सहायता प्रदान करता है जैसाकि एक गोल लालटेन अपना प्रकाश एक स्थान विशेष पर ही डालती है। वस्तुओं के 'क्या' सम्बन्धी ऐसे ही लक्षणों की ओर हम ध्यान देते है जिनका हमारे लिए कुछ महत्त्व होता है। यहा तक कि हमारे सामान्य नियम भी अपनी योजनाओं तथा हितों को ही लक्ष्य करके निर्मित होते है।

शंकर इस विषय पर बल देते है कि तर्कपूर्ण विचार चाहे कितना ही विस्तृत क्यों न हो हमें यथार्थसत्ता के बोधग्रहण की ओर नही ले जा सकता। वाल्टेयर की दार्शनिक कल्पना ने ऐसे प्राणियो के विषय पर विचार किया है जिनके लगभग सहस्रों इन्द्रियां है और तो भी वे 'यथार्थसत्ता वास्तव में क्या है' इसके पारा तक नही पहुंचते और उनसे कही न्यूनतम भाग्यशाली प्राणियों का तो कहना ही क्या जिनके कुल पांच ही ज्ञानेन्द्रियां है। यह ठीक-ठीक जानना कठिन है कि बाह्यजगत् विषयक हमारा ज्ञान, जिसका अन्वेषण विज्ञान करता है, कहां तक पदार्थनिष्ठ है। प्रकृति के विषय में हम जितना ही अधिक चिन्तन करते है उतना ही अधिक इस प्रकार की धारणा रखना

२, पृष्ठ २५)। डेस्कार्टे का विचार है कि चूंकि किसी विषय के अमूर्त रूप को विचार में लाना सम्भव है एवं समस्त निर्णयों मे मुक्त करना भी सम्भव है इसका अस्तित्व प्रमेय पदार्थों के अन्दर प्रमेय पदार्थ के रूप में है! एक तार्किक सम्भावना का वास्तविक अस्तित्वयुक्त द्रव्य के रूप में रूपान्तरित कर दिया गया है।

१. पश्वादिभिश्चाविशेषात् (शांकरभाष्य, प्रस्तावना)। देखें, 'ड्यूसन्स् सिस्टम आफ दि वेदान्त', पृष्ठ ५७, पादटिप्पणी।

२. तुलना कीजिए, डार्विन : "मनुष्य तथा उच्चश्रेणी के पशुओं में भेद महान् तो है किन्तु यह निश्चय ही केवलमात्र परिमाण का भेद है, प्रकार सम्बन्धी भेद नहीं है" (डिस्सेंट आफ मैन)।

असम्भव प्रतीत होता है कि तार्किक ज्ञान की अवस्थाओं के अन्तर्गत जिस जगत् का हमें ज्ञान है वह अपने-आपमें कहां तक यथार्थ है। पांच ज्ञानेन्द्रिय रखनेवाला मनुष्य अवश्य अन्धे मनुष्य की अपेक्षा अधिक जानता है। क्या यथार्थ अपने तार्किक अनुभव से अतीत नहीं है, ठीक जिस प्रकार देखा हुआ जगत् स्पर्श द्वारा ज्ञात जगत् से अधिक है ? क्या ब्रह्मानुभव के समान अवस्था अथवा जिसे टैनीसन् ने 'अन्तिम तथा महत्तम इन्द्रिय' में कहा है, हमारे यथार्थसत्ता-सम्बन्धी ज्ञान में वृद्धि नहीं करती। जिस प्रकार से कि दृष्टिशक्ति का उपहार अन्धे मनुष्यों की जातिमात्र के ज्ञान में वृद्धि कर देगा, इस प्रकार के मत में जहां तक विज्ञान तथा साधारण बुद्धि का सम्बन्ध है संशयवाद को कोई स्थान नहीं है। जब तक हम उन्नत धरातल तक नहीं पहुंचते, जहां केवल उच्च-कोटि की बुद्धि से सम्पन्न मनुष्य ही पहुंच सकते है, हम जिन निर्णयों पर पहुंचते है वे सर्वथा प्रामाणिक है यद्यपि वे उसी धरातल तक रहेगे जिसपर उनके साध्यपक्ष है।

जैसा कि हम आगे चलकर देखेंगे, शंकर अपने इस निर्णय पर बल देते है कि समस्त विचार एक मुख्य दोष से दूषित है, अर्थात् एक सूक्ष्म वितण्डावाद से, जिसका लक्ष्य यह दिखाना है कि मानवीय मस्तिष्क के द्वारा जिस भाव का भी उपयोग किया जाता है वह बुद्धिगम्य नही है। यद्यपि अनुभव के विषय में हम स्वतन्त्रतापूर्वक वार्तालाप करते है, हमारे लिए दृक् (चेतनता) तथा दृश्य (अर्थात् चेतनता के विषय) में परस्पर क्या सम्बन्ध है यह समझ सकना असम्भव है। चेतनता का सम्बन्ध उस विषय के साथ जिसे यह प्रकाशित करती है किसी न किसी प्रकार अवश्य होना चाहिए। यदि ऐसा न होता तो किसी भी समय में किसी प्रकार का भी ज्ञान हो जाता जिसका सम्बन्ध विषयों के स्वरूप से कुछ न होता। चेतनता तथा अपने विषय रूप पदार्थों के अन्दर न तो संयोग-सम्बन्ध है और न समवाय-सम्बन्ध है, अर्थात् न तो बाह्य-सम्बन्ध है और न आभ्यन्तर सम्बन्ध। विषयनिष्ठता इस तथ्य में नहीं है कि ज्ञातता विषय में उत्पन्न की जाती है, जैसा कि कुमारिल का मत है, क्योंकि यह कार्य स्वीकार करने योग्य नहीं है। यह कहना कि विषय वे है जिनका कुछ क्रियात्मक उपयोग है, ठीक नहीं है, क्योंकि कितने ही ऐसे निरर्थक पदार्थ है, जैसे कि आकाश, जो चेतनता के विषय है। विषयनिष्ठता का यह तात्पर्य नहीं हो सकता कि एक वस्तु विचार के व्यापार का विषय है (ज्ञानकरण), क्योकि यह केवल प्रत्यक्षविषयक पदार्थों पर ही लागू होता है, और स्मृतिविषयक अथवा अनुमानगम्य पदार्थों पर लागू नही होता। इसके अतिरिक्त प्रत्यक्ष में तो चित्त-वृत्ति पदार्थरूप विषय के रूप के अनुकूल परिवर्तित हो जाती है किन्तु अनु-मान द्वारा जाने गए पदार्थों में ऐसा नही होता। चेतनता तथा विषय रूप पदार्थों में जिनका हमें ज्ञान होता है उसका ठीक-ठीक रूप क्या है यह हमें समझ में नहीं आता। वस्तुतः समस्त जीवन तथा गति का सम्बन्ध विषय के पक्ष के ही साथ है जिसके साथ, हम केवल यही कह सकते हैं कि अलैक्ज़ांडर के

शब्दों मे कि चेतनता सह-अस्तित्व रखती है और यह सह-अस्तित्व बुद्धिगम्य माना गया है क्योंकि विषयी और विषय एक-दूसरे के विपरीत नही हैं वरन् दोनो ही सार्वभौम चेतनता के अन्दर आ जाते है ।

समस्त विचार यथार्थसत्ता को जानने तथा सत्य के अन्वेषण के लिए भी संघर्ष अवश्य करता है किन्तु दुर्भाग्यवश यह यथार्थसत्ता को जानने का प्रयास उसे अपने से अन्य के साथ सम्बद्ध करके ही करता है अन्यथा नही । यथार्थसत्ता न सत्य है न मिथ्या है । यह केवलमात्र सत् है । किन्तु हम अपने ज्ञान मे इसका उल्लेख किसी न किसी लक्षण के साथ ही करते है । समस्त ज्ञान चाहे प्रत्यक्ष हो अथवा भावात्मक हो यथार्थसत्ता अथवा परम आत्मा को व्यक्त करने का प्रयास करता है ।[1] यद्यपि प्रत्यक्ष एक वर्तमान काल-गत घटना है, अपने होने से पूर्व तथा पश्चात् इसका अस्तित्व नही है, और तो भी यह एक यथार्थता की अभिव्यक्ति है जो समय से बद्ध नही है यद्यपि उस यथार्थसत्ता से न्यून है जिसे व्यक्त करने का यह प्रयास करती है। जहा तक यथार्थता के ग्रहण की अपूर्णता का सम्बन्ध हे ज्ञान के समस्त साधन एक ही स्तर पर हे । समस्त निर्णय मिथ्या हे इस अर्थ मे कि कोई भी विधेय जिसका हम विषयी के गुणरूप मे उपयोग कर सकते हैं उसके लिए पर्याप्त नही है । या तो हमे ऐसा कहना पडेगा कि यथार्थ सत्ता यथार्थ सत्ता है अथवा हम यो कहे कि यथार्थता क, ख अथवा ग है । पहले प्रकार का कथन विचार के लिए अनुपयोगी है किन्तु दूसरे प्रकार का कथन ऐसा है जो वस्तुत विचार करना है । यह यथार्थता को किसी अन्य वस्तु के समान कर देता है अर्थात् अयथार्थ के समान । यथार्थ के अन्दर ऐसे गुणो का आधान करना जो इससे भिन्न हे वही है जिसे शङ्कर अध्यास के नाम से कहते हे, अर्थात् किसी वस्तु को ऐसा मान लेना जिसमे वह भिन्न है ।[2] अध्यास की परिभाषा यह है कि ऐसी वस्तु का कही भास होना जहा वह न हो ।[3] जब प्रकाश द्विगुण दिखाई देता है अथवा जब रस्सी साप की भाति प्रकट होती है हमे अध्यास का उदाहरण उपलब्ध होता है । सान्त वस्तुओ का समस्त ज्ञान एक अर्थ मे विशुद्ध सत् का अभाव है, क्योकि एकमात्र नित्य चेतनता के ऊपर पदार्थरूप विषयो का अध्यास किया जाता है । इस अध्यास का सबसे अधिक आकर्षक दृष्टान्त विषयी तथा विषय को एक साथ मिला देना है,[4] जहा पर हम क्रियाशीलता, कर्तृत्व तथा सुखोपभोग उसी आत्मा के गुण समझ लेते है । यथार्थ मे विषयी ज्ञाता से भिन्न कुछ भी नही है क्योकि यथार्थसत्ता के विषयी (ज्ञाता) मे वह सब कुछ समाविष्ट है जो कुछ सम्भवतः हम

१. प्रत्यक्षप्रमा चात्र चैतन्यमेव (वेदान्तपरिभाषा, १)।

२. अध्यासो नाम अतस्मिंस्तद्बुद्धिः (शाङ्करभाष्य, प्रस्तावना) ।

३. स्मृतिरूपः परत्र पूर्वदृष्टावभासः ।

४. आत्मनि क्रियाकारकफलाद्यारोपलक्षणम् । काण्ट की अतीन्द्रिय भ्रांति अध्यास का दृष्टान्त है जिसके द्वारा हम विचार करनेवाली आत्मा के सम्बन्ध में ऐसे विचारों का प्रयोग करते हैं जिनका यह निर्माण करती तथा देश काल-सम्बन्धी अवस्थाओं के अन्दर प्रस्तुत घटनाओं पर लागू करती है तथा विचारक आत्मा को एक ऐसा द्रव्य मानती है जिसके पदार्थ बाह्य हैं ।

उसके विषय में कह सकते हैं। विषयी ज्ञाता के विषय में जो कुछ हम कहते हैं, उस यथार्थ-सत्ता से बहुत न्यून है तथा उसका केवल आभासमात्र है। "विषय और विषयी, जिनका क्षेत्र 'युष्मत्' (तुम) और 'अस्मत्' (मैं) दोनों का प्रस्तुतीकरण है, एक-दूसरे के विपरीत हैं जैसे अन्धकार व प्रकाश। विषय जिसका क्षेत्र 'तुम' अथवा अनात्म है तथा उसके गुणों का विशुद्ध आध्यात्मिक विषयी में, जिसका क्षेत्र आत्मा अथवा 'मैं' है, संक्रामण करना तथा इसके विपरीत विषयी तथा इसके गुणों का विषय के प्रति संक्रामण करना तार्किक दृष्टि से असत्य है। तो भी मनुष्य जाति के अन्दर उक्त व्यवहार, मिथ्या ज्ञान के कारण (मिथ्या ज्ञान निमित्त) सत्य तथा असत्य का परस्पर जोड़ा बनाने के संबंध मे (अर्थात् विषयी तथा विषय) नैसर्गिक (स्वभाविक) है इसलिए वे एक के सत् तथा गुणों का दूसरे में संक्रमण कर देते हैं।"[1] "अविद्या की ओर ले जानेवाले अध्यास में उन सब क्रियात्मक भेदों की पूर्व कल्पना की जाती है जो साधारण जीवन तथा वेदों में, साधनों तथा ज्ञान में, ज्ञान के विषयों (तथा ज्ञाताओं) और सब अध्यात्म शास्त्रों मे किए जाते हैं, चाहे उनका सम्बन्ध कर्म से हो अथवा ज्ञान से।"[2] ज्ञान के समस्त साधन केवल तभी तक प्रामाणिक है जब तक कि परम सत्य की प्राप्ति नही हो जाती[3] और इस प्रकार परिमित ज्ञान का सापेक्ष महत्त्व सम्मुख नही आता। वस्तुतः हमारा समस्त ज्ञान अज्ञान (अविद्या) है और उस सबका निराकरण कर देने पर जिसे उसके ऊपर बलात् आरोपित किया गया है परमचैतन्य को निश्चयपूर्वक जान लेने का नाम विद्या अथवा ज्ञान है।[4]

विषयी तथा विषय, अर्थात् आत्मा तथा अनात्म से शकर का आशय सर्वातीत यथार्थसत्ता और सांसारिक अस्तित्व से है। 'विषय' के अन्दर व्यक्तिगत कर्तृत्व, शारिरिक इन्द्रिया तथा भौतिक जगत् आदि सब समाविष्ट है। परमचैतन्य ही[5] विषयी है जिसके ऊपर समस्त विषय-जगत् आश्रित है। चेतनता के विषयों का यह एक विशेष लक्षण है कि वे अपने को चेतनता के विषय रूप मे मानसिकवृत्ति के द्वारा व्यक्त होने के अतिरिक्त अपनी अभिव्यवित नही कर सकते। यहा तक कि जब हम परम आत्मा के स्वरूप का ज्ञान श्रुति के मन्त्रों द्वारा प्राप्त करते है तो भी हम इसके सत्य-

१. शांकरभाष्य, प्रस्तावना। देहादिष्वनात्मस् अहमस्मीत्यात्मबुद्धिरविद्या (शांकरभाष्य, १ : ३. २)।

२. "मै' और 'मेरा' का सम्बन्ध शरीर तथा इन्द्रियों आदि से है, इस प्रकार के भ्रांतियुक्त विचार के बिना किसी ज्ञाता का अस्तित्व नही रह सकता; और परिणामस्वरूप ज्ञान के साधन प्रमाणों का उपयोग भी नहीं हो सकता। क्योंकि बिना इन्द्रियों की सहायता प्राप्त किए प्रत्यक्ष भी नहीं हो सकता, किन्तु बिना आधार (शरीर) के इन्द्रियों का कार्य भी सम्भव नही है और आत्मा के अस्तित्व को शरीर के साथ बिना मिलाए भी कोई कार्य सर्वथा असम्भव है और इन सबके कार्यों के सम्पन्न हुए बिना आत्मा को ज्ञान होना भी सम्भव नही है, क्योंकि आत्मा शारीरिक अस्तित्व से स्वतन्त्र है। किन्तु ज्ञान के कार्य के बिना ज्ञान भी सम्भव नही है। परिणामस्वरूप ज्ञान के साधन प्रत्यक्ष तथा अन्य का संबन्ध अविद्या के क्षेत्र से है।" शांकरभाष्यप्रस्तावना देखे 'ड्यूसन सिस्टम आव दि वेदान्त', पृष्ठ ५६, पादटिप्पणी; सर्वसिद्धान्तसारसंग्रह, १२ : ८५-८६।

३. शांकरभाष्य, १ : १, ४।

४. शांकरभाष्य, १ : १, १।

५. शांकरभाष्य, १ : १, १।

स्वरूप का ज्ञान नहीं प्राप्त कर सकते। आत्मा का सत्य ज्ञान किसी भी आकृति तथा वृत्ति से विहीन है।[1]

उस अध्यास का विशिष्ट उपयोग, जो हमें एकमात्र निरपेक्ष यथार्थसत्ता को विषय-विषयी-सम्बन्ध के रूप में विभक्त करने के लिए प्रेरणा करता है, मानवीय मस्तिष्क की ही अपनी रचना का परिणाम है। इस अध्यास को जिसके कारण विषयी तथा विषय-जगत् की उत्पत्ति होती है अनादि, अनन्त, नैसर्गिक, मिथ्या प्रत्ययरूप तथा जीवात्माओं के[2] कर्तृत्व, सुखोपभोग, और क्रियाशीलता का कारण बताया गया है और यह सबके ऊपर अधिकार जमाए हुए है।[3]

भ्रांतिमय प्रत्यक्ष का शंकर ने जो विश्लेषण किया है उससे हमें उसके ज्ञान विषयक मत का आभास मिलता है। जब हम भूल से रस्सी को सांप समझ लेते हैं और यह निर्णय करते हैं कि "यह एक सांप है" तो हमारे सम्मुख दो अवयव होते हैं; 'यह' अथवा जो इन्द्रियों के आगे आया हुआ है, और 'सांप' जिसे हम 'यह' कहते हैं। पिछला अवयव उस वृत्ति अथवा आकृति का वर्णन करता है जिस रूप में हम प्रस्तुत सामग्री का बोध करते हैं। निर्णय पर पहुंचने में भूल व्याख्या के अवयव के कारण है अथवा उसके कारण है जिसे हमारा विचार भूमि के ऊपर से आरोपित कर देता है। 'यह' का अवयव अथवा जो कुछ वस्तुतः हमारे सम्मुख उपस्थित है, भ्रांति दूर होने के पश्चात् भी विद्यमान रहता है। शंकर का तर्क है कि साधारण प्रत्यक्ष में भी हमारे सम्मुख एक सामग्री के दो अवयव हैं और एक व्याख्या है और आगे शंकर प्रश्न करते है कि वह क्या है जो हमारी चेतना के समस्त विषयों का सामान्य अधिष्ठान है? क्या ऐसी कोई वस्तु है जो उन सब वस्तुओं के लिए सामान्य है जिन्हें हम देखते है, साधारण और असाधारण सत्य और असत्य? शंकर उत्तर देते है कि यह सत् है। प्रत्येक वस्तु जिसका हम प्रत्यक्ष करते है, उसे सत् के रूप में प्रत्यक्ष करते हैं। हमारी व्याख्याओं का स्वरूप चाहे कुछ भी क्यों न हो वह अधिष्ठान नित्यस्थायी है और यथार्थ है। उपनिषदों की भाषा में यह मिट्टी से बनी वस्तुओं में मिट्टी के समान है अथवा सोने के आभूषणों में सोने के समान है। इसके ऊपर की आश्रित आकृतियों मे भले ही कितने ही परिवर्तन क्यों न हों यह स्थायी है। अविद्या का कारण मौलिक आधार के विषय में अज्ञान है।[4]

अविद्या अथवा अध्यास के प्रति स्वाभाविक प्रकृति हमारे अस्तित्व के मूल में ही समाई हुई है और हमारी सान्तता का पर्यायवाची है। यथार्थसत्ता अपनी व्याख्या अपने-आप है। यह सदा अपने स्वरूप में स्थित रहती है। यह अयथार्थ ही है जो अपने स्वरूप

१. इस आक्षेप के उत्तर में कि आत्मा विषय नहीं है और इस प्रकार अन्य विषयों के गुणों का आधान इसके ऊपर नहीं हो सकता, शंकर कहते हैं कि यह आत्मा के भाव का विषय है; साथ में यह आवश्यक भी नहीं है कि विषय का सम्पर्क हमारी इन्द्रियों के साथ अवश्य हो क्योंकि अज्ञानी पुरुष आकाश का रंग गहरा नीला बतलाते हैं जो कि इन्द्रिय प्रत्यक्ष का विषय नहीं है।

२. कर्तृत्वभोक्तृत्वप्रवर्तकः। ३. सर्वलोकप्रत्यक्षः।

४. अधिष्ठान विषय।

में अवस्थित नही रहता और इसीलिए उसे किसी व्याख्या की आवश्यकता होती है। जब अविद्या का पता लग जाता है तो बन्धन टूट जाते है। अविद्या नैसर्गिक भले ही हो किन्तु फिर भी अनिवार्य नही है। यदि यह अनिवार्य होती तब इससे मुक्त होने के लिए हमे क्यो कहा जाता। अनिवार्य के विरुद्ध हम प्रयास नही कर सकते। जो नहीं जाना जा सकता उसे हम नही जान सकने। अविद्या की गति को रोकना सम्भव है और यह दर्शाता है कि हम वस्तुत अपनी आदतो से अधिक महान् है।

सान्त चेतनता, जो प्रमाणो के साथ आबद्ध है, अनुभव के एक विशेष प्रकार तथा अवस्था तक ही परिमित है जिनमे शारीरिक अवस्थाओ का एक बहुत बडा भाग है। हमारी बुद्धि की रचना इस प्रकार की है कि यह वस्तुओ के अन्दर एक व्यवस्था तथा नियमितता चाहती है। यह आनुषगिक घटना तथा अव्यवस्था को सर्वथा नापसन्द करता है। विषय जगत् आदि से अन्त तक युक्तिपूर्ण है और सब वस्तुओ मे विधान तथा व्यवस्था मे युक्ति-युक्तता की माग को पूरा करता है। यही साधारण बुद्धि तथा विज्ञान का भी विश्वास है। शकर विचार को वस्तुओ से अलग नही रखता। हमारे मस्तिष्क के सिद्धान्त जो अपने-आपको देश, काल तथा कारण के विभागो द्वारा प्रकट करते है उस दर्शन के रूप है जो विचारशील विषयी तथा विषयनिष्ठ तथ्य के क्षेत्र मे हमारे सम्मुख प्रकट होते है। बुद्धि के वर्ग उन वस्तुओ पर लागू होते है जो इसके आगे आते है। ज्ञाता विषयी के दृष्टिकोण से देश-काल तथा कारण से युक्त इस जगत् का अपने समस्त विषयवस्तु समेत अस्तित्व है। ससारी जीवात्मा तथा यह जगत् दोनो एक दूसरे के आश्रित है। प्रकृति द्वारा विवेक के इस प्रकार के अनुकूलन से सिद्ध होता है कि एक सार्वभौम मस्तिष्क भी है जो एक ओर प्रकृति म आत्मभाव का प्रवश कराता तथा दूसरी ओर हमारे अन्दर अवस्थित विवेक का कारण है और सार्वभौम मस्तिष्क का भागीदार है तथा उसके साथ सहयोग रखता है। एक सुव्यवस्थित ससार की यथार्थता केवल मस्तिष्क के लिए ही है और मस्तिष्क की परिभाषा मे ही उसका अस्तित्व है। पशु जगत् के साथ-साथ पशु के मस्तिष्क की भी पूर्वकल्पना होती है। मानवीय जगत् के साथ मनुष्य के मस्तिष्क की पूर्वकल्पना होती है। सार्वभौम यथार्थसत्ता अपनी पूर्णता तथा जटिलता के कारण एक सार्वभौम तथा निर्दोष मस्तिष्क को स्वत सिद्ध मान लेती है और वह ईश्वर है जो विश्व के उन भागो को भी धारण करता है जो हमारी दृष्टि से बाहर और अप्रत्यक्ष है। हमारा सासारिक अनुभव यह सकेत करता है कि एक ऐसा प्रकृति-तत्त्व है जिसकी विचार के लिए आवश्यकता है किन्तु वह ऐसी वस्तु नही जिसे आनुभविक प्रमाणो के द्वारा जाना जा सके। मनुष्य होने के नाते हम मानवीय विधि से ही विचार करते है। सार्वभौम यथार्थसत्ता को एक केन्द्रीय व्यक्तित्व अथवा विषयी के रूप मे माना गया है तथा समस्त जगत् विषयरूप है।' यह ऐसा सश्लेषण है जो तर्क के द्वारा प्राप्त होता है किन्तु इसकी कोई आवश्यकता नही है। यह विचार का तात्कालिक विषय नही है। इसे हमारे अनुभव का सबसे उच्चश्रेणी का सश्लेषण मान लिया गया है और जब तक इसी प्रकार की रचना का अन्य अनुभव भी है यह

मान्यता रहेगी ।[1] विषयी-विषय (सब्जेक्ट-ग्रौब्जेक्ट) सम्बन्ध पशुजगत्, मानवीय तथा दैवीय जगत् सबके ऊपर एक समान लागू होता है । किन्तु अनुभव का निर्माण करने वाले ये दोनों अवयव एक दूसरे से सापेक्षरूप मे सम्बद्ध है तथा परिवर्तन और विकास के उसी विधान के अधीन हैं । यथार्थसत्ता का वह पूर्णरूप से निर्मित विचार, जिसके अन्दर प्रत्येक तत्त्व, विषयी और विषय, मस्तिष्क तथा शरीर, वर्तमान, भूत और भविष्यत् इसके उचित स्थान पर आकर समाविष्ट हो गए होगे, मानवीय अनुभव का विषय नहीं है यद्यपि समस्त विचार मात्र का आदर्श लक्ष्य है । किन्तु समस्त ज्ञान चाहे ईश्वर का हो चाहे मनुष्य का हो, अपने अन्दर विषयी-विषय सम्बन्ध रखता है और इसीलिए उसे सर्वोच्च नही माना जा सकता । समस्त सविकल्पक ज्ञान आत्मोत्सर्गरूप है क्योंकि इसमें परमयथार्थसत्ता का एक विषयी के रूप में तथा वृत्ति और विषय के रूप में आदर्श नमूना बन जाता है । केवल समाधिगत अन्तर्ज्ञान की अवस्था को छोड़कर एक तत्त्व (अवयव) प्रस्तुत रहता है जो बोध ग्रहण करने वाले विषयी से सर्वथा भिन्न है और एक वृत्ति के द्वारा इस तक पहुंचता है । सोच-विचार तथा तर्कशास्त्र का सम्बन्ध सान्त जीवन के स्तर तक ही है जबकि परम यथार्थसत्ता विचार मे भी अतीत है । यथार्थसत्ता अपने लिए सदा ही विद्यमान है और उसे इसलिए अपने विषय में विचार करने की कोई आवश्यकता नही ।

२१

अनुभव

किसी भी पदार्थ (विषय) की यथार्थरूप मे सिद्धि हो जाती है, इसी प्रकार किसी ऐसे विचार को भी सत्य मान लिया जाता है यदि उसका प्रतिषेध ऐसे परिणामों को उपस्थित करता है जिन्हें परस्पर विरोधी और इसीलिए अमान्य माना जाता है । भूल से बच न सकनेवाली बुद्धि की यह अन्तिम कसौटी प्रतीत होती है । तार्किक दृष्टि से आत्मा के अस्तित्व का इससे उच्च प्रमाण सम्भव नही है । यह प्रश्न उठाना कि आत्मा यथार्थ है या नहीं ? निरर्थक है क्योंकि समस्त जीवन, समस्त विचार, समस्त अनुभव, यद्यपि अव्यवस्थित रूप मे है तो भी, उक्त प्रश्न का स्थायी उत्तर है । किन्तु मानसिक साधनो के द्वारा यथार्थसत्ता को समझने का कोई भी प्रयास हमे परस्पर विरोधो के एक निराशाजनक भंवरजाल मे ला फेकेगा । यदि मस्तिष्क को इस प्रकार के दुःखान्त परिणाम से बचना अपेक्षित है तो इसे अवश्य अपना दमन करना होगा और तभी रहस्य का पर्दा उठेगा । हमे अपने तार्किक वर्गीकरण से जो असन्तोष अनुभव होता है वह इस बात का संकेत है कि हम उसका, जिसे हम जानते हैं कि महान् है, और अपनी मानसिक मर्यादाओं का भी उल्लघन करके सत्य के क्षेत्र मे पहुच सकते है यद्यपि यह केवल हमारी बुद्धि की पहुंच से परे है, जो अतीत तक पहुचने का प्रयत्न कर सकती

१. २ : १, ११ ।

है, किन्तु बस प्रयत्न ही कर सकती है अतीत तक कभी पहुचेगी नही। ऐसी सीमाएं जो अनिवार्य प्रतीत होती है तथा जिनका उल्लघन भी बुद्धि के लिए अनिवार्य प्रतीत होता है यह निर्देश करती है कि हमारे अन्दर एक सीमारहित भूमि भी है जो तार्किक मस्तिष्क से ऊची है। यदि विचार यथार्थसत्ता के साथ तादात्म्य स्थापित कर सके और विषयी मनुष्य अपने व्यक्तित्व को दूर रखकर सार्वभौम तत्त्व मे ऊपर उठ जाए तो विचार का लक्ष्य प्राप्त हो सकता है किन्तु उस समय फिर यह विचार नही रहेगा। अनुभव में विचार का लोप हो जाता है। साधारण ज्ञान ऊपर उठकर विद्या मे परिणत हो जाता है जबकि यह अपने को ज्ञात के साथ तादात्म्यरूप मे जान जाता है जहा पर केवल आत्मा नित्य ज्ञान के रूप मे ज्योतिष्मान् है।[1] यह निरपेक्ष ज्ञान ही परम निरपेक्ष का ज्ञान भी है। 'ज्ञान' शब्द अपने सासारिक सम्बन्धो के कारण दुर्भाग्यवश असमर्थ है।[2] अनुभव इससे अधिक उपयुक्त शब्द है।

शकर एक आन्तरिक दृष्टि रूप चेतनता की यथार्थता को मानते है जिसे अनुभव कहते है[3] और जहा विषयी और विषय के भेद नीचे रह जाते तथा सर्वोपरि आत्मा के सत्य का साक्षात्कार होता है।[4] यह एक वर्णनातीत अनुभव है जो विचार तथा वाणी से परे है और जो हमारे समस्त जीवन मे परिवर्तन ला देता है एव दैवीय उपस्थिति का निश्चय कराता है। यह ऐसे चैतन्य की अवस्था है जो तब आती है जबकि मनुष्य अपने को सब प्रकार की सीमित अवस्थाओ से मुक्त कर लेता है जिसमे बुद्धि भी सम्मिलित है। जैसाकि श्री रसल ने कहा है कि इसके साथ "आह्लाद का सत्य भाव, अर्थात् अत्युन्नतता का भाव, मनुष्य से उन्नत होने का भाव सयुक्त रहता है।"[5] इस प्रकार के परमानन्द का पूर्वस्वाद हमे स्वार्थरहित चिन्तन के क्षणो मे तथा सौन्दर्य के सुखोपभोग मे मिलता है।[6] यह साक्षात्कार अथवा व्यवधानरहित साक्षात् प्रत्यक्ष है जिसकी अभिव्यक्ति उस अवस्था मे होती है जबकि अविद्या नष्ट हो जाती है और मनुष्य यह जान लेता है कि आत्मा तथा जीव एक है। इसे सम्यग्ज्ञान (निर्दोष ज्ञान)[7] अथवा सम्यग्दर्शन (निर्दोष अन्तर्दृष्टि) भी कहा जाता है।[8] सम्यग्ज्ञान तो अपने लिए आवश्यक चिन्तन सामग्री के ऊपर भी बल देता है किन्तु सम्यग्दर्शन अन्तःसाक्षात्कार की अव्यवहितता की ओर निर्देश करता है जिसमे परम यथार्थसत्ता साक्षात् ईक्षण तथा

१. "आध्यात्मिक यथार्थसत्ता को समझना और इससे भी अधिक इसे जानना, हमें अपने अन्दर, जो इसे जानते है, समाविष्ट कर लेते है" (जेण्टाइल् : 'थियोरी आफ माइण्ड ऐज़ प्योर ऐक्ट', पृष्ठ १०)।

२. मध्व बलपूर्वक कहता है कि यह ज्ञान नही है चूकि जानने को कोई विषय नहीं है। "ज्ञेयाभावे ज्ञानस्याप्यभावात्।" बृहदारण्यक उपनिषद्, 'सैक्रेड बुक्स आफ दि हिन्दूज़' पृष्ठ ४६०।

३. देखें, शांकरभाष्य, १ : १, २ ; २ : १, ४ ; ३ : ३, ३२ ; ३ : ४, १५।

४. देखें, आत्मबोध, पृष्ठ ४१।

५. 'फ़िलासाफिकल ऐसेज़', पृष्ठ ७३।

६. प्लाटिनस् कहता है : "यह वह सम्मिलन है जिसकी नकल मर्त्यलोक के प्रेमियों का मिलन है, जो अपने जीवन को एक-दूसरे से बद्ध करना चाहते है" 'एनीड्स', ६ : ७, ३४। तुलना कीजिए, बृहदारण्यक उपनिषद्, ६ : ३, २१।

७. शांकरभाष्य, १ : २, ८।

८. शांकरभाष्य, १ : ३, १३।

ध्यान का विषय है।[1] शंकर इसका समाधान यो करते हैं कि हम अयथार्थ विषयो का भी ध्यान तो कर सकते है किन्तु उनका अनुभव नही कर सकते। इस प्रकार शकर का अनुभव आदर्शीकृत कल्पना से भिन्न है। कहा जाता है कि योगी सराधना की अवस्था में ईश्वर को देखता है जिसकी व्याख्या करते हुए शकर कहते है कि वह अपने को पवित्र ध्यान मे निमग्न कर देता है।[2] शकर आर्षज्ञान को स्वीकार करते हैं जिसके द्वारा इन्द्र तथा वामदेव ने ब्रह्म के साथ तादात्म्य का साक्षात्कार किया।[3] मनोवैज्ञानिक दृष्टि से यह ज्ञान प्रत्यक्ष के ही स्वरूप का है,[4] क्योकि यह यथार्थता का साक्षात् ज्ञान है। भेद केवल इतना है कि उक्त ज्ञान देश और काल मे विद्यमान ज्ञान के रूप का नही है। अनुभव हर किसी वस्तु की चेतनता नही है वरन् अपने भीतर प्राणिमात्र के जीवन, आधार तथा आगाध गर्त को जानना और देखना है। चूकि न्यायशास्त्र के शब्दार्थ मे प्रत्यक्ष अनुभव ही बाह्य जगत् के ज्ञान का एकमात्र साधन है, अद्वैतात्मक अस्तित्व अन्तस्तम अनुभव है जिसके ऊपर हम जो कुछ भी अतीन्द्रिय जगत् के विषय मे जानते तथा विश्वास रखते है वह निर्भर करता है। अन्तर्ज्ञान का विषय कोई व्यक्तिगत कल्पना नही है और न ज्ञाता के मन मे विषयिनिष्ठ अमूर्तभाव ही है। यह एक यथार्थ विषय है[5] जिसपर हमारे इसके ज्ञान अथवा अज्ञान का कोई प्रभाव नही पडता यद्यपि इसकी यथार्थता देश-काल से बद्ध विशिष्ट विषयो की यथार्थता से कही उच्चकोटि की है, जो एक सदा रहनेवाले प्रवाह से सम्बद्ध है और इसीलिए जिसे सही अर्थों मे यथार्थ नही माना जा सकता।[6] भिन्न-भिन्न सम्प्रदायो की चतुराइयो का भेद एक ऐसी आत्मा के आगे आकर खुल जाता है जो विरोध मे कहती है कि मैंने यथार्थसत्ता के दर्शन किए है। "किस प्रकार से कोई अन्य व्यक्ति के ब्रह्म ज्ञान की प्राप्तिरूप तथ्य का विरोध

१. शांकरभाष्य, १ : ३, १३।

२. शांकरभाष्य, ३ : २, २४। और भी देखे, कठोपनिषद्, ४ : १। इस आपत्ति के उत्तर में कि इस प्रकार के ध्यान की क्रिया में ध्यान व विषयी तथा विषय के मध्य भेद है या नहीं, शकर कहते है : "जिस प्रकार प्रकाश, आकाश, सूर्य इत्यादि ऐसे प्रतीत होते है मानो भिन्न भिन्न है, अपने विषयों के कारण यथा उगलियाँ, पात्रों, जल इत्यादि जो इनके उपाधिरूप सयुक्त पदार्थ हैं, जबकि यथार्थ में वे अपनी तात्त्विक अभिन्नता को सुरक्षित रखते है, इसी प्रकार भिन्न-भिन्न आत्माओं का परस्पर भेद केवल उपाधि रूप सयुक्त पदार्थों के कारण है किन्तु समस्त आत्माओं का एकत्व प्राकृतिक है और मौलिक है" (शांकरभाष्य, ३ : २, २५)।

३. 'रत्नप्रभा' में इसकी व्याख्या इस प्रकार है, "सत्य का हठात् अन्तर्ज्ञान, जो श्रवण आदि के द्वारा सम्भव होता है और जो पूर्व के जन्मों में प्राप्त किया गया है।" जन्मान्तरकृत श्रवणादिना अस्मिन् जन्मनि, स्वतःसिद्धम्, दर्शनम् आर्षम् (१ : १, ३०)। देखे, शांकरभाष्य, तैत्तिरीय उपनिषद् पर, १ : १०।

४. शांकरभाष्य, १ : ३, १८।

५. अनुभवावसानत्वाद् भूतवस्तुविषयत्वाच्च (शांकरभाष्य, १ : १, २)।

६. इसके साथ तुलना कीजिए प्लेटो के यथार्थवाद की जहां तर्क यथार्थ जगत् को सर्वथा देश और काल से ऊपर उठाकर प्रतिपादन करता है। "एक ऐसी यथार्थता जो वर्णविहीन है, आकृतिरहित है तथा स्पर्श के अयोग्य है।...जो केवल मन के लिए दृश्य है जो आत्मा का स्वामी है" (फीड्रस)। जहां प्लेटो तत्त्वों के अनेकत्व को मानता है, शंकर की दृष्टि में केवल एक ही सारतत्त्व है।

कर सकता है यद्यपि अभी वह शरीरधारी ही क्यो न हो जबकि उसका हृदय अपने निश्चयात्मक ज्ञान को विश्वास के साथ प्रकट करता है ?"[1] समस्त विश्वास तथा भक्ति, समस्त स्वाध्याय और ध्यान हमे इस प्रकार के अनुभव को प्राप्त करने की दिशा मे प्रशिक्षण देते है।[2] यह भी सत्य है कि आत्मविषयक साक्षात्कार केवल ऐसे ही चित्त को होता है जो इसके लिए तैयार हो। यह कही आकाश से नही आता। यह मनुष्य के तर्क का अत्यन्त उदार तथा उत्तम फल है। यह केवल कल्पनामात्र नही है कि जो मनुष्य की बुद्धि को अनुकूल न जच सके। जो सत्य है वह उस प्रत्येक बुद्धि के लिए सत्य है जो उसे जान सके। व्यक्तिगत सत्य नाम की कोई वस्तु नही है जिस प्रकार कोई व्यक्तिगत सूर्य अथवा व्यक्तिगत विज्ञान नही होता। सत्य का एक अन्तर्निहित तथा सार्वभौम स्वरूप है जो किसी व्यक्ति के और यहा तक कि ईश्वर के भी ऊपर आश्रित नही है। यथार्थसत्ता को जानने की प्रक्रिया व्यक्ति की अपनी हो सकती है अथवा विशिष्ट हो सकती हे किन्तु ज्ञातविषय व्यक्तिगत नही है। यथार्थसत्ता अब और तब हो या यहा और वहा हो ऐसा नही है अपितु यह सब कालो मे और सर्वत्र एक समान रहनेवाली है।

काण्ट ने एक विवेकपूर्ण अन्तर्ज्ञान की बात कही है जिसमे चेतनता की उस वृत्ति का सकेत किया है जिसके द्वारा वस्तुओ का अपना अन्तर्हित ज्ञान तर्करहित विधि से भी प्राप्त किया जा सकता है। फीश्ते के अनुसार विवेकपूर्ण अन्तर्ज्ञान हमे आत्म-चेतना तक पहुचने मे सहायक होता है और यही उसके दर्शन मे समस्त ज्ञान का आधार है। शेलिंग ने भी उसी परिभाषा का प्रयोग परमसत्ता की चेतना का प्रतिपादन करने के लिए किया है जो विषयी और विषय के मध्य तादात्म्य भाव प्रकट करती है। किन्तु शकर के अनुसार अन्तर्ज्ञान का विषय काण्ट की अपने म पूर्ण अनेक वस्तुए नही है और न फीश्ते की आत्मा है अथवा शेलिंग का क्लीबाणु भी नही है किन्तु आत्मा अथवा सार्वभौम चैतन्य है। प्लाटिनस के ही समान शकर की दृष्टि मे भी परम निरपेक्ष सत्ता विषय के रूप मे उपस्थित नही होती है किन्तु साक्षात् सम्पर्क मे उपस्थित होती है जो ज्ञान से ऊपर है।[3] चूकि अन्तर्दृष्टि के द्वारा प्राप्त ज्ञान किसी अन्य वस्तु के विपरीत सिद्ध नही होता इसलिए यह सर्वोच्च सत्य है।[4]

१. कथ ह्येकस्य स्वहृदयप्रत्यय ब्रह्मवेदन देहधारणम् चापरेण प्रतिक्षेप्तु शक्यते? (४ : १, १५, शाकरभाष्य)।

२. शाकरभाष्य, २ : १, ६। अनुभवावसान ब्रह्मविज्ञानम् ('टयूसन्स सिस्टम आफ दि वेदान्त', अंग्रेजी अनुवाद, पृष्ठ ८९ टिप्पणी)। अनुभवारूढमेव च विद्याफलम् (३ : ४, १५)। ज्ञान का फल अन्तर्दृष्टि के लिए व्यक्त है (भगवद्गीता पर शाकरभाष्य, २ : २१ ; बृहदारण्यक उपनिषद्, ४ : ४, १९)।

३. 'एनीड्स्', ६ : ९, ४।

४. बाधकज्ञानान्तराभावाच्च (शाकरभाष्य, २ : १, १४)। शतश्लोकी में ऐसा कहा है कि "धर्मशास्त्र ब्रह्मज्ञान को दो प्रकार का बताते है अर्थात् अपने विषय मे अनुभव (स्वानुभूति) और निर्णयात्मक निश्चितता (उपपत्ति)। स्वानुभूति देह के सम्बन्ध में (देहानुबन्धात्) उदय होती है तथा उपपत्ति का उदय विश्व के सम्बन्ध में (सर्वात्मकत्वात्) होता है। प्रथमकोटि के अनुभव का रूप है कि

अनुभव अव्याख्यात मनोभावना का साक्षात् नही है जिसमें कि ज्ञात वस्तु का अस्तित्व तथा वस्तुविषय पृथक्-पृथक् नही है। यह पशु के समान प्रत्यक्ष न होकर कलापूर्ण अन्तर्दृष्टि से सम्बन्ध रखता है। यह वह साक्षात्कार है जो उच्चश्रेणी का है निम्न-श्रेणी का नही है, अपेक्षा ऐसे ज्ञान के जो अन्य के व्यवधान से तथा चिन्तन से प्राप्त होता है। इसमे सन्देह नही कि ऐसे ज्ञान की दृष्टि से जिसे प्रदर्शित किया जा सके यथार्थसत्ता एक समस्या है और ईश्वर के विषय मे तथा मोक्ष और अमरत्व के सम्बन्ध मे उस गम्भीरतम मानवीय गरिमा के हमारे विचार केवल नाम तथा प्रतीकमात्र है, जिसको प्राप्त करने का हम प्रयत्न तो कर सकते है किन्तु जिसे हम तब तक कभी प्राप्त नही करेंगे जब तक कि मन के अपने असत्याभासो के साथ कभी अन्त न होनेवाले सघर्ष से हम ऊपर न उठ जाए। अन्तर्दृष्टि तथा बुद्धि, अनन्त यथार्थसत्ता तथा सान्त मन के बीच जो दरार पडी हुई है उसकी ओर अनुभव और अध्याय सकेत करते है।

शकर मानते है कि यह अनुभव सबके लिए खुला तो है किन्तु बहुत कम व्यक्ति इसे प्राप्त करते है।[1] किन्तु आवश्यक विचारणीय विषय यह है कि यह सबके लिए खुला है। यथार्थसत्ता उपस्थित है, पदार्थनिष्ठ है और सदा विद्यमान रहनेवाली है, वह इस बात की प्रतीक्षा करती है कि कोई उसका साक्षात्कार करे ऐसे मन से जो उसको ग्रहण कर सके। प्रकट रूप मे शकर, यथार्थसत्ता केवल कुछ इने-गिने व्यक्तियो के सम्मुख ही अपना आविर्भाव करती है और वह भी सन्दिग्ध स्वप्नो के रूप मे तथा रहस्यमयी वाणी के द्वारा, इस प्रकार के मत से सहमत नही है। एक ऐसा ईश्वर जो अपने को केवल कुछ व्यक्तियो के सम्मुख ही अभिव्यक्त करता है और अन्यो के सम्मुख नही करता केवल एक कल्पनात्मक मिथ्या वस्तु है। वस्तुतः अन्तर्दृष्टि अथवा आध्यात्मिक अनुभव कुछ व्यक्तियो तक ही सीमित है यद्यपि है यह सार्वभौम सम्पत्ति, जब कि तर्क विचारशील मानवजाति के अधिकाश भाग मे सामान्य है। कुछ शक्तिया ऐसी है जो सब मनुष्यो मे अच्छी प्रकार से विकसित पाई जाती है यद्यपि अन्य शक्तिया उनके समान विकसित नही होती। विकास की वर्तमान अवस्था मे अनुभव विषयिनिष्ठ हो सकता है और इसकी साक्षी पर तभी विश्वास होता है जब कि यह तर्क के आदेशो के अनुकूल होती है।

"मै ब्रह्म हू" (ब्रह्माहमस्मीत्यनुभव) और फिर इस प्रकार का अनुभव कि "यह सब ब्रह्म है (सर्वं खल्विदं ब्रह्म)।"

१. तुलना कीजिए, डीन इगे : "ज्ञाता तथा ज्ञात का पूर्ण एकत्व ही पूर्णज्ञान है क्योंकि अन्तिम आश्रय के रूप में हम यही पहुचते है 'अपने को जाना'। इसलिए दैवीय ज्ञान की प्रक्रिया एक ऐसी क्षमता को क्रिया में परिणत कर देना है जोकि प्लाटिनस के अनुसार विद्यमान तो सबमें रहती है किन्तु जिसका उपयोग बहुत कम व्यक्ति करते है, यह वह दिव्य उपहार है जिसे कैम्ब्रिज के प्लेटोवादी विद्वानों ने मानवीय आत्मा के अन्दर दैवीय भावयुक्त प्रकृति का बीज बताया है" ('आउट स्पोकन एसेज', दूसरी सिरीज, पृष्ठ १४)।

२२

अनुभव, तर्क तथा श्रुति

यद्यपि अन्तर्दृष्टि से प्राप्त अनुभव सबसे अधिक निश्चित रूप का होता है, तो भी इसमें धारणा-सम्बन्धी विशदता का अंश केवल अल्पमात्रा में ही रहता है। इसीलिए इसे व्याख्या की आवश्यकता होती है और इन व्याख्याओं में भूल होने की सम्भावना भी रहती है एवं इस प्रकार इनकी अन्तरहिन पुनरावृत्ति की आवश्यकता होती है। श्रुति ऐसे विषयों का व्याख्यान करती है जिन्हें पूर्णता के साथ कथन नहीं करना चाहिए। प्रज्ञावान् विद्वान् मनुष्य उस भाषा तथा तर्क का आविष्कार करते है जो श्रुति वाक्यों के आख्यान के लिए उपयुक्त है। ऐसे व्यक्ति जिन्हें साक्षात् अन्तर्दृष्टि से ज्ञान प्राप्त नही हो सकता ऐसे वैदिक विचारों के ऊपर विश्वास करके उन्हें स्वीकार करने के लिए विवश हैं जिनमें कुछेक ऐसे उच्चतम कोटि के मस्तिष्कों के अनुभव अभिलेख के रूप में सुरक्षित रखे गए हे जिन्हे यथार्थसत्ता के बोध ग्रहणरूप समस्या के साथ एक दीर्घकाल तक संघर्ष करना पड़ा। साधारण कोटि के मनुष्य के लिए परमचैतन्य के विषय में प्रधान सत्य निश्चय ही व्यक्त किया जाता है क्योंकि वह उसका निश्चय मनुष्य की शक्ति के अन्तर्गत किसी साक्षी, जैसे प्रत्यक्ष अथवा अनुमान, के द्वारा नही कर सकता। उक्त मानवीय साक्षी के साधन हमे एक अतीतसत्ता का प्रबल सकेत तो देते हैं किन्तु निश्चयात्मक प्रमाण नही देते। शंकर स्वीकार करते है कि सत्य का अन्वेषण ही किया जाता है[1] और वे स्वयं भी विपक्षी दर्शन पद्धतियों की समालोचना करने मे अविरोध के सिद्धान्त का सत्य के अनुसन्धान के लिए उपयोग करते है। अन्य दार्शनिक विचारों के सम्बन्ध मे उनकी आपत्ति यह नही है, विशेषतः बौद्ध विचारों के विषय मे, कि उनमें समालोचना की गुजाइश है किन्तु यह है कि उक्त विचार प्रस्तुत करनेवालों ने तार्किक उपाय की अपूर्णता को नहीं समझा। उनका मत है कि वैदिक प्रामाण्य इन्द्रियों की साक्षी अथवा तर्कसम्मत निर्णयों से कहीं अधिक श्रेष्ठ है यद्यपि इसमे सन्देह नही कि उन क्षेत्रों में जो प्रत्यक्ष तथा अनुमान के विषय है वे अनुपयुक्त है। सैकड़ों श्रुतिवाक्य भी अग्नि को ठण्डा नही बना सकते।[2] श्रुति का उद्देश्य यह है कि ऐसे ज्ञान को जो साधारण साधनों के द्वारा प्राप्त नही किया जा सकता हमे प्रदान करे।[3]

वेदों का आशय आत्मा के एकत्व की शिक्षा देना है।[4] शंकर कहते हैं कि वेदान्त की यह खोज हमें अविद्या से मुक्ति दिलाने का कारण नही है क्योकि सारी खोज तथा ज्ञान जिनके साथ विषयी तथा विषय-सम्बन्धी द्वैत का भाव लगा हुआ है ब्रह्म के

१. सत्य विजिज्ञासितव्यम् (शांकरभाष्य, १ : ३. ८)।

२. ज्ञानं तु प्रमाणजन्यं यथाभूतविषयं न। न तन्नियोगशतेनापि कारयितुं शक्यते, न च प्रतिषेधशतेनापि वारयितुं शक्यते (शांकरभाष्य, ३ : २, २१ ; भगवद्गीता पर शांकरभाष्य, १८ : ६६)।

३. प्रत्यक्षादिप्रमाणानुपलब्धे हि विषये श्रुतेः प्रामाण्यं न प्रत्यक्षादिविषये (भगवद्गीता पर शांकरभाष्य, १८ : ६६)। अज्ञातज्ञापनं हि शास्त्रम्।

४. आत्मैकत्वविद्याप्रतिपत्तये सर्वे वेदान्ता आरभ्यन्ते (शांकरभाष्य, प्रस्तावना)।

साक्षात्कार में बाधास्वरूप है। यह हमारी मूर्खता को प्रकट करने में तो सहायक होता है किन्तु विद्या की प्राप्ति नहीं करा सकता।[1] अविद्या को दूर करना ही सत्य को ग्रहण करना है, ठीक जिस प्रकार रस्सी का ज्ञान होने का तात्पर्य है सर्परूपी भ्रांत ज्ञान का दूर हो जाना।[2] सत्य के ज्ञान ग्रहण के लिए साथ मे किसी अन्य साधन अथवा ज्ञान की नई क्रिया की आवश्यकता नही है।[3] "द्वैतभाव के नष्ट हो जाने पर फिर ज्ञान को एक क्षण की भी प्रतीक्षा नहीं करनी पड़ती क्योकि द्वैतभाव के नष्ट होने के पश्चात् भी यदि समय की अपेक्षा हो तो एक अन्तरहित पश्चाद्गति आ जाएगी और द्वैतभाव का कभी नाश ही न होगा। इसलिए ये इन दोनो, अर्थात् ज्ञान तथा द्वैतभाव का विनाश, एक ही समय में सम्पन्न होते है।"[4] जब भ्रात विचार प्रकाश मे आ जाते है तो हम यथार्थसत्ता तक पहुंच जाते हैं।[5] यदि यह प्रश्न किया जाए कि हम अविद्या से विद्या की ओर कैसे पहुंचते हैं—जो एक अनुचित प्रश्न है, क्योंकि जब भ्राति नष्ट हो जाती है तो सत्य जो कि स्वतःपूर्ण है, प्रकाश मे आ जाता है—तो इसका इससे अधिक उत्तम उत्तर और नही हो सकता कि ईशकृपा ही साधन है।[6] विशुद्ध आत्मा एक ऐसे अन्धे मनुष्य की भांति है जिसकी विनष्ट हुई दृष्टिशक्ति ईश्वर की कृपा से फिर लौट आए।

श्रुति को मानने का तात्पर्य है सन्तो तथा ऋषियो की साक्षी को स्वीकार करना। श्रुति की उपेक्षा करना मनुष्य जाति के अनुभव के अत्यन्त सजीव भाग की उपेक्षा करना है। भौतिक विज्ञान मे हम उन परिणामों को स्वीकार करते है जिन्हे सबसे महान अन्वेपकों ने सत्यरूप मे घोषित किया है। सगीत मे हम उन गीतों पर ध्यान देते हैं जो विख्यात सगीतज्ञो ने बनाए है और उसके द्वारा सगीत-सम्बन्धी सौन्दर्य के महत्त्व को पहचानने की योग्यता मे उन्नति करते है। धार्मिक सत्यो के विषयो मे हमें आदर भाव रखते हुए ऐसे धार्मिक मेधावी पुरुषो के लेखो पर ध्यान देना चाहिए जिन्होंने विश्वास तथा भक्तिभावपूर्वक अपनी आध्यात्मिक श्रेष्ठता को प्राप्त करने के लिए प्रयत्न किया है। अन्तिम सम्मति की प्रतिद्वन्द्विता मे प्रथम सम्मति को खड़ा

१. अविद्याकल्पितभेदनिवृत्ति (शाकरभाष्य, १ : १, ४)। देखे, भगवद्गीता पर शाकरभाष्य, २ : १८। तुलना कीजिए, प्लाटिनम : "ईश्वर का निर्वचन न तो वाणी के द्वारा और न लेखबद्ध विचार-परामर्श के द्वारा किया जा सकता है; किन्तु तो भी हम वाणी तथा लेख का प्रयोग करते है इसलिए कि आत्मा को उसकी ओर प्रेरित करें तथा विचार से साक्षात् दर्शन की ओर जाने को प्रोत्साहन दें, ऐसे मनुष्य के समान जो उन व्यक्तियों के लिए जिन्हें ऊपर की ओर के मार्ग पर चलना है उक्त मार्ग का निर्देश करता है। हमारे आदेश की पहुंच वहीं तक है जहां तक कि गन्तव्य मार्ग का सम्बन्ध है किन्तु साक्षात्कार तक पहुंचना उनका अपना कार्य है" 'एनीड्स्', ६ : ९, ४; केयर्ड : 'ग्रीक थियोलॉजी' खण्ड २, पृष्ठ २३७)।

२. शाकरभाष्य, माण्डूक्य-उपनिषद् पर, २ : ७।

३. वही।

४. वही।

५. आत्मैव अज्ञानहानिः।

६. शाकरभाष्य, २ : ३, ४१। देखें, कठोपनिषद्, २ : २२। ड्यूसन के मत में यही विषय है जबकि वह शंकर के ऊपर ईश्वर ज्ञानविषयक पक्षपात रखने का आरोप लगाता है। देखें, 'ड्यूसन्स सिस्टम ऑफ दि वेदान्त' पृष्ठ ८६–८७।

करने से कोई लाभ नहीं। "एक ऐसे विषय के लिए जिसका ज्ञान पवित्र परम्परा से होना चाहिए केवल चिन्तनमात्र का उद्धरण न दिया जाना चाहिए, क्योंकि ऐसे विचार जिनका आधार परम्परा में न पाया जाता हो और जो केवलमात्र मनुष्यों की उत्प्रेक्षा (कल्पना) ही के ऊपर आश्रित हैं स्थायी नहीं होते क्योंकि इस प्रकार की कल्पना के पीछे किसी प्रकार का नियन्त्रण नहीं रहता।"[1] यदि हम केवल विचार के ऊपर निर्भर करें तो हमें जगत् के विषय में, अपने अस्तित्व के विषय में तथा भविष्य के विषय में भी संशय उत्पन्न होगा और समस्त जीवन ही संशय मे परिणत हो जाएगा। किन्तु चूंकि हमें अवश्य ही अपनी परिस्थिति के ऊपर आश्रित होना चाहिए नही तो वह हमारा विनाश कर देगी। इसलिए हमारे अन्दर की शक्ति हमें बलात् विश्वास करने की ओर प्रेरित करती है। ऐसी आध्यात्मिक अन्तःप्रेरणाए है जिनकी तर्क के आधार पर उपेक्षा नही की जा सकती। निषेधात्मक आधार पर कोई जीवित नहीं रह सकता। शंकर का दार्शनिक कर्तव्य क्रमबद्ध दर्शन ज्ञान के द्वारा हमारा भ्रम निवारण करना है और यह प्रतिपादित करना है कि तर्कशास्त्र अपने-आपमें हमें संशयवाद की ओर ले जाता है। हम मान लेते है कि इस संसार में विवेक भी है और धार्मिकता भी है। हम बिना इसके अर्थपूर्ण ब्यौरे के भी संसार को एक पूर्ण इकाई मान लेते हैं। हम इसे धारणा ही कहेंगे क्योंकि हमें यह आशा नही है कि हम कभी दृश्यमान अव्यवस्था की पृष्ठभूमि मे विद्यमान नित्य व्यवस्था की खोज करने मे सफल हो सकेंगे। ईश्वररूपी दैवीय मस्तिष्क की यथार्थसत्ता को स्वीकार कर लेने से हमारे जीवन में समृद्धि तथा सुरक्षा का भाव आता है।[2] इसके अतिरिक्त सत्य[3] को एक समान[4], विरोधरहित[5] तथा सार्वभौम रूप मे मान्य होना ही चाहिए। यद्यपि विचार के निर्णयों को इस प्रकार से मान्य नही ठहराया जाता। किन्तु "वेद ज्ञान के स्रोतरूप में नित्य है, इनका प्रतिपाद्य विषय परिपक्व है और इनके द्वारा प्राप्त पूर्ण ज्ञान भूत, वर्तमान तथा भविष्यत् की समस्त कल्पनाओं द्वारा भी विपरीत नही ठहराया जा सकता।" केवल तर्क एक औपचारिक प्रक्रिया है। तर्क जिन निर्णयों पर पहुचता है वे उस साध्य पक्ष के ऊपर निर्भर करते है जिनको लेकर यह आगे बढता है और शकर इसपर बल देते है कि धर्मशास्त्रों में अभिलिखित धार्मिक अनुभव को धर्मसम्बन्धी दर्शन के अन्तर्गत तर्क का आधार बनना चाहिए। तर्क से शकर का तात्पर्य उस तर्क से है जिसपर इतिहास की शिक्षाओं ने कोई नियन्त्रण न लगाया हो। इस प्रकार का व्यक्तिगत तर्क सत्य की

१. शांकरभाष्य, २ : १, ११। यही कारण है कि कपिल व कणाद जैसे माने हुए विचारकों की सम्मति में भी प्रायः परस्पर विरोध पाया जाता है। तुलना कीजिए, कुमारिल : "कितने ही कुशल तार्किक क्यों न हों उनके द्वारा अत्यन्त सावधानी के साथ अनुमान किए गए विषय की व्याख्या अन्य अधिकतर कुशल तार्किकों द्वारा अन्य प्रकार से की जाती है।"

२. "मनुष्यों को अपने साथ अन्य जन्म के सम्बन्ध का ज्ञान न तो प्रत्यक्ष और न अनुमान के द्वारा ही हो सकता है और न ही मृत्यु के पश्चात् आत्मा के अस्तित्व के विषय में ज्ञान हो सकता है इसलिए श्रुति के रूप में ईश्वरीय ज्ञान की आवश्यकता है" (शांकरभाष्य, बृहदारण्यक उपनिषद् पर, प्रस्तावना)।

३. सम्यग्ज्ञान। ४. एकरूपम्। ५. पुरुषाणां विप्रतिपत्तिरनुपपन्ना।

स्थापना की ओर हमें नहीं ले जा सकता क्योंकि ज्ञान-ग्रहण की शक्ति में असंख्य प्रकार की विविधता रहती है।[1] श्रुति में आत्म-सम्बन्धी सत्यों का प्रतिपादन किया गया है जिन्होंने मनुष्य जाति के अधिकांश भाग के अध्यात्मिक सहजबोधों का सन्तोष प्रदान किया है। इसके अन्दर मनुष्य जाति के परम्परागत परिपक्व विचारों का समावेश है जिनमें विचार की अपेक्षा आत्मा के जीवन का वर्णन अधिक है और हममें से उन व्यक्तियों के लिए जो उस जीवन में भाग नही लेते ये अभिलिखित अनुभव बहुत महत्त्व के हैं।[2]

शंकर धर्मशास्त्र के विचारों की तर्क द्वारा परीक्षा की आवश्यकता को स्वीकार करते हैं। जहां कहीं भी उन्हें अवसर मिला, उन्होंने धर्मशास्त्र के कथनों को विवेक-बुद्धि की युक्तियों द्वारा समर्थन करने का प्रयत्न किया है।[3] ऐसा तर्क जो अनुभव का सहायक होकर कार्य करता है शंकर को अभिमत है।[4] उनके लिए तर्क एक समीक्षात्मक शास्त्र है जिसका प्रयोग अपरीक्षित धारणाओं के विरुद्ध किया जाता है और तर्क एक रचनात्मक तत्त्व भी है जो सत्य-सम्बन्धी तथ्यों का चुनाव करता तथा उनके ऊपर बल देता है।[5] "ऐसे व्यक्ति भी जिनमें निर्णय करने की शक्ति नहीं है बिना किसी तर्क के किसी विशेष परम्परा का आश्रय नही लेते।"[6]

अनुभव एक ऐसी महत्त्वपूर्ण आध्यात्मिक अनुभूति है जिसका उपदेश केवल कल्पना की भाषा द्वारा हो सकता है और एकमात्र श्रुति ही इसका लिखित संहिता-ग्रन्थ है। अनुभव की पृष्ठभूमि के बिना श्रुति का कथन अर्थ विहीन केवल शब्दमात्र है।[7] ऐसे मन्त्र जिनके अन्दर निन्दा अथवा स्तुति (अर्थवाद) है और जिनका कोई स्वतन्त्र तात्पर्य नही है विधिवाक्यों के समर्थन में सहायक होते है और वे प्रत्यक्षज्ञान से श्रेष्ठ नहीं हैं। ऐसे मन्त्र जो यथार्थसत्ता के स्वरूप का वर्णन करते है प्रामाणिक

१. कस्यांचित् क्वचित् पक्षपाते सति पुरुषमतिवैरूप्येणतत्त्वाव्यवस्था प्रसङ्गात् (शांकरभाष्य, २ : १, १)।

२. शांकरभाष्य, २ : १, ११; २ : ३, १; १ : १, २।

३. देखें, शांकरभाष्य, गौडपाद की कारिका पर, ३ : २७। गौडपाद की कारिका के ३ : १ के ऊपर भाष्य करते हुए शंकर कहते हैं : "यह प्रश्न किया गया है कि क्या केवल श्रुति की ही साक्षी के आधार पर अद्वैत सिद्धान्त को सिद्ध मान लिया गया है और यह कि तर्क सम्भवतः इसको प्रत्यक्ष के आधार पर सिद्ध करके नहीं दिखा सकता, और इस अध्याय में दिखाया गया है कि किस प्रकार अद्वैत की सिद्धि तर्क के द्वारा भी हो सकती है।" तर्क का ईश्वरीय ज्ञान के साथ क्या सम्बन्ध है इस विषय पर अधिक पूर्ण विचार-विमर्श के लिए श्री वी० सुब्रह्मण्य अय्यर के दो लेख 'संस्कृत रिसर्च', जुलाई १९१५, और 'इण्डियन फिलासफिकल रिव्यू', अप्रैल १९१८ में, तथा एस० सूर्यनारायणन का लेख 'समीक्षात्मक आदर्शवाद तथा अद्वैत वेदान्त' 'मैसूर यूनिवर्सिटी मैगजीन' नवम्बर १९१९ में देखें।

४. शांकरभाष्य, २ : १, ६; २ : १, ११।

५. शांकरभाष्य, २ : १, ४, ३७; २ : २, ४१; २ : ४, १२।

६. शांकरभाष्य, २ : १, १।

७. केवल श्रुतिमात्र प्रत्यक्ष की साक्षी की अपेक्षा श्रेष्ठतर नहीं है किन्तु वही श्रुति जिसका निश्चित तात्पर्य है श्रेष्ठ है। "तात्पर्यवती श्रुतिः प्रत्यक्षाद् बलवती न श्रुतिमात्रम्" (भामती : सिद्धान्त-लेशसंग्रह)।

हैं ।[1] निःसन्देह श्रुति को अनुभव के अनुकूल होना चाहिए और वह अनुभव को अतिक्रमण नहीं कर सकती। वाचस्पति का कहना है: "सहस्र श्रुतिवाक्य भी घड़े को कपड़ा नही बना सकते ।"[2] इसी प्रकार धार्मिक विचार-विमर्श के लिए धर्मशास्त्र के कथनों का अन्तर्दृष्टि द्वारा जाने गए तथ्यो के अनुकूल होना आवश्यक है। सबसे उच्चकोटि का प्रमाण प्रत्यक्ष है, चाहे यह आध्यात्मिक हो अथवा ऐन्द्रिक, और उसे इस योग्य भी होना चाहिए कि निश्चित अवस्थाओ के अनुसार इसका हम भी अनुभव कर सके। श्रुति का प्रामाण्य भी इसी तथ्य के आधार पर माना गया है कि यह केवल अनुभव का ही आख्यान है और चूकि अनुभव आत्मपरिचयरूप होता है इसलिए वेदो को स्वतःप्रमाण कहा गया है, जिन्हे बाहर से किसीके समर्थन की आवश्यकता नही है ।[3] इसलिए वेदो मे वे सत्य है जिनकी खोज मनुष्य अपनी शक्तियो का उपयोग करके भी कर सकता है, यद्यपि यह हमारे लिए एक लाभप्रद विषय है कि वे ईश्वर प्रदत्त है, क्योकि हम देखते है कि सब मनुष्यो को इतना साहस, समय तथा साधन प्राप्त नहीं है कि वे उस प्रकार के उद्योग की कठिनाइयो का सामना कर सके।

२३

परा तथा अपरा विद्या

परमसत्य का नाम परा विद्या है। इसकी विषयवस्तु है आत्मा का एकत्व तथा उसीकी एकमात्र यथार्थसत्ता। यदि तार्किक साधनो के द्वारा हम परमयथार्थता का वर्णन करने का प्रयत्न करे तो हमे अगत्या कल्पना तथा प्रतीक का प्रयोग करना होगा। वेदो मे हमें सत्य की सबसे उच्चश्रेणी की सन्निकटता मिलती है। व्यावहारिक सत्य अथवा अपरा विद्या सर्वथा असत्य नही है। यह वह सत्य है जो सासारिक-चैतन्य के दृष्टिकोण से देखा जाता है ।[4] देश, काल तथा कारणकार्यभाव से आबद्ध यह ससार अंतिम नही है किन्तु हमारे अपने ज्ञान की श्रेणी से सम्बन्ध रखता है। इसका अस्तित्व हमारे आंशिक ज्ञान के कारण है और उस सीमा तक जहा तक हमारा ज्ञान आशिक है इसका विषय अमूर्त भावात्मक है। उच्च स्तर के एकेश्वरवाद-सम्बन्धी विचार तथा निम्नस्तर के बहुत्व सम्बन्धी विचार एक समान

१. 'विवरण' का ग्रन्थकार भामती के इस मत का विरोध करता है, इस आधार पर कि स्वतन्त्र तात्पर्य का अस्तित्व निर्दोष कसौटी नही है और श्रुति अपने रूप मे ज्ञान के अन्य साधनो की साक्षी की अपेक्षा श्रेष्ठ है क्योंकि यह निर्दोष है और इसका स्वरूप भी ऐसा है कि इसके ऊपर सत्य के निश्चय के लिए और कोई न्यायालय भी नहीं है।

२. नह्यागमाः सहस्रमपि घटं पटयितुम् ईष्टे (भामती, प्रस्तावना)। •

३. प्रामाण्यं निरपेक्षम्।

४. तुलना कीजिए, ड्यूसन : "यदि ठीक-ठीक विचार किया जाए तो प्रतीत होगा कि यह अपरा विद्या व्यावहारिक रूप मे अध्यात्म विद्या ही है, अर्थात् विद्या जिस रूप में अविद्या के दृष्टिकोण से विचार करने पर हमें प्रतीत होती है" ('ड्यूसन्स् सिस्टम ऑफ दि वेदान्त', पृष्ठ १००)।

अर्थ मे सत्य नही हो सकते । शंकर इस कठिन समस्या का हल निम्नस्तर के बहुत्व-सम्बन्धी विचार को उच्चस्तर के विचार से गिरावट का रूप देकर करते है ।

निम्नस्तर का ज्ञान (अपरा विद्या) मायारूप या भ्रमात्मक नही है अपितु केवल सापेक्ष है । अन्यथा, शंकर का परिष्कृत और उत्साह से भरा विचार-विमर्श अपरा विद्या के विषय मे असंगति के कारण हास्यास्पद सीमा तक पहुंच जाएगा । वे स्वीकार करते है कि अपरा विद्या अन्त में जाकर हमे परा विद्या तक पहुचा देती है । "इस श्रुति मे दिए गए सृष्टिरचनाविषयक विवरण का उच्चतम उद्देश्य, जिसे अविद्या स्वीकार करती है, शिक्षाए हैं जो ब्रह्म को यथार्थ आत्मा बतलाती हैं । इसे भूलना न चाहिए ।"[1] अतीन्द्रिय निरपेक्षतावाद जब मनुष्य के मस्तिष्करूपी कारखाने मे से गुजरता है तब एक व्यावहारिक आस्तिकवाद बन जाता है जो तब तक ही सत्य है जब तक कि सत्यज्ञान का उदय नही होता, जैसे स्वप्नावस्था की वस्तुए तब तक सत्य है जब तक कि जाग्रत् अवस्था नही आ जाती ।[2]

अविद्या अथवा सीमित विचार यथार्थसत्ता को अपना साक्ष्य प्रदान करते है जो विचार के क्षेत्र से परे है । यह हमे इस परिणाम पर पहुचाता हे कि इसका सत्य सापेक्ष है और प्रत्यक्ष रूप मे यह यथार्थसत्ता के स्वरूप को ग्रहण नही कर सकता ।[3] जहां एक साधारण रहस्यवादी योगी भेदों से ऊपर उठने का प्रयत्न करता है और

१. 'ट्यूमन्स सिस्टम आफ दि वेदान्त', पृष्ठ १०६ । २. शांकरभाष्य, २ : १, १४ ।

३. तुलना कीजिए, डाक्टर मैकटेगर्ट : "ऐसी अध्यात्म विद्या जो बोधग्रहण की उपेक्षा करती है निःसन्देह दूषित समझी जाएगी । किसीने कभी भी तर्क का प्रतिषेध नहीं किया किन्तु अन्त में तर्क ने उसे खण्डित कर दिया । किन्तु अध्यात्म विद्या वह वस्तु है जिसका प्रारम्भ बोधग्रहण के दृष्टिकोण से होता है और वह उसमें केवल उसी अवस्था में पृथक् होती है जब कि उक्त दृष्टिकोण निरपेक्ष नहीं प्रतीत होता अपितु अपने से परे किसी वस्तु की कल्पना करता है । निम्नतम को पार करना उसकी उपेक्षा करना नहीं है" ('हीगलियन काम्मोलाजी', पृष्ठ २६२)। स्पिनोजा ने अनुपात तथा 'साइंटिया इंट्यूइटिवा' के मध्य भेद किया है । वह ज्ञान के तीन प्रकार मानता है : (१) एक वह जो कल्पनाजन्य है जो केवल सम्मति प्रकट करता है । इसमें समस्त अपर्याप्त तथा सन्दिग्ध विचार आते हैं । यह भ्रमात्मक ज्ञान का भी आदि स्रोत है । (२) तर्क जो हमें सामान्य विचार तथा विज्ञान के ज्ञान को प्रदान करता है और जो "वस्तुओं की अनुकूलताओं, भेदों तथा विरोधों का ग्रहण करने" का प्रयत्न करता है ('एथिक्स', खण्ड २, पृष्ठ २६, स्कालियम)। जहां एक ओर एक औसत दर्जे के अशिक्षित मनुष्य के विचार का कारण कल्पना होती है वहां दूसरी ओर एक वैज्ञानिक के क्रमबद्ध ज्ञान का कारण तर्क होता है । (३) अन्तर्ज्ञान में दार्शनिक मेधा का प्रयोग, कलापूर्ण अन्तर्ज्ञान और रचनाशक्ति समाविष्ट है । इसका विषय है व्यक्ति । तो भी शंकर हमें योरुप के विचारकों में सबसे अधिक प्लेटो की याद दिलाते है । दोनों ही महान् आध्यात्मिक यथार्थवादी थे जिन्होंने अपने विचारों में भूतकाल की प्रमुख प्रवृत्तियों का संश्लेषण किया । दोनों ने ज्ञान के दो विभाग किए अर्थात् उच्चतम तथा निम्नतम (परा तथा अपरा), जिनमें से पराविद्या के ज्ञान का क्षेत्र है निरपेक्ष सत्य अथवा आदर्श तथा निःश्रेयस एवं अपराविद्या के ज्ञान का क्षेत्र है आभासमात्र जगत् । यह स्वीकार करते हुए कि यथार्थता ऊपर के प्रतीति रूप धरातल से कहीं दूर है, दोनों ही हमें यह बतलाते हैं कि इसका ग्रहण आत्मा के निजी स्वरूप में पहुंच जाने पर हो सकता है । दोनों ही अन्तर्ज्ञान में विश्वास रखते हैं जिसके द्वारा हमें यथार्थसत्ता के प्रतीति रूप का साक्षात् होता है ।

अपने-आपको तथा अपनी खोज के विषय को भी अज्ञानरूपी मेघ में खो देता है, शङ्कर हमारे सम्मुख कुछ दार्शनिक कठिनाइयां उपस्थित करते है और हमें बतलाते है कि ये एक श्रेष्ठ अन्तर्दृष्टि की सम्भावना की ओर संकेत करती हैं जिसके लिए वह सब प्रकाशस्वरूप है, जो दैवीय और बुद्धि के लिए अंधकारमय है। वेदों में, जिन्हें प्रामाणिक माना जाता है, शङ्कर के अनुसार अपरा तथा परा विद्या दोनों ही हैं। वेद एक अद्वितीय ब्रह्म का वर्णन करते है तथा बहुत्वपूर्ण विश्व की अयथार्थता को भी बताते है।

शङ्कर के दर्शन मे हमे तीन प्रकार के अस्तित्व मिलते है : (१) पारमार्थिक या परमयथार्थसत्ता, (२) व्यावहारिक सत्ता और (३) प्रातिभासिक या भ्रमात्मक सत्ता। ब्रह्म प्रथमश्रेणी की सत्ता है, देश, काल तथा कारणकार्य से बद्ध संसार दूसरी श्रेणी का है, और कल्पनात्मक पदार्थ जैसे सीप में चांदी तीसरी श्रेणी के है।[1] भ्रमात्मक सत्ता मे सार्वभौमिकता नही रहती। यह किसी-किसी अवसर पर उदय होती है। इसमे क्रियात्मक क्षमता नहीं है। प्रतीतिरूप सत्ता का भ्रमात्मक भाव इसके अधिष्ठान के प्रत्यक्ष ज्ञान हो जाने पर नष्ट हो जाता है। व्यावहारिक अस्तित्व-सम्बन्धी भूल जब इसके आधारस्वरूप ब्रह्म का साक्षात् हो जाता है तो स्वयं नष्ट हो जाती है। मिथ्या तथा स्वप्नजगत् की अपेक्षा व्यावहारिक-जगत् में उच्चतम कोटि का सत्य विद्यमान है। यह आत्माओं का जगत् है, उनकी परिस्थिति तथा प्रभु है, किन्तु यथार्थ में इसका मूल एकमात्र ब्रह्म में है।[2] यह स्पष्ट रूप से समझ लेना चाहिए कि आनुभविक आत्मा तथा व्यावहारिक जगत् दोनो ही यथार्थता की एक ही कोटि मे है। व्यावहारिक जगत् भ्रान्तिरूप नही है क्योकि इसका निर्माण आनुभविक अहभाव के विचारों से ही हुआ है। देश मे अवस्थित बाह्य जगत् का अस्तित्व आनुभविक आत्मा तथा इसके विचारो से स्वतन्त्र है। ये दो व्यावहारिक क्षेत्र आत्माओ तथा पदार्थों के एक-दूसरे के साथ कारण-कार्य सम्बन्ध मे रहते है। व्यावहारिक अह के रूप मे जो हम इस संसार में पाते है वह यह है कि उसे हमने अतीन्द्रिय विषयी के रूप मे वहा रखा है।

१. वेदान्त परिभाषा। अद्वैत की कुछ अर्वाचीन पुस्तकों में इस भेद का प्रयोग जीव के लिए भी किया जाता है। 'दृग्दृश्यविवेक' में यह कहा गया है कि व्यक्तित्वहीन चैतन्य अपने उप-सहायकों से परिमित ही यथार्थ आत्मा है; जब यह अपने अन्दर कर्तृत्व तथा क्रियाशीलता धारण कर लेता है और इन्द्रियों तथा अन्तःकरण से अपने को परिमित कर लेता है तो यही व्यावहारिक आत्मा है; प्रतीति रूप जीव समझता है कि इसका स्वप्न शरीर तथा चैतन्य ये सब स्वीय है। (सिद्धान्तलेशसंग्रह, १)।

२. तुलना कीजिए, माण्डूक्योपनिषद् पर शांकरभाष्य के सम्बन्ध में आनन्दगिरि की टीका—ब्रह्मण्येव जीवो जगद् ईश्वरश्चेति सर्वं काल्पनिकं सम्भवति।

२४

शंकर के सिद्धान्त और कुछ पाश्चात्य विचारों की तुलना

शंकर के ज्ञानविषयक सिद्धान्त की तुलना प्रायः काण्ट के सिद्धान्त के साथ की जाती है।[1] किन्तु इन दोनों में जहां अद्भुत समानताएं हैं वहां बहुत दूर तक भेद भी है। काण्ट के समान शंकर भी ज्ञान की सम्भावनात्मक समस्या को व्यवस्थित बनाते है यहां तक कि आत्मविषयक ज्ञान के लिए भी व्यवस्था का निर्माण करते है और दार्शनिक जिज्ञासा में इसे प्रमुख स्थान देते है। ये दोनों विचारक आनुभविक जगत् को प्रतीतिरूप मानते है और मानवीय मस्तिष्क की रचना को इस सीमितता का कारण बताते हैं। मनुष्य के बोधात्मक यन्त्र की परीक्षा करने के बाद काण्ट इस परिणाम पर पहुंचता है कि मनुष्य के लिए अतीद्रिय विषयो का ज्ञान प्राप्त करना असम्भव है क्योंकि जो कुछ भी ज्ञान का विषय बनता है वह देश, काल की आकृतियों तथा बोधग्रहण की श्रेणियों के अन्दर आवद्ध है जिनमे प्रधान है कारणकार्यभाव। यथार्थसत्ता के सत्त्व को हम नही जानते, हमें जिसका ज्ञान प्राप्त होता है वह उसका केवल आभासमात्र है। शंकर के अनुसार यह हमारी दृष्टि का एक बहुत बड़ा दोप हे जिसके कारण जो वस्तुतः एक है उसको हम अनेक के रूप में देखते है। पर्याप्तमात्रा मे असद्भामता के कारण हमारी तार्किक क्रियाशीलता हमें प्रतीतिरूप जगत् की ओर बलात् ठेलती है जो सदा के लिए हमारे तथा यथार्थसत्ता के मध्य में अपना स्थान बनाए हुए है। शंकर और काण्ट दोनों ही ज्ञान की उपाधियों के प्रश्न को आनुभविक विधि की अपेक्षा समीक्षात्मक विधि से हल करते है। शंकर ने काण्ट की भूल से अपने को बचा लिया जिसने अनुभव के तार्किक संकेतों को अनुभव की पूर्वरूप उपाधिया न मानकर यह घोषणा की कि व्यवहारातीत जगत् के पदार्थ अपने-आपमे यथार्थ है। शकर का लक्ष्य यह था कि वे अनुभव के क्षेत्र मे अन्तर्निहित सिद्धान्त को खोज निकाले न कि उससे परे के जगत् को। किन्तु इस विषय मे दोनों एकमत हैं कि यदि तार्किक बुद्धि अपने को यथार्थता का निर्माण करने वाली समझती है तो यह सत्य की प्राप्ति के अधिकार से वञ्चित हो जाती है, और जैसा कि काण्ट का कहना है, यह भ्राति की एक अन्तर्निहित शक्ति के रूप में परिणत हो जाती है। शङ्कर और काण्ट मनोवाद का खण्डन करते है। डेस्कार्ट के विपरीत, जो हमारे अपने अस्तित्व संबन्धी ज्ञान, जो साक्षात् (अव्यवहित) तथा संशयरहित है, तथा बाह्यविषयों के ज्ञान के मध्य भेद करता है, जो अनुमानजन्य तथा समस्यापूर्ण है, काण्ट का तर्क है कि बाह्य जगत् का ज्ञान भी हमारे लिए उतना ही प्रत्यक्ष (अव्यवहित) तथा निश्चित है जितना कि हमारा आत्मविषयक ज्ञान है। काण्ट बर्कले के विषयिविज्ञानवाद का अपने 'क्रिटिक आफ़ प्योर रीज़न' नामक ग्रन्थ के दूसरे सस्करण के 'आदर्शवाद का खण्डन' नामक प्रसिद्ध

१. प्लाटिनस के रहस्यवादी आदर्शवाद का बहुत-सा सार भारतीय विचार से लिया गया है। हम जानते है कि प्लाटिनस सम्राट् गॉर्डियन (सिकन्दर) के साथ अपने प्रचार के सिलसिले में पूर्वीय देशों में आया था और उस समय वह भारतीय आदर्शवादियों के सम्पर्क में आया होगा।

अध्याय में खण्डन करता है। "सरल किन्तु आनुभविक रूप से निर्णीत मेरे अपने अस्तित्व की चेतनता यह सिद्ध करती है कि बाह्य पदार्थों का अस्तित्व देश के अन्दर है।" किन्तु यदि यथार्थसत्ता से हमारा तात्पर्य ऐसी सत्ता से है कि जिसका विचार चेतनता से स्वतन्त्र रूप मे विद्यमान समझकर किया जा सके और जिसका सम्बन्ध किसी ज्ञान से न हो तब शकर के अनुसार न तो यह व्यावहारिक आत्मा, जिससे हम परिचित हैं, न ही यह बाह्यजगत, जिसका हमे ज्ञान है, यथार्थ है। और काण्ट कहता है कि अनुभवगम्य सब पदार्थ प्रतीतिमात्र है, तात्त्विक नही है।[1] दूसरी ओर यदि यर्थार्थसत्ता से हमारा तात्पर्य अनुभव की ऐसी सामग्री से हो जिसपर निर्भर किया जा सके तब व्यावहारिक आत्मा तथा बाह्य जगत् दोनो ही यथार्थ है और दोनो एक ही श्रेणी के है। परिमित शक्तिवाली आत्मा तथा यह जगत् यथार्थ अथवा अयथार्थ हैं और यह इस बात के ऊपर निर्भर करता है कि हम यर्थार्थ का क्या तात्पर्य समझते है। जहा काण्ट वस्तुओ के अपने आपमे अनेकत्व मे विश्वास करता है, शकर बलपूर्वक कहते है कि आधारभूत यथार्थता एक ही है। इस विषय मे शकर का विचार काण्ट की अपेक्षा अधिक दार्शनिक हे जो अनुचितरूप मे जगत् के भेदो को वस्तुओ की निजी सत्ता के क्षेत्र मे ले आता हे।

शकर काण्ट की भाति भाव (आशय) तथा बोधग्रहण के बीच कोई स्पष्ट विभाजक रेखा नही खीचते और न वे यह विश्वास ही करते है कि हमारी बुद्धि के तत्त्वो म ठोस तथ्यो को प्रस्तुत करने की शक्ति नही है। काण्ट के अनुसार प्रत्यक्ष का असम्बद्ध वाक्यविन्यास ही, जिसे ज्ञान नही कहा जा सकता, हमारे सामने प्रस्तुत होता है, इसमे से जिस वस्तु का हम अपने वर्गविभाग के द्वारा निर्माण करते हैं और जिसमे आवश्यकता तथा व्याप्ति बाहर से आकर जुड जाती है वही ज्ञान है। शकर के दर्शन मे मानसिक रचना तथा प्रस्तुत तथ्य मे कोई विरोध नही है। ये दोनो ही एक-दूसरे के अनुकूल है। यही भेद शकर तथा ब्रैडले मे भी है। शकर यह नही कहते कि वास्तविक शारीरिक सवदना मे हमे 'वह' का अनुभव होता है और यह कि विचार का आधार क्या' को 'वह' से पृथक् करने की दोषपूर्ण कल्पना है। इसका परिणाम यह होना है कि हम फिर से 'वह' को केवल विचार रूप उपस्थिति के द्वारा अपने ध्यान मे नही ला सकते। और न प्लेटो के विरुद्ध अरस्तू द्वारा किए गए इस आक्षेप के साथ ही शकर अपनी सहमति प्रकट कर सकने हैं कि यदि इन्द्रियो द्वारा ग्राह्य ज्ञान बुद्धिगम्य नही है तब विचार हमे इन्द्रियग्राह्य जगत् को समझने मे सहायक नही हो सकते। शकर की दृष्टि मे इन्द्रियग्राह्य बुद्धिग्राह्य से न्यूनतम है और बुद्धिगम्य इन्द्रियगक् का सम्यक् ज्ञान प्राप्त करने मे हमे सहायता प्रदान करता है, यद्यपि उनके मन मे बुद्धिगम्य भी यथार्थ से न्यूनतम कोटि का है। वे यथार्थ को इन्द्रियग्राह्य से और बुद्धिग्राह्य से भी पृथक् करते है और उनका मत है कि इन्द्रियगम्य की अपेक्षा बुद्धिगम्य यथार्थसत्ता के अधिक सन्निकट है।

१. देखें, काण्ट : 'प्रोलेगोमेना'। देखें, १३, रिमार्क २।

कहीं-कहीं शंकर के सिद्धान्त की तुलना एम० बर्गसां के सिद्धान्त के साथ की जाती है जिसका तर्क है कि मनुष्य में चैतन्य का विकास हुआ है। अमीबा (आद्यजीव) से ऊपर की ओर उठने मे एक लम्बा समय लगा है। मनुष्य के विकास की प्रक्रिया मे उन प्राणियों की अनेक प्रकार की अन्तर्निहित चेतनता का दमन हुआ है। हम जो आज हैं, हमें इस स्थिति तक पहुंचने के लिए बहुत अधिक मूल्य चुकाना पड़ा है। यद्यपि हमारे तार्किक मस्तिष्कों की उपयोगिता क्रियात्मक उद्देश्य की पूर्ति के लिए है, तो भी यह कल्पना करना अयुक्तियुक्त है कि अब जो कुछ हम है उसमें हमारा सम्पूर्ण अस्तित्व विलीन हो गया। इस जगत् में भी हमें मेधावी तथा अन्तर्दृष्टि सम्पन्न ऐसे मनुष्य मिलते है जिनके अन्दर प्रसुप्त शक्तियां उत्तेजना पाकर जीवन में प्रकट होती हैं। शंकर बर्गसां के इस मत से सहमत नहीं होंगे कि बुद्धि जीवन के प्रवाह को छिन्न-भिन्न कर देती है और यह कि अन्तविहीन गत्यात्मक प्रक्रिया को बुद्धि एक स्थिर विषय अथवा ज्यामितीय गुणोत्तर श्रेणी के रूप में परिणत कर देती है। बुद्धि केवल यथार्थता का अवयव विच्छेद ही नही करती अपितु उसका फिर से निर्माण कर देने का भी प्रयास करती है। अपने व्यापारो में इसके विश्लेषणात्मक तथा संश्लेषणात्मक दोनों ही रूप हैं। विचार सम्भाव्य घटना को विधान में परिणत कर देता है। यह केवल यथार्थता को भिन्न-भिन्न भागों में विभक्त ही नहीं करता अपितु देश, काल तथा कारणकार्यभाव के द्वारा एकत्व के बन्धनों में संभालकर ग्रहण किए रहता है। ठोस आनुभविक जीवन के लिए हमारी बुद्धि सर्वथा पर्याप्त है। इतना ही नही अपितु एक-दूसरे के लिए उनका निर्माण हुआ है और ये एक ही प्रक्रिया की समानान्तर अभिव्यक्तियां है। यदि शंकर बुद्धि को मनुष्य के चैतन्य की सर्वोच्चवृत्ति नही मानते तो इसलिए कि अपने-आपमें पूर्ण होने पर भी बुद्धि-जगत् हमारे आगे एक समस्या उपस्थित कर देता है। तार्किक दृष्टि से जो पूर्ण जगत् है जीवन तथा अनुभव जगत् के लिए पूर्ण नहीं है। यही कारण है कि शकर इसे अन्तिम या सुनिश्चित नहीं मानते। उनकी दृष्टि में केवल गणितविद्या ही भावात्मक अमूर्त नही है किन्तु समस्त ज्ञान अर्थात्—इतिहास, कला, नीतिशास्त्र और धर्म भी उसी कोटि मे है क्योंकि ये सब द्वैतपरक दृष्टिकोण की धारणा को पूर्व से ही मान लेते हैं। शंकर इस विचार से कि बुद्धि विश्लेषण तथा पृथक्भाव का उपयोग करती है इसे दोषपूर्ण नहीं ठहराते। वे इसकी मूर्तता को स्वीकार करते है और फिर भी इसे असन्तोषप्रद मानते है। जब हम सरल तत्त्वों से संयुक्त पदार्थों के वर्गों की ओर आते है और तर्क के द्वारा एक सर्वश्रेष्ठ व्यक्तित्व (ईश्वर) तक पहुंचते है, जिसका अस्तित्व इस विश्व में व्यक्त हो रहा है, तो शंकर अनुभव करते हैं कि हमारे तर्कशास्त्र ने मूर्तता का रूप धारण कर लिया। विचार की विजय, ठोस पदार्थ की विजय है किन्तु अत्यन्त ठोस विचार भी इन अर्थों में भावात्मक ही है कि यह यथार्थसत्ता को उसके वास्तविक रूप में समझने में असमर्थ है। हम जितना ही ऊपर की दिशा में विचार करेंगे हमारा ज्ञान उतना ही उत्कृष्ट होगा तो भी सर्वोच्च श्रेणी का विचार पूर्ण सत्य नहीं है। यथार्थसत्ता की खोज में बुद्धि की सहायता से आगे-आगे और ऊपर की ओर बल देने पर हम ऐसी यथार्थसत्ता

तक पहुंचते हैं जो पूर्ण, समृद्ध तथा अगाध प्रतीत होती है। यह ईश्वर है और यही एकमात्र साधन है जिसके द्वारा निश्चित विचार के स्तर पर ब्रह्म का चिन्तन व मनन किया जा सकता है। किन्तु ईश्वर सर्वोच्च ब्रह्म नहीं है क्योंकि ईश्वर का एकत्व बुद्धिगम्य नहीं है।

पाश्चात्य विचारकों में से ब्रैडले सबसे अधिक शंकर के निकट है यद्यपि दोनों के बीच सिद्धान्त विषयक मौलिक भेद है। ब्रैडले अपने 'अपीयरेंस एण्ड रियेलिटी' नामक ग्रन्थ के पहले भाग में मानवीय ज्ञान की अवधियों के सिद्धान्त का, मुख्य और गौण गुणों, द्रव्य तथा गुण, गुणों तथा सम्बन्धों में परस्पर भिन्नता की तीक्ष्ण तथा सूक्ष्म समालोचना के द्वारा, परिष्कार करता है। यह उसका निश्चित विश्वास है कि विचार के द्वारा कभी भी यथार्थसत्ता का ग्रहण नही हो सकता। 'क्या' और 'वह' को पृथक्-पृथक् करके यह अपने लक्ष्य तक नही पहुंच सकता अर्थात् यथार्थसत्ता के रहस्य को पुनः प्राप्त नहीं कर सकता। ब्रैडले के अनुसार उदाहरण के रूप में, जब हमें, नीले रंग की संवेदना होती है तब 'वह' का भी ज्ञान होता है, जो वस्तुतः उपस्थित है और एक 'क्या' का भी अनुभव होना है जो यह विशेष गुण है जिससे इसकी पहचान होती है। साक्षात् (अव्यवहित) बोध ग्रहण में हम दोनों पक्षों में परस्पर भेद से अभिज्ञ नहीं होते। यह एक 'यह—क्या' है जो प्रक्रिया का वस्तुविषय है जहां पर 'यह' का भेद 'क्या' से चैतन्य के अन्दर प्रविष्ट नहीं होता। किसी विषय के निर्णय में हम दोनों में भेद करते हैं अर्थात् विधेय का विषयी से भेद और विधेय को विषयी (ज्ञाता) का गुण बताते है। यह समस्त निर्णयों के विषय में सत्य है। जीवन अथवा यथार्थसत्ता एक ऐसी संवेदना है जिसमें 'वह' और 'क्या' पृथक् नहीं किए जा सकते किन्तु तार्किक चिन्तन सदा भावात्मक होता है इन अर्थों में कि इसका वास्तविक तत्त्वसारवस्तु विषय की प्रक्रिया से मानसिक पार्थक्य में है। शंकर के मत में 'वह' का 'क्या' से पार्थक्य तर्कशास्त्र का अनिवार्य दूषण नही है उन अर्थों में जिनमें ब्रैडले इसे लेता है। और न वह यही कहता है कि यथार्थसत्ता जो परामर्श का विषय है स्वयं संवेदनारूप तथ्य में हमारे सम्मुख प्रस्तुत की जाती है। यह मान भी लिया जाए कि ज्ञान में विचार मनोवैज्ञानिक प्रतिकृति नहीं है किन्तु आदर्श वस्तुविषयक है, और यह भी मान लिया जाए कि विचार-सम्बन्धी वस्तुविषयक परामर्श यथार्थ-जगत् से सम्बन्ध रखता है तो भी शंकर का कहना यह है कि यथार्थ, जिसको विचार-सम्बन्धी वस्तुविषय विशेषरूप से निर्देश करने में प्रवृत्त होता है व्यक्तिविशेष का संवेदनापरक अनुभव नहीं वरन् स्वतन्त्र यथार्थसत्ता है। ज्ञान विषयनिष्ठ गुणों के द्वारा किसी संवेदना अथवा उसके विस्तार की विशिष्टता का वर्णन नहीं करता है किन्तु उसकी विशिष्टता का वर्णन करता है जो यथार्थसत्ता वहां प्रकट है, मेरा अथवा मेरी मनोभावनाओ का चाहे जो कुछ भी हो। जब तक हम किसी व्यक्तिगत अनुभव के स्वरूप के अनुसंधान में रत हैं, हम एक मनोवैज्ञानिक खोज में निरत है, किन्तु यह तार्किक प्रयास नहीं है। 'संवेदना' शब्द के उपयोग के कारण ब्रैडले के यहां जो सन्दिग्धता है शंकर के यहां उसका अभाव है। तो भी उसे यह स्वीकार करना ही होगा कि

समस्त परामर्श का यथार्थरूप में ज्ञाता (विषयी) अपने यथार्थरूप में यथार्थसत्ता ही है और विधेय एक ऐसा गुण है जिसे हम इसके साथ सम्बद्ध करते है यद्यपि यह इससे कहीं निम्नकोटि का है। इस प्रकार उद्देश्य और विधेय यथार्थसत्ता तथा प्रतीति के अनुकूल है। "प्रत्येक परामर्श में असली उद्देश्य यथार्थसत्ता है जो विधेय से भी अतीत है और विधेय जिसका एक विशेषण है। जब तक 'क्या' 'वह' के साथ मिलकर दोनों एक नही हो जाते तब तक हम सत्य तक नही पहुंचते और जब ये दोनों मिलकर एक हो जाते है तो हमें विचार नही मिलता। जैसा कि ब्रैडले ने कहा है, "यदि तुम ऐसे पदार्थ का विधेय बनाते हो जो भिन्न है तो तुम उद्देश्य को ऐसा वर्णन करते हो जैसा कि वह नही है, और यदि तुम्हारा विधेय ऐसा है जो भिन्न नहीं है तो तुमने मानो कुछ कहा ही नहीं।" जब तक हम सोचते है कि विधेय उद्देश्य से न्यूनतम है तो प्रतीति भी यथार्थता से न्यून है। शंकर के अनुसार समस्त परामर्श दोषपूर्ण है इसलिए नही कि यह 'वह' को 'क्या' से पृथक् करता है किन्तु इसलिए कि विधेय उद्देश्य से भिन्न है और उद्देश्य यथार्थसत्ता है। भेद के बिना विचार सम्भव नही है, और भेद के साथ यथार्थसत्ता सम्भव नही। ब्रैडले का मत है कि यथार्थसत्ता सामञ्जस्यपूर्ण (संगत) है और इसलिए सत्य को भी सामञ्जस्यपूर्ण होना चाहिए। स्वात्मपूर्णता और संगति यथार्थसत्ता के लक्षण है। शंकर इन्हें सम्भाव्य विधेयों के मूल्याङ्कन में स्वीकार करते है। देश, काल और कारण आदि न तो स्वतः पूर्ण है और न संगत ही हैं। वे स्वात्मविरोधी है और अपने से दूर तक भी विस्तृत होते है। शकर के निश्चित दृष्टिकोण से सामञ्जस्यपूर्ण सत्य भी यथार्थसत्ता नही है। हम यथार्थसत्ता को भी सामञ्जस्यपूर्ण नही मान सकते क्योंकि सामञ्जस्य का अर्थ है कि अनेक भाग एक पूर्ण इकाई में परस्पर सम्बद्ध है। हिस्सो तथा पूर्ण इकाई का यह भेद व्यावहारिक है जिसका हम इन्द्रियातीत यथार्थसत्ता मे आधान कर रहे है। सामञ्जस्य के रूप मे सत्य की माग है कि हम ईश्वर के निरपेक्ष अनुभव की पूर्वकल्पना करें जिसके अन्दर समस्त सीमित विषयी तथा विषय एक क्रमबद्ध एकत्व मे समाविष्ट हों। शकर का मत है कि चूंकि जिस एकत्व की हम कल्पना करते है वह बुद्धिगम्य नही है, इसमें भी प्रतीति अथवा अयथार्थता का लक्षण पाया जाता है। इस विषय मे ब्रैडले का मत स्पष्ट है। हमारे समस्त विचार मे 'वह' और 'क्या' परस्पर प्रतिद्वन्द्वी है तथा एक-दूसरे के विरोध में काम करते है। एकत्व का फिर से स्थापन करना असम्भव है। तर्कशास्त्र नेकनीयती के साथ इस प्रकार की पूर्वधारणा बना लेता है कि इस जगत् के समस्त पार्श्व एक पूर्ण इकाई से सम्बद्ध है, और यह कि परस्पर के भेद केवल प्रतीतिरूप है तथा विधेय और साध्यपक्ष एक ही है एवं प्रतीतिरूप पदार्थ यथार्थसत्ता के साथ एकता रखते हैं। ब्रैडले यह धारणा बनाकर चलता है कि तार्किक जगत् मे ऐसा कोई भी पदार्थ अपूर्व नहीं है जिसे पर्याप्त परिवर्तनों के साथ यथार्थसत्ता का रूप न माना जा सके। किन्तु वह हमें यह स्पष्ट रूप से नहीं बतलाता कि उस परिवर्तन की अवधि क्या है। जब वह इस प्रकार का कथन करता है कि कोई भी परामर्श सम्भवतः सत्य नहीं हो सकता जब तक कि परामर्श करनेवाले की यथार्थसत्ता नहीं है तो उसका यह कथन पूर्णरूप में

तर्कसम्मत है और शंकर भी उसके इस मत से सहमत होगे। ब्रैडले कहता है : "मैं जिस परिणाम पर पहुचा हूं वह यह है कि सम्बन्धो के आधार पर विचार करने की विधि अर्थात् ऐसी कोई भी विधि जो परिभाषाओ तथा सम्बन्धों को लेकर चलती है—प्रतीति की तो प्राप्ति करा सकती है किन्तु सत्य की नही। यह कामचलाऊ है, एक योजना है, केवल एक क्रियात्मक समझौता है जो अत्यावश्यक तो है किन्तु अन्त में जाकर अत्यन्त निर्बल सिद्ध होता है।" इससे यह परिणाम निकलता है कि यथार्थ का सामञ्जस्य-पूर्ण रूप मे निरूपण करना भी एक" योजना है जो अत्यावश्यक क्रियात्मक समझौता है किन्तु अन्त मे अत्यन्त दुर्बल सिद्ध होती है।" ब्रैडले की ही भाति शकर की दृष्टि में भी तर्कशास्त्र की अशक्तता इसमे है कि वह ज्ञाता तथा ज्ञात के मध्य भेद की कल्पना कर लेता है। समस्त द्वैतभाव केवल मानसिक है।[1]

शकर के तर्कशास्त्र मे अज्ञेयवाद तथा ब्रह्मसाक्षात्कारवाद दोनो ही के अश पाए जाते है। निरपेक्षसत्ता एक अप्राप्य लक्ष्य है जिसके प्रति परिमित शक्तिवाली बुद्धि यत्न करती है और जब यह सिद्धि तक पहुच जाती है तो विचार का वह रूप नही रहता जो व्यावहारिक जीवन में है, और यह ज्ञान के एक उच्चश्रेणी के तथा अधिक प्रत्यक्षरूप मे परिणत हो जाता है जिसमे यह तथा इसका विषय फिर परस्पर भिन्न रूप मे नही पहचाने जा सकते। तर्क-सम्बन्धी आन्वीक्षिकीविद्या हमें ऐसी भूलों पर विजय पाने मे सहायता करती है जिन्हे विचार विवशतावश कर बैठता है। वे असगतिया तथा अपूर्णताए, जिनमे शकर का ज्ञानसम्बन्धी-सिद्धान्त रहने के लिए सन्तुष्ट है, उनके तर्क के किन्ही दोषो के कारण नही है वरन वे एक ऐसे दर्शनशास्त्र की अनि-वार्य अपूर्णताए है जो वस्तुओ की गहराई तक पहुचने का प्रयत्न करता है, उनकी दृष्टि में ज्ञान इतना आवश्यक है और भ्राति इतनी विनाशकारी है, कि व किसी विषय को तब तक सत्य नही मानते जब तक कि वह तर्कशास्त्र के अन्वेषण द्वारा प्रमाणित न हो।

२५

विषयनिष्ठ मार्ग : देश, काल और कारण

वस्तुओ के सम्बन्ध मे सबसे प्रथम जो भाव उदय होता है उससे असन्तोष का होना ही अध्यात्म विद्या को जन्म देना है। जहा साधारण बुद्धि बाह्यरूप मे प्रतीत होनेवाले ज्ञान को ही यथार्थ मान लेती है, वहा चिन्तन जिज्ञासा को प्रोत्साहन देता है कि क्या प्राथमिकभाव को ही अन्तिम मान लेना चाहिए। दर्शनशास्त्र का मुख्य कार्य है अयथार्थ तथा यथार्थ मे भेद करना और नित्य तथा क्षणिक मे भेद करना। एक ऐसे समय मे जब कि धर्म की समस्या को यह रूप दिया जाता था कि ईश्वर है या नही, शंकर ने कहा कि मुख्य समस्या का सम्बन्ध अस्तित्ववाली सत्ता के विरुद्ध यथार्थसत्ता से है। वह वस्तु जो अस्तिरूप नही है यथार्थ हो सकती है किन्तु वह जो विद्यमान है यथार्थ नही भी हो सकती; यथार्थ सत्ता के लिए अस्तित्व का भाव असम्भव है। इस प्रकार का भेद ही

१. द्वैतं सर्वं मानसम्।

भौतिक विज्ञान से भिन्न आध्यात्मिक ज्ञान का औचित्य है। और इस प्रकार का भेद ही समस्त दार्शनिक विचारधाराओं में मिलेगा, चाहे वे पूर्वीय हों अथवा पाश्चात्य। माइलेशियन्स् की 'प्रकृति', एम्पिडौक्लीज तथा अनाक्सागोरस के 'तत्त्व', पाइथागोरस की 'संख्याएं', ल्यूसिप्पस तथा डेमोक्रिटस के 'परमाणु', प्लेटो के 'विचार' और अरस्तू की 'आत्मानुभूति-क्रियाएं' आदि सब इस प्रतीतिरूप जगत् की पृष्ठभूमि में जो यथार्थसत्ता है उसकी खोज के अन्तिम परिणाम है। मध्यकालीन विद्वान् 'सारतत्त्व' तथा 'अस्तिरूपसत्ता' की समस्या को हल करने मे तत्पर थे। डेस्कार्ट तथा स्पिनोज़ा एकमात्र इसी समस्या में व्यग्र थे। वोल्फ़ और काण्ट ने परिभाषाओ मे परिवर्तन किया और प्रतीतिरूप जगत् के विरोध में सद्बुद्धि द्वारा प्राप्त प्रकृतितत्त्व का प्रतिपादन किया। हीगल ने सत् तथा अस्तित्व में भेद किया। आधुनिककाल के वैज्ञानिक समझते है कि हम जिन वस्तुओं को देखते है वे उस यथार्थसत्ता के प्रतीतिरूप है जो विद्युत् शक्ति है। यद्यपि उक्त विचारकों में परस्पर बहुत दूर तक के भेद है तो भी निरन्तर स्थायी एक सामान्यतत्त्व यथार्थसत्ता को सत्य तथा स्वत सम्भूत मानता है एवं उसके अन्दर से उत्पन्न होनेवाला प्रतीतिरूप जगत् उससे भिन्न है।

शकर के दृष्टिकोण से यथार्थसत्ता के नित्यस्वरूप की व्याख्या करना ही दर्शनशास्त्र का कार्य है और वही विश्व का अन्तस्तम सारतत्त्व है। इसका नाम 'ब्रह्मविद्या' है। उसकी दृष्टि मे अस्तिरूप यथार्थसत्ता नही है। किसी घटना का घटित होना एक वस्तु है और उसका उचित मूल्याकन करना दूसरी वस्तु है। यह तथ्य कि हम किसी वस्तु को देखते है यह सिद्ध नही करता कि वह इसीलिए सत्य भी है। यदि वह सब जो होता है अथवा जिसे हम देखने है सत्य होता तो मिथ्या अनुभव कभी होता ही नही। यहा तक कि धोखे मे डालने वाले स्वप्न भी एक अन्त.स्थ जीवन की घटनाएं है। केवल होने मात्र के नाते सभी अनुभव एक ही कोटि के है; वे न सत्य ही है और न असत्य ही।[1] तर्कशास्त्र ऐसी वस्तुओं को जो प्रत्येक बुद्धिगम्य है सत्य मानता है और ऐसी वस्तुओ को जो केवल व्यक्तिगत है असत्य मानता है। शकर अनुभव के मुख्य सिद्धान्तो के बारे में घोषणा करते हैं कि जो कुछ भी देश, काल और कारण से आबद्ध है वह यथार्थ नही हो सकता हमारे अनुभव का सामान्य रूप देश से सम्बद्ध है किन्तु यथार्थसत्ता देश की अपेक्षा नही करती तथा वह अखण्ड है। क्योकि जो भी देश मे परिमित है वह विभाज्य भी है और विभाज्य वस्तु सदा उत्पत्तिशील होती है यथार्थ नही। चूंकि यथार्थसत्ता जन्म-रहित तथा अविभाज्य है और इसीलिए उसमे देश का प्रतिबध नही है।[2] देश का विभुत्व (व्यापकत्व) केवल सापेक्ष है। जो कुछ देश के अन्दर सीमित है वह काल से

१. तुलना कीजिए, ब्रैडले : "जो कुछ मुझे अस्तित्व में, जगत् में अथवा अपने अन्दर मिलता है यह दर्शाता है कि यह कुछ है और यह इससे अधिक प्रदर्शित नहीं कर सकता।...जो उपस्थित है वह निःसन्देह उपस्थित है : उसे मानना ही होगा और उसकी उपेक्षा नही की जा सकती। किन्तु एक स्वीकृत तत्त्व को मानने और बिना किसी सन्देह के उसकी विषयवस्तु को यथार्थ मान लेने में बहुत बड़ा अन्तर है" ('अपीयरैंस एण्ड रियलिटी', पृष्ठ २०६–२०७)।

२. देखें, शांकरभाष्य, २ : ३, ७।

भी सीमित है।[1] काल के अपने अन्दर एक प्रकार की प्रवृत्ति अपने से दूर जाने की होती है यद्यपि यह कभी जा नहीं सकता। यह आनुभविक जगत् में यथार्थसत्ता है।[2] अनुभवरूप जगत् में समय का क्षेत्र सार्वभौम (व्याप्त) है। किन्तु जगत् की अन्तविहीन समयावधि अपने-आपमें पर्याप्त नहीं है। ऐहलौकिक जगत् यथार्थ नहीं है।

चूंकि कारणकार्यभाव अनुभव का प्रधान वर्ग है इसलिए शंकर इसकी सूक्ष्म समीक्षा करते है, जिसका उद्देश्य उक्तभाव के सर्वथा असन्तोषजनक रूप को प्रकट करता है। किसी भी पद्धति में घटनाएं एक-दूसरे से सम्बद्ध है यह साधारण बुद्धि की तथा विज्ञान की भी धारणा है।

> शंकर न्याय-वैशेषिक के इस मत की समीक्षा करते है कि कार्य एक ऐसी वस्तु है जो कारण में नही रहती। उनका तर्क है कि कार्य को अपने व्यक्त होने से पूर्व कारणरूप में अवश्य रहना चाहिए; क्योंकि जहां कोई वस्तु पहले से उपस्थित नही रहती वहा यह उत्पन्न नहीं हो सकती। बालू को दबाकर उसमें से तेल नही निकाला जा सकता। यदि कार्य कारण के अन्दर विद्यमान न होता तो चाहे कितनी भी चेष्टा की जाती इसे कारण के अन्दर से उत्पन्न करना असम्भव होता। कार्यसाधक जो करता है वह केवल इतना ही है कि वह कारण को कार्यरूप में परिणत कर देता है। यदि कार्य अपने व्यक्त होने से पूर्व विद्यमान न होता तो इसके सम्बन्ध मे कार्यकर्ता की क्रिया का कोई प्रयोजन ही न होता। यदि हम कार्य को कारण का अपने से परे विस्तृतरूप माने, जो कि इसके अन्दर समवाय सम्बन्ध से रहता है, तो इसका तात्पर्य यह हुआ कि कार्य वहा पहले से है और नये सिरे से उत्पन्न नही किया गया। इस आपत्ति के उत्तर मे कि यदि कार्य कारण मे विद्यमान रहता है तो कारणरूप कर्त्ता की क्रिया उद्देश्यविहीन है, शकर का कहना है कि "कर्त्ता की क्रिया का उद्देश्य यह समझना चाहिए कि वह कारणरूप द्रव्य को कार्य के रूप मे लाने की व्यवस्था करती है।" कारण और कार्य मे नैरन्तर्य भाव है अर्थात् ऐसा समय कभी नही आता कि कारण अपरिवर्तित रूप मे बना रहे। क्योंकि यदि कारण कुछ समय तक इसी प्रकार अपरिवर्तित रूप में बना रहे और तब हठात् परिवर्तित हो तो इस आकस्मिक परिवर्तन का कोई कारण होना चाहिए जिसे हम नही जानते। इसलिए यह कहा गया है कि कारण निरन्तर कार्यरूप में परिवर्तित होता रहता है। यदि कारण-कार्य भाव निरन्तर रहनेवाली वस्तु है तब कारण और कार्य दो भिन्न-भिन्न वस्तुएं नहीं हुईं और हम यह भी नहीं कह सकते कि एक-दूसरे के रूप में

१. यद्धि लोक इयत्तापरिच्छिन्नं वस्तु घटादि तद् अन्तवद् दृष्टम् (शांकरभाष्य, २ : २, ४१)।

२. कुछ पुराणों ने काल को नित्य माना है, "प्रकृतिः पुरुषश्चैव नित्यौ कालश्च सत्तम! (विष्णु पुराण)। किन्तु जैसा कि विद्यारण्य ने कहा है पुराणों का दृष्टिकोण वही है जो व्यावहारिक जगत का है। पुराणस्याविद्यादृष्टिः।

परिणत हो जाता है। यह कहा गया है कि कार्य के अपने अन्दर एक प्रकार का 'अतिशय' रहता है[1] अर्थात् कार्य की ओर बढने की शक्ति जिसके द्वारा यह कार्य को व्यक्तरूप में ला सकता है। शंकर का कहना है: "यदि अतिशय से तुम्हारा तात्पर्य कार्य की उस पूर्ववर्ती अवस्था से है तो तुम अपने उस सिद्धान्त को छोड़ते हो कि काय कारण के अन्दर विद्यमान नही रहता। यदि इससे तुम्हारा तात्पर्य कारण की किसी ऐसी शक्ति से है जिसकी कल्पना इस तथ्य की व्याख्या के लिए की गई है कि एक ही निर्णीत कार्य कारण से उत्पन्न होता है तब तुम्हे अवश्य मानना पडेगा कि यह शक्ति एक विशेष कार्य का ही निर्णय कर सकती है यदि यह न तो अन्य (अर्थात् कारण तथा कार्य के अतिरिक्त) है और न असत्स्वरूप ही है। क्योकि यदि यह इन दोनों मे से एक होती तो यह अन्य किसी वस्तु से भिन्न न होती जो या तो असत् है अथवा कारण तथा कार्य से भिन्न है (और तब यह किसी कार्य विशेष को उत्पन्न न कर पाती)। परिणाम यह निकला कि वह शक्ति उस शक्ति के अपने ही समान है।" इसके अतिरिक्त कारण केवलमात्र कार्य का पूर्ववर्ती ही नही है किन्तु उसका निर्माणकर्ता भी है। यदि कारण कार्य के अन्दर विद्यमान न हो तो कार्य दिखाई नही दे सकता। मिट्टी के पात्र में मिट्टी बराबर वर्तमान रहती है तथा कपडे के अन्दर धागे भी बराबर विद्यमान रहते है। कारण और कार्य ऐसी दो भिन्न-भिन्न वस्तुए नही हे जिन्हे घोडे तथा गाय की भांति पृथक्-पृथक् देखा जा सके। व्यक्त होन से पूर्व जो कार्य की अवस्था है और व्यक्त होने के पश्चात् जो अवस्था है इनका परस्पर भेद सापेक्ष है। कारण तथा कार्य एक ही वस्तु के दो भिन्न-भिन्न रूपो को प्रकट करते हे और वस्तुतः एक ही प्रकृति के है।[2] यह कहा जाता है कि दो वस्तुए जब उनकी आकृतियो मे परिवर्तन होता है तो व्यक्त होने तथा विलय होने से एक ही स्वरूप की नही हो सकती। शकर का कहना है कि यह तर्क निरर्थक है। "व्यक्त होना बीजो से पौधो के उत्पन्न होने के समान उस पदार्थ का जो पहले से विद्यमान था केवल परिणमनमात्र है, एव तत्समान अवयवो के एकत्र हो जाने से सोपाधिक है; और इसी प्रकार विलय भी केवल दृश्य अवस्था मे परिणमन का नाम है जो उन्ही अवयवो के तिरोभाव के कारण होना है। यदि हमारा काम उनके अन्दर सत् से असत् और असत् से सत् की ओर सक्रमण को पहचानने का है तब भ्रूण पीछे से उत्पन्न मनुष्य से भिन्न होता, एक युवा पुरुष बाल सफेद हो जाने पर बदल जाया करता और एक व्यक्ति का पिता अन्य किसी व्यक्ति का पिता नही हो सकता था।"[3] बाह्य प्रतीति के कारण कोई वस्तु परिवर्तित नही होती। देवदत्त चाहे अपनी भुजाए फैलाए चाहे सिकोड़ ले, रहेगा वही देवदत्त। "द्रव्य अपने मे बने रहते

१. शांकरभाष्य, २ : १, १८। २. शांकरभाष्य, २ : १, १७।
३. शांकरभाष्य, २ : १, १८। 'ड्यूसन्स् सिस्टम ऑफ दि वेदान्त', पृष्ठ २५८–२५६।

है, उदाहरण के रूप में दूध खट्टा हो जाने पर भी दूध तो बना ही रहता है, इत्यादि। उनका नाम कार्य हो जाता है, और हम कार्य का कारण से भिन्न रूप मे चिन्तन नही कर सकते चाहे हम सौ वर्ष भी प्रयत्न करे। स्थिति यह है कि आदि कारण, जो अन्तिम कार्य तक किसी न किसी कार्य के रूप में प्रकट होता है, अपने व्यक्त होने से पूर्व विद्यमान रहता है और कारणरूप ही होता है।"[1] शकर अपने मत को वस्त्र के दृष्टान्त द्वारा स्पष्ट करते है और तर्क करते है कि जब तक वस्त्र एक थान के रूप मे लिपटा हुआ रहता है हम यह नही जान सकते कि यह कपड़ा ही है या कोई और वस्तु है और यदि यह जान भी जाए तो भी उसकी लम्बाई व चौडाई का तो ज्ञान होता ही नही, किन्तु उस थान के खुलने पर ही पता लगता है कि यह कपड़ा है और इसकी लम्बाई-चौडाई क्या है। जिस प्रकार लिपटा हुआ वस्त्र तथा खुला हुआ वस्त्र एक-दूसरे से भिन्न नही है इसी प्रकार कारण तथा कार्य परस्पर भिन्न नही है।[2] कोई भी द्रव्य एक भिन्न रूप मे प्रकट होने से अपने स्वरूप को नही छोड देता। प्रत्येक परिवर्तन किसी वस्तु का तथा उस वस्तु के अन्दर का परिवर्तन है। परस्पर असम्बद्ध वस्तुविषयो के केवल एक-दूसरे के पश्चात् क्रम मे आने से ही, जिनमे किसी सामान्य रूप मे कोई बन्धन नही है, वह परिवर्तन नही कहलाता। जो कुछ भी होता है वह केवल आकृति का परिवर्तन है। दही व मट्ठे के रूप मे दूध की निरन्तर उपस्थिति तथा वृक्ष मे बीज की स्थिति रूपनिरन्तरता माननी ही पडती है चाहे यह प्रत्यक्ष रूप मे दिखाई दे, जैसा कि दूध व दही की अवस्था मे, अथवा न दिखाई दे, जैसे कि बीज व वृक्ष के दृष्टान्त मे। यहा तक भी कहा जा सकता है कि कारण ही एकमात्र यथार्थता है और कार्य सब प्रतीतिमात्र है।[3] शकर का अभिमत सिद्धान्त है कि कारण और कार्य भिन्न भिन्न नही है।[4] वे सक्रमण की क्रियाओ को कारणो से कार्यों मे, जो यथार्थसत्ता के सम्पूर्ण विकास के अतर्गत रहते है, अनुपूर्व क्रम के एक निश्चल सम्बन्ध मे परिणत करते है जो कुछ प्रकार के तार्किक तथा विचारात्मक सम्बन्ध मे विशेष रूप से पाया जाता है।[5]

कारण-सम्बन्धी व्याख्या पूर्ण नही हो सकती। असख्य परिभाषाए शृखला के किसी भी प्रस्तुत अवयव के आगे और पीछे भी रहती है। प्रत्येक घटना उन अवस्थाओ का पीछे की ओर निर्देश करती है जिनके अन्दर से वह उत्पन्न हुई है। यह कहना

१. शाकरभाष्य, २ : १, १८। २. शाकरभाष्य, २ : १, १९। ३. वही।

४. कार्यकारणाभेद अथवा तादात्म्य अथवा अनन्यत्व। देखे, शाकरभाष्य, २ : १, १४; १ : ४, १४; और गौडपादकृत कारिका, ३ : १५। सुरेश्वरकृत वार्तिक, पृष्ठ २५८।

५. आधुनिक समय के कुछ वैज्ञानिक क्रियात्मक भावरूप विचारो को नही मानते, यथा गति और शक्ति, और किसी भी ऐसे वर्णनात्मक नियम को पर्याप्त मानते है जिसमें आन्तम कारणकार्यसम्बन्धी व्याख्या का कोई संकेत न हो।

कि 'क' 'ख' का कारण है 'ख' की व्याख्या नहीं है।[1] आदि कारण की कल्पना करना स्वच्छन्द कार्य है क्योंकि इसका तात्पर्य हुआ कि हम कारण-शृंखला के आदि की कल्पना कर लेते है जो आदि कुछ समय के लिए है। या तो आदि कारण का भी पूर्ववर्ती कारण है अन्यथा कारणकार्य-सम्बन्धी समस्त योजना तर्कसम्मत नही है। किन्तु यदि कोई आदि कारण नही है तो कारणकार्य-सम्बन्ध की व्याख्या अपूर्ण है। प्रकृति के तारतम्य को भूत, वर्तमान तथा भविष्यत में बाट देने के लिए हम विवश है। जो कुछ हमें मिलता है वह एक अविच्छिन्न प्रवाह है जो विरल शृखला के आकार में परिणत हो गया है। हम 'क' नामक एक घटना से प्रारम्भ करते है जिसके पश्चात् 'ख' घटना आती है और इनके मध्य हम एक सम्बन्ध स्थापन करने का प्रयत्न करते है। कारण-कार्य-सम्बन्ध का विभाग प्रतीतिरूप घटनाओं की व्याख्या अधिक से अधिक तभी तक कर सकता है जब तक हम उन्हे यह समझते है कि ये परस्पर के सम्बन्ध द्वारा निर्णीत है और इनमे उस परमतत्त्व का समावेश नही करते जो कि निर्णीत घटनाओं से अन्यतम नही है। इसके साथ इतना और जोडना होगा कि कारणकार्यभाव एक प्रकार का सम्बन्ध है और जितने भी सम्बन्ध है वे अन्त मे जाकर बुद्धिगम्य नही रहते। यदि कारणकार्य का नियम निरपेक्ष होता तो कारणकार्य की शृखला किसी भी अवस्था मे तुरन्त पहचान मे नही आ सकती थी। किन्तु श्रुति हमे निश्चय दिलाती है कि हम इससे बाहर निकल सकते है।[2]

१. तुलना कीजिए, कैम्पबेल : "किसी भी विधान में कारणकार्य-सम्बन्ध का उपयोग इस विषय की स्वीकृति का सूचक है कि ज्ञान अपूर्ण है" ('फिजिक्स, दि एलिमेंटस', पृष्ठ ६७)।

२. शंकर प्रश्न उठाते है कि किस प्रकार एक कार्य जो अंशों से मिलकर बना हुआ द्रव्य है कारण मे रहना बताया जाता है, अर्थात् उन भौतिक अंशों के अन्दर जिनमे मिलकर यह बना है। क्या यह सब अंशों को एक साथ मिलाकर उनमें विद्यमान रहता है या प्रत्येक विशेष अंश में? "यदि आप कहें कि यह सब अंशों में एक साथ रहता है तो इसका तात्पर्य यह होता है कि सम्पूर्ण पदार्थ का उसके असली रूप में प्रत्यक्ष नहीं हो सकता क्योंकि यह असम्भव है कि सब अंश प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त करने-वाली इन्द्रियों के सम्पर्क में आ सकें, और यह भी नहीं कहा जा सकता कि सम्पूर्ण पदार्थ का बोध केवल कुछ अंशों के ही द्वारा हो जाता है, क्योंकि अनेकत्व का बोध, जो कि इन समग्र आधारों में एक साथ मिलने पर रहता है, तब तक नहीं होता जब तक केवल कतिपय अंशों का ही बोध होता है। यदि यह कल्पना की जाए कि सम्पूर्ण इकाई सब अंशों में मध्यवर्ती अंशों के पुञ्जों की मध्यस्थता के द्वारा रहती है तब हमें प्रारम्भिक मुख्य अंशों की अपेक्षा अन्य अंशों की भी कल्पना करनी होगी, क्योंकि जिसमें कि उन अन्य अंशों के द्वारा पूर्ण इकाई उन प्रारम्भिक मुख्य अंशों में उपस्थित रह सके। दृष्टान्त रूप में एक तलवार म्यान के अंशों के अतिरिक्त तथा भिन्न अंशों के द्वारा सारी म्यान में बराबर व्याप्त रहती है। इस प्रकार हम एक प्रकार की पश्चाद्गति में पहुच जाते है क्योंकि किस प्रकार पूर्ण इकाई कतिपय प्रस्तुत अंशों के अन्दर रहती है इसके लिए हमें सदा ही अधिकतर अंशों की कल्पना करनी होगी। यदि हम दूसरे विकल्प को मानते है, अर्थात् पूर्ण इकाई प्रत्येक विशिष्ट अंशों में रहती है, तब अनेक इकाइयां उत्पन्न हो जाएंगी। यदि प्रतिपक्षी फिर कहता है कि पूर्ण इकाई प्रत्येक अंश में पूर्ण रूप में उपस्थित रहती है, जिस प्रकार कि गाय का जातिगत रूप प्रत्येक गाय में पूर्ण रूप से उपस्थित रहता है तो हम कहते है कि गाय के जातिगत गुण प्रत्येक गाय में स्पष्ट रूप से देखे जाते हैं, किन्तु प्रत्येक विशिष्ट अंश में इस प्रकार से पूर्ण इकाई का प्रत्यक्ष नहीं होता। यदि पूर्ण इकाई प्रत्येक

गौडपाद की युक्तियों[1] को शंकर स्वीकार करते हैं। चूंकि कारण और कार्य एक ही हैं इसलिए परिवर्तन तथा कारणकार्यभाव केवल प्रतीतिमात्र हैं। चूंकि कारण हमारी बुद्धि के स्वयं संगठन के मूल में है इसलिए हम उनकी पूर्ववर्ती घटनाओं के द्वारा कारणकार्य-सम्बन्धी विभाग की घटनाओं का निर्णय करने में विवश हैं। "कारण और कार्य के मध्य अभेद की कल्पना करने का हेतु यह तथ्य है कि बोधग्रहण के ऊपर कारण और कार्य संयुक्त रूप से प्रभाव डालते हैं।"[2] इसके ऊपर टीका करते हुए आनन्दगिरि कहता है: "हम कारण और कार्य के आधार की कल्पना करते हैं केवलमात्र इसी आधार पर नहीं कि एक विशेष वस्तु का वास्तविक अस्तित्व दूसरी वस्तु के अस्तित्व के ऊपर निर्भर करता है, किन्तु उसका एक अतिरिक्त आधार मानसिक अस्तित्व है क्योंकि एक का चैतन्य दूसरे के चैतन्य के बिना सम्भव नहीं है।" यदि हम कारणकार्य-भाव के सिद्धान्त को इस प्रकार से कहें कि जिसमें परस्पर विरोध न हो तो हमें ज्ञात होगा कि इसमें परिवर्तन की आवश्यकता है जब तक कि इसमें तादात्म्य के सिद्धान्त के साथ समानता न आ जाए और तब यह अधिकतर विज्ञान और साधारण बुद्धि के लिए किसी प्रयोजन का नहीं रहता। और जब इसको यथार्थरूप में कल्पना की जाए तो यह सर्वथा अनुपयुक्त सिद्ध होगा; और यदि यह उपयोगी है तो यह सत्य नहीं है।

प्रत्येक सीमित पदार्थ इस प्रकार के विरोध को प्रस्तुत करता है कि वह केवल सीमित ही नहीं है अर्थात् अपने तक ही सीमित नहीं है, किन्तु सापेक्ष भी है, इन अर्थों में कि वह अन्य के ऊपर आश्रित है। अनुभूत पदार्थों में से कोई भी स्वनिर्णीत अथवा आत्मनिर्भर नहीं है प्रत्येक विषय (पदार्थ) अपने से गुजरकर अन्य पदार्थ में परिणत होने की प्रवृत्ति रखता है। जो सीमित है वह अस्थायी सत्त्व है और सदा अपने से अतीत होने का प्रयत्न करता है। जगत् का यह स्वरूप इस विषय का संकेत करने के लिए पर्याप्त है कि यह जगत् प्रतीतिस्वरूप अथवा माया है। परिवर्तन अयथार्थ है क्योंकि यह अस्थिरता, न्यूनता और अपूर्णता का उपलक्षण है। परिवर्तन अन्य हो जाना तथा अदल-बदल है, अर्थात् विरोध तथा संघर्ष है। जो कुछ भी परिवर्तित होता है, उसके हिस्से है जो अपनी सत्ता को बतलाते है और अस्तित्व को विभाग और भेद का स्थान बना देते है। प्लेटो परिवर्तन को केवल ह्रास के रूप में मानता है और अरस्तू उसे साक्षात्कार की ओर प्रवृत्ति के रूप में मानता है किन्तु दोनों ही यथार्थसत्ता को अपरि-वर्तनशील मानते हैं। यह सत्य है कि अरस्तू ईश्वर को क्रियात्मक शक्ति के रूप में मानता है किन्तु यह क्रियात्मक शक्ति अपरिवर्तनशील है और शक्ति कोई कार्य नहीं करती। शंकर की दृष्टि में यथार्थसत्ता निर्विकार है जिसमें किसी प्रकार का अदल-

अंश में पूर्ण रूप से उपस्थित रहती तो परिणाम यह होता कि पूर्ण इकाई किसी भी एक अंश विशेष के द्वारा कार्य को उत्पन्न कर सकती थी। दृष्टान्त के लिए ऐसी अवस्था में एक गाय अपने सींग अथवा पूंछ से भी दूध दे सकती थी। किन्तु ऐसी बात होती देखी नहीं गई।" समवाय सम्बन्ध की समीक्षा के लिए, जो कारण व कार्य को परस्पर बांधता है, देखें, शांकरभाष्य, २ : १, १८।

१. देखें, शांकरभाष्य, कारिका पर, ४ : ११–२० ; ४ : ४०।

२. शांकरभाष्य, २ : १, १५, तथा इसके ऊपर आनन्दगिरि की टीका।

बदल नही हो सकता, वह सत् से इतनी पूर्ण है कि सर्वदा ही सत्स्वरूप है और सदा के लिए अपने को विश्राम की अवस्था में स्थिर रखती है। इसमें कोई न्यूनता नहीं है, किसी वस्तु की इसे आवश्यकता नहो है, और इस प्रकार किसी प्रकार के परिवर्तन अथवा द्वन्द्व का प्रश्न ही नही उठता। ब्रैडले की दृष्टि में "जो सम्पूर्ण अर्थों में यथार्थ है वह गति नही करता अर्थात् अचल है।"

हमारा अनुभव परस्पर विरोधी है और यथार्थ नही है, क्योंकि यथार्थता के लिए कम से कम स्वसंगत होना आवश्यक है। शंकर की परिभाषा मे यथार्थसत्ता एक ही हो सकती है, जो अद्वैत है, किन्तु हमारा अनुभव विविध प्रकार का तथा परस्पर विरोधी है। यथार्थसत्ता हमारी इन्द्रियों का विषय नही है। यह सत्य ज्ञान की भी विषय वस्तु नही है क्योकि ज्ञान को यथार्थसत्ता के विचार के अतिरिक्त प्रामाणिक नही समझा जा सकता। यह अपरिवर्तनीय तथा निरपेक्ष है, जोकि अनुभव के अन्दर अपने समस्त व्यक्त रूपो मे तादात्म्यरूप से रहता है। और समस्त प्रतीतिरूप ज्ञान का आधार तथा अधिष्ठान है। अनुभूतिरूप जगत् नामरूप से युक्त है[1] तथा देश, काल के सम्बन्धो से आबद्ध है, तथा ये सम्बन्ध अन्तरहित प्रकार से अपने अन्दर क्षीण शक्ति होते जाते हे। किसी भी घटना को ले उसका भूतकाल तथा भविष्य दोनो ही अन्तर्रहित है — उसका कभी अन्त नही और कही अन्त नहीं है। यह झूठी आशा बधानेवाली अन्तविहीनता, जो इसे अयथार्थ बनाती है, आत्मा को प्रेरणा देती है कि वह निरपेक्ष परमसत्ता को जानने का ही आग्रह करे।

२६

ब्रह्म

"काल का चक्र तीव्र गति से घूम रहा हे, जीवन क्षणभगुर है, और सब कुछ परिवर्तन के आधीन है।" कोई भी वस्तु सत् नही है, सब कुछ प्रवाहरूप है। ऊपर की ओर उठने का संघर्ष, यथार्थसत्ता की खोज, सत्य को जानने की चेष्टा इन सबका आशय यह है कि यह प्रवाह रूप जीवनधारा ही सब कुछ नही है। तर्कशास्त्र-सम्बन्धी, विश्व-विज्ञान सम्बन्धी और नीतिशास्त्र-सम्बन्धी सभी हेतु इस विषय की ओर निर्देश करते हैं कि इस सान्त जगत् मे कही अधिक महान् कोई न कोई सत्ता अवश्य है। सान्त जगत् की सीमाओं से बचकर निकल भागने का प्रयत्न उस चेतनता की ओर संकेत करता है कि यह सान्त जगत् अपने-आपमे यथार्थ नही है। विचार करने पर जिस विषय की आवश्यकता अनुभव होती है वह यह है कि हम एक निरपेक्ष यथार्थसत्ता के अस्तित्व को मानने के लिए विवश है। जैसा कि डेस्कार्ट ने कहा है कि अनन्तरूप से पूर्ण सत्ता के भाव की धारणा तभी बन जाती है जब कि हमे अपनी परिमित शक्ति की स्वीकृति विवश होकर अंगीकार करनी पड़ती है।[2] कोई भी यथार्थ मे अभावात्मक निर्णय केवल अभावा-

१. शांकरभाष्य, १ : ३, ४१। २. 'मेडिटेशन्स्' पृष्ठ ४।

त्मक होता है। "जहां कहीं हम किसी वस्तु का उसे अयथार्थ समझकर निराकरण करते हैं तो हम ऐसा किसी अन्य यथार्थसत्ता के सम्बन्ध से ही करते हैं।"[1] भावात्मक के कारण से ही हम अभावात्मक का बहिष्कार करते हैं। कोई वस्तु 'नहीं है', इसका तात्पर्य ही यह है कि किसी भावात्मक वस्तु का अस्तित्व भी अवश्य है। यदि हम यथार्थ तथा अयथार्थ दोनों को ही न मानें तो हम शून्यता पर जा पहुंचते हैं। जहां शंकर बौद्धमत के इस विचार के साथ इस अंश में सहमत हैं कि सब वस्तुएं बराबर परिवर्तित होती रहती है वहां वे एक इन्द्रियातीत यथार्थसत्ता की मांग करते हैं जो परिवर्तनशील जगत् के अन्तर्गत नहीं है। हमें एक ऐसी किसी वस्तु की यथार्थता की मांग है जिसे अन्य किसी वस्तु के समर्थन अथवा सहायता की आवश्यकता न हो।[2] यहां तक कि यदि हम समस्त विश्व को केवल काल्पनिक ही मान लें तो भी उस कल्पना का कुछ न कुछ आधार होना आवश्यक है।[3] क्योंकि कल्पनात्मक वस्तुएं भी बिना किसी आधार के मध्य आकाश में नहीं तैर सकतीं। यदि इस प्रकार की कोई यथार्थसत्ता नहीं है अर्थात् जिसे हम यथार्थसत्ता समझते है वह भी यदि उत्पन्न कार्य है तो इस जगत् के अन्दर या बाहर बिलकुल ही यथार्थसत्ता नही हो सकती।[3] वेदों में जो धार्मिक अनुभव अंकित हैं व हम कम से कम इतना तो निश्चय के साथ बताते है कि ऐसी एक यथार्थ-सत्ता है जो अनादि और अनन्त है। ड्यूसन का कथन कि "भारतीय कभी भी तात्त्विकीय प्रमाण[4] के बन्धन में नहीं फंसे" सर्वथा अनुचित है। शंकर के लेखों में जहां तक ब्रह्म के विषय में तार्किक प्रमाण उपलब्ध है यह निःसन्देह तात्त्विकीय प्रमाण है। हम एक निरपेक्ष यथार्थसत्ता की स्थापना करने के लिए विवश हैं, अन्यथा हमारे ज्ञान तथा अनुभव का पूरा ढांचा ही खण्डित हो जाएगा। प्रक्रिया की विधि में शंकर अत्यन्त मौलिकता तथा प्रत्यग्रता प्रदर्शित करते है। वे ईश्वरीय ज्ञान के अन्य दार्शनिकों के समान ईश्वर के गुणों के विषय में विचार-विमर्श के साथ अपनी बात आरम्भ नहीं करते। वे उन हेतुओं की भी न केवल उपेक्षा ही करते हैं अपितु समीक्षा भी करते हैं जो एक महान प्रथम कारण और संसार के स्रष्टा के पक्ष में उपस्थित किए जाते हैं। उनकी दृष्टि में अविकल अनुभव (साक्षात्कार) ही आधार रूप तथ्य है। यही सर्वोच्च धार्मिक अन्तर्दृष्टि है। यह मनुष्य की आध्यात्मिक यथार्थसत्ता की अभिज्ञता का प्रमाण (यदि इसे प्रमाण की संज्ञा दी जाए) उपस्थित करता है। ब्रह्म प्रत्येक मनुष्य के लिए सदा विद्यमान है और जीवन का सार्वभौम व्यापक तथ्य है। यदि इसके लिए किसी तर्कसम्मत प्रमाण की आवश्यकता हो तो शंकर निर्देश करते हैं कि मन सापेक्ष सत्ता में विश्राम नहीं पा सकता, अर्थात् अनुभव की व्याख्या ब्रह्म की धारणा के आधार के अतिरिक्त होना असम्भव है।

कारणकार्य के सिद्धान्त का वर्णन करते हुए शंकर कारण-सम्बन्धी स्वरूप को स्वभाव अथवा सामान्य या व्याप्ति प्रतिपादन करते हैं जब कि कार्य को एक उपाधि,

१. शांकरभाष्य, ३ : २, २२। २. सर्वकल्पनामूलत्वात् (३ : २, २२)।
३. शांकरभाष्य, २ : ३, ७।
४. 'ड्यूसन्स सिस्टम आफ दि वेदान्त', पृष्ठ १२३।

अवस्था अथवा विशेष मानते हैं ।[1] "इस जगत् मे अनेक सामान्य अपने विशेषो सहित है, चैतन्यसहित तथा चैतन्यविहीन । ये समस्त सामान्य अपनी श्रेणीबद्ध शृखलाओ मे एक ही सामान्य मे अर्थात् ब्रह्म की बुद्धि के पुञ्जस्वरूप के अन्तर्गत है, और इसी रूप मे उनका बोधग्रहण होता है ।"[2] इस सर्वव्यापक यथार्थसत्ता के स्वरूप को समझ लेने का तात्पर्य यह है कि उसके अन्तर्गत जितने विशेषण है उन्हे भी समझ लिया ।[3]

ब्रह्म को यथार्थसत्ता का नाम देने का तात्पर्य यह है कि वह प्रतीतिरूप, दैशिक, भौतिक और चेतन जगत् सबसे भिन्न है ।[4] ब्रह्म वह है जिसके बारे मे मान लिया जाता है कि वह मूलभूत है यद्यपि यह किसी भी अर्थ मे द्रव्य नही है ।[5] इसके अस्तित्व के लिए किसी देश के भाग विशेष की आवश्यकता नही, यद्यपि यह कहा जा सकता है कि यह सर्वत्र विद्यमान है क्योकि सब वस्तुए उसकी ओर सकेत करती हैं तथा उसके ऊपर निर्भर करती है । चूकि यह स्वय कोई वस्तु नही है अन्य किसी वस्तु के साथ इसके दैशिक सम्बन्ध नही हो सकते और इसीलिए यह कही भी नही है । यह कारण नही है क्योकि उसका अर्थ होगा कालिक सम्बन्धो का समावेश ।[6] इसका स्वरूप अव्याख्येय है क्योकि जब कभी हम इसके विषय मे कुछ कहेगे तो उसका तात्पर्य होगा कि हम इसे एक वस्तु का रूप दे देते है । हम इसके विषय मे कथन कर सकते है यद्यपि हम इसका ठीक-ठीक वर्णन नही कर सकते और न इसका तार्किक ज्ञान ही प्राप्त कर सकते है ।[7] यदि सीमित शक्तिवाला मनुष्य ब्रह्म को पूर्णरूप मे समझ सकता है तो या तो हमारा बोध तात्त्विक रूप मे अनन्त हो या फिर ब्रह्म अनन्त नही हो सकता । "प्रत्येक शब्द जिसका प्रयोग किसी वस्तु का द्योतन करने के वास्ते किया जाता है उस वस्तु का द्योतन किसी न किसी जाति (वर्ग) अथवा कर्म अथवा गुण अथवा सम्बन्ध की किसी वृत्ति विशेष के साथ साहचर्ययुक्त रूप मे करता है ।"[8] ब्रह्म की कोई जाति नही उसमे कुछ गुण नही, वह कर्म नही करता और किसी अन्य वस्तु के साथ वह सम्बद्ध नहीं है । यह अपने समान किसी अन्य प्रकार से अथवा अन्य किसी प्रकार मे भी सर्वथा भिन्न है और न उसके अन्दर आन्तरिक विविधता है ।[9] उदाहरण के रूप मे एक वृक्ष के पत्तो, फूलो तथा फलो मे आन्तरिक विविधता पाई जाती है वह अन्य वृक्षो के साथ समानता रखता है तथा भिन्न प्रकार

१. शांकरभाष्य, २ : ३, ६ ।

२. अनेका हि विलक्षणाः चेतनाचेतनरूपा सामान्यविशेषाः ; तेषा पारम्पर्यगत्या एकस्मिन् महासामान्ये अन्तर्भावः प्रज्ञानघने (शांकरभाष्य, बृहदारण्यक उपनिषद्, २ : ४, ९) । तुलना कीजिए, प्लेटो के श्रेयस् सम्बन्धी विचार से जो अन्य सब विचारों का आधार है ।

३. सामान्यस्य ग्रहणेनैव तद्गता विशेषा गृहीता भवन्ति (शांकरभाष्य, बृहदारण्यक उपनिषद्, २ : ४, ७) ।

४ शांकरभाष्य, ४ : ३, १४ । ५. वेदान्त परिभाषा १ ।

६ तुलना कीजिए, कार्यकारणव्यतिरिक्तस्यात्मनः सद्भावः अशनायादिसंसारधर्मातीतत्वं विशेषः (शांकरभाष्य, ३ : ३, ३६) ।

७. शांकरभाष्य, ३ : २, २३ । ८. भगवद्गीता पर शांकरभाष्य, १३ : १२ ।

९. सजातीयविजातीयस्वगतभेदरहितम् ।

के पदार्थों यथा पत्थरों से असमानता रखता है।[1] ब्रह्म के समान अन्य कुछ नहीं है, उससे भिन्न भी कुछ नहीं है और अन्तःस्थित भेद-भाव भी कुछ नहीं है, क्योंकि ये सब व्यावहारिक भेद हैं। चूंकि यह समस्त व्यावहारिक सत्ताओं से विपरीत गुण है इसलिए यह हमारे सम्मुख समस्त वस्तुओं के प्रति नेति-नेति, अर्थात् निषेधात्मक, रूप में ही प्रस्तुत किया जाता है। शंकर इसे अद्वितीयभाव के अतिरिक्त अर्थों में 'एक' कहकर लक्षित करने को भी उद्यत नहीं हैं किन्तु इसे अद्वैत नाम से पुकारते हैं। यह "सम्पूर्णरूप में अन्य" है किन्तु असत् नहीं।[2] यद्यपि जिन शब्दों का प्रयोग किया जाता है वे निषेधात्मक हैं तो भी उनका जो आशय होता है वह यह है कि वह महान् भावात्मक है। निषेध केवल अभाव (अनुपस्थिति) का समर्थन-मात्र है। यह असत् (अप्राणी) है क्योंकि यह ऐसी सत्ता (प्राणी) नहीं है जो हमें आनुभविक जगत् में मिलती है। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि यह विशुद्ध शून्यरूप है क्योंकि निषेधात्मक का तभी कुछ अर्थ होता है जबकि भावात्मक के सम्बन्ध में उसका प्रयोग किया जाए। उपनिषदें तथा शंकर[3] भी ब्रह्म के रूप का वर्णन करते हुए जब कहते है कि वह न तो सत् है और न असत् है तो उसका तात्पर्य होता है कि यह प्रयोग उन अर्थों के दृष्टिकोण से है जिस दृष्टिकोण से हम आनुभविक जगत् की भावात्मक तथा अभावात्मक वस्तुओं को जानते है। अधिक से अधिक हम यही कह सकते है कि अमुक वस्तु ब्रह्म नहीं है किन्तु यह नहीं कह सकते कि ब्रह्म है क्या। यह, स्थिरता, परिवर्तन, सम्पूर्ण इकाई अथवा एक भाग, सापेक्ष और निरपेक्ष, सीमित और असीम इत्यादि समस्त परस्पर-विरोधी भावों के ऊपर आश्रित पदार्थों से अतीत है। सीमित वस्तु सदा ही अपने से ऊपर की ओर बढ़ती है किन्तु ऐसी कोई वस्तु नहीं है जिस तक अनन्त पहुंच सके। और यदि यह ऐसा करता है तो फिर यह अनन्त न रहेगा। यदि हम इसे अनन्त कहते हैं तो इसे सीमित के केवल निषेधात्मक रूप के समान न मानना चाहिए।

१. देखें, शांकरभाष्य, १ : ३, १ : २ : १, १४। पञ्चदशी, २ : २०। रुडोल्फ ओटो : 'दि आइडिया आफ दि होली', अंग्रेजी अनुवाद, पृष्ठ २५। प्लेटो सत् तथा परिणमन से भी आगे बढ़कर श्रेयस तक पहुंचता है। प्लाटिनस निरपेक्ष सत्ता को अभी तक उद्देश्य तथा विधेय के मध्य में अविभक्त और इसीलिए समस्त भेदभाव से ऊपर के रूप में जानने की चेष्टा करता है। "यह निरपेक्ष परमसत्ता उन वस्तुओं में से एक भी नहीं है जिनका कि यह आदि स्रोत है। इसका स्वरूप ऐसा है कि इसके विषय में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता—अर्थात् अस्तित्वरहित, तत्त्व के विपरीत, जीवन का अभाव—क्योंकि यह वह है जो इन सबसे अतीत है।..." "एक बार जब तुमने उसके लिए श्रेय शब्द का प्रयोग कर दिया तो फिर इसके अतिरिक्त और किसी विचार को इसके आगे जोड़ने की आवश्यकता नहीं क्योंकि और कुछ भी जोड़ने से तुम उतने अंश में उसकी न्यूनता का बखान करते हो। यहां तक भी मत कहो कि इसके अन्दर बाध की प्रक्रिया है। क्योंकि इसमें भी तुम उसके अन्दर विभाग के भाव का समावेश कर दोगे" ('एन्नीड्स', ३ : ८, १०. अंग्रेजी अनुवाद, मैकेन्ना, खण्ड २, पृष्ठ १३४, १३५)। अलेक्जेंड्रिया का क्लीमेंट एक ऐसे लक्ष्यबिन्दु पर पहुंच जाता है जहां पहुंचकर सर्वोपरि सत्ता को इस रूप में नहीं कि यह क्या है अपितु इस रूप में समझा जाता है कि यह क्या नहीं है।

२. वाङ्मनसातीतत्वमपि ब्रह्मणो नाभावाभिप्रायेणाभिधीयते (शांकरभाष्य, ३ : २, २२)।

३. प्रश्न उपनिषद् पर शांकरभाष्य, ४ : १।

जब तक हम औपचारिक और सीमित के भाव का विचार सर्वथा ही नहीं त्याग देते तब तक ब्रह्म के स्वरूप को नहीं समझ सकते। चूंकि व्यक्तित्व का साक्षात्कार बिना अनात्म-पदार्थों की सीमाबद्ध अवस्थाओं के नहीं हो सकता इसीलिए निरपेक्ष परमार्थ-सत्ता कोई व्यक्तित्व नहीं है। और यदि हम व्यक्तित्व की परिभाषा का प्रयोग किसी अन्य अर्थ में करते हैं जिसके अनुसार इसका अन्य किसीके ऊपर आश्रित होना आवश्यक नहीं, तब यह उसका अनुचित प्रयोग है। जब हम उस निरपेक्ष सत्ता के लिए निर्गुण शब्द का प्रयोग करते हैं तब उसका अर्थ केवल यही होता है कि यह आनुभविक जगत् से अतीत है, क्योंकि गुणों की उत्पत्ति प्रकृति से है और निरपेक्ष ब्रह्म उससे श्रेष्ठ या उच्च कोटि का है। गुण विषय का विशेषण बनाते हैं और ईश्वर विषय नहीं है; विषय (ज्ञेय पदार्थ) उत्पन्न होते तथा विनष्ट होते हैं किन्तु यथार्थ-सत्ता सब परिवर्तनों के अन्दर स्थिररूप से बराबर विद्यमान रहती है। इस प्रकार यह गुणों अथवा प्रतीतिरूप सत् से अतीत है। इस निरपेक्ष सत्ता को इसी कारण से केवल शून्यस्वरूप नहीं समझ लेना चाहिए। इस प्रकार उपनिषद् कहती है, 'निर्गुण गुणी" ब्रह्म का स्वरूप परम चैतन्य का है और तो भी वह कुछ नहीं जानता क्योंकि व्यावहारिक बोधग्रहण अन्तःकरण का परिवर्तित रूप है।[1] इसके अतिरिक्त ज्ञान इसका सारतत्त्व है, गुण नहीं है।[2] यह इस अर्थ में नित्य नहीं है कि जो काल के अन्दर अपरिवर्तनशील रूप में निरन्तर विद्यमान रहता है, जैसे परमेनिडीज़ की 'निश्चल सत्ता' एक चित्तविहीन निश्चल स्थावर द्रव्य जिसका प्लेटो ने अपने 'सोफिस्ट' नामक ग्रन्थ में उपहास किया है।[3] किन्तु यह नित्यस्वरूप निरान्त का सार्वाधिकता और निष्कलंकता के अर्थों में है। यह नित्य है क्योंकि इसकी पूर्णता और निर्दोषता का काल से कोई सम्बन्ध नहीं है।[4] वह अनुक्रम जो वस्तुओं तथा घटनाओं को काल-सम्बन्धी व्यवस्था में परस्पर सम्बद्ध रखता है उसका उक्त सत्ता के लिए कोई महत्त्व नहीं है। यह नित्य स्थिरता है जिसके लिए कालपरक सब सम्बन्ध असंगत हैं। इसका वर्णन केवलमात्र अपनी अन्यता से भी भिन्नरूप में निषेधात्मक रूप में ही किया जा सकता है। यह सत् है जिसका तात्पर्य यह है कि यह असत नहीं है। यह चित् (चैतन्य) है जिसका तात्पर्य

१. जैसा कि स्पिनोज़ा ने कहा : "हमारी प्रज्ञा जिसके अन्दर ईश्वर का सार निहित है उसे हमारी इच्छा तथा बुद्धि से भिन्न होना चाहिए और इन दोनों में नाम की समानता के अतिरिक्त अन्य किसी अंश में समानता नहीं हो सकती है, जैसे ही जैसे कि आकाशीय नक्षत्रपुंज कुत्ते (लुब्धक) तथा भौंकने वाले कुत्ते में और कोई समानता नहीं है" ('एथिक्स', १ : १७, स्कोलियम)।

२. रामानुज तथा नैयायिक लोग ज्ञान की व्याख्या, 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" में, ज्ञान के आधार रूप में करते हैं। तुलना कीजिए, नित्यं विज्ञानमानन्दं ब्रह्म इत्यादौ विज्ञानपदेन ज्ञानाश्रय एवोक्तः (विश्वनाथकृत सिद्धान्तमुक्तावली, पृष्ठ ४८)।

३. पृष्ठ २८६।

४. तुलना कीजिए, स्पिनोज़ा : "नित्यत्व की व्याख्या काल की परिभाषा में नहीं की जा सकती और न काल के साथ ही इसका कोई सम्बन्ध हो सकता है" ('एथिक्स', ५ : १, स्कोलियम)। कूसा का निकोलस ईश्वर की अनन्तता तथा संसार की अपारता में भेद करता है। जिस प्रकार अनन्तता का सम्बन्ध सीमाविहीनता के साथ है उसी प्रकार नित्यता का सम्बन्ध निरन्तरता के साथ है।

है कि यह अचित् नही है।[1] यह आनन्द है जिसका तात्पर्य है कि यह दुःखस्वरूप नही है। यह यथार्थ है जिसका तात्पर्य है कि यह प्रामाणिक सत् है। यह अपने सत्स्वरूप मे कभी विनष्ट नही होता, क्योंकि इसे अपने इस रूप मे सुरक्षित रखने के लिए अन्य किसी वस्तु की आवश्यकता नही। यह बाहर से अपने अन्दर किसी पदार्थ का समावेश नही करता क्योंकि उस अवस्था मे सत् के अन्तर्गत असत् भी आ जाएगा। इसके अन्दर प्रथम और अन्तिम कुछ नही है। यह कभी उन्मीलित नही होता, कभी प्रकट नही करता, कभी परिष्कृत नहीं होता, व्यक्त नही होता, बढता नही और न परिवर्तित होता है, क्योंकि यह बराबर आत्मप्रत्ययरूप है। इसे हिस्सो से बनी एक पूर्ण इकाई के रूप मे नही माना जा सकता क्योंकि यह स्वरूप से एकरस है।[2] यह यथार्थ है तो भी ससार के स्वरूप से विहीन है।[3] इस प्रकार की सत्ता नि सन्देह भौतिक, परिमित तथा खण्डात्मक नही हो सकती। एक नित्य स्थायी सत्ता जिसमे कोई भी न्यूनता न हो, चित्स्वरूप ही होगी। इस प्रकार की एक प्रामाणिक सत् तथा आदर्शता की पूर्णता स्वय ही उन्मुक्त प्रसाद अर्थात् आनन्द रूप होगी।[4] समस्त मानवीय आनन्द ब्रह्मानन्द का ही रूप है।[5] यह सर्वोत्कृष्ट सत्य है, निर्दोष सत् है, और पूर्णतम रूप से मुक्त है।

आत्मा तथा ब्रह्म दोनो मे सत् के सब लक्षण यथा चैतन्य, सर्वव्यापकता और आनन्द एक समान पाए जाते है। आत्मा ब्रह्म है। जो विशुद्ध विषयी रूप है वही विशुद्ध विषयरूप है। ब्रह्म केवल अमूर्त रूप सत् प्रतीत होता है वैसे ही जैसे बुद्धि की आंख को आत्मा केवल आत्मनिष्ठतामात्र प्रतीत होती है। जब हम उस परम निरपेक्षसत्ता को सब प्रकार के आवरणो से पृथक् करके देखते है तो हमे अनुभव होता है कि यह सर्वथा परिमार्जित हो गई है और इस प्रकार यह लगभग शून्यमात्र रह गई है। क्या इस अवशेष को, जो असत् हो गया है, ससार की सर्वश्रेष्ठ यथार्थसत्ता करके मान सकते है? "तो क्या फिर ब्रह्म असत् है? नही, क्योंकि यहा तक कि कल्पनात्मक वस्तुए भी अपनी कल्पना के लिए कुछ न कुछ आधार रखती है।"[6] यदि किसी भी वस्तु का अस्तित्व है तो ब्रह्म को यथार्थसत्ता मानना ही होगा। ब्रह्म के सम्बन्ध मे यह हमारा अपना मानवीय भाव है जो रिक्त प्रतीत होता है किन्तु ब्रह्म अपने-आपमे रिक्त नही है।

१. अजडत्वराद्धिस्यम। ड्यूसन ने चैतन्य की परिभाषा इस प्रकार की है: "एक ऐसी क्षमता जो प्रकृति के अन्तर्गत समस्त गति तथा परिवर्तन के मूल मे विद्यमान है और उदाहरण के लिए जिसे वनस्पतियों में भी बताया गया है और इस प्रकार इसका तात्पर्य यह हुआ कि यह बाह्य प्रभावों की प्रतिक्रिया है, यही वह क्षमता है जो अपने श्रेष्ठतम विकास मे अपने को मानवीय बुद्धि, अर्थात् आत्मा के रूप में अभिव्यक्त करती है" ('ड्यूसन्स सिस्टम आफ दि वेदान्त', पृष्ठ ५९)।

२. शाकरभाष्य, १ ३, १।

३. निष्प्रपञ्चसदात्मकत्वम् (शाकरभाष्य, २ : १, ६)।

४. शाकरभाष्य, १ : १, १२ ; ३ : ३, ११–१३ ; तैत्तरीयोपनिषद्, २ : ७।

५. बृहदारण्यक उपनिषद्, ४ : ३, ३२।

६. शून्यमेव तर्हि तत्, न मिथ्याविकल्पस्य निर्निमित्तत्वानुपपत्तेः (गौडपाद की कारिका पर शाकरभाष्य)।

वह तो अत्यन्त पूर्ण यथार्थसत्ता है। भेदों से सर्वथा शून्य ब्रह्म, जिस तक हम बराबर प्रतिषेधात्मक धारणा के द्वारा ही पहुचते है अर्थात् "न मोटा, न पतला, न छोटा, न लम्बा"[१] "जिसे न श्रवणेन्द्रिय द्वारा सुना जा सके, न स्पर्शेन्द्रिय द्वारा स्पर्श किया जा सके,"[२] भ्रमवश जिसकी दोनों दशाओं का मध्यवर्ती शून्य समझे जाने की सम्भावना रहती है, यह एक अन्धकार रूप मानसिक बेचैनी की अवस्था है। हीगल ने बलपूर्वक कहा है कि विशुद्ध सत् जो समस्त विधेयों (विशेषणो) से विहीन है, असत् से कुछ भिन्न नहीं है। रामानुज तथा नैयायिक हीगल से सहमत होकर यही कहते है कि इस प्रकार का भेदशून्य ब्रह्म ऐसी एक सत्ता है जिसका ज्ञान हमे नही हो सकता।[३] जो कुछ उसके समीक्षक कहते है उसे शङ्कर भली प्रकार जानते है क्योंकि वे कहते है : "देश से, गुणों से, गति से, फलोपभोग और भेद से शून्य अत्यन्त महान् अर्थों मे और जिसके समान दूसरा नही, ऐसा सत् मन्द मति पुरुषो को 'असत्' के अतिरिक्त और कुछ नहीं प्रतीत होता।"[४] हमे ब्रह्म ऐसे रूप मे प्रतीत होता है कि जिसके अन्दर कुछ भी न रह गया हो किन्तु ब्रह्म साक्षात्कारवादी योगी ही यह स्पष्ट कर सकेगा कि उसके अन्दर सब कुछ उपलब्ध है। विचार के ऊपर की ओर दौड, जो ईश्वर को एक व्यवस्थित रूप देने मे संकोच करती है, हम सासारिक अनुभवो तक परिमित रहनेवाले मानवों की दृष्टि मे ईश्वर को शून्यरूप बना देती हुई प्रतीत होती है। इतने पर भी समस्त धार्मिक मनोवृति वाले ऋषि लोग उस निरपेक्ष परमार्थ सत्ता को कोई भावात्मक उपाधि देने का निषेध करते है।[५] मानव समाज के साधारण जनो के लिए धर्मशास्त्र ब्रह्म की परिभाषा विध्यात्मक शब्दों के द्वारा करता है,[६] क्योंकि "धर्मशास्त्र का विचार है कि पहले जनसाधारण सत्तात्मक वस्तुओं के मार्ग पर तो चल पड़ें और तब उन्हे हम शनैः-शनैः सर्वोत्कृष्ट अर्थो मे जिसका अस्तित्व है उसका बोध

१. बृहदारण्यक उपनिषद्, ३ : ८, ८। तुलना कीजिए, आगस्टाइन : "हम ऐसी किसी वस्तु को जान सकते है जो ईश्वर नहीं है, किन्तु ईश्वर क्या है यह नहीं जान सकते" ('ट्रिनिटी', ८ : २)।

२. कठोपनिषद्, ३ : १५।

३. निर्विषयस्य ज्ञानत्वे मानाभावात् (विश्वनाथकृत सिद्धान्तमुक्तावली, पृष्ठ ८८)।

४. दिग्देशगुणगतिफलभेदशून्यं हि परमार्थसत् अद्वयं ब्रह्म मन्दबुद्धिनामसदिव प्रतिभाति (शांकरभाष्य, छान्दोग्य उपनिषद्, ८ : १, १)।

५. तुलना कीजिए, रुडाल्फ ओटो : "इस निषेधात्मक प्रकल्पना का तात्पर्य यह नहीं है कि विश्वास तथा मनोभाव छिन्न-भिन्न होकर शून्य रूप में परिणत हो गए है : इसके विपरीत उक्त प्रकल्पना के अन्दर भक्ति का उन्नततम भाव रहता है और इसी प्रकार के निषेधात्मक गुणों के अन्दर से क्राइसोस्टम ने अत्यन्त गम्भीर दाष स्वीकृतियां तथा प्रार्थनाओं की रचना की।...एक ऐसा भाव जो स्वरूप मे निषेधात्मक भले ही हो किन्तु प्रायः एक ऐसी विषय वस्तु का प्रतीक सिद्ध हो सकता है जिसे यदि वाणी के द्वारा सर्वथा न भी प्रकट किया जा सके किन्तु जो उच्चश्रेणी के विध्यात्मक भाव से न्यून नहीं है।...निषेधात्मक आस्तिक्यवाद की उत्पत्ति अवश्य ही विशुद्ध तथा तात्त्विक रूप में धार्मिक मूल तत्त्वों मे होती है और यही उस ज्योतिर्मय का साक्षात्कार है" ('दि आइडिया आफ दि होली', पृष्ठ १८९)।

६. छान्दोग्य उपनिषद्, १ : ६, ६ ; ३ : १४, २।

ग्रहण करने योग्य बना सकेंगे।"[1] उपनिषदों के भाष्यकार होने के नाते शङ्कर का यह कर्तव्य था कि वे ब्रह्म के विषय मे किए गए निषेधात्मक तथा विध्यात्मक दोनों प्रकार के विवरणों में हमारे सम्मुख समन्वय स्थापित करे।[2] ब्रह्म के देश-सम्बन्धी विचार पर टिप्पणी करते हुए शङ्कर कहते है कि इसका आशय है कि हम अपने विचार अन्यों तक पहुचा सके।[3] अथवा जिससे पूजा का उद्देश्य पूरा हो सके।[4] हम उस ब्रह्म तक जो अपने-आपमें सर्वोच्च है, उस ईश्वर के द्वारा ही पहुचते है जो हमारे लिए सर्वोच्च है, जो विश्व का स्रष्टा तथा अधिष्ठाता है। यद्यपि ब्रह्म गुणों से विहीन है तो भी सत् के गुण, अर्थात् चैतन्य और आनन्द, इसके स्वलक्षण कहे जा सकते है और सृष्टिकर्तृत्व आदि लक्षण इसमे आनुषङ्गिक लक्षण (तटस्थ-लक्षण) है।[5] शङ्कर जानते है कि ब्रह्म की परिभाषा 'सच्चिदानन्द'[6] नाम से भी सर्वथा निर्दोष नही है; यद्यपि यह यथार्थसत्ता को, जहा तक सभव है, सबसे उत्तम रीति मे प्रकट करती है। मानव मस्तिष्क की शक्ति इतनी महान् अवश्य है कि वह अपनी सीमाओ को समझ सके। ब्रह्मानुभव के द्वारा ही ब्रह्मज्ञान के लिए श्रेष्ठतम अन्तर्दृष्टि उपलब्ध होती है और यह अन्तर्दृष्टि जिसे प्राप्त हो जाती है ऐसा व्यक्ति ही ब्रह्म के [illegible] सम्बन्धी सब प्रकार के प्रश्नो का उत्तर मौन अथवा निषेधात्मक चिह्नों द्वारा दे सकता है। विद्या (परा) ब्रह्म के विषय मे सर्वोच्च विध्यात्मक विचारपरक विवरण सत्, चित् और आनन्द के गुणो के साथ इसकी समानता के द्वारा देती है और यह अपने-आपमे पूर्ण है। अविद्या अथवा अपरा विद्या ऐसे गुणो (लक्षणो) का आधान करती है जो सृष्टि कार्य, तथा विश्व के शासकत्व के लक्षणो का उपलक्षण है।[7] इस प्रकार निरपेक्ष परमसत्ता के सम्बन्ध मे दो प्रकार के मत

१. सन्मार्गस्थास्तावद्भवन्तु, ततः शनैः परमार्थमपि ग्राहयिष्यामीति मन्यते श्रुतिः (शांकरभाष्य, छान्दोग्य उपनिषद्, ८ : १, १)। सदानन्द अपने वेदान्तसार (२) मे 'अध्यारोपापवाद' की विधि का वर्णन करता है, जिसके द्वारा हम पहले ब्रह्म में कुछ गुणों का आधान करते हैं और उसके पश्चात् उन गुणों का निराकरण कर देते है। देखें, भगवद्गीता पर शांकरभाष्य, १३ : १२।

२ देखें, शांकरभाष्य, १ : १, १–३१ ; १ : २ सारा ; १ : ३, १–१८, २२–२५, ३९–४३; १ : ४, १४–२२ ; ३ : ३, ३५–३६। देखें, 'ड्यूसन्स सिस्टम आफ दि वेदान्त', पृष्ठ १०२, २०६–२१०।

३. उपलब्ध्यर्थम्।

४. उपासनार्थम। शांकरभाष्य, छान्दोग्य उप० ८ : १, १ ; शांकरभाष्य, १ : १, २०–२४, ३१ ; १ : २, ११, १४ ; ३ : २, १२, ३३।

५. जब हम देवदत्त के मकान के विषय मे परिचय कराते हुए ऐसा कहते है कि उसके ऊपर एक गाय बैठी है तो हम उस मकान के वास्तविक स्वरूप का वर्णन न करके उसके सम्बन्ध में एक ऐसे विशिष्ट लक्षण का वर्णन करते है जिसका सम्बन्ध मकान के साथ आनुषङ्गिक है। यह देवदत्त के मकान की एक परोक्ष परिभाषा हुई। ठीक इसी प्रकार ब्रह्म की परिभाषा करते हुए उसे स्रष्टा तथा विश्व का कारण बताना आनुषङ्गिक है।

६. नृसिंहतापिनी उपनिषद्।

७. तुलना कीजिए, 'रत्नप्रभा' : "विद्याविषयो ज्ञेय निर्गुण सत्यम्, अविद्याविषय उपास्यं सगुणं कल्पितम्", (१ : १, ११)। तुलना कीजिए, इसके साथ स्कूलमेन के दृष्टान्त-सम्बन्धी ज्ञान की, ऐसा

है—पर तथा अपर। जिसमें नामरूप आदि भेदों का, जो अविद्या के कारण है, निराकरण करके ब्रह्म का सकेत निषेधात्मक उक्तियो के द्वारा किया जाता है, यथा न ठोस है आदि-आदि, वह पर है।[1] किन्तु जिसमे इसके विपरीत ठीक उसी यथार्थसत्ता का, पूजा आदि के उद्देश्य को लक्ष्य मे रखकर किसी न किसी भेद के द्वारा वर्णन किया जाता है वह अपर है।[2] तर्कशास्त्र (आन्वीक्षिकी विद्या) के द्वारा एक विशेष ढाचे मे रखकर जिस ब्रह्म का वर्णन किया जाता है वह ईश्वर है। यह सर्वोच्च यथार्थसत्ता नही है क्योंकि सर्वोच्च अनुभव की दृष्टि से इसका कुछ अर्थ नही है जिसमे अस्तित्व तथा वस्तुविषय पृथक्-पृथक् नही है। तो भी हमारे ज्ञान की वर्तमान अवस्थाओ मे यह सत्य की सर्वोत्तम प्रतिकृति है। सगुण ब्रह्म उत्सुक आत्मा का केवल निर्गतभागमात्र नही है और न ही बहता हुआ वायु का बुलबुला है। हमारे मानवीय मस्तिष्क के लिए यह नित्य स्थायी यथार्थसत्ता एक प्रभासमान आदर्श के रूप मे ही प्रकट होती है।[3] एक विचारात्मक सगति की माग

ज्ञान जो अपनी त्रुटि का ज्ञान रखता है और इसीलिए उसे सुधार लेता है। तुलना कीजिए, प्लाटिनस : "यदि हम इसे श्रेयस् के नाम से पुकारें तो उसमें हमारा तात्पर्य किसी ऐसे औपचारिक गुण से नहीं होता जो उसके अन्दर है; हमारा तात्पर्य उसमें केवल यही होता है कि यह वह लक्ष्य अथवा परिभाषा है जिसे प्राप्त करने की सब आकांक्षा रखते हैं और जब हम इसके अस्तित्व का विधान करते हैं तो इसका तात्पर्य इससे अधिक और कुछ नहीं होता कि इसकी गणना अस्तित्वहीन पदार्थों के अन्दर नहीं हो सकती; यह सत् के गुणों से भी अतीत है" ('मैकेन्नाकृत अंग्रेजी अनुवाद', खण्ड १, पृष्ठ ११८)।

१. बृहदारण्यक उप०, ३ : ८, ८। २. शांकरभाष्य, १ : ३१ ; ४ : ३, १४।

३. 'ट्यूसन्स सिस्टम आफ द वेदान्त', पृष्ठ १०३। तुलना कीजिए, पर कहता है जो एक ऐसे ईश्वर में, जो दुर्बोध है तथा ऐसे ईश्वर में जो कार्य करनेवाला तथा सृष्टि की रचना करता है, भेद करता है। "वह अपने-आपमे ईश्वर नहीं है, प्राणिरूप मे ही वह ईश्वर बनता है। मैं ईश्वर से रहित होने की आकांक्षा प्रकट करता हूं, अर्थात् वह ईश्वर अपनी दया से मुझे अपने यथार्थस्वरूप में ले आए, ऐसा यथार्थस्वरूप जो ईश्वर के ऊपर तथा सब प्रकार के भेद से भी अतीत है। मैं उस शाश्वत एकत्व में प्रवेश करना चाहता हूं, जो पहले से ही मेरा अपना स्वरूप सब कालों मे था और अब मैं वह था जो मुझे होना चाहिए और जो कुछ था मैं वही बनूंगा, उस अवस्था में जो समस्त जोड़ व गणित के ऊपर है तथा उस अचल में जिसके द्वारा शेष समस्त जगत् का सचालन होता है" (इण्ट-कृत 'एस्से आन पार्नाथिइज्म', पृष्ठ १७९, पर उद्धृत)। प्लाटिनस कहता है : "हम उसके विचार का निर्माण बौद्धिक तत्त्व के ऊपर लीला करती हुई इसकी प्रतिक्रिया के द्वारा करते हैं। यह अपनी प्रतिकृति इसने बुद्धि को प्रदान की है और वही बुद्धि उसका चिन्तन करती है; इस प्रकार समग्र पुरुषार्थ बुद्धि ही के पक्ष में है जो शाश्वत पुरुषार्थकर्ता तथा प्राप्तकर्ता भी है। वह सर्वातीत सत्ता न तो चेष्टा करती है, क्योंकि उसे कुछ अभाव नहीं प्रतीत होता, और न कुछ प्राप्त ही करती है क्योंकि उसे पुरुषार्थ नहीं करना है"; ('एन्नीड्स', मैकेन्नाकृत अंग्रेजी अनुवाद, खण्ड २, पृष्ठ १३५)। तुलना कीजिए, ब्रैड्ले : "सीमित शक्तिवाले प्राणियों के लिए निरपेक्ष सत्ता का पूर्ण रूप मे साक्षात्कार करना असम्भव है।" किन्तु इसके प्रधान विशिष्ट लक्षणों के सम्बन्ध में विचार बनाना, अर्थात् एक ऐसा विचार जो किसी अंश में सत्य है भले ही वह अमूर्त तथा अपूर्ण हो एक भिन्नरूप पुरुषार्थ है, और निश्चय ही निरपेक्ष सत्ता के ज्ञान के लिए इससे अधिक आवश्यक भी नहीं है। यह एक ऐसा ज्ञान है जो निःसन्देह तथ्य से अधिकांश में भिन्न है। किन्तु यह उस सबके लिए सत्य है और अपनी सीमाओं का सम्मान

हमसे आशा करती है कि हम परम यथार्थसत्ता का एक अभावात्मक विशेषण-समुच्चय के द्वारा वर्णन करें जैसे "न व्यक्तिरूप, न नैतिक आदर्शरूप, न सुन्दर और न सत्य," जैसा कि ब्रैडले करता है। इस अभावात्मक वर्णन का अनिवार्य प्रभाव यह है कि हम यह धारणा बना लें कि निरपेक्ष परमसत्ता का अनुभव के उच्चतम दृष्टिकोणों से कोई सम्बन्ध नहीं और वह उनके प्रति उपेक्षा भाव रखती है। जब एक निश्चित अध्यात्म विद्या के ये सूत्र उनके उद्देश्य की सिद्धि नहीं कर सकते तो हमारी प्रवृत्ति अपनी धार्मिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए एक भिन्न प्रकार की अभिव्यक्ति की ओर होती है।[1]

किन्तु ब्रह्म सगुण भी हो और निर्गुण भी, उसके ये दोनों रूप एकसाथ नहीं हो सकते।[2] एक ऐसी यथार्थसत्ता जिसके दो पार्श्व हों अथवा जिसका अनुभव दो भिन्न-भिन्न प्रकार से हो सकता हो उच्चतम यथार्थसत्ता नहीं है। किन्तु ज्योंही हम 'सत्' के स्रोत तक पहुंचते हैं दोनों भिन्न पार्श्व विलीन हो जाते हैं। हम निरपेक्ष यथार्थसत्ता के रूपों को तब ग्रहण कर सकते हैं, जब हम उसे बाहर से देखते हैं। अपने-आपमें निरपेक्ष परमसत्ता बिना किसी पार्श्व के है, आकृतिविहीन है और द्वैतभाव के किसी भी अंश से रहित तथा गुणों से भी विहीन है। रूप और व्यक्तित्व के ये लक्षण विद्या अथवा अनुभव के जगत् में ही कुछ अर्थ रखते हैं। सर्वोत्कृष्ट ब्रह्म में सब प्रकार की अपेक्षताओं का विलय हो जाता है। यह कोई ऐसी व्यवस्था अथवा पूर्ण इकाई नहीं है जिस तक परस्पर विरोधीभावों को समवेत करने की अन्तर्रहित प्रक्रिया के द्वारा ही पहुंचा जा सकता हो।[3] अनन्त ऐसा पदार्थ नहीं है जो दर्शनशास्त्र की रचना हो; यह निरन्तर विद्यमान तथ्य है। शंकर परम निरपेक्षसत्ता को विचार के द्वारा जानने के

करता है, और ऐसा प्रतीत होता है कि वह सीमित बुद्धि के द्वारा पूर्णरूप में प्राप्तव्य है" ('एपीयरेंस एण्ड रियलिटी', पृष्ठ १५९)।

१. तुलना कीजिए, ब्रैडले : 'ट्रुथ एण्ड रियलिटी', पृष्ठ ४३१।

२. "वही एक वस्तु अपने-आपमें रूप आदि भेदों से प्रभावित हो और उनके प्रभाव से स्वयं प्रभावित न भी हो यह नहीं हो सकता, क्योंकि ये परस्पर विरोधी बातें हैं, और एक वस्तु एक प्रकार की सीमाओं से सम्बद्ध होने के कारण अन्य रूप धारण नहीं कर सकती। क्योंकि जो स्फटिकशिला पारदर्शक है वह सीमाओं से, जैसे लाल रंग आदि से, सम्बद्ध होने के कारण धुंधली नहीं हो सकती; इसके विपरीत, यह समझ लेना कि धुंधलापन उसमें व्याप्त है एक भ्रम होगा।...ब्रह्म को चाहे वह कोई भी स्वरूप ग्रहण करे अपरिवर्तनीय रूप से समस्त भेदों से स्वतन्त्र ही समझना चाहिए, इसके विपरीत नहीं" ('ड्यूसन्स सिस्टम आफ दि वेदान्त', पृष्ठ १०२–३)।

३. विशुद्ध तर्क के आधार पर ब्रैडले विवश होकर इसी प्रकार की स्थिति को स्वीकार तो करता है किन्तु फिर भी उसकी मति अभी अस्थिर ही है और अन्त में जाकर उसे कुछ संशय रह ही जाते हैं। वास्तव में परम निरपेक्ष में कोई भी भावात्मक अथवा अभावात्मक लक्षण नहीं घटते क्योंकि हम सापेक्ष के द्वारा सापेक्ष से बाहर नहीं निकल सकते। हमारे तार्किक बोध, जो एक सीमा से दूसरी सीमा की ओर जाते हैं, हमें अनन्त तक नहीं पहुंचा सकते। जब हम अपनी सीमितता का अतिक्रमण करते हैं तो हमारे सम्मुख निरपेक्ष परम के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं रहता जिसके अन्दर वह सब जो औपचारिक और सीमित है विलीन हो जाता है।

समस्त प्रयत्नों के विरोधी हैं। ज्योंही हम इसका विचार करते है यह आनुभविक जगत् का एक भाग बन जाता है

२७

ईश्वर अथवा शरीरधारी परमात्मा

शंकर के मत मे ईश्वर सगुण ब्रह्म का नाम है, जिसे सर्वश्रेष्ठ व्यक्तित्व माना गया है। शकर का विश्वास है कि ईश्वर के अस्तित्व का प्रश्न सर्वथा निरर्थक है। यदि ईश्वर का अस्तित्व है तब उसका अस्तित्व भी अन्य प्रमेय विषयो की भाति ही होना चाहिए। यह ईश्वर को सोमित पदार्थों के स्तर पर पहुचा देना होगा और इस प्रकार वह भी पदार्थों के अनन्त बाहुल्य में एक इकाईमात्र हो जाएगा जो उन सबसे भिन्न होगा उसी प्रकार जिस प्रकार कि वे एक-दूसरे से भिन्न है, अथवा वह भी कुल अस्तित्व सम्पन्न वस्तुओं में एक वस्तु के रूप मे मिल जाएगा और बहुदेवतावाद में सम्मिलित होकर एक ऐसी व्यवस्था को जन्म देगा जिसे नास्तिकवाद से भिन्न रूप में समझना कठिन होगा। ईश्वर के प्रश्न को अस्तिवाचक परिभाषाओं मे प्रस्तुत करना प्रारम्भ मे ही इस समस्या के समाधान को कुल सम्भावना को दूर कर देगा। यदि तर्क का कड़ा विधान हमें सत्य की प्राप्ति के लिए कोई सुरक्षा प्रदान कर सकता तो हम बहुत पहले ही इस तक पहुच गए होते। सचाई तो यह है कि हमे तर्क के क्षेत्र मे अनेक प्रकार के सम्प्रदाय मिलते है जिनमे से प्रत्येक तर्कसम्मत होने का दावा करता है और दूसरो के साथ उसका विरोध होता है। ईश्वर की सत्ता के विषय में प्रस्तुत किए जानेवाले सभी प्रमाणों पर, तथा ज्ञानवाद-सम्बन्धी, विश्वविज्ञान-सम्बन्धी और भौतिक ईश्वरीय-ज्ञान-सम्बन्धी प्रमाणों पर शकर विचार करते है और उनकी निष्फलता को दर्शाते है, जैसा कि काण्ट ने भी बहुत पीछे जाकर किया।

तर्कशास्त्र का आदर्श हमें एक निर्दोष विषयी की यथार्थसत्ता की कल्पना करने को विवश करता है जिसके साथ समस्त सत्ता का सम्बन्ध प्रमेयपदार्थ (विषय) का सम्बन्ध है। क्रमबद्ध सामञ्जस्य के रूप मे सत्य का अर्थ है एक दैवीय अनुभव की यथार्थता। एक व्यवस्था के अन्दर घटनाए एक-दूसरे से सम्बद्ध है यह साधारण बुद्धि तथा विज्ञान की धारणा है जिसका बढ़ते-बढ़ते अनुभव से समर्थन हो जाता है यद्यपि

१. रामानुज का मत है कि दैवीय केवल मानवीय विचार का ही विस्तृत रूप है। मानवीय बोध तथा दैवीय बोध में भेद केवल परिधि (Range) का है, लक्षण-सम्बन्धी भेद नहीं है। जहां मानवीय विचार अपने अन्दर कुछ सम्बन्धों को लेता है, दैवीय उन सबको ले लेता है। किन्तु शंकर का मत इससे भिन्न है। यदि हम सापेक्ष पदार्थों के जगत् में खो जाएंगे तो सापेक्षों का अन्त सम्भव नहीं। जब कि परिभाषाएं असंख्य उपविभागों में बंट सकती है और जब उनके सम्बन्धों में भी अनन्त क्रम-परिवर्तन हो सकता है, तब परिभाषाओं तथा सम्बन्धों का पूर्ण ज्ञान होना सम्भव नहीं है। प्रतीतियों को एकत्र रखने से हम सत्य तक नहीं पहुंच सकते। यथार्थसत्ता प्रतीतियों से परे तथा सत्य विचार की पहुंच से परे है।

उसकी पूर्णरूप में कभी सिद्धि नहीं हुई। क्योंकि संसार में ऐसा बहुत कुछ है जो प्रत्यक्ष-रूप में हमारे अनुभवों में नहीं प्रविष्ट होता। ऐसा प्रतीत होता है कि हम बहुत कुछ जानते हैं यद्यपि इस सीमित क्षेत्र में भी हमारा ज्ञान अपूर्ण है। केवल यथार्थसत्ता का एक सम्पूर्ण इकाई के रूप में पूर्णरूप में बोधग्रहण करने से ही हमारी इस धारणा का औचित्य माना जा सकता है कि ईश्वर है और वह सबका स्रष्टा है। हमारा मानवीय अनुभव ससार का ज्ञान उसके पूर्णरूप में प्राप्त करने तथा विशुद्ध मन् के अविराम अनन्तता के साथ सामञ्जस्य को समझने में असमर्थ है।[1] हम अपने अनुभव को चाहे कितना ही सरल तथा व्यवस्थित क्यों न बना लें और इसकी जटिलता को कम करके केवल एकमात्र प्रकृति तक भी ले आवे तो भी पुरुष अथवा विषयी को एक बाह्य निरीक्षक के रूप मे स्वीकार करना ही होगा जो देश तथा काल में से प्रकृति की एकाकी उड़ान का निरीक्षण करता है। यदि विश्व इतना छोटा है कि हमारा परिमित शक्ति वाला मस्तिष्क उसकी खोज ले सकता है, यदि हम यह बता सकते की यह सृष्टि कहा से आई और किधर जाएगी, इसके आदि निकास तथा स्वरूप और लक्ष्य को समझ सकते, तब हम सीमित न होकर अनन्त की माग भी उपस्थित न कर सकते। इस प्रकार की तार्किक धारणा एक विचारमात्र है कि समस्त तथ्य किसी व्यवस्था से सम्बद्ध है तथा ईश्वर की मननशक्ति को अभिव्यक्त करते है।

विश्वविज्ञान-सम्बन्धी तर्क कारणभाव का प्रयोग करता है जो आनुभविक जगत् में भी पर्याप्त सन्तोषजनक नही है और तब सर्वथा अनुपयोगी सिद्ध होता है जब हम आनुभविक जगत् का सम्बन्ध परमयथार्थसत्ता के साथ स्थापित करने का प्रयत्न करते है जिसके विषय मे कहा जाता है कि वह इस जगत् के द्वारा अपने को अभिव्यक्त करता है। प्रतीतिरूप जगत् की शृङ्खलाओं मे भिन्न-भिन्न पद्धतिया एक दूसरे का समाधान नही कर सकती। प्रतीतिरूप जगत् में हम किसी ऐसे कारण को जिसका कोई अन्य कारण न हो स्वीकार नही कर सकते। इस प्रतीतिरूप शृङ्खला अर्थात् संसार के नितान्त प्रारम्भ का प्रश्न स्वतःविरोधी है। इसकी खोज का तात्पर्य है काल के अन्तर्गत उस सत्ता की खोज जो स्वयं काल की सत्ता की भी प्रतिष्ठा है। संसार का सारतत्त्व ही यह है कि उसका आदि नही है। एक ऐसी अनन्तसत्ता जिस तक हम समस्त सीमित पदार्थों का निषेध करते हुए पहुंचते है, एक ऐसा विचार है जिसके समाधान (व्याख्या) की आवश्यकता है। जब हम कारणकार्यभाव के तर्क का उपयोग यथार्थसत्ता की सिद्धि के लिए करते है, जिसकी प्रामाणिकता की सीमा परिवर्तनशील आनुभविक जगत् तक ही परिमित है, तो यथार्थसत्ता का भ्रमात्मक विचार होता है क्योंकि उस अवस्था में इसे ज्ञान का विषय बना लिया जाता है और वह जिसे हम संसार के कारणरूप मे अनुमान के द्वारा जानना चाहते है वह भी आनुभविक जगत् से सम्बद्ध हो जाता है। यदि हम इस सिद्धान्त की व्यापकता को भी स्वतःसिद्ध मान लें कि प्रत्येक कार्य का कारण होता है तब भी एक सीमित जगत् से हम एक

१. तुलना कीजिए : "क्योंकि अकेला ईश्वर ही पर्याप्त ऊंचाई पर स्थित रहकर इतने विस्तृत विश्व की कल्पना करता है।"

सीमित स्रष्टा का ही अनुमान कर सकते है ।[1] अवश्य ही आदि कारण को सत् के उस एक ही सघ की समान इकाई होना चाहिए जिसके अन्य प्रमेय पदार्थ भी हैं क्योकि उक्त प्रमेय पदार्थ भी उसीसे सबद्ध होकर उत्पन्न हुए है । यदि ईश्वर जगत् का कारण है तो उसे भी देश-काल के ढाचे के अन्तर्गत होना चाहिए, अर्थात् एक विस्तृत रूप से बृहदाकार मानव जिसके आत्मचैतन्य की परिभाषा हमारे अपने ही समान शरीर तथा मनरूपी साधन-सामग्री के द्वारा की जा सकती है । यदि इस प्रकार के सत् स्वरूप प्राणी का अस्तित्व है तो हमारे ज्ञान का विस्तृत रूप कितना ही दूरदर्शी क्यो न हो 'वह' हमे उसके स्वरूप तथा सत्ता का निर्णय नही करा सकता । इस प्रकार का ईश्वर विशेषत जो मानवीय साधनो के समान ही साधनो से कार्य करता हो, न तो अनन्त ही और न सर्वशक्तिमान् ही हो सकता है ।

इस प्रकार का नैतिक तर्क कि वस्तुओ का पूर्वापर सम्बन्ध मनुष्य की आत्मा के अनुकूल है और यह एक उपकारी ईश्वर की कारीगरी को प्रदर्शित करता है, सर्वथा असन्तोषप्रद है । हम प्रकृति की ओर चाहे कितना भी क्यो न झुके एक यथार्थ जगत् मे पुण्य व पाप का उत्तरदायित्व ईश्वर ही के ऊपर आता है ।[2] यदि उसको पाप के जनक होने के उत्तरदायित्व से मुक्त करने के लिए हम फारस के पुराणशास्त्र की भाति शैतान को उत्तरदायी ठहराए तो ईश्वर की एकता विलुप्त हो जाती है और हम ईश्वर एव शैतान के बीच एक द्वैतभाव की पुन स्थापना करते है । इसके अतिरिक्त यदि आत्मा ईश्वर का ही एक अश है तो ईश्वर को आत्मा की पीडा का भी अनुभव होना चाहिए वैसे ही जैसे कि जब शरीर के किसी एक अवयव को दुःख होता है तो इसके साथ सारा शरीर दुःख का अनुभव करता है । परिणाम यह निकला कि ईश्वर की पीडाए जीवात्मा की पीडाओ से कही अधिक है और इसलिए हमारे लिए यह कही अधिक अच्छा होगा कि हम अपनी सीमित पीडाओ के साथ अपने अन्दर ही सीमित रहे, अपेक्षा इसके कि हम ईश्वर के स्तर तक उठे और समस्त जगत् का भार उठाने का प्रयत्न करे ।

एक पूर्ण निर्दोष ईश्वर को अपने सन्तोष की प्राप्ति के लिए किसी जगत की आवश्यकता नही है । यदि यह कहा जाए कि जगत् उसके सुखोपभोग के लिए है तो फिर वह भी एक ससारी जीव हो गया और ईश्वर न रहा । यदि हम कह कि ईश्वर मे सकल्प है, तथा हमारे जैसा व्यक्तित्व है, और पूर्णता आदि गुण है तो यह विचार मे नही आ सकता कि ये सब उसकी निरपेक्षता के साथ-साथ कैसे रह सकते है ।

१ यत्कार्यं तत् सकर्तृकम ।

२. यहूदियों के पैगम्बर द्वारा प्रस्तुत इस समाधान की—अर्थात् "मै प्रकाश तथा अन्धकार की भी रचना करता हू, मै शान्ति का निर्माता हू और पाप की भी रचना करता हू, मै प्रभु रूप में इन सब वस्तुओं को बनाता हू"—प्रतिध्वनि उपनिषदों के कुछ वाक्यों में भी पाई जाती है । "क्योंकि वही उन मनुष्यों से शुभ कर्म करवाता है जिनको वह इस जगत से मुक्त होने के लिए मार्ग-प्रदर्शन करता है और उन मनुष्यों से पापकर्म करवाता है जिन्हें वह रसातल में भेजता है । वह जगत का सरक्षक है, वही शासक है तथा प्रभु भी है" (कौषीतकी उपनिषद्, ३ : ८)।

व्यक्तित्व के लक्षण (गुण) तथा निरपेक्षता (ब्रह्म) को एक साथ सुरक्षित रखना तर्कशास्त्र की दृष्टि में लगभग असम्भव-सा ही है।

ईश्वर के अस्तित्वविषयक उक्त अपर्याप्त प्रमाणों से जो परिणाम निकलता है वह शकर के अनुसार यह है कि यथार्थसत्ता के विषय मे इस प्रश्न का कुछ अर्थ ही नहीं है और यह प्रश्न केवल आनुभविक जगत् मे ही उठ सकता है। जब हम जगत् के सापेक्षस्वरूप को समझ लेते है तो हम देखते है कि सृष्टिरचना की समस्या और उसका समाधान इन दोनों का सम्बन्ध हमारे तर्कमय जगत् से ही है, किन्तु यथार्थसत्ता का जो स्वरूप है उसके साथ नही है। तार्किक प्रमाणों के निराकरण का तात्पर्य ईश्वर के अस्तित्व का निषेध नही है। शकर के दृष्टिकोण से कोई भी विवेकपूर्ण तर्क शरीरधारी सर्वोपरि ईश्वर के अस्तित्व के विषय में अन्त मे पहुचकर स्वीकार किए जाने के योग्य नही है। अधिक से अधिक उक्त प्रमाण हमे यह बतला सकते है कि ईश्वर के अस्तित्व की सम्भावना है। ईश्वर की यथार्थता हमारी कल्पना की तथा बोधग्रहण की विवेकपूर्ण शक्ति से अतीत है।[1] केवल उसी अवस्था मे जब कि हम ऋषियो की उस आध्यात्मिक अन्तर्दृष्टि का आश्रय ग्रहण करे जो धर्मशास्त्रो में सगृहीत हैं हमे ईश्वर की सत्ता का निश्चित ज्ञान प्राप्त हो सकता है। शकर के दर्शन मे ईश्वर एक स्वतःसिद्ध प्रमाण नही है, तार्किक सत्य भी नही है, किन्तु एक अनुभवजन्य उपधारणा है जिसकी क्रियात्मक उपयोगिता है। श्रुति इसका आधार है। ईश्वर सर्वोपरि आत्मा है, सर्वज्ञ है तथा सर्वशक्तिमान् है। वह प्रकृति का आत्मतत्त्व है, विश्व का तत्त्व है, इसका जीवनदायी प्राण तथा प्रेरक स्रोत है और समस्त सत्ता रूप आकृतियों का आदि और अन्त है। जो सिद्धान्त शास्त्रप्रमाण के ऊपर आधारित है यह आवश्यक नही कि वह तर्क के विरुद्ध हो। श्रुति की स्वीकृति ऐसी एक धारणा को स्वीकार करना है जिसके विरोधी प्रमाण न हो भले ही उसके पक्ष मे प्रमाण पर्याप्त मात्रा मे न मिले। तार्किक विवरण मे हम अपने को एक ऐसे ससार को सौप देते हे और ऐसे विवादास्पद विषय पर पहुच जाते है जहा हमे अन्य साधनो की आवश्यकता होती है। अन्तर्दृष्टिपरक

१. तुलना कीजिए, श्वीट्जर : "यदि हम इस जगत् को ठीक ऐसा ही समझ ले जैसा यह दिखाई देता है तो मनुष्यों तथा साधारणतः समग्र मनुष्य जाति के उद्देश्यों के प्रयोजन को व्याख्या करना असम्भव होगा। हमारे लिए इस जगत मे किसी प्रकार के ऐसे प्रयोजन-सम्बन्धी विकास को खोज निकालना कठिन है जिससे हमारे अपने कर्मो की सार्थकता प्रकट हो सके" (भूमिका, १२, 'सिविलिजेशन एण्ड एथिक्स', भाग २)।

२. यद्यपि यूरोप में काण्ट को ऐसा सर्वप्रथम दार्शनिक विचारक माना जाता है जिसने तार्किक प्रमाणों की निरर्थकता को सिद्ध किया, किन्तु प्लेटो के विषय मे यह कहना भी उचित होगा कि उसने इसके तत्त्व को समझा। "इसलिए क्या यह एक असम्भव कार्य नही है कि हम समग्र विश्व के सृजनहार की खोज करें और उस खोज को ऐसे शब्दो मे प्रकट किया जाए जिससे सब समझ सके" ('टाइमियस', २८, सी०)। तुलना कीजिए, बिशप गोर : "मै स्वीकार करता हूं कि मानवीय तर्क बिना किसी पुरुषार्थ की सहायता से ईश्वर तथा सृष्टिकर्ता-सम्बन्धी इस विचार तक पहुंच सकता था" ('बिलीफ इन गॉड', पृष्ठ १५२)। और इस प्रकार वे हमें ईश्वरीय वाणी का आश्रय लेने की प्रेरणा देते है। इसी प्रकार सन्त टामस एक्विनास भी। तुलना कीजिए, केनोपनिषद् पर शांकरभाष्य, १ : ४।

अनुभव की प्राप्ति से पूर्व हमे श्रुति का आश्रय लेना पडता है। ईश्वर के सृष्टिकर्तृत्व के विषय मे धर्मशास्त्र ही हमारा एकमात्र ज्ञान का साधन है।[1] यह बलपूर्वक कहता है कि "वह कारण जिससे ससार की उत्पत्ति, स्थिति तथा विलय सम्पन्न होते हैं, जिसका विस्तार ही नाम व रूप है, जिसके अन्तर्गत अनेको कर्ता तथा फलोपभोक्ता समाविष्ट है, जिसके अन्तर्गत कर्मों के फल भी समाविष्ट है, और जिनका निर्णय विशेषकर देश, काल और कारण के द्वारा होता है, वह जगत् जिसका निर्माण एक ऐसी व्यवस्था के अनुसार हुआ है जो मन की कल्पना से भी दूर है—यह सर्वज्ञ, और सर्वशक्तिमान् कारण ब्रह्म ही है।'[2] समस्त आध्यात्मिक और नैतिक पूर्णताए उसीके अन्तर्गत बताई गई है। यह कहा गया है कि वह समस्त पाप से ऊपर है।[3] वही अन्तर्यामी परमात्मा विषय तथा विषयी जगत् मे सर्वत्र व्याप्त है, वह सूर्य (प्रमेय विषय) का अन्तर्वर्ती है तथा आख (विषयी) मे भी अन्तर्वर्ती रूप मे देखा जाता है।[4] वह विश्व का स्रष्टा, शासक तथा सहारक है।[5]

शकर यह सिद्ध करने के लिए घोर परिश्रम करते है कि ईश्वर की यथार्थता का जब एक बार धर्मशास्त्र से निश्चय हो गया तो तर्क की मागो के साथ उसका समन्वय भी किया जा सकता है। हम केवल कार्य को देखते है इस प्रकार हममे यह निर्णय नही हो सकता कि ससार का सम्बन्ध ईश्वर रूपी कारण के साथ है या किसी अन्य कारण के साथ क्योकि एक ही कार्य के भिन्न भिन्न कारण हो सकते है। इसलिए हमे धर्मशास्त्रो (श्रुति) के इस कथन को "कि ईश्वर जगत का कारण है" स्वीकार करना चाहिए। ईश्वर आदिकारण है क्योकि उसकी उत्पत्ति नही है। विशुद्ध सत् स्वरूप होने के कारण उसे सत् से उत्पन्न हुआ नही माना जा सकता क्योकि कारण और कार्य का सम्बन्ध बिना कारण मे कुछ गुण विशेष के रहने से नही बन सकता।[6] ईश्वर की उत्पत्ति किसी भेदित सत् से नही मानी जा सकती क्योकि अनुभव हमे बताता है कि भेद ऐसे पदार्थ से उत्पन्न होते है जिसके अपने अन्दर भेद न हो। अनात्म से भी इसकी उत्पत्ति नही हो सकती क्योकि यह निरात्मक है। श्रुति भी इस मत का निराकरण करती है क्योकि यह प्रश्न करती है कि सत् की उत्पत्ति असत् मे कैसे हो सकती है? और ईश्वर परिवर्तित-रूपसत्ता भी नही हो सकता क्योकि इसमे हम एक ऐसी पश्चाद्गति मे पहुच जाएगे जिसका कही अन्त नही।[7] ईश्वर अजन्मा है, न उसका कोई कारण है, न वह स्वय किसीका कार्य है। यदि ईश्वर कार्यरूप होता तो आकाश से लेकर नीचे तक समस्त पदार्थ नि सार हो जाते और हम शून्यवाद को मानने के लिए बाध्य होते।[8] वह शक्ति

१. ब्रह्मसूत्र, १ : १, २। २. शांकरभाष्य, १ : १, २।

३. छान्दोग्य उपनिषद्, १ : ६ ; शांकरभाष्य, १ : १, २०।

४. शांकरभाष्य, १ : १, २० ; बृहदारण्यक उपनिषद्, ३ : ७, ९।

५. देखें, शांकरभाष्य, १ : १, १८–२०, २२ ; १ : ३, ३९, ४१ ; १ : २, ९–१०।

६. चूकि ईश्वर से उत्कृष्ट किसी सत्ता की कल्पना नहीं की जा सकती इसलिए ईश्वर का अस्तित्व बिना कारण के है। इसके साथ डेस्कार्टे के सत्ता शास्त्रीय तर्क की तुलना कीजिए।

७. शांकरभाष्य, २ : ३, ९। ८. शांकरभाष्य, २ : ३, ७।

जो समस्त रूपान्तरों को यथार्थता प्रदान करती है ईश्वर है।

इस सिद्धान्त को मानते हुए कि प्रत्येक कार्य का कोई कारण होता है, क्या परमाणु, या प्रकृति, या असत्, या कोई व्यक्तिरूप कार्यकर्ता, अथवा स्वयंस्फूर्ति ही कारण नहीं हो सकती?[1] शंकर इन सब सम्भाव्यताओं का खण्डन करते है। प्रकृति जड नही, चेतन है और अपने अन्दर से उसे जीवन मिलता है। प्रकृति रूपी रगमंच आत्मा के जीवनरूपी नाटक के लिए सर्वथा अनुकूल है। "इस जगत् मे कोई भी अचेतन पदार्थ बिना किसी बुद्धिसम्पन्न की प्रेरणा के अपने अन्दर से ऐसे पदार्थ उत्पन्न नही कर सकता जो मनुष्य के प्रस्तुत उद्देश्यों की सिद्धि में उपयोगी हों। उदाहरण के लिए मकान, ऊचे-ऊंचे प्रासाद, शय्याए, गद्दियां, प्रमोद-उद्यान आदि का निर्माण मेधावी कलाकारो के द्वारा ही इस जीवन मे सम्पन्न होता है जिनका उद्देश्य सुख प्राप्त कराना तथा दुःख को दूर करना है। इस समस्त ससार के सम्बन्ध मे भी ठीक वही बात है। क्योंकि, उदाहरण के लिए, जब मनुष्य यह देखता है कि किस प्रकार यह पृथ्वी अनेक प्रकार के कार्यो के फलो के लिए उपयुक्त सिद्ध होती है, और फिर किम प्रकार यह शरीर कार्य करता है, जिसमे अन्दर और बाहर भिन्न-भिन्न भागों की एक उचित व्यवस्था प्रस्तुत की गई है और जिसका निर्माण भिन्न-भिन्न जातियों के अनुकूल किया गया है तथा जिसमे एक-एक ब्योरे का ठीक-ठीक निर्णय किया गया है जिसमे कि यह अनेक कार्यो के फलोपभोग का उचित स्थान बन सके तो यह सब व्यवस्था कैसे एक चेतना-विहीन प्रधान (प्रकृति) से उत्पन्न हो सकता है? उदाहरण के लिए, अनुभव हमें बताता है कि मिट्टी भी भिन्न-भिन्न आकृतिया केवल तब तक ही धारण करती है जब तक कि कुम्हार उसका संचालक है, इसलिए ठीक इसी प्रकार इस प्रकृति का प्रेरक भी किसी बुद्धि-सम्पन्न शक्ति को ही होना चाहिए।"[2] सृष्टिरचना का प्रयोजन पूर्वजन्मों के फलोपभोग के लिए समुचित भूमि तैयार करना है जिसका विस्तार प्रत्येक व्यक्ति के लिए पीछे की ओर अनेक जन्मों तक जाता है। चेतनारहित प्रकृति न तो प्रकृति की अपनी व्याख्या है और न जगत् का विषयिनिष्ठ पक्ष है और न कर्म के विधान की क्रिया है। चेतना तथा क्रियाशीलता का सम्बन्ध अवश्य जगत् के कारण के साथ होना चाहिए।[3] संसार मे विद्यमान व्यवस्था तथा रचना संकेत करती है कि इसकी संचालक एक चैतन्यपूर्ण सत्ता है। इसी प्रकार का

१. शांकरभाष्य, १ : १, २। २. शांकरभाष्य, २ : २, १।

३. यदि ब्रह्म की उपस्थितिमात्र को ही जगत् में गति देने के लिए पर्याप्त समझा जाए, जैसे कि चुम्बक की उपस्थिति लोहे में गति उत्पन्न करती है, तो क्या उसी प्रकार पुरुष की समीपतामात्र प्रकृति के अन्दर गति देने के लिए पर्याप्त नही है? इसके अतिरिक्त अविद्या स्वभावतः सृष्टि की रचना की ओर प्रवृत्ति कराती है और इसके लिए किसी प्रयोजन की आवश्यकता नही। "अविद्या च स्वभावत एव कार्योन्मुखी न प्रयोजनमपेक्षते।" (भामती, २ : १, ३३)।

संकेत एक ही उद्देश्य की ओर ले जाने वाले विभिन्न साधनों से भी होता है।[1] शकर पूर्वमीमांसा के इस सिद्धान्त पर भी विचार करते है कि ईश्वर के स्थान पर वह अपूर्व है जिसके कारण मनुष्य अपने कर्मों का फल एक व्यवस्था के अनुसार पाते हैं। वे उक्त सिद्धान्त की आलोचना इस आधार पर करते है कि अपूर्व अधार्मिक है और जब तक इसके अन्दर कोई धार्मिक शक्ति गति न दे यह स्वत कार्य नही कर सकता। न्यायवैशेषिक का विश्वातीत ईश्वर अपर्याप्त है क्योकि वह विश्व का उपादान कारण नही है। यदि कोई व्यक्ति विशेष सृष्टि का रचयिता होता तो वह ऐसी वस्तु को उत्पन्न करता जो उसके लिए उपयोगी होती तथा उन वस्तुओ को, जो विरुद्ध प्रकृति की है, जैसे जन्म, मरण, वृद्धावस्था, रोग इत्यादि, कभी उत्पन्न न करता। क्योकि 'हम जानते है कि कोई भी स्वतन्त्र मनुष्य अपने लिए कारागार बनाकर उसमे अपने-आप नही बैठ जाएगा।'[2] आकस्मिक घटना, परमाणु, प्रकृति, न्याय का ईश्वर आदि उन सबसे कही अधिक बढकर मागे है जो माग श्रुति करती है। इस प्रकार सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, नित्य, सर्वव्यापक ईश्वर जगत् का कारण है।[3]

ईश्वर को जगत् का उपादान तथा निमित्त कारण बताया गया है। इस आपत्ति के उत्तर मे कि अनुभव के अनुसार उपादान कारण ज्ञानसम्पन्न नही होते, शकर कहते है "यह आवश्यक नही है कि यहा भी ठीक वैसा ही हो जैसा कि अनुभव मे होता है; क्योकि इस विषयी का ज्ञान ईश्वरीय ज्ञान के द्वारा हुआ है, अनुमान के द्वारा नही।' जब हम श्रुतिवाक्यो पर विश्वास करते है तो हमारे लिए यह आवश्यक नही है कि हम अनुभव की भी अनुकूलता ढूढे।[4] न्यायदर्शन के अनुसार निमित्तकारण वह है जिसका ज्ञान, इच्छा तथा प्रयत्न किसी भी पदार्थ को उत्पन्न करने के लिए आवश्यक है। वेदान्ती केवल ज्ञान को ही अपने मे पूर्ण मानता है किन्तु इच्छा तथा प्रयत्न को नही, जिनके लिए एक पूर्ववर्ती इच्छा तथा पूर्ववर्ती प्रयत्न की कल्पना करनी पडती है, और इस प्रकार इसका कही अन्त नही। ऐसा तर्क उपस्थित किया जाता है कि ईश्वर जगत् का कारण नही हो सकता क्योकि दोनो के स्वभाव मे अन्तर है अर्थात् कारण और कार्य एक-दूसरे से विलक्षण है। सोने का एक टुकड़ा मिट्टी के किसी बर्तन का कारण नही हो सकता; इसी प्रकार विशुद्ध तथा धार्मिक ईश्वर जगत् का कारण नही हो सकता क्योकि जगत् अशुद्ध तथा अधार्मिक

१. शांकरभाष्य, १ : ३, ३९।

२ नहि कश्चिदपरतन्त्रो बन्धनागारम आत्मनः कृत्वाऽनुप्रविशति। (२ : १, २१) तुलना कीजिए, डेस्कार्ट, "यदि मै स्वयं अपने जीवन का रचयिता होता तो मै अपने लिए ऐसी प्रत्येक पूर्णता को प्राप्त कर लेता जिसे मै भी विचार में ला सकता हू और इस प्रकार मैं ईश्वर हो जाता" ('मैडिटेशन्स', पृष्ठ ३)।

३. देखें, शांकरभाष्य, २ : १, २२ ; ४ : १, २३ और २४।

४. न अवश्यं तस्य यथादृष्टमेव सर्वम् अभ्युपगन्तव्यम्। और भी देखें, 'ड्यूसन्स सिस्टम आफ दि वेदान्त', पृष्ठ ९२–९३।

है।[1] शंकर उत्तर में कहते हैं कि अचेतन पदार्थ प्रायः चेतन प्राणियों से जन्म लेते हैं जैसे बाल और नाखून चेतन मनुष्य से उत्पन्न होते है। अचेतन गोबर से चेतन गुबरैला उत्पन्न हो जाता है। यदि यह कहा जाए कि इन अवस्थाओं मे दिखाई देने वाली विभिन्नता के होते हुए भी एक मौलिक तादात्म्य है, क्योंकि ये दोनो ही भूमि से उत्पन्न होते है, तो शकर इसका उत्तर यों देते है, कि ईश्वर और जगत् मे सत्ता का एक सामान्य लक्षण है। दोनों ही सर्वथा भिन्न नही है और यदि ईश्वर के अन्दर कुछ अतिशय है तो इसमे कोई आश्चर्य की बात नही क्योंकि कारण मे सर्वत्र यह विशेषता पाई जाती है।[2]

एक अन्य आपत्ति मे कहा गया है कि यदि जगत् ईश्वर से उत्पन्न होता है और उसीमे समा जाता है तो समाने के समय जगत् के ऐसे गुण जैसे भौतिकता, सयुक्तता, जडता, सीमितता, अशुद्धता इत्यादि अवश्य ईश्वर को मलिन कर देने होंगे।[3] इसके उत्तर मे शकर का कहना है कि जब कार्य अपने कारणों में वापिस लौटने है तो वे अपने विशिष्ट गुणो को त्याग देते है और अपने कारणों मे अन्तर्लीन हो जाते है, जिस प्रकार सोने के आभूषण फिर से सोने मे परिवर्तित होते समय अपने साथ खोट आदि नही लाते। यदि कार्य कारण मे परिवर्तित होने पर भी अपने गुणो को बनाए रखे तो यह तात्त्विक पुनरावर्तन नही है।[4] यदि यह कहा जाए कि चूकि जगत् अपने विशेष गुणो को त्यागकर ईश्वर में विलीन होता है तो फिर ईश्वर को सृष्टि बनाने का कोई कारण नही होना चाहिए कि वह फिर से अपने को भोग्य और भोक्ता आदि भेदों के रूप में विभक्त करे जैसा कि प्रत्येक नई सृष्टि मे होता है। शकर इसका उत्तर एक दृष्टान्त के द्वारा देते है 'जैसे कि जीवात्मा प्रगाढ निद्रा तथा समाधि मे अपनी मौलिक एकता के रूप मे (कुछ समय के लिए) वापस पहुच जाता है किन्तु उक्त अवस्थाओ से जागने पर फिर तब तक के लिए अपने वैयक्तिक जीवन में आ जाता है जब तक कि यह अविद्या से मुक्त नही होता। ठीक इसी प्रकार की क्रिया ईश्वर के अन्दर समाने पर भी होती है।"[5] भिन्नता प्राप्त करने की शक्ति ईश्वर के अन्दर बराबर रहती है यद्यपि यह उस समय व्यक्त नही होती जब कि जगत् उसमे समाता है। बार बार होनेवाले अस्तित्व के रूप में जगत् के पुनरावर्तन का आधार वे कर्म है जो पूर्वजन्मों में किए गए है और जिनका फल अवश्य मिलना चाहिए। मुक्तात्मा फिर से जगत् मे वापस नही आते क्योंकि पुनर्जन्म की शर्त अर्थात् मिथ्या ज्ञान उनकी अवस्था मे विद्यमान नही है।[6] वस्तुतः सृष्टिरचना नाम की कोई वस्तु नही है क्योंकि संसार अनादि और अनन्त है। सृष्टि की उत्पत्ति तथा विनाश ससार की प्रक्रिया मे एक प्रकार के पड़ाव हैं

१. शांकरभाष्य, २ : १, ४। २. शांकरभाष्य, २ : १, ६।
३. स्थौल्य, सावयवत्व, अचेतनत्व, परिच्छिन्नत्व, अशुद्ध्यादि।
४. शांकरभाष्य, २ : १, ८। ५. शांकरभाष्य, २ : १, ९।
६. शांकरभाष्य, २ : १, ९।

क्योंकि संसार अनादिता से अनन्तता की ओर गति करता है। प्रत्येक कल्प (सृष्टि की कालावधि) के प्रारम्भ मे उस मूलभूत सम्मिश्रण का अनावरण होता है जो अपने अन्दर विविधता की सम्पूर्ण शृंखला को धारण करता है। भूत तथा वर्तमानकाल के अन्दर तारतम्य बना रहता है और इसी प्रकार प्रलयावस्था तथा सृष्टिरचना के अन्दर भी क्योकि प्रलय के पश्चात् सृष्टिरचना आती है। यदि सर्वोपरि ईश्वर तथा व्यक्तिगत जीवात्मा परस्पर पूर्ण इकाई तथा उसके भाग के रूप मे सम्बद्ध हो तो जब कभी जीवात्मा को पीडा होगी, ईश्वर भी उस पीडा को अनुभव करेगा। इस कठिनाई को दूर करने के लिए इकाई तथा उसके भाग के सम्बन्ध की व्याख्या के सम्बन्ध मे कहा गया है कि एक मौलिक है, दूसरा उसका प्रतिबिम्बमात्र है। प्रतिबिम्ब पर लगी चोट मौलिक पर कोई असर नही पैदा करती।

यह कहा जाता है कि ईश्वर ऐसे जगत् का कारण नही हो सकता जिसमे कुछ के साथ तो अच्छा व्यवहार होता है और कुछ के साथ बुरा और ऐसा प्रभु जो अपने प्राणियों के साथ एक-दूसरे से भिन्नता का व्यवहार करता है वह अन्यायी तथा क्रूर है।[1] कर्म के विधान को मान लेने से यह कठिनाई दूर हो जाती है। ईश्वर स्वेच्छाचारिता से कर्म नही करता अपितु प्रत्येक प्राणी के उसके पूर्वजन्मो मे किए गए पुण्य व पाप कर्मो के अनुसार ही कार्य करता (समुचित फल देता) है। ईश्वर एक ऐसी सृष्टि की रचना करता है जो मनुष्यो के कर्मों के अनुकूल हो। क्योंकि यह जगत् केवल पूर्वजन्मो के कर्मों के प्रायश्चित्त के लिए ही एक प्रकार की नाट्यशाला है, ईश्वर का सृष्टिकर्ता के रूप मे कर्तृत्व केवल गौण है। जो कुछ पौधो को प्राणधारक शक्ति से प्राप्त होता है उसका श्रेय हम माली को नही देते। शकर ईश्वर की तुलना वर्षा के साथ करता है: जिस वर्षा से पौधो को बढ़ने मे सहायता प्राप्त होती है किन्तु ये बढकर क्या बनेगे, यह वर्षा के ऊपर नही अपितु बीज की प्रकृति के ऊपर निर्भर करता है। प्रत्येक मनुष्य के नये जन्म का निर्णय उसके कर्मों के नैतिक गुणो के द्वारा होता है।[2] किन्तु यह प्रश्न किया जा सकता है कि क्यो नही ईश्वर ने एकदम प्रारम्भ मे जब कि मनुष्यो मे पुण्य व पाप उस ईश्वर के कर्म के निर्णायक के रूप मे नही थे तब एक ऐसे जगत् की रचना की जो दुःख तथा कष्ट से मुक्त होता? यह हमे अन्योन्याश्रय रूप तर्क की ओर ले जाता है। शकर का कहना है "बिना पाप व पुण्य के कोई भी इस जन्म मे नही आ सकता; इसके अतिरिक्त बिना व्यक्ति के पुण्य व पाप भी नहीं हो सकते, इस प्रकार जगत् का आरम्भ विषयक सिद्धान्त मानने से हम एक तर्क सम्बन्धी अन्योन्याश्रय दोष में फस जाते हैं।"[3] जगत् अनादि है।[4] प्रत्येक जन्म अपने अन्दर किसी न किसी पूर्वजन्म के स्वरूप को धारण करता है। यहा तक कि

१. शांकरभाष्य, २ : १, ३४।
२. शांकरभाष्य, १ : ३, ३९।
३. शांकरभाष्य, २ : १, ३६।
४. शांकरभाष्य, २ : ३, ४२।

समय-समय पर होने वाली सृष्टि-रचनाओं तथा विलय की अवस्थाओं में भी कर्म का विधान देखा जा सकता है और ईश्वर के स्वरूप में संसार सूक्ष्म अथवा स्थूल रूप में विद्यमान रहता है। प्रकृति अथवा जगत् का तत्त्व, जो स्वयं में कार्य नही हैं और इसीलिए अन्य सब कार्यों से श्रेष्ठ है, उस ईश्वर मे विद्यमान रहता है।[1] मूल का उत्पत्ति-स्थान ईश्वर के बाहर नही है और इसलिए माया अथवा प्रकृति को ईश्वर के स्वरूप का एक अग माना गया है। ईश्वर अर्थात् प्रकृति के साहचर्य्य से युक्त ब्रह्म जगत् का निमित्त और उपादान कारण है। यह जगत् जो ईश्वर का कार्य है अपनी रचना से पूर्व भी कारणात्मक रूप से विद्यमान रहता है, जिस प्रकार यह सृष्टिरचना मे उसकी शक्ति से विद्यमान रहता है।[2] सृष्टिरचना के पूर्व भी नाम और रूप ईश्वर के ज्ञान के विषय है।[3]

उपनिषदो मे ईश्वर को अन्तर्यामी माना गया है। उनका कहना है कि ईश्वर जीवात्मा से पृथक् नही है परन्तु इसके द्वारा ही उसने प्रकृति के अन्दर प्रवेश किया है। 'चूकि नितान्त विशुद्ध होने के कारण वह अपवित्र शरीर में अपनी निजी आत्मा सहित प्रवेश नही करेगा और यदि वह ऐसा करता भी है तो भी इस बात को स्मरण करना छोड देगा कि उसने स्वय ही इसे बनाया है। आत्मा जिसके रूप मे ईश्वर जगत् मे प्रविष्ट हुआ बिना किसी कष्ट के जगत् का सहार कर देती जिस प्रकार कि एक जादूगर अपने द्वारा उत्पन्न किए गए चाकचक्य को नष्ट कर देता है। चूकि यह नही होता इसलिए परिणाम यह निकला कि जगत् का निर्माण किसी ऐसे धार्मिक सत् के द्वारा नही हुआ जो यह जानता हो कि उसके लिए श्रेयस्कर क्या है।[4] इस आपत्ति का उत्तर शकर यो देते है कि देखो एक ही कारण से भिन्न-भिन्न कार्यों की उत्पत्ति होती है। यह एक ही पृथ्वी अनेक प्रकार के पत्थरो को उत्पन्न करती है जिनमे बहुमूल्य जवाहरात भी है और साधारण पत्थर भी है। ठीक इसी प्रकार एक ही ईश्वर से नानाविध आत्माओ तथा कार्यों की सृष्टि होती है।[5]

ईश्वर बिना साधनो के सृष्टिरचना करता है। अपनी महान् शक्तियों के द्वारा वह अपने को अनेक कार्यरूपो मे परिणत कर लेने मे समर्थ है।[6] ईश्वर को किसी बाह्य सहयोग की आवश्यकता नही है क्योकि उसके अपने अन्दर सब प्रकार की आवश्यक शक्तिया पूर्णरूप मे विद्यमान है। यह कहा जाता है कि ईश्वर और ऋषिगण केवल समाधि के बल से अनेक वस्तुओ का सृजन कर सकते है और इस कार्य मे उन्हे किसी बाह्यवस्तु की आवश्यकता नही होती।[7]

१. सर्वस्माद् विकारात् परोऽपोऽविकार. (शाकरभाष्य, १ : २, २२)।

२. शाकरभाष्य, २ : १, ६। देखे, कठोपनिषद् पर शाकरभाष्य, ३ : ११ ; छान्दोग्य उपनिषद्, ८ : १४, १।

३. शाकरभाष्य, १ : १, ५।

४. शांकरभाष्य, २ : १, २१।

५. शाकरभाष्य, २ : १, २३।

६. परिपूर्णशक्तिकम् (शाकरभाष्य, २ : १, २४)।

७. २ : १, २५, ३१।

सृष्टि की उत्पत्ति का उसका कार्य मानवीय कर्मों के समान नहीं है।[1] अपनी प्रकृति के विशेष गुण के कारण ईश्वर अपने को जगत् के रूप में परिणत कर लेता है ठीक उसी प्रकार जैसे कि दूध दही मे परिणत हो जाता है।[2] चूंकि अनेकत्वपूर्ण जगत् ईश्वर से उत्पन्न होता है इसलिए ईश्वर अनेक शक्तियों का भण्डार है।[3] यदि ईश्वर तात्त्विक रूप मे स्वतन्त्र है तो उसे सृष्टिरचना के लिए कोई विवश नही कर सकता। ईश्वर मे किसी प्रकार की अपूर्णता नही है और न कोई उसकी अतृप्त इच्छा ही है। ईश्वर के पक्ष मे किसी प्रयोजन का निर्देश करने से उसकी पूर्णता के साथ विरोध होता है।[4] यदि इस जगत् की उत्पत्ति किसी प्रयोजन से हुई अथवा किसी इच्छा को व्यक्त करती है अथवा किसी अभाव की पूर्ति करती है तब इसका अर्थ होगा कि उसके अन्दर किसी वस्तु की आवश्यकता का भाव एव उस सर्वोपरि सत्ता की अपूर्णता प्रकट होती है। यदि उसने बिना किसी निश्चित उद्देश्य के सृष्टिरचना की तो फिर उसके और एक बच्चे के कर्मों मे कोई भी भेद न हुआ। यदि ईश्वर ही एकमात्र कारण होता तो समस्त कार्य एक साथ उपस्थित हो जाता, किन्तु वस्तुतः हमे एक शनैः-शनैः विकसित होती हुई उन्नति मिलती है जो इस बात का सकेत करती हुई प्रतीत होती है कि भिन्न-भिन्न स्थितियो के लिए कारण भी भिन्न-भिन्न है। उत्तर मे यह कहा गया है कि अनिवार्य रूप मे बाह्य क्रिया के निर्णय की आवश्यकता नही है। इसका निर्णय स्वय क्रिया के अन्तर्हित प्रेरणापरक प्रयोजन द्वारा होता है। इस प्रकार यह कहा जाता है कि "उस प्रभु की क्रियाशीलता केवल लीलामात्र है ऐसा समझना चाहिए जो उसके अपने स्वभाववश है और उसमे कोई प्रयोजन नही रहता।"[5] ईश्वर की रचनात्मक कर्मण्यता उसकी पूर्णता का अनिच्छित अतिरेक है जो अनुत्पादक के रूप मे उसके अपने अन्दर नही समा सकता। लीला का भाव अनेक सुझाव उपस्थित करता है। सृष्टिरचना का कर्म किसी स्वार्थपरक प्रयोजन की प्रेरणा से नही है। यह ईश्वर के स्वभाव का स्वाभाविक अतिरेक है, जिस प्रकार श्वास-निश्वास मनुष्य की स्वाभाविक क्रिया है।[6] ईश्वर बिना सृष्टिरचना के रह नही सकता। सृष्टिरचना का कार्य आकस्मिक घटना अथवा अविवेक का परिणाम नहीं है किन्तु केवल ईश्वर के स्वभाव का परिणाम है। अपने आह्लाद की पूर्णता के कारण

१. शांकरभाष्य, १ . ४, २७।

२. क्षीरवद् द्रव्यस्वभावविशेषात् (शांकरभाष्य, २ : १, २४)। दूध का दृष्टान्त दोषपूर्ण है, क्योंकि दूध का दही के रूप में परिणत होने के लिए गर्मी के साहचर्य की आवश्यकता होती है।

३. शांकरभाष्य, २ : १, ३०।

४. नित्यपरितृप्तत्वम् (शांकरभाष्य, २ : १, ३२–३३)। ब्रह्म प्राप्तकाम है अर्थात् उसका प्रयोजन पहले से ही सिद्ध है और इस प्रकार सीमित चैतन्य व उद्देश्यवाद का सिद्धान्त उसके पक्ष में लागू नहीं होता।

५. शांकरभाष्य, २ : १, ३३।

६. शांकरभाष्य, २ : १, ३३

ईश्वर बाहर की ओर जीवन तथा शक्ति का वितरण करता है।[1] शंकर अनन्त को ऐसा नहीं मानते कि वह पहले अपने में अवस्थित हो और फिर आवश्यकतावश यह अनुभव करे कि उसे सीमित अवस्था में बाहर जाना चाहिए। वह अपने आह्लाद की अपरिमितता के कारण तथा नैतिकता की माग के कारण भी सृष्टि की रचना करता है। इस सृष्टि को एक ब्रह्माण्ड-सम्बन्धी मनोरंजक खेल समझकर, जिसका आनन्द सर्वोपरि ब्रह्म अनुभव करता है, शंकर उस प्रयोजनात्मकता, विवेकपूर्णता, सुखसान्त्वना तथा निष्क्रियता का प्रतिपादन करते है जिसके द्वारा सृष्टि का धारण होता है। मुक्तात्मा भी ईश्वर के आह्लाद मे भाग ले सकते है। सीमित केन्द्रों का भेद पूर्ण इकाई से नहीं अपितु उसीके अन्दर से होना चाहिए और वह पूर्ण इकाई आत्माओं के लिए भी प्राप्तव्य आदर्श है। यहां तक कि वे वस्तुएं भी जो अधार्मिक तथा विवेकहीन प्रतीत होती है उसी पूर्ण इकाई से सम्बद्ध है। ईश्वर का जीवन समस्त भागों में सबको एक सूत्र में बाधते हुए तथा अपने अन्दर समाविष्ट करते हुए स्पन्दन करता है। "ब्रह्म से लेकर पेड़-पौधों तक समस्त प्राणी मेरा शरीर माने गए है।"[2] ईश्वर तथा जगत्, अर्थात् कारण और कार्य तादात्म्ययुक्त है। वे आकृतियों अथवा परिवर्तित रूपो मे तादात्म्ययुक्त नही है किन्तु ब्रह्म की मौलिक प्रकृति के रूप में तादात्म्ययुक्त है। सृष्टिरचना के समय जगत् नाम व रूप में विकसित होता है और प्रलयावस्था मे यह अविकसित रूप में रहता है। सृष्टि देश, काल के स्तर पर उसीकी अभिव्यक्ति है जो पहले से ईश्वर के अन्दर विद्यमान है।[3] प्रत्येक कल्प के अन्त मे ईश्वर समस्त जगत् का प्रतिसंहार करता है, अर्थात् भौतिक जगत् अव्यक्त प्रकृति के अन्दर विलय हो जाता है और जीवात्माएं कुछ समय के लिए उपाधियों के सम्बन्ध से स्वतन्त्र हो जाने के कारण मानो प्रगाढ निद्रा में मग्न हुई पड़ी रहती है। किन्तु चूकि उनके कर्मों के परिमाण अभी नि.शेष नही हुए होते उन्हे शीघ्र ही फिर दैहिक जीवन मे प्रविष्ट होना पड़ता है जैसे कि ईश्वर एक नये भौतिक जगत् को उत्पन्न करता है। तब फिर जन्म, कर्म और मृत्यु आदि का पुराना चक्र फिर से प्रारम्भ होता है।[4]

१. इसके साथ आत्मा के विषय में प्लाटिनस के विचार की तुलना कीजिए। वहां भी इसे अतिरेकमय पूर्णता बताया गया है।

२. उपदेशसाहस्री, ६ : ४ ; दक्षिणामूर्तिस्तोत्र, पृष्ठ ६।

३. तुलना कीजिए, एमिली ब्राण्टे :

"यद्यपि पृथ्वी और मनुष्य नष्ट हो गए,
और सूर्यों तथा विश्वों का भी अस्तित्व नष्ट हो गया।
और तू अकेला (एकाकी) रह गया,
तो भी प्रत्येक सत्ता तेरे अन्दर विद्यमान है॥"

४. सृष्टिरचना, सृष्टि की स्थिति तथा समस्त विश्व के संहार की क्षमता के अनुसार एक ही सर्वोपरि प्रभु ब्रह्मा, विष्णु और शिव नामों से पुकारा जाता है। सृष्टिरचना सत्त्वगुणयुक्त ईश्वर अथवा

जीवात्माएं जो एक-दूसरे से पृथक् हैं ईश्वर के ही भाग समझी गई हैं किन्तु तो भी उनके अन्दर भूल से परस्पर किसी प्रकार का मिश्रण नहीं होता। भिन्न-भिन्न आत्माओं के कर्म तथा कर्मफल जो मृत्यु के समय अपने निकास की ओर वापस लौट जाते हैं फिर से नये जन्म मे वापस लौट आते है, किन्तु एक-दूसरे के साथ मिलकर गड़बड़ी मे नही पड़ते।[1] जीवात्मा जिसकी पहचान भौतिक देह के द्वारा होती है, जीव है, जिसे देही अथवा शरीरधारी भी कहते है। इन सब जीवों का एकत्व जो जाग्रतावस्था में सामूहिक अथवा विश्वात्मक आत्मा है उसे विराट् अथवा वैश्वानर कहते है। स्वप्नावस्था के सदृश सूक्ष्म शरीर से युक्त जो जीवात्मा है वह लिंगी अथवा तैजस् है। समस्त तैजस् अथवा सूक्ष्म आत्माओं का एकत्व हिरण्यगर्भ अथवा सूत्रात्मा कहलाता है।[3] अन्त मे कारण शरीर से संयुक्त आत्मा प्राज्ञ कहलाती है और समस्त प्राज्ञों का एकत्व ईश्वर है। प्रगाढ़ निद्रा (सुषुप्ति) मे अवस्थित जीवात्मा में फिर भी द्वैत का अश विद्यमान रहता है। उसमे बुद्धि है जो विचार तथा संकल्प का स्रोत है। प्रलय की अवस्था मे ईश्वर सुषुप्ति अवस्था मे स्थित जीव के समान रहता है और उसका सम्बन्ध द्वैत के साथ रहता है यद्यपि यह व्यक्त नही होता। विशुद्ध बुद्धि से सम्पन्न ईश्वर ही ब्रह्म है। उसमे तीन गुण रहते है किन्तु उसे फिर भी त्रिगुणातीत कहा गया है। उसे एक पारदर्शक शरीर प्राप्त है, जो विशुद्ध सत्त्व है, ऐसा कहा जाता है। ईश्वर से विराट्, सुषुप्ति से जाग्रतावस्था, प्राज्ञ से देही यह सृष्टि अथवा प्रगतिशील भौतिकावस्था का क्रम है, इससे विपरीत दिशा का क्रम है प्रलय अथवा प्रगतिशील आदर्शीकरण। शकर आनुभविक जगत् मे वास्तविक परिणाम को स्वीकार करते है यद्यपि वे जगत् के ब्रह्म के साथ सम्बन्ध को प्रकट करने के लिए विवर्त के विचार का प्रयोग करते हे।

उपादान कारण वह है जो कारण के ही समान पदार्थ को उत्पन्न करता है।[4] जगत् ब्रह्म से भिन्न नही है जो सद्रूप मे परिवर्तनशील है, यह अविद्या से भी भिन्न है जो जड़रूप मे परिवर्तन के अधीन है। इस प्रकार जगत् ब्रह्म तथा माया का मिश्रण है। शकर का मत तो इस विषय मे बिलकुल स्पष्ट है कि ईश्वर विश्व का निमित्त तथा उपादान दोनों प्रकार का कारण है,[5] किन्तु अर्वाचीन वेदान्त में मतभेद उत्पन्न हो गया। वेदान्त परिभाषा के अनुसार जगत् के विकास का कारण माया है ब्रह्म नही।[6] वाचस्पति का मत है कि

ब्रह्मा का कार्य है, तमोगुणयुक्त ईश्वर अथवा शिव का कार्य सृष्टि का प्रलय करना है तथा ऊर्ध्व और अधोदिशा मे प्रवृत्ति समेत सृष्टि को धारण करना रजोगुणयुक्त ईश्वर अथवा विष्णु का कार्य है।

१. छान्दोग्य उपनिषद्, ६ : १० । २. शांकरभाष्य, २ : ३, ४६ ।

३. शांकरभाष्य, २ : ३, १५ । ४. स्वाभिन्नकार्यजनकत्वम् उपादानत्वम ।

५. एक मत जिसकी पुष्टि 'विवरण' ने की है।

६. प्रपञ्चस्य परिणाम्युपादानं माया न ब्रह्मेति सिद्धान्तः ।

कारण तो ब्रह्म ही है माया उसकी सहायक है। माया के वश में पड़े हुए व्यक्ति ब्रह्म को जड़ जगत् के रूप में एक विषय समझते हैं और माया उसका कारण बताई जाती है।[1] किन्तु इस मत में माया को स्वतःसिद्ध मान लिया गया है जो जीवों को प्रभावित करती है। जगत् की जड़ता का कारण विशुद्ध तथा सरल ब्रह्म के अतिरिक्त कोई होना चाहिए और सम्भवतः ऐसा कथन करना कहीं उत्तम होगा कि जगत् अपने सान्त-अनन्तस्वरूप के कारण ब्रह्म-माया से उत्पन्न हुआ माना जाना चाहिए। और चूंकि हम जगत् तथा ब्रह्म के पारस्परिक सम्बन्ध का ठीक-ठीक विवरण नही दे सकते, हम ऐसा कथन कर सकते है कि ब्रह्म उस जगत् का अधिष्ठान है जिसकी उत्पत्ति माया से है। यह मत 'पदार्थ-तत्त्वनिर्णय' ने स्वीकार किया है।[2] सिद्धान्तमुक्तावली का रचयिता ब्रह्म का सम्बन्ध अन्य किसी वस्तु के साथ मिलाने का प्रबल विरोधी है और इसलिए उसका मत है कि एकमात्र माया ही जगत् का कारण है। 'संक्षेपशारीरक' का ग्रन्थकार निरपेक्ष परमब्रह्म को जगत् का उपादान कारण मानता है क्योंकि इस समस्त सत्तात्मक जगत् का सम्बन्ध एक यथार्थसत्ता के साथ होना चाहिए। अन्य लोग जो ब्रह्म के साथ किसी प्रकार का सम्बन्ध जोड़ने का निराकरण करते है ईश्वर को, अर्थात् माया से सम्बद्ध ईश्वर को, उपादान कारण मानते है।[3] यदि निरपेक्ष परब्रह्म मे उपादान कारण का आधान किया जाता है तो यह केवल आनुषङ्गिक है। विद्यारण्य का मत है कि जो कारण जगत् के रूप में परिणत होता है वह माया है[4] और वह जो जगत् का आधार है विशुद्ध चैतन्य है और मायारूप उपाधि से सीमित है।[5] ऐसे भी विचारक है जिनका यह मत है कि मूर्तरूप विषय स्थानीय जगत् ईश्वरीय माया का कार्य है किन्तु चित्त तथा इन्द्रिय आदि का सूक्ष्म जगत् व्यक्तिरूप जीव का कार्य है जिसे ईश्वर की माया से सहायता मिलती है।[6] दूसरी ओर ऐसे भी विचारक है जो अविद्या की शक्ति का कारण विषयीरूप जगत् को बताते है और ईश्वर की माया के सहयोग की कोई आवश्यकता नहीं समझते एव ईश्वर की माया को केवल तत्त्वयुक्त विश्व का ही कारण मानते हैं। जब हम उक्त प्रश्न पर दो भिन्न-भिन्न

१. वाचस्पतिमिश्रास्तु जीवाश्रितमायाविषयीकृतं ब्रह्म स्वत एव जाड्याश्रयप्रपञ्चाकारेण विवर्तमानतयोपादानम् इति मायासहकारिमात्रम् (सिद्धान्तलेशसंग्रह, १)।

२. प्रपञ्चे उभयोरपि मायाब्रह्मणोरुपादानत्वम् ; तत्र च परिणामितया मायाया उपादानत्वम् ; अधिष्ठान तया च ब्रह्मण उपादानत्वम्। ब्रह्म विवर्तमानतया, अविद्या परिणमनतया उपादानम्। (सिद्धान्तलेशसंग्रह, १, पर भाष्य)।

३. 'विवरण', जो अपना आधार शांकरभाष्य के १. १, २०; २, १ को मानता है।

४. परिणाम्युपादानता।

५. विवर्तोपादानता को मायोपहित चैतन्य का कारण माना है।

६. वियदादिप्रपञ्च ईश्वरसृष्टमायापरिणाम इति ; तत्र ईश्वर उपादानम् ; अन्तःकरणादिकन्तु ईश्वराश्रितमायापरिणाम महाभूतोपसृष्टजीवाविद्याकृतभूतसूक्ष्मा कार्यम् इति तत्रोभयोरुपादानत्वम् (सिद्धान्तलेशसंग्रह, १)।

दृष्टिकोणों से, अर्थात् विषयनिष्ठता तथा विषयिनिष्ठता के दृष्टिकोणों से, विचार करते है तो हम कह सकते है कि ब्रह्म वह आधार है जिसके ऊपर विषयरूप जगत् का अध्यास किया गया है और आत्मा वह आधार है जिसके ऊपर विषयिनिष्ठ जगत् का अध्यास किया गया है। यह ठीक है कि परम-यथार्थसत्ता इन्द्रिय तथा कर्मण्यता के समस्त क्रियात्मक ऐन्द्रिक जगत् का उपादान कारण है और जीव प्रतीतिरूप वस्तुओ के तथा स्वप्नात्मक जगत् का उपादान कारण है। जहा एक ओर उक्त समस्त मत इस जगत् को व्यक्तिरूप विषयी अथवा जीव को जगत् का कारण मानने से निषेध करते है वहा ऐसे भी कुछ विचारक है जिनकी सम्मति मे जीव ही सबका उपादान कारण है जो अपने अन्दर ईश्वर से लेकर नीचे तक समस्त वस्तुओ की व्यवस्था को आगे बढ़ाए हुए है, उसी प्रकार जिस प्रकार कि यह स्वप्न जगत् को आगे बढाता है।[1]

२८

ईश्वर का मायिक रूप

चाहे हम यह कहे कि तर्क के ढाचे मे व्यवस्थित ब्रह्म आनुभविक जगत् है अथवा यह कहें कि यह ईश्वर है—दोनो कथनो मे कुछ अन्तर नही है। ईश्वर सर्वग्राही है और अपने अन्दर इस समस्त सत्तात्मक जगत् को समाविष्ट किए हुए है जो प्रलय मे उत्पादन क्षमता के रूप में और सृष्टिरचना मे वास्तविक रूप मे विद्यमान है। ड्यूसन के इस कथन मे कुछ विशेषता नही है कि शकर ने सावधान होकर भेदशून्य ब्रह्म तथा आनुभविक जगत् मे एक ओर तथा दूसरी ओर ईश्वर मे भेद नही किया। वह कहता है: "इस भेद शून्य ब्रह्म के दो विरोधी है: प्रथम आनुभविक जगत् की आकृतियां, जिस रूप में उपाधियो से नियन्त्रित ब्रह्म प्रकट होता है; उसके पश्चात् वे अपूर्ण आलकारिक विचार जो हम सर्वोपरि ईश्वर के विषय में बनाते है जिससे कि यह हमारे बोधग्रहण तथा पूजा के लिए निकटतम आ सके। यह अद्भुत विषय है कि भेदशून्य ब्रह्म के इन दो विरोधियो के मध्य, चाहे वे प्राकृतिक रूप में एक-दूसरे से कितने भी पृथक् क्यो न हों, शकर कोई भी स्पष्ट भेद नही मानते और यहा तक कि एक वाक्य के अनुसार ऐसा प्रतीत होता है कि उन्होने औपचारिक आकृतियो मे प्रस्तुत आकृतियों को आधार (आलम्ब) के रूप मे देखा।·· परिणाम यह निकला कि हमारे ग्रन्थकार को उनके मध्य जो भेद है उसके विषय में स्पष्ट ज्ञान कभी नही हुआ।"[2] ड्यूसन स्वीकार करता है कि शकर ने एक वाक्य म इस भेदभाव का उल्लेख किया है[3] और इसे व्यर्थ बताकर छोड़ दिया है। समस्त प्रतीतिस्वरूप जगत् ब्रह्म का ही आभास है।

१. अप्पय दीक्षित उनकी स्थिति का इस प्रकार वर्णन करता है: "जीव एव स्वप्न द्रष्टृवत् स्वस्मिन् ईश्वरादिसर्वकल्पकत्वेन सर्वकारणमिति अपि केचित।"

२. 'ड्यूसन्स सिस्टम आफ दि वेदान्त', पृष्ठ २०५-२०६।

३. शांकरभाष्य, ३ : २, २१।

ब्रह्म जिसके ऊपर सब कुछ स्थित है तब ईश्वर बन जाता है जब औपचारिक रूपों का आकार धारण करता है और अपने अन्दर सबको समाविष्ट कर लेता है। एक ओर अनन्त ईश्वर तथा दूसरी ओर जीवात्माएं, इनके मध्य जो भेद है वह ऐसा है जैसा कि एक ही सम्पूर्ण इकाई के अवयवों में होता है, दृष्टान्त के रूप में जैसा भेद मगध तथा विदेह के राज्यों में था जो दोनों एक ही जगत् से सम्बद्ध हैं।[1] जब हम यथार्थ ब्रह्म का विचार ब्रह्म के सांसारिक रूप में करते है तो ईश्वर, मनुष्य और जगत् (ईश्वर, जीव, प्रपञ्च) प्रधान अवयव बन जाते हैं।

विचारात्मक दर्शनशास्त्र, सत्तात्मक जगत् की उत्पत्ति का अनुमान एक निरपेक्ष परम आत्मा के प्रथम तत्त्व से करते समय, जिसमें आनुषङ्गिक कुछ नहीं है, चाहे पूर्व में हो चाहे पश्चिम में, विषयनिष्ठता (प्रकृति) के आत्माभिव्यक्ति (माया) सम्बन्धी किसी न किसी तत्त्व को स्वीकार करने के लिए विवश है। यूरोपियन विचारधारा में काण्ट ने तर्क किया कि आत्मबोध के अतीन्द्रिय एकत्व के अतिरिक्त अन्य कोई अनभव नहीं है और तो भी उसने इसे विशुद्ध औपचारिक बना दिया और इस प्रकार इससे सम्पूर्ण अनुभव को उत्पन्न करने में असफल रहा। अनुभव को आत्मबोध की अतीन्द्रिय एकता और वस्तुओं के अपने अन्दर अनुभव को एक पारस्परिक प्रतिक्रिया मानते हुए उसने अपने दर्शन में तर्कविरुद्ध आकस्मिक घटना के एक अंश को स्थान दिया। फीश्ट काण्ट से इस प्रमुख सत्य को ग्रहण कर लेता है कि समस्त अनुभव एक विषयी के लिए ही अपना अस्तित्व रखता है और इसीसे समस्त अनुभव को विकसित करने का प्रयत्न करता है। उसका मत है कि विषयी के विकास में किसी विजातीय अवयव का प्रवेश नहीं है किन्तु प्रत्येक क्रम का निर्णय अन्दर से ही होता है। निरपेक्ष विषयी अपनी स्थापना ही के कर्म में अपने को एक 'अन्य' का रूप देता है। आत्मा बिना अपने से भिन्न एक विरोधी तत्त्व का, जो अनात्म हो, के निर्माण के लिए अपने विषय में स्वीकारोक्ति अथवा स्थापना नही कर सकती। अन्यता का अंश आत्मा के अपने निजी सत्त्व में ही उत्पन्न किया जाता है। शनैः-शनैः निरपेक्ष आत्मा के अन्दर सीमित अहंभाव के अनेकत्व के रूप में सर्वथा अपने से भिन्न तथा अपनी भिन्न-भिन्न आकृतियों में भेद उत्पन्न होता जाता है। फीश्ट द्वारा मान्य आत्मा को इस प्रकार अपने ही अन्दर से एक नियन्त्रक अथवा बाधक अनात्म को उत्पन्न करना होता है, जो इसकी क्रिया के विषय में अभिज्ञता रखने के लिए एक आवश्यक उपाधि है। आदिम चैतन्य की स्वनिर्मित सीमा अथवा एक ऐसी बाधा की उत्पत्ति की कल्पना करनी ही पड़ती है जिसके विरुद्ध आत्मा को अपने-आपको विभक्त करना होता है, भले ही वह बुद्धिगम्यता से कितनी ही अतीत क्यों न हो। इसी प्रकार ईश्वर-सम्बन्धी विचार में निरपेक्ष परब्रह्म के अतिरिक्त विषयनिष्ठता अथवा प्रकृति, आत्माभिव्यक्ति अथवा माया, का अंश भी रहता है।

जब हम मानवीय उद्देश्य को लेकर चलते है तो हमें परिणमित जगत् का कुछ

१. शांकरभाष्य, ३ : २, ३१।

न कुछ समाधान करना ही होगा। यह ब्रह्म के कारण होना सम्भव नहीं क्योंकि वह अखण्ड है। यदि ब्रह्म स्वयं परिणमित हो जाता है तो वह ब्रह्म नहीं रहता। यदि यह कभी अपनापन नही खोता अर्थात् कभी परिवर्तित नहीं होता तो जो परिवर्तन हमें दिखाई देता है उसका कुछ समाधान नहीं होता। परिवर्तनशील विश्व का कारण प्रकृति नहीं हो सकती, क्योंकि वह जड़ है। ब्रह्म जहां एक ओर सत् है वहा परिणमन का नाम प्रकृति है। किन्तु ब्रह्म के साथ-साथ एक परम निरपेक्ष वर्ग के रूप में प्रकृति की स्थापना करने का अर्थ होगा उस ब्रह्म के स्वरूप को सीमित कर देना, जिसके समान दूसरा नहीं है न उससे बाह्य कोई है। यदि हम किसी द्वितीय की स्थापना नही करते है तो जगत् की व्याख्या मे कठिनाई उत्पन्न होती है। एकमात्र उपाय यही है कि एक सगुण ब्रह्म अर्थात् परिवर्तनशील ब्रह्म को मान लिया जाए जो ईश्वर है और अपने अन्दर सत् तथा परिणमन दोनो प्रकार के विशिष्ट लक्षणो को, अर्थात् अनासक्त ब्रह्म और अचेतन प्रकृति को, समाविष्ट रखता है। जो विचार के लिए अनिर्दिष्ट है वह स्वतःनिर्णीत बन जाता है। आदिम एकत्व अपने से बाहर निकल जाता है और एक ऐसा व्यक्त रूप उत्पन्न करता है जो इससे अपेक्षतया स्वतन्त्र है। निर्मल, सरल तथा आत्मभूः निरपेक्ष ब्रह्म शरीरधारी प्रभु का रूप धारण कर लेता है, जो विश्व के अन्दर सत् का तत्त्व है एवं समस्त वस्तुओ को अपने साथ सम्बद्ध करने मे उन्हे परस्पर भी सहत रखता है। ब्रह्म वह सत्ता है जो विषयी तथा विषय दोनों से परे है। जब यह विषयी के रूप मे होता है तो एक विषय से व्यवहार करते हुए हम इसे ईश्वर कहते है, यह शब्द ब्रह्म है, एक और अनेक है। विषयनिष्ठ शून्यप्रकृति विषयीरूप ईश्वर की शक्ति के द्वारा समस्त जगत् का विकास करती है। प्रकृति अथवा विषय की अपने-आप मे कोई सत्ता नही और न कुछ अर्थ है। यह विवेकशून्य है और इस प्रकार बिना किसी एक विवेक-सम्पन्न आत्मा के कुछ भी उत्पन्न नही कर सकती। यह केवल विषयी से विपरीत भिन्न सत्ता है और जगत् ईश्वर के असमान अथवा अनन्य रूप है जो आत्मचेतन ब्रह्म है। ईश्वर के अन्दर ब्रह्म तथा प्रकृति दोनो तत्त्व सयुक्त है। वह केवल नितान्त चैतन्य नही है किन्तु एक आत्मचेतन व्यक्तित्व है। "उसने योजना बनाई (ऐक्षत) कि मैं अनेक हो जाऊं और मैं उत्पत्ति करू।"[1] ज्ञान, आत्मचैतन्य तथा व्यक्तित्व—ये सभी सम्भव हो सकते है जबकि प्रमेय विषय विद्यमान हो। सर्वज्ञत्व ईश्वर का लक्षण है यद्यपि इसकी सम्भावना की व्याख्या भिन्न प्रकार से की जाती है।[2] ब्रह्म का स्वरूप ज्ञान है।

१. छान्दोग्य उप०, ६ : २, ३। और भी देखें, ऐतरेय, १ : १, १ ; प्रश्नोपनिषद्, ६ : ३, ४ ; मुण्डक, १, १, ६।

२. भारतीतीर्थ प्रतिपादन करता है कि ईश्वर में माया की उपाधि है जिसके अन्दर समस्त प्राणियों के मतों के सूक्ष्म प्रभाव विद्यमान रहते है। 'प्रकटार्थ' का रचयिता इससे सहमत है और अपना मत प्रकट करते हुए कहता है कि चूंकि माया भूत, वर्तमान और भविष्यत् आनुभविक जगत् के समान ही विस्तृत है इसलिए यह अपने धारण करनेवाले को इस योग्य बना देती है कि वह सर्वग्राही ज्ञान का संचय कर सके। 'तत्त्वशुद्धि' नामक ग्रन्थ का रचयिता कहता है कि ईश्वर के ज्ञान का सर्वदा प्रत्यक्ष रूप में होना आवश्यक नहीं है। वर्तमानकाल के जगत का ज्ञान तो ईश्वर साक्षात् रूप में प्राप्त कर सकता

यह ज्ञान एक विषय का रूप धारण कर लेता है जब यह किसी ज्ञातव्य विषय के द्वारा सीमित हो जाता है। तब उस विषय के सम्बन्ध में ब्रह्म को विज्ञाता अथवा ज्ञान का प्रमाता विषयी कहा जाता है। दूसरे शब्दों में ब्रह्म, जिसका स्वरूप ज्ञान है, तब एक ज्ञाता बन जाता है जब वह एक ज्ञेय विषय के सम्बन्ध मे प्रकट होता है।[1] इस प्रकार का विचार रखने में कि एक अनात्म व्यक्तित्व का आन्तरिक अंश बनकर रहता है शंकर रामानुज तथा हीगल के साथ सहमत है। केवल जहां वे व्यक्तित्व के भ व को उच्चतम मानते हैं वहां शंकर बलपूर्वक कहते है कि जब तक हमें अनात्म का चैतन्य ज्ञान है हम प्रतीतिरूप जगत् के अन्दर है। यथार्थसत्ता तक पहुंचने के लिए हमें इस भेदभाव से अवश्य ऊपर उठना होगा। जब विशुद्ध सत् एक सम्बद्ध विशिष्ट सत् बन जाता है तो इसका पहला सम्बन्ध किसी ऐसी वस्तु के साथ होना चाहिए जो सत् से भिन्न हो। और जो सत् से भिन्न है वह असत् है।[2] ईश्वर जो ब्रह्म अर्थात् प्रकाश की अविच्छिन्न शक्ति से भिन्न है एक ऐसा प्रकाश है जो अपनी सत्ता को अन्धकार के अन्दर से तथा उसके द्वारा स्वीकारात्मक रूप में दावे के साथ प्रकट करता है। वह सत्य का तत्त्वरूप है, जो अस्त-व्यस्तता को व्यवस्था का रूप देता है, और ईश्वर की आत्मा है जो जल ऊपर के स्तर पर विचारमग्न है।[3] अन्धकार प्रकाश के ऊपर आधिपत्य जमाकर उसे आवृत करने का प्रयत्न करता है, और सबको ढक लेने की चेष्टा करता है और प्रकाश बराबर अन्धकार को दबाने में तत्पर रहता है। जहां एक ओर ब्रह्म और अन्धकार मे ईश्वर तथा अन्धकार में, एक अनिवार्य विरोध है अर्थात् एक प्रकार का संघर्ष बराबर बना है वहां अन्त में अन्धकार पर प्रकाश की विजय होती है। इस प्रकार ईश्वर ब्रह्म तथा जगत् के मध्य एक मध्यस्थ तत्त्व है और दोनों के ही स्वरूप मे हिस्सा बटाता है। उसका ब्रह्म के साथ तादात्म्य है और फिर भी वह प्रमेय जगत् से सम्बद्ध है। शंकर का मत है कि सृष्टिरचना से पूर्व भी शरीरधारी ईश्वर का "उन नामों तथा रूपों में एक प्रयोजन रहता है जिनके लिए हम सत् की पारिभाषिक संज्ञा का प्रयोग नही कर सकते और न वे उसके विपरीत गुण ही है जिनका अभी विकास नही हुआ है हालाकि वे विकास के प्रति प्रयत्नशील है।"[4] यहां हम परमतत्त्वरूप आत्मा को अहं के रूप में निर्दिष्ट पाते हैं जो अहं से विपरीत को अपना विषय मानकर चिन्तन करता है। ईश्वर की दृष्टि में अपरिवर्तनशीलता तथा निष्क्रियता असम्भव है। व्यावहारिक अर्थों मे यथार्थसत्ता के

है किन्तु भूतकाल को वह स्मरण कर सकता और भविष्य की पूर्व मे कल्पना कर सकता है। कौमुदी के ग्रन्थकार का मत है कि ब्रह्म के लक्षणों से युक्त ईश्वर सब पदार्थों का प्रकाशक है। देखें, शांकरभाष्य, १ : ४, ६ ; तथा सिद्धान्तलेश, १।

१. यही मत वाचस्पति का भी है।

२. तुलना कीजिए, "और प्रकाश अन्धकार के अन्दर से चमकता है" (सेंट जोन, १ : ५)। बिशप वेस्टकाट इसपर टीका करते हुए लिखता है : "प्रकाश के साथ-साथ हठात् अन्धकार बिना किसी तैयारी के प्रकट हो जाता है" ('दि गोस्पल अकार्डिंग टू सेंट जॉन', पृष्ठ ५)।

३. देखें, प्रस्तावना—भगवद्गीता पर शांकरभाष्य।

४. शांकरभाष्य, १ : १, ५। "अनिर्वचनीये, नामरूपे, अव्याकृते, व्याचिकीर्षिते।"

रूप में उसे सदा कर्मठ रहना चाहिए, अपने को पहचानने के लिए अपने को खोते हुए, विश्व में प्रकट होते हुए और फिर विश्व के ही द्वारा अपने स्वरूप मे पुन: वापस लौटते हुए। वह जो करता कुछ नही और जगत् से तटस्थ होकर खडा रहता है ईश्वर नहीं है, कम से कम किसी प्रकार भी एक प्रेममय ईश्वर नही है। प्रेम इसके विषयो के जीवन मे दुःख को, किन्तु अनिष्ट कर्म के अपराध और पाप को नही, तथा धार्मिक जीवन की प्रसन्नता को प्रदर्शित करते हुए उपस्थित रहता है। शंकर की दृष्टि मे अन्य अनेक दार्शनिको की ही भांति ऐसा आत्मचेतन सत् असम्भव है जिसका कोई उद्देश्य न हो और जिसका कोई विपरीत गुण न हो तथा जो अपनी परिभाषा मे अपने एकत्व का समर्थन न करे। यह अभिव्यक्तियो अथवा प्रमेय पदार्थों के द्वारा ही सम्भव है कि एक आत्मचेतन व्यक्तित्व रूप मे जीवित रहता है, गति करता है तथा अपने अस्तित्व को स्थिर रखता है। तो भी यह मानना भी आवश्यक है कि यह अपने विषयगत परिवर्तनो से किसी भी प्रकार प्रभावित नही होता। यह एक ऐसा साध्यपक्ष है जिसे सिद्ध करना कठिन है। प्रकृति की घटनाए तथा आत्माओ का परिवर्तन ईश्वर के स्वरूप मे भी परिवर्तन उत्पन्न करता है। वेदान्तपरिभाषा नामक ग्रथ स्पष्ट रूप मे स्वीकार करता है कि जीवित प्राणियो की क्रियाए माया अथवा प्रकृति के नानाविध परिवर्तनो को जन्म देती हैं जो उपाधि अथवा ईश्वर की देह है।[1] जगत् का प्रादुर्भाव तथा तिरोभाव यह दर्शाता है कि दैवीयस्वरूप मे भी परिवर्तन होते है, और सकुचन तथा विचार भी होता है। जब तक ईश्वर के जीवन मे सृष्टिरचना तथा प्रलय यथार्थ घटनाए रहती हैं तब तक ईश्वर कालातीत नही रह सकता किन्तु कालाधीन है। यहा तक कि जिस प्रकार सृष्टिरचना और प्रलय व्यावहारिक जगत् मे सम्बन्ध रखते है ईश्वर भी व्यावहारिक जगत् से सम्बद्ध है। हम परिवर्तन रूप प्रवर्ग का प्रयोग करते हे जो स्थिरता चाहता है और हमारा तर्क है कि ईश्वर एक स्थायी पृष्ठभूमि है जिसकी देह के साथ ये परिवर्तन सम्बद्ध हैं।[2] ईश्वर एक ऐसी अविकसित सूक्ष्म देह धारण करता है, जो नामो और रूपो का बीजस्थान रूप है तथा उस प्रभु के लिए पृष्ठभूमि का कार्य करती है और फिर भी उसके लिए केवल उपाधि (सीमा) मात्र है।[3] एक ऐसी रूपविहीन प्रकृति को स्वीकार करना जो ईश्वर के साथ-साथ नित्य भी हो स्पष्ट रूप मे ईश्वर की अनन्तता को परिमित करना है। यह कहना कि प्रतिबन्ध बाह्यपदार्थों के नही हे एवं अधिकतर एक प्रकार की अज्ञात सामग्री है हमारे लिए कुछ अधिक उपयोगी नही है।

१. सृज्यमानप्राणिकर्मवशेन परमेश्वरोपाधिभूतमायाया वृत्तिविशेषा इदमिदानीं स्रष्टव्यम्, इदमिदानीं पालयितव्यम्, इदमिदानी संहर्तव्यम, इत्याद्याकारा जायन्ते; तासा च वृत्तीनां सादित्वात् तत्प्रतिबिम्बितचैतन्यमपि सादीत्युच्यते (१)।

२. शांकरभाष्य, २ : १, ४। दक्षिणामूर्तिस्तोत्र में कहा गया है : "इस विश्व में जो भी स्थावर तथा जंगम जगत् है—पृथिवी, जल, वायु, अग्नि, आकाश, सूर्य, चन्द्रमा और आत्मा—यह सब उसका आठ प्रकार का रूप है और ऐसा कुछ भी नहीं है जो विचार करने पर सर्वोपरि प्रभु से भिन्न हो।"

३. अव्याकृतं नामरूपबीजशक्तिरूपं, भूतसूक्ष्मम् ईश्वराश्रय तस्यैवोपाधिभूतम् (शांकरभाष्य, १ : ४, २२)।

जहां एक ओर सगुण ब्रह्म में परिवर्तन होता है वहां ऐसा भी माना जाता है कि यह इसके रचनात्मक विचार की परिधि के अन्दर ही रहता है जिसके कारण समस्त परिवर्तन आनुषङ्गिक अंशों में होते हैं किन्तु निश्चित ही आवश्यक अंशों में नहीं। ईश्वर की एकता में अनेक रूप में अभिव्यक्त होने के कारण कोई क्षति नहीं आती।[1] "जिस प्रकार उस माया से जिसे जादूगर स्वयं बनाता है उसके ऊपर किसी प्रकार का असर नहीं होता क्योंकि वह माया अयथार्थ होती है, इसी प्रकार सर्वोपरि ब्रह्म भी संसाररूपी माया से प्रभावित नहीं होता।"[2] इस प्रकार शंकर सीमित के निराकरण के विचार तथा ईश्वर-सम्बन्धी विचार में अनन्त की पूर्वकल्पना के विचार को एकसाथ संयुक्त कर देते है। स्पिनोज़ा के विरुद्ध जो यह कहा जाता है कि वह निरपेक्ष परमब्रह्म का केवलमात्र एक अनिर्दिष्ट सत् के शून्य रूप में निरूपण करता है और जिसे वह असंगत रूप में आत्मनिर्णायक ईश्वर के रूप में परिणत कर देता है इसमें कुछ बल नहीं है क्योंकि शंकर इस प्रकार की किसी महती असगति के लिए वचनबद्ध नही है। वे स्पष्ट रूप मे इस विषय से अभिज्ञ है कि अनन्त विषयक सब प्रकार के निर्धारणों का निराकरण हमारे सम्मुख केवल एक अमूर्तरूप को प्रस्तुत कर सकता है जिसके विषय मे इसके अतिरिक्त कि 'यह है' और कुछ कथन नहीं किया जा सकता। जब तक हम तर्कशास्त्र के उपायो का प्रयोग करते हैं तब तक जिस यथार्थसत्ता तक पहुचते है वह अनिर्दिष्ट ब्रह्म नहीं किन्तु सीमित ईश्वर है जो विश्व के नाना प्रकार के परिवर्तनों का निकाम स्थान है। किन्तु शंकर के दर्शन में आदि से अन्त तक तर्कशास्त्र की पर्याप्तता और इसके आदर्श की अन्तिमता के विषय में अरुचि ही पाई जाती है। और इस प्रकार हम देखते हैं कि सगुण ब्रह्म अथवा एक मूर्तरूप आत्मा का यह विचार उनके अनुसार असंगतियों तथा परस्पर विरोधों के कारण इतना जटिल बन गया है कि इसे सर्वोच्च यथार्थसत्ता नही माना जा सकता।

ईश्वर समस्त सीमित जगत् का आवास स्थान है, तथा जगत का उपादान और निमित्त कारण भी है, यह एक धारणा है। यह कहना बिलकुल आसान है कि मूर्तरूप सर्वव्यापी प्रभु सामान्य धारणा तथा विवरण की यथार्थता को संयुक्त बनाए रखता है, किन्तु किस प्रकार से बनाए रखता है यह एक रहस्य है। यदि समानता तथा भेद का एवं स्थायित्व तथा परिवर्तन का सम्बन्ध इस आनुभविक जगत् में बुद्धिगम्य नहीं है तो जब इसका प्रयोग ईश्वर के सम्बन्ध मे होता है तो कैसे बुद्धिगम्य हो सकता है। शंकर जानते है कि उनके मत के ऊपर अमूर्त भावात्मकता का दोष आ सकता है किन्तु उनका मत है कि समा-

१. छान्दोग्य उपनिषद्, ८ : १४, १ ; ६ : ३, २ ; तैत्तिरीय आरण्यक, ३ : १२, ७ ; श्वेताश्वतरोपनिषद्, ६ : १२।

२. शांकरभाष्य, २ : १, ९। यथा स्वयं प्रसारितया मायया मायावी त्रिष्वपि कालेषु न संस्पृश्यते ऽवस्तुत्वात्, एवम् परमात्मापि संसारमायया न संस्पृश्यत इति।

नता तथा भेद तार्किक दृष्टि से परस्पर सम्बद्ध नहीं हो सकते । ये दोनों किस प्रकार एक साथ रह सकते है, यह वे नहीं जानते और इसे वे भी अनुभव करते हैं ।[1] ईश्वर को एक मूर्तरूप पूर्ण इकाई मानने का विचार एक प्रकार से अनुभव का समाधान नही है किन्तु समस्या की पुनरुक्तिमात्र है । हमारे अनुभव के अन्दर समानता और भेद अथवा स्थायित्व तथा परिवर्तन के दो स्वरूप हैं । हमारा प्रश्न है कि अनुभव का विवरण क्या है क्योंकि यह जीवात्माओं तथा वस्तुओं का मिश्रण है जिसके विशिष्ट लक्षण है स्थायित्व तथा परिवर्तन और उत्तर में हम यह कहते है कि ईश्वर अनुभव की व्याख्या है चूंकि वह दोनों लक्षणों को संयुक्त करता है तथा जीवात्माओ और वस्तुओं का जगत् यान्त्रिक रूप में उससे सम्बद्ध है । यह कहना कि वे उसके शरीर के विधायक हैं अनुभव की व्याख्या करना नही है । हम अनुभव के एक सामान्यरूपक विचार को बनाते है और इसे ईश्वर कहते है । अनुभूत जगत् की व्याख्या वह जगत् स्वय है जो अपनी साधारण परिभाषाओ मे ईश्वर कहलाता है। रामानुज और हीगल दोनों का मत है कि परम यथार्थसत्ता एक है जिसके अन्दर अनेक समाविष्ट है । उनकी दृष्टि में जो विवेकी है वही यथार्थ है : ईश्वर तथा जगत् दोनों ही यथार्थ है । अन्तर्दृष्टि की सन्दिग्धता तथा यथार्थसत्ता का रहस्य उनको ठीक नही जंचता । उन्हें ऐसे यथार्थ मे कोई रुचि नही जो अपने मे यथार्थ हो किन्तु यथार्थ विचार के लिए हो जिसमें अभावत्व का भी एक अश रहता है। विचार की प्रक्रिया मे मन के द्वारा अपने निजी प्रतिकूल तथा अदम्य भागों को निरन्तर आत्मसात् करना तथा ऊपर उठना जारी रहता है । इस प्रकार समस्त आध्यात्मिक जीवन आग्रही तत्त्वो के साथ एक प्रकार का निरन्तर संघर्ष है । दिव्य जीवन निरन्तर कर्मण्यता का जीवन समझा जाता है । जगत् के विषय में यह सोचना कि यह एक तार्किक एकता है अथवा एकमात्र व्यवस्था है इसे एक पूर्ण निश्चित तत्त्व को अनन्त ब्योरो से युक्त एकमात्र सत्ता की अभिव्यक्ति मानना है। किन्तु सर्वोच्चसत्ता को मूर्तरूप व्यापक या सान्त तथा अनन्त का मिश्रण मानने मे जो कठिनाइया सम्मुख आएगी उन्हे दृष्टि से ओझल न करना चाहिए ।

शंकर का मत है कि धर्मशास्त्र मे दिए गए सृष्टिविषयक विवरण का उद्देश्य

१. शंकर को सामान्य व्यापकों की विशेषों के साथ यथार्थता के सम्बन्ध में यथार्थवादियों के सिद्धान्त मे कुछ अधिक सहायता नहीं मिल सकी क्योंकि वे यथार्थवादियों के व्यापक अनन्तता का दावा नहीं करते । वे सीमित यथार्थ हैं यद्यपि व्यवस्था में विशेषों मे भिन्न हैं और यदि ईश्वर इसी स्वरूप का व्यापक है वह अपनी सत्ता को नाना प्रकार से क्रियान्वित कर सकता है क्योंकि वह सीमित है । यदि वह अनन्त होता तो वह केवल एक ही प्रकार से कर्म कर सकता अथवा शंकर इसे इस प्रकार कहेंगे कि वह सर्वथा कर्म ही न करता । वह केवल सत् होता किन्तु परिणमन न होता और उस अवस्था में उसकी कर्मण्यता अथवा अभिव्यक्ति का कोई प्रश्न ही न उठता ।

ब्रह्म तथा जगत् का परस्पर तादात्म्य सिद्ध करना है।[1] यदि जगत् तथा ईश्वर में तादात्म्य सम्बन्ध न होता और यदि उसने इसे अपने से पृथक् एक द्रव्य के रूप में निर्मित किया होता तब उसपर यह दोष आता कि वह किसी प्रेरक प्रयोजन के प्रभाव में आकर कार्य करता है। दूसरे शब्दों में वह सर्वथा ईश्वर ही नहीं है।[2] यदि वह कर्म-विधान के आदेश के अनुसार कार्य करता है तब उसके ऊपर इसके द्वारा एक प्रतिबन्ध लग गया। हम फीश्टे के आत्म-सम्बन्धी विचार का उल्लेख कर चुके है जिसे किसी बाधक के विरुद्ध विभक्त हो जाने पर आत्मचैतन्य होता है तथा उलटकर अपने विषय में चिन्तन करने मे आत्मबोध होता है। इस प्रकार की आत्मा यथार्थ मे अपने से अन्य के ऊपर निर्भर है जिसकी यह उत्पत्ति-स्थान तथा आश्रय है। आत्मा-जगत् से पूर्व नहीं आ सकती और न ही वह इसके पीछे विद्यमान रह सकती है। यदि हम अनात्म का विलोप करने में सफल हो सकें तो साथ ही साथ आत्मा का भी विलोप करने में कृत-कार्य हो सकते हैं। जब फीश्टे संदिग्ध रूप मे इन परिणामो से अवगत होता है तब वह एक ऐसी यथार्थसत्ता के विचार पर पहुंचता है जो 'न तो विषयी है न विषय है किन्तु दोनों का आधार है।" जिस विचार को फीश्टे अन्धकार में टटोल रहा था उसे शंकर अत्यन्त स्पष्ट रूप मे खोज लेते है, अर्थात् विषयी और विषयपरक भेद तर्कशास्त्र का किया हुआ है किन्तु जब हम समस्त तर्कशास्त्र के आदिस्रोत की बात सोचते हैं तो विषयी-विषय का भेद कोई अर्थ नही रखता। निरपेक्ष परमसत्ता न तो ज्ञान को धारण करने वाली है और न ही ज्ञान का विषय है, किन्तु स्वयं ज्ञानरूप है। यदि सम्पूर्ण जगत् को ईश्वर के विचार का विषय मान लें जिसका अस्तित्व इसलिए है कि वह निरन्तर अपने को जगत् के विषय मे आत्मचेतन रहते हुए अपनी स्थिति को बनाए रखे तो इस प्रकार का ईश्वर केवल सापेक्ष है निरपेक्ष नही है। "क्योंकि निरपेक्ष ब्रह्म को अपने को दर्पण में देखने के लिए आंखों का निर्माण करने की आवश्यकता नही अथवा एक गिलहरी के समान जो एक पिंजरे में बन्द है अपनी पूर्णताओं के चक्र को घुमाने की आवश्यकता है।"[4] संक्षेप में, व्यक्तित्व इस विश्व की परमसत्ता नहीं हो सकती। प्लाटिनस कहता है : "वह सब जिसमे आत्मचैतन्य तथा आत्मबोध प्रक्रिया है, व्युत्पन्न है।"[5] इस प्रकार शरीरधारी ईश्वर के ऊपर निरपेक्ष ब्रह्म है सब प्रकार के आत्म-विभागों से ऊपर उठा हुआ जो निरपेक्ष विषयनिष्ठता तथा विषयिनिष्ठता दोनों को एक साथ धारण किए हुए है तथा निरपेक्ष चैतन्य के अटूट बन्धन में जकड़े हुए है।

अन्तर्दृष्टि के द्वारा जिस ब्रह्म का साक्षात्कार होता है और जो तार्किक निर्णयों से रहित है उस ब्रह्म में तथा विचारात्मक ब्रह्म में जो उत्पादक तत्त्व है उसमें अन्तर

१. एवम् उत्पत्त्यादिश्रुतीनाम् ऐकात्म्यावगमपरत्वात् (शांकरभाष्य, ४ : ३, १४)। और भी देखें, शांकरभाष्य, २ : १, ३३।

२. शांकरभाष्य, २ : २, ३७।

३. मायोपाधिर्जगद्योनिः सर्वज्ञत्वादिलक्षणः (वाक्यवृत्ति, पृष्ठ ४५)।

४. 'अपीयरेंस एण्ड रियलिटी,' पृष्ठ १७२।

५. 'एन्नीड्स', ३ : ६, ३। मैक्केन्ना का अंग्रेजी अनुवाद, खण्ड २, पृष्ठ १४१।

है। द्वितीय प्रकार का ब्रह्म भेद की व्याख्या भी करता है और साथ-साथ उसपर विजय भी प्राप्त करता है। सन्दिग्ध ब्रह्म अपने-आपमें तार्किक बुद्धि को एक ऐसे अन्धकार के समान प्रतीत होगा जिसके अन्दर प्रत्येक प्रकार का रंग भूरा हो जाता है। यदि यह सीमित की व्याख्या करने में कुछ भी समर्थ हो सके तो यह सीमित के अपने रूप को निरपेक्ष में समाविष्ट करने से ही सम्भव हो सकता है। यदि हम विशुद्ध सत् के विषय में चिन्तन करने का प्रयत्न करें तो हम साथ-साथ असत् का भी चिन्तन करते हैं और दोनों की प्रतिक्रिया से विश्व का परिणमन सम्पन्न होता है। वस्तुत: यहां तक कि ईश्वर का भी परिणमन होता है। सत् और असत् का विरोध उसके अपने आन्तरिक रूप मे प्रकट होता है। सम्भवतः ईश्वर स्वयं ही अस्तित्व मे न आता किन्तु तो भी वह अपने अभिप्राय को एक अन्त न होनेवाली परिणमन प्रक्रिया मे स्पष्ट कर देता है। सत् और असत् एक ही यथार्थसत्ता के निश्चयात्मक द्रव्य तथा उसी यथार्थसत्ता के अभावात्मक आभासमात्र दो पहलू हैं। इस प्रकार की समालोचना दृष्टिकोणो के परस्पर संभ्रम के कारण उठती है कि शंकर हमे वस्तुओं के शिखर पर पहुचाकर एक ऐसे शून्य स्थान पर छोड देते है जिसको पूरा नही भरा जा सकता और यह शून्य स्थान निर्गुण ब्रह्म, जिसके विषय मे कुछ नही कहा जा सकता, तथा उस सगुण ब्रह्म के मध्यगत है जो समस्त अनुभव को अपनाता तथा परस्पर जोडता है। विचार कभी भी विषयी तथा विषय के भेद का उल्लघन नही कर सकता, और इस प्रकार विचार के दृष्टिकोण से सर्वोच्च वह निरपेक्ष परम विषयी है जो अपने अन्दर विषय को समाविष्ट किए हुए है, किन्तु विषयी और विषय की भी पृष्ठभूमि मे है ब्रह्म।

२९

जगत् का मिथ्यात्व

ब्रह्म और जगत् एवं एकत्व तथा अनेकत्व दोनों ही एक समान यथार्थ नही हो सकते। "यदि एकत्व तथा अनेकत्व दोनो ही यथार्थ होते तो हम एक ऐसे व्यक्ति के विषय मे जिसका दृष्टिकोण सासारिक कर्मपरक है यह नही कह सकते कि 'वह असत्य मे ग्रस्त है'...और यह भी नही कहा जा सकता कि 'ज्ञान से मोक्ष की प्राप्ति होती है'; इसके अतिरिक्त उस अवस्था में अनेकत्व के ज्ञान से एकत्व का ज्ञान ऊंचा न हो सकता।"[1] यथार्थता की कसौटी के आधार पर निर्णय करने से आनुभविक जगत् का मिथ्यात्व प्रकट हो जाता है। समस्त विशिष्ट तथ्य तथा घटनाए ज्ञान प्राप्त करनेवाले विषयी के प्रतिपक्ष में विषय के रूप में स्थगित रहती है। जो कुछ भी ज्ञान का विषय है नाशवान् है।[2] शंकर का मत है कि यथार्थता तथा प्रतीति एव तत्त्वपदार्थ तथा आभासमात्र में जो भेद है ठीक वैसा ही भेद विषयी तथा विषय के अन्दर है। पदार्थरूप विषय तो जिनका प्रत्यक्ष किया जाता है अयथार्थ है किन्तु आत्मा, जो इनका प्रत्यक्ष करती है और स्वयं

१. शांकरभाष्य, २ : १, १४।
२. यद्दृश्यं तन्नश्यम्।

प्रत्यक्ष का विषय नहीं बनती, यथार्थ है।[1] जाग्रत् अवस्था के विषयों तथा स्वप्नावस्था के विषयों के अन्दर भेद करते हुए भी शंकर बलपूर्वक कहते है कि ये दोनों ही, चूंकि चैतन्य के विषय है इसलिए, अयथार्थ है।[2] यथार्थ वह है जो परस्पर विरोध से मुक्त हो, किन्तु यह जगत् विरोधो से पूर्ण है। देश, काल और कारणकार्य के विधान में आबद्ध जगत् अपनी व्याख्या अपने-आप नही कर सकता। सान्त जगत् मे समन्वय का ऐसा कोई सिद्धान्त नहीं है जिसके द्वारा इसकी कठिनाइयों का अन्त हो सके। देश, काल तथा कारणकार्य का विधान, जो समस्त अनुभव के रूप है, परमतत्त्व नही है। उनके द्वारा यथार्थ के ऊपर आवरण पड़ा रहता है। यदि हम स्थानो, क्षणों तथा घटनाओ से ऊपर उठ जाएं तो यह कहा जाता है कि विविधताओं से पूर्ण यह जगत् छिन्न-भिन्न होकर एकत्व के रूप मे आ जाएगा।[3] इसलिए देश, काल तथा कारणकार्य भावरूपी ढांचों मे प्रविष्ट अनुभव केवल प्रतीतिमात्र है। यथार्थ वह है जो सब कालो में विद्यमान है।[4] यह वह है जो सदा था, है और रहेगा।[5] यथार्थ ऐसा नही हो सकता कि आज विद्यमान हो और कल विलुप्त हो जाए। आनुभविक जगत् सब कालो मे विद्यमान नही रहता, और इसलिए यथार्थ नही है। जैसे ही यथार्थ का ज्ञान अन्तर्दृष्टि के द्वारा प्राप्त हो जाता है, यह आनुभविक जगत् नीचे रह जाता है। इस जगत् को अयथार्थ इसलिए कहा जाता है क्योंकि सत्य ज्ञान के द्वारा इसका प्रत्याख्यान हो जाता है।[6] एक उच्चतर सत्ता के ज्ञान से निम्नतर दूषित होकर अयथार्थता के स्तर पर पहुंच जाता है। सांसारिक पदार्थ परिवर्तनशील है। वे कभी हैं नही किन्तु सदा ही परिणमन के रूप हैं। ऐसा कोई भी पदार्थ जो परिवर्तित होता है यथार्थ नही है और जो नित्य है वह सत्य से अतीत है। शंकर कहते है : "जो नित्य है उसका आदि नहीं हो सकता

१. तुलना करें : "वे वस्तुएं जो दृष्टिगत होती हैं लौकिक हैं, किन्तु वे वस्तुएं जो दृष्टि का विषय नहीं हैं नित्य हैं।"

२. दृश्यत्वमसत्यञ्च अविशिष्टमुभयत्र (गौडपाद की कारिका पर शांकरभाष्य, २ : ४)।

३. तुलना करें :

अस्ति भाति प्रियं रूपं नाम चेत्यंशपञ्चकम्।
आद्यं त्रयं ब्रह्मरूपं जगद्रूपं ततो द्वयम्॥

देखें, अप्पयदीक्षितकृत सिद्धान्तलेश, २।

४. त्रैकालिकाबाध्यत्वम्।

५. कालत्रयसत्तावत। तुलना करें, विष्णुपुराण :

"यत्तु कालान्तरेणाऽपि नान्यसंज्ञामुपैति वै।
परिणामादिसम्भूतं तद् वस्तु.........॥" (२ : १३, ९५)

यथार्थ वह है जो काल की गति मे आकर भी रूप आदि के परिवर्तन से किसी अन्य संज्ञा को ग्रहण नही करता। तुलना करें, क्रिश्चियन भक्ति मार्ग के शब्दों से : "जैसा यह प्रारम्भ मे था, और जैसा अब है, और सदा रहेगा, यह जगत् जिसका अन्त नहीं है।"

६. ज्ञानैकनिवर्त्यत्वम्। "जैसे ही हमारे अन्दर अद्वैतभाव का ज्ञान उत्पन्न होता है, जीवात्मा की पुनर्जन्मावस्था तथा ईश्वर का उत्पत्तिपरक गुण तुरन्त विलुप्त हो जाता है। अनेकत्व का प्रतीतिपरक विचार, जो मिथ्याज्ञान से उत्पन्न होता है, निर्दोष ज्ञान के द्वारा रद्द हो जाता है।" (शांकरभाष्य, ३ : २, ४ ; आत्मबोध, ६ और ७)।

और जिसका आदि है वह नित्य नही है।"[1] हमारी बोधग्रहण शक्ति ऐसे पदार्थों से जो परिवर्तित होते है सन्तोष प्राप्त नही करती, केवल वे ही यथार्थ है जो परिवर्तन के अधीन नही है।[2] जो यथार्थ है वह असत् नही हो सकता। यदि ससार मे कोई वस्तु यथार्थ है तो वह मोक्ष मे अयथार्थ नही हो सकती। इन अर्थों मे परिवर्तनशील जगत् यथार्थ नही है। यह जगत् न तो विशुद्ध सत् है और न विशुद्ध असत् ही है। विशुद्ध सत् का अस्तित्व नही है और न वह जगत् की प्रक्रिया का कोई अवयव है। विशुद्ध असत् एक निर्दोष विचार नही है, क्योकि यदि ऐसा होता तो नितान्तशून्यता भी एक वस्तु होती और वह जो कल्पना के द्वारा समस्त अस्तित्व का अभाव है उसे भी अस्तित्व का रूप देना होगा। शून्य कोई वस्तु नही है। जिसका अस्तित्व है वह परिणमन है, जो न तो सत् है और न असत् है, क्योकि यह कार्यों को उत्पन्न करता है।[3] किसी भी अवस्था मे जगत् सत् तक नही पहुच सकता जिससे कि परिणमन को रोक सके। यह जगत् अनन्त बन जाने के लिए सघर्ष की क्रमबद्ध प्रक्रिया मे बधा हुआ है यद्यपि यह कभी अनन्तता प्राप्त नही करता। इस विश्वरूप रचना से परे सदा ही कोई सत्ता विद्यमान रहती है।[4] समस्त सासारिक क्रियाओ का अन्तिम लक्ष्य (अवसान) आत्मा का साक्षात् करना है।[5] और जब तक जगत् जगत् के रूप मे विद्यमान रहता है, उस लक्ष्य तक पहुचना नही होता। ईश्वर का सम्बन्ध मायारूप जगत के साथ अनादि है। सत् तथा असत् का सम्बन्ध ऐसा है जो विरोध से रहित है और सत् असत् के ऊपर विजय पाने का प्रयत्न करता है तथा सत् रूप मे परिणत होकर उसका निराकरण करता है। परिणमन की प्रक्रिया का यही उद्देश्य है जिसका अधिपति ईश्वर है, जो सदा ही असत् का बलपूर्वक विनाश करने के लिए क्रियाशील रहता है तथा इसके अन्दर से जीवन की एक स्थायी शृखला को उत्पन्न करता है। किन्तु तर्कशास्त्र के स्तर पर असत् को बलपूर्वक सत् की समानता मे लाने का कार्य असम्भव कार्य है। जगत् की प्रक्रिया इस कार्य मे सलग्न है जिसका अन्त होनेवाला नही है। वस्तुओ के आरम्भ काल मे अन्त तक सदा ही यह एक प्रश्न, अर्थात् प्रकाश का अन्धकार के क्षेत्र पर आक्रमण, बना ही हुआ है। हम इसे आगे ही आगे धकेल सकते है। यह केवल पीछे हटना है किन्तु सर्वथा विलुप्त नही होता। इस सीमित जगत् मे सत् का असत् के साथ सम्बन्ध केवल एक-दूसरे मे बाह्य होने का ही नही है अपितु दोनो ध्रुवो के समान एक-दूसरे से सर्वथा विपरीत दिशा का है। विचार या तो सर्वथा एक-दूसरे के प्रतिकूल होते

१. नहि नित्यं केनचिद् आरभ्यते, लोके यद् आरब्धं तद् अनित्यम (शांकरभाष्य, तैत्तिरीय उपनिषद्, प्रस्तावना)।

२. यद्विषया बुद्धिर्न व्यभिचरति तत् सत ; यद्विषया बुद्धिर्व्यभिचरति तदसत। और भी देखें, शांकरभाष्य, १ : १, ४ ; तैत्तिरीय उपनिषद, २ : १।

३. अर्थ क्रियाकारी। तुलना करें, सुरेश्वर : "केवल अभावात्मकता का कोई प्रमाण नहीं हो सकता चाहे तो वह किसी वस्तु से पृथक् हो अथवा उसके समान हो। इसलिए केवल अस्तित्वरूप वस्तु ही क्रिया की प्रेरक हो सकती।" (वार्तिक, पृष्ठ १२७)

४. शांकरभाष्य, ४ : ३, १४। ५. भगवद्गीता पर शांकरभाष्य, १८ : ५०।

हैं या सह-सम्बन्धी होते हैं। उनमें से कोई भी वास्तविकता प्राप्त नहीं करता, सिवाय इसके कि एक-दूसरे से विरोध के द्वारा। एक पदार्थ दूसरे के अन्दर कितना ही प्रविष्ट क्यों न हो भेद और विरोध सदा विद्यमान रहते हैं और इस प्रकार जगत् की प्रत्येक वस्तु अस्थायी तथा नाशवान् है। यहां तक कि जगत् की प्रक्रिया में सर्वोच्च तत्त्व, अर्थात् शरीरधारी ईश्वर भी अपने अन्दर असत् का आभासमात्र रखता है। केवलमात्र ब्रह्म ही विशुद्ध सत् है जो वस्तुओं के अन्दर जो कुछ भी यथार्थता का अंश है उसे धारण किए है किन्तु उनके प्रतिबन्धों अथवा असत् के अंशों से उसका कुछ सम्बन्ध नहीं। इससे जो कुछ भी भिन्न है वह सब अयथार्थ है।[1] संसार का स्वभाव जो वह नहीं है वैसा बनने का है अर्थात् अपने से ऊपर उठकर अपना परिणमन करने का है। "यह जगत् न तो है और न नहीं है। और इस प्रकार इसके स्वभाव का वर्णन नहीं हो सकता।"[2] यह सत् तथा असत् दोनों से भिन्न तो है,[3] किन्तु इसमें दोनों के लक्षण विद्यमान हैं।[4] सब सान्त वस्तुएं, जैसा कि प्लेटो ने कहा है, सत् तथा असत् से मिलकर बनी हैं।[5] अचम्भे में डालनेवाली प्रतीयमान विविधता का सम्बन्ध यथार्थसत्ता के साथ होना ही चाहिए, क्योंकि और ऐसी कोई सत्ता नहीं है जिसके अन्दर यह हो सके, किन्तु तो भी यह यथार्थता नहीं है। इस प्रकार इसे यथार्थता का मायापरकरूप अथवा आभास के नाम से पुकारा जाता है।[6] समस्त सीमित अस्तित्व, बोसन्क्वे के शब्दों में, "सीमित तथा असीमित प्रकृति का एक महान् परम विरोध" है। दिव्यलोक और यह मर्त्यलोक भी नष्ट हो जाएंगे, हमारा शरीर भी क्षय को प्राप्त हो जाएगा। हमारी इन्द्रियां परिवर्तित हो जाती हैं और हमारे व्यावहारिक अहम्भाव हमारी आंखों के सामने ही निर्मित होते हैं। इनमें से कोई भी यथार्थ नहीं है। जगत् के मिथ्यात्व की भावात्मक अभिव्यक्ति माया है।

३०

मायावाद

अब हम उस मायावाद[7] के तात्पर्य को समझने का प्रयत्न करें जो कि अद्वैतदर्शन का विशिष्ट लक्षण है। जगत् को मायारूप माना गया है, क्योंकि पूर्ववर्ती अधिकरण में दिए गए हेतुओं से इसे यथार्थ नहीं माना जा सकता। यथार्थ ब्रह्म तथा अयथार्थ जगत् में

१. ब्रह्मभिन्नं सर्वं मिथ्या ब्रह्मभिन्नत्वात् (वेदान्त परिभाषा)।

२. तत्त्वान्यत्वाभ्यामनिर्वचनीया।...तुलना करें, प्लाटिनस, एन्नीड्स, ३ : ६, ७। मैक्केन्ना का अंग्रेज़ी अनुवाद, खण्ड २, पृष्ठ ७८।

३. सदसद्विलक्षण।

४. सदसदात्मक।

५. सत्यानृते मिथुनीकृत्य (शांकरभाष्य, प्रस्तावना)।

६. विकल्पो न हि वस्तु (भगवद्गीता पर शंकरानन्द, ४ : १८)।

७. ऋग्वेद में 'माया' शब्द बार-बार आया है और साधारणतः इसका प्रयोग देवताओं, विशेषकर वरुण, मित्र और इन्द्र की अलौकिक शक्ति को संकेतित करने के लिए किया गया है। अनेक प्राचीन ऋचाओं में माया की प्रशंसा करते हुए कहा गया है कि यह जगत को धारण करने वाली शक्ति है

परस्पर कैसा सम्बन्ध है ? शंकर की दृष्टि मे यह प्रश्न ही अनुचित है, और इस प्रकार इसका उत्तर देना भी सम्भव नही। जब हम निरपेक्ष परब्रह्म का अपनी अन्तर्दृष्टि से साक्षात्कार करते है तो जगत् के स्वरूप तथा इसका ब्रह्म के साथ क्या सम्बन्ध है यह प्रश्न ही नही उठता, क्योंकि उस सत्य का, जो सब प्रकार के वाद-विवाद को निःशेष कर देता है, एक तथ्य के रूप मे प्रत्यक्ष दर्शन मिल जाता है। यदि हम तर्कशास्त्र को अपना आधार मान लें तब ऐसा विशुद्ध ब्रह्म है ही नही जिसका सम्बन्ध जगत् के साथ हो। यह समस्या उठती ही इसलिए है कि तर्क करते समय हम अपने दृष्टिकोण मे परिवर्तन कर देते है। एक काल्पनिक समस्या का कोई यथार्थ हल नही हो सकता। इसके अतिरिक्त किसी भी सम्बन्ध के लिए दो भिन्न पदार्थों की पूर्वकल्पना आवश्यक है और यदि ब्रह्म तथा जगत् का परस्पर सम्बन्ध है तो उन्हे परस्पर भिन्न मानना भी आवश्यक हो जाता है, किन्तु अद्वैत का मत है कि जगत् ब्रह्म से पृथक् नही है। शकर 'कार्य-कारणत्व' के वैज्ञानिक सिद्धान्त तथा 'अनन्यत्व' के दार्शनिक सिद्धान्त मे भेद करते है। ब्रह्म और जगत् अनन्य है।[1] और इस प्रकार दोनो के बीच सम्बन्ध का प्रश्न नही उठ सकता। जगत् का आधार ब्रह्म के अन्दर है।[2] किन्तु ब्रह्म जगत् के साथ तदात्मक है

(ऋग्वेद, ३ : ३८, ७ ; ६ : ८३, ३ ; १ : १५६, ४ ; ५ : ८५, ५)। माया, प्रवञ्चना तथा चालाकी के अर्थ में, उन असुरों का विशेषाधिकार है, जिनके विरुद्ध देवता लोग निरन्तर युद्ध मे रत रहते है। ऋग्वेद की प्रसिद्ध ऋचा, ६ : ४७, १८ मे जहा इन्द्र के विषय में कहा गया है कि वह अपनी अलौकिक शक्ति से नानारूप धारण करता है, हमें इसका एक अन्य ही अर्थ मिलता है :

रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव
तदस्य रूपं प्रतिचक्षणाय।
इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते
युक्ता ह्यस्य हरयः शतादश॥

"प्रत्येक रूप मे इसकी कल्पना की गई है और ये सब उसके रूप समझे जाने चाहिएं। इन्द्र अपनी माया अथवा अद्भुत शक्ति के द्वारा अनेक रूपों में विचरण करता है। और उसके हज़ार घोडे तैयार रहते हैं।" यहां पर माया शब्द का अर्थ है वह शक्ति जिससे रूपपरिवर्तन किया जा सके अथवा अद्भुत रूप धारण किए जा सके। ऋग्वेद की एक ऋचा (१० : ५४, २) इस प्रकार है : "हे इन्द्र, शरीर रूप मे पूर्णता को प्राप्त करके तू अपनी शक्ति की घोषणा करता हुआ मनुष्य जाति के अन्दर विचरा था। और उस समय तेरे वे सब युद्ध जिनके विषय में मनुष्य लोग चर्चा करते है केवलमात्र तेरी माया के द्वारा सम्पन्न हुए थे। क्योंकि न तो आज तक और न प्राचीनकाल मे ही तुझे कोई शत्रु मिला।" इन्द्र के कार्य एक लीलारूप प्रेरणा के कारण होते ह। प्रश्न उपनिषद् (१ : १६) में माया शब्द का प्रयोग लगभग भ्रांति के अर्थ मे हुआ है। श्वेताश्वतर उपनिषद (४ : १०) और भगवद्गीता (४ : ५–७ ; १८ : ६१) में हमे एक शरीरधारी ईश्वर का विचार मिलता है, जिसमें माया की शक्ति है।

१. अतश्च कृत्स्नस्य जगतो ब्रह्म कार्यत्वात् तदनन्यत्वात् (शांकरभाष्य, २ : १, २०)।

२. इसके साथ स्पिनोज़ा के कारण-कार्य के सिद्धान्त की तुलना करें। ईश्वर को कुल जगत् की सीमित वस्तुओं का अन्तर्यामी रूप मे कारण बताकर वह कारणकार्य सम्बन्ध को केवलमात्र द्रव्य तथा गुण के सम्बन्ध का रूप देता है। ऐसा सम्बन्ध, जो मूलाप्रकृति, अथवा ईश्वर, का तूलाप्रकृति, अर्थात् विश्व, के साथ है—ऐसे सम्बन्ध के समान जो ज्यामिति की संख्या और विविध प्रकार के उन अनुमानों

भी और नहीं भी है। यह इसलिए कि जगत् ब्रह्म से पृथक् नहीं है। और तादात्म्य इसलिए नहीं भी है क्योंकि ब्रह्म जगत् के परिवर्तनों के अधीन नहीं है। ब्रह्म जगत् की वस्तुओं का पुञ्जमात्र नहीं है। यदि हम ब्रह्म तथा जगत् को पृथक् करें तो भी उनका बन्धन शिथिल ही रहेगा और वह कृत्रिम तथा बाह्यरूप में ही होगा। ब्रह्म और जगत् एक हैं तथा यथार्थता और आभास के रूप में अपना अस्तित्व रखते है। सान्त भी अनन्त है, यद्यपि कुछेक अवरोधों के कारण छिपा हुआ है। जगत् ब्रह्म है, क्योंकि यदि ब्रह्म का ज्ञान हो जाए तो जगत् के सम्बन्ध मे सब प्रकार के प्रश्न स्वतः विलुप्त हो जाते हैं। ये समस्त प्रश्न उठते ही इसलिए है कि सान्त मन आनुभविक जगत् को अपने-आप में यथार्थ के रूप में चिन्तन करता है। यदि हम निरपेक्ष परब्रह्म के स्वरूप को जान लें तो समस्त सीमित आकृतियां तथा सीमाएं अपने-आप विलुप्त हो जाती हैं। जगत् माया है क्योंकि यह ब्रह्म की अनन्त यथार्थता का सत्य नही है।

शंकर बलपूर्वक कहते है कि ब्रह्म तथा जगत् के सम्बन्ध की व्याख्या तार्किक विभागों के द्वारा करना असम्भव है। "यथार्थ का सम्बन्ध अयथार्थ के साथ किसी भी प्रकार का कभी भी नहीं देखा गया।"[1] जगत् किसी न किसी प्रकार से अस्तित्व रखता है और ब्रह्म के साथ इसका सम्बन्ध अनिर्वचनीय है। शंकर भिन्न-भिन्न व्याख्याओं को लेकर कहते है कि ये सब असन्तोषप्रद है। यह कहना कि अनन्त ब्रह्म सान्त जगत् का कारण है तथा इसे बनाता है, एक प्रकार से यह स्वीकार करना है कि अनन्त काल-सम्बन्धी प्रतिबन्धों के अधीन है। कारण-कार्य के सम्बन्ध का प्रयोग ब्रह्म तथा जगत् के सम्बन्ध विषय मे नही किया जा सकता, क्योकि कारण का कुछ अर्थ तभी बन सकता है जब कि सत् के सीमित प्रकार ऐसे हों कि उनके मध्य एक शृंखला वर्तमान हो। हम ऐसा नहीं कह सकते कि ब्रह्म कारण है और जगत् कार्य है, क्योंकि इसका तात्पर्य होगा कि हम ब्रह्म और जगत् मे भेद करते है और एक ऐसी वस्तु का निर्माण करते है जिसका सम्बन्ध अन्य वस्तु के साथ है। इसके अतिरिक्त जगत् सीमित है और सोपाधिक है तो फिर एक अनन्त, जो निरुपाधिक है, इसका कारण कैसे हो सकता है? यदि सान्त जगत् प्रतिबन्धयुक्त तथा अस्थायी है तब अनन्त सीमित जगत् के प्रतिबन्ध के रूप में स्वयं सीमित हो जाता है और तब वह अनन्त नही रहता। यह सोच सकना असम्भव है कि किस प्रकार अनन्त अपने से बाहर जाकर सीमित रूप धारण कर सकता है। क्या अनन्त किसी विशेष क्षण में आवश्यकतावश सीमित रूप धारण करने के लिए बाहर आता है? शंकर गौडपाद के 'अजाति' अथवा 'अविकास' सम्बन्धी सिद्धान्त का समर्थन करते हैं। यह जगत् न तो विकसित ही हुआ और न उत्पन्न ही हुआ है, किन्तु ऐसा केवल प्रतीत होता है, क्योंकि हमारी अन्तर्दृष्टि परिमित है। यह जगत् ब्रह्म की अव्यतिरिक्तता से अभिन्न (अनन्य) है। "कार्य अभिव्यक्त जगत् है जो आकाश से प्रारम्भ होता है; कारण

के साथ होता है जो इससे निष्पन्न होते हैं। स्पिनोजा के दृष्टिकोण से ईश्वर और जगत् इस प्रकार परस्पर सम्बद्ध हैं जिस प्रकार एक त्रिकोणाकृति में कोण उसके पार्श्व भागों के साथ सम्बद्ध होते हैं।

१. न हि सदसतोः सम्बन्धः (माण्डूक्योपनिषद् पर शांकरभाष्य, २ : ७)।

सर्वोच्च ब्रह्म है। इस कारण से सर्वोच्च यथार्थता के अर्थों मे कार्य का तादात्म्य सम्बन्ध है किन्तु इससे परे उसकी कोई सत्ता नही।"[1] यह एक तादात्म्य की अवस्था है अथवा लौकिक परिभाषा मे नित्यस्थायी सह-अस्तित्व है किन्तु लौकिक पूर्वापर अनुक्रम नही है जो ही केवल कारण शक्ति के रूप मे घटनाओ की व्यवस्था का निर्णायक होता है। जगत् की अन्तस्तम आत्मा ब्रह्म है। यदि यह ब्रह्म से स्वतन्त्र प्रतीत होता है, तब हमे कहना होगा कि यह जैसा प्रतीत होता है वैसा नही है।[2] और न ही हम अनन्त के अन्दर कोई क्रिया बतला सकते है, क्योकि प्रत्येक क्रिया उपलक्षित करती है कि वह किसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए अथवा किसी वस्तु की प्राप्ति के लिए है। यदि यह कहा जाए कि निरपेक्ष परब्रह्म अपने को सीमित रूप मे अभिव्यक्त करता है तो शंकर का कहना उसके उत्तर मे यह है कि इस प्रकार का मत रखना कि सीमित जगत् ब्रह्म को अभिव्यक्त करता है, एक मिथ्या विचार है। सीमित जगत् हो या न हो, निरपेक्ष परब्रह्म सदा ही अपनी अभिव्यक्ति करता रहता है, जैसे कि सूर्य सदा ही चमकता रहता है। यदि किसी समय हम सूर्य को नही देख सकते तो यह सूर्य का दोष नही है। निरपेक्ष परब्रह्म सदा अपने रूप मे अवस्थित रहता है। हम उस निरपेक्ष परब्रह्म के सत् तथा उसकी अभिव्यक्ति के मध्य मे भेद नही कर सकते। जो एक है वही दूसरा है। वृक्ष के रूप मे प्रकट होनेवाले बीज का दृष्टान्त अनुपयुक्त है, क्योंकि ऐन्द्रिक प्रगति और विकास लौकिक प्रक्रियाए है। लौकिक वर्गभेदो का प्रयोग नित्य के सम्बन्ध मे करने का तात्पर्य होगा कि हम उस नित्य को एक लौकिक पदार्थ अथवा घटना के स्तर पर नीचे की श्रेणी का रूप देते है। ईश्वर के विषय मे ऐसा कहना कि वह अपनी अभिव्यक्ति के लिए सृष्टि के ऊपर आश्रित है, उसे सर्वथा अन्तर्यामी होने का रूप देना होगा। शकर परिणाम सम्बन्धी विचार को नही मानते। क्या सम्पूर्ण ब्रह्म मे अथवा उसके किसी एक भाग मे परिवर्तन होकर जगत् का निर्माण होता है? यदि सम्पूर्ण मे होता है तो सम्पूर्ण ब्रह्म जगत् के रूप मे हमारी आखो के सामने फैला हुआ है और ऐसी कोई अतीन्द्रिय सत्ता उस अवस्था मे नही रहती जिसकी खोज हमे करनी पड़े और यदि उसके किसी भाग मे परिवर्तन होकर जगत् का निर्माण होता है तब ब्रह्म की अखण्डता नष्ट होती है। यदि किसी वस्तु के हिस्से, अथवा अवयव अथवा उसमे भेद हो तब यह नित्य नही हो सकती।[3] श्रुति का मत है कि ब्रह्म अवयव रहित (निरवयव) है।[4] जहा एक बार ब्रह्म चाहे आशिक रूप से और चाहे पूर्णरूप से जगत् का द्रव्य बन जाता है तो फिर यह जगत् का द्रव्य नही रहता और स्वतन्त्र भी नही रहता। यदि निरपेक्ष ब्रह्म परिणमन के विकास की ऐतिहासिक प्रक्रिया के साथ साथ

१. "कार्यम् आकाशादिक बहुप्रपञ्च जगत् कारणं पर ब्रह्म, तस्मात् कारणात् परमार्थतोऽनन्यत्वं व्यतिरेकेणाभावः कार्यस्यावगम्यते" (शांकरभाष्य, २ : १, १४)।

२. देखें, शांकरभाष्य, २ : १, १४ ; २ : ३, ३० ; २ : ३, ६।

३. शांकरभाष्य, २ : १, २६।

४. श्वेताश्वतर उपनिषद्, ६ : १९; मुण्डकोपनिषद्, २ : १-२ ; बृहदारण्यक, २ : ४, १२; ३ : ८, ८।

बढ़ता तथा विकास को प्राप्त होता है और यदि हमारे कर्मों से निरपेक्ष ब्रह्म के जीवन अथवा विकास में कुछ अंश दान मिलता हो तो निरपेक्ष ब्रह्म सापेक्ष हो जाएगा। तो भी यदि निरपेक्ष परब्रह्म सब प्रकार के भेदों को नष्ट कर दे और परिणमन रूप जगत् को भी आत्मसात् कर ले तब फिर इस विश्व में गुण और परिमाण के विषय मे निर्धारण करने का जीवन के लिए कुछ अर्थ ही नही रहता। ब्रह्म का जगत् के साथ जो सम्बन्ध है उसको प्रकट करने के लिए वृक्ष का शाखाओ के साथ, अथवा समुद्र का उसकी लहरो के साथ अथवा मिट्टी का सम्बन्ध जो मिट्टी से बने हुए बर्तन है उनके साथ, ये सब जो दृष्टान्त है वहा नही घटते क्योंकि उक्त सबमे पूर्ण इकाई का जो उसके भाग के साथ सम्बन्ध है एव द्रव्य के साथ गुण का जो सम्बन्ध है उस प्रकार की बौद्धिक श्रेणियो का उपयोग किया जाता है। ब्रह्म तथा जीवात्माओ मे जो सम्बन्ध है, क्योंकि दोनो ही बिना भागो के है, वह न तो बाह्य अर्थात् सयोग और न आन्तरिक अथवा समवाय ही हो सकता है। क्या आत्माए ब्रह्म के अन्दर समवाय सम्बन्ध से रहती है अथवा ब्रह्म ही समवाय सम्बन्ध मे आत्माओ के अन्दर रहता है? ब्रह्म का परिणमन रूप-जगत् के साथ सम्बद्ध करने के समस्त प्रयत्न असफल रहे है। सीमित जगत् का अनन्त आत्मा के साथ क्या सम्बन्ध है यह एक ऐसा रहस्य है जो मानवीय बोध की शक्ति से परे है। प्रत्येक धार्मिक व्यवस्था मानती है कि सीमित का मूल अनन्त के अन्दर है और यह कि दोनो का मध्यवर्ती जो सातत्य है उसमे कही भी विच्छेद नही है और फिर भी व्यवस्था ने आज तक दोनो के बीच के सम्बन्ध का तार्किक विधि से स्पष्टीकरण नहीं किया।[1] हम अपने को समझा नही सकते कि किस विधि से आभासरूप व्यावहारिक जगत् निरपेक्ष परब्रह्म के साथ बधा हुआ है। ज्ञान मे उन्नति हमे इस योग्य तो कर सकती है कि हम उन घटनाओ का वर्णन कर सके जो विषयरूप जगत् को बनाती है और अधिकतर ब्योरे तथा यथार्थता के साथ भी उसका वर्णन कर सके, किन्तु अनन्त के अन्दर से सान्त जगत् की

१. शांकरभाष्य, २ : १, २८–२६। "यह दिखाना कि विश्व कैसे और क्यों विद्यमान है, जिससे कि इसका जीवन सीमित है, सर्वथा असम्भव है। उससे यह उपलक्षित होता है कि केवल एक अंश को देखकर सम्पूर्ण इकाई का ग्रहण क्रियात्मक रूप मे सम्भव नही है।" "यह कि अनुभव सीमित पदार्थों के केन्द्रों मे होना चाहिए और उसके रूप सीमित रूप के होने चाहिए अन्त मे जाकर व्याख्या के अयोग्य है।" "प्रतीतिरूप वस्तु कैसे सम्भव हो सकती है इसे हम नहीं समझ सकते" ('एपीयरेंस एण्ड रियलिटी', पृष्ठ २०४, २२६, ४१३)। ग्रीन के अनुसार शाश्वत चैतन्य एक है जो तात्त्विक रूप में कालाबाधित (अनन्त) तथा पूर्ण है और अन्य सीमित चैतन्य अपूर्ण, दोषपूर्ण तथा लौकिक है। इन दोनों के मध्य जो सम्बन्ध है, ग्रीन कहता है कि उसकी व्याख्या नहीं की जा सकती। इस प्रकार का प्रश्न करना कि क्या एक निर्दोष चैतन्य अपनी अनेकों दोषपूर्ण प्रतिकृतियों का निर्माण करता चलेगा, ऐसा ही प्रश्न है जैसा यह प्रश्न है कि यथार्थता जैसी है ऐसी क्यों है, और यह एक ऐसा प्रश्न है जिसका उत्तर नहीं दिया जा सकता। और भी देखें, 'भारतीय दर्शन', प्रथम खण्ड, पृष्ठ १७१। तुलना करें शिलर से, "ऐसा तर्क करना सर्वथा युक्तियुक्त होगा कि (सृष्टिरचना-सम्बन्धी) सम्पूर्ण प्रश्न अप्रामाणिक है क्योंकि इसकी माग अत्यधिक है। यह इससे कम नहीं जानना चाहता कि यथार्थसत्ता का अस्तित्व ही क्यों हुआ और उक्त तथ्य निरपेक्षरूप क्यों है? और यह उससे कहीं अधिक है जिसका कोई भी दर्शनशास्त्र पूर्णरूप से समाधान कर सकता है या जिसके लिए प्रयास भी कर सकता है ('स्टडीज इन ह्यूमनिज्म')।

उत्पत्ति अर्थात् ससार की ऐतिहासिक प्रक्रिया की व्याख्या सर्वथा हमारी शक्ति से बाहर है। हमारे तर्क की शृखला भले ही कितनी ही दीर्घ क्यो न हो और भले ही इसकी कितनी ही कडिया क्यो न हो, हम एक ऐसे स्थान पर पहुच जाते है जहां जाकर विवरण रुक जाता है और हमे एक तथ्य को स्वीकार करना ही होता है जिसमे आगे किसी प्रकार के निगमन (अनुमान) की गुजाइश नही रह जाती। 'माया' शब्द हमारी सान्तता को मन मे अकित कर देता है और हमारे ज्ञान मे जो रिक्त स्थान है उसको दर्शाता है। एक जादूगर हमारे आगे शून्य से एक वृक्ष को उत्पन्न कर देता है। वृक्ष उपस्थित है, यद्यपि हम उसका समाधान नही कर सकते और इस प्रकार हम उसे माया कहते है। रस्सी और साप के दृष्टान्त का उपयोग, जिसका बहुत दुरुपयोग हुआ है, शकर ने ससार की समस्या को समझाने के लिए किया है। रस्सी की पहेली विश्व की भी पहेली है। क्योकर रस्सी साप प्रतीत होती है, यह एक ऐसा प्रश्न है जिसे स्कूल के लडके उठाते है और दार्शनिक इसका उत्तर देने मे असफल रहते है। इससे अधिक विस्तृत प्रश्न है ब्रह्म का जगत् के रूप मे प्रतीत होना, और यह और भी अधिक कठिन है। हम केवल यही कह सकते है कि ब्रह्म जगत् के रूप मे प्रतीत होता है, ठीक जैसे कि रस्सी साप के समान प्रतीत होती है।[1] ब्रह्म तथा जगत् के मध्य सम्बन्ध की सामान्य समस्या का विशेष विनियोग है ब्रह्म तथा ईश्वर का पारस्परिक सम्बन्ध।

शकर प्रतिपादन करते है कि जगत् यद्यपि ब्रह्म के ऊपर आश्रित है तो भी वह ब्रह्म के स्वरूप के ऊपर कोई प्रभाव नही रखता और एक इस प्रकार के कारण को जो अपने मे बिना किसी प्रकार का परिवर्तन लाए कार्य को उत्पन्न करता है, अर्थात् 'विवर्तोपादान' रूप कारण को 'परिणामोपादान' से, जहा कारण स्वय कार्य के रूप मे परिणत होकर कार्य को उत्पन्न करता है, भिन्न प्रकार का बनाता है। विवर्त का यौगिक (धात्वर्थ) अर्थ है विपर्यास या उलट जाना। ब्रह्म वह है जिसका विवर्त (विपर्यास) देशकाल आदि से बद्ध यह जगत् है। विवर्त शब्द प्रकट करता है निरपेक्ष परब्रह्म का देशकालबद्ध जगत् के रूप मे प्रतीत होना। नि सन्देह मूलभूत ब्रह्म है जिसका रूपान्तर यह जगत् देशकाल के स्तर पर माना जा सकता है। चूकि रूपान्तर हमारे लिए किया गया है, मूल ब्रह्म अपने अस्तित्व के लिए रूपान्तर के ऊपर आश्रित नही है। अनेकतापूर्ण जगत् एक ऐसा रूप है जिसे यथार्थसत्ता हमारे लिए ग्रहण करती है, अपने लिए नही। जब दूध दही का रूप धारण करता है तो उसे हम परिणाम अथवा परिवर्तन कहते है और जब रस्सी साप के रूप मे प्रतीत होती है तो इसे विवर्त अथवा आभास कहते है।[2] शकर के द्वारा प्रयुक्त किए गए भिन्न-भिन्न दृष्टान्तो, जैसे रस्सी और साप, सीप तथा चादी, मरुभूमि तथा मृगतृष्णा आदि का प्रयोजन कार्य की कारण के ऊपर एकपक्षीय निर्भरता, और कारण का अपने यथार्थरूप को सुरक्षित रखने का भाव दर्शाने से है। परिणाम की अवस्था मे कारण और कार्य दोनो यथार्थता के ही समान

१. मायामात्रं ह्येतद् यत् परमात्मनोऽवस्थात्रयात्मनावभासनं रज्ज्वेव सर्पादिभावेन।... (शांकरभाष्य, २ : १, ६)।

२. शांकरभाष्य, २ : १, २८।

भाव से रहते है किन्तु आभास की अवस्था मे कार्य कारण से भिन्न सत् के एक भिन्न प्रकार के वर्ग का होता है।[1] जगत् ब्रह्म के अन्दर अवस्थित रहता है, जिस प्रकार कहा जाता है कि साप रस्सी के अन्दर रहता है।

अद्वैतवादी ग्रन्थो मे 'मायावाद' की अन्य कई प्रकार की व्याख्याएं मिलती है।[2] माया ब्रह्म से भिन्न नही हो सकती, क्योकि ब्रह्म के समान दूसरी कोई सत्ता नही है। विश्व की उत्पत्ति ब्रह्म के अन्दर किसी अन्य यथार्थसत्ता के कुछ अश जुड जाने से नही हुई है क्योकि जो पहले से सर्वागपूर्ण है उसमे अन्य किसी प्रकार के पदार्थ का सयोग नही हो सकता। इसलिए यह विश्व असत् के कारण से विद्यमान है। जगत् की प्रक्रिया यथार्थसत्ता के क्रमिक ह्रास के कारण है। माया की सज्ञा का प्रयोग विभाजक शक्ति के लिए, जो प्रतिबन्ध लगानेवाला तत्त्व है, हुआ है। यह वह तत्त्व है जो अपरिमित को माप मे परिमित कर देता है और रूप रहित म रूप की सृष्टि करता है।[3] यह माया प्रधान यथार्थसत्ता का एक विशेष लक्षण है, न उसके समान है और न उससे भिन्न है। उसको एक स्वतन्त्र स्थान प्रदान करने का तात्पर्य होगा मौलिक रूप मे द्वैत-वाद को मान्यता प्रदान करना। आनुभविक जगत् मे जो भेद पाया जाता है और जिसका हमे ज्ञान है उसका कारण यदि हम नित्यब्रह्म म खोजने का प्रयत्न करे तो यह अनुचित होगा। ज्यो ही हम माया का सम्बन्ध ब्रह्म से जोडने जाते है ब्रह्म ईश्वर के रूप मे परिणत हो जाता है और माया ईश्वर की शक्ति को प्रकट करती है। किन्तु ईश्वर के अपने ऊपर माया से किसी प्रकार का असर नही होता। यदि माया का अस्तित्व है तो यह ब्रह्म के प्रतिबन्ध रूप मे रहती है। और यदि माया का अस्तित्व नही है तो जगत् के आभास की भी कोई व्याख्या नही बनती। जगत् को उत्पन्न करने मे तो इसकी यथार्थता समझ मे आ सकती है किन्तु ब्रह्म के प्रतिबन्ध रूप मे इसकी यथार्थता नही है। यह न तो ब्रह्म के समान यथार्थ ही है और न आकाशकुसुम के समान अभावात्मक ही है।[4] हम इसे चाहे जो कहे, भ्रातिमात्र अथवा यथार्थ किन्तु जीवन की समस्या के समाधान के लिए इसकी सत्ता को मानना आवश्यक है। यह ईश्वर की एक नित्य-शक्ति है। 'सक्षेपशारीरक' के रचयिता का मत है कि ब्रह्म माया के माध्यम द्वारा विश्व का उपादान कारण है, क्योकि माया का क्रिया के लिए होना आवश्यक है। इसे ब्रह्म की उपज समझा जाता है, अर्थात् यह ब्रह्म की क्रियाशीलता का एक परिणाम है।

१. परिणामो नाम उपादानसमसत्ताककार्यापत्तिः ; विवर्तो नाम उपादानविषमसत्ताककार्यापत्तिः (वेदान्तपरिभाषा, १)।

२. शाकरभाष्य, तैत्तिरीय उपनिषद, २ : ६।

नासद्रूपा न सद्रूपा माया नैवोभयात्मिका।
सदसद्भ्याम् अनिर्वाच्या मिथ्याभूता सनातनी॥

(सूर्यपुराण, सांख्यप्रवचन भाष्य, १ : २६ में उद्धृत)।

३. एक एव परमेश्वरः कूटस्थनित्यो विज्ञानधातुरविद्यया मायया मायाविवदनेकधा विभाव्यते, नान्यो विज्ञानधातुरस्ति (शांकरभाष्य, १ : ३, १९)।

४. शांकरभाष्य, १ : ४, ३।

यह जगत् मे अनिवार्य रूप से उपस्थित (अनुगत) रहती है तथा इसके अस्तित्व की निर्णायक (कार्यसत्ता नियामिका) है। माया द्रव्य नही है और इसलिए इसे उपादान कारण नही माना जा सकता। यह केवलमात्र एक व्यापार है जो ब्रह्मरूपी उपादान कारण से उत्पन्न होने के कारण भौतिक पदार्थ अर्थात् जगत् की उत्पत्ति करता है।[1] इस लेखक के मत मे माया ब्रह्म से सम्बद्ध है और प्रतिबन्ध की प्रक्रिया है, और इसके दो लक्षण है, 'आवरण', अर्थात् सत्य को छिपाना, और 'विक्षेप', अर्थात् उसकी मिथ्या-व्याख्या करना।[2] इनमे से पहला तो केवलमात्र ज्ञान का निराकरण है और दूसरा निश्चित रूप से भ्रम को उत्पन्न करना है। इसके कारण केवल इतना ही नही कि हम परम निरपेक्ष सत्ता के दर्शन नही कर सकते अपितु हमें उसके स्थान मे किसी अन्य वस्तु का बोध हो जाता है। माया के कारण से ही विविध प्रकार के नाम और रूप का विकास होता है, और उन्हीका कुलयोग यह जगत् अथवा विश्व है। इन नाम और रूप के पुञ्ज के पीछे माया नित्यब्रह्म को भी हमारी दृष्टि से ओझल कर देती है।

माया के दो व्यापार है, यथार्थसत्ता को छिपा देना तथा मिथ्या का विक्षेप करना। विविधता रूप जगत् यथार्थसत्ता तथा हमारे मध्य पर्दे का कार्य करता है।

> "कुछ लोग सोचते है कि सृष्टि उस ब्रह्म की अभिव्यक्ति के लिए है। मेरा कहना है कि इसका प्रयोजन उसे छिपाना है, और इसके अतिरिक्त यह और कुछ कर नही सकती।"[3]

चूकि माया इस प्रकार स्वरूप मे छली है,[4] इसे अविद्या अथवा मिथ्याज्ञान कहा जाता है। यह केवल बोध का अभाव ही नही है किन्तु निश्चित रूप से भ्राति है। जब इस व्यापार का सम्बन्ध ब्रह्म के साथ होता है तो ब्रह्म ईश्वर हो जाता है। "एक अचल, निरुपाधिक तब अपनी ही मायारूप शक्ति मे ऐसा बन गया जिसे कर्ता की सज्ञा दी गई।"[5]

माया ईश्वर की शक्ति है, उसका अन्तःस्थायी बल है जिसके द्वारा वह सम्भाव्यता को वास्तविक जगत् के रूप मे परिणत कर देता है। उस ईश्वर की माया, जो विचार के क्षेत्र मे परे है, अपने को दो आकारो मे परिवर्तित करती है, अर्थात् काम और सकल्प मे। नित्यरूप ईश्वर की यह उत्पादिका शक्ति है और इसीलिए यह भी नित्य है, और इसी साधन मे सर्वोपरि प्रभु ब्रह्म ससार की रचना करता है। माया का कोई पृथक् निवासस्थान नही है। यह ईश्वर ही के अन्दर रहती है, जिस प्रकार उष्णता अग्नि मे रहती है। इसकी उपस्थिति इसके कार्यो द्वारा अनुमान से जानी जाती है।[6] माया नाम और रूप के समान है जो अपनी अविकसित अवस्था मे ईश्वर के अन्दर समवाय

१. तज्जन्यत्वे सति तज्जन्यजनको व्यापारः। २. देखे, वेदान्तसार, ४।

३. ब्राउनिग : 'बिशप ब्लोग्राम्स एपालजी'।

४. माया के छली रूप के लिए देखे, मिलिन्द, ४ : ८, २३।

५. अप्राणं शुद्धमेकं समभवद् अथ तन्मायया कर्तृसञ्ज्ञम् (शतश्लोकी, पृष्ठ २४)। तुलना करें, पञ्चदशी, १० : १।

६. निस्तत्त्वा कार्यगम्यास्य शक्तिर्मायाग्निशक्तिवत् (पञ्चदशी)।

सम्बन्ध से रहते है, एव अपनी विकसित अवस्था मे जगत् का निर्माण करते है। इन अर्थों मे यह (माया) प्रकृति की पर्यायवाची है।[1] ईश्वर मे परमसत् की अपेक्षा यथार्थता कुछ न्यून है और अन्य पदार्थो मे यथार्थता का अभाव क्रमशः बढ़ता जाता है। क्रमिक व्यवस्था के नीचे के धरातल पर हमे ऐसा कुछ मिलता है जिसके अन्दर ऐसे निश्चयात्मक गुण है ही नही जिनके छिन जाने का प्रश्न उठे, अपितु जिसका अस्तित्वमात्र है किन्तु जो असत् के रूप मे है। यह एक प्रकार की शून्यता है जो ऐसे स्थान पर शून्य भित्ति के रूप मे खड़ी है जहा यथार्थता का अन्त होता है। यह विश्वसम्बन्धी विकास का न तो कोई भाग है और न उसकी उपज ही है किन्तु अनेकत्व और अपहरण का एक अव्यक्त तत्त्व है जो समस्त विकास का आधार है। सर्वोपरि ईश्वर सृष्टिरचना के समय रूपविहीन तथा निरुपाधिको मे ऐसे रूपो तथा गुणो का आधान करता है जिन्हे वह अपने अन्दर धारण किए हुए है। "इस अविकसित तत्त्व को कभी 'आकाश',[2] कभी 'अक्षर'[3] अर्थात् अविनाशी और कभी 'माया' के नाम से प्रकट किया जाता है।"[4] सृष्टिरचना मे यह भौतिक अधिष्ठान है।[5] यह परिवर्तनो के द्वारा विश्व को क्रमिक रूप से प्राकृतिक व्यवस्था मे ले आता है। यह ईश्वर के कारण शरीर का निर्माण करता है। सांख्य के प्रधान के विपरीत यह ईश्वर से स्वतन्त्र नही है।[6] यह एक ऐसा प्रतिबन्ध है जिसे ईश्वर अपने ऊपर लगाता है। प्रकृति के अन्दर जगत् की सम्भाव्यता केन्द्रित है, जैसे भविष्य मे उगनेवाले वृक्ष की सम्भाव्य क्षमता बीज के अन्दर निहित रहती है। यह प्रकृति, जिसमे तीनो गुण विद्यमान है,[7] न तो ईश्वर की आत्मा है और न ईश्वर से पृथक् ही है। यह प्रलय काल मे भी सर्वोपरि प्रभु ब्रह्म के ऊपर आश्रित होकर बीजशक्ति के रूप म विद्यमान रहती है। पुराणो मे यही माया अथवा प्रकृति ईश्वर की पत्नी के रूप मे प्रकट होती है, तथा सृष्टिरचना मे यह मुख्य साधन का काम देती

१. तुलना करे, ईश्वरस्य मायाशक्तिः प्रकृतिः (शांकरभाष्य, २ : १, १४)। और भी देखें श्वेताश्वतरोपनिषद्, ४ : १० ; भगवद्गीता पर शांकरभाष्य, प्रस्तावना, और ७ : ४ ; सांख्यप्रवचन भाष्य, १ : २६।

२. बृहदारण्यक उपनिषद्, ३ : ८, ११। ३. मुण्डक, २ : १, २।

४. श्वेताश्वतर, ४ : १। देखे, शांकरभाष्य, १ : ४, ३। "अविद्यात्मिका हि सा बीजशक्तिरव्यक्तशब्दनिर्देश्या, तदेतद् अव्यक्तं क्वचिद् आकाशशब्दनिर्दिष्टं क्वचिद् अक्षरशब्दोदितं क्वचिन्मायेति सूचितम्।

अव्यक्तनाम्नी परमेशशक्तिरनाद्यविद्या त्रिगुणात्मिका परा।
कार्यानुमेया सुधियैव माया यया जगत् सर्वमिदं प्रसूयते॥"

(विवेकचूडामणि, पृष्ठ १०८)।

५. तुलना करें, 'थामिस्टिक' दर्शन के, 'मैटेरिया प्राइमा', के सिद्धान्त के साथ।

६. न...स्वतन्त्रं तत्त्वम् (शांकरभाष्य, १ : ४, २२)।

७. माया से इसमें तमोगुण की प्रधानता के कारण पांच तत्त्व उत्पन्न होते है, ऐसा कहा जाता है। उसीसे उसमे सत्त्वगुण की प्रधानता होने से पाच ज्ञानेन्द्रिया उत्पन्न होती है तथा रजोगुण की प्रधानता से अन्तःकरण उत्पन्न होता है। पांच कर्मेन्द्रियों से, और उनके संयोग से, पांच प्राण उत्पन्न होते हैं। ये सब एक साथ मिलकर लिंग अथवा सूक्ष्म शरीर को जन्म देते है।

है।[1] यह माया रूप जगत् वस्तुओं जननी व क्रीडाभूमि है जो सदा अपने को अनन्त रूपों म ढालने के लिए उत्सुक रहता है।[2] परिणाम यह निकला कि यह विश्व ईश्वर के लिए अथवा ऐसे विषयी के लिए जिसका सम्बन्ध सदा विषय के साथ रहता है, आवश्यक है। ईश्वर को विश्व की आवश्यकता है, जो कि हेगल की परिभाषा मे ईश्वर की आत्माभिव्यक्ति का एक आवश्यक रूप है।

हम यहा पर उन भिन्न-भिन्न अर्थों को एकत्र करते है जिनमे अद्वैत दर्शन मे माया शब्द का व्यवहार हुआ है। (१) चूकि यह जगत् अपनी व्याख्या अपने-आप नही कर सकता इसीसे इसका आभास स्वरूप प्रकट होता है और यही भाव माया शब्द से ध्वनित होता है। (२) ब्रह्म तथा जगत के मध्य की समस्या हमारे लिए एक अर्थ रखती है, क्योकि हम विशुद्ध ब्रह्म के अस्तित्व को प्रेरक के रूप मे स्वीकार करते हे और फिर जगत् के साथ इसके सम्बन्ध की माग प्रस्तुत करते है जिसे हम तार्किक दृष्टिकोण से देखते है। हम यह कभी नही समझ सकते कि किस प्रकार परम यथार्थसत्ता अनेकत्वपूर्ण जगत् के साथ सम्बद्ध है क्योकि दोनो विजातीय है और इसलिए इसकी व्याख्या के लिए किए गए सब प्रयत्नो का असफल रहना आवश्यक है। इसी दुर्बोधता का नाम माया है। (३) यदि ब्रह्म को जगत् का कारण माना जाए तो यह इन्ही अर्थो मे होगा कि जगत् ब्रह्म पर आश्रित है किन्तु ब्रह्म किसी प्रकार भी जगत् से प्रभावित नही होता, और जो जगत् ब्रह्म पर आश्रित है उसे माया के नाम से पुकारा जाता है। (४) ब्रह्म के जगत् रूप मे आभास होने के सम्बन्ध म कारणरूप जिस तत्त्व की कल्पना की जाती है उसे ही माया कहते है। (५) यदि हम अपने ध्यान को व्यावहारिक जगत् तक ही परिमित रखे और तर्क के विचार-विमर्श का प्रयोग करे तो हमारे सामने एक पूर्ण व्यक्तित्व का भाव आता है जिसम आत्म-अभिव्यक्ति की शक्ति है। इस शक्ति का ही नाम माया है, (६) ईश्वर की यह शक्ति उपाधि, अथवा प्रतिबन्ध म परिणत हो जाती है, जो अव्यक्त प्रकृति है और जिससे समस्त ससार उत्पन्न होता है। यह वह विषय है जिसके द्वारा सर्वोपरि विषयी अर्थात् ईश्वर विश्व का विकास करता है।[3]

३१

अविद्या

मायाविषयक विचार का अविद्याविषयक विचार के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है। शकर की कृतियो मे ऐसे वाक्य आते हैं जिनम आनुभविक जगत् का कारण अविद्या की शक्ति को बताया गया है। जगत् के आभासस्वरूप होने का कारण बुद्धि के स्वरूप के अन्दर

१. तुलना करें, बृहदारण्यक मे भी, १ : ४, ३।

२. तुलना करें, त्वमसि परब्रह्ममहिषी (आनन्दलहरी)।

३. तुलना करें : ईश्वरस्यात्मभूते इवाविद्याकल्पिते नामरूपे तत्त्वान्यत्वाभ्याम अनिर्वचनीये ससारप्रपंचबीजभूते'''ईश्वरस्य मायाशक्तिः प्रकृतिरिति च श्रुतिस्मृत्योरभिलप्येते (शाकरभाष्य, २ : १, १४)। और भी देखें, शांकरभाष्य, १ : ४, ३ ; २ : २, २।

खोजना चाहिए, ब्रह्म के अन्दर नही । छोटे से छोटे पदार्थ मे भी ब्रह्म सम्पूर्ण तथा अविभक्त रूप मे विद्यमान है और अनेकत्व की प्रतीति बुद्धि के कारण है जो देश, काल और कारणकार्य के विधान के अनुसार काम करती है । ब्रह्मसूत्र के भाष्य की प्रस्तावना में शकर ने प्रतिपादन किया है कि किस प्रकार अविद्या की शक्ति हमे जीवनरूपी स्वप्न मे उतारती है । इन्द्रियातीत और लौकिक दृष्टिकोणो को परस्पर मिला देने की प्रवृत्ति, अथवा अध्यास, कितना भी भ्रान्तिमय क्यो न हो, मनुष्य के मस्तिष्क के लिए स्वाभाविक है । यह हमारे बोधग्रहणकारी तन्त्र का परिणाम है ।[1] जिस प्रकार हम अपनी इन्द्रियो से शब्द तथा रग का प्रत्यक्ष करते है, यद्यपि यथार्थता केवल कम्पनमात्र है, ठीक इसी प्रकार हम चित्र-विचित्र विश्व को यथार्थ ब्रह्म के रूप मे स्वीकार कर लेते है, यद्यपि यह विश्व ब्रह्म का कार्य है । अनुभव के विषयिनिष्ठ पक्ष की परीक्षा के द्वारा शकर तर्क करते है कि हम यथार्थसत्ता का ज्ञान तब तक नही प्राप्त कर सकते जब तक कि हम अविद्या मे फसे है, अथवा तर्क की विचार-विधि को अपनाए रहते है । अन्तर्दृष्टि रूप ज्ञान के साधन से पतन होने का नाम अविद्या है, और यह सीमित आत्मा की मानसिक विकृति है, जिसके कारण दैवीय सत्ता सहस्रो भिन्न-भिन्न अ[illegible] जाती है । प्रकाश के अभाव का नाम अन्धकार है । जैसा कि ड्यूसन ने कहा है 'अविद्या हमारे ज्ञान का आन्तरिक धुधलापन है'[2] और मन की ऐसी प्रवृत्ति है जिसके कारण मन वस्तुओ को देश, काल और कारण की रचना के द्वारा ही देख सकता है अन्यथा रूप मे नही । यह जान-बूझकर किया गया कपटाचरण नही है वरन् परिमित शक्ति वाले उस मन की अज्ञानवश प्रवृत्ति ही ऐसी है जो जगत् के अपूर्ण मानदण्ड के ऊपर ही निर्भर करता है । यह एक निषेधात्मक शक्ति है जो हमे अपने देवस्वरूप जीवन से दूर रखती है । ब्रह्म की जगत् के रूप मे प्रतीति हमारे अज्ञान के कारण है, वैसे ही जैसे कि रस्सी का साप के रूप मे प्रतीत होना हमारे इन्द्रियदोष के कारण होता है । किन्तु ज्यो ही हम रस्सी के असली रूप को देखते है तो साप अयथार्थ हो जाता है । जब हम ब्रह्म की यथार्थता का दर्शन कर लेंगे तो जगत् की प्रतीति स्वय दूर हो जाएगी । उच्चतर अनुभव के द्वारा, जिसकी यथार्थता सिद्ध हो जाती है, उसका सम्बन्ध यथार्थता के साथ दृष्टिकोणो के विभ्रम के अतिरिक्त स्थापित नही हो सकता । प्रतीतिरूप आभासो का निरपेक्ष परमसत्ता मे जाकर आकार-परिवर्तन हो जाता है । यदि हमे कहा जाए कि साप की प्रतिकृति को रस्सी की यथार्थता के साथ सम्बद्ध करो तो हम कहेगे कि इस प्रकार का कोई सम्बन्ध ऐसी वस्तु के, जो भावात्मक है, और दूसरी वस्तु के जो अभावात्मक है, मध्य सम्भव नही है । उस प्रतिकृति के लिए हम केवल आख ही को दोष देगे । जब हम रस्सी को रस्सी के रूप मे देखते है तब समस्या का अन्त हो जाता है और हम कहने लगते है कि रस्सी साप की भाति दिखाई देती थी । सापेक्षता का कारण दोषपूर्ण अन्तर्ज्ञान के अतिरिक्त अन्य कुछ नही है । ज्यो ही हम विशुद्ध चैतन्य के दृष्टिकोण से वस्तुओ को देखते है तो उस तथ्य के आगे इसका कार्य

१. शाकरभाष्य, प्रस्तावना ।
२. 'ड्यूसन्स सिस्टम आफ दि वेदान्त', अंग्रेजी अनुवाद, पृष्ठ ३०२ ।

स्वत. बन्द हो जाता है। अविद्या या तो ज्ञान का अभाव है अथवा सन्दिग्ध या भ्रांतिमय ज्ञान है। इसका केवल निषेधात्मक ही नही किन्तु भावात्मक रूप भी है। शंकर के इस तर्कपूर्ण कथन का कि अविद्या का आधिपत्य सबके ऊपर है तात्पर्य यही है कि सीमितता एक तथ्य है। यह कहा जाता है कि प्रत्येक व्यक्ति की ऐसी भावना रहती है कि वह सब कुछ नही जानता।[1] इसकी साक्षी सार्वभौम रूप मे पाई जाती है क्योंकि सभी सीमित मनों मे यह न्यूनता एक समान है।

उपनिषदो मे अविद्या शब्द केवल अज्ञान के लिए प्रयुक्त हुआ हे और यह व्यक्ति रूप विषयी के ज्ञान से भिन्न है।[2] शकर के यहा यह विचार की तार्किक विधि बन जाती है जो मानवीय मन की सीमितता का निर्माण करती है। यह वन्ध्यापुत्र की भाति अभावात्मक सत्ता नही है क्योंकि इसकी प्रतीति होती है और हममे मे प्रत्येक को इसका अनुभव होता है, और यह एक यथार्थ और निरपेक्ष सत्ता रूप वस्तु भी नही, क्योंकि अन्तर्दृष्टि के ज्ञान से इसका नाश हो जाता है। यदि यह असत् होती तो यह किसी वस्तु की उत्पादक नही हो सकती थी। और यदि यह सत् होती तो जो इससे उत्पन्न होता वह भी यथार्थ होता, आभासमात्र न होता। "यह न तो यथार्थ है, न आभासमात्र है और न यह दोनो ही है।"[3] यद्यपि इसकी उत्पत्ति तथा समाधान दोनो ही हमारी पहुच से परे है तो भी मानसिक वर्गभेदो के द्वारा इसका व्यापार स्पष्ट रूप मे समझा जा सकता है। यह अविद्या, जो सारे अज्ञान तथा पाप और दुःख की जननी है, कहा से आती है? अविद्या व्यक्तित्व का कारण नही हो सकती, क्योंकि यदि व्यक्ति न हो तो अविद्या का अस्तित्व ही नही रह सकता। यदि वह व्यक्तित्व का कारण है तो इसकी उससे स्वतन्त्र सत्ता होनी चाहिए, अर्थात् इसका सम्बन्ध उस परम यथार्थ ब्रह्म के साथ होना आवश्यक हे। किन्तु अविद्या ब्रह्म के साथ सम्बद्ध नही हो सकती क्योंकि ब्रह्म का स्वरूप नित्य प्रकाश है और अविद्या के प्रतिकूल है।[4] जैसा कि सर्वज्ञात्मनि का मत है, इसका निवास ब्रह्म के अन्दर नही हो सकता, और यह व्यक्ति मे भी नही रह सकती, जैसा कि वाचस्पति का मत है।[5] यह कहना कि परिवर्तित ब्रह्म अविद्या का आवासस्थान है सर्वथा निरर्थक है, क्योंकि प्रश्न यह है कि ब्रह्म मे अविद्या के बिना परिवर्तन हो ही कैसे सकता है? रामानुज का आग्रह है कि हमे प्रत्येक आत्मा के लिए एक भिन्न अविद्या की कल्पना करनी होगी, क्योंकि अन्यथा एक आत्मा की मोक्षप्राप्ति अन्यों के लिए भी मोक्षप्राप्ति हो जाएगी। परिणाम यह निकला कि अविद्या आत्माओ की भिन्नता का ज्ञान रखती है किन्तु यह उसका कारण नही है और इसीलिए उसका समाधान नही कर सकती।

१. अहम् अज्ञ इत्याद्यनुभवात। देखे, वेदान्तसार, पृष्ठ ८।

२. देखें, छान्दोग्य उपनिषद, १ : १, १०; बृहदारण्यक उपनिषद, ४ : ३, २०; ४ : ४, ३।

३. विवेकचूडामणि, पृष्ठ ३।

४. "ईश्वर प्रकाशस्वरूप है और उसके अन्दर अन्धकार सर्वथा नहीं" (बाइबिल, प्र० जॉन, ५ : ७, कार०, ६ : १४)।

५. देखें, श्रीधरकृत न्यायकन्दली, ब्रह्मसूत्र पर रामानुज का भाष्य, २ : १, १५।

यहा हमे तर्क सम्बन्धी चक्रक मे पडना होता है ।[1] शकर तो इस कठिनाई मे से अविद्या को अव्याख्येय घोषित करके बच निकलते है । शकर की अध्यात्म विद्या मे यह प्रश्न निरर्थक है । हम एक लौकिक विधान का प्रयोग इन्द्रियातीत क्षेत्र मे नही कर सकते । हम जानते है कि अविद्या का अस्तित्व है और इसके कारण के विषय मे प्रश्न उठाना निरर्थक है, ठीक जिस प्रकार सान्त आत्माओ की उत्पत्ति का प्रश्न है । यदि हम आत्मा के साथ अविद्या के सम्बन्ध को समझ सकते है तो हम आवश्यक रूप से दोनो से ऊपर होना चाहिए ।[2] इसके अतिरिक्त, यदि अविद्या आत्मा का एक अनिवार्य गुण होता तो आत्मा इससे कभी छुटकारा न पा सकती, किन्तु आत्मा न तो अपने अन्दर किसी वस्तु का समावेश होने देती है और न ही किसी भी वस्तु का त्याग करती है । यह किसी भी सान्त प्राणी से सम्बद्ध नही हो सकती, चाहे वह ईश्वर हो या मनुष्य हो, क्योकि मनुष्य की अविद्या सम्भव बन सके इसके लिए पहले उसकी रचना होना आवश्यक है । इसलिए मनुष्य की रचना उसकी अपनी अथवा अन्य किसीकी अविद्या के कारण नही हो सकती । ब्रह्म का व्यक्तित्व भाव, सीमित आत्माओं की उत्पत्ति, अविद्या के कारण नही हो सकती जो सीमित जीवन का विशिष्ट लक्षण है । यह दैवीय क्रिया की घटना है ।

१. ब्रह्मसूत्र पर रामानुजभाष्य, २ . १, १५ : सांख्यप्रवचनसूत्र, १ : २१-२४ ; ५ : १३-१६, ५४ । पार्थसारथि मिश्र इस आक्षेप को इस प्रकार रखते है : 'क्या यह अविद्या ही मिथ्याज्ञान है अथवा कोई अन्य वस्तु है जो मिथ्याज्ञान को उत्पन्न करती है ? यदि मिथ्याज्ञान है तो यह अविद्या किसका मिथ्याज्ञान है ? यह ब्रह्म का नही हो सकता, क्योकि वह स्वभावत. विशुद्ध ज्ञानस्वरूप है । सूर्य के अन्दर अन्धकार का कोई स्थान नही । अविद्या आत्माओ से सम्बद्ध नही हो सकती क्योंकि वे ब्रह्म से भिन्न नही है । चूकि अविद्या का अस्तित्व नही हो सकता इसीलिए एक अन्य वस्तु का भी नहीं हो सकना जो उसका कारण बन सके । इसके अतिरिक्त यदि मिथ्याज्ञान को अथवा इसके कारण को ब्रह्म के साथ संयुक्त मानते है तो अद्वैतता विलुप्त हो जाती है । ब्रह्म की अविद्या कहा से आई ? अन्य कोई है नहीं, क्योकि ब्रह्म ही एकमात्र सत्ता है । यदि यह कहा जाए कि यह ब्रह्म के लिए स्वाभाविक है तो प्रश्न उठता है कि अज्ञान उसके लिए स्वाभाविक कैसे हो सकता है जिसका स्वभाव ही ज्ञान है ?"
किं भ्रान्तिज्ञानम् ? किं वा भ्रान्तिज्ञानकारणभूतम्, वस्त्वन्तरम् ? यदि भ्रान्तिः सा कस्य ? न ब्रह्मणः तस्य स्वच्छविद्यारूपत्वात् न हि भास्करे तिमिरस्यावकाशः सम्भवति ; न जीवानाम् ; तेषां ब्रह्मातिरेकेणाभावात् । भ्रान्त्यभावादेव च न तत् कारणभूतं वस्त्वन्तरमप्यनुपपन्नमेव । ब्रह्मातिरेकेण भ्रान्तिज्ञानम्, तत् कारणं चाभ्युपगच्छताम् अद्वैतहानिः किं कृता च ब्रह्मणोऽविद्या, न हि कारणान्तरम् अस्ति । स्वाभाविकीति चेत् कथं स्वच्छस्वभावस्य स्वभावः स्यात् ? (शास्त्रदीपिका, पृष्ठ ३१३-४ . और भी, पृष्ठ ११३) ।

कुमारिल अद्वैत के विरोध मे इस प्रकार तर्क करता है, "यदि ब्रह्म स्वत. सिद्ध है और विशुद्ध रूप है और उसके अतिरिक्त अन्य कुछ नही तो अविद्या के व्यापार को कौन उत्पन्न करता है जो कि स्वप्न के समान प्रतीत होती है ? यदि तुम कहो कि कोई अन्य इसका कारण है और कि यह ब्रह्म से भिन्न है तब अद्वैत विलुप्त हो जाता है ; यदि यह इसका स्वभाव होता तो इसका कभी नाश न होता ।"

स्वयं च शुद्धरूपत्वात् अभावाच्चान्यवस्तुनः,
स्वप्नादिवद् अविद्यायाः प्रवृत्तिः तस्य किंकृता ।
अन्येनोपप्लवेऽभीष्टे द्वैतवादः प्रसज्यते,
स्वाभाविकीम् अविद्यां तु नोच्छेत्तुं कश्चिदर्हति ॥
(श्लोकवार्तिक, सम्बन्धाक्षेपपरिहार, ८४-८५) ।

२. भगवद्गीता पर शांकरभाष्य, १३ : २ ।

किन्तु अविद्या तथा ब्रह्म का सह-अस्तित्व कैसे रह सकता है, यह एक ऐसी समस्या है जिसका कोई समाधान हमारे पास नही है शकर कहते है "हम स्वीकार करते है कि ब्रह्म अविद्या की उपज नही है अथवा स्वय भ्रात भी नही है, किन्तु हम यह भी नही मानते कि अन्य कोई भ्रात चैतन्य युक्त प्राणी ब्रह्म के अतिरिक्त है जो अज्ञान का उत्पन्न करने वाला हो सकता है।"[1] 'सक्षेपशारीरक' के अनुसार "भेदशून्य परम बुद्धि अविद्या का आश्रय तथा विषय है।'[2] ड्यूसन कहता है "यथार्थ मे केवल एक मात्र ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य कुछ है ही नही। यदि हम इस प्रकार की कल्पना करे कि हम इस जगत् मे उसके विकार का प्रत्यक्ष करते है तो यह, व्यक्तियो के अनेकत्व मे उसका भेद, अविद्या के ऊपर आश्रित हे। किन्तु यह होता कैसे है? हम क्योकर एक परिवर्तन तथा अनेकत्व को देखकर जबकि यथार्थ मे एकमात्र ब्रह्म ही सत् है, अपने को धोखा दे देते है? इस प्रश्न के ऊपर हमारे ग्रन्थकार कोई प्रकाश नही डालते?"[3] वे कोई भी ज्ञान इस विषय म इसलिए नही देते क्योकि उक्त ज्ञान की सम्भावना जो नही है। समालोचको के पास आलोचना तैयार है "इस दर्शन मे जिसके मत मे सब कुछ अव्याख्येय है अयुक्तियुक्तता का स्थान आक्षेप के रूप मे नही है।"[4] यह सत्य है कि भ्राति मे डाल देनेवाली अविद्या की शक्ति की उत्पत्ति का कोई भी समाधान सम्भव नही है जो मिथ्याज्ञान की जनक है और जो मूलभूत तथा स्वयभू ब्रह्म की नित्य स्थायी तथा निष्पक्ष पवित्रता के रहते हुए भी किसी न किसी प्रकार से लौकिक अस्तित्व मे प्रकट हो गई है।[5]

१. बृहदारण्यक उपनिषद् पर शाकरभाष्य, १.४, १०। लक्ष्मीधर अपने 'अद्वैत मकरन्द' नामक ग्रन्थ में कहता है "अविद्या किस प्रकार स्वत. प्रकाश आत्मा को स्पर्श कर सकती है, जिसके एकमात्र प्रकाश से यह उक्ति बनी है 'क्या म प्रकाश नही देता हूँ ?' तो भी चैतन्य के आकाश में कुछ इस प्रकार का कुहरा प्रतीत होता है जो चिन्तन के अभाव मे सजीव है और जब तक चिन्तन का सूर्य उदय नहीं होता बराबर बना रहता है" (१६-१७)।

२. १.३१९, आश्रयत्वविषयत्वभागिनी निर्विभागचितिरेव केवला।

३. 'डयूसन्स सिस्टम आफ दि वेदान्त', अंग्रेजी अनुवाद, पृष्ठ ३०२।

४. पार्थसारथि मिश्र: "अत्रानिर्वचनीयवादेनानुपपत्तिर्दूषणम्।"

५. सक्षेपशारीरक, विवरण, वेदान्त मुक्तावली, अद्वैत सिद्धि और अद्वैतदीपिका के ग्रन्थकारों का मत है कि अविद्या का आश्रय और विषय ब्रह्म है, ठीक जिस प्रकार घर के अन्दर का अन्धकार घर को आवृत कर लेता है। वाचस्पति के विचार मे अविद्या का आधार जीव है तथा विषय ब्रह्म है। उक्त विद्वान् के मत में ईश्वर भी जीवज्ञान की उपज है और जितने जीव हैं उतने ही ईश्वर भी अवश्य होने चाहिए। इसके अतिरिक्त अन्योन्याश्रय का सिद्धान्त भी है। जीव अविद्या का आश्रित है और अविद्या जीव के आश्रित है। इस प्रकार यह कहा जाता है कि अविद्या का आधार ब्रह्म में है और ब्रह्म अविद्या के प्रतिकूल नहीं है। 'विद्वन्मनोरञ्जनी' का ग्रन्थकार इस प्रश्न पर विशेष रूप से अद्वैत सिद्धान्त के दृष्टिकोण से इस प्रकार विचार-विमर्श करता है कि प्रगाढ स्वप्नरहित निद्रा (सुषुप्ति) की अवस्था में जीवात्मा ब्रह्म के अन्दर लीन हो जाता है, और अपना मत इस प्रकार प्रकट करता है कि यदि अविद्या के अस्तित्व को निश्चित रूप मे माना जाए तो यह केवल ब्रह्म में ही रह सकती है। देखें, 'पण्डित', सितम्बर १८७२। शुद्ध चैतन्य अविद्या का विरोधी नहीं है किन्तु केवल वृत्तिचैतन्य है। जिस प्रकार विद्या स्वयं इसका प्रतिपादन करता है, अन्तःकरण के परिवर्तन द्वारा, जो आत्मा का रूप धारण कर लेता है, अविद्या का आत्मा के अन्दर प्रत्याख्यान हो जाता है।

३२

क्या जगत् एक भ्रांति है

अविद्या का सिद्धान्त अपने विषयिनिष्ठ भाव के साथ व्यावहारिक जगत् के स्वरूप के एक भ्रांतिपूर्ण विचार का सुझाव देता है अर्थात् कि यह एक भ्रान्ति है जिसकी उत्पत्ति मन के अन्दर हुई है। शंकर बार-बार प्रतीतिरूप जगत् के अनेकत्व का कारण, यहां तक कि ईश्वर का भी कारण, अविद्या को ही बताते है।[1] किन्तु ब्रह्म के स्वरूप के ऊपर अविद्या का कुछ प्रभाव नहीं होता, क्योंकि यह तो केवल हमारे अपूर्ण ज्ञान के कारण ऐसी प्रतीत होती है। केवल इस लिए कि चक्षु इन्द्रिय के दोष वाले को दो चन्द्रमा दिखाई देते है, चन्द्रमा तो वस्तुतः दो नही हो जाते। "सम्पूर्ण लौकिक यथार्थसत्ता अपने नामो व रूपो सहित, जिसके लिए न तो हम सत् अथवा न असत् की परिभाषा का ही प्रयोग कर सकते है, अविद्या के ऊपर आश्रित है। किन्तु उच्चतम यथार्थसत्ता के अर्थो मे सत् बिना किसी परिवर्तन अथवा परिणमन के अपनी सत्ता को स्थिर रखता है। एक ऐसा परिवर्तन जो केवल शब्दमात्र के ऊपर ही निर्भर करता है, यथार्थसत्ता की अविभाज्यता (अखण्डता) म किसी प्रकार का परिवर्तन नही कर सकता।"[2] सृष्टिरचना तथा ईश्वर की सीमितता-सम्बन्धी समस्याओ का सामना होने पर शंकर कहते हे "जब 'तत्त्वमसि' के समान वाक्यो के द्वारा अभिन्नता की शिक्षा से अभिन्नता विषयक चेतना जाग्रत् हो जाती है तब आत्मा के जन्म-जन्मान्तरो मे भ्रमण तथा ईश्वर का सृष्टिरचनात्मक व्यापार सब बन्द हो जाते हे, क्योंकि विभाजन के प्रति जगत् की समस्त प्रवृत्ति मिथ्याज्ञान से ही उत्पन्न होती है और निर्दोष सत्यज्ञान से दूर हो जाती है। तब फिर सृष्टिरचना कहा से हुई है? और फिर केवल कल्याण ही को उत्पन्न न करने का उत्तरदायित्व कहा से आया? क्योंकि संसार, जिसका विशिष्ट लक्षण पुण्य तथा पापकर्मो का करना है, यह एक मिथ्या विचार हे और यह अविद्या से उत्पन्न निर्णय मे भेदभाव के लक्ष्य न करने से उत्पन्न होता हे और नामो और रूपो मे निर्मित क्रियाशीलता के साधनो के संघात मे बना है। और यह मिथ्याज्ञान यहा तक कि जन्म तथा मृत्यु के द्वारा विभाग और पार्थक्य के प्रति आसक्ति के समान भी परमार्थ रूप मे कोई अस्तित्व नही रखता।"[3] इसके अतिरिक्त, "उस अनेकत्व के अंश से जो अविद्या से उत्पन्न होता और नामरूप जिसके विशिष्ट लक्षण हे, जो विकसित भी है और अविकसित भी है और जिसको हम न तो विद्यमान ही कह सकते है और न अभावात्मक ही कह सकते है, इस सब परिवर्तनशील जगत् का आधार ब्रह्म ही है, किन्तु अपने सत्य और यथार्थस्वरूप मे यह इस व्यावहारिक जगत् से परे अखण्ड रूप मे रहता है।"[4] उक्त मत के ऊपर विशेष

१. एकत्व…पारमार्थिकम्, मिथ्याज्ञानविजृम्भितं च नानात्वम् (शांकरभाष्य, २ : १, १४)।

२. तुलना करें, शांकरभाष्य, २ : १, ३१; २ : १, १४; २ : ३, ४६; २ : १, २७।

३. और भी तुलना करें, अविद्याकृतं कार्यप्रपञ्चम्—अर्थात् कार्यरूप विश्व अविद्या की उपज है (शांकरभाष्य, १ : ३, १)।

४. शांकरभाष्य, २ : १, २७।

रूप से बल देने पर हमे यह सुझाव मिलता है कि व्यक्ति की अविद्या के अतिरिक्त अनेकत्व का नितान्त अभाव है। सब प्रकार का परिवर्तन और गति, समस्त उत्पत्ति तथा विकास, समस्त विज्ञान तथा कल्पना, केवल स्वप्नरूप और छायामात्र ही ठहरते है इसके अतिरिक्त और कुछ नही। ब्रह्म को जगत् का कारण बताने का जो समाधान है उससे सन्देह की पुष्टि ही होती है। यह प्रदर्शित करने की आतुरता के कारण कि जगत् मे जितने भी परिवर्तन होते है ब्रह्म उन सबसे अछूता रहता है[1], शंकर कहते है कि ब्रह्म मे जगत् का अध्यास[2] होता है, जैसे कि रस्सी मे साप का। "अधेरे मे एक मनुष्य एक रस्सी के टुकडे को भूल से साप मानकर भय के मारे कापता हुआ उससे दूर भागता है। इसपर दूसरा मनुष्य बतला सकता है, 'डरो मत, यह केवल एक रस्सी है, साप नही है,' और तब वह काल्पनिक साप से उत्पन्न हुए भय को त्याग देता है और भागना बन्द कर देता है। किन्तु इस समय मे बराबर उस मनुष्य को भ्राति से उत्पन्न रस्सी को साप समझ लेने के भाव से तथा फिर उस भाव के दूर हो जाने से रस्सी का अपने मे कुछ बनना-बिगड़ना नही है।"[3] तारे वस्तुत टिमटिमाते नही यद्यपि हमे ऐसे प्रतीत होते हैं। जिस प्रकाश को वे तारे छोडते है वह बिलकुल स्थिर है, यद्यपि पृथ्वी के वायुमण्डल मे जो विक्षोभ होते है और जिनके मध्य मे होकर वह प्रकाश आता है, वे हमारी दृष्टि को इस प्रकार से प्रभावित करते है जिससे तारे निरन्तर टिमटिमाते हुए से प्रतीत होते है। ठीक इसी प्रकार ब्रह्म के अन्दर अस्थिरता का सादृश्य भी मन का एक भ्रम है और यह हमारी विकृत दृष्टि के कारण होता है।[4] शंकर के दिए हुए कुछेक दृष्टान्तो की जब हम शाब्दिक व्याख्या करते है तो हमे यह प्रतीत होता है कि सब प्रकार का भेद केवल मानवीय कल्पना के द्वारा उत्पन्न मृगतृष्णिका मात्र है। सब प्रकार के भेद मानवीय विचार को समझाने के लिए है, जो एक त्रिपार्श्व काच की भाति विशुद्ध एकत्व को भिन्नता के रूप मे विभक्त कर देता है, जब कि, यथार्थ मे विविधता तथा उसका ज्ञान प्राप्त करनेवाला मन दोनो ही अयथार्थ है। किन्तु उन सब रूपकालकारपरक दृष्टान्तो पर सीमा से अधिक बल देना भूल है और शंकर आग्रहपूर्वक कहते है कि उन दृष्टान्तो का प्रयोग केवल कुछ समानताओ को प्रस्तुत करने के लिए ही किया है न कि सर्वथा तादात्म्यभाव दर्शाने के लिए।[5]

अनेक अर्वाचीन वेदान्तियो ने जगत् की विषयिनिष्ठ व्याख्या को अगीकार किया है। वाचस्पति का मत है कि अविद्या का सम्बन्ध प्रमाता, अर्थात् विषयी, के साथ है और यह अविद्या आख के ऊपर आई हुई झिल्ली के समान विषय

१. शांकरभाष्य, २ : १, २८ ; २ : १, ६।   २. अध्यारोपितम।
३. शांकरभाष्य, १ : ४, ६। और भी देखें, कठ उपनिषद पर शांकरभाष्य, ३ : १४ ; ४ : ११।
४. शांकरभाष्य, २ : ३, ४६।
५. शांकरभाष्य, ३ : २१, १७–१८।

के स्वरूप को आवृत कर देती है।[1] मधुसूदन सरस्वती के मत में अज्ञान इस भ्रांतिमय जगत् का कारण है और इसी अज्ञान के कारण हम ब्रह्म को इस जगत् का उपादान कारण समझते है।[2] "इस प्रतीयमान विश्व का मूल चित्त के अन्दर है और चित्त के विलुप्त हो जाने पर इसका भी अस्तित्व नष्ट हो जाता है।"[3] चित्सुखी, अद्वैतसिद्धान्तमुक्तावली, और योगवाशिष्ठ प्रबल आत्मवाद का आश्रय लेते हुए बलपूर्वक कहते है कि हमारा चैतन्य ही जगत् की उत्पत्ति करता है, और इसलिए विषयी-विषय-सम्बन्धी चैतन्य के विलोप होने के साथ ही यह असत् के रूप मे परिवर्तित हो जाता है।[4]

यदि पाश्चात्य समालोचकों ने जगत् के अद्वैत सिद्धान्त के विषय मे इसी प्रकार के मत को स्वीकार किया तो इसमें कुछ आश्चर्य नही है। एडवर्ड केयर्ड के मन मे जगत् विषयक ऐसी ही व्याख्या थी जब उसने लिखा . "ब्राह्मण धर्म केवल बहुदेवतावाद तक ही बढा जो कि जगदभिन्नत्ववादी था और उसमे एकत्व की ओर बढा जो कि वस्तुओ के अनेक भेदो की व्यवस्था का सिद्धान्त नही था, किन्तु एकमात्र एक प्रकार की खाई थी जिसके अन्दर समस्त भेद नष्ट हो जाता था।"[5] चूकि यह मत, जो जीवन को एक दुखान्त परिहास बनाता है, आनुभविक जगत् के विषय मे किए गए शंकर के अनेक कथनो को निरर्थक कर देता है और प्रत्येक निर्दोष व्याख्या के विधान के साथ प्रतिद्वन्द्विता करता है, इसलिए हम यहा कुछेक विचारो को एकत्र कर सकते है जो

१. जीवाश्रयं ब्रह्मविषयम्। वह समझता है कि ब्रह्म के ऊपर जो भिन्न-भिन्न रूप अध्यस्त किए जाते है वे अन्तःकरण के परिवर्तनो के कारण है और इस प्रकार परिवर्तनों तथा उनके विषयों के अस्तित्व को स्वीकार करना होता है।

२. अस्य द्वैतेन्द्रजालस्य यद् उपादानकारणम्।
अज्ञानं तदुपाश्रित्य ब्रह्म कारणमुच्यते॥
(अद्वैत सिद्धि, पृष्ठ २३८)।

३. चित्तमूलो विकल्पोऽयं चित्ताभावे न कश्चन (विवेकचूडामणि, पृष्ठ ४०७)।

४. और भी देखें, सर्वसिद्धान्तसारसंग्रह, १२ : १७–१६। दृष्टिसृष्टिवाद, जिसका मत है कि जगत् का अस्तित्व तभी तक है जब तक कि यह दृष्टिगोचर होता है, इसे ही योगवाशिष्ठ ने भी माना है :

मनोदृश्यमिदं सर्वं यत्किञ्चित् सचराचरम्।
मनसो ह्युन्मनीभावाद् द्वैतं नैवोपलभ्यते॥

समस्त चराचर जगत् मन का विषय है; इसके दमन से सारा द्वैत दिखाई देना बन्द हो जाता है। देखें, योगवाशिष्ठसार, जीवन्मुक्ति-सम्बन्धी अध्याय। संक्षेपशारीरक मे भी तुलना करें : "तव चित्तमात्मतमसा जनितं परिकल्पयत्यखिलम् एव जगत्।" नृसिंहतापनी उपनिषद्, "चिद्धीदं सर्वम्" (२ : १, ७)।

तस्माद्विज्ञानम् एवास्ति न प्रपञ्चो न संसृतिः (लिंगपुराण, सांख्यप्रवचनभाष्य, १ : ४२, में उद्धृत)। ये ही वे हैं जो विज्ञानभिक्षु के इस कथन के औचित्य का समर्थन करते हैं : "एतेनाधुनिकानां वेदान्तिब्रुवानाम अपि मतं विज्ञानवादतुल्ययोगक्षेमतया निरस्तम्" (सांख्यप्रवचनभाष्य, १ : ४३)।

५. 'एवोल्यूशन आफ रिलीजन', खण्ड १, पृष्ठ २६३। अन्य पाश्चात्य लेखकों की समालोचना के लिए देखें, कीर्तिकार : 'स्टडीज इन वेदान्त', अध्याय २।

जगत् के भ्रातिमय स्वरूप के विरुद्ध व्यावहारिक रूप का समर्थन करते है।

अविद्या अपने-आपमें जगत् का कारण नही हो सकती, क्योकि यह साख्य के 'प्रधान' के समान ही जड है। शकर से जिन्होने कि साम्य के उक्त मत की समालोचना की है, यह आशा नही की जा सकती कि वे अविद्या से जगत् की रचना-सम्बन्धी सिद्धान्त का समर्थन करेगे। हमे अपने मन मे इस विषय पर भी ध्यान रखना होगा कि शंकर ने बौद्ध मत की कारण-कार्यसम्बन्धी शृखला की भी समालोचना की है, जो अविद्या को लेकर ही चलती है। "अविद्या चैतन्यरूप विषयी की मानसिक कल्पित वस्तु है। बारह कडी वाली कारणकार्य की शृखला मे यह सबसे प्रथम कडी है जिसे अन्त मे जाकर मन और देह का स्वत सिद्ध पुञ्जरूप मान ही लेना होता है, नि सन्देह बिना इस विषय का प्रतिपादन किए कि ये एक-दूसरे के साथ किस प्रकार सयुक्त होते है।"[1] शकर इस सिद्धान्त को अस्वीकार कर देते है कि किसीका भी अस्तित्व नही है न प्रकृति का और न मन का, अर्थात् 'शून्यवाद'।[2] इसी प्रकार वे क्षणिकवाद को भी अस्वीकार करते है।[3] बौद्धधर्म के 'विज्ञानवाद' का खण्डन विचारशील विषयी के लिए जगत की बाह्यता के प्रश्न पर निश्चयात्मक है। जीवन हमारी मानसिक वृत्तियो के ऊपर निर्भर नही करता। जब जगत् को ज्ञानस्वरूप कहा जाता है तो यह अध्यात्मज्ञान सम्बन्धी सत्य का प्रतिपादन है। इसी प्रकार से शकर जाग्रतावस्था के अनुभव को स्वप्नावस्था के अनुभव के स्तर पर गिरा देने के समस्त प्रयत्नो को भी अस्वीकार कर देते है।[4] वे यह नही मानते कि यह जगत् केवल अविद्या की उपज है। शकर के दर्शन मे अविद्या केवलमात्र अधिकरणनिष्ठ शक्ति न रहकर एक विषयरूपी यथार्थता रखती है।[5] यह समस्त भौतिक ससार ('पृथिव्यादि प्रपञ्च') का कारण है जो सबके लिए एक समान 'सर्वसाधारण' है। अविद्या का स्वरूप विध्यात्मक है, यह एक विषयरूप शक्ति है जो अनादि है[6] और स्थूल तथा सूक्ष्म दोनो रूप मे रहती है।[7] क्रियात्मक रूप मे अविद्या,

१. शांकरभाष्य, २ : २, १८। २. शांकरभाष्य, २ : २, ३१।

३. शांकरभाष्य, २ : २, १८–२१ और २६।

४. आधुनिक वेदान्ती इस प्रकार लिखते है मानो दोनों के बीच कोई भेद न हो। स्वयप्रकाश अपनी लक्ष्मीधर के 'अद्वैत मकरन्द' पर की गई अपनी टीका में कहता है : "जिस प्रकार स्वप्नजगत् मेरे अन्दर भ्रांति के द्वारा आगे बढ़ता है, इसी प्रकार जाग्रत जगत मेरे अन्दर भ्रांति का उपन्न किया हुआ है।" देखें, 'पण्डित', अक्तूबर १८७३, पृष्ठ १२८।

५. एक प्रसिद्ध श्लोक में, जिसे 'सिद्धान्तरत्नमाला' में उद्धृत किया गया है, कहा गया है— "आत्मा, ईश्वर, विशुद्ध चैतन्य, प्रथम दो का परस्पर भेद, अविद्या तथा इसका विशुद्ध चैतन्य के साथ सम्बन्ध—ये हमारे छः पदार्थ अनादि कहे गए है।"

जीव ईशो विशुद्धा चित् विभागश्च तयोर्द्वयोः।
अविद्या तच्चितोर्योगः षडस्माकमनादयः॥

६. अनादि भावरूप यद् विज्ञानेन विलीयते।
तदज्ञानमिति प्राज्ञा लक्षणं सम्प्रचक्षते॥ (चित्सुखी, १ : १३)।

७. आत्मन्यविद्या सानादिः स्थूलसूक्ष्मात्मना स्थिता (सर्वसिद्धान्तसारसंग्रह, १२ : १८)।

माया और प्रकृति सब एक है।[1]

शंकर तर्क करते है कि ब्रह्म की सर्वोपरि यथार्थता जगत् का आधार है। यदि ब्रह्म जगत् से सर्वथा भिन्न होता, यदि आत्मा जाग्रंत् अवस्था, स्वप्नावस्था तथा निद्रितावस्थाओं से भिन्न होती तब जगत् की यथार्थता अथवा तीनो अवस्थाओं का खण्डन हमें सत्य की प्राप्ति की ओर न ले जा सकता। उस अवस्था मे हमे शून्यवाद को ही अपनाना होगा और समस्त शिक्षा को निष्प्रयोजन मानना होगा।[2] भ्रांतिरूप साप की उत्पत्ति शून्य से नही होती और जब भ्राति का सुधार हो जाता है तो यह भी नही होता कि वह शून्य हो जाता हो। भ्रानि का मूल तार्किक है, और मनोवैज्ञानिक है किन्तु आध्यात्मिक नही है। अनेकत्व रूप विश्व निर्णय की भूल के कारण है। भूल-सुधार का अर्थ है मत-परिवर्तन। रस्सी साप के समान प्रतीत होती है और जब भ्राति का अन्त हो जाता है तो भ्रातिरूप साप रस्सी के असली रूप मे लौट आता है। इसी प्रकार आनुभविक जगत् का ब्रह्म के अन्तर्ज्ञान मे रूप परिवर्तन हो जाता है। शकर ने जगत् का निराकरण नही किया किन्तु उसकी नये सिरे से व्याख्या की है। जीवन्मुक्ति का विचार, क्रममुक्ति का विचार, योग्यताओ मे परस्पर भेद, सत्य तथा भ्राति मे भेद, पुण्य तथा पाप म भद, आनुभविक जगत् के द्वारा मोक्ष की प्राप्ति—ये सब इस विषय का सकेत करते है कि इन प्रतीतियो के अन्दर यथार्थसत्ता है। ब्रह्म जगत् के अन्दर है, यद्यपि वह जगत् का रूप नही हे। यदि यह आनुभविक जगत् मायारूप होता और ब्रह्म से असम्बद्ध होता तो प्रेम, ज्ञान, और त्यागभाव आदि हमे उन्नत जीवन के लिए तैयार न कर सकते। चूकि शकर के मत मे हम पुण्य आचरण के द्वारा निरपेक्ष परब्रह्म का साक्षात्कार कर सकते है इसका तात्पर्य स्पष्ट है कि वे इसके महत्त्व को भी स्वीकार करते है। जगत् अयथार्थ हे, किन्तु मायारूप नही है। जीव केवलमात्र अभावात्मक वस्तु नही हे क्योंकि केवल मिथ्यात्व के निराकरण से ही मोक्ष प्राप्त होता है और वह मिथ्यात्व आत्मा के स्वरूप के प्रतिकूल है। जैसा कि विद्यारण्य कहता है: "यदि समस्त जीवात्मा शून्य रूप होता तो मोक्ष से मनुष्यों का उपकार न होता।'

यदि ब्रह्म का अस्तित्व न होता तो न तो व्यावहारिक प्राणी ही होता और न भ्राति ही होती। जैसा शकर कहते है: "एक वन्ध्या स्त्री किसी बच्चे को जन्म नही दे सकती, न तो यथार्थ मे और न भ्राति मे ही"[3] यदि जगत् को निराधार माना जाए, अर्थात् जिसका मूल किसी यथार्थसत्ता के अन्दर नही है, अथवा इसकी उत्पत्ति असत् से है तब हमे यथार्थतामात्र का ही खण्डन करना पड़ेगा, यहा तक कि ब्रह्म की यथार्थता का भी।[4] जगत् का आधार (आस्पद) यथार्थ है क्योकि "मृगतृष्णिका भी तो बिना

१. तुलना करें, लोकाचार्य: तत्त्वत्रय, पृष्ठ ४८; चौखम्भा ग्रन्थमाला आवृत्ति।

२. यदि हि त्र्यवस्थात्मविलक्षणं तुरीयम् अन्यत् तत्प्रतिपत्तिद्वाराभावात् शास्त्रोपदेशानर्थक्यं शून्यतापत्तिर्वा (माण्डूक्योपनिषद् पर शांकरभाष्य, २ : ७)।

३. गौडपाद की कारिका पर शांकरभाष्य, १ : ६, और भी देखे, ३ : २८।

४. यदि ह्यसताम् एव जन्म स्याद् ब्रह्मणोऽसत्त्वप्रसङ्गः।

आधार के नही होती"[1] उस प्रकार का स्वप्न जिसे ईश्वर बनाता और है जिसका तत्त्व ईश्वर है, स्वप्न हो ही नही सकता।[2] यदि हम इस जगत् के द्वारा यथार्थ के अन्दर प्रवेश पा सकते है तो इसका कारण यह है कि इस आनुभविक जगत् मे यथार्थसत्ता के चिह्न मिलते है। यदि दोनो परस्पर विरोधी हे तो उन्हे आपस मे यथार्थ तथा आभास के सम्बन्ध रखनेवाले भी नही माना जा सकता। यह जगत् निरपेक्ष ब्रह्म नही है, यद्यपि उसके ऊपर आश्रित है। जिसका आधार तो यथार्थ हो किन्तु जो स्वय यथार्थ न हो उसे यथार्थ का आभास अथवा व्यावहारिक रूप ही तो कहा जाएगा। यह जगत् ब्रह्म का अनिवार्य सत्य तो नही है किन्तु प्रतीतिरूप सत्य है और यही वह एक प्रकार है कि जिसमे हम इसे सीमित अनुभव के क्षेत्र मे यथार्थ को प्रस्तुत करते हुए मानने को विवश है। किन्तु इस सबसे इस जगत् की क्रियात्मक यथार्थता के प्रश्न का जरा भी प्रतिपादन नही होता।[3]

मोक्ष के सम्बन्ध मे जो शकर का मत है वह जगत् विषयक उक्त मत को पुष्ट करता है। वे बलपूर्वक कहते हे कि मोक्ष का अर्थ जगत् का निरोभाव नही हे, क्योकि यदि ऐसा होता तो जब मोक्ष की सबसे प्रथम प्राप्ति होती तभी जगत् को विलुप्त हो जाना चाहिए था। यदि मोक्ष मे अनेकत्व का विलोप सम्मिलित हो तो इसका ज्ञान प्राप्त करने का उचित मार्ग विद्या मे अविद्या को दूर करना नही किन्तु जगत् का ही विनाश है।[4] शकर जीवन्मुक्ति (अर्थात् मोक्ष की उस अवस्था मे जिसमे मुक्तात्मा जीवित रहता है) तथा विदेहमुक्ति (अर्थात् ऐसी मुक्ति मे जिसमे कि मुक्त पुरुष देह त्याग कर देता है) मे भेद करते ह। देह की उपस्थिति से मोक्ष की अवस्था मे कोई अन्तर नही आता, जो तात्त्विक रूप से ऐसी अवस्था है जिसमे शारीरिक बन्धन मे मुक्ति मिल जाती है। अनेकत्व की विद्यमानता अथवा विनाश से मोक्ष की अवस्था का कोई सम्बन्ध नही

१. नहि मृगतृष्णिकादयोऽपि निरास्पदा भवन्ति (भगवद्गीता पर शांकरभाष्य, १३ : १४)। और भी देखें, छान्दोग्य उपनिषद् पर शांकरभाष्य, ६ : २, ३ ; माण्डूक्योपनिषद् पर, १ : ७।

२. परवर्ती वेदान्त में स्वप्न के साथ जगत की उपमा इतने अधिक विस्तृत रूप में दी गई है कि इसका विच्छेद होने लगता है। 'अद्वैतमकरन्द' कहता है : "इस अतिदीर्घ स्वप्न में, जो जगत के रूप में है और जिसका विस्तार आत्मविषयक अज्ञान की महती निद्रा तक पहुंचा हुआ है, स्वर्ग तथा मोक्ष आदि की झांकियां भी चमक उठती ह।"

आत्माज्ञानमहानिद्राजृम्भितेऽस्मिन् जगन्मये।
दीर्घस्वप्ने स्फुरन्त्येते स्वर्गमोक्षादिविभ्रमाः॥ (१८)

३. जो कुछ बर्कले एक अन्य प्रसग में कहता है वह शांकर के विषय में भी ठीक लागू होता है : "इसलिए सूर्य, चन्द्र तथा तारों का क्या होता है ? और फिर हम मकानों, नदियों, पर्वतों, वृक्षों, पत्थरों अपितु यहां तक कि अपने शरीरों के विषय में भी क्या समझें ? क्या ये सब केवलमात्र किसी मनमौजी की कपोल कल्पनाएं तथा भ्रांतियां हे ? ...मेरा उत्तर यह है कि पूर्वकथित तथ्यों के सिद्धान्त के अनुसार हम प्रकृति के किसी भी एक पदार्थ से वञ्चित नही होते। हम जो कुछ देखते, स्पर्श करते, सुनते अथवा किसी भी प्रकार सोचते और समझते ह वह बराबर सुरक्षित रहता है और सदा के लिए यथार्थ है। इस जगत् में एक प्राकृतिक अस्तित्व है और यथार्थसत्ताओं तथा कपोल-कल्पनाओं के मध्य का भेद अपनी पूरी शक्ति को स्थिर रखता है।" ('प्रिंसिपल्स आफ ह्यूमन नॉलेज', पृष्ठ ३४)।

४. शांकरभाष्य, ३ : २, २१।

है, किन्तु यदि द्वैतपरक विश्व हमें पथभ्रष्ट करना छोड़ दे तो मोक्ष की अवस्था प्राप्त हो सकती है। जीवन्मुक्त पुरुष के लिए यह प्रकट है कि द्वैतभावयुक्त जगत्, जिसमें उसका अपना शरीर भी समाविष्ट है, नष्ट नही होता; किन्तु इस विषय मे उसका दृष्टिकोण सम्यक् रूप में आ जाता है। मोक्ष की अवस्था मे द्वैतरूप जगत् का तिरोभाव नही होता, वरन् वह अन्य प्रकार के प्रकाश से प्रकाशित होता है। कामना से उत्पन्न अज्ञानता का भाव उक्त अवस्था मे नही रह जाता, क्योकि यह अज्ञानता ही है जिसके कारण उसके अभागे शिकार संसार की शृंखला मे ऐसी वस्तु की खोज मे व्यर्थ ही मारे-मारे फिरते है जो संसार मे मिल नही सकती। आत्मा तथा ब्रह्म की एकता के सत्य का बोध हो जाने पर आत्माओं तथा उनके विषयो (प्रमेय पदार्थो) के स्वातन्त्र्य सम्बन्धी मिथ्या विचार तथा उनकी क्रियाओं का उच्छेद हो जाता है।[1] अविद्या को कल्पनामात्र न कहकर यथार्थता एवं आभास के मध्य भेद (विवेक) करने की शक्ति का अभाव समझना चाहिए। शंकर को इस प्रकट तथ्य के विरुद्ध तो कुछ कहना नही है कि हमे अपने विषय मे ऐसा प्रतीत होता है कि हम ही जानने, अनुभव करने तथा इच्छा करनेवाले व्यक्ति है, किन्तु इन तथ्यो के आधार पर निर्मित प्रकल्पना का वे निराकरण करते है कि [illegible] शक्ति वाली आत्माए यथार्थ विषयी है और उन्हे जो होना चाहिए वही है। यथार्थ आभास को भी मान लेना है। आभासो का सम्बन्ध यथार्थसत्ता के साथ है। अद्वैतवाद जिस अनन्यत्व के सिद्धान्त का प्रतिपादन करता है उसके द्वारा प्रस्तुत सत्य यही है। रामानुज इसकी समीक्षा इस प्रकार से करता है "यह निश्चित है कि जो लोग यह मानते है कि कार्य कारण से भिन्न नही होता, इस आधार पर कि कार्य अयथार्थ है, वे जिस अभेद की स्थापना के लिए प्रयत्न करते है, उसे सिद्ध नही कर सकते, क्योंकि सत्यरूप सत्ता तथा मिथ्यात्व के अन्दर कभी तादात्म्य नही हो सकता। क्योकि यदि हो सके, जैसा कि वे मानते है, तो या तो ब्रह्म अयथार्थ होगा अथवा यह जगत् ही यथार्थ होगा।" अद्वैतवादी यह नही मानता कि समस्त परिवर्तनो से रहित ब्रह्म अपने यथार्थरूप मे तथा परिवर्तनशील जगत् एक है। और न ही उसका सुझाव यह है कि वह ब्रह्म जो परिवर्तनशील जगत को धारण करता है स्वय मे भी वैसा ही अयथार्थ है जैसा कि जगत् अयथार्थ है। उसका मत है कि व्यावहारिक प्रतीतिरूप जगत् अयथार्थ है, अर्थात् ब्रह्म से भिन्न उसका यथार्थ अस्तित्व नही है। शंकर की व्याख्या में अनन्यत्व का तात्पर्य अभेद है अर्थात् ऐसी एक वस्तु जो अपने कारण से भिन्न है।[3] वाचस्पति अपनी भामती टीका मे इसको इस प्रकार और अधिक स्पष्ट कर देता है कि अभेद तादात्म्य का पक्षपोषण नही करता किन्तु केवल भेदभाव का निराकरण करता है।[4] कारणकार्यभाव के प्रश्न पर विवाद करते हुए तथा इसके आध्यात्मिक सत्य,

१. ब्रह्मात्मदर्शिनां प्रति समस्तस्य क्रियाकारकफललक्षणस्य व्यवहारस्याभावम् (शांकरभाष्य, २ : १, १४)।

२. ब्रह्मसूत्र पर रामानुजभाष्य, २ : १, १५ ; १, १६।

३. तद्व्यतिरेकेणाभावः (शांकरभाष्य, २ : १, १४)।

४. न खल्वनन्यत्वमित्यभेदं ब्रूमः किन्तु भेदं व्यासेधाम (भामती, २ : १, १४)। उसी भाव में

अर्थात् तादात्म्य, पर भी विचार करते हुए शंकर कहते है कि कार्य कारण के समान है किन्तु कारण कार्य के समान नहीं है।[1] जहा एक ओर 'एकत्व' में सब प्रकार के भेद तथा विलक्षणताए आत्मसात् हो जाती है, अद्वैतवाद मे सापेक्ष तथा निरपेक्ष के मध्य का अन्तर एक सर्वग्राही निश्चयात्मक घोषणा के द्वारा नष्ट हो जाता है। उपनिषद् के इस वाक्य की व्याख्या कि मिट्टी के रूपान्तरो के पीछे मिट्टी यथार्थ वस्तु है, शकर के अनुसार इस सत्य की पुष्टि करता है कि यह जगत् तात्त्विकरूप मे ब्रह्म है और ब्रह्म के ऊपर आश्रित है। जिस किसी स्थान पर वे कार्यो की यथार्थता का निराकरण करते है वहा वे अपने निराकरण मे इस प्रकार की उपाधि का प्रयोग करते है, जैसे 'ब्रह्म से भिन्न' अथवा 'कारण से भिन्न',[2] वे कही भी यह नही कहते कि हमारा जीवन यौगिक अर्थों मे एक स्वप्न है और यह कि हमारा ज्ञान एक मिथ्याभास है।

चूकि शकर एक मूर्तरूप परम वस्तु के विचार को अमान्य ठहराते है इसलिए यह समझा जाता है कि वे जगत् को भी निष्प्रयोजन कहकर उसका निराकरण करते है। शंकर द्वारा प्रतिपादित ब्रह्म, जिसके अतिरिक्त अन्य कोई सत्ता नही और न उसके अनाश्रित कुछ है, एक अमूर्तरूप एकत्व प्रतीत होता है, यह एक इस प्रकार की शेर की गुफा है जिसके अन्दर जो भी प्रविष्ट होता है वह खो जाता है। शकर का मत है कि हम ब्रह्म तथा जगत् के मध्यवर्ती सम्बन्ध की तार्किक विधि से व्याख्या नही कर सकते। किन्तु उनका आग्रह उतना ही प्रबल है जितना कि एक मूर्त्त व्यापक की कल्पना के किसी समर्थक का हो सकता है, कि परम यथार्थसत्ता से पृथक् अन्य कुछ भी यथार्थ नही है। यद्यपि जगत् और ब्रह्म एक सम्पूर्ण इकाई मे एक-दूसरे के पूरक अवयव नही माने गए है तो वे परमार्थरूप मे परस्पर एक-दूसरे के प्रतिकूल भी नही है। और फिर भी बड़े-बड़े विद्वान् तुरन्त इस परिणाम पर पहुच जाते है। शकर का यह मत कि यथार्थता तथा आभास का सम्बन्ध हम परिमित शक्तिवालो के लिए एक समस्या रहेगा, विचार की महत्तर पूर्णता का परिणाम है। हम मानवीय ज्ञान को भ्रान्तिरूप कहकर दूषित नही ठहरा सकते, यदि यह उस आवरण को जो समस्त परमार्थरूप क्रियाओं को ढके हुए है हटाने मे समर्थ नही होता।[3]

प्रश्न यह है कि क्या वे आभास जिनमे परे हम सत्यरूप यथार्थ के दर्शन करते

टीकाकार कहता है : "यह जगत् ब्रह्म के साथ तद्रूप नहीं है, केवलमात्र यह अपने अधिष्ठानरूप कारण से पृथक् अथवा स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं रखता।" "कारणात् पृथक् सत्ताशून्यत्वं साध्यते न त्वैक्याभिप्रायेण।"

१. शांकरभाष्य, २ : १, ७।

२. ब्रह्मव्यतिरेकेण अथवा कारणव्यतिरेकेण (शांकरभाष्य, २ : २, ३ ; २ : १, १४, और गौडपाद की कारिका, १ : ६)।

३. ड्यूसन् की व्याख्या प्रसिद्ध है। मैक्समूलर कहता है : "ऐसे प्रत्येक व्यक्ति की दृष्टि में जिसने यथार्थ वेदान्त दर्शन के ढांचे को भली प्रकार से समझ लिया है, यह सर्वथा स्पष्ट है, जैसा कि मैंने भी यहां स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है कि इसके अन्दर वस्तुतः मनोविज्ञान, अथवा विश्वविज्ञान किंवा नीतिशास्त्र के लिए भी कोई स्थान नहीं है" ('सिक्स सिस्टम्स आफ इंडियन फिलासफी', पृष्ठ १७०)।

हैं यथार्थसत्ता की वास्तविक अवस्थाएं है, भले ही वे एक उत्पन्न तथा गौणरूप सत्ता ही क्यों न हों, अथवा वे केवल ऐसे विचार है कि जिनसे मानव का सीमित मन सत्य स्वरूप यथार्थसत्ता का उसके अपने स्वरूप के अनुसार विचार बना सकता है ? दूसरे शब्दों में क्या सापेक्ष सत् मूलभूत यथार्थसत्ता का एक सत्य रूपान्तर है अथवा क्या यह मानव की सीमित बोधग्रहण शक्ति के द्वारा किया गया यथार्थ सत् का एक विपर्यास मात्र है ? इनमें से प्रथम प्रकार का मत रामानुज का है जो हेगल की प्रकल्पना से मिलता है अर्थात् जैसा कि हेगल मानता है कि यह सापेक्ष जगत् निरपेक्ष परब्रह्म की यथार्थ आत्माभिव्यक्ति है। स्पिनोजा के दर्शन का एक विचार इसी स्थिति को स्वीकार करता है।[1] दूसरे प्रकार का मत योगाचार सम्प्रदाय के अनुयायी बौद्ध लोगों का भी है जो, काण्ट के सदृश और अधिक पूर्णरूप मे शोपनहावर के समान, व्यावहारिक जगत् को चैतन्य के अन्तर्गत एक विषयिनिष्ठ आभास के रूप मे मानते है। और जिसे कि देशकाल तथा कारणकार्य-सम्बन्ध की श्रेणियो मे आकृति का रूप दे दिया गया है। शंकर के दर्शन मे ऐसे स्थल आए है जिनसे हमे ऐसा विचार मिलता है कि उनका झुकाव जगत् को प्रामाणिक यथार्थ सत्ता का मानव के द्वारा प्रस्तुत रूप ही मानने की ओर है, किन्तु अन्य ऐसे भी स्थल हैं जहा वे इस आनुभविक जगत् को विषयनिष्ठ रूप तथा सीमित व्यक्ति के अनाश्रित रूप मे प्रतिपादन करने मे भी प्रवृत्त प्रतीत होते है। शंकर की स्थिति को समझने के लिए अविद्या का माया के साथ क्या सम्बन्ध है इसे समझ लेना चाहिए।

३३

माया और अविद्या

जब हम विषय पक्ष के दृष्टिकोण मे समस्या का निरीक्षण करते है तो हम 'माया' शब्द का प्रयोग करते है किन्तु विषयी पक्ष की दृष्टि से निरीक्षण करने पर उसी वस्तु के लिए हम 'अविद्या' शब्द का व्यवहार करते है।[2] ठीक जिस प्रकार ब्रह्म और आत्मा एक है इसी प्रकार माया और अविद्या एक ही है। जो वस्तुत एक है उसे अनेकरूप मानकर देखने की जो मानवीय मस्तिष्क की प्रवृत्ति है यही अविद्या है और यह सब व्यक्तियों मे एक समान पाई जाती है। क्योकि जब शंकर अविद्या के विषय मे कुछ कहते है तो उससे यह आशय नही होता कि वह किसी व्यक्ति विशेष की अविद्या है। यह एक व्यक्तित्वविहीन ऐसी शक्ति है जो हमारे व्यक्तिगत चैतन्यो के साथ सयुक्त हो जाती है

१. पण्डित कोकिलेश्वरशास्त्री का कहना है कि शंकर का भी इसी प्रकार का मत है। देखें, उनकी पुस्तक : 'अद्वैत फिलासफी'।

२. "माया शब्द का व्यवहार हम तब करते हैं जब हमारी दृष्टि में इसकी असाधारण कार्यो को उत्पन्न करने की शक्ति रहती है तथा यह कर्ता की इच्छा के अधीन रहती है। दूसरी ओर अविद्या शब्द का व्यवहार तब करते हैं जब हमारे मन में इसकी आवरण कर लेने की शक्ति तथा स्वतन्त्रसत्ता का भाव रहता है" (विवरणप्रमेयसंग्रह, १ : १ ; 'इण्डियन थॉट' खण्ड, १ : पृष्ठ २८०)।

यद्यपि यह उनसे ऊपर भी उठती है। क्योकि ज्ञान सम्पादन का हमारा यन्त्र ऐसी वस्तुओं के सम्बन्ध मे काम करता है जिनकी रचना पहले से हो चुकी है एव जिनका हम प्रत्यक्ष ज्ञान तो प्राप्त करते है किन्तु जिनका निर्माण हम नही करते। इस जगत् को ईश्वर ने उस व्यवस्था के अनुसार बनाया है जिसका विवरण श्रुति मे है और जिसे हम भी देखते है।[1] माया के दोनो ही रूप है अर्थात् विषयिनिष्ठ तथा विषयनिष्ठ एव व्यक्तिगत तथा व्यापक। यह वह वस्तु है जिसके अन्दर मे बुद्धि तथा विषयनिष्ठ जीवन के सोपाधिक रूप की उत्पत्ति होती है। यदि वह शक्ति जिसके कारण यह कृत्रिम जगत् अपने को यथार्थरूप मे प्रस्तुत करता है, केवल विषयिनिष्ठ ही हो तो यह केवल कल्पनामात्र है और गम्भीरता-पूर्वक विचार करने पर इसे जगत का उपादान कारण नही माना जा सकता। उस अवस्था मे यह कुछ-कुछ साख्य की प्रकृति के समान होगी और ऐसी अवस्था मे यह केवल वैयक्तिक अज्ञान का रूप नही हो सकती। व्यक्तिगत अविद्या तथा ब्रह्म की प्रकृति दोनो एकसाथ उत्पन्न होते है। इनमे से किसी एक का भी विचार दूसरे मे पृथक् रूप मे नही किया जा सकता और इस प्रकार अविद्या भी परमसत्ता के ऊपर आश्रित है।[2] लौकिक आत्मा तथा व्यावहारिक जगत् परस्पर निहित तत्त्व है। अविद्या और प्रकृति दोनो एक समान नित्य है और आनुभविक जगत् मे सम्बद्ध है।[3] यथार्थता का देश, काल और कारणकार्य-सम्बन्धी रूप हमे अविद्या मे ही मिला है और एक इस प्रकार के जगत् को हमारे आगे प्रस्तुत करने के प्रयोजन की अनुकूलता अविद्या मे है। शकर न तो मानसिकवाद मे और न भौतिकवाद मे ही फसते है। हम यह नही कह सकते कि प्रकृति हमारे चैतन्य का गोचर विषय है और न यही कह सकते है कि भासमान आत्मा प्रकृति की उपज है। विषयनिष्ठ अनुभव की सम्भावना की अवस्थाए तार्किक आत्मत्व अथवा आत्मचैतन्य की सम्भावना की भी अवस्थाए है। हमारे मन इस प्रकार की भ्रामक विधि मे क्यो काम करते है? अविद्या का अस्तित्व क्यो है? देश, काल और कारणकार्यभाव से युक्त जगत् क्यो उत्पन्न हुआ? माया का अस्तित्व क्यो है? इस प्रकार के सब प्रश्न उसी एक समस्या को वर्णन करने के भिन्न-भिन्न प्रकार है, जिसका समाधान नही हो सकता। आत्मा ही, जो विशुद्ध ज्ञान है, किसी न किसी प्रकार से ह्रास को प्राप्त करके अविद्या के रूप मे परिणत हो जाती है ठीक जिस प्रकार ब्रह्म जो कि विशुद्ध सत् है, पथभ्रष्ट होकर देश, काल तथा कारणकार्य-सम्बन्धी जगत् के रूप मे प्रकट होता है। अविद्या के द्वारा ही हम विद्या तक पहुचते है, ठीक जिस प्रकार इस व्यावहारिक जगत् के द्वारा ही हम ब्रह्म को प्राप्त करते हैं। तो फिर यह सार्वभौमिक

१. श्रुतिदर्शितेन क्रमेण परमेश्वरेण सृष्टम् अज्ञातसत्ताधुवनमेव विश्वं तत्तदिपक्षप्रमाणावतरणे तस्य तस्य दृष्टिसिद्धिः (सिद्धान्तलेश, २)।

२. तुलना करें, काण्ट, तथा बर्गसा के इस मत से भी कि प्रकृति की भौतिकता हमारे चैतन्य की बुद्धिसम्पन्नता के साथ-साथ उत्पन्न होती है। बुद्धि तथा यह दृश्यमान जगत् एकसाथ ही उत्पन्न हुए तथा एक-दूसरे के अन्दर ओतप्रोत है।

३. तुलना करें, विष्णुपुराण : अविद्या पञ्चपर्वैषा प्रादुर्भूता महात्मनः (१ : ५, ५)।

४. अद्वैतसिद्धि, पृष्ठ ५६५।

और आद्य प्रतीयता अथवा विकार क्यों होता है, क्योंकि यही अधिक से अधिक है जो हम कह सकते है, किन्तु तो भी हम मानते है कि न तो हमारे तार्किक मस्तिष्क और न यह जगत् जिसका बोध यह ग्रहण करता है, भ्रांतिमात्र है। प्रत्यक्ष ज्ञान का विषय दृष्टिभ्रम अथवा कल्पना मात्र नही है। अविद्या और माया एक ही मूलभूत अनुभव-रूपी तथ्य के विषयिनिष्ठ तथा विषयनिष्ठ पक्ष को प्रस्तुत करती है। इसे अविद्या इस-लिए कहते है क्योंकि ज्ञान के द्वारा इसका उच्छेद हो सकता है; किन्तु विषयनिष्ठ शृंखला माया कहलाती है, क्योंकि यह सर्वोपरि व्यक्तित्व के साथ-साथ नित्य स्थायी है। शंकर प्रलय अवस्था मे भी इसके अस्तित्व को स्वीकार करते है। सर्वज्ञ ईश्वर मे जो अपनी माया को नियन्त्रण मे रखता है, अविद्या का अभाव है और यदि शंकर जहां-तहां एक भिन्न प्रकार की कल्पना को मान लेते है तो यह केवल आलंकारिक अर्थों मे है और वह यह कि ईश्वर के अन्दर वह शक्ति है जो एक व्यक्ति के अन्दर अविद्या का नेतृत्व करती है। सांख्य के विचारक किसी ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार नही करते, किन्तु व्यावहारिक जगत् की उत्पत्ति वे एक प्राक्कालीन अविद्या मे बताते है, जो अनादि कही जाती है। अविद्या बुद्धि का एक गुण है और इसलिए उसका स्थान भी बुद्धि मे होना चाहिए, और तर्क की दृष्टि से अविद्या के अनादि स्वरूप को बुद्धि मे भी, जो इसका स्थान है, उसके कारण मानना चाहिए। इस प्रकार बुद्धि प्रकृति का ही एक व्यक्त रूप है और प्रकृति मूलभूत द्रव्य पदार्थ है। इस प्रकार अविद्या का विषय-निष्ठ होना सर्वथा सुरक्षित है। विवरण प्रमेय संग्रह मे कहा गया है : "इसमें सन्देह नही कि अविद्या चैतन्य का एक दोष है, क्योंकि यह अद्वैतभाव के यथार्थ ज्ञान के मार्ग मे बाधक है और द्वैत भाव को उत्पन्न करती है, किन्तु दूसरी ओर इसका उत्तम गुण भी है और वह यह कि यह एक उपादान कारण की सृष्टि करती है और इस प्रकार ब्रह्म की पहचान को सम्भव कर देती है।"[1] इससे पूर्व कि हम अनन्त तक पहुंच सकें, सान्तता का होना आवश्यक है।

शंकर ने तो अविद्या तथा माया शब्दो के प्रयोग मे कोई विशेष भेद नही किया[2] किन्तु परवर्ती अद्वैतवादी दोनो के मध्य भेद करते है। जहां एक ओर

१. 'इण्डियन थाट', खण्ड २; पृष्ठ १७७। तुलना करें, ईशोपनिषद् मे जहां हमें अविद्या के द्वारा मृत्यु को पार करने को कहा गया है।

२. कर्नल जेकब माया तथा अविद्या को एक मानने के विरुद्ध है। देखें, वेदान्तसार, ५। अनेकत्वपूर्ण जगत् अविद्या की उपज है। सीमित मत के प्रधान रूप देश, काल तथा कारण भी प्रतीति-रूप व्यावहारिक जगत् के आधार (आलम्बन) है। कहा जाता है कि अविद्या ही माया के नाम रूप को उत्पन्न करती है जिनके द्वारा व्यावहारिक जगत् की उत्पत्ति होती है। अविद्याप्रत्युपस्थापितनामरूप-मायावेशवशेन (शांकरभाष्य, २ : २, २)। कभी-कभी ऐसा कहा जाता है कि मूलप्रकृति माया है एवं इसके कार्य अर्थात् आवरण (छिपाना) तथा विक्षेप (आगे की ओर फेंकना) अविद्या है। अन्यों का मत है कि मूलप्रकृति विशुद्ध सत्त्वसमेत माया है और अशुद्ध सत्त्वरूप उपाधि से युक्त अविद्या है। विक्षेप-शक्तिप्रधाना-मूलप्रकृति, अर्थात् मूलद्रव्य जिसमें विक्षेप की शक्ति का प्राधान्य है, माया है, किंवा आवरणशक्तिप्रधाना-मूलप्रकृति, अर्थात् मूलद्रव्य जिसमें आवरण की शक्ति का प्राधान्य है, अविद्या है।

माया ईश्वर की उपाधि है दूसरी ओर अविद्या व्यक्ति की उपाधि है। विद्यारण्य के अनुसार माया मे ब्रह्म का प्रतिबिम्ब रूप, अर्थात् उस ब्रह्म में जो विशुद्ध सत्त्वगुण से युक्त है, ईश्वर है एवं अविद्या मे ब्रह्म का प्रतिबिम्ब रूप, जिसमे रजोगुण तथा तमोगुण भी उपस्थित है, जीव अथवा जीवात्मा है।[1] शंकर का भी यही मत है क्योंकि वे कहते है : "जो सर्वोच्च ब्रह्म है वह विशुद्ध प्रतिबन्ध के साहचर्य से तब निम्न श्रेणी का ईश्वर बन जाता है जब कि कोई इसके विषय मे विचार करता है।"[2] अविद्या से उत्पन्न ईश्वर की भी शक्तियां है। यह जगत् ईश्वर के स्वरूप की अभिव्यक्ति है; यह मनुष्य के तार्किक मस्तिष्क के ऊपर भी सापेक्षरूप से निर्भर है। जगत् की वस्तुएं दोनो ही प्रकार की है, अर्थात् दैवीय मस्तिष्क के विचार तथा मानवीय ज्ञान के प्रस्तुत विषय। ईश्वर को जगत् का निश्चित कारण कहा गया है[3] और तो भी यह जगत् जिसका ईश्वर की निजी आत्मा के साथ सम्बन्ध है अविद्या के द्वारा निर्मित भी कहा गया है।[4] ब्रह्म और माया विश्व के अन्दर विद्यमान है और जगत् के उपादान कारण है। दोनों ही एक सूत्र मे आबद्ध है, एक यथार्थ और दूसरा विवर्त (आभास) रूप से इसके आश्रित है।

३४

प्राकृतिक जगत्

शंकर यथार्थसत्ता का केवल वर्णन करके ही विश्राम नहीं लेते, किन्तु अपने सिद्धान्त के दृष्टिकोण से दृश्य जगत् के क्षेत्र की परीक्षा भी करते है तथा उस सत्य के विषय मे, जो अपूर्ण विचारो के अन्दर पाया जाता है, नियमो का निर्धारण भी करते है एवं जैसे-जैसे वे सत्य के निकट पहुचते है नानाविध दृश्यमान व्यापारो को एक व्यवस्था मे क्रमबद्ध करते है। वे यह दर्शाने का प्रयत्न करते है कि किस प्रकार प्रत्येक दृश्यमान विषय

वेदान्त के कुछ ग्रन्थों में अविद्या को सत्त्व, रजस् तथा तमस् इन तीनों गुणों से युक्त कहा गया है और इसे ईश्वर की उपाधि माना गया है। यह विचार सर्वथा सन्तोषजनक नहीं है। यदि ईश्वर में रजोगुण तथा तमोगुण भी है तो उसमें और जीव में भेद करना कठिन होगा। तुलना करें, स्कन्दपुराण से, जहां अविद्या को जीव का प्रतिबन्ध करनेवाली आश्रित वस्तु और माया को सर्वोपरि ब्रह्म का प्रतिबन्ध करनेवाली वस्तु कहा गया है, जिसके कारण वह ब्रह्मा, विष्णु और महेश्वर कहलाता है।

अविद्योपाधिको जीवो न मायोपाधिकः खलु।
मायाकार्यगुणच्छन्ना ब्रह्माविष्णुमहेश्वराः॥

१. पञ्चदशी, १६–१७।
२. शांकरभाष्य, छान्दोग्य उपनिषद्, ३ : १४, २। "विशुद्धोपाधिसम्बन्धात्।"
३. १ : १, २।
४. तुलना करें, अविद्यात्मिका हि सा बीजशक्तिरव्यक्तशब्दनिर्देश्या परमेश्वराश्रया माया (शांकरभाष्य, १ : ४, ३)। और भी देखें, शांकरभाष्य, २ : १, १४ ; १ : ३, १९। अपि मायया।

यथार्थता के स्वरूप को व्यक्त करता है क्योंकि यथार्थसत्ता ही उसका आधार है। चूंकि अक्षय ब्रह्म सबके मूल मे विद्यमान है इसलिए इस जगत् मे निरन्तर उन्नत से उन्नत प्रकार की अभिव्यक्तियां अपने को प्रकट करती है।[1] "जिस प्रकार प्राणधारियो की शृंखला में जो ऊपर मनुष्य से लेकर नीचे घास की पत्ती तक मे क्रमशः ज्ञान तथा शक्ति आदि गुण कम होते देखे जा सकते है, इसी प्रकार ऊपर की श्रेणी में भी नीचे की ओर मनुष्य से लेकर ऊपर हिरण्यगर्भ की ओर क्रमशः ज्ञान तथा शक्ति इत्यादि की बढती हुई अभिव्यक्ति देखी जाती है।"[2] हम व्यावहारिक जगत् मे इस प्रकार का भेद कर सकते है : (१) ईश्वर, जो कर्मो के फल का प्रदाता है; (२) प्रकृति का विस्तार, अर्थात् नामरूप प्रपञ्च जगत्, जो कर्मफल का रंगमंच है, और (३) जीवात्माओं का अनेकत्व, जो व्यक्तित्व के प्रतिबन्धो मे विभक्त है और जो प्रत्येक नये जन्म मे विगत जन्मों मे किए गए कर्मो का फल भोगता है। जगत् का अनेकत्व दो भिन्न-भिन्न अवयवो से उत्पन्न होता है, अर्थात् फलो के उपभोक्ता तथा भोग्य विषयो से। इनमे से एक इस जगत् रूपी नाट्यशाला मे नाटक के पात्र है और दूसरा रंगमंच है। इस भौतिक जगत् की संज्ञा है 'क्षेत्र', क्योंकि यह एक ऐसा वायुमण्डल है जहां कि जीवात्माएं कर्म कर सकती एवं अपनी कामनाओं की पूर्ति कर सकती है तथा अपने पूर्वकर्मो के फलो का उपभोग भी कर सकती है।[3] यह जड़ (अंगहीन) प्रकृति है जिसमे पांच तत्त्व हैं। ऐन्द्रिक प्रकृति मे शरीर आते है जिनके अन्दर आत्माएं जो तत्त्वो मे समाविष्ट होकर वनस्पति, पशु जगत्, मनुष्य तथा देवता आदि योनियो मे भ्रमण करती तथा निवास करती है।[4] इस संसार रूप जगत मे प्राणियो के नानाविध संघ है जिनके जीवन के भी नानाविध प्रकार है तथा भिन्न-भिन्न लोक है जो प्राणियो के अपने-अपने अनुभव के अनुकूल होने से आवश्यक है। इन प्राणियों की एक श्रेणीबद्ध परम्परा है, जिसमे निम्नतम श्रेणी मे वे प्राणी है जिनके पूर्वजन्म के कर्मानुभव अत्यन्त सीमित है और उन्नततम देवता है जो अतीन्द्रिय लोक के निवासी है।[5]

विश्व का विकास एक व्यवस्था-विशेष के अनुसार ही होता है।[6] प्रकृति से, जो अनात्म पदार्थनिष्ठता का तत्त्व है, पहले आकाश उत्पन्न होता है जो देश और प्रकृति का पूर्ववर्ती है। "सम्पूर्ण जगत् ईश्वर से निकला है, जिसमे आकाश सबसे पूर्व आया और उसके अनन्तर अन्य तत्त्व एक-दूसरे के पश्चात् उचित क्रम से आए।"[7] आकाश

१. यद्यप्येक एव आत्मा सर्वभूतेषु स्थावरजंगमेषु गूढस्तथापि चित्तोपाधिविशेषतारतम्याद् आत्मनः कूटस्थनित्यस्यैकरूपस्याप्युत्तरोत्तरम् आविष्कृतस्य तारतम्यम् ऐश्वर्यशक्तिविशेषैः श्रूयते (शांकरभाष्य, १ : १, ११)।

२. शांकरभाष्य, १ : ३, ३०। यथा हि प्राणित्वाविशेषेऽपि मनुष्यादिस्तम्बपर्यन्तेषु ज्ञानैश्वर्यादिप्रतिबन्धः परेण परेण भूयान् भवन् दृश्यते, तथा मनुष्यादिष्वेव हिरण्यगर्भपर्यन्तेषु ज्ञानैश्वर्याभिव्यक्तिरपि परेण परेण भूयसी भवति। और भी देखे, शांकरभाष्य, १ : १, १।

३. फलोपभोगार्थम्...सर्वप्राणिकर्मफलाश्रयः (शांकरभाष्य, मुण्डकोपनिषद्, ३ : १, १)।

४. वैदिक देवता भी विश्वसम्बन्धी प्रक्रिया में आते है (शांकरभाष्य, १ : २, १७; १ : ३, ३३)।

५. शांकरभाष्य, १ : ३, १०; बृहदारण्यक उपनिषद् पर शांकरभाष्य, १ : ४ १०।

६. शांकरभाष्य, २ : १, २४–२५। ७. शांकरभाष्य, २ : ३, ७।

जो एक है, अनन्त है, लघु और सूक्ष्म है, क्रियारहित है तथा सर्वव्यापक है सबसे प्रथम उत्पन्न पदार्थ है।[1] इसका प्रयोग दोनों अर्थों में होता है अर्थात् देश और एक अत्यधिक सूक्ष्म प्रकृति के अर्थों में, जिसने समस्त देश को व्याप्त किया हुआ है। आकाश चाहे कितना ही सूक्ष्म द्रव्य क्यों न हो तो भी यह है उसी श्रेणी का जिस श्रेणी के द्रव्य वायु, अग्नि, जल तथा पृथ्वी है। इस प्रकार शंकर बौद्धमत के विरुद्ध अपना मत प्रकट करते है कि आकाश एक अभावात्मक वस्तु है अर्थात् केवलमात्र बाधाओं के अभाव का नाम है।[2] शंकर का मत है कि अभावात्मक परिणाम उसके भावात्मक स्वरूप का अन्त है।[3] आकाश से अन्य सूक्ष्म भूत ऊंचे चढ़ते हुए क्रम में उत्पन्न होते है।[4] उपनिषदों के विवरण का अनुसरण करते हुए[5] शंकर कहता है कि आकाश से वायु उत्पन्न होती है, वायु से अग्नि, अग्नि से जल और जल से पृथ्वी। चूंकि ये पाच तत्त्व अपेक्षाकृत अपने परिवर्तित रूपों से अधिक स्थायी है, उन्हे आलंकारिक भाषा में अमर तथा अविनश्वर कहा जाता है।[6] आकाश का गुण है शब्द, वायु का गुण है संघात तथा दबाव, प्रकाश का गुण है उज्ज्वलता तथा उष्णता, जल का गुण है स्वाद अथवा रस और पृथ्वी का गुण है गन्ध। गुणों का तत्त्वों के साथ वही सम्बन्ध है जो बीज का पौधे के साथ है। 'शब्दतन्मात्रा', अथवा शब्द का सार, आकाश को जन्म देता है जो अपनी ओर से शब्द के बाह्यरूप को उत्पन्न करता है। तन्मात्रा अथवा सारतत्त्व के अन्दर तत्त्व तथा उसका गुण दोनों समाविष्ट रहते है। हम यह भी देख चुके है कि तत्त्वों के अन्दर श्रेणीबद्ध परम्परा पाई जाती है। और वह सब आकाश तन्मात्रा के अन्तर्हित प्रतीत होते है। समस्त जगत् आकाश अथवा शब्द से उत्पन्न होता है।

स्थूल प्रकृति से निर्मित जगत्, अर्थात् महाभूत, इन नानाविध सूक्ष्म भूतों के संयुक्त रूपों से मिलकर बना है।[7] आकाश रूप स्थूल द्रव्य शब्द को व्यक्त करता है, वायु शब्द तथा दबाव को व्यक्त करती है, अग्नि इन दोनों को तथा इनके अतिरिक्त प्रकाश तथा उष्णता को व्यक्त करती है, जल में स्वाद (रस) के गुण है तथा साथ ही अन्य गुण भी है, इसी प्रकार पृथ्वी में अन्य द्रव्यों के भी गुण है और अपना विशेष गुण है गन्ध। प्रत्येक पदार्थ में शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध के गुण है। जहां एक ओर प्रकृति के सूक्ष्म मूल तत्त्व है वे आकार जो सजातीय तथा निरन्तर रहनेवाले है

१. शांकरभाष्य, १ : १, २२ ; १ : ३, ४१। देखें, छान्दोग्य उपनिषद्, ३ : १४, ३ ; ८ : १४।

२. आवरणाभाव (शांकरभाष्य, २ : २, २२)। ३. वस्तुभूतम्।

४. शांकरभाष्य, २ : ३, ८–१३।

५. तैत्तिरीय उपनिषद्, २ : १ ; छान्दोग्य उपनिषद्, ६ : २, २–३।

६. छान्दोग्य उपनिषद्, ४ : ३, १ ; बृहदारण्यक उपनिषद्, १ : ५, २२।

७. प्रत्येक स्थूल पदार्थ में सब पांचों सूक्ष्म तत्त्व पाए जाते है, यद्यपि भिन्न-भिन्न अनुपातों में। पांचों सूक्ष्म तत्त्वों को जगत् के स्थूल द्रव्यों में संयुक्त करने को पंचीकरण कहते हैं। शंकर इस पंचीकरण का उल्लेख नहीं करते जो परवर्ती वेदान्त में आकर अधिक महत्त्वपूर्ण हो गया है। देखें, 'वेदान्तसार'। वे त्रिवृत्करण के विचार को मानता है, अर्थात् तीन तत्त्वों का संयुक्तरूप। यही मत वाचस्पति का भी है।

तथा जिनकी रचनावृत्ति मे कोई पारमाण्विकता नही है वहा दूसरी ओर स्थूल द्रव्य मिश्रित है यद्यपि उन्हें भी निरन्तर स्थायी तथा पारमाण्विक रचना से विहीन कहा गया है।[1] स्थूल तत्त्व परिवर्तनो (परिणामो) के द्वारा भिन्न-भिन्न प्रकार की वस्तुओ को उत्पन्न करते है। प्रकृति निरन्तर अवस्था के परिवर्तन म से होकर गुजर रही है। परिवर्तन बाहर से भी आ सकते है। शकर ने एक विश्वात्मक स्पन्दनरूप गति का वर्णन किया है।[2] यह सब तत्त्व अचेतन है और स्वय अपना विकास नही कर सकते। इन सबके अन्दर ईश्वर की अन्तर्यामिता कल्पित है।[3] यदि भिन्न भिन्न तत्त्वो की क्रियाओ का कारण भिन्न-भिन्न वैदिक देवता कहे जाते है तो उससे कुछ अन्तर नही पडता, क्योकि देवता भी ईश्वर ही के व्यापारो के प्रतीक रूप है।

प्रलय मे सृष्टिरचना की व्यवस्था सर्वथा विपरीत दिशा म होती है।[4] अर्थात्, प्रलयावस्था मे पृथ्वी पुन जल म परिणत हो जाती है, जल अग्नि म, अग्नि वायु मे, तथा वायु आकाश मे और आकाश पुन ईश्वर के रूप म परिणत हो जाता है।

मानसिक इन्द्रिया जैसे मन (अन्त करण) आदि की कल्पना शकर ने भौतिक तत्त्वो के स्वभाव के सदृश ही की है। मानव देह का सगठन अन्य वस्तुओ के समान पृथ्वी, जल तथा अग्नि इन तीन तत्त्वो म मिलकर बना है।[5] मन अथवा अन्त करण, प्राण अथवा जीवनप्रद वायु तथा वाणी क्रमश पृथ्वी, जल और अग्नि की अनुकूलता मे है।[6] शकर इस विषय म अभिज्ञ है कि वे कभी-कभी भौतिक तत्त्वो मे प्रकार मे भिन्न माने जाते है तथा एक दूसरे के आगे और पीछे उत्पन्न होते है। हर हालत मे वे तथा तत्त्व भी अपने-आप म निर्जीव है और लक्ष्य के प्रति साधनमात्र के रूप मे ही उत्पन्न होते है। इन्द्रियविहीन प्रकृति परार्थ है अर्थात् एक ऐसे प्रयोजन को सिद्ध करती है जो उससे परे है।[7] इन्द्रियविहीन जगत म स्वभाव की समानता है।[8]

१. अद्वैत वेदान्त मे अणु प्रकृति का अन्तिम अविभाज्य तथा अमूर्त घटक नही है। किन्तु यह प्रकृति का वह लघुतम परिमाण (मात्रा) है जिसकी कल्पना हम कर सकते है।

२. सर्वलोकपरिस्पन्दनम्।

३. परमेश्वर एव तेन तेनात्मनावतिष्ठमानोऽभिध्यायन् तं तं विकारं सृजति (शाकरभाष्य, २ : ३, १३)। रामानुज का मत है कि ईश्वर का सक्रिय प्रत्येक परिवर्तन के समय आवश्यक नही है। यह केवल एक ही बार आकाश के उत्पन्न होने से पूर्व रहता है।

४. देखें, शाकरभाष्य, २ : ३, १४। तुलना करें, डयूसन : "इस प्रकार का मत सम्भवतः क्रमिक विकास की शिक्षा की दार्शनिक प्रेरणा के ऊपर तथा तत्त्वो के विलय के विषय पर भी कुछ प्रकाश डाल सके, जिसके विषय में हमें और कुछ ज्ञान नहीं है। इस प्रकार का पर्यवेक्षण कि ठोस पदार्थ जल मे घुल जाते है, एवं जल उष्णता पाकर वाष्प के रूप में परिणत हो जाता है और यह कि अग्नि की लपटें वायु के अन्दर विलीन हो जाती हैं और वायु ऊंचाई के अनुसार अधिकाधिक रूप में सूक्ष्म होता हुआ रिक्त आकाश देश मे विलीन हो जाता है, हमें जगत की क्रमिक प्रलय प्रक्रिया का मार्गदर्शन करा सके और इसके विपरीत क्रम मे जगत् की उत्पत्ति का भी दिग्दर्शन करा सके, यह सम्भव है।" ('डयूसन्स सिस्टम आफ दि वेदान्त', अंग्रेजी अनुवाद, पृष्ठ २३७)।

५. छान्दोग्य उपनिषद्, ६ : २, २–३। ६. शाकरभाष्य, २ : ४, २०; ३ : १, २।

७. भगवद्गीता पर शाकरभाष्य, १३ : २२।

८. शाकरभाष्य, तैत्तिरीय उपनिषद्, २ : ८।

जब हम ऐन्द्रिय प्रकृति की ओर आते है तो एक नया सिद्धान्त (नियम) हमारे सामने प्रस्तुत होता है, अर्थात् जीवन की ऐसी शक्ति जो कुछेक वस्तुओ मे अन्तर्निहित है। यह वह शक्ति है जिसके द्वारा वे महत्तर पूर्णता को प्राप्त करने योग्य होती है और ऐसी शक्ति जो लक्ष्य को प्राप्त करा सकती है। एक पत्थर मे जीवन नही है क्योकि इसमे पूर्णताप्राप्ति के प्रति प्रवृत्ति नही है और न आन्तरिक झुकाव अथवा ऐसी शक्ति है जिससे यह अपने को एक खम्भे या मूर्ति के रूप मे परिवर्तित कर सके। किन्तु एक पौधे मे जीवन है। यदि अनुकूल अवस्थाओ मे उसे रखा जाए तो उसमे बढने की शक्ति है तथा पत्ती, मजरी, फूल और फल उत्पन्न करने की भी शक्ति है। इसके अतिरिक्त पशु मे पौधे की अपेक्षा अधिक पूर्णजीवन व्यतीत करने की योग्यता है। वह देखता है, सुनता है, अनुभव करता है, और कुछ-कुछ यह भी जानता है कि वह क्या कर रहा है। वह अनुकूल अवस्थाओ मे फलता-फूलता हो इतना ही नही, वरन् वह अनुकूल अवस्थाओ को ढूढने के लिए बाहर भी जाता है। वह एक उद्देश्य को लेकर गति भी करता है किन्तु पौधा गति नही करता। मनुष्यरूप प्राणी एक और ऊचा जीवन व्यतीत करता है। वह, जिसे शकर व्युत्पन्नचित्त के नाम से कहते है, उसमे चिन्तन की शक्ति, बोध-शक्ति तथा सकल्प शक्ति है। उसमे पौधे की भी बढने की शक्ति है, पशु जैसी गति करने तथा इन्द्रियो द्वारा ज्ञान करने की शक्ति है तथा इससे बढकर आवरण के पीछे भी देखने की शक्ति है, नित्य तथा अनित्य मे भेद करने, तथा पुण्य-पाप मे पहचान करने की शक्ति है। ऐसे मनुष्य जो अपनी महत्त्वाकाक्षाओ को सिद्ध कर लेते है, देवता है। इस प्रकार ऐन्द्रिय प्रकृति के अन्दर हम प्राणियो के चार विभाग मिलते है, देवता, मनुष्य, पशु तथा पौधे।[1] उपनिषदो की भावना मे ही शकर स्वीकार करते है कि पौधे भोगयोनि है और उनके अन्दर जीवात्मा भी है जो उन पौधो मे अपने पूर्वजन्म के दुष्ट कर्मों के कारण गए है। यद्यपि वे सुख-दुख का पूरा ज्ञान रखने के योग्य नही है तो भी वे पूर्वजन्म के कर्मो का प्रायश्चित्त करते रह जाते है, क्योकि शकर ने साधारणत शरीरधारी जीवात्माओ के तीन विभाग किए है, अर्थात् देवता जो अनन्त सुखोपभोग की अवस्था मे है, दूसरे मनुष्य जिनके भाग्य मे सुख और दुख दोनो का मिश्रण है, तथा तीसरे पशु जिनके भाग्य मे अनन्त दुख है। अपने शरीररूप मे जीवात्माए प्राणो तथा सूक्ष्म शरीरो के सग रहते है और जब तक उन्हे मोक्ष की प्राप्ति नही होती ये शरीर उनके साथ लगे रहते है। जीवात्माओ का निकास ब्रह्म से उसी प्रकार का बताया जाता है जैसा कि अग्नि से स्फुलिंग (चिनगारिया) निकलते है। भेद केवल इतना है कि जीवात्मा तो फिर से ब्रह्म मे समा जाते है किन्तु स्फुलिंग अग्नि मे वापस नही लौटते।[4]

१. शांकरभाष्य, ३ : १, २४। २. वही। ३. शांकरभाष्य, २ : १, ३४।

४. मुण्डकोपनिषद्, २ : १, १ ; कौषीतकी, ३ : ३, ४, १० ; बृहदारण्यक, २ : १, २०। देखें, शांकरभाष्य, ३ : १, २०–२१; ऐतरेय उपनिषद्, ३ : ३। और भी देखें, छान्दोग्य उपनिषद्, ६ : २, २।

३५

जीवात्मा

वेदान्त का लक्ष्य मानवीय आत्मा के विश्लेषण से एकमात्र निरपेक्ष परब्रह्म की यथार्थता की ओर ले जाना है। वेदान्त के वाक्यो मे यह दो प्रकार का प्रयोग पाया जाता है।[1] जीवात्मा के अन्दर स्मृतियो, साहचर्य सम्बन्धो, इच्छाओ, और अरुचियो तथा आदरातिशयो और प्रयोजनो की सगठित व्यवस्था पाई जाती है। यद्यपि एक ही दृष्टि मे हमारे लिए इस समस्त सगठित व्यवस्था को समझ लेना सम्भव नही हो सकता तो भी इसका सामान्य रचनाक्रम तथा प्रधान तत्त्व तो हमारे निरीक्षण के लिए खुला ही है। यह सगठित-व्यवस्था विज्ञानात्मा है जिसमे परिवर्तन सम्भव है किन्तु परमात्मा सब प्रकार के परिवर्तन से मुक्त है।[2] तात्त्विक रूप मे जीव को आत्मा के समान कहा गया है। वह तू है।[3] "और इस प्रकार की आपत्ति मे कि विरुद्ध गुण रखनेवाली वस्तुए एक नही हो सकती कोई बल नही है, क्योंकि गुणो की प्रतिबलना को असत्य सिद्ध किया जा सकता है।"[4] शकर सावधानतापूर्वक उस आत्मा मे जो समस्त अनुभव मे उपलक्षित होती है तथा उस आत्मा मे जो अन्तर्दृष्टि के द्वारा जाना गया एक निश्चित तथ्य है, एव आध्यात्मिक विषयी 'मै' तथा मनोवैज्ञानिक विषयी 'मुझको' मे भेद करते है। अहम्प्रत्यय का विषय विशुद्ध आत्मा नही है, जो साक्षी है, वरन् वह है जो क्रियाशील कर्ता तथा फलोपभोग करनेवाला जीवात्मा है, जिसमे विषयनिष्ठ गुणो का समावेश है ऐसी आत्मा विषय है। जब मनोविज्ञानवेत्ता आत्मा के विषय मे कथन करते है तब वे इसे अन्तर्दृष्टि का विषय मानकर उक्त शब्द का व्यवहार करते है। जबकि आत्मा विशुद्ध रूप मे ज्ञान का सम्पादन करती है,[5] हमारी आत्मचेतना एक क्रियाशीलचेतना है जो किसी उद्देश्य को प्राप्त करने का प्रयास करती है। क्रियाशीलता का भाव हममे से प्रत्येक के लिए हमारा निकटतम अनुभव है। यह लौकिक आत्मा सब क्रियाओ का कर्ता है।[6] यदि कर्तृत्व ही आत्मा का तात्त्विक रूप होता तो उससे कभी मुक्ति न मिल सकती, ठीक जैसे कि उष्णता आग से कभी अलग नही हो सकती, और जब तक मनुष्य अपने को कर्तृत्व से मुक्त नही कर लेता तब तक वह अपने उच्चतम लक्ष्य को प्राप्त करने मे असफल ही रहता है, क्योकि कर्तृत्व अनिवार्यरूप से दुखद है। "आत्मा का कर्तृत्व केवल ऐसे गुणो की उपाधियो के ही आश्रित है जो इसके साथ लगी हुई है किन्तु

१. शांकरभाष्य, २ : ३, २५।

२. शांकरभाष्य, १ : ३, २४। तुलना करें, कठोपनिषद्, ३ : १; मुण्डक, ३ : १, १। श्वेताश्वतर उपनिषद, ४ : ६, ७।

३ तुलना करें, इसके साथ 'क्वेकर्स' ('सोसायटी' आफ फ्रेंड्स' के सदस्यगण) के प्रसिद्ध सिद्धान्त को, जिसके अनुसार प्रत्येक मनुष्य की अन्तरात्मा मे एक आन्तरिक प्रकाश रहता है, एक ऐसी ज्योति, जिसके द्वारा समस्त रूढ़ियों तथा सिद्धान्तों का निर्णय करना होता है।

४. शांकरभाष्य, ४ : १, ३।

५ शांकरभाष्य, २ : ३, ४०।

६. शांकरभाष्य, १ : १, ४।

इसके अपने स्वरूप के ऊपर आश्रित नही है।"[1] जीवात्मा तात्त्विक रूप मे एक कर्ता है अन्यथा वैदिक विधि-विधान आदि सब निष्प्रयोजन हो जाएंगे। उपनिषदो मे ऐसे अनेक वाक्य पाए जाते है जिनमे आत्मा को कर्ता बताया गया है।[2] वस्तुतः कर्तृत्व विज्ञान अथवा बोध के उपाधि अथवा प्रतिबन्ध मे रहता है। जीव विषयि-विषय, आत्म तथा अनात्म, यथार्थता और प्रतीति (आभास) है। यह विषय के प्रतिबन्ध अथवा व्यक्तित्व से युक्त है।[3] यह आत्मा अज्ञान के साहचर्य से युक्त है। इमर्सन की भाषा मे "प्रत्येक मनुष्य ईश्वर है जो मूर्खता का अभिनय करता है।"[4] अविद्या अथवा तार्किक ज्ञान लौकिक आत्मा के व्यक्तित्व का भाव उत्पन्न करता है और यह "धोखा देना तथा धोखा खाने के समान है।" जीवात्मा का विशेष लक्षण इसका सम्बन्ध बुद्धि अथवा बोधग्रहण के साथ है और यह तब तक बना रहता है जब तक कि ससार की अवस्था सत्यज्ञान के द्वारा समाप्त नही हो जाती।[5] मृत्यु के पश्चात् भी आत्मा का बुद्धि के साथ सम्बन्ध बना रहता है। यह केवल मुक्ति प्राप्त होने पर ही टूट सकता है। सुषुप्ति की अवस्था तथा मृत्यु मे यह सम्बन्ध सम्भाव्यता की अवस्था मे गुप्त रहता है एव जागने पर तथा पुनर्जन्म की अवस्थाओं मे क्रमशः यह वास्तविक अवस्था मे आ जाता है। यदि हम इसका गुप्त रूप मे निरन्तर बना रहना न माने तो कारणकार्य का विधान भग होता है क्योकि बिना प्रस्तुत कारण के कोई वस्तु उत्पन्न नही हो सकती।[6]

मनोदैहिक सगठन मे ऐन्द्रिक शरीर,[7] जो स्थूल तत्त्वो से बना है और जिसे मृत्यु

१. शांकरभाष्य, २ : ३, ४० । तस्माद् उपाधिधर्माध्यासेनैवात्मनः कर्तृत्वं न स्वाभाविकम् । और भी देखें, शांकरभाष्य कठ उपनिषद् पर, ३ : ४ ।

अद्वैत और साख्य दोनों ही आत्मा अथवा पुरुष को कर्ता के रूप में निरुपाधिक मानते हैं। जिस समय यह व्यक्तित्व के प्रतिबन्धों से मुक्त समझी जाती है तो कर्ता है। इस प्रकार का सम्भ्रम अथवा अभेद वेदान्त के अनुसार अविद्याकृत है और साख्य के अनुसार प्रकृति के कारण है।

२. बृहदारण्यक उपनिषद्, ४ : ३, १२; तैत्तिरीय, २ : ५ । और भी देखें, शांकरभाष्य, २ : ३, ३३ ।

३. शांकरभाष्य, २ : ३, ४० ।

४. सुरेश्वर जीव की तुलना एक ऐसे राजकुमार के साथ करता है जिसे कोई गडरिया उठा ले जाए और उसका लालन-पालन ग्रामीण जनता के मध्य हो। जिस समय उसे अपने राजकुलोत्पन्न होने का पता चलता है तो वह अपने गाय चराने के व्यवसाय को त्यागकर अपने राजसी स्वभाव को जान जाता है।

राजसूनोः स्मृतिप्राप्तौ व्याधभावो निवर्तते ।
यथैवम् आत्मनोऽज्ञस्य तत्त्वमस्यादिवाक्यतः ॥ (सिद्धान्तलेशसंग्रह) ।

और भी देखें, शांकरभाष्य बृहदारण्यक उपनिषद्, २ : १, २०; बृहदारण्यक उपनिषद् पर सुरेश्वर का वार्त्तिक, २ : १, ५०७-५१६ ।

५. शांकरभाष्य, २ : ३, ३० ।

६. यह कहा गया है कि बुद्धि से युक्त आत्माएं उस अवस्था में जब कि सम्बन्ध गुप्त रहता है, ईश्वर के अन्दर रहती हैं यद्यपि ऐसा भी कहा गया है कि मृत्यु के उपरान्त तथा सुषुप्ति अवस्था में जीवात्माएं स्वयं ब्रह्म के अन्दर प्रवेश कर जाती हैं (छान्दोग्य उपनिषद्, ६ : ८; शांकरभाष्य, २ : ३, ३१)।

७. देह, स्थूल शरीर, अन्नमयकोश ।

के समय मनुष्य उतार फेंकता है, प्राण[1] और सूक्ष्म शरीर,[2] जो ऐसे तत्त्वों के सूक्ष्म अवयवों से बने है जो शरीर के बीज को बनाते है,[3] ये सब सम्मिलित है। सूक्ष्म शरीर[4] में १७ तत्त्व है अर्थात् पांच ज्ञानेन्द्रिया, पाच कर्मेन्द्रिया, पञ्च प्राण, मन और बुद्धि।[5] यह सूक्ष्म शरीर भौतिक होते हुए भी पारदर्शक भी है और इस प्रकार जब जीवात्मा भौतिक देह को छोड़कर परलोक के लिए प्रस्थान करता है तो यह दिखाई नही देता। किन्तु सूक्ष्म शरीर और पञ्चप्राण मोक्षप्राप्तिपर्यन्त आत्मा के स्थायी अवयवो के रूप मे बने रहते है। कर्माश्रय रूप अवयव परिवर्तन होता रहता है और यही जीवात्मा के सग प्रत्येक नये जीवन मे जाता है तथा एकदम ऐसे नये रूप का निर्माण करता है जो पूर्वजन्म में नही था।[6] व्यक्तित्व का आधार आत्मा मे अथवा उपाधि मे भी नही है किन्तु नैतिक निर्णय मे है और यह ज्ञान (विद्या), कर्मो तथा प्रज्ञा (अनुभव) का मिश्रण है।[7] जीवधारक शक्तिया निरन्तर बनी रहती है, जैसे कि सूक्ष्म शरीर जो उन्हे अपने साथ मे ले जाता है और तब तक रहती है जब तक कि संसार विद्यमान है और आत्मा के साथ लगी हुई जाती है, यहा तक कि यदि आत्मा एक पौधे मे प्रवेश करे तब भी ये साथ रहती है, यद्यपि उस अवस्था मे अन्तःकरण और इन्द्रिया स्वभावत अपने को व्यक्त नही करती। चूंकि संसार अनादि है इसलिए आत्मा का अनादि काल से इन पञ्च प्राणो के यन्त्रपुञ्ज से सुसज्जित रहना अत्यन्त आवश्यक है। एक तीसरा कारण-शरीर भी कही-कही अनादि तथा अनिर्वचनीय अविद्या के समान निर्देश किया गया है। कारण-आत्मा एक अपेक्षाकृत स्थायी मानवीय आत्मा है जो एक के बाद दूसरे सब पुनर्जन्मो मे कर्मविधान के निर्णय के अनुसार विद्यमान रहता है। मनोवैज्ञानिक सगठन का उक्त विवरण सर्वथा सांख्य के विवरण के समान है, भेद केवल पाच जीवधारक शक्तियो के सम्बन्ध मे है।

पाचों ज्ञानेन्द्रिया, पाचो कर्मेन्द्रिया और मन ये सब उत्पन्न होने वाले पदार्थ हैं,[8] एव सूक्ष्म अथवा अणु तथा सीमित (परिच्छिन्न) है। वे अणु के आकार के (परमाणुतुल्य) नही है क्योंकि उस अवस्था मे उनका समस्त देह मे व्याप्त रहना कठिनता से समझ मे आ सकेगा। उन्हे सूक्ष्म माना गया है क्योकि यदि वे स्थूल होते तो मृत्यु

१. जीवन में इन्द्रियां दो प्रकार की हैं। एक वे जो चेतनावस्था की अर्थात् पांच ज्ञानेन्द्रियां (बुद्धीन्द्रियाणि), पांच कर्मेन्द्रियां और मन, जो ज्ञान तथा कर्म दोनों का नियन्त्रण रखता है, तथा अचेतनावस्था की इन्द्रियां। मुख्य प्राण, जो जीवन का प्रधान श्वासनिःश्वास है पाच भिन्न-भिन्न प्राणों में विभक्त है, जो श्वास-प्रश्वास की क्रिया तथा पोषण आदि भिन्न-भिन्न व्यापारों में सहायक होते है। इसका आकार सीमित होने पर भी यह अदृश्य है। (शांकरभाष्य, १ : ४, १३)।

२. सूक्ष्म शरीर, लिंग शरीर, भूताश्रय। ३. देहबीजानि भूतसूक्ष्माणि।

४. यह सांख्य के लिंग शरीर मे अनुकूलता रखता है।

५. कर्तृत्वभोक्तृत्वविशिष्टजीवो मनोमयादिपञ्चकोशविशिष्टः।
इसके अवयवों का निर्धारण यान्त्रिक कारणकार्य भाव के द्वारा किया जाता है। देखो, शाङ्करभाष्य, बृहदारण्यक उपनिषद्, १, ४, १७।

६. शांकरभाष्य, २ : ४, ८–१२; 'ड्यूसन्स सिस्टम आफ दि वेदान्त,' पृष्ठ, ३२५–६।

७. देखो, बृहदारण्यक उपनिषद्, ४ : ४. २।

८. शाङ्करभाष्य, २ : ४, १-४।

के समय निकलते हुए दिखाई दे सकते। वे आकार में परिमित है, अपरिमित नहीं, क्योंकि यदि अन्त रहित होते तो उनका निकलना, गति करना अथवा वापिस लौटना सम्भव न हो सकता। इस समस्त विवरण मे शकर की दृष्टि इन्द्रियो के व्यापारों की ओर है किन्तु उनके भौतिक प्रतिरूपो की ओर नही है। इन्द्रिया सर्वव्यापी नही है किन्तु समस्त देह के विस्तार क्षेत्र मे उनकी पहुच अवश्य है जिसके अन्दर वे व्यापार करती है।[1] अनेको इन्द्रिया सदा की भानि भिन्न-भिन्न तत्त्वो से बनी है[2] और कहा जाता है कि वही देवता जो तत्त्वो का नियन्त्रण करते है इन इन्द्रियो का भी नियन्त्रण करते है। मुख्य प्राण जीवन को धारण करने वाला तथा उसमे जीवन डालने वाला तत्त्व है। यहा तक कि मनोवैज्ञानिक यन्त्रपुञ्ज भी इसके आश्रित है। इन्द्रियो को भी मुख्य प्राण से ही सहारा मिलता है और इस प्रकार उन्हे भी प्राण कहा गया है।[3] उपाधियो के द्वारा आवृत आत्मा जीव है जो कर्त्ता भी है और फलों का उपभोग करने वाला भी है। किन्तु सर्वोच्च आत्मा उक्त दोनों अवस्थाओ से मुक्त है।[4]

जीव शरीर तथा इन्द्रियों के ऊपर शासन करता है और कर्मों के फलों से भी उसीका सम्बन्ध है। चकि इसका सार तत्त्व आत्मा है इसे विभु अथवा व्यापक कहा गया है, अणु अर्थात् परमाणु के आकार का नही। यदि यह अणु होता तो शरीर के सब भागों से आने वाले सवेदनो का यह अनुभव न कर सकता।

वे लोग जिनका मत है कि आत्मा अणु है तर्क करते है कि अनन्त आत्मा गति नही कर सकती जबकि वह एक शरीर को छोडकर दूसरे शरीर मे जाती हुई देखी जाती है। शकर के अनुसार यह वाक्य आत्मा के सम्बन्ध मे नही है किन्तु उसके प्रतिबन्धो के विषय मे है।[5] इस प्रकार की आपत्ति का कि यदि आत्मा को अणु माना जाए तो यह शरीर मे केवल एक ही स्थान पर रहेगा और इस प्रकार सारे शरीर म व्यापक न हो सकेगा, इस दृष्टान्त मे निराकरण किया गया है कि जिस प्रकार चन्दन की लकडी का एक टुकडा सारे शरीर मे नवीन चेतना उत्पन्न कर देता है यद्यपि उसका स्पर्श शरीर के केवल एक ही

१. २ : ४, ८, १३।

२. शांकरभाष्य, २ : ४, १४–१६; बृहदारण्यक उपनिषद्, १ : ३, ११, ३ : २, १३; ऐतरेय उपनिषद्, १ : २, ४।

३. २ : ४, १–६।

४. परमात्मा अपहतपाप्मत्वादि ... यदस्य पारमार्थिकं स्वरूपम्—इत्यादि उपाधिकल्पितम् शाङ्करभाष्य, ४ : ३ ११)। प्लेटो का भी मत इसी प्रकार का है, जिसे वह ग्लौकस के समुद्र की तह में डुबकी लगाने के अद्भुत दृष्टान्त के द्वारा समझाता है। यदि हम उसे वहां देखें तो हम उसे पहचान नहीं सकते, क्योंकि उसका शरीर समुद्र की काई सीप, मछली तथा अन्य वस्तुओं द्वारा इतनी अधिक मात्रा में ढक जाता है कि पहचाना नहीं जा सकता। इसी प्रकार प्रत्येक जीवात्मा विकृत रूप है और जब तक हम इसे संसाररूपी समुद्र से निकाल कर इसके ऊपर जम गए काई, सीप, तथा तलछट आदि मलों को हटाकर शुद्ध नहीं कर लेते तब तक हम इसके सत्यस्वरूप को नहीं पहचान सकते।

५. शाङ्करभाष्य, २ : ३, २९।

६. वही।

स्थान पर होता है इसी प्रकार आत्मा समस्त शरीर की संवेदना का ग्रहण स्पर्शेन्द्रिय द्वारा कर सकती है क्योंकि स्पर्शेन्द्रिय तो सारे शरीर के ऊपर फैली हुई है। शंकर इस सुझाव का खण्डन यह कहते हुए करते हैं कि काटा भी जिसके ऊपर कोई व्यक्ति चलता है सारे शरीर की संवेदन शक्ति के साथ सम्बद्ध है यद्यपि दुःख केवल पैर की तली में ही अनुभव होता है सारे शरीर में नहीं होता। अणु के विचार के समर्थकों का सुझाव है कि अणुरूप आत्मा अपने गुण अर्थात् चैतन्य के कारण सारे शरीर में व्याप्त रहती है ठीक जिस प्रकार एक दीपक का प्रकाश एक स्थान पर ही रखे जाने पर भी वहां से सारे कमरे में फैल जाता है। शंकर का कहना है कि गुण द्रव्य के परे नहीं जा सकता। दीपक की ज्वाला तथा इसका प्रकाश परस्पर द्रव्य तथा गुण के रूप में सम्बद्ध नहीं हैं। दोनों ही अग्निमय द्रव्य हैं; केवल ज्वाला में अवयव अधिक एक-दूसरे के निकट हैं किन्तु प्रकाश में वे अधिक विस्तृत रूप में पृथक्-पृथक् हैं। यदि चैतन्य का गुण अथवा आत्मा सारे शरीर में व्याप्त होता है तब आत्मा अणु नहीं हो सकता। उपनिषदों के ऐसे वाक्यों का लक्ष्य जो आत्मा को अणु बताते हैं,[1] आत्मा नहीं है किन्तु बोध शक्ति तथा मन के गुणों के मूल केन्द्र बिन्दु हैं। उनका आशय आत्मा की सूक्ष्मता को दिखाना है, जो प्रत्यक्ष ज्ञान में नहीं आती।[2] यह मानी हुई बात है कि लौकिक आत्मा जो मन आदि से जकड़ी हुई है अनन्त नहीं है किन्तु सर्वोपरि यथार्थसत्ता अनन्त है।[3] यदि इसे अणु कहा गया है तो इसलिए क्योंकि लौकिक दृष्टि में यह बुद्धि की सहचारी है।[4] आत्मा के हृदय के अन्दर निवास स्थान सम्बन्धी सब कथन इस कारण से हैं क्योंकि बुद्धि का स्थान उसमें बताया गया है। इसके अतिरिक्त, जो सर्वत्र है निश्चित रूप से एक स्थान में भी है, यद्यपि इसके विपरीत जो एक स्थान पर है वह सर्वत्र हो ऐसा नहीं है।[5] इस विधि में शंकर उपनिषदों के ऐसे समस्त वाक्यों की व्याख्या करते हैं जो आत्मा के देश-सम्बन्धी प्रतिबन्ध का वर्णन करते हैं।[6] धार्मिक दायित्व के समस्त जीवन का आधार लौकिक आत्मा की आपेक्षिक यथार्थता के ऊपर है। क्रियात्मक अनुभव का समूचा क्षेत्र अपनी पुण्य व पाप की योजना समेत, एवं पवित्र विधान का आधार, अपने विधि निषेधों सहित, स्वर्ग में सुख तथा नरक में दुःख की भावी आशाओं सहित ये सब देह, इन्द्रियों तथा उसके साथ संलग्न अवस्थाओं और आत्मा के तादात्म्य की कल्पना कर लेते हैं। किन्तु जीवन की समस्त शृंखलाओं में यह आत्मा नहीं है अपितु उसकी छायामात्र है जो शोक करती है तथा असन्तोष प्रकट करती है एवं इस जगत् के रंगमंच के ऊपर अपने कथानक (वस्तु विषय) का

१. मुण्डकोपनिषद्, ३ : १९; श्वेताश्वतर उपनिषद्, ५ : ८-९।
२. शाङ्करभाष्य, २ : ३, २९।
३. देखें, शाङ्करभाष्य, २ : ३, १९-३२।
४. २ : ३, २९।
५. शाङ्करभाष्य, २ : १, ७; २ : ३, ४९।
६. देखें, शाङ्करभाष्य, १ : ३, १४-१८, १ : २, ११-१२।

अभिनय करती है। आत्मा जब तक उपाधियों से मुक्त नही होती तभी तक सुख, दुःख तथा वैयक्तिक चैतन्य के अधीन रहती है।[1]

शकर आत्मा की भिन्न-भिन्न अवस्थाओ का वर्णन करते है। जाग्रत् अवस्था मे कुल ज्ञान सम्पादन करनेवाली यन्त्र-योजना कार्य करती रहती है और हम पदार्थों का ज्ञान मन तथा इन्द्रियो के द्वारा प्राप्त करते है। स्वप्नावस्था मे सब इन्द्रिया विश्राम करती है और केवल मन ही क्रियाशील रहता है[2]। जाग्रतावस्था मे जो प्रभाव इन्द्रियो के ऊपर रह जाते है उन्हीके द्वारा यह पदार्थों का ज्ञान प्राप्त करता है। स्वप्न देखने वाला आत्मा परम आत्मा नही है किन्तु यह अधीन वस्तुओ मे प्रतिबन्धयुक्त आत्मा है। यही कारण है कि हम स्वप्नावस्था मे अपनी इच्छा के अनुसार किसी वस्तु का निर्माण नही कर सकते। यदि हम ऐसा कर सकते तो किमीको भी बुरा स्वप्न नही आता। सुषुप्ति अवस्था मे मन तथा इन्द्रिया निश्चेष्ट रहती है एव आत्मा एक प्रकार से अपने-आप मे विलीन रहकर अपने यथार्थस्वरूप को प्राप्त कर लेती है। शकर का तर्क है कि चूकि कर्म निरन्तर रहता है इसलिए आत्मा का अस्तित्व भी निरन्तर रहता है। फिर उसकी स्मृति भी होती है। आत्मानुसरण की चेतनता सिद्ध करती है कि जो आत्मा सोई थी वही जागी है। श्रुति इसका समर्थन करती है और यदि सुषुप्ति से आत्मा के नैरन्तर्य मे अन्तर आता तो श्रुति वाक्य निरर्थक हो जाता। यदि कोई व्यक्ति सोने से पूर्व 'क' हो और उठने पर 'ख' हो, तो कर्मों की निरन्तरता नही बन सकती। यहा तक कि मुक्तात्मा भी जाग जा सकते। इसलिए यह स्पष्ट है कि सुषुप्ति अवस्था मे भी मृत्यु के समान व्यक्तित्व का मूल केन्द्र बिन्दु बना रहता है इसके विरोध मे कुछेक स्वच्छद कथनो के रहते हुए भी यह माना गया है कि सुषुप्ति अवस्था मे भी वह उपाधि जो जीव के साथ समार मे प्रतिबन्ध के रूप मे रहती है गुप्त रूप मे विद्यमान रहती है। यदि सुषुप्ति अवस्था मे, जैसे कि मोक्ष की अवस्था मे, विशेष बोध का सर्वथा अभाव रहता है तो किस प्रकार और किसम सोया हुआ मनुष्य अविद्या के बीज को स्थिर रखता है जिसके कारण जागना होता है? सुषुप्ति अवस्था मे सम्पन्न ब्रह्म के साथ अस्थायी सयोग तथा मोक्ष अवस्था के स्थायी सयोग मे शकर भेद करते है। "सुषुप्ति की अवस्था म सीमित करनेवाली उपाधि विद्यमान रहती है जिससे कि जब यह फिर अस्तित्व के रूप मे आती है तो जीव भी अस्तित्व के रूप मे आ जाता है।"[3] मोक्ष की अवस्था मे अविद्या के सब बीज भस्म हो जाते है।[4]

मूर्छा की अवस्था को एक पृथक् स्थान दिया गया है क्योकि यह जाग्रतावस्था से भिन्न है। इस अवस्था मे इन्द्रिया पदार्थों का प्रत्यक्ष नही करती। विषयरूप जगत् के प्रति यह उपेक्षा भाव अन्य पदार्थों पर एकाग्रतापूर्वक ध्यान देने का परिणाम नही है। यह स्वप्नो की अवस्था से भिन्न यो है कि इसमे चेतना साथ नही रहती, मृत्यु से

१. विशेषविज्ञान।
२. शांकरभाष्य, ३ : २, ६।
३. शांकरभाष्य, ३ : २, ६।
४. देखें, गौडपाद की कारिका पर शांकरभाष्य, ३ : १४।

भिन्न इसलिए है कि शरीर में जीवन रहता है, तथा सुषुप्ति से भिन्न इसलिए है कि शरीर के अन्दर बेचैनी रहती है। मूर्छित मनुष्य को इतनी आसानी के साथ नही जगाया जा सकता जैसे कि सोते हुए मनुष्य को जगाया जा सकता है। मूर्छा की अवस्था को सुषुप्ति तथा मृत्यु की मध्यवर्ती अवस्था कहा गया है। "इसका सम्बन्ध मृत्यु से इसलिए है, क्योकि यह मृत्यु का द्वार है। यदि आत्मा का कोई अपुरस्कृत कर्म शेष रहता है तो वाणी की शक्ति तथा मन मूर्छित मनुष्य मे लोट आते है। यदि कुछ कर्म शेष नही रहते तब श्वास और उष्णता भी छोड जाते है।"

तात्त्विक रूप मे प्रत्येक मनुष्य सर्वोपरि यथार्थसत्ता है एव अपरिवर्तनशील और अपरिवर्तित तथा खण्डरहित है और तो भी हम आत्मा की उत्पत्ति तथा विकास की चर्चा करते है। क्योकि जब आश्रित वस्तुए उत्पन्न होती अथवा विलय होती है कहा यह जाता है कि आत्मा उत्पन्न हुई अथवा विलीन हुई।[१] प्रतिबन्ध करनेवाली आश्रित वस्तुए इस जगत् मे भिन्न-भिन्न आत्माओ को व्यक्तित्व प्रदान करती है।[२] उन्हीसे देह के रूप का निर्णय होता है, जीव की जाति तथा जीवन की अवधि का भी निर्णय होता है आदि-आदि।[३] इन्ही आश्रित वस्तुओ के भेद से आत्माओ मे भी भेद है, और इसलिए न तो कर्मो मे और न कर्मफलो मे ही परस्पर मिश्रण होने पाता है।[५] यहा तक कि यदि जीवात्मा को आभास अथवा प्रतिबिम्ब रूप भी मान लिया जाए, जैसे कि जल के अन्दर सूर्य का प्रतिबिम्ब पडता है, तो भी आत्माओ के व्यक्तित्व मे कोई अन्तर नही पडता।[६]

३६
साक्षी और जीव

प्रत्येक जीवात्मा के अन्दर बोधग्राहक, भावुकतापूर्ण तथा इच्छाशक्ति-सम्बन्धी अनुभूति के अतिरिक्त भी एक साक्षीरूप आत्मा विद्यमान है। शाश्वत चैतन्य को साक्षी कहा जाता है जब कि अन्तःकरण इसके नियामक रूप मे सहायक का कार्य करता है, और उक्त सहायक के द्वारा यह प्रमेय विषयो को प्रकाशित करता है। उस सहायक की उपस्थिति परम चैतन्य को साक्षी रूप आत्मा मे परिणमन करने के लिए पर्याप्त है। यद्यपि यह साक्षीभूत चैतन्य प्रमेय पदार्थों की अनुभूति के साथ से ही उत्पन्न होता है अनुभूति इसका कारण नही है किन्तु यह अनुभूति की पूर्व कल्पना कर लेता है। जब

१. शाकरभाष्य, ३ : २, १०। २. शाकरभाष्य, २ : ३, १७।
३. शाकरभाष्य, ३ : २, ६। ४. सुरेश्वरकृत वार्त्तिक, पृष्ठ ११०-११२।
५. शाकरभाष्य, २ : ३, ४६।
६. "जिस प्रकार सूर्य की एक प्रतिबिम्बित प्रतिकृति मे जब कम्पन होता है तो उसी कारण से दूसरी प्रतिबिम्बरूप प्रतिकृति मे भी कम्पन नही होने लगता इसी प्रकार जब एक आत्मा का कर्मो तथा कर्मफलों के साथ सम्बन्ध होता है तो दूसरी आत्मा उसी कारण मे उसके समान सम्बद्ध नही होती। इसलिए कर्मो तथा कर्मफलों मे परस्पर मिश्रण नही होने पाता।" (शाकरभाष्य, २ : ३, ५०)।

आंतरिक अवयव मनुष्य के अन्दर प्रविष्ट होता है और उसका इन्द्रिय-सम्बन्धी एक घटक अवयव बन जाता है तो उसे हम जीव कहते है।

साक्षीरूप आत्मा तथा जीव मे परस्पर क्या सम्बन्ध है? अर्वाचीन अद्वैत विषयक पुस्तको मे इसकी परिभाषा विविध रूप से की गई है। विद्यारण्य के मत में साक्षीरूप आत्मा निर्विकार चैतन्य है और यह स्थूल तथा सूक्ष्म पदार्थों की प्रतीति का अधिष्ठान है, उनके कार्यों का निरीक्षण करता है किन्तु किसी प्रकार भी उनसे प्रभावित नही होता।[1] जब फलोपभोग करने वाले अह का कार्य समाप्त हो जाता है। तब दोनो देहो का प्रकाशन इसी साक्षी रूप आत्मा के कारण होता है। यह साक्षीरूप आत्मा दोनो प्रकार की देहो से प्रत्यक्षरूप मे उनके सहचारीरूप से कुछ समय भी अभिज्ञ होती है जबकि फलोपभोक्ता आत्मा कार्य करना बन्द कर देती है। साक्षीरूप आत्मा की निरन्तर उपस्थिति, अह रूप आत्मा से भिन्न किसी अन्य के सम्बन्ध मे जो मानसिक विचार है उनकी शृङ्खला मे, द्रष्टा के व्यक्तित्व को स्थिर रखने मे सहायक होती है। विद्यारण्य का मत इस विषय मे स्पष्ट है कि साक्षीरूप आत्मा को जीव के समान न समझना चाहिए, क्योकि जीव जीवन तथा उसके व्यापारो में भाग लेता है। उपनिषद् इसे गुणो से रहित केवल साक्षीमात्र तथा निरीक्षक प्रतिपादन करती है और यह फलो का उपभोक्ता नही है।[2] एक अन्य स्थान पर विद्यारण्य इसकी तुलना एक ऐसे दीपक के साथ करता है जो रगमच पर रखा जाने पर नाटक के सूत्रधार, नाटक की नायिका तथा दर्शको सबको एक समान प्रकाशित करता है और इन सबकी अनुपस्थिति मे भी स्वय प्रकाशित होता है।[3] उक्त दृष्टान्त निर्देश करता है कि साक्षीरूप आत्मा एक समान जीव (लौकिक अह), अन्त करण तथा प्रमेय पदार्थो को प्रकाशित करता है तथा सुषुप्ति अवस्था मे जब ये सब अनुपस्थित रहते है तब अपने-आप भी प्रकाशित रहता है।[4] निष्क्रियता साक्षी आत्मा का ईश्वर से भिन्न करती है। तत्त्व प्रदीपिका म साक्षी रूप आत्मा का विशुद्ध ब्रह्म के नाम से कहा गया है, जो प्राणिमात्र का सार्वभौम तथा व्यापक आत्मा है, और जो प्रत्येक जीवात्मा का अधिष्ठान होने के कारण जीवो के अनेक होने से अनेक रूप प्रतीत होती है। साक्षी रूप आत्मा और सोपाधिक ब्रह्म, अर्थात् ईश्वर, एक ही नहीं है, क्योकि इसे निरपेक्ष

१. पञ्चदशी, ८। सिद्धान्तलेश (अध्याय १) में विद्यारण्य के मत का प्रतिपादन इस प्रकार किया गया है : "देहद्वयाधिष्ठानभूत कूटस्थचैतन्य स्वावच्छेदकस्य देहद्वयस्य साक्षादीक्षणान्निर्विकारत्वात्साक्षीत्युच्यते।"

२. तुलना करें : "साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च" (श्वेताश्वतर उपनिषद्)।

३. "नृत्यशालास्थितो दीपः प्रभुं सभ्यांश्च नर्तकीम्।
दीपयेदविशेषेण तदभावेऽपि दीप्यते॥ (पंचदशी, १० : ११)।

४. वही, १० : १२।

परम तथा निर्गुण कहा गया है; और न साक्षी रूप आत्मा तथा जीव ही एक है, क्योकि जीव कर्ता तथा कर्मों और उनके फलो का भोक्ता है।[1] पञ्चदशी तथा तत्त्व प्रदीपिका मे प्रकट किए गए मत को शकर का समर्थन प्राप्त है।

कौमुदी का कथन है कि साक्षीरूप आत्मा ईश्वर का एक विशेष रूप है। इस पुस्तक का लेखक अपना आधार श्वेताश्वतर उपनिषद् के उस वाक्य को मानता है जो ईश्वर को साक्षी कहता है। वह ईश्वर जीव की क्रियाशीलता तथा कार्य से विरत होने से अभिज्ञ होते हुए भी किसी प्रकार भी उनमे विचलित नही होता।[2] वह जीव के अन्दर व्यापार करता है, उसकी अविद्या को तथा उससे सम्बद्ध अन्य सबको प्रकाशित करता है। जब सब क्रियाए रोक दी जाती है, जैसे कि सुषुप्ति अवस्था मे, तब उसे प्रज्ञा के नाम से पुकारा जाता है।[3] तत्त्व-शुद्धि का लेखक इस विचार से सहमत है। 'ईश्वर साक्षी है' यह प्रथम विचार को व्यक्त करने का धार्मिक अथवा लौकिक प्रकार है। हमे शकर के लेखो मे इसका समर्थन मिलता है। उपनिषद् के इस प्रसिद्ध वाक्य पर[4] टीका करते हुए जिसमे दो पक्षियो को एक ही वृक्ष पर बैठे हुए बताया गया है, शकर कहते है "इन दोनो मे से जो इस प्रकार वृक्ष पर बैठे है, एक जो क्षेत्रज्ञ है और सूक्ष्म-शरीर धारण करता है, अज्ञान के कारण कर्मो के फलो को जो सुख तथा दुःख रूप मे प्रकट होते है खाता है (अर्थात् उनका उपभोग करता है), जो नाना प्रकार की स्थितियो मे स्वादु है। दूसरा जो नित्य प्रभु है, निर्मल तथा बुद्धिसम्पन्न और अपने स्वरूप मे स्वतन्त्र है, सर्वज्ञ है तथा सत्त्वगुण से सम्पन्न है, वह नही खाता (अर्थात् कर्मफल नही भोगता); क्योकि वह भोक्ता तथा भोग्य दोनो का सचालक है।" "उसका केवल साक्षी होना ही सचालन के समान है, जैसा कि किसी राजा द्वारा होना है।"[5]

कुछेक अन्यो का कहना है कि अविद्यारूप उपाधि से युक्त जीव ही साक्षीरूप आत्मा है क्योकि वह वस्तुत निरीक्षक है किन्तु कर्ता नही है। केवल उसी अवस्था मे जब कि वह अन्त करण के साथ अपना तादात्म्य-सम्बन्ध मान लेता है वह कर्ता तथा भोक्ता बनता है।[6] इस प्रकार जीव के दो पहलू है, एक यथार्थ तथा दूसरा अयथार्थ, अर्थात् साक्षी निष्क्रिय रहते हुए केवल दर्शकरूप का तथा दूसरा अभिमानी रूप कर्ता तथा भोक्ता का। उक्त प्रकार के मत मे यह आपत्ति

१. तत्त्वप्रदीपिकायामपि मायाशबलिते सगुणे परमेश्वरे 'सवगो निगरण' इति विशेषणानुपपत्तेः सर्वप्रत्यग्भूतं विशुद्धं ब्रह्म, जीवाद् भेदेन साक्षीति प्रतिपाद्यत इत्युदितम्। (सिद्धान्तलेश, १)।

२. परमेश्वरस्यैव रूपभेदाः कश्चित् जीवप्रवृत्तिनिवृत्त्योरनुमन्ता स्वयमुदासीनः साक्षी नाम, (सिद्धान्तलेश, १)।

३. देखें, वैशेषिकसूत्र, १ : ३, ४७। ४. मुण्डकोपनिषद्, ३ : १, १।

५. पश्यत्येव केवलं दर्शनमात्रेण हि तस्य प्रेरयितृत्वम् राजवत्। (शांकरभाष्य, मुण्डकोपनिषद्, ३ : १, १)।

६. केचिद् अविद्योपाधिको जीव एव साक्षाद् द्रष्टृत्वात् साक्षी ; जीवस्यान्तःकरणतादात्म्यापत्त्या कर्तृत्वाद्यारोपभाक्त्वेऽपि स्वयमुदासीनत्वात् (सिद्धान्तलेश, १)।

उठाई जाती है कि यदि सर्वत्र व्याप्त अविद्या को साक्षीरूप जीव की उपाधि माना जाए तो इस साक्षीरूप जीव को केवल अपने ही मन को नही अपितु अन्य समस्त प्राणियो के मनो को प्रकाशित करने के योग्य होना चाहिए। किन्तु अनुभव से इसकी पुष्टि नही होती। इस प्रकार जीव ही अन्तःकरण की उपाधिसमेत साक्षीरूप आत्मा है और यह भिन्न-भिन्न व्यक्तियो मे भिन्न-भिन्न है। सुषुप्ति म समझा जाता है कि यह सूक्ष्मरूप में रहता है और इस प्रकार तीनो अवस्थाओ मे यह विद्यमान रहता है लौकिक 'अह' तथा साक्षीरूप आत्मा मे भेद यह है कि जहा अन्तःकरण लौकिक 'अह' का गुण है यह साक्षीरूप आत्मा की उपाधि है जो उसम प्रतिबन्ध लगाती है।[1] वेदान्त परिभाषा का यह मत है तथा अन्य मतो के साथ इसका विरोध भी नही है क्योकि इसका निर्देश है कि परम निरपेक्ष चैतन्य जब यह किसी व्यक्ति विशेष विषयी के अन्दर कार्य करता है तो साक्षी कहलाता है। नित्य चैतन्य अथवा आत्मा को जीव साक्षी की सज्ञा दी गई है उस अवस्था म जब कि यह मनुष्य के शरीररूपी यन्त्र के अन्दर कार्य करता है तथा जब यह विश्व के अन्दर व्यापार कार्य करता है तब इसे ईश्वर साक्षी कहते है। दोनो अवस्थाओ मे उपाधि भेद ही दो भिन्न-भिन्न सज्ञाओ का कारण है। प्रथम प्रकार के साक्षी मे अन्तःकरण तथा शरीर इत्यादि उपाधिया है और दूसरे प्रकार के साक्षी अर्थात् ईश्वर के विषय म मन रूप समग्र जगत उपाधि है। ईश्वर जगत् की आत्मा है जबकि जीव मनुष्य की आत्मा है।

३७

आत्मा और जीव

हम जीवगत 'अह' का सारवत्ता अथवा सरलता के रूप म कोई विशेष लक्षण निर्धारित नही कर सकते। वह एक आणविक इकाई नही है किन्तु एक अत्यन्त जटिल रचना है। यह विशिष्ट व्यक्तिगत केन्द्र की चेतनामय अनुभूतियो की एक सुव्यवस्थित सयुक्त इकाई है जिसका अपने-आप म निर्धारण प्रारम्भ म ही शारीरिक सघटन तथा अन्य अवस्थाओ के द्वारा होता है। शरीर और इन्द्रिया आदि इसकी अनुभूति के अन्दर प्रविष्ट होकर इसमे एक प्रकार की एकता तथा निरन्तरता का सचार करते है। शरीररूपी यन्त्र के साथ सम्बद्ध चैतन्य विशुद्ध सीमित है जिसम चैतन्य की विषयवस्तु के भाग के रूप मे शारीरिक अवस्थाए सम्मिलित है। जिस प्रकार शरीर का निर्माण क्रमश होता है इसी प्रकार इसकी चैतन्ययुक्त अनुभूति भी क्रमश बढती है। सान्त आत्मा अपने चैतन्य का अन्तिम कारण नही है। अह रूप आत्मा लौकिक चैतन्य का अनुभूत एकत्व है जो समय के अन्दर विकसित हो रहा है। यह एक विचार-सम्बन्धी

१. अन्तःकरणोपधानेन जीवः साक्षी'' अन्तःकरणविशिष्टः प्रमाता, (सिद्धान्तलेश, १)।

रचना है अथवा भावात्मक विचार का प्रमेय विषय है।[1] यह उसी व्यक्ति के अन्दर स्थान परिवर्तन करता रहता है और इसलिए निर्विकार तथा अपरिवर्तनीय सारतत्त्व के साथ इसकी एकात्मता नही हो सकती। यह आत्मा जो लौकिक अहं (जीवात्माओ) का अधिष्ठानरूप आधार है न परिवर्तित होता है और न किसी प्रकार के मनोवेगों का अनुभव करता है।

यद्यपि यह अचिन्त्य है तो भी इसका मनुष्य जीवन के पूर्वेतिहास से कोई सम्बन्ध नही है जिसका यह भक्तिपूर्वक सहचारी भाव से अनुसरण करता है। निरन्तर साक्षी के रूप मे जिसकी कल्पना की गई है वह आत्मा केवल एक चित्रपट का कार्य करती है अथवा यह ऐसी आधारभूमि है जिसके ऊपर मानसिक तथ्य अभिनय करते है। हम यह नही कह सकते कि ये इससे उत्पन्न होते है, क्योकि यथार्थ के ऊपर उसका कुछ असर नही होता जिसको भ्रमवश आत्मा मान लिया जाता है। केवल इसीलिए कि हम उन्हे ठीक-ठीक नही समझ सकते, वस्तुए अपने स्वरूप मे परिवर्तन नही कर लेती। किस प्रकार निर्विकार आत्मा सान्तरूप मे प्रकट होती है एव किस प्रकार बुद्धि का नित्यप्रकाश किसी भी बाह्य-साधन के द्वारा अन्धकारावृत हो सकता है क्योंकि यह सब सम्बन्धो से मुक्त है? यह पुराना प्रश्न है कि किस प्रकार यथार्थ लौकिक रूप मे आ जाता है। शरीर इन्द्रियो, मन तथा इन्द्रियविषयरूप उपाधियो का आत्मा के साथ सम्बन्ध होने से ही आत्मा को लौकिकरूप प्राप्त होता है। किन्तु आत्मा तथा मनोवैज्ञानिक आत्मा के मध्य का यह सम्बन्ध अव्याख्येय है, मायारूप है अर्थात् रहस्यमय है। यदि आत्मा नित्य स्वतन्त्र तथा विशुद्ध चैतन्य है और उसे किसीकी चाह नही, वह करती भी कुछ नही है, तब यह शरीरधारी आत्मा के रूप मे गति तथा इच्छा का कारण कैसे बन सकती है? उत्तर मे कहा जाता है कि "एक ऐसी वस्तु है जो स्वयं मे गति रहित है तो भी अन्य वस्तुओं मे गति उत्पन्न कर सकती है। चुम्बक अपने-आप मे गति रहित है किन्तु फिर भी यह लोहे मे गति उत्पन्न करता है।"[2] जब हम सान्त आत्माओ के अनन्त आत्माओ के साथ सम्बन्ध मे कथन करते है तो हमे ऐसी सीमित उपाधियो का प्रयोग विवश होकर करना होता है जो ठीक-ठीक उपयुक्त नही बैठती।

जीवात्मा तथा ब्रह्म के मध्य जो सम्बन्ध है और जिसका वर्णन ब्रह्मसूत्र मे किया गया है शकर उसके विषय मे आश्मरथ्य, औडुलोमी तथा काशकृत्स्न द्वारा प्रकट किए गए विचारो के ऊपर विचार-विमर्श करते है। आश्मरथ्य अपना आधार ऐसे उपनिषद् वाक्यो को बनाता है जो जीवात्माओ तथा निरपेक्ष परब्रह्म के मध्यगत सम्बन्ध की तुलना आग की चिनगारियो तथा आग के परस्पर सम्बन्ध के साथ करता है। जिस प्रकार अग्नि से निकलती हुई चिनगारिया अग्नि से सर्वथा भिन्न नही है, क्योकि वे रूप मे अग्नि के समान है और दूसरी ओर सर्वथा अभिन्न भी नही है क्योकि उस अवस्था मे उन्हे न

१. तुलना करें, वार्ड: 'साइकोलॉजिकल प्रिंसिपल्स', पृष्ठ ३६१–३६२।
२. शांकरभाष्य, २ : २, २।

तो अग्नि से ही पृथक् रूप मे पहचाना जा सकता और परस्पर भी उनमे भेद किया जा सकता; इसी प्रकार जीवात्मा न तो सर्वोपरि ॰यथार्थसत्ता से भिन्न ही है क्योकि इसका तात्पर्य होगा कि वे ज्ञानस्वरूप सत्ता के स्वभाव के नही है, और न ही सर्वथा उससे अभिन्न है क्योकि अवस्था मे वे एक-दूसरे से भिन्न न होगे। इस प्रकार आश्मरथ्य इस परिणाम पर पहुचता है कि जीवात्मा भिन्न भी है और ब्रह्म से भिन्न नही भी है।[1] औडुलोमि का मत है कि जीवात्मा, जो प्रतिबन्ध रूप शरीर, इन्द्रियो तथा मन आदि सहायको के द्वारा सीमित है ब्रह्म से भिन्न है यद्यपि ज्ञान तथा ध्यान समाधि के द्वारा यह शरीर से बाहर निकलकर उच्चतम आत्मा के साथ ऐक्यभाव प्राप्त कर लेता है। वह मानता है कि उस जीवात्मा मे जो मुक्ति को प्राप्त नही हुआ तथा ब्रह्म मे सर्वथा भेद है तथा मुक्तात्मा और ब्रह्म मे सर्वथा तादात्म्यभाव है।[2] शकर काशकृत्स्न के साथ सहमत है।[3]

जीवात्मा निरपेक्ष ब्रह्मरूप आत्मा का अश नही हो सकता जैसा कि रामानुज का विचार है क्योकि परब्रह्म देश व काल की परिधि से परे होने के कारण अशरहित अर्थात् अखण्ड है। यह परब्रह्म से भिन्न भी नही हो सकता जैसा कि मध्व कल्पना करता है क्योकि ब्रह्म से भिन्न कोई वस्तु नही है, वह एकमात्र अद्वितीय जो है।[4] यह परब्रह्म का परिवर्तित रूप भी नही हो सकता जैसा कि वल्लभाचार्य का विचार है क्योकि निरपेक्ष परमब्रह्म निर्विकार है। हम जीवात्मा को ईश्वर की कृति भी नही मान सकते क्योकि वेदो म जहा अग्नि तथा अन्य तत्त्वो की रचना का वर्णन है वहा आत्मा की रचना का कोई वर्णन नही है। जीव न तो परब्रह्म से भिन्न है, न उसका अश है और न उसका परिवर्तित रूप है। यह स्वय आत्मा है। हम इसके स्वरूप को नही पहचानते, क्योकि यह उपाधियो से आवृत है।[5] यदि यह सर्वोपरि आत्मा के समान न होता तो वे श्रुतिवाक्य जो अमरता का प्रतिपादन करते है सब निरर्थक हो जाएगे। आश्मरथ्य की शिक्षाओ का उल्लेख करते हुए शकर कहते है : "यदि जीवात्मा उच्चतम आत्मा से भिन्न होता तो उच्चतम आत्मा के ज्ञान से जीवात्मा के विषय मे ज्ञान उपलक्षित न होता और इस प्रकार एक अन्यतम उपनिषद् मे प्रतिज्ञात यह वचन कि एक ही यथार्थसत्ता के ज्ञान के द्वारा हरएक वस्तु का ज्ञान प्राप्त हो जाता है, पूर्ण न हो सकता।[6] तैत्तिरीय उपनिषद् का भाष्य करते हुए शकर लिखते है : "यह सम्भव नही है कि दो ऐसी वस्तुओ मे जो सर्वथा एक-दूसरी से भिन्न है कभी तादात्म्य नही हो सकता।"[7] और जैसा कि उपनिषदो मे कहा

१. शांकरभाष्य, १ : ४, २० ।
२. शांकरभाष्य, १ : ४, २१ ।
३. शांकरभाष्य, १ : ४, २२ ।
४. शांकरभाष्य, ४ : ३, १४ ।
५. देखें, मुण्डकोपनिषद् पर शांकरभाष्य, २ : २, १ ; कठोपनिषद्, २ : २, १ ।
६. शांकरभाष्य, १ : ४, २० ।
७. तैत्तिरीय उपनिषद् पर शांकरभाष्य, २ : ८, १५ ।

है कि ब्रह्म का ज्ञाता ब्रह्म हो जाता है तो ज्ञाता को अवश्य ब्रह्म के साथ एकात्मरूप होना चाहिए।

सर्वोपरि आत्मा तथा जीवात्मा के मध्य आध्यात्मिक एकत्व स्वीकार किया जा सकता है, किन्तु सर्वोपरि आत्मा तथा जीवात्मा के सम्बन्ध विषयक प्रश्न के ऊपर इससे पूर्व विचार नही हो सकता जब तक कि यह इसके यथार्थस्वरूप के ज्ञान तक नही पहुच जाता। हमारी लौकिक अहं रूप आत्माए गति करती है तथा उपाधियो के भार से दबी रहती है।[1] यह अच्छी तरह जानते हुए कि निरपेक्ष पर ब्रह्म तथा जीवात्मा के बीच जो सम्बन्ध है उसे तर्क द्वारा स्पष्ट रूप मे प्रतिपादन नही किया जा सकता, शकर कुछ ऐसे दृष्टान्त प्रस्तुत करते है जिन्हे अर्वाचीन वेदान्त मे विशद प्रकल्पनाओ के रूप मे परिष्कृत किया गया है।

आयरलैण्ड के एक व्यक्ति के विषय मे ऐसा कहा जाता है कि जब उससे पूछा गया कि अनन्त आकाश का वर्णन करो तो उसने उत्तर मे कहा कि "आकाश एक ऐसे सदूक के समान है जिसका ढक्कन, पेदी और पार्श्वभाग उसमे से निकाल दिए गए हो।" जिस प्रकार एक सदूक अपनी सीमाओ से घिरा हुआ आकाश नही है ठीक इसी प्रकार ऐसे जीवन जो मन तथा इन्द्रियो मे बद्ध है ब्रह्म नही है। जब हम अपने सीमित व्यक्तित्व के पार्श्वभागो तथा तली को अलग कर देते है तो हम ब्रह्म के साथ तादात्म्य प्राप्त कर लेते है। प्रतिबन्ध की प्रकल्पना का प्रयोग कई स्थानो पर किया गया है।[2] शकर एक ब्रह्माण्डीय आकाश तथा आकाश के हिस्सो की उपमा का प्रयोग करता है क्योकि इसके द्वारा ब्रह्म तथा जीवात्माओ के साथ के सम्बन्ध विषयक कुछेक लक्षण भली प्रकार समझाए जा सकते है। जब घडे आदि पदार्थो के द्वारा बनाई हुई परिधिया हटा दी जाती है तो सीमाबद्ध आकाश के भाग एक ही ब्रह्माण्डीय आकाश के अन्दर समा जाते है। इसी प्रकार जब देश, काल तथा कारणकार्य सम्बन्ध की परिधिया हटा दी जाती है तो जीव निरपेक्ष परब्रह्म के साथ तादात्म्य सम्बन्ध मे आ जाते है। इसके अतिरिक्त जब एक घडे के अन्दर का आकाश धूल और धुए से भरा हो तो आकाश के अन्य भागो पर इसका असर

१. जब यह कहा जाता है कि आत्मा के सान्निध्य के कारण अहंकार ज्ञाता बन जाता है जो अहंकार में प्रतिबिम्बित हो जाता है तो रामानुज पूछता है : "क्या चैतन्य अहंकार का प्रतिबिम्ब होता है अथवा अहंकार चैतन्य का प्रतिबिम्ब बनता है? प्रथम प्रकार का विकल्प स्वीकार नही किया जा सकता, क्योंकि आप चैतन्य के अन्दर ज्ञाता होने के गुण का आना पसन्द नही करेगे; और यही बात दूसरे विकल्प के विषय मे भी है क्योंकि जड अहंकार कभी भी ज्ञाता नही बन सकता।" (रामानुजभाष्य, १ : १, १)।

२. अवच्छेद्यावच्छेदक। शांकरभाष्य, १ : ३, ७ ; १ : २, ६ ; १ : ३, १४–१८ ; १ : २, ११–१२ ; २ : १, १४, २२ ; २ : ३, १७ ; ३ : २, ३४।

नही पडता। इसी प्रकार जब एक जीव को सुख या दु.ख.का अनुभव होता है तो अन्यो पर उसका असर नही होता। एक देश(आकाश) विशेष को उसकी उपाधियो के कारण भिन्न-भिन्न नाम दिए जाते है किन्तु आकाश स्वय अपरिवर्तित है। जब निरपेक्ष परब्रह्म इन उपाधियो के अन्दर लीन हो जाता है (उपाधि-अन्तर्भाव) तो ब्रह्म का स्वरूप आवरण से छिपा रहता है। (स्वरूप-निरोभाव)और निरपेक्ष ब्रह्म की स्वाभाविक सर्वज्ञता भी उपाधि से परिच्छिन्न रहती है। उपाधियो का यह सम्पर्क उस स्फटिक के समान है जो लाल रग के साहचर्य से लालरग का प्रतीत होता है।[1] आकाश शरीरो के साथ चलता नहीं और न पात्रो के साथ गतिमान होता है।[2] घट के अन्दर जो आकाश है उसे अनन्त आकाश का अश परिवर्तित रूप नही कहा जा सकता, ठीक इसी प्रकार जीव आत्मा के अश अथवा परिवर्तित रूप नही है। जिस प्रकार आकाश बच्चो को धूल से मैला दिखाई देता है इसी प्रकार आत्मा अज्ञानी पुरुषो को बद्ध अथवा पाप से मलिन दिखाई देती है। जब घडा बनता है या टूटता है तब उसके अन्दर का आकाश न बनता है न बिगडता है। इसी प्रकार आत्मा न उत्पन्न होती है और न मरती है। वेदान्त के कुछेक अर्वाचीन अनुयायी इस मत को मानते है और उनके मत मे जीव विश्वात्मा है जिसे अन्त करण सीमित करता है।

प्रतिबन्ध की प्रकल्पना के विरुद्ध यह तर्क किया जाता है कि जब एक जीव अपने पुण्यकर्म की क्षमता के कारण स्वर्ग जाता है तो स्वर्ग मे उसमे प्रतिबन्धित बुद्धि उससे भिन्न है जो मर्त्य लोक मे उसमे प्रतिबन्धित थी। इसका यह असन्तोषजनक नैतिक असर होगा कि हमारे कर्मो का नाश(कृतनाश)तथा ऐसे कर्मो का फल मिलना जो हमने किए न हो (अकृताभ्यागम)। हम यह नही कह सकते कि वही सीमित बुद्धि स्वर्ग को जाती है क्योकि इसका तात्पर्य यह होगा कि जो सर्वव्यापी है उसमे हम गति का आधान करते है। हम घडे को जहा जहा हटाएगे ईथर (आकाश) वहा-वहा उसके साथ नही जाता।

कर्मफलो के उपभोक्ता आत्मा के साथ तादात्म्य प्राप्त करने के लिए उक्त आत्मा को मान्त बुद्धि न मानकर प्रतिबिम्बित बुद्धि माना गया है जो कि अवियुक्त रूप मे प्रतिबिम्ब डालने वाले अर्थात् मन के साथ सम्बद्ध है।[3] बृहदारण्यक उपनिषद् के भाष्य मे[4] शकर प्रतिबिम्ब विषयक प्रकल्पना का सुझाव देते है। जिस प्रकार जल के अन्दर सूर्य और चन्द्रमा केवल प्रतिबिम्ब मात्र है यथार्थ नही है अथवा जिस प्रकार एक श्वेतवर्ण स्फटिक मे लाल रग केवल

१. शाकरभाष्य, ३ : २, १५। आत्मबोध, पृष्ठ १६।
२. शाङ्करभाष्य, १ : ३–८
३ शाङ्करभाष्य, २ : ३, ५० गौडपाद की कारिका पर शाङ्करभाष्य, १ : ६।
४. शाङ्करभाष्य, बृहदारण्यक उपनिषद्, २ : ४, १२। और भी देखे, ब्रह्मबिन्दु उपनिषद्, पृष्ठ १२।

लाल फूल का प्रतिबिम्ब मात्र है यथार्थ नही, क्योकि जल को हटा लेने से केवल सूर्य और चाद रह जाते है प्रतिबिम्ब नही रहता और लाल फूल के हटा लेने से केवल श्वेतवर्ण स्फटिक अपरिवर्तित रूप मे रह जाता है इसी प्रकार सब तत्त्व तथा जीवात्माए एक मात्र यथार्थसत्ता के अविद्या के अन्दर पड़े प्रतिबिम्ब मात्र है और यथार्थ कुछ नही। अविद्या के नाश होने पर प्रतिबिम्बो का अस्तित्व भी नष्ट हो जाता है और केवलमात्र यथार्थसत्ता रह जाती है। निरपेक्ष परब्रह्म बिम्ब (मौलिक सत्ता) है, और जगत् प्रतिबिम्ब है। इसके अतिरिक्त यह विश्व अपनी नानाविध आकृतियो मे एक समुद्र के समान है जिसमे ब्रह्म का प्रतिबिम्ब नाना प्रकार से पड़ता है और शकर इस मत का समर्थन इसलिए करते है कि इसका महत्त्व एक विशेष सुझाव मे है अर्थात् यह देखकर कि इससे इस विषय का प्रतिपादन हो जाता है कि प्रतिबिम्ब की मलीनताओ से मौलिक वस्तु अछूती बची रहती है। जिस प्रकार प्रतिबिम्बो मे परस्पर भेद दर्पणो के परस्पर भेद के कारण होते है, उसी प्रकार निरपेक्ष परब्रह्म जो अद्वितीय है भिन्न-भिन्न अन्त करणो मे प्रतिबिम्बित होकर भिन्न-भिन्न जीवात्माओ के रूप मे प्रकट होता है। जब उस जल मे जिसमे कि प्रतिबिम्ब पड़ते है हलचल होती है तो प्रतिबिम्ब भी स्वय विक्षुब्ध प्रतीत होता है। जहा प्रतिबन्ध की प्रकल्पना के समर्थक यह मानते है कि अविद्या जो एक सूक्ष्म वस्तु है अन्त.-करण के रूप मे अवच्छेदक अथवा प्रतिबन्ध है अथवा विशेषण अथवा जीव का एक आवश्यक भाग है जिसके बिना जीव का अस्तित्व नही रह सकता वहा प्रतिबिम्ब सम्बन्धी प्रकल्पना के समर्थक अन्त करण का केवल उपाधि मानते है[1] और यह एक ऐसा द्रव्य है जो विशुद्ध बुद्धि के प्रतिबिम्ब को ग्रहण करता है और यह इसके लिए उपहार स्वरूप है। किन्तु जीव के वास्तविक स्वरूप के साथ इसका कोई सम्बन्ध नही है।

वेदान्त के कुछेक अर्वाचीन अनुयायी इस मत को मानते है और जीव को विश्वात्मा का अन्त करण के अन्दर पड़ा हुआ प्रतिबिम्ब मानते है।[2] यदि जगत् छाया मात्र है तो ब्रह्म सारवान् द्रव्य है जो इस छाया का कारण है। प्रतिबिम्ब विषयक प्रकल्पना की अनेक आधार पर समीक्षा की जाती है। एक आकृति विहीन वस्तु किसी प्रकार का प्रतिबिम्ब नही डाल सकती और विशेष करके आकृतिविहीन प्रक्षेपक (यथा दर्पण आदि) मे तो सर्वथा ही नही डाल सकती। विशुद्ध प्रज्ञा और अविद्या दोनो आकृतिविहीन है। यदि जीवात्मा एक प्रतिबिम्ब है तो वह पदार्थ जिसका प्रतिबिम्ब पड़ता है अवश्य प्रक्षेपक के बाह्य होना

१. विशेषण एक ऐसा आवश्यक विधेय है जो कि कार्य में समवेत सम्बन्ध से उपस्थित रहता है अर्थात् ऐसी वस्तु जिसका वर्णन किया है किन्तु उपाधि वर्णित वस्तु का आवश्यक गुण नही है। रंग एक रंगीन वस्तु का विशेषण है किन्तु एक मिट्टी का पात्र उस आकाश की उपाधि है जिसे यह अपने अन्दर रोक रखता है।

२. अन्तःकरणेषु प्रतिबिम्ब जीवचैतन्यम्, (वेदान्तपरिभाषा १)।

चाहिए और यथार्थसत्ता को भी जो मौलिक है अवश्य ही विश्व तथा समस्त सृष्टि के पदार्थों से परे होना चाहिए। यह इस दर्शन के अन्तर्यामिता-सम्बन्धी विचार के प्रतिकूल है। प्रतिबिम्ब सम्बन्धी प्रकल्पना भी प्रतिबन्ध परक विचार की समस्याओ से मुक्त नही है। प्रत्येक मन का प्रतिबिम्ब बुद्धि के कारण है जो इसका समीपवर्ती है। और इस प्रकार परिणाम यह निकलेगा कि उसी एक मन के प्रतिबिम्ब भिन्न स्थानो मे भिन्न होगे। इस प्रकार की समीक्षा बुद्धि के समान स्वरूप को भुला देती है। यदि जीव ब्रह्म का प्रतिबिम्ब है तो यह ब्रह्म से भिन्न है और इसीलिए यथार्थ नही है। विवरण नामक ग्रन्थ का लेखक इस समस्या का एक समाधान प्रस्तुत करता है। आखो से निकलनेवाली किरणे प्रक्षेपक मे टकराती हैं। वापस लौटती है और वास्तविक चेहरे को देखने योग्य बनाती है। इस प्रकार प्रतिबिम्ब स्वय मौलिक है। इस विचार को अर्थात् बिम्बप्रतिबिम्बाभेदवाद (अथवा मूल बिम्ब तथा प्रतिबिम्ब मे अभेद) को, स्वीकार नही किया गया। यदि अलकार की शाब्दिक व्याख्या करे तो हमे एक पृथक् ज्योतिर्मय वस्तु की आवश्यकता है, दूसरी वह वस्तु जिसके ऊपर छाया डाली जाएगी, और एक तीसरी वस्तु जो प्रकाश को बीच मे रोकती है। प्रतिबिम्ब के लिए एक वास्तविक अस्तित्व रखने वाले माध्यम की आवश्यकता है जो विक्षेप से भिन्न हो किन्तु यह ब्रह्म के अद्वैतभाव के प्रतिकूल जाता है। ऐसे व्यक्ति जो प्रतिबन्ध और प्रतिबिम्ब सम्बन्धी दोनो ही प्रकल्पनाओ को अस्वीकार करते है[1] कहते है कि अपने सत्यस्वरूप मे अनभिज्ञ निर्विकार ब्रह्म ही जीव है। शकर तथा सुरेश्वर दोनो का झुकाव इस मत की ओर है शरीरधारी चैतन्य ब्रह्म का एक अव्याख्येय रूप है।[2] जीव प्रकट होता है किन्तु कैसे प्रकट होता है सो हम नही जानते।

३८

ईश्वर और जीव

यदि ईश्वर ब्रह्म है, और यदि जीव भी आध्यात्मिक दृष्टि से ब्रह्म के समान है, और यदि दोनो प्रतिबन्धो के अधीन है तो ईश्वर तथा जीव के मध्य का भेद बहुत न्यून हो गया। शकर का मत है कि जहा ईश्वर सर्वज्ञ है, सर्वशक्तिमान् है और सर्वव्यापक है, वहा जीव अज्ञानी है, लघु आकृति तथा दुर्बल है। "वह प्रभु जो निरतिशयोपाधि से युक्त है[3] जीवात्माओं के ऊपर हीनतर प्रतिबन्धक सहायकों के साथ शासन करता है।[4] ईश्वर सदा अविद्या से मुक्त है।[5] ईश्वर के प्रतिबन्धो से उसके ज्ञान पर कोई प्रभाव

१. इन प्रकल्पनाओं की समीक्षा के लिए देखें, साख्यप्रवचनभाष्य, १ : १५२ और १५३।

२. देखें, बृहदारण्यक उपनिषद् पर शांकरभाष्य, २ : १।

३. शांकरभाष्य, २ : ३, ४५। ४. शांकरभाष्य, २ : ३, ४३।

५. नित्यनिवृत्ताविद्यात्वात् (शांकरभाष्य, ३ : २, ९)।

नही पडता। ईश्वर की माया उसके अधीन है और इसलिए ईश्वर के स्वरूप का आवरण नही होता। अविद्या उसके गुणो को छिपाती नही, ठीक जैसे कि एक काच, जो पदार्थों का आवरण बनकर भी उनके गुणो को नही ढकता है। माया, जो ईश्वर की उपाधि है, शुद्ध तत्त्व से बनी है और अविद्या अथवा अन्त करण को उत्पन्न नही करती। यह उसके वश में है और सृष्टि-रचना तथा सहार मे उसकी सहायता करती है। यह माया अथवा आत्माभिव्यक्ति की शक्ति, जो ईश्वर के अन्दर है, जिसका परिणाम जगत् का अनेकत्व है, जीवात्मा के अन्दर भ्रम उत्पन्न करती है जिससे मिथ्या-विश्वास के कारण वह जगत तथा उसके अन्तर्गत आत्माओ को स्वतन्त्र समझने लगता है। अविद्या माया का परिणाम है। ब्रह्म का विशुद्ध चैतन्य जब इन अर्थो म माया के साहचर्य मे आता है तब उसे ईश्वर कहते है और जब अविद्या के साहचर्य म आता है तो उसे जीव कहा जाता है। चूकि सृष्टिरचना म ईश्वर की कोई स्वार्थमयी इच्छा अथवा हित नही है, इसलिए उसे अकर्ता कहा गया है किन्तु जीव कर्ता है। ईश्वर की पूजा होती है और वह कर्मों के अनुसार पुरस्कार वितरण करता है और उसे ब्रह्म के साथ अपने ऐक्यभाव का ज्ञान है। इस प्रकार सब समय वह अपने मन म परमानन्द का सुख प्राप्त करता है। जीव पूजा करनेवाला है जिसे अपने दिव्य उत्पत्ति स्थान का ज्ञान नही है और इसीलिए उसे ससार म आना जाना है। धार्मिक क्षेत्र म हम स्वामी तथा भृत्य का-सा सम्बन्ध दिखाई देता है।[1] अन्य स्थान पर सान्त जीवात्माओ को ईश्वर का अशरूप बताया गया है जैसे चिनगारिया अग्नि का अश होती है।[2]

अर्वाचीन अद्वैत म ईश्वर तथा जीव के सम्बन्ध-विषयक भिन्न-भिन्न सुझाव दिए गए है जिनके ऊपर हम यहा सक्षेप म दृष्टिपात करेगे। 'प्रकृतार्थविवरण' म कहा गया है 'उस माया म, जो अनादि तथा अवर्णनीय है और जो जड जगत् का उत्पत्ति स्थान है और जिसका सम्बन्ध केवल बुद्धि के ही साथ है, बुद्धि का प्रतिबिम्ब ही ईश्वर है। उसी माया के असख्य लघु अशो के अन्दर जो प्रतिबिम्ब है जिसमे दो शक्तिया आवरण तथा विक्षेप की है और जिसे अविद्या कहा जाता है वह जीव है।'[3] इस ग्रन्थकर्ता के अनुसार माया और अविद्या पूर्ण इकाई तथा अशो का वर्णन करते है। माया ईश्वर के आश्रित है, अविद्या जीव के। इसी प्रकार का मत सक्षेप शारीरक ने भी स्वीकार किया है यद्यपि यहा पूर्ण इकाई तथा अशो का भेद अविद्या तथा अन्त करण का है, जिसमे अविद्या कारण है और अन्त करण कार्य है।[4] चूकि यह ग्रन्थकार प्रतिबिम्ब की प्रकल्पना का समर्थन करता है, यह पूर्ण इकाई तथा अशो के विभाग

१ २ : ३, ४३। २ शाकरभाष्य, २ : ३, ४३।

३. अनादिरनिर्वाच्या भूतप्रकृतिश्चिन्मात्रसम्बन्धिनी माया, तस्या चित्प्रतिबिम्ब ईश्वर। तस्या एव परिच्छिन्नानन्तप्रदेशेष्वावरणविक्षेपशक्तिमत्स्वविद्याभिधानेषु चित्प्रतिबिम्ब जीव इति, (सिद्धान्तलेश, १)।

४. अविद्याया चित्प्रतिबिम्ब ईश्वर ; अन्त करणे चित्प्रतिबिम्बो जीव. (सिद्धान्तलेशसग्रह)।

को स्वीकार नहीं करता। पचदशी नामक ग्रन्थ एक प्रकार का भेद मानता है जो इससे मिलता-जुलता है। मूल प्रकृति का आद्य जडतत्त्व, जिसमे तीन गुण है, दो रूप का है। इसका वह भाग जो सत्त्व, रजस् तथा तमस् के अधीन नहीं है, किन्तु उक्त दोनों पर आधिपत्य रखता है, माया कहा जाता है और ईश्वर के आश्रित है, और वह जिसमे सत्त्व अन्य दोनो गुणो के अधीन है, अविद्या कहलाता है और यह जीव के आश्रित है। यहा माया और अविद्या का भेद सख्या के रूप मे नही, अपितु गुणपरक है। पचदशी के एक वाक्य मे भी यह आता है जहा पर प्रकृति को अपनी विक्षेपक शक्ति के साथ माया कहा गया है। और वही जिसमे छिपाने की शक्ति का प्राधान्य है, अविद्या है।[1] पचदशी मे[2] विद्यारण्य आकाश के अन्दर इस प्रकार भेद करता है : (१) घट के अन्दर आबद्ध, अर्थात् घटाकाश; (२) वह आकाश जो बादलो, तूफानो आदि के साथ घडे के अन्दर पडे हुए जल मे प्रतिबिम्बित होता, अर्थात् जलाकाश, (३) सीमाविहीन महदाकाश, और (४) वह आकाश जो जल के कणो मे प्रतिबिम्बित होता है, जो फुहार के समान है, जिसे आकाश के बादलो मे अवस्थित रूप मे अनुमान के द्वारा पीछे मे बरसनेवाली वर्षा के द्वारा जाना जा सकता है, अर्थात् मेघाकाश। ठीक इसी प्रकार चितिशक्ति के भी चार विभाग है : (१) कूटस्थ, अर्थात् अपरिवर्तनशील चितिशक्ति, जो स्थूल तथा सूक्ष्म शरीरो से प्रतिबद्ध है, (२) चितिशक्ति, जिसका मन के अन्दर प्रतिबिम्ब पडता है, जिसे भूल से अपरिवर्तनशील चितिशक्ति के ऊपर बलात् ऊपर से आरोपित किया गया है यह जीव है, (३) अनन्त चितिशक्ति, और (४) वह चितिशक्ति जो सब प्राणियो के मन के सूक्ष्म[3] प्रभावो के अन्दर प्रतिबिम्बित होती है और जो मेघरूपिणी माया के अन्दर अवस्थित है और जिसका ईश्वररूपी ब्रह्म के ऊपर प्रभाव है। उक्त विवरण मे यह परिणाम निकलता है कि जहा जीव मन के अन्दर प्रतिबिम्बित चितिशक्ति का नाम है, ईश्वर वह चितिशक्ति है जो माया के अन्दर प्रतिबिम्बित है और माया प्राणिमात्र के सूक्ष्म प्रभावो से रजित है। 'पचपादिकाविवरण' नामक ग्रन्थ का रचयिता जीव को ईश्वर का प्रतिबिम्ब मानता है।[4] कही-कही माया मे प्रभावित जीव को ही ईश्वर कहा गया है।

३९

एकजीववाद तथा अनेकजीववाद

शंकर ऐसे सिद्धान्त का समर्थन नही करते जिसके अनुसार अविद्या की उपाधि से युक्त

१. १। २. ६।

३. धीवासना।

४. ये सब बृहदारण्यक उपनिषद्, ६ : ७, और भगवद्गीता के ऐसे वाक्यों को, जैसे 'ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति' को अपने मत की पुष्टि के लिए आधार मानते हैं।

जीव एक है जिस प्रकार अविद्या एक है। क्योंकि यदि सब आत्माए एक जीव है तब जब पहली-पहली बार कोई एक आत्मा मुक्ति को प्राप्त होती है तो सासारिक जीवन की समाप्ति हो जानी चाहिए थी किन्तु तथ्य ऐसा नही है। ब्रह्म अविद्या से उत्पन्न भिन्न-भिन्न अन्त:करणो की उपाधि से प्रतिबन्धित अनेक जीवात्माओ मे विभक्त हो जाता है, किन्तु माया और अविद्या के ब्रह्म के साथ सम्बन्ध की समस्या ने अर्वाचीन अद्वैत के अन्दर अनेक प्रकल्पनाओ को जन्म दिया जिनमे से मुख्य दो है— एकजीववाद और अनेकजीववाद।

> जीव एक है और भौतिक शरीर भी एक है। यह शरीरधारी चितिशक्ति यथार्थ है एव अन्य शरीरो मे स्वप्न मे देखे गए शरीरो के समान चितिशक्ति का अभाव पाया जाता है। अनेकत्व विशिष्ट जगत् एक जीव की अविद्या के कारण कल्पित किया गया है किन्तु इस प्रकार के एकजीववाद का ब्रह्मसूत्र, २ १, २२, २ १, ३३ और १ ७, ३ के साथ विरोध होता है। जगत् का स्रष्टा जीव नही है, किन्तु जीव मे भिन्न ईश्वर है, जिसकी सृजनात्मक क्रियाशीलता केवल लीला के कारण है। क्योंकि उसकी समस्त इच्छाए पहले से ही पूर्ण है इसलिए उसे सृष्टिरचना के लिए अन्य कोई प्रेरक भाव नही हो सकता। इस प्रकार इन लेखको का मत है कि मुख्य जीव एक ही है अर्थात् हिरण्यगर्भ जो ब्रह्म का प्रतिबिम्ब है और अन्य जीव उसी एक जीव के केवल-मात्र आभास है जो हिरण्यगर्भ के प्रतिबिम्ब है और इन्ही आभासो के साथ बन्धन तथा अन्तिम मोक्ष सम्बद्ध है। ये लेखक जीव की एकता के सिद्धान्त को इस शर्त के साथ स्वीकार करते है कि अनेक भौतिक शरीर भी विद्यमान है जिनमे से प्रत्येक के अन्दर एक अयथार्थ जीव है। एकजीववाद का एक तीसरा भेद भी है जिसके अनुसार जीव एक ही है जो अनेक शरीरो मे से प्रत्येक के अन्दर रहता है। चितिशक्ति का व्यक्तित्व भौतिक शरीरो के सख्या-सम्बन्धी भेद के ऊपर निर्भर करता है। इस मत को माननेवाले कहते है कि इस प्रकार की आपत्ति मे कोई बल नही है कि जिस प्रकार वही एक व्यक्ति जब कि उसके शरीर के भिन्न-भिन्न भाग प्रभावित होते है नाना प्रकार की अभिज्ञता रखता है, इसी प्रकार एक ही जीव उन सब सख्याकृत भिन्न-भिन्न भौतिक शरीरो के, जिनमे वह रहता है, सुख-दुःख से भी अभिज्ञ हो सकता है। क्योंकि उनका कहना है कि यह तथ्य कि हमे पूर्वजन्मो के सुख एव दुःख का ज्ञान नही रहता, यह सिद्ध करता है कि यह भौतिक शरीरो का सख्याकृत भेद ही है जिसके कारण इस प्रकार के ज्ञान मे बाधा आती है। वे जीव के एकत्व-सम्बन्धी सिद्धान्त के साथ-साथ शरीरो के अनेकत्व को भी मानते है।

अविद्या के सम्बन्ध मे जो भिन्न-भिन्न विचार है उनके कारण अनेकजीव-वाद के भी विविध भेद है। (१) अन्तःकरण के रूप मे जो अविद्या की उप-स्थिति है यह जीव के स्वरूप के लिए अनिवार्यत आवश्यक है। यदि अन्त:-करण आदि ऐसी उपाधिया है जो किसी जीव का निर्माण करती है और यदि

ऐसी इन्द्रिया अनेक है तो परिणाम यह निकलता है कि जीव भी अनेक है। (२) दूसरो का मत है कि यद्यपि अविद्या एक है जो ब्रह्म के अन्दर अधिष्ठान के रूप मे निवास करती है तथा ब्रह्म को ढक देती है, और मोक्ष भी इसके अतिरिक्त और कुछ नही कि इस अविद्या का नाश हो जाता है तो भी अविद्या के हिस्से हैं और यह अवश्य स्वीकार करना चाहिए कि अविद्या के कुछ हिस्से (जिसे दूसरे शब्दो मे इसकी विक्षेपकशक्ति कहा गया गया है) ऐसे मनुष्य की अवस्था मे विद्यमान रहते है जो जीवन्मुक्त हो जाता है, यह अविद्या एक अंश मे तब समाप्त हो जाती है जब ब्रह्म का ज्ञान उत्पन्न होता, और अन्य भागो मे, अर्थात् शेष प्रतिबन्धक अवस्थाओ मे, पूर्व की भाति निरन्तर रहती है। (जीवन्मुक्त अवस्था मे जीवात्मा अपने शरीर के अस्तित्व से अभिज्ञ रहता है, संस्कार के रूप मे अथवा मानसिक धारणा के रूप में जो अविद्या का सूक्ष्म-रूप है, विदेह-कैवल्य की अवस्था मे शरीर की चितिशक्ति विलुप्त हो जाती है।) (३) एक तीसरे प्रकार का मत, उक्त मत के ही सदृश, यह मानता है कि बन्धन अविद्या तथा चितिशक्ति के कारण ही होता है और इस सम्बन्ध की समाप्ति पर ही मोक्ष प्राप्त होता है। अविद्या का चितिशक्ति के साथ क्या सम्बन्ध है, इसका निर्णय अन्तःकरण अथवा मन के द्वारा ही होता है। जब ब्रह्म के साक्षात्कार से मन की समाप्ति हो जाती है तब अविद्या का सम्बन्ध भी चितिशक्ति के उस विशेष भाग के साथ समाप्त हो जाता है यद्यपि पूर्व की भाति चितिशक्ति के शेष भागों के साथ यह सम्बन्ध बराबर बना रहता है। (४) अविद्या एक पूर्ण इकाई है और यह प्रत्येक जीव में पूर्णरूप मे अवस्थित रहती है, जो जीव मे ब्रह्म को ढके रहती है। परम मोक्ष तब प्राप्त होता है जब अविद्या किसी जीव का साथ छोड़ देती है। (५) अविद्या के कई भाग हैं, जो प्रत्येक जीव को बाटे गए है। जीव-विशेष से सम्बद्ध अविद्या के नाश का नाम ही मोक्ष है। जगत् का उत्पत्ति-स्थान एक पूर्ण इकाई के रूप में सामुदायिक रूप में सब अविद्याओ के अन्दर है और ज्यों ही इनमें से कोई भी सूत्र नष्ट हो जाता है तो यह समाप्त हो जाता है और उस समय शेष बचे हुए सूत्रो में जैसे कपड़े का एक नया थान उत्पन्न होता है इसी प्रकार यह जगत् सब अविद्याओ से सामूहिक रूप मे उत्पन्न होता है और जब जीवों में से कोई भी मोक्ष प्राप्त करता है तो यह समाप्त हो जाता है और उस समय सब जीवो के लिए एक सामान्य नया जगत् शेष अविद्याओ में उत्पन्न होता है। (६) अविद्या का प्रत्येक भाग एक पृथक् तथा भिन्न प्रकार के जगत् को जन्म देता है। ऐन्द्रिक तथा समस्त जगम जगत् प्रत्येक व्यक्ति के लिए परिमित है और उस व्यक्ति-विशेष के अन्दर रहनेवाली अविद्या से उत्पन्न हुआ है उसी प्रकार जिस प्रकार केवल प्रतीति-रूप चादी (जिसका आभास सीप के स्थान पर हुआ है) प्रत्येक द्रष्टा के लिए भिन्न है और उस व्यक्तिविशेष के अन्दर रहनेवाली अविद्या से उत्पन्न हुई है।·· किन्तु ये अनेक जगत् एकरूप प्रतीत हो यह उसी प्रकार एक

बिलकुल मिथ्या विचार है जैसे कि यह कहना कि "मैंने भी उसी चादी को देखा जिसे तुमने देखा।" (७) कुछ दूसरो का मत है कि जगत् केवल एक ही है जिसका उपादान कारण माया है और जो ईश्वर मे रहती है और जो जीवो मे रहनेवाली अविद्याओ के पुञ्ज से भिन्न है। दूसरी ओर इन अविद्याओ का काम अशत ब्रह्म को ढकना और अशत प्रतीतिरूप पदार्थो का विक्षेप द्वारा प्रदर्शन करना है, जिस प्रकार मिथ्यारूप चादी जो सीप के अन्दर दिखाई दी, तथा वे पदार्थ जो स्वप्न मे दिखाई दिए।[1]

४०

नीति शास्त्र

इस विश्व के समग्र विषय क्रम मे केवल मानवीय जीवात्मा ही एकमात्र नैतिक नियमो के आधीन है। वह जानता है कि उसके सम्बन्ध अनन्त तथा सान्त दोनो लोको के साथ है। सान्त जगत् मे अनन्त का व्यापार कवितामय दृष्टिकोण नही वरन् दर्शन-शास्त्र का एक गम्भीर सत्य है। उस अनन्त (ब्रह्म) का समस्त सान्त जगत् मे निवास है और मनुष्य इस तथ्य से अभिज्ञ है। यद्यपि वह एक ऐसे सघटन मे आबद्ध है जिसका निर्णीत निर्माण यान्त्रिक रचना की दृष्टि से भूतकाल के द्वारा होता है तो भी सत्य, सौन्दर्य और कल्याण रूपी अनन्त आदर्श उसके अन्दर कार्य करते है तथा उसे इस योग्य बनाते है कि वह उक्त आदर्शो मे चुनाव कर सके तथा उन्हे अधिकतर क्रियात्मक रूप दे सके। यह इसलिए है चूकि अनन्त ब्रह्म की अभिव्यक्ति अत्यधिक रूप मे मनुष्य-नीति के ही अन्दर होती है और इसीलिए मनुष्य नैतिक तथा तार्किक क्रियाशीलता का अधिकारी है।[2] जब तक जीवात्मा उक्त नैतिक आदर्शो के लिए परिश्रम करता है किन्तु उन्हे प्राप्त नही कर लेता तब तक वह बन्धन मे है, किन्तु जैसे ही वह अनन्त ब्रह्म के समीप पहुचता है, आन्तरिक खिचाव शिथिल हो जाता है और आनन्द के स्वातन्त्र्य से उसकी आत्मा पूर्ण हो जाती है। ब्रह्म का साक्षात्कार ही जीवन की समस्त क्रियाओ का उद्देश्य है क्योकि ब्रह्म केवल सत् एव चित् ही नही है वरन् आनन्द-रूप भी है। और इस प्रकार समस्त प्रयत्नो का ध्येय है।[3] ब्रह्मात्मैकत्व अथवा अनन्त यथार्थ सत्ता के साथ तादात्म्य भाव का बोध ग्रहण ही जीवन का अन्तिम लक्ष्य है, "प्रत्येक आत्मा का समुचित भोजन"[4] और एकमात्र सर्वश्रेष्ठ तथा महत्त्वपूर्ण है। जब तक इसकी प्राप्ति नही होती, सान्त आत्मा अपने-आप मे बेचैन रहती है।" तीनो लोको मे प्रत्येक व्यक्ति सुख के साधनो के सचय के लिए प्रयत्नवान् रहता है, दुख के साधनो के लिए नही।"[5] सब मनुष्य सर्वोत्तम की खोज मे रहते है और उसे

१. देखें सिद्धान्तलेश।
२. प्राधान्यात्...कर्मज्ञानाधिकारः (शाकरभाष्य, तैत्तिरीय उपनिषद, २ : १)
३. 'प्रयोजनसूचनार्थम् आनन्दग्रहणम्' (वेदान्तपरिभाषा पर शिखामणि की टीका-प्रस्तावना)।
४. फीड्स, पृष्ठ २४७।
५. शतश्लोकी, पृष्ठ १५।

प्राप्त करने का प्रयत्न करते है जैसा कि ब्राउनिंग ने भी कहा है :

> "उन सबका, जो अपने मिथ्या कर्म के रहते हुए भी, श्रेष्ठता से सम्पृक्त हैं, सभी का झुकाव ऊपर की दिशा मे है यद्यपि वे दुर्बल है, खान मे उगनेवाले ऐसे वानस्पतिक पौधो के समान, जिन्होने कभी सूर्य का लाभ नही उठाया, वे केवल उसका स्वप्न देखते और अनुमान कर लेते है वह कहा हो सकता है, और इस प्रकार अपनी ओर से पूरा-पूरा पुरुषार्थ उस तक पहुचने के लिए करते है ।"

ऐसे सर्वोत्तम फल भी जो हम सासारिक जीवन-रूपी वृक्ष से तोड़ सकते है, हमारे मुख मे जाकर भस्म हो जाते है । सर्वाधिक सुख नीरस हो जाता है, यहा तक कि स्वर्ग का जीवन भी अत्यल्प अथवा क्षणभगुर है । कल्याणकारी कर्ममात्र अथवा मधुर सगीत-लहरी का आनन्द अथवा चिन्तनशील अन्तर्दृष्टि क्षणभर के लिए हमे अपने व्यक्तित्व के सकीर्ण क्षेत्र से ऊपर उठाता प्रतीत हो सकता है किन्तु ये सब हमे चिरस्थायी सन्तोष प्रदान नही कर सकते । केवल एक ही विषय ऐसा है जो हमे चिरस्थायी सन्तोष प्रदान कर सकता है और वह है ब्रह्म का अनुभव । यही सुख तथा शान्ति की सर्वोच्च अवस्था है एवं जीवात्मा के विकास की पूर्णता है ।[1] दुर्भाग्यवश हमे कष्ट इसलिए होता है कि हम इस जगत् मे लिप्त रहते है, इसके छायाभासो के उपर भरोसा रखने मे रुचि दिखाने और जब परिमित सन्तोष की उपहास-रूप प्रतिक्रिया, ज्योही हम उनके समीप पहुंचने लगते है, विलोप हो जाती है तो निराशा का अनुभव करने लगते है । "जीवात्मा पाप और सन्ताप मे निरतर नीचे ही नीचे डूबता जाता है जब तक वह यह समझता है कि यह शरीर ही आत्मा है, किन्तु ज्यो ही उसे यह निश्चय हो जाता है कि यह विश्वात्मा का ही अश है, उसका दुःख-सन्ताप नि शेष हो जाता है ।"[2] हम यथार्थ सत्ता को अपने किसी मानसिक आदर्श के अनुकूल बनाकर स्वार्थसिद्धि नही कर सकते किन्तु केवल मात्र उसका शासन कर सकते है । शकर की दृष्टि मे, दर्शनशास्त्र की उत्पत्ति 'क्या होना चाहिए' मे नही, अपितु 'क्या है' इसके बोधग्रहण मे है । अनन्त सत्ता का यथार्थ सत्ता के रूप मे आध्यात्मिक ज्ञान हमे शाति और सुख की ओर ले जाता है ।

समस्त नैतिक कल्याणकारी कार्यो का महत्त्व इसीमे है कि वे उद्देश्य-प्राप्ति के साधन है क्योकि वे भेदपरक जगत् से जकडे हुए है । आत्मसाक्षात्कार ही परम कल्याण-

१. "मोक्ष का सार असीम सुख तथा दुःख का नितात अभाव है । चूकि यह सर्वथा स्पष्ट है कि मनुष्य दोनों को चाहते है इसलिए मोक्ष की कामना सदा ही बनी रहती है" (संक्षेप शारीरक, १ : ६७)। तुलना करें, स्पिनोज़ा : "हमारा समस्त सुख अथवा दुःख केवल ऐसे प्रमेय पदार्थ के ऊपर निर्भर करता है जिसके ऊपर हमारा प्रेम केन्द्रित है—किन्तु ऐसी सत्ता के प्रति प्रेम, जो नित्य और अनन्त है, मन को ऐसे सुख मे भर देता है जिसमें शोक व दुःख का लेशमात्र भी नही है" ('द इंटेलेक्टस् एमेंडेशन', पृष्ठ ६ और १०)।

२. शाङ्करभाष्य, मुण्डकोपनिषद् पर, ३ : १, २ ।

कारी कार्य है एव नैतिक कल्याणकारी कर्म केवल सापेक्ष दृष्टि से ही इस श्रेणी मे आ सकते है। नैतिक दृष्टि से जो कल्याणकारी है वही अनन्त की प्राप्ति मे सहायक हो सकता है और जो नैतिक दृष्टि से अश्रेयस्कर है वह इसके प्रतिकूल है।

उचित कर्म वह है जो सत्ता को धारण करता है और अनुचित वह है जो असत्य मे पूर्ण है।[1] जो कोई भी कर्म हमे उत्तम भविष्य जीवन की ओर ले जाते है वे कल्याणकारी कर्म है और जो हमे अधम प्रकृति के भविष्य-जीवन की ओर ले जाते है वे पापकर्म है। जीवात्मा अपने अनन्त स्वरूप को उत्तम बनाने का प्रयत्न करता है और अधिकाधिक देव-स्वरूप बनने की चेष्टा करता है। ईश्वर मे सर्वोच्च यथार्थता है और जगत् उसकी रचना है। ईश्वर मे विश्वास रखने वाले पुरुष को चाहिए कि वह समस्त विश्व से प्रेम करे, क्योकि यह ईश्वर की कृति है। सच्ची शान्ति तथा श्रेष्ठता स्वाधिकार के प्रति आग्रह करने मे नही है, न व्यक्ति के निजी कल्याण के लिए प्रयत्न करने मे ही है, अपितु अपने को विश्व के यथार्थ सत् के प्रति भेट-रूप मे समर्पण कर देने मे है। अहकार का भाव सबसे अधिक अशुभ कर्म है तथा प्रेम और दया सबसे अधिक कल्याणकारी कर्म है। समाज-कल्याण के साथ अपनी एकता स्थापित करके हम यथार्थ मे अपने वास्तविक उद्देश्यो की प्राप्ति करते है। प्रत्येक व्यक्ति को अपनी इन्द्रियो का, जो अहकार उत्पन्न करती है, दमन करना चाहिए, अभिमान का स्थान नम्रता को देना चाहिए, क्रोध का स्थान क्षमा को, परिवार के प्रति सकीर्ण आसक्ति के भाव का स्थान जीवमात्र के प्रति उपकार के भाव को देना चाहिए। कर्म-मात्र का ही इतना महत्त्व नही है जितना कि उस इच्छा का है जो अपने स्वार्थमय हित का दमन करके सामाजिक हित की इच्छा को प्रधानता देती है। कर्तव्य के रूप मे मनुष्य को इस प्रकार के अवसर दिए गए है कि वह अपने पृथक् आत्म-भाव को छोडकर सारे जगत् की उन्नति मे अपनी उन्नति समझे। शङ्कर अपने समय की मान्यताओ को स्वीकार करते हुए हमे उपदेश देते है कि शास्त्र द्वारा निषिद्ध पाप-कर्मो से हमे बचना चाहिए। वेद का स्वाध्याय, यज्ञ, दान, तपश्चर्या और उपवास ये सब ज्ञान-प्राप्ति के साधन है।[2] ये सदाचार के पोषक है, आत्मा को पवित्र करते और अन्तर्दृष्टि को सूक्ष्म बनाते है यद्यपि कुछेक अपवाद-स्वरूप आत्माए सत्य को तुरन्त ग्रहण कर ले सकती है तो भी एक साधारण मनुष्य के लिए समय और पुरुषार्थ की आवश्यकता होती है। जीवन के दैनिक कर्तव्यो की पूर्ति तथा गृहस्थ-सम्बन्धी पवित्रता की माग मन को ब्रह्म-साक्षात्कार के योग्य बना देती है।[4] वैदिक कर्मकाण्ड, यदि उसका नियमपूर्वक पालन किया जाए तो, अभ्युदय (अर्थात्, यौगिक अर्थो मे ससार-रूपी सोपान के ऊपर चढ़ना अथवा उन्नति करना) का कारण है किन्तु निश्रेयस् अर्थात् मोक्ष का कारण नही है।[5] जहा परम यथार्थ सत्ता के स्वरूप-ज्ञान के लिए आध्यात्मिक अन्तर्ज्ञान का

१. तुलना करें, "ऐसा प्रत्येक व्यक्ति, जो कुकर्म करता है, प्रकाश से घृणा करता है" (संट जान, ३ : १९)।

२. बृहदारण्यक उपनिषद्, ४ : ४, २२। ३. शाङ्करभाष्य, ३ : ४, २६।

४. ४ : १, ४। ५. मुण्डकोपनिषद् पर शाङ्करभाष्य, प्रस्तावना।

परिणाम मोक्ष होता है वहां ईश्वर की पूजा किसी भी रूप मे नानाविध कार्यों की ओर हमें ले जाती है यद्यपि ये सब सासारिक जगत् तक ही सीमित है।[1] वे हमे स्वार्थपरक इच्छा, घृणा तथा आलस्य से बचने में एवं दुःख के समय धैर्य, शान्ति तथा स्थिरता प्राप्त करने मे सहायक होते है। भक्तिपूर्वक ध्यान लगाने से ज्ञान-प्राप्ति होती है। भक्ति ज्ञान में सहायक होती है। यथार्थ ज्ञान केवल ऐसे ही पुरुष प्राप्त कर सकते है जिनके मन कठोर नियन्त्रण द्वारा इसके लिए मज्जित है। इसका तात्पर्य यह नही है कि मन के अन्दर एक इस प्रकार के ज्ञान को डालना है जिससे वह वञ्चित है। सत्य आत्मा के मध्य मे विद्यमान है। वह अपना प्रकाश दे सके, इसके लिए मन को नश्वर जगत् की ओर से हटाना चाहिए। हमे अपनी बोधग्रहण की शक्ति को ऐसा पारदर्शक बनाना चाहिए जैसा कि लैम्प का शीशा होता है जिसमे से अन्दर का प्रकाश अपनी चमक देता है। "यद्यपि आत्मा सब कालो मे विद्यमान है और सब वस्तुओ मे है किन्तु वह सब वस्तुओ में प्रकाशित नही होती। उसका प्रकाश केवल बोधशक्ति अथवा मेधा के द्वारा ही होता है जिस प्रकार प्रतिबिम्ब केवल चिकने धरातलो पर ही पड सकता है।"[2] शङ्कर ने दार्शनिक ज्ञान को बहुत महत्त्व दिया है और यह धार्मिक जीवन व्यतीत करने से ही प्राप्त हो सकता है। ज्ञान ही एकमात्र मोक्ष की ओर ले जाता है अन्य साधन परोक्षरूप मे उसकी प्राप्ति के लिए साधन बनते है।[3] "ब्रह्म को जानने की अभिलाषा ऐसे ही पुरुष के अन्दर उठती है जिसका मन पवित्र हो, जो कामनाओ के वश मे न हो और जो इस जन्म मे अथवा पूर्व-जन्मो मे किए कर्मो मे स्वतन्त्र होकर लक्ष्यो तथा उनके साधनो के बाह्य एव अल्पकालिक मिश्रण मे निराश हो चुका हो।"[4] शङ्कर योगभ्यास के सिद्धान्त को मानते है जिसका मुख्य लक्ष्य है समाधि, जिसे उन्होने सराधन अथवा पूर्ण सन्तोष का नाम दिया है और जिसका अर्थ है इन्द्रियो को प्रत्येक बाह्य वस्तु से हटाकर अपने ही स्वरूप के अन्दर केन्द्रित करना। अद्वैत यम, नियम आदि बहिरग साधनो तथा धारणा और ध्यान-रूपी अन्तरग साधनो मे भेद मानता है।[5] आभ्यन्तर माग है कि नित्य और अनित्य के अन्दर भेद करना चाहिए, लौकिक अथवा पारमार्थिक कल्याण के लिए सब प्रकार के

१. शाङ्करभाष्य, १ : १, २४ ; और भी देखें, ३ : २, २१।

२. सदा सर्वगतोऽप्यात्मा न सर्वत्रावभासते।
बुद्धावेवावभासेत स्वच्छेषु प्रतिबिम्बवत् ॥ (आत्मबोध, पृष्ठ १७)

३. शाङ्करभाष्य, ४ : १, १ ; तैत्तिरीय उपनिषद पर शाङ्करभाष्य, १ : ३
प्लेटो दार्शनिकों के लिए ज्ञान-प्राप्ति का विधान करता है जिसका अन्तिम फल कल्याण-(श्रेयस) का विचार है तथा अन्यों के लिए सत्य सम्मति का जिसकी पहुंच अपने स्थान तथा कर्तव्यों तक ही है। देखें, 'फीडो' और 'रिपब्लिक'। इसी प्रकार अरस्तू साधारण पुरुषों के लिए 'नैतिक धर्मों' का विधान करता है जो अधिकतर 'मानवीय व्यापार है' और ऐसे मनुष्यों के लिए, जिनका लक्ष्य अमरत्व-प्राप्ति है, तर्क का प्रयोग बताया गया है "जो उत्तम तथा दैवीय वस्तुओं का बोध करा सकता है।" ('निकोमैकीन' एथिक्स, १० : ८)।

४. केनोपनिषद् पर शाङ्करभाष्य, प्रस्तावना और भी देखें, छान्दोग्य उपनिषद् पर शांकरभाष्य, प्रस्तावना ; और ८ : ५, १; बृहदारण्यक; ४ : ४, २२ ; कठ १ : २, १५।

५. वेदांत प्रतिपादित श्रवण और मनन, धारणा इसके उपायों के अनुकूल है। तथा निदिध्यासन ध्यान के और दर्शन समाधि के अनुकूल है।

स्वार्थपरक प्रयत्नो से अनासक्ति तथा शाम, दाम, उपरति (त्याग), तितिक्षा, समाधि (एकाग्रता) तथा मानसिक श्रद्धा और अन्त में मोक्ष-प्राप्ति के लिए उत्कट अभिलाषा की आवश्यकता है। इन सबसे सत्य ज्ञान का उदय होता है।[1]

एक ऐसा विचारक, जो सत्य के एक विस्तृततर विचार की ओर पग बढा रहा है, अपने समय की सामान्य मान्यताओ की सर्वथा उपेक्षा नही करता। यद्यपि जन्म के ऊपर आश्रित वर्ण की व्यवस्था का प्रभाव शकर की दृष्टि मे शक्तिशाली नही रह गया था, तो भी, उन्होने इसके अन्दर विश्वास के लिए गुंजाइश रखी है। इस प्रकार की परम्परागत प्रकल्पना के आधार पर, कि किसी वर्ण-विशेष मे जन्म लेना आकस्मिक घटना नही है वरन् किसी पूर्व जन्म मे किए गए आचरण का आवश्यक परिणाम है, शकर का झुकाव उच्च वर्णो के मनुष्यो, देवताओ तथा ऋषियो के लिए ही वेदाध्ययन का अधिकार मानने की ओर है।[2] यद्यपि शकर का यह मत है कि किसी भी वर्ण का कोई भी मनुष्य उच्चतम ज्ञान प्राप्त कर सकता है। उनका आदेश है कि ऐसे मनुष्यो को जो ब्राह्मण धर्म मे प्रतिपादित जीवन के नियमो का पालन करते है, वर्णो तथा आश्रमो के लिए निर्दिष्ट कर्तव्यो पर आचरण करना चाहिए। यद्यपि ब्राह्मण का कार्य वेदाध्ययन करना तथा ज्ञान-सम्पादन करना है, अन्यो को पूजा इत्यादि करनी चाहिए तथा ब्रह्म-ज्ञान-प्राप्ति के उसी सामान्य लक्ष्य को प्राप्त करना चाहिए।[4] शकर के विचारो मे इस प्रकार के दावे के लिए कि केवल वेदाध्ययन ही से ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति होती है, समर्थन ढूढना कठिन है। दर्शनशास्त्र तथा हिन्दू धर्म-सम्बन्धी अपने विचारो मे भी शकर ने परस्पर-विरोधी दावो का समन्वय करने का प्रयत्न किया है। सर्वोच्च ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति के मार्ग को बिना किसी जाति तथा सम्प्रदाय के भेदभाव के पुरुष-मात्र के लिए खुला बताकर शकर ने अपनी मौलिक मानवीयता का परिचय दिया है। इसीसे अपने वेदान्त दर्शन के तार्किक सकेतो के प्रति उनकी दृढ भक्ति का भी परिचय मिलता है। किन्तु वे ब्राह्मण धर्म के इस प्रकार के विश्वास को भी मानते है कि विदुर के समान शूद्र, जिन्होने उच्चतम ज्ञान प्राप्त किया, अपने पूर्व जन्म के आचरण के बल पर ही किया था। यदि किसी शूद्र के अन्दर इस समय सत्य को ग्रहण करने की योग्यता पाई जाती है तो हमे मानना चाहिए कि उसने पूर्व जन्म मे वेद का अध्ययन किया है। इस प्रकार शकर इस विश्वास का कि केवल द्विजाति के पुरुषो को ही मोक्ष-प्राप्ति का एकाधिकार प्राप्त है, उच्छेदन कर देते है। वे ऐसे सब व्यक्तियो को, जिन्हे आध्यात्मिक अन्तर्दृष्टि प्राप्त है, अपना गुरु मानने को उद्यत थे, भले ही वे ब्राह्मण हो अथवा अस्पृश्य शूद्र हो। "ऐसा

१. शाङ्करभाष्य, ३ : ४, २७

२. जानश्रुति (छान्दोग्य उप०, ४ : १, २), जिसे रैक्व ने शूद्र कहा यद्यपि जिसे उसने वेदों को पढ़ाया, और सत्यकाम जाबाल के आख्यानों की व्याख्या इस आधार पर की गई है कि जब तक शूद्र को सासारिक जीवन में एक उच्च वर्ण मे दीक्षित नहीं कर लिया जाता, वह ज्ञान को ग्रहण करने के योग्य नहीं होता।

३. शांकरभाष्य, ३ : ४, ३८।

४. पुरुषमात्रसम्बन्धिभिर्जपोपवासदेवताराधनादिभिर्धर्मविशेषैरनुग्रहो विद्यायाः सम्भवति।

व्यक्ति, जो इस लौकिक जगत् को अद्वैत के रूप में देखता है, मेरा सच्चा गुरु है चाहे वह चाण्डाल हो अथवा द्विज हो। यह मेरा दृढ़ विश्वास है।"[1]

आश्रम-सम्बन्धी नियमों के ऊपर बल दिया गया है। मोक्ष की प्राप्ति के लिए मनुष्य को संन्यासी बनना आवश्यक नही है। बृहदारण्यक तथा छान्दोग्य उपनिषदों में गृहस्थों ने ब्रह्मविद्या की प्राप्ति की तथा उसकी शिक्षा भी दी, तथापि संन्यासियों का अधिकार उक्त कार्य के लिए सर्वोपरि है; उनके लिए अन्यों की अपेक्षा ब्रह्मविद्या की प्राप्ति आसान है, क्योकि उनके लिए क्रियात्मक पूजा करना, गृहस्थ के कर्त्तव्य, वैदिक क्रियाकलाप) आवश्यक कर्तव्य नही है। शकर ने इस विषय पर बल दिया है कि जो आश्रम-धर्म का पालन करते है उन्हे मोक्ष-प्राप्ति से पूर्व अवश्य संन्यास ग्रहण करना चाहिए यद्यपि ऐसे व्यक्तियों के लिए जो आश्रमधर्म का पालन नही करते, यह आवश्यक कर्तव्य नही है। संन्यासियो की स्थिति ब्रह्म मे है (ब्रह्मसंस्था:) 'अन्य तीनों आश्रमों में अवस्थित पुरुषों के लिए इस प्रकार की अवस्था प्राप्त करना असम्भव है, क्योंकि श्रुति कहती है कि यदि वे अपने-अपने आश्रमो के कर्तव्य-कर्मो तथा नियमों का पालन न करेंगे तो उनकी हानि होगी; किन्तु उक्त कर्तव्य कर्मो के न करने से सन्यासी की कोई हानि नही होती।"[2] इसके अतिरिक्त, "यद्यपि ज्ञान-सम्पादन का आदेश सब किसी के लिए है वह चाहे जीवन के किसी भी सघ मे क्यो न हो, तो भी केवल संन्यासी का प्राप्त किया हुआ ज्ञान ही मोक्ष-प्राप्ति की ओर ले जाता है; ऐसा ज्ञान नहीं जो कर्म से सयुक्त हो।[3] शंकर ने हिन्दुओ के क्रियात्मक धर्म मे नियन्त्रण के अभाव का अनुभव किया और यह भी अनुभव किया कि उसका कोई सामान्य मानदण्ड भी नहीं है। अतएव उन्होने इस प्रकार सन्यासी सघ की एक ऐसी संस्था फिर से बनाई तथा हिन्दू धर्म के लिए बौद्ध सघ के समान नियन्त्रण के लाभ भी प्राप्त किए।[4] संन्यासव्रत की दीक्षा से दीक्षित संस्था मे स्त्रियों को प्रविष्ट करने के जो कुपरिणाम शंकर के समक्ष थे उनसे उद्विग्न होकर शंकर ने अपने मठों मे से स्त्रियों का बहिष्कार किया क्योकि उक्त मठ मुख्य रूप मे ज्ञान-प्राप्ति के पीठ थे और ऐसे व्यक्तियो के लिए आश्रम का कार्य करते थे जो स्वेच्छा से निर्धनता, जीवन की कठोर पवित्रता तथा जगत् की दासता से मुक्ति को स्वीकार किए हुए थे। शंकर ने अपने स्थापित मठों मे जन्मगत जातिभेद की सर्वथा उपेक्षा की।

वर्णाश्रम धर्म के नियम हिन्दुओं के लिए आवश्यक है, क्योंकि वे मनुष्य-समाज

१. मनीषापञ्चक। और भी देखें, कौपीनपञ्चक, पृष्ठ ३ और ५।

२. शाङ्करभाष्य, ३ : ४, २०।

३. शांकरभाष्य, मुण्डकोपनिषद की प्रस्तावना। संन्यासनिष्ठैव ब्रह्मविद्या मोक्षसाधनं न कर्मसहितेति।

४. शंकर के अनुसार विद्यारण्य (देखें, ऐतरेयोपनिषद् पर भाष्य की प्रस्तावना) ने विविदिषा संन्यास अर्थात् जिज्ञासु के विद्वत्संन्यास एवं मुक्त पुरुषो के संन्यास में भेद किया है। इनमें से प्रथम तो ऐच्छिक है और दूसरा विद्या की प्राप्ति के पीछे आता है। पहले प्रकार का संन्यास यदि स्वीकार किया गया तो शास्त्रीय विधि से उसको निभाना चाहिए, दूसरे के लिए कोई नियम-व्यवस्था बाध्य नहीं करती। देखें, जीवन्मुक्तिविवेक।

के उच्चतर मस्तिष्क के प्रवक्ता हैं। ऐसे व्यक्तियों के ऊपर जिनका जीवन केवल मनुष्य-समाज के लिए ही नही है, उक्त नियमों को बाहर से हठात् आरोपित किया गया है, ऐसा न समझना चाहिए। किसी भी व्यक्ति का नैतिक मूल्य पूर्णरूप से उसीके आधार पर नही आका जाना चाहिए जो कुछ वह मनुष्य-समाज को देता है। मनुष्य एक मिट्टी का ऐसा ढेला नही है जिसका बाहर से रूपान्तर किया जा सके। उसको अन्दर की प्रेरणा की आवश्यकता है। शास्त्र किसी मनुष्य को विशेष प्रकार का कार्य करने के लिए विवश नही करते; किन्तु एक जाति-विशेष के सामूहिक अनुभव रखने वाले मनुष्यो को केवल प्रेरणा देते है।[1] सामान्य सिद्धान्तों के अतिरिक्त परम्पराए भी स्थान-भेद से परिवर्तित होती रहती है।[2] ज्यो-ज्यों हम ऊपर की ओर उन्नति करते जाते है, नैतिक जीवन गहन होता जाता है।[3] प्रथा के अनुसार प्रचलित नैतिकता एक ऐसी वस्तु है जो सदा उन्नति करती रहती है। जीवन की वैदिक व्यवस्था ज्ञान के लिए अनिवार्य सहायक नही है। यहा तक कि ऐसे व्यक्तियो ने भी जिनका उक्त व्यवस्था मे अधिकार नही था, उच्चतम लक्ष्य को प्राप्त किया है। निर्धन लोग तथा जाति-बहिष्कृत भी प्रार्थना एव पूजा तथा उपवास और स्वार्थ-त्याग के द्वारा ईश्वर की दया से उद्देश्य तक पहुच जाते है।[4]

ऐसा पुरुष, जो उद्देश्य तक पहुंच गया है, सच्चा ब्राह्मण है, अर्थात् ब्रह्म को जानने वाला है। जिस प्रकार से वह जीवन-निर्वाह करता है, शकर ने उसका वर्णन किया है और निम्नलिखित वाक्यो को उद्धृत किया है :

> "जिसे उच्च वर्ण अथवा नीच वर्ण मे जन्म लेनेवाला कोई भी नहीं जानता, न कोई शिक्षित विद्वान् अथवा अशिक्षित की कोटि मे जानता है, न कोई जिसे पुण्य कर्मो को करनेवाला और न पापकर्मा के कर्ता-रूप मे जानता है, वही यथार्थ में ब्राह्मण है। जो कर्त्तव्यो मे छिपे-छिपे रत रहता है और सर्वथा पूर्ण है उसका समस्त जीवन गुप्त रूप से ही बीतना चाहिए, मानो कि वह दृष्टिहीन, बधिर तथा इन्द्रियो से विहीन है; इस प्रकार यथार्थ ज्ञानी को ससार मे से गुजरना चाहिए।"[5]

१. ज्ञापकं हि शास्त्रं न कारकम्। और भी देखे. बृहदारण्यक उपनिषद पर, शांकरभाष्य २ : १, २०।

२. शांकरभाष्य, १ : १, ४।

३. वही।

४. शांकरभाष्य, ३ : ४, ३६-३९।

५. य न सन्तं न चासन्तं नाश्रुतं न बहुश्रुतम्।
न सुवृत्तं न दुर्वृत्तं वेद कश्चित् स ब्राह्मणः॥
गूढधर्माश्रितो विद्वान् अज्ञातचरितं चरेत्।
अन्धवत् जडवच्चापि मूकवच्च मही चरेत्॥

(शांकरभाष्य, ३ : ४,५०; 'ड्यूसन्स सिस्टम आफ़ दि वेदान्त', अंग्रेजी-अनुवाद, पृष्ठ १४४)

यह एक ऐसा जीवन है जिसके अन्दर नम्रता तथा शान्ति का, पवित्रता तथा आनन्द का भाव है किन्तु केवल चिन्तनशील निष्क्रियता मे निमग्न रहना नही है। उसके कर्म उसके बन्धन का कारण नही बनते। उसका कर्म सामान्य अर्थों मे कर्म नही है।[1] जहां कुछेक मुक्तात्मा केवल जीवन धारण के लिए ही (जीवनयात्रार्थम्) न्यून से न्यून कर्म करने का व्रत लेते है, अन्य व्यक्ति सासारिक कर्मो मे लिप्त हो जाते है (लोकसग्रहार्थम्)।[2] मुक्तात्माओ की इस प्रकार की क्रियाशीलता वैयक्तिक दृष्टिकोण मे केन्द्रित नही होती[3] और इस प्रकार जीवात्मा को ससारचक्र मे बाधनेवाली नही मानी जाती।[4] मुक्तात्मा—जो अपने पुरुषार्थ से मोक्ष प्राप्त करते है, ससार-मात्र को अपने दृष्टान्त से मोक्ष का मार्ग निर्देश करते है।

वैदिक निषेधाज्ञाओ और नैतिक नियमो की आवश्यकता ऐसे व्यक्तियो के लिए है जो संसारचक्र मे बधे हुए हे किन्तु ऐसे पुरुप के लिए जो इच्छा के समस्त वातावरण को पीछे छोड देता तथा ससार के भेदो की ओर से मुह मोड लेता है उनकी कोई आवश्यकता नही रहती।[5] प्रश्न उठाया जाता है कि क्या मुक्तात्मा पुरुप जो चाहे वह कर सकता है? शङ्कर उत्तर देते हे कि स्वार्थपूर्ण आसक्ति, जो कर्म की प्रेरक है, मुक्तात्मा मे विद्यमान नही रहती इसलिए वह सर्वथा कोई कर्म नही करती।[6] कर्म की उत्पत्ति अविद्या से होती है, इसलिए आत्मा के सत्य ज्ञान के साथ कर्म नही रह सकता।[7] जहा एक ओर

१. विदुषः क्रियमाणमपि कर्म परमार्थतोऽकर्मैव (भगवद्गीता पर शाकरभाष्य, ४ : २०)।

२. भगवद्गीता पर शाकरभाष्य, ४ : १९।

३. शाकरभाष्य, ४ : १, १३।

४. "केवल ऐसा ही पुरुष निःसन्देह आत्मज्ञानी है जो जाग्रतावस्था मे प्रगाढ निद्रा की अवस्था के समान द्वैत को नही देखता; और यदि देखता भी है तो भी उसे अद्वैत की दृष्टि से देखता है; और जो कर्म करते हुए भी कर्मो के फलो से उन्मुक्त है।" (उपदेशसाहस्री, पृष्ठ ४५)। "वही पुरुष यथार्थ में जीवन्मुक्त कहा जाता है जो अपने अहम्भाव को कर्म के साथ नही जोड़ता और न ही अपने मन के ऊपर किसी प्रकार का असर होने देता है।" "यथार्थ में जीवन्मुक्त उसे कहा जाता है जो समस्त पदार्थों के साथ घनिष्ठतम संपर्क रखते हुए भी सदा ही शान्त और उदासीन रहता है जैसा कि किसी अन्य व्यक्ति के कार्य में हो एव शान्ति तथा सन्तोष के भाव से पूर्ण हो।" राम ने वसिष्ठ से प्रश्न किया "मुझे बताइए कि इन दो प्रकार के व्यक्तियों में कौन एक दूसरे से श्रेष्ठ है—वह जो कि संसार में विचरता हुआ भी शान्त रहता है मानो दीर्घकाल की समाधि से अभी उठा हो; अथवा वह जो जगत् के किसी एकान्त कोने में समाधि लगा ले और उसीमे बैठा रहे?" गुरु वसिष्ठ ने उत्तर मे कहा: "समाधि केवल उस आन्तरिक शान्ति का नाम है जो इस ससार तथा उन गुणो को, जो इस संसार की सृष्टि के कारण हैं, अनात्म रूप में जानकर प्राप्त होती है। इस प्रसादगुणयुक्त शान्ति को अपने अन्दर से इस निश्चय के साथ प्राप्त कर लेने पर कि 'मुझे पदार्थ से कुछ प्रयोजन नहीं है, योगी चाहे तो संसार में रहे, चाहे अपने को ससार से विरत करके समाधिस्थ हो जाए। हे राम! दोनों ही एक समान कल्याणकारी है, यदि इच्छारूपी अग्नि उनके अपने अन्दर ठण्डी हो गई है" (योगवाशिष्ठ, जीवन्मुक्तिविवेक में उद्धृत, १ और ४)।

५. तुलना करें : निस्त्रैगुण्ये पथि विचरता को विधिः को निषेधः?

६. न च नियोगाभावात् सम्यग्दर्शिनो यथेष्टचेष्टाप्रसंगः''' सर्वत्राभिमानस्यैव प्रवर्तकत्वाद् अभिमानाभावाच्च सम्यग्दर्शिनः (शांकरभाष्य, २ : ३, ४८)।

७. देखें, शांकरभाष्य, तैत्तिरीय उपनिषद्, प्रस्तावना।

इस प्रकार के समाधान मुक्तात्मा के सम्बन्ध मे सब प्रकार के कर्मो का निषेध करते प्रतीत होते हे वहा शङ्कर के साहित्य मे अन्य भी कितने ही वाक्य ऐसे है जो प्रतिपादन करते है कि मुक्तात्मा, जो सब प्रकार की स्वार्थपरक इच्छाओ से परे है। अनासक्ति के भाव से कर्म करता है।[1] उसके लिए कुकर्म करना असम्भव है। नैतिक विधान से मुक्ति मोक्ष की अवस्था मे एक प्रकार के गौरव का विषय तथा अलङ्कार (आभूषण) है, ऐसा कहा गया है; किन्तु उक्त अवस्था नैतिक विधान के नियमो का उल्लघन करने के लिए कोई आमन्त्रण नही है। किसी भी अवस्था मे उक्त मोक्ष की दशा को नैतिकता की उपेक्षा के लिए प्रोत्साहन न मानना चाहिए। मुक्तात्मा ऊपर उठकर निरपेक्ष परमब्रह्म के माथ एक इस प्रकार के निकट-सम्बन्ध मे आ जाता हे कि उसके लिए पापकर्म करना असम्भव हो जाता है। यथार्थ मे पापकर्म करने के यह सर्वथा अयोग्य हो जाता है। शङ्कर के उक्त विचार का ईसाई धर्म के स्वेच्छाचारी सम्प्रदाय द्वारा प्रचारित विचार के साथ मिश्रण न करना चाहिए। यह निश्चित सत्य है कि "मुक्तात्मा के सम्मुख कोई उद्देश्य पूर्ति के लिए शेष नही रहता क्योकि वह सबकुछ प्राप्त कर चुका होता हे",[2] तो भी वह ससार के कल्याण के लिए कर्म करता है। उसके अतिरिक्त, जहा एक ओर शङ्कर का यह मत है[3] कि मुक्तात्मा के लिए नैतिक बन्धन का कुछ अर्थ नही है, वे यह नही कहते कि वह नैतिक गुणो का परित्याग कर देता है। नैतिक पूर्णता नैतिकता का अन्त नही, अपितु नैतिक व्यक्तित्व का ही अन्त करती है। सदाचार के नियमो का महत्त्व उसी समय तक रहता है जब तक हम अपने अन्तःस्थ पशुभाव के साथ ऊपर उठने के लिए सघर्ष करते रहते है। जब कभी बुरे मार्ग पर जाने का भय हो तो वे हमे यथोचित मार्ग पर चलाने मे सहायक होते है। जिस प्रकार हत्या तथा चोरी आदि के समान अपराधो के सम्बन्ध मे बनाए गए नियमो का विधान एक सभ्य सुशिक्षित पुरुष के लिए नही है, उसी प्रकार धर्मात्मा पुरुष परम्परागत नैतिकता के नियमो से बधा हुआ नही है।

४१

शङ्कर के नीतिशास्त्र पर किए गए कुछ आरोपों पर विचार

शङ्कर के नैतिक विचार अत्यधिक आलोचना के विषय रहे है और इसलिए हम उनमे से अनेक आरोपो पर यहा विचार करेगे।[4] यदि समस्त अस्तित्व रूप जगत् ब्रह्म है

१ भगवद्गीता पर शाकरभाष्य, ४ : २१।

२ भगवद्गीता पर शाकरभाष्य, ५।

३. सुरेश्वर कहता है : "ऐसे पुरुष के लिए, जिसके अन्दर सर्वोपरि ब्रह्म का साक्षात्कार उदय होता है, अद्वेष तथा अन्य गुण एक प्रकार से स्वाभाविक रूप बन जाते है; जिसके लिए किसी प्रयत्न की आवश्यकता नही। अब वे ऐसे गुण नहा रहते जिनको प्राप्त करने के लिए इच्छापूर्वक प्रयत्न करना पड़े" (नैष्कर्म्यसिद्धि, ४ : ६९)।

४. अद्वैत वेदान्त के नीतिशास्त्र की तीव्र समालोचना के लिए तथा ड्यूसन के उस नीतिशास्त्र के पुनः सूत्रीकरण के लिए देखें, प्रोफेसर होग का लेख, 'अद्वैत एण्ड एथिक्स' जो मद्रास क्रिश्चियन कालेज मैगजीन, दिसम्बर १९१६ में प्रकाशित हुआ है।

तथा अनेकत्व विशिष्ट जगत् केवल आभासमात्र है तो फिर पुण्य व पाप मे कोई वास्तविक भेद नही हो सकता । यदि जगत् केवल छाया-मात्र है तो पाप छाया से भी न्यून है । तब फिर क्यो न मनुष्य पाप के साथ क्रीडा करके पाप का आनन्द भोगे, क्योकि वे सब भी तो छायामात्र है । ऐसी अवस्था मे यदि हम जगली पशुओ से युद्ध करके इस जीवन-रूप स्वप्न मे धर्म के अन्वेषण के लिए अपने हितो का स्वार्थत्याग करे तो हमे क्या लाभ होगा ? यदि नैतिक भेद प्रामाणिक है तो जीवन भी यथार्थ है । यदि जीवन अयथार्थ है तो वे भी प्रामाणिक नही । उक्त सब प्रकार के आरोप स्वय निरर्थक सिद्ध हो जाते है यदि हम ससार के केवल भ्रान्तियुक्त स्वरूप को अस्वीकार कर दे । धर्म और अधर्म का नैतिक महत्त्व सर्वोपरि उद्देश्य के दृष्टिकोण से ही है ।

जीवात्मा तथा ब्रह्म का आध्यात्मिक एकत्व मान लेने पर, यह कहा जाता है कि नीतिशास्त्र के आदेश-पत्र के लिए फिर कोई स्थान नही रह जाता । यदि ब्रह्म ही सबकुछ है तो फिर नैतिक पुरुषार्थ की कोई आवश्यकता नही । इस आरोप का आधार यथार्थता और जीवन के मध्य भेद न करने से तथा नित्य और लौकिक के अन्दर भेद न करने से उत्पन्न होता है । शङ्कर ने यह कभी नही कहा कि लौकिक घटनाओ की निश्चित रूप से अपूर्ण तथा दोषयुक्त शृङ्खला तथा सत्य एव अकाल ब्रह्म एक ही है । ब्रह्म की एकता का आध्यात्मिक सत्य लौकिक व्यवहार के स्तर पर किसी भी प्रकार से नैतिक भेदो की यथार्थता के ऊपर प्रभाव नही डाल सकता । शङ्कर कहते है "अग्नि एक ही है तो भी हम उसी अग्नि से बचते है जिसने शवो को जलाकर भस्ममात किया है, अन्य किसी अग्नि से नही, इसी प्रकार सूर्य भी एक ही है तो भी हम उसके प्रकाश के केवल उस भाग से बचते है जो अपवित्र स्थानो के ऊपर पडता है किन्तु उस भाग से नही जो पवित्र स्थानो को प्रकाशित करता है । मिट्टी की कुछ वस्तुओ की हम कामना करते है, जैसे हीरे तथा पन्ने आदि, जब कि अन्य वस्तुओ से जो उन्हीके समान मिट्टी से बनी है जैसे मृत शरीर आदि से हम दूर भागते है ।"[1] ठीक इसी प्रकार यद्यपि परमार्थरूप मे सब वस्तुए ब्रह्म ही है तो भी उनमे से कुछ वस्तुए ऐसी है जिनका हम त्याग करते तथा अन्य ऐसी है जिनकी हम कामना करते है । 'मै ब्रह्म हू' (अह ब्रह्मास्मि) इस कथन का तात्पर्य यह नही है कि क्रियाशील आत्मा का परमार्थरूप ब्रह्म के साथ सीधा तादात्म्य है,[2] किन्तु उन मिथ्या उपाधियो के दूर हो जाने पर, जो यथार्थरूप आत्मा अवशिष्ट रहती है, उनका परस्पर तादात्म्य भाव है ।[3] नैतिक समस्या इसलिए खडी होती है कि आत्मा के अनन्त रूप तथा उसके सीमाबद्ध चोले मे, जो इसने स्वय धारण किया है, निरन्तर सघर्ष होता रहता है । वस्तुत, मनुष्य की स्वाभाविक दशा है तो अखण्डता की ही, किन्तु वर्तमान भ्रष्टता की अवस्था उपाधियो के बल से उक्त दशा से पतन हो जाने के कारण है ।[4]

१. शाङ्करभाष्य, २, ३. ४८ ।
२. मुख्यसामानाधिकरण्य । ३. बाधासामान्याधिकरण्य ।
४. एकहार्ट पूछता है : "मनुष्य को इससे क्या लाभ कि यदि वह राजा होकर भी अपने राजा होने का ज्ञान नही रखता ?" स्वर्ग का राज्य एक छिना हुआ क्षेत्र है ।

अपूर्णता के साथ हमारे संघर्ष का कुछ अर्थ नही होगा, यदि हम ऐसे दृष्टिकोण तक उठ सकें जिससे हम यथार्थ सत्ता का दर्शन करते है। यह संघर्ष तब तक बराबर चलता ही रहेगा जब तक कि अनन्त से पृथक्त्व का सर्वथा ही उच्छेद नही कर दिया जाता। जब तक सीमित आत्मा यह नही जान लेती कि वह ब्रह्म है, वह अपने अन्दर ही बेचैन रहती है तथा अपने आदिनिवास तक पहुचने के लिए तडपती रहती है। हम चूकि परिमित शक्ति वाले कर्ता है इसलिए हमारे अपने निश्चित कर्तव्य तथा गन्तव्य स्थान है। प्रत्येक व्यक्ति अपने कर्म का उत्तरदाता स्वय है और किसी एक व्यक्ति द्वारा किए गए कर्म को कोई दूसरा व्यक्ति पूरा नही कर सकता।[1]

शङ्कर के नीतिशास्त्र को बुद्धिपरक कहा जाता है, क्योकि अविद्या अथवा अभेद ही बन्धन का कारण है।[2] जीव का मिथ्याज्ञान ही समस्त अनुभव तथा क्रियाशीलता का आधार है, सम्यक् ज्ञान अथवा एकत्व का ज्ञान ही हम मोक्ष की ओर ले जाता है।[3] चूकि सर्वोच्च आत्मा तथा जीवात्मा के अन्दर भेद मिथ्या ज्ञान से है,[4] हम सत्य ज्ञान के द्वारा ही इससे मुक्त हो सकते है। इस सबसे एक व्यक्ति यह विश्वास करने लगता है कि मोक्ष केवल आध्यात्मिक अन्तर्दृष्टि का ही परिणाम है, नैतिक पूर्णता का परिणाम नही। ड्यूसन अद्वैत वेदान्त की इस विशिष्टता को इसके 'मूलभूत अभाव' का नाम देता है। वह कहता है "वेदान्त ठीक ही सत् के अपने अन्दर के सत्य ज्ञान को, अर्थात् हमारी अपनी ही आत्मा को एकमात्र स्रोत मानता है जिसके द्वारा हम सत्य-ज्ञान तक पहुच सकते है, किन्तु यह भूल से ऐसी आकृति मे आकर ठहर जाता है जिसमे यह साक्षात् हमारे चैतन्य को एक ज्ञाता के रूप मे रुचिकर हो सकता है, यहा तक कि चाहे हम समस्त बाह्निक सामग्री को पृथक् कर देने पर भी अर्थात् लौकिक जगत् इसे अनात्म के साथ सम्बद्ध कर दे, ठीक वैसे कि यह सर्वथा उचित रूप मे सर्वोच्च आत्मा का निवास, डेकार्ट की भाति, मस्तिष्क को नही अपितु हृदय देश को सकेत करता है।"[5] यदि एकाकी तथा एकमात्र सत्ता, अर्थात् ब्रह्म, पहले से ही पूर्ण तथा निर्दोष है और हमे इसके अतिरिक्त और कुछ करने को नही है कि इसकी यथार्थता को स्वीकार करे तथा अन्य सब वस्तुओ की यथार्थता का निषेध करे, तो फिर नैतिक कर्म के लिए किसी प्रकार की भी प्रेरणा नही रह जाती। यदि अनित्यता के दोषो से बचने का एकमात्र उपाय उनका निषेध कर देना ही है तब फिर किसी गम्भीर नीतिशास्त्र के लिए कोई स्थान नही रहता। हमे द्वेषभाव को दमन करने अथवा अपने स्वभाव मे परिवर्तन

१. शाङ्करभाष्य, ३ : ३, ५३। और भी देखे ३ : २, ९।

२. शाङ्करभाष्य २ : ३, ४८।

३. शांकरभाष्य, १ : २-८। और भी देखे, ३ : २, २५ और ४ : २, ८; शांकरभाष्य, १ : ३, १९।

४. मिथ्याज्ञानकृत एव जीवपरमेश्वरयोर्भेदो न वस्तुकृत (शांकरभाष्य, १ : ३, १९)। देखें, गौडपाद की कारिका पर शांकरभाष्य, प्रस्तावना।

तुलना करे : ज्ञान विना मोक्षो न सिद्धयति (आत्मबोध)। विवेकाविवेकमात्रेणैव (शांकरभाष्य, १ : ३, १९)। और भी देखे, अपरोक्षानुभूति, पृष्ठ १४।

५. ड्यूसन्स सिस्टम आफ दि वेदान्त, अंग्रेजी-अनुवाद, पृष्ठ ५९।

करने के लिए तत्पर होने की आवश्यकता नहीं। किन्तु हमें स्मरण रखना होगा कि अविद्या, यद्यपि यह प्रधानतः एक तार्किक विचार है, तो भी संसार की अध्यात्मविद्या मे जीवन की सम्पूर्ण मनःस्थिति का द्योतक है। "अविद्या एक प्रकार का अभिमान है कि 'मैं' शरीर-रूपी हूं। इसलिए शरीर की पूजा उपजती है, जो 'राग' है, और इसको तुच्छ समझना ही द्वेष है, इसको चोट लगने के विचार भय-आदि को उत्पन्न करते है" आदि-आदि।[1] मिथ्याज्ञान समस्त स्वार्थपरक इच्छा तथा क्रियाशीलता का आधार है।[2] अविद्या सीमित जीवात्मा का प्रतिबन्ध है जो उसे इच्छा और सघर्ष का जीवन व्यतीत करने के लिए बाध्य करती है और जो उस कारण से है कि वह ब्रह्म के साथ एकत्व के विषय में अज्ञान रखता है। चरित्र के दोष न केवल मूर्खता तथा भूल हे वरन् इच्छा शक्ति का विपर्यास भी है तथा ईश्वर की वाणी का उल्लघन है। शङ्कर बार-बार एक समस्त पद 'अविद्याकामकर्म' का प्रयोग करते है,[3] जिसमे अविद्या मे अभिप्राय है बोध-सम्बन्ध भूल, जिसके कारण जीवात्माओ की विविधता को यथार्थ मान लिया जाता है;[4] काम से अभिप्राय है प्रमेय विषय के प्रति भावुकतापूर्ण प्रतिक्रिया और कर्म से अभिप्राय है, इसे प्राप्त करने अथवा छोडने के लिए क्रियात्मक चेष्टा। यही समूचा विचारक्रम व्यक्तित्वभावपूर्ण कर्म का है जो यथार्थ और अयथार्थ के असमजस मे जड़ जमाए हुए है और इसीसे ससार की नीव पडती है।[5] कर्म की उत्पत्ति अविद्या से है, और कर्म काम का परिणाम है। मोक्ष की अवस्था मे भूल का निवारण, सत्य संकल्पों की फिर से प्राप्ति तथा सब प्रकार के स्वार्थमय प्रयत्नो का दमन रहना है।[6] नैतिक जीवन के अनुशासन मे स्वार्थपरक कार्यकलाप का दमन, सत्य कामनाओ का विकास और लौकिक व्यक्तित्व के भाव पर विजय सम्मिलित है। जब तक अन्तिम कार्य सम्पन्न नही होता तब तक हमारे स्वरूप मे पूर्णता नही आ सकती। हम अपने काम का दमन कर सकते है, हम जगत् के कल्याण के लिए भी कर्म कर सकते हैं किन्तु फिर भी इसकी ओर सर्वथा निश्चिन्त नही हो सकते कि जीवन के किसी अन्य क्षण मे हम असत्य इच्छा अथवा स्वार्थपूर्ण कर्म करने के प्रलोभन का कभी शिकार न होगे; निश्चय ही जब तक हम उत्सुकतापूर्ण इच्छा तथा तुच्छ अहकार के मूल का सर्वथा ही उच्छेदन तथा अविद्या का लोप नही कर देगे हम निश्चिन्त नही हो सकते कि हम कभी सत्यप्रकाश के व्यक्तित्वहीन मनोभाव को प्राप्त कर सकेंगे। नैतिक पुरुष सयोगवश

१. देहादिष्वनात्मस्वहमस्मीत्यात्मबुद्धिरविद्या; ततस्तत्पूजनादौ रागः, तत्परिभवादौ द्वेषः, तदुच्छेददर्शनाद् भयम्, इत्यादि शांकरभाष्य, १ : ३, २)।

२. शांकरभाष्य, केनोपनिषद् पर प्रस्तावना ; संसारबीजम् अज्ञानं काम-कर्मप्रवृत्तिकारणम्। आगे कहा गया है : "अविद्याकामकर्मलक्षणं संसारबीजम्" (केनोपनिषद् पर शांकरभाष्य ४ : ९)।

३. मुण्डकोपनिषद् पर, शांकरभाष्य, ३ : १, १।

४. अविद्याकल्पितं लोकप्रसिद्धं जीवभेदम (शांकरभाष्य, २ : १. १४; १ : ३, १९)।

५. अनात्मदर्शिनो ह्यनात्मविषयः कामः; कामयमानश्च करोति कर्माणि ; ततस्तत्फलोपभोगाय शरीराद् उपादानलक्षणः संसारः (शांकरभाष्य, तैत्तिरीय उपनिषद्, १ : ११)।

६. सर्ववासनाक्षयं सर्वकामविनाशनं सर्वकर्मप्रविलयम्।

उदासीन होता है, किन्तु सन्तपुरुष सदा अपने सत्य-प्रकाश के बल पर उदासीन है।[1]

शङ्कर परोक्ष ज्ञान तथा अपरोक्ष ज्ञान अर्थात् अनुभव मे भेद करते है। परोक्ष ज्ञान तर्क के द्वारा प्राप्त वह ज्ञान है जिसे हम पुस्तको तथा शिक्षको से प्राप्त करते है, अर्थात् सर्वोपरि आत्मा तथा जीवात्मा एक है। अपरोक्ष ज्ञान एक ऋषि का अनुभव है जिसने अपने पृथक्त्व के भाव को मदा के लिए त्याग दिया है और सर्वोपरि आत्मा के साथ अपने एकत्व का साक्षात्कार कर लिया है।[2] शङ्कर हम बतलाते है कि परोक्ष ज्ञान हमे बन्धन मे छुडाने मे असमर्थ है। बृहदारण्यक उपनिषद् पर भाष्य करते हुए शकर कहते है कि मनुष्य को क्रमश केवल पाण्डित्य की दशा से बाल्यकाल की सरलता की ओर उठना चाहिए और उससे मौन धारण किए मुनि की दशा को, और सबमे अन्त मे एक सच्चे ब्राह्मण की दशा तक उठने का प्रयत्न करना चाहिए, जो भाव-रूप मे भी अपनी समस्त सम्पत्ति तथा सुखा का जो ब्रह्म मे भिन्न है और जो हम फिर से दासत्व म घसीट सकते है त्याग देता है।[3] अद्वैत दोनो ही है अर्थात दर्शन तथा धर्म। ज्ञान के प्रकाश का परिणाम साक्षात् तथा निश्चित अनुभव है।[4] यह किसी दुर्गम्य आदर्श की खोज नही है।

[illegible] मे यह भी माना गया है कि आध्यात्मिक साक्षात्कार के लिए चित्त-शुद्धि भी पूर्व रूप मे आवश्यक है। इसके लिए सत्त्व गुण की अधिकाधिक प्रधानता तथा रजोगुण एव तमोगुण का दमन होना चाहिए इसका सम्पादन अनासक्ति भाव से कर्म करने तथा योगाभ्यासादि के द्वारा होता है। यह नैतिकता का अतिक्रमण नही करता, किन्तु उसका सकेत करता है। जब और जिस किसीके लिए व्यक्तिगत अहभाव के विचार का जो 'मै' अथवा अह शब्द मे सूचित होता है, और वैयक्तिक सम्पत्ति का, जो मेरी (मम) शब्द मे सूचित होती है यथार्थ प्रतीत होना समाप्त हो जाता है, तब वह 'आत्मा' को जाननेवाला होता है।[5] जब तक स्वार्थपरक इच्छा (काम) का दमन नही होता तब तक अविद्या का मूलोच्छेद नही हो सकता। ज्ञान

१ देखे, प्रोफेसर हिरियन्ना का अत्यन्त सुभावपूर्ण लेख इसी प्रश्न के ऊपर, प्रासीडिंग्स आफ दि इण्डियन ओरियण्टल कान्फ्रेंस, पूना, [illegible] प्रकाशित। सत्य तथा सौन्दर्य-सम्बन्धी आनन्द के अन्दर जो भेद है उसके विषय में कहते हुए वे लिखते है "शकर के शब्दो में काम व कर्म की सदा बार बार आनेवाली शृखला अथवा काम और क्रियाशीलता ही जीवन का निर्माण करते है। काम और कर्म का निष्कासन, जब कि उनका कारण अविद्या गुप्त रूप में निरन्तर बनी रहती है, सौन्दर्य रूप मनोवृत्ति का लक्षण है। अविद्या का त्याग इस अन्तर्लीन अवस्था में भी सन्त की मनोवृत्ति का लक्षण है।" (पृष्ठ [illegible])।

२ तुलना करे, वराहोपनिषद् :

नास्ति ब्रह्मेति चेद्वेद परोक्षज्ञानमेव तत।
अह ब्रह्मेति चेद्वेद साक्षात्कार स उच्यते॥

३. ३ ५, १०। छान्दोग्योपनिषद् भी देखे, ४ : १, ७।

४ तुलना करे, सेण्ट मैथ्यू, १८ . ३।

५. अनुभवारूढमेव च विद्याफलं न क्रियाफलवत कालान्तरभावि (शाकरभाष्य, ३ · ४, १५)।

६. उपदेशसाहस्री, १४ [illegible]। और भी देखे १४ १४१। और भी देखें, केन उपनिषद पर शाङ्करभाष्य, प्रस्तावना।

शब्द का प्रयोग अंग्रेजी के 'नॉलेज' शब्द की अपेक्षा अधिक व्यापक अर्थों मे होता है। यह सत्य-ज्ञान है, अर्थात् जीवन का सर्वोच्च विस्तार है।[1] यह किसी प्रचलित रूढि की स्वीकृति नही है किन्तु एक सजीव अनुभव है जिसका बुद्धि के द्वारा ग्रहण केवलमात्र बाह्य प्रतीक है। शङ्कर की दृष्टि मे अमूर्त एव भावात्मक प्रज्ञा का कुछ विशेष महत्त्व नही है। उनके अनुसार इस विषय का ज्ञान कि केवल बुद्धि ही पर्याप्त नही है सबसे उच्च ज्ञान है। यह सत्य है कि अविद्या का नाश लक्ष्य है, किन्तु केवल इसकी यथार्थता का निषेध करने से ही हम अविद्या से मुक्त नही हो सकते। केवल ब्रह्म का एक कल्पनात्मक विचार रखने से ही यह नही कहा जा सकता कि हम ब्रह्म को जान गए। नित्य के अन्दर मूलरूप मे अपने विद्यमान रहने का आध्यात्मिक साक्षात्कार ही ब्रह्मज्ञान है और यही स्थिर निधि है तथा हमारे अपने यथार्थ मत् का एक अश है।

कहा जाता है कि शङ्कर के दर्शन की यह एक निर्बलता है कि वह नैतिक गुणो के महत्त्व को परमार्थ रूप मे यथार्थ नही मानता। नैतिक भेदो का तभी तक कुछ महत्त्व है जब तक हम अपने अहम्भाव को उस समस्त जगत् से पृथक् रूप मे लक्षित करते है जो अपने शरीर से बाह्य दैशिक सत्ता रखता है और अपने काल-सम्बन्धी अनुभव से परे है। नैतिक जगत् का सम्बन्ध, जो अपने सदस्यो के पृथक्त्व तथा स्वातन्त्र्य को स्वत सिद्ध मान लेता है, लौकिक जगत् के साथ है। ऐसे कर्तव्य जिनका पालन करना आवश्यक है तथा ऐसे अधिकार जो पूरे होने चाहिए दोनो ही एक समान मनुष्यो के वैयक्तिक व्यवहार है। कर्तव्य और अधिकार परिमित शक्तिवाले जीवात्माओ की स्वतन्त्रता की कल्पना के ऊपर आश्रित है। जब तक हम वैयक्तिक नैतिकता के दृष्टिकोण को अपनाए हुए है, हम सासारिक जगत् मे है जिसमे सकट भी है और कठिनाइया भी है। वैयक्तिक दृष्टिकोण मे क्रमश सुधार ही नैतिक उन्नति है और जब यह सुधार पूर्णता तक पहुच जाता है, नैतिक अपने रूप मे निःशेष हो जाता है। और जब तक नैतिक विद्यमान है तब तक आदर्श अप्राप्त ही रहता है। नैतिकता के अन्त का तात्पर्य है अपने को निजी व्यक्तित्व के ऊपर उठाकर अशरीरी विश्वात्मा के साथ एकत्व प्राप्त कर लेना। किन्तु जब तक नैतिक विषय के साथ लेशमात्र भी व्यक्तित्व का भाव लगा रहेगा, यह ऊपर उठना केवल आशिक ही है। सान्त का आश्रय लेकर अनन्त के साथ एकत्व प्राप्त करना स्पष्टतया एक असम्भव कार्य है। आदर्श की प्राप्ति के लिए हमे नैतिक जीवन के भी परे जाना होगा और ऐसे आध्यात्मिक साक्षात्कार तक उठना होगा जो सीमित सघर्ष तथा पुरुषार्थ के जीवन से अतीत है। इस प्रकार शङ्कर बार बार बलपूर्वक कहते है कि नैतिक सदाचार और सीमित शक्ति का पुरुषार्थ जहा तक पूर्णता के आदर्श का सम्बन्ध है, अपर्याप्त है। कर्म हम मोक्ष की ओर नही ले जा सकता। सान्त को अपनी सान्तता से ऊपर उठने की आवश्यकता है। अविद्या के ऊपर, जो समस्त सीमित जीवन का आधार है, विजय पाना अत्यावश्यक है। सर्वोपरि आत्मा के साथ अपने एकत्व को पहचानने के लिए हमे ससार-चक्र, अज्ञान, आसक्ति तथा

१. देखें प्लेटो : 'टाइमियस', पृष्ठ ६० ; अरस्तू : 'निकोमैकियन एथिक्स' १० : ७।

कर्म (अविद्याकामकर्म) का उच्छेद करना है। हम कितने भी नैतिक क्यो न हो, जब तक केवल सदाचार हमे सान्त जगत् से परे नही ले जा सकता और अविद्या की रुकावटो को दूर नही करता, तब तक पूर्णता हमसे परे है। इस प्रकार शङ्कर का तर्क है कि हम कितना पुरुषार्थ भी क्यो न करे मोक्ष को प्राप्त नही कर सकते, क्योकि सब प्रकार का कर्म, चाहे वह वैदिक क्रियाकलाप का पालन हो अथवा ईश्वरभक्ति हो, सान्त को सान्त रूप मे ही स्थिर रखता है और हमे ससार मे लिप्त रखता है, अथवा अनन्त की प्राप्ति के लिए परिमित शक्तिवाले जीवात्मा का यह सघर्ष बहुत समय तक रहेगा जिसका कही अन्त नही है। इस निरन्तर घूमनेवाले ससार-चक्र से मुक्ति-केवल ज्ञान के द्वारा ही प्राप्त होती है अथवा ऐसी अन्तर्दृष्टि के द्वारा, जो हमे अपने व्यक्तित्व से ऊपर उठाकर अनन्त के साथ एकत्व प्राप्त करा दे।[1] नैतिकता का स्वरूप विकास का है और इसलिए वह सत्य ज्ञान की प्राप्ति नही करा सकती, क्योकि सत्य स्वत सत् है। यदि नैतिक उन्नति मनुष्य के जीवन की मुख्य विशेषता है तो ऐसी कोई अवस्था न होगी कि जब वह यह कह सके कि उसने उद्देश्य की प्राप्ति कर ली और अपने स्वरूप को प्राप्त कर लिया। यदि ईश्वर मनुष्य का स्वरूप है, तब नैतिक उन्नति का कुछ मतलब ही नही है विशेषत जब कि मनुष्य यह कह सकता है कि 'मै ईश्वर हू।' ऐसा मनुष्य जो नैतिक नियमो के अनुकूल कार्य करता है यह अनुभव नही कर सकता कि उसने अपनी आत्मा के यथार्थ स्वरूप को जान लिया। यदि नैतिक जीवन ही सब-कुछ होता तो अत्यन्त वैभवशाली जीवन एक निरर्थक वस्तु समझी जाती, प्रेम एक क्षणभगुर भ्रान्तिरूप होता और सुख सदा ही पीछे हटने वाला लक्ष्य बन जाता। सत पाल[2] आग्रहपूर्वक कहते है कि विधान (कानून) के द्वारा मोक्ष-प्राप्ति असम्भव है। हम चाहे जो कुछ भी करे किन्तु जब तक हम अपनी स्वार्थपरता को सर्वथा नही छोड देते, हम त्राण नही पा सकते। हम अपने स्वार्थ की प्रेरणा से प्रेरित होकर भी नैतिक विधान की पूर्ति कर सकते है, किन्तु इसका अधिक नैतिक महत्त्व न होगा। अपनी पापपूर्ण प्रकृति से मुक्त होने के लिए, जिसे शङ्कर अविद्या के नाम से पुकारते है, सत पाल कहते है कि श्रद्धा व विश्वास की आवश्यकता है, और शङ्कर के मत मे ज्ञान की आवश्यकता है, क्योकि एकमात्र वही हमे अपनी सीमितता से एव पाप से ऊपर उठा सकता है। मुक्ति अन्वेषणा अथवा रचना का प्रश्न नही है, वरन् तथ्य के प्रकाशन अथवा अनावरण का विषय है। नैतिकता का सम्बन्ध सदा ही किसी ऐसी वस्तु से होता है, जो उससे परे है, किन्तु ज्ञान अथवा केवल मात्र दर्शन अथवा साक्षात्कार अपने-आपमे पूर्ण है। उसमे कोई त्रुटि नही और न इसका

१. स्वर्गीय प्रोफेसर बासेवेट की इस प्रश्न के विषय मे सम्मति (शकर की सम्मति के सदृश है, और श्रद्धा के द्वारा औचित्य की उनके द्वारा की गई व्याख्या ज्ञान मार्ग मे मोक्ष प्राप्ति के सम्बन्ध में शकर के विचार के समान है। तुलना करे, "हम श्रद्धा ही के बल पर पूर्ण इकाई के समान है, कर्मो के द्वारा नही। यहा हमारी अपूर्णता नष्ट हो जाती है। यही 'मोक्षदायक अनुभवों' का तात्पर्य है। हम अपने को विश्व की कृपा से ऊपर छोड देते है और उसके साथ एकत्व के भाव मे एक प्रकार की पूर्णता पाते है जो हम सीमित शक्तिवाले कर्त्ताओ से मिल सकती..." ('दि मीटिंग आफ एक्स्ट्रीम्स इन कटपोरेरी फिलासफी,' पृष्ठ १७३)। और भी देखें 'माइंड,' न्यायसूत्र, खण्ड ३०, पृष्ठ ६८।

२. 'एपिसल टू दि रोमन्स,' ३, ८, १०, १३, और 'दि एपिसल टू दि गैलेशियन्स', २ और ३।

कोई लक्ष्य अथवा प्रयोजन है। श्रुति की घोषणा है कि स्वतःसिद्ध नित्य मोक्ष कर्म के द्वारा प्राप्त नहीं किया जा सकता।[1]

यदि हम व्याख्या की इस निर्दोष धार्मिक व्यवस्था को याद रखें कि किसी धार्मिक मन्त्र का यथार्थ तात्पर्य जानने के लिए सबसे उत्तम मार्ग यह है कि जिन पाखण्डधर्मो का वह निराकरण करना चाहता है उनपर विचार किया जाए, तो हम इस विषय के महत्त्व को समझ सकेंगे कि पूर्णता के लिए, अन्तिम लक्ष्य तक पहुंचने के लिए, कर्ममार्ग की विफलता पर शंकर ने क्यों अनावश्यक रूप में बल दिया है। उन्होंने अनुभव किया कि मीमांसकों ने यह घोषणा करते हुए कर्मपक्ष के धनुष को आवश्यकता से अधिक झुका दिया कि केवल कर्मकाण्डपरक क्रियाकलाप हमारी आत्मा को मोक्ष प्राप्त कराने के लिए पर्याप्त है। इसलिए शंकर ने जो मोक्ष-प्राप्ति के लिए कर्मों को अपर्याप्त बताया, वह मीमांसकों के द्वारा वैदिक क्रियाकलाप के ऊपर जो अतिशयोक्तिपूर्ण बल दिया गया था उसकी प्रतिक्रिया थी। अन्तिम मोक्ष अज्ञान के निवारण के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं है। "उच्चतम सत्ता की प्राप्ति केवल-मात्र अविद्या को दूर करना ही है।"[2] "ब्रह्म के स्वरूप के विषय में जो अज्ञान है उसके दूर होते ही जीवात्मा अपने निजी स्वरूप में अवस्थित होता है और सर्वश्रेष्ठ लक्ष्य को प्राप्त कर लेता है।"[3] ब्रह्म का ज्ञान किसी ऐसी नई वस्तु को प्राप्त करना नहीं है जो हमारे पास नहीं थी वरन् अपने उस सत्यस्वरूप को पहचान लेना है जिससे हम पहले अनभिज्ञ थे। अविद्या का नाश हो जाने पर विद्या स्वयं प्रकाश देती है,[4] ठीक जिस प्रकार एक रस्सी के टुकड़े का उस समय यथार्थ ज्ञान हो जाता है जब कि 'यह सांप है' इस प्रकार का मिथ्या विचार खण्डित हो जाता है।[5] केवल-मात्र कर्म, जिसके कार्य क्षणभंगुर घटनाएं हैं, हमें नित्य मोक्ष की, जो एक तथ्य है, प्राप्ति नहीं करा सकता। कर्म अविद्या का नाश नहीं कर सकता, क्योंकि दोनों परस्पर एक-दूसरे के प्रतिद्वन्द्वी नहीं हैं। जब कहा जाता है, कि ज्ञान कर्म का पूर्वगामी है तो यह वह उच्चतम आध्यात्मिक दृष्टि का ज्ञान नहीं है, किन्तु किसी न किसी विषय का बाह्य ज्ञान है। कर्म सदा किसी इच्छा की पूर्ति के

1. "नास्त्यकृतः कृतेन।" शंकर ने इसका भाष्य यों किया है— असंसारो मोक्षः कृतेन कर्मणा नास्तीति। और भी देखें, शांकरभाष्य तैत्तिरीय उपनिषद् पर, प्रस्तावना। आगे चलकर : "कर्म वह है जिसके करने का विधान विद्यमान वस्तुओं के स्वभाव से भिन्न रूप में और किसी व्यक्ति के चित्त के ऊपर आश्रित रूप में किया गया हो। ज्ञान प्रमाणों के द्वारा प्राप्त होता है (प्रमाणजन्यम) जिनके विषय संसार की विद्यमान वस्तुएं हैं और ज्ञान सर्वथा उन वस्तुओं के ऊपर ही निर्भर है (वस्तुतन्त्रम्) न कि वैदिक कथनों या मनुष्य के चित्त पर" (शांकरभाष्य, १ : १, ४)। और भी देखें, शांकरभाष्य, ४, २४। माध्यमिक लोग ज्ञान की सामग्री (ज्ञानसम्भार) को नितान्त स्वातन्त्र्य (धर्मकाय) को प्राप्त कराने वाली मानते हैं किन्तु पुण्य की सामग्री (पुण्यसम्भार) को आनन्दमय देह (सम्भोगकाय) को प्राप्त करानेवाला मानते हैं (माध्यमिकावतार, ३ : १२)। देखें, कीथ : बुद्धिस्ट फिलासफी, पृष्ठ २७७।

2. शांकरभाष्य, मुण्डकोपनिषद्, १ : ५। 'अविद्यापाय एव हि परप्राप्तिः। अविद्यानिवृत्तिरेव मोक्षः।

3. शांकरभाष्य, तैत्तिरीय उपनिषद्, प्रस्तावना। "अविद्यानिवृत्तौ स्वात्मन्यवस्थानं परप्राप्तिः।"

4. शांकरभाष्य, ३ : २, २१।

5. शांकरभाष्य, २ : १, १४।

लिए किया जाता है। मोक्ष इच्छा की उपस्थिति के साथ सगति नही रखता। जब तक कोई व्यक्ति अपने कर्तृत्व मे विश्वास न रखे तथा अपने को प्रमेय विषय से भिन्न न समझे, तब तक कर्म का कुछ अर्थ है ही नही।[1] किन्तु जब तक ये भेद बने है, मोक्ष की प्राप्ति नही हो सकती। "भेद के दर्शन से मोक्ष असम्भव है और कर्म भेद के दर्शन के विना असम्भव है।"[2] ऐसी आशा की जाती है कि कर्मो का अग्रलिखित मे से कोई न कोई परिणाम होना चाहिए : "एक नई वस्तु की उत्पत्ति, अवस्था मे परिवर्तन (विकार) सस्कार और प्राप्ति" मोक्ष इनमे से किसी एक श्रेणी मे भी नही आता।[3] कर्म का महत्त्व साज-सज्जा तैयार करने मे है। किन्तु यह एक आशिक विचार पर आश्रित है और इसलिए अपने-आपमे यह अन्तिम लक्ष्य की प्राप्ति नही करा सकता। ज्ञान अथवा आध्यात्मिक अन्तर्दृष्टि ही मोक्ष का साधन है।[4] इस तथ्य के ऊपर कभी-कभी शङ्कर अनावश्यक रूप मे बल देते है "यह सोचना अयुक्तियुक्त है कि ब्रह्म-ज्ञान को जिसके आगे कार्यों के भेद, कर्ता और फल आदि के सब प्रकार के विचार विलुप्त हो जाते है, अपनी प्राप्ति के लिए किसी बाह्य वस्तु की सहकारी या सहायक के रूप मे आवश्यकता हो सकती है और न ही इसके फलस्वरूप मोक्ष को ऐसी किसी वस्तु की आवश्यकता हो सकती है। इसलिए ज्ञान को अपने किसी सगत कर्म की सहकारी रूप मे आवश्यकता नही होती।[5] शङ्कर स्वीकार करते है कि कर्तव्य कर्मो (नित्यानि कर्माणि) का पालन हमे पूर्वजन्म के पापो के फलो को नष्ट कर देने मे सहायक होता है, किन्तु ऐसे पुरुष, जो विशेष पदार्थों की अभिलाषा रखते हो, उनकी प्राप्ति के लिए नियत कर्मो (काम्य कर्मों) को कर सकते है। ये दोनो प्रकार के कर्म मनुष्य की इच्छाओ की पूर्ति कुछ समय के लिए कर सकते हैं किन्तु इनमे से कोई भी उसे नित्य-जीवन की प्राप्ति मे सहायक नही हो सकते। मीमासक का मत है कि यदि हम स्वार्थ-युक्त तथा निषिद्ध कर्मो से दूर रहे यदि ऐसे कर्मो को, जिन्होने अपना फल देना प्रारम्भ कर दिया है, उनके फलो का उपभोग करके नि शेष कर दे तथा यदि कर्तव्य कर्मो के न करने रूपी पापो को हटा सके, तो बिना किसी प्रयत्न के मोक्ष की प्राप्ति हो सकती है। उत्तर मे शङ्कर का कहना है कि कितने ही ऐसे कर्म है कि जिन्होने फल देना अभी प्रारम्भ नही किया और जिनके फलो को एक जन्म के अन्दर भोगकर नि शेष करना भी सभव नही हो सकता, ये कर्म हमारे अन्य जन्म के बन्धन के कारण बनेगे और इनके कारण नये कर्म बढकर एकत्र होते जाएगे। इसलिए जब तक हम ऐसी इच्छाओ को नही त्याग देते जो कर्म को उत्पन्न करती है, तब तक हमारे लिए कोई आशा नही हो सकती। इच्छाओ का कारण अविद्या को बताया गया है और इस प्रकार केवल विद्या ही। जो अविद्या का नाश करती है हमे कर्म के पाश से मुक्ति

१. शाकरभाष्य, छान्दोग्य उपनिषद्, प्रस्तावना।
२. शाकरभाष्य, केन उपनिषद्, प्रस्तावना।
३. शाकरभाष्य, तैत्तिरीय उपनिषद्, २ : ११।
४. आत्मबोध, पृष्ठ २०३।
५. देखे, शाकरभाष्य, केन उपनिषद।

दिला सकती है।[1] ब्रह्मविद्या इन सब बाह्य कर्तव्यपालनों के आधार ही को नष्ट कर देती है।[2] जिसका महत्त्व है वह बाह्य आचरण नहीं अपितु आन्तरिक जीवन है। इसकी दुःखदायी समस्याओं का समाधान नियमों के द्वारा नहीं हो सकता। हमारे रहस्यमय हृदय, हमारी प्रार्थनाएं तथा ध्यान आदि हमें जीवन की समस्याओं को हल करने में सहायक होते हैं। इसलिए उच्चतम नैतिकता उचित भाव के विकास में ही है। नैतिक प्रतिभा का रहस्य हमारे चैतन्य को धार्मिक रूप देने में ही है। नैतिक जीवन आध्यात्मिक अन्तर्दृष्टि का आवश्यक परिणाम है। जब तक आध्यात्मिक अन्तर्दृष्टि प्राप्त हो, नैतिक नियमों का पालन एक बाह्य आचार के रूप में करना ही होगा।

दूसरे अर्थों में नैतिक कर्तव्य व्यक्ति की अवस्था के अनुसार सापेक्ष होते हैं। आधुनिक जगत् में नैतिकता को भ्रम से प्रायः सामाजिक महत्त्वों के साथ मिला दिया जाता है, किन्तु सामाजिक महत्त्व सम्पूर्ण महत्त्वपूर्ण नहीं है। समाज के विषय में जो हमारे विचार हैं केवल वे ही नहीं, अपितु ईश्वरविषयक जो हमारे विचार हैं, उनका महत्त्व है। कोई रोबिन्सन क्रूसो किसी निर्जन द्वीप में अपने साथी फ्राइडे के अभाव में भी गुणों को धारण करने की अभिलाषा कर सकता है।

शङ्कर का मत है कि अन्तरात्मा का ज्ञान कर्म का विरोधी है और स्वप्न में भी इसके साथ नहीं रह सकता। यदि धर्मशास्त्रों में लेखबद्ध किए गए ऐसे दृष्टान्त हैं जिनमें कर्म करनेवाले गृहस्थ पुरुष भी पवित्र ज्ञान रखते थे और उन्होंने उस ज्ञान को अपने शिष्यों तक पहुंचाया तो इस प्रकार के कथन एक प्रत्यक्ष तथ्य का प्रत्याख्यान नहीं कर सकते क्योंकि "प्रकाश तथा अन्धकार को सैकड़ों नियमों के द्वारा भी एक साथ नहीं रखा जा सकता। और फिर इस प्रकार के संकेतों का तो कहना ही क्या है।"[3] यह कुल विवाद-विषय कर्म शब्द के सन्दिग्ध प्रयोग से ओतप्रोत है। यदि कर्म से तात्पर्य ऐसी क्रिया से है जो एक व्यक्ति अपने किसी न किसी निजी उद्देश्य की पूर्ति के लिए स्वीकार करता है तो यह आध्यात्मिक अन्तर्दृष्टि से भिन्न तथा असंगत है। इसके विपरीत व्यक्तित्वभाव से विहीन कर्म, अन्तर्दृष्टि प्राप्त करने के अनन्तर यदि कोई

१. शांकरभाष्य, १ : १, ४। तुलना करें, प्लेटो : "ऐसे पुरुष जिन्होंने प्रचलित तथा ऐसे सामाजिक धर्मों का अभ्यास किया है जो स्वभाव तथा अभ्यास से आते हैं और जिनके लिए किसी दर्शन अथवा तर्क की आवश्यकता नहीं, जन्म-जन्म के चक्र में सबसे अधिक सुखी रहते हैं; क्योंकि यह सम्भव है कि वे अपने ही समान नम्र और सामाजिक रूप में फिर वापिस आ जाएं, जैसे कि मधुमक्खियों में, भिड़ों में अथवा चींटियों में, और वे मनुष्य-शरीर के रूप में भी आ सकते हैं और उन्हींके अन्दर से योग्य नागरिक बन सकते हैं। किन्तु दार्शनिक अथवा सत्यज्ञान के प्रेमी के अतिरिक्त, जो सर्वथा शुद्धात्मा है, अन्य किसीको इस मर्त्य लोक से जाकर देवताओं की कोटि में जाने का अधिकार नहीं है।" (फीडो, पृष्ठ ८२)।

२. इदानीं कर्मोपादानहेतुपरिहाराय ब्रह्मविद्या प्रस्तूयते (शांकरभाष्य, तैत्तिरीय उपनिषद्, प्रस्तावना)।

३. विद्याकर्मविरोधाच्च न हि ब्रह्मात्मैकत्वदर्शनेन सह कर्म स्वप्नेऽपि सम्पादयितुं शक्यम्... यत्तु गृहस्थेषु ब्रह्मविद्यासम्प्रदायकर्तृत्वादिलिङ्गं न तत् स्थितं न्यायं बाधितुम् उत्सहते : न हि विधिशतेनापि तमःप्रकाशयोरेकत्र सम्भवः शक्यते कर्तुम्। किमुत लिङ्गैः केवलैरिति (शाङ्करभाष्य, मुण्डक उप०, प्रस्तावना)।

पुरुष सामान्य उद्देश्यों की पूर्ति के लिए स्वीकार करता है तो यह कर्त्ता के बन्धन का कारण नहीं होता और न उसके सांसारिक जीवन का कारण बनता है। पहले अर्थों में कर्म आध्यात्मिक अन्तर्दृष्टि के साथ-साथ नहीं रह सकता।[1] यदि ज्ञान और कर्म प्रकाश तथा अन्धकार के समान एक-दूसरे के विरोधी हैं तो यहां कर्म से तात्पर्य स्वार्थपरक क्रिया से है और ज्ञान से तात्पर्य है निःस्वार्थ ज्ञान से। शङ्कर के अनुसार मुक्तात्मा जो कर्म करता है उसे कर्म ही न कहना चाहिए। मुक्तात्मा का कर्म, जो लोकसंग्रह के लिए है, वास्तविक अर्थों में कर्म नहीं है। मुण्डकोपनिषद् के उस वाक्य का भाष्य करते हुए, जो इस प्रकार है "आत्मा के अन्दर क्रीडा करता हुआ, अपने अन्दर तथा दैनिक कर्मों को करता हुआ जो प्रसन्नता प्राप्त करता है वह उन पुरुषों में सर्वोत्तम है जो ब्रह्म को जानते हैं,"[2] शङ्कर कहते हैं कि इस प्रकार का विचार कि वह उपनिषद्-वाक्य कर्म तथा ज्ञान के संयोग का आदेश देता है केवल 'अज्ञानियों का प्रलाप-मात्र' है।[3] किसी न किसी प्रकार की क्रिया होनी चाहिए यह स्वीकार किया गया है, उससे निषेध नहीं किया जाता। शङ्कर जो कुछ मानते हैं वह यह है कि वह क्रिया नहीं है जिसे हम साधारणतः कर्म कहते हैं क्योंकि कर्म का आधार अहंकार है।[4] एक अन्य वाक्य में वे कहते हैं "ऐसे पुरुष के लिए जो ज्ञानी है कोई कर्म आसक्ति का कारण नहीं बन सकता यदि जीवन भर भी वह कर्म करता रहे—इससे पता लगता है कि ज्ञान की महत्ता है।"[5] कर्म उस सब क्रिया को कहते हैं जो सांसारिक जीवन की निरन्तरता की ओर ले जाती है और इसका सत्यज्ञान से विरोध है। अन्य किसी प्रकार की क्रिया को कर्म नहीं कहना चाहिए, क्योंकि यह काम अथवा स्वार्थपरक इच्छा की प्रेरणा से नहीं होती है। मुक्तात्मा अपनी स्वार्थपरक इच्छा का दमन कर लेता है (अकामयमान)। दूसरी ओर कुछेक वाक्यों में, जहां उनका तात्पर्य मुक्तात्मा के संसार की बाधाओं से उन्मुक्त होने पर बल देने में ही है, वे कहते हैं चूंकि समस्त क्रियाशीलता का अन्त दुःख-मय है इसलिए मुक्तात्मा के लिए कोई भी क्रियाशीलता सम्भव नहीं है।[6]

शङ्कर के नीतिशास्त्र के विरुद्ध बार-बार यह आरोप लगाया जाता है कि यह वैराग्य का उपदेश करता है। शङ्कर अनेक प्रकार से बलपूर्वक कहते हैं कि लौकिक जीवन में कभी भी ऐसा कुछ नहीं है जिस पर आचरण किया जा सके।[7] रोग और

१. देखें, शांकरभाष्य, ईशोपनिषद्, १८।
२. ३ : १, ४।
३. असत्प्रलपितमेवैतत्। देखें शांकरभाष्य, छान्दोग्य उपनिषद्, प्रस्तावना।
४. कर्महेतुः कामः स्यात्। (शांकरभाष्य, तैत्तिरीय उपनिषद्, प्रस्तावना)।
५. शांकरभाष्य, ३ : ४, १४ : और भी देखें, शांकरभाष्य, छान्दोग्य उपनिषद्, २ : २३, १।
६. शांकरभाष्य, २ : ३ : ४०।
७. तुलना करें, प्रथम जान, २ : १५-१७। "जगत् से प्रेम मत करो और न उससे ही जो कुछ जगत् में है; यदि कोई जगत् से प्रेम करता है तो उसके अन्दर अपने पिता के प्रति प्रेम नहीं है। क्योंकि जगत् में जो कुछ भी है अर्थात् शरीर की कामना और आंखों की इच्छा तथा जीवन के गौरव का अभिमान, यह सब पिता का नहीं जगत् का है; और संसार क्षणभंगुर है और अपनी इच्छा के साथ ही नष्ट हो जाता है; किन्तु जो ईश्वर की इच्छा का पालन करता है वह सदा के लिए स्थिर रहता है" (मोफेट कृत अंग्रेजी अनुवाद)।

मृत्यु हमें आते है, यदि आज नहीं तो कल और वे जिनसे हम प्रेम करते है एवं इस लोक में जिनको हम प्यार करते है, उन सब का धूल और राख के अतिरिक्त और कुछ शेष नही रह जाता। इस लोक में मनुष्य की आत्मा को कोई भी वस्तु निश्चित आधार प्राप्त नही करा सकती। संसार की निष्फलता तथा इससे आसक्ति का निर्देश एक यात्री की प्रचलित कहानी मे दिया गया है जो जंगली जानवरो से अपने को बचाने के लिए, जो उसका पीछा करते है, एक सूखे कुए में उतर जाता है। किन्तु उस कुए के नीचे के भाग मे अपना मुख खोले उसे निगलने के लिए एक नाग बैठा है। वह यात्री जंगली जानवरों के डर से बाहर नही निकल सकता, न नीचे तक उतरने की ही हिम्मत कर सकता है और इसलिए वह कुए की दीवारो मे उगे हुए एक जगली पौधे की शाखा को पकड लेता है। वह थक जाता है और अनुभव करता है कि शीघ्र ही उसका विनाश होने वाला है यद्यपि मृत्यु दोनों ओर उसकी प्रतीक्षा कर रही है तो भी वह शाखा को खूब मजबूती से पकड़े हुए है। किन्तु देखो! दो चूहे निकलते है, जिनमे से एक श्वेत वर्ण का तथा दूसरा काला है जो उस जगली पौधे के तने को काट रहे है। यह तना शीघ्र ही टूट जाएगा और यात्री मृत्यु के मुख मे जाने से नही बच सकता। ठीक इसी प्रकार हम, जो ससार-चक्र के ऊपर यात्रा कर रहे है, अपने जीवन के फंदो को जानते है; यह भी जानते है कि जिन वस्तुओ से हम चिपटे हुए है वे अवश्य ही नष्ट हो जाएंगी; किन्तु इस सबके होते हुए भी हमे कुछ जगली पौधो के पत्तो पर पड़ी मधु की कुछ बूंदे दिखाई पड़ती है और हम उन्हे चाटने मे प्रवृत्त हो जाते है। यद्यपि हम जानते है कि मृत्युरूपी नाग हमारी प्रतीक्षा मे है, एव यह जानते हुए भी कि दिन और रात रूपी दो श्वेत तथा काले चूहे उस शाखा को काट रहे है जिसे हम पकड़े बैठे है, तो भी जीवन-रूपी वृक्ष का मोह हममे नही छूटता। नाग उपस्थित है किन्तु फिर भी हमे उसकी परवाह नही क्योकि मधु जो मीठा है। हम वृक्ष का ही सत्य समझे बैठे है और उस भयङ्कर तथ्य का सामना नही करना चाहते कि ससार मे ऐसी कोई वस्तु नही जो मनुष्य के अन्तःस्थ अनन्त के लिए सन्तोषप्रद हो सके। शङ्कर हम बतलाते है कि सर्वोपरि त्याग का परिणाम तथा पुरस्कार सर्वोपरि पूर्ति है। इसकी प्राप्ति तभी होती है जब कि इच्छा का नाश तथा सुख और दुःख दोनो को एक समान दूर कर दिया जाए। आध्यात्मिक पूर्णता के लिए अत्यन्त पूर्ण गुण और ऊचे से ऊचा बौद्धिक दृष्टिकोण भी अपर्याप्त है। शङ्कर आत्मत्याग के जीवन पर बल देते है और हमे आदेश देते है कि हम देह के प्रति आसक्ति से अपने को मुक्त करे। आत्मा का शत्रु शरीर स्वयं इतना नही है जितना शरीर के प्रति हमारा बन्धन तथा 'मेरे-पन' का भाव है।[1] मृत्यु से पूर्व मुक्तात्मा का अपना शरीर रहता है किन्तु शरीर की उपस्थिति आत्मा के मोक्ष के साथ असङ्गति नही रखती। चूकि साधारण मनुष्य मे शरीर आत्मा की स्वच्छन्द उन्नति मे सहस्रो बाधाए उपस्थित करता है इसीलिए हम शङ्कर को इस प्रकार का तर्क करते हुए पाते है कि भौतिक शरीर के सयोग से आध्यात्मिक जीवन मे निरोध

१. शतश्लोकी, पृष्ठ १५।

तथा बाधा उपस्थित होती है। वैराग्य के आभास का कारण यह है कि शङ्कर ने बार-बार विषयासक्ति तथा शरीर की वासनाओं और लालसाओं को दमन करने का उपदेश दिया है।

यह कहा जाता है कि शङ्कर के जगत के निराकरणपरक दर्शन मे सामाजिक जीवन अथवा नागरिक कर्तव्य का कुछ अर्थ ही नही है। यदि यह ससार मिथ्या है तो हमे इसमे रुचि दिखलाने की कोई आवश्यकता ही नही है। यह भी कहा जाता है कि शङ्कर ससार से मुक्ति पाने का आग्रह करते है, किन्तु ससार को छोडने के लिए आग्रह नही करते। वे ससार को बदल देने की माग नही करते किन्तु हम इससे बचने का उपदेश देते है। वर्तमान सामाजिक सस्थाओं को उन्नत करने के लिए कोई प्रेरक भाव नही है। अवस्था इतनी बुरी नही जैसी कि प्रतीत होती है, यह स्वय शङ्कर के जीवन से ही स्पष्ट है और उक्त आरोप का स्थिर खण्डन है कि अस्तित्व युक्त जगत् की व्यवस्था अपनी सस्थाओं समेत एक ऐसी वस्तु है जिससे बचना चाहिए। उनका समस्त दर्शन उस कल्पना का खण्डन करता है कि व्यक्तित्व पृथक्त्व पर आश्रित है। मनुष्य को जगत् के समस्त दूषणों से अपने को पवित्र बनाना है, सब प्रकार के आवरणों को उतार फेकना है, और प्रत्येक अनुचित वस्तु को पीछे छोड देना है। उसे अपनेपन, वासना तथा इन्द्रिय-समूह की दासता का बन्धन तोड फेकना चाहिए। अपने निजी मनोभावों तथा पसन्दगी को दृढसङ्कल्प के साथ त्याग देना, सबकुछ त्याग कर प्रतीतिरूप मे शून्यता का भाव, 'एकाकी से एकाकी ओर' एक उडान, इन सब का तात्पर्य है नित्य जीवन। शङ्कर के दर्शन मे ससार से अवकाश प्राप्त कर लेने पर बल नहीं है किन्तु आत्मा सन्यास के ऊपर है। ससार से भागना कहीं आसान है किन्तु आत्मा से भागना उतना आसान नही। शङ्कर हमे अपनी स्वार्थपरता का दमन करने के लिए कहते है और इस कार्य के लिए यदि एकान्तवास तथा अवकाश ग्रहण की आवश्यकता है तो उद्देश्य की सिद्धि के लिए साधन के रूप मे इन्हे अपनाने का आदेश देते हैं। ऐसे पुरुष के लिए, जिसने अपने को स्वार्थपरता से मुक्त कर लिया हो, सासारिक जीवन व्यतीत करने की छूट है। उसकी मनोवृत्ति न तो ससार को प्राप्त करने की ओर न इससे भागने ही की होगी, वरन् ससार को मोक्ष प्राप्त कराने की होगी। पूर्णता को प्राप्त मनुष्य केवल अपने लिए जीता और मरता नहीं, वरन् मनुष्यमात्र के लिए जीता और मरता है, तो भी यह सत्य है कि शङ्कर हमे ससार के अन्दर रहने को तो कहते है किन्तु ससार का बनकर रहने को नही। वैसे ही जैसे कि जल का एक बिन्दु कमलपत्र के ऊपर रहता है किन्तु उसके अन्दर लिप्त नही हो जाता। ज्ञान का कार्य अपनी आखें खुली रखकर स्वप्न देखना है, अर्थात् ससार मे बिना लिप्त हुए किन्तु उसके प्रति किसी प्रकार का द्वेषभाव भी लिये बिना जीवनयापन करना।[1]

१. शोपनहावर के इस कथन का कि "उपनिषदों के अध्ययन ने मुझे जीवन में शान्ति प्रदान की और यही मुझे मृत्यु-समय में भी शान्ति प्रदान करेगा", उल्लेख करते हुए मैक्समूलर कहता है : "शोपनहावर कर्महीन लेख लिखने वाले लेखकों में नहीं था और न वह ऐसा व्यक्ति था जिसने तथाकथित अगम्यवादी और अव्यक्त विचारों के ऊपर अपने को अचेतनावस्था में जाने दिया हो। और

इस प्रकार की समालोचना, कि यदि मोक्ष की व्याख्या मे ऐसा कहा जाए कि यह शान्ति का स्वर्ग है, जहा जाकर समस्त जीवन मौन हो जाता है एव चैतन्य और व्यक्तित्व का दमन हो जाता है 'और ऐसे मोक्ष को हम केवल मानवीय जीवन छोडकर ही प्राप्त कर सकते है, तो यह हमे उपस्थित विषय से दूर 'एक अधिक महान् प्रश्न की ओर ले जाती है, और वह प्रश्न यह है कि अनन्त का सान्त के साथ क्या सम्बन्ध है, क्योकि नैतिकता का क्षेत्र सान्त वस्तुओ की व्यवस्था ही हो सकती है। तार्किक दृष्टि-कोण से अन्तर्दृष्टि का बुद्धि के साथ क्या सम्बन्ध है एव आध्यात्मिक अन्तर्दृष्टि का तार्किक ज्ञान के साथ क्या सम्बन्ध है, इस विषय का यह प्रश्न है। चूकि तार्किक ज्ञान आध्यात्मिक अन्तर्दृष्टि के ऊपर आश्रित है, हम नही जानते कि ये दोनो ठीक-ठीक किस प्रकार परस्पर सम्बद्ध है। लौकिक जगत् ब्रह्म के ऊपर आश्रित है किन्तु हम यह नही कह सकते कि किस प्रकार आश्रित है। ठीक इसी प्रकार नैतिक जीवन का सम्बन्ध आध्यात्मिक मोक्ष के साथ है किन्तु किस प्रकार का यह सम्बन्ध है यह हम नही कह सकते। एक से दूसरे का सम्बन्ध-विच्छेद करना, अर्थात् अन्तर्दृष्टि का बुद्धि से, ब्रह्म का जगत् से, धार्मिक साक्षात्कार का नैतिक जीवन से सम्बन्ध-विच्छेद करना, इस प्रकार की समालोचना को औचित्य प्रदान करना है कि शङ्कर की दृष्टि मे समार एक भ्राति है, हमारा ज्ञान अलीक है और हमारा नैतिक जीवन एक उपहास है। किन्तु शङ्कर बार-बार घोषणा करते है कि जगत् का मूल ब्रह्म मे है। जगत् से परे जाने के लिए हमे लौकिक जगत् के अन्दर से गजरना होगा। जिस प्रकार यथार्थ तक पहुचने का मार्ग लौकिक जगत् के अन्दर से है, इसी प्रकार पूर्णता-प्राप्ति का मार्ग नैतिक जीवन के अन्दर होकर है। यद्यपि अन्तिम लक्ष्य एक ऐसी वस्तु है जिसमे नैतिक से परे जाना होता है, इसका तात्पर्य यह नही है कि आध्यात्मिक का नैतिक के साथ कोई सम्बन्ध नही है। खोजनेवाले को कभी भी सासारिक कर्तव्यो को त्याग देने अथवा ईश्वर-भक्ति के विरुद्ध प्रोत्साहन नही दिया गया। नैतिक परिस्थिति की अयथार्थता केवल तभी उत्पन्न होती है जब कि नैतिकता का कर्तव्य पूरा हो जाता है। अन्तिम नि श्रेयस् दूर नही है किन्तु नैतिक सघर्ष यहा एक भूल और निष्फलता का क्षेत्र है। इसकी यही और अभी प्राप्ति हो सकती है। यह कहना कि नैतिक पुरुषार्थ सापेक्ष है, उसके अन्दर जो आदर्श का अश है उसे पहचान लेना है। यह विचार कि पाप व पुण्य के अन्दर भेद

मुझे ऐसा कहने में न तो कोई भय है और न लज्जा ही है कि मै उसके वेदान्त के प्रति उत्साह में उसके साथ हिस्सा बंटाने को उद्यत हू और अपने को इस जीवन में से गुजरते हुए जो कुछ सहायता इसमे मुझे मिली है, उसके लिए मै वेदान्त का ऋणी हू। वस्तुतः प्रत्येक मनुष्य के लिए यह आवश्यक नही है कि वह क्रियात्मक जीवन में अवश्य ही भाग ले, चाहे देश की रक्षा में अथवा उसके शासन में, धन संचय करने में अथवा मजदूरी करने में; किन्तु जो पुरुष चिन्तनात्मक तथा शान्तिमय जीवन निर्वाह करने के योग्य है उनके लिए वेदान्त मे बढ़कर सामग्री अन्यत्र न मिलेगी। एक मनुष्य प्लेटो के समान आदर्शवादी होते हुए भी एक उत्तम नागरिक तथा क्रिश्चियन हो सकता है और यही बात मैं वेदान्ती के लिए भी कहना चाहता हू।"

('सिक्स सिस्टम्स ऑफ इंडियन फिलासफ़ी,' पृष्ठ १९३)।

हमारे सीमित स्तर की अपेक्षा रखता है, इस क्रियात्मक जगत् में इसके पालन को अनुचित नही ठहराता। ऐसे पुरुषो के लिए भेद की अयथार्थता का कोई अर्थ नही है जो अपने को स्वार्थपरता की शृङ्खलाओ मे जकडे हुए है और इस प्रकार सीमाबद्ध जीवन को दीर्घकालिक बनाते है। शकर विधान या नियम को सर्वथा त्याज्य नही मानते; अपितु उनका मत है कि मोक्ष का मार्ग विधान के द्वार से होकर ही है। बुद्धि का आश्रय अन्तर्दृष्टि है और नैतिक जीवन का आधार आध्यात्मिक मोक्ष है। यह वह अकुर है जिसके अन्दर से पूर्णता का फूल विकसित होता है।

४२

कर्म

शकर ने कर्म के विधान को स्वीकार किया है। व्यक्तित्व, अर्थात् पृथक्त्व, कर्म के कारण है और अविद्या की उपज है।[1] इस प्रकार का जगत् जिसमे हम उत्पन्न हुए है केवलमात्र कर्ता के ऊपर उसके पूर्व कर्मो का प्रतिदान है।[2] मनुष्य का शारीरिक सगठन — कार्य करनेवाला यन्त्र-समुच्चय है,[3] जिसका प्रयोजन उस प्रतिदान को कर्मो तथा उनके फलो के रूप मे, जो दुःख एव सुख के रूप मे होते है, उत्पन्न करना है। कभी-कभी किसी एक जीवन के कर्मो का प्रतिदान अनेक आनेवाले जन्मो मे मिलता है। ठीक जैसे कि भूतपूर्व कर्म का परिशोधन पूर्ण होता है तो नये कर्म एकत्र हो जाते है, "इस प्रकार परिशोधन रूप घडी बराबर ऊपर-नीचे चक्र-रूप मे चलती रहती है।[4]" नैतिक जीवन एक अविराम, क्रियाशील तथा शक्तिपूरक है, जो कभी भी सर्वथा निःशेष नही होता। मानवीय जीवन की अवस्थाओ की मागो की नानाविधता के अनुसार यह भी अनन्त आकार धारण करता है। यह प्रक्रिया बराबर के लिए चलती रहती है जब तक कि पूर्ण ज्ञान की प्राप्ति नही हो जाती और यह कर्म के बीज को भस्म कर देती है तथा पुनर्जन्म को असम्भव कर देती है। कर्म के विधान की अधीनता से मुक्ति पाना मानवीय जीवन का लक्ष्य है। अविद्या से छुटकारा पाना ही कर्म-विधान से मुक्त होना है। किन्तु जब तक जीवात्मा सीमाबद्ध है तब तक वह कर्म-विधान के अधीन है, अर्थात् वह सदा ऐसे आदर्श को प्राप्त करने के लिए श्रम करती है जिस तक वह कभी नही पहुचती। नैतिकता एक प्रकार का सीढी का पत्थर है किन्तु विश्राम-स्थान नही है। ऐसे सब कर्म, जो फल की आकाक्षा से किए जाते है, कर्म-विधान के अनुसार ही अपने फल देते है। किन्तु ऐसे कर्म जो, निःस्वार्थभाव अर्थात् ईश्वरार्पण के भाव से किए गए है, मन को पवित्र करते है।

किन्तु इसका तात्पर्य यह नही है कि हम अपने पूर्व कर्मों की रस्सियो से खीचे जाकर कठपुतलियो की भाति कार्य करते है। यह पहले कहा जा चुका है कि व्यक्ति अपने कर्मो के लिए उत्तरदायी है और ईश्वर केवल सहायक के रूप मे मध्यस्थ का

१. शाकरभाष्य ३ : २, ६ २. क्रियाकारकफलम्। ३. कार्यकारणसंघात।
४. 'ड्यूसन्स सिस्टम आफ दि वेदान्त,' अंग्रेजी अनुवाद, पृष्ठ ३५४।

कार्य करता है एव उसके कर्मफलो को सुरक्षित बनाए रखता है।[1] ईश्वर किसीको विवश नही करता कि तुम ऐसा नही ऐसा कर्म करो, यहा तक कि ऐसी प्रवृत्तियो के ऊपर भी जिनसे हम बद्ध है, हम इच्छाशक्ति के द्वारा विजय पा सकते हे।[2] योगवाशिष्ठ मे वशिष्ठ राम को स्वतन्त्र पुरुषार्थ के द्वारा उस शृखला को तोड फेकने का आदेश देते है जो हमे बन्धन मे जकडे हुए है।[3] मनुष्य का स्वभाव प्रेरणापरक है जिसके कारण उसमे राग तथा द्वेष उत्पन्न होते है।[4] मनुष्य, यदि प्राकृतिक स्वभाव के अनुसार चले जिसे लेकर उसने जन्म ग्रहण किया है तो सर्वथा अपनी अन्त प्रेरणाओ के अधीन रहता है, और जब तक उसकी क्रियाए इन अन्त प्रेरणाओ से सचालित होती हे वे क्रियाए स्वतन्त्र नही है। किन्तु मनुष्य केवलमात्र अपनी अन्त प्रेरणाओ का ही पुज नही है। उसके अन्दर अनन्त का निवास है। आत्मा कारणकार्य-भावरूपी शक्ति के रूप मे व्यावहारिक शृखलाओ के बाहर विद्यमान रहती है और उनका निर्धारण करती है। मनुष्य का इतिहास केवलमात्र कठपुतली का तमाशा नही है। यह एक रचनात्मक विकास है।

४३

मोक्ष

मोक्ष एक ऐसी सत्ता के साक्षात्कार का विषय है जो अनन्त काल मे विद्यमान है, यद्यपि वह हमारे दृष्टि के क्षेत्र से परे है। जब प्रतिबन्ध दूर हो जाते है तो आत्मा मुक्त हो जाती है। यह जहा थी और जो कुछ है और अनन्त काल से है तथा वस्तुमात्र के मूलतत्त्व रूप मे वैसी ही वर्तमान रहती है। यह वह शान्ति है जो ससार नही दे सकता। न उसे हर सकता है, यह सर्वश्रेष्ठ तथा अद्वितीय स्वर्गीय सुख हे। "वह जो परम अर्थो मे यथार्थ है, निर्विकार है, नित्य है, आकाश के समान सर्वान्तर्यामी है, हर प्रकार के परिवर्तन से मुक्त, सर्वसन्तोषप्रद, अविभक्त, जिसका स्वरूप ही उसका अपना प्रकाश है, और जिसके अन्दर न तो भला हे न बुरा, न कोई प्रभाव है, न भूत, न वर्तमान और न भविष्यत् को कोई स्थान है—इस अलौकिक को मोक्ष कहा गया है।"[5] जब अविद्या का लोप हो जाता है तो यथार्थ आत्मा स्वत प्रकाशित रह जाती है, ठीक जिस प्रकार असर करनेवाली मलिनताओ के छूट जाने पर सुवर्ण मे चमक आ जाती है अथवा जैसे मेघ शून्य रात्रि मे तारे प्रकाश देने लगते है जब कि उन्हे

१. शाकरभाष्य, २ : ३, ४० ।

२. भगवद्गीता पर शाकरभाष्य, ३ : ३, ६ ।

३. देखें, जीवन्मुक्तिविवेक, अध्याय १ ।

४ भगवद्गीता पर शाकरभाष्य, ८ १८; ३ : ३३ ।

५. इद तु पारमार्थिकम्, कूटस्थम्, नित्यम्, व्योमवत् सर्वव्यापि, सर्वविक्रियारहितम्, नित्यतृप्तम्, निरवयवम्, स्वयंज्योतिःस्वभावम्, यत्र धर्माधर्मौ सह कार्येण कालत्रयं च नोपावर्तेते तद् अशरीरं मोक्षाख्यम् (शाकरभाष्य, १ : १, ४) ।

अभिभूत करनेवाला दिन छिप जाता है।[1] मनुष्य का अपने समस्त स्वनिर्मित बन्धनों से दास्यविमोचन एक ऐसा ऐश्वर्य है, जो विचार के क्षेत्र से सर्वथा परे है; एक ऐसी शान्ति जो हमारे सब प्रकार के पुरुषार्थ का प्रयोजन है, हमारे अपने निकटतम चैतन्य से भी अधिकतर समीप विद्यमान है। शंकर हमारे सम्मुख एक ऐसे स्वर्ग का चित्र प्रस्तुत नही करते जो इस लोक से पृथक् अथवा इस लोक के अनुभव की व्यवस्था से भिन्न प्रकार का है, अपितु एक ऐसा स्वर्ग है जो सर्वदा यहा उपस्थित है, यदि केवल उसे हम देख सकते। यह किसी काल्पनिक भविष्य के गर्भ मे अवस्थित नही जो वर्तमान जीवन की समाप्ति पर वाले आने वाले लोक मे निरन्तर स्थायी जीवन हो, अपितु यह यथार्थतत्त्व के साथ एकत्व (तादात्म्य) की एक अवस्था है जो इसी लोक मे है और वर्तमान काल मे भी है।[2]

मुक्तात्मा अपने यथार्थस्वरूप को धारण कर लेते है (स्वात्मन्यवस्थानम्)।[3] आत्मा के विलोप का नाम मोक्ष नही है, अपितु चैतन्य के विस्तार तथा प्रकाश के द्वारा अपनी अनन्तता और निरपेक्षता का साक्षात्कार कर लेने का नाम मोक्ष है। चित्सुखाचार्य का कहना है कि आनन्दमय का साक्षात्कार ही मोक्ष है।[4] आत्मा के तात्त्विक स्वरूप को, जो परमानन्द है, दुःख आवृत कर लेता है और अज्ञान इसमे सहायक होता है। अज्ञान के अभाव मे दुःख लुप्त हो जाता है और आत्मा का स्वरूप, जो विशुद्ध आनन्द है, अपने को व्यक्त कर देता है। मोक्ष-प्राप्ति कोई ऐसी प्रक्रिया नही है जिसमे हम समस्त जगत् को नष्ट करने का प्रयत्न करते है। यह इस प्रकार की कोई प्रक्रिया नही है "जैसे कि घी को आग के ऊपर रखकर उसके कड़ेपन का विनाश किया जाता है।"[5] समस्त ससार के विनाश-जैसा महान् कार्य केवल एक मनुष्य के द्वारा होना असम्भव है। यदि मोक्ष से तात्पर्य जगत् के अनेकत्व का विनाश हो, तब पहले-पहल जब किसी एक मनुष्य ने मोक्ष प्राप्त किया होगा तभी समस्त जगत् को विनष्ट हो जाना चाहिए था।[6] सत्य ज्ञान की प्राप्ति से तात्पर्य अनेकत्व का विनाश नही है किन्तु केवलमात्र अनेकत्व के भाव का अभाव है।[7] यह एक प्रकार की अन्तर्दृष्टि है जो जगत् के चित्र को ही बदल देती है और 'सब वस्तुओ का नये सिरे से निर्माण करती है।' यह अन्तर्दृष्टि, जीवन तथा इसकी घटनाओ के प्रति इस प्रकार का परिवर्तित दृष्टि-

१. शांकरभाष्य, १ : ३, १९।

२. इसकी नागार्जुन के मत से तुलना करे, जिसके अनुसार निर्वाण की न उत्पत्ति है, न विनाश है; वह न एक है और न अनेक है, न गतिरहित अथवा गति का अभाव है, न नित्य है और न विनश्वर है, और यह कि यह ससार के सदृश है (माध्यमिक कारिका, २५ : १९)।

३. शांकरभाष्य, ४ : ४, १-३। तुलना करे : आत्मन्येवावस्थानवत्तिः (अद्वैतब्रह्मसिद्धि)।

४. अनवच्छिन्नानन्दप्राप्तिः (सिद्धान्तलेशसंग्रह)।

५. शांकरभाष्य, ३ : २, २१। और भी देखे, बृहदारण्यक उपनिषद्, ४ : ५, १३।

६. एकेन चादिमुक्तेन पृथिव्यादिप्रलयः कृत इतीदानीं पृथिव्यादिशून्य जगत् अभविष्यत्। (शांकरभाष्य, ३ : २, २१)।

७. ज्ञाते द्वैतं न विद्यते।

कोण मोक्ष की अवस्था नही, अपितु साक्षात् मोक्ष है।[1] ससार की अन्त न होनेवाली यह शृङ्खला अपने ऊच-नीच के साथ बराबर चलती रहेगी, किन्तु उसके प्रति जो मुक्तात्मा की आसक्ति है वह समाप्त हो जाती है।

अविद्या शब्द का प्रयोग स्थिति के सारतत्त्व का प्रतिपादन करने के लिए किया गया है। मोक्ष की प्राप्ति से ससार मे तो कोई भी परिवर्तन नही होता, केवल इसके प्रति जो हमारा दृष्टिकोण है वह परिवर्तित हो जाता है। इसकी क्षणभगुर वस्तुए, जो अल्पमति व्यक्तियो के लिए एक प्रकार का मोहक आकर्षण रखती है, मुक्तात्मा को सर्वथा आकृष्ट नही करती। दु ख का कारण केवल मिथ्याज्ञान की भ्राति है,[2] और भ्राति से मुक्ति पा जाने पर दु.ख से भी मुक्ति मिल जाती है। इस प्रकार मोक्ष ससार का विलय नही है वरन् केवल एक मिथ्या दृष्टिकोण का मिट जाना-मात्र है। मुक्तात्मा की फिर से लौकिक जगत् मे वापस आने की सम्भावना नही रहती, इस सिद्धान्त का प्रतिपादन करने की उत्सुकता से शङ्कर बार-बार सुझाव देते है कि मुक्ति के अन्दर समस्त व्यावहारिक विभागो व गुण तथा विषय-विषयी के भेदो का भी पूर्णरूप से विलय हो जाना आ जाता है।[3]

इस प्रकार की आपत्ति की, कि यह जगत् केवल एक भ्रान्ति-मात्र है, इस प्रकार के विचार से पुष्टि होती है कि यह आनुभविक जगत्, आत्मा, वस्तुए तथा ईश्वर आदि भेदो सहित ऐसे व्यक्ति के लिए, जो ब्रह्म तथा आत्मा के एकत्व को जान जाता है, विलुप्त हो जाता है।[4] शकर मे ऐसे असख्य वाक्य आते है जो बलपूर्वक कथन करते है कि जिस प्रकार रस्सी का ज्ञान हो जाने पर साप-विषयक मिथ्या ज्ञान दूर हो जाता है तथा जाग जाने पर स्वप्नावस्था की रचनाए स्वत नष्ट हो जाती है, ठीक इसी प्रकार मुक्ति प्राप्त होने पर ससार का अस्तित्व मिट जाता है। हमारी सीमित अन्तर्दृष्टि को जगत् जिस रूप मे प्रतीत होता है, वह रूप आत्मा तथा ब्रह्म के एकत्व को जान लेने पर परिवर्तित हो जाती है। निरपेक्ष ब्रह्म के अन्दर वे वस्तुए, जिन्हे हम इस क्रियात्मक जीवन मे अपनी परिस्थितियो की कथावस्तु के रूप मे जानते है, उस रूप मे अपना अस्तित्व नही रखती।[5] शकर नाना प्रकार से इस तथ्य के ऊपर बल देते है कि परब्रह्म के लिए यह जगत् उस प्रकार का अस्तित्व नही रखता जिस प्रकार का

१. तुलना करें, : शुद्ध ब्रह्माश्रयविषयम् एकमेव ज्ञान तन्नाश एव च मोक्षः। कृष्णानन्द, जिसने सिद्धान्तलेश पर टीका की है, लिखता है : चैतन्यस्याज्ञानसम्बन्धो बन्धस्तदसम्बन्धो मोक्षो न तु तन्निवृत्तिः। पद्मपाद का मत है कि मिथ्याज्ञान के अभाव का नाम मोक्ष है : मिथ्याज्ञाननिवृत्ति मात्रम् मोक्षः।

२. मिथ्याभिमानभ्रमनिमित्त एव दुःखानुभवः (शाकरभाष्य, २ : ३. ४६)।

३. सुरेश्वर कहता है : "जब अनन्त प्रकाश का साक्षात्कार अन्तर्दृष्टि के द्वारा प्राप्त कर लिया जाता है तब समस्त प्राणी ब्रह्म से लेकर नीचे वनस्पति-जगत तक स्वप्नावस्था के समान एक प्रकार की भ्रान्ति में परिणत हो जाते है (मानसोल्लास, १)।

४. गृहाते त्वात्मैकत्वे बन्धमोक्षादिसर्वव्यवहारपरिसमाप्तिरेव स्यात् (शाकरभाष्य, १ : २, ६)।

५. शाकरभाष्य, १ : २, १२; १ : २, २०।

कि हमारे लिए रखता है। ब्रैडले को भी शकर के समान ही निश्चय है कि प्रतीति-स्वरूप-जगत् का भेदसम्पन्न स्वरूप परब्रह्म के अन्दर जाकर नही रहता। ये सब किस प्रकार से यथार्थसत्ता मे जाकर विलीन हो जाते है, इस प्रश्न का समाधान ब्रैडले ने तो 'किसी न किसी प्रकार से' कहकर दिया है और शकर ने इसे 'अनिर्वचनीय' नाम दिया है। ब्रैडले ने जो इसके लिए 'रूपान्तरकरण' शब्द का प्रयोग किया है उसपर शकर ने आपत्ति की है। यहा तक कि अपूर्ण के ऊपर प्रतिक्रिया, जो कि उक्त शब्द के द्वारा प्रकट होती है, परब्रह्म की अपरिवर्तनीय पूर्णता के साथ सगति नही खा सकती। तार्किक सूक्ष्मता के लिए अत्यधिक रुचि के कारण ही शकर के कथन कुछ-कुछ भ्रामक रूप प्रतीत होने लगते है जैसे कि 'जगत् कुछ नही है।' हम जब 'प्रतीति-रूप के यथार्थ-सत्ता के अन्दर रूपान्तरकरण' की बात करते है तो बौद्धिक विभागीकरण का प्रयोग कर रहे होते है, अथवा यह एक प्रकार का अनादि अनन्त सामजस्य मे साकेतिक चिह्नो का 'सम्मिश्रण' है। ये सब शकर की सम्मति मे परब्रह्म मे अनेकत्व और लौकिक भेदो को प्रविष्ट करने का प्रयास करते है, जिसके लिए कोई आध्यात्मिक प्रमाण नही है। यथार्थसत्ता सब प्रकार के सम्बन्धो से ऊपर है। परब्रह्म सदा एक ऐसी वस्तु रहेगा जिसका आख्यान हम अपने पारिभाषिक शब्दो के द्वारा नही कर सकते। सापेक्ष का सापेक्षरूप मे परब्रह्म के अन्दर कोई स्थान नही है। जब वह वस्तु जो निरपेक्ष परब्रह्म को सापेक्ष का रूप देती है, नष्ट हो जाती है तो जो कुछ शेष बचता है वह निरपेक्ष परब्रह्म है। 'माण्डूक्योपनिषद्' पर भाष्य करते हुए शकर कहते है कि 'तुरीय' अथवा चतुर्थ अवस्था (अविकल अनुभव) की प्राप्ति अन्य तीन अवस्थाओ अर्थात् जाग्रत्, स्वप्न तथा सुषुप्ति अवस्थाओ के उसमे एकत्रीकरण के द्वारा होती है। सबसे ऊची अवस्था मे शेष तीनो सम्मिलित है और वह उन तीनो से ऊपर है।[1] 'प्रपञ्चोपशम' की परिभाषा के प्रयोग से तात्पर्य है जगत् का ब्रह्म के अन्दर विलीन हो जाना, किन्तु यह जगत् का निराकरण नही है। हमारे अन्दर इतनी शक्तिया विद्यमान है जो सत्य की व्यवस्था के अनुसार कार्य करने मे समर्थ है और जिनका प्रयोग हमारे विश्व के समस्त स्वरूप मे ही परिवर्तन उत्पन्न कर सकता है। जब हम तुरीय अवस्था को प्राप्त करते है हम एक अन्य दृष्टिकोण से एव एक अन्य प्रकाश के द्वारा भासित यथार्थसत्ता को पाते है। केवल यही दृष्टिकोण तथा यही प्रकाश निरपेक्ष है। जब हम इस दृष्टिकोण से यथार्थसत्ता का बोध करते है तो हमे ज्ञात होता है कि जगत् का यथार्थ तत्त्व स्वय ब्रह्म ही है।[2] जिसका हम निराकरण करते है वह एक भ्रातिमय ढाचा है और जो शेष बचता है वह अपने-आपमे यथार्थ है। मुक्तात्मा के ऊपर आवरणस्वरूप माया का कोई वश नही है। जब अनुभव के द्वारा ब्रह्म तथा आत्मा के एकत्व तक हम पहुच जाते है तो वह बन्धन जो हमे नानारूपो मे जकडे हुए है कट

१. त्रयाणा विश्वादीना पूर्वपूर्वप्रविलापनेन तुरीयस्य प्रतिपत्ति। प्रविलय शब्द सम्मिलित हो जाने का सकेत करता है, किन्तु निराकरण अथवा निषेध नही।

२. शाकरभाष्य १ : ३, १।

३. शाकरभाष्य, माण्डूक्योपनिषद्, २ : ७।

जाता है और उक्तरूपो के अपने अन्दर कोई आकर्षण नही रह जाता। वे रह सकते है और रहेगे जब तक इन्द्रिया जीवित् रूप में विद्यमान हे और बुद्धि क्रियाशील है किन्तु उन्हे अन्तर्दृष्टि द्वारा ज्ञान ब्रह्म के साथ सम्बद्ध करने की कोई आवश्यकता नही। जब मृगतृष्णिका की भ्राति वैज्ञानिक ज्ञान के द्वारा मिट जाती है तो भ्रातिजनक प्रतीति रहती अवश्य है; किन्तु अब यह हमे आगे से भ्राति मे नही डाल सकती। हम उसी आभास को देखते है किन्तु अब उसका महत्त्व भिन्न प्रकार का ही होता है। जब भ्राति की भ्रातिमत्ता प्रत्यक्ष हो जाती है तो यह भ्राति नही रह सकती। चाहे भिन्न-भिन्न रूप (आकृतिया) निराकार के अन्दर अपने को विलीन कर दे अथवा अपने को केवलमात्र ब्रह्म की प्रतीतियो के रूप मे प्रदर्शित करे, दोनो मे से किसी भी दृष्टिकोण से यह जगत् केवल भ्रातिमय नही है।

शकर ने अनेक वाक्यो मे यह घोषणा की है कि मुक्ति का स्वरूप ब्रह्म के साथ एकत्व का है[1] और यहा तक कि ब्रह्म अनुभव के सब प्रकार के विभागों से ऊपर उठा हुआ है। इस प्रकार मोक्ष की अवस्था का वर्णन हमारे ज्ञान के शब्दो मे नही किया जा सकता। चूकि हमारा ज्ञान देश, काल, कारण और कार्य, व्यक्तियो तथा वस्तुओं एव कर्मो तथा दुखों, से सम्बन्ध रखनेवाले भेदो का प्रतिपादन करता है, इसलिए यह कहा जाता है कि इनमे से कोई भी भेद मोक्ष की अवस्था मे लागू नही होता। यह नही कहा जा सकता कि मुक्तात्मा पुरुष किसी एक भौगोलिक क्षेत्र मे निवास करते है जिसका नाम स्वर्ग अथवा ब्रह्मलोक है, और न यही कहा जा सकता है कि वे अनन्तकाल तक रहते है। क्योंकि शकर अरस्तू के साथ इस विचार से सहमत है कि "अनन्त काल की अवधि न तो उत्तम को उत्तमतर बना सकती है और न श्वेत को अधिक श्वेत ही बना सकती है।"[2] हम मोक्ष की अवस्था का निरन्तर क्रियाशीलता की अवस्था के रूप मे नही मान सकते। यह सर्वोन्नत अनुभव है जो सब प्रकार की क्रियाशीलता मे अतीत है और यहा तक कि इस अवस्था मे आत्मचैतन्य भी मिटा दिया जाता है। आत्मा ससारचक्र मे ऊपर उठकर, जिसके साथ विकास और क्षय, जन्म और पुनर्जन्म का सदा चलते रहनेवाला प्रवाह लगा हुआ है, ऐसे नित्यत्व के अनुभव को प्राप्त कर लेती है जिसका लक्षण करते हुए बौथियस, ने कहा हे कि यह "अनन्त जीवन की सम्पूर्ण रूप मे तथा क्षणमात्र के अन्दर प्राप्ति है।[3] मोक्ष की अवस्था विश्वात्मा के साथ सर्वात्मभाव प्राप्त करना है, अर्थात् उस ब्रह्म के साथ जो कि व्यावहारिक जगत् के समस्त भेदो मे ऊपर उठा हुआ है।[4] मोक्ष की अवस्था अपने निजी ब्रह्मरूपी आन्तरिक रूप के अतिरिक्त अन्य कोई वस्तु नही है और स्वर्ग की भाति कोई उपार्जित अवस्था भी नही है शास्त्रो (श्रुति) मे शिक्षा दी गई है, और यही तर्कसम्मत भी हे, कि ब्रह्म

१. ब्रह्मैव हि मुक्त्यावस्था।
२. 'निकोमैकियन एथिक्स', १ : ६।
३. 'एवेलिन अण्डरहिल कृत जेकोपोन डी टोडी' के पृष्ठ २८५ पर उद्धृत।
४. स सर्वात्मभावः सर्वसंसारधर्मातीतब्रह्मस्वरूपत्वम एव (शांकरभाष्य, तैत्तिरीय उप०, २: १)।

का एक ही रूप है और इसलिए मोक्ष भी एक ही प्रकार का है, चाहे उसे ब्रह्म प्राप्त करे चाहे मनुष्य । सौलोक्य (ब्रह्म के साथ एक ही लोक मे निवास) और अन्य प्रकार के विशिष्ट मोक्ष जिनका वर्णन आता है चूकि अर्जित परिणाम ह इसलिए भिन्न-भिन्न कोटियो की पूजा के कारण उनमे श्रेष्ठता आदि का भेद हो सकता है, किन्तु 'मुक्ति' उस स्वरूप की नही है ।[1] चूकि ब्रह्म "सब स्थानो मे उपस्थित है, हर एक वस्तु के अन्दर है, और सब वस्तुओ की आत्मा है, यह सर्वथा असम्भव है कि यह गति की प्रक्रिया का लक्ष्य बन सके । क्योकि जिस पर हम पहले से ही पहुच गए है उसके प्रति चलने का कुछ अर्थ नही है । अनुभव हमे बताता है कि मनुष्य अपने से पृथक् की ओर जाता है ।"[2]

शरीरधारी ईश्वर के उपासक तो ब्रह्मलोक को जा सकते है किन्तु उन्हे नही जाना होता जिन्होने मोक्ष प्राप्त कर लिया है ।

मोक्ष का वर्णन निषेधात्मक रूप मे ऐसी स्वतन्त्रता की अवस्था के रूप मे किया गया है कि जहा न दिन है न रात है, जहा काल की धारा का प्रवाह रुक गया है, और जहा सूर्य तथा तारे आकाश से दूर कर दिए गए है ।[3] ज्ञान के भेद इसके अन्दर कोई स्थान नही रखते ।[4] यह ईसाइयो के स्वर्ग के समान है, जो भ्रष्टाचार से शून्य है, अकलुषित है और कभी क्षीण नही होता । किन्तु इससे यह परिणाम न निकालना चाहिए कि यह नितान्त अभाव की अवस्था है । मुक्तात्मा किसी अन्य को नही देखता, वरन् अपने को सबके अन्दर देखता है ।[5] ठीक जिस प्रकार ब्रह्म हमारे लौकिक दृष्टिकोण से केवल शून्य मात्र प्रतीत होता है इसी प्रकार मोक्ष की अवस्था सर्वथा हानि-रूप ही प्रतीत होती है, अर्थात विलुप्त होते-होते विस्मृति म परिणत हो जाती है । यह एक प्रकार से प्रकाश का बुझ जाना एव क्षीण हो-होकर अभावरूप मे परिणत हो जाना है, जैसा कि जार्ज इलियट ने अपने 'दि लीजेड आफ जुबल' मे प्रस्तुत किया है । "एक बुझी हुई सूर्य की लहर जो मर्त्यभाव को छोडते हुए अपने अन्तिम विश्राम-स्थान उस सर्वस्रष्टा के सान्निध्य मे रहने को प्रस्थान करती है ।" चूकि जिस प्रकार शकर इस विचार का विरोध करते है कि ब्रह्म केवल दुर्बलात्माओ को असद् रूप मे प्रतीत होता है उसी प्रकार वे तर्क करते है कि हमारे लौकिक दृष्टिकोण से यह महान् सर्वात्मा के साथ एकत्व की प्राप्ति भी ऐसी प्रतीत तो होती है मानो अन्त मे मृत्यु-मुख मे चली गई और फिर जीवित न होगी, किन्तु यथार्थ मे यह ऐसा नही है । ऐसे वाक्य भी आए है जिनमे यह प्रतिपादन किया गया है कि मोक्ष की प्राप्ति पर चैतन्य रहता है ।

१. शाकरभाष्य, ३ : ४, ५२ ।
२. शकरभाष्य, ४ : ३, १४ और भी देखें ३ : ३१ ।
३. शाकरभाष्य, ४ : ३, ७–८ ।
४. दर्शनादिव्यवहाराभाव· (शाकरभाष्य, १ : ३, ९) ।
५. मुक्तस्यापि सर्वैकत्वात् मनानो द्वितीयाभावः (शाङ्करभाष्य, छान्दोग्य उपनिषद्, ८ : १२, ३) ।

इस प्रकार के एक वाक्य को लेकर शंकर तर्क करते है कि इस अवस्था में वैयक्तिक चेतना (विशेष-विज्ञान) लुप्त होती है, किन्तु समस्त चैतन्य नही। आत्मा का विशुद्ध सारतत्त्व (विज्ञानघनात्मा) विद्यमान रहता है।[1] इसी प्रकार उनका मत है कि मोक्ष मे केवल प्रतिबन्ध उत्पन्न करने वाले सहायक नष्ट हो जाते है किन्तु स्वयं आत्मा नष्ट नही होती।[2] मोक्ष निर्जन प्रदेश मे विलुप्त हो जाना नही है। हमारे लिए अपने सीमित दृष्टिकोण से जीवात्मा अपने शरीर, इन्द्रियो, चित तथा बोधशक्ति तक ही सीमित दृष्टिकोण से यथार्थ है; और वह मुक्तात्मा, जिसने विश्वात्मा के साथ अपने एकत्व को साक्षात् कर लिया है, काल पर विजय प्राप्त कर ली है, और नित्य जीवन को प्राप्त कर लिया है, यथार्थ प्रतीत होती है। हम शारीरिक जीवन के अर्थों मे एक निरन्तर रहने वाले अमरत्व के जीवन की अभिलाषा करते है। शङ्कर ऐसी आत्मा को उक्त प्रकार का जीवन प्रदान करते है जिसका दृष्टिकोण शरीर, इन्द्रियो तथा चित से परे नही जाता। शङ्कर केवल ऐसी आत्मा को एक विशिष्ट एवं प्रतीतिमय वस्तुओ मे से एक आभास मात्र मानते है, जो उत्पन्न होती तथा नष्ट हो जाती है। किन्तु जब ये सब वस्तुएं जो सीमित को सीमित बना देने वाली है नष्ट हो जाती है और जब यह शरीर जो सीमितता का प्रतीक है, विनष्ट हो जाता है, अर्थात् जब सीमित अनन्त के स्तर तक ऊंचा उठा दिया जाता है, तब हम यथार्थ निःश्रेयस की अवस्था को यही और वर्तमान काल मे प्राप्त कर लेते है। इसकी ठीक-ठीक विषय-वस्तु क्या है, यह वर्णन करना कठिन है। यह सत्य है कि इसको आंखो ने नही देखा, न कानो ने सुना और न ही इसने मनुष्य के हृदय मे प्रवेश पाया और न कभी उस दिव्य ज्योति के भावमात्र का भी विचार किया जिसकी अभिव्यक्ति अवश्य कभी न कभी होकर रहेगी। तो भी यदि मोक्ष का हमारे लिए कोई महत्त्व है तो हमे अमरत्व के विचार को काल-सम्बन्धी भाषा मे रखकर इसे 'सर्वात्मभाव' के नाम से पुकारना चाहिए।[3]

इसी प्रकार ऐसे भी वाक्य है जिनमे शङ्कर ने बलपूर्वक कहा है कि जीवात्मा का सत्य स्वरूप वही है जो सर्वोपरि प्रभु का है, 'सर्वोच्च प्रभु की आत्मा शरीरधारी जीवात्मा का यथार्थ स्वरूप है; और शरीर-रूपी बन्धन की अवस्था प्रतिबन्ध करने वाले सहायको के कारण है।'[4] "जैसे कि काल्पनिक सांप अविद्या के दूर हो जाने पर रस्सी के वास्तविक रूप मे आ जाता है इसी प्रकार भासमान जीवात्मा का, जो कर्तृत्व और अनुभव, राग और द्वेष तथा अन्य त्रुटियो के कारण दूषित है और अधिकतर पाप के अधीन

१. शाङ्करभाष्य, १ : ४, २२। उन्होंने बृहदारण्यक उपनिषद्, (४ : ३, ३०) का भी शांकर भाष्य (१ : ३, ११), मे उद्धृत किया है और इस प्रकार टीका की है : "विशेषविज्ञान विनाशाभिप्रायमेव न विज्ञातृविनाशाभिप्रायम।"

२. उपाधिप्रलयमेवाय नात्मप्रलयम् (२ : १, १४)।

३. सर्वात्मभावो मोक्ष उक्तः (शांकरभाष्य, बृहदारण्यक उप०, ४ : ४, ६)।

४ पारमेश्वरम एव-हि शरीरस्य पारमार्थिक स्वरूपम, उपाधिकृत तु शारीरत्वम (३ : ४, ८)। आगे चलकर : एव मिथ्याज्ञानकृत एव जीवपरमेश्वरयोर्भेदो न वस्तुकृतो व्योमवद् असंगत्या विशेषात् (शाकरभाष्य, १ : ३, १९)। और भी देखे, शाकरभाष्य, ईशोपनिषद्, १४।

है, ज्ञान के द्वारा उस सर्वोच्च ईश्वर के निष्पाप सारतत्त्व मे रूपान्तरण हो जाता है जो इन सब अपूर्णताओं के प्रतिकूल है।"[1] अप्पयदीक्षित इस वाक्य को उद्धृत करते हुए कहता है कि शङ्कर स्पष्ट रूप मे मोक्ष के ईश्वर के साथ एकत्व सम्बन्धी विचार का समर्थन करते है।[2] और स्वयं भी वह इसे मानता है।[3]

ऐसा कहा गया है कि मुक्तात्मा को सर्वोच्च सत्ता से भिन्न नही किया जा सकता (अविभाग)।

इस प्रकार के अभेद की व्याख्या नाना प्रकार से की जाती है। जैमिनी[4] के अनुसार मुक्तात्मा मे अनेक गुण विद्यमान रहते है, यथा पाप से निर्लिप्तता, विचार की सत्यता एवं सर्वज्ञता तथा सर्वशक्तिमत्ता। औडुलोमि को इसमे आपत्ति है और अपना मत वह यों प्रकट करता है कि मुक्तात्मा मे केवल एक विध्यात्मक गुण, अर्थात् आध्यात्मिक चैतन्य, और निषेधात्मक गुण, अर्थात् पाप से निर्लिप्तता, रहता है।[5] अन्य गुण, जो जैमिनी ने मुक्तात्मा म बताए है, उपाधियो के कारण हे। बादरायण इन दोनो मतो मे किसी प्रकार का परस्पर-विरोध नही [illegible] है।[6] शङ्कर भी बादरायण से सहमत है। औडुलोमि ने हमारे आगे आध्यात्मिक सत्य को प्रस्तुत किया है जिसे निचोडकर लौकिक विभागों मे नही रखा जा सकता; किन्तु यदि हमारा आग्रह लौकिक विवरण के ही ऊपर हो तो हमे अवश्य ही जैमिनी का विचार स्वीकार करना होगा। इस प्रकार जैमिनी और औडुलोमि मोक्ष की एक अवस्था का बौद्धिक तथा अन्तर्दृष्टि सम्बन्धी विवरण प्रस्तुत करते है। बादरायण यह कहते हुए कि लगभग अनन्त शक्ति और ज्ञान, जो मुक्तात्मा को मोक्ष-अवस्था मे प्राप्त हो जाते है, यह भी कहता है कि चाहे जो कुछ भी क्यो न हो सृष्टिरचना, शासन करने तथा विश्व के नाश करने की शक्ति ईश्वर के अतिरिक्त किसी मुक्तात्मा को प्राप्त नही होती, क्योकि ये शक्तिया केवल ईश्वर को ही प्राप्त है।[7] मध्व के साथ इस विचार की सगति है, जिसका मत है कि निम्नपदस्थ आत्माओ के लिए ईश्वर जैसी अनन्त शक्ति

१. यदविद्याप्रत्युपस्थापितमपारमार्थिकं जैव रूपं कर्तृत्वभोक्तृत्वरागद्वेषादिदोषकलुषितम् अनेकानर्थयोगि तद्विलपनेन तद्विपरीतम् अपहतपाप्मत्वादिगुणकं पारमेश्वरं स्वरूपं विद्यया प्रतिपाद्यते सर्पादिविलयनेनेव रज्ज्वादिना (शांकरभाष्य, १ : ३, १९)। उसके सम्बन्ध में 'कल्पतरु' और 'परिमल' भी देखें।

२. भाष्यकारोऽप्यतिस्पष्टं मुक्तस्य सगुणेश्वरभावापत्तिम आह।

३. देखे, सिद्धान्तलेश, ४। यह सुझाव दिया जाता है कि अनेक जीववाद के अनुसार मुक्ति ईश्वर के साथ एकत्व का नाम है जब तक कि सब मुक्त नही हो जाते, और उस समय यह ब्रह्म के साथ तादात्म्य का रूप धारण करती है। देखे, सिद्धान्तलेश ४, और इसके ऊपर ब्रह्मानन्द की व्याख्या।

४. शांकरभाष्य, ४ : ४, ५; छान्दोग्य उपनिषद् भी देखे, ८ : १, ६; ८ : ७, १।

५. शांकरभाष्य, ४ : ४, ६; बृहदारण्यक उपनिषद भी देखे, ४ : ५, १३।

६. शांकरभाष्य, ४ : ४, ७।

७. वैशेषिकसूत्र, ४ : ४, १७।

तथा स्वातन्त्र्य प्राप्त करना असम्भव है। रामानुज के सामने अपने ब्रह्म के आन्तरिक भेदों, तथा मुक्तात्मा एवं ईश्वर के बीच के शाश्वत भेदों के कारण कोई समस्या नहीं है। शंकर इस विचार को उपनिषदों के बार-बार दोहराए गए विचारों, जैसे "मुक्तात्मा विशुद्ध सत्ता के साथ अत्यन्त समानता प्राप्त कर लेता है", "वह जगत् का स्रष्टा हो जाता है," आदि के साथ असंगत पाते हैं। तो भी बादरायण कहता है कि वह संसार का शासक नहीं हो सकता। शंकर स्थिति को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि परममुक्ति की दशा में न तो विषयी रहता है और न विषय रहता है, न आत्मा रहती है और न जगत् रहता है और इस प्रकार शासन अथवा सृष्टिरचना का प्रश्न उत्पन्न ही नहीं होता, किन्तु जब तक हम ईश्वर के तथा आत्माओं और संसार के स्तर पर हैं तब तक परमार्थभाव से मोक्ष प्राप्त नहीं हुआ और इस प्रकार, उस अवस्था में यह सत्य है कि मुक्तात्मा में सृजनशक्ति आदि को छोड़कर ईश्वर के सब गुण हैं।[2] शंकर के अनुसार, ऐसा पुरुष जिसमें आध्यात्मिक अन्तर्दृष्टि है, ब्रह्म के साथ एकत्व प्राप्त कर लेता है यद्यपि उस दशा को हम केवल ईश्वर के सादृश्य के रूप में ही वर्णन कर सकते हैं किन्तु ऐसे पुरुष जिनके अन्दर आध्यात्मिक अन्तर्दृष्टि तो नहीं है किन्तु शरीरधारी ईश्वर की वे पूजा करते हैं, सर्वथा अविद्या से मुक्त नहीं हैं और इस प्रकार ब्रह्मलोक में सृष्टिरचना तथा संसार की शासन सम्बन्धी शक्तियों के अतिरिक्त अन्य सब शक्तियों को प्राप्त कर लेते हैं। वे ईश्वर से पृथक् अपना व्यक्तित्व रखते हैं यद्यपि वे ईश्वर के भाव में भक्त हैं।

क्या मोक्ष की दशा, अथवा संसार में मुक्ति, संसार के लिए कार्य करने के साथ संगति रखती है? शंकर की प्रवृत्ति इस प्रश्न का निषेध के रूप में उत्तर देने की है, क्योंकि समस्त क्रियाशीलता, जिससे हम परिचित हैं, पहले ही से द्वैतभाव को मान लेती है और अद्वैतरूपी सत्य के ग्रहण करने के साथ संगत नहीं हो सकती। तो भी जहां तक जीवन्मुक्तों का सम्बन्ध है उनके अन्दर क्रियाशीलता रह सकती है। परिणाम यह निकला कि क्रियाशीलता, क्रियाशीलता के रूप में अद्वैत के सत्य के साथ असंगत नहीं है। मुक्तात्मा जीवित अवस्था में भी अहंभाव से ऊपर उठ जाते हैं और इस प्रकार विधान तथा कर्म के शासन से भी परे हो जाते हैं और वे सर्वोच्च सत्ता के भाव से ओत-प्रोत होकर कर्म करते हैं। कर्म तथा मुक्ति के अन्दर अनिवार्य प्रतिकूलता नहीं है।

इस सम्बन्ध में मुक्तात्मा द्वारा एक नवीन जीवन धारण करके इस लोक में वापस आने के प्रश्न पर भी विचार किया गया है। ऐसा कहा गया है कि अपान्तरतमस् तथा अन्य कुछेक ऋषि सर्वोच्च ज्ञान रखते हुए भी शारीरिक जीवन में फिर वापस आ गए। शंकर का कहना है कि वे ऐसा करते हैं अपने अधिकार, अर्थात् संसार के

१. बादरायण तथा उपनिषदों में जो प्रकटरूप में परस्पर-विरोध है और बादरायण के भी कुछ कथनों में जो विरोध है, (४ : २, १३ और १६ तथा ४ : ४, १७ और २१), उसको शंकर इस प्रकार दूर कर देते हैं।

२. शांकरभाष्य, ३ : ३, ३२।

कल्याण की पूर्ति के लिए, और जब उनका यह कार्य पूरा हो जाता है, उनका वैयक्तिक जीवन भी समाप्त हो जाता है और फिर उनके वापस आने की कोई सम्भावना नही रहती। किन्तु यह स्पष्ट है कि यथार्थसत्ता का अन्तर्दृष्टि द्वारा ज्ञान प्राप्त करने के पश्चात् भी हम ससार के अन्दर रुचि रख सकते है यद्यपि हमारा इस ससार मे फिर से आना केवल निरीक्षण के रूप मे है, इस लोक मे निवास के विचार से नही। इसके अतिरिक्त शङ्कर यह भी आग्रहपूर्वक कहते है कि मोक्ष की अवस्था ससार की अवस्था के प्रतिकूल है, और चूकि क्रियाशीलता ससार का एक विशिष्ट लक्षण है इसलिए मुक्तात्मा के अन्दर इसका अभाव रहता है।

परवर्ती अद्वैत मे मोक्ष के सम्बन्ध मे भिन्न-भिन्न विचार हठात् हमारे सम्मुख आते है।[1] वे लोग जो एक जीव के सिद्धान्त को मानते है कहते है कि मोक्ष ब्रह्म के अन्दर समा जाने का नाम है जिसमे व्यावहारिक जगत् का विनाश, ईश्वर और मनुष्य भी सम्मिलित है।[2] किन्तु वे लोग जो जीवो के अनेकत्व के सिद्धान्त को मानते है व्यावहारिक जगत् का कारण प्रत्येक आत्मा की अविद्या को बताते यद्यपि अविद्या का नाश हो जाने पर भी यह व्यावहारिक जगत् अन्य व्यक्तियो की दृष्टि मे, जो अभी मुक्त नही हुए है, वर्तमान रहता है। इस सिद्धान्त के आधार पर कि ईश्वर और आत्माए दोनो ही ब्रह्म के प्रतिबिम्ब है, मोक्ष का अर्थ है प्रतिबिम्ब ग्रहण करनेवाले सब दर्पणो का टूट जाना और मौलिक रूप मे समा जाना। ऐसा मत भी प्रकट किया गया है कि जहा विशुद्ध आत्मा ईश्वर और जीव दोनो की पृष्ठभूमि मे रहती है वहा जीव ईश्वर का एक प्रतिबिम्ब रूप है। इस विचार के आधार पर मोक्ष ब्रह्म के साथ एकत्व का नाम नही है, वरन् ईश्वर के साथ एकत्व का नाम है और यह तब तक रहेगा जब तक कुछ जीव मोक्ष-प्राप्ति के बिना विद्यमान रहेगे। जब एकमात्र मुख कई दर्पणो मे प्रतिबिम्बित होता है तो किसी एक दर्पण को हटा देने से जहा तक मौलिक का सम्बन्ध है प्रतिबिंब उसमे समा जाना होता है। किन्तु मुख का अपना विशिष्ट मूलभूत रूप नष्ट नही होगा जब तक कि सारे दर्पण न टूट जाएगे। तदनुसार, जब तक मुक्तिरहित आत्माए है तब तक मोक्ष का तात्पर्य है ईश्वर के साथ एकत्व, किन्तु जब सब आत्माए मुक्त हो जाएगी तब ईश्वर भी अपना बिम्ब अथवा मूल स्वरूप खो देगा और लौटकर ब्रह्म के अन्दर समा जाएगा, और इस प्रकार समस्त मुक्तात्माओ के लिए ब्रह्म के साथ एकत्व प्राप्त हो जाएगा। किन्तु चूकि सनातन अद्वैत के अनुसार ससार का अन्त नही है, मोक्ष से तात्पर्य ईश्वर के साथ एकात्मता है।

सचयी ज्ञान के स्वरूप के विषय मे एक मनोरञ्जक प्रश्न उठाया जाता है।

१. सिद्धान्तलेश, ४।

२. एकजीववादे तदेकाज्ञानकल्पितस्य जीवेश्वरविभागादिकृत्स्नभेदप्रपञ्चस्य तद्विद्योदये विलयान्निर्विशेषचैतन्यरूपेणैवावस्थानम्।

जब तक ज्ञान है मोक्ष की प्राप्ति नही होती, किन्तु जब तक हम ब्रह्म का ज्ञान प्राप्त नही कर लेते, मोक्ष हो नही सकता। तो क्या यह ब्रह्मज्ञान, ज्ञान के रूप मे अन्तिम फलोपभोग के साथ असगत नही है ? यह मान लिया गया है कि परम अवस्था मे कोई ज्ञान नही होता और सर्वोच्च ज्ञान का नाश अपने-आप मे असख्य दृष्टान्तो के द्वारा उत्पन्न होता है। जिस प्रकार 'कतक' के फल का चूरा गदले पानी मे डाले जाने पर वह उसकी सारी मलिनता को साथ लेकर तली मे बैठ जाता है, जिस प्रकार पानी की एक बूद लाल तपे हुए लोहे के गोले पर डाली जाने पर उसकी ऊष्मा के एक भाग को ले लेती है और उसके साथ स्वय भी लोप हो जाती है, जिस प्रकार अग्नि एक घास के ढेर को जलाने के बाद अपने-आप ही बुझ जाती है, इसी प्रकार ब्रह्म का ज्ञान भी हमारे अज्ञान को तो नष्ट करता है किन्तु स्वय भी नष्ट हो जाता है।[1]

शङ्कर क्रममुक्ति को स्वीकार करते है। प्रश्नोपनिषद् के एक वाक्य के ऊपर भाष्य करते हुए ओम् के ध्यान के विषय मे वे कहते है कि उस प्रकार का ध्यान ब्रह्मलोक की ओर ले जाता है जहा हम क्रम से पूर्ण ज्ञान प्राप्त करते है।[2] एक अन्य स्थान पर वे तर्क करते है कि शरीरधारी ईश्वर की उपासना का उद्देश्य पापकर्मो से मुक्ति (दुरित-क्षय), ऐश्वर्य-प्राप्ति अथवा क्रमिक मुक्ति है।[3] ब्रह्मलोक मे आत्मा अपना पृथक् अस्तित्व स्थिर रखती है। शङ्कर की दृष्टि मे अन्य सब रहस्यवादियो की भाति एक ऐसे स्वर्ग का विचार कि जहा पर आत्मा ईश्वर और केवल ईश्वर ही के ऊपर एकनिष्ठ रहती है, आदर्श से न्यून है। यह हो सकता है कि आत्मा ईश्वर के साक्षात् दर्शन करती है और उसकी उपस्थिति से प्लावित हो जाती है किन्तु तो भी आत्मा तथा उसके विषय मे परस्पर भेद अवश्य है। आत्मा दर्शन का विषय नही है और इसका सीमित उत्पत्तियुक्त रूप इसके विषय बनने मे बाधा देता है।

शकर ने जो जीवमुक्ति का वर्णन किया है उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि भौतिक मृत्यु के पश्चात् शाश्वत जीवन कोई जीवन की अवस्था नही है। जब अन्तर्ज्ञान का सूर्योदय इसी लोक मे हो जाता है तो मोक्ष की प्राप्ति हो गई। ऐसी अवस्था मे मृत्यु-पर्यन्त शरीर की विद्यमानता प्रवचना का कारण नही बन सकती। जिस प्रकार मिट्टी का पात्र बन जाने पर भी कुम्हार का चक्र कुछ समय तक चलता ही रहता है ठीक इसी प्रकार मोक्ष के बाद भी जीवन बना रहता है। क्योकि पहले से जो गति इसने प्राप्त कर ली है, उसे रोकने का कोई कारण उसके अन्दर नही है।[4] शकर एक ऐसे मनुष्य का भी दृष्टान्त देते है जो चन्द्रमा को उसके द्विगुण रूप मे देखता है क्योकि उसकी आख मे कुछ दोष है और यह जानते हुए भी कि वस्तुत चन्द्रमा एक है वह अपने को इस प्रकार

१. देखें, सिद्धान्तलेश, ३।
२. शांकरभाष्य, १ : ३, १३।
३. शाकरभाष्य, ३ : २, २१।
४. शाकरभाष्य, ४ : १, १५।

देखने से रोक नही सकता।[1] मुक्तात्मा अपने समस्त कर्मों को ब्रह्मार्पण समझकर करता है।[2]

४४

परलोक

केवल सत्य को जानने वाला मनुष्य शाश्वत जीवन प्राप्त करता है जो कि मरणोत्तर जीवन से भिन्न है और जो उसके अतिरिक्त अन्य सब मनुष्यो के हिस्से में आता है।[3] जब तक शाश्वत जीवन प्राप्त नही होता, हमारा जीवन ससार के साथ अथवा अन्तविहीन परिणमन के थकाने वाले चक्र के साथ बधा रहता है। यह ससार काल की प्रक्रिया का व्यक्त रूप है और जीवो को इस अन्तविहीनचक्र म परलोक जीवन का तब तक के लिए निश्चित भरोसा दिया गया है जब तक कि वे काल से ऊपर उठकर आध्यात्मिक अन्तर्दृष्टि द्वारा शाश्वत जीवन प्राप्त नही कर लेते। शाश्वत (नित्य) की उपस्थिति काल की परिभाषा मे अपने को अन्तविहीन निरतरता के रूप मे प्रदर्शित करती है। प्लेटो के 'टाइमियस' नामक ग्रन्थ के प्रसिद्ध शब्दो मे "काल नित्यता की गतिशील प्रतिकृति है।" परलोक के सत्य को प्रमाणित करने के लिए शकर ने कोई नया तर्क उपस्थित नही किया। ऐसा माना जाता है कि जब यह भौतिक शरीर शून्यता को प्राप्त हो जाता है तो उसके पीछे एक बीज शेष रह जाता है जो उसी जाति के एक नये सुसगठित शरीर को जन्म देता है। शकर भौतिकवादियो के इस मत का खण्डन करते है कि जीवात्मा ही शरीर है और शरीर के विलयन के साथ आत्मा भी नष्ट हो जाती है।[4] किन्तु

१. शांकरभाष्य, ४ : १. १५।

२. परवर्ती अद्वैत में भिन्न-भिन्न प्रकार के विचार प्रस्तुत किए गए है, जैसे : (१) मोक्ष की अवस्था में जीवितावस्था मे आद्या अविद्या अपनी विक्षेप शक्ति को कुछ शिथिल कर देती है; (२) अविद्या का प्रभाव इसके विनाश के पीछे भी कुछ समय तक बना रहता है; (३) आद्या अविद्या जले हुए कपड़े के समान निर्जीव अवस्था में रहती है, और (४) मुक्तात्मा के लिए यह जगत्, जिसमें शरीर आदि सम्मिलित है, अपनी सत्ता खो देता है। देखे, सिद्धान्तलेश, ४।

३. शांकरभाष्य, बृहदारण्यक उपनिषद्, १ : १, १। सर्वज्ञात्ममुनि इस मर्त्यलोक में मुक्ति का अस्तित्व नही मानता, यद्यपि अन्य लगभग सभी अद्वैतवादी जीवन्मुक्ति के विचार का समर्थन करते है।

४. यदि इस तथ्य के आधार पर कि आत्मा के गुण तब तक रहते है जब तक शरीर रहता है, ऐसा अनुमान किया जाए कि ये शरीर के गुण है तो उत्तर में ऐसा तर्क उपस्थित किया जा सकता है कि वे शरीर के गुण नहीं है, क्योंकि मृत्यु के समय शरीर यद्यपि रह जाता है किन्तु ये गुण नही रहते। हम ऐसा नहीं कह सकते कि चूंकि अंधेरे मे प्रत्यक्ष ज्ञान को अपने अस्तित्व के लिए एक दीपक की आवश्यकता होती है इसलिए यह दीपक का गुण है। इसी प्रकार दीपक के समान शरीर केवल साधन-मात्र है। इसके अतिरिक्त शरीर के सहयोग की सदा ही आवश्यकता नही होती, क्योंकि शरीर जब निद्रा में होता है तो भी हम अनेक वस्तुओं का प्रत्यक्ष करते है। शरीर के गुणों, जैसे आकृति

आत्मा शरीर की अनाश्रित है और इसका अस्तित्व ही स्मृति आदि को सम्भव बनाता है।[1] यद्यपि हमारा शरीर छिन्न-भिन्न होकर राख में परिणत हो जाता है तो भी एक ऐसी वस्तु हमारे अन्दर है जो मरण के उपरान्त भी रहती है, और यही वह वस्तु है जो हमारे भविष्य-जीवन का निर्णय करती है। ऐसा ज्ञान जिसे हमने प्राप्त किया है और हमारा चरित्र, जिसे हमने बनाया है, हमारे दूसरे जीवनों में साथ-साथ जाएंगे।[2] नैतिक तथा धर्मात्मा मनुष्य तराजू के पलड़े पर ऊंचे उठेंगे और अनैतिक तथा पापी नीचे आएंगे। भविष्य-जीवन का स्वरूप भूतपूर्व जीवन की नैतिक कोटि के ऊपर निर्भर करता है। जन्म और मृत्यु केवल-मात्र जीवात्मा के शरीर के साथ संयोग तथा वियोग से सम्बद्ध है।[3]

शंकर के अनुसार वैदिक देवता भी अमर नहीं है क्योंकि "देवताओं के अमरत्व का तात्पर्य केवल-मात्र एक दीर्घ समय तक जीवित रहना है, ठीक जैसे कि वे सब प्रभु भी आत्मनिर्भर न होकर केवल ईश्वर के उपहार हैं।"[4]

शंकर मृत्यु के उपरान्त शरीर से आत्मा के प्रस्थान करने का विस्तृत रेखाचित्र प्रस्तुत करते हैं। ऋग्वेद में बताया गया है कि सत्पुरुषों की आत्माएं यम के प्रकाशमय स्वर्ग में चली जाती हैं, जहां वे पितरों के मध्य एक आनन्दमय जीवन व्यतीत करती हैं,[5] और दुरात्मा पुरुषों की आत्माएं, जिनके लिए स्वर्ग का द्वार बन्द है, निम्नतर श्रेणी के अन्धकार में गिरती हैं।[6] उपनिषदों में हम अध्ययन करते हैं कि प्रज्ञावान् देवयान मार्ग से ऊपर ब्रह्म तक ले जाए जाते हैं जहां पहुंचकर फिर पुनर्जन्म नहीं होता। कर्म करनेवाले पुरुषों की आत्माएं पितृयान मार्ग से ऊपर की ओर ज्योतिर्मय चन्द्रलोक में जाती हैं तथा वहां अपने कर्मों के फलों का उपभोग करती हैं और तब एक नये जीवन में आने के लिए नीचे उतरती हैं, जिसका निर्णय भूतकाल के जन्म के द्वारा होता है। और वे, जो न ज्ञान और न कर्म में निरत रहे होते हैं, एक तीसरा स्थान पाते हैं और निम्नतर श्रेणी के पशुओं तथा वनस्पति के अन्दर जन्म लेते हैं जिन्हें चन्द्रलोक

इत्यादि जो सबके प्रत्यक्ष में आते हैं तथा आत्मा के गुणों में भेद है जो उस रूप में प्रत्यक्ष नहीं होते। यह सत्य है कि शरीर के अस्तित्व से चेतनामय गुणों की उपस्थिति प्रमाणित की जा सकती है किन्तु शरीर की अनुपस्थिति से चेतनता के विषय में कुछ नहीं कहा जा सकता। यह अन्य शरीर में प्रवेश करके रह सकती है। यदि चैतन्य भौतिक तत्त्वों तथा उनसे उत्पन्न वस्तुओं का एक गुण है तो उत्पन्न वस्तुएं चैतन्य का विषय नहीं हो सकतीं। चूंकि तत्त्वों तथा उनसे उत्पन्न वस्तुओं का अस्तित्व इस तथ्य से अनुमान किया जाता है कि वह प्रत्यक्ष देखी जाती है, हमें अवश्य यह परिणाम निकालना चाहिए कि प्रत्यक्ष उनसे भिन्न है।

१. शांकरभाष्य, ३ : ३, ५४।

२. शांकरभाष्य, ३ : ८, ११; और बृहदारण्यक उपनिषद् ४ : ४, २। और भी देखें, शांकरभाष्य ३ : १, ५, ६।

३. शांकरभाष्य, २ : ३, १६-१७।

४. शांकरभाष्य, १ : २, १७।

५. १० : १४, १०।

६. १० : १५२, ४।

के आनन्द का रस नही प्राप्त होता।[1] शङ्कर उक्त तीनो को ससार के चक्र मे तीन भिन्न पडावों के रूप मे मानते है, किन्तु मोक्ष का अपना ही सबसे पृथक् रूप है और उक्त तीनो से भिन्न है[1]। जहा एक ओर पितृयान फिर से लौकिक अस्तित्व की ओर ले जाता है, वहा दूसरी ओर देवयान ब्रह्मलोक को प्राप्त कराता है, जहा से फिर इस ससार मे लौटना नही होता। छान्दोग्य उपनिषद् के विवरण मे[2] केवल दो ही मार्ग बताए गए है, अर्थात् देवयान और पितृयान। और वे सब जो ज्ञान से रहित है, सज्जन हो अथवा दुर्जन हो, उन्हे पितृयान से जाना होता है। शङ्कर अतीत तथा नये जन्म मे द्विगुण प्रतिशोध के सिद्धान्त को स्वीकार करते है जिससे कि वेद तथा उपनिषदो के विचारो मे समन्वय किया जा सके।[3] एक प्रयास इस विषय मे भी किया गया था कि वैदिक कर्मकाण्ड, जिसका पुरस्कार परलोक मे कर्मकर्ता को मिलता है, तथा नैतिक जीवन मे परस्पर भेद किया जाए, क्योकि नैतिक जीवन का फलोपभोग इसी लोक मे होता है।[4] वे आत्माए, जो परम्परागत नैतिक आधार का पालन करती है तथा यज्ञ-यागादि करती है, बिना किसी सत्य ज्ञान के ... के मार्ग का अनुसरण करती है और धूम्रमय क्षेत्र से गुजरते हुए चन्द्रलोक मे पहुचती है और वहा अपने कुछ कर्मो का फलोपभोग करने के पश्चात एक नये जीवन मे प्रवेश करने के लिए इस लोक मे वापस लौट आती है, जब कि अन्य, जो शरीरधारी ईश्वर की उपासना करते है और ज्ञानपूर्वक कर्म करते है, देवयान मार्ग मे ऊचे-ऊचे सूर्यलोक के मध्य से गुजरते हुए ब्रह्मलोक मे पहुचते है।[5] शरीरधारी ईश्वर की पूजा करनेवाला अपनी शक्तियो और प्रभुत्व का भाग प्राप्त करता है, यद्यपि "उसका अधकार अभी तक दूर नही हुआ" और उसकी अविद्या भी अभी तक नष्ट नही हुई। वे जो निम्न-श्रेणी के देवताओ को पूजा करते है वे भी अपना पुरस्कार पाते है, यद्यपि इस प्रकार की पूजा उन्हे मोक्ष के उच्चतम मार्ग पर नही ले जा सकती।[6] वे जो अनैतिक जीवन व्यतीत करते है, नीचे गिरते है।[7] किन्तु इनमे से कोई भी ईश्वर के प्रेम से वचित नही रहता एव निर्जन शून्यता मे नही उतारा जाता।[8]

१. बृहदारण्यक उप०, ६ : २; कठोपनिषद्।

२. ५ : ३, १०, देखे, शाकरभाष्य, ३ : १, १२–२१।

३. शाकरभाष्य, ३ : १, ८। ४. शांकरभाष्य, ३ : १, ८–११।

५. शाकरभाष्य, ४ : ३, १–६।

६. शाकरभाष्य, ४ : १, ४; ४ : ३, १५–१६।

७. शाकरभाष्य छान्दोग्य उपनिषद् पर, प्रस्तावना। और भी देखे, ३ : १. १०७, १८।

८. एक अन्तिम प्रश्न उन आत्माओं की अवस्था के सम्बन्ध में उठाया जाता है जिन्होंने देवयान मार्ग द्वारा ब्रह्मलोक में प्रवेश किया है। बादरि का मत है कि उनके शरीर सर्वथा नहीं होते किन्तु जैमिनी का मत है कि उनके शरीर होते है; और बादरायण इन दोनों में यह व्यवस्था देकर कि वे जिनमें प्रभुता है अपनी रुचि के अनुसार चाहे तो शारीरिक और चाहे शरीररहित रूप में रह सकते है (शांकरभाष्य, ४ : ४, ८-२२)।

मृत्यु के अवसर पर इन्द्रिया मन के अन्दर समा जाती है और मन मुख्य-प्राण मे लीन हो जाता है। यह मुख्यप्राण अपने क्रम म आत्मा के नैतिक यान द्वारा सूक्ष्म शरीर में समा जाता है। आत्मा, जिसके प्रतिबन्धक तथा सहायको मे अविद्या, धर्म तथा पूर्वजन्म के अनुभव ह, अपने सूक्ष्म शरीर के साथ शरीर को छोड जाती है।[1] इस सूक्ष्म शरीर को सूक्ष्म इसलिए कहा जाता है क्योकि कहा गया है कि यह नाडियो के मार्ग से शरीर को छोडता है। इस सूक्ष्म शरीर मे विस्तार (तनुत्व) है जिससे सचार तथा पारदर्शिता (स्वच्छत्व) सम्भव होते है जिसके कारण इसे मार्ग म कोई बाधा नही रोकती और कोई इसे देख भी नही सकता।[2] यह सूक्ष्म शरीर मोक्ष से पूर्व कभी विलय को प्राप्त नही होता।

४५

धर्म

प्राय कहा जाता ह कि शकर का अद्वैत बुद्धि की एक विलक्षण रचना तो अवश्य है किन्तु इससे धार्मिक पवित्रता के लिए प्रेरणा नही मिल सकती। शकर का निरपेक्ष परब्रह्म आत्मा के अन्दर उत्कट प्रेम तथा भक्ति के भावो का प्रज्वलित नही करता। ऐसे निरपेक्ष परब्रह्म की हम पूजा नही कर सकते जिसे किसीने नही देखा, अथवा न कोई देख सकता है और जो ऐसे प्रकाश मे निवास करता है जिसके समीप कोई पहुच नही सकता। इसलिए निराकार परब्रह्म का चिन्तन 'साकार' रूप मे किया जाता है जिससे कि उसकी पूजा की जा सके। ईश्वर की पूजा का मिथ्यात्व के साथ जानबूझकर सहयोग नही है, क्योकि ईश्वर ही एक ऐसा रूप ह जिस रूप मे सीमित मानवीय मन निरपेक्ष परब्रह्म का चित्रण कर सकता ह। सर्वोच्च यथार्थसत्ता ऐसे जीवात्मा के समक्ष, जिसने ब्रह्म की अपने रूप के साथ एकता का अनुभव नही किया है, अनेको पूर्णताए लिये हुए प्रकट होती है।[3] शरीरधारी ईश्वर का भाव उच्चतम तार्किक सत्य का अगाध धार्मिक श्रद्धा के साथ सम्मिश्रण है। यह शरीरधारी ईश्वर यथार्थ पूजा तथा आदरभाव का विषय है किन्तु ऐसा कोई नैतिक आचारविहीन देवता नही है जो मनुष्य की आवश्यकताओ तथा भय की आशकाओ के प्रति सर्वथा उदासीन हो। उसे विश्व के स्रष्टा, शासक और न्यायाधीश के रूप मे माना गया है, जिसके अन्दर शक्ति तथा न्याय, न्यायनिष्ठता, दया, सर्वव्यापकता, सर्वशक्तिमत्ता तथा सर्वज्ञता के गुण है। शकर द्वारा प्रतिपादित ईश्वर के मुख्य लक्षणो मे आचार की पवित्रता तथा नैतिक सौन्दर्य है। मानवीय जीवात्मा के साथ उसका सम्बन्ध ऐसा है

१. २ : ३, १-५।
२. ४ : २, ६-११।
३. शांकरभाष्य, ३ : ३, १२।

जैसा कि प्रेमी का अपनी प्रेमिका के प्रति, स्वामी का भृत्य के प्रति, पिता का अपने पुत्र के प्रति तथा मित्र का अन्य मित्र के प्रति होता है। आध्यात्मिक अमूर्त भावो की कठोरता वहा शिथिल पड जाती है जहा शकर दैवीय गुणो की विविधता के विषय मे प्रतिपादन करते है जिसके द्वारा अनत ब्रह्म अपने अन्दर उन बच्चो की भावना को भरता है जिन्हे उसने बनाया है। शकर की दृष्टि म धर्म कोई सिद्धान्त अथवा अनुष्ठान नही है अपितु जीवन तथा अनुभव है। इसका प्रारम्भ आत्मा की अनन्त-सम्बन्धी भावना से होता है और उसके अनन्त बन जाने मे जाकर अन्त होता है। जीवन का लक्ष्य है साक्षात्कार अथवा यथार्थसत्ता का अन्तर्ज्ञान। यथार्थ भक्ति अपने सत्य स्वरूप को खोज निकालना ही है।[1] ऐसी अनेका विधाए अथवा चिन्तन की विधिया है जिनका उपनिषदो म समर्थन किया गया है।[2] और प्रत्येक व्यक्ति का इनम म अपनी प्रवृत्ति के अनुकूल किसी एक का चुनाव करना होता है। जहा तक प्रमेय विषय का सम्बन्ध है वह सबके लिए एक ही है यद्यपि उस तक पहुचने के मार्गो म नानाविधता है। धार्मिक पूजा के साधारणत दो प्रकार है अर्थात् शरीरधारी ईश्वर की सगुण ब्रह्म के रूप म पूजा और दूसरी प्रतीक की पूजा।[4] जब उपासक ईश्वर का अपने मे बाह्य समझकर [illegible] करता है तो यह पूजा प्रतीक की पूजा है।

उपासना करनेवाले व्यक्ति तथा उपास्य विषय के मध्य जा सम्बन्ध है यह इस विषय का सकेत करता है कि दोनो मे भेद है।[5] सर्वश्रेष्ठ पूजा हमे ब्रह्मलोक की प्राप्ति कराती है जहा कि जीवात्मा तथा सर्वोपरि ब्रह्म का भेद अभी भी विद्यमान रहता है। और उस अवस्था म केवल क्रमिक रूप म मुक्ति प्राप्त होती है। प्रचलित विचार के अनुसार धर्म एक ऐसी वस्तु है जिसे अतीन्द्रिय होना चाहिए। यह एक अपूर्ण अनुभव है जो तभी तक रहता है जब तक हम यथार्थसत्ता के यथार्थबोध के ग्रहण म असफल रहते है। इसका विलय निश्चित है, क्योकि "जब वह जो पूर्ण है प्राप्त हो गया तब वह जो केवल अशरूप है अवश्य ही समाप्त हो जाएगा।" श[illegible] धर्मपरायण ऋषियो के वाक्यो का उद्धरण देते है जो जीवात्मा तथा परमात्मा की एकता का व्याख्यान करते है यथा, "यथार्थ म तू मैं हू हे पवित्र ईश्वर, और जो मे हू वह तू है।[6] धर्म का प्रतिपादन करनेवाले प्रत्येक दर्शन को इस प्रकार के कथनो का कुछ न कुछ समाधान देना ही होता है, यथा 'मै ब्रह्म हू' (अह ब्रह्मास्मि), वह तू है (तत् त्वमसि), जिनके अन्दर स्रष्टा तथा निर्मित जीव के भेद को पृथक् कर दिया गया है। शकर इन सबका समाधान यह कहकर करते हैं कि धार्मिक चैतन्य अपने समस्त भेदो के साथ लक्ष्य की प्राप्ति हो जाने पर स्वत समाप्त हो जाता है। एक 'साकार ईश्वर' का कुछ अर्थ क्रियात्मक धार्मिक चैतन्य के लिए तो हो सकता है किन्तु उच्चतम साक्षात्कार के लिए

१. स्वस्वरूपानुसन्धान भक्तिरिति अभिधीयते (विवेकचूडामणि, पृष्ठ ३१)।
२. ३ : ३, ५। ३. शाकरभाष्य, ३ : ३, ५८।
४. शाकरभाष्य, ४ : १, ३।
५. उपास्योपासकभावोऽपि भेदाधिष्ठान एव (शाकरभाष्य, १ : २, ४)।
६. त्व वा अहमस्मि भगवो देवते, अह वै त्वमसि भगवो देवते (शाकरभाष्य, ४ : १, ३)।

नही ।[1] सीमित जीवात्मा को, जिसके आगे परदा पडा हुआ है, निरपेक्ष परब्रह्म व्यवस्थित तथा अपने से पृथक् प्रतीत होता है । बन्धन तथा मुक्ति का कुछ अर्थ सीमित जीव के लिए हो सकता है जिसका चैतन्य शृङ्खलाबद्ध है और जिसका दमन निम्नतर प्रकृति ने कर रखा है। यदि शरीरधारी ईश्वर जीवात्मा से व्यतिरिक्त ही सबसे ऊंचा होता तो योगविद्या के अनुभवो का तात्पर्य ही समझ मे नही आ सकता और हमे एक सीमित ईश्वर तक ही सन्तोष रखना होता । ईश्वर यदि सर्वात्मा नही तो वह ईश्वर ही नही, किन्तु यदि वही सर्वात्मा है तब धार्मिक जीवन सबसे ऊंचा नही ठहरता ।[2] यदि ईश्वर का रूप पूर्ण है तो यह ऐसा हो नही सकता जब तक कि मनुष्य का अपूर्ण रूप उसके अतिरिक्त अपना अस्तित्व रखता है । और यदि यह पूर्ण नही है तब यह ईश्वर का स्वरूप नही । इस प्रकार धार्मिक जीवन मे एक मौलिक मतभेद है और यह स्पष्ट संकेत करता है कि इसका सम्बन्ध अविद्या के क्षेत्र से है ।

कर्मकाण्ड की स्वीकृति के साथ-साथ वैदिक देवताओ के अस्तित्व को भी मानना आवश्यक है । शंकर ने, जो इस सम्बन्ध मे परम्परागत विचार को ही मान लेते है, उन्हे केवल प्राकृतिक तत्त्वो के ही नही, अपितु प्राकृतिक शक्तियो के भी चेतनामय प्रतिरूप माना है । "देवताओ के आदित्य इत्यादि नाम, यदि यह भी मान लिया जाए कि, प्रकाश इत्यादि का संकेत करते है, श्रुतियो के अनुसार हमे उनकी ऐसे आध्यात्मिक प्राणियो के रूप मे कल्पना करने के लिए बाध्य करते है, जो तत्त्वो के अनुकूल है और जिन्हे ऐश्वर्य का वरदान मिला हुआ है क्योकि उनका प्रयोग वैदिक ऋचाओ और ब्राह्मणो मे हुआ है ।"[3] ये देवता जीवन के भिन्न-भिन्न अनुष्ठानो मे अधिष्ठाता के रूप मे अध्यक्ष होते है ।[4] कहा गया है कि अग्नि वाणी का सहायक है, वायु श्वास का और आदित्य चक्षु का । जीवात्माओ के अनुभवो का देवताओ के ऊपर कोई असर नही होता ।[5] मृत्यु के समय ये देवता जीवित इन्द्रियो के साथ भटकते नही फिरते, वरन् केवल अपनी सहायक शक्ति को हटा लेते है । सर्वोपरि ब्रह्म देवताओ, मनुष्यो तथा पशुओ की सृष्टि उनके पुण्य व पाप के अनुसार करता है । देवताओ का अमरत्व तो अपेक्षाकृत है, किन्तु वे संसार मे लिप्त होने के कारण क्षणिकता के भी वश मे रहते है ।[6] उन्हे भी मोक्षप्राप्ति सम्बन्धी ज्ञान की आवश्यकता होती है और वे सर्वोपरि प्रभु

१. तुलना करें, ब्रेडले : "मेरी दृष्टि में निरपेक्ष परमब्रह्म ईश्वर नहीं है । मेरे लिए धार्मिक चैतन्य मे बाह्य ईश्वर का कुछ अर्थ नहीं है और वह तात्त्विक रूप मे क्रियात्मक है । मेरी दृष्टि में निरपेक्ष ब्रह्म ईश्वर नहीं हो सकता, क्योंकि अन्त में निरपेक्ष का सम्बन्ध किसीके साथ नहीं रहता तथा इसके सीमित संकल्प के अन्दर कोई क्रियात्मक सम्बन्ध नहीं हो सकता । जब आप निरपेक्ष सत्ता की अथवा विश्व की पूजा करना प्रारम्भ करते है और इसे धर्म का विषय बनाते है तो आपने उस क्षण इसका रूपान्तरण कर दिया" ('ट्रुथ एण्ड रियलिटी', पृष्ठ ४२८) ।

२. देखें, ब्रैडले : 'ट्रुथ एण्ड रियलिटी', पृष्ठ ४३६ और आगे ।

३. देखें, 'ड्यूसन्स सिस्टम आफ दि वेदान्त', पृष्ठ ६५–६६ ।

४. ऐतरेय उपनिषद्, : १ : २, ४ ।

५. जो ही एकमात्र भोक्ता है जबकि देवता 'भोगोपकारणभूत' है ।

६. शांकरभाष्य, १ : ३, २८ ।

के आश्रित हैं। हमें धर्मशास्त्रों में ब्रह्मविद्या सीखते हुए देवताओं के दृष्टान्त मिलते हैं। इस प्रकार की आपत्ति का कि यदि ये देवता व्यक्तिरूप हैं तो वे जीवन तथा मरण के भी वशीभूत हैं और यह तत्त्व वेदों के नित्यस्थायी रूप पर भी असर डालेगा, इस आधार पर निराकरण किया जाता है कि वेद के शब्द व्यक्तियों का संकेत नहीं करते, वरन् सामान्य भावनाओं का संकेत करते हैं। 'इन्द्र' शब्द से तात्पर्य किसी व्यक्ति-विशेष से नहीं, वरन् श्रेणियों में विभक्त प्राणियों की संस्था की एक विशेष उपाधि (स्थानविशेष) से है। उस स्थान पर जो भी अधिष्ठित होता है वह उक्त नाम धारण करता है। आपत्ति की जाती है कि उनका व्यक्तित्व न तो यथार्थ है, क्योंकि यज्ञों में उनके दर्शन नहीं होते और न ही संभव है क्योंकि एक व्यक्ति एक ही समय में अनेक स्थानों में विद्यमान नहीं हो सकता जैसा कि यज्ञाहुतियों को ग्रहण करने के लिए होना चाहिए। शंकर उक्त आपत्ति का उत्तर देते हुए कहते हैं कि देवता इसलिए नहीं दिखाई देते क्योंकि उनके अन्दर अपने को अदृश्य बनाने की शक्ति रहती है और योगियों की भांति वे अपने शरीरों को सहस्रगुणा कर सकते हैं।

यद्यपि शंकर के धार्मिक मत को किन्हीं मन्दिरों अथवा मठों की आवश्यकता नहीं है और न किसी क्रिया-कलाप की ही आवश्यकता है, तो भी उन्हें एक इतिहासज्ञ के समान पर्याप्त अनुभव था जिसके आधार पर उन्होंने ऐसे व्यक्तियों के लिए जिन्हें इनकी आवश्यकता है, इनका भी विधान किया।[1] वेदान्त के अन्य कितने ही व्याख्याकारों के विपरीत शंकर धर्मसम्बन्धी विषयों में ईश्वर ज्ञान सम्बन्धी प्रवृत्तियों से भिन्न दार्शनिक प्रवृत्ति को ही अंगीकार करते हैं। एक अध्यात्मवादी सामान्यतः एक विशेष साम्प्रदायिक आधार का आश्रय लेता है। एक विशेष धार्मिक समुदाय का सदस्य होने के कारण वह अपने सम्प्रदाय के सिद्धान्तों को क्रमबद्ध करने, विस्तृत रूप देने तथा उनका समर्थन करने में तत्पर रहता है। वह अपने मत को सत्य समझ लेता है और उसके साथ ही उसका धर्म स्थिर रहता अथवा नष्ट होता है। किन्तु दूसरी ओर, एक दार्शनिक होने के नाते अपने को किसी एक धर्मविशेष के क्षेत्र में सीमित नहीं रखता वरन् धर्म को धर्म के स्वतन्त्र रूप में अपना क्षेत्र बनाता है एवं उसका आग्रह यह भी नहीं होता कि जिस धर्म में वह उत्पन्न हुआ अथवा जिस धर्म को वह स्वीकार किए हुए है वही एकमात्र सत्य धर्म है। शंकर हमारे समक्ष उस सर्वग्राही तथा सहिष्णुप्रकृति हिन्दू धर्म के एक महानतम व्याख्याकार के रूप में प्रकट हुए, जो सदा ही विजातीय मतों को अपने अन्दर समाविष्ट कर लेने के लिए उद्यत रहा है। सहिष्णुता की उक्त प्रकार की प्रवृत्ति न तो उसके अन्धविश्वास का परिणाम थी और न ही एक सम झौते का साधनमात्र थी, अपितु उसके क्रियात्मक धर्म के एक अनिवार्य अंग के रूप में थी। उसने सब मतों की सीमितता को पहचाना और सर्वशक्तिमान ब्रह्म को उन मतों

1. ऐसा कहा जाता है कि शंकर ने मन्दिरों में बार-बार आने के लिए अपनी मृत्युशय्या पर क्षमायाचना की थी, क्योंकि ऐसा करके उन्होंने मानो एक प्रकार से ईश्वर की सर्वव्यापकता का निषेध किया।

की परिधि के अन्दर दबाकर रखने से निषेध किया। कोई भी विवेकी व्यक्ति ऐसा नही सोच सकता कि उसके सम्प्रदाय ने ईश्वर का भार लिया अथवा उसकी रचना को माना और इस प्रकार की अपनी प्रक्रिया के परिणामस्वरूप कोई अपना ऐसा पृथक् सम्प्रदाय बनाया जिसे उसने निर्दोष घोषित किया हो। प्रत्येक मत एक प्रकार का धार्मिक विश्वास सम्बन्धी साहसिक कार्य होता है और यह आत्मानुभव के समीप पहुचने का मार्ग है। यह एक ऐसा साधन है जो हमे जीवित धार्मिक अनुभव की ओर ले जाता है और यदि धार्मिक अनुभव की यथार्थता ऐसे व्यक्ति के लिए कोई अर्थ रखती है जो सत्यनिष्ठा के साथ ईश्वर के पास किसी भी मार्ग से पहुचने का प्रयत्न करता है तो हमारे लिए उससे अपना निजी मत परिवर्तित करने के लिए आग्रह करना सर्वथा अनुचित है। शकर ऐसे कट्टरपथी नही थे कि वे उन व्यक्तियो के धार्मिक अनुभवो मे शका उठाते जो अपनी श्रद्धा तथा प्रेम के उपहार द्वारा ईश्वर के साथ सीधा सम्पर्क रखने का दावा करते है। यदि नितान्त भिन्न विचार रखनेवाले व्यक्ति नैतिक स्पन्दन, मानसिक शान्ति और प्रधान आध्यात्मिक यथार्थसत्ता के साथ सामञ्जस्यसम्बन्धी एक समान परिणामो तक पहुचने मे समर्थ हो सकते है तो शकर उन्हे अपने-अपने विचार रखने की पूरी स्वतन्त्रता देते है। जैसा कि संसार के एक महान् धार्मिक मेधावी ने कहा है कि "उनके फलो से," किन्तु उनके मन्तव्यो से नही, "तुम उन्हे जानने का यत्न करो।" इसमे कुछ अन्तर नही आता कि हम ईश्वर की पूजा चाहे किसी भी नाम से करे किन्तु हमारी आत्मा ईश्वर की भावना से ओतप्रोत हो तथा उसमे सेवा-भाव के लिए उत्साह हो, यह आवश्यक है। एक ही यथार्थ सत्ता का मनुष्यो के मतभेद के कारण विविध प्रकार से व्याख्यान किया जाता है।[1] जब हम उसको प्रकट करने का प्रयत्न करते है जो इस प्रतीति-रूप जगत् से परे है तो हम ऐसे प्रतीक ढूढ लेते है जो हमारी आवश्यकताओ के अधिक से अधिक अनुकूल सिद्ध हो सके। शकर ने धार्मिक भ्रान्तियो से सर्वथा मुक्त होने के कारण तथा अपने अन्तस्तल मे मानवीयता को लिये हुए, मनुष्यो के स्वप्नो पर भी ध्यान दिया क्योकि ये ही इस मायारूप जगत् मे एकमात्र किसी महत्त्व की वस्तुए प्रतीत होती है। उन्होने अपने को किसी मत-विशेष का प्रचारक बनने से एव अपने धार्मिक उपदेश के क्षेत्र का विस्तार करने के विचार मे अपने दार्शनिक मानदण्ड को भी गिराने से निषेध किया। शकर के अनुसार, हिन्दूधर्म अपने क्षेत्र के अन्दर समस्त विचारो के भिन्न-भिन्न रूपो तथा मानसिक प्रवृत्तियो के लिए स्थान रखता है। उन्हे 'षट्मतस्थापनाचार्य' की उपाधि दी जाती है, अर्थात् वे एक ऐसे आचार्य थे, जिन्होने छ मतो की स्थापना की।[2] धार्मिक विषयो मे ऊची उडान वाली आदर्शपरक विचारपद्धति को अपनाना आसान है जिसमे इस भूलोक के सब तथ्यो को दृष्टि से ओझल कर दिया गया हो, जिस प्रकार ऐसी असस्कृत यथार्थवादी पद्धति को अपनाना भी उसीके समान आसान है जो अन्य सब आदर्शो का खण्डन करती हो; किन्तु एक विशद दृष्टिवाले यथार्थवाद को आदर्श के प्रति

१ हरिस्तुति, पृष्ठ १८।
२. शैव, वैष्णव, सौर, शाक्त, गाणपत्य और कापालिक मत।

एक दृढ भक्ति के साथ संयुक्त कर देने का कार्य कठिन है और यही कार्य था जिसे करने का प्रयत्न शंकर ने किया। एक धर्मप्रचारक के लिए छः भिन्न-भिन्न प्रकार की धार्मिक पद्धतियों का औचित्य सम्पादन करना एक अनुपम घटना है और यह घटना हिन्दूधर्म के माननेवाले भारतवर्ष में ही सम्भव हो सकती है। जैसा कि विद्यारण्य ने कहा कि मनुष्यों ने सब प्रकार के पदार्थों को, अर्थात् अन्तर्यामी आत्मा से लेकर स्थावर एवं वृक्षों तक को, ईश्वर का रूप दे दिया।[1] जिस समय वैष्णवमत, शैवमत और शाक्यमत आदि के अनुयायी एक-दूसरे से लड़ रहे थे, शंकर ने इन प्रचलित मतों को केवलमात्र वादानुवाद की धूलि से ऊपर उठाकर शाश्वत सत्य के निर्मल वातावरण में खड़ा कर दिया। उन्होंने प्रचलित विधियों को एक सर्वसामान्य आधार प्रदान किया और उन सबका सम्बन्ध एक प्रधान समन्वयकारक विचार के साथ जोड़ दिया। उन्होंने सत्यधर्म के ऊपर बल दिया जिसका मूलाधार आध्यात्मिक आन्तरिकता में है। समस्त धर्मों का उद्दिष्ट सत्य आत्मा है, और जब तक हम यथार्थसत्ता के साथ अपनी आत्मा के एकत्व को नहीं पहचान लेते, जो इन सब अपूर्ण वस्तुओं से अतीत है, तब तक हम संसार-चक्र में घूमते रहेंगे। अपने दार्शनिक दृष्टिकोण से वे कहते हैं कि यद्यपि निरपेक्ष परब्रह्म का दर्शन ... प्रकार से हो सकता है किन्तु उन सबकी पृष्ठभूमि में यथार्थसत्ता वही एक है। यथार्थसत्ता के अन्दर तो कोई वर्गीकरण नहीं है, यद्यपि सत्य के अन्दर श्रेणीविभाग, यथार्थसत्ता के बोधग्रहण के प्रकारभेद के कारण हो, सकता है। उन्होंने सहसा ऐसा परिणाम निकालना उचित नहीं समझा कि ईश्वर है ही नहीं, क्योंकि अगर होता तो ईश्वर विषयक विचार में मनुष्यों का परस्पर मतभेद न होता। मतभेद मनुष्यों के प्रतिबन्धों के कारण है।[2] इस प्रकार वे संशयवाद तथा हठधर्मिता दोनों से ही उन्मुक्त रहने में अद्वितीय थे। उन्होंने अपनी उक्त धारणा के प्रति सत्यनिष्ठा का प्रमाण देते

१. अन्तर्यामिनम् आरभ्य स्थावरान्तेशवादिनः (पंचदशी, ६ : १२१)। और भी देखें, ६ : २०६–२०८।

२. शांकरभाष्य, १ : १, २०। बरन फान ह्यूगेल की नवीनतम ग्रन्थ में एक सन्दर्भ है जो प्रस्तुत प्रसंग में शंकर के ही दृष्टिकोण को प्रकट करता है। "स्पष्ट है कि प्रत्यक्षतः अनन्त भिन्नताएं जो किसी पूर्ण धर्म तथा अन्य पूर्ण धर्म के मध्य में या किसी एक मत तथा अन्य मत के मध्य में रहती हैं, अथवा जो क्रमशः एक ही धर्म के अन्दर या किसी एक मत के अन्दर दीख पड़ती हैं, जो सचमुच अधिकांश व्यक्तियों और धर्मों के द्वारा अभिव्यक्त और मत, अनुभव और उसके विषय की अशिष्ट मूर्खता दिखाती है, इस स्थिति की आलोचना नहीं करती कि एक ही महान् विषयी अतीत अतिमानव सत्ता इस प्रकार इन समूहों या पुरुषों द्वारा विभिन्न ढंग से और अपूर्णतः, यद्यपि यथार्थतः समझी जाती है। इस सत्ता को जो जगत् में विद्यमान है, जो जगत् के भीतर और उसके ऊपर कार्य कर रही है, जो मानव-आत्मा से भिन्न है तथा मानव-आत्माओं के भीतर तथा ऊपर कार्य कर रही है, मनुष्य की ईश्वर को पाने की लम्बी और लगातार खोज का निवारक निमित्त, विषय तथा कारण माना जा सकता है। इसे मनुष्य की धार्मिक अनुभूतियों की गहराई और सूक्ष्मता के क्रमिक विकास का, धार्मिक अनुभूति और निश्चय में मनुष्यों को पूर्ण शान्ति तथा स्थायी आधार पाने का और मनुष्य के निःश्रेयस् की आवश्यकता तथा इस वास्तविक अनुभूत सत्ता को अभिव्यक्त करने वाली समस्त मानवीय व्याख्याओं और परिभाषाओं की अपर्याप्तता के प्रति एक साथ अधिक जागरूक होने का कारण माना जा सकता है" ('फिलासफी आफ रिलीजन' पृष्ठ ४४–४५)।

हुए भिन्न-भिन्न देवताओ की स्तुति मे श्लोको की रचना की । ये श्लोक ऐसे है जिनकी प्रेरणापरक शक्ति अनुभव है । किन्तु इसका अर्थ यह नही है कि उन्होने सब प्रकार के अन्धविश्वास तथा मूर्तिपूजा को उजित ठहराया । उन्होने बडे प्रबल रूप मे कुछ ऐसी घातक क्रियाओ का खण्डन किया जो धर्म के नाम पर प्रचलित थी । अपने अद्वैत सिद्धान्त को जनसाधारण के मस्तिष्क मे बैठाकर उन्होने ईश्वर के आध्यात्मिक महत्त्व की व्याख्या का मर्म समझने मे मनुष्य-समाज की सहायता की । उन्हे विश्वास था कि मन म सत्य को ग्रहण करने की शक्ति है, यदि हम अपने सर्वोत्तम प्रकाश के अनुसार उसे ग्रहण कर सके । उनकी वृत्ति उस समय के प्रचलित धर्मो के प्रति सहानुभूतिपूर्ण तथा समालोचनात्मक दोनो ही रूप की थी । शकर का ध्येय नये युग के आगे हिन्दूधर्म की व्याख्या इस रूप मे करना था जिससे उक्त धर्म के विशिप्ट सन्देश की रक्षा तो हो ही सके, किन्तु आगे से अधिकतर विशदरूप मे वह साधारण जनता पर अपना अधिकार जमा सके । इस अधिक विस्तृत एव उदार आशय के अन्दर सम्भवत हम उस देश के निवासियो को एकता के सूत्र मे बाधने के विचार को भी लक्ष्य कर सकते है । किन्तु उस एकत्व को सम्पन्न करने के लिए उन्होने किसी विशेष बाह्य सगठन अथवा आन्तरिक विश्वासो का आग्रह नही किया । उन्होने उक्त प्रकार की एकता को सम्पन्न करने के लिए एक विस्तृततर धार्मिक सहिष्णुता का आश्रय लिया । धार्मिक जीवन के व्यक्ति-गत रूप के ऊपर बल देकर उन्होने आध्यात्मिक रूप लिये हुए हिन्दूधर्म को अत्यन्त उदारता का रूप दिया ।

हिन्दू विचार को पुन नये सिरे से व्याख्या करने मे उन्होने किसी स्थान पर इसके अन्दर ऐसे अशो को भी पाया जो प्रकटरूप म उनके अपने विचारो के साथ सगति नही खाते थे ।

शास्त्रार्थ-काल के क्षोभ तथा हलचल के पश्चात् शकर का अद्वैत आया जिसमे मौलिक स्थिरता थी तथा जनसाधारण म युक्तिपूर्ण दृढ विश्वास उत्पन्न कराने की समर्थना भी थी । यह न तो अधिकारपूर्ण रूप मे आज्ञा ही देता है और न किसी रूढि की ही स्थापना करता है, फिर भी इसकी प्रभावशाली तथा पूर्ण निश्चयात्मक घोषणाओ मे नैष्ठिक प्रयत्न तथा परिपक्व चिन्तन का गुरुत्व पाया जाता है । यह धार्मिक यथा-र्थता को मनुष्य के चैतन्य केन्द्र के अन्दर दृढतापूर्वक जमा देता है जहा से इसका उच्छेद नही किया जा सकता । मनुष्य का एकमात्र आध्यात्मिक व्यापार यथार्थ सत्ता की खोज मे निहित है न कि उसमे जो हमारे लौकिक उद्देश्यो की पूर्ति करता है । और इस यथार्थसत्ता की खोज तभी हो सकती है जब कि मनुष्य के निरर्थक तथा अपने महत्त्व के प्रति अत्यधिक अभिमान का सर्वथा परित्याग करने म अहकारी और आत्म-केन्द्रित दृष्टिकोणो को पूर्णरूपेण छोड दिया जाए । हमे ईश्वर की परिकल्पना अपने सीमित ज्ञान और अनुभव की परिभाषा मे करने के सब प्रयत्नो को त्याग देना होगा । सबसे प्रथम तो, ईश्वर का अस्तित्व अपने लिए है वह केवल हमारे लिए ही नही है । हमारे तर्कशास्त्र तथा नीतिशास्त्र, दोनो ईश्वर को हमारे अपने उद्देश्यो को आगे

बढ़ाने के लिए एक साधन मात्र बना लेते हैं। ईश्वर के सम्बन्ध में इस प्रकार का विचार, जिसे मनुष्य का दुर्बल मन अपनी क्षुद्र योजनाओं को आगे बढ़ाने के लिए बना लेता है, मनुष्य के लिए भले ही प्रतिष्ठादायक सिद्ध हो सके किन्तु उससे ईश्वर की प्रतिष्ठा नहीं बढ़ती। शंकर एक प्रकार से स्पिनोज़ा के ही इस सिद्धान्त वाक्य को पुष्ट करते हैं कि वह जो यथार्थ में ईश्वर से प्रेम करता है, यह अभिलाषा नहीं रख सकता कि बदले में ईश्वर भी उससे प्रेम करे।

यदि शंकर का अद्वैत हमें अमूर्त भाववाचक प्रतीत होता है तो इसका कारण यह है कि हम एक ऐसे स्तर पर ही रहकर सन्तोष कर लेते है जो सर्वोच्चसत्ता से कहीं नीचे है और यही हमारे लिए सम्भव भी है। सगुणोपासना के प्रति शंकर के विरक्तिभाव के कारण उनको धर्म कुछ-कुछ नीरस प्रतीत होता है। किन्तु यदि हम निरपेक्ष परम आत्मा में संकल्प तथा ज्ञान का अभाव मानते है तो इसे उस निरपेक्ष की उपाधि अथवा प्रतिबन्ध न मानना चाहिए, अपितु यह उसकी पूर्णता के कारण है। शंकर में धार्मिक भावना की किसी प्रकार भी न्यूनता नहीं थी। उनके लेखों में उक्त भावना की स्थान-स्थान पर अभिव्यक्ति पाई जाती है जो प्रायः मन को छूनेवाली है और कभी-कभी तो यह धार्मिक व्यग्रता के स्तर तक पहुंच जाती है। किन्तु हमारे प्रचलित धार्मिक विचार उनकी तर्कपूर्ण समीक्षा से नहीं बचे रह सके और हमारे ईश्वर-सम्बन्धी विचारों को ऐसा ही अस्थायी और क्षणभंगुर बताया गया है जैसे कि हम स्वयं हैं।

ऊपर जो कुछ कहा जा चुका है उसके अतिरिक्त यह भी है कि हमें ज्ञात होता है कि शंकर ने अन्तस्तल में प्रविष्ट होने वाली दैवीय वस्तुओं के बौद्धिक दर्शन को योग-सम्बन्धी चिन्तन के साथ संयुक्त किया है। इस विषय में हम शंकर को ही अपने साक्षी-रूप में उपस्थित करेंगे कि योग-सम्बन्धी चिन्तन के मार्ग में बुद्धि का साहसपूर्ण प्रयोग बाधक होता है। वह यह भी दर्शाता है कि बाह्य आजीविका के साधनों से छुटकारा पा लेना चिन्तनशील जीवन के लिए आवश्यक नहीं है। शंकर ने धर्म के अन्तर्गत जो व्यक्तिगत अथवा रहस्यमय, संस्थाओं के नियम-सम्बन्धी अथवा निरंकुश तथा बौद्धिक अथवा दार्शनिक अंश है उनमें एक-दूसरे के साथ परस्पर समन्वय दिखाया है।

४६

उपसंहार

उपनिषदों की भाषा दर्शन तथा विज्ञान दोनों ही से मिश्रित है। उपनिषदें उच्चतम यथार्थ सत्ता को निरपेक्ष और ईश्वर, ब्रह्म तथा परमेश्वर के रूप में प्रस्तुत करती हैं। वे मोक्ष का प्रतिपादन करते समय ब्रह्म के साथ सारूप्य हो जाना एवं ईश्वर की नगरी में निवास करना भी मान लेती है। ब्रह्म का 'नेति-नेति' के रूप में वर्णन तथा उसके सकारात्मक चरित्रचित्रण, जो उपनिषदों में पाए जाते हैं प्रत्येक महान् धार्मिक साहित्य में भी ऐसे ही मिलेंगे। रहस्यवादी, यहूदी, इसाई और मुस्लिम, हमें एक अन्धकार का समा-

चार देते है जो वाणी के क्षेत्र से परे है। अन्य लोग ईश्वर की पूर्णता का हमारे आगे वर्णन करते है। जहा एक ओर विचारक और रहस्यवादी ईश्वर के प्रतिबिम्बविहीन स्वरूप के ऊपर बल देते है वहा धार्मिक भक्त लोग ईश्वर को मित्र, सहायक तथा मोक्षदाता की दृष्टि से देखते है। प्रत्येक धर्म के दर्शनशास्त्र को, सब प्रकार के धार्मिक अनुभव के दो प्रकार के रूप को ध्यान में रखना होता है और उसके औचित्य पर भी ध्यान देना होता है। जिस समस्या को शकर ने अपने ऊपर लिया है, यद्यपि यह उस धार्मिक अनुभव के सीमित प्रकरण से, जिसे उपनिषदो मे अभिलिखित किया गया है, उत्पन्न होती है, वह सार्वभौम हित की है और इसके जिस समाधान पर वे पहुचे है वह भी सन्तोषप्रद है, बशर्ते कि सभी अश अपने सन्तुलन को स्थिर रख सके। तात्त्विक रूप मे यह एक दार्शनिक समाधान है क्योकि शकर हमे ऊंचा उठाकर सुख व शान्ति के आदर्श मे पहुचा देते है और इस कार्य के लिए वे विचारशक्ति का उपयोग करते है, क्योकि यही एकमात्र साधन है जो जीवन के भिन्न-भिन्न पक्षो का परस्पर समन्वय कराता तथा उन्हे उत्तम बनाता है। यह सत्य है कि वे स्वीकार करते हे कि विचार सब समस्याओ को हल नही कर सकता एव उसे यथार्थसत्ता के साक्षात् ज्ञान ग्रहण करने के लिए अन्तर्दृष्टि की आवश्यकता होती है। यद्यपि शकर प्रसन्नतापूर्वक जीवन के रहस्यो के आगे सिर झुकाते हे तो भी वे इन रहस्यो के लिए ही लालायित नही है। शकर के दर्शन के आधार मे सृष्टि-रचना का शाश्वत रहस्य है और यह एक ऐसा रहस्य है जिसके अन्दर जीवन की प्रत्येक गति तथा ससार का प्रत्येक अणु उलझा हुआ है।

यदि इस जगत् को एक ऐसी वस्तु समझने की अपेक्षा, कि जिसकी उत्पत्ति के विषय मे हम ठीक-ठीक कोई समाधान प्रस्तुत नही कर सकते, हम साथ ही साथ कतिपय अर्वाचीन अद्वैतवादियो के मार्ग का अनुसरण करते हुए, इसे यह कहकर कि यह विश्व-ज्ञान-सम्बन्धी भ्रान्ति है, जो न जाने किस प्रकार उत्पन्न हो गई है एव इसका उद्देश्य भ्रम मे पडे हुए हम मरणधर्मा मनुष्यो को एक दुःस्वप्न की भाति दुःख देना है, इसे अन्यथा सिद्ध कर देते है, तो शकर का दर्शन असन्तोषजनक सिद्ध होता है। किन्तु इस प्रकार का विचार रखना शकर के साथ अन्याय करना होगा।

आध्यात्मिक गहराई तथा तार्किक शक्ति म शकर का दर्शन अद्वितीय है। स्वभावत विचार के पश्चात् विचार रहता आता है जब तक कि अद्वैतवाद सबका शिरोमणि स्थान लेकर इस भवन को पूरा नही कर देता। यह एकेश्वरवाद-सम्बन्धी आदर्श का एक महान् दृष्टान्त है जिसका खण्डन उसके सदृश अन्य किसी नितान्त निश्चयात्मक आध्यात्मिक विचार द्वारा नही हो सकता। शकर जीवन की एक ऐसी कल्पना को स्वीकार करते है जिसे कविता तथा धर्म के उच्चतम क्षणो मे भी स्वीकार किया जा सकता हे जब कि हमारा झुकाव उसके बोधग्रहण के प्रकाश की अपेक्षा अन्तर्दृष्टि को अधिक महत्त्व देने के विचार के साथ सहमति प्रकट करने की ओर होता है और जब तक वे इस ऊंचे धरातल पर खड़े है उन्हे किसीको उत्तर देने की आव-

श्यकता नही। किन्तु बराबर स्थिर रहनेवाला संशय अधिकांश मनुष्यो को दबाता रहता है क्योकि वे बहुत ही कम इतनी उच्चताओ तक पहुच सकते है। वे यह अनुभव करते है कि उस जगत् को, जिसके अन्दर वे रहते, चलते फिरते, और अपना अस्तित्व स्थिर रखते है, इतने अधिक उच्च कोटि के उपेक्षाभाव मे छोड देना अनुचित होगा। और इसलिए इसका कारण अज्ञान अथवा अन्धकार को बनाते है और अपने को केवल यह कहकर शान्ति दे लेते है कि समस्त अरुचिकर आभासरूप पदार्थ शीघ्र ही नष्ट होकर अनन्तप्रकाश के अन्दर विलीन हो जाएगे। उनकी दृष्टि म सब परिवर्तनो का कारण आकाशस्थ सूर्य का प्रकाश कृत्रिम है और व यह भी कहते है कि शंकर का दर्शन तथ्य के प्रति एक रहस्यपूर्ण उपेक्षा का भाव रखता है। यह कि मानवीय दुःख दूर हो जाएगा, एव समस्त ससार एक दयनीय मृगतृष्णिका की भाति लुप्त हो जाएगा, और यह कि हमारी सारी कठिनाई हमारी अपनी ही बनाई हुई है और यह कि संसार के अन्तिम यवनिकापतन म सब लोगो को मालूम होगा कि निरपेक्ष एकत्व जो सब हृदयो के लिए पर्याप्त है, सम्पूर्ण क्रोध को शान्त करता है और सब पापो का प्रायश्चित्त करता है यह सब अनेक व्यक्तियो को केवलमात्र कल्पनाए प्रतीत होती है। मूर्च्छारूप आत्म-विलय म जो अपने को पवित्र घोषित करता है, क्रियात्मक जीवन के प्रति एक क्रूर उपेक्षा का भाव रहता है जो कि एक मध्यम वृत्ति के बुद्धिमान् व्यक्ति को अभिमत नही हो सकता। शंकर इस सबका ज्ञान रखते हुए हमारे समक्ष एक ऐसे तर्कसम्मत अस्तित्ववाद को प्रस्तुत करते है जो तुच्छ समझकर बुद्धि की उपेक्षा नही करता, युगो के प्राचीन ज्ञान का उपहास नही करता, और अपने-आपमे भी सत्य का उच्चतम बौद्धिक विवरण है।[1] शंकर हम इस विषय म कुछ नही बताते कि अन्तर्ज्ञान के निरपेक्षवाद और तर्कशास्त्र के व्यावहारिक ईश्वरवाद के अन्दर क्या भेद है, क्योकि, जैसा कि गेटे ने विवेकपूर्ण कथन किया है "मनुष्य की उत्पत्ति विश्व की समस्या का समाधान करने को नही हुई वरन् यह जानने के लिए हुई है कि समस्या प्रारम्भ कहा से होती है और उसके पश्चात् वह अपने को बोधगम्य सीमाओ के अन्दर नियन्त्रित करता है।" शंकर ने यह अनुभव किया कि एक क्षेत्र ऐसा भी है जिसके अन्दर हम प्रवेश नही कर सकते और इसलिए एक ज्ञान-सम्पन्न अज्ञेयवाद ही एकमात्र विवेकपूर्ण मन्तव्य है। शंकर की सफलता की महत्ता का आधार विचार की विशिष्ट घनता और उज्ज्वलता है जिसे लेकर वे यथार्थसत्ता की खोज का कार्य सम्पादित करते है और इसके लिए आत्मा के उस उच्च आदर्श का आश्रय लेते है, जो जीवन की कठिन समस्याओ से भी जूझ सकता है, भले ही इसका आध्यात्मिक परिणाम कुछ भी हो। इसके अतिरिक्त,

१ तुलना करे, प्लेटो : "यदि तब देवताओं तथा विश्व की उत्पत्ति के विषय में अनेकों सम्मतियों के बीच हरएक अंश मे हम अपने विचारों का परस्पर संगत तथा सूक्ष्म रूप में ठीक नहीं बना सके तो किसी को आश्चर्य न करना चाहिए। यदि हम कोई ऐसा विवरण दे सकें जो दूसरे की अपेक्षा कम सम्भव हो, क्योंकि हमें अवश्य याद रखना चाहिए कि मैं जो बोलता हूं और तुम जो उसका निर्णय करते हो हम सब मरणधर्मा मनुष्य हैं। इस प्रकार इन विषयों के ऊपर हमें एक सम्भव गाथा से ही सन्तुष्ट रहना चाहिए और उससे अधिक की माग न करनी चाहिए" ('टाइमियस', पृष्ठ २७)।

शकर सिद्धि के एक ऐसे दर्शन का आश्रय लेते है जो मानवीय जीवन मे एक दैवीय ऐश्वर्य का आधान करती है ।

एक दार्शनिक तथा तार्किक के रूप मे सर्वश्रेष्ठ, शान्त निर्णय तक पहुंचने में तथा व्यापक सहिष्णुता मे एक मनुष्य के रूप मे महान्, शकर ने हमे सत्य से प्रेम करने, तर्क का आदर करने तथा जीवन के प्रयोजन को जानने की शिक्षा दी । बारह शताब्दियां व्यतीत हो गई किन्तु आज भी उनका असर देखा जा सकता है । उन्होने अनेकों रूढियो का, उनके ऊपर उग्ररूप मे आक्रमण करके नही अपितु शान्तिपूर्वक उनसे अधिक युक्तियुक्त क्रियाओ का सुझाव रखकर विनाश किया, और साथ ही साथ यह विधान अधिकतर धार्मिक भी था । उन्होने आवश्यक ज्ञान के एक विस्तृत रूप को तथा क्रियात्मक विचारो को, जो क यद्यपि उपनिषदो मे निहित तो अवश्य थे किन्तु जिन्हे लोग भूल गए थे, जनसाधारण के मध्य प्रसारित किया और इस प्रकार एक अतीत के प्राचीन काल का हमारे लिए फिर से सृजन किया । वे कोई स्वप्नदर्शी आदर्शवादी नही थे, वरन एक कर्मवीर कल्पनाविहारी व्यक्ति थे, दार्शनिक होने के साथ-साथ वे एक कर्मवीर पुरुष थे, जिसे हम विस्तृत अर्थों मे एक सामाजिक आदर्शवादी कह सकते है। वे व्यक्ति भी जो जीवन के प्रति उनकी सामान्यवृत्ति से सहमत नही भी है, उनको अमर महापुरुषों की पक्ति मे स्थान देने के लिए अनिच्छा प्रकट न करेगे ।

उद्धृत ग्रंथ

कार्पेण्टर : 'थीइज्म इन मेडीवल इण्डिया', व्याख्यान ६ ।
दासगुप्त : 'हिस्टरी आफ इण्डियन फिलासफी', अध्याय १० ।
ड्यूसन : 'दि सिस्टम आफ दि वेदान्त' ।
द्विवेदी : 'माण्डूक्योपनिषद, गौडपाद की कारिका सहित ।
महादेवशास्त्री : भगवद्गीता, शांकरभाष्य सहित ।
मैक्समूलर : 'सिक्स सिस्टम्स आफ इण्डियन फिलासफी', अध्याय ४ ।
पी० नरसिंहम् : 'दि वेदान्तिक एब्सोल्यूट एण्ड दि वेदान्तिक गुड', माइण्ड, न्यायसूत्र, ८२ और ८३ ।
थीबो : 'वेदान्तसूत्र, शंकर के भाष्य सहित (सेक्रेड बुक्स आफ दि ईस्ट) ।
विद्यारण्य कृत पंचदशी, श्रीनिवासराव तथा कृष्णस्वामी अय्यर द्वारा सम्पादित ।

नवां अध्याय

रामानुज का ईश्वरवाद

प्रस्तावना—आगम—पुराण—रामानुज का जीवन—इतिहास और साहित्य—भास्कर—यादवप्रकाश—ज्ञान के साधन—कारण तथा द्रव्य—आत्मा तथा चैतन्य—ईश्वर—जीवात्मा—प्रकृति—सृष्टि-रचना—नैतिक तथा धार्मिक जीवन—मोक्ष—सामान्य मूल्यांकन।

प्रस्तावना

दर्शनशास्त्र का मूल मनुष्य की क्रियात्मक आवश्यकताओं में निहित है। जो विचार-पद्धति मनुष्य की मौलिक सहज प्रवृत्तियों की युक्तियुक्तता को नहीं दरशा सकती एवं धर्म के गम्भीर तत्त्व की व्याख्या नहीं कर सकती उसे सर्वसाधारण स्वीकार नहीं कर सकते। दार्शनिकों की वे कल्पनाएं जो हमें विषमावस्था तथा दुःख में सन्तोष नहीं प्रदान कर सकतीं, केवल बौद्धिक मनबहलाव की वस्तुएं हैं। उन्हें गम्भीर विचार नहीं कह सकते। शंकर का निरपेक्ष ब्रह्म, जो नियमनिष्ठ एवं गतिशून्य है और जो कोई प्रेरणा नहीं दे सकता, न तो हमें प्रभावित ही कर सकता है और न हमारी पूजा व भक्ति का विषय ही हो सकता है। ताजमहल के समान, जिसे अपने दर्शकों के द्वारा की गई प्रशंसा का कुछ भी ज्ञान नहीं है, शंकर का निरपेक्ष ब्रह्म अपने उपासकों के भय अथवा प्रेम के प्रति सर्वथा उदासीन रहता है और उन सबके प्रति भी जो धर्म के लक्ष्य को ईश्वर को जानना यथार्थ सत्ता का ज्ञान है दर्शनशास्त्र का उद्देश्य मानते हैं। शंकर का मत एक विद्वान् पुरुष की भूल का साक्षात् दृष्टान्त है। वे अनुभव करते हैं कि जिस प्रकार एक प्रशिक्षित बुद्धि के लिए यह असन्तोषजनक है, उसी प्रकार सहज प्रवृत्तियों के लिए भी असन्तोषप्रद है। जगत् को आभास-मात्र कहा गया है, और ईश्वर एक शुष्क निरपेक्ष अन्धकार है जिसके साथ प्रकाश की पराकाष्ठा भी है। अनुभव के इस प्रकट तथ्य को दृष्टि से ओझल कर दिया गया है कि जब निर्बल तथा भूल करने वाले मनुष्य गहराई में डूबे हुए पुकार करते हैं तो किसी अज्ञात शक्ति का करुणामय सहायक हाथ उन्हें संभालने के लिए प्रकट हो जाता है। भक्तों को अपने जीवन की विषम अवस्थाओं में इस प्रकार के

सहायक का जो वास्तविक अनुभव हुआ है उसके प्रति शंकर ने न्याय नहीं किया। उनका कहना है कि मोक्ष की प्राप्ति अज्ञात समुद्र में अपने को खो देना है। व्यक्तिगत गुण व्यक्तित्व-हीन गुणों के अधीन रहते हैं किन्तु ईश्वरवादी का इसके विरोध में यह कहना है कि सत्य, सौन्दर्य और सज्जनता आदि,गुणों का पृथक् भावात्मक रूप में, कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। एक ऐसा अनुभव, जिसका कोई विषयी कर्ता नहीं है, केवल शाब्दिक विरोधमात्र है। सत्य, सौन्दर्य और पूर्णता ये सब हमें एक आदिम मस्तिष्क के विषय में सूचना देते हैं जिसके अनुभव में ये सदा से अनुभूति का विषय रहे हैं। ईश्वर स्वयं सर्वोच्च यथार्थ सत्ता एवं महत्त्वपूर्ण है। इसके अतिरिक्त ईश्वर का अन्तस्तम सत्त्व केवलमात्र सनातन सत्य का प्रत्यक्षीकरण अथवा पूर्ण सौन्दर्य का उपभोग ही नहीं है वरन् पूर्ण प्रेम है, जो दूसरों के लिए अपना विस्तार करता है। विश्वात्मा के प्रति सीमित जगत् का महत्त्व उन आत्माओं मे है जिन्हें उसने अपने समान प्रतिमा का रूप धारण करने की क्षमता प्रदान की है। स्वयं आत्माए ईश्वर की निगाह में एक महत्त्व रखती हैं, और भावात्मक रूप में न केवल उनकी वृद्धि अथवा सद्गुणों की वे श्रेणियां ही, वरन् जिन्हें उन्होंने अपना लिया है। परिणाम यह निकला कि उनका निर्माण केवल भंग होने तथा त्याग किये जाने के लिए ही नही हुआ।

रामानुज अपना ध्यान, जगत् का ईश्वर के साथ जो सम्बन्ध है, उसी के ऊपर केन्द्रित करते है और तर्क करते हैं कि ईश्वर वस्तुत: यथार्थ सत्ता है तथा स्वतन्त्र है, किन्तु जगत् की आत्माए भी यथार्थ हैं। यद्यपि उनकी यथार्थता सर्वथा ईश्वर की यथार्थता के ऊपर निर्भर है। उनका विश्वास है कि इस जगत् के मूल में एक आध्यात्मिक तत्व है अतएव इस जगत् को हम भ्रांति मात्र नहीं समझ सकते। वे मुक्तात्माओं की निरन्तर सत्ता के ऊपर भी बल देते है। यद्यपि यह भौतिक जगत् तथा जीवात्मा अपनी-अपनी यथार्थ सत्ता रखते हैं तो भी उनमें से कोई भी तात्त्विक रूप में ब्रह्म के समान नहीं है। क्योंकि जहां ब्रह्म अनादि काल से सब प्रकार की अपूर्णता से अलग है, प्रकृति चेतना-रहित (जड़) है और जीवात्मा अज्ञान तथा दुःख का शिकार बनता है। इतने पर भी इन सबमें एकता है, क्योंकि प्रकृति तथा आत्माएं केवल ब्रह्म के देहमात्र रूप से अपना अस्तित्व रखते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि उनका अस्तित्व इस रूप में इसलिए है क्योंकि ब्रह्म उनकी आत्मा तथा नियामक शक्ति के रूप में है।[1] ब्रह्म के अतिरिक्त उनका अस्तित्व कुछ नहीं है। जीवात्मा तथा जड़ प्रकृति तात्त्विक रूप में उससे भिन्न हैं; यद्यपि उसके अतिरिक्त अथवा उसके उपयोगी होने के अतिरिक्त उनकी कोई सत्ता अथवा उपयोगिता नहीं है। इस प्रकार रामानुज का सिद्धान्त अद्वैत सिद्धान्त है यद्यपि उनके अद्वैत सिद्धान्त में एक विशिष्टता है, अर्थात् वे बहुत्व को भी स्वीकार करते हैं क्योंकि सर्वोपरि आत्मा आकृतियों के बहुत्व में जीवात्मा तथा प्रकृति के रूप में विद्यमान

१. "इस जगत् में प्रत्येक वस्तु, क्या जीवात्मा और क्या भौतिक जड़ पदार्थ, उसी सर्वोपरि आत्मा (ब्रह्म) के शरीर का निर्माण करते हैं और इसलिए उसे हम निरुपाधिक शरीर —आत्मा कह सकते हैं। इसी कारण से योग्य व्यक्ति शास्त्रों को, ब्रह्म के शरीर-रूपी विषय का प्रतिपादन करने के कारण 'शारीरक' कहते हैं।"

रहती है। इसीलिए रामानुज के सिद्धान्त को 'विशिष्टाद्वैत' नाम दिया गया है, अर्थात् विशेष प्रकार का अद्वैत।

नीतिशास्त्र के विषय मे भी शकर के अनुयायियो द्वारा अभिमत बुद्धिवाद तथा मीमासको के कर्मकाण्डवाद के साथ रामानुज का विरोध रहा। यहा तक कि प्राचीन से प्राचीन अर्थात् ऋग्वेद के काल मे भी हमने देखा कि कभी-कभी प्रार्थना के द्वारा देवताओ के आगे विनय की जाती थी और अन्य समयो मे कर्मकाण्ड के द्वारा उन्हे विवश किया जाता था। यज्ञो को मानने वाले धार्मिक सम्प्रदाय सदा ही सर्वोपरि ब्रह्म की भक्ति-भावपूर्वक पूजा से, जो प्रतीको द्वारा प्रारम्भ मे गुफाओ मे और बाद मे मन्दिरो मे की जाने लगी, अपने को सतुष्ट करना था। वेदो के यज्ञप्रधान धर्म मे यज्ञ सम्पादन कराने वाला पुरोहित देवता से भी बढकर महत्त्वपूर्ण व्यक्ति होता था। किन्तु दु खी हृदय को यह दानपरक अवस्था कुछ शान्ति प्रदान नही कर सकी। इसके अतिरिक्त कुमारिल ने, जो ब्राह्मण था और समाज का निर्माणकर्ता था, बौद्ध धर्म के द्वारा जो अस्त-व्यस्त व्यवस्था उत्पन्न हो गई थी उसके अन्दर से ब्राह्मणवादी सम्प्रदाय का सुदृढ करके एक स्वस्थ समाज के निर्माण करने का प्रयत्न किया जिसमे वर्ण-व्यवस्था की नीव को बलवती बनाते हुए एक ऐसी पद्धति का निर्माण किया गया जिसमे केवल ऊपर के तीन वर्णों को ही यज्ञ करने का अधिकार दिया गया था और अन्यान्य जन-साधारण को उनके अपने-अपने भक्तिप्रधान सम्प्रदायो मे रहने के लिए खुला छोड दिया गया था। इस प्रकार मीमासको के विरुद्ध जो प्रतिक्रिया हुई उसने धर्म के ईश्वरवादी सम्प्रदायो अर्थात् वैष्णवमत, शैवमत तथा शाक्तमत को जन्म दिया जो किसी व्यक्ति के वर्ण, जाति अथवा सामाजिक स्थिति का कोई विशेष विचार नही करते थे। ईश्वरवाद के अन्दर सामाजिक महत्त्वाकाक्षा स्वत आ जाती है। एक ही माता-पिता (अर्थात् उस ईश्वर) के बच्चे होने के कारण हम सब एक ही स्तर के है। मनुष्यमात्र चाहे वह ऊंचा हो या नीचे दर्जे का, पितृ-हृदय के लिए उतना ही मूल्यवान् है।

यद्यपि ज्ञान से शकर का अपना आशय केवल सैद्धान्तिक विद्या से नही था, तो भी उनके शिष्यो मे से कुछ का झुकाव धर्म का हृदय तथा इच्छाशक्ति का विषय बनाने की अपेक्षा मस्तिष्क का ही विषय बनाकर रखने की ओर था।[1] उन्होने भूल करने वाली अथवा दुष्टात्माओ के लिए सनातन नित्य जीवन का द्वार बन्द कर दिया। बुद्धि-पूर्वक भक्ति के स्थान पर "मै ब्रह्म हू" इस प्रकार के मन्त्र का यत्रवत् से दोहराना एक निष्फल प्रयास था। अत ईश्वरवादी पद्धतियो ने, जिनके अन्तर्गत चार वैष्णव सम्प्रदाय आते है, भक्ति पर बल दिया।[2] सिद्धान्त-सम्बन्धी मतभेदो के रहते हुए भी ये सब भाषा-विचार त्याग देने मे एकमत है। ये ईश्वर को शरीरधारी एव आत्मा के पृथक् व्यक्तित्व को, जो सर्वोपरि ब्रह्म मे विलीन नही होता किन्तु उसका सह-चारी है, मानने मे भी सब एकमत है।

१. तुलना कीजिए : वाक्यार्थज्ञानमात्राद् अमृतमिति (तत्त्वमुक्ताकलाप, २ : ४५)।

२. रामानुज का श्री सम्प्रदाय, मध्व का ब्रह्म सम्प्रदाय, विष्णुस्वामी का रुद्रसम्प्रदाय, और निम्बार्क का सनकादि सम्प्रदाय।

२

आगम

ज्यो-ज्यो भारतवर्ष के आदिम निवासी अधिकाधिक रूप मे और सर्वतोभावेन आर्य जाति के प्रभाव मे आते गए त्यो-त्यो हिन्दू धर्म का महान् विस्तार हुआ। 'उच्च श्रेणी के द्राविड लोग तथा निम्न श्रेणी के आदिम निवासी दोनो ने ही पुराने वैदिक सम्प्रदाय को मन्दिरो की पूजा तथा सार्वजनिक उत्सवो के रूप मे परिवर्तित कर देने मे सहायता की। नई जातियों को अपने अदर मिला लेने पर नये-नये सम्प्रदाय बन गए जिनमे से प्रत्येक के अपने-अपने विशेष चिह्न (तिलक), दीक्षा के प्रकार, गुरु, मन्त्र तथा शास्त्र थे। हिन्दू धर्म के सबसे प्रारम्भिक काल मे वैष्णव, शैव तथा शाक्त सम्प्रदायो का विकास हुआ और उनके विशिष्ट धर्म-ग्रन्थ थे पचरात्र-सहिता, शैव आगम और तन्त्र।

आगम सामान्यत चार भागो मे बटे हुए है जिन्हे ज्ञान योग (अथवा ध्यान), क्रिया अर्थात् मन्दिरो का निर्माण तथा उनमे मूर्तियो की स्थापना-सम्बन्धी कर्म और चर्या, अर्थात् पूजा की विधि का नाम दिया गया है।[1] स्पष्ट है कि आगमो मे मूर्तिपूजक धर्मों का प्रतिपादन हुआ है। क्योकि उनमे मन्दिरो के निर्माण तथा पवित्रीकरण के नियमो का विधान है। शाक्त और शैव क्रियात्मक रूप मे एक ही थे, केवल भेद इतना था कि शाक्तो ने आदि वासियों के कुछ विधि-विधानो को भी साथ मे ले लिया था तथा वे शिव की पत्नी शक्ति की पूजा करते थे। ऐसे ईश्वर का विचार, जिसके स्त्री व बच्चे है, एक असभ्य काल का विचार था जो कि वस्तुत ईश्वर का मानवीकरण ही था। पुरुष तथा प्रकृति-सम्बन्धी साख्यदर्शन का सिद्धान्त शक्ति के, जो जीवन का तथा अभिव्यक्ति का तत्त्व है, औचित्य का समाधान करता था। चूकि शिव अज्ञेय, अगम्य तथा सर्वथा निष्क्रिय है, अत' शक्ति, जोकि तन्मय एव सदा क्रियाशील है, दैवीय कृपाकी स्रोत बन गई।

नालदियार, शीलप्पधिकारम्, मणिमेघलायी तथा कुरल —इन तमिल ग्रन्थों मे यह प्रकट है कि बौद्ध तथा जैन मतो का दक्षिण भारत मे क्रिश्चियन युग की प्रारम्भिक शताब्दियो मे पर्याप्त प्रभाव रहा। शीलप्पधिकारम् (प्रथम शताब्दी ईस्वी) के अनुसार कावेरीपत्तनम् नामक नगर मे विष्णु के मन्दिर, बौद्ध विहार और जैनियो के भी पूजा-स्थान थे। अशोक ने ईसा से पूर्व तीसरी शताब्दी मे अपने धर्मप्रचारक भेजे, और अनुश्रुति के अनुसार, लगभग इसी काल मे भद्रबाहु ने भी मौर्य सम्राट् चन्द्रगुप्त के साथ जैनियो के दक्षिण भारत की ओर अभियान का नेतृत्व किया। किन्तु बौद्ध मत तथा जैन मत उन द्राविडो की स्वाभाविक मनोवृत्ति को सन्तोष न दे सके, जो ऐसे ईश्वर के लिए लालायित थे कि जो प्रेमपूर्ण भक्ति को स्वीकार करके उसका उचित पुरस्कार दे सके। एकेश्वरवादी धार्मिक सम्प्रदाय, यथा वैष्णव और शैव मत, विकसित हुए और दोनो सम्प्रदायों के महात्मा उक्त मतो के आगमो से पर्याप्त प्रभावित हुए।

१. पद्मसंहिता, १ : २.६; २ : १.३; ३ : १.६; ४ : १.१।

३

पुराण

पुराण सम्प्रदायो के काल मे बने धार्मिक काव्य है जो कल्पित कथाओ, कहानियो, प्रतीकों तथा दृष्टान्तो के द्वारा ईश्वर तथा मनुष्य-सम्बन्धी उस समय के विचारो, विश्व-विज्ञान तथा सामाजिक व्यवस्था को दरशाते है। उनकी रचना मुख्य रूप से उस समय के नास्तिक विचारो के मूलोच्छेदन के उद्देश्य से की गई थी। उनका स्वरूप दार्शनिक सिद्धान्तो के साथ प्रचलित मान्यताओ का मिश्रित करने के कारण सार-संग्रही है। ऐसा प्रसिद्ध है कि व्यास पुराणो के कर्ता है।[1] पुराण अपने मे वेदो की परम्परा को निरन्तर स्थिर रखने वाले समझते है।[2] पुराण[3] यद्यपि दार्शनिक सिद्धान्तो का उल्लेख करते है किन्तु उनका उद्देश्य किसी क्रमबद्ध पद्धति का विकास करना नही है। उनका मुख्य आशय प्राचीन विचारको की शिक्षाओ, विशेषकर वेदान्त और साख्य, की शिक्षाओ को जन-साधारण तक पहुचाना है। उनका नाम ही सकेत करना है कि उनका अभिप्राय प्राचीन परम्पराओ की रक्षा करना है। वे सब स्वरूप से ईश्वरवादी अर्थात् आस्तिक है और प्रकृति, जीवात्मा तथा ईश्वर के भेद को मानते है। त्रिमूर्ति के विचार ने प्रधान स्थान लिया, यद्यपि प्रत्येक पुराण का कार्य विष्णु अथवा शिव के किसी-न-किसी विशेष रूप पर बल देना है। एक ऐसे पुराण मे, जिसमे विष्णु की सर्वश्रेष्ठता पर बल दिया गया है, शिव और ब्रह्मा भी विष्णु की पूजा करते है और वे यहा तक घोषणा करते है कि वे जो विष्णु की उपासना करते है, शिव और ब्रह्मा के प्रिय है।[1] भागवत पुराण के अनुसार शिव प्रचेताः से कहते है कि जिसने अपने को विष्णु के अर्पित कर दिया, वह मुझे प्रिय

१. उनमे से कुछ विष्णु को उनका कर्ता बनाते है। देखें पद्मपुराण, १ : ६२ १८।

२. वायुपुराण, १ : ११.१६४-२०२।

३. मुख्य पुराण अठारह हैं। विष्णु भागवत (देवी भागवत की अपेक्षा श्रीमद्भागवत अधिक), नारदीय, गरुड, पद्म तथा वराह स्वरूप मे वैष्णव है। शिव, लिंग, स्कंद, अग्नि (अथवा अन्य व्यक्तियो के अनुसार वायु), मत्स्य और कूर्म शैव मत पर बल देते है। अन्य पुराण अर्थात् ब्रह्म (अथवा सौर), ब्रह्माण्ड, ब्रह्मवैवर्त (जो कृष्ण की अत्यधिक प्रशंसा करता है), मार्कण्डेय, भविष्य और वामन ब्रह्मा के विषय का प्रतिपादन करते है। इन्हे क्रमशः सात्त्विक, तामस और राजस कहा जाता है। देखें, मत्स्यपुराण, ५२। ये महापुराण है और दूसरे गौण पुराण है, जिन्हे उप पुराण कहा गया है। कहा जाता है कि प्रत्येक पुराण मे सर्ग, प्रतिसर्ग, वंश, मन्वन्तर और वंशानुचरित का विषय-प्रतिपादन किया गया है। पुराण महाकाव्यो की अपेक्षा अर्वाचीन है और उनमे से सबसे पहले का पुराण भी क्रिश्चियन सन् के प्रारम्भ होने से पूर्व वर्तमान था यद्यपि बाद मे उनमे बहुत अधिक परिवर्तन हुए है। ये "कम से कम पाचवी शताब्दी (ईसा से पूर्व) तक तो विद्यमान थे ही। यह निम्नतम अवधि १५० से २०० वर्ष या उससे पूर्व तक भी हटाई जा सकती है, यदि आपस्तम्ब का समय उससे पूर्व का रखा जाए।" (पार्जिटर : 'एंशियण्ट इण्डियन हिस्टोरिकल ट्रेडीशन', पृष्ठ ५१)। छान्दोग्य उपनिषद्, ३ ४ १; शतपथ ब्राह्मण, ११ : ५.६.८; अर्थशास्त्र, १ : ५, आदि मे पुराणों का उल्लेख हुआ है।

४. तुलना कीजिए, विष्णुपुराण, १ : २.२। "शक्तयो यस्य चैकस्य ब्रह्माविष्णुशिवात्मिकाः (१ : ६)। भागवत भी देखें, १ : २.२३।

है।"[1] ईश्वर ही जगत् की उत्पत्ति, स्थिति, तथा विनाश का कारण है।[2] पुराणों में सर्वश्रेष्ठ देवता को, उसे चाहे जो भी नाम दिया जाए, कल्पना में आने वाली समस्त पूर्णताओं से युक्त बताया गया है। "जिसे इन्द्रिय द्वारा नहीं जाना जा सकता, जो सब वस्तुओं में श्रेष्ठ है, सर्वोपरि आत्मा, स्वयम्भूः है, जो सब प्रकार के विशिष्टता बताने वाले लक्षणों अर्थात् वर्ण आदि से रहित है, जो जन्म, विपर्यय, मृत्यु, ह्रास अथवा वृद्धि से रहित है, जो सदा रहता है और एकाकी है, जो सर्वत्र उपस्थित है और जिसके अन्दर इस जगत् की सब वस्तुए स्थित हैं और इसीलिए जिसको वासुदेव नाम दिया गया है।"[3] सांख्य में वर्णित प्रकृति तथा उसके विकास के विधान को स्वीकार किया गया है; किन्तु उसके साथ इतना और जोड़ दिया गया है कि प्रकृति सर्वोपरि आत्मा के अनुशासन में ही कार्य करती है। कही-कही प्रकृति को ईश्वर-रूप पिता की सहचरी देवी का रूप भी दे दिया गया है। विष्णुपुराण के तीसरे अध्याय के प्रारम्भ मे मैत्रेय ने पाराशर से पूछा है कि "विशुद्ध ब्रह्म का सर्गादि-कर्तृत्व गुण कैसे हो सकता है" और उत्तर में कहा गया है कि समस्त जगत् उसके अन्दर है, जिस प्रकार अग्नि में उष्णता है।[4] पुराण जगत् के यथार्थ अस्तित्व को स्वीकार करते है और माया के भाव का उल्लेख केवल उसे दोष देने के विचार से ही करते हैं।[5]

धर्म के क्षेत्र में हम वैदिक पूजा से स्पष्ट अतिक्रम पाते है। वैदिक पूजा में जहा प्रार्थना तथा यज्ञ का विधान था, पुराणों मे हमें मूर्त्तिपूजा तथा भक्ति का समावेश मिलता है। पुराणों में प्रतिपादित नीतिशास्त्र प्रचलित नीतिशास्त्र से भिन्न नहीं है। इनमें कर्म के सिद्धान्त तथा पुनर्जन्म एव पुण्यकर्म तथा ज्ञान के द्वारा मोक्ष की सम्भावना को स्वीकार किया गया है। ईश्वर की भक्ति को, किन्तु रूढ़ि को स्वीकार करना नहीं, भक्ति का सारतत्त्व माना गया है और इसे हो कलियुग में मोक्ष-प्राप्ति का सबसे अधिक शक्तिशाली साधन माना गया है।[6] भक्ति पहाड़ो तक को हिला दे सकती है। भक्ति के लिए कुछ भी असम्भव नहीं है।[7] ध्रुव को उसकी माता ने सज्जन बनने, पवित्र जीवन व्यतीत करने तथा समस्त जगम सृष्टि के प्रति प्रेम का व्यवहार करने और उनका भला करने के लिए सदा तत्पर रहने का उपदेश दिया।[8] "उसे विष्णु का भक्त करके जानो जो अपने वर्ण के कर्तव्य कर्मो से विचलित नही होता, जो मित्र तथा शत्रु को एक समान दृष्टि से देखता है, जो ऐसे किसी पदार्थ को नही लेता जो उसका नही है, जो किसी प्राणी को नहीं सताता, और जिसका मन निष्कलंक है।"[9] "समाज का अधःपतन होने लगता है जब धन-सम्पत्ति के कारण ही ऊचा दर्जा प्राप्त होता है, लक्ष्मी का ही पुण्य का एकमात्र आधार

१. भगवंतं वासुदेवं प्रपन्नः स प्रियोहि मे (४ : २४.२८)। देखें, ४ : २४.३०।
२. विष्णुपुराण, १ : २.४।
३. वही १ : २.१।
४. १ : ३।
५. पद्म पुराण, ६ : २६३-७०
६. भागवत, १.२ : ३.५२। भागवत भक्ति के भिन्न-भिन्न मार्गों का वर्णन करता है :

श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यम् आत्मनिवेदनम्॥ (७ : ५, २३)

७. १ : १२।
८. विष्णुपुराण, १ : ११।
९. विष्णु पुराण, ३ : ७।

मान लिया जाय, विषय-भोग ही पुरुष और स्त्री के मध्य प्रेम-सम्बन्ध का आधार बन जाए, जीवन में असत्य व्यवहार ही सफलता का साधन माना जाने लगे, यौन सम्बन्ध ही एकमात्र सुख का साधन बन जाए, और जब बाह्य आडम्बरो को ही भूल से आन्तरिक भाव समझ लिया जाए।"[1] इस प्रकार के समाज को एक सुधारक की आवश्यकता होती है। ईश्वर की समानता (ईश्वर-सादृश्य) ही मोक्ष है।[2] रामानुज के धार्मिक विश्वास को विष्णु और भागवतपुराणो ने अत्यधिक प्रभावित किया।

रामानुज का जीवन

रामानुज का जन्म श्रीपेरुम्बुदूर मे १०२७ ईस्वी मे हुआ। ऐसा प्रतीत होता है कि छुटपन मे ही उनके पिता की मृत्यु हो गई। सामान्य प्रशिक्षण प्राप्त करने के अनन्तर, जैसा कि उस वर्ग के लडको को दिया जाता है, उन्हे काजीवरम् के यादवप्रकाश के अधीन वेदान्त के अध्ययन का अवसर मिला किन्तु वे यादव के द्वारा की गई वेदान्त की व्याख्या को सर्वांश मे स्वीकार न कर सके। श्रीरगम्-स्थित मठ के मठाधीश आचार्य आलवनदार पर रामानुज की विद्वत्ता का बहुत प्रभाव हुआ और उन्होने मठाधीश की गद्दी पर रामानुज को बैठाने का विचार किया। जब आलवनदार का अन्त-समय निकट आ पहुचा तो उनके शिष्यो ने पेरियनाम्बि को रामानुज को लिवा लाने के लिए भेजा। किंतु रामानुज के पहुचने से पूर्व ही आचार्य का अन्त हो गया, और अनुश्रुति मे ऐसा जाना-जाता है कि जब रामानुज गुरु के मृत शरीर के निकट पहुचे तो उन्होने उनके दाए हाथ की पाचं उगलियो मे से तीन को जुडा हुआ पाया। शिष्यो ने इसका अर्थ यह निकाला कि गुरु की तीन इच्छाए पूर्ण होने से शेष रह गई, जिनमे से मुख्य इच्छा ब्रह्मसूत्र के ऊपर एक सरल भाष्य करने की थी। रामानुज काजीवरम् लौट आये और उन्होने ईश्वर के प्रति यथापूर्व भक्ति-भाव जारी रखा। एक दिन अत्यन्त उद्विग्नता के साथ उन्होने मन्दिर के पुजारी से कहा कि मेरे भविष्य के सम्बन्ध मे ईश्वर की क्या इच्छा है, इसका निर्णय करो। ईश्वर की इच्छा एक श्लोक मे इस प्रकार व्यक्त हुई—"मै सर्वोपरि यथार्थ सत्ता हू मेरा विचार परस्पर भेद विषयक है। आत्म-समर्पण मुक्ति का अमोघ कारण है, वैयक्तिक प्रयत्न इतना आवश्यक नहीं है, अन्त मे मोक्ष मिलेगा। पेरियनाम्बि सर्वोत्तम शिक्षक,

१. अर्थएवाभिजनहेतुः, धनम् एव अशेषधर्महेतुः, अभिरुचिरेव दाम्पत्यसम्बन्धहेतुः, अनृतमेव व्यवहारजयहेतुः, स्त्रीत्वमेवोपभोगहेतुः, ब्रह्मसूत्रमेव विप्रत्वहेतुः, लिंगधारणम् एव आश्रमहेतुः (विष्णुपुराण, ४ : २४. २१-२२)।

२. आगमों मे भक्ति पर बल दिया गया है। इच्छाओं की पूर्ति के लिए अधिक स्वतंत्रता दी गई है। मन्त्रों, यन्त्रों तथा यौगिक आसनों पर अधिक ध्यान दिया गया है।

है।"[१] ईश्वर ने ऐसा कहा अथवा रामानुज ने इस प्रकार की वाणी को सुना और उसका पालन करना प्रारम्भ कर दिया। वे मधुरान्तकम् मे पेरियनाम्बि से मिले जिसने रामानुज को वेदान्त के रहस्यो की दीक्षा दी। महान् व्यक्तियो को शायद ही कभी अपने उपयुक्त पत्नी मिलती है और इसी नियम के अनुसार रामानुज को भी ऐसी किसी स्त्री को प्राप्त करने का सौभाग्य प्राप्त न हुआ जो उनके आदर्शों की प्राप्ति मे सहायक बनकर उनकी शक्तियो को बढा सकती—विचार के सम्बन्ध मे अनुकूलता को छिपाना कठिन होता है इसलिए रामानुज को भी गौतम बुद्ध, शङ्कराचार्य, प्लेटो तथा पाल की भाति शीघ्र ही यह अनुभव हुआ कि मनुष्य-जीवन की पूर्णता की प्राप्ति मे उच्चतम शिखर तक पहुचने अथवा ईश्वर के समीप पहुचने के लिए त्याग एक आवश्यक सीढी है। जब उन्होने सन्यास धारण कर लिया तो वे बहुत प्रसिद्ध हो गए और प्रशसक जगत् ने उन्हे यतिराज की उपाधि दी। रामानुज श्रीरगम् मे बस गए और उन्होंने तिरुवायमयी का पूरा ज्ञान प्राप्त कर लिया। अपने शिष्य कूरत्तालवार की सहायता से, जिसे बोधायनवृत्ति कण्ठस्थ थी, रामानुज ने वेदान्तसार, वेदार्थसग्रह और वेदान्तदीपिका नामक ग्रन्थ लिखे तथा ब्रह्मसूत्र और भगवद्गीता पर अपनी महत्त्वपूर्ण टीकाए लिखी। विद्वान् वैष्णवधर्मावलम्बियो ने रामानुज के ब्रह्मसूत्र पर लिखे गए भाष्य को स्वीकार किया और यह वैष्णवो के लिए भी भाष्य बन गया। रामानुज ने सारे दक्षिण भारत की यात्रा की, अनेक वैष्णव-मन्दिरो का पुनरुद्धार किया और बहुत बडी सख्या मे लोगो को वैष्णव धर्म मे दीक्षित किया।

महान् विचारक अपने युग का प्रवक्ता या प्रतिनिधि होता है और प्राचीन ज्ञान का उसके अन्दर सक्रमण होने के कारण वह अपने अनुभव मे उक्त ज्ञान से भी अनुप्राणित होता है। वे सन्त पुरुष तथा शिक्षक, जिनके बीच रामानुज उठते-बैठते थे, धार्मिक तथा पवित्र जीवन व्यतीत करते थे। आलवार लोगो के मन्त्र ऐसे ईश्वराधिष्ठित आत्माओ के उद्गार थे जिनकी दृष्टि मे ईश्वर केवल इस जीवन का स्रष्टा ही नही, एक अन्तरग मित्र तथा पथप्रदर्शक भी था। अपनी सहज धार्मिक प्रवृत्ति के कारण ईश्वर को एक पुरुष मानने के ठोस विचार ने रामानुज के हृदय पर अधिकार कर लिया। शङ्कर और रामानुज, दोनो ही वेदान्त के महान् भाष्यकार हुए। उक्त दोनो आचार्यों के मन मे एक समान समस्याए उत्पन्न हुईं, उनके पाठ्याश भी लगभग एक ही समान थे और उनकी कार्यविधिया भी एक समान मान्यताओ पर आधारित थी और तो भी उनके परिणाम परस्पर अत्यन्त भिन्न देखे जाते है। जिन निष्कर्षों पर उक्त दोनो विद्वान् पहुचे वे उनकी दिव्य दृष्टियो का प्रदर्शन करते है और उनके अपने-अपने प्रकार मे सत्य को ग्रहण करने

१. श्रीमान् परम् तत्त्वम् अहम, मत मे भेद प्रपत्तिर्निरपायहेतु। नावश्यकी च स्मृतिरन्त्यकाले मोक्षो महापूर्ण इहार्यवर्यः॥

पंचरात्र धर्म का मुख्य लक्षण यह है कि जीवन के अन्त मे सब मनुष्य मोक्ष को प्राप्त हो जाते हैं। देखें, वेदान्तदेशिक-कृत पंचरात्ररक्षा।

के रूपों को दरशाते हैं। रामानुज धार्मिक अन्तःप्रेरणा पर पूरा-पूरा भरोसा करते है और उन्होंने एक ऐसे गम्भीर धार्मिक विचार का प्रतिपादन किया जो मनुष्य के प्रति ईश्वर को सृष्टि के द्वारा, ईश्वरीय वाणी के द्वारा, ईश्वरीय दूतो के द्वारा, तथा अवतारों के द्वारा अभिव्यक्त करता है। उन आलवारो की शिक्षा और आचार्यों के द्वारा मिले प्रशिक्षण ने उन्हें उन तत्त्वों के विकास करने मे सहायता प्रदान की जो अन्यथा उपनिषदो तथा ब्रह्म-सूत्र के अन्दर ही गुप्त पड़े रहते। एक क्षण के लिए उन्होने कभी यह अनुभव नही किया कि वे अपने स्वतन्त्र दर्शन का प्रचार कर रहे हे, वे केवल सब कालो के ज्ञानी पुरुषो के ज्ञान का ही प्रचार करते थे।

इतिहास और साहित्य

वैष्णव मत का निरन्तर इतिहास लगभग महाकाव्य-काल से ही प्रारम्भ होता है। ऋग्वेद मे विष्णु को सौर जगत् का एक देवता कहा है जिसे व्यापक माना गया है और जिसका स्थान सर्वोच्च आकाश मे है।[1] वरुण का आदर्श सुदृढ रूप से एकेश्वरवादी स्वरूप का है। हमे वेदो मे 'भग' देवता का विचार मिलता है जो शुभ वरदानो का दाता है। शीघ्र ही उक्त देवता को उदारता तथा सौजन्य का देवता माना जाने लगा और इसलिए ऐसे व्यक्ति को भी जिसके अन्दर उक्त प्रकार की शक्ति हो, भगवान् के नाम से पुकारा गया। ऐसा धर्म, जिसमे पूजा का विषय भगवान् (अथवा भगवत) हो वह भागवतधर्म कहलाया। हमे महाभारत मे भागवत धर्म का उल्लेख मिलता है। वैष्णव धर्म भागवत धर्म का ही विकसित रूप है जिसमे विष्णु तथा भगवान् एक माने गए है। वैष्णव धर्म के विशिष्ट लक्षण पञ्चरात्र[2] धर्म मे मिलते है, जिसका वर्णन महाभारत मे आया है। किन्तु महाकाव्य मे विष्णु के प्रतिद्वन्द्वी शिव है, यद्यपि विष्णुपुराण मे विष्णु की सर्वश्रेष्ठता मानी गई है। हरिवंश मे विष्णु के सम्प्रदाय का समर्थन किया गया है। भावगत पुराण (६०० ईस्वी) भागवत सम्प्रदाय के ऊपर बल देता है जिसका मुख्य आधार कृष्ण है। इसकी भक्ति भावनास्वरूप है एवं ईश्वर तथा आत्मा के परस्पर सम्बध का प्रतीक पुरुष और कन्या का सबन्ध है। नानाघाट के शिलालेख से यह स्पष्ट है कि भागवत सम्प्रदाय ने दक्षिणभारत मे ईसाई युग की प्रथम शताब्दी से कुछ समय पूर्व मे अपना स्थान बनाया। भागवत में आता है कि कलियुग मे दक्षिण भारत में नारायण के उपासक सख्या मे अधिक होगे।[3] आलवार कहलाने वाले सन्त कवियो के (जिनमे से बारह की प्रामा-

१. विष्णोः परमं पदम्। ऋग्वेद, १ : २२, २०। २. इण्डियन फिलासफी, प्रथम खण्ड, पृष्ठ ४६०, ४६६-६६।

३. १० : ५. ३८-४०।

णिकता मानी गई है) श्लोक नालायिरप्रबन्ध' के नामसे प्रसिद्ध है।[1] आलवारो मे एक महिला, अनेक शूद्र तथा एक राजकुमार भी है। उनके उत्तराधिकारी आचार्य हुए अर्थात् ऐसे धर्मशास्त्रविद्, जिनका मुख्य उद्देश्य एक शरीरधारी ईश्वर की पूजा उस ईश्वर की रक्षक अनुकपा मे विश्वास रखनेवाले के लिए किसी दार्शनिक आधार की स्थापना करना था। रामानुज से पूर्व जो शिक्षक हुए उनमे मुख्य नाथमुनि और आलवदार अथवा यामुनाचार्य है। कहा जाता है कि नाथमुनि (दसवी शताब्दी) ने, जो आलवारो के अन्तिम गुरु के शिष्य थे, आलवारो के छन्दो को क्रमबद्ध किया। 'न्यायतत्त्व' तथा 'योगरहस्य' उनके द्वारा रचित बताए जाते है। यामुनाचार्य ने वैष्णव आगमो की रक्षा के लिए कठिन परिश्रम किया तथा यह सिद्ध करने की चेष्टा की कि उनका आशय वेदो ही के समान है। उनके मुख्य ग्रथ यह है आगमप्रामाण्य, महापुरुषनिर्णय, सिद्धित्रयम्, गीतार्थसग्रह, चक्षु श्लोकी और स्तोत्ररत्न। वैष्णवो के पवित्र साहित्य का प्राय उभयवेदान्त के नाम उल्लेख किया गया है 'क्योकि उसमे 'सस्कृत प्रस्थानत्रय तथा 'तमिलप्रबन्धम्' भी सम्मिलित है। एक लम्बे समय से यह परम्परा प्रचलित रही है कि आलवारो के छन्दो तथा वैदिक धर्मग्रथो का मत एक समान है। शङ्कर के अद्वैतवाद ने किसी मत के साथ समझौता नही किया अतएव रामानुज के लिए यह आवश्यक होगया कि वे वेदो के आस्तिक्यपूर्ण विचारो को दोहराते। उनका कहना है कि बोधायन की वृत्ति मे जो विचार प्रकट किए गए है वे केवल उन्हीका विकास कर रहे है। वे अपने समान विचार रखने वाले अन्य शिक्षको का भी उल्लेख करते है, यथा टका, द्रमिड[2], गुहदेव, कपर्दिन् और भारुचि[3]। शङ्कर ने रामानुज के द्वारा दी गई जिस आस्तिक

१. यह संग्रह, जिसमे चार हजार छन्द (नालायिरम) है, चार भागो मे विभक्त किया गया है। पहले भाग मे, जिसे मुदलायिर कहते है, नानाविध सन्तो यथा पेरिआलवार और साध्वी आण्डाल की वाणिया दी गई है। दूसरा भाग, जिसका नाम पेरियातिरुमयी है, तिरुमगाई का ग्रथ है : और तीसरा नम्मालवार का प्रसिद्ध तिरुवायमयी है। चौथा भाग यद्यपि पहले ही के समान एक विविध भाग है। नम्मालवार का तिरुवायमयी वेदों का तमिल रूपान्तर है। तुलना कीजिए, "वेदंतमिनिशेयदमारन्," और भी—

कर कलियुगे प्राप्ते नास्तिकै कलुषीकृते।
विष्णोरशाशसम्भूतो वेदवेदार्थतत्त्ववित ॥
स्तोत्रं वेदमयं कर्तुम् द्राविड्यापि च भाषया।
जानिष्यति मता श्रेष्ठो लोकाना हितकाम्यया ॥ (भविष्यपराण)

'तिरुवायमयी' के विषय मे नाथमुनि कहते है, "सहस्रशाखोपानषत् समागमम द्राविड वेदसागरम्।" तिरुवायमयी का मुख्य उद्देश्य परम यथार्थसत्ता, जीवात्मा, सर्वोपरि ब्रह्म के साथ इसका सम्बन्ध, निषिद्ध का विनाश तथा श्रेय का ग्रहण—इन पाच विषयो (अर्थपंचकम्) का विशदीकरण है।

२. आनन्दगिरि के अनुसार, शकर ने अपनी छान्दोग्य उपनिषद् की टीका (३ : १०. ४) में उक्त लेखक का उल्लेख किया है।

३. वेदार्थसंग्रह।

परम्परा पर बल दिया है और उसकी प्राचीनता को स्वीकार किया है। तदनुसार हम कतिपय आस्तिकवादी उपनिषदो, महाभारत के उन भागो जिनमे नारायणीय विभाग सम्मिलित है, भगवद्गीता, विष्णुपुराण, वैष्णव आगमो, तथा आलवारो और आचार्यों के ग्रन्थो को भी रामानुज के दर्शन का पूर्ववर्ती साहित्य मान सकते है। उनके अपने मुख्य ग्रन्थो मे उपनिषदो, गीता और ब्रह्मसूत्र का वैष्णव सन्तों के विश्वासो तथा मतों के साथ समवन्य करने का प्रयत्न किया गया है। यद्यपि उनकी मौलिकता तथा स्वतन्त्र विचार किस सीमा तक है, यह निर्णय करना सरल कार्य नही है तो भी इतना तो कहना ही होगा कि ब्रह्मसूत्र मे एकेश्वरवाद के आधार को ढूंढ निकालने के के लिए श्री भाष्य मे किया गया उनका प्रयत्न उनके पूर्व किए गए अन्य सब प्रयत्नो की अपेक्षा श्रेष्ठ था।[1] रामानुज का मत उनके अनेक पूर्ववर्ती तथा परवर्ती विद्वानो की अपेक्षा कही अधिक दार्शनिक तथा सयत है। उन्होने वेदो के कर्मकाण्ड तथा विधि-विधान का निषिद्ध ठहराने चिता कही प्रकट नही की और न पुराणो की गाथाओ को ही अधिक महत्त्व प्रदान किया। उनका मुख्य उद्देश्य भक्ति के द्वारा मोक्ष-प्राप्ति के सिद्धात का प्रचार करना तथा यह सिद्ध करना था कि उपनिषदो, गीता और ब्रह्मसूत्र की मुख्य शिक्षाए भी इसीका प्रतिपादन करती है। सुदर्शन भट्ट की श्रुतप्रकाशिका रामानुज के भाष्य के ऊपर एक सुप्रसिद्ध टीका है।

तेरहवी शताब्दी के लगभग तेंगलायियो (दक्षिणी सम्प्रदाय) और बडगलाइयो (उत्तरीय सम्प्रदाय) के बीच मे भेद-भाव बहुत बढ गया। तेंगलायी लोग तमिलप्रबन्धम् को शास्त्रीय मानते है तथा सस्कृत परम्परा के प्रति उदासीन है। बडगलायी लोग दोनो को एक समान प्रामाणिक मानते है। तेंगलायी लोग 'दोष-भोग्य' के भयङ्कर सिद्धात को मानते है जिसके अनुसार ईश्वर पाप का फल भोगता है क्योकि वह अपनी कृपा के प्रदर्शन के लिए एक विस्तृत क्षेत्र चाहता है।[2] बडगलायी लोग तमिल की अपेक्षा सस्कृत का अधिक उपयोग करते है और लक्ष्मी-विषयक अपने विचार मे शास्त्रो के ईश्वरवाद के तत्त्वो को सम्मिलित करते है।[3]

पिल्लई लोकाचार्य तेंगलायी सम्प्रदाय के प्रधान प्रतिनिधि है। उनकी शिक्षा है कि ईश्वर की कृपा का मिलना आवश्यम्भावी है और उसे केवल

१ कीथ : 'इन्साइक्लोपीडिया आफ रिलिजन एण्ड एथिक्स', खण्ड १०, पृष्ठ ५७२।

२ देखें, ऑस्कर वाइल्ड-कृत 'द प्रोफन्डिस' "ऐसा प्रतीत होता है कि ईसामसीह अपने अन्त करण की किसी दैवीय प्रेरणा के कारण पापी से प्रेम करता था क्योकि उसकी दृष्टि मे यह मनुष्य के अन्दर पूर्णता को प्राप्त करने का सबसे निकट का सम्भव उपाय था एक ऐसे रूप मे जिसे अभी नही समझा जा सका है। वह संसार के पाप और दु ख को अपने आप मे सौन्दर्ययुक्त तथा पवित्र वस्तु एव पूर्णता के प्रकार मानता है।"

३ उनका विश्वास है कि विष्णु की पत्नी भी विष्णु के समान अजन्मा है और उसकी भी विष्णु के समान ही पूजा होनी चाहिए, क्योंकि वह भी वरदान देने वाली है, इसके विपरीत

भक्ति के द्वारा ही नही अपितु निष्क्रिय आत्म-समर्पण (प्रपत्ति) के द्वारा भी प्राप्त करना चाहिए। विचारको के इस सम्प्रदाय ने धार्मिक गुरु (आचार्य) के प्रति पूर्णरूपेण आत्म-समर्पण पर समूचा बल दिया है। यह मानना पडेगा कि यह शिक्षा बिलकुल वैसी नही है जैसी क्रियात्मक तथा विचारपूर्वक भक्ति की शिक्षा रामानुज ने दी। लोकाचार्य अठारह ग्रथो के रचयिता है जिन्हे रहस्य का नाम दिया गया है और जिनमे से मुख्य दो है अर्थपञ्चक और तत्त्वत्रय। मणवाल महामुनि तेंगलायियो के मुख्य मन्त है।

वेदान्तदेशिक अथवा वेकटनाथ (१३वी शताब्दी), जो रामानुज के प्रधान उत्तराधिकारियो मे अन्यतम है, वादगलायी सम्प्रदाय के सस्थापक है। वे यद्यपि थे ता काजीवरम् के निवासी तो भी उन्होने अपने जीवन का मुख्य भाग श्रीरगम् मे व्यतीत किया। उन्होने यद्यपि अनेक विषयो पर कई ग्रथ लिखे किन्तु उनके मुख्य दार्शनिक ग्रथ है : परमतभग, और रहस्यत्रयसार, जो तमिल भाषा मे है। उनके पचरात्र-रक्षा तथा सच्चरित्ररक्षा मे पचरात्र सम्प्रदाय के सिद्धान्तो व क्रियाओ का प्रतिपादन किया गया है। उन्होने श्रीभाष्य पर तत्त्व-टीका नाम की एक टाका तथा गीता पर रामानुज की टीका के ऊपर तात्पर्य-चन्द्रिका नाम की एक टीका लिखी। उनकी सेश्वरमीमासा मे पूर्व तथा उत्तर-मीमासा को एक ही सम्पूर्ण इकाई के अश माना गया है और उसमे उन्होने तक उपस्थित किया है कि कर्म बिना दैवीय प्रेरणा के फल नही दे मकता। उनके 'न्यायसिद्धाजन' और 'तत्त्वमुक्ताकलाप' नामक ग्रथ 'सर्वार्थसिद्धि' टीका सहित उपयोगी ग्रथ है। उनके विवादात्मक ग्रथ 'शतदूषणी' के ऊपर भी, जो अद्वैत दर्शन पर आक्षेपपरक है, एक रहस्यसूचक टीका 'चण्डमारुत' नाम की थी (जिसका समय सत्रहवी शताब्दी है)। श्रीनिवास आचार्य की 'यतीन्द्रमत-दीपिका' सत्रहवी शताब्दी का एक महत्त्वपूर्ण ग्रथ है। अप्पयदीक्षित ने, यद्यपि वे शैवमत के अनुयायी थे, वैष्णव मत की कई पुस्तको पर टीका लिखी है।[1] रगरामानुज ने (जो अठारहवी शताब्दी मे हुए) उपनिषदो के ऊपर रामानुज के अस्तिवाद के पक्ष मे टीकाए लिखी है। रामानुज का प्रभाव हिंदू धर्म के परवर्ती इतिहास मे बराबर पाया जाता है। मध्व, वल्लभ, चैतन्य, रामानन्द, कबीर और नानक द्वारा प्रचारित धार्मिक आन्दोलन तथा बगाल का ब्राह्म धर्म का सुधारवादी सगठन रामानुज के ईश्वरवादी आदर्शवाद के बहुत-कुछ ऋणी है।

तेंगलाई लोग उसे ईश्वर द्वारा उत्पन्न मानते है, और यद्यपि वह दैवीय है फिर भी केवल प्रभु की कृपा को प्राप्त करने का माध्यम है। देखें, गोविन्ददासस्वामी-कृत 'अष्टादशभेद', 'जर्नल आफ रॉयल एशियाटिक सोसाइटी', १९१०।

१. कांजीवरम की एक पण्डित-सभा मे उन्होंने कहा कि मै शिव तथा विष्णु मे कोई भेद नहीं पाता, और इसलिए वे शिव के ही भक्त बराबर बने रहे।

महेश्वरे वा जगताम् अधीश्वरे जनार्दने वा जगदन्तरात्मनि।
न वस्तुभेदप्रतिपत्तिरस्ति मे तथापि भक्तिस्तरुणेन्दुशेखरे॥

६

भास्कर

भास्कर ने ब्रह्मसूत्र पर 'भास्करभाष्य' नामक एक टीका ईसा के लगभग ६०० वर्ष पश्चात् लिखी।[1] यह साम्प्रदायिक ग्रथ नही है और न तो यह शकर के विचारो का ही समर्थन करता है और न पचरात्र वैष्णवो के विचारो का। भास्कर भेदाभेदवाद का मानने वाले है, जिस सिद्धात के अनुसार एकता तथा अनेकता एक समान है।[2] ब्रह्म विशुद्ध चेतनता का भेदभाव-शून्य पुञ्ज नही है किंतु समस्त पूर्ण इकाइयो को अपने अदर धारण करता है। ब्रह्म की कारणावस्था एकत्व है एव उसीकी विकास प्राप्त अवस्था बहुत्व की अवस्था है।[3] वस्तुएं अपने कारणात्मक तथा उत्पादक रूपो मे अभेदसूचक है अथच कार्य और व्यक्तिगत रूप मे भेदसूचक है। जिस प्रकार अग्नि घास को मिटा देती है, उस प्रकार अभेद भेद को मिटा नही देता। दोनो ही एक समान यथार्थ है। भास्कर यथार्थ विकास (परिणाम) मे विश्वास रखते है।[4] भ्रान्तिविषयक कल्पना को वे अप्रामाणिक मानते है और उनके मत मे यह विचार बौद्ध धर्म के प्रभाव से आया है।[5] उनका मत है कि भौतिक जगत् की यथार्थ सत्ता है यद्यपि तात्त्विक रूप मे इसका स्वरूप वही है जो ब्रह्म का है। जब प्रकृति ब्रह्म के ऊपर प्रभाव डालती है तो इसका कार्य शरीर तथा इन्द्रियो के आकार मे उसको सीमाबद्ध करने वाले उपसहायक का है और इस कार्य से ही व्यक्तिरूप जीवात्माओ का उदय होता है। वे उपाधियो की यथार्थता स्वीकार करते है और उनका कारण अविद्या को नही मानते। जीव और ब्रह्म स्वभावत: एक ही है और इसका ब्रह्म मे भेद उपाधियो के कारण है।[6] जीवो का ब्रह्म के साथ क्या सम्बन्ध है इसके दृष्टान्त के लिए कहा जाता है कि जैसे चिनगारियो (स्फुलिगो) का सम्बन्ध अग्नि से है। ससार का जीवन ब्रह्म और उपाधियो मे परस्पर असामजस्य के कारण ही है। धर्म तथा पवित्रता के द्वारा हम दोनो मे भेद कर सकते है और तब हम सुरक्षित हो सकते है। भास्कर का मत है कि ब्रह्म वस्तुतः दु:ख भी भोगता है और जीवात्माओ के समान पुनर्जन्म भी धारण करता है। उनके अनुसार धर्म ज्ञान का एक आवश्यक अग है जिसका परिणाम ही मोक्ष है। वे

१. उनके विचारों पर उदयन ने अपनी कुसुमाञ्जलि में, जिसका निर्माणकाल ६८० वर्ष ईसा के पश्चात् का है, आक्षेप किए है।

२. इसकी समालोचना के लिए देखें, ब्रह्मसूत्र पर रामानुजभाष्य, १ : १. ४।

३. कार्यरूपेण नानात्वम्, अभेदः कारणात्मना। १ : १.४ के ऊपर भास्कर।

४. भास्करीयस्तु चिदचिदंशाविभक्तं ब्रह्म द्रव्यम् अचिदंशेन विक्रीयते (सर्वार्थसिद्धिः, ३ : २७)।

५. माहायानिकबौद्धगाथितं मायावादम। १ : ४ २५ के ऊपर भाष्य।

६. जीवापरयोश्च स्वाभाविकोऽभेदः औपाधिकस्तु भेदः। ४ : ४.४ के ऊपर भास्कर। और भी देखें, ४ : ४.१५. २ : ३.१८।

रामानुज के मत को स्वीकार करते हैं, अथवा इसे अधिक सही रूप में ज्ञान-कर्म-समुच्चय, अथवा कर्म और ज्ञान का सयोग, कहना चाहिए।

७

यादवप्रकाश

यादवप्रकाश ने, जो कुछ समय तक रामानुज के गुरु थे और जो काजीवरम् मे ११वी शताब्दी (ईसा के पश्चात्) मे हुए, एक स्वतन्त्र टीका लिखी थी, जिसका झुकाव अद्वैतपरक व्याख्या की ओर था। उन्होने ब्रह्म परिणामवाद को स्वीकार किया है। उनका मत है कि ब्रह्म वस्तुत. चित् (आत्मा), अचित् (प्रकृति) और ईश्वर के रूप मे परिणत होता है। यदि ईश्वर को भी चित् की ही श्रेणी मे ले आए, तब दोनो चेतन और अचेतन स्वरूप केवल मात्र अवस्था मे भिन्न रहते है (अवस्था-भेद), और एक ही द्रव्य की भिन्न-भिन्न अवस्थाए है किन्तु द्रव्य अपने-आपमे भिन्न नही है। उनके सिद्धात को 'भेदाभेद' सज्ञा दी गई है जिसका अर्थ है कि एक ही समय मे भेद और अभेद दोनो है। ब्रह्म परिवर्तन मे से गुजरते हुए भी अपनी विशुद्धता को नही खोता। यादव को इस कथन मे कोई भी परस्पर-विरोध नही प्रतीत होता कि एक ही पदार्थ भिन्न भी हो सकता है और उसी समय मे अपने से अभिन्न भी हो सकता है। उनका कहना है कि सब पदार्थ सर्वदा अपने को इन दोनो भिन्न-भिन्न पार्श्वो मे प्रस्तुत करते है। वे अभिन्नता प्रस्तुत करते है, जहा तक उनके कारण तथा जातिगत सम्बध की अवस्था है, एव वे भिन्नता को प्रस्तुत करते है, जहा तक उनकी कार्यावस्था तथा व्यक्तित्व के लक्षणो का सम्बध है। इस प्रकार ब्रह्म तथा जगत् दोनो भिन्न भी है और अभिन्न भी।[1] जहा एक ओर भास्कर का मत है कि ब्रह्म एक प्रकार मे परिमित शक्ति वाली आत्माओ का भी अनुभव प्राप्त करता है, यादव का तर्क है कि ब्रह्म सदा अपनी पुरातन गौरवपूर्ण स्थिति को बनाए रखता है।[2] यदि हम यह समझे कि तीनो, अर्थात् ईश्वर आत्मा और प्रकृति, परम निरपेक्ष यथार्थ सत्ताए है और ब्रह्म के परिणाम-स्वरूप नही है, तो हम भ्रम मे रहते है। ब्रह्म ही एकमात्र यथार्थ सत्ता है और शेष सब-कुछ ब्रह्म से ही उत्पन्न हुआ है। यादव की दृष्टि मे भेद उतने ही यथार्थ हैं जितना कि एकत्व, किंतु भास्कर की दृष्टि मे भेद उपाधि के कारण है और ये उपाधिया निःसदेह यथार्थ है किंतु एकत्व परमनिरपेक्ष सत्य है। ससार इससे अधिक और कुछ नहीं है कि यह जीवन इस भ्रमात्मक ज्ञान के आधार पर स्थित है कि चित्, अचित् और ईश्वर परमरूप मे भिन्न-भिन्न है। इस भ्रमात्मक ज्ञान के दूर करने के लिए कर्म एव ज्ञान दोनो ही उपयोगी है।

१. सर्वार्थसिद्धि, ३ : २७।
२. १ : १.१७ के ऊपर भास्कर।

रामानुज इस आधार पर कि ब्रह्म तथा ईश्वर के मध्य भेद करना अप्रामाणिक है, यादव के विचार का विरोध करते है। ईश्वर से परे और कुछ नही है और ईश्वर को केवलमात्र ब्रह्म का परिणाम ही नही समझना चाहिए। शक्तियों अथवा ईश्वर, आत्माओ एव प्रकृति की क्षमताओ का सम्बध, शक्त्याश्रय रूप मे ब्रह्म के साथ सर्वथा स्पष्ट नही है।

८

ज्ञान के साधन

रामानुज प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द-प्रमाण को ज्ञान के प्रामाणिक साधन मानते है और अन्य साधनो के प्रति वे उदासीन है। उनके अनुयायी उक्त सूची मे एक या दो और जोड देते है। प्रत्यक्ष का विषय वह है जो भेद के द्वारा प्रतीत होता है और जिसमे सामान्य लक्षण, जिनसे उसकी आकृति का निर्माण होता है, विद्यमान है।[1]

रामानुज सविकल्प तथा निर्विकल्प प्रत्यक्ष के अदर जो भेद है उसे स्वीकार करते है। निर्विकल्प प्रत्यक्ष न तो एक ऐसे पदार्थ का बोध है जिसके अदर अन्य पदार्थों से नितात भेद का ज्ञान हो गया है और जो विशुद्ध सत् है, और न ही एक सोपाधिक पदार्थ तथा उसके लक्षणो का बोध है जो परस्पर असम्बद्ध है। यह पूर्व श्रेणी का नही है क्योकि पदार्थों का बोध सब प्रकार के भेद-भाव के तत्त्वो से सर्वथा शून्य रूप मे करना असम्भव है। चेतनता का अनिवार्य स्वरूप भेद करना है और हम बिना उसके विशेष लक्षणो का बोध प्राप्त किए किसी पदार्थ का बोध ग्रहण नही कर सकते। समस्त पदार्थों का ज्ञान पदार्थ के किसी न किसी विशेष गुण से मिश्रित ही होता है।[2] क्योकि सविकल्प प्रत्यक्ष मे भी केवल वे गुण ही, जिनका बोध निर्विकल्प प्रत्यक्ष मे हुआ था, स्मरण होते है। दोनो के बीच मे भेद इतना ही है कि निर्विकल्प प्रत्यक्ष मे हम एक व्यक्ति को सबसे पहले देखते है और यद्यपि हम उसके वर्गगत स्वरूप का बोध करते है हमे इस विषय का निश्चय नही होता कि अमुक लक्षण उक्त वर्ग के अन्य व्यक्तियो मे भी सामान्य रूप मे पाया जाता है या नही।[3] किंतु जब हम उसी व्यक्ति को दूसरी तथा तीसरी बार देखते है तो हम उस जातिगत लक्षण के समस्त वर्ग के अदर समान रूप से विद्यमान होने का ज्ञान प्राप्त कर लेते है।

रामानुज की दृष्टि मे केवल व्यक्ति ही यथार्थ सत्ता रखते है, वर्ग अथवा श्रेणीगत तत्त्व नाम की कोई वस्तु उनके अदर विद्यमान नही होती, यद्यपि व्यक्तियो के अदर

१. तत्त्वमुक्ताकलाप, ३ : २८।

२. बाह्य गुणों का तो प्रत्यक्ष हो जाता है। जब हम किसी शब्द को सुनते है तो कानों की वृत्ति बाहर की ओर होती है। वायु इंद्रियों का विषय है। प्रकाश का ज्ञान स्पर्श तथा चक्षु इन्द्रिय के द्वारा हो सकता है, भले ही वह ज्ञान गन्धविहीन हो।

३. सविशेषवस्तु विषयत्वात् सर्वप्रमाणानाम् (१ : १ १)।

४. तत्त्वमुक्ताकलाप, ४ : ३२।

सादृश्य होता है किंतु वह उसके अंशों की व्यवस्था अर्थात् संस्थान है। हम उस सादृश्य-रूपी तथ्य से अपना एक सामान्य प्रत्यय बना लेते हैं। वह सादृश्य ही है जो कि उसी शब्द के प्रयोग का आधार है।[1] वेदान्तदेशिक तर्क करता है कि भेद अपने-आप में किसी भांति भी उस तथ्य से संबद्ध नहीं है जिसे यह भिन्न करता है। तदनुसार प्रत्यक्ष हमें तथ्य का ज्ञान भी कराता है और भेद भी बताता है।[2] वे दोनों एक-दूसरे का निर्णय नहीं करते और एक-दूसरे के ऊपर निर्भर नहीं हैं। वे तब एक-दूसरे का निर्णय करते हुए प्रतीत होते हैं जब उन्हें परस्पर संयुक्त करने की आवश्यकता प्रतीत होती है। किंतु यदि हम इस सबको मान भी लें तो भी किस प्रकार कोई भेद कुछ भी भिन्नता प्रकट नहीं कर सकता, यह समझना कठिन है।[3]

रामानुज के अनुयायी योग द्वारा प्राप्त प्रत्यक्ष को ज्ञान का निरपेक्ष साधन स्वीकार नहीं करते। प्रत्येक इन्द्रिय अपने विषय का विशेष क्षेत्र रखती है, और वह चाहे कितनी ही प्रशिक्षित क्यों न हो, अन्य इन्द्रियों के विषयों का ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकती। कान देखने का कार्य नहीं कर सकता और न आंख सुन सकती है। यदि योग द्वारा प्राप्त प्रत्यक्ष इन्द्रियों के द्वारा कार्य करे तब यह इन्द्रिय प्रत्यक्ष से भिन्न नहीं है; और यदि यह सब प्रकार के अनुभव से स्वतंत्र है तब यह अप्रामाणिक है।

स्मृति को प्रामाणिक माना गया है और इसे पृथक् स्थान दिया गया है। हम इसे प्रत्यक्ष ज्ञान की कोटि में नहीं रख सकते, केवल इसलिए कि समस्त स्मरण-विषयक ज्ञान प्रत्यक्ष ज्ञान की पूर्व कल्पना कर लेता है क्योंकि उस अवस्था में अनुमान को भी, जो प्रत्यक्ष ज्ञान को पूर्व से मान लेता है, प्रत्यक्ष की कोटि में रखना पड़ेगा।

अनुमान ऐसा ज्ञान है जो एक सामान्य सिद्धांत से निकाला जाता है। वस्तुतः एक ही घटना सामान्य सिद्धान्त को सुझाने वाली हो सकती है। एक से अधिक बार की घटनाएं हमें संदेह के निवारण में सहायता करती है। तर्क के द्वारा अथवा परोक्ष प्रमाण के द्वारा तथा विधि और निषेधात्मक दोनों प्रकार की घटनाओं से हम गौण विषयों को हटाकर सामान्य नियम की स्थापना करते है।[4] अवयवघटित वाक्य में तीन अवयव होते है अर्थात् न्याय के पञ्चावयव-घटित वाक्य के या तो पहले तीन या पिछले तीन अवयव। उपमान प्रमाण को स्वतंत्र प्रमाण नहीं माना गया है क्योंकि यह मानो स्मृति की अवस्था है अथवा अनुमान की अवस्था है। अर्थापत्ति और सम्भव को भी अनुमान की कोटि में ही ले लिया गया है।

रामानुज धर्मशास्त्र की प्रामाणिकता को स्वीकार करते हैं। सर्वोच्च यथार्थ सत्ता, जो जगत् का एकमात्र कारण है, ज्ञान के अन्य साधनों का विषय नहीं हो सकती,

१. इसकी जैनमत से तुलना कीजिए।

२. सर्वार्थसिद्धि, ५ : १४।

३. अभाव को प्रत्यक्ष का विषय कहा जाता है क्योंकि किसी वस्तु की अनुपस्थिति का तात्पर्य यह है कि वह अन्यत्र कहीं उपस्थित है। अनुपलब्धि से हमें यह ज्ञान होता है कि चेतनता के वे विषय, जिनके साथ वह सम्बद्ध होती है, सर्वथा विद्यमान नहीं रहते (१ : १.१)

४. सर्वार्थसिद्धि, ४ : ४७।

किंतु केवल शास्त्रों के द्वारा ही जानी जा सकती है।[1] ब्रह्म प्रत्यक्ष का विषय नहीं है।[2] अनुभव द्वारा प्राप्त कोई भी व्याप्ति (सामान्य नियम) न तो ब्रह्म की यथार्थता को सिद्ध ही कर सकती है और न उसे असिद्ध ही कर सकती है।[3] उसकी यथार्थता, जिसकी ओर बुद्धि संकेत करती है, एक ऐसे क्षेत्र मे विद्यमान रहती है जिसे परिमित शक्तिवाली बुद्धि के द्वारा वस्तुतः देखा या समझा जा सकता है। अतीन्द्रिय विषयो का ज्ञान प्राप्त करने के लिए हमारे पास धर्मशास्त्र ही एकमात्र साधन है यद्यपि शास्त्र के समर्थन मे तर्क का उपयोग किया जा सकता है।[4] वेद नित्य है, क्योकि हरएक सृष्टि के युगारम्भ मे केवल ईश्वर ही उनका व्याख्यान करता है। स्मृतिया तथा महाकाव्य वेदो के अन्तर्गत विचारो का ही भाष्य करते है। और इसलिए वे भी प्रामाणिक है। पञ्चरात्र आगमो का भी प्रामाणिक माना जा सकता है क्योकि उनकी उत्पत्ति दैवीयशक्ति वासुदेव मे हुई है।[5] ऐतिह्य अथवा परम्परा यदि वे सत्य है तो वे भी आगमज्ञान का विषय है।[6]

रामानुज स्वीकार करते है कि विचार अपने आप मे हमे यथार्थता का साक्षात् ज्ञान नही करा सकते। यहा तक कि वेद भी हमे केवल परोक्ष ज्ञान ही प्रदान करते हैं। केवल शास्त्रो के शब्दो का समझ लेने मे भी कुछ अधिक की आवश्यकता होती है। यथार्थता का साक्षात्कार, जो इसका तर्क सिद्ध ज्ञान नही है, ऐसी समाधि मे ही सम्भव है जो भक्ति का रूप धारण करती हो।[7] वामदेव तथा अन्यो ने भी एक ऐसे ब्रह्म का साक्षात्कार किया जिसमे भौतिक एव अभौतिक पदार्थ थे और जिनके कारण उसकी अवस्थाओ मे भेद प्रकट होता था।[8] इन उच्चतम ज्ञान मे आत्मा के अपरिज्ञानशील तत्त्व भी सम्मिलित हैं। यथार्थता के स्वरूप को ढूढ निकालने के लिए मन के पास अन्य उपाय भी है, और उक्त सब साधन (उपाय) अपने अन्तिम उद्देश्य की सिद्धि तथा आदिम स्रोत के सम्बन्ध मे परस्पर सम्बद्ध है।

सत्य का यथार्थ रूप मे अनुभव करने के लिए मन को अपने समस्त साधनो का प्रयोग करना चाहिए और अपने जीवन के उच्चतर स्तर पर कार्य करना चाहिए। मन अपने पूर्णतम विस्तार मे तर्क तथा भावना दोनो से आवृत रहता है। यह बिलकुल सत्य है कि अनुचित भावनाए भी है, जैसे मिथ्याबोध हैं। और यह भी सत्य है कि निम्नतर स्तर पर भावनाए अकेली पड जाती है, और यही हाल बोधो का है। किंतु चूंकि बोध व्यवस्थित होते है, उसी प्रकार से भावनाए भी परिवर्तित तथा नियंत्रित की जा सकती है, अर्थात् युक्तिसम्मत बनाई जा सकती है। चूकि वह विषय जिसके सम्बन्ध मे अतर्ज्ञान

१. १ : १, १ २. १ : १, ३ ३. १ : २, २३।

४. २ : १, १२। यामुनाचार्य अपने प्रतिपक्षी मतवादों मे निपटने के लिए एक सर्वथा युक्तिपूर्ण विचार का आश्रय लेते है। अपने प्रतिपक्षी के कथन को अस्वीकार करते हुए वे कहते है "यह सारी शिक्षा अन्धविश्वासियों के लिए तो महत्त्वपूर्ण हो सकती है लेकिन हम ऐसे भोले-भाले नही है और इसलिए हमे निश्चय दिलाने के लिए तर्क की आवश्यकता है" (सिद्धित्रय, पृष्ठ ८८)।

५. तत्त्वमुक्ताकलाप. ४ : १२१।

६. यदि मिथ्या है तो वह आगमाभास है।

७. ब्रह्मसूत्र पर रामानुजभाष्य, ३ : २, २३। ८. ३ : २, २४

किया जाता है प्रत्यक्ष रूप मे प्रस्तुत नही किया जाता, इसलिए अन्तर्ज्ञान का स्वरूप परोक्ष अथवा आदर्श श्रेणी का होता है। तो भी जहा तक इसकी तात्कालिकता तथा विशदता का सम्बन्ध है यह प्रत्यक्ष ज्ञान से हीनतर नही होता।[1] जैसा कि हम आगे चलकर देखेंगे, दैनिक प्रार्थना तथा पूजा के पुरस्कारस्वरूप यह अन्तर्ज्ञान दैवीय कृपा के कारण उपजता है। यह धार्मिक अनुभव अथवा अनन्त का तात्कालिक अनुभव है। जीवात्मा परमतत्त्व के सायुज्य मे है।

यदि समस्त ज्ञान यथार्थ सत्ता का ही है[2] तो यह कैसे होता है कि हमारा ज्ञान कभी-कभी वस्तुओ के साथ साम्य नही रखता ? मिथ्या प्रत्यक्ष मे प्रकट होने वाला पदार्थ भ्रांतिमय न होकर यथार्थ है क्योकि 'पचीकरण' के सिद्धान्त के अनुसार, भौतिक जगत् के समस्त पदार्थ सयुक्त द्रव्य है जो नानाविध अनुपातो मे पाच तत्त्वो को अपने अन्दर धारण किए हुए है। "यह कि एक वस्तु को 'चादी' कहते है और दूसरी को 'सीप' इसका कारण यह है कि किसीमे किन्ही तत्त्वो की कमी है तो अन्य वस्तु मे अपेक्षाकृत अधिकता है। हम देखते है कि सीप चादी के समान होती है, इस प्रकार प्रत्यक्ष स्वय हमे सूचित करता है कि चादी के कुछ तत्त्व सीप म वस्तुत वर्तमान है।" समानता कुछ अशो मे पदार्थ की आशिक एकता की द्योतक है। हम मृगतृष्णिका में पानी देखते हैं केवल इसलिए चूकि प्रकाश तथा रेत के कणो म पानी विद्यमान रहता है। जब सफेद रग का शख एक ऐसे पुरुष को जो आखो के पीलिया रोग मे पीडित है पीला प्रतीत होता है, उस समय आखो मे का पीलापन आख रूपी इन्द्रिय की किरणो के साथ-साथ शख मे सक्रमित हो जाता है और शख के ऊपर का सफेद रग धुधला हो जाता है। यह कल्पना भले ही कितनी ही अवैज्ञानिक क्यो न हो इससे यह प्रदर्शित होता है कि रामानुज अपने इस मत को कि ज्ञान सदा यथार्थ वस्तु का होता है त्यागने के लिए उद्यत नही है। स्वप्नो मे भी ईश्वर व्यक्ति विशेष की प्रसन्नता अथवा दुख के लिए, जैसे भी उसके पुण्य अथवा पाप कर्म हो उनके अनुसार, वस्तुओ की रचना करता है।[3] ईश्वर "जब समस्त जगत् की रचना करता है, जिसका उद्देश्य भी प्राणियो के अच्छे और बुरे कर्मों का उचित फलोपभोग कराना है, तब कुछ ऐसी वस्तुओ का निर्माण करता है जिनका स्वभाव चेतनता के सामान्य पदार्थो के रूप में है एव कुछ अन्य ऐसी वस्तुओ का निर्माण करता है जो केवल विशेष-विशेष व्यक्तियो के द्वारा ही देखी जा सकती है और जो एक परिमित समय तक ही विद्यमान रहती है। यह उन वस्तुओ के परस्पर का भेद है जो सामान्य चेतनता का विषय है और दूसरी वे वस्तुए जो ऐसी नही है और यही कारण है जिससे 'अस्वीकार करने वाली वस्तुओ तथा 'अस्वीकृत वस्तुओ मे भेद होता है।"[4] यह सोचना भूल है कि कुछ बोधो के विषय मिथ्या पदार्थ हैं और दूसरो के विषय सत्य पदार्थ है।

१. ब्रह्मसूत्र पर रामानुजभाष्य, ३ : ४, २६।
२. सर्वं विज्ञानजातं यथार्थम् (१ : १, १)।
३. और भी देखें, ब्रह्मसूत्र पर शांकरभाष्य, ३ : २, ५, और ६।
४. १ : १, १।

रामानुज के मत से ऐसा प्रतीत होता है कि सब प्रकार की भूल का समाधान हो जाता है। यह ठीक है कि उनका मत है कि समस्त ज्ञान यथार्थ का ही होता है किन्तु उनका तात्पर्य यह भी नही है कि ज्ञान समस्त यथार्थ सत्ता का होता है। हमारा ज्ञान प्राय: अपूर्ण तथा आंशिक होता है। जब हम सीप के एक टुकडे को भूल से चादी समझ बैठते हैं तो हम कुछ लक्षणो को तो लक्ष्य करते है और अन्यो का लक्ष्य करना छोड देते है। पीले शख की भ्रान्ति मे हम शख की सफेदी को लक्ष्य करना छोड देते है। स्वप्नकाल के अनुभवो मे हम इस तथ्य को दृष्टि से ओझल कर देते है कि स्वप्नगत पदार्थ व्यक्तिगत है जो केवल स्वप्नद्रष्टा से ही सम्बन्ध रखते है, अन्यो से नही। यहा तक कि जिसे हम सत्य ज्ञान समझते है उसके ऐसे बहुत कुछ अश को दृष्टि से ओझल कर देते है जो क्रियात्मक रूप मे अनावश्यक है। सत्य ज्ञान तथा मिथ्या ज्ञान है तो दोनो ही अपूर्ण, किन्तु सत्य ज्ञान में हम ऐसे लक्षणो पर ध्यान देते है जो हमारी दृष्टि मे हमारे हित तथा उपयोग के है और मिथ्याज्ञान हमे लक्ष्य की प्राप्ति कराने मे असफल रहता है। सत्य-ज्ञान जीवन के लिए उपयोगी है। मृगतृष्णिका एक भ्रान्ति है इसलिए नही कि उसमे जल का अश उपस्थित नही है किन्तु इसलिए कि उसका जल हमारी प्यास को नही बुझाता। सत्य वह है जो यथार्थ वस्तु को प्रस्तुत करता है और जो क्रियात्मक रूप मे उपयोगी (व्यवहारानुगुण) है।[1]

यह ठीक है कि सारा ज्ञान यथार्थता के कुछ रूपो को प्रस्तुत करता है किन्तु तब तक यह पूर्ण नही है जब तक कि इसमे सम्पूर्ण यथार्थता का समावेश नही होता। भ्रांति की सम्भावना तब तक दूर नही होती जब तक कि हमारा ज्ञान सम्पूर्ण और सर्वग्राही नही होता और ज्ञान का कर्ता व्यक्ति सब प्रकार के दोषो से मुक्त नही होता। ससार मे रहते हुए यह सम्भव नही है यद्यपि महत्त्वाकाक्षा तो विद्यमान है ही।

रामानुज का मत है कि ज्ञान के स्वरूप मे एक अन्तर्निहित आवश्यकता कार्य करती है। यही आवश्यकता है जो निर्विकल्प बोध को सविकल्प बोध मे परिणत होने योग्य बनाती है। हमारे निर्णयो का निरन्तर यह प्रयत्न रहता है कि वे विषयों का सम्बन्ध बृहत्तर पूर्ण इकाई के साथ स्थापित करे। जब ज्ञान अपनी उच्चतम अवस्था मे होता है अर्थात् जब वह अपने लक्ष्य पर पहुँच जाता है तब हमे एक मात्र व्यवस्थित अनुभव प्राप्त हो जाता है जिसके अन्तर्गत अनेक भाग अपने विशिष्ट व्यापारो समेत सम्मिलित होते है। इस प्रकार की सम्पूर्ण इकाई मे प्रत्येक अवयव का वैशिष्ट्य अपने स्थान तथा व्यापार से लक्षित होता है और परिमित होने पर भी अपना व्यक्तित्व तथा विशेषता रखता है। जीवात्मा जब मोक्ष प्राप्त करता है तो निर्दोष ज्ञान के आदर्श को प्राप्त कर लेता है।

शङ्कर का इस प्रकार सोचना बिलकुल ठीक है कि विचार के द्वारा निरपेक्ष व्यक्तित्व का ग्रहण नही हो सकता किंतु यदि विचार असम्भव को प्राप्त न कर सके तो इसमे उसे दोष भी नही दिया जा सकता। यदि विषय (प्रमेय प्रदार्थ) एक साधारण आत्मनिर्भर वस्तु है तो इस प्रकार का निर्णय जिसके आधार पर हम कहते है

१. यतीन्द्रमतदीपिका।

कि 'स' 'प' है सत्य नही है क्योकि हम केवल इतना ही कह सकते है कि 'स' 'स' है। अर्थ-पूर्ण प्राक्-कथन मिथ्या है तथा पुनरुक्ति रूप निर्णय निरर्थक है। किन्तु रामानुज बलपूर्वक कहते है कि यद्यपि निर्णय इस विषय को पुष्ट करता है कि प्रतिपाद्य विषय तथा विधेय एक समान है तो भी उतना ही महत्त्वपूर्ण दूसरा भी एक अवयव है अर्थात् प्रतिपाद्य विषय तथा विधेय परस्पर भिन्न है। जब तक वस्तुओ के भिन्न-भिन्न रूपो के अन्दर भी समानता अपने को अक्षुण्ण नही बनाए रख सकती तब तक कोई निर्णय हो ही नही सकता। किन्तु समानता ऐसी हो जो भेद मे भी अपने को व्यक्त कर सके और भेद पर विजय पा सके। समानता एक सम्बन्ध है और प्रत्येक सम्बन्ध के लिए दो भिन्न पदो का होना आवश्यक है। यदि वे पद स्पष्ट रूप मे भिन्न नही है तो वे परस्पर सम्बद्ध नही हो सकते। सब प्रकार के भेद-भाव का निषेध समानता के सम्बन्धो को भी असम्भव बना देता है। सर्वथा निरपेक्ष आत्मसमता मे समानता के विषय मे कोई बात उठ ही नही सकती। जब हम यह कहते है कि 'स' 'स' है तब भी हम इस प्रकार का कथन प्रस्तुत भेद के उत्तर मे ही करते है। शङ्कर का तर्क है कि जब हम यह कहते है कि 'वही तू है' तो दोनो के मध्य मे प्रतीत होने वाला भेद है किन्तु निर्णय उनके मध्य समानता को बतलाता है। परन्तु रामानुज का कथन इसके विपरीत यह है कि समानता एव भेद उन पदो के सम्बन्ध म लागू होते है जो यथार्थता के समान एक ही स्तर पर है। जितनी भी समानता है यह भेद के अन्दर तथा उसके द्वारा ही है और प्रत्येक निर्णय इसका दृष्टान्त है। 'आकाश नीला है' इस वाक्य मे 'आकाश' और 'नीला' दोनो मे तादात्म्य नही है। और न ही वे सर्वथा भिन्न है। नीले रग का पदार्थ और गुण दोनो एकसाथ विद्यमान रहते है यद्यपि दोनो के मूल्या-कन अलग-अलग है। विचार का सम्बन्ध-विषयक रूप यथार्थता के स्वरूप की व्याख्या के सर्वथा अनुकूल है, क्योकि यथार्थ एक ऐसी निर्दोष पद्धति है जिसका निर्णय उसके अन्तर्गत तत्त्वो के निर्णय से ही होता है। विचार के युक्तिपूर्ण स्वरूप को एक त्रुटि समझना बुद्धिगम्यता का मिथ्या मानदण्ड है। ज्ञान को तभी ज्ञान कहा जाता है जब कि वह ऐसे सम्बन्धो का खोलकर विकसित रूप मे प्रकट कर दे जिनके द्वारा ही उसकी अपनी सत्ता है। क्रियाशील जीवन का तत्त्व वह है जो आभ्यन्तर रूप मे भी अपना स्पष्ट व्यक्तित्व रखता है और साथ-साथ अपनी इस क्रिया मे स्वतन्त्र सत्ता को भी स्थिर रखता है। शङ्कर का मत है कि सम्बन्धो की परम्परा हमे अन्तरहित पश्चाद्गति की ओर ले जाती है। सम्बन्ध दो पदो के अस्तित्व का उपलक्षण है, जो सम्बन्ध के साथ मिलकर तीन हो जाते हैं और यदि हम उनके साथ उनके परस्पर सम्बन्ध को भी जोड दे तब हमे बलात् एक अन्तविहीन पश्चाद्गति की ओर जाना होता है। रामानुज इस विचार को अस्वी-कार करते है क्योकि उनके अनुसार यथार्थता क्रियाशील है जो अपने अन्दर आत्मप्रकाश की सम्भावना को धारण किए हुए है। वे इस बात को स्वीकार नही करते कि जहा एकत्व है वहा सम्बन्धो का अभाव है और यह कि जहा सम्बन्ध हैं वहा एकत्व नही है। ज्ञान की दृष्टि मे यह जगत् एक व्यवस्थित सम्पूर्ण इकाई है और एकमात्र तत्त्व का ब्यौरेवार विकास अथवा अभिव्यक्ति है। ईश्वर तथा यह जगत् एक समान यथार्थ है और इनमें से प्रत्येक दूसरे के द्वारा ही यथार्थ है और यह तभी सम्भव हो सकता है जब कि

हम इस सारी पद्धति को किसी शरीरधारी नमूने का एक मात्र अनुभव समझें। विचार के द्वारा ईश्वर को आत्मचेतन प्रज्ञा के रूप मे समझना ही उसके स्वरूप का पूर्ण बोध-ग्रहण है। यथार्थता एक सत्ता है एव उसके अश हीनतर सत्ताए है।

९

कारण तथा द्रव्य

रामानुज सत्कार्यवाद के सिद्धान्त को स्वीकार करते है। प्रत्येक कार्य यह सकेत करता है कि उसका उपादान (भौतिक) कारण पहले से विद्यमान था। अवस्था मे परिवर्तन ही कारणकार्य भाव है।[1] धागे कपडे के कारण है क्योंकि कपडा केवल मात्र धागों की ताने-बाने वाली व्यवस्था का नाम है।[2] अस्तित्व एव अभाव एक द्रव्य की भिन्न-भिन्न अवस्थाए ही है। अभाव केवल सापेक्ष है निरपेक्ष अर्थात् परम अवस्था नही है।

कोई भी वस्तु जिसके अन्दर गुण है द्रव्य कहलाती है। आधार द्रव्य है और वह जो इसके ऊपर निर्भर करता है अर्थात् आधेय है वह अद्रव्य है। इस प्रकार सब पदार्थ द्रव्य है तथा गुण और सम्बन्ध अद्रव्य है। दीपक एक द्रव्य है और उन्ही अर्थो मे प्रकाश (प्रभा) द्रव्य है यद्यपि प्रकाश एक गुण भी है। बुद्धि एक द्रव्य है क्योंकि इसके अन्दर फैलने और सिकुडने का गुण है; यह आत्मा का गुण भी है।[3] समस्त जगत् जो ईश्वर का विशेषण है ईश्वर के दृष्टिकोण से अद्रव्य है यद्यपि इसके अन्दर द्रव्य एव अद्रव्य तत्त्व तथा गुणो के रूप मे अन्तर्निहित है। ज्ञान की भाति एक विशेषण द्रव्य भी हो सकता है। द्रव्य उपादान कारण हो सकते है किंतु अद्रव्य नही हो सकते।[4] द्रव्यो मे प्रकृति, काल, शुद्धसत्त्व अथवा विशुद्ध प्रकृति, धर्म भूत ज्ञान अथवा गुणात्मक चेतना, जीवात्मा तथा ईश्वर इनकी गणना है।[5] इनमे से प्रथम तीन जड है एवं ईश्वर तथा जीवात्मा अजड़ (चेतन) है और ज्ञान दोनों के लक्षण मे है। इसमे जड द्रव्यो से विशेषत्व यह है कि यह अपने को भी अभिव्यक्त करता है एव बाह्य पदार्थो को भी। तो भी ज्ञान कभी भी अपने लिए नही किंतु सर्वदा दूसरे के लिए अर्थात् आत्मा के लिए है। ज्ञान आत्मा का एक अद्भुत अवलम्ब है और "धर्मभूत ज्ञान" कहलाता है। आत्मा एक न एक पदार्थ को तभी जानती है जब कि ज्ञान किसी न किसी इन्द्रिय के द्वारा बाहर आता है तथा पदार्थ के सम्पर्क में आता है। यह कल्पना की जाती है कि विषय और पदार्थ अपनी स्वतंत्र सत्ता रखते है और ज्ञान के द्वारा ही एक दूसरे के सम्बन्ध मे आते है।

शब्द के पाच गुण, प्रतिरोध शक्ति, आकृति, रस और गध, सयोग, परिमाण, सख्या, बृहत्ता, व्यक्तित्व, सश्लेष, भेद एव इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख और सकल्पशक्ति तथा बोधशक्ति ये सब अद्रव्य है।

१. अवस्थान्तरापत्तिरेव हि कार्यता (भगवद्गीता पर रामानुज का भाष्य, १३ : २)
२. ब्रह्मसूत्र पर रामानुज भाष्य, २ : १, १९-२० । और भी देखें, २ : १, १६ ।
३. तत्त्वमुक्ताकलाप, ४ : ७ । ४. वही, ५,२ ।
५. वही, १ : ६ ।

१०

आत्मा तथा चैतन्य

शकर का मत है कि ज्ञाता तथा प्रमेय (ज्ञेय) के मध्य जो भेद है वह सापेक्ष है क्योंकि यथार्थ तो भेदशून्य ब्रह्म ही है। रामानुज इस विचार को नही मानते और उनका मत है कि चैतन्य का स्वरूप यह निर्देश करता है कि कोई विचार-शील ज्ञाता भी है एव आत्मा से भिन्न प्रमेय पदार्थ भी है।[1] ज्ञान के अन्तर्गत भेद का प्रत्यक्ष भी आ जाता है। हमे भेदशून्य सत्ता को जानने योग्य बता सके ऐसा ज्ञान का कोई साधन नही है। और यदि होता भी तो वह ब्रह्म को एक ज्ञेय पदार्थ की स्थिति मे रखता और इस प्रकार ईश्वर नश्वर पदार्थो के क्षेत्र मे आ जाता। विशुद्ध चैतन्य नाम की कोई वस्तु नही हो सकती। यह बात या तो सिद्ध हो या असिद्ध हो। यदि विशुद्ध चैतन्य की यथार्थता सिद्ध हो जाए तो परिणाम यह निकलता है कि उसमे गुण है, और यदि सिद्ध नही होती तब यह असत् है जैसे कि आकाश कुसुम।[2] शङ्कर ने भी चेतनता के अदर नित्यता एव स्वतः-प्रकाशता आदि गुण बताए है। ज्ञान तो निश्चित रूप मे स्वत प्रकाश है किंतु चेतनता ज्ञान के लिए एक ज्ञेय (वेद्य) पदार्थ है। यह आवश्यक नही है कि प्रत्येक वस्तु जो जानी गई है, उसे जड पदार्थ ही होना चाहिए।

यदि ज्ञान अपरिमित होता तो उसके विषय (ज्ञेय पदार्थ) भी उसी प्रकार अपरिमित होते, किन्तु यह बात नही है। यह सोचना भूल है कि सुषुप्ति अवस्था मे तथा तत्सदृश अन्य अवस्थाओ मे भी ज्ञान विशुद्ध ज्ञान के रूप मे विद्यमान रहता है, अर्थात् सब विषयो से रहित। "क्योंकि कोई व्यक्ति प्रगाढ निद्रा मे उठकर कभी स्वप्नावस्था मे अपनी चेतनता की अवस्था को इस प्रकार से प्रस्तुत नही करता कि 'मैं विशुद्ध चैतन्य था जिसमे किसी प्रकार का अहंभाव नही था एव जो स्वरूप में प्रत्येक अन्य वस्तु से विरुद्ध था और अज्ञान को देख रहा था।' यह जो कुछ सोचना है केवल यह है कि 'मै बहुत अच्छी तरह सोया।' इस प्रकार के चिन्तन मे यह प्रतीत होता है कि स्वप्नावस्था मे भी आत्मा अर्थात् 'मैं' एक जानने वाला प्रमाता (कर्ता) था और सुख को अनुभव करता था। यहा तक कि जब आत्मा कहती है कि 'मुझे कुछ चेतना नही थी' तो उसका तात्पर्य हुआ कि जानने वाला 'मै' विद्यमान था और जिसका निषेध किया गया वे ज्ञान के विषय (प्रमेय पदार्थ) थे।"[3] बिना प्रमेय पदार्थ के सम्बन्ध के ज्ञान नही जाना जाता और प्रगाढ निद्रा मे यह कार्य नही करता क्योकि उस समय कोई प्रमेय पदार्थ नही होता। प्रगाढ निद्रा मे आत्मा अपनी आन्तरिक स्वत चेतनता के अन्दर ज्ञान के साथ रहती है जो कि उस समय काम नही कर रही होती। आत्मा सदा ही एक अहभाव है और कभी भी विशुद्ध ज्ञान नही। शकर इतना तो स्वीकार करते है जब वे कहते है कि आत्मा प्रगाढ निद्रा मे सामान्य अज्ञान के साक्षी रूप मे विद्यमान रहती है

१. न च निर्विषये काचित संविद् अस्ति।

२. संवित सिद्ध्यति वा न वा, सिद्ध्यति चेत् सधर्मता स्यात्, न चेत् तुच्छता गगन-कुसुमादिवत् (१ : १, १)।

३. १ : १, १। और भी देखें, २ : ३, ३१।

यदि अहकार का भाव विलीन हो जाता है। किन्तु वह जो ज्ञान ग्रहण नही करता साक्षी भी नही हो सकता। विशुद्ध ज्ञान साक्षी नही है। साक्षी एक जानने वाला होता है अर्थात् वह प्रमाता (ज्ञान का कर्ता) होता है। यह प्रमाता प्रगाढ निद्रा मे भी विद्यमान रहता है यद्यपि हमे उसकी चेतना नही होती क्योकि चैतन्य तमोगुण से परिभूत होता है। यदि प्रगाढ निद्रा मे यह विद्यमान न होता तो नीद मे जागने पर हम यह स्मरण न कर सकते कि हम अच्छी तरह सोये। यदि यह आत्मा नित्य न होती तो स्मृति भी असम्भव होती और जिस वस्तु को कल हमने देखा था उसे आज पहचान न सकते। यदि चेतनता को चेतन प्रमाता के साथ एक रूप मे मिला दिया जाए तो भी पहचान की घटना की व्याख्या सरलता से नही हो सकती। क्योकि उक्त अनुभव इस विषय का उपलक्षण है कि कोई चेतनावान् ज्ञाता प्रारम्भ के क्षण से लेकर अन्तिम क्षण तक विद्यमान रहता है केवल चेतनता ही नही।[1] आत्मा स्वत प्रकाशित ज्ञान नही है किन्तु केवल उसका कर्त्ता है। हम ऐसा नही कहते मै चैतन्य हू"[2] किन्तु केवल यही कहते है कि 'मै चेतनावान् हू"।[3] ज्ञान का स्वत. प्रकाशित स्वरूप आत्मा अथवा ज्ञाता से ही प्रादुर्भूत होता है। ज्ञान का अस्तित्व तथा उसका स्वत. प्रकाशित स्वरूप उसके एक आत्मा के साथ सम्बन्ध के ऊपर ही निर्भर करते है।[4] इस प्रकार का तर्क करना कि ज्ञाता, जिसकी सिद्धि इस प्रकार की गई, विषय पक्ष से ही सम्बद्ध है, "इससे अधिक कुछ नही है जैसे कि किसीका यह मत प्रकट करना कि उसकी मा एक बाझ स्त्री है।" हम अहकार को, जो प्रकृति की एक जड उपज है, ज्ञान के समान ज्ञातृत्वभाव नही दे सकते। आत्मा ज्ञान का सार तत्त्व है और ज्ञान उसका गुण है।[5] यह एक ज्ञाता है केवल मात्र प्रकाश नही।[6] हमे यह न सोचना चाहिए कि ज्ञाता होने से ही अवश्य परिवर्तनशील भी होना चाहिए। क्योकि ज्ञाता बनने का तात्पर्य ज्ञान रूपी गुण का आधार होना है, और चूकि जानने वाली आत्मा नित्य है, इसलिए ज्ञान भी जो इसका गुण है नित्य है। यही नित्य ज्ञान है जो अपने को सदा अभिव्यक्त नही करता। ज्ञान जो अपने मे अपरिमित (स्वयम् अपरिच्छिन्नम्) है संकोच एव विस्तार दोनो को अपना सकता है। कर्म के प्रभाव से यह सकुचित हो जाता है जब कि यह अपने को भिन्न-भिन्न प्रकार के कार्यो के अनुकूल बना लेता है और भिन्न-भिन्न इन्द्रियो द्वारा विविध प्रकार से निर्णीत होता है। इन्द्रियो के कारण इन्हीं अनुकूलताओ के सम्बन्ध मे कहा जाता है कि यह उत्पन्न हुआ और नष्ट हुआ। इसका विलोप कभी नही होता, यद्यपि जीवन भर यह कार्य करता है कभी कम और कभी अधिक सीमाओं के अन्दर। किन्तु चूकि अनुकूलन का गुण अनिवार्य नही है और

१. प्रतिसन्धानं हि पूर्वापरकालस्थायिनम् अनुभवितारम् उपस्थापयति, नानुभूतिमात्रम् (१ ; १, १)।

२. अनुभूतिरहम।

३. अनुभवाम्यहम।

४ १ : १, १ और भी देखें, २ : ३, १८।

५ चिद्रूप चैतन्य गुणक।

६. ज्ञातैव न प्रकाशमात्रम्। और भी देखें, बृहदारण्यक उपनिषद्, ४ : ३, ७ और १४; ४ : ५, १५ छान्दोग्य, ८ : १२, ३ ; और ४, ८ : २६, २ ; और प्रश्न, ४ : ९; ६ : ५ ; तैत्तिरीय, २ : ४।

कर्म से ही उत्पन्न होता है इसलिए आत्मा को वस्तुत: अपरिवर्तनशील ही माना जाता है।[1]

रामानुज इस मत का खण्डन करते हैं कि चैतन्य कभी भी प्रमेय पदार्थ नही है। यद्यपि यह प्रमेय विषय नही है जब कि यह दूसरी वस्तुओ को प्रकाशित करता है तो भी यह प्राय: प्रमेय पदार्थ बन सकता है और बन जाता है, क्योकि साधारण अनुभव दरशाता है कि एक व्यक्ति का चैतन्य दूसरे के बोध का विषय बन जाता है। जैसे कि जब हम अन्य पुरुष के मैत्रीपूर्ण अथवा अमैत्रीपरक रूप से किसी वस्तु का अनुमान कर लेते है अथवा जब कि किसी मनुष्य के भूतकाल के चैतन्य की अवस्थाए उसकी वर्तमान काल की पहचान का विषय बन जाती है। चैतन्य केवल इसीलिए कि यह चेतनता का प्रमेय विषय बनता है अपना स्वरूप नही खो देता। हम यह नही कह सकते कि चैतन्य स्वत.सिद्ध है। रामानुज की इस दृष्टि मे चैतन्य का वास्तविक स्वरूप वर्तमान क्षण मे अपने आपके द्वारा अपने अधिष्ठान के प्रति व्यक्त करने मे अथवा इसके अपने विषय को अपनी सत्ता के द्वारा सिद्ध करने के लिए साधन बनने मे है।[2] जब जड वस्तुए प्रकाश मे आती है तो वे अपने प्रति व्यक्त नही होती। आत्मा के अन्य गुण जैसे आणविक विस्तार, नित्यता, आदि और चैतन्य की भूतकाल की अवस्थाए अपने निजके द्वारा व्यक्त नही होती वरन् ज्ञान की एक क्रिया के द्वारा व्यक्त होती है जो उनमे भिन्न है।[3]

११

ईश्वर

रामानुज के ज्ञानसम्बन्धी सिद्धात से यह परिणाम निकलता है कि यथार्थ सत्ता निर्गुण नही हो सकती। यह एक व्यवस्थित पूर्ण इकाई है जो अपने स्वरूप को नाना भेदो मे भी स्थिर रखती है। जहा रामानुज का मत इस विषय मे स्पष्ट है कि एक निरपेक्ष आत्मा का अस्तित्व है वहा वे यह भी स्पष्ट रूप मे कहते है कि प्रत्येक सान्त यथार्थता इस आत्मा की अभिव्यक्ति है। अस्तित्व वाली वस्तुओ की अनेकता मे परस्पर क्रिया-प्रतिक्रिया को सम्भव बनाने के लिए विश्वरूपी इकाई का निर्माण करने वाले तत्त्वो के अन्दर भी एकता तथा परस्पर निर्भरता का एक सामान्य बन्धन होना ही चाहिए और वह अवश्य एक आध्यात्मिक तत्त्व (सूत्र) होना चाहिए। न केवल तर्कशास्त्र की अपितु धार्मिक अनुभव की माग है कि सान्त के सरक्षण तथा एक शरीरधारी अनन्त के अस्तित्व को स्वीकार करना ही चाहिए। ईश्वर के साथ व्यक्तिगत सयोग के अन्दर किसी अन्य दैवीय सत्ता के साथ यथार्थ साहचर्य (मित्रता) का भाव स्वत: अन्तर्निहित रहता है। धार्मिक अन्तर्दृष्टि ऐसे निर्गुण ब्रह्म को, जो हमारी त्यागमयी भक्ति तथा मौन साधना

१. १ : १,१।

२. अनुभूतित्वं नाम वर्तमानदशायां स्वसत्तयैव स्वाश्रयं प्रति प्रकाशमानत्वं स्वसत्तयैव स्वविषयसाधनत्वं वा (१ : १, १)।

३. देखें, श्रुतप्रकाशिका।

का विचार न करके केवल मात्र साक्षी बना हुआ जड दृष्टि से हमारी ओर ताकता रहे, स्वीकार नही कर सकती। रामानुज के अनुसार शङ्कर की पद्धति उसे एक शून्य की ओर ले जाती है जिसे वह भावो के एक निरर्थक नाटक के द्वारा छिपाने का प्रयत्न करता है। उनका निर्गुण ब्रह्म एक ऐसी शून्य सत्ता है जो हमे ग्रांरलैडो की उस प्रसिद्ध घोडी की याद दिलाता है जो और सब प्रकार स पूर्ण थी किन्तु केवल एक ही छोटा-सा दोष उसमे था, अर्थात् वह मरी हुई थी। इस प्रकार के ब्रह्म को किसी भी साधन से अर्थात् प्रत्यक्ष, अनुमान अथवा धर्मशास्त्र द्वारा नही जाना जा सकता।[1] यदि ज्ञान के सब साधन सापेक्ष है तो वे हमे ऐसी सत्ता के विषय मे जो अनुभवातीत है कुछ नही बता सकते, यदि धर्मशास्त्र अयथार्थ है तो वह ब्रह्म भी अयथार्थ हुआ जिसका प्रतिपादन ये धर्मशास्त्र करते है। उस परम यथार्थ सत्ता मे जिसे ईश्वर कहते है निश्चय, सीमितता, भेद, अन्यता जो साथ-साथ विलीन हो जाती है ये सब अन्तर्निहित है और उस एक मे एकत्रित है। सान्तता स्वय अनन्त के ही अन्दर है। ब्रह्म मे अपने अन्दर ही स्वगत भेद है और वह एक सश्लिष्ट पूर्ण इकाई है जिसमे आत्माए तथा प्रकृति उसके लिए महत्त्व की सत्ताए है (चिदचिद्विशिष्ट)।[2] सत्, चित् तथा आनन्द ये तीनो ब्रह्म को एक विशेष स्वरूप तथा व्यक्तित्व प्रदान करते है। ब्रह्म का ज्ञान साक्षात् है और इन्द्रियो के ऊपर निर्भर नही है।[3] वह सर्वज्ञ है और उसे सब कुछ का प्रत्यक्ष अन्तर्ज्ञान होता है। ब्रह्म का व्यक्तित्व सर्वोपरि है जब कि जीवात्माए शरीरधारी है और उनके साधन भी अपूर्ण है। व्यक्तित्व के अन्दर योजना बनाने की शक्ति और अपने उद्देश्य को प्राप्त करने की शक्ति उपलक्षित है। ईश्वर का व्यक्तित्व पूर्ण है क्योकि वह समस्त अनुभव को अपने अन्दर धारण करता है और अपने से बाह्य किसी वस्तु के ऊपर निर्भर नही करता। ऐसे भेद जो व्यक्तित्व के लिए आवश्यक है सब उसके अन्दर है। ईश्वर के सबसे प्रधान गुण है ज्ञान, शक्ति तथा करुणा। करुणा के कारण ही ईश्वर ने जगत् की रचना की, धार्मिक विधान का निर्माण किया, और वह उन सब व्यक्तियो की जो पूर्णता की प्राप्ति के लिए प्रयत्न करते है बराबर सहायता करता है।[4] यद्यपि प्रत्येक गुण अपने आप मे अन्यो से भिन्न है तो भी वे सब एक ही सत्ता से सम्बद्ध है और इसकी अखण्डता मे विभाग उत्पन्न नही करते। उस प्रभु का इन सबके साथ सम्बन्ध स्वाभाविक तथा सनातन है।[5] यह गुण भाववाचक कहे जाते है एव प्रकृति तथा जीवात्माओ से भिन्न है, यद्यपि वे भी ईश्वर के गुण है। ईश्वर अपने तात्त्विक गुणो का आधार है और उन पदार्थो का भी आधार है जो उसके ऊपर निर्भर है।[6] उस सर्वोपरि सत्ता की "एक दैवीय आकृति है और अद्वितीय है जो प्रकृति की सामग्री से नही बनी और न कर्म के ही कारण उसका निर्माण हुआ है।[7]" शरीर केवल मात्र तत्त्वो का सम्मिश्रण नही है न ऐसा ही पदार्थ है जिसका प्राण के द्वारा धारण होता है। यह इन्द्रियो का अधि-

१. १ : १, २।
२. १ : १, २ सर्वदर्शनसंग्रह, ४।
३. १ : २, १९।
४. रहस्यत्रयसार, २३।
५. ब्रह्मसूत्र पर रामानुजभाष्य २ : १, १५।
६. रहस्यत्रयसार, ३।
७. १ : २; १।

ष्ठान नही है अथवा सुख-दुःख का कारण नही हैं। रामानुज के अनुसार "यह एक ऐसा द्रव्य है जिसे चेतना सम्पन्न आत्मा पूर्णतया नियन्त्रण मे रख सकती है तथा अपने स्वार्थ साधन के लिए धारण करती है और जो आत्मा की सर्वथा अधीनता में है।[1] शरीरधारी होने पर भी ईश्वर दुःख नही पाता क्योकि वह जानता है कि दुःख का कारण कर्म है शरीरधारी होना मात्र नही।[2] वह कर्म का प्रभु है क्योकि कर्म स्वय फल प्रदान नही कर सकता। कर्म जो ज्ञानरहित और क्षणिक है ऐसे किसी भी फल को उत्पन्न करने के अयोग्य है जिसका सम्बन्ध भविष्यत् से हो।[3] यह सर्वोपरि प्रभु ही है जो इस लोक मे तथा परलोक (स्वर्ग) मे भी नानाविध सुखों को प्रदान करता है। हम यह भी कह सकते है कि ब्रह्म आकृतिरहित है"[4] यद्यपि विविध प्रकार की आकृतियों से उसका सम्बन्ध है क्योकि "जीवात्मा उस शरीर की आकृति से सम्बद्ध है जिसके अन्दर यह रहता है, यह उन सुखो तथा दुःखो मे भाग लेता है जो शरीर के कारण उत्पन्न होते है किन्तु चूंकि ब्रह्म इन सुखो मे तथा दुःख मे भागीदार नही बनता इसलिए उसकी कोई आकृति नही है।"[5] ब्रह्म जीवात्माओ के दुःखो अथवा प्रकृति के विकारो से अछूता रहता है। जितना भी पाप है, वह भूतकाल की भूल का परिणाम है और जीवात्माओ के सासारिक जीवन की उपज है। ईश्वर इसके लिए बिलकुल जिम्मेदार नही है। जन्म-जन्मान्तरों की अन्तविहीन शृंखला के ऊपर वह प्रकाश मे रहता है जहा कि कोई भी छाया उसके गौरव को मलिन नही कर सकती है।[6] इस प्रकार का जीवन मुक्तात्माओ के लिए भी सम्भव है, इसलिए ईश्वर के लिए तो उसमे भी अधिक सम्भव है।[7]

जीवात्माए तथा प्रकृति प्रभु के तत्त्व की एकता मे समाविष्ट है, और सर्वोपरि ब्रह्म के साथ उनका सम्बन्ध वैसा ही है जैसा कि गुणो का सम्बन्ध द्रव्यो के साथ है, या जैसे सम्पूर्ण इकाई के साथ उसके हिस्सो का होता है, अथवा शरीर का सम्बन्ध उसमे जीवन डालने वाली आत्मा के साथ है।[8] उन्हे प्रकार अथवा वृत्ति, शेष अर्थात् सहायक, नियाम्य[9] अथवा वशीभूत नाम से भी पुकारा जाता है। जब कि ईश्वर सहारा देने वाला (प्रकारी), नियन्ता और प्रमुख (शेषी) है।[10] वे यथार्थ और स्थायी है यद्यपि अपने सब विकारो और विकासो के सम्बन्ध मे एक ब्रह्म के नियन्त्रण के अधीन है। कहा जाता है कि शरीर का आत्मा के साथ सम्बन्ध साधारणतः जगत् की ईश्वर के ऊपर निर्भरता को प्रतिपादित करने के लिए है। चूंकि जब आत्मा शरीर से विदा होती है तो शरीर का

१. २ : १, ६।
२. १ : १, २१।
३. ३ : २, ३७।
४. ब्रह्मरूपरहितनुल्यमेव। ५. ३ : २, १४।
६. १ : १, २१। ७. ३ : ३, २७।
८. तुलना कीजिए—जगत् सर्वं शरीरं ते। रामायण, युद्धकांड, १ : २०, २६ ; तिरुवायमोषी : १ : १, ८; बृहदारण्यक उपनिषद्, ५ : ७।
९. वेदान्तदेशिका ने नियाम्यत्वं की परिभाषा इस प्रकार की है—"तत्संकल्पाधीनसत्तास्थितिप्रवृत्तिकत्वम्।"
१०. ३ ; ब्रह्मसूत्र पर रामानुजभाष्य २ : ४, १४।

क्षय होता है इसलिए शरीर की सत्ता केवल व्युत्पन्न है, शरीर की चेष्टाए आत्मा की इच्छा के अधीन है।[1] यह जगत् भी ईश्वर के साथ वैसे ही सम्बन्ध मे बधा है, अर्थात् इसकी सत्ता का निकास उसीमे है और उसीकी इच्छा के यह अधीन है।[2] ईश्वर के अस्तित्व मे जीव आभ्यन्तर तथा यह जगत् उसका बाह्य शरीर है। यदि आत्माए तथा प्रकृति ईश्वर के गुण है तो इसका तात्पर्य यह नही है कि वे अपने मे गुणो को धारण करने वाले द्रव्य नही है, जिनके अपने भिन्न-भिन्न प्रकार है एव शक्तिया तथा कार्यक्षेत्र है। आत्मा तथा शरीर का दृष्टान्त निर्देश करता है कि शरीर के अपने गुण है यद्यपि यह भी आत्मा को उपाधि से युक्त करता है। इस परिकल्पना के आधार पर रामानुज विश्व मे वर्तमान सामजस्य तथा यथार्थ सत्ताओ मे परस्पर प्रतिक्रिया की व्याख्या कर सकते है जिससे कि एक विश्व का निर्माण होता है। यह जगत् एक इकाई है उस सर्वोपरि मस्तिष्क के कारण जो कि अनेक आध्यात्मिक यथार्थ पदार्थों को ऐन्द्रिक सम्बन्ध और एक स्थान देता है तथा उनमे से हर एक का कार्य बाटता है। आत्माए (भोक्ता), प्रकृति (भोग्य) और ईश्वर (प्रेरिता)[3] अपने स्वाभाविक स्वरूप-भेद से ये तीन है किन्तु पद्धतियो तथा द्रव्य (प्रकार तथा प्रकारी) के ऐक्य के कारण एक है।[4] ऐक्य का तात्पर्य है कि ऐसी सत्ता जो पृथक् न हो सके (अपृथक् सिद्धि)।

रामानुज का ईश्वरसम्बन्धी विचार यथार्थ विचारशील आत्मचेतन व्यक्तियो की ऊपर चढती हुई शृखला मे अन्तिम पद मात्र का नही है और न ही केवल अतीन्द्रिय-निरपेक्ष सत्ता का है जिसका अस्तित्व इस सीमाबद्ध विश्व से ऊपर तथा परे है। चेतन और जड जगत् के पदार्थ ईश्वर के साथ साथ रहते है तो भी उनके अस्तित्व का कारण है ईश्वर ही और उनका धारण भी उसीके द्वारा होता है। अनेकत्वयुक्त विश्व ठीक उन्ही अर्थो मे यथार्थ है जिन अर्थो मे ईश्वर यथार्थ है। यह विश्व ईश्वर के ऊपर निर्भर करता है जो इसका आधार अथवा अस्तित्व हेतु है किन्तु इसका उपादान कारण नही। ईश्वर का केवलमात्र अन्तर्यामी आधार ही न समझना चाहिए क्योकि तब ईश्वर को पूर्णरूप से अनेक मे भिन्न अथवा अनेक का पूर्णरूप से ईश्वर के अभिन्न एकत्व मे विलीन हुआ मानना पड़ेगा। रामानुज की दृष्टि मे ईश्वर इस जगत् का भौतिक सृष्टि मे अतीत और अत:स्थित दोनो ही प्रकार का आधार है। ईश्वर एक व्यक्ति है किंतु केवल अन्य व्यक्तियो का एक पुञ्ज मात्र नही और इसलिए उसे अन्य विचारवान् जीवधारियो, और उनके विचार के विषय की श्रेणी मे न मिला देना चाहिए।

ईश्वर विश्वसम्बन्धी व्यवस्था के अन्दर से इस विश्व को इसके परम आधार के रूप मे धारण करता है और प्रलय के समय फिर से इसे वापिस ले लेता है।[5] सृष्टि-रचना तथा सृष्टि का विघटन (प्रलय) इन दोनो घटनाओ को काल की दृष्टि से नही

१. स्वरूपाश्रितं संकल्पाधीनम्। २. 'ईश्वरस्य रूपाश्रितम्' और 'इच्छाधीनम्।'
३. श्वेताश्वतर उपनिषद्, १। ४. अत्र प्रकार विशिष्टप्रकारी है।
५. १ : १। तुलना कीजिए, सिद्धायमोयी, १० : ५ : ३। रामानुज के दर्शन को विशिष्टाद्वैत कहा जाता है जिसका अन्य कारणों के अतिरिक्त एक कारण यह भी है कि वह दो भिन्न पदार्थों के अद्वैतभाव पर बल देता है—विशिष्टयोरद्वैतम्।

देखना चाहिए किंतु उनकी व्याख्या का महत्त्व एक सर्वोपरि सत्ता के ऊपर तार्किक दृष्टि से निर्भरता के रूप में है। केवल ब्रह्म ही अजन्मा है और शेष सब कुछ उत्पन्न वस्तु है।[1] यद्यपि वह अपूर्ण जगत् का कारण है किंतु उसके ऊपर जगत् की अपूर्णता का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। रामानुज ने सर्वोपरि आत्मा तथा विष्णु को एक ही माना है और श्रेष्ठतम गुणों से युक्त माना है। ब्रह्मा और शिव भी विष्णु है।[2]

दिव्य आत्मा का अनेक प्रकार से चिंतन किया जा सकता है। जब आत्माएं तथा प्रकृति इसके गुण समझे जाते हैं तब 'ब्रह्म' का अर्थ होगा केन्द्रीय एकत्व अथवा जब केवल मात्र ब्रह्म ही ब्रह्म को यथार्थ माना जाए तो ब्रह्म का अभिप्राय होगा एक संयुक्त किंतु अपने-आप में पूर्ण इकाई। ब्रह्म ही सर्वश्रेष्ठ यथार्थ सत्ता है और यह जगत् उसका शरीर अथवा विशेषण है। यह जगत् चाहे व्यक्तरूप मे हो जैसा कि सृष्टि-रचना में; अथवा अव्यक्त रूप में हो जैसा कि प्रलय मे। प्रलयावस्था मे भी आत्माओ तथा प्रकृति के विशेषण विद्यमान रहते है यद्यपि सूक्ष्म रूप मे। सब पदार्थों के लिए निरपेक्ष मोक्ष की अवस्था जगत् के अवसान की अवस्था है। यह एक आदर्श है जो विश्व की प्रक्रिया का लक्ष्य है। जब यह लक्ष्य प्राप्त हो जाता है तो आत्माए फिर से अपनी निर्मलता प्राप्त करके स्वर्ग में ईश्वर के सम्मुख निवास करती है। प्रकृति भी अपनी सात्त्विक अवस्था का प्रदर्शन करती है। यह आदर्श जगत् ईश्वर के अन्तर्निहित है। यह एक ऐसी अवस्था है जो पूर्व से व्यक्तीकृत है। प्रलय मे जो अवस्था आत्माओ तथा प्रकृति की रहती है उसके समान इस अवस्था को नही माना जा सकता। जगत् रूप शरीर के अतिरिक्त ईश्वर की एक आदर्श भौतिकता भी है, एक प्रकार की स्थिति स्थापक सामग्री (जो जीव-जन्तुओं के निर्माण की क्षमता रखती है), जिसके द्वारा वह अपनी असीम शक्ति का प्रदर्शन करता है तथा जिससे वह नानाविध तथा कई गुणा रूप धारण कर सकता है यद्यपि वास्तविक रूप में वह एक ही है। इतने पर भी उसके सार तत्त्व को इस नित्य विभूति से भिन्न समझना चाहिए।

रामानुज यथार्थता के अपने भाव को धर्मशास्त्रो मे पुष्ट करते है। वेद घोषणा करते है कि ब्रह्म शुभ गुणों से युक्त है। "ब्रह्म सत्य, ज्ञान और अनन्त है" यह उपनिषदो में कहा है। ये अनेक पद एक ही सर्वोपरि श्रेष्ठ सत्ता का निर्देश करते है और प्रकट करते हैं कि निरपेक्ष ब्रह्म निर्विकार पूर्णता है, और वह ऐसी बुद्धि से मुक्त है जो उसने अन्य किसीसे ग्रहण नहीं की है, जब कि मुक्तात्माओं की बुद्धि कुछ समय तक अन्यों से ग्रहण किए गए रूप मे रहती है। यह अनन्त है क्योंकि यह स्वभावत: समस्त देश, काल और द्रव्य सम्बन्धी सीमाओं से स्वतन्त्र है तथा और सब वस्तुओं से भिन्न प्रकृति का है। अनन्तता ब्रह्म के गुणों तथा स्वरूप का लक्षण बना देती है किंतु आत्माओं के सम्बन्ध में, जो नित्य हैं, यह लक्षण लागू नही होता।[3] यह पहला और एक ही है, इसके बाद दूसरा और कुछ नहीं है, क्योंकि ईश्वर के अलावा और कोई दूसरा ईश्वर नहीं है। रामानुज स्वीकार करते है कि ऐसे श्रुतिवाक्य हैं जिनमें ब्रह्म के सम्बन्ध में सब प्रकार के

१. २ : ३, ६। २. तुलना कीजिए, तिरुवायमोयी, १० : १०, १।
३. देशकालवस्तुपरिच्छेदरहितम्'''सकलेतरवस्तुविजातीयम् (१ : १, २)।

विशेषणों (गुणों) का निषेध किया गया है किंतु उनका कहना यह है कि उक्त वाक्यों में केवल सान्त तथा मिथ्या विशेषणो का ही निषेध है, सब प्रकार के विशेषणो का नही। जहा यह कहा गया है कि हम ब्रह्म के स्वरूप को भली भांति नही समझ सकते, वहा इसका तात्पर्य यही होता है कि ब्रह्म का ऐश्वर्य इतना विस्तृत है कि यह परिमित शक्ति वाले मानवीय मस्तिष्क की पहुच से बाहर है। ऐसे वाक्यो की व्याख्या मे, जो अनेकता का निषेध करते है, कहा जाता है कि उनका तात्पर्य सर्वोपरि आत्मा से पृथक् वस्तुओ के यथार्थ अस्तित्व का निषेध करना है, क्योकि उक्त आत्मा का सब वस्तुओ के साथ तादात्म्य है। सर्वोपरि आत्मा प्रत्येक वस्तु मे विद्यमान है क्योंकि वह सबकी आत्मा है (सर्वस्यात्मतया)। उच्चतम अन्तर्दृष्टि मे उपनिषदे घोषणा करती है कि "हमे ब्रह्म के अतिरिक्त और कुछ दृष्टिगोचर नही होता, सुनाई नही देता और किसी अन्य का ज्ञान नही होता है।' रामानुज व्याख्या करते है कि –' जब समाधि मे बैठकर एक भक्त ब्रह्म का अनुभव करता है जिस अनुभव मे निरपेक्ष आनन्द का ही अनुभव होता है, तो वह ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य किसी पदार्थ को नही देखता, क्योकि समस्त वस्तुओ का सगृहीत पुञ्ज ब्रह्म के स्वरूप और उसकी अभिव्यक्ति (विभूति) मे समाविष्ट है।"[1] प्रसिद्ध वाक्य 'तत् त्वमसि' की व्याख्या रामानुज अपने ज्ञान के दृष्टिकोण से करते है। शकर का मत है कि 'तत् त्वमसि' का उद्देश्य ब्रह्म तथा जीवात्मा के मध्य आध्यात्मिक एकत्व का प्रतिपादन करना है जब कि विशेष-विशेष लक्षणो को दृष्टि से ओझल कर दिया जाता है। 'यह वही देवदत्त है" इस अनुमान के अन्तिम निर्णयात्मक वाक्य मे जो विचार मन मे आता है वह यह है कि देवदत्त है और वही अकेला है। 'स' और 'य' के एकत्व को समझने के लिए हमे 'इस' तथा 'उस' के भाव को पृथक कर देना होगा और जब तक हम यह नही करते तब तक 'स और य' मे तादात्म्य कभी नही हो सकता और हमारा कथन परस्पर भेदभाव को ही पुष्ट करेगा। इस प्रकार 'तत् त्वमसि' वाक्य का अर्थ है, ब्रह्म तथा जीवात्मा का नितान्त एकत्व और इस एकत्व का साक्षात् हम तभी कर सकते है जब कि अविद्या के कारण उत्पन्न काल्पनिक भेद को हम सर्वथा त्याग द। इसके विरोध मे रामानुज का कहना है कि प्रत्येक अनुमान का अन्तिम निर्णय परस्पर भेदो का सश्लेषण ही है। जब ब्रह्म तथा जीवात्मा का उद्देश्य और विधेय के स्थान पर रखा जाता है, (सामानाधिकरण्य)[2] तब इसका स्पष्ट तात्पर्य यह है कि दोनो मे भेद है। उद्देश्य और विधेय उस एक ही द्रव्य के भिन्न-भिन्न अर्थ है। यदि दोनो अर्थ उसी एक द्रव्य मे एक साथ सम्बद्ध नही होते तो अनुमान का अतिम निर्णय असिद्ध ठहरता है। हम उद्देश्य और विधेय मे उनके अर्थ अथवा तात्पर्य के विषय मे भेद करते है किंतु उनके उपयोग अथवा विस्तार मे उन्हे सयुक्त कर देते है। इस प्रकार 'तत् त्वमसि' वाक्य परम यथार्थता के जटिल (सश्लिष्ट) स्वरूप का प्रतिपादन करता है, जिसके अन्दर जीवात्माए समाविष्ट है।[3] ब्रह्म और जीव का सम्बन्ध द्रव्य (विशेष) और गुण (विशेषण) का-सा

१. १ : ३, ७।
२. समानम्—एकम्, अधिकरणम्= विशेषणानाम् आधारभूतं विशेष्यम्।
३. और भी देखें, २ : १, २३

सम्बन्ध है, अथवा आत्मा तथा शरीर के समान सम्बन्ध है।[1] यदि दोनों मे कोई भेद न होता तो हम यह न कह सकते कि एक-दूसरे के समान है। धर्मशास्त्र मे ऐसे वाक्य आते है जिनमे सतो की आत्मा अपने को सर्वोपरि सत्ता के साथ एक करके अन्यो को प्रेरणा करती है कि वे उसकी पूजा करे। इन्द्र के कथन "मेरा ध्यान करा" और वामदेव की इस घोषणा का कि "मै मनु हू, मैं सूर्य हू," की व्याख्या मे रामानुज कहते है कि इससे यह मत पुष्ट होता है कि ब्रह्म ही सबका अन्तरात्मा (सर्वान्तरात्मत्वम्) है।[2] चू कि अनत सब के अदर निवास करता है इसलिए उसे किसी भी व्यक्ति विशेष मे निवास करने वाला माना जा सकता है और इस प्रकार कोई भी व्यक्ति प्रह्लाद की भाति कह सकता है कि चू कि ब्रह्म "मेरे अहभाव का निर्माणकर्ता है, इसलिए सब-कुछ मुझमे निकला है, मै ही सब कुछ हूं, मेरे ही अन्दर सब-कुछ है।'[3] सभी शब्द प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप मे ब्रह्म का ही प्रति-पादन करते है।[4]

वैष्णवो का ईश्वरवाद वेदो, आगमो, पुराणों तथा प्रबन्धो के ऊपर आधारित है। वेद एक ऐसे निरपेक्ष ईश्वर का वर्णन करते है जो अपने-आप मे पूर्ण है और अन्दर से शासन करता है। पचरात्रो के आगम व्यूहो अथवा अभि-व्यक्तियो की प्रकल्पना को स्वीकार करते हैं। पुराण राम और कृष्ण के समान अवतारो की पूजा का विधान करते है। द्राविड प्रबन्ध भक्तिपरक वाक्यो से भरे हुए है, जो दक्षिणी भारत के मन्दिरो मे स्थापित मूर्तियो को सम्बोधन करके कहे गए है। इस प्रकार यह कहा जाता है कि निरपेक्ष सत्ता, जो विष्णु ही है, पाच भिन्न-भिन्न आकृतियो, मूर्तिया (अर्चा), अवतारो (विभव), अभिव्यक्तियो (व्यूहो), सकर्षण वासुदेव प्रद्युम्न और अनिरुद्ध, जो वासुदेव की सूक्ष्म आकृति है अथवा सर्वोपरि आत्मा और सर्वान्तर्यामी शासक है, मे विद्यमान है। कही-कही उच्चतम अवस्था (पर) को नारायण अथवा ब्रह्म कहा गया है जो वैकुण्ठ मे निवास करता है जहा ईश्वर केवल सत्त्वगुण से निर्मित शरीर के साथ विद्यमान है। ईश्वर अपनी अनन्त पूर्णता मे अपनी अभिव्यक्तियो से ऊपर है ईश्वर का जो निर्दोष व्यक्तित्व है वह विश्व-सम्बन्धी रूपो मे व्यय नही हो जाता। ईश्वर का अपना स्वतन्त्र जीवन है किन्तु उसके साथ वैयक्तिक सम्बन्ध सम्भव है। वैकुण्ठ मे प्रभु शेषनाग पर बैठा हुआ है और उसकी धर्मपत्नी लक्ष्मी उसे सहारा दिए हुए है। लक्ष्मी जो ईश्वर की सृजनात्मक

1. जीवपरमात्मनोः शरीरात्मभावेन तादात्म्यं न विरुद्धम्। देखें, वेदार्थसंग्रह, पृष्ठ ३०, ३५, ४८ और ११०।
2. १ : १, ३१।
3. विष्णुपुराण, १ : १६, ८५। ब्रह्मसूत्र पर रामानुजभाष्य मे उद्धृत, १ : १, ३१।
सर्वगत्वादनन्तस्य स एवाहम् अवस्थितः।
मत्तः सर्वम् अहं सर्वं मयि सर्वं सनातने॥
4. वेदार्थसंग्रह, पृष्ठ ३०।
5. परब्रह्म परवासुदेवादिवाच्यो नारायणः (यतीन्द्रमतदीपिका)।

शक्ति का काल्पनिक प्रतीक है, परवर्ती वैष्णव-धर्म मे विश्व की दिव्य माता बन जाती है जो कभी-कभी ईश्वर के साथ दुर्बल और दोषपूर्ण मनुष्य जाति की ओर से मध्यस्थता का कार्य करती है। वह ऐसी शक्ति है जो सनातन काल से प्रभु के साथ सयुक्त है। जहा ईश्वर न्याय का प्रतीक है वहा लक्ष्मी दया की प्रतीक है और दोनो गुण ब्रह्म मे एक साथ सयुक्त है ? लक्ष्मी मे जो विष्णु की शक्ति है, त्रिया के दो रूप है अर्थात् नियमन तथा नियन्त्रण का तत्त्व और भूति अर्थात् परिणमन का तत्त्व। ये दोनो शक्ति तथा प्रकृति के अनुकूल है और विष्णु को कार्यक्षम बनाते है। प्रकृति से विश्व की उत्पत्ति होती है। सर्वोपरि सत्ता मे छ प्रकार की पूर्णताए है अर्थात् ज्ञान, शक्ति, बल, प्रभुता, पराक्रम तथा प्रतिभा।[1] सर्वश्रेष्ठ आत्मा वासुदेव तो छहो पूर्णताओ को धारण किए है अन्य तीन व्यूह इनमे से केवल दो ही पूर्णताओ को धारण किए हुए है। रामानुज के मत के अनुसार व्यूह वे आकृतिया है जिन्हे सर्वोच्च ब्रह्म अपने भक्तो पर दया दिखाने के लिए धारण करता है। वे क्रमश जीवात्माओ (सकर्षणो), मनो (प्रद्युम्न) और अहभाव (अनिरुद्ध) पर शासन करती है।[2] विभवरूप विष्णु के अवतार है। अपने गीताभाष्य की प्रस्तावना मे रामानुज कहते है कि ईश्वर ने अपनी अनन्त दया से 'नानाविध रूप धारण किए किन्तु अपने ईश्वरत्व के स्वरूप को भी स्थिर रखा। समय-समय पर उसने अवतार धारण किया, केवल पृथ्वी के भार को हल्का करने के विचार से ही नही वरन् इसलिए भी कि वह हम जैसे मनुष्यो की पहुच मे आ सके। इस प्रकार उसने अपने को जगत् के आगे अभिव्यक्त किया, जिससे कि सारा जगत् उसे देख सके, और ऐसे ही अन्य चमत्कारपूर्ण कृत्य किए, जिसमे कि वह ऊचे अथवा नीचे वर्ग के मनुष्य मात्र के हृदय तथा चक्षुओ को मुग्ध कर सके।" रामानुज का ईश्वर कोई ऐसा उदासीन निरपेक्ष नही है जो हमे स्वर्ग के उच्च शिखरो से केवलमात्र देखता ही है वरन् उनका ईश्वर हमारे जीवन के अनुभवो तथा उद्देश्यो मे हमारा साथ देता है, और जगत् की उन्नति के लिए प्रयत्न करता है। अवतार, शब्दार्थ के अनुसार अप्राकृत से प्राकृत व्यवस्था मे अवतरण है। वे मुख्य अथवा गौण है। जहा विष्णु स्वय प्राकृत व्यवस्था मे हस्तक्षेप करते है वह मुख्य अवस्था है, ईश्वरीय प्रेरणा से युक्त आत्माए गौण अवतार है।[3] मोक्ष के अभिलाषी अवतारो की पूजा करते है जबकि मोक्षाभिलाषियो की उपासना वे करते है जिन्हे लक्ष्मी, शक्ति तथा प्रभाव की अभिलाषा होती है। ईश्वर विधिपूर्वक मन्त्रो द्वारा पवित्र की गई प्रतिमाओ अथवा विग्रह मे निवास करता है। अर्थपचक मे उस दु.ख का वर्णन किया गया है जो कि प्रभु मनुष्यो के प्रति प्रेम के

१. और देखें विष्णुपुराण भी, ६ : ५, ७६।
२. ब्रह्मसूत्र पर रामानुजभाष्य, २ : २, ४०।
३. आवेशावतारः।

कारण एक मूर्ति में निवास को स्वीकार करने से सहन करता है।[1] ईश्वर अन्तर्यामी होने से सब प्राणियों के अन्दर निवास करता है और आत्मा के प्रत्येक भ्रमणचक्र मे, स्वर्ग तथा नरक मे उसके साथ-साथ रहता है। मनुष्य के अन्दर ईश्वर नील वर्णमेघ के अन्दर चमकती हुई बिजली के समान प्रकाश का एक स्फुरण है।[2] अन्तर्यामी के रूप मे ईश्वर ही सबसे उच्च तथा श्रेष्ठ है।[3]

१२

जीवात्मा

रामानुज के दर्शन मे ईश्वर की परिपूर्णता सोपाधिक है जिसके कारण उसकी सर्वव्यापी गतिविधि के क्षेत्र मे स्वतन्त्र आत्माओं की सत्ता का भी स्थान है जिन्हे सब-कुछ ईश्वर से ही मिला है। तो भी उनमे एक स्वेच्छा तथा चुनाव करने की योग्यता विद्यमान है जिसके कारण वे पुरुष कहलाने योग्य है। रामानुज ऐसे व्यक्तियो के विरुद्ध एक प्रबल तथा प्रभावशाली तर्क उठाते है जो मनुष्यो को उसी एकमात्र निरपेक्ष सत्ता के निरर्थक परिवर्तित रूप मानते है। जीवात्मा सर्वोपरि ब्रह्म के ही एक रूप के द्वारा यथार्थ, अद्भुत, नित्य, बुद्धि-सम्पन्न और आत्म चेतनता से युक्त, अखड, अपरिवर्तनशील, अदृश्य और आणविक है।[4] यह शरीर, इन्द्रियों, शक्तिशाली प्राण और बुद्धि से भी भिन्न है। यह ज्ञाता है, कर्त्ता है और भोक्ता भी है। यह मानवीय स्तर पर स्थूल शरीर तथा शक्तिशाली प्राण से सयुक्त है जो कि एक साधन रूप है, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार कि ज्ञानेन्द्रिया।[5] पाच कर्मेन्द्रिया और मन इसके साधन है। मन आत्मा के लिए आन्तरिक अवस्थाओं का प्रकाश करता है और इन्द्रियों की सहायता से बाह्य अवस्थाओं का ज्ञान भी पहुचाता है। मन के व्यापार तीन प्रकार के है निर्णय (अध्यवसाय), आत्मप्रेम (अभिमान) और चिन्तन।[6] आणविक जीव का स्थान हृत्पद्म मे है। सुषुप्ति की अव-

१ "सर्वज्ञ होते हुए भी वह अज्ञ के रूप में प्रकट होता है, आत्मा होते हुए भी अनात्मरूप में, अपने आपका स्वामी होते हुए भी ऐसा प्रकट होता है कि मनुष्यों के अधीन है, सर्वशक्तिमान् होते हुए भी अशक्त प्रकट होता है, सब प्रकार की आवश्यकताओं से स्वतन्त्र होने पर भी आवश्यकतावान्, सबका रक्षक होते हुए भी असहाय रूप में, प्रभु होते हुए भी भृत्य के समान, अदृश्य होते हुए भी दृश्य रूप में, स्वाधीन होने पर भी अधीन होने योग्य प्रकट होता है।"

२. नीलतोयदमध्यस्था विद्युल्लेखेव भास्वरा (वेदार्थसंग्रह)।

३. तुलना कीजिए, पंचरात्ररहस्य।

पूर्वपूर्वोदितोपास्ति विशेषक्षीणकल्मषः।
उत्तरोत्तरमूर्तीनाम् उपास्त्याधिकृतो भवेत्॥

देखें, सर्वदर्शनसंग्रह, ४।

४. २ : ३, १६-३२; २, ३, १८। यतीन्द्रमतदीपिका, ८।

५. २ : ४, १०।

६. इन तीन व्यापारों के अनुसार इसे बुद्धि, अहंकार और चित्त—इन तीन भिन्न-भिन्न नामों से पुकारते हैं।

स्था में यह इसी हृत्पद्म के अन्दर तथा सर्वोपरि आत्मा मे भी रहता है।[1] निद्रा के द्वारा आत्मा के नैरतर्य मे भंग नही होता और इसकी यथार्थता कार्य के नैरतर्य, स्मृति रूप तथ्य, धर्मशास्त्र के कथन और नीतिशास्त्रसम्बन्धी आदेशों के सही प्रमाणित होने से स्पष्ट है।[2] जीव का आकार अणु होने पर भी अपने ज्ञान रूपी गुण के द्वारा, जो सकोच तथा विस्तार को प्राप्त होता है, यह सारे शरीर मे व्याप्त, सुख तथा दुःख का अनुभव कर सकता है, जैसे दीपक की शिखा यद्यपि अपने मे बहुत छोटी है तो भी अपने प्रकाश से अनेक पदार्थों को प्रकाशित करती है, क्योकि उसका प्रकाश सकोच तथा विस्तार को प्राप्त हो सकता है।[3] यह देश तथा काल की दूरी का भी विचार न करके अत्यन्त सुदूरस्थ पदार्थों का ज्ञान ग्रहण कर सकता है। आत्माओ का बोध, जैसा कि ईश्वर के विषय मे है, स्वरूप मे नित्य है, आत्म-निर्भर है, सब वस्तुओ तक विस्तृत है और निर्दोष है, यद्यपि इसका क्षेत्र भूतकाल के कर्म आदि दोषो के कारण सकुचित हो गया है।[4] जीवात्माओ की अनेकता सुखो तथा दुःखो के विभाग के कारण स्पष्ट है।[5] जब तक मोक्ष नही होता वे प्रकृति के साथ जकडी हुई है क्योकि प्रकृति जीवात्मा के लिए वाहन का काम देती है जैसे कि घोडा घुडसवार के लिए वाहन का काम देता है। यह शरीर का बन्धन "यह मलिन तथा क्षय होने वाला परिधान (शरीर)" उस नित्य के दर्शन मे बाधा देता है और आत्मा को ईश्वर के साथ जो उसका मैत्री-सम्बन्ध है, उसे पहचानने से रोकता है।

आत्मा अपने तात्त्विक स्वरूप के कारण समस्त जीवन एव मृत्यु की क्रियाओ के अन्दर अपरिवर्तित रहती है। यह इस चेतन जगत् मे अनेक बार जन्मी और फिर इससे विदा हुई, परन्तु फिर भी यह बराबर अपने उसी व्यक्तित्व को बनाए रखती है। हर-एक प्रलय म जीव की विशेष आकृतिया नष्ट हो जाती है यद्यपि स्वय आत्माए अपने-आप मे अविनश्वर है। वे अपने भूतपूर्व जीवनो मे किए गए कर्मो के परिणामो से छुटकारा नही पा सकती और नई सृष्टि मे उन्हे फिर इस ससार मे उपयुक्त शक्तिया प्रदान करके धकेल दिया जाता है। जन्म तथा मृत्यु से तात्पर्य है शरीरो से साहचर्य तथा विच्छेद, जिसके परिणामस्वरूप बुद्धि का सकोच अथवा विस्तार होता है और मोक्ष-पर्यन्त आवश्यकतावश आत्माए शरीरो से सलग्न है यद्यपि प्रलय मे वे एक सूक्ष्म सामग्री के साथ सम्बद्ध रहती है जिसमे नाम व रूप के भेद का कोई स्थान नही है।[6] आत्मा अपने भूतपूर्व जीवन की साक्षी नही हो सकती क्योकि स्मृति वर्तमान शरीर से परे नही जा सकती।

जीवात्मा का विशिष्ट सारतत्त्व अहं बुद्धि है। यह आत्मा का केवल गुण-मात्र

१. ३ : २, ६। २. ३ : २, ७।
३. २ : ३, २४-२६।
४ ईश्वरस्येव जीवानाम् अपि नित्यं ज्ञानं स्वतश्च सर्वविषय प्रमात्मकं च, तत्तत्कर्मादि-दोषवशात् सकुचितविषयम् (वेदान्तदेशिका : सेश्वरमीमासा)।
५. २ : ३, ४५।
६. ३ : २, ५।

नहीं है जो नष्ट हो जाए और जीवात्मा का अनिवार्य और मुख्य स्वरूप फिर भी अप्रभावित रह जाए। आत्मनिरूपण ही स्वय आत्मा का वास्तविक अस्तित्व है। यदि ऐसा न होता तो मोक्ष-प्राप्ति के लिए प्रयत्न करने का कुछ अर्थ ही न होता। बन्धन तथा मोक्ष, दोनों अवस्थाओं मे आत्मा अपने वैशिष्ट्य को, अर्थात् ज्ञानत्व के भाव को, स्थिर रखती है। आत्मा एक सक्रिय कर्ता भी है। यह इसलिए, चू कि कर्मों का सम्बन्ध आत्मा से है और आत्मा ही कर्मो के परिणामो को भोगती है। केवल इसलिए कि इसमे कर्म करने की शक्ति है। इसमे यह परिणाम नही निकलता कि यह सदा ही कर्म करती है। उस समय तक जब कि कर्म के कारण आत्माओ का सम्बन्ध शरीरो के साथ है उनके कर्म अधिकतर निश्चित है किन्तु जब वे शरीर-सम्बन्ध से मुक्त हो जाती है तो वे अपनी इच्छाओ की पूर्ति केवल सकल्प के द्वारा ही कर लेती है (सकल्पादेव)।

जीव और ईश्वर एक नही है क्योकि जीव मुख्य लक्षणो मे ईश्वर से भिन्न है। इसे ब्रह्म का अश कहा जाता है। यद्यपि यह सम्पूर्ण इकाई मे से काटा गया भाग नही हो सकता, क्योकि ब्रह्म अखण्ड है अर्थात् उसके हिस्से नही हो सकते[1] तो भी यह विश्वात्मा के अन्दर ही समाविष्ट है[1]. रामानुज का कहना है कि आत्माए विशेषण के रूप मे ब्रह्म के अश है, अथवा यो कहे कि सोपाधिक आकृतिया है।[2] आत्माओं को ब्रह्म का कार्य माना गया है क्योकि वे ब्रह्म से भिन्न नही रह सकती किन्तु तो भी वे उत्पन्न होने वाली कार्य-रूप सत्ताए नही हैं जैसे कि आकाश (ईथर) आदि है। आत्मा के तात्त्विक स्वरूप मे परिवर्तन नही होता। यह जिन अवस्थाओ मे परिवर्तित होता है वे है बुद्धि का सकुचन तथा विस्तार जब कि ऐसे परिवर्तन जिनपर, दृष्टान्त के लिए ईथर की, उत्पत्ति निर्भर करती है, तात्त्विक स्वरूप के परिवर्तन है।[3] आत्मा के विशिष्ट लक्षण, जैसे दु:ख की संभावना आदि, ईश्वर मे नही घटते। केवल-मात्र ईश्वर ही तात्त्विक स्वरूप सम्बन्धी परिवर्तनो से स्वतन्त्र है एव जड पदार्थो के विशिष्ट लक्षणो और सकोच तथा विस्तार से भी रहित है जो आत्माओ के विशिष्ट लक्षण है।

सर्वोपरि आत्मा (ब्रह्म) का आभ्यन्तर निवास जीव को अपनी सकल्प सम्बन्धी स्वतन्त्रता से वञ्चित नही करता यद्यपि जीवात्मा का केवलमात्र प्रयत्न ही कर्म करने के लिए पर्याप्त नही है। सर्वोपरि आत्मा का सहयोग भी आवश्यक है।[4] जीवात्मा को अपने

१. २ : ३, ४२।

२. "जीवात्मा विश्वात्मा का उसी प्रकार मे अश है जैसे कि किसी प्रकाशमान पिण्ड से निकलता हुआ प्रकाश, जैसे अग्नि अथवा धूप उस पिण्ड का अंश है, अथवा जैसे गाय या घोड़े के जातिगत लक्षण और सफेद या काला रंग रंगीन वस्तुओं का गुण (विशेषण) है और इसी-लिए उन वस्तुओं के अश है जिनके अन्दर वे रहते हैं, अथवा शरीर जैसे एक शरीरधारी पुरुष का अंश है। क्योंकि अंश से तात्पर्य है वह जो किसी वस्तु का एकदेश हो; विशिष्टता बतलाने वाला विशेषण उस विशिष्ट वस्तु का एक भाग (अंश) है। यद्यपि गुण और द्रव्य का परस्पर सम्बन्ध अंश का अंशी के साथ है तो भी हम उन्हें तात्त्विक रूप में भिन्न देखते हैं।" (२ : ३, ४५)।

३. स्वरूपान्यथाभावलक्षण, २ : ३, १८।

४. २ : ३, ४१।

भविष्य के निर्णय करने मे जो एकाधिकार प्राप्त है उसपर बल देते हुए भी, और यह भी स्वीकार करते हुए कि एक सज्जन पुरुष विश्व के केवलमात्र प्राकृतिक कानून से ऊपर उठ सकता है, रामानुज बलपूर्वक कहते है कि एकमात्र सर्वोपरि नैतिक व्यक्तित्व ईश्वर का ही है जो प्रकृति और कर्म के सब प्रकार के बन्धनो से स्वतन्त्र है।[1] ईश्वर को शेषी अथवा सर्वाधिपति प्रभु कहा गया है जिसके तथा जीवात्माओ के मध्य मे स्वामी तथा उसकी प्रजा का-सा सम्बन्ध है जिसे शेषशेषी-भाव मे प्रकट किया जाता है। शेषित्व ईश्वर की सर्वतत्र स्वतन्त्र शक्ति है जिसके आधार पर वह आत्मा के साथ व्यवहार करता है।[2]

रामानुज के दर्शन मे जीवात्मा का स्वातन्त्र्य (कर्म करने मे) तथा दैवीय आधिपत्य विशेष महत्त्व रखते है क्योकि वह दोनों ही के ऊपर बल देता है। जीवात्मा अपनी क्रियाशीलता के लिए पूर्णरूप से ईश्वर के ऊपर निर्भर करते है। ईश्वर निर्णय करता है कि क्या अच्छा और क्या बुरा है, आत्माओ को शरीर प्रदान करता है तथा अपना कार्य करने की शक्ति देता है और अन्तिम रूप मे आत्माओ की स्वतन्त्रता तथा बन्धन का कारण है। तो भी यदि ससार मे इतना अधिक दुःख और सकट है तो उसके लिए ईश्वर उत्तरदायी नही है वरन् मनुष्य उत्तरदायी है जिसे पाप व पुण्य कर्म करने की शक्ति प्राप्त है। मनुष्य का सकल्प ईश्वर की निरपेक्षता को सीमाबद्ध करता प्रतीत होता है। आत्माए, जिन्हे चुनाव के विषय मे स्वातन्त्र्य प्राप्त है, ऐसा कर्म भी कर सकती है जो ईश्वर की इच्छा मे हस्तक्षेप हो। यदि निरपेक्ष ईश्वर भी कर्म का ही विचार करके तदनुसार कर्म करने को बाध्य हो तो वह निरपेक्ष नही ठहरता। रामानुज इस कठिनाई का समाधान इस प्रकार करते है कि सब मनुष्यो के कर्मो का कारण अन्ततोगत्वा ईश्वर है। किन्तु यह पापमोक्षवाद नही है क्योकि ईश्वर कुछ निश्चित विधान के अनुसार कार्य करता है और उक्त विधान उसके स्वभाव की अभिव्यक्ति है। ईश्वर अपनी स्वेच्छा से किसी मनुष्य से पुण्य अथवा पापकर्म नही करवाता, वरन् निरन्तर कर्मविधान के अनुसार ही कार्य करने की पद्धति का प्रदर्शन करता है। यदि कर्मविधान ईश्वर से स्वतन्त्र है तो ईश्वर की निरपेक्षता मे अन्तर आता है। जो समालोचक यह कहता है कि हम ईश्वर के स्वातन्त्र्य की रक्षा विना कर्मसिद्धान्त के निषेध के नही कर सकते, उसे ईश्वरविषयक हिन्दू विचार का सही-सही ज्ञान ही नही है। कर्मविधान ही ईश्वर की इच्छा को व्यक्त करता है। कर्म की व्यवस्था ईश्वर ने ही बनाई है जो कर्माध्यक्ष है। चूंकि कर्मविधान ईश्वर के स्वभाव के ऊपर निर्भर करता है इसलिए ईश्वर ही को पुण्यात्माओ को पुरस्कार तथा पापात्माओं को दड देने वाला माना जा सकता है।[3] यह दिखाने के लिए कि कर्मविधान ईश्वर से स्वतन्त्र नहीं है,

१. १ : १, २१।

२. इसके साथ लोत्जे की इस कल्पना की तुलना कीजिए कि आत्मा को अपने एकत्व का ज्ञान है और वह ईश्वर से भिन्न एक यथार्थ व्यक्तित्व रखती है। इसी प्रकार वह अन्य आत्माओं से भी भिन्न हैं यद्यपि आत्मा ईश्वर के उत्पादक तथा धारक स्वरूप से ही अपना स्वरूप ग्रहण करती है।

३. २ : २, ३ ; ३ : २, ४।

कभी-कभी यह कहा जाता है कि यद्यपि ईश्वर कर्मविधान को स्थगित कर सकता है तो भी वह ऐसा करने की इच्छा नही करता।[1] नैतिक विधान को क्रियात्मक रूप देने के लिए कृतसकल्प, जो कि उसकी न्यायसगत इच्छा का आविर्भाव है, वह पाप को भी होने देता है जिसे वह अन्यथा रोक सकता है। अन्तर्यामी ईश्वर प्रत्येक अवस्था मे सकल्प-पूर्वक प्रयत्न का ध्यान रखता है क्योकि वही मनुष्य को कर्म करने की प्रेरणा देता है।[2] वह अपने ही विधान को उलटने का विचार भी नही करता जिसमे कि सासारिक योजना मे हस्तक्षेप हो। ससार के अन्दर बैठकर भी ईश्वर अनुचित हस्तक्षेप करने वाला नही बनना चाहता।

जीवो के तीन वर्ग है: नित्य, अर्थात् वे जो वैकुण्ठ मे निवास करते और कर्म तथा प्रकृति से स्वतन्त्र रहकर आनन्द का उपभोग करते है, मुक्त, अर्थात् वे जो अपने ज्ञान, पुण्य और भक्ति के द्वारा मोक्ष प्राप्त करते है तथा बद्ध, अर्थात् वे जो अपने अज्ञान तथा स्वार्थपरता के कारण ससार-चक्र मे घूमते रहते है।[3] जहा एक ओर जीवात्मा ऊचे से ऊचे शिखर तक उठ सकता है वहा यह शरीर के अन्दर ही अधिकाधिक लिप्त रहकर नीचे दर्जे तक गिर भी सकता है, यहा तक कि अपने ज्ञानमय जीवन को भी खो दे सकता है और उस निरुद्देश्य पाशविक जीवन तक पहुच सकता है, जो मनोवेगो तथा भूख की

१. लोकाचार्य कहते हैं: "यद्यपि, स्वेच्छानुकूल कर्म करने की शक्ति रखने के कारण ईश्वर धोखा देकर सब आत्माओं को एक ही समय में मुक्त कर सकता है अर्थात् जीवात्मा के कर्म को हटाकर जो अपने सारतत्त्व तथा स्थिरता आदि के लिए उसीके ऊपर निर्भर करता है, उसके इस निर्णय का कारण कि वह आत्माओ को धर्मशास्त्रो द्वारा विहित नियमों, अर्थात् कर्म विधान के ही अधीन रखेगा, केवलमात्र उसकी लीला से प्राप्त प्रसन्नता रूपी इच्छा ही है।" यथेच्छं कर्तुं शक्तत्वात् सकलात्मनोऽपि युगपदेव मुक्तान् कर्तुं समर्थत्वेऽपि स्वाधीनस्वरूपस्थित्यादिनात्मनः कर्म व्याजीकृत्य 'दूरीकृत्य शास्त्रमर्यादया तान् अङ्गीकुर्याम् इत्थं स्थिति' लीलारसेच्छयैव (तत्त्वत्रय, पृष्ठ १०८)। ईश्वर स्रष्टा है, एवं कर्म गौण कारण है। "दैवीय शक्ति अपनी शक्ति तथा महत्ता के अनुकूल लीला के वश होकर (स्वमाहात्म्यानुगुणलीलाप्रवृत्त) और उक्त कर्म का निश्चय कर देने के कारण, दो प्रकार के स्वभाव (द्वैविध्यं) का है, अर्थात् पुण्य और पाप, तथा समस्त जीवात्माओं को शरीर और इन्द्रिया प्रदान करके, जिससे कि वे इस प्रकार के कर्म को करने तथा अपने शरीरों और इन्द्रियों पर नियंत्रण करने योग्य हो सकें (तन्नियमनशक्ति), वह स्वयं उनकी आत्माओं मे अन्तर्यामी आत्मा के रूप में प्रविष्ट होकर उनके अन्दर निवास करता है। आत्माएं प्रभु के द्वारा प्रदत्त समस्त शक्तियों से युक्त होकर अपनी ओर से और अपनी इच्छाओं से प्रेरित होकर पाप व पुण्य कर्म करने में प्रवृत्त होती हैं (स्वयमेव स्वेच्छानुगुण्येन पुण्यापुण्यरूपे कर्मणी उपाददते)। तब प्रभु ऐसे व्यक्ति को, जो शुभ कर्म करता है, पहचानकर कि वह प्रभु के आदेशानुसार कार्य करता है, उसे धार्मिकता तथा धन सम्पत्ति से भरपूर करता है एवं सुख-सम्पत्ति तथा मोक्ष प्रदान करता है, तथा ऐसे व्यक्ति को जो प्रभु के आदेश का उल्लंघन करता है, इससे विपरीत दुःखों को भुगवाता है" (२ : २३)

२. २ : ८, ४१।

३. देखें, रहस्यत्रयसार, ४। ऐसे भी कुछ विशिष्टाद्वैती है जो मानते है कि ऐसे भी व्यक्ति हैं जो सदा के लिए ससारचक्र में जकड़े हुए हैं (नित्यबद्धाः)। देखें, तत्त्वमुक्ताकलाप, १ : २७-२८।

तृप्ति का जीवन है।[1] संसार-चक्र मे भ्रमण करते हुए जीवात्माओं के चार वर्ग हैं: आकाशीय अथवा अतिमानव, मानव, पशु और स्थावर। यद्यपि सब जीवात्मा एक ही कोटि के है तो भी उनमे उन शरीरो के कारण भेद किए जाते है जो उन्हे दिए गए हैं। जीवात्माओ के अंदर वर्णभेद भी उनके भिन्न-भिन्न शरीरों के कारण है। स्वरूप में जीवात्मा न तो मानवीय है, न आकाशीय है, न ब्राह्मण है और न शूद्र हैं। ससार के अन्दर जीवात्माओ के विभाग दो प्रकार के है—एक वे जो सुखोपभोग की इच्छा रखते है और दूसरे वे जो मोक्ष के इच्छुक है। जब तक जीवात्मा मोक्ष को प्राप्त नहीं कर लेता इसका पुनर्जन्म होना आवश्यक है जिससे कि यह अपने कर्मों के फल का उपभोग कर सके। जीवात्मा दूसरा शरीर धारण करने के लिए गति करते समय मूल तत्त्वों से आवृत रहता है।[2] और ये मूलतत्त्व ही जीवन के अधिष्ठान का कार्य करते है।[3] जब तक बन्धन रहता है तब तक सूक्ष्म शरीर का भी अस्तित्व रहता है।[4] मुक्तात्मा पुरुष देवयान मार्ग से, तथा पुण्यात्मा पितृयान में जाते है किन्तु पापात्मा चन्द्रलोक तक पहुंचने से पहले ही तुरन्त पृथ्वी पर लौट आते है। ईश्वर के दूत जीवात्मा को ऊपर की ओर का पथप्रदर्शन करते है।[5] यदि जीवात्माओ को दैवीय स्वरूप मे किसी प्रकार का भी हिस्सा बटाना है तो उन्हे एक बार अपनी स्वतन्त्रता तथा पवित्रता प्राप्त करनी चाहिए। वे इनको खोकर कर्म के विधान मे कैसे आएगे ? रामानुज का मत है कि न तो तर्क और न धर्मशास्त्र ही हमे यह बतलाने मे समर्थ है कि किस प्रकार कर्म ने आत्मा को अपने वश में किया क्योकि विश्व की प्रक्रिया अनादि है।

१३

प्रकृति

प्रकृति, काल और शुद्धतत्त्व तीनो अचेतन द्रव्य है। वे भोग्य पदार्थ है जिनमें परिवर्तन हो सकता है और जो मनुष्य के उद्देश्यो के प्रति उदासीन है।[6] प्रकृति का अस्तित्व प्रत्यक्ष अथवा अनुमान का विषय नही है। इसे श्रुति के प्रामाण्य के आधार पर माना जाता है।[7] इसके तीनो गुण अर्थात् सत्त्व, रजस् और तमस् सृष्टि-रचना के समय इसमें प्रकट होते है। प्रलय-काल मे प्रकृति का अस्तित्व अत्यन्त सूक्ष्म दशा मे रहता है जिसमें नाम व रूप का कोई भेद नही होता और उसे तमस् कहते है। प्रकृति अज (जिसकी कभी रचना नही हुई) है यद्यपि इसके रूप प्रकट होते तथा विलुप्त होते रहते है।

सृष्टि-रचना के समय तमस् से महत् प्रकट होता है: महत् से अहङ्कार अथवा भूतादि प्रकट होते है। सात्त्विक अहङ्कार से ग्यारह इन्द्रिया उत्पन्न होती है, तामस् मे पाच तन्मात्राए अथवा पाच तत्त्व और राजसाहङ्कार इन दोनों

१. १ : १, ४। २. ३ : १, १। ३. ३ : १, ३।
४. ४ : २, ६, और ३ : ३, ३०। ५. ४ : ३, ४।
६. सर्वदर्शनसंग्रह, ४। ७. तत्त्वमुक्ताकलाप, १ : ११।

प्रक्रियाओ मे सहायक होता है।[1] अहङ्कार से शब्द का सूक्ष्म तत्त्व प्रकट होता है और उसके पश्चात् आकाश। आकाश से प्रकट होता है सूक्ष्म तत्त्व स्पर्श (त्वचा) का और उसके आगे वायु आदि दूसरे तत्त्वो के लिए भी यही प्रक्रिया है। शब्द, स्पर्श आदि गुणो से हम तदनुकूल द्रव्यो का अनुमान लगा लेते है। शब्द सब तत्त्वो मे है। स्पर्श का अनुभव तीन प्रकार का है, उष्ण, शीतल और न शीतल न उष्ण। रग पाच है जो गरमी पाकर परिवर्तित भी हो सकते है। विशिष्टाद्वैतवादी आकाश के अतिरिक्त अन्य किसी यथार्थ देश का नही मानते और तर्क करते हैं कि हम इसके अन्दर ही कुछ बिन्दु निश्चित कर लेते है जैसे कि पूर्व, जहा कि सूर्य उदय होता है, और पश्चिम, जहा यह अस्त होता हे, और इन्ही दृष्टि-कोणो द्वारा सामीप्य अथवा दूरी को मापते है।[2] मुख्य प्राण को इन्द्रियो के साथ न मिला देना चाहिए, यह वायु की एक अवस्था-विशेष है।[3] साख्य के विपरीत विशिष्टाद्वैत का मत है कि प्रकृति का विकास तथा उसका नियन्त्रण ईश्वर के द्वारा होता हे।[4]

काल को एक स्वतन्त्र स्थान दिया गया है। यह अस्तित्व मात्र का एक रूप है।[5] यह प्रत्यक्ष का विषय है। दिनो और महीनो आदि के भेद, काल के ही सम्बन्ध के ऊपर आधारित हैं।[6]

जब कि प्रकृति के तीन गुण सत्त्व, रजस् और तमस् है, तब शुद्ध तत्त्व का केवल एक गुण है सत्त्व। यह ईश्वर के शरीर की उसकी नित्य विभूति की दशा म निर्माण-सामग्री है। यह आन्तरिक स्वरूप को नही छिपाता है। ईश्वर प्रकृति की सहायता से तथा अपनी लीलामय विभूति के द्वारा अपने का त्रिस्वरूपी शक्ति मे अभिव्यक्त करता है। और शुद्धसत्त्व की सहायता से अपनी नित्य विभूति के द्वारा अपने का अतीन्द्रिय अस्तित्व मे व्यक्त करता है।

ये सब अचेतन सत्ताए, जो ईश्वर की इच्छा के अधीन काम करती है[7], वे सब अपने-आप में न अच्छी है न बुरी हैं किन्तु जीवात्माओ का उनके कर्म के अनुसार सुख अथवा दु ख पहुचाती है। उनके व्यवहार का निर्णय करना ईश्वर का काम है क्योकि "यदि वस्तुओं के परिणाम केवल उनके अपने ही स्वभाव के ऊपर निर्भर करते तो प्रत्येक वस्तु प्रत्येक समय मे सब मनुष्यो के लिए सुख अथवा दु ख ही देने वाली होती। किन्तु देखा जाता है कि यह बात नही है। "सर्वश्रेष्ठ ब्रह्म के लिए, जो केवल अपने ही अधीन है, वही सम्बन्ध लीलामय खेल का स्रोत है और यही उन वस्तुओ को प्रेरणा भी देता है और विविध प्रकार से उनका नियन्त्रण भी करता है।"[8] ऐसे व्यक्ति के लिए जिसने अपने को

१. सर्वार्थसिद्धि, १ : ११।
२. तत्त्वमुक्ताकलाप, १ : ४८।
३. तत्त्वमुक्ताकलाप १ : ५३-५४।
४. सर्वार्थसिद्धि, १ : १६।
५. तत्त्वत्रय के अनुसार काल तत्त्वशून्य है।
६. उपाधिभेद। (तत्त्वमुक्ताकलाप, १ : ६६)।
७. २ : २, २।
८. ३ : २, १२।

अविद्या तथा कर्म के सब प्रकार के बन्धनों से मुक्त कर लिया है, यह संसार वस्तुतः आनन्दमय प्रतीत होगा, जहां आत्माएं तथा प्रकृति दोनों ईश्वर के शरीर अथवा गुणों को बनाती हैं। उसका सीधा सम्बन्ध जीवात्माओं के साथ है और प्रकृति के साथ केवल परोक्ष रूप में है क्योंकि प्रकृति का नियन्त्रण आत्माओं के द्वारा होता है। प्रकृति अत्यधिक पूर्णता के साथ जीवात्माओं की अपेक्षा ब्रह्म के ऊपर निर्भर है क्योंकि आत्माओं को चुनाव करने की स्वतन्त्रता है। जीवात्माए दैवीय जीवन में भाग ले सकती हैं और इस प्रकार परिवर्तन तथा मृत्यु से ऊपर उठ सकती है।

१४

सृष्टि-रचना

रामानुज के अनुसार हर एक कार्य का एक उपादान कारण होता है और जगत्रूपी कार्य स्वतन्त्र सत्तावाली आत्माओं तथा अविकसित प्रकृति की ओर संकेत करता है। यद्यपि आत्माएं तथा प्रकृति ईश्वर के प्रकार है तो भी उन्होंने अनन्त काल से स्वतन्त्र अस्तित्व का उपभोग किया है और इसलिए पूर्ण रूप से ब्रह्म के अन्दर विलीन नहीं हो सकते। एक प्रकार से उनकी गौण सत्ता है जो उन्हें अपने ही विधान के अनुसार विकसित होने योग्य बनने के लिए पर्याप्त है। वे दो भिन्न-भिन्न अवस्थाओं में विद्यमान रहते हैं जो समय-समय के व्यवधान से क्रम के अनुसार आती है—पहली एक सूक्ष्म अवस्था है जिसमें उनके अन्दर वे गुण विद्यमान नहीं होते जिनके द्वारा साधारणतः वे जानी जाती हैं, और इस अवस्था में नाम व रूप का कोई भेद नहीं लक्षित होता। इस अवस्था में प्रकृति अव्यक्त है और प्रज्ञा संकुचित अवस्था मे रहती है। यह प्रलय की अवस्था है जब कि कहा जाता है कि ब्रह्म कारणावस्था मे वर्तमान होता है। उसके पश्चात् जब प्रभु की इच्छा से सृष्टि की रचना प्रारम्भ होती है तब प्रकृति सूक्ष्म अवस्था से स्थूल अवस्था में परिणत हो जाती है और आत्माए उन भौतिक शरीरो में प्रविष्ट हो जाती हैं जो उन्हें उससे पूर्व के जन्मो में किए गए पुण्य या पापकर्मो के अनुसार प्राप्त होते हैं, और उनकी बुद्धि का विकास एक निश्चित प्रकार से होता है। इस प्रकार आत्माओं तथा प्रकृति के सम्पर्क से युक्त ब्रह्म व्यक्त होकर कार्यावस्था में आ जाता है, ऐसा कहा गया है। सृष्टि तथा प्रलय केवल सापेक्ष है और उसी एक ब्रह्मरूपी कारणात्मक तत्त्व का द्योतन करते है।[1] आत्माओ तथा प्रकृति का दो प्रकार का अस्तित्व है, एक कारणात्मक और दूसरा कार्यात्मक। अपने कारणात्मक अस्तित्व मे आत्माए अभौतिक होती हैं और प्रकृति साम्यावस्था में रहती है; किन्तु जब सृष्टि-रचना का समय आता है तो आत्माएं अपने कर्म के प्रभाव से तीनों गुणों (सत्त्व, रजस्, और तमस्) की साम्यावस्था में हलचल उत्पन्न करती हैं और प्रकृति उनके कर्मफल को दैवीय शक्ति के अन्तर्गत क्रियात्मक रूप प्रदान करती है। आत्माए अपने कर्मों के फल का उपभोग कर सकें इसीलिए सृष्टिरचना होती है। ईश्वर जगत् की सृष्टि करता है जिससे कि आत्माओं को

१. देखें, भगवद्गीता पर रामानुजभाष्य, १३ : २ ; ६ : ७।

अपने कर्मों के अनुकूल फल मिल सके। इन अर्थों में ईश्वर का रचनात्मक कर्म स्वतन्त्र अथवा निरपेक्ष नहीं है।[1]

> पञ्चरात्र के वर्णन के अनुसार 'शुद्ध सृष्टि' तथा 'स्थूल सृष्टि' में भेद किया गया है। शुद्ध सृष्टि वस्तुतः सृष्टि न होकर एक प्रकार से ईश्वर की अनवरत विद्यमान रहने वाली आन्तरिक अभिव्यक्ति है जिसमें ईश्वर के सर्वज्ञता, ऐश्वर्य, सृजनशक्ति, समस्त विश्व को धारण करने की शक्ति निर्विकारिता-स्वरूप वीर्य और दैवीय पूर्णता तथा तेज आदि गुण अपने को प्रकट करते हैं। ये गुण ही वासुदेव और लक्ष्मी अथवा लक्ष्मी के साहचर्ययुक्त वासुदेव के शरीर का निर्माण करते हैं। व्यूह और विभव भी विशुद्ध सृष्टि से ही सम्बद्ध हैं। वैकुण्ठ, जिसका भौतिक कारण भी शुद्ध सत्य है, इसी शुद्ध सृष्टि के साथ सम्बद्ध है।[2] स्थूल सृष्टि की रचना पूर्ववर्णित व्यवस्था के अनुसार प्रकृति द्वारा होती है जो तीन गुणों से मिलकर बनी है।[3] ईश्वर के लिए सृष्टि की रचना केवल लीला मात्र है।[4] लीला का उदाहरण रूपी अलंकार सृष्टिरचना रूपी कर्म के अन्तर्निहित निःस्वार्थ भाव, स्वातन्त्र्य तथा आह्लाद को प्रकट करना है। इससे रामानुज का यह जो आग्रह है कि ईश्वर नितान्त स्वतंत्र है और किसीके ऊपर निर्भर नहीं है, इस सिद्धान्त का समर्थन होता है। प्रकृति और आत्माएं ईश्वर की उक्त लीला के साधन मात्र हैं और किसी अवस्था में भी उसकी इच्छा के मार्ग में बाधा नहीं दे सकते। इस जगद्रूपी समस्त नाटक का भार ईश्वर अपनी स्वतंत्र इच्छा के अनुसार ग्रहण करता है।[5]

शंकर के समक्ष जो समस्या है कि नितान्त पूर्णरूप ब्रह्म से अपूर्णतायुक्त जगत् कैसे उत्पन्न हो सकता है, कम से कम सीमित बुद्धि के लिए इस विषय को व्याख्या करना असम्भव है। अनन्त से सान्त की सृष्टि किस प्रकार हुई, यह समस्या रामानुज के समक्ष नहीं आती क्योंकि वे श्रुति के प्रमाण के आधार पर सान्त जगत् की सृष्टि अनन्त से होती है इसे स्वीकार करने को उद्यत हैं। और जो कुछ श्रुति ने कहा उसे तर्क द्वारा भी अवश्य सिद्ध किया जा सकता है। क्या यह भी ईश्वर की इच्छा के अधीन हो सकता है अथवा नहीं कि अव्यक्त प्रकृति तथा अभौतिक आत्माएं विद्यमान हों? यह बिलकुल सत्य है कि उक्त स्वतःसिद्ध तत्त्व जिनके ऊपर दैवीय इच्छाशक्ति सृष्टिरचना में निर्भर

१. २ : १, ३०–३५।

२. वैष्णव धर्म का बंगाली सम्प्रदाय इस योजना को स्वीकार करता है, किन्तु विष्णु और लक्ष्मी के स्थान पर कृष्ण तथा राधा को रख लेता है।

३. पञ्चरात्र सम्प्रदाय की संहिताओं में एक मध्यवर्ती सृष्टि को भी माना गया है।

४. तुलना कीजिए, क्रीडा हरेरिदं सर्वम्। आगे कहा गया है—हरे विहरसि क्रीडाकन्दुकैरिव जन्तुभिः। और यह सूत्र भी—लोकवत्तु लीलाकैवल्यम्।

५. स्वसंकल्पकृतम् (भगवद्गीता पर रामानुजभाष्य, १ : २५)। तुलना कीजिए, "ईश्वर अनन्त साधनों में अनन्त आनन्द का उपभोग करता है" (ब्राउनिंग : 'पैरासेल्सस')।

करती है कही बाहर से नही आए, जैसा कि मध्व का मत है, किन्तु ईश्वर के अन्दर उसके प्रकार-रूप से निहित है। हर हालत मे ईश्वर की इच्छा उनके पूर्व अस्तित्व के ऊपर निर्भर करती है। इस प्रकार की कल्पना करना सम्भव हो सकता है कि भिन्न प्रकार की सामग्री से इससे उत्तम प्रकार के जगत् का निर्माण किया जा सकता था। ईश्वर सब प्रकार के सम्भव जगतो मे से सर्वोत्तम जगत् को तो नही चुन सकता था किन्तु प्रस्तुत सामग्री द्वारा ही सर्वोत्तम जगत् का निर्माण कर सकता था। ब्रह्म की सत्ता सर्वथा निरुपाधिक है[1] किन्तु जड प्रकृति के विषय मे यह लागू नही है क्योकि वह परिवर्तन का आधार है और आत्माए प्रकृति मे फसी हुई है। किन्तु यह समझना एक कठिन कार्य है कि किस प्रकार ब्रह्म को निर्विकार माना जा सकता है जब कि उसके गुणो मे अवस्था-परिवर्तन होता है तथा आत्माओ और प्रकृति मे भी परिवर्तन होता है। उक्त प्रकार सूक्ष्म से स्थूल अवस्था मे परिवर्तित होते है तथा इसके विपरीत भी। इसलिए रामानुज को बाध्य होकर स्वीकार करना होता है कि ईश्वर भी परिवर्तन के अधीन है।[2] रामानुज सान्त को अनन्त के गुण के रूप म मान लेते है। उक्त मत मे यह परिणाम निकलता है कि अनन्त का अस्तित्व अपने गुण के बिना नहीं रह सकता और इस प्रकार अनन्त के लिए गुण आवश्यक है। तो भी रामानुज इसे स्वीकार करने मे अपने को असमर्थ पाते है, क्योकि श्रुति के अनेक वाक्य इसके विरोधी है। "ये प्राणी मेरे अन्दर नही है," इस वाक्य पर टिप्पणी करते हुए रामानुज कहते है "अपनी इच्छा के कारण मै सब प्राणियो का धारणकर्ता हूँ किन्तु तो भी इन प्राणियो मे से किसीसे भी मुझे कोई सहारा नही है।" "मुझे अपने अस्तित्व मे इन सबसे किसी प्रकार की भी सहायता प्राप्त नही है।"[4] जगत् का अस्तित्व दैवीय शक्ति के लिए सर्वथा अनावश्यक है। इस प्रकार के मत की अनुकूलता रामानुज के इस साधारण मत के साथ नही बनती कि जगत् का आधार ईश्वर के स्वभाव के अन्दर है। गीता के इस कथन पर कि "भक्तिपूर्वक जो कुछ भी पत्र-पुष्प मुझे अर्पण किया जाए मै उसीसे प्रसन्न हो जाता हू" टिप्पणी करते हुए रामानुज कहते हैं : "यद्यपि मै अपने स्वाभाविक, निस्सीम तथा अपार आनन्द मे रहता हू तो भी मैं उक्त उपहारो से प्रसन्नता लाभ करता हू, मानो मेरी इच्छा की परिधि से बाहर का कोई प्रिय पदार्थ मुझे अर्पित किया गया हो।"[5] ईश्वर अपने भक्तो की स्वेच्छापूर्वक की गई भक्ति के द्वारा भी प्रसन्नता-लाभ करने को उद्यत है किन्तु उसी प्रकार अन्यो के दुःखो अथवा क्लेशो से अपने को अभिभूत करने के लिए उद्यत नही है। यदि आत्माए प्रभु के अंश है तब तो आत्मा के दुःख से प्रभु को भी दुःखानुभूति होनी चाहिए, जिस प्रकार कि

१. निरुपाधिकसत्ता, १ : १,२। तुलना कीजिए, श्रुतप्रकाशिका : केनापि परिणामविशेषेण तत्तदवस्थस्य सत्ता सोपाधिकसत्ता, अतो निरुपाधिकसत्ता निर्विकारत्वम्।

२. उभयप्रकारविशिष्टे नियन्त्रंशे तदवस्थतद्उभयविशिष्टतारूपविकारो भवति (ब्रह्मसूत्र पर रामानुजभाष्य, २ : ३, १८)।

३. भगवद्गीता, ६ : ४।

४. मत्स्थितौ तैर्न कश्चिदुपकारः (भगवद्गीता पर रामानुजभाष्य, ६ : ४)।

५. भगवद्गीता पर रामानुजभाष्य, ६ : २६।

हाथ अथवा पांव की पीड़ा से मनुष्य भी दुःखित होता है। इसी प्रकार सर्वोपरि प्रभु को भी आत्मा की अपेक्षा अधिक दुःख अनुभव होगा।[1] किन्तु इसके उत्तर में रामानुज का कहना है कि आत्माओं का दुःख ईश्वर के स्वभाव को कलुषित नहीं करता। यदि सृष्टि-रचना, सृष्टि का धारण तथा सृष्टि का विनाश ये कर्म ईश्वर को प्रसन्नता प्रदान करते हैं तो क्या हम इससे यह परिणाम निकाल सकते है कि ईश्वर की प्रसन्नता में भी परिवर्तन सम्भव है और वह उक्त व्यापारों द्वारा बढती है ? ईश्वर का स्वभाव अतीन्द्रिय आत्मा के रूप में आह्लादमय है और उसके गुणो के परिवर्तन भी उसके आह्लाद में वृद्धि ही करते है। जिस प्रकार आत्मा तथा देह का सम्बन्ध तर्क द्वारा निश्चित नही हो सकता, इसी प्रकार अतीन्द्रिय आह्लाद, जो अपने-आप मे निर्दोष और परिवर्तनरहित है तथा उसके शरीर से उत्पन्न आह्लाद मे जो भेद है उसकी बुद्धिपूर्वक व्याख्या नही की जा सकती।

रामानुज मायावाद तथा जगत् के मिथ्यात्व का बलपूर्वक विरोध करते है। यदि जगत् में विद्यमान भेद मनुष्य के अपने मन की अपूर्णता के कारण है तो फिर ईश्वर की दृष्टि में इस प्रकार का कोई भेद नही होना चाहिए : किन्तु धर्मशास्त्र हमे बतलाता है कि ईश्वर ससार की रचना करता है और भिन्न-भिन्न आत्माओ को उनके कर्मों के अनुसार फल देता है। इस प्रकार धर्मशास्त्र का सकेत है कि ईश्वर ससार के अन्दर वर्तमान भेदो को स्वीकार करता है। हम यह नही कह सकते कि अनेकत्व मिथ्या है जिस प्रकार कि मृगतृष्णिका है, क्योंकि मृगतृष्णिका तो इसलिए मिथ्या है कि उसके द्वारा प्रेरित हमारी क्रिया निष्फल होती है किन्तु ससार को प्रत्यक्ष करके जो क्रिया हम करते है वह इस प्रकार निष्फल नही होती। और न ऐसा कहना ही तर्कसंगत होगा कि जगत् की यथार्थता जो प्रत्यक्ष द्वारा प्रमाणित होती है, शास्त्र के प्रमाण से अन्यथासिद्ध हो जाती है क्योंकि प्रत्यक्ष तथा शास्त्र के क्षेत्र एक-दूसरे से सर्वथा भिन्न है और इसलिए वे एक-दूसरे के विरोधी नही हो सकते।[2] सब प्रकार का ज्ञान पदार्थों को प्रकाश मे लाना है।[3] यह कहना कि पदार्थो का अस्तित्व नही है केवल इसलिए कि वे स्थिर नही रहते बिलकुल अजीब बात है। इस तर्क मे एक विरोधाभास है जो विरोधी तथा भिन्न पदार्थों मे भेद न करने के कारण उत्पन्न हुआ है। भेद के कारण किसी पदार्थ का निषेध नही किया जा सकता। तथा जहा पर दो प्रकार के ज्ञान (बोध) परस्पर-विरोधी हों वहा दोनो ही यथार्थ नही हो सकते। "किन्तु घड़े, कपडे के टुकडे आदि-आदि एक-दूसरे के विरोधी नही है क्योंकि स्थान तथा काल-भेद से वे अलग-अलग है। यदि किसी पदार्थ का अभाव एक ही समय और एक ही काल और एक ही स्थान में ज्ञान का विषय बना जहा पर और तभी उसका अस्तित्व भी देखा गया, तब

१. ब्रह्मसूत्र पर शांकरभाष्य, २ : ३, ४५।

२. आकाशवाय्वादिभूता पदार्थग्राहि प्रत्यक्षम्; शास्त्रं तु प्रत्यक्षाद्यपरिच्छेद्य सर्वान्तरात्मत्वसत्यत्वाद्यनन्तविशेषणविशिष्टब्रह्मस्वरूपा विषयम्, इति शास्त्रप्रत्यक्षयोर्न विरोधः (वेदार्थसंग्रह, पृष्ठ ८७)।

३. अर्थप्रकाश।

हमे दो ज्ञानो का परस्पर विरोध मिलता है। किन्तु जब किसी पदार्थ का जो किसी स्थान पर और किसी काल मे देखा गया है, किसी अन्य स्थान तथा काल मे अभाव देखा जाए तब कोई विरोध नही उत्पन्न होता।[1] रस्सी को भूल से साप समझ लेने के दृष्टात मे अभाव का बोध पूर्व मे निर्धारित स्थान और समय के सम्बन्ध मे उत्पन्न होता है। इस प्रकार वहा विरोध है। किन्तु यदि एक समय विशेष मे देखा गया कोई पदार्थ अन्य समय अथवा अन्य स्थान मे नही रहता तो हमे तुरन्त इस परिणाम पर नही पहुच जाना चाहिए कि वह पदार्थ मिथ्या है। शकर और रामानुज दोनो ही सारूप्य के तर्क पर बल देते है,[2] केवल रामानुज का मत है कि यथार्थ सारूप्य परस्पर भेद तथा निश्चित रूप को उपलक्षित करता है यद्यपि यह परस्पर विरोध तथा निषेध का उपलक्षण नही है।

रामानुज ने अद्वैत मत के अविद्यारूपी सिद्धात के विरोध मे अनेक आक्षेप उठाए है। अविद्या का आश्रय क्या है ? यह ब्रह्म नही हो सकती क्योकि ब्रह्म पूर्ण निर्दोष है। यह जीवात्मा नही हो सकती क्योकि जीवात्मा अविद्या की उपज है. अविद्या ब्रह्म का आवृत नही कर सकती क्योकि ब्रह्म का स्वभाव स्वरूप मे तेजोमय है। यदि यह कहे कि यह आत्मप्रकाशित चेतना है जिसका न कोई प्रमेय विषय है और न अधिष्ठान है और जो पूर्णता के प्रभाव से, जो उसके अन्तर्निहित है, अनन्त पदार्थो के साथ सम्बद्ध होने का ज्ञान प्राप्त कर लेती है, तो वह अपूर्णता यथार्थ है अथवा अयथार्थ है ? अद्वैतवादियो के अनुसार इसे स्वय ईश्वर ने विद्यमान रहने दिया है। मानवीय ज्ञान के अन्दर जब कोई अव्यक्त पदार्थ व्यक्त रूप मे आता है तब हम किसी ऐसे पदार्थ की कल्पना कर लेते है जिसने उसके व्यक्त होने मे बाधा डाल रखी थी। किन्तु ब्रह्म के विषय मे ऐसे किसी दोष की कल्पना नही की जा सकती। इसके अतिरिक्त यदि माना जाए कि अविद्या ब्रह्म को भी अपने जाल मे फसा लेती है तब व्यापक मिथ्यात्व ही केवल मात्र यथार्थता रह जाएगी और हम उसमे नही निकल सकते। तर्क के द्वारा अविद्या के स्वरूप का निर्णय नही हो सकता है। यह न तो यथार्थ है और न अयथार्थ ही है। यह कहना कि कोई वस्तु अनिर्वचनीय है तर्क के विरुद्ध है, कोई भी प्रमाण अविद्या के अस्तित्व को सिद्ध नही कर सकता। न प्रत्यक्ष, न अनुमान और न आगम प्रमाण ही अविद्या के अस्तित्व को सिद्ध कर सकता है। धर्मशास्त्रो मे माया शब्द का प्रयोग ईश्वर की अद्भुत शक्ति को सकेत करने के लिए प्रयुक्त हुआ है जिसका नित्य स्थायी अयथार्थ अविद्या से कोई सम्बन्ध नही है। अद्वैत सिद्धात के अनुसार धर्मशास्त्र भी इस मिथ्या जगत् का एक भाग है और इस प्रकार समस्त ज्ञान की आधारभित्ति ही नष्ट हो जाती है। यदि अविद्या का नाश (निवर्तन) उस ब्रह्म के ज्ञान से होना है जो सर्वथा निर्गुण है तो अविद्या का नाश कभी सम्भव नही हो सकता क्योकि इस प्रकार का ज्ञान असभव है। अमूर्त भावात्मक ज्ञान

१. देशान्तरकालान्तरसम्बन्धितयानुभूतस्यान्यदेशकालयोरभावप्रतिपत्तौ न विरोधः (१ : १, १)।

२. ब्रह्मसूत्र पर शांकरभाष्य, २ : २, ३३; ब्रह्मसूत्र पर रामानुजभाष्य २ : २, ३१।

के द्वारा अविद्या-रूपी जो एक ठोस यथार्थता है उसका विनाश (निवृत्ति) नही हो सकती। वस्तुतः जगत् इतना महान् तथा अर्थपूर्ण है कि इसे इतने सरल रूप मे केवल अविद्या की उपज कहकर मिथ्या नही घोषित किया जा सकता। यथार्थ अविद्या, जिसके हम सब शिकार है, भ्रम की वह शक्ति है जिसके कारण हम विश्वास किए बैठे है कि हमारा अपना तथा जगत् का भी अस्तित्व ब्रह्म के अस्तित्व मे स्वतन्त्र है।

१५

नैतिक तथा धार्मिक जीवन

इस ससार मे जीव, जिनकी आत्माए शरीरो से आवृत है, उन द्वीप निवासियो की भाति है जो समुद्र के ज्ञान के बिना ही अपना जीवन व्यतीत करते है। वे समझते है कि वे ईश्वर के विविध प्रकार न होकर प्रकृति की देन है। अपने पूर्वजन्म के कर्मो के कारण आत्मा अपने को एक ऐसे भौतिक शरीर के अन्दर आबद्ध पाती है जिसका आभ्यन्तर प्रकाश बाह्य अन्धकार के कारण धुधला पड गया है। यह भूलकर प्राकृतिक आवरण को ही अपनी यथार्थ आत्मा समझ बैठी है एव शरीर के गुणो को अपने गुण समझने लगी है तथा मानवीय जीवन के अस्थायी सुखो को यथार्थ आनन्द समझकर ईश्वर से विमुख हो जाती है। आत्मा का अध पतन कर्म तथा अविद्या के कारण है जिनके कारण ही इसे शरीर धारण करना पडा। आत्मा का, जो कि एक विशुद्धसत्त्व है, प्रकृति के साथ सम्पर्क होना ही आत्मा की अवनति है, इसका पाप न केवल ऊपर की ओर इसकी उन्नति मे बाधक है अपितु ईश्वर के प्रति अपराध भी है। अविद्या का स्थान विद्या को अथवा इस अन्तर्दृष्टि को लेना है कि ईश्वर ही विश्वमात्र का आधारभूत आत्मतत्त्व है।

रामानुज के अनुसार जीवात्माओ को अपनी-अपनी इच्छा के अनुसार कर्म करने की स्वतन्त्रता प्राप्त है। जहा तक उत्तरदायित्व का सम्बन्ध है, प्रत्येक व्यक्ति (जीवात्मा) ईश्वर के अतिरिक्त तथा उससे भिन्न है। जब जीवात्मा ईश्वर की अधीनता को पहचानने मे असमर्थ रहता है, तो ईश्वर उसे उक्त सत्य को पहचानने मे कर्मरूप यन्त्र द्वारा सहायक होता है तथा जीवात्मा को दण्ड देता है, और इस प्रकार उसे अपने पाप-कर्मों का स्मरण कराता है। अन्तर्यामी ईश्वर के व्यापार द्वारा जीवात्मा अपने पापमय जीवन की पहचान करता है और ईश्वर से सहायता के लिए याचना करता है। रामानुज के दर्शन मे पाप के लिए दण्ड तथा इसके लिए मानव के उत्तरदायित्व पर विशेष बल दिया गया है। यामुनाचार्य ने अपने को 'सहस्र पापो का पात्र' कहकर वर्णन किया है और ईश्वर की अनुकम्पा के लिए याचना की है। वैष्णव मत तपस्या तथा त्यागमय जीवन को प्रोत्साहन नही देता।

आस्तिक होने के कारण रामानुज का विश्वास है कि मोक्ष ज्ञान और कर्म के द्वारा नही, वरन् भक्ति और ईश्वर के प्रसाद (दया) के द्वारा सम्भव है। धर्मशास्त्रो में

ज्ञान से तात्पर्य ध्यान और निदिध्यासन अर्थात् एकाग्रतापूर्वक समाधि से है।[1] भक्ति की साधना इस सत्य के ऊपर एकाग्रतापूर्वक ध्यान लगाने से हो सकती है कि ईश्वर ही हमारा अन्तस्तम आत्मतत्त्व है और यह कि हम उसी तत्त्व के प्रकारान्तर मात्र है। किंतु इस प्रकार का ज्ञान तब तक नही प्राप्त हो सकता जब तक कि दुष्ट कर्म का विनाश नही होता। निष्काम भाव से किया हुआ कर्म ही पिछले संचित कर्मो को दूर करने मे सहायक हो सकता है। जब तक कि शास्त्रो मे विहित कर्म को नि स्वार्थ भाव से नही अपनाया जाता, उद्देश्य की सिद्धि नही हो सकती। यज्ञादि कर्मकाण्डो के परिणाम अस्थायी है किन्तु ईश्वर-ज्ञान अक्षय है। किन्तु यदि हम ईश्वर के प्रति अर्पण के भाव से प्रेरित होकर कर्म करे तो यह हमे मोक्ष के मार्ग की ओर चलने मे सहायक सिद्ध होगा।[2] इस प्रकार के भाव से किया गया कर्म सात्त्विक प्रकृति का विकास करता है और पदार्थो के विषय मे सत्य ज्ञान को ग्रहण कर सकने मे आत्मा का सहायक होता है। ज्ञान और कर्म दोनो ही भक्ति के साधन है अर्थात् ये भक्ति के साधन जो हमारी स्वार्थपरता को जड़-मूल से उखाड फेकते है इच्छाशक्ति को नया बल प्रदान करते है, ग्रहण करने की शक्ति को नई दृष्टि प्रदान करते तथा आत्मा को नये सिरे से शान्ति-लाभ कराते है।

भक्ति एक अस्पष्ट पारिभाषिक शब्द है जिसके अन्तर्गत निम्नतम कोटि की पूजा से लेकर उच्चतम आत्मदर्शन भी आ जाता है। भारतवर्ष मे इसका एक सदा से चला आया इतिहास है, जो ऋग्वेद[3]-काल से लेकर आधुनिक समय तक हमे मिलता है। रामानुज के दर्शन मे भक्ति मनुष्य के ईश्वर के पूर्णतम ज्ञान तक मौनरूप मे तथा एकाग्र समाधिपूर्वक पहुचने का नाम है। वे भक्ति की पूर्ण साधनयुक्त तैयारी पर बल देते है जिसके अन्तर्गत विवेक अथवा भोजन-सम्बन्धी विवेचन-विचार भी आ जाता है[4], विमोक, अर्थात् अन्य सबसे सम्बन्ध-विच्छेद करके केवल ईश्वर-प्राप्ति के प्रति प्रबल इच्छा, अभ्यास अर्थात् निरन्तर ईश्वर-चिन्तन, क्रिया अर्थात् दूसरो का भला करना,[5] कल्याण अर्थात् प्राणिमात्र के प्रति शुभकामना, सत्य-व्यवहार, आर्जव अर्थात् सच्चरित्रता; दया, अहिंसा; दान अथवा दाक्षिण्य; अनवसाद, अर्थात् सदा प्रसन्न रहना

१. ३ : ४, २६।

२. तदर्पिताखिलाचारता (नारद : भक्तिसूत्र, पृष्ठ १६)।

३. तुलना कीजिए, "मेरे समस्त विचार सुख की प्राप्ति के लिए इन्द्र की स्तुति करते है और उसी को प्राप्त करने की प्रबल अभिलाषा रखते है। वे उसका उसी प्रकार से आलिंगन करते हैं जैसे कि पत्नियां सुन्दर पति का आलिंगन करती है, वह जो दैवीय उपहारों का प्रदाता है, वह मेरी सहायता करे। मेरा मन तेरी ओर प्रेरित होता है और तुझसे विमुख नही होता; मैं अपनी इच्छा को तेरे ऊपर केन्द्रित करता हूं, हे अत्यन्त पुकारे जाने वाले!" (ऋग्वेद, १० : ४३, १)।

४. शंकर की यह व्याख्या उत्तम है कि हमे इन्द्रियों के विषयों मे लिप्त न होना चाहिए।

५. इसके पाच प्रकार बताए गए है ;—स्वाध्याय, ईश्वरोपासना, पूर्वजों के प्रति, मनुष्य-समाज के प्रति तथा पशु-सृष्टि के प्रति कर्तव्य।

और आशा।[1] इस प्रकार भक्ति केवल भावुकता ही नही है,[2] अपितु इसके अंदर सकल्प-शक्ति तथा बुद्धि के प्रशिक्षण का भी समावेश है।[3] यह ईश्वर का ज्ञान तो है ही, उसकी इच्छा के प्रति वशवदता भी है।[4] भक्ति अपनी समस्त मानसिक शक्ति तथा हृदय के द्वारा ईश्वर से प्रेम करने का नाम है। इसका अन्त अन्तर्दृष्टि द्वारा ईश्वर के साक्षात्कार में जाकर होता है।[5]

भक्ति और मोक्ष अगागीभाव से परस्पर सम्बद्ध है यहा तक कि भक्ति की प्रत्येक अवस्था मे हम अपने को पूर्णता प्राप्त करा रहे होते है। भक्ति परिणमनरूप मे मोक्ष है और अन्य उपायो मे सर्वोत्तम समझी गई है क्योकि यह अपना पुरस्कार अपने-आप है (फलरूपत्वात्)।[6] भक्ति के द्वारा आत्मा ईश्वर के साथ अपने सम्बन्ध के विषय मे अधिकाधिक अभिज्ञा प्राप्त कर लेती है। यहा तक कि अन्त मे यह अपने को ईश्वर के अर्पित कर देती है जो इसकी आत्मा की भी आत्मा है। उस अवस्था मे आत्म-प्रेम अथवा स्वार्थ का आगे जाकर कोई प्रश्न ही नही उठता क्योकि ईश्वर ने आत्मा का स्थान ले लिया और सम्पूर्ण जीवन ही परिवर्तित हो गया। नम्मालवार कहते है, "तेरे महान् तथा उत्तम उपहार के लिए अर्थात् तुम्हारी आत्मा के साथ मेरे अपने आत्मा को मिला देने के बदले मे मैने सम्पूर्णरूप मे अपनी आत्मा को तुम्हारे अधीन कर दिया है,[7] अपने रक्त का एक-एक बिन्दु,अपने हृदय की एक-एक धडकन और अपने मस्तिष्क का एक-एक विचार ईश्वराधीन कर दिया है। यह अवस्था वह है कि मै मै नही रहा।" भक्ति के दो भेद है, एक वैधी (औपचारिक) और दूसरी मुख्या (श्रेष्ठ)। वैधी भक्ति निम्नरूपी अवस्था है जिसमे हम प्रार्थना, कर्मकाण्डसम्बन्धी क्रिया-कलाप तथा मूर्ति-पूजा मे सलग्न रहते है। ये सब आत्मा को उन्नत करने मे सहायक होते है किन्तु स्वय मोक्ष-प्राप्ति के द्वारा आत्मा का उद्धार नही कर सकते। हमें सर्वोपरि प्रभु की ही पूजा करनी चाहिए क्योकि अन्तिम विश्लेषण मे अन्य कोई भी ध्यान का विषय नही बन सकता।[8]

१ सर्वदर्शनसग्रह, ४।

२. स्वप्नेश्वर ने अनुरक्ति शब्द पर टिप्पणी करते हुए, जिसका प्रयोग शाण्डिल्य ने किया है, कहा है कि 'अनु' का अर्थ है पश्चात् और 'रति' का अर्थ है लिप्त होना, और इस प्रकार अनुरक्ति का अर्थ है, ऐसी आसक्ति जो ईश्वर-ज्ञान के पश्चात उत्पन्न होती है। अन्धविश्वास भक्ति नहीं है

३ ज्ञानकर्मानुगृहीतं भक्तियोगम् (रामानुज की प्रस्तावना, भगवद्गीता पर)। धीप्रीतिरूपा भक्ति. (तत्त्वमुक्ताकलाप)।

४. वेदार्थसंग्रह में रामानुज ने साधन भक्ति तथा पराभक्ति के मध्य भेद किया है। साधन भक्ति में शरीर, मन और वाणी का नियंत्रण, अपने कर्तव्य कर्मों का पालन, स्वाध्याय तथा अनासक्ति आदि आ जाते हैं।

५. १ : १, १। ६ नारद : भक्तिसूत्र, पृष्ठ २६।

७. तिरुवायमोयी, २ : ३, ४।

८. रामानुज एक आचार्य का इस प्रकार उद्धरण देते हैं : "ब्रह्म से लेकर घास के एक गुच्छे तक समस्त पदार्थ, जो इस जगत् मे विद्यमान है, कर्मों के कारण संसार में जन्म लेने को बाध्य हैं, इसलिए वे ध्यान के योग्य विषय बनने में सहायक नहीं हो सकते क्योंकि वे सब अज्ञान में हैं और संसार-रूपी बन्धन के अधीन हैं" (१ : १, १)।

प्रपत्ति ईश्वर के प्रति सम्पूर्ण रूप से समर्पण कर देना है[1] और भागवतो के मत में यह मोक्ष-प्राप्ति का सबसे अधिक उपयुक्त साधन है। यह मार्ग सबके लिए खुला है, अर्थात् विद्वान् के लिए भी और मूर्ख के लिए भी, उच्च श्रेणी वालो के लिए भी तथा निम्नश्रेणी वालो के लिए भी, किन्तु भक्ति का मार्ग, जिसके अन्दर ज्ञान तथा कर्म आ जाते है, केवल ऊपर के तीन वर्णों तक ही सीमित है। किन्तु कोई भी व्यक्ति गुरु से दीक्षा लेकर अपने को ईश्वर के समर्पित कर सकता है और उसके अन्दर आश्रय पा सकता है। दक्षिणदेशीय सम्प्रदाय तेंगलाई के अनुसार भी, जो आलवारो की परम्परा का अक्षरशः अनुसरण करता है, प्रपत्ति ही मोक्ष का एकमात्र मार्ग है और भक्त को और अधिक प्रयत्न करने की आवश्यकता नही है। ईश्वर उस व्यक्ति का मोक्ष द्वारा उद्धार करता है जो अपने को सर्वथा उसके अधीन कर देता है। उत्तरदेशीय सम्प्रदाय (बडगलायी) का मत है कि प्रपत्ति लक्ष्य की प्राप्ति का अन्यतम उपाय है किन्तु एकमात्र उपाय नही है। उनके मत मे मोक्ष-प्राप्ति के लिए मानवीय पुरुषार्थ एक आवश्यक अंग है। ऐसा व्यक्ति जिसने अपने को कर्म, ज्ञान तथा प्रपत्ति से योग्य बना लिया है, प्रभु की दया प्राप्त करता है। यह सम्प्रदाय 'मर्कट-न्याय' को मानता है, अर्थात् जिस प्रकार बन्दर के बच्चे को पुरुषार्थ करने पर अपनी मा का प्रेम प्राप्त होता है। दूसरी ओर दक्षिणी सम्प्रदाय 'मार्जार-न्याय' को मानता है अर्थात् जिस प्रकार बिल्ली अपने बच्चो को मुंह मे पकडकर ले जाती है। इस सम्प्रदाय का मत है कि मनुष्य के प्रयत्न के ऊपर कुछ निर्भर नही है क्योंकि ईश्वर ही स्वयं अपनी कृपा से मोक्ष-प्राप्ति के योग्य पुरुषों का चुनाव करता है। इसका यह भी मत है कि किसी एक ही उत्तम कर्म मे ईश्वर जीवात्मा को अपने वश मे ले लेता है और बार-बार उस कर्म की पुनरावृत्ति की आवश्यकता नही होती, जब कि उत्तरीय वर्ग इस बात पर बल देता है कि आत्मा को चाहिए कि वह निरन्तर अपने को ईश्वरार्पण करती रहे।

भागवत पुराण मे भक्ति का स्वरूप रामानुज की अपेक्षा कम संयत है। मनुष्यो मे धार्मिक भाव के विकास के लिए एक अत्यधिक उत्साह की विशेष प्रवृत्ति पाई जाती है। आत्मा की शुद्धि के लिए प्रवृत्त हुए व्यक्ति के हृदय मे भय तथा आह्लाद रहता है।

आब्रह्मस्तम्बपर्यन्ता जगदन्तर्व्यवस्थिताः,
प्राणिनः कर्मजनितसंसारवशवर्तिनः।
यतस्ततो न ते ध्याने ध्यानिनामुपकारकाः,
अविद्यान्तरगता सर्वे ते हि संसारगोचराः॥

१. देखें, भगवद्गीता पर रामानुजभाष्य, अध्याय ७ की प्रस्तावना तथा ७, १४। प्रपत्ति के छः अवयव वर्णन किए गए है जो इस प्रकार है : (१) ऐसे गुणों की प्राप्ति जो एक व्यक्ति को इस योग्य बना सके कि वह ईश्वर के प्रति उपयुक्त उपहार बन सके। (आनुकूल्यस्य सम्पत्तिः); (२) ऐसे आचरण का त्याग जो ईश्वर को स्वीकृत नही है (प्रातिकूल्यस्य वर्जनम्): (३) इस प्रकार का विश्वास कि ईश्वर उसकी रक्षा करेगा (रक्षिष्यतीति विश्वासः), (४) रक्षा के लिए आवेदन (गोप्तृत्ववरणम्); (५) अपनी तुच्छता का अनुभव (कार्पण्यम्); और (६) नितान्त समर्पण (आत्मसमर्पणम्)। अन्तिम अवयव प्रपत्तियुक्त है यद्यपि अन्य उसके साधन है।

भागवत में भक्ति एक उमडती हुई भावना है जो कि सारे शरीर को पुलकित कर देती है, वाणी को भी स्तब्ध कर देती है और इस प्रकार साधक अन्तर्लीनता की अवस्था की ओर अग्रसर होता है। भागवत यज्ञादि विधानों के प्रति उदासीन है और उसका बल-पूर्वक कहना यह है कि हमें ईश्वर से उसके अपने लिए प्रेम करना चाहिए न कि किसी पुरस्कार पाने की अभिलाषा से। यह स्वीकार करता है कि ईश्वर के साथ संयोग का मार्ग प्रत्येक व्यक्ति के लिए खुला है बशर्ते कि वह इसकी ओर ध्यान दे। वह इसे भक्ति के द्वारा प्राप्त कर सकता है; किन्तु वह आत्मा,जो ईश्वर से सदा अपने को भिन्न रखती है जिसकी कि वह उपासना करती है, उस व्यक्ति की अपेक्षा अधिक सुखी रहती है जिसने अपने को ईश्वरमे विलीन कर दिया है।[1] भागवत के ईश्वर में एक घनिष्ठ मानवीय भावना पाई जाती है। वह स्वतत्र नही है क्योकि वह अपने भक्तो के अधीन है।[2] अपने भक्त संतों के धार्मिक सम्प्रदाय के विना ईश्वर अपने विषय मे कुछ अधिक सोच-विचार नही करता।[3] भागवत की एक विशिष्टता जो लक्षित होती है वह है कृष्ण और गोपियो की कथा का आदर्शवाद। यह उपाख्यान भक्ति केआदर्श रूप मे परिणत हो गया है और जैसा कि हम आगे चलकर देखेंगे, वैष्णवधर्म के परवर्ती सम्प्रदायो पर इसका पूरा प्रभाव हुआ है।

वैष्णव धर्म की भक्ति ने अधिकतर घनिष्ठ मानवीय सम्बन्धो का उपयोग मनुष्य तथा ईश्वर के परस्पर सम्बन्ध का वर्णन करने के लिए प्रतीक के रूप मे किया है। ईश्वर को गुरु, मित्र, पिता, माता, शिशु और यहा तक कि प्रिया के रूप मे भी चित्रित किया गया है। अन्तिम रूप पर आलवारो, भागवत पुराण तथा बगाल के वैष्णव सम्प्रदाय ने बल दिया है। सर्वोत्तम प्रेम मे भक्ति के समान अपनी प्रिया की उपस्थिति मे वर्तमान रहना उच्चकोटि का सुख तथा सृजनात्मक रचना है। और उसमे विरहित जीवन दुःख, निराशा तथा वन्ध्यापन है। हम समझते है कि प्रेम का प्रतीक दोषपूर्ण है क्योंकि हम कल्पना कर लेते है कि प्रेम मे ऐन्द्रिक आकर्षण ही सब-कुछ है; किन्तु सच्चे प्रेम में ऐन्द्रिक आकर्षण बहुत न्यून है। अनेक स्त्रिया और कुछ पुरुष भी जो प्रेम में पशुओ के स्तर से ऊपर उठते है, विरोध मे कहेगे कि प्रेम मे केवलमात्र नये मनोवेगों की खोज ही नही है अपितु सच्चे प्रेम मे दो आत्माए एक-दूसरे के अन्दर उन अन्यों की अपेक्षा अधिक विश्वास रखती है जिनसे वे कभी पहले मिली थी या जिन्हें जानती है। एक प्रेमी अपने प्रियपात्र के लिए ससार मे युद्ध करने के लिए उद्यत रहता है, सब प्रकार का पार्थक्य सहन करता, और गरीबी मे, प्रवास मे तथा अत्याचार में भी सुख का अनुभव करता है। यदि ऐसे स्त्री-पुरुष अनेक प्रकार

१. भागवत, ३ : २५, ३३।
२. ६ : ४, ६७।
३. नाहम् आत्मानम् आशासे मद्भक्तैः साधुभिर्विना (६ : ४, ६)। तुलना कीजिए—भक्तप्राणो हि कृष्णश्च कृष्णप्राणा हि वैष्णवाः (नारदपंचरात्र, २ : ३६)।

अत्यन्त दीर्घकाल के पश्चात् दिखाई देता हो, और यहाँ तक कि असम्भव भी हो तो भी वे दोनों एक दूसरे को नहीं छोड़ सकते और अन्य सब-कुछ टूट जाने का संकट उपस्थित होने पर भी पारस्परिक प्रेम ने जो स्थायी शृङ्खला निर्मित कर दी है उसे जीवित बनाए रखते हैं, एवं केवल मृत्यु ही उस शृंखला को तोड़ने में समर्थ हो सकती है। सीता, सावित्री, दमयन्ती और शकुन्तला की गाथाओं ने इस प्रेम के पाठ को भारतवर्ष के हृदय के अन्दर कूट-कूटकर भर दिया है। इसलिए इसमें तनिक भी आश्चर्य का विषय नहीं है कि एक भारतीय वैष्णव ईश्वर को अपनी प्रिया के रूप में देखे[1] और अपने सब मनोवेगों, अभिलाषाओं तथा मानवीय प्रेम को ईश्वर के प्रति प्रेरित कर दे। भक्त लोग तब अपने को असहाय तथा अशान्त अनुभव करते हैं जब उन्हें ईश्वर की उपस्थिति का अभाव प्रतीत होता है, क्योंकि ईश्वर की समीपता के अलावा उन्हें और कोई वस्तु संतुष्ट नहीं कर सकती। उनके अनेक छन्दों में हमें ईश्वर के लिए हृदय की पुकार मिलती है, और उसकी अनुपस्थिति में निर्जनता का भाव दिखाई देता है, उसकी मित्रता में एक प्रसन्नता की पूर्वकल्पना में विशेष प्रकार की अनुभूति और एक [illegible] भाव है जो है तो यथार्थ तथापि उसकी परिभाषा नहीं की जा सकती और उसके प्रेम की अमूल्यता अनुभव होती है। वैष्णव सन्तों के गद्‌गद होकर प्रकट किए गए उद्‌गारों में हम एक प्रकार की परमाह्लादपरक प्रसन्नता का अनुभव करते हैं जिसके द्वारा एक ब्रह्म साक्षात्कारवादी आध्यात्मिक भाव से ईश्वर के साथ सम्मिलन के लिए आतुर प्रतीत होता है। नम्मालवार उच्च स्वर में बोल उठता है : 'हे स्वर्ग के उज्ज्वल प्रकाश! तू मेरे हृदय के अन्दर मेरी आत्मा को द्रवित करता और खपाता हुआ विद्यमान है। मैं कब तेरे साथ एकात्मभाव प्राप्त करूँगा ?'[2] ईश्वर में प्रगाढ़ आसक्ति के कारण अन्य सब पदार्थों के प्रति उदासीनता आ जाती है।[3]

एक हिन्दू भक्त इच्छा को नष्ट करने का प्रयत्न नहीं करता अपितु इसको इस मर्त्यलोक से ऊपर उठाकर स्वर्ग की ओर तथा इस सृष्टि से हटाकर सृष्टि के उस सृजनहार की ओर प्रेरित करता है। मणवाल का कहना है :

१. तुलना कीजिए : स एव वासुदेवो सउ साक्षात् पुरुष उच्यते।
स्त्रीप्रायम् इतरत् सर्वम् जगद् ब्रह्मपुरस्सरम्॥
अर्थात्, सर्वोपरि प्रभु ही एकमात्र पुरुष है अन्य सब, ब्रह्मा से लेकर नीचे तक स्त्रियाँ हैं, उसीके ऊपर निर्भर रहो और उसके साथ मिलने की आकांक्षा करो। और भी तुलना कीजिए,
स्वामित्वात्मत्वशेषित्वपुंस्त्वाद्याः स्वामिनो गुणाः।
स्वेभ्यो दासत्वदेहत्वशेषत्वस्त्रीत्वदायिनः॥

२. तिरुवायमोयी, ५ : १०, ४।

३. अनुरागाद् विरागः। भक्तिमार्ग में चार गतियाँ हैं : (१) आत्मा की इच्छा, जब यह ईश्वर की ओर झुकती है और मनोभावों का उसकी ओर बलात् प्रेरित करना, (२) अनवाप्त प्रेम का दुःख; (३) प्राप्त प्रेम का आह्लाद और उस आह्लाद का अभिनय; और (४) दैवीय प्रेमी का नित्य सुख जो कि दैवीय आनन्द का हृदय है।

'अज्ञानी पुरुष को इन्द्रियों के विषयों में जो सुख मिलता है; उसीको जब ईश्वर की ओर प्रेरित किया जाता है तो वही भक्ति के नाम से पुकारा जाता है। नम्मालवार की दृष्टि में यह भक्ति सौन्दर्य की खान है तथा प्रभु के प्रति प्रेम का रूप धारण करती है और इसलिए आलवार लोगों के लिए प्रेम के नमूने की भक्ति प्रकट होती है।"[1] यह ठीक है कि जो लोग पति-पत्नी के प्रतीक का प्रयोग करते है उनमें से अनेक व्यक्तियों को कामवासना छू तक नहीं गई और वे सदाचार की दृष्टि से सर्वथा निष्पाप है तो भी इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता कि इसका दुरुपयोग नहीं हुआ।[2] किन्तु इस प्रकार के दुरुपयोग के उदाहरण साधारण नियम के अपवाद मात्र ही है।

जाति-पाति के भेद आत्मा के स्वरूप को स्पर्श नहीं करते। अधिक से अधिक उनका सम्बन्ध शरीरों तक ही है और वे उन कर्तव्यों के निर्णायक है जो मनुष्यों के समाज के प्रति है। किन्तु जातिगत भेद का आत्मा के गुणों के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। अनेक आलवार, जिनकी पूजा ब्राह्मण लोग भी करते थे, जन्म से शूद्र थे। रामानुज की व्यवस्था है कि ईश्वर से प्रेम करने वालों में परस्पर कोई भेद न होना चाहिए।[3] वे स्वीकार करते है कि जो आश्रमों में नहीं भी है वे भी ब्रह्मज्ञान प्राप्त कर सकते है।[4] वस्तुत. भक्ति-धर्म के लिए और प्रपत्ति अर्थात् समर्पण, के लिए किसी पुरोहित की आवश्यकता नहीं क्योंकि प्रेम के समर्पण के लिए किसी धर्मशास्त्र का विधान भी नहीं चाहिए, तथा ईश्वर की दया मनुष्य के अधिकार में नहीं है। भक्ति रस में आप्लुत पुरुष के लिए कोई भी धर्मशास्त्र अथवा नियम नहीं है।[5] रामानुज ने समता का प्रचार किया और यह घोषणा की कि भक्ति समस्त जाति-भेदों के ऊपर है। उन्होंने परिया लोगों को मेलकोट के मन्दिर में प्रविष्ट कराया। किन्तु इस विषय का स्पष्टीकरण किसी प्रकार नहीं होता कि वे उस समय की मान्य व्यवस्था को पूर्णरूप से अमान्य ठहराने के लिए उद्यत हुए हों। परम्परा का उचित सम्मान देते हुए वे स्वीकार करते है कि विचार-स्वातन्त्र्य केवल ऊपर के तीन वर्णों के लिए ही है और दूसरों को कर्म करते रहना चाहिए तथा अगले जन्म की प्रतीक्षा करनी चाहिए। इसलिए हम यह नहीं कह सकते कि वे अपनी शिक्षाओं की तार्किक समस्याओं का पूरा-पूरा समाधान करने में

या प्रीतिरस्ति विषयेष्वविवेकभाजाम्
सैवाच्युते भवति भक्तिपदाभिधेया ।
भक्तिस्तु काम इह तत्कमनीयरूपे ।
तस्मात् मुने रजति कामुकवाक्यभङ्गी ॥ (द्रामिडोपनिषद्संगति)।

२. 'भारतीय दर्शन', प्रथम खण्ड, पृष्ठ ५१६, ५५७, ५६०-५६१।

३. तुलना कीजिए: नास्ति तेषु जातिविद्यारूपकुलधनक्रियादिभेद. (नारद भक्तिसूत्र, पृष्ठ ७२)। और भी तुलना कीजिए,

श्वपचोऽपि महीपाल विष्णुभक्तो द्विजाधिक ।
विष्णुभक्तिविहीनस्तु यतिश्च श्वपचाधम ॥ (भागवत)।

४. ३ : ४, ३६; १ : ३, ३२-३९।

५. अत्यन्तभक्तियुक्तानां नैव शास्त्रं न च क्रमः।

समर्थ हो सके। एक अर्वाचीन वैष्णव आचार्य रामानन्द (तेरहवीं शताब्दी) ने जाति-भेद का विरोध किया। उन्होंने कहा है: "किसी भी मनुष्य को अन्य मनुष्य की जाति अथवा मत न पूछना चाहिए। जो कोई ईश्वर की पूजा करता है वह ईश्वर को प्रिय है।" उनके चेलों में, जो लगभग एक दर्जन थे, ब्राह्मण, नाई, चमार, राजपूत तथा एक स्त्री भी थी। चैतन्य ने सबके लिए भक्ति तथा प्रेमधर्म का प्रचार किया, बिना किसी जाति अथवा वर्ग-भेद के। दूसरी ओर दक्षिण भारत में वेदान्तदेशिका ने कर्मकाण्डपरक धर्म के ऊपर बल दिया।[1] भारतीय सभ्यता के इतिहास में बार-बार जाति-पाति सम्बन्धी जटिल भेदों के विरुद्ध आन्दोलन हुए हैं, किन्तु उक्त सभी विरोधी आन्दोलन राष्ट्र के मन पर जाति-पाति के भेद ने जो अधिकार जमा रक्खा है उसके ऊपर नियन्त्रण करने में कुछ अधिक सफल नहीं हो सके।

१६

मोक्ष

रामानुज के मत में मोक्ष आत्मा का तिरोभाव नहीं है किन्तु बाधक मर्यादाओं को भंग करके स्वतन्त्र होना मोक्ष है, क्योंकि आत्मा का तिरोभाव यथार्थ आत्मा का विनाश (सत्यात्म नाश) होगा।[2] एक तत्त्व दूसरे तत्त्व में परिणत[3] नहीं हो सकता। मनुष्य चाहे कितना ही ऊंचा क्यों न उठ जाए, उसके ऊपर एक सर्वशक्तिमान् की सत्ता रहेगी ही, और उसके प्रति एक स्थायी प्रेम जो श्रद्धायुक्त हो रहेगा और उसे उसकी पूजा व उपासना भी करनी ही चाहिए। रामानुज, जो हमारे लिए उच्चतम धार्मिक अनुभव के मार्ग का अबाध विधान करते हैं, कहते हैं कि उक्त धार्मिक अनुभव किसी 'अन्य' शक्ति की ओर संकेत करता है। मुक्तात्मा ईश्वर के स्वरूप को प्राप्त करता है यद्यपि उसके साथ तद्रूपता को प्राप्त नहीं होता।[4] वह सर्वज्ञ हो जाता है और उसे सदा ही ईश्वर का ज्ञान अन्तर्दृष्टि के द्वारा प्राप्त होता है।[5] उसे और किसी वस्तु की अभिलाषा नहीं होती और इसीलिए उसको संसार में वापस आने की भी कोई संभावना नहीं रहती।[6] आत्माभिमान ही मोक्ष का विरोधी है किन्तु व्यक्ति का पृथक् अस्तित्व मोक्ष का विरोधी नहीं है। तात्त्विक स्वरूप यद्यपि अनादिकाल से सिद्ध है तो भी संसार की अवस्था में होने से

१. श्रुतिः स्मृतिर्ममैवाज्ञा यस्ताम् उल्लंघ्य वर्तते।
आज्ञाच्छेदी मम द्रोही मद्भक्तोऽपि न वैष्णवः॥
देखिए, रहस्यत्रयसार में शास्त्रनियमनाधिकार-सम्बन्धी अध्याय।

२. १ : १, १। ३. विष्णुपुराण, २ : १४, २७।

४. ब्रह्मणो भावः न तु स्वरूपैक्यम् (१ : १, १)।

५. परिपूर्णपरब्रह्मानुभवम्। तुलना कीजिए, "सर्वदेश सर्वकाल सर्वावस्थैगलीलुम्, सर्वेश्वरनैई, अनन्तमंगलान, विग्रह गुण विभूति चेष्टितमगलील भोनरुम् कुरयामल निरतिशयभोग्य माक, विषयिकारिप्प कोण्डीरुकुम" (रहस्यत्रयसार, २२)।

६. ब्रह्मसूत्र पर रामानुजभाष्य, ४ : ४, २२।

अविद्या तथा कर्म के द्वारा आवृत है। मोक्ष की अवस्था मे तात्पर्य बुद्धि के स्वाभाविक गुणो के अबाधित व्यक्त रूप तथा परमानन्द से है। मुक्तात्मा को 'स्वराट्' कहा गया है, इस अर्थ मे कि वह कर्म-विधान के अधीन नही है।[1] रामानुज के दृष्टिकोण से जीवन्मुक्ति नामक कोई चीज नही है। समस्त कर्मो के क्षीण हो जाने पर तथा भौतिक शरीर के भी त्याग होने पर मनुष्य को ईश्वर का साहचर्य प्राप्त हो जाता है। मोक्ष की अवस्था मे आत्माए सब एक ही प्रकार की होती है। उस अवस्था मे देवताओ, मनुष्यो, पशुओ तथा वानस्पतिक पौधो मे कोई भेद नही रहता। इन भेदो का अर्थ सासारिक जगत् तक ही परिमित है। प्रकृति के सम्पर्क मे आकर ही आत्मा के अन्दर विशिष्टता प्रकट होती है, अन्यथा नही। किन्तु आत्माए उक्त सम्बन्ध मे अपने को स्वतन्त्र कर सकती है क्योकि यह सम्बन्ध नैसर्गिक नही है।[2] परिणाम यह निकला कि शारीरिक सम्बन्धो के द्वारा जो पृथक्-पृथक् व्यक्तित्व निर्मित होता है वह अनादिकाल से न होने के कारण नित्य नही है। जब उक्त सम्बन्धो का उच्छेद हो जाता है तो आत्मा ब्रह्म के स्वरूप को प्राप्त कर लेती है तथा अपने यथार्थ स्वरूप को व्यक्त करती है। इसमे कोई नया विकास नही होता।[3]

मोक्ष की अवस्था मे आत्माओ मे केवल दो अंशो को छोडकर, सर्वोपरि ब्रह्म की अन्य सब पूर्णताए विद्यमान रहती है। वे आकार मे अणु-प्रमाण है जब कि सर्वश्रेष्ठ आत्मा विभु सर्वव्यापी है। अणु आकार की होने पर भी आत्मा अनेकविध शरीरो मे प्रवेश कर सकती है और प्रभु के रचे हुए भिन्न-भिन्न जगतो का अनुभव कर सकती है।[4] किन्तु जगत् की सृजनात्मक गतिविधियो के ऊपर इसका कोई वश नही है क्योकि वह केवल ब्रह्म की ही विशेष शक्ति है।[5]

ईश्वर की नगरी मे अनेक आत्माए विद्यमान है जिनमे केवल-मात्र एक दूसरे की पुनरावृत्ति ही नही होती। वे जो आकृतिया धारण करती है वे विशुद्ध सत्त्व के कारण है। इसी विशुद्ध सत्त्व की सहायता से मुक्तात्माए अपने विचारो तथा इच्छाओ को एक आकार देती है। नाटक के अन्त मे – यदि इस प्रकार की कल्पना की जा सके – प्रत्येक जीवात्मा पूर्णता प्राप्त कर चुकी होगी किन्तु तो भी वह निरपेक्ष ब्रह्म की आश्रित ही समझी जाएगी। वह निरपेक्ष ब्रह्म जो केवल एक ही आत्मा है, अपने अन्तर्हित तत्त्व के कारण आत्माओ की परस्पर सम्बद्ध इकाई बन जाता है किन्तु इससे उसमे किसी प्रकार की न्यूनता नही आती। इसकी अपने चारो ओर एक सामाजिक स्थिति है। आत्माओ के प्रत्येक समाज का लक्ष्य अपने किसी निहित स्वार्थ की ओर नही होता वरन् सार्वभौम तथा सर्वव्यापी सत्ता की ओर ही होता है।

विशिष्टाद्वैत दर्शन मे मुक्तात्माओ के दो पृथक वर्ग किए गए है : एक वे है जो इस लोक मे ईश्वर की सेवा के लिए कृतसकल्प है और इसीलिए दिव्य लोक मे भी वे यही कार्य करते है, दूसरे वे 'कैवलिन्' है जो अन्यो से सर्वथा पृथक् है क्योकि उन्होने

१. श्रु॰ प्रकाशिका, १ : १, १।

२. कर्मरूपज्ञानमूलः न स्वरूपकृतः (१ : १, १)।

३. ४ : ४, १।

४. ४ : ४, १३–१५।

५. ४ : ४, १७।

अपनी आत्मा के यथार्थ स्वरूप के ऊपर निरन्तर ध्यान देकर अपना लक्ष्य प्राप्त कर लिया है।

उस दिव्य लोक का चित्र, जहां पर मुक्तात्माओं का निवास है, प्रायः दिए गए विवरण से अधिक भिन्न नहीं है।[1] स्वर्ग की उस कल्पना से जो सर्वसाधारण में प्रचलित है, केवल वेश, रीति-रिवाज तथा प्राकृतिक दृश्य सम्बन्धी ब्योरे में कुछ भेद है। वहां जीवनप्रद स्वच्छ जल की नदियां है, सुस्वादु फलों से लदे वृक्ष है, शीतल मन्द-मन्द वायु बहती है, और स्वर्गवासियों को प्रसन्न बनाए रखने के लिए स्वर्ण रंग का सूर्य का प्रकाश है। उक्त आनन्दमय क्षेत्र में वे प्रसन्नता-लाभ करते है तथा उत्तम-उत्तम भोजन ग्रहण करते है, दिव्य संगीत का आनन्द उठाते है तथा समय-समय पर दार्शनिक विचारों का आदान-प्रदान करते है। किन्तु स्वर्ग का इस प्रकार का दृश्य ब्रह्म-साक्षात्कार करने वाले योगी को सन्तोष प्रदान नहीं करता जो फिर एक बार एक विशेष प्रकार की प्रकृति में अपने को एक प्रकार के बन्दीगृह में अवरुद्ध अकेला पाकर उससे छूटने की पुकार करता है। वह व्यक्तिगत जीवन की मर्यादाओं को तोड़कर अपने को विश्वात्मा के तात्त्विक जीवन के अन्दर विलीन कर देने के लिए छटपटाता है। अपनी मोक्ष-सम्बन्धी कल्पना में रामानुज ब्रह्मसाक्षात्कारी योगियों को सन्तुष्ट नहीं कर सकते, जिनकी सर्वश्रेष्ठ यथार्थ सत्ता के साथ तादात्म्य प्राप्त कर लेने की बुभुक्षा वैसी ही बनी रहती है। उनकी दृष्टि में पारलौकिक अनुभव के आधार पर निर्माण की गई व्यवस्था में, भले ही उसे कितना भी आदर्श का रूप क्यों न दिया गया हो, एक ऐसे स्वर्ग की कल्पना सांसारिक अनुभव से कुछ भी भिन्न नहीं है। यद्यपि आत्मा ईश्वर को और केवल ईश्वर को ही देखती है और उसकी उपस्थिति में वहीं चली जाती है तो भी वह अपने व्यक्तित्व को स्थिर रखती है, और अपना पृथक् अस्तित्व रखते हुए वह दर्शन का विषय नहीं बन सकती। अपनेपन को त्याग कर ईश्वर में विलीन हो जाने की ओर कुछ उपनिषदों के ऋषियों का झुकाव रहा है तथा यूनान के प्राचीन आरफियस गायक का भ्रातृसंघ, कुछ ईसाई तथा सूफी-सम्प्रदाय के ईश्वर-साक्षात्कारियों का भी झुकाव इस ओर रहा है। वे केवल अपने शरीरों से ही छुटकारा पाने में प्रयत्नशील न रहे अपितु अपने व्यक्तित्व को भी छोड़कर अपना आत्मा को ईश्वर में विलीन कर देने के लिए प्रयत्न करते रहे। किंतु इस प्रकार की कोई साक्षी उपलब्ध नहीं होती कि किसी ब्रह्मसाक्षात्कारी ने अपना लक्ष्य प्राप्त कर लिया हो। रामानुज का कहना है कि वस्तुस्थिति के विचार से इस प्रकार की ब्रह्मलीनता की साक्षी मिलना असम्भव है। वह व्यक्ति जिसने ईश्वरत्व प्राप्त कर लिया, वापस लौट कर हमें अपना अनुभव तो बताएगा नहीं, और जो व्यक्ति ऐसी बात करेगा, उसने ईश्वरत्व प्राप्त नहीं किया होगा।

१. नारदपंचरात्र, ६।

१७

सामान्य मूल्यांकन

जहां शंकर के दार्शनिक सिद्धान्त के प्रति उन उच्च कोटि के मस्तिष्कों के लिए कुछ आकर्षण हो सकता है जो समस्याओं के भावुकतापूर्ण समाधानों में चौंकते हैं और संकल्पशक्ति के दमन में ऐसी आन्तरिक तृप्ति को खोजते हैं जो उन्हें इस योग्य बना दे कि वे एक स्थितप्रज्ञ आत्मसंयमी की भांति शान्त भाव से अपने ऊपर आ पड़ने वाली अत्यधिक विकट परिस्थितियों को भी सहन कर सकें, तो भी शंकर स्वीकार कर लेते हैं कि लाखों मनुष्य ऐसे ईश्वर के लिए तृषित हैं कि जिसके अन्दर हृदय अर्थात् दया का भाव हो। रामानुज का मत सत्य के उच्चतम उद्गार को प्रकट करता है यद्यपि शंकर का कहना यह है कि यथार्थ सत्ता हमारे विचार की परिधि से महान् तथा गुरुतर है। रामानुज तर्क करते हैं कि हमें यह कल्पना न कर लेनी चाहिए कि धर्म के द्वारा जिसकी प्राप्ति होती है वह उच्चतम सत्ता नहीं है।[1] रामानुज जिस प्रकार के ईश्वरवाद का समर्थन करते हैं उस प्रकार का ईश्वरवाद शंकर को भी जीवन तथा धर्म के क्षेत्र में मान्य है। यह हिन्दू धर्म का विश्वास है चाहे वह वैष्णव, स्मार्त, शैव अथवा शाक्त मत के रूप में हो। यह आश्चर्य का विषय है कि पश्चिमी विचारक तथा समालोचक इस प्रकट सत्य की दृष्टि से ओझल करके समस्त हिन्दू धर्म को एक अव्यावहारिक भाव-प्रधान एकेश्वरवाद बनाकर संसार के समक्ष अन्यथा रूप में रखने का आग्रह करते रहे।[2] यह ठीक है कि रामानुज द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त किसी भी प्रकार से ईश्वरवाद के अन्य रूपों से हीनतर नहीं है तो भी आस्तिकवाद के दृष्टिकोण से जो समस्याएं स्वभावतः उत्पन्न होती हैं उनसे अछूता वह भी नहीं है।

विशेष्य और विशेषण के परस्पर सम्बन्ध की कल्पना द्वारा अथवा द्रव्य और गुण के पारस्परिक सम्बन्ध की कल्पना द्वारा रामानुज केवल एक ही तत्त्व के अस्तित्व की यथार्थता की स्थापना करने का प्रयत्न करते हैं[3] तथा अन्य तत्त्वों को भी उसी एक में समाविष्ट करते हैं। ब्रह्म के सत्, चित् तथा आनन्दरूपी गुणों के साथ के सम्बन्ध को लेकर रामानुज तर्क उपस्थित करते हैं कि उक्त गुणों का एकत्व अपने-आप में निरपेक्ष एकत्व न होकर उनके अन्तर्निहित समवाय सम्बन्ध का एकत्व है जिसमें द्रव्य तथा गुण का भेद भी विद्यमान है, तथा स्वयं गुणों के अपने अन्दर भी भेद विद्यमान है। ईश्वर समान रूप से

१. तुलना कीजिए, ब्रैडले : "वह मनुष्य जो धार्मिक चेतना से अधिक ठोस यथार्थता की मांग करता है, यह नहीं जानता कि वह क्या चाहता है।"

२. हीगल लिखता है : "पूर्वीय धर्मों में पहली मांग यह है कि एक और अद्वितीय पदार्थ ही सत्य है और जीवात्मा तब तक न तो अपने अन्दर और न अपने से बाहर किसी सत्य परमार्थ को प्राप्त कर सकता है, जब तक वह अपने को स्वतः उस स्वतन्त्र और स्वप्नयोजनीय पदार्थ के विरोध में मानता है। उसे परमार्थ की प्राप्ति उस पदार्थ के तादात्म्य के द्वारा ही हो सकती है, जिसमें उसके कर्तृत्व तथा ज्ञातृत्व का विलय हो जाता है और वह स्वयं अचेतनावस्था में विलीन हो जाता है।"

३. न्यायसिद्धांजन, पृष्ठ ९६।

सबका आधारभूत अधिष्ठान है जिसमें अनन्त गुण समवाय सम्बन्ध से रहते हैं। यदि रामानुज परम यथार्थ सत्ता को ढूंढ निकालने में समर्थ तार्किक परिणाम को स्वीकार करते हैं, तो उन्हें इसी परिणाम पर अगत्या पहुंचना होता है। समस्त निर्णय उद्देश्य तथा विधेय अथवा द्रव्य तथा गुण का संश्लेषण मात्र है। किन्तु समस्त निश्चयात्मक घोषणाएं सान्त प्रमेय पदार्थों के विषय में ही प्रतिपादन करती हैं जिनका एकत्व समवाय सम्बन्ध का अतिक्रमण नहीं करता। और सान्त पदार्थों के ज्ञान में हमें निरपेक्ष एकत्व नहीं मिलता। उस यथार्थ सत्ता तक पहुंचने के लिए, जहां कि उद्देश्य और विधेय निरपेक्ष हैं, हमें परिवर्तनशील तथा सान्त पदार्थों से युक्त जगत् से ऊपर उठने के लिए बाध्य होना पड़ता है। और उस प्रकार की यथार्थ सत्ता की कल्पना ही समस्त तर्क-सम्मत कार्य-पद्धति का आधार है। एक तार्किक निर्णय में हम यथार्थ सत्ता के पूर्ण स्वरूप को निर्देशों की शृंखला के द्वारा प्रतिपादित करने का पूरा प्रयत्न करते हैं। किन्तु भावात्मक वस्तुओं की एक लड़ी ही मूल्यवान् यथार्थसत्ता का तब तक ठीक-ठीक प्रतिपादन नहीं कर सकती जब तक कि हम यह भी स्वीकार न करें कि परम (निरपेक्ष) यथार्थ सत्ता विचार में भी आ सकती है। यही निरपेक्ष निर्गति सिद्धान्त प्रारम्भ में हमारे मस्तिष्क में उपस्थित रहता है कि वह सत्ता तथा विचार एक है।

इस तथ्य से अधिक कि सत्, चित् और आनन्द-स्वरूप निरपेक्ष तत्त्व एवं यथार्थ सत्ता है जिसके अन्दर उक्त सब भद्र गुण निहित हैं, रामानुज हमें यह नहीं बतलाते कि ठीक-ठीक किस परिमाण में उक्त गुण उस निरपेक्ष सत्ता के अन्दर अगांगी-भाव से सम्बद्ध पाए जाते हैं।

द्रव्य और गुणों में[1] ब्रह्म तथा जगत् में एक प्रकार का अभेद सम्बन्ध है, समवाय सम्बन्ध नहीं, क्योंकि समवाय सम्बन्ध एक अन्तर्निहित भेद का द्योतक है।

क्या आत्माओं तथा जगत् का भी ब्रह्म के साथ ऐक्यभाव है? और यदि ऐसा है तो किन अर्थों में? विशेषणों अथवा गुणों की निर्भरता नित्य है और उसके वास्तविक स्वरूप से सम्बद्ध है।[2] यह जगत् केवल मात्र विशेषण ही नहीं है वरन् सर्वोपरि ब्रह्म के स्वरूप से भी इसका सम्बन्ध है। यह यथार्थ सत्ता के आन्तरिक निर्णय का व्यक्त रूप है। जीवात्माओं के विषय में इस कथन की, कि वे ब्रह्म के साथ-साथ ही नित्य हैं, एक सीमा है। ब्रह्म की अनन्तता इसके निर्माणकर्ता अवयवों की निरुपाधिक अनन्तता से संयुक्त है। यदि ब्रह्म और आत्मा दोनों एक साथ नित्य काल से अवस्थित हैं तो उनके मध्य क्या सम्बन्ध है? उनके मध्य नित्य सम्बन्ध, चाहे अनिवार्य हो और चाहे आकस्मिक, एक प्रकार का ऐसा रहस्य होगा जिसकी व्याख्या न हो सकेगी। ब्रह्म की आत्मा उसकी देह से भिन्न है और हम उसे निरुपाधिक आत्मा कह सकते हैं।

१. द्रव्य और गुणों के सम्बन्ध का रूप असन्तोषप्रद है। यदि दोनों समरूप हैं तो भेद का कुछ अर्थ नहीं; और यदि दोनों परस्पर भिन्न हैं तब सम्बन्ध केवल बाह्यमात्र है। यदि दोनों आतरिक रूप से समवाय सम्बन्ध से सम्बद्ध हैं तो यह सम्बन्ध अपने आप में दोनों पदों से सम्बद्ध है, इत्यादि-इत्यादि जिसका कोई अन्त नहीं।

२. स्वरूपानुबन्धित्वेन नियतत्वात् (२ : ४, १४)।

रामानुज की योजना मे अनुभूत ज्ञान के सीमित केन्द्र ईश्वर के जीवन मे गतियो के रूप मे परिगणित हो गए प्रतीत होते है। यदि परमतत्त्व एक निर्दोष व्यक्तित्व है जिसमे समस्त आत्माएं तथा जगत् भी सम्मिलित है तो यह जानना कठिन है कि सीमित शक्ति वाली आत्माएं अपनी-अपनी चेतनाओं के साथ विशिष्ट अर्थो एवं मूल्यो सहित किस प्रकार स्थिर रहती है। एक आत्मा दूसरी आत्मा का भाग नही हो सकती। रामानुज का ब्रह्म केवल सर्वोपरि आत्मा न होकर अनादि-अनन्त आत्माओं का एक नित्यस्थायी समाज है। ईश्वर किस प्रकार उसी परम भाव मे जीवात्मा को अपने अन्दर तथा बाहर धारण कर सकता है ? हम उस ईश्वर तथा निम्नतम श्रेणी की आत्माओं मे जो अपने अस्तित्व को उसीमे प्राप्त करती है, भेद कर सकते है क्योकि परमतत्त्व उस समस्त प्राणिजगत् को, जिसके विषय मे हम सोच सकते है अपने अन्दर समाविष्ट किए हुए है। ईश्वर, आत्माएं तथा प्रकृति परमतत्त्व है, केवल ईश्वर ही नही। तो भी रामानुज केवल ईश्वर को ही परमतत्त्व मानते है जिसके अतिरिक्त और जिसके परे और कुछ नही है। जब वे अपने दर्शन के एकेश्वरवादी रूप के ऊपर बल देते है तो यह प्रतिपादन करते है कि सर्वोपरि यथार्थ सत्ता के अन्दर आत्मचेतना तथा प्रकृति और आत्माएं उस श्रेष्ठतम आत्मा के जीवन मे केवल क्षणमात्र है। जब उन्हे जीवात्मा के स्वातन्त्र्य को अक्षुण्ण बनाए रखने की चिन्ता होती है तो वे इस प्रकार तर्क करते है कि समस्त जीवात्मा चेतनता के केन्द्र है और ज्ञानवान् प्रमाता है जिनमे आत्मतत्त्व विद्यमान है यद्यपि उनके आत्मत्व का उद्गमस्थान ईश्वर ही है।

आत्माओं तथा प्रकृति से युक्त इस विश्व ब्रह्माण्ड का उपादान तथा निमित्त कारण ब्रह्म है। परिवर्तनों का सम्बन्ध ईश्वर की देह से है किन्तु वही आत्मा निर्विकार रहती है।[1] "उस उच्चतम आत्मा से भिन्न प्रत्येक पदार्थ चेतन हो अथवा जड, उसकी देह है किन्तु केवल आत्मा ही एकमात्र निरुपाधिक शरीरधारी आत्मा है।"[2] ईश्वर की देह उपादान कारण है और आत्मा नैमित्तिक कारण है, और इस प्रकार हम कह सकते है कि ईश्वर इस जगत् का उपादान तथा नैमित्तिक दोनो ही प्रकार का कारण है। इस भेद का स्वीकार करना ही चाहिए क्योकि रामानुज का विश्वास है देह के परिवर्तन ईश्वर की आत्मा पर अपना कोई असर नही रखते, ठीक वैसे ही जैसे कि जीव के देह-परिवर्तन का जीव के सारतत्त्व पर कोई असर नही पडता। तो फिर ईश्वर का वह सारतत्त्व कौन-सा है जो निर्विकार बना रहता है। क्या सूक्ष्म अवस्था मे जैसे कि प्रलय मे, अथवा स्थूल अवस्था मे जैसे कि सृष्टि मे, अथवा एक जीवधारी की अवस्था मे, यद्यपि अपूर्ण अवस्था मे नही, जैसे कि मोक्ष की अवस्था मे, ईश्वर का सारतत्त्व जगत् के सारतत्त्व से भिन्न है ? ईश्वर की नित्य विभूति से भी इसे पृथक् करना आवश्यक है। यदि हम सत्, चित् तथा आनन्द रूपी गुणो को पृथक कर दे तो परमसत्ता के स्वरूप को समझना कठिन होगा, क्योंकि अन्ततोगत्वा यही तो एकमात्र गुण है। तो भी यदि उक्त गुण ही

१. तत्त्वमुक्ताकलाप, ३ : २५।

२. स्वव्यतिरिक्तं चेतनाचेतनवस्तुजात स्वशरीरम् इति, स एव निरुपाधिकः शारीर आत्मा (१ : १, १३)।

ईश्वर के वास्तविक स्वरूप का निर्माण करते हैं तो उनके अंदर परिवर्तन की प्रक्रिया भी उसके स्वरूप पर प्रभाव रखेगी। क्या इस सबका यह अर्थ नहीं होता कि ईश्वर निरपेक्ष यथार्थता नहीं है किन्तु स्वयं भी निर्माण की अवस्था में है? अन्त में जाकर इस प्रकार का भेद भी, कि ईश्वर की आत्मा निमित्त कारण और उसकी देह उपादान कारण है, ठहर नहीं सकता। यह नहीं हो सकता कि एक मुर्गी के आधे भाग को तो हम पकाने के लिए ले लें और शेष आधे भाग को अण्डे देने के लिए छोड़ दें।[1]

समस्त एकेश्वरवाद के समक्ष सान्त का अनन्त के साथ सम्बन्ध एक समस्या है। सान्त यथार्थ सत्ताओं की व्यवस्था स्वयं में अनन्त नहीं हो सकती। सान्त के ऊपर भी कुछ होना चाहिए। रामानुज जगत के समस्त रूपों को विचार तथा प्रकृति के दो विभागों के अन्तर्गत समाविष्ट करते हैं। और उनका कहना है कि दोनों एक-दूसरे के प्रति सर्वथा अनुकूल हैं और इस प्रकार इस परिणाम पर पहुंचते हैं कि ईश्वर ही समस्त जगत् की प्रक्रिया का सञ्चालन करता है। तर्कशास्त्र इसको प्रस्तुत करता है, धार्मिक चेतना इसका समर्थन करती है और इस प्रकार हममें से अधिकांश इसे स्वीकार करते हैं। किन्तु यह समस्या का समाधान नहीं है। यह कहा जा सकता है कि समस्त व्याख्या यथार्थता के अन्दर है और उसकी व्याख्या नहीं है। हम यह कभी नहीं कह सकते कि यथार्थ सत्ता जैसी है, वैसी क्यों है। किन्तु यथार्थ सत्ता के अन्दर भी सम्बन्धों का निर्णय तर्क के द्वारा नहीं होता। यदि आत्मा विचार तथा प्रकृति के साथ समीकृत है तो इस प्रकार के परस्पर-विरोधी अंश उसी एक यथार्थता के नहीं हो सकते। या तो सम्पूर्ण इकाई के एकत्व में अथवा अंशों के स्वरूपों में परिवर्तन करने की आवश्यकता है। रामानुज ने किया यह कि उन्होंने दोनों को एक परम सत्ता के अन्दर संयुक्त कर दिया जो एक सजीव ऐन्द्रिक पूर्ण इकाई है जिसके सब भाग तथा अंश एक सर्वश्रेष्ठ तत्त्व के अन्दर तथा उसके द्वारा स्थित हैं, और जो स्वयं शरीर रूप में उनके अन्दर अवस्थित है। शङ्कर के सिद्धान्त के विरुद्ध यह आपत्ति यह है कि वे निरपेक्ष परम सत्ता को इतनी ऊंचाई पर पहुंचा देते हैं कि नीचे के मनुष्य समाज तक पहुंचने के लिए कोई मार्ग नहीं रहता। रामानुज का आशय हमारे समक्ष एक अधिक सन्तोषजनक एकत्व रखने का है जो न तो सारूप्य है और न ही अवयवों का पुञ्ज है वरन् समस्त भेदों तथा सम्बन्धों को समाविष्ट किए हुए है। प्रश्न उठ सकता है कि इस प्रकार का एक निरपेक्ष जीवन केवलमात्र निरंकुश कल्पना है जिसको प्रमाणित नहीं किया जा सकता। हम शब्दों को जोड़कर एक युक्ति-संगत कथन अवश्य कर सकते हैं किन्तु तदनुकूल कोई यथार्थ सत्ता है भी, यह संशयास्पद है। यदि निरपेक्ष सत्ता की अतीन्द्रिय तथा निर्विकार रूप में कल्पना की जाए तब यह समस्या उपस्थित होती है कि इस प्रकार का निरपेक्ष, जिसका कोई इतिहास नहीं मिलता, कैसे काल की प्रक्रिया तथा जगत् के विकास को अपने अन्दर निहित रखता है? इसलिए जब तक रामानुज निरपेक्ष सत्ता की निर्विकार पूर्णता की सन्तोषजनक व्याख्या नहीं कर देते और उसके स्थान में निरन्तर परिवर्तित होती हुई प्रक्रिया को नहीं रखते जो एक प्रगतिशील पूर्णता है तब तक वे हमारे समक्ष इसकी कोई भी सन्तोषजनक व्याख्या

१. ब्रह्मसूत्र पर आनन्दगिरि का भाष्य, १ : २, ८।

नहीं प्रस्तुत कर सकते कि निरपेक्ष की आत्मा का उसकी देह के साथ क्या सम्बन्ध है।

और फिर प्रकृति का सगठन तथा आत्माओं का क्षेत्र किस प्रकार एकत्व में संयुक्त है? जगत् की एकता को तथा व्यक्तियों के परस्पर भेद को सुरक्षित रखने का प्रयत्न करना ठीक है किन्तु यदि हमारे दुःख तथा संघर्ष, पाप और त्रुटियां निरपेक्ष के आन्तरिक भाग हैं और उस दैवीय मस्तिष्क में उसकी प्रशान्त तथा मंगलदायक चेतना के स्पष्ट घटकों के रूप में अनादि काल से उपस्थित हैं, तो क्या आत्माएं ईश्वर के मस्तिष्क में केवल निश्चित तथा स्थायी तत्त्व नहीं हैं? दूसरी ओर यदि हम पृथक् पृथक् व्यक्ति हैं तो ईश्वर भी हमसे पृथक् अवश्य होगा। केवलमात्र इस तथ्य के कारण कि हम सबका जीवन एक समान है, व्यक्तित्व में न्यूनता नहीं आती।[1] रामानुज आत्मा तथा शरीर के दृष्टान्त का प्रयोग यह संगत करने के लिए करते हैं कि शरीर अपने अन्दर अवस्थित आत्मा के बिना नहीं रह सकता। जब आत्मा चली जाती है तो शरीर नष्ट हो जाता है। इसके अतिरिक्त शरीर का अस्तित्व केवलमात्र आत्मा को सुख व दुःख का अनुभव कराने के लिए है। शरीर का लक्ष्य आत्मा है किन्तु यदि इस दृष्टान्त के ऊपर अधिक बल दिया जाए तो इसका अर्थ यह होगा कि ईश्वर ही सब कुछ है तथा आत्माएं और शरीर केवल ईश्वर की प्रसन्नता के साधन मात्र हैं। हीगल के समान कुछ विचारकों का द्रव्यवाचक सर्वव्यापी एक ऐसा शब्द है जो समस्या का समाधान तो नहीं करता किन्तु उसे फिर से दोहरा देता है। उनकी दृष्टि में दर्शन ज्ञान एक संपूर्ण इकाई में निरपेक्ष की नित्यपूर्णता तथा जगत् की अनन्त प्रक्रिया को परस्पर सम्बन्धित कर देता है।

रामानुज को जीवात्माओं की स्थायी तथा स्वतन्त्र यथार्थता को सुरक्षित-स्थिर रखने की चिन्ता है और इसलिए वे बलपूर्वक उस मत का विरोध करते हैं जो व्यक्तित्व का केवल एक भ्रामक प्रतीतिमात्र के रूप में निदर्शन करता है। एक ही यथार्थ सत्ता के अन्दर जिसे हम निरपेक्ष कह सकते हैं ईश्वर, जीवात्मा तथा जड़ प्रकृति में परस्पर भेद किया गया है।[2] जीवात्मा सर्वोपरि शक्ति है क्योंकि सब पदार्थ ईश्वर की देह का निर्माण करते हैं।[3] रामानुज जिसे जीवात्मा मान लेते हैं वह आनुभविक अहं है जो एक सान्त सत्ता है और जिसके पूर्व तथा पश्चात् दोनों हैं। ऐसा आग्रहपूर्वक कथन करना कि समस्त ज्ञान के अन्दर ज्ञाता (प्रमाता) तथा ज्ञेय (प्रमेय विषय) का भेद समाविष्ट रहता है अधिक संगत न होगा। क्योंकि यह भेद सापेक्ष है। देखने की क्रिया में दर्शनीय स्थान को हम दृष्टि का विषय तथा आंख को द्रष्टा अथवा ज्ञाता मानकर दोनों में भेद करते हैं। इसी प्रकार चेतनायुक्त अनुभव में हम इस चेतना के विषय को इसकी आकृति से

१. ब्रैडले कहता है कि "यदि हम व्यक्ति रूप मनुष्यों, तुम्हें और अपने को यथार्थ मान लें और इनमें से प्रत्येक अपने अधिकार में हो तो ईश्वर के लिए यह कहना कि वह धार्मिक चेतना में यथार्थ है, निरर्थक है" ('एपीयरेंस एण्ड रियलिटी' पृष्ठ, ४२६ ३५)।

२. इसके साथ रैशडल के मत की तुलना की जाए ('थियरी ऑफ गुड ऐण्ड ईविल,' खण्ड २, पृष्ठ २३८ और आगे)

३. सर्वात्मत्वात प्रत्यगात्मनोऽप्यात्मा परमात्मा।

पृथक् करके चेतना को ज्ञाता तथा उसके विषय को ज्ञेय पदार्थ कहते है, यद्यपि वस्तुत ये दोनो उस एक ही जगत् के साथ सम्बद्ध है। जिसे रामानुज ज्ञाता (प्रमाता) कहते है वह यथार्थ मे ज्ञाता के रूप में विचार मे नही आता किन्तु ऐसा ज्ञाता है जो अपने आप में इस जगत् के अनुभव मे आने वाले अनेक विषयो मे मे एक है।[1]

रामानुज का कहना है कि शरीर-सम्बन्धी परिवर्तनो से आत्मा मे कोई विकार नही आता।[2] यह स्वभावत निर्मल और निर्विकार है। भौतिकता की कृष्णवर्ण छायाए केवलमात्र इसकी उज्ज्वलता को आवेष्टित करती है किन्तु इसके उक्त गुण का नाश नही करती। भौतिक रूप केवल आकस्मिक है जिसे दूर किया जा सकता है। यह भौतिक रूप पाप की उपज है किन्तु निर्मल आत्मा पाप नही कर सकती। इस प्रकार पाप बिना शरीरधारी आत्मा के सम्भव नही हो सकता और बिना पाप के शरीरधारी जीवात्मा नही हो सकता। अन्य हिन्दू विचारको के अनुसार, रामानुज भी अनादि ससार की कल्पना द्वारा इस कठिनाई से छुटकारा पा लेते है। किन्तु इसमे आत्मा की विशुद्ध धार्मिकता आ जाती है। पाप तथा दण्ड दोनो ही का सम्बन्ध पदार्थ विषयक शृखला से है और उस विशुद्ध ज्ञाता का इससे कोई मतलब नही जो पाप नही कर सकता, किन्तु यदि आत्मा पाप कर सकती है तो इसका अर्थ यह हुआ कि इसका सम्बन्ध प्रकृति के साथ पहले से ही है और यह विशुद्ध आत्मा न होकर ससारी रह है। यदि यह कहा जाता है कि विश्व रूप शृखला अनादि है तो हमारे पास विशुद्ध आत्मा एक ओर है और दूसरी ओर ज्ञेय विषय है और दोनो ही निरपेक्ष अस्तित्व रखते है क्योकि अपने से अतिरिक्त उनकी कोई व्याख्या हमे नही मिलती। आत्मा अपने-आप मे निर्मल है, शरीर इससे चिपका रहता है। यह किस प्रकार होता है ?

आत्मा का ज्ञान के साथ क्या सम्बन्ध है ? ये परस्पर भिन्न है या एक है ? यदि भिन्न है तो शरीर मे किसी स्थान विशेष पर सुख अथवा दुःख का अनुभव ज्ञान को होगा, आत्मा को नही और इस प्रकार आत्मा को सुख-दुःख का अनुभव न हो सकेगा। हम यह नही कह सकते कि ज्ञान आत्मा का व्यापार है, क्योकि तब इसकी उत्पत्ति माननी पड़ेगी। किन्तु रामानुज के मत मे ज्ञान नित्य तथा स्वतत्र है किन्तु उत्पन्न वस्तु नही है। यदि आत्मा और ज्ञान एक है तब आत्मा भी विस्तार तथा सकोच के अधीन हो जाएगी। किन्तु आणविक आत्मा न फैलती है न सिकुडती है। आत्मा, जो स्वय चेतनता से बनी हुई है,[3] और ज्ञान का सम्बन्ध स्पष्ट रूप मे नही समझा जा सकता। आत्मा चेतनता से ओत-प्रोत है और चेतनता इसका गुण भी है।[4] "ज्ञान जानने

१. तुलना कीजिए, जेंटाइल : "यदि फिर हम मन की अतीन्द्रिय क्रिया के तत्त्व को जान लें तो हम इसे दर्शक और दृश्य के रूप मे प्रस्तुत नहीं करेंगे, अर्थात् मन ज्ञान का विषय और ज्ञाता एक बाह्य दर्शक। जब चेतना भी चेतना का विषय है तो वह चेतना नहीं रहती। सही अर्थों मे यह ज्ञाता नहीं अपितु ज्ञेय पदार्थ है यह भी नहीं है; प्रत्युत अनहं है।" ('थियरी आफ माइंड एज प्योर ऐक्ट', अंग्रेजी अनुवाद, पृष्ठ ६)।

२ स्वशरीरगतबालत्वयुवत्वस्थविरत्वादयो धर्माः जीवं न स्पृशन्ति (१ : १, १३)।

३. विज्ञानमयो हि जीवो न बुद्धिमात्रम् (१ : १, १३)। ४. २ : ३, २६।

वाले प्रमाता (ज्ञाता) से भिन्न है जिसका यह गुण है जिस प्रकार गन्ध, जो पृथ्वी का गुण है, पृथ्वी से भिन्न है।"[1] किन्तु रामानुज स्वीकार करते हैं कि प्रगाढ निद्रा में चेतना रहती है यद्यपि यह विषयरूप पदार्थों से सम्बद्ध नहीं रहती।[2] आत्मा का स्वरूप ज्ञान इतना नहीं है जितना कि विशुद्ध चेतनता है जो बराबर विषयों से सम्बन्ध रखती है।

जीव का सम्बन्ध जो ब्रह्म के साथ है उसमें भी कठिन समस्याएं उपस्थित होती है। रामानुज का कहना है : सर्वश्रेष्ठ ब्रह्म ने अनेक होने का निश्चय किया। उसके पश्चात् उसने सारे जगत् का आविर्भाव किया जिसमें अग्नि, जल आदि समवेत थे, और इस प्रकार आविर्भूत जगत् में चेतन जीव वर्ग के समस्त पुंज को प्रविष्ट करके उनके अन्दर भिन्न-भिन्न दैवीय तथा मानवीय आदि शरीरों का, जो प्रत्येक जीवात्मा के गुणावगुण के अनुरूप हो, निर्माण किया और अन्त में अपनी इच्छा के अनुसार उक्त आत्माओं के अन्दर प्रविष्ट होकर जिससे कि उनका अन्तरात्मा बन सके, उक्त सब पुञ्जों में नाम व रूप का विकास किया, अर्थात् प्रत्येक पुञ्ज को एक सारवान् रूप दे दिया जिससे कि उसे किसी एक विशेष शब्द के द्वारा प्रकट किया जा सके।[3] इस प्रकार जीव सम्पूर्ण यथार्थता का एक प्रतिबिम्ब है। प्रत्येक जीव में (१) अन्तर्यामी ब्रह्म, अर्थात् वह प्रकाश जो प्रत्येक जीवित सत्ता को प्रकाश देती है, (२) आत्मा जो विश्व का ज्ञाता है, और (३) जड़ साधन, जिनके द्वारा आत्मा कर्म करता है, ये सब विद्यमान रहते हैं। प्रत्येक जीवात्मा एकत्व के अन्दर त्रैत प्रतीत होता है, वैसे ही जैसे कि ब्रह्म है।[4] ब्रह्म मूल वस्तु है और जीवात्मा उसका प्रतिरूप है क्योंकि प्रत्येक जीवात्मा ईश्वर की सर्वश्रेष्ठ पूर्णता की सान्त तथा भौतिक रूपरेखाओं को धारण किए हुए है। इसके अतिरिक्त, जब आत्मा शरीर का परित्याग करके मोक्ष की अवस्था में प्रविष्ट होती है तो यह जीवन की विशुद्ध विषयवस्तु रूप हो गई प्रतीत होती है। इसका ईश्वर से सम्बन्ध विच्छेद नहीं होता क्योंकि दैवीय जीवन की धाराएं इसके अन्दर होकर प्रवाहित होती है। क्या इन जीवात्माओं का परस्पर एक दूसरे पर अतिच्छादन तो नहीं होता? यदि नहीं तो वह क्या वस्तु है जिससे इनमें परस्पर यह लक्षित होता है? क्या वे अपने तात्त्विक रूप में द्रव्य है या केवल निरपेक्षता के अन्दर गुणमात्र है? रामानुज का दृढ मत है कि इनमें से प्रत्येक आत्मा में प्रधानता है और ऐसे अनुभव है जिनके द्वारा यह एक एकत्व का संगठन करती है किन्तु एतत्सम्बन्धी तर्क कुछ निर्बल प्रतीत होता है।

जीवात्मा के सम्बन्ध में रामानुज का जो विचार है वह हमें द्रव्य सम्बन्धी पाण्डित्य प्रदर्शक कल्पना का स्मरण कराता है जिसके ऊपर काण्ट ने अपने 'रेफ्यूटेशन ऑफ रैशनल साइकोलॉजी' नामक ग्रंथ में तथा शंकर ने ब्रह्मसूत्रों पर किए गए अपने भाष्य में आक्षेप किए हैं। रामानुज के अनुसार जीवात्मा एक शाश्वत रूप में रहने वाली सत्ता है और वह नित्य है किन्तु शंकर का मत है कि शाश्वत स्वयम्भू सत्ता केवल

१. २ : ३, २७।
२. ज्ञानस्य विषयगोचरत्वं जागर्यादावुपलभ्यते (२ : ३, ३१)।
३. १ : १, १३।
४. अविज्जीवविशिष्टपरमात्मा (१ : १, १३)।

आत्मा ही है। रामानुज के मत को मानने से आत्मा के एक समान सार तत्त्व तथा निरन्तर विकास के मध्यवर्ती सम्बन्ध को जानना कठिन है। जैसा कि हीगल के दर्शन मे है, हमे यहा प्रक्रिया की एक समानता मिलती है, ऐसी समानता जो भेद मे भी स्थिर रहती है। यदि एक शरीर से दूसरे शरीर मे जाने पर, अथवा सामयिक चेतना के विराम से, जीवात्मा की समानता पर कोई असर नही होता तो इससे परिणाम यह निकलता है कि शारीरिक सम्बन्ध, स्मृति एव चेतना आत्मा के स्वरूप के मौलिक सिद्धान्त नहीं है। हम नही समझ सकते कि आत्मा का स्थिर तथा अपरिवर्तनशील स्वरूप क्या है जिसके लिए सब ज्ञात अनुभव असगत है। ऐसा प्रतीत होता है कि हम एक भावात्मक अमूर्त स्वयंभू व्यक्तिवाद पर आ पहुंचे है जहा निजी समानता, चेतना की निरन्तरता, अतीति और पूर्वसत्ता आदि शब्द कोई अर्थ नही रखते। भावात्मक मूलभूत स्वयम्भू को चेतन तथा अनुभवी आत्मा से कुछ सरोकार नहीं है। इस प्रकार का मत रखना कि सरल तथा वर्णविहीन इकाई जिसे आत्मा कहा जाता है, प्रत्येक व्यक्ति के अन्दर अलग-अलग है केवल एक कल्पना मात्र है। हम यह स्वीकार करने के लिए बाध्य है कि प्रत्येक व्यक्ति के अन्दर एक मूलभूत आत्मा का निवास है जिसका प्रगतिशील विकास के साथ सम्बन्ध है।

शकर और रामानुज दोनो ही वेदान्त के प्रकाण्ड विचारक हुए है और प्रत्येक के सर्वोत्कृष्ट गुण दूसरे के लिए दोष है। शकर का प्रकट रूप मे शुष्क तर्क उनके दर्शन को धार्मिक दृष्टि से अनाकर्षक बनाता है। रामानुज द्वारा प्रतिपादित परलोक की सुन्दर गाथाए, जिनका वर्णन वे एक ऐसे व्यक्ति के विश्वास के साथ करते है जिसने सृष्टि की उत्पत्ति मे व्यक्तिरूप से सहायता की हो सर्वथा अविश्वास के योग्य है। शकर की उन्नतकारी आन्वीक्षिकी विद्या, जो कि ईश्वर, मनुष्य तथा जगत् आदि सबका आदिकारण एक ही परमचेतना को बतलाती है रामानुज के अनुयायियो को बिलकुल निरुत्तर कर देती है। शकर के अनुयायी अपने गुरु से भी आगे बढ़ जाते है और उनके सिद्धान्त को आपत्तिजनक रूप मे अनीश्वरवाद सम्बन्धी भ्रष्ट बुद्धि की सीमा तक पहुचा देते है। रामानुज के अनुयायी भी उसी सात्त्विक आश्वासन के साथ दैवीय मस्तिष्क के न्यायालयो के मार्ग मे आगे बढ़ते है, जैसे कि मिल्टन स्वर्ग के विशाल प्रासादो से होकर आगे बढता है, तो भी रामानुज मे धार्मिक क्षेत्र मे एक महान् प्रतिभा थी। उनके मस्तिष्क मे नानाविध स्रोतो से यथा उपनिषदो और आगमो से पुराणो तथा प्रबन्धो से अपूर्व विचार स्वत प्रवाहित होते थे और उसके अन्दर अपनी निजी धार्मिक रुचि के कारण उक्त विचारो को उचित स्थान मिलता था। उक्त विचारो के समस्त भिन्न-भिन्न अवयव अनिर्वचनीय धार्मिक अनुभव मे समाहित पाए जाते है। रामानुज मे दार्शनिक भाव तो प्रबल था, किन्तु धार्मिक आकाक्षाए भी उतनी ही प्रबल थी। उन्होंने धार्मिक भावनाओ की माग का तार्किक विचार पद्धति के साथ समन्वय करने का पूरा प्रयत्न किया है। यदि उन्हे एक क्रमबद्ध तथा अपने-आप मे पूर्ण धार्मिक दर्शन-पद्धति का हमारे समक्ष रखने मे सफलता नही मिली तो इसमे कुछ भी आश्चर्य नही है। उनकी गम्भीर तत्परता तथा ठोस तर्क, जिनके आधार पर उन्होंने समस्या

को समझा और धर्म तथा दर्शन के बीच प्रकट रूप मे जो विस्तृत खाई देखी जाती है, उसे पाटने का पूरा प्रयत्न किया, वह अलौकिक है। एक दुर्बल बुद्धि, जिसके साथ आत्मा की गम्भीरता नही है, ईश्वर के विधि-विधान की ओर से आखे मीच सकती है और समस्या का एक प्रतीयमान सरल समाधान भी दे सकती है। किन्तु रामानुज मे वह बात नही है। उन्होने हमारे समक्ष एकेश्वरवाद का एक सर्वोत्तम नमूना रखा है जिसे बुद्धि ग्रहण करती है तथा जिसमे सर्वान्तर्यामिता का भी पुट दिया गया है।[1]

उद्धृत ग्रन्थों की सूची

ब्रह्मसूत्र पर रामानुजभाष्य : थिबौत कृत अंग्रेजी अनुवाद, 'सैक्रेड बुक्स ऑफ दि ईस्ट,' ४८।

ब्रह्मसूत्र पर रामानुजभाष्य : रंगाचार्य कृत अंग्रेजी अनुवाद।

भगवद्गीता पर रामानुजभाष्य : गोविन्दाचार्य-कृत अंग्रेजी अनुवाद।

यतीन्द्रमतदीपिका : गोविन्दाचार्य कृत अंग्रेजी अनुवाद।

सर्वदर्शनसंग्रह, अध्याय ४।

१. शंकर का सगुण ब्रह्म तथा ब्रह्म लोक, रामानुज के विष्णु और वैकुण्ठ के समान है। शंकर इस विषय पर बल देते हैं कि ये विचार यद्यपि उपलब्ध विचारों में सबसे श्रेष्ठ हैं, परन्तु स्वयं में श्रेष्ठतम नहीं हैं। जहां तक जीवन का सम्बन्ध है, इस प्रकार के प्रतिबन्ध से कुछ अधिक अन्तर नहीं आता है

दसवां अध्याय

शैव, शाक्त तथा परवर्ती वैष्णव ईश्वरवाद

शैव सिद्धान्त—साहित्य—सिद्धान्त—प्रत्यभिज्ञा दर्शन—शाक्त सम्प्रदाय—मध्वाचार्य—जीवन तथा साहित्य—ज्ञान का सिद्धान्त—ईश्वर—जीवात्मा—प्राकृतिक जगत—ईश्वर और जगत—नीतिशास्त्र और धर्म—समीक्षात्मक विचार—निम्बार्क—वल्लभ—चैतन्य का आन्दोलन।

१

शैव सिद्धान्त

प्रारम्भ से ही वैष्णव मत का सबसे प्रमुख प्रतिद्वन्द्वी शैव मत रहा है,[१] जो कि आज भी दक्षिण भारत में एक अत्यन्त प्रचलित मत है। वैसे तो यह दक्षिण भारत में ईस्वी सन के पूर्व से ही प्रचलित था, किन्तु इसे बौद्ध तथा जैन मत का विरोधी होने के कारण अधिक बल प्राप्त हुआ, जिनको उसने वैष्णव मत के साथ मिलकर ईसा के पश्चात् की पांचवीं अथवा छठी शताब्दी में दबा दिया। लगभग ग्यारहवीं शताब्दी में इसने शैवसिद्धान्त के नाम से एक विशिष्ट दर्शन का परिष्कृत रूप दिया। डाक्टर पोप ने, जिन्होंने इस दर्शन पर बहुत अधिक विचार किया, इसे "अत्यन्त परिष्कृत, प्रभावशाली और निःसन्देह भारत के समस्त धार्मिक सम्प्रदायों में सबसे अधिक आन्तरिक रूप से मूल्यवान् पाया।"[२] यद्यपि यह ठीक है कि शैव सिद्धान्त तथा काश्मीर के शैव मत में अद्भुत समानताएं हैं तो भी हम नहीं कह सकते कि शैव सिद्धान्त का साधारण संगठन अथवा महत्त्वपूर्ण मन्तव्य काश्मीर के शैवमत से लिया गया है। सबसे प्राचीन तमिल ग्रन्थ जैसे 'तोलकाप्पियम' उन अरिवारों अथवा ऋषियों का उल्लेख करते हैं जिन्होंने मोक्ष तथा परमानन्द के मार्ग का प्रदर्शन किया। इन ऋषियों को ब्राह्मणग्रंथों,

१. माधव ने 'सर्वदर्शनसंग्रह' में शैव मत के चार सम्प्रदायों का उल्लेख है : नकुलीश-पाशुपत, शैव, प्रत्यभिज्ञा और रसेश्वर। इनमें से अन्तिम दार्शनिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण नहीं है प्रथम सम्प्रदाय के मुख्य सिद्धान्तों के लिए देखें, 'भारतीय दर्शन' खण्ड १, पृष्ठ ४५०-४५१।

२. तिरुवासगम्, पृष्ठ ७४।

महाभारत और श्वेताश्वतर उपनिषदों के[1] रुद्र तथा रुद्रशिव सम्प्रदाय के वैदिक विचार ने प्रभावित किया। इनके अतिरिक्त अट्ठाईस शैव आगम, विशेषकर वे भाग जो ज्ञान के विषय का प्रतिपादन करते है, शैव सन्तो की छन्दोबद्ध वाणिया तथा अर्वाचीन अध्यात्मवादियो के ग्रन्थ दक्षिणी शैव मत के मुख्य स्रोत है।

२

साहित्य

अट्ठाईस आगमों को मान्यता प्राप्त है[2] जिनमें से मुख्य है कामिक, जिसमे वह विभाग भी आ जाता है जो ज्ञान के विषय का प्रतिपादन करता है। इसे मृगेन्द्र आगम का नाम दिया गया है। तमिल सन्तो यथा माणिक्कवासगर (सातवी शताब्दी) और सुन्दरार ने इनका उल्लेख किया है। शैव मत के भक्तिपरक साहित्य[3] का निर्माणकाल पाचवी से नवी शताब्दी तक है। शैव सन्तो को, जिनका सकलन नम्बी आण्डर नम्बी (१००० ईस्वी) द्वारा किया गया है, सामूहिक रूप से तिरुमुराई कहा जाता है। पहले भाग मे, जिसे 'देवारम' नाम दिया गया है, सबदर, अप्पर और सुन्दरार के निर्मित छन्द है। अन्यो मे सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है माणिक्कवासगर का 'तिरुवासगम'। सेक्करार के पेरिया-पुराण मे (जिसका निर्माणकाल ग्यारहवी शताब्दी है), जिसमे तिरसठ शैव-सन्तो का चरित्र वर्णित है, कुछ महत्त्वपूर्ण विचार सामग्री सन्निहित है। मेकण्डेर का शिवज्ञानबोधम् (तेरहवी शताब्दी), जिसे रौरव आगम के बारह श्लोको का विस्तृत रूप माना जाता है, शैव सिद्धान्त के विचारो का आदर्श भाष्य है। अरुलनन्दी शिवाचार्य, जो मेकण्डेर के उनचास शिष्यों में सर्वप्रथम था, 'शिवज्ञानसिद्धियार' नामक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ का रचयिता है। 'उमापति' के ग्रन्थों में (चौदहवी शताब्दी) शिवप्रकाशम् और तिरुअरुलपयन ग्रन्थ प्रसिद्ध है। शैवसिद्धान्त वेदो तथा आगमो की दो प्रकार की परम्परा के आधार पर स्थित है[4] और इन दोनो के क्रमबद्ध समन्वय का कार्य नील

१. देखें, 'भारतीय दर्शन' खण्ड १ पृष्ठ ८०, ४५०-४५१, ४७० और आगे।

२. काञ्जीवरम् के कैलासनाथ मन्दिर में हमें अट्ठाईस शैवागमों का सबसे प्राचीन शिलालेख मिलता है, जिसमे पल्लव राजा राजसिंहवर्मन ने अपने धार्मिक विश्वास का वर्णन किया है और यह पाचवीं शताब्दी (ईसा के पश्चात्) के अन्त का बना कहा जाता है।

३. "संसार के अन्य किसी भी मत ने इससे अधिक मूल्यवान भक्ति-प्रधान साहित्य उत्पन्न नहीं किया तथा उज्ज्वल कल्पनाशक्ति का सहज मनोभाव एवं भावुकता के उत्साह और कथन की ऐसी सरसता अन्यत्र नहीं देखी गई" (बार्नेट: 'दि हार्ट आफ इण्डिया', पृष्ठ ८२)।

४. तिरुमूलर, सिद्धान्तदीपिका, नवम्बर १९११, पृष्ठ २०४ पर उद्धृत। शिवज्ञानसिद्धियार कहता है: "वेद और शैव आगम ही एकमात्र यथार्थ पुस्तकें है। इनमे से वेद सामान्य हैं और सबके लिए खुले है। आगम विशिष्ट हैं और उनका प्रकाश सौभाग्यशाली व्यक्तियों के लिए हुआ है तथा उनमें वेद और वेदान्त के सारभूत सत्य निहित है। दोनों ही ईश्वर द्वारा

कण्ठ[1] (चौदहवीं शताब्दी) ने किया। उसने ब्रह्मसूत्र के ऊपर एक भाष्य लिखा और उक्त ग्रन्थ की व्याख्या शैव पद्धति के आधार पर की। वह सामान्य रूप से रामानुज के दृष्टिकोण को स्वीकार करता है और एक ओर ईश्वर के निरपेक्ष एकात्मभाव तथा नितान्त भेद एवं दूसरी ओर आत्माओं तथा जगत् के एकात्मभाव एवं नितान्त भेद का विरोध करता है।[2] शिव सर्वोपरि है और अम्बा उसकी पत्नी है एवं चेतन और जड़ वस्तुएं उसके शरीर हैं। अप्पय दीक्षित का शिवार्कमणि दीपिका नामक भाष्य भी अधिक महत्त्वपूर्ण है।

३

सिद्धान्त

सर्वोपरि यथार्थ सत्ता को शिव कहा गया है और वह अनादि, अजन्मा, सर्वथा निर्दोष, सब कार्यों का कर्ता और सर्वज्ञ है, जो जीवों को उन बन्धनों से मुक्ति दिलाता है जो उन्हें जकड़े हुए हैं। सच्चिदानन्द के सूत्र की व्याख्या में गूढ़ गुण उपलक्षित हैं, अर्थात् स्वतःस्फूर्त अनिवार्य नित्यता, अन्तर्दृष्टि सम्बन्धी ज्ञान, अनन्त बुद्धि, सब बन्धनों से स्वातन्त्र्य, अनन्त दया अथवा प्रेम, सर्वशक्तिमत्ता तथा असीम आनन्द। ईश्वर की सत्ता के कुछ प्रमाण दिए गए हैं। संसार में निरन्तर परिवर्तन हो रहा है। इसका उपादान कारण प्रकृति मिट्टी के समान जड़ है और स्वयं जगत् के रूप में परिणत नहीं हो सकती। यह विकास तत्त्वों के कारण से नहीं है क्योंकि तत्त्व ज्ञान से शून्य हैं। कर्म भी उन्हीं के समान अनुपयोगी है। सत्कार्य के अनुसार काल अपरिवर्तनशील है यद्यपि देखने वालों को यह परिवर्तित होता प्रतीत होता है। समस्त क्रिया की यह एक उपाधि है किन्तु अपने आप में सक्रिय कर्ता नहीं है। किन्तु यदि ईश्वर प्रत्यक्ष रूप से कारण है तो उसकी स्वतन्त्रता और पूर्णता में सम्भवतः बाधा उपस्थित होगी। इसीलिए कहा जाता है कि ईश्वर अपनी शक्ति के द्वारा व्यापार करता है और वह शक्ति उसका साधन रूप कारण है। कर्म सिद्धान्त मनुष्य के धार्मिक लक्ष्यों के अनुसार कार्य करता है। यह उद्देश्यों का निर्माण नहीं करता और न ही अच्छाई व बुराई में भेद करता है। इनका निर्णय एक अनन्त आत्मा के द्वारा होता है जो अपनी शक्ति की सहायता से इस विषय का भी ध्यान रखती है कि आत्माओं को अपना उचित फल (पुरस्कार) मिले। जिस प्रकार

प्रदत्त कहे जाते हैं।" (१, ८६)। तुलना कीजिए, नीलकण्ठ : 'वयं तु वेदशिवागमयोर्भेदं न पश्यामः' (ब्रह्ममीमांसा, पृष्ठ १५६)।

१. देखें, नीलकण्ठ, १. १. ३।

२. कितने ही प्रमुख वाक्य केवल रामानुज के भाष्य की प्रतिध्वनिमात्र हैं। उदाहरणार्थ तुलना कीजिए—सूक्ष्मचिदचिद्विशिष्टं ब्रह्म कारणम्, स्थूलचिदचिद्विशिष्टं तत् कार्यं भवति (१. १. २)। किन्तु देखें, अप्पयदीक्षित कृत आनन्दलहरी।

३. शिवज्ञानबोधम्, १. ४।

कुम्हार घड़े का स्रष्टा है, डण्डा व चक्र उसके साधन रूप कारण हैं, और मिट्टी उसका उपादान कारण है इसी प्रकार शिव संसार का स्रष्टा है, शक्ति साधन रूप कारण है और माया उपादान कारण है। जिस प्रकार शब्द राग के समस्त स्वरों में व्यापक रूप से रहता है, अथवा सुगन्ध फूल में समाई रहती है, इसी प्रकार ईश्वर अपनी शक्ति के द्वारा समस्त संसार में इतनी पूर्णता के साथ व्याप्त रहता है कि यह संसार में पृथक् प्रतीत नहीं होता। ईश्वर आत्मा है और प्राकृतिक विश्व तथा मनुष्य उसके शरीर हैं। ईश्वर और ये एक समान नहीं हैं यद्यपि ईश्वर इनके अन्दर निवास करता तथा ये ईश्वर में निवास करते है। अद्वैतवाद से तात्पर्य एकत्व नहीं है, अपितु उसका तात्पर्य यह है कि उन्हें पृथक्-पृथक् नहीं किया जा सकता।

शिव नित्य स्थायी है क्योंकि वह काल के द्वारा सीमित नहीं है। वह सर्वव्यापी है। वह अपनी शक्ति के द्वारा कार्य करता है और वह शक्ति जड़ न होकर चेतन शक्ति है और वही ईश्वर की देह है। यह देह पांच मन्त्रों से मिलकर बनी है[1] और सृष्टि के सृजन, धारण तथा विश्व के विनाश, तिरोधान और जीवात्माओं के मोक्ष—इन पांच प्रकार के व्यापारों का उपकरण बनती है। उसका ज्ञान सदा उज्ज्वल है और तात्कालिक है। पौष्कर आगम के अनुसार शक्ति, जिसे कुण्डलिनी अथवा शुद्ध माया भी कहते हैं, वह है जिससे शिव अपने सब व्यापारों का सम्पादन करता है और जिसके अन्दर उसका अस्तित्व निहित है। शक्ति ही शिवरूपी विशुद्ध चेतना तथा जड़ प्रकृति के मध्य एक कड़ी है। यह वह उपाधि है जो शिव के व्यापारों के मध्य भेद करने का कारण है।[2] यह अनन्त से लेकर जो केवल ईश्वर से उतरकर है, निम्नतम सब प्राणियों के बन्धन का तथा मोक्ष का कारण है। शक्ति जिसे प्रायः उमा भी कहा जाता है, केवल मात्र शिव की अनुरूप परिणति है और स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। परमसत्ता अपने आप में शिव है और पदार्थों के सम्बन्ध से वही शक्ति के नाम से पुकारी जाती है। शैव सिद्धान्त में शिव केवल अध्यात्मशास्त्र की परमसत्ता न होकर धर्म का ईश्वर भी है। वह रक्षक और गुरु है, और वह मनुष्य जाति के प्रति अपने महान् प्रेम के कारण इस आकृति को धारण करता है। वह ईश्वर प्रेममय है।[3]

समस्त पशु अर्थात् आत्माओं का समूह उसी प्रभु (पति) के हैं। वह उनका रचयिता नहीं है क्योंकि वह नित्य है। आत्मा देह से भिन्न है और देह एक भोग्य जड़ पदार्थ है। स्मृति तथा प्रत्यभिज्ञा के द्वारा उसकी उपस्थिति प्रमाणित होती है। वह सर्वव्यापी, शाश्वत तथा चेतन कार्यकर्ता है। वह अनादि, अनन्त और सर्वव्यापी चित् शक्ति का निवासस्थान है।[4] उसके अन्दर चैतन्य विद्यमान है जिसका सार देखने की क्रिया में निहित (दृक्क्रियारूपम्) है। 'शिवज्ञानसिद्धियार' के अनुसार आत्मा स्थूल शरीर से भिन्न

१. सद्योजात, वामदेव, अघोर, तत्पुरुष और ईशान। तुलना कीजिए, तैत्तिरीय आरण्यक, १० : ४३, ४७।

२. पौष्कर आगम, २ : १।

३. शिवप्रकाशम्, १ : १; नल्लस्वामी पिल्लई : शैवसिद्धान्त, पृष्ठ २७७।

४. मृगेन्द्र आगम ७ : ५।

है और सूक्ष्म है यद्यपि उसके साथ सम्पृक्त है और इच्छा, विचार तथा क्रिया (इच्छा ज्ञानक्रिया) उसके 'व्यापार' हैं।[1] यह जिस वस्तु में निवास करती है कुछ समय के लिए उस जैसी बन जाती है। संसार में रहकर वह सांसारिक पदार्थों में लिप्त रहती है किन्तु मोक्ष की अवस्था में वह अपनी एकाग्रता को ईश्वर में केन्द्रित करती है। प्रलय की अवस्था में शरीर रहित आत्माएं क्षमता तथा शक्ति के रूप में महान् शिव में विश्राम करती है। जीवात्माओं की संख्या न बढ़ सकती और न घट सकती है। ज्यों-ज्यों अधिक आत्माएं मोक्ष प्राप्त करती जाती हैं, त्यों-त्यों शरीरधारी आत्माओं की संख्या कम होती जाती है। मुक्तात्माओं में चैतन्य निर्दोष रूप में प्रकट होती है किन्तु सांसारिक आत्माओं में यह आवृत रूप में रहती है। जीवात्माओं के तीन वर्ग हैं जिनका विभाग तीन, दो अथवा एक प्रकार की मलिनताओं के अनुसार होता है।[2] यह पृथ्वी तथा शेष समस्त पदार्थ ईश्वर की रचना के कार्य रूप हैं। ये सब जड़ हैं और आत्माओं की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए हैं।

बन्धनों का जाल (पाशजाल) तीन प्रकार का है --अविद्या, कर्म और माया।[3] पहले की संज्ञा है आणवमल, अर्थात् अणुत्व (सान्तत्व) भाव का मिथ्या विचार जो आत्मा में रहता है। आत्मा जो विशुद्ध चैतन्य रूप है अपने को सान्त और शरीर के ही अन्दर आबद्ध तथा परिमित ज्ञान व शक्ति वाली समझती है। यह अपने चैतन्य स्वरूप से अनभिज्ञ है और शरीर को ही भ्रम से यथार्थसत्ता मान लेती है। यह आत्मा (पशु) का बन्धन (पाश) है। यह अविद्या सब प्राणियों में एक समान है और अनादि, प्रगाढ़, महती तथा नाना आकृतिवान् है। रचना और विनाश आदि सान्त जगत् के ही सम्बन्ध में घटते हैं और इस प्रकार उन्हें अविद्या के परिणाम समझा जाता है।[4] जड़ शरीर के साथ चेतन आत्मा के संयुक्त होने का कारण कर्म है। यह अविद्या का सहायक है। इसे कर्म इसलिए कहा गया है कि यह प्राणियों की क्रियाओं से उत्पन्न होता है। इसकी संज्ञा अदृष्ट है, क्योंकि यह सूक्ष्म है। सृष्टि रचना में यह प्रवृत्त होता है और प्रलय में फिर माया में विलीन हो जाता है। इसका नाश तो नहीं हो सकता किन्तु अपना परिणाम अवश्य ही दिखाता है।[5] माया जगत् का भौतिक कारण है और स्वरूप से अचेतन है।[6] यह विश्व का बीज है, अनेक प्रकार की शक्तियों से सम्पन्न, सर्वव्यापी और अविनाशी है। "जिस प्रकार तना पत्ता और फल, जो बीज में निहित है, बीज से उत्पन्न होते हैं उसी प्रकार काल से पृथ्वी (क्षिति) पर्यन्त यह विश्व माया से विकास के रूप में आता है।[7]

१. ३ : १।

२. सबसे उत्तम वर्ग के जीवात्मा (विज्ञानकाल) माया और कर्म से मुक्त हैं। उनमें 'आणवम्' की केवल एक ही मलिनता है। अगले (प्रलयकाल) वे हैं जो आणवम् और कर्म की मलिनताओं के अधीन है तथा जिनके कारण वे पुनर्जन्म के बन्धन में बद्ध हैं, और अंतिम (सकाल) वर्ग में वे सब प्राणी आ जाते हैं जो तीनों मलिनताओं के अधीन हैं।

३. मृगेन्द्र आगम २ : ३-७।

४. वही ७ : २।

५. ८ : १-५।

६. ६ : २-४।

७. पौष्कर आगम, ३ : ४।

शैव दर्शन में सृष्टि रचना की प्रक्रिया पर विशेष ध्यान दिया गया है। शिव विशुद्ध चैतन्य है। प्रकृति विशुद्ध रूप में जड़ है और शक्ति दोनों में मध्यस्थ है। वह (शक्ति) जगत् का उपादान कारण नहीं है क्योंकि वह चैतन्य स्वरूप है। शक्ति एक बाह्य तत्त्व है जो स्थूल तथा सूक्ष्म को, भौतिक तथा आध्यात्मिक को शब्द तथा भाव को मिलाने वाली कड़ी है[1] शुद्ध माया है जो विश्व की माता है वाणी अथवा नाद है तथा मौन की वाणी है। शैवसिद्धान्त सांख्य के पच्चीस तत्त्वों के विरुद्ध समस्त विश्व का विश्लेषण छत्तीस तत्त्वों में करता है। पुरुष के ऊपर पंच कंचुक अर्थात् पांच प्रकार का आवरण है यथा नियति (व्यवस्था) काल राग, विद्या (ज्ञान) तथा कला (क्षमता)। इनके ऊपर माया शुद्ध विद्या ईश्वर सदाशिव, शक्ति और शिव हैं। शिवतत्त्व अपने आप में एक विशिष्ट श्रेणी का है सदाशिव ईश्वर और शुद्धविद्या विशिष्ट तत्त्वों का निर्माण करते हैं और शेष बत्तीस माया से नीचे तक आत्मतत्त्व हैं। ये विकास के विभिन्न पड़ाव हैं। माया सबसे पूर्व सूक्ष्म तत्त्वों के रूप में विकसित होती है और उसके बाद स्थूल रूपों में। कला जो माया से विकसित होती है उनमें सर्वप्रथम है चैतन्य की अभिव्यक्ति में बाधक [illegible] मलिनताओं पर विजय प्राप्त करती है और उसके क्रमानुसार अभिव्यक्ति ज्ञान में सहायक होती है। [illegible] तत्त्व में आत्मा मूर्त और [illegible] अनुभव ग्रहण करता है[2]। विद्या वह साधन है जिसके द्वारा आत्मा बुद्धि के व्यापारों का ग्रहण करता है। माया वह इच्छा है जिसके ऊपर समस्त अनुभव निर्भर रहता है। काल भूत वर्तमान तथा भविष्यत् के अनुभवों का नियन्त्रण करता है। काल नित्य नहीं है क्योंकि नित्यता काल से विमुक्त ज्ञान का नाम है। नियति एक विशेष व्यवस्था है जिसके द्वारा शरीरों इन्द्रियों इत्यादि का भिन्न भिन्न आत्माओं के लिए नियन्त्रण होता है पुरुष इन पांचों से आवृत है। शैव सिद्धान्त का मत है कि सांख्य की मूल प्रकृति भी स्वयं एक उत्पन्न वस्तु है और उसमें भी पर सूक्ष्म पांच तत्त्वों को स्वीकार करती है। इन पांच में प्रथम तीन का कार्य ज्ञान (विद्या) कर्म तथा मन भावों की शक्तियों को व्यक्त करना है और शेष दो काल तथा देश के समानान्तर हैं। प्रकृति वह सामग्री है जिससे पुरुष के भोग्य पदार्थों का निर्माण होता है। यह सर्वप्रथम स्थूल विकास है। प्रकृति से गुणों का विकास होता है और गुणों से बुद्धि का शेष सब का विकास सांख्य वर्णित पद्धति के अनुसार होता है।

शिवतत्त्व निरंकुश है अर्थात् समस्त चैतन्य तथा क्रिया का अभिन्न आधार है। जब शुद्ध माया जो शिव की शक्ति है अपना क्रियात्मक जीवन प्रारम्भ करती है तब शिव भोक्ता हो जाता है वह सदाशिव है, यह सदाख्य भी कहलाता है, जो वास्तव में शिव से भिन्न नहीं है। जब शुद्ध माया वस्तुतः क्रियाशील होती है तब भोक्ता शिव अधिकारसम्पन्न शिव हो जाता है। उस

1 पौष्कर आगम, २.१७।
2 वही, ४.६।

अवस्था में वह ईश्वर है जो वस्तुतः सदाशिव से भिन्न नहीं है।"[1] जिसका शरीर पाँच मन्त्रों का है वह सदाशिव है, शिव नहीं। शुद्धविद्या यथार्थ ज्ञान का कारण है। संसार के कालचक्र के बीच निष्क्रियता के विश्राम आते हैं और उसके अन्त में विकास प्रारम्भ होता है। वह प्रभु सक्तियों को व्यक्त होने देने में सहायता प्रदान करता है और उनके विकास की समस्त प्रक्रिया को आत्माओं के उपकार के लिए, जो उसकी कृपा पर निर्भर करती है, अक्षुण्ण बनाए रखता है।[2] वह आत्माओं के कर्मों का हिसाब रखता है तथा उन्हें उन्नति के मार्ग में सहायता करता है। कर्मविधान के प्रति आदर भाव रखना ईश्वर के स्वातन्त्र्य को सीमित करना नहीं है क्योंकि कर्मविधान वह साधन है जिसका वह उपयोग करता है।

शैव सिद्धान्त जगत् के भ्रान्तिमय विचार का समर्थन नहीं करता। अनादि संसार प्रकृति तथा आत्माओं से मिलकर बना है, जो और ये दोनों नित्य हैं। संसार की पृष्ठभूमि में एक गम्भीर आशय रहता है और इसलिए इसे केवल भ्रान्तिमात्र अथवा परिहास की वस्तु कहकर तुच्छ रूप न देना चाहिए। ईश्वर सदा प्रकृति के बन्धन से आत्माओं की मुक्ति करने में तत्पर रहता है। संसार का अनवरत गतिमान प्रवाह, जिसका नियन्त्रण कर्मविधान के द्वारा होता है, मनुष्य को उन्नततर जीवन के प्रति आग्रह करने के लिए चलता रहता है।[3] शिव की अभिलाषा रहती है कि समस्त जन उसे जानें। ऐसा सेकण्टर का कहना है।[4] केवल मनुष्य की ही महत्त्वाकांक्षा ईश्वर को जानने विषयक नहीं है, अपितु स्वयं प्रभु की भी यही इच्छा है।

पाप तीन प्रकार का बन्धन है जिसमें हम जकड़े जाते हैं। हमें आणवम् अथवा अविद्या से अवश्य मुक्ति पानी है क्योंकि यह आत्मा के प्रकाश को अपवित्र तथा अन्धकाराच्छन्न किए हुए है तथा कर्म को निःशक्त बनाती है क्योंकि बार बार जन्म इसीके कारण होता है। माया को भी दूर करना है क्योंकि यही सब सक्तियों की जड़ है। ईश्वर हमें अपने प्रयत्नों में सहायता करता है। एक ऐसी आध्यात्मिक निरपेक्ष परमसत्ता, जिसके ऊपर आत्मा के सुख और दुःख का कोई असर नहीं होता किसी प्रयोजन की नहीं है। किन्तु शिव दया से पूर्ण है और क्रमिक युगों में आत्माओं के द्वारा ज्ञान होने तथा भक्ति पूर्ण प्रेम को प्राप्त करने की प्रतीक्षा करता रहता है। इस प्रकार का व्यक्तिगत बन्धन आत्मा को ईश्वर के साथ सम्पृक्त रखता है। ईश्वर की कृपा ही मोक्ष का मार्ग है। इसे प्राप्त करने के लिए शिव में बच्चे की भाँति विश्वास रखना आवश्यक है। 'जो निकट नहीं आते उन्हें कोई आशीर्वाद प्राप्त नहीं होता। किन्तु जो उसके निकट आते हैं उनके लिए वह सब प्रकार के उपकार का आश्वासन देता है, वह महान् ईश्वर किसी से

1. पौष्कर आगम, १ : २५-२६। 2. ७ : ११-२२।
3. सर्वदर्शनसंग्रह, ७; शिवज्ञानबोधम्, २ : ४।
4. शिवज्ञानबोधम् १२ : ३।

घृणा नहीं करता।"[1] शैवमतानुयायी सन्त लोग ईश्वर का साक्षात् करने को तृषित रहते हैं। माणिक्कवासगर के एक गीत का भाव है :

"इस पापमय ढांचे (शरीर) को उतार फेंकने के लिए, शिव के निवासस्थान में प्रवेश पाने तथा उस अद्भुत प्रकाश को देखने के लिए जिससे कि ये आंखें प्रसन्नता प्राप्त कर सकें, हे अनन्त ! जिसके भक्त-समाज की कोई तुलना नहीं, हे पुराणपुरुष ! तेरा दर्शन करने को तेरे दास की आत्मा तरस रही है।"[2]

पाप के ज्ञान का गहरा अनुभव करके कुछ सन्त लोग उच्च स्वर में कहते हैं कि पापों ने ही उन्हें ईश्वर के साथ संयुक्त भाव प्राप्त करने में रोक रखा है।[3] शैवों की भक्ति अधिक वीरतापूर्ण तथा पुरुषत्व रखती है किन्तु वैष्णवों की भक्ति में वह भाव नहीं है।

तिरुवासगम्[4] ने कितने सुन्दर छन्दों में अज्ञान तथा वासना के बन्धन से प्रकाश और प्रेम के स्वातन्त्र्यपूर्ण जीवन की ओर उन्नति करने, उसके सर्वप्रथम उद्बोधन, इसके आह्लाद तथा उत्ताप, स्वच्छन्दाचारिता तथा विषाद, संघर्ष और बेचैनी एवं शान्ति और ईश्वर के साथ मिलन के प्रसाद का चित्रण किया है। ईश्वर के अन्तर्ज्ञान में ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय [illegible] हो जाते हैं,[5] ऐसा कहा गया है। शैवमत के प्रारम्भिक रूप में हर [illegible] में सहिष्णुता का भाव था। 'इस प्रकार किसी भी ईश्वर की उपासना करो [illegible] प्राप्त हो जाएगा। [illegible] इन सबसे ऊपर है तुम्हारा यथार्थपूजा का [illegible]।'[6] [illegible] योजना में गुरु अथवा शिक्षक का एक महत्त्वपूर्ण भाग है। [illegible] अपने

१. तिरु-अरुल पायन [illegible]
२. पोप कृत अनुवाद, तिरुवाचगम [illegible]
३. तुलना कीजिए, अप्पार :
"मेरी जाति पापमय [illegible]
मैं केवल पाप में ही [illegible]
मेरी अन्तस्तल आत्मा [illegible]
मैं पशु [illegible] नहीं [illegible] किन्तु [illegible]
आह ! मैं [illegible] नीच पुरुष
मैं कहां से इस जन्म में आ गया"
(किंग्सबरी और फिलिप्स : 'हिम्स ऑफ़ दि तमिल शैवाइट सेंट्स,' पृष्ठ [illegible])
४. शैवसिद्धान्त के साहित्य के विषय में सर चार्ल्स इलियट लिखता है : "जिस किसी भी साहित्य से जिसका मुझे परिचय है, व्यक्तिगत [illegible] जीवन, इसके संघर्ष और नैराश्यपूर्ण क्षण, इसकी आशाएं और भय, इसके विश्वास और इसकी विजय ने इससे अधिक स्पष्ट और अधिक पूर्णता के साथ अपना चित्रण प्रस्तुत नहीं किया।"
('हिन्दुइज़्म एण्ड बुद्धिज़्म,' खण्ड २, पृष्ठ २१७)।
५. तिरु अरुल पायन, ८०. ७[illegible]।
६. शिवज्ञानसिद्धियार।

अन्तिम जन्म में है, और गुरु के अन्दर स्वयं शिव का निवास बताया गया है, जो गुरु के नेत्रों के माध्यम से शिष्य पर स्नेह की दृष्टि रखता है।[1] शिव के अवतार नहीं होते यद्यपि वह अपने भक्तों की भक्ति की परीक्षा लेने तथा उन्हें सत्य में दीक्षित करने के लिए स्वयं बार-बार प्रकट होता रहता है। किन्तु शिव कभी जन्म नहीं लेता और न ही उसका कोई मानवीय जीवन होता है।

नैतिक गुणों पर विशेष बल दिया गया है। सिद्धियार कहता है 'जिन्हें मनुष्यमात्र से प्रेम नहीं है उन्हें ईश्वर में भी प्रेम नहीं हो सकता।'[2] यद्यपि कर्म का विधान तो भंग नहीं किया जा सकता तो भी आत्मा के समक्ष चुनाव संबंध में कोई प्रतिबन्ध नहीं है। ईश्वर सदा मनुष्य के पुरुषार्थ का समर्थन करता है। कर्म और ज्ञान एक साथ मिलकर मोक्ष को जन्म देते हैं। परवर्ती यथार्थ ईश्वरवाद में जन्मगत जाति भेद शिथिल पड़ जाते हैं। यद्यपि माणिक्कवाचकर ने तो जन्म और जातिगत भेद सम्बन्धी नियमों के प्रति किसी प्रकार का विरोध भाव प्रकट नहीं किया तो भी परवर्ती शैव पट्टिणात्तु पिल्लई कपिलार और तिरुमूलर जाति भेद के विषय में दोषदर्शी रहे। तिरुमूलर का मत है कि वर्ण एक ही है जैसे ईश्वर एक है।[3] बासव (बारहवीं शताब्दी के मध्य में) के सुधार सम्बन्धी आन्दोलन में ब्राह्मण वर्ण की श्रेष्ठता के विरुद्ध विद्रोह स्पष्ट दिखाई देता है यद्यपि बासव स्वयं भी ब्राह्मण था। यह सम्प्रदाय पुनर्जन्म के सिद्धान्त को नहीं मानता।[4]

कहा गया है कि पाश (बन्धन) के नष्ट हो जाने पर जीवात्मा शिव बन जाता है। अर्थात् सम्पूर्णरूप में उसका सादृश्य प्राप्त कर लेता है तथापि सृष्टि की उत्पत्ति आदि पांच व्यापार केवल ईश्वर के लिए ही सुरक्षित हैं। चूंकि आत्मा में किसी प्रकार का मल अथवा अज्ञानान्धकार नहीं है, इसलिए ईश्वर का प्रकाश उसके अन्दर चमकता है। मुक्ति से तात्पर्य ईश्वर-रूप हो जाना नहीं है वरन् ईश्वर की उपस्थिति का सुख प्राप्त करना है। मैकण्डर कहता है 'शिव के साथ संयुक्त होने पर यदि आत्मा का विनाश हो जाता तो किसी शाश्वत सत्ता का साहचर्य इस के साथ नहीं हो सकता था। और यदि उसका विनाश नहीं होता और यह एक स्वतन्त्र प्राणी के रूप में वर्तमान रहता है तब ईश्वर के साथ उसका मिलन नहीं हुआ। किन्तु मलिनताएं आत्मा के ऊपर प्रभाव डालना बन्द कर देंगी और तब आत्मा जिस प्रकार नमक और पानी का संयोग होता है शिव के साथ उसके दास के रूप में संयुक्त हो जाएगी और उसीके साथ

१. शिव-ज्ञानबोधम् ८।
२. १०। २, 'सिद्धान्तदीपिका,' नवम्बर १८९७, पृष्ठ ११० पर उद्धृत।
३. नीलकण्ठ, ४। १, ९। 'ओनरु कुलम् ओरुवने देवनुम्' (तिरुमन्त्रम्)।
४. यद्यपि सुधारवादी लिंगायत सम्प्रदाय ने जातिपाति के विरुद्ध प्रबल आंदोलन प्रारम्भ किया किन्तु वर्तमान समय में लिंगायत सम्प्रदाय में भी वर्णभेद मौजूद है।
६. मृगेन्द्र आगम, ६। ७। "निरन्तर शिवोऽस्मीति भावनाप्रवाहेण शिथिलितपाशतया उपगतपशुभाव उपासकः शिव एव भवति" (नीलकण्ठ, ४। ४। ३)।
७. ४ : ८, ७ पर नीलकण्ठ की टीका।

सयुक्त होकर उसके चरणो मे निवास करेगी ।"[1] "पाप के दूर हो जाने पर आत्मा स्वय शिव के पद को प्राप्त कर लेती है ।"[2] मुक्तात्मा शरीरधारी अथवा अशरीरी अवस्था मे रह सकते है ।[3] कुछ शैवों का विश्वास है कि मोक्ष मे शरीर स्वय शिव के प्रकाश मे द्युतिमान हो उठता है । दूसरो का विश्वास है कि आत्माओ को अद्भुत शक्तिया प्राप्त हो जाती है । किन्तु इससे पूर्व कि वे सर्वोपरि प्रभु के साथ सयुक्त हो, आत्माओ के लिए अपने सब कर्मों का फल भोग लेना आवश्यक है । शरीर मे रहते हुए भी मुक्तात्मा मनोभावों तथा क्षमता मे सर्वोपरि प्रभु के समान है । मुक्तात्मा ऐसे कर्म नही करता जिनके कारण आगे चलकर उसे देह धारण करना पड़े । उसमे ईश्वर का सान्निध्य व्याप्त हो जाता है ।[4] जब तक उसका पिछला कर्म फल नही दे चुकता तब तक वह शरीर धारण किए रहता है और इस मध्यवर्ती समय के कर्म ईश्वर की कृपा से नष्ट हो जाते है ।[5] मुक्तात्माओ के जितने भी कर्म है वे उनके अन्दर अवस्थित ईश्वर की प्रेरणा से होते है ।

४

प्रत्यभिज्ञा दर्शन

यद्यपि आगम ही काश्मीर के शैव मत के भी आधार थे तथापि परवर्ती ग्रथो का झुकाव स्पष्ट रूप मे अद्वैतवाद की ओर दिखाई देता है ।

वसुगुप्त (८वी शताब्दी) के विषय मे कहा जाता है कि उसने शिवसूत्र की खोज की और उसे कल्लट को पढाया । इस सम्प्रदाय के कतिपय महत्त्वपूर्ण ग्रंथ ये है स्पन्दकारिका जिसे वसुगुप्त अथवा कल्लट ने बनाया सोमानन्द की शिवदृष्टि (९०० ईस्वी), उत्पल का प्रत्यभिज्ञासूत्र (९३० ईस्वी), अभिनव गुप्त का परमार्थसार और प्रत्यभिज्ञा विमर्शिनी, तन्त्रालोक, क्षेमराज की शिवसूत्रविमर्शिनी और स्पन्दसन्दोह । ये शैव आगमो तथा सिद्धान्त ग्रथों को प्रामाणिक मानते है और उन्हे शकर के अद्वैत सिद्धान्त की दिशा मे परिवर्तित

1. शिवज्ञानबोधम्, ९ : ४ देखें, पोप की टिप्पणी, ८, 'तिरुवासगम', पृष्ठ ४२ ।
2. नीलकण्ठ, ४ : ६, ४ । 3. नीलकण्ठ, ४, ५ ।
4. तिरु-अरुल पायन, १० : ८२
5. वही, १० : ९८ ।
6. "स्वयं, जिह्वा भी जो तुझे पुकारती है अन्य सब शक्तिया
मेरे सम्पूर्ण जीवन की जो पुकार उठती है—वे सब तू ही है !
तू ही मेरी शक्ति का मार्ग है ! कम्पन रूप रोमाच जो दौड़ता है
मेरे अन्दर तू है ! मै ही सम्पूर्ण बुराई और समृद्धि हू, और कोई नहीं ।"
(पोप-कृत अनुवाद, 'तिरुवासगम्' ३३ : ५) ।

करते है। ये ग्रंथ जिनमे परस्पर मतभेद भी है, कहा जाता है कि एकेश्वरवाद सम्बन्धी आदर्शवाद का प्रतिपादन करते है, और इन तीनों को एक ही 'त्रिक' नाम से पुकारा जाता है।[1] शिवसूत्र, भास्कर-कृत वार्तिक और क्षेमराज-कृत विमर्शिनी एक विशेष प्रवृत्ति को प्रस्तुत करती है;[2] वसुगुप्त-कृत स्पन्दकारिका कल्लटकृत वृत्ति के साथ एक ऐसे आदर्शवाद का प्रतिपादन करती है जो कि पहले से कुछ अधिक भिन्न नही है। सोमानन्द-कृत शिवदृष्टि और उत्पल-कृत प्रत्यभिज्ञासूत्र तथा अभिनवगुप्त के ग्रंथ अद्वैतवाद के समर्थक है।[3] इनमे से माधव का अन्तिम ग्रंथ सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण प्रतीत हुआ क्योंकि वह ग्रंथ दोनों का समावेश अपने अन्दर कर लेता है।[4] और उक्त सिद्धान्त के समर्थक भी मानते है कि अन्य सब दर्शन इसके लिए तैयारी करने के पड़ाव मात्र है।[5]

विश्व में एकमात्र यथार्थसत्ता शिव है जो अनन्त चैतन्य स्वरूप तथा अनियन्त्रित स्वातन्त्र्य स्वरूप है।[6] उसकी अन्य भी अनेक विशेषताएं है, जैसे सर्वव्यापकता, नित्यता निराकारता, यद्यपि स्वच्छन्दता उसकी सबसे बड़ी विशिष्टता है। शिव प्रमाता (ज्ञाता) भी है और प्रमेय (ज्ञेय) भी है अनुभवकर्त्ता भी है और अनुभूत पदार्थ भी है। चित्ति चैतन्य जिसके ऊपर यह समस्त उत्पन्न जगत स्थिर है और जहां से यह प्रादुर्भूत होता है यह अपने स्वरूप में स्वतन्त्र है इसलिए इसकी गति सर्वत्र अबाधित है।[7] जाग्रत् तथा स्वप्न आदि भिन्न-भिन्न अवस्थाओं मे अपने को उन्हीं के अन्दर मिलाता हुआ जब यह गति करता है तो भी अपने यथार्थ स्वभाव से च्युत नही होता, अर्थात ज्ञाता ही रहता है। अद्वैत वेदान्त की भांति इसमें ऐसा कहा गया है 'कि वह जिसमें न सुख है और न दुःख है न वह ज्ञात है और न जानने वाला है और फिर वह जड़ता भी नहीं है, केवलमात्र उसीकी सत्ता है। प्रमाता की यथार्थ सत्ता को प्रमाणों की आवश्यकता नही क्योंकि सब प्रकार के प्रमाण उसे मान लेते है।''[8] शिव के समान दूसरा कोई नही। यह संसार चैतन्य के अन्दर ही स्थित है यद्यपि उससे बाह्य प्रतीत होता है। चित् (बुद्धि) स्वरूप प्रभु इच्छा के वशीभूत होकर समस्त सामूहिक विषयों (पदार्थो) के प्रकाश का कारण बनता है मानो वे उससे बाह्य हों, यद्यपि बिना किसी अधिष्ठान के जिस प्रकार कि एक योगी करता है।''[9] इस के समान प्रेरक कारण

1. उन्हें यह संज्ञा इसलिए दी गई है कि वे तीन परमसत्ताओं अर्थात ईश्वर, आत्मा और प्रकृति का प्रतिपादन करते है।
2. देखें, परमार्थसार, पृष्ठ २४, ३६, ४८ ५० और ५४
3. सर्वदर्शनसंग्रह, ८।
4. तद्भूमिका सर्वदर्शनस्थितय (प्रत्यभिज्ञाहृदय सूत्र, पृष्ठ -)
5. स्पन्दकारिका, पृष्ठ २६।
6. वही, पृष्ठ २ ४।
7. स्पन्दकारिका, पृष्ठ ५। ८ शिवसूत्रविमर्शिनी, पृष्ठ ५।
9. ईश्वरप्रत्यभिज्ञासूत्र, ५.६। परमार्थसार का कहना है कि वह प्रभु जो कि विचार

अथवा प्रकृति के समान उपादान कारण को सृष्टि के विषय में उन्होंने स्वीकार नहीं किया और न ही माया-रूप तत्त्व को माना है, जो भ्रांतिमूलक आकृतियों का निर्माण करती है। ईश्वर सर्वथा स्वतन्त्र है और उस सब जगत् का जो वर्तमान है अपनी इच्छाशक्ति से निर्माण करता है। वह संसार को अपने अन्दर ऐसा प्रतीत कराता है मानो उससे भिन्न हो यद्यपि ऐसा है नहीं, जिस प्रकार कि एक दर्पण में पदार्थ अवस्थित न रहते हुए भी दिखाई देते हैं। ईश्वर भी अपनी सृष्टि के पदार्थों से उसी प्रकार अछूता रहता है जिस प्रकार कि दर्पण अपने अन्दर प्रतिबिम्बित आकृतियों से अछूता रहता है। अपनी अद्भुत शक्ति के द्वारा जो उसके अन्दर निहित है ईश्वर आत्माओं के रूप में प्रकट होता है और उनके भोग के लिए पदार्थों को बनाता है।' अनन्त तथा निर्मल आत्मा ही एक-मात्र यथार्थ सत्ता है और जो विश्व का एकमात्र अधिष्ठान है और जिसका स्पन्दन समस्त प्रकार के भेदों का कारण है।

शिव तो समस्त विश्व की पृष्ठभूमि में निराकार यथार्थसत्ता है, किन्तु उसकी शक्ति के असंख्य रूप हैं, जिनमें से मुख्य मुख्य हैं चित् (बुद्धि), आनन्द, इच्छा, ज्ञान और क्रिया (उत्पादक शक्ति)। छत्तीस प्रकार के तत्त्व माने गए हैं। जब शक्ति चित् स्वरूप में व्यापार करती है तब परमार्थसत्ता विशुद्ध जीवन रूप धारण करती है जिसे शिवतत्त्व कहते हैं। जब इसी शक्ति के आनन्द रूप व्यापार के द्वारा जीवन का उद्भव होता है, हमारे समक्ष शक्तितत्त्व की दूसरी अवस्था आती है। आत्माभिव्यक्ति की इच्छा सत् की तीसरी अवस्था को उत्पन्न करती है। अगला सत् का चेतनामय ज्ञान है जिसे शक्ति तथा विश्व-रचना की इच्छा सहित ईश्वरतत्त्व माना गया है। अगली अवस्था में ज्ञाता तथा ज्ञान का विषय है जब कि क्रिया प्रारम्भ होती है। यह शुद्ध विद्या की अवस्था है। इस प्रकार पांच अतीन्द्रिय तत्त्व शिव की शक्ति के व्यक्तरूप हैं जो पांच प्रकार की शक्ति से उत्पन्न हैं।

यह दृश्यमान जगत् माया की शक्ति के द्वारा उत्पन्न होता है जिससे नियति, काल, राग, विद्या और कला रूपी प्रतिबन्ध प्रादुर्भूत होते हैं। माया-रूपिणी शक्ति के बल से अनन्त अनुभव अपने आपको असंख्य अनुभवों अथवा पुरुषों के रूप में प्रकट करता है। किन्तु समस्त प्रतिबन्ध किसी प्रतिबन्धकारी की ओर संकेत करता है। उससे प्रकृति तथा पुरुष में भेद उत्पन्न होता है। इसके आगे का विकास सांख्य-वर्णित योजना की पद्धति के ऊपर है। विकास की सब अवस्थाएं एकमात्र परमार्थ शिव की ओर हो ले जाती हैं। कालचक्र सम्बन्धी संसार के उद्भव तथा तिरोभाव को भी माना गया है। विश्व के आभास की प्रक्रिया निरपेक्ष शिव की निर्मलता को मलिन नहीं करती

तथा आनन्द का संयुक्त रूप है शक्ति, माया, प्रकृति और पृथ्वी को उत्पन्न करता है। (देखें ४) प्रभु देवताओं तथा मनुष्यों आदि की समानता को धारण कर लेता है (६)।

१. परमार्थसार, पृष्ठ ४८–५०।

क्योंकि वह अपने सब अभिव्यक्त रूपों के ऊपर उठा हुआ है।

चूंकि आत्मा चैतन्य स्वरूप है और जीवात्मा भी वही है जैसा कि विश्वात्मा है इसलिए आत्माओं के निरपेक्ष अनेकत्व का सिद्धान्त नहीं माना जा सकता। हममें से सबके अन्दर विशुद्ध चैतन्य निवास करता है। यद्यपि मिथ्या उपाधियों के द्वारा यह आवृत हो जाता है। हमारा बन्धन अज्ञान के कारण है।[1] क्षेमराज कहता है : "अनन्त चेतन स्वरूप होकर भी आत्मा यह समझती है कि 'मैं सान्त हूं'; स्वतन्त्र होने पर भी वह समझती है कि 'मैं ही शरीर हूं'[2] यह भूल जाती है कि शिव से भिन्न जगत् सम्पूर्ण रूप में अयथार्थ है और यह कि आत्मा तथा शिव एक समान है।"

यथार्थसत्ता की प्रत्यभिज्ञा की ही मोक्ष के लिए आवश्यकता है। यदि जीवात्मा तथा विश्वात्मा एक है तब यह प्रश्न उठ सकता है कि इस तथ्य की प्रत्यभिज्ञा की क्या आवश्यकता है? माधव इस प्रश्न का उत्तर एक दृष्टान्त से देता है। एक कामातुर स्त्री की सन्तुष्टि उसके प्रेमी की उपस्थिति मात्र से ही नहीं हो सकती किन्तु उसे प्रेमी को उसी रूप में अनुभव करना आवश्यक है। अज्ञान के बन्धन पर विजय केवल इसी प्रत्यभिज्ञा से प्राप्त हो सकती है। जब आत्मा अपने को ईश्वर के रूप में पहचान लेती है तब वह ईश्वर के साथ ऐक्य भाव के अलौकिक परमाह्लाद में निवास करती है। स्पन्द सम्प्रदाय के अनुसार आत्मा प्रगाढ़ योग सम्बन्धी चिन्तन के द्वारा ज्ञान प्राप्त करती है, विश्व में शिव की श्रेष्ठता को पहचानती, तथा शान्ति और मौन की अलौकिक समाधि में लीन हो जाती है।[3] शिवसूत्र में वर्णित मोक्ष-प्राप्ति के तीन प्रकार शैव, तन्त्र और योग के हैं।

अभिनवगुप्त के अनुसार मुक्तात्माओं के तीन वर्ग हैं : एक वे जो सर्वोपरि सत्ता में समा गए (प्रमुक्त) हैं, दूसरे वे जो उससे उसके व्यक्त रूप में संयुक्त हैं (अपर मुक्त), और तीसरे वर्ग के वे जो अभी शरीर धारण किए हुए हैं (जीवन्मुक्त)। मुक्तात्मा सर्वोपरि सत्ता के साथ एकाकार हो जाता है क्योंकि यह स्वीकार किया गया है कि "मुक्तात्मा से भिन्न ऐसी कोई सत्ता नहीं है कि जिसकी उसे स्तुति करनी है या पूजा करनी है।" "जब इस प्रकार द्वैत की कल्पना समाप्त हो गई तो जीवात्मा भ्रांति रूप माया के ऊपर आधिपत्य प्राप्त कर लेती है और वह ब्रह्म में विलीन हो जाती है, जैसे जल जल में तथा दूध दूध में घुल-मिल जाता है।"[4]

१. शिवसूत्र. २।
२. शिवसूत्र पर टीका करते हुए, १ : २।
३. 'जर्नल ऑफ दि रायल एशियाटिक सोसाइटी,' १९१०
४. परमार्थसार, पृ० ५१।

५

शाक्त सम्प्रदाय

शक्ति[1] की पूजा का प्रारम्भ ऋग्वेद में पाया जाता है। एक ऋचा में शक्ति को ऐसी शरीरधारिणी क्षमता के रूप में प्रस्तुत किया गया है "जो पृथ्वी का धारण करने वाली है और स्वर्ग में निवास करती है।"[2] वही सर्वोपरि शक्ति है "जिसके द्वारा समस्त विश्व का धारण होता है"[3] और यह भक्तों (सुब्रतानाम्) की पूज्य माता[4] है। और यही शीघ्र आगे चलकर केन उपनिषद् में वर्णित 'हैमवती उमा' रूप में आ गई है। महाभारत में यह कृष्ण की भगिनी के रूप में है और इस प्रकार वैष्णव मत के साथ इसका सम्बन्ध हो गया। शैवों ने इसे शिव की पत्नी मान लिया। पुराणों के अन्दर यह चण्डी के रूप में प्रकट होती है जिसकी दैनिक पूजा का विधान है और शरद् ऋतु का जिसका उत्सव मनाया जाता है। शीघ्र ही देवी के रूप में इसकी पूजा होने लगी जिसका ब्रह्म के साथ ऐक्य भाव है, जो ब्रह्म परम निरपेक्ष तत्त्व है और जिसका स्वरूप सत्, चित् और आनन्द है और जिसका पुमान्, स्त्री अथवा निर्गुण रूप में भी चिन्तन किया जा सकता है।[5] शनैः-शनैः जगन्माता के रूप में इसकी पूजा ने वैदिक कर्मकाण्ड का स्थान ले लिया। हिन्दू धर्म के इस रूप से सम्बन्ध रखने वाले साहित्य को तन्त्र के नाम से पुकारा जाता है। यह स्त्रीजाति के प्रति आदर भाव के लिए प्रसिद्ध है और स्त्रियों को दैवीय माता की प्रतिकृति करके माना गया है।[6]

सतहत्तर आगम जो शाक्त मत में हैं वे पांच शुभागमों में विभक्त हैं (जिनका दूसरा नाम समय है)। ये ज्ञान तथा मोक्ष प्राप्ति की ओर ले जाने वाली क्रियाओं की शिक्षा देते हैं। चौंसठ कौलागम हैं, जो ऐसी क्रियाओं की शिक्षा देते हैं जिनका उद्देश्य जादू की शक्तियों का विकास करने में सहायता करना है। आठ मिश्रागम हैं, जिनका लक्ष्य दोनों प्रकार का है। भास्कर राय अपने ललितासहस्रनाम भाष्य में शाक्तसूत्र नामक एक ग्रन्थ में से सूत्रों का उद्धरण देता है। यह ग्रन्थ आज हमें उपलब्ध नहीं है। तन्त्र ग्रन्थ, जो शिव और देवी के मध्य संवाद के रूप में हैं, सातवीं शताब्दी तथा उससे आगे के हैं। हम सर जान वुडरफ को उनकी लगन एवं परिश्रम के लिए धन्यवाद देना

१. 'भारतीय दर्शन', खण्ड १, पृ० १४६–१५०।

२. १०:१२५, ३।

३. देखें, छान्दोग्य उपनिषद्, ३ : १२; बृहदारण्यक उपनिषद्, ५ : १४।

४. तुलना कीजिए : पुंरूपां वा स्मरेद् देवीं स्त्रीरूपां वा विचिन्तयेत्।
अथवा निष्कलां ध्यायेत् सच्चिदानन्दलक्षणाम्॥

५. विद्याः समस्तास्तव देवि भेदाः।
स्त्रियः समस्ताः सकला जगत्सु॥ (सप्तशती, ११ : ५)।

चाहिए, जिनके कारण ही प्राप्त होने वाले ये मुख्य तन्त्र सूत्र आज प्रकाशित रूप में उपलब्ध हैं।

इस तन्त्र दर्शन में शिव का स्वरूप सर्वव्यापक (अखिलानुगत), विशुद्ध चैतन्य (प्रकाश), अकाय और निष्क्रिय बताया गया है। यह एक विशुद्ध सत् है जो सर्वथा निर्लिप्त है। क्रियाशील शरीरधारी तत्त्व शक्ति के अन्दर ही सब जीवात्माएं समाविष्ट हैं। सौन्दर्यलहरी का प्रारम्भिक श्लोक इस प्रकार है : शिव जब "शक्ति के साथ संयुक्त होता है तो सृष्टि-रचना के योग्य होता है, अन्यथा वह गति करने के भी अयोग्य है।"[1] शिव और शक्ति का सम्बन्ध ऐसा ही है जैसे कि प्रकाश और विमर्श का सम्बन्ध होता है। भास्करराय विमर्श का लक्षण करता है कि परम यथार्थ सत्ता के तात्कालिक स्पन्दन का नाम विमर्श है।[2] विशुद्ध परमसत्ता के अन्दर सबसे प्रथम जो सम्बन्ध का सम्पर्क है वह विमर्श है। और इसीके कारण समस्त प्रकार के भेदों का प्रादुर्भाव होता है। विमर्श अथवा शक्ति वह सामर्थ्य है जो परमसत्ता अथवा विशुद्ध चैतन्य में अन्तर्निहित है। यह मूर्तरूप परमसत्ता है, जो चैतन्य प्रमाता के रूप में परिणत हुई है और यही अपने विरोधी अनात्म अथवा ज्ञेय विषय के रूप में परिणत हो जाती है। यदि शिव चित् स्वरूप है तो शक्ति चिद्रूपिणी है। ब्रह्मा, विष्णु और शिव अपने-अपने कर्मों, अर्थात् क्रमशः सृष्टि-रचना, स्थिति तथा विनाश को शक्ति के आदेश के अनुसार ही सम्पन्न करते हैं।[3] आनन्द रूपी निर्दोष अनुभव में शिव तथा शक्ति के अन्दर भेद नहीं किया जा सकता। दोनों मिलकर एक ही सत् रूप हो जाते हैं। शिव अपरिमित ब्रह्म की निष्क्रिय अवस्था के अनुकूल है; जब कि शक्ति परिमित ब्रह्म है जिसके अन्दर इच्छा, ज्ञान और क्रिया उपस्थित है, जो समस्त अनात्म जगत् को रूप देती है। शिव और शक्ति एक हैं क्योंकि शक्ति संसार में अन्तर्निहित है। शक्ति निष्क्रिय तथा क्रियाशील दोनों ही अवस्थाओं में विद्यमान रहती है। समस्त अनात्म जगत् की क्षमता शिव की शक्ति के रूप में वर्तमान रहती है।

शक्ति दो प्रकार की है : स्थूल और सूक्ष्म। वह सब पदार्थों की जननी है। उसके पांच कार्य बताए गए हैं : आभास, रक्ति, विमर्शन, बीजावस्थान और विलापनता। अचेतन प्रकृति को मान्यता दी गई है, जो सांख्यदर्शन की प्रकृति के प्रतिरूप है।

प्रकृति अथवा माया को देवी का सार तत्त्व कहा गया है।[4] शक्ति के गर्भ में माया अथवा प्रकृति है जो विश्व का गर्भाशय है और प्रलय-काल में गुप्त तथा सृष्टि की उत्पत्ति में क्रियाशील है। सांख्य-प्रतिपादित प्रकृति के द्वारा

१. शिवः शक्त्या युक्तो यदि भवति शक्तः प्रभवितुम्
न चेदेवं देवो न खलु कुशलः स्पन्दितुमपि॥

२. देखें, ललितसहस्रनाम में विमर्शरूपिणी के अन्तर्गत की गई उसकी टीका, पृ० ५४८।

३. आनन्दलहरी, पृ० २ और २४।

४. साम्यावस्था गुणोपाधिका ब्रह्मरूपिणी देवी।

विकास का अनुसरण किया गया है। शक्ति के आदेश से माया अनेक भौतिक तत्त्वों के रूप में किंवा समस्त चेतन प्राणियों के भौतिक अंशों के रूप में विकसित होती है। प्रत्येक जीवित प्राणी के अन्दर चैतन्य पाया जाता है, यद्यपि विविध प्रकार के भौतिक संयुक्त पदार्थों के कारण यह प्राणियों को अनेकत्व में विभक्त प्रतीत होता है। सांख्य दर्शन के २५ तत्त्वों के स्थान में यहां पर ३६ तत्त्व हैं जिनका वर्गीकरण इस प्रकार से है : (१) शिवतत्त्व, जो सर्वश्रेष्ठ है, (२) विद्यातत्त्व, अथवा शक्ति के सूक्ष्म व्यक्त रूप और (३) आत्मतत्त्व, अथवा भौतिक विश्व माया से लेकर नीचे मर्त्यलोक पर्यन्त। ये तीनों प्रकाश (शिव) विमर्श और प्रकाश के अनुकूल हैं। शाक्त मत के विधान की सर्वोपरि भावना के अन्दर आन्तरिक भेद है यद्यपि स्थान-स्थान पर हमें मोक्ष तथा संसार की एकता के विचार भी मिलते हैं जो हमें शङ्कर के अन्तर्निहित कठोर अद्वैतवाद का स्मरण कराते हैं।[1] सबसे पूर्व यहां परब्रह्म है उसके पश्चात् हमें परिमित शक्तियों का ज्ञाता मिलता है जो शक्ति-गुण-सम्पन्न है उससे ही नाद प्रकट होता है और नाद से बिन्दु प्रकट होता है और तब [illegible] महामाया। ये पांच शब्दों के मध्य शिव, शक्ति, सदाशिव, ईश्वर और [illegible] हैं [illegible] शैव योजना से भिन्न नहीं है।

माया के प्रभाव से जीव अपने को एक स्वतन्त्र सत्ता तथा परमात्मा समझता है जब तक कि उसे मोक्ष प्राप्त नहीं होता। शक्ति का ज्ञान ही मोक्ष का मार्ग है[2] जो कि सर्वोपरि ब्रह्म के आनन्दमय ज्योति पुञ्ज में विलीन हो जाने का नाम है। यह कहा गया है कि 'उस व्यक्ति के लिए जो समझ लेता है कि सब कुछ ब्रह्म है न तो योग की और न पूजा की आवश्यकता है।'[3] जीवन्मुक्ति अर्थात् इसी जन्म में मुक्ति के सिद्धान्त का स्वीकार किया गया है। मोक्ष निर्भर करता है आत्मसंस्कृति के ऊपर जो आध्यात्मिक अन्तर्ज्ञान की ओर ले जाती है, यह आत्मसंस्कृति 'मन्त्रों के उच्चारण मात्र से नहीं आती, न यज्ञयागादि से और न व्रत उपवासों से ही प्राप्त होती है। मनुष्य को मोक्ष प्राप्त होता है, इस ज्ञान से कि वह स्वयं ब्रह्म है। मन की वही अवस्था सबसे उत्तम है जिसमें यह बोध हो जाता है कि केवल ब्रह्म (ब्रह्मसद्भाव) ही एकमात्र सबसे श्रेष्ठ है और जिसमें ब्रह्म के अन्दर ध्यान का भाव मध्यम कोटि में है स्तुति और मन्त्रों का जप

१. इस प्रकार का अद्वैतवाद कहा जाता है। कुलार्णवतन्त्र, १ : १०। सर जॉन वुडरफ़ का जिन्होंने इस सम्प्रदाय का विशेष अध्ययन किया है विश्वास है कि 'इसके दार्शनिक सिद्धान्त का स्थान कुछ अर्थों में सांख्य के द्वैतवाद और शंकर के वेदान्त की अनिरीश्वरवादी व्याख्या के मध्य में आता है।' ('इण्डियन फिलासफिकल रिव्यू', खण्ड १, पृ० १२२)।

२. शारदातिलक, १।

३. शक्तिज्ञानं बिना देवि निर्वाणं नैव जायते (निरुत्तरतन्त्र)।

४. महानिर्वाणतन्त्र, १४ : १२३। और भी देखें, १२४-१२९।

५. वही, १४ : १३५। ६. वही, १४ : ११५, ११६।

उसके पश्चात् है और बाह्य पूजा सबसे निम्न कोटि में है,[1] कर्मकाण्ड-प्रधान धर्म के प्रति विद्रोह का भाव दर्शाया गया है। कुलार्णवतन्त्र में आता है : "यदि शरीर में मिट्टी रगड़ने तथा भस्म रमाने मात्र से मोक्ष मिलता हो तो समझो गांव के कुत्तों को भी मोक्ष मिल गया, क्योंकि वे तो बराबर मिट्टी में लोटते रहते हैं।"[2] वर्ण तथा जातिगत भेदों को गौण स्थान दिया गया है और तन्त्र के अनुसार आचरण का विधान मनुष्यमात्र के लिए खुला है।[3] भक्ति को मोक्षप्राप्ति में सहायक माना गया है। पूजा के विषय में पूरी स्वतन्त्रता है। 'जिस प्रकार सभी नदियां बहकर समुद्र में जाती हैं उसी प्रकार किसी भी देवता की पूजा ब्रह्म द्वारा स्वीकृत है।'[4] कम महत्त्व रखने वाले देवता कर्म तथा काल की शक्ति के अधीन हैं।[5]

योग दर्शन के रहस्यपूर्ण पक्ष ने आदि से अन्त तक अधिक भाग लिया है। मन्त्र पवित्र हैं और उन्हें दिव्य रचना के रूप में माना गया है। कुछ अर्थों में वे शक्ति के अनुरूप हैं क्योंकि शब्द है जो नित्य एवं अविनश्वर है। शरीर के अन्दर की शक्तियों को जाग्रत् करने के ऊपर विशेष बल दिया गया है। पूजा का लक्ष्य मनुष्य में कुण्डलिनी को जाग्रत् करके छः चक्रों का भेदन करना है। शाक्तमत के विचारकों ने कर्म, पुनर्जन्म तथा स्थूल व सूक्ष्म शरीरों के सिद्धान्तों को स्वीकार किया है।[6]

६

मध्वाचार्य

शङ्कर के अद्वैतवाद के विरोध में एक प्रमुख दर्शन का स्वरूप द्वैतदर्शन है जिसका सम्बन्ध मध्वाचार्य के नाम से है और यह अनेक विषयों में रामानुज के यथार्थ सत्ता सम्बन्धी विचार के समान है।[7] मध्व विशुद्ध द्वैतवाद को मानते हैं और पांच महत्त्वपूर्ण भेदों के

१. महानिर्वाणतन्त्र [illegible]
२. कुलार्णव [illegible]
३. [illegible]
४. महानिर्वाणतन्त्र [illegible] : ५०
५. [illegible]

६. देखें, एवलान : दि सरपेंट पावर। शाक्तों की साधना के विषय में बहुत कुछ निन्दा-वाचक शब्द कहे गए हैं। यद्यपि बहुत-से सम्प्रदाय तो निन्दनीय हैं तो भी उनमें बहुत कुछ उन्नति की गुंजायश है।

७. मुख्य-मुख्य मतभेद ये हैं : रामानुज के मत में जीवात्माएं अपने स्वाभाविक रूप में एक समान हैं किन्तु मध्व के अनुसार उनमें भेद है। मध्व ब्रह्म को उपादान कारण नहीं मानते किन्तु रामानुज मानते हैं। मध्व की दृष्टि में विश्व ईश्वर का शरीर नहीं है। रामानुज के मत में ऐसी एक भी आत्मा नहीं जो मोक्ष प्राप्ति के अयोग्य हो और मुक्तात्माओं के अंदर परमाह्लाद भोगने के विषय में कोई भेद नहीं है।

ऊपर बल देते है : ईश्वर और जीवात्मा, ईश्वर और प्रकृति, जीवात्मा तथा प्रकृति, एक जीवात्मा तथा अन्य जीवात्मा एवं प्रकृति का एक तथा अन्य अंश। विष्णु के पुत्र वायु की एकमात्र मध्यस्थता का सिद्धान्त, नित्यस्थायी नरक तथा अपने मत का धार्मिक जोश ईसाई धर्म के प्रभाव की ओर संकेत करते है यद्यपि इसके समर्थन मे कोई प्रमाण नही है। इस तथ्य के आधार पर कि केन उपनिषद् के ऊपर की गई मध्व की टीका 'ब्रह्म-सार' ग्रन्थ से ली गई है, यह विचार करना युक्तिसगत होगा कि द्वैतमत का प्रचार मध्व से पहले भी था। जैसा कि हम आगे चलकर देखेंगे मध्व ने बडी चतुरता के साथ साख्य और न्याय वैशेषिक के सिद्धान्तो का प्रयोग किया है।

७

जीवन तथा साहित्य

मध्व, जिन्हे पूर्णप्रज्ञ तथा आनन्दतीर्थ के नाम से भी पुकारा जाता है, ११९९ ईस्वी मे दक्षिण कनारा जिले मे उडीपी के निकट एक ग्राम मे जन्मे।[1] वे बहुत शीघ्र वैदिक ज्ञान मे अत्यन्त निष्णात सिद्ध हुए और जल्दी ही सन्यासी हो गए। उन्होने अनेक वर्ष प्रार्थनोपासना तथा समाधि और स्वाध्याय तथा शास्त्रार्थ मे व्यतीत किए। उन्होने अपने गुरु अच्युतप्रेक्ष के साथ, जो शङ्कर के अद्वैतमत के अनुयायी थे, वाद-विवाद करके अपने द्वैतपरक दर्शन का विकास किया। उन्होने विष्णु को परमेश्वर घोषित किया और अपने बन्धो को विष्णु की भुजाओ से दागने की प्रथा का निर्दोष बताया। इस प्रथा को रामानुज ने प्रचलित किया था। उन्होने देश के भिन्न भिन्न भागो मे अपने धर्म मे अनेक शिष्यो को दीक्षित किया उडीपी मे कृष्ण के मन्दिर की स्थापना की और उसे अपने अनुयायियो के सम्मिलन का मुख्य केन्द्र बनाया। यज्ञो मे पशुहिंसा का निषेध करके उन्होने एक उपयोगी सुधार किया जिसका श्रेय उन्हे है। उनहत्तर वर्ष की अवस्था मे उनकी मृत्यु हुई।

उक्त विचार धारा के मान्य ग्रन्थ केवल मध्व के ही रचित है। उन्होने ब्रह्मसूत्र के ऊपर एक भाष्य लिखा है और अनुव्याख्यान नामक एक अन्य ग्रन्थ मे अपनी उक्त व्याख्या को युक्तियुक्त ठहराया है। भगवद्गीता तथा उपनिषदो[2] के ऊपर किए गए उसके भाष्य, उनके द्वारा रचित महाभारत का सक्षिप्त सार

१. देखें, 'सेक्रेड बुक्स ऑफ दि हिंदूज,' खण्ड १, ३ और १४।

२. नारायणाचार्य के मध्वविजय और मणिमंजरी मे मध्व के जीवन तथा उनके ग्रंथों का यथार्थ वृत्तान्त दिया हुआ है। यदि हम उनमे से चमत्कारों तथा अप्राकृतिक घटनाओं को निकाल दें जो उनके अनुयायियों द्वारा प्रक्षिप्त है तो हमें मध्व के जीवन तथा उद्देश्य का ऐतिहासिक आधार मिल सकता है।

जिसे 'भारततात्पर्यनिर्णय' नाम दिया है, और भागवत पुराण का भाष्य उनके दार्शनिक सिद्धान्त के स्पष्टीकरण में सहायता प्रदान करते है। उन्होने ऋग्वेद की पहली चालीस ऋचाओ पर भी टीका लिखी है और अपने 'प्रकरणो' मे अनेक दार्शनिक तथा अन्य विषयो पर भी समीक्षा की है। उनके ग्रथो को पढने से ऐसा आभास मिलता है कि प्रस्थानत्रय--अर्थात् उपनिषद, भगवद्गीता तथा ब्रह्मसूत्र --की अपेक्षा उन्होने बराबर पुराणो के ऊपर अधिक भरोसा किया है। मध्व के लिए उक्त मान्य ग्रथो की व्याख्या अपने द्वैतपरक दर्शन को सिद्ध करने के लिए आसान नही थी। मध्व के सूत्रभाष्य तथा उसके अनुव्याख्यान के ऊपर जयतीर्थ का भाष्य, जिसका नाम न्यायसुधा है, अत्यन्त महत्त्वपूर्ण ग्रथ है। मध्व के सूत्रभाष्य के ऊपर जयतीर्थ का जो भाष्य है उसके भी ऊपर व्यासराय ने एक भाष्य लिखा है, जिसका नाम चन्द्रिका है। पूर्णानन्द के 'तत्त्वमुक्तावली' नामक ग्रथ मे अद्वैतवाद के ऊपर बहुत कड़ा आक्षेप किया गया है।[1]

८

ज्ञान का सिद्धान्त

मध्व ज्ञान के तीन साधनो को स्वीकार करते है प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द प्रमाण। उपमान प्रमाण को अनुमान ही की कोटि का माना गया है। प्रत्यक्ष और अनुमान स्वय विश्व की समस्या को हल करने मे हमारे सहायक नही हो सकते। प्रत्यक्ष की पहुच उन्ही तथ्यो तक है जो इन्द्रियगोचर है। अनुमान हमे कोई नवीन तथ्य नही दे सकता यद्यपि अन्य साधनो द्वारा प्राप्त हुए तथ्यो की परीक्षा करने तथा उन्हे क्रमबद्ध करने मे यह सहायता अवश्य करता है। यथार्थ सत्ता के सत्य ज्ञान के लिए हमे वेदो का आश्रय लेना होगा। मध्व वेदो के प्रामाण्य को सामूहिक रूप मे स्वीकार करते है, यद्यपि उनके भिन्न-भिन्न भागो मे परस्पर भेद नही करते। वेदो की ऋचाए और ब्राह्मण ग्रथ उतने ही उपयोगी तथा प्रामाणिक है जितनी कि उपनिषदें। मध्व पौरुषेय (अर्थात् मनुष्यकृत, जो दोषपूर्ण हो सकता है) तथा अपौरुषेय (अर्थात् जो मनुष्यकृत नही है) के मध्य की अप्रामाणिकता तथा प्रामाणिकता मे भेद करते है। अपौरुषेय ज्ञान सर्वथा निर्दोष तथा प्रामाणिक होता है। वेदो को, जिनकी व्याख्या को मध्व का दर्शन यथार्थ मानता है, मध्व ने अपौरुषेय माना है और इसलिए उनका स्वरूप प्रामाणिक है।

बोध-ग्रहण चाहे किसी भी साधन से हुआ हो, उस वस्तु के विषय मे प्रत्यक्ष प्रमाण है जिसका बोध हुआ है। वे साधन, जिन्होने बोधग्रहण मे मध्यस्थता का कार्य किया है, बोध के अपने अन्दर उपस्थित नही है। ज्ञाता तथा ज्ञात के मध्य जो सम्बन्ध है वह

१. कावेल द्वारा अनूदित। देखें, 'जर्नल ऑफ दि रायल एशियाटिक सोसाइटी', खण्ड १५, भाग २।

साक्षात् तथा तात्कालिक है। प्रत्यक्ष अनुमान और वैदिक (आप्त) प्रमाण इसीलिए प्रमाण कहलाते हैं कि ये ज्ञान की उत्पत्ति में साधन-रूप बनते हैं। और यह तथ्य तब प्रकट होता है जब कि हम ज्ञान का बाह्य रूप से अध्ययन करते हैं। तथ्यविषयक प्रत्येक बोध-ग्रहण जो हमें होता है निर्दोष है और यह तथ्य के अस्तित्व का संकेत करता है, भले ही यह बोध के क्षण तक ही क्यों न अस्तित्व रखता हो। यदि हम इसे निर्दोष बनाकर इसका खण्डन करते हैं तो वह किसी अन्य बोध के कारण होता है जिसका प्रामाण्य हम स्वीकार करते हैं। सूर्योदय तथा सूर्यास्त तब तक केवलमात्र घटनाएं हैं जब तक कि हम आगे चलकर यह ज्ञान न हो कि सूर्य न तो उदय होता है और न अस्त होता है। मध्व प्रत्येक बोध की अपने रूप में प्रामाणिकता का स्वीकार करते हैं और ऐसी प्रत्येक कल्पना का खण्डन करते हैं जो हमारे ज्ञान को केवल प्रतीति मात्र बनाती है। यदि हमारा ज्ञान यथार्थता के स्वरूप को नहीं प्रकट करता और प्रमेयविषयक अस्तित्व का ही द्योतक है एवं केवलमात्र अनुचित दिशा में हमें ले जाता है तो अयथार्थ वस्तु प्रतीत भी नहीं हो सकती तथा भ्रान्तिपूर्ण बोध का विषय भी नहीं बन सकती, और न ज्ञान के साथ कारण-कार्य भाव में सम्बद्ध हो सकती है। यदि समस्त ज्ञान आभास है तो सत्य और मिथ्या विचारों के बीच जो भेद है वह भी नहीं रह सकता। भ्रान्ति का विश्लेषण करने से हमें ज्ञान होगा कि चेतना के समक्ष एक प्रमेय पदार्थ (विषय) अवश्य प्रस्तुत किया जाता है यद्यपि हम उसके स्वरूप के विषय में भूल कर जाते हैं, जो या तो इन्द्रियों के किसी दोष के कारण होता है अथवा ज्ञान के किन्हीं अन्य साधनों के कारण भी हो सकता है। मिथ्या प्रत्यक्ष ज्ञान के अवयव मिथ्या नहीं होते। यह अनुभवसिद्ध तथ्य है। किसी दोष के कारण हम प्रमेय विषय का पूरा पूरा ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकते, किन्तु हम उसका जो भी अंश देखते हैं वह स्मृति में उसके समान वस्तु का स्मरण कराता है यद्यपि उससे भिन्न है, जिससे हम प्रस्तुत सामग्री को भ्रम से मिला रहे होते हैं। भ्रान्ति की प्रत्येक अवस्था में दो यथार्थ वस्तुसत्ताओं का संकेत होता है एक प्रस्तुत वस्तु का और दूसरा सङ्केतित वस्तु का। संसार की अयथार्थता के भाव का तात्पर्य है कि यथार्थ वस्तु कुछ है अवश्य जिसे हम भूल से अन्यथा समझ बैठे हैं। उससे ऐसा तात्पर्य कभी नहीं होता कि यथार्थ वस्तु एकदम कुछ है ही नहीं।

मध्व का आधार अनुभव अथवा ज्ञान है और उनका तर्क है कि ज्ञाता तथा ज्ञान के बिना कोई ज्ञान उत्पन्न नहीं हो सकता है। ज्ञान के कर्ता अथवा ज्ञात प्रमेय पदार्थ के बिना ज्ञान के विषय में कुछ भी कथन करना निरर्थक है। जानने वाले प्रमाता तथा ज्ञात प्रमेय पदार्थों इन दोनों का अस्तित्व आवश्यक है। यह संसार अयथार्थ वस्तु नहीं है। यदि हम पदार्थों के मध्य भेद को स्वीकार नहीं करते तो हम विचारों में परस्पर भेद की व्याख्या भी नहीं कर सकते। हमारा ज्ञान हमें बतलाता है कि भेद विद्यमान है। हम उन्हें केवलमात्र औपचारिक नहीं मान सकते, क्योंकि औपचारिकता भेद उत्पन्न नहीं करती।

कभी-कभी कहा जाता है कि भेद का अस्तित्व देश और काल के बल

पर होता है और ये केवलमात्र ज्ञाता पुरुष की बुद्धि के आकार मात्र है। यदि देश और काल ज्ञान प्राप्त करने वाली आत्मा के समान होते तो यह समझना कठिन है कि इस प्रकार का भाव, कि वे ज्ञाता के सदृश है, कैसे उदय हो सकता था। यदि आत्मा ज्ञान के रूप में सर्वव्यापक है तो देश और काल का भेद भी सम्भव नहीं हो सकता। देशकाल के भेद को अविद्या के बल के कारण बताना भी हमें सन्तोष नही दे सकता, क्योंकि अविद्या के स्तर और आत्मा के साथ उसके सम्बन्ध की सन्तोषजनक व्याख्या नही की जा सकती। अविद्याविषयक प्रत्येक समाधान देश व काल के पूर्व अस्तित्व की कल्पना कर लेता है, और इसलिए देश व काल को केवल अविद्या की उपज बताकर सन्तोष नही हो सकता। देश और काल को यथार्थ एव सम्पूर्ण इकाई माना गया है जो भागो मे विभक्त है। यदि उनके कोई भाग न हो तो हमे यहा और वहा का तथा अब और तब के भेद का ज्ञान न मिलता। देश के भाग (टुकडे) हमारे समक्ष प्रस्तुत होते है क्योकि ऐसा मानना ठीक न होगा कि हमारे आगे प्रस्तुत प्रत्येक पदार्थ पूरे देश को असीम तथा अविभाज्य रूप मे व्याप्त कर लेता है। हमे परिमित शरीरो का ही ज्ञान है जो देश के कुछ भागो को घेरते तथा एक-दूसरे के प्रतिबन्ध बनते है। हम देश और काल के भागो का ही प्रत्यक्ष करते है। इस प्रकार उनका अस्तित्व है यह भी स्वीकार करना चाहिए। मध्व के अनुसार ये साक्षी रूप आत्मा के लिए प्रत्यक्ष ज्ञान के विषय है।

मध्व के मत मे पदार्थ दो प्रकार के है स्वतन्त्र और परतन्त्र। ईश्वर जो सर्वोपरि पुरुष है वही एकमात्र स्वतन्त्र पदार्थ (यथार्थ सत्ता) है। परतन्त्र प्राणी दो प्रकार के है भाववाचक तथा अभाववाचक। भाववाचको के दो वर्ग है एक चेतन आत्माएं और दूसरे अचेतन पदार्थ जैसे प्रकृति और काल। अचेतन पदार्थ या तो नित्य है जैसे कि वेद, या नित्य और अनित्य जैसे प्रकृति काल और देश अथवा अनित्य, जैसे प्रकृतिजन्य पदार्थ।[1]

९

ईश्वर

तीन वस्तुए अनादि काल से अनन्त काल तक रहने वाली है जो मौलिक रूप मे एक-दूसरे से भिन्न है, अर्थात् ईश्वर आत्मा तथा जगत्। यद्यपि ये सब यथार्थ और नित्य है, फिर भी पिछले दो अर्थात् आत्मा तथा जगत्, ईश्वर से निम्नश्रेणी के तथा उसके ऊपर आश्रित है। स्वतन्त्र यथार्थ सत्ता एकमात्र ब्रह्म है, जो विश्व का निरपेक्ष स्रष्टा है। हम वेदो के अध्ययन द्वारा उसके स्वरूप का ज्ञान प्राप्त करते

१. मध्वसिद्धान्तसार के अनुसार (२), पदार्थ दस है :
द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषविशिष्टांशिशक्तिसादृश्याभावा दशपदार्थाः।

है,[1] और इस प्रकार उसका स्वरूप ऐसा नही है, जिसका वर्णन न हो सके। अधिक से अधिक उसके विषय मे जो कहा जा सकता है, उसका तात्पर्य यही होता है कि उसके विषय मे सम्पूर्ण ज्ञान प्राप्त करना कठिन है।[2] सर्वोपरि ब्रह्म सब प्रकार के प्रत्यक्ष ज्ञान से परे है।[3] समाधि मे ध्यान लगाने पर कल्पना के द्वारा जो आकृति दिखाई पडती है वह ब्रह्म नही है। मध्व इस मत को स्वीकार करने के लिए किसी प्रकार भी उद्यत नही है कि धर्मशास्त्र के भिन्न-भिन्न भाग भिन्न-भिन्न प्रकार के ब्रह्म का प्रतिपादन करते है। यद्यपि सर्वोपरि ब्रह्म तथा उसके गुण एकरूप है तो भी भिन्न-भिन्न शब्दो मे उनका वर्णन हो सकता है।[4] इस सुप्रसिद्ध वाक्य का, कि ब्रह्म केवल एक है और दूसरा नही है (एकम् एवाद्वितीय ब्रह्म), तात्पर्य यह है कि उत्कर्ष मे ब्रह्म से बढकर दूसरा कोई नही है और उसके समान भी नही है, क्योकि वह सबके अन्दर समाविष्ट है। ईश्वर के गुण अपने स्वरूप मे निरपेक्ष है और इस प्रकार से उसे सीमित नही करते। ब्रह्म मे सब प्रकार की पूर्णता है। उसको तथा विष्णु को एकरूप माना गया है और कहा गया है कि वह अपनी इच्छा से ससार का सचालन करता है एव अन्य सबका भी, जो उसके अन्तर्गत है, स्वतन्त्र शासक के रूप मे सचालन करता है। वह ससार का बार-बार रचना तथा उसका सहार करता है। उसकी देह अतिप्राकृतिक है और उसे सब ससार से ऊपर माना गया है तथा वह ससार के अन्तर्निहित भी है क्योकि वह सब जीवात्माओ मे अन्तर्यामी है।[5] वह अपने को नानाविध आकृतियो (व्यूहो) मे प्रकट करता है, समय-समय पर अवतारो के रूप मे प्रकट होता है और कहा जाता है कि पवित्र मूर्तियो के अन्दर गुप्त रूप मे उपस्थित रहता है। वह सृष्टि की रचना, उसको धारण करता तथा उसका विनाश करता है, वह ज्ञान का प्रदाता है, अपने को नाना प्रकार मे व्यक्त करता है, कुछ को दण्ड देता तथा अन्य को मुक्त करता है। लक्ष्मी उसकी पार्श्ववर्तिनी है जिसमे नाना रूप धारण करने की शक्ति है, किन्तु जिसकी देह भौतिक नही है। ईश्वर के साथ-साथ वह भी नित्य है और सर्वव्यापी है। वह अनन्त काल से ईश्वर के वैभव की साक्षी है। अन्य देवताओ तथा देवियो के विपरीत जो कई जन्मो के अनन्तर मोक्ष प्राप्त कर लेते है, लक्ष्मी नित्यमुक्त है। लक्ष्मी ईश्वर की उत्पादक शक्ति का शरीरधारी रूप है। वह ज्ञानसम्पन्न प्रकृति है यद्यपि ईश्वर उससे सूक्ष्मतर तथा गुणो मे महान् है।[6] ईश्वर आत्माओ तथा प्रकृति के ऊपर शासन करता है यद्यपि वह न तो अभाव से उनका निर्माण ही करता है और न उन्हे नष्ट करके अभावात्मक बनाता है। वह जगत् का उपादान कारण न होकर निमित्त कारण है, क्योकि जड जगत् की उत्पत्ति एक सर्वोपरि ज्ञानसम्पन्न से नही हो सकती। ईश्वर की क्रियाशीलता उसकी अत्यधिक पूर्णता का परिणाम है। केवल इसलिए कि

१. महाभारत, ३ : ३, १। २. महाभारत, १ : १, ५।

३. महाभारत, ३ : २, २३।

४. देखें, न्यायसुधा, १ : १, २; १ : १, ६। मध्वसिद्धान्तसार मे भी तुलना कीजिए— भेदाभावेऽपि भेदव्यवहारनिर्वाहका अनन्ता एव विशेषाः (२१)।

५. १ : २, १३। ६. ४ : २, ६।

ईश्वर जीवात्माओं के कर्मों का विचार करता है यह नहीं कहा जा सकता कि प्रभु कर्म के ऊपर निर्भर करता है, क्योंकि मध्व का कहना है कि 'स्वयं कर्म का अस्तित्व तथा अन्य वस्तुओं का अस्तित्व भी ईश्वर के आश्रित है।'[1]

१०

जीवात्मा

मध्व के मत में इस लोक का प्रत्येक पदार्थ एक जीवन संघटन है। यह विश्व जीवनयुक्त प्रकृति का एक सुविस्तृत क्षेत्र है जिसमें देश का प्रत्येक अणु जीवों से पूर्ण है। अपने तत्त्वनिर्णय नामक ग्रंथ में वे कहते हैं : 'देश के एक अणु में निवास करने वाली अनन्त आत्माएं हैं।'[2] मध्व ब्रह्म और जीव के मध्यगत भेद को यथार्थ मानते हैं।[3] और उनका मत है कि यह समझना भूल है कि मोक्ष की अवस्था में जीव और ब्रह्म अभिन्न हो जाते हैं और संसार में भिन्न हैं। क्योंकि दो भिन्न पदार्थ किसी भी समय में अभिन्न नहीं हो सकते और इसके विपरीत दो अभिन्न पदार्थ भिन्न नहीं हो सकते। सर्वथा ब्रह्म के आश्रित होते हुए भी जीवात्मा वास्तविक रूप में क्रियाशील कर्ता है और उसके ऊपर जिम्मेदारियां भी हैं।[4] आत्मा स्वतन्त्र कर्ता नहीं है क्योंकि वह परिमित शक्ति वाली है और प्रभु उसका मार्गप्रदर्शन करता है।[5] जीव को आकार में अणु बनाया गया है और यह उस ब्रह्म से भिन्न है जो सर्वव्यापी है। आकार में परिमित होने पर भी वह अपने ज्ञानरूप गुण के कारण समस्त शरीर में व्याप्त रहती है। ज्ञानेन्द्रिय को साक्षी कहा गया है जिसके समक्ष भौतिक मन अपने सब प्रभावों को प्रस्तुत करता है।[6] यह पहचान करने वाला तत्त्व ही है जिसके कारण अहंभाव की चेतना उत्पन्न होती है और यही व्यक्तित्व का आधार है। आत्मा स्वभाव से आह्लादमय है यद्यपि यह अपने पूर्व कर्म के अनुसार भौतिक शरीरों से सम्बद्ध होने के कारण सुख व दुःख के अधीन है। जब तक यह अपनी मलिनताओं से विरहित नहीं होती, यह नाना जन्मों में अपनी आकृतियां बदलती हुई भ्रमण करती रहती है। आनन्द के समान इसके गुण मोक्ष की अवस्था में व्यक्त होते हैं।[7] यद्यपि आत्माएं नित्य हैं, वे अपने शारीरिक सम्बन्ध के कारण जन्म धारण करती हुई कही जाती हैं।[8] कोई भी दो जीव स्वरूप में एक समान नहीं होते। जीवन की तराजू में प्रत्येक का अपना-अपना मूल्य व स्थान है। जीव प्रभु के आश्रित हैं जो निःसन्देह उन्हें अपने पूर्व आचरण के अनुसार कर्म करने के लिए बाध्य करता है।[9]

१. २ : १, २५; ३ : २, ३६ ४२।

२. परमाणुप्रदेशेष्वनन्ताः प्राणिराशयः।

३. १ : २, १२

४. २ : ३, ३३-४२।

५. २ : ३, ३८; २ : ३, २८

६. २ : ३, २३।

७. २ : ३, ३१।

८. ब्रह्मसूत्र के ऊपर मध्व, २ : ३, १६।

९. २ : ३, ४१-४२। यहां तक कि स्वप्नों का आना भी ईश्वरेच्छा के अधीन ही बताया गया है (३ : २, ३ और ४)।

चैतन्य-विशिष्ट आत्माए तीन प्रकार की है . (१) एक वे जो सदा से मुक्त है जैसे लक्ष्मी, (२) वे जिन्होने अपने का ससार से मुक्त कर लिया है, यथा देव तथा मनुष्य, ऋषि और पितृगण; और (३) बद्ध। अन्तिम वर्ग मे वे जो मुक्ति पाने के योग्य है और व जो मुक्ति के अयोग्य ह, दोनो ही आ जाती है। अन्तिम वर्ग की वे है जो नरक म जाने के लिए है अथवा तमोगुण के योग्य है, अथवा वे हे जो सदा के लिए ससार-चक्र मे बधी हुई है (नित्यससारिण)। जहा कुछ ऐसी आत्माए है जो अपनी आन्तरिक प्रवृत्ति के कारण मोक्ष के लिए पूर्व से निश्चित है वहा दूसरी वे है जिनका नरक मे जाना निश्चित है और एक तीसरा वर्ग ऐसा है जो अनादि काल से अनन्त काल तक ससार-चक्र मे घूमता रहता है और अन्तरहित क्रम से कभी सुख ना कभी दुःख भागता है। यह तीन प्रकार का वर्ग विभाग तीन गुणो के आधार पर है। सात्त्विक आत्मा स्वर्ग को प्राप्त करती है राजस गुण वाली ससार म चक्रवत् भ्रमण करती रहती है और तमोगुणी आत्मा नरक म गिरती है। जीवित प्राणी अनको वर्गो मे विभक्त है जैसे देव, मनुष्य, पशु तथा वनस्पति। एक नियत श्रेणीविभाग जो जीवो के भेदो (तारतम्य) पर आश्रित है परिष्कार के साथ बना हुआ तैयार है। ऐसे जीवात्माओ मे भी जो मोक्ष के योग्य है किन्ही दो आत्माओ मे भी एक समान योग्यता नही पाई जाती। इस लौकिक साम्राज्य म भी ब्रह्म और वायु का स्थान सबसे ऊपर है। विष्णु के आदेश से ब्रह्मा ससार की रचना करता है। वह सबसे महान् गुरु भी है और माध्व के ब्रह्म सम्प्रदाय नामक दर्शन का सर्वप्रथम बोधक है। ईश्वर तथा आत्माओ म वायु माध्यस्थ्य का कार्य करती ह। वह ज्ञान तथा मोक्ष-प्राप्ति म आत्माओ की सहायता करती है। उसे प्रेयसी प्रतिमा अथवा ईश्वर का पुत्र (सुत) भी पुकारा गया है।[1] आत्माए ब्रह्म है, इस प्रकार का मत रखना ठीक नही है। पूर्ण तथा अपूर्ण आत्माए मिलकर एक नही हो सकती।

११

प्राकृतिक जगत

भौतिक उत्पन्न पदार्थ जड जगत् के विषय है और उन्ही मे सब प्राणियो के शरीरो व इन्द्रियो का निर्माण हुआ है। वे सब आदिम प्रकृति म उत्पन्न होते ह और समयान्तर मे उसीमे लौटकर वापस पहुच जाते है। यद्यपि प्रकृति एकरूप प्रतीत होती ह तो भी वस्तुत. यह भिन्न-भिन्न तत्त्वो म, जो सूक्ष्म अवस्था मे है, मिलकर बनी है। जब ईश्वर तथा आत्माए इसका उपयोग करते है तो यही विकसित होकर दृश्यमान जगत् के रूप मे

१. मध्व को उनके अनुयायी वायु का अवतार मानते हैं, जिसने पूर्वजन्मों मे अपने को हनुमान् तथा भीम के रूप मे प्रकट किया।

परिवर्तित हो जाती है। ईश्वर प्रकृति में से आकृतियों को गढ़ता है, क्योंकि प्रकृति उपादान कारण है और उसके अन्दर वह स्वयं भी नाना आकृतियों में निवास करता है।[1] इससे पूर्व कि हम अव्यक्त प्रकृति में सृष्टि के सुपरिष्कृत आकारों तक पहुंचें हमें परिवर्तन-काल के अन्दर मध्यवर्ती २८ पदार्थों में से गुजरना होता है अर्थात् महत्, अहङ्कार, बुद्धि, मन, दस इन्द्रियां, पांच इन्द्रियों के विषय और पांच महत्तत्व। ये अपने विकास से पूर्व आद्य मूलभूत प्रकृति के अंदर सूक्ष्म रूपों में स्थित रहते हैं।

प्रकृति के तीन पक्षों की अधिष्ठात्री लक्ष्मी के तीन रूप हैं श्री, भू और दुर्गा। अविद्या प्रकृति का ही एक रूप है जिसके दो भेद हैं जीवाच्छादिका, अर्थात् वह जो जीव की आध्यात्मिक शक्तियों को आवृत कर लेती है, और परमाच्छादिका अर्थात् वह जो जीव की दृष्टि से सर्वोपरि सत्ता को दूर रखती है। अविद्या के ये दो रूप निश्चित तत्त्व हैं जो प्रकृति के सारतत्त्व में से बने हैं।

१२

ईश्वर और जगत्

मध्व ऐसे समस्त प्रयासों को अस्वीकार करते हैं जो आत्माओं तथा प्रकृति से युक्त संसार को केवल भ्रान्ति मात्र अथवा ईश्वर से निकला हुआ। कहकर उनके भिन्न अस्तित्व का अभाव प्रदर्शित करते हैं. इस प्रकार मध्व एक शुद्ध द्वैत का प्रतिपादन करते हैं। जीवात्मा ईश्वर के ऊपर आश्रित (परतन्त्र) है क्योंकि बिना विश्वात्मा के शक्तिदायक सहारे के यह अपना अस्तित्व स्थिर नहीं रख सकता जिस प्रकार कि एक वृक्ष अपने रस के बिना न जीवित रह सकता और न फल-फूल सकता है। यहां तक कि विष्णु की पत्नी लक्ष्मी यद्यपि सर्वश्रेष्ठ तथा नित्य है फिर भी ईश्वर के ऊपर आश्रित है। यह उस प्रकृति की भी अधिष्ठात्री देवी है जो जगत् का उपादान कारण है। ईश्वर किसी न किसी प्रकार से प्रकृति में शक्ति का संचार करता है जो उसके व्यक्तित्व का कोई अंश नहीं है और प्रकृति भी किसी न किसी प्रकार से अपने को ईश्वर के नियन्त्रण में दे देती है।

मध्व को अनेक श्रुतिवाक्यों के विरोध का मुकाबला करना पड़ा है जिनका वे किसी न किसी प्रकार द्वैतवाद में विनियोग करते हैं। मध्व उस महत्त्वपूर्ण वाक्य "तत् त्वम् असि" (वह तू है) को लेकर तर्क करते हैं कि यह वाक्य ईश्वर तथा आत्मा के मध्य किसी सादृश्य का द्योतक नहीं है। उस वाक्य का तात्पर्य यही है कि आत्मा के अन्दर अपने सारभूत ऐसे गुण हैं जो ईश्वर के गुणों के समान हैं।[2] ऐसे वाक्यों का भी जिनमें कहा गया है कि आत्मा प्रभु का एक अंश है यही तात्पर्य है।[3] कभी-कभी मध्व उक्त वाक्य को एक दूसरे प्रकार से ही देखते हैं, जैसे 'स आत्मा तत् त्वमसि'

१. १ : ४, २५।
२. २ : ३, २९।
३. भगवद्गीता, १५ : ७।

को वे पढते है "स आत्मा अतत्त्वम् असि' (वह आत्मा तू नही है)।[1] 'अयम् आत्मा ब्रह्म," इस वाक्य के विषय मे मध्व का कहना है कि यह या तो एक 'सरल प्रशंसापरक वाक्य आत्मा के लिए कहा गया है अथवा यह ध्यान का एक विषय है। यह भी सुझाव दिया जाता है कि यह तो पूर्वपक्ष है जिसका खण्डन करना है। ऐसे वाक्यों की व्याख्या करने के लिए, जो जीवात्मा तथा विश्वात्मा को एक बताते है, मध्व आत्मा तथा ब्रह्म के व्युत्पत्तिपरक अर्थों का उपयोग करते है। आत्मा ब्रह्म है क्योकि यह बढती है (वर्धनशील:) अथवा इसलिए कि यह सर्वत्र प्रविष्ट होती (अतनशील:) है।

ईश्वर की सर्वश्रेष्ठता के कारण विश्व मे एक व्यवस्था तथा समानता का भाव आता है, अन्त मे जाकर भेद भले ही क्यो न हो। विशेष के गुण द्वारा, जो गुण को द्रव्य से भिन्न बनाता है, एक अंश को सम्पूर्ण इकाई से भिन्न किया जाता है और एक तथा अनेक परस्पर सम्बद्ध किए जाते है।[2] विशेष संख्या की दृष्टि से अपरिमित है क्योकि यह नित्य तथा अनित्य दोनो पदार्थों मे रहता है और विधि तथा निषेधात्मक सत्ताओ से सम्बन्ध रखता है। एक प्रकार की निषेधात्मक सत्ता का दूसरे से भेद विशेष के द्वारा ही किया जाता है। किन्तु एक विशेष का भेद दूसरे विशेष से कैसे किया जा सकता है? यदि तो, यह अन्य किसी विशेष के द्वारा हो तो हमारे समक्ष पश्चाद् गति की एक बहुत बडी समस्या आती है क्योकि उसका कहीं अन्त नही होगा। इसलिए विशेष को आत्म-निर्धारित ही माना गया है। विशेष गुण के द्वारा हम भेदपूर्ण जगत् की व्याख्या कर सकते है जिसके लिए भेदपूर्ण जगत् को परम तत्त्व मानने की आवश्यकता नही है। विशेष के व्यापार के द्वारा ही हमे भेद का ज्ञान होता है। यदि विशेष सर्वोपरि सत्ता से भिन्न है तो उसमे सर्वोपरि सत्ता की अखण्डता मे अन्तर आता है, और यदि यह उससे भिन्न नही है तो हम इसे विशेष नही कह सकते।

१३

नीतिशास्त्र और धर्म

ज्ञान के द्वारा ही ईश्वर के ऊपर पूर्ण निर्भरता तथा उसके प्रति प्रेम का भाव उत्पन्न होता है।[3] सब वस्तुओ के विषय मे यथार्थ ज्ञान अर्थात् भौतिक तथा आध्यात्मिक, हमे ईश्वर के ज्ञान की ओर ले जाता है और उसका स्वाभाविक परिणाम ईश्वर के प्रति प्रेम है। अपने तत्त्वविवेक के अन्त मे मध्व कहते है: "यह निश्चित है कि वह व्यक्ति, जो यह समझ लेता है कि यह सब जीवन जिसका अन्त है, सदा ही हरि के वश मे रहता है,

१. 'सेक्रेड बुक्स ऑफ दि हिन्दूज़', बृहदारण्यक उपनिषद्, पृष्ठ ११४। छान्दोग्य उपनिषद् भी देखें, ६.८.७। इस वाक्य को भी "त्वं तदीयोऽसि" अथवा "त्वं तस्यासि' के समान ही माना जाता है। और भी देखें, तत्त्वमुक्तावली, 'जर्नल ऑफ़ दि रायल एशियाटिक सोसाइटी,' न्यायसूत्र, १५।

२. न्यायामृत, खण्ड ३, पृष्ठ १३७।

३. १ : २, ४६।

ससार से मुक्ति प्राप्त कर सकता है।"

मोक्ष-प्राप्ति के लिए सबसे पूर्व एक स्वस्थ तथा निर्दोष नैतिक जीवन का होना आवश्यक है। बिना किसी इच्छा अथवा फल-प्राप्ति के दावे के नैतिक नियमो का पालन करना तथा कर्तव्य कर्मो का निभाना आवश्यक है। धार्मिक जीवन हमे सत्य की गहराई तक पहुचने मे सहायक होता है। वेदो के अध्ययन से हम सत्यज्ञान प्राप्त कर सकते है, और उसकी प्राप्ति के लिए एक उपयुक्त गुरु की आवश्यकता है। प्रत्येक व्यक्ति मे ब्रह्म के एक विशेष रूप का साक्षात् करने की क्षमता रहती है। ज्ञानसम्पन्न गुरु को चाहिए कि वह इन भेदो का ध्यान रखे, क्योंकि ऐसा कहा गया है कि "जिसके योग्य कोई व्यक्ति है उसके प्रत्यक्ष से ही अन्तिम मोक्ष प्राप्त होता है अन्य किसी साधन से नही।"[1] केवल देवताओ तथा तीन उच्च वर्णो के मनुष्यो को ही वेदाध्ययन की आज्ञा दी गई है और स्त्रिया तथा शूद्र पुराणो तथा स्मृतियो द्वारा ज्ञान की प्राप्ति कर सकते है। मध्व उन सब व्यक्तियो को वेदान्त के अध्ययन का अधिकार देते है जो उसे समझ सकते है।[2] जब-जब हो सके और जितनी प्रगाढ भक्ति के साथ हो सके, ईश्वर के वैभव मे अपने को मग्न करके ध्यान लगाने का आदेश दिया गया है। ध्यान के द्वारा आत्मा दैवीय कृपा से ... अन्त करण मे ईश्वर का साक्षात् (अपरोक्ष ज्ञान) ज्ञान प्राप्त कर सकती है। जब आत्मा को इस प्रकार ज्ञान प्राप्त हो जाता है जो सूर्य की भाति स्थिर होना चाहिए न कि केवल बिजली की भाति शीघ्रगामी व क्षणिक तब इसके बन्धन कट जाते है और उसे मुक्त कहा जाता है।

ईश्वर के पास हम सीधे नही पहुच सकते। वायु मध्यस्थ का कार्य करती है। भगवत्कृपा का सिद्धान्त, जिसे मध्व अगीकार करते है हमे आगस्टाइन के मत का स्मरण कराता है। मनुष्य स्वय कभी बन्धन मे छूटने के योग्य नही हो सकता। यह केवल भगवत्-कृपा से ही सम्भव है कि उसका मोक्ष हो सके। पुण्य कर्मो के भी किसी विचार से ईश्वर बाध्य नही होता। वह केवलमात्र कुछ को मोक्ष-प्राप्ति के लिए और अन्य को उसकी विरोधी अवस्था के लिए चुन लेता है। दैवीय इच्छा ही मनुष्यो को मुक्त करती अथवा बन्धनो मे डालती है। किन्तु हिन्दू धर्म की परम्परा के अनुसार मध्व ऐसा मत प्रकट नही कर सकते कि ईश्वर का चुनाव स्वेच्छापूर्ण अनुपाधिक तथा निराधार है। यद्यपि किन्ही अर्थो मे आत्मा की अवस्थाए भी ब्रह्म के द्वारा[3] ही उत्पन्न होती है, तो भी यह मानी हुई बात है कि प्रभु की कृपा भी हमारी उसके प्रति भक्ति के अनुपात मे ही प्राप्त होती है।[4] हमारा अपना आचरण ही स्वय मे हमे मोक्ष की ओर नही ले जा सकता, ईश्वर का सहयोग आवश्यक है। सर्वोपरि सत्ता, जो अव्यक्त है, हमारे अपने प्रयत्नो के बल से व्यक्त नही की जा सकती। जब हमारी भक्ति के द्वारा वह प्रसन्न होती है तभी वह अपने को प्रकट करती है।[5] ईश्वर की कृपा उपासक के विश्वास के अनुकूल ही होती है। मध्व के अनुयायियो मे से भिन्न-भिन्न सम्प्रदाय भिन्न-

१. महाभारत, ३ : ५३।
२. १ : १, १।
३. ३ : २, ६।
४. ३ : २, २०-२१।
५. ३ : २, २३-२७।

भिन्न परिमाणों में दैवीय नियति तथा मानवीय मोक्ष पर बल देते हैं। अन्तर्दृष्टि (आत्म-निरीक्षण), भक्ति तथा कर्मकाण्ड-सम्बन्धी क्रियाकलाप के सम्पादन पर बल दिया गया है, सर्वोपरि सत्ता की सेवा के लिए विष्णु के चिह्नों से शरीर को गोदना, अपने पुत्रों तथा अन्यों को प्रभु के नाम देना और उनकी पूजा करना, वचन (सत्यभाषण तथा पवित्र ग्रंथों का स्वाध्याय), कर्म (दान-दाक्षिण्य) और मानसिक विचार (दया तथा विश्वास) आवश्यक हैं। दैवीय कृपा की प्राप्ति के लिए ईश्वर की पूजा अनिवार्य तथा प्राथमिक आवश्यकता है। ज्ञानपूर्वक किए गए कर्म हमें ऊपर की ओर उन्नति करने में सहायक होते हैं। क्रियाकलाप तथा यज्ञ और तीर्थयात्राएं करने का भी समर्थन किया गया है। पशुबलि को निषिद्ध बताया गया है और यज्ञ करने वाले पुरुषों के लिए विधान किया गया है कि वे जीवित पशुओं के स्थान पर आटे के पशु बनाकर उनसे काम लें।

जब तक आत्मा का प्रारब्ध कर्म क्रियाशील है, उसका शारीरिक जीवन रहता है, किन्तु जब यह शरीर से वियुक्त होती है तो सर्वथा मुक्त हो जाती है। नितान्त मोक्ष तथा सांसारिक जीवन परस्पर अनुकूल नहीं हैं। न्यायामृत के ग्रन्थकार का तर्क है कि ऐसा मनुष्य जिसे सत्य का प्रकाश तो मिल गया किन्तु ईश्वर की कृपा प्राप्त नहीं हुई जो कि मोक्ष प्राप्ति के लिए आवश्यक है, उसे हमेशा के लिए मर्त्यलोक में जीवन बिताना होता है। यह जीवन्मुक्ति है। नितान्त मोक्ष केवल ईश्वर की कृपा के द्वारा ही प्राप्त हो सकता है।

भागवत के अनुसार विशुद्ध आध्यात्मिक जीवन (स्वरूपेण व्यवस्थिति) में पुनः लौट जाना ही मोक्ष है, जिसमें समस्त अनावश्यक रूप (अन्यथारूप) दूर हो जाते हैं।[1] यह ईश्वर के साथ साहचर्य की अवस्था है किन्तु उसके साथ तादात्म्य भाव नहीं है। यदि जीव और प्रभु के मध्य का भेद दृष्टिगत नहीं होता, जैसे कि प्रगाढ़ निद्रा अथवा प्रलय की अवस्था में, तो यह मोक्ष की अवस्था नहीं है।[2] मुक्तात्मा पुरुष अपने व्यक्तित्व की चेतना को प्रलय तथा सृष्टि-रचना, दोनों अवस्थाओं में स्थिर रखते हैं। मोक्ष-अवस्था में दुःख का अभाव तथा स्थिर सुख का अनुभव होता है। किन्तु आत्मा ईश्वर के सादृश्य तक ऊंचा उठने की योग्यता नहीं रखती। आत्मा उसकी सेवा करने ही के योग्य होती है। यदि ब्रह्म के साथ एकत्व प्राप्त करने को मोक्ष कहा जाता है तो यह सापाधिक अर्थों में ही है, अर्थात् आत्मा का ब्रह्म का दर्शन हो जाता है। श्रुति-वाक्यों का भाव, कि "वह जो ब्रह्म का साक्षात्कार कर लेता है ब्रह्म ही हो जाता है" यह नहीं है कि दोनों में नितान्त ऐक्य हो जाता है।[3] समस्त मुक्तात्मा पुरुषों की इच्छा तथा आशय एक समान होते हैं।[4] निःसंदेह उनमें यथार्थ अर्थों में इच्छाएं रहती हैं, किन्तु उनकी इच्छाएं सर्वोपरि प्रभु की इच्छाओं के ही समान होती हैं। वे स्वेच्छा से ध्यान

१. २ : १०, ६। मध्व के मत में मुक्ति 'स्वस्वयोग्यस्वस्वरूप' है तथा 'आनन्दाभिव्यक्ति' है।

२. 'सेक्रेड बुक्स आफ दि हिन्दूज', बृहदारण्यक उपनिषद्, पृष्ठ ११८।

३. तत्त्वमुक्तावली, पृष्ठ ५५-५६।   ४. ४ : २, १६।

करते है।[1] वे बिना किसी विशेष प्रयत्न के अपनी इच्छाओं की पूर्ति कर लेते है।[2] वे अपनी इच्छा से शुद्ध सत्त्वस्वरूप शरीर धारण करते है यद्यपि यह शरीर कर्म की देन नही है, किन्तु जिन शरीरो को वे धारण करते है उनके साथ किसी प्रकार की आसक्ति नही रखते। यदि वे इस प्रकार का शरीर धारण न भी करे तो भी वे परम आह्लाद का अनुभव इसी प्रकार कर सकते है जिस प्रकार हम स्वप्नावस्था मे करते है।[3]

ऐसे पुरुष जो मोक्ष को प्राप्त करते है, ससार-चक्र से छूट जाते है किन्तु अन्य मृत्यु के उपरान्त एक भिन्न जीवन मे चले जाते है जिसका निर्धारण कर्म के विधान द्वारा होता है। मृत्यु के समय इस स्थूल शरीर का अपने भागो मे विलय हो जाता है एव आत्मा, सूक्ष्म तथा अदृश्य प्राकृतिक शरीर धारण किए हुए जिसमे इन्द्रिया भी साथ होती है, या तो दिव्य लोक मे चली जाती है, अथवा अन्धकारमयी नरकों मे अथवा ज्योतिमय चन्द्र-लोको मे जाती है, जहा यह कुछ समय तक अपने सुकृत कर्मो के अनुसार ठहरती है। उसके पश्चात् माता के गर्भ मे जाती है, जहा पर आत्मा की नई-नई ऐहलौकिक देह का निर्माण होता है।[4] इस प्रकार बार-बार जन्म होता रहता है। जब इसके अन्दर ईश्वर के प्रति पूर्णरूप से प्रेम अथवा द्वेष का भाव विकसित होता है उस समय या तो यह मोक्ष प्राप्त कर लेती है अन्यथा नरक मे धकेल दी जाती है।

१४

समीक्षात्मक विचार

ज्ञानरूपी तथ्य हमे जगत् के विषय मे एक व्यवस्थित ज्ञान तो दे देता है किन्तु इस जगत् के अन्दर ईश्वर, आत्माए और प्रमेय पदार्थ जो बाह्यरूप मे एक-दूसरे से सम्बद्ध है, उनके विभाग या औचित्य नही बताता। और न हो हम सारतत्त्व कहे जाने वाले पदार्थो अथवा जीवात्मा का सम्बन्ध, उन विश्वव्यापी तत्त्वों के साथ उस सम्बन्ध के विषय मे, कुछ समझ सकते है जो इस ससार मे कार्य कर रहा है। यदि ईश्वर सृष्टि की रचना करता है, यदि संसार की प्रक्रिया का प्रारम्भ दैवीय इच्छा का परिणाम है तो निःसन्देह हम सृष्टि की व्याख्या कर सकते है। किन्तु यह कठिनाई सामने आती है कि जो भी किसी अभाव का अनुभव करता है अथवा इच्छा करता है वह अपूर्ण तथा सान्त होता है। इस दृष्टिकोण से ईश्वर को सर्वोपरि तथा परिपूर्ण नही माना जा सकता। ईश्वर के ऊपर जगत् की निर्भरता का स्वरूप क्या है, इसका भी स्पष्ट रूप से प्रतिपादन नही किया गया। यदि ईश्वर वस्तुत स्वतन्त्र है तब उसे बाह्य रूप से प्रतिबन्ध लगाने वाला कोई नही हो सकता। द्वैतवाद ईश्वर की स्वतन्त्रता को असम्भव बना देता है। मध्व अनन्त का विचार अमूर्त भावात्मक रूप मे करते है और इसलिए उन्हे इसके तथा सान्त के मध्य कोई एकत्व लक्षित नही हो सकता। यदि ब्रह्म और यह जगत्, दोनो

१. ३ : ३, २७। २. ४ : ४, ८।
३. ४ : ४, १०-१६। ४. ३ : १, २६।

साथ-साथ नित्य है तो उनका परस्पर-सम्बन्ध क्या है ? यदि वह सम्बन्ध भी समानरूप से नित्य है तो क्या सर्वोपरि आत्मा अपने से भिन्न पदार्थों के साथ बद्ध है ? हम ऐसा नही कह सकते कि सर्वोपरि आत्मा का स्वभाव ही ऐसा है कि वह जीवात्माओ के साथ सम्बद्ध रहे, क्योंकि ईश्वर जीवात्माओ के अस्तित्व का कारण नही है। ऐसा विश्वास करना कठिन है कि ईश्वर के सारतत्त्व मे ऐसे पदार्थों के साथ सम्बन्ध भी लगा है जिनका अस्तित्व इसके लिए आवश्यक नही है। यह मानना भी उतना ही कठिन है कि सम्बन्ध अनावश्यक अथवा आकस्मिक है क्योकि एक नित्य घटना जो अनुत्पन्न आत्माओ को अपने अधीन रखती है और सर्वोपरि सत्ता को भी अपने वश मे रखती है, केवलमात्र एक आकस्मिक घटना नही हो सकती। यदि आत्माए तथा प्रकृति परब्रह्म के ऊपर आश्रित है तो उन्हे द्रव्य की कोटि मे नही माना जा सकता। वास्तविक अर्थों मे द्रव्य सज्ञा केवल ऐसे ही पदार्थ के लिए प्रयुक्त हो सकती है जो अपने-आप मे पूर्ण हो, जिसका निर्धारण भी अपने से ही हो और जिसकी व्याख्या भी पूर्णरूप मे अपने ही द्वारा हो सके। मध्व इस विषय को जानते है कि इस प्रकार की यथार्थता केवल सर्वोपरि आत्मा ही के अन्दर है। अन्य सब विष्णु से ही उत्पन्न होते है जो सर्वोपरि आत्मा है, चाहे साक्षात् अथवा परोक्षरूप मे। यहा तक कि उसकी पत्नी श्री और उसका पुत्र वायु भी पूर्णरूप मे उसीके आश्रित है। किन्तु विष्णु को जगत् की सर्वोपरि यथार्थ सत्ता स्वीकार कर लेने का तात्पर्य यह नही है कि वह अन्य पदार्थो का उत्पादक अथवा आश्रय-स्थान नही है।

इसके अतिरिक्त चुनाव की कल्पना मे नैतिक जीवन को भी आघात पहुचने का —ता है। भाग्यवादी विचार की योजना मे मध्व के आस्तिकवाद के अन्य अशो पर भी बहुत बडी जिम्मेवारी आ जाती है। ईश्वर के नैतिकस्वरूप मे भी इसमे बहुत बाधा पहुचती है तथा दैवीय न्याय के गुण तथा दैवीय प्रेम का भी कुछ अर्थ अथवा मूल्य नही रह जाता। मनुष्य के अपने पुरुषार्थ का महत्त्व विलुप्त हो जाता है, क्योंकि चाहे कोई व्यक्ति अपने को चुना हुआ समझे या न चुना हुआ समझे, उसकी स्वतन्त्र सत्ता न रहकर उसके अन्दर उदासीनता तथा मानसिक जडता आ जाती है। यदि हम यह नही जानते कि हमारे जीवन का उद्देश्य क्या है तो हमे निरन्तर अपने को पवित्र करने के लिए कर्म करते जाना चाहिए। ज्ञान के अभाव मे हमे कम से कम आशावान् होना चाहिए। किन्तु इस प्रकार का सिद्धान्त हमे अत्यधिक रूप मे निराशा मे जकड देगा और तब यह प्रश्न उठेगा कि कही ईश्वर हमारे साथ कोई क्रियात्मक परिहास तो नही कर रहा, जब कि वह हमारे अन्दर एक ओर तो स्वर्ग-प्राप्ति की इच्छा उत्पन्न करता है और दूसरी ओर हमे उसके अयोग्य बना देता है। जब तक हम इस स्थिति मे नही होते कि हमे निश्चय हो जाए कि प्रत्येक व्यक्ति, जिसने मानवीय शरीर धारण किया है वह दैवीय रूप भी प्राप्त कर सकता है, और इस विषय की धार्मिक दृष्टि मे पूरी-पूरी सम्भावना है, तब तक हमारे समक्ष वस्तुत: उपयोगी नैतिक शास्त्र नही आ सकता। कुछ वाक्यो मे मध्व कहते है कि जीवात्मा ज्ञान तथा परमानन्द का रूप है, यद्यपि उसे अपने इस रूप का ज्ञान नही है, किन्तु ईश्वर अनादि काल से अपने ज्ञान तथा परमानन्द स्वरूप से अभिज्ञ है। इसलिए

ईश्वर तथा मनुष्य के मध्य चाहे कितना ही महान् भेद क्यों न हो, किन्तु वर्ग का भेद नहीं है। प्रत्येक आत्मा का आध्यात्मिक तत्त्व सम्भवत: अपनी निष्प्रभता का परिणाम प्रस्तुत कर सके, किन्तु यह सिद्ध करना कठिन है कि आत्मा में नित्य आध्यात्मिक तत्त्व तब भी वर्तमान रहते है जबकि वह मोक्ष प्राप्त कर लेती है। इस सबमें हम अनुभव-सम्बन्धी भेदों को ईश्वर के राज्य में केवल स्थानान्तरित मात्र करते है।

१५

निम्बार्क

निम्बार्क वैष्णवधर्मावलम्बी एक तेलगू ब्राह्मण थे जो रामानुज के कुछ समय पश्चात् तथा मध्व से पूर्व लगभग ग्यारहवी शताब्दी मे हुए। उन्होंने ब्रह्म-सूत्र के ऊपर 'वेदान्तपारिजातसौरभ' नामक एक लघु भाष्य लिखा और दश-श्लोक भी 'दशश्लोकी' नाम से लिखे जिनके द्वारा उन्होंने जीव, ईश्वर और जगत् के भेद सम्बन्धी अपने मत पर प्रकाश डाला है। उनके सिद्धान्त को द्वैताद्वैत कहा जाता है। केशव काश्मीरी ने भगवद्गीता पर एक भाष्य लिखा है जिसे 'तत्त्वप्रकाशिका' का नाम दिया गया है और जिसके द्वारा निम्बार्क के साधारण मत का समर्थन किया गया है। ब्रह्मसूत्र पर लिखे उनके भाष्य मे ब्रह्म के परि-णामवाद के सिद्धान्त का परिष्कार किया गया है। पुरुषोत्तम की स्वतन्त्र यथार्थता तथा जीव और प्रकृति की पराश्रित यथार्थताओं के अन्दर भेद बताया गया है। जीव और ईश्वर दोनों ही आत्मचेतन है किन्तु जीव परिमित शक्ति वाला है और ईश्वर वैसा नहीं है। जीव भोक्ता है, संसार भोग्य है और ईश्वर सर्वोपरि नियन्ता है।

निम्बार्क की शिक्षाओं के अनुसार जीव ज्ञानस्वरूप है किन्तु शंकर के अर्थो में नही। यह ज्ञानस्वरूप भी है और ज्ञान का धारण करने वाला भी है, ठीक जैसे कि सूर्य प्रकाशस्वरूप भी है और प्रकाश का स्रोत भी है। आत्मा का अपने गुणों के साथ सम्बन्ध ऐसा है जैसा कि धर्मी का सम्बन्ध धर्म के साथ होता है। यह भेद और अभेद रूपी दोनों ही है। धर्म और धर्मी के मध्य नितान्त एकत्व नहीं है, किन्तु भेद का प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं होता। जीव यद्यपि आकार में अणुरूप है तो भी ज्ञानरूपी गुण की सर्व-व्यापकता को धारण किए रहने के कारण यह शरीरमात्र के अन्दर के सुख-दुःख का अनुभव कर सकता है।[1] जीव कर्म का कर्ता है। ऐसे श्रुति-वाक्य, जो उसकी सक्रियता का निषेध करते है, उनका तात्पर्य जीव की कर्म मे पराधीनता का प्रतिपादन करने से है। जीव का कोई स्वतन्त्र ज्ञान अथवा क्रिया नहीं है। आनन्द जीव के साथ इसकी प्रत्येक अवस्था मे साथ-साथ रहता है। प्रगाढ़ निद्रा (सुषुप्ति) की अवस्था तथा मोक्ष

१. २ : ३, २५।

की अवस्था में भी जीव अपने अस्तित्व को अक्षुण्ण बनाए रखता है। जिस प्रकार ईश्वर शासक है उसी प्रकार जीव का सब अवस्थाओं में शासित होने (नियाम्यत्व) का स्वरूप है। जीवों की संख्या अनन्त है, यद्यपि उन सबका सर्वोपरि आत्मा के द्वारा धारण होता है।

जड जगत् के तीन मुख्य वर्ग (तत्त्व) है : (१) अप्राकृत अर्थात् जिसकी उत्पत्ति मूलभूत आद्यप्रकृति से नही हुई, जैसे कि दैवीय शरीर की सामग्री, जिसे रामानुज ने शुद्ध सत्त्व कहा और यह ईश्वर की नित्य विभूति का आधारभित्ति है; (२) प्रकृति अथवा जो कुछ त्रिगुणात्मक प्रकृति से उत्पन्न हुआ है; और (३) काल। प्रकृति और काल विश्व जीवन के आधारभूत तत्त्व है। ये तीनो वर्ग भी जीवात्माओं की भांति नित्य है।

ईश्वर का नित्य स्वभाव शासन (नियन्तृत्व) करना है। निम्बार्क तथा केशव ब्रह्म के विशेषण रहित स्वरूप का खण्डन करते है और ब्रह्म को उत्तम तथा शुभ गुणों का आगार बताते है।[1] निम्बार्क ने सर्वोपरि आत्मा तथा कृष्ण को एक समान माना है तथा समस्त शुभ गुणो का आगार और अहम्मन्यता, अज्ञान, वासना और आसक्ति आदि दोषो से रहित माना है। उसके चार स्वरूप (व्यूह) है और वह अपने को अवतारों के रूप मे प्रकट करता है। वह विश्व का उपादान तथा निमित्त कारण है। वह उपादान (भौतिक) कारण है क्योंकि सृष्टि-रचना से तात्पर्य उसकी सूक्ष्मरूपिणी चित् और अचित् शक्तियो की अभिव्यक्ति है। वह विश्व का निमित्त कारण है क्योंकि वह जीवात्माओ का उनके अपने अपने कर्मो तथा फलो के साथ संयुक्त करता तथा उनका अनुभव प्राप्त करने के लिए उचित साधनो को जुटाता है।

इस विश्व की उपेक्षा केवल भ्रान्ति मात्र कहकर नही की जा सकती क्योंकि जो कुछ ईश्वर के स्वरूप मे सूक्ष्मरूप मे विद्यमान है उसी का यह विश्व अभिव्यक्त रूप (परिणाम) है। निम्बार्क विश्वविषयक विवर्तवाद की सिद्धान्त की आलोचना करते है और तर्क करते है कि यदि यह संसार यथार्थ न होता तो इसे दूसरे के ऊपर अध्यस्त नही किया जा सकता।

जीव, जगत् और ईश्वर इन तीन तत्त्वों का पारस्परिक सम्बन्ध नितान्त एकत्व अथवा अभेदपरक नही है क्योंकि इस प्रकार के मत को मानने मे उपनिषदो के असंख्य वाक्यो का विरोध होगा जिनमें इनके पारस्परिक भेद पर बल दिया गया है, और भिन्न-भिन्न तत्त्वो के स्वरूप तथा गुणो मे भी बहुत सा असामजस्य उत्पन्न होगा। किन्तु यह भी नही कहा जा सकता कि उक्त तीनो तत्त्व परस्पर सर्वथा भिन्न है; क्योंकि ऐसा कथन उपनिषदो के अन्तर्गत साक्ष्य से दूर भागना होगा। यदि परमात्मा जीवात्मा और जगत् से सर्वथा भिन्न होता तो यह सर्वव्यापक न हो सकता। यह वैसे ही परिमित परिमाण का होता जैसे कि जीवात्मा तथा जगत् है और इसलिए इसे शासक (नियन्ता)

१. केशव का कहना है : "नापि निर्धर्मकं ब्रह्म तस्य शासित्क्रियादीनां स्वाभाविकशक्तीनां शास्त्रसिद्धत्वात्" (१ : १, ५)। आगे कहा गया है : "आनन्दमयशब्दनिर्दिष्ट आत्मा ब्रह्मैव" (१ : १, १३)।

नही माना जाता। इस प्रकार का सुझाव, कि अभेद यथार्थ है तथा भेद उपाधि अथवा अवच्छेद के कारण है, स्वीकार नही किया जा सकता, क्योंकि इसका अर्थ होगा कि हम ब्रह्म को अवस्थाओ के अधीन कर देते है। इस प्रकार के मत मे ब्रह्म निर्मल नही रहता और मानना पड़ेगा कि वह त्रुटि भी कर सकता है तथा वह सुख-दु:ख का अनुभव करने वाला भी ठहरेगा और यह सब ब्रह्म के सर्वमान्य स्वरूप के विरुद्ध होगा। इस प्रकार निम्बार्क इस परिणाम पर पहुचते है कि भेद और अभेद दोनो ही यथार्थ है। जीवात्मा तथा जगत ब्रह्म से भिन्न है क्योंकि उनके स्वरूप तथा गुण ब्रह्म के स्वरूप और गुणो से भिन्न है। वे भिन्न नही हो सकते क्योंकि वे स्वतन्त्र रूप से अपना अस्तित्व स्थिर नही रख सकते और सर्वथा ब्रह्म ही के ऊपर आश्रित है। भेद पृथकत्व का और पराश्रित अस्तित्व का द्योतक है (परतन्त्रसत्ताभाव) और अभेद स्वतन्त्र अस्तित्व के अभाव का द्योतक है (स्वतन्त्रसत्ताभाव)। भेदाभेद के इस सिद्धान्त की दृष्टि से सुप्रसिद्ध वाक्य "तत् त्वम् असि" की व्याख्या की गई है। 'तत्' नित्य तथा सर्वव्यापक ब्रह्म का द्योतक है, 'त्वम्' से तात्पर्य जीवात्मा से है जिसका अस्तित्व ब्रह्म के ऊपर निर्भर है, और 'असि' शब्द दोनो के परस्पर सम्बन्ध को बताता है जो कि अभेद के अविरुद्ध भेदपरक है। इस प्रकार का सम्बन्ध सूर्य तथा उसकी किरणो मे अथवा अग्नि और उसकी चिनगारियो मे पाया जाता है। यद्यपि आत्माए तथा प्रकृति ईश्वर से भिन्न है वे उसके साथ घनिष्ठ सम्बन्ध भी रखते है जैसे लहरे जल के साथ अथवा एक रस्सी के तार रस्सी के साथ रखते है। वे दोनो ब्रह्म से भिन्न भी है और अभिन्न भी। भिन्न सत्ताओ का एक-दूसरे से सर्वथा पृथक् तथा विच्छिन्न ही माना जाए यह आवश्यक नही है। भेद तथा एकत्व दोनो एकसमान यथार्थ है और जो भिन्न है वह एकात्म भी है।

फिर भी जीवात्माए और जगत आत्मनिर्भर नही है वरन् ईश्वर के द्वारा उन्हे प्रेरणा मिलती है।[1] प्रलयकाल मे ये दोनो ईश्वर के स्वरूप मे विलीन हो जाते है जो जीव तथा जगत् के सूक्ष्मरूपो का धारण करता है। विलय तथा पुन: सृजन के कालो के मध्यवर्ती समय मे समस्त तत्त्व चेतन और अचेतन सूक्ष्म अवस्था मे उसके अन्दर निवास करते है। ब्रह्म की शक्ति के द्वारा जगत की उत्पत्ति होती है जहा प्रत्येक पृथक् आत्मा उपयुक्त शरीर प्राप्त करती है।

निम्बार्क ऐसे सिद्धान्त को स्वीकार नही करते जिसके अनुसार चेतन तथा अचेतन जगत् ब्रह्म के साथ मिलकर एक सम्पूर्ण व्यक्तित्व का निर्माण करते है और जहा तक उक्त व्यक्तित्व का सम्बन्ध है यही इस ससार का उपादान कारण है। निम्बार्क के अनुसार, ब्रह्म की शक्ति ही ससार का उपादान कारण है और शक्तिगत परिवर्तन ब्रह्म की अखण्डता के ऊपर कोई प्रभाव नही रखते। जिसे रामानुज ब्रह्म का शरीर कहते है उसे ही निम्बार्क शक्ति की सज्ञा देते है। ससार का निर्माण करने के लिए ईश्वर को किसी सामग्री की आवश्यकता नही होती। वह सर्वशक्तिमान् है और वह केवल अपनी इच्छा मात्र से ही संसार की रचना करने मे समर्थ है।[2] इस प्रकार ब्रह्म ससार का उपादान तथा निमित्त दोनो ही प्रकार का कारण है। ससार का ब्रह्म के साथ एकात्मभाव

१. दशश्लोकी, ७। २. १ : १. १९।

है और अपने परिणमन तथा कर्म करने की शक्ति के लिए वह ब्रह्म के ऊपर निर्भर करता है। और फिर भी कुछ अर्थों में यह संसार ब्रह्म से भिन्न है। तीन गुणों में प्रकृति के विकास सम्बन्धी प्रचलित सिद्धान्त को भी स्वीकार किया गया है।[१]

सर्वोपरि आत्मा को सब प्रकार के दोषों से रहित माना गया है। वह सब प्रकार के औदार्ययुक्त गुणों का आगार है, दिव्य शरीर धारण किए हुए है, सौन्दर्य तथा कोमलता और माधुर्य तथा कान्ति से पूर्ण है।[२] आत्माएं संख्या में अनन्त और आकार में अणु है। प्रत्येक आत्मा ब्रह्म की, व्यक्तित्व के रूप में परिणत हुई किरण है।[३] उक्त सिद्धान्त का प्रयास पूर्ण एकत्व से बचने की ओर है जिसमें गुण असमंजस में पड़ जाते है और भेद नष्ट हो जाते है और साथ-साथ वह केवल अनेकत्ववाद से भी बचने का प्रयत्न करता है क्योंकि अनेकत्ववाद ब्रह्म की सर्वव्यापकता को क्षति पहुंचाता तथा उसके स्वभाव और प्रभुता को भी परिमित कर देता है।

जीव का विशुद्ध स्वरूप अपने कर्म के कारण आवरणयुक्त हो जाता है और यह अविद्या का परिणाम है जो अनादि काल से है किन्तु फिर भी ईश्वर की कृपा से उसका अन्त किया जा सकता है। प्रपत्ति अथवा ईश्वर के प्रति सर्वात्मना आत्मसमर्पण करना ही मोक्ष-प्राप्ति का एकमात्र-उपाय है। ऐसे व्यक्तियों के ऊपर, जो प्रपन्न पुरुषों के समान भाव रखते है, ईश्वर की कृपा रहती है और ईश्वर उनके अन्दर भक्तिभाव उत्पन्न करता है जो अन्त मे जाकर ब्रह्म-साक्षात्कार में परिणत हो जाता है। भक्ति के अन्दर सर्वोपरि यथार्थ सत्ता का ज्ञान, जीवात्मा का स्वरूप, दैवीय कृपा का फल अथवा मोक्ष जो ब्रह्म के स्वरूप तथा गुणों का अव्यवहित साक्षात्कार है जिसमें सब प्रकार की स्वार्थपरता तथा अज्ञान पूर्णरूप में नष्ट हो जाते है, और ईश्वर के साक्षात्कार में जो "बाधाएं आती है जैसे कि आत्मा तथा शरीर को एवं इन्द्रियों अथवा मन को भ्रान्ति के कारण एक मान लेना, ईश्वर को छोड़कर अन्य का आश्रय ढूंढना उसके आदेशों का उल्लंघन अथवा उनके प्रति उदासीनता का भाव, ईश्वर का साधारण प्राणियों के समान मान लेना, सच्ची भक्ति से उत्पन्न प्रमाद को मोक्ष समझ लेना ये सब आ जाते हैं। निम्बार्क के अन्दर कृष्ण और राधा[४] नारायण तथा उनकी पत्नी का स्थान ले लेते हैं। भक्ति उपासना नहीं है अपितु प्रेम और श्रद्धा है। ईश्वर की कृपा सदा ही असहायों को ऊंचा उठाने और उन्हें वस्तुओं की यथार्थता का ज्ञान प्राप्त करने के योग्य बनाने के लिए उद्यत रहती है। अन्य देवताओं की पूजा का निषेध है। शास्त्रविहित नैतिक आचार-सम्बन्धी नियमों के पालन पर बल दिया गया है। कर्म को ब्रह्म-ज्ञान की प्राप्ति कराने का साधन बनाया गया है।[५] जिसमें भक्ति भी साथ-साथ रहती है।[६]

रामानुज और निम्बार्क दोनों ही भेद और अभेद को आवश्यक मानते है और जीवित तथा जड़ सत्ताओं को ब्रह्म के गुण मानते है। रामानुज एकात्मता के सिद्धांत

१. दशश्लोकी, ३।
२. दशश्लोकी, ४।
३. ब्रह्मसूत्र पर भाष्य, २ . ३, ४२।
४. दशश्लोकी, ५ और ८।
५. १ : १, ४।
६. १ : १, ७।

पर अधिक बल देते है। निम्बार्क के लिए दोनो ही एक समान यथार्थ है और वही महत्त्व रखते है। इसके अतिरिक्त रामानुज जीवात्माओ (चित), तथा जगत् (अचित) को ब्रह्म के गुण (विशेषण अथवा प्रकार) के रूप मे मानते है। और उनके मत म सर्वोपरि प्रभु के अद्वैतत्व पर बल दिया गया है, जीवात्माए तथा जगत् जिसके उपाधिस्वरूप है।[1] निम्बार्क इस मत का विरोध इस आधार पर करते है कि यह आवश्यक नही है कि शरीर-धारण गुणो की उपस्थिति का भी उपलक्षण हो। क्योकि गुण का विषय उस वस्तु मे, जिसमे वह गुण है तथा उस अन्य वस्तु मे जिसम वह नही है परस्पर भेद करना है। यदि चित् और अचित् ब्रह्म के गुण है तो फिर वह यथार्थ सत्ता कौन-सी है जिसमे ब्रह्म का भेद इन लक्षणो से युक्त होने के कारण किया जाता है?

१६

वल्लभ

वल्लभ (१४०१ ईस्वी) दक्षिण भारत के एक तैलंग ब्राह्मण थे जिन्होने उत्तर भारत मे आकर विष्णुस्वामी के मत का परिष्कार करके उसे बढाया। विष्णुस्वामी तेरहवी शताब्दी मे हुए। वे न केवल उपनिषदो, भगवद्गीता और ब्रह्मसूत्र को प्रामाणिक ग्रन्थ मानते थे अपितु भागवत पुराण को भी प्रामाणिक मानते थे। अपने ग्रन्थो अर्थात् 'अणुभाष्य', 'सिद्धान्तरहस्य' तथा भागवत-टीका सुबोधिनी' मे वे वेदान्त की एक ऐसी ईश्वरज्ञानपरक व्याख्या करते है जो शंकर तथा रामानुज दोनो की व्याख्या से भिन्न है। उनके मत की संज्ञा 'शुद्धाद्वैत' है अर्थात् विशुद्ध अद्वैतवाद।[2] उनका कहना है कि समस्त जगत् यथार्थ है और सूक्ष्मरूप मे ब्रह्म है। जीवात्माए और जड जगत् तात्त्विक रूप मे ब्रह्म ही है। वे यह मानते है कि जीव, काल और प्रकृति अथवा माया सब नित्य वस्तुए है और ब्रह्म के ही तत्त्व से सम्बद्ध है और उनकी कोई पृथक् सत्ता नही है। ऐसे व्यक्ति जो माया की शक्ति को जगत् का कारण मानते है, शुद्ध अद्वैतवादी नही है क्योकि वे ब्रह्म के अतिरिक्त भी एक दूसरी सत्ता को स्वीकार करते है।[3] जहा शंकर जगत् की उत्पत्ति माया की शक्ति के द्वारा ब्रह्म से मानते है वहा दूसरी ओर वल्लभ मानते है कि ब्रह्म माया जैसे किसी तत्त्व के साथ संबंध के बिना भी जगत् का निर्माण करने मे समर्थ है। उनके मत मे शास्त्र ही अन्तिम प्रमाण है और हमारा तर्क उसके आदेशो के विरोध मे नही जा सकता।[4] ईश्वर सच्चिदानन्द है, और गुणो से युक्त है, श्रुति के उन वाक्यो का जिनमे कहा गया है कि वह निर्गुण

१. चिदचिद्विशिष्टपरमेश्वराद्वैत।

२. गिरिधर का 'शुद्धाद्वैतमार्तण्ड' और बालकृष्ण का 'प्रमेयरत्नार्णव' इसी सम्प्रदाय के ग्रथ है।

३. जो शंकर के केवलाद्वैत से भिन्न है।

४. १:१, ६। ५. १.१, २०।

है, तात्पर्य यह है कि उसमें साधारण गुणों का अभाव है।[1] ईश्वर शरीरधारी कृष्ण है जिनमे ज्ञान और क्रियारूप गुणो का आधान है। वही जगत् का स्रष्टा है और हमे यह कल्पना करने की आवश्यकता नही कि उसको किसी भौतिक शरीर की आवश्यकता है जैसी कि सांसारिक कर्मो के कर्ताओं को होती है क्योंकि हमलोगो पर जो बात लागू होती है उसका अतीन्द्रिय तथा सर्वोपरि ईश्वर के विषय मे लागू होना आवश्यक नही है। वह केवल अपनी इच्छा की शक्ति से ही समस्त संसार की रचना करता है। वह केवल कर्ता ही नही भोक्ता भी है।[2] यद्यपि उसे शरीर धारण करने की तो कोई आवश्यकता नही होती तो भी वह नानाविध रूपों मे अपने भक्तो को प्रसन्न करने के लिए प्रकट होता है।[3] उसका सबसे श्रेष्ठरूप वह है जिसे यज्ञरूप कहा गया है और जिसका सम्बन्ध कर्म करने से है और उसकी पूजा, जैसा कि ब्राह्मण ग्रन्थों मे कहा है, कर्मो के द्वारा ही की जा सकती है। जब वह ज्ञान से सम्बद्ध होता है तो वह ब्रह्म है तथा इस अवस्था मे ज्ञान के द्वारा ही, जैसा कि उपनिषदो मे कहा गया है, उसे प्राप्त कर सकते है। सर्वोपरि कृष्ण की पूजा गीता तथा भागवत के नियमों के अनुसार ही करनी चाहिए।

मनुष्यो तथा पशुओं की आत्मा मे आनन्दरूप गुण अव्यक्त अवस्था मे रहता है और इसी प्रकार प्रकृति मे चैतन्य का गुण अव्यक्त अवस्था मे है। ब्रह्म अपने गुणो के आविर्भाव तथा तिरोभाव द्वारा जिस रूप को चाहता है धारण कर लेता है। जीव आकार मे आणविक है[4] और ब्रह्मरूप है तथा उसका एक अंश भी है। ब्रह्म के आनन्दरूप पर आवरण आने से हम उसे जीव कहते है। यद्यपि इसकी उत्पत्ति केवल आविर्भाव मात्र का नाम है। वस्तुतः यह ब्रह्म ही के समान यथार्थ और नित्य है। जीवों के अन्दर तीन प्रकार का भेद है। शुद्ध जीव वे है जिनके ऐश्वर्यादि गुण अविद्या की शक्ति से मलिन नही होने पाते। संसारी जीव वे है जो अविद्या के जाल मे फँसे हुए होने के कारण जन्म और मरण का अनुभव करते है क्योंकि वे स्थूल अथवा सूक्ष्म शरीर धारण किए रहते है। मुक्त जीव वे है जो विद्या (ज्ञान) के बल पर संसार के बन्धनों से स्वतन्त्र है। जब आत्मा मोक्ष को प्राप्त करती है तो उसे अपने अव्यक्त गुण पुनः प्राप्त हो जाते है और वह ब्रह्म के साथ एकाकार हो जाती है। जड़ जगत् भी ब्रह्म से पूर्ण (ब्रह्मात्मक) है। इसके अन्दर ब्रह्म के दो गुण, ज्ञान तथा आनन्द अव्यक्त है और जो अवशिष्ट रहता है वह शुद्ध सत्त्व है अर्थात् अस्तित्वमात्र है। चूंकि यह जगत् के रूप मे प्रकट हुआ ब्रह्म ही है, अतः इसे ब्रह्म का कार्य ही माना गया है। सृष्टि-रचना तथा प्रलय केवलमात्र सर्वोपरि सत्ता के आविर्भाव तथा तिरोभाव ही है और वही सत्ता उक्त रूप धारण कर लेती है। ब्रह्म भी एक उत्पन्न पदार्थ का रूप धारण कर लेता है। और उसका बोधग्रहण सृष्टि-रचना के रूप मे होता है तथा प्रलय-काल मे जगत् अपने मौलिक रूप मे वापस लौट जाता है और प्रत्यक्ष का विषय नही रहता। इसीलिए जगत् ब्रह्म ही के समान तात्त्विक है और

१. थीबो, ब्रह्मसूत्र पर उनका भाष्य २. २ : २, ३३ ।
२. १ : १, १ ।
३. १ : १, २० २१ ।
४. २ : ३, १९ ।
५. २ : ३, ४३ ।

इसकी रचना तथा विनाश ब्रह्म की शक्ति के ही कारण है। जगत् को केवल भ्रान्तिमय प्रतीति नहीं माना जा सकता और न ही यह तात्त्विक रूप से ब्रह्म से भिन्न है। कारण-कार्यसम्बन्ध नितान्त एकत्व रूप सम्बन्ध है।[2] यह विश्व यथार्थ में ब्रह्म है। ब्रह्म सर्वथा अपनी इच्छा से अपने को जीवात्माओं तथा जगत् के रूप में प्रकट करता है किन्तु इसमें उसके तात्त्विक स्वरूप में कोई विकार नहीं आता। वह जगत् का उपादान तथा निमित्त दोनों ही प्रकार का कारण है।[3] पक्षपात तथा क्रूरता के दोष ब्रह्म में नहीं आते, क्योंकि वल्लभ ब्रह्म से जीवों का भेद स्वीकार करते हैं। वे यह भी मानते हैं कि माया के बन्धनों से मुक्त होकर जीव ब्रह्म के साथ एकाकार हो जाता है।

वल्लभ ईश्वर को सम्पूर्ण इकाई तथा जीव को उसका अंश मानते हैं किन्तु चूंकि जीवात्मा भी उसी के समान तात्त्विक सार रखता है, दोनों के अन्दर कोई वास्तविक भेद नहीं है। स्फुलिंगों का अग्नि के साथ जो सम्बन्ध है उसी दृष्टान्त का प्रयोग इस महान उद्देश्य को समझाने के लिए किया जाता है। जीवात्मा अविद्या की शक्ति से आवृत सर्वोपरि ब्रह्म नहीं, अपितु स्वयं ब्रह्म ही है जिसमें से एक गुण अदृश्य हो गया है। आत्मा दोनों ही है, अर्थात् कर्ता भी है और भोक्ता भी। यह आकार में आणविक है यद्यपि अपने ज्ञानरूप गुण के द्वारा समस्त शरीर में व्याप्त है ठीक जिस प्रकार चन्दन का ज्ञान अपनी सुगन्ध के द्वारा जहाँ नहीं है वहाँ भी हो जाता है। रामानुज की दृष्टि में जो एक ही परम सत्याश्रमता को मानते हैं और जो स्वायत्त सत्ता है ईश्वर तथा आत्मा के मध्य का भेद कभी नष्ट नहीं होता। रामानुज ईश्वर तथा आत्मा का सम्पूर्ण इकाई तथा उसके अंशों के रूप में प्रतिपादन करते हैं जहाँ कि अंश वस्तुतः पूर्ण इकाई के भिन्न-भिन्न महत्त्वों को प्रकट करते हैं, उनका सामानाधिकरण्य अथवा विशेषण-विशेष्य-भाव उनको अंशों के उसी एक इकाई के अन्दर निहित होने का निर्देश करता है। इसके विपरीत वल्लभ हमारे समक्ष शेलिंग के क्लीबागम के समान हो का एक विचार रखते हैं जिसमें भेद नष्ट हो जाते हैं, किन्तु रामानुज का मत अधिकतर हीगल के समान है।

इस माया-रूप जगत् को भी अयथार्थ नहीं माना गया है क्योंकि माया इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं जिसे ईश्वर स्वेच्छा से उत्पन्न करता है। ब्रह्म विश्व का नैमित्तिक तथा उपादान दोनों ही प्रकार का कारण है। वह केवलमात्र विश्व का रचयिता ही नहीं है अपितु स्वयं विश्व का रूप है।[4] वे बृहदारण्यक के वर्णन को स्वीकार करते हैं, अर्थात् ब्रह्म ने अनेक होने की इच्छा की और स्वयं उनको जीवात्माओं तथा जगत् के रूप में परिणत होकर प्रकट हो गया। ब्रह्म के अन्दर आत्म-अभिव्यक्ति की आन्तरिक इच्छा विद्यमान रहती है। वल्लभ के अनुसार, ईश्वर में वह शक्ति है जिसके द्वारा वह जगत् के विकास तथा विनाश को सम्भव बना सकता है। माया अविद्या से

१ प्रागभाव अर्थात् उत्पत्ति से पूर्व अभाव कारणात्मक अवस्था है, प्रध्वंसाभाव केवलमात्र कार्य के तिरोभाव हो जाने का ही नाम है।

२. १ : १, ४।

३. १ : १, ४ पर अणुभाष्य

४. अणुभाष्य १ : १, ४।

५. १ : ४, ३।

भिन्न है क्योंकि अविद्या वस्तुओ के एकत्व को आवृत किए रहती है तथा उस भेद के ज्ञान को भी उत्पन्न नही होने देती।[1] वल्लभ प्रकृति को क्रियाविहीन नही मानते क्योंकि उसके अन्दर ब्रह्म शक्ति देता है। यदि ब्रह्म स्वय नही जाना जाता, तो भी जब वह जगत् के रूप मे प्रकट होता है तब जाना जाता है।

किन्तु ससार अयथार्थ है। ससार को यथार्थ मानने मे तो आत्मा का व्यवहार ठीक है किन्तु जब वह इसको अनेकत्व के रूप मे देखती है तब उसका व्यवहार ठीक नही है। ससार सत्य है, यद्यपि हमारी उसकी प्रतीति सत्य नही है। हम यह नही अनुभव करते कि यह ससार केवल ब्रह्म की ही एक आकृति है। इस प्रकार जीव के मस्तिष्क मे जगत के स्वरूप का एक भ्रातिपूर्ण विचार बैठा हुआ है। उन व्यक्तियो की दृष्टि मे, जिन्होने सत्य को प्राप्त कर लिया है यह जगत् ब्रह्मरूप मे ही प्रकट होता है। और उन व्यक्तियो के लिए जिन्होने धर्मशास्त्रो के द्वारा सत्य का ज्ञान प्राप्त किया है, यह ब्रह्म तथा माया दोनो रूप मे प्रकट होता है और ब्रह्म के अतिरिक्त रूप मे भी, यद्यपि वे जानते है कि ब्रह्म यथार्थ है और माया यथार्थ नही है। अज्ञानी पुरुष ब्रह्म की यथार्थता तथा अनका प्रतीतियो की अयथार्थता के मध्य कोई भेद नही करते। यह प्रतीतिमात्र वस्तुए अपने को बाह्य तथा स्वतन्त्र रूप मे प्रकट करती है। अविद्या का स्थान मनुष्य के मस्तिष्क के अन्दर है। इस प्रकार वल्लभ जगत की अयथार्थता के विचार को उस रूप मे स्वीकार नही करते। यदि जगत् अयथार्थ है तो यह भी नही कह सकते कि वह ब्रह्म के साथ एकाकार है क्योंकि अयथार्थ वस्तु तथा प्रतीतिमात्र अयथार्थ वस्तु मे तादात्म्य का सम्बन्ध नही हो सकता। धोखे की सम्भावना तो है किन्तु वह ईश्वर द्वारा निर्धारित नही है।

माया के द्वारा जकडा हुआ जीव बिना ईश्वर की कृपा के मोक्ष प्राप्त नही कर सकता। मोक्ष का मुख्य साधन भक्ति है यद्यपि ज्ञान भी उपयोगी है। यदि हम ईश्वर के अन्दर श्रद्धा रखे तो सब पाप दूर हो सकते है। यह एक ऐसा सिद्धान्त है जिसे क्रियात्मक जीवन मे बहुत अतिशयोक्ति के साथ कहा जाता है। वल्लभ ने सब प्रकार की कठोर तपस्याओ को तुच्छ बताया है। यह शरीर ईश्वर का बनाया हुआ मन्दिर है और इसलिए इसे नष्ट करने का प्रयत्न करना कुछ अर्थ नही रखता। सर्वोपरि सत्ता के ज्ञान मे पूर्व कर्म का स्थान है और जब उसका ज्ञान प्राप्त हो जाता है तब भी कर्म विद्यमान रहते है। मुक्तात्मा पुरुष सब कर्मो को करते है। उच्चतम लक्ष्य मोक्ष नही है वरन् कृष्ण की निरन्तर सेवा है तथा दिव्य वृन्दावन की लीलाओ मे भाग लेना है। वल्लभ ब्रह्म की अतीन्द्रिय चेतनता मे और पुरुषोत्तम मे परस्पर भेद करते है।[3] जीवन की बाधाओ से मुक्ति-प्राप्त आत्माए भिन्न-भिन्न प्रकार की है। एक वे है जिन्होने अपने को पूर्व की अधीनता से मुक्त किया है, जैसे सनक ऋषि और जो ईश्वर की नगरी मे निवास करते है जहा उन्हे ईश्वर की कृपा से मोक्ष प्राप्त होता है। दूसरी वे है जो भक्ति का आश्रय लेती है और पूर्ण प्रेम का परिष्कार करके ईश्वर के सहचारी हो जाती है। वल्लभ ईश्वर के प्रति निष्काम प्रेम के जीवन पर अत्यन्त बल देते है।

१. सर्व, शुद्धाद्वैतमार्तण्ड।　　　३. अणुभाष्य, ४, ४, १।

२. वही, ४, ३, २७

एक पक्ष मे ब्रह्म और दूसरे पक्ष मे जीवात्माए तथा जड प्रकृति के मध्य का सम्बन्ध विशुद्ध ऐक्यभाव (तादात्म्य) का सम्बन्ध है, जैसे अश और अशी का परस्पर सम्बन्ध होता है। भेद को तो वल्लभ ने गौण बताया, किन्तु अभेद ही यथार्थ तथा मुख्य है। वे 'तत् त्वम् असि" (वह तू है) इस वाक्य की व्याख्या करते हुए कहते है कि यह अक्षरश सत्य है। किन्तु रामानुज तथा निम्बार्क इसे आलंकारिक अर्थो मे लेते है। जब आत्मा परमानन्द प्राप्त कर लेगी और जड जगत् चेतन्य तथा परमानन्द दोनो को प्राप्त हो जाएगा तब ब्रह्म तथा इनके मध्य का भेद सर्वथा मिट जाएगा यह एक ऐसी स्थिति है जिसे रामानुज स्वीकार नही करते।

१७

चैतन्य का आन्दोलन

दक्षिण भारत के वैष्णव मत ने वृन्दावन की लीला के गुणकीर्तन की ओर विशेष ध्यान नही दिया, यद्यपि कुछ आलवारो ने गोपियो के साथ कृष्ण की लीलाओ का वर्णन किया है। किन्तु उत्तर भारत मे स्थिति इससे भिन्न थी। निम्बार्क के मत मे राधा जो प्रियतमा उपपत्नी के रूप मे है, गोपियो मे केवल मुख्य ही न होकर कृष्ण की अनादिकाल से पत्नी है। गीतगोविन्द के रचयिता जयदेव विद्यापति, उमापति तथा चण्डीदास (चौदहवी शताब्दी) बगाल तथा बिहार मे राधाकृष्ण सम्प्रदाय के बढते हुए प्रभाव का दिग्दर्शन कराते है जिसका श्रेय शाक्तदर्शन की विचारधारा तथा व्यावहारिक प्रचलन को है। इस प्रकार के वातावरण मे प्रशिक्षण पाकर वैष्णव मत के एक महान् प्रचारक चैतन्य (पन्द्रहवी शताब्दी) विष्णुपुराण, हरिवश भागवत और ब्रह्मवैवर्त-पुराण मे दिए गए कृष्णविषयक वर्णन से प्रभावित हुए और उन्होने अपने व्यक्तित्व तथा आचरण से वैष्णव मत को एक नया रूप दिया। उनके उदार दृष्टिकोण तथा लोकतन्त्रात्मक सहानुभूति के कारण ने उनके अनुयायियो की सख्या मे वृद्धि की यद्यपि कट्टरपन्थियो मे उनकी चौका देने वाली कार्यप्रणाली से बहुत बेचैनी फैली। उन्होने बिना किसी रोक-टोक के इस्लाम धर्म से आने वालो को भी गले लगाया यहा तक कि उनके सबसे पहले शिष्यो मे एक मुसलमान फकीर भी था जिसने हरिदास के नाम से चैतन्य के वैष्णव सम्प्रदाय मे बडी ख्याति तथा आदर का स्थान पाया। उनके दो शिष्य रूप और सनातन हिन्दू-समाज से बहिष्कृत होकर मुसलमान हो गए थे, जिन्हे चैतन्य ने फिर से अपने सम्प्रदाय मे ले लिया। जीवगोस्वामी (सोलहवी शताब्दी) और उसके बहुत समय पश्चात् बलदेव ने चैतन्य के मत को दार्शनिक रूप दिया। इस सम्प्रदाय के दार्शनिक ग्रन्थो मे जीवगोस्वामी-कृत सत्सदर्भ तथा उसके ऊपर स्वय उसीका अपना भाष्य सर्वसवादिनी और ब्रह्मसूत्र पर बलदेव-कृत

गोविन्दभाष्य है। बलदेव की प्रमेयरत्नावली भी एक प्रसिद्ध पुस्तक है। ये लेखक रामानुज और मध्व के विचारों से भी प्रभावित हुए हैं।[1] ये पांच तत्त्वों को स्वीकार करते हैं: ईश्वर, आत्माएं, माया अथवा प्रकृति और स्वरूप शक्ति, जिसमें दो अवयव हैं ज्ञान तथा शुद्ध तत्त्व, अर्थात् शुद्ध प्रकृति तथा काल है।

ज्ञान के सिद्धान्तविषयक प्रश्न पर ऐसा कुछ नहीं है जो इस सम्प्रदाय का अपना विशेषत्व रखता हो। ज्ञान के साधनों के विषय में जो परम्परागत विवरण है, जिसमें वैदिक प्रामाण्य भी सम्मिलित है वही इस सम्प्रदाय को भी मान्य है। जीवगोस्वामी तर्क करते हैं कि साधारण बोधस्वरूप चेतना की एक अवस्था है जो आगे चलकर निश्चयात्मक ज्ञान में परिणत हो जाती है। असम्बद्ध तात्कालिक अनुभव निश्चयात्मक बोध के पूर्व आता है। पहला निर्विकल्प बोध है। निश्चयात्मक (सविकल्प) बोध मूल-रूप में इसके अन्दर विद्यमान रहता है। यह एक तथ्य है जो निर्विकल्प प्रत्यक्ष ज्ञान में विद्यमान रहता है वही विश्लेषण के बाद निश्चयात्मक ज्ञान में बोधगम्य होता है। परिणाम यह निकला कि निर्विकल्प ज्ञान चेतनता का एक तथ्य है और अन्तर्दृष्टि ज्ञान भी, जिसमें सम्बन्ध अनुपस्थित रहते हैं इसी प्रकार का है। जीवगोस्वामी ऐसे सर्वव्यापी को नहीं मानते जिसमें सब भेद सम्मिलित हों।[2] हमें पहले सर्वव्यापी का उसके अपने रूप में ज्ञान होता है और उसके पश्चात् सापाधिक सर्वव्यापी का ज्ञान होता है। ब्रह्म का अन्तर्दृष्टि द्वारा प्राप्त ज्ञान, जो शुद्ध तथा साधारण है जीवगोस्वामी की दृष्टि में चेतना का एक सन्देहरहित तथ्य है यद्यपि उसका अतीन्द्रिय होना आवश्यक है।

परम यथार्थ सत्ता विष्णु है जो प्रेम तथा दया का शरीरधारी ईश्वर है और जो साधारण सत्, चित् तथा आनन्द के गुणों को धारण किए हुए है। वह इन अर्थों में निर्गुण है कि वह प्रकृति के गुणों से रहित है और सगुण इसलिए है कि उसमें सर्वज्ञता तथा सर्वशक्तिमत्ता आदि गुण विद्यमान हैं। ये गुण उसमें स्वरूप-सम्बन्ध से लगे रहते हैं। ये ब्रह्म के स्वरूप को भी अभिव्यक्त करते हैं तथा उसके अन्दर निहित भी हैं। वही इस विश्व का विकास (उत्पत्तिस्थान), आधार तथा संहारक है और उपादान तथा निमित्त कारण भी है।[4] अपनी उच्चतर (परा) शक्ति के कारण वह इस विश्व का निमित्त कारण है और उपादान कारण अपनी अन्य शक्तियों के द्वारा है जिनका नाम अपरा शक्ति और अविद्याशक्ति है। उसकी पहली शक्ति अर्थात् पराशक्ति अपरिवर्तनीय है

१. प्रमेयरत्नावली, पृष्ठ ८। २. भागवतसंदर्भ, पृष्ठ ४४।

3 मध्व का अनुसरण करके बलदेव ने भी विशेष के सिद्धान्त को स्वीकार किया है यद्यपि वह इसे स्वरूपशक्ति तथा उसके परिवर्तन तक ही सीमित रखता है; क्योंकि संसार के भेद माने हुए तथ्य हैं और उनमें पहचान कराने के लिए किसी विशेष की आवश्यकता नहीं है।

४. वही, १:६, २६।

५. इसे श्री के समान बताया गया है। देखें, बलदेव, ३:३, ४० और ४२।

यद्यपि अपराशक्ति परिवर्तनों के अधीन है। ईश्वर का मुख्य स्वरूप प्रेम[1] और सुख की शक्ति है। अवतार सर्वोपरि ब्रह्म के तादात्म्य सम्बन्ध में हैं अन्य जीवात्माओं की भांति अंश नहीं है।[2] ईश्वर अनन्तरूप धारण करता है उनमें से प्रधान है कृष्ण का रूप, जिसका सर्वश्रेष्ठ सुख प्रेम में है। कृष्ण जब सर्वोपरि शक्ति का रूप धारण करता है तो उसके अन्दर चित् माया और जीव की तीन प्रधान शक्तियां आ जाती हैं। प्रथम शक्ति के द्वारा वह अपने बुद्धि तथा इच्छा के स्वरूप को स्थिर रखता है दूसरी शक्ति से सम्पूर्ण सृष्टि का निर्माण होता है तथा तीसरी शक्ति से जीव उत्पन्न होते हैं। कृष्ण की सर्वोच्च अभिव्यक्ति आह्लाद शक्ति में है। राधा उस आह्लाददायक शक्ति का सारतत्त्व है।[3] जीवगोस्वामी के अनुसार ईश्वर एक है और उसके समान कोई और नहीं है। यदि उसे अपने निजी स्वरूप में देखें तो वह ब्रह्म है और सृष्टि के कर्तारूप में देखें तो वह भगवान् है। ब्रह्म रूप में यह अमूर्त है और भगवान के रूप में वह मूर्त है। जीवगोस्वामी का कहना है कि उनके भगवान का रूप अधिक यथार्थ है। बलदेव के अनुसार सर्वोपरि सत्ता को हरि कहा जाता है, उसका ऐश्वर्य तथा ओजस्विता शरीरधारी नारायण के रूप में प्रकट होते हैं तथा उसका सौन्दर्य और परमानन्द कृष्ण के रूप में प्रकट होते हैं।

जगत् और उसके प्राणी ईश्वर की शक्ति के द्वारा ही प्रकट हुए हैं। वे उसके अधीन तथा आश्रित हैं यद्यपि उससे पृथक् तथा भिन्न हैं। ये न तो ईश्वर के साथ एकत्व मात्र रखते हैं और न ही उससे भिन्न हैं। इस प्रकार का अचिन्त्य भेदाभेद ही वस्तुओं के विषय में सत्य है।[4] यह जगत् तात्त्विक तथा यथार्थ है, भ्रान्तिमय नहीं है, इसे इसके स्वरूप के कारण माया कहते हैं क्योंकि यह मनुष्यों को अपनी ओर आकृष्ट करता है और ईश्वर से दूर रखता है। ईश्वर का सेवक माया की शक्ति के द्वारा जगत् का दास बन जाता है।

आत्मा प्रभु से भिन्न है क्योंकि प्रभु आत्मा का शासक (नियन्ता) है। ईश्वर सर्वव्यापक है जब कि जीवात्मा अणु आकार का है। जीवगोस्वामी के अनुसार, ईश्वर की स्वरूपशक्ति उसकी जीवशक्ति को सहारा देती है, जिसे तटस्थशक्ति भी कहा जाता है, जिसके द्वारा आत्माओं का निर्माण होता है। यह जीवशक्ति अपने क्रम में मायाशक्ति (अथवा बहिरंग शक्ति) को सहारा देती है। इनमें से कोई भी ईश्वर से पृथक् रहकर नहीं रह सकती। सृष्टिरचना के समय सर्वोपरि शक्ति प्रलय के ठीक पूर्ववर्ती जगत् के संगठन का स्मरण करती है और 'अनेक रूप होने की इच्छा करती है,' अर्थात् भोक्ता रूप आत्माओं तथा योग्य पदार्थों को पृथक् अस्तित्व देती है और वे उसीमें विलीन हो जाते हैं। वह महत् के महान तत्त्व से लेकर नीचे ब्रह्माण्ड और ब्रह्मा तक समस्त

१. प्रीत्यात्मा १ : ९, १।

२. स्वांश, अर्थात् मूल के समान अभिव्यक्ति तथा विभिन्नांश, अर्थात् मूल से पृथक् अंश: में भेद किया गया है। देखें, बलदेव २ : ३, ४७।

३. तुलना कीजिए, "कृष्णस्वरूपिणी परमानन्दरूपिणी" (ब्रह्मवैवर्तपुराण, ४ः ४, १७)।

४. अचिन्त्यभेदाभेद। ५. बलदेव, २ : २, ४१।

जगत् की रचना करती है। तब वह वेदों को प्रकट करती है, ठीक उसी व्यवस्था तथा प्रबन्ध के अनुसार जैसे कि वे पूर्व सृष्टि में थे और अपनी 'मानसिक' शक्ति द्वारा उन्हें ब्रह्मा के अन्दर संक्रमित करती है जो सृष्टि-रचना की अन्य स्थितियों का कर्ता है। वेदों की सहायता से ब्रह्मा मूलादर्श सम्बन्धी आकृतियों का स्मरण करता है और वैसे ही पदार्थों की रचना करता है जैसे पूर्वसृष्टि में थे। परिणाम यह निकलता है कि वेद जब इन्द्र इत्यादि के विषय में कुछ उल्लेख करते हैं तो ऐसे नमूनों का उल्लेख करते हैं जो नष्ट नहीं होते, यद्यपि व्यक्ति नष्ट हो जाते हैं।[1] जहां रामानुज आत्माओं तथा प्रकृति को ईश्वर के विशेषण रूप मानते हैं वहां जीवगोस्वामी तथा बलदेव उनको ईश्वर की शक्ति के व्यक्त रूप मानते हैं। उक्त दोनों विद्वान् जड़ प्रकृति को ईश्वर का विशेषण मानने के विरुद्ध हैं जिसके कारण ईश्वर के स्वरूप में एक प्रकार की विषमता आ सकती है। इस प्रकार जीवगोस्वामी प्रकृति को ईश्वर की बाह्य शक्ति करके मानते हैं जो प्रत्यक्ष रूप में उससे सम्बद्ध नहीं है, यद्यपि है उसीके वश में। बलदेव माया तथा प्रकृति को एक करके मानते हैं जिसमें ईश्वर के ईक्षण मात्र से गति आ जाती है।

जीवात्माएं माया की शक्ति के द्वारा संसार के बन्धनों से जकड़ी जाती हैं, जो कि उन्हें अपने वास्तविक स्वरूप को भुला देती है। किन्तु यदि हमारे अन्दर भक्ति हो तो कर्म की शक्ति पर विजय प्राप्त की जा सकती है।[2] कृष्ण के प्रति प्रेम (रति) का विकास करने से हमें दैवीय शक्ति का अन्तर्ज्ञान हो सकता है। राधा में प्रीति जो कृष्ण का प्रेम है उसमें ईश्वर का अपने प्राणियों के प्रति स्नेह प्रकट होता है। विश्व के स्रष्टा की यह इच्छा है कि उसके प्राणी मोक्ष-प्राप्ति की आशा से केवलमात्र उसी के साथ लगे रहें। काम अथवा यौन प्रेम से धार्मिक प्रेम को भिन्न बतलाया गया है। भक्ति मोक्ष का मार्ग है। वेदों तथा भागवत पुराण इत्यादि धार्मिक ग्रन्थों के स्वाध्याय पर बार-बार बल दिया गया है। गुरु के प्रति आदर का भाव एक प्रधान विशेषता है। धर्म-सम्बन्धी विषयों में ऐसा कहा गया है कि तर्क के ऊपर निर्भर करना उचित नहीं है। वर्ण तथा जातिगत भेदों को उपेक्षा की दृष्टि से देखा गया है। ईश्वर की कृपा के लिए कोई भी पुरुष अथवा स्त्री अत्यन्त नीच नहीं है। प्राणिमात्र के प्रति दया के नैतिक गुणों, नम्रता, शान्तभाव, सांसारिक इच्छाओं में अनासक्ति और हृदय की पवित्रता आदि पर बल दिया गया है।

प्रेम (प्रीति) के शाश्वत अनुभव में ही मोक्ष है। दिव्य लोक में स्थित आत्माएं अपने पद को ईश्वर के दास के रूप में अनुभव करती हैं और पूर्णरूप से उसके

१. बलदेव, १ : ३, ३०।

२. चैतन्य ने भक्ति की व्यावहारिक अवस्थाओं का स्वीकार किया है : (१) शान्त अथवा मौनभाव से ईश्वर का ध्यान; (२) दास्य अथवा ईश्वर की क्रियात्मक सेवा; (३) सख्य अर्थात् मित्रता; (४) वात्सल्य; (५) माधुर्य अथवा दाम्पत्य प्रेम की लोकोत्तरिक मधुरता। प्रत्येक अवस्था के अन्दर पूर्व की अवस्था अन्तर्हित रहती है, और इस प्रकार अन्तिम सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है। बंगाल का भक्ति-साहित्य मनोभावों के विश्लेषण से पूर्ण है। देखें, रूप कृत उज्ज्वलनीलमणि।

३. सच्चिदानन्दैकरसे भक्तियोगे तिष्ठति (गोपालतापनी)। देखें, बलदेव, ३ : ३, १२।

प्रति भक्तिभाव रखती है। प्रेम मोक्ष है। भक्ति ही यथार्थ में मुक्ति है। इसके द्वारा बार-बार जन्म लेने का बन्धन टूट जाता है और आत्मा ईश्वर की समानता के पद को प्राप्त करती है, यद्यपि कभी भी ईश्वर के अन्दर विलीन नहीं होती।[1] सत्तामात्र के अमूर्त सर्वव्यापी रूप में ईश्वर का अन्तर्ज्ञान, जीवगोस्वामी के अनुसार 'भगवान् के अन्तर्ज्ञान' का उपक्रम है और वह भगवान् समस्त चराचर जगत् की मूर्तरूप यथार्थ सत्ता है। प्रथम ज्ञान के कारण, निरपेक्ष तथा अन्तिम रूप नहीं है। और भगवान् का अन्तर्ज्ञान भक्ति के कारण केवल तभी प्राप्त किया जा सकता है जब कि शरीर का परित्याग कर दिया जाय। यद्यपि ब्रह्म के अन्तर्ज्ञान के विषय में जीवन्मुक्ति सम्भव है किन्तु भगवान् के प्रेम के लिए इसकी कुछ भी उपयोगिता नहीं।

जीवगोस्वामी विशेषणों के सिद्धान्त के स्थान पर, जिसका समर्थन रामानुज ने किया है, अपने शक्ति विषयक सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हैं। किन्तु यदि ईश्वर एक ऐसे गुण को धारण नहीं कर सकता है जो स्वरूप में उसकी सत्ता के विरुद्ध है तो वह ऐसी शक्ति को कैसे धारण कर सकता है जो उसी के समान उसकी सत्ता के विरुद्ध है? यद्यपि इस सम्प्रदाय से सम्बन्ध रखने वाले कुछ विद्वान् लेखक अपने को मध्व का अनुयायी कहते हैं किन्तु वस्तुतः विचार में वे रामानुज के अधिक निकट हैं क्योंकि वे तादात्म्य पर बल देते हैं, भले ही वे भेदों को स्वीकार करते हों। उक्त भेदों का कारण वे उन शक्तियों को बताते हैं जिनका सम्बन्ध किसी अचिन्त्य रूप में ईश्वर के साथ है। जीवगोस्वामी अपनी सर्वसंवादिनी में स्वीकार करते हैं कि हम ईश्वर तथा उसकी शक्तियों को न तो तादात्मक और न उससे भिन्न ही मान सकते हैं।

उद्धृत ग्रन्थ

एवेलॉन : 'महानिर्वाणतन्त्र।'
एवेलान : 'शक्ति एण्ड् शाक्त।'
बारनेट : 'दि हार्ट आफ इण्डिया।'
कारपेण्टर : 'मिडीवल थीइज्म इन इण्डिया।'
चटर्जी : 'काश्मीर शैविज्म।'
माधव : सर्वदर्शनसंग्रह, ५ और ६।
मध्व : 'कमेंटरीज ऑन दि भगवद्गीता, ब्रह्मसूत्र।'
सुब्बाराव-कृत अंग्रेजी अनुवाद।
नल्लस्वामी पिल्लै कृत : 'स्टडीज इन शैवसिद्धान्त।'
पद्मनाभाचार्य कृत : 'लाइफ एण्ड टीचिंग्स आफ दि मध्व।'
पोप : 'तिरुवासगम'
श्रीनिवास आयंगर : 'आउटलाइन्स ऑफ इण्डियन फिलासफी',
अध्याय दो और तीन। शिवसूत्रविमर्शिणी।

[1] बलदेव, ३ : १, १७।

ग्यारहवां अध्याय

उपसंहार

दार्शनिक विकास—समस्त दर्शन-पद्धतियों का समन्वय—दर्शन और जीवन—आधुनिक युग में दर्शनशास्त्र का ह्रास—वर्तमान स्थिति

१

दार्शनिक विकास

भारतीय विचारधारा के इतिहास में मानवीय पुरुषार्थ के कर्म क्षेत्र इस साधारण जगत् के पीछे विद्यमान एक ऐसे परलोक का आदर्श, जो इससे कहीं अधिक यथार्थ एवं अधिक दुर्बोध है और जो आत्मा का वास्तविक निवासस्थान है, भारतीय जाति के मस्तिष्क में निरन्तर चक्कर काटता रहा है। चिरन्तन दुर्बोध पहेली को सुलझाने के लिए मनुष्य के सतत पुरुषार्थ का और अपने को पशुओं के स्तर से ऊपर उठाकर नैतिक तथा आध्यात्मिक ऊंचाई तक पहुंचने के निरन्तर प्रयास का एक विलक्षण दृष्टान्त भारत देश में ही देखने को मिलता है। हम उक्त प्रकार के संघर्ष को चार सहस्र वर्षों तक पीछे की ओर जाकर (अथवा इससे भी अधिक पीछे की ओर जाकर, यदि सिन्ध और पंजाब में हुई पुरातत्त्व-सम्बन्धी खोजों पर विचार किया जाए तो, जो प्राचीन काल के इतिहास पर पड़ी हुई यवनिका को शनैः-शनैः उठाती जा रही हैं) ध्यानपूर्वक देख सकते हैं। इस प्रकार का बालसुलभ विश्वास कि इस जगत् का शासन सूर्य तथा आकाश के देवता करते हैं जो ऊंचे आकाश में बैठकर वहां से मनुष्यों के आचरण को ध्यान से निहारते रहते हैं कि कौन सरल और कौन कुटिल है; फिर ऐसा विश्वास कि वे देवता, जिन्हें प्रार्थना के द्वारा अपने अनुकूल किया जा सकता अथवा कर्मकाण्ड के द्वारा अपनी प्रार्थना को स्वीकार करने के लिए बाध्य किया जा सकता है, उसी एक सर्वोपरि यथार्थ सत्ता के रूप हैं, तथा इस प्रकार का दृढ़ विश्वास कि निर्मल तथा निष्कलंक आत्मा, जिसको जानना ही शाश्वत जीवन है, तथा मनुष्य की अन्तःस्थ आत्मा एक ही है, एवं भौतिकवाद, संशयवाद तथा दैववाद का उत्थान किंवा बौद्ध और जैन मत की नैतिक दर्शन-पद्धतियों द्वारा इनका दमन, जिन पद्धतियों का आधारभूत सिद्धान्त यह है कि

ईश्वर को मानें या न मानें सब प्रकार के पापों से दूर रहकर ही मनुष्य मानसिक, वाचिक तथा कर्म-सम्बन्धी दुष्कर्मों से छुटकारा पा सकता है ; भगवद्गीता का उदार ईश्वरवाद जो विश्वात्मा के अन्दर आध्यात्मिक पूर्णताओ के साथ-साथ नैतिक पूर्णताओ का भी आधान करता है , न्याय की ऐसी तर्कप्रधान योजना जो हमारे समक्ष ज्ञान के मुख्य-मुख्य विभागो को प्रस्तुत करती है और जो आज भी प्रयोग मे आ रही है ; प्रकृति के सम्बन्ध मे वैशेषिक की व्याख्या ; विज्ञान तथा मनोविज्ञान-सम्बन्धी साख्य के काल्पनिक विचार , योगदर्शन की मोक्ष-मार्ग की योजना , मीमासा के नैतिक तथा सामाजिक नियम तथा सर्वोपरि यथार्थ सत्ता की धार्मिक व्याख्याए, जिन्हे एकत्र करके शकर, रामानुज, मध्व और निम्बार्क, वल्लभ तथा जीवगोस्वामी ने हमारे समक्ष प्रस्तुत किया है इन सबने मिलकर मनुष्य जाति के इतिहास मे दार्शनिक विकास के एक अद्भुत अभिलेख का निर्माण किया है। आदर्श के पश्चात् आदर्श, सम्प्रदाय के पश्चात् सम्प्रदाय तार्किक क्रम मे हमारे समक्ष आते है। एक भारतीय का जीवन-क्रम सदा ही गतिमान रहा, ज्यो-ज्यो बढता गया विशेष आकार धारण करता चला गया, एव समय-समय पर अपने भौतिक, सामाजिक तथा सास्कृतिक सम्बन्धो के अनुसार परिवर्तित होता गया। प्रारम्भिक अवस्थाओ मे प्राचीन भारतीय प्रत्येक कार्य पहली बार ही करते थ क्योकि उनके आगे भूतकाल का ज्ञान मार्गप्रदर्शन के लिए नही था। इसके अतिरिक्त अनेको ऐसी कठिनाइया भी थी जिनका उन्हे सामना करना पडा जो आज नही रह गई है। इन सबके होते हुए भी विचार तथा व्यावहारिक जीवन के क्षेत्र मे उन्होने जो कुछ प्राप्त कर लिया वह बहुत है। किन्तु यह चक्र अभी पूर्ण नही हुआ है, न सभाव्य आकृतियो की शृङ्खला ही समाप्त हुई है, क्योकि वह चिरतन दुर्बोध पहेली अभी भी हमारा उपहास कर रही है। दार्शनिक ज्ञान अभी भी अपनी शैशव अवस्था मे है।

भारतीय विचारधारा का सर्वेक्षण, समस्त विचार-मात्र के सर्वेक्षण की भाति ही, प्रत्येक व्यक्ति के मन मे जीवन के रहस्य, उसकी विशालता तथा सौन्दर्य और उसे समझने के लिए मानवीय पुरुषार्थ के सम्बन्ध मे एक अद्भुत प्रभाव उत्पन्न करता है। विचारको की सुदीर्घ पक्ति ने मानवीय ज्ञान के मन्दिर मे कुछ न कुछ छोटा अश जोडने के लिए घोर सघर्ष किया है, और प्रयत्न किया है कि वे सदा अपूर्ण मानवीय ज्ञान के समूह मे कुछ न कुछ नवीन अश जोड सके। किन्तु मानवीय कल्पना उस आदर्श तक पहुच नही पाती जिसे वह न तो छोड ही सकती है और न पा ही सकती है। हम अपने चारो ओर के अन्धकार की गहराई के विषय मे कहीं अधिक अभिज्ञ है, अपेक्षा इस अन्धकार को दूर करने वाली उन क्षीण प्रकाश वाली मशालो की शक्ति के, जो हमे अपने पूर्व के महान् भूतकाल से दाय के रूप मे प्राप्त हो सकी है। दार्शनिको के समस्त प्रयत्नो के बाद आज भी हम अन्तिम समस्याओ के सम्बन्ध मे वही खडे है जहा युगो पूर्व भूतकाल मे थे और सम्भवत हम वही रहेगे जब तक मानव है क्योकि हम अपने परिमित शक्तिवाले मन की शृङ्खलाओ से रहस्यरूपी चट्टान के साथ प्रोमिथियस

के समान जकड़े हुए है।[1] तो भी दार्शनिक ज्ञान की प्राप्ति का प्रयत्न निष्फल नहीं जाता। यह हमें उक्त शृङ्खलाओं की पकड़ तथा उनकी झंकार को अनुभव करने में सहायक सिद्ध होता है। यह मानवीय अपूर्णता की चेतनता को तीक्ष्ण करता है और इस प्रकार हमारे अन्दर उस पूर्णता के भाव को गहरा करता है जो हमारे क्षणिक जीवन की अपूर्णता को प्रकट करती है। इसमें कुछ भी आश्चर्य न करना चाहिए कि यह संसार हमारी बुद्धियों के लिए इतना सुबोधगम्य क्यों नहीं है जैसा कि हम चाहते हैं, क्योंकि एक दार्शनिक विद्वान् केवलमात्र ज्ञान का प्रेमी है किन्तु ज्ञान का स्वामी नहीं है। हमें समुद्र यात्रा के अन्त से इतना प्रयोजन नहीं जितना कि स्वयं यात्रा से है। यात्रा करते रहना पहुंच जाने से भी उत्तम है।

अपने मार्ग के अन्त में हम पूछ सकते हैं कि क्या इतिहास के द्वारा जाने गए तथ्य हमारे उन्नति विषयक विश्वास का समर्थन करते हैं? मानवीय विचारधारा की गति आगे की दिशा में हुई अथवा पीछे की ओर रही? अनुक्रम स्वेच्छाचारी तथा अर्थविहीन नहीं होता। भारत उन्नति में विश्वास करता है क्योंकि, जैसा कि हम पहले कह चुके हैं, चक्र परस्पर एक आधारभूत बन्धन में बंधे रहते हैं। निरन्तरता का आन्तरिक सूत्र कभी टूटा नहीं; यहां तक कि ऐसी क्रान्तियों ने भी, जिन्होंने भूतकाल को ग्रसने की चेष्टा की, केवलमात्र फिर से उनकी स्थापना करने में सहायता ही की। पीछे की दिशा में लौटनेवाले भंवर भी धारा को पीछे हटाने की अपेक्षा परिणाम में आगे की ओर ही बढ़ाते हैं। सत्य तो यह है कि इस देश के निकट भूतकाल के समान ह्रास के युग भी, एक प्रकार से प्राचीन से अर्वाचीन की अथवा नवजीवन की दिशा में संक्रमण काल ही थे। उन्नति तथा अवनति की दोनों धाराएं साथ-साथ परस्पर जुटी रहीं। यह हो सकता है कि किसी समय उन्नति के दल दृढ़तापूर्वक सुधार के बहाव के साथ आगे बढ़े, तथा अन्य समय में उनकी पंक्ति कभी आगे बढ़ती, कभी पीछे हटती रही और कभी पश्चाद्गामी दल ने उन्नति को दबा दिया, किन्तु अन्ततोगत्वा हमारा ऐतिहासिक अभिलेख उन्नतिपरक ही है। इस बात से भी इन्कार नहीं किया जा सकता कि इस प्रक्रिया में बहुत-कुछ नष्ट भी हो गया। किन्तु ऐतिहासिक भूतकाल ने जिस मार्ग का अवलम्बन किया है उसके घेरा बांधने की अपेक्षा अथवा उसपर रोने की अपेक्षा कुछ-एक नष्ट हो गई वस्तुएं तुच्छ हैं। हरएक हालत में अन्य किसी प्रकार का विकास अधिक दोषयुक्त होता। अधिक महत्त्वपूर्ण है भविष्य। हम अपने पूर्वजों की अपेक्षा उनके कन्धों पर चढ़कर अधिक दूर तक देख सकते हैं। भूतकाल में उदारतापूर्वक जो नींव डाली गई है उनसे ही सन्तुष्ट रहने की अपेक्षा हमें एक ऐसा बृहत्तर भवन खड़ा करना चाहिए जिसमें प्राचीन प्रयासों तथा आधुनिक दृष्टिकोण में अनुकूलता हो।

१. जेनोफेनीज उच्चस्वर से कहता है कि "किसी ने भी देवताओं के विषय में और उसके विषय में, जिसे मैं सर्वव्यापक प्रकृति कहता हूं, सम्पूर्ण निश्चय प्राप्त नहीं किया है और न कोई उसे प्राप्त ही कर सकेगा। इतना ही नहीं, यदि मनुष्य को कभी सत्य का प्रकाश मिल भी जाए तो भी उसे यह ज्ञात न होगा कि उसे प्रकाश मिल गया है, क्योंकि प्रतीति समस्त वस्तुओं को आवृत किए हुए है।"

(गाम्पर्ज़ : 'ग्रीक थिंकर्स', खण्ड १, पृष्ठ १६४)

२

समस्त दर्शन-पद्धतियों का समन्वय

जो दो धाराए भारतीय विचारको के समस्त प्रयत्नो मे किसी न किसी रूप मे समानान्तर रूप मे पाई जाती है वे है प्रचलित परम्परा के प्रति निष्ठा तथा सत्य के प्रति भक्ति। प्रत्येक विचारक इस विषय को अनुभव करता है कि उसके पूर्वजो के सिद्धान्त ऐसी आधारशिलाए है जिनके ऊपर आध्यात्मिक भवन खडा है और यदि उनके ऊपर कलङ्क लगा तो उसकी अपनी सस्कृति की निन्दा होगी। एक ऐसी उन्नतिशील जाति जिसकी प्राचीन परम्परा इतनी समृद्ध हो, उसकी उपेक्षा नही कर सकती, यद्यपि इसमे कुछ तत्त्व हो सकते है जो ज्ञानवर्धक न हो। विचारकगण परम्परा से प्राप्त ज्ञान की व्याख्या करने, रूपक दृष्टान्तो द्वारा उसे पुष्ट करने, उसमे उचित परिवर्तन करने तथा आपत्तिजनक अशो को निकालकर उसमे सशोधन करने की पूरी-पूरी चेष्टा करते है, क्योकि मनुष्यो के मनोभाव उनके आस-पास केन्द्रित रहते है। परवर्ती भारतीय विचारक विश्व के सम्बन्ध मे पूर्वजो द्वारा दी गई भिन्न-भिन्न व्याख्याओ की न्यायोचितता का प्रतिपादन करते है और उन्हे मात्रा-भेद से सत्यरूपी इकाई के निकट पहुचते हुए पाते है। विभिन्न मतो को मानवीय मस्तिष्क के परस्पर असम्बद्ध प्रयास का रूप मानकर उपेक्षा नही की गई, क्योकि सभी प्रयास उसी एक अज्ञान के शासन-क्षेत्र मे किए गए है और न उन्हे दार्शनिक जिज्ञासाओ का एक सग्रह-मात्र ही माना गया। उन्हे इस प्रकार का रूप दिया गया है मानो वे एक ही मस्तिष्क के द्वारा प्रकट किए गए विचार है जिसने एक विशाल मन्दिर का निर्माण किया। भले ही वह नानाविध दीवारो और बडे-बडे कमरो, गलियारो तथा खम्भो मे विभक्त किया गया हो।

तर्क और विज्ञान, दर्शनशास्त्र तथा धर्म परस्पर सहयोगी-भाव से सम्बद्ध है। विचारधारा की प्रगति मे प्रत्येक नवीन युग तर्क-सम्बन्धी सुधार के साथ प्रारम्भ होता है। क्रियाविधि की समस्या बहुत महत्त्वपूर्ण है क्योकि मानवीय विचार के स्वरूप के साथ इसका विशेष सम्बन्ध है। न्याय का कहना है कि कोई भी स्थायी दर्शनपद्धति तर्क के आधार के अतिरिक्त किसी अन्य आधार पर नही बन सकती। वैशेषिक हमे सावधान करता है कि समस्त उपयोगी दर्शन के लिए भौतिक प्रकृति के सघटन का विचार करना आवश्यक है। हम बादलो के अन्दर किसी भवन का निर्माण नही कर सकते। यद्यपि भौतिक विज्ञान और अध्यात्मविद्या मे स्पष्ट अन्तर है और इन्हे एक-दूसरे मे मिलाया नही जा सकता, तो भी, एक दार्शनिक योजना का प्राकृतिक विज्ञान की खोज के परिणामो के साथ सगत होना अत्यन्त आवश्यक है। किन्तु, जो कुछ भौतिक जगत् के विषय मे सत्य है उसे समस्त विश्व के ऊपर लागू करने का तात्पर्य होगा कि हम वैज्ञानिक अध्यात्मविद्या सम्बन्धी हेत्वाभास मे पड गए है और सांख्य हमे उक्त प्रकार के सकट से बचने के लिए सावधान करता है। प्रकृति के साधन चेतना उत्पन्न नही कर सकते। हम प्रकृति और चेतना को एक दूसरे के अन्दर परिणत नही कर सकते

जैसा कि वैज्ञानिक और मनोवैज्ञानिक अध्यात्मविद्या करने का प्रयत्न करती है। यथार्थता केवल विज्ञान और मानवीय जीवन मे ही प्रकट नही होती अपितु धार्मिक क्षेत्र मे भी प्रकट होती है और यह योगदर्शन का विषय है। पूर्वमीमासा तथा वेदान्त दोनो ही नीतिशास्त्र तथा धर्म के ऊपर बल देते है। प्रकृति तथा मस्तिष्क के मध्य का सम्बन्ध दर्शनशास्त्र की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण समस्या है जिसे वेदान्त ने उठाया है : यह कहावत, कि सन्त पुरुष एक-दूसरे का विरोध नही करते, दर्शन-पद्धतियो के विषय मे भी सत्य है। न्याय-वैशेषिक का यथार्थवाद, साख्य-योग का द्वैतवाद तथा वेदान्त का एकेश्वरवाद परस्पर सत्य अथवा मिथ्याभेद से भिन्न नही है किन्तु कुछ-कुछ कमोबेश रूप मे सत्य होने के नाते भिन्न प्रतीत होते है।[1] वे क्रमश मदाधिकारी, मध्यमाधिकारी तथा उत्तमाधिकारी पुरुषो के अनुकूल है। भिन्न-भिन्न मत एक ही शिला के अन्दर से काटे गए और उसी एकमात्र इकाई के अशरूप है जो अखण्ड, सम्पूर्ण तथा आत्मनिर्भर है। विश्व-सम्बन्धी किसी भी ऐसी योजना को हम पूर्ण नही कह सकते जिसमे तर्कशास्त्र तथा भौतिकविद्या, मनोविज्ञान और नीतिशास्त्र, अध्यात्मविद्या और धर्म के भिन्न-भिन्न पक्षो का समावेश नही है। भारत मे जितनी भी विचारपद्धतियो ने विकास पाया उनमे से प्रत्येक के पास देने को अपना ज्ञान का सिद्धान्त, प्रवृत्ति तथा मस्तिष्क, नीतिशास्त्र और धर्म की स्वतन्त्र व्याख्या थी। विश्व के सम्बन्ध मे हमारा ज्ञान प्राकृतिक विज्ञानो की अधीनता मे अत्यधिक मात्रा मे बढ गया है और हम जीवन के किसी सकुचित दृष्टिकोण को लेकर अब सन्तुष्ट नही हो सकते। दार्शनिक रचनाओं के भावी प्रयत्नो को आधुनिक युग के प्राकृतिक विज्ञान के साथ सम्बद्ध रहना ही होगा।

३

दर्शन और जीवन

दर्शनशास्त्र का कार्य जीवन को व्यवस्थित करना और कर्म करने के लिए उचित मार्ग का प्रदर्शन करना है। उसका स्थान सबसे आगे है जहा से यह इस जगत् के परिवर्तनो तथा आकस्मिक घटनाओं के अन्दर मे हमे उचित मार्ग का निर्देश करता है। यदि दर्शनपद्धति सजीव हो तो जनसाधारण के जीवन तथा दर्शन मे दूरी का अन्तर नही रहता। विचारको के विचार उनके जीवन-काल की प्रक्रिया म विकास को प्राप्त होते है। हमे केवल मात्र उनके प्रति आदरभाव रखना ही न सीखना चाहिए अपितु उनके भाव को भी ग्रहण करना चाहिए। वसिष्ठ और विश्वामित्र, याज्ञवल्क्य और गार्गी,

१. माधव, सर्वदर्शनसंग्रह; मधुसूदन सरस्वती का प्रस्थानभेद ; विज्ञानभिक्षु कृत साख्यप्रवचन भाष्य की भूमिका। तुलना कीजिए, काण्ट। "हम एक प्रकार से मानवीय तर्क की प्रतिष्ठा का समर्थन करते है जब हम उसका उसके अपने साथ समन्वय करते है, भिन्न-भिन्न व्यक्तियो के विचारो में और सत्य की खोज कर लेते है जिसे इस प्रकार के पूर्णता प्राप्त विद्वान् कभी भी त्याग नही कर सकते, भले ही ये प्रत्यक्ष रूप में एक-दूसरे का विरोध करते हो" (जे० वार्ड कृत 'ए स्टडी आफ काण्ट' नामक पुस्तक में पृष्ठ ११, टिप्पणी १, में उद्धृत)।

बुद्ध और महावीर, गौतम और कणाद, कपिल और पतञ्जलि, बादरायण और जैमिनी, शङ्कर और रामानुज ये नाम केवल इतिहासकारों के विषय न होकर ऐसे व्यक्तियो के नाम है जिनका व्यक्तित्व आदर्शरूप था। उनके लिए दर्शनशास्त्र ससारसम्बन्धी ऐसा विचार है जो चिन्तन और अनुभव के ऊपर आधारित है। विचार के अपने विषय मे जब पूरा अन्त तक विचार किया जाता है तो वह ऐसे धर्म का रूप धारण कर लेता है जिसे जीवन मे धारण किया जाता है तथा जीवन की सबसे श्रेष्ठ कसौटी पर कस लिया जाता है। दार्शनिक अनुशासन एक प्रकार से धार्मिक व्यवसाय की पूर्ति भी है।

४

आधुनिक युग में दर्शनशास्त्र का ह्रास

इस ग्रन्थ मे एकत्रित प्रमाणो के आधार पर इस सामान्य समालोचना की पुष्टि नही होती कि भारतीय मस्तिष्क विचारभीरु है। भारतीय विचारधारा की समस्त उन्नति को हम एक ऐसे मस्तिष्क का प्रशसात्मक उल्लेख करते समय उपेक्षा की दृष्टि से नही देख सकते जो कि इतना अधिक शुष्क और पौरुषहीन हो कि विषम कल्पना तथा बालोचित पुराण विद्या से ऊपर न उठ सकता हो। तो भी विचारधारा के उस इतिहास मे, जो विगत तीन-चार शताब्दियो का उपलब्ध है, ऐसी पर्याप्त सामग्री विद्यमान है जो उक्त आक्षेप का गम्भीरता के साथ मुकाबला कर सके। भारत वर्तमान समय मे एशिया के देशो म उच्च श्रेणी के ज्ञान के क्षेत्र मे, जो इसका सबसे आगे बढकर ऐतिहासिक महान् कार्य रहा है, उसे नही निभा रहा है।[1] कुछ लोगो को ऐसा प्रतीत होता है कि वह नदी, जो शताब्दियो तक बडे वेग के साथ पूरी भरी हुई बहती रही है, अब एक खडे हुए अनुपयोगी तथा दूषित जल के रूप मे परिणत हुआ चाहती है। इस पतनोन्मुख काल के दार्शनिक, अथवा यो कहना चाहिए कि दार्शनिक विषय के लेखक, सत्य के उपासक होने का दावा करते है, यद्यपि इस दावे से उनका तात्पर्य सदाशयपूर्ण

१. चीन के भारत से ऋणी होने के सम्बन्ध मे प्रोफेसर लियागची चो का कहना है: "भारत ने हमे निरपेक्ष मोक्ष के विचार को अपनाने की शिक्षा दी। यह मस्तिष्क की वह मौलिक स्वतन्त्रता है जो उसे प्राचीन परम्परा के अभ्यास तथा किसी कालविशेष के रीति-रिवाजो के समस्त बन्धनों को तोड डालने के योग्य बनाती है, ऐसी आध्यात्मिक स्वतन्त्रता, जो भौतिक जीवन की दासता की ओर ले जाने वाली शक्तियो का भी उच्छेद कर देती है।...भारत ने ही हमें परमार्थ प्रेम सिखाया, प्राणीमात्र के प्रति ऐसा निर्दोष प्रेम जो ईर्ष्या, क्रोध, अधीरता, घृणा तथा प्रतिस्पर्धा के समस्त उद्वेगों को निकाल फेंकता है, और जिसकी अभिव्यक्ति मूर्खो, दुष्टों तथा पापिष्ठ पुरुषो के प्रति अगाध करुणा तथा सहानुभूति के रूप मे देखी जा सकती है। यह ऐसा निरपेक्ष प्रेम है जो समस्त प्राणियो के अन्दर अभेद को मान लेता है।" आगे चलकर वे चीन के साहित्य, कला, सगीत, स्थापत्य कला, चित्रकारी, नक्षत्रकला, नाट्यशास्त्र, काव्य, पुराण, ज्योतिष विद्या एव चिकित्साशास्त्र, शिक्षा-पद्धति तथा सामाजिक संघटना के क्षेत्रों में जो भारत की देन है उसका विवरण देते है। देखें, 'विश्वभारती क्वार्टर्ली', अक्तूबर, १९२४। बर्मा तथा लका, जापान तथा कोरिया पर भारत का प्रभाव सुप्रसिद्ध है।

वितण्डावाद से अथवा किसी न किसी अति पवित्र हठधर्मी सम्प्रदाय के सम्बन्ध मे बाल की खाल निकालने से होता है। ये व्यवसायी तार्किक कल्पना कर लेते है कि जो क्षुद्र नदी उनके समीप है और मन्द प्रवाह के साथ बालू मे समाने जा रही है अथवा जो कुहरे के साथ-साथ वाष्प बनती जा रही है, वह भारतीय दर्शनशास्त्र की विस्तृत धारा है।

नानाविध कारणो से उक्त परिणाम निकलता है। मुसलमानो का आधिपत्य स्थापित होने के कारण जो राजनैतिक परिवर्तन इस देश मे हुए, उन्होने यहा के निवासियो के मतो को कट्टरता के साचे की ओर मोड दिया। एक ऐसे युग मे, जब कि वैयक्तिक स्वाधिकार की अधिकामना और व्यक्तिगत निर्णय को पग-पग पर अराजकता का भय था, तब पुरानी सामाजिक व्यवस्था और समस्त स्थायी निश्चयात्मक विश्वास तथा प्रामाणिक अधिकार की तुरन्त आवश्यकता प्रतीत हुई। मुसलमानो की विजय ने, जिसके साथ उनका प्रचार-कार्य भी रहता था और उसके पश्चात् ईसाई मत के आन्दोलन ने हिन्दू समाज की स्थिरता को हिला डालने का प्रयत्न किया और इसलिए एक ऐसे युग मे जिसे अपनी अस्थिरता का गहरा ज्ञान हो, प्रमाण ही स्वभावत एकमात्र ऐसी चट्टान थी जिसके ऊपर सामाजिक रक्षा तथा नैतिक व्यवस्था का पालन-पोषण हो सकता था। हिन्दू जाति ने संस्कृतियो के सघर्ष के अन्दर अपने को परम्परागत रूढियो के दुर्ग मे बन्द कर लिया और समस्त आक्रमणकारी विचारो के प्रवेश पर रोक लगा दी। हिन्दू-समाज ने तर्क पर अविश्वास करके और प्रेमवश होकर अपने को प्रमाण की भुजाओ मे लिपट जाने के लिए छोड दिया जिसने सब प्रकार के सन्देहात्मक प्रश्न को पाप का रूप दे दिया। उसी समय मे यह अपने उद्देश्य के प्रति निष्ठा रखने मे असफल रहा। अब आगे चलकर विचारक तो नही रहे, केवल विद्वान् रह गए जिन्होने कोई नया विचार जनता को देने मे इन्कार किया और पुराने ही विषयो को प्रतिध्वनित करने मे सन्तोष अनुभव किया। कुछ शताब्दियो तक वे अपने-आपको इस प्रकार धोखा देने मे सफल रहे जिसे उन्होने कल्पना रूप मे अन्तिम सिद्धान्त समझा। जब दर्शनशास्त्र के क्षेत्र मे रचनात्मक भाव निकल गया तब भ्रमवश दार्शनिक इतिहास को ही दार्शनिक ज्ञान मान लिया गया। इसने अपना असली कार्य त्याग दिया और यह भ्रमात्मक विचारो मे ही आबद्ध रह गया। और जब यह सामान्य तर्क का पथप्रदर्शक अथवा सरक्षक न रहा तो उसने अपने प्रति भी बहुत बडा अन्याय किया। अनेक व्यक्तियो का ऐसा विश्वास हो गया कि उनकी जाति ने बहुत लम्बी यात्रा की है और अब अन्त मे जाकर वे लोग अपने लक्ष्य तक पहुच गए है। उन्होने अपने को शान्त अनुभव किया और समझ लिया कि अब उन्हे विश्राम करने की आवश्यकता है। यहा तक कि वे व्यक्ति भी जो जानते थे कि वे अभी लक्ष्य पर नही पहुचे और एक अत्यन्त विस्तृत क्षेत्र भविष्य मे आगे है, अज्ञात शक्ति तथा उसके दैवीय कोप मे डरते थे। दुर्बलहृदय व्यक्ति मोत तथा नित्यता-सम्बन्धी विषयो पर बिना भय की आशका के प्रश्न नही उठा सकते। अनन्त के विषय की चकरा देने वाली खोज एक प्रकार का एक ऐसा सिरदर्द है जिससे बड़े-बडे मस्तिष्क भी यदि बच सके तो बचना

चाहेंगे। अत्यन्त बलवती शक्तियों के अन्दर भी बीच-बीच में आलस्य आ जाता है और इसी मनोवैज्ञानिक सत्य के अनुसार दर्शनविषयक मानसिक प्रेरणा के ऊपर भी इन तीन-चार शताब्दियों में आलस्य अथवा निष्क्रियता का आक्रमण हुआ।

५

वर्तमान स्थिति

आज संसार के महत्त्वपूर्ण धर्मो तथा विभिन्न विचारधाराओं का संगम भारत की भूमि पर हुआ है। पश्चिम की जीवन्त विचारधारा के साथ जो सम्पर्क हुआ उसने आधुनिक काल के प्रशान्त तथा सन्तोषमय वातावरण में क्षोभ उत्पन्न कर दिया है। एक भिन्न संस्कृति को आत्मसात् कर लेने का असर यह हुआ कि अन्तिम समस्याओं का कोई सम्प्रमाणित उत्तर नहीं है, ऐसा माना जाने लगा है। इसने परम्परागत समाधानों के अन्दर जो विश्वास हो सकता था उसे हिला दिया और किसी अंश में एक विस्तृत स्वातन्त्र्य तथा विचार की नमनशीलता को सहायता पहुंचाई है। परम्परा ने फिर से प्रगतिशील रूप धारण कर लिया है जब कि कुछ विचारक अभी भी भवन का निर्माण प्राचीन नींवों के आधार पर ही करने में प्रयत्नशील है। दूसरी ओर अन्य विचारक उन नींवों को एकदम उखाड़ फेंकना चाहते है। यह संक्रमण का वर्तमान युग जहां एक ओर हितकारक है, वहा चिन्ता का कारण भी हो सकता है।

निकटवर्ती भूतकाल मे अभी तक भारत अपने समकालीन विचार की प्रचलित और भरपूर धारा के बाहर एक ओर लङ्गर डाले मजे मे पड़ा था, किन्तु अब यह शेष जगत् मे पृथक् नही रह सकता। आगामी तीन-चार शताब्दियों के इतिहास-लेखक भारत तथा यूरोप के मध्य पारस्परिक आदान-प्रदान के विषय मे बहुत-कुछ कह सकेंगे; किन्तु अभी तक तो हमारी दृष्टि से वह सब परे है। जहां तक भारत का सम्बन्ध है हम देख रहे है कि व्यक्तियो के अनुभव का क्षेत्र विस्तृत हो रहा है, समालोचनात्मक भावना की वृद्धि तथा कोरी कल्पना के प्रति अरुचि को भी हम लक्ष्य करते है।

किन्तु इस चित्र का एक दूसरा पार्श्व भी है। विचार तथा कार्य दोनो के क्षेत्र मे एवं अव्यवस्था तथा दासता दोनो ही अवस्थाओं मे, मनुष्य के आत्मबल का ह्रास हो जाना निश्चित है। जहा तक संस्कृति तथा सभ्यता का सम्बन्ध है उसके लिए दोनों अवस्थाएं एक समान है। अव्यवस्था का तात्पर्य हो सकता है भौतिक असुविधा, आर्थिक तबाही तथा सामाजिक भय और दासता का तात्पर्य भौतिक सुख, आर्थिक स्थिरता और सामाजिक शान्ति भी हो सकता है। किन्तु सभ्यता के मानदण्डों तथा आर्थिक कल्याण एवं सामाजिक व्यवस्था के रक्षण को एक समान समझ लेना अनुचित होगा। हमारे लिए उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भिक काल के भारतवासियों की भावनाओं को समझ लेना आसान है, जिन्होंने पीढियो तक चलनेवाले सार्वजनिक कलह तथा व्यक्तिगत दुःखो को सहने के बाद ब्रिटिश शासन का स्वागत एक स्वर्ण युग का प्रभात मानकर किया। किन्तु साथ-साथ हमें आधुनिक युग के भारतवासी की भावनाओं

के प्रति भी सहानुभूति प्रकट करनी चाहिए क्योंकि मनुष्य की आत्मा की उत्कट अभिलाषा केवल आराम पाने की ही नही होती वरन् सुख-समृद्धि प्राप्त करने की भी होती है, शान्ति तथा शासन-व्यवस्था ही की नही वरन् जीवन तथा स्वातन्त्र्य-लाभ की भी होती है, तथा केवल आर्थिक स्थिरता अथवा न्यायोचित शासन की ही नही, अपितु अपनी मुक्ति के लिए अधिकारपूर्वक कार्य करने की भी होती है, चाहे उसके लिए उसे कितना ही कठोर परिश्रम तथा क्लेश क्यो न उठाना पड़े। यहा तक कि ऐसे सद्गुण भी जिनका राजनीति के साथ साक्षात् सम्बन्ध नही है राजनैतिक स्वराज के अभाव मे नही फलते-फूलते। ब्रिटिश शासन ने भारत को शान्ति तथा सुरक्षा अवश्य दी, किन्तु यह अपने-आप मे लक्ष्य नही है। यदि हम प्राथमिक वस्तुओ को प्रथम स्थान मे रखे तो हमे स्वीकार करना होगा कि आर्थिक स्थिरता और राजनैतिक सुरक्षा कितनी ही महत्त्वपूर्ण तथा आवश्यक क्यो न समझी जाए आध्यात्मिक स्वातन्त्र्य के केवल साधन-मात्र है। एक नौकरशाही का निरकुश शासन, जो अपनी अखण्डता तथा प्रकाशन के लिए आध्यात्मिक उद्देश्यो को भुला देता है अपनी शासित प्रजाओ को शक्तिशाली नही बना सकता और इसीलिए उनके अन्दर कोई जीवन्त प्रतिक्रिया को भी उत्पन्न नही कर सकता। जब जीवन के स्रोत सूखे जा रहे हो, जब कि ऐसे आदर्श जिनको जाति ने सहस्रो वर्ष तक अपनाया हो, व्यक्तिगत भावनाओ तथा विचारो की समष्टिविषयक प्रभा, कार्यदक्षता का स्वतन्त्र प्रयोग, जीवन का अभिनय, मन की प्रसन्नता तथा शान्ति की पूर्णता, प्राणारामम्, मन-आनन्दम्, शान्ति-समृद्धम् ह्रास को प्राप्त हो रहे हो तो यह कोई आश्चर्य का विषय नही कि क्यो भारतीय एक बोझ के उठ जाने के स्थान पर कुचल डालने वाले बोझ को ही अनुभव न करता। उसकी दृष्टि म ब्रिटेन के कार्य की विशालता के विषय मे कुछ कहना कोई अर्थ नही रखता, क्योकि इतिहास सिद्ध कार्यो के धार्मिक स्वरूप को लेकर अपना निर्णय देता है। इसलिए यदि अर्वाचीन पीढियो के नेता लोग केवल भूतकाल की ही नकल से सन्तुष्ट रहे और स्वतन्त्र अनुसन्धान न कर सके, एव यदि वे मौलिक विचार न देकर ज्ञान के क्षेत्र मे केवलमात्र मध्यस्थ बने रहे तो इस अनुत्पादकता का कारण अधिकाश मे पाश्चात्त्य भावना का आघात तथा दासता की लज्जापूर्ण अवस्था है। ब्रिटिश जाति को भारत की वर्तमान प्रवृत्ति के बद्धमूल कारणो का पूरा-पूरा पता है जिन्हे चाहे जिन नामो मे भी पुकारा जाए और वे है -विक्षोभ (अशान्ति), विद्रोह अथवा चुनौती। ब्रिटिश जाति ने अपनी उस सभ्यता को यहा फैलाने का प्रयत्न किया जिसे वह स्वभावत. उच्चतर भारतवासियो को प्रभावित कर सकने वाली समझती है और उसने अनुभव किया कि प्रकाश फैलाने तथा शिक्षा के कार्य मे, जो अपने म अवश्य उत्तम है, बिना किसी हिचकिचाहट के बराबर बल देते रहना चाहिए। किन्तु भारत को इस प्रकार के सास्कृतिक साम्राज्यवाद के प्रति कोई सहानुभूति नही है। वह दृढ आग्रह के साथ अपने प्राचीन रीति-रिवाजो मे अनुरक्त है जिन्होने उसकी वासनाओ की बाढ को तथा आवेश की अन्धता और इच्छा के प्रचण्ड आक्रमण को नियन्त्रण मे रखने मे सहायता की है। ऐसा व्यक्ति, जो इस देश के भूतकाल के इतिहास से परिचित है, इसकी अपने धार्मिक आवास के ही अन्दर बने रहने

की उत्सुकता के प्रति अवश्य सहानुभूति प्रकट करेगा, क्योंकि "प्रत्येक मनुष्य अपने गृह का स्वामी है।"[1] राजनैतिक दासता को, जो इस आभ्यन्तर स्वतन्त्रता में बाधा पहुंचाती है, अत्यधिक अपमान की वस्तु समझा जाता है। स्वराज्य की पुकार आत्मा के अधिकार-क्षेत्रों की सुरक्षा के लिए व्यग्रता को प्रकट करने का बाह्य रूप है।

अभी भी भविष्य आशामय है। यदि भारत स्वतन्त्रता प्राप्त कर ले तो पश्चिम की भावना भारतीय मस्तिष्क के लिए अत्यन्त सहायक होगी। संस्कृति के क्षेत्र में हिन्दू विचारधारा ने कभी 'मनरो के सिद्धान्त' को नहीं अपनाया। यहां तक कि प्राचीन काल में जब भारत पर्याप्त मात्रा में आध्यात्मिक भोजन उत्पन्न करता था जिससे वह अपने देशवासियों को पूर्णतया तृप्त कर सके, उस काल में भी ऐसा कोई उल्लेख नहीं पाया जाता कि वह अन्य देशों के निवासियों की कल्पना से उत्पन्न विचारों को ग्रहण करने के लिए उद्यत एवं उत्सुक न रहा हो। अपने उन्नत काल में भी भारत ने एथेंस के निवासियों के ज्ञान को अपनाया जिनके विषय में पेरिक्लीज ने कहा है "हम प्रसन्नता-पूर्वक अन्यों की सम्मतियों को ध्यान से सुनते हैं और जो हमसे मतभेद रखते हैं उनसे भी मुंह नहीं फेरते।" हमारे अपने अन्दर जितनी ही अधिक निर्बलता तथा विश्वास की न्यूनता होगी, उतना ही अधिक हमें बाह्य प्रभाव का भय सताएगा। यह सत्य है कि हमारे चेहरे पर दुःख की रेखाएं पड़ी हुई हैं और वृद्धावस्था के कारण हमारे केश भी श्वेत हो गए हैं। हमारे अन्दर जो विचारशील व्यक्ति हैं वे आत्मा की अशान्ति के कारण गहन चिन्ता में मग्न हैं, कुछ तो अत्यधिक उदासीनता में डूबे हुए हैं और इस प्रकार बुद्धि के क्षेत्र में एक प्रकार से वानप्रस्थ लिये बैठे हैं। पश्चिम की संस्कृति के साथ असहयोग अस्वाभाविक परिस्थितियों के कारण एक अस्थायी उपाख्यान-मात्र है। इस सबके होते हुए भी पश्चिम की संस्कृति को समझने तथा उसके महत्त्व को जानने के प्रयत्न हो रहे हैं। यदि भारत पश्चिमी सभ्यता के महत्त्वपूर्ण अंशों को आत्मसात् कर ले तो यह केवल उन समानान्तर प्रक्रियाओं की, जो भारतीय विचारधारा के इतिहास में अनेकों बार हो चुकी हैं, एक पुनरावृत्ति-मात्र होगी।

ऐसे व्यक्ति जो पाश्चात्त्य प्रभाव से बचे हुए हैं, अधिकतर बौद्धिक तथा नैतिक विशिष्ट वर्ग के हैं जो राजनीति-सम्बन्धी विवेचनीय विषयों के प्रति उदासीन हैं और विश्वासपूर्ण आशा के विपरीत त्याग और अनासक्ति के आचरण को अपनाए हुए हैं। वे सोचते हैं कि उन्हें सीखने या भुलाने को कुछ नहीं है और यह कि वे भूतकाल के सनातन धर्म पर दृष्टि गड़ाए हुए अपने कर्त्तव्य का पालन करते हैं। वे अनुभव करते हैं कि अन्य शक्तियां कार्य कर रही हैं जिन्हें न तो वे रोक सकते हैं और न उनके ऊपर कोई नियन्त्रण ही रख सकते हैं और इसलिए वे हमें जीवन के विप्लवों तथा मायाजाल का सामना आत्मसम्मान, धैर्य तथा शान्ति के साथ करने का परामर्श देते हैं। यह वह वर्ग है जो अच्छे समय में अधिक नमनशील था तथा युक्तिपूर्ण दर्शनशास्त्र का ईश्वरीय ज्ञान-रूप धर्म के साथ समन्वय करने की दिशा में किए गए प्रयत्नों को सदा ही दोहराता

१. "सर्वः स्वे स्वे गृहे राजा"—प्रत्येक मनुष्य अपने घर में स्वामी है।

रहता था। इसने सदा ही विधर्मी तथा नास्तिकों के मुकाबले में धर्म की उचित व्याख्या तथा रक्षा की और ईश्वरज्ञान-सम्बन्धी व्याख्या को दृष्टान्त के द्वारा समझाने के उपाय का अवलम्बन किया। इस वर्ग की दृष्टि में धर्म के क्षेत्र के अन्दर मनुष्य का सम्पूर्ण स्वभाव, उसकी बुद्धि, तथा यहां तक कि उसकी क्रियात्मक और भावनामय महत्त्वाकांक्षाएं भी समाविष्ट होती हैं। आधुनिक काल में यदि प्राचीन विद्या के प्रतिनिधि भूतकाल से प्रेरणा लें तो वे अन्य शक्तियों के साथ सहयोग करने की अपेक्षा मौलिकता तथा स्वातन्त्र्य के साथ एक नवीन योजना का निर्माण कर सकेंगे क्योंकि उनके पास पूर्वजों के ज्ञान की शक्ति है। किन्तु ऐसा न करके वे विचार तथा कर्म दोनों ही के द्वारा आध्यात्मिक तथा लौकिक दोनों ही विषयों में शास्त्र-प्रमाण के लिए अतिशय आदर का भाव रखते हैं। और इस प्रकार के आचरण से वे अपनी मानसिक दासता तथा सुधारविरोधी मन-सम्बन्धी आक्षेपों के पात्र बनते हैं। जहां एक ओर मुसलमानों के आने से पूर्व शास्त्रप्रमाण की दुहाई बौद्धिक स्वतन्त्रता के मार्ग में कोई बाधा उपस्थित नहीं करती थी और जब मनुष्य अपने अभिमत प्रामाणिक ग्रन्थों के प्रति भक्ति-प्रदर्शन के लिए, चाहे वे वेद हों या आगमग्रन्थ हों, युक्तिपूर्ण आधार उपस्थित करने के योग्य तथा उसके लिए उद्यत थे और उस समय शास्त्रप्रमाण भी तर्क की ही वाणी में कथन करता था, क्योंकि समालोचनात्मक चुनाव तथा उसकी दार्शनिक व्याख्या को अपनाया जाता था, किन्तु अब शास्त्रप्रमाण के प्रति आदर मानवीय भावना की सीमा के अन्दर आबद्ध हो गया है। शास्त्रों के मत पर शङ्का करना महान् भूतकाल की प्रामाणिकता के ऊपर आक्षेप करना है और उसे स्वीकार कर लेना शास्त्र के प्रति भक्ति का लक्षण है। जिज्ञासा और संशय, दोनों का ही मुंह प्राचीन ग्रन्थों का उद्धरण देकर बन्द कर दिया जाता है, वैज्ञानिक सत्यों को यदि वे रूढ़िगत मन्तव्यों के प्रतिकूल ठहरते हों तो तुच्छ माना जाता है। अकर्मण्यता, वश्यता और मौन स्वीकृति सबसे मुख्य बौद्धिक गुण हो गए हैं। आधुनिक काल के दार्शनिक लेख यदि प्राचीन युग के सर्वोत्तम ग्रन्थों के स्तर से अत्यन्त नीचे पाए जाते हैं तो इसमें कुछ आश्चर्य नहीं है। यदि विचारधारा के ऊपर इसमें कम दबाव रहता तो यह कहीं अधिक विस्तीर्ण होती।

भारत के विचारक तर्क के प्रति श्रद्धा रखने की महान् परम्परा के उत्तराधिकारी हैं। प्राचीन ऋषि लोग नकल करने की नहीं, वरन् नवीन रचना की इच्छा रखते थे। वे सदा ही सत्य के लिए नये-नये क्षेत्रों पर विजय प्राप्त करने तथा जीवन की समस्याओं का समाधान करने के लिए आतुर रहते थे, क्योंकि जीवन सदा परिवर्तनशील है और इसीलिए नवीन रहता है। उत्तराधिकार की बहुमूल्यता ने कभी उनके मस्तिष्क को दास नहीं बनाया। हम भूतकाल के समाधानों की केवल नकल करके ही सफल नहीं हो सकते, क्योंकि इतिहास सदा एक समान नहीं रहता। उन्होंने अपनी पीढ़ी में जो कुछ किया उसका फिर से किया जाना आवश्यक नहीं है। हमें अपनी आंखें खोलकर रखनी चाहिए, अपनी समस्याओं का पता लगाना चाहिए और उनके समाधान के लिए भूतकाल से प्रेरणा लेने की चेष्टा करनी चाहिए। सत्य की भावना एक ही समान आकृतियों में संलग्न नहीं रहती, वरन् सदा उन्हें नवीन रूप देती रहती है।

यहां तक कि पुरानी वर्णनपद्धति का भी नवीन रूप में प्रयोग किया जाता है। वर्तमान समय का दर्शनशास्त्र वर्तमान के साथ संगत होगा तथा भूतकाल के साथ संगत नहीं होगा। यह अपनी आकृतियों में तथा विषयवस्तु में इतना ही मौलिक होगा जितना कि वह जीवन जिसकी यह व्याख्या करता है। चूंकि वर्तमान भूतकाल के साथ शृंखलाबद्ध है इसलिए भूतकाल के साथ तारतम्यभाव में कोई सम्बन्ध-विच्छेद न होगा।

अनुदार विचारवाले व्यक्तियों का एक तर्क यह भी है कि सत्य पर काल का प्रभाव नहीं होता। यह कभी निष्प्रभाव नहीं होता और सूर्यास्त के सौन्दर्य तथा बच्चे के प्रति मा के प्रेम के समान सदा एकरस रहता है। सत्य निर्विकल्प हो सकता है किन्तु वह रूप जिसमें यह प्रकट होता है ऐसे अवयवों से मिलकर बना है जिनके अन्दर परिवर्तन सम्भव है। हम भूतकाल से भाव को ग्रहण कर सकते हैं किन्तु रूप तथा स्फूर्ति वर्तमान काल की होनी ही चाहिए। ये लोग भूल जाते हैं कि धर्म आज जिस रूप में हमारे सामने है, स्वयं परिवर्तित युगों की देन है; और इसलिए कोई कारण नहीं है कि इसके रूपों में नवीन परिवर्तन न हो सके जब तक कि भाव की आवश्यकता बनी रहती है। यह सम्भव है कि अक्षर के प्रति अनुकूलता को स्थिर रखते हुए भी पूरा भाव ही उलट दिया जाए। यदि दो हजार वर्ष पूर्व के हिन्दू नेतागण जिनका अध्ययन कम था और ज्ञानोदय उससे कहीं अधिक था, इन सब शताब्दियों के पश्चात् फिर से इस लोक में वापस आ जाएं तो उन्हें ऐसे व्यक्तियों के अन्दर अपने अनुयायी कम मिलेंगे जो कभी भी उनके विचारों की नितान्त शाब्दिक व्याख्या में पथभ्रष्ट नहीं हुए।[1] आज के दिन उत्तराधिकारों का एक बहुत बड़ा पुञ्ज इकट्ठा हो गया है जो विचारधारा के प्रवाह तथा भाव-प्रधान स्वतन्त्र जीवन के मार्ग में अवरोध उत्पन्न कर रहा है। यह कहना कि मृतप्राय पद्धतियां जिनकी पृष्ठभूमि में उन्हें सहारा देने को कोई सशक्त सत्य नहीं है, अत्यधिक प्राचीन और आदरणीय हैं जिनमें परिवर्तन नहीं किया जा सकता, ऐसे रोगी के दुःख को केवल दीर्घकाल के लिए स्थायी बनाने के समान है जो भूतकाल के सड़े हुए तथा रद्दी सामान से उत्पन्न विष से कष्ट पा रहा है। अनुदार विचार वाले मस्तिष्क को परिवर्तन की आवश्यकता के लिए अवश्य उद्यत रहना चाहिए। चूंकि यह उक्त आवश्यकता के अनुरूप पर्याप्त रूप में उद्यत नहीं है इसलिए हमें दर्शन के क्षेत्र में तह तक पहुंचने वाली तीक्ष्ण बुद्धि और दर्शनशास्त्र के सिद्धान्तों के विपरीत असामंजस्य का अद्भुत मिश्रण मिलता है। विचारशील भारतीयों की मुख्य शक्तियों का उपयोग इस प्रकार की समस्याओं के समाधान के लिए होना ही चाहिए कि पुरानी मान्यताओं को किस प्रकार अस्थायी उत्तराधिकारों में से छांटकर पृथक् किया जाए, धर्म को किस प्रकार

१. तुलना कीजिए अरविन्द घोष : "यदि उपनिषत्-काल, बौद्धकाल अथवा परवर्ती शास्त्रीय युग का कोई भारतीय आधुनिक भारत में आ जाए वह देखेगा कि उसकी जाति भूतकाल के मात्र-रूपों तथा बाह्य-आडम्बरों और चिथड़ों में लिपटी हुई है और उसके दस में से नौ वास्तविक भाव गायब हैं। ... मानसिक दारिद्र्य, निश्चेष्टता, एकरस पुनरावृत्ति, विज्ञान की समाप्ति, कला की दीर्घकालीन अनुत्पादकता, तथा रचनात्मक सहज बोध का दौर्बल्य किस हद तक पहुंच गया है, इसे देख उसे अवश्य अचम्भा होगा" ('आर्य', ५, पृष्ठ ४२४)।

विज्ञान की भावना के साथ मिलाया जाए, किस प्रकार आभ्यन्तर प्रकृति तथा व्यक्तित्व के दावों का भुगतान तथा उनकी व्याख्या की जाए, और किस प्रकार विपक्षगामी प्रभावो को प्राचीन धर्म के आधार पर संगठित किया जाए। किन्तु दुःख का विषय तो यह है कि दुर्भाग्यवश कुछ परिषदे उक्त समस्याओ के प्रति ध्यान देने के स्थान मे ऐसे कार्यों में समय दे रही है जो पुरातत्त्वविदो की माग के अनुकूल हो। यह क्षेत्र विशेषज्ञों का अखाडा बन गया है। राष्ट्र की धार्मिक शिक्षा को उदार नीति के आधार पर नही अपनाया गया। इस विषय पर किसी का ध्यान नही गया कि धार्मिक उत्तराधिकार के ऊपर कुछ विशिष्ट व्यक्तियो का एकाधिपत्य अब और आगे नही रह सकता। विचार शक्तिशाली होते है, और यदि मृत्यु की ओर अग्रसर होती हुई वर्तमान प्रणाली को रोकना है तो ऐसे विचारो को सर्वसाधारण के अन्दर प्रचुर मात्रा मे प्रचारित करना चाहिए। नि सन्देह यह आश्चर्यजनक बात होगी यदि उपनिषदो, गीता और बुद्ध के सवादो की भावना, जो मस्तिष्क को इतने सूक्ष्म विवाद-विषयो मे स्पर्श कर सकती थी, मनुष्य जाति के ऊपर उसकी शक्ति को वृथा और नष्ट होने दिया जाए। इससे पूर्व कि बात वश के बाहर हो जाए राष्ट्रीय जीवन का यदि पुन सगठन कर लिया जाए तो भारतीय विचारधारा का भविष्य उज्ज्वल हो सकता है, कोई नही बता सकता कि अभी और कितने पुष्पो को विकसित होना है और सशक्त पुराने वृक्षों पर अभी कितने फल और फल सकते है।

जहा एक ओर ऐसे व्यक्ति है जो अभी तक पश्चिम की सस्कृति के प्रभाव से दूर है और विचार तथा आचरण-सम्बन्धी सब विषयों मे अनुदार प्रवृत्ति रखते है, वहा दूसरी ओर उन लोगों मे से जिनकी शिक्षा-दीक्षा पश्चिम की प्रणाली के अनुसार हुई है कुछ ऐसे भी है जिन्होने प्राकृतिक इतिहास-विषयक युक्तिवाद को अपनाया और हम प्रेरणा देते है कि भूतकाल के बोझ को उतार फेको। ये लोग परम्परा अथवा रूढि के प्रति असहिष्णु है और यहा तक कि उस युग के ज्ञान के विषय मे भी सन्देह प्रकट करते है।' 'प्रगतिवादियों' की यह विचार-पद्धति सरलता से समझ मे आ सकती है। हमारी जाति के आध्यात्मिक उत्तराधिकार ने बाहर से आए आक्रमणकारियों तथा लुटेरो से भारत की रक्षा नही की। ऐसा प्रतीत होता है कि इसने देश को धोखा दिया और विश्वास-घात करके देश को वर्तमान दासता मे डाल दिया। इस प्रकार के देशभक्त पश्चिम देशो की भौतिक सिद्धियो का अनुकरण करने को उत्सुक है और प्राचीन सभ्यता की जडों को एकदम ही उखाड देना चाहते है जिससे कि पश्चिम से आयात होने वाली अद्भुत वस्तुओ के लिए स्थान खाली हो सके। कुछ ही समय पूर्व तक भारतीय विश्व-विद्यालयों म भारतीय-दर्शन अध्ययन के विषयो म सम्मिलित नही किया गया था और अब भी विश्वविद्यालयो के दर्शनविषयक पाठ्यक्रमो मे इसका स्थान नगण्य ही है। भारतीय सभ्यता की हीनता-सम्बन्धी विचार शिक्षा के समस्त वातावरण मे व्याप्त है। मैकाले द्वारा जिस नीति का समारम्भ हुआ उसका बोझ अपने समस्त सास्कृतिक महत्त्व के साथ तुला मे एक ओर झुका हुआ है। जहा यह एक ओर इतना अधिक सावधान है कि हम पश्चिमी सस्कृति की शक्ति तथा सजीवता को न भूल सकें, वहा इसने हमे अपनी संस्कृति

के प्रति प्रेम करके आवश्यकतानुसार उसे परिष्कृत कर लेने मे तनिक भी सहायता नही की। कुछ अवस्थाओ मे मैकाले की इच्छा पूरी हो गई और "हमने भारतीयो को ऐसी शिक्षा दी है कि वे स्वय अग्रेजो से भी बढकर अग्रेज हो गए" उसके ये प्रसिद्ध शब्द उद्धृत किए जाते हैं। स्वभावत. इनमे से कुछ लोग भारतीय सस्कृति के इतिहास का विद्वेषपूर्ण मूल्याकन करने मे विदेशी समालोचको से किसी प्रकार भी पीछे नही है। ये लोग भारत के सास्कृतिक विकास को एक विषादमय पारस्परिक फूट व विरोध, अज्ञानता और मिथ्याविश्वास से भरी दृष्टि से देखते है। इनमे से एक ने अभी हाल मे यहा तक घोषणा की कि यदि भारत को फलना-फूलना तथा समृद्धिशाली होना है तो इग्लैड को अपनी 'आध्यात्मिक माता' तथा ग्रीस को 'आध्यात्मिक नानी' बनाना होगा। नि सन्देह चूकि उसकी धर्म मे आस्था नही है, अपने हिन्दू धर्म के स्थान मे ईसाईमत को स्थापित करने का प्रस्ताव नही किया। तथापि भ्रमनिवारण तथा निराशा के वर्तमान युग के प्रभाव के वशीभूत ऐसे व्यक्तियो का कहना है कि भारतीय दर्शन के प्रति प्रेम रखना या तो राष्ट्रीय दुर्बलता है और या फिर सास्कृतिक दृष्टि से विचार करनेवाले व्यक्तियो का ढोग है।

यह एक व्याकुल कर देने वाला विषय है कि ऐसे समय मे जब कि पश्चिमी जगत् की दृष्टि मे भारत अब विलक्षण प्रतीत होने के भाव से मुक्त हो रहा है, देश के कुछ अपने ही सुपूतो की दृष्टि मे यह इस प्रकार का एक अजनबी देश प्रतीत होने लगा है। पश्चिम ने भारत को यह समझाने के लिए पूरा प्रयत्न किया कि उसका दर्शनशास्त्र असगत एव विवेकशून्य है, उसकी कला बच्चो की सी तथा तुच्छ है, उसकी कविता मे कोई प्रेरणा नही है, उसका धर्म विलक्षण है, और इसका नीतिशास्त्र असभ्य लोगो का है। अब जब कि पश्चिम अनुभव कर रहा है कि उसका इस विषय मे निर्णीत मत बिल्कुल निर्दोष नही है, हममे से कुछ लोग आग्रहपूर्वक कहते है कि नही, पश्चिम का निर्णय सर्वथा ठीक था। यह ठीक है कि एक चिन्तनशील युग मे मनुष्य जाति को फिर से सस्कृति की प्राचीनतर स्थिति की ओर धकेलना, जिससे उनकी सशयपरक भ्रम से तथा विवादास्पद विषयो की व्याकुल कर देने वाली शक्तियो से रक्षा की जा सके, कठिन है तो भी हमे यह न भूलना चाहिए कि पहले से पडी हुई नीवो के ऊपर भवन का निर्माण हम अधिक उत्तमता के साथ कर सकते है, अपेक्षाकृत इसके कि हम उसके स्थान पर जीवन के नीतिशास्त्र तथा सदाचार के नए ढाचे का निर्माण करने का प्रयत्न करे। हम अपने को निज के जीवन-स्रोतो से सर्वथा विच्छिन्न नही कर सकते। दार्शनिक योजनाए ज्यामिति की आकृतिया न होकर जीवन की देन है। अपने इतिहास का उत्तराधिकार वह भोजन है जिसे खाए और पचाए बिना हम क्षयग्रस्त हो जा सकते है।

कट्टर अनुदारवादी व्यक्ति भारत के प्राचीन उत्तराधिकार सम्बन्धी ऐश्वर्य के विषय मे और उसकी प्रतिद्वन्द्विता मे आने वाली आधुनिक-नास्तिकता प्रधान सस्कृति के रूप से पूर्णतया अभिज्ञ है; पूर्ण सुधारवादी भी ठीक उसी तरह भारत के प्राचीन उत्तराधिकार की निरर्थकता के विषय मे निश्चय रखते है, एव प्राकृतिक इतिहास-विषयक हेतुवाद या युक्तिवाद के महत्त्व के विषय मे दृढ आस्था रखते है। इन दोनों

प्रकार के मतों के विषय मे बहुत-कुछ कहा जा सकता है; किन्तु, यदि हम भारतीय विचारधारा का उचित रूप मे अध्ययन करेगे तो इस परिणाम पर पहुचेगे कि दोनो ही दोषपूर्ण है। वे जो भारतीय संस्कृति की निन्दा करते है, इससे अनभिज्ञ है और वे भी जो इसे सर्वांग सम्पूर्ण बताते है, उन्ही के समान अन्य किसी संस्कृति से अनभिज्ञ है। पूर्ण सुधारवादी तथा कट्टर अनुदारवादी, जिन्हे नवीन आशा तथा पुरातन विद्या की खोज है, दोनो ही को परस्पर निकट सम्पर्क मे आकर एक-दूसरे को समझने का प्रयत्न करना चाहिए। एक ऐसे जगत् मे जहा कि हवाई जहाज और समुद्रगामी जहाज, रेलवे तथा तार की व्यवस्थाए मनुष्यमात्र को एक जीवन्त इकाई के अन्तर्गत एक-दूसरे के निकटतम ला रही हो, हम अपने ही अन्दर मगन नही रह सकते। हमारी दर्शन-पद्धतियो को संसार की प्रगति के अन्दर क्रिया और प्रतिक्रिया (अथवा आदान-प्रदान के रूप) मे भाग लेना ही होगा। गतिहीन विचारपद्धतियो मे ठहरे हुए पानी के पोखरो के समान हानिकारक पदार्थों की वढती हो जाती है जब कि प्रवाहित होने वाली नदिया अपने जल को प्रेरणारूपी स्रोतो से निरन्तर ताजा बनाए रखती है। अन्य जाति की संस्कृति को अपने अन्दर समाविष्ट कर लेने मे कुछ दोष नही है, केवल हमे चाहिए यह कि जिन अंशो को हम दूसरो मे से ले उन्हे आगे बढ़ाकर शुद्ध कर ले तथा उनके अन्दर अपने मे जो सर्वोत्तम अंश है, उनका समावेश कर दे। विभिन्न अंशो को, जो बाहर से हठात् आकर हमारे अन्दर समाविष्ट हो गए है, अपने राष्ट्रीय पात्र मे एकत्र करने की जो सर्वोत्तम प्रक्रिया है उसका सकेत सरसरी तौर पर गाधी, टैगोर, अरविन्द घोष तथा भगवानदास की रचनाओ मे हमे मिलता है। उनके अन्दर हम एक महान् भविष्य की धुधली-सी आशा की झलक देखते है, एव पाण्डित्याभिमान के ऊपर विजय के कुछ चिह्न तथा महान् भविष्य सम्बधी अन्वेषण की प्रतिक्रिया पाते है। भारत के प्राचीन मानवीय आदर्शवाद के स्रोतो से प्रेरणा लेते हुए इन महापुरुषो ने पश्चिमी विचारधारा के महत्त्व को भी साथ-साथ लिया है। इन्होने प्राचीन आदिस्रोत को फिर से ढूढ निकालने की आतुरता दिखाई है तथा उक्त स्रोतो के जलो को शुद्ध और अनाविल नहरो के द्वारा उन भूमियो को सीचने का प्रयत्न किया है जो भूख और प्यास से व्याकुल थी। किन्तु जिस भविष्य को देखने के लिए हम लालायित है, वह अभी दूर है। राजनैतिक उत्तेजना के शिथिल हो जाने के साथ, जिसने इस समय भारत के श्रेष्ठतम मस्तिष्को की शक्तियो को अपनी ओर लगा रखा है, नये-नये विश्वविद्यालयो मे भारतीय विचारधारा के अध्ययन का आग्रह बढने के साथ, जिसको पुराने विश्वविद्यालय अत्यन्त अरुचिकर रूप मे अपना रहे है, प्रभात का उदय सम्भव है। भूतकाल के जीवन को भविष्य-जीवन की अपेक्षा अधिक पसन्द करने वाली कट्टर अनुदारता की शक्तियो के आगे चलकर अधिक बल पकडने की सम्भावना कम है।

भारतीय दर्शन के सम्मुख जो समस्या आज उपस्थित है, वह यह है कि क्या यह एक सम्प्रदाय के रूप मे परिणत हो जाएगा, जिसका क्षेत्र सकुचित होगा एव वर्तमान समय के तथ्यो मे इसका कोई प्रयोग न हो सकेगा? अथवा, इसे जीवन्त और यथार्थ बनना है जिससे कि यह ऐसा बन सके जैसा कि इसे होना चाहिए, अर्थात् मानवीय

प्रगति के निर्माण करने वाले तत्त्वों में से यह अन्यतम हो सके, और यह तभी सम्भव होगा जब कि यह आधुनिक विज्ञान के प्रचुर रूप में बढ़े हुए ज्ञान का मिश्रण भारतीय दार्शनिकों के प्राचीन आदर्शों के साथ कर सके। लक्षण तो इस प्रकार का संकेत करते है कि भारतीय दर्शन मानव-प्रगति के निर्माणकारी अवयवों में से ही अन्यतम सिद्ध होगा। पूर्व की विचार-पद्धतियों के प्रति भक्ति तथा दर्शनशास्त्र के उद्देश्य की मांग है कि हम अपने दृष्टिकोण को ऐसा बनाए जो सदा उदार हो। वर्तमान युग के लिए भारतीय दर्शन के अस्तित्व का कुछ अर्थ तथा न्यायोचितता तभी सिद्ध हो सकेगी जब कि यह आगे बढ़े और हमारे जीवन को उत्तम बनाए। भारतीय दर्शन के विकास की भूतकाल की प्रगति हमे अपनी आशा के प्रति प्रोत्साहन देती है। महान् विचारक, याज्ञवल्क्य और गार्गी, बुद्ध और महावीर, गौतम और कपिल, शंकर और रामानुज, मध्व और वल्लभ तथा अन्य दर्जनों विद्वान् भारत के अस्तित्व की महत्त्वपूर्ण क्षमता के द्योतक है, और यह भारत के एक जीवित राष्ट्र के पद पर विराजमान होने का स्पष्ट प्रमाण है। यह इस विषय का भी प्रमाण है कि आगे भी यह राष्ट्र अपने स्वार्थ से ऊपर उठकर अपनी सर्वोपरि श्रेष्ठता के प्रेमोपहार को स्थिर रखने में समर्थ होगा।

टिप्पणियां

पहला अध्याय

पृष्ठ १७ पाणिनि 'अस्ति नास्ति दिष्टं मतिः' इस सूत्र में आस्तिक, नास्तिक, और दैष्टिक शब्दों की व्युत्पत्ति करता है। आस्तिक वह है जो परलोक के अस्तित्व में विश्वास करता है, (अस्ति परलोकः), नास्तिक वह है जो परलोक को नहीं मानता (नास्ति परलोकः), और दैष्टिक एक प्रकार का अदृष्टवादी है।

पृष्ठ १८ टि० २ देखें न्यायकोश।

पृष्ठ १८ टि० ३ मणिमेखलाई' नामक तमिल-ग्रन्थ में लोकायत, बौद्ध, सांख्य, न्याय, वैशेषिक और मीमांसा इन सबको शास्त्रीय माना गया है। देखें, एस० कृष्णस्वामी ऐयंगार 'मणिमेखलाई', पृष्ठ २१।

पृष्ठ २२, पंक्ति १८ वैशेषिक केवल प्रत्यक्ष और अनुमान को ही स्वीकार करता है।

दूसरा अध्याय

पृष्ठ ३१, टि० ४ अक्षपादात्पूर्वं कुतो वेदप्रामाण्यनिश्चय आसीत्, जैमिनेः पूर्वं केन वेदार्थो व्याख्यातः पाणिनेः पूर्वं केन पदानि व्युत्पादितानि, पिङ्गलात् पूर्वं केन छन्दांसि रचितानि (न्यायमञ्जरी पृष्ठ ५)।

पृष्ठ ३६ – दिङ्नाग के पूर्व बौद्ध तर्कशास्त्र के एक संक्षिप्त विवरण के लिए देखें, उक्त विषय पर प्रोफेसर तुक्की का लेख, 'जर्नल आफ दि रायल एशियाटिक सोसाइटी' जुलाई, १९२९। और भी देखें, 'जर्नल आफ दि रायल एशियाटिक सोसाइटी', जनवरी, १९२८, क्या न्यायप्रवेश दिङ्नाग-रचित है ?

पृष्ठ ३७ -पण्डित गोपीनाथ कविराज का तर्क है कि उपमान को प्रमाण अथवा ज्ञान का साधन मानने से भासर्वज्ञ द्वारा किया गया निषेध योगदर्शन के प्रभाव के कारण है। उसके द्वारा क्रियायोग को स्वीकार किया जाना जिसमें तप, स्वाध्याय और योगदर्शन में प्रतिपादित अन्यान्य विशिष्ट साधन यथा यम, नियम-आदि सम्मिलित है, उक्त मत का समर्थन करता है। प्रमेयों का हेय, तन्निवर्तक, आत्यन्तिकहान और हानोपाय आदि में विभागीकरण योगसूत्र, २ १६–१७, २५–२६ की ओर निर्देश करता है। प्राचीन न्याय के ग्रन्थकार गौतम, वात्स्यायन और उद्योतकर तो योगिप्रत्यक्ष को नहीं मानते, किन्तु भासर्वज्ञ इसे स्वीकार करते हैं। योगिप्रत्यक्ष देशकालस्वभावविप्र-

कृष्टार्थग्राहकम् । भासर्वज्ञ का ईश्वर-सम्बन्धी विचार आश्चर्यजनक रूप से योगदर्शन के विचार के साथ समानता रखता है ।

भासर्वज्ञ ने 'न्यायसार' पर एक टीका भी लिखी है जिसका नाम 'न्यायभूषण' है ।

वासुदेव कृत 'न्यायसारपदपञ्चिका' समेत भासर्वज्ञ के 'न्यायसार' का सम्पादन महामहोपाध्याय वासुदेव शास्त्री अभयङ्कर और प्रोफेसर देवाधर ने किया है । पूना, १९२२ ।

पृष्ठ ४०- प्रमाण, प्रमेय आदि पारिभाषिक शब्दो का प्रयोग साधारणतया प्रामाणिक (निर्दोष) ज्ञान के सम्बन्ध मे ही होता है, ज्ञानमात्र के लिए नही । ज्ञान-मात्र के लिए ज्ञान और ज्ञेय शब्द अधिक उपयुक्त प्रतीत होते है ।

पृष्ठ ४५—प्रत्यक्ष, जिसकी व्युत्पत्ति प्रति और अक्ष अथवा अक्षि से हुई है । चक्षु इन्द्रिय को प्रस्तुत करता है और यह परोक्ष से विपरीत है, जिसका अर्थ होता है चक्षु इन्द्रिय से परे अथवा दूर । प्रत्यक्ष साक्षात् ज्ञान है और परोक्ष मध्यस्थ द्वारा प्राप्त ज्ञान है ।

पृष्ठ ४६ टि० देखे, तर्कसग्रहदीपिका, पृष्ठ ७ । बम्बई संस्कृत ग्रन्थमाला ।

पृष्ठ ४८ मन का सम्पर्क विषय के साथ सीधा नही होता, केवल उस अवस्था को छोडकर जहा कि प्रमेय विषय आन्तरिक अवस्था यथा सुख, दु ख आदि हो ।

पृष्ठ ५३--बौद्धो के अनुसार इन्द्रिया इन्द्रियो के गोलक है, मीमासको के अनुसार इन्द्रिया एक विशिष्ट शक्ति है, दूसरो का मत है कि यह न तो दिखाई देने वाली इन्द्रिय है और न ही विशेष शक्ति है, किन्तु एक सर्वथा भिन्न द्रव्य है जिसका स्थान दृश्यमान इन्द्रिय के अन्दर है । गोलकमात्राणीति सुगत , तच्छक्तय इति मीमा-सका ,तदन्यनिरिक्तानि द्रव्यान्तराणीत्यन्ये सर्व वादिन (विवरणप्रमेयसग्रह, पृष्ठ १८५)। साप सुनते है यद्यपि उनके कोई इन्द्रिय दिखाई नही देती । इन्द्रिय एक सूक्ष्म द्रव्य से बनी है जिसके गुण का ज्ञान इसके द्वारा होता है । आख जो रूप का ज्ञान प्राप्त करती है उसी द्रव्य से बनी है जैसे कि प्रकाश, जिसके रूप को यह देखती है । नाक जो गन्ध का ज्ञान ग्रहण करती है मिट्टी से बनी है, क्योकि गन्ध मिट्टी का गुण है । (वही, पृष्ठ १८५–७) ।

अद्वैत वेदान्त के अनुसार इन्द्रिया 'प्राप्यकारी' है, अर्थात् ज्ञेय पदार्थो के साथ वास्तविक सन्निकर्ष मे आती है । (देखे, विवरणप्रमेयसग्रह, पृष्ठ १८७) । यदि इन्द्रिया पदार्थो का प्रत्यक्ष बिना उनके सम्पर्क मे आए कर सकती तो हम दूरस्थ पदार्थो का भी स्वाद ले सकते थे । यदि कहा जाए कि चक्षु तथा श्रवण इन्द्रिया तो हर अवस्था मे पदार्थो का ज्ञान ग्रहण कर सकती है, बिना उनके साथ वास्तविक सम्पर्क मे आए भी, तो हम दृश्यो तथा शब्दो का ज्ञान उनके लोप हो जाने पर भी होना चाहिए । इस प्रकार यही तर्क उचित प्रतीत होता है कि अपने ज्ञेय विषयरूप पदार्थो के सम्पर्क मे आकर ही इन्द्रिया कार्य करती है ।

दिखाई देनेवाली इन्द्रिया इन्द्रिया नही है वरन् सूक्ष्म भौतिक द्रव्य है, जो बिजली की तेज़ी से बाहर आने की क्षमता रखते है । शब्द कान तक चलकर नही

आते हे, जैसा कि न्याय का मत है, किन्तु अदृश्य इन्द्रिय शब्द उत्पन्न करने वाले पदार्थ तक चलकर जाती हे। शब्दस्य च वीचिसन्तानवत् परम्परया श्रोत्रसमवाय. प्राप्तिरिति यत् तार्किकैरुच्यते तदसन्, तथा सनीह श्रोत्रा. शब्द इति प्रतीयेत, प्रतीयते तु तत्राशब्द इति (वही)। यही कारण है कि हमे दूर के शब्दो का प्रत्यक्ष होना है, केवल श्रवण-सम्बन्धी प्रभावों का नही। हमारी इन्द्रियां प्रमेय पदार्थों तक पहुचती हैं न कि प्रमेय पदार्थ इन्द्रियो तक पहुचने हे।

पृष्ठ ५६—टि० २ –

त्रिलोचनगुरून् नीतमार्गानुगमनोन्मुखै।
यथामान यथावस्नु व्याख्यातम् इदमीदृशम्॥
(न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका, १.१.४)।

पृष्ठ ५७—नामजात्यादियोजनारहित वैशिष्ट्यानवगाहि निष्प्रकारक प्रत्यक्ष निर्विकल्पकम्। चिन्तामणि में गङ्गेश। भीमाचार्य-कृत न्यायकोश।

विशेषणविशेष्यसम्बन्धानवगाहि ज्ञानम (अन्नभट्ट-कृत तर्कसग्रहदीपिका)।

पृष्ठ ६५—बौद्ध आदर्शवाद के अनुसार बोध और उसका ज्ञेयपदार्थ दोनो एक साथ जाने जाते हैं। "चूंकि नीला और नीले की चेतना का सदा ही एक साथ ज्ञान होना है इसलिए ये एक-दूसरे से भिन्न नहीं है।" (सर्वदर्शनसग्रह)।

न्याय के मत की अद्वैतवादी समीक्षा के लिए देखे, विवरणप्रमेयसग्रह, पृष्ठ ५५।

पृष्ठ ६७—लोचनगोचरेऽपि कुङ्कुमे तद्विषयगन्धविशेषिते ज्ञानम एव बाह्येन्द्रियद्वारकमग्रहणम् अघटमानमिति मानसमेव सुरभिकुसुमम् इति ज्ञानम् (न्यायमञ्जरी, पृष्ठ ४६१)।

योगजधर्मलक्षण के लिए देखे, प्रमेयकमलमार्तण्ड, पृष्ठ १६७।

प्रतिगनाऽभिज्ञानमिति प्रत्यभिज्ञा।

अतिक्रान्तकालविशेषितपूर्ववर्तिस्तम्भादिपदार्थविषय इन्द्रियादिसन्निकर्षोत्पन्नम् एवेद प्रत्यभिज्ञाज्ञानम् इति सिद्धम् (न्यायमञ्जरी, पृष्ठ ४६१)।

पृष्ठ ६८—अतीतावच्छिन्नवस्तुग्रहण प्रत्यभिज्ञानम् (सप्तपदार्थी, १६७)। प्रत्यभिज्ञा, भूतकाल मे अवस्थिति के विचार की उपाधि से युक्त वस्तु का ग्रहण हे।

तर्कभाषा (५०) के अनुसार, पूर्वावस्थानुभवजनितसंस्कारसहकृतेन्द्रियप्रभवा प्रत्यभिज्ञा।

पृष्ठ ७० प्राचीन नैयायिक स्वप्नो को स्मृति न मानकर अनुभव मानते थे। देखे, न्यायसूत्र ३ १, १४, ४ २, ३४–३५, न्यायभाष्य, १ १, १६, और न्यायवार्तिक, पृष्ठ ७६। कणाद तथा परवर्ती नैयायिक, जैसे भासर्वज्ञ और जयन्त स्वप्नो को अनुभवात्मक मानते है। उदयन स्वप्नावस्थाओ को स्मृति के समान नही मानता। देखे, किरणावली, पृष्ठ २७५। शङ्कर ने ऐसे मत का उल्लेख किया है, जिसके अनुसार मन्त्रो, देवताओ और विशेष प्रकार के द्रव्यो द्वारा उत्पन्न स्वप्नो मे कुछ सचाई रहती है: मन्त्रदेवताद्रव्यविशेषनिमित्ताश्च केचित् स्वप्ना. सत्यार्थगन्धिनो भवन्ति (शाङ्करभाष्य, ३ २, ४)।

पृष्ठ ७०-७१ देखे 'ड्रीम थियरी इन इण्डियन थोट' उमेशमिश्र-रचित, इलाहाबाद युनिवर्सिटी स्टडीज, खण्ड ५।

पृष्ठ ६४—जब हम उत्पन्न वस्तुओ का उल्लेख करते है तब उपादान कारण और समवायी (अन्तर्निहित) कारण एक ही पदार्थ है, किन्तु गुण अथवा कर्म के विषय में समवायीकारण उपादान कारण नही होता। एक श्वेत वस्त्र के विषय मे श्वेतना रूपी गुण का समवायी कारण वस्त्र है किन्तु यह उसका उपादान कारण नही है।

पृष्ठ १२२—एक ही पदार्थ के धारावाहिक ज्ञान मे जैसे कि हम किसी टेबल को निरन्तर कुछ क्षणो तक देखते है तो क्या हमारा दूसरे क्षण का ज्ञान वही होता है जो पहले क्षण का था ? कुछ लोगो का तर्क है कि दोनो प्रकार के ज्ञान एक नही है। जिस प्रकार पदार्थ अपने स्वरूप मे देश-काल की स्थिति के अनुसार प्रतिक्षण परिवर्तन करता है उसी प्रकार ज्ञान मे भी प्रतिक्षण परिवर्तन होता है। नैयायिक उसमे इस आधार पर आपत्ति उठाता है कि हमारे अनुभव-ज्ञान के क्षण हमारी चेतनता मे नही पहचाने जाते। हम जिसे प्रत्यक्ष करते है वह आणविक क्षण नही है वरन् समय का विस्तार है क्षणानामतीन्द्रियत्वात् स्थूलोपाधिम् आदाय वर्तमानत्वग्रहणात (तत्त्व-चिन्तामणि, पृष्ठ ३८०)। क्षण तार्किक विश्लेषण की उपज है, किन्तु निरीक्षण के तथ्य नही है। जहा एक ओर स्थायी ज्ञान प्रमेयपदार्थ-सम्बन्धी अवस्थाओ के ऊपर निर्भर करता है वहा स्मृतिजन्य ज्ञान पूर्व के अनुभव के ऊपर निर्भर करता है।

पृष्ठ १२६— जब हम नीले रग का बोध ग्रहण करते है तो नीलेपन के बोध की प्रामाणिकता स्वत नही आती।

न हि नीलसंवित् प्रसवसमानान्तर यथार्थेय नीलसंवित्तिरिति संवेदनानन्तर-मुत्पादयमानम अनुभयते (न्यायमजरी, पृष्ठ १६८)।

पृष्ठ १२७ बौद्धमतावलम्बी, जिनके मत मे ज्ञान तथा उसके विषय (पदार्थ) क्षणिक है, पदार्थ के प्रकृति के अनुरूप होने का जो यथार्थवादियो का मानदण्ड है उसे स्वीकार नही कर सकते क्योकि ज्ञान होने पर तुरन्त ही उनके मन से पदार्थ (विषय) का विलोप हो जाता है।

पृष्ठ १३० टि० ४ तुलना कीजिए, प्लेटो के 'थिएटिटस' से।

पृष्ठ १३१ - शुक्तित्वप्रकारिका विद्या चाकचक्यादिसादृश्यसदर्शनसमुद्बोधित-रजतसंस्कारसध्रीचीना काचादिदोषसमवहिता रजतरूपार्थाकारेण रजतज्ञानाभासाका-रेण च परिणमते (वेदान्तपरिभाषा, १)।

पृष्ठ १४८—न्याय के अनुसार आत्माए केवल गौण अर्थो मे क्रियाशील है। एक सर्वव्यापी आत्मा के लिए न तो परिणाम ही हो सकता है और न परिस्पन्द ही माना जा सकता है।

पृष्ठ १६२, टि० ३ और भी देखे, स्याद्वादमजरी और राजशेखर-कृत षड्-दर्शन समुच्चय, २३।

तीसरा अध्याय

पृष्ठ १८८ पण्डित मिश्र का विचार है कि लीलावती का निर्माणकाल बारहवी शताब्दी (ईसा के पश्चात्) है। देखे, जे० बी० ओ० आर० एस०, पृष्ठ १५८।

पृष्ठ १८८ - न्याय के मत मे तो आत्मा मानस प्रत्यक्ष का विषय है (भाषा-परिच्छेद, ५०–५१), किन्तु वैशेषिक इसे अनुमान का विषय मानता है (अनुमान-गम्य, वैशेषिकसूत्र, ८ १–२)।

पृष्ठ १९८—मीमासको का युगो या चक्रो के सिद्धान्त मे विश्वास नही है।

पृष्ठ २०८ टि० ३—

व्यक्तेरभेदस्तुल्यत्व सकरोऽथानवस्थिति ।
रूपहानिरसम्बन्धो जातिबाधकसग्रह ॥

पृष्ठ २१६, टि० ३ पाच प्रकार की अयुतसिद्धि स्वीकार की गई है : अवयवा-वयविनौ, गुणगुणिनौ, क्रियाक्रियावन्तौ, जातिव्यक्ती, विशेषनित्यद्रव्ये चेति (देखे, न्यायकोश)।

पृष्ठ २३० काल, आकाश और दिक् मे जातिगत गुण नही होता।

पृष्ठ २५३ - मद्रास विश्वविद्यालय ने साख्यकारिका का एक अत्युत्तम सस्करण प्रकाशित किया है जिसकी प्रस्तावना, अग्रेजी-अनुवाद तथा टिप्पणिया एस० एस० सूर्यनारायण शास्त्री द्वारा तैयार की गई है।

चौथा अध्याय

पृष्ठ २५७—धर्मपरिणाम प्रकार विशेष को दिया गया नाम है। एक घडा (अथवा जिसे घटाकार भी कहते है) मिट्टी का धर्मपरिणाम है, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार कि मिट्टी पृथ्वी का धर्मपरिणाम है।

पृष्ठ २६६, टि० ६ छान्दोग्य उपनिषद् मे तीन भूतो का उल्लेख है और शङ्कर ६ ४ पर अपने भाष्य मे त्रिवृत्करण का वर्णन करते है। प्राचीन उपनिषदो मे पञ्चीकरण का पता नही मिलता यद्यपि तैत्तिरीय मे पाच भूतो का वर्णन है। बादरायण अथवा शकर दोनो मे से कोई भी इनका वर्णन नही करता। यद्यपि परवर्ती भाष्यकारो ने जैसे आनन्दज्ञान आदि ने इनका उल्लेख किया है। देखे, ब्रह्मसूत्रो पर उसकी टीका, २ ४, २०।

पृष्ठ २७५—स्थान-परिवर्तन का नाम परिस्पन्द है। यह परिणाम से भिन्न है। जो आकृति का परिवर्तन है। परिस्पन्द तत्त्वो के सम्बन्ध मे ही होता है।

पृष्ठ २९१—अर्थाकारेण परिणताया बुद्धिवृत्तेश्चेतने प्रतिबिम्बनाद् विषय-प्रकाशरूप ज्ञानम् (न्यायकोश)।

पृष्ठ २९५—

साख्यवृद्धा सम्मुग्ध वस्तुमात्र तु प्राग्गृह्णन्त्यविकल्पितम् ।
तत् सामान्यविशेषाभ्या कल्पयन्ति मनीषिण ॥
(साख्यतत्त्वकौमुदी, २७)।

पांचवां अध्याय

पृष्ठ ३५४—सर्वग्राही ज्ञान एक सिद्धि है जिसमें स्वभावत प्रकृति तथा पुरुष का भेद ज्ञान भी आ जाता है और यही कैवल्य अथवा मोक्ष का यथार्थ कारण है।

पृष्ठ ३६६—साख्य के अनुयायी नारायण के उपासक थे (नारायणपरा), किन्तु योग के अनुयायी ईश्वर की उपासना करने वाले थे, (ईश्वरदेवता), अथवा शिव के उपासक थे, जो सर्वोत्तम योगी है। देखें, हरिभद्र के षड्दर्शनसमुच्चय पर राजशेखर की टीका, पृष्ठ ३४, ४२–४३।

पृष्ठ ३७२—प्राभाकरो के दोनो सम्प्रदायो म जो मतभेद है उनके विषय मे देखे, प्रोफेसर हिरियन्ना का लेख 'प्राभाकर : प्राचीन और अर्वाचीन,' जर्नल ऑफ ओरियण्टल रिसर्च, मद्रास, अप्रैल–जून, १६३०।

छठा अध्याय

पृष्ठ ३७३—रामानुजाचार्य-कृत 'तन्त्ररहस्य' एक विस्तृत ग्रन्थ प्रतीत होता है, जिसके पहले पाच अध्याय 'गायकवाड्स ओरियण्टल सीरीज' १६२३ म प्रकाशित हुए है।

'मानमेयोदय' मे दो विभाग 'मान' और 'मेय' के ऊपर है, जिन्हे क्रमश नारायण भट्ट तथा नारायण पण्डित ने लिखा है। यह ग्रन्थ कुमारिल भट्ट के सम्प्रदाय के सिद्धान्तो की विशद व्याख्या करता है। इस ग्रन्थ को त्रिवेन्द्रम सस्कृत सीरीज म टी० गणपतिशास्त्री ने १६१२ मे प्रकाशित किया है।

पृष्ठ ३७६—तच्चेन्द्रियसन्निकर्षज ज्ञान द्विविधम निर्विकल्पक सविकल्पक चेति। तत्र इन्द्रियसन्निकर्षानन्तरम् एव द्रव्यादिस्वरूपमात्रगोचर शब्दानुगमशून्य यत सम्मुग्धज्ञान जायते तद् विशिष्टकल्पनाभावाद् निर्विकल्पकम् उच्यते। यत्तु तदनन्तर शब्दस्मरणसहकृत जात्यादिविशिष्टवस्तुविषय देवदत्तोऽय घटोऽयमित्यादिव्यक्तविज्ञान तत् सविकल्पकम् (मानमेयोदय, पृष्ठ ८)।

पृष्ठ ३७६-७७ –

जाति. सर्वगता नित्या प्रत्यक्षज्ञानगोचरा।
भिन्नाभिन्ना च सा व्यक्त कुमारिलमते मता॥

(मानमेयोदय, पृष्ठ ८५)

पृष्ठ ३८७— कुमारिल की दृष्टि म आकृति का अर्थ है जाति।

जातिमेव आकृति प्राहु (१ ३, ३)।

पृष्ठ ३६१—ज्ञान के प्रामाण्य के विषय मे मीमासा के भिन्न-भिन्न सम्प्रदायो के मतो को जानने के लिए देखे, न्यायकोश मे प्रमात्वम्।

सर्वत्रैव ज्ञानहेतुभिरात्मनि साक्षात्कारवती धीरुपजन्यते· सर्वत्र प्रमेयस्य अपरोक्षनियमाभावात्। स्मृतिषु अनुमानान्तरेषु च न प्रमेयम अपरोक्षम्। सर्वाश्च प्रतीतय. स्वय प्रत्यक्षा प्रकाशन्ते (प्रकरणपञ्चिका, पृष्ठ ५६)।

यद्यपि समस्त ज्ञान विना व्यवधान के साक्षात् होता है फिर भी इसे दो भागो मे विभक्त किया गया है— साक्षात् ज्ञान तथा मध्यस्थद्वारा प्राप्त ज्ञान और इसका

विभाग प्रकार-भेद से होता है जिस प्रकार साक्षात् अथवा माध्यम के द्वारा विषय का बोध होता है।'

पृष्ठ ३९२ – न हि प्रदीप स्वगतव्यवहाररूपे कार्ये प्रदीपान्तरमपेक्षते, तस्माद् न बुद्धिरपि बुद्ध्यन्तरम् (मानमेयोदय, पृष्ठ १०३)।

बुद्धि: स्वयप्रकाशेति गुरुशङ्करयोर्मतम् (वही)।

पृष्ठ ३९८—टिप्पणी १ --मुरारिमिश्र के मत पर टीका करते हुए न्यायसिद्धातमजरी के ऊपर 'शिथिकण्ठीयम्' का कहना है "घटोऽयमिति व्यवसाय ततश्च घटमह जानामीति अनुव्यवसाय:, तत प्रामाण्य गृह्यते।

पृष्ठ ४०३—मीमासक तर्क करता है कि यदि प्रामाण्य और अप्रामाण्य दोनो ही बोध ग्रहण मे बाह्य पदार्थ है तो बोधो को अपने-आप मे निरपेक्ष अथवा लक्षण-विहीन मानना चाहिए, किन्तु ऐसा नही है।

न हि प्रामाण्याप्रामाण्यव्यतिरिक्त किञ्चिदपि स्वरूपम् अस्ति विज्ञानस्य (मानमेयोदय, पृष्ठ ७६)।

यदि यह कहा जाए कि सारे बोध तब तक सन्देह की अवस्थाए है जब तक कि उनकी परीक्षा नही हो लेती, तो न्याय जो सन्देह (सशय) को अयथार्थ बोध करके मानता है, अन्तर्हित अयथार्थता के मत की ओर सकेत करता प्रतीत होता है, जो परत प्रमाण के सिद्धान्त के विपरीत है।

पृष्ठ ४०३ —स च देहेन्द्रियज्ञानसुखेभ्यो व्यतिरिच्यते।
नानाभूतो विभुर्नित्यो भोगी स्वर्गापवर्गभाक्॥
(मानमेयोदय, पृष्ठ ८२)

पृष्ठ ४०५ मानमेयोदय प्रभाकर की स्थिति मे कुमारिल की स्थिति का भेद बतलाते हुए कुमारिल के ऊपर निर्भर करता है। प्रभाकर के अनुयायियो की दृष्टि मे "मै घड़ा को बनाता हू" इस प्रकार के बोध का स्वरूप समस्त बोधो के सामान्य लक्षणो का एक नमूना है। यदि आत्मा तथा बोध व्यक्त नही है तो इस प्रकार का ज्ञान असम्भव है। इस प्रकार आत्मा और बोध का अभिव्यक्त रूप स्वीकार करना चाहिए, जिनमे आत्मा विषयी (ज्ञाता) तथा बोध ज्ञानात्मक क्रिया है। (आत्मस्वात्मनो कर्तृतया वित्तितया च प्रतीयमानत्वम् अभ्युपगच्छति।) कुमारिल के अनुयायी स्वय आधार वाक्य के ऊपर ही आपत्ति उठाते है, अर्थात् सारे बोध इस रूप मे होते है "मै पदार्थ को जानता हू।" शालिकनाथ का तर्क है यदि ज्ञाता विषयी सब बोधो मे व्यक्त नही होता तो किसी व्यक्ति विशेष के अपने बोध मे तथा दूसरे के बोध मे भेद कर सकना असम्भव हो जाएगा। (स्वपरवेद्ययोरनतिशय इति।) कुमारिल के अनुयायी उत्तर देते है कि आत्मा के द्वारा प्राप्त किया गया ज्ञान उसी रूप मे व्यक्त होता है। यदि कहा जाए कि आत्मज्ञान को भी व्यक्त होना चाहिए तो उत्तर मे कहा गया है कि कार्य बिना चैतन्यमय व्यक्ति के भी उपस्थित रह सकता है, उसी प्रकार जिस प्रकार इन्द्रिय-ज्ञान बिना उस इन्द्रिय के ज्ञान के भी, जो व्यापार करती है, प्राप्त किया जा सकता है।

मुरारि मिश्र का मत भट्ट की स्थिति के अधिक निकट पहुचता है। मिश्रमतेऽयं

घट इत्याकारकज्ञानानन्तर घटत्वेन घटम् अहं जानामि इति ज्ञानविषयकलौकिकमानसमुत्पद्यते। तर्कसंग्रहदीपिका पर नीलकण्ठ की टीका, निर्णयसागर संस्करण, पृष्ठ १८७)।

हमे पहले "यह एक घडा है" इस प्रकार का ज्ञान होता है और तब प्रत्यक्ष अनुभव होता है कि मै घड़े को घडे के रूप मे जानता हू। केवल कुमारिल के ही अनुसार पीछे का ज्ञान अनुमानपरक है, किन्तु मुरारि मिश्र के अनुसार यह प्रत्यक्षजन्य है। किन्तु दोनो ही प्रभाकर के इस मत के विरोधी है कि समस्त ज्ञान इस प्रकार का होता है कि "मै एक घडे को जानता हू," सर्वमेव ज्ञान घटमह जानामीत्याकारकम् (न्यायसिद्धान्तमजरी, पृष्ठ ३४१)।

तत्त्वचिन्तामणि के ऊपर टीका मे आलोक कहता है व्यवसायोत्पत्त्यव्यवहितोत्तरक्षणोत्पन्ना अनुव्यसायव्यक्तेरेव भाट्टै ज्ञाननालिङ्गक अनुमितित्वेन मिश्रादिभिश्च साक्षात्कारत्वेनाभ्युपगमात् (प्रत्यक्षखण्ड, पृष्ठ १५८, एशियाटिक सोसायटी ऑफ बगाल आवृत्ति)।

पृष्ठ ४२० —देखे, पूर्वमीमासासूत्र भी, पण्डित मोहनलाल सदल का अग्रेजी-अनुवाद, एम० बी० एच० ग्रन्थमाला।

सातवां अध्याय

पृष्ठ ४२३, टि० १—ब्रह्मविद्याप्रतिपादकम् वेदशिरोभागरूप वेदान्तशास्त्रम् (बृहदारण्यक उपनिषद् पर शाङ्करभाष्य, १ १, १)।

आठवां अध्याय

पृष्ठ ४४५—डाक्टर झा ने 'खण्डनखण्डखाद्य' का अग्रेजी म भाषान्तर किया है और श्री एस० बी० ऐयर ने सुरेश्वर-कृत सवन्धवार्त्तिक का भाषान्तर अग्रेजी मे किया है।

पृष्ठ ४६०— भर्तृप्रपञ्च के द्वैताद्वैत मत का वर्णन शङ्कर ने बृहदारण्यक उपनिषद् पर अपनी टीका मे किया है (५ १)।

पूर्णात् कारणात् पूर्ण कार्यम् उद्रिच्यते। उद्रिक्त कार्य वर्तमानकालेऽपि पूर्णमेव परमार्थवस्तुरूप द्वैतरूपेण। पुन प्रलयकाले पूर्णस्य कार्यस्य पूर्णताम् आदाय आत्मनि धित्वा पूर्णमेवावशिष्यते कारणरूपम्। एवम् उत्पत्तिस्थितिप्रलयेषु त्रिष्वपि कालेषु कार्यकारणयो पूर्णत्वैव। सत्त्वैकैव पूर्णता कार्यकारणयाभेदेन व्यपदिश्यते एव च द्वैताद्वैतात्मक एक ब्रह्म यथा किल समुद्रो जलतरङ्गफेनबुद्बुदाद्यात्मक एव। यथा च जल सत्य तद् उद्भवाश्च तरङ्गफेनबुद्बुदादय समुद्रात्मभूता एवाविर्भावतिरोभावधर्मिण परमार्थसत्या एव। एव सर्वमिद द्वैत परमार्थसत्यमेव जलतरङ्गादिस्थानीयम्, समुद्रजलस्थानीय तु पर ब्रह्म (बृहदारण्यक उपनिषद् पर शाङ्करभाष्य, ५ १)।

पृष्ठ ४६३ —

उपक्रमोपसंहारावभ्यासोऽपूर्वता फलम।
अर्थवादोपपत्ती च हेतुस्तात्पर्यनिर्णये॥

पृष्ठ ४७६—तुलना कीजिए, शङ्कर के निरपेक्ष चैतन्य को जहां सर्वश्रेष्ठ साक्षी बताया गया है उसके साथ; निम्नलिखित छन्द को तर्कभाषा ग्रन्थ का बताया जाता है:

संविद् भगवती देवी स्मृत्यनुभववेदिका।
अनुभूतिः स्मृतेरन्या स्मृतिः संस्कारमात्रजा॥

पृष्ठ ४८२—साक्षात् सम्बन्ध प्रत्यक्ष का अनिवार्य लक्षण है, इन्द्रिय की क्रियाशीलता नहीं। ईश्वर का ज्ञान ऐन्द्रिक नहीं है वरन् साक्षात् (माध्यमरहित) है।

पृष्ठ ४८४—कुछ अद्वैतवादियों का मत है कि निर्विकल्प प्रत्यक्ष हमें विशुद्ध सत् (सन्मात्रम्) का ज्ञान देता है, भिन्न पदार्थों का नहीं, क्योंकि भिन्न पदार्थ कल्पनाजन्य है (सिद्धान्तलेशसग्रह)।

पृष्ठ ४८६—अद्वैत वेदान्त में केवल ब्रह्म ही एक नित्य है और इस प्रकार वेदों की उपयोगिता भी केवल सापेक्ष अर्थों में ही मानी गई है।

पृष्ठ ४८६ ईश्वर प्रत्येक निर्माणकाल में वेदों का नये सिरे से उपदेश करते समय शब्दों की भूतपूर्व व्यवस्था को ठीक-ठीक सुरक्षित रखता है।

पृष्ठ ४६४, टि० ३ ज्ञानन्तु वस्तुतन्त्रत्वान्न देशकालनिमित्ताद्यपेक्षते, यथा अग्निरुष्ण आकाशो मूर्त इति तथा आत्मविज्ञानम् अपि (बृहदारण्यक पर शाङ्कर भाष्य, ४ ५, १५)।

पृष्ठ ४६५ अद्वैत वेदान्त की सत्यता का प्रमाण यह है कि इसमें परस्पर-विरोध नहीं है। बौद्ध धर्म की सफल क्रिया के मानदण्ड को न्याय ने इस प्रतिबन्ध के साथ स्वीकार किया है कि यह सत्य की कसौटी है, न कि उसकी विषयवस्तु। प्रमेय पदार्थ के साथ अनुकूलता ही सत्य का निर्माण करती है। अद्वैत का तर्क है कि अनुकूलता का प्रत्यक्ष अनुभव नहीं हो सकता, इसका संवेदन होने के कारण केवल अनुमान होता है। अथवा अनुभव की एकरसता में भी अनुमान होता है। इस दृष्टि से कुल आनुभविक सत्य सापेक्ष है। जिसके विपरीत अभी तक कुछ ज्ञान नहीं है वही सत्य है। यह सम्भव है कि कुछ आगे का प्राप्त अनुभव अत्यन्त आनुभविक सभाव्य सत्य का भी विरोधी सिद्ध हो जाए। हम कभी भी निश्चित रूप से यह नहीं जान सकते कि अमुक आनुभविक सत्य निरान्त रूप से सत्य है (न्यायमंजरी, पृष्ठ ६२ और आगे तक)।

पृष्ठ ५०१ अज्ञान के प्रभाव से आत्म तथा अनात्म का भेद नितान्त निरपेक्ष चैतन्य में आ जाता है। आत्मा अहं (सीमित मैं) की भांति व्यवहार करती है जिसने अन्तःकरण की परिधियों को मान लिया है। प्रतिबन्ध से तात्पर्य है अन्य पदार्थ की उपस्थिति तथा सम्भाव्य अज्ञान। परिणाम में दूसरे पदार्थ को जानने के लिए ज्ञान होता है।

पृष्ठ ५०७ टि० २—ब्रह्मदर्शने साधनम् उच्यते। मनसैव परमार्थज्ञानसंस्कृतेनाचार्योपदेशपूर्वकम् चानुद्रष्टव्यम् (बृहदारण्यक उपनिषद् पर शाङ्कर भाष्य, ४ · ४, १६)।

पृष्ठ ५१४—निम्नश्रेणी का ज्ञान भ्रामक होता है केवल इस अर्थ में कि यह यथार्थता को छिपा देता है।

पृष्ठ ५५५ – ब्रह्म की दृष्टि में अविद्या नाम की कोई वस्तु ही नहीं है। किन्तु

ब्रह्म साक्षीरूप से अविद्या को प्रकट करता है। जहा तक ईश्वर का सम्बन्ध है वह अविद्या अथवा माया के माध्यम में से आरपार देख लेता है जो ईश्वर से भिन्न है क्योंकि उसके लिए कोई भी आवरण नही है।

पृष्ठ ५७४—

अनादिभावरूप यद् विज्ञानेन विलीयते।
तदज्ञानमिति प्राज्ञा लक्षण सम्प्रचक्षते॥

(सर्वदर्शनसंग्रह, १३)।

पृष्ठ ५८३--तुलना कीजिए, बृहदारण्यक उपनिषद् पर शाकरभाष्य, २ १,२० । परब्रह्मव्यतिरेकेण ससारिणा नान्यद् वस्त्वन्तरम् अस्ति ।

पृष्ठ ५९५ – वाचस्पति का उद्धरण देते हुए भीमाचार्य कहता है मायावादिमते त्रयो हि जीवस्योपाधय , तत्र सुषुप्तौ बुद्ध्यादिसंस्कारवासितम् अज्ञानमात्रम, स्वप्ने जाग्रद्वासनामय लिङ्गशरीर जाग्रदवस्थाया सूक्ष्मशरीरसंसृष्ट स्थूलशरीरमुपाधिरिति ।

पृष्ठ ६०६—शकर ने निम्नलिखित दृष्टान्तो का वर्णन किया है यथाउदभ्य सूर्यचन्द्रादिप्रतिबिम्बो, यथा वा स्वच्छस्य स्फटिकस्यालक्तकाद्युपाधिभ्यो रक्तादिभाव एवम्‥ यथोदकालक्तकादिहेत्वपनये सूर्यचन्द्रस्फटिकादिप्रतिबिम्बो विनश्यति चन्द्रादिस्वरूपमेव परमार्थतो व्यवतिष्ठन तद्वत् प्रज्ञानघनम् अनन्तम् अपार स्वच्छम् अवतिष्ठते ।

नवा अध्याय

पृष्ठ ६७५ निर्विकल्पकम् एकजातीयद्रव्येषु प्रथमपिण्डग्रहणम्, द्वितीयादिपिण्डग्रहण सविकल्पकम्‥‥प्रथमप्रतीत्यनुसंहितवस्तुसंस्थानरूपगोत्वादेरनुवृत्तिधर्मविशिष्टत्व द्वितीयादिपिण्डग्रहणावसेयमिति द्वितीयादिग्रहणस्य सविकल्पकत्वम् (ब्रह्मसूत्र, पर रामानुजभाष्य, १ १, १)।

पृष्ठ ६९७—शुद्ध तत्त्व को शुद्ध सत्त्व भी कहा जाता है।

दसवा अध्याय

पृष्ठ ७६५--और भी देखे, बलदेव का गोविन्दभाष्य और 'प्रमेयरत्नावली' एम० सी० वसु का अग्रेजी अनुवाद, 'सैक्रेड बुक्स आफ दि हिन्दूज' ग्रन्थमाला।

एस० एस० सूर्यनारायण शास्त्री 'शिवाद्वैत आफ श्रीकंठ'।

ग्यारहवां अध्याय

पृष्ठ ७७० टिप्पणी—और भी देखे, उदयन-कृत आत्मतत्त्वविवेक तथा सर्वज्ञात्ममुनि कृत सक्षेपशारीरक।

अनुक्रमणिका

पारिभाषिक शब्द

अंतःप्रज्ञावाद : Intuitionism
अकर्मण्यता : Indolence
अद्वैतवाद : Non-dualism
अधोनैतिक : Sub-moral
अध्यात्मविद्या-संबंधी विचार : Metaphysical views
अनुमान : Inference
अनीश्वरवाद : Agnosticism
अनुदारवाद, रूढ़िवाद : Conservatism
अनुपलब्धि : Non-apprehension
अनेकान्तवाद : Pluralism
अन्वय : Agreement
अपूर्णता : Inadequacy
अभाव : Non-existence
अर्थापत्ति : Implication
अवतारवाद : Anthropomorphism
असत् : Non-being
आगम अनुमान : Induction
आगमनात्मक : Inductive
आचार-नियम : Maxims of morality
आत्मनिष्ठ, व्यक्तिनिष्ठ : Subjective
आत्मनिष्ठ उपाधि : Subjective condition
आनन्दमार्गी, सुखवादी : Hedonist
आस्तिकवाद, ईश्वरवाद : Theism
इन्द्रिय-निग्रह : Sense control
एकेश्वरवाद : Monotheism
कार्यकारणभाव : Causation
कालक्रमिक : Chronological
कालदोष : Anachronism
केवलान्वय : Single agreement

खंडन : Refution
तर्कना, तर्क : Reasoning
तर्कवाक्य : Proposition
तर्कसम्मत यथार्थवाद : Logical realism
दर्शन, आत्मविद्या : Philosophy
द्वैतवाद : Dualism
ध्यान : Contemplation
निगमनिक : Deductive
निरपेक्ष, परम, चरम : Absolute
निरपेक्षतावाद, परमसत्तावाद : Absolutism
निष्पत्ति : Accomplishment
नीतिशास्त्र, आचारशास्त्र : Ethics
नैतिक निर्णय : Moral judgment
नैतिक साधना : Ethical preparation
पदार्थ, उपादान, विषयवस्तु : Matter
परमाणुवाद, सूक्ष्मवाद : Atomism
परा तथा अपरा विद्या : Higher wisdom and lower knowledge
परार्थानुमान : Syllogism
परोक्ष अभिप्राय : Indirect intention
परोक्ष ज्ञान : Indirect knowledge
पश्च विचार : After-thought
पूर्ववर्ती परिस्थिति : Antecedents
प्राणायाम Breath control
प्रतिकूल, विरुद्ध Adverse
प्रज्ञा Intuition
प्रत्यक्षज्ञानवाद Phenomenalism
प्रत्यक्ष ज्ञान, साक्षात्कार Perception
प्रमाणवाद Epistemology
प्रमाता, विषयी, अहम् Subject
बहुत्ववाद Pluralism
बुद्धिवाद Intellectualism
भौतिकवाद, जड़वाद Materialism
मताग्रहिता Dogmatism
मरणोत्तर जीवन After-life
महाकाव्य-काल Epic period

यथार्थ सत्ता	Reality
लक्षण	Criterion
लौकिक जीवात्मा	Empirical individual
वस्तुनिष्ठ :	Objective
वस्तुनिष्ठ उपाधि	Objective condition
विशुद्धाद्वैतवाद.	Pure monism
विश्लेषक तर्कवाक्य	Analytic proposition
विश्लेषण	Analysis
विश्लेषण, आनुभविक	Empirical analysis
विश्व का विकास	Cosmic evolution
विषयगत मार्ग	Objective approach
विषयिविज्ञानवाद, व्यक्तिनिष्ठावाद	Subjectivism
वैराग्यवाद	Asceticism
व्यष्टिवाद, व्यक्तिवाद	Individualism
व्यष्टि-सापेक्षतावाद	Individual relativism
व्यावहारिक, उपयोगितावादी	Pragmatic
शास्त्र की आप्तता	Scriptural authority
शास्त्र-प्रमाण	Scriptural testimony
शास्त्रीयवाद	Scholasticism
शास्त्रीय वाद-विवाद	Academic discussion
संक्रमण	Transition
संन्यासवाद	Asçeticism
संश्लेषण	Synthesis
संसृतिशास्त्र	Cosmology
सत्, परम सत्ता, जीव	Being
सदृश अनुरूप	Analogous
समवाय	Inherence
समानुपाती	Proportional
समायोजन	Accommodation
सापेक्ष	Relative
साम्यानुमान	Analogy
साम्यानुमान, मिथ्या	False analogy
सिद्धान्तबोधन	Indoctrination
सौन्दर्यबोधी, सौन्दर्यानुभूति-विषयक	Aesthetic
स्वगुणार्थक परिभाषा	Analytic definition
हेत्वाभास	Fallacies

○ ○